





Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत  
VOL 22 1990 No. 3-12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

G.K.V. LIB  
Haridwar















चैत्र २०४७ (विक्रमाब्द) :: मार्च : १९६० (ईस्वी)

नव विक्रमाब्द संवत्सर की  
मंगलकामनाएं



111922

कुछ विशिष्ट सामग्रो

आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार (३)

द्रविड़ परिवार और प्राकृत भाषाएं

—डॉ. राजमल बोरा

मर्यादासकी माड़ी

—उपन्यासकार : भीष्म साहनी

समीक्षक : डॉ. मूलचन्द सेठी

बंकोमें अनुवादकी समस्याएं

—समीक्षक : रवीन्द्र अग्निहोत्री.



# प्रस्तुत अंकक लेखक-समीक्षक

- \* डॉ. इन्दुलेखा, डी-६, गुलमोहर पार्क, नयी दिल्ली-११००४६,
- \* डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी, काजी गली, रामपुर (उ. प्र.)-२४४६०१.
- \* डॉ. केदार मिश्र, क्वा. नं. ६, पोदार महाविद्यालय परिसर, नवलगढ़ (राज.)-३३३०४२.
- \* डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य, हिन्दी विभाग, वर्धमान कालेज, विजनौर (उ. प्र.).
- \* डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित, आचार्य हिन्दी विभाग, जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ.प्र.).
- \* डॉ. जमनालाल बायती, प्रवाचक शिक्षा शास्त्र, डॉ. राधाकृष्णन् उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान, बीकानेर (राज.)-३३४००१.
- \* डॉ. प्रयाग जोशी, बी ३/१३, जेल गार्डन रोड, राय बरेली (उ. प्र.)-२२६००१.
- \* डॉ. भगीरथ बड़ोले, रीडर हिन्दी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.).
- \* डॉ. मनोज सोनकर, ५६६/३, शर्मा निवास, जे. जे. रोड, बम्बई-४०००१६.
- \* डॉ. मूलचन्द सेठिया, २७६ विद्याधर नगर, जयपुर (राज.)-३०२०१२.
- \* डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, २१/जी, मेकर गार्डन, लिडो-जूहू, सान्ताक्रुज (पश्चिम), बम्बई-४०००४०.
- \* डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषा नगर, केसरसिंह पुरा, औरंगाबाद-४३१००५.
- \* डॉ. रामदेव शुक्ल, पैडलेगंज, गोरखपुर - २७३००६.
- \* डॉ. रामप्रसाद मिश्र, १४ सहयोग अपार्टमेंट्स, मयूरविहार-१, दिल्ली-११००६१.
- \* डॉ. वीरेन्द्रसिंह, ५ झ १५ जवाहरनगर, जयपुर (राज.)-३०२००४.
- \* डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, द्वारिकापुरी, अलीगढ़-२०२००१.
- डॉ. ब्रजेशकुमार पालिवाल, "सौरभ", रामघाट रोड, अलीगढ़ (उ.प्र.)
- डॉ. श्यामसुन्दर घोष, ऋतंजरा, गोड्डा-८१४१३३.
- प्रा. सोम चैतन्य, श्री अरविन्द निकेतन, पुजारीपुट स्ट्रीट, कोरापुट (उड़ीसा) - ७६४०२०.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

<input type="checkbox"/>	प्रस्तुत अंक (भारतमें)	५.०० रु.
<input type="checkbox"/>	वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :	६०.०० रु.; व्यक्तिगत ५०.०० रु.
<input type="checkbox"/>	आजीवन सदस्यता :	संस्था : ७५१.०० रु.; व्यक्ति : ५०१.०० रु.
<input type="checkbox"/>	विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) :	पाकिस्तान, श्रीलंका १२०.०० रु.
	अन्य देश :	१८५.०० रु.
<input type="checkbox"/>	विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्ष के लिए) :	३१०.०० रु.
<input type="checkbox"/>	दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.	

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

# प्रकाश

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

वर्ष : २२      अंक : ३      चैत्र : २०४७ [विक्रमाब्द]      मार्च : १९६० (ईस्वी)

## लेख एवं समीक्षित कृतियां

स्वर विसंवादी		
नव संवत्सर	३	वि. सा. विद्यालंकार
आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार (३ ख)		
द्रविड़ परिवार और प्राकृत भाषाएं-(२)	५	डॉ. राजमल बोरा
पीड़ितों-व्यथितोंका काव्य		
बल्गारियाके क्रान्ति-कवि : निकोला वप्सरोव काव्य	१२	डॉ. इन्दुलेखा
बीचका रास्ता नहीं होता—पाश (सोहनसिंह संधू)	१५	डॉ. श्यामसुन्दर घोष
टूटते जल बिम्ब—सत्यनारायण	१८	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
अंश अंश अभिव्यक्ति—शकुन्तला सिरोठिया	१९	डॉ. रामप्रसाद मिश्र
सच क्या है—शिवशंकर वसिष्ठ	२०	डॉ. मनोज सोनकर
कविता और कविताके बीच—प्रकाश मनु, देवेन्द्रकुमार	२१	डॉ. प्रयाग जोशी
अतिथि देवो भव—वी. डी. गुप्ता	२२	"
उपन्यास		
मय्यादासकी माड़ी—भीष्म साहनी	२२	डॉ. मूलचन्द सेठिया
सर्पयुद्ध—प्रह्लाद तिवारी	२७	डॉ. भगीरथ बडोले
कहानी		
मुश्क रंगी हिरणी—कश्मीरीलाल जाकिर	२९	डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी
दूसरी शहादत—वेदप्रकाश अमिताभ	३१	डॉ. व्रजेशकुमार पालीवाल
आलोचना : निबन्ध		
हिन्दी नई कविता : मिथक काव्य—डॉ. अश्विनी पाराशर	३३	डॉ. रामदेव शुक्ल
भक्तिरसका काव्यशास्त्रीय अध्ययन—डॉ. जगतनारायण गुप्त	३५	डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित
हिन्दीके आंचलिक उपन्यास—डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय	३७	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ
सन्त साहित्यमें मानव-मूल्य—डॉ. देवमणि	३८	डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य
वातायन—डॉ. के. राजशेखरगिरि राव	४०	डॉ. केदार मिश्र
प्रकृति और लोक		
पर्यावरणकी संस्कृति—शुभू पटवा	४२	डॉ. रामदेव शुक्ल.
अनुवादस मस्या		
बैंकोंमें अनुवादकी समस्याएं—डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. श्री निवास द्विवेदी	४४	डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री
श्रीअरविन्द साहित्य	४७	प्रा. सोम चैतन्य



ज्ञान का अद्भुत भण्डार

आपके पुस्तकालय की आवश्यकता

शैक्षिक जगत् में भारतीय शिक्षा के विविध पक्षों पर एक अभूतपूर्व प्रकाशन

**भारतीय शिक्षा के विभिन्न आयाम**

[“साहित्य-परिचय” के विशेषांकों के चुने हुए विशिष्ट लेखों का अभूतपूर्व संकलन]

सम्पादक—डॉ. रामशकल पाण्डेय

[‘साहित्य-परिचय’ के विगत विशेषांकों का शिक्षा-जगत् ने जिस उत्साह के साथ स्वागत किया है, उससे प्रोत्साहित होकर हम यह नयी योजना लेकर आपकी सेवा में प्रस्तुत हो रहे हैं।

विगत अनेक विशेषांक अब अनुपलब्ध हैं पर उनकी मांग लगातार बनी हुई है। हमारी प्रस्तुत योजना से इस मांग की आंशिक पूर्ति होगी। इस योजना को मूर्तरूप देने में हमें सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डॉ. रामशकल पाण्डेय का सहयोग मिला है और उनके कुशल सम्पादन में इस योजना को साकार रूप मिला है। इस योजना के फलस्वरूप हम साहित्य-परिचय के विगत विशेषांकों के चुने हुए श्रेष्ठ लेखों को पुस्तकाकार रूप देकर आपकी सेवा में उपस्थित हो रहे हैं।

इस पुस्तक में लेखकों ने निःस्वार्थ भाव से अपने लेखों को सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान की है, इसलिए हम उचित मूल्य पर असाधारण सामग्री लेकर पाठकों तक पहुंचने में समर्थ हुए हैं।]

‘भारतीय शिक्षा के विभिन्न आयाम’ पुस्तक को निम्न सात खण्डों में विभाजित किया गया है :—

**खण्ड सूची**

प्रथम खण्ड—सांस्कृतिक आयाम

द्वितीय खण्ड—राजनीतिक आयाम

तृतीय खण्ड—राष्ट्रीय आयाम

चतुर्थ खण्ड—संरचनात्मक आयाम

पंचम खण्ड—नैतिकता की खोज

षष्ठ खण्ड—शैक्षिक उद्देश्य

सप्तम खण्ड—पाठ्यक्रम

उक्त सात खण्डों में प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा लिखित ७४ अमूल्य एवं सारगर्भित लेख संग्रहीत हैं।

कतिपय प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों एवं विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं—

- |                                    |                                   |                            |
|------------------------------------|-----------------------------------|----------------------------|
| १. डॉ. आत्मानन्द मिश्र             | १०. डॉ. राधावल्लभ उपाध्याय        | १९. डॉ. सीताराम शास्त्री   |
| २. डॉ. राजमल बोरा                  | ११. आचार्य चन्द्रहास शर्मा        | २०. डॉ. विद्यावती मलैया    |
| ३. डॉ. सरयूप्रसाद चौबे             | १२. डॉ. सिद्धेश्वरनाथ मिश्र       | २१. डॉ. भुवनेशचन्द्र गुप्त |
| ४. डॉ. एस. एस. माथुर               | १३. डॉ. प्रभाकर सिंह              | २२. डॉ. जी. आर. शर्मा      |
| ५. डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी         | १४. लक्ष्मीनारायण गुप्त           | २३. श्यामसरन ‘विक्रम’      |
| ६. डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री        | १५. डॉ. जमनालाल बायती             | २४. प्रो. के. सी. मलैया    |
| ७. डॉ. लक्ष्मीलाल के. ओड           | १६. डॉ. चेन्नित्तला कृष्णन नायर   | २५. रामखेलावन चौधरी        |
| ८. डॉ. महेशचन्द्र सिंघल            | १७. डॉ. लीलाकान्त मिश्र           | २६. डॉ. लक्ष्मी मिश्र      |
| ९. डॉ. रामेश्वरलालखण्डेलवाल ‘तरुण’ | १८. डॉ. (श्रीमती) कुसुम चतुर्वेदी | २७. वासुदेव रघुनाथ वर्तक   |

मूल्य : २००.००

**विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा**



## नव संवत्सर

### देशकी अखण्डताको चुनौती : प्रतिकारका संघर्ष-वर्ष

देश और धरतीसे जुड़े लोग अपने वर्षका आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे करते हैं। चान्द्र वर्षसे गणना करनेवाले भी और सौर संवत्सरसे गणना करनेवाले भी। दोनों ही इसी दिन संवत् मनाते हैं, साथ ही सौर संवत्सरसे गणना करनेवाले इसके बाद मेष संक्रान्तिका पर्व भी समान रूपसे मनाते हैं। ज्योतिषके हिमाद्रि ग्रन्थ के अनुसार यह भी मान्यता है कि चैत्र शुक्ल पक्षके प्रथम दिन सूर्योदयके समक्ष ब्रह्माने जगत्की रचना की, भास्कराचार्यके 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के अनुसार भी इसी मान्यताका पुष्टि होती है। यह भी कि ऋतु कालकी दृष्टिसे यह वसन्त वेला है।

वर्ष और काल गणनाकी इस दृष्टिका हमारी सांस्कृतिक चेतना, जीवन-पद्धति और मानसिकतासे सीधा संबंध है। वर्षारम्भका पर्व सूर्योदय और नदी-स्नानके साथ मनाया जाता है, आज भी संवत् और संक्रान्ति के ये दोनों पर्व धार्मिक अनुष्ठानों और उल्लास-हर्ष-उमंगके साथ संवत्सर संबंधी संकल्पों और मंगलकामनाओंके साथ व्यापक और सामूहिक रूपसे मनाये जाते हैं। इस ऋतु-काल-परिवर्तन और काल-क्रमकी नयी परिधिमें प्रवेशके अवसरपर हम 'सर्वे सर्वमंगलम्' की कामना करते हुए नव वर्षमें देशकी अखण्डताकी पुनः स्थापनाके प्रबल रूपसे प्रयत्नशील होनेकी ब्रह्मरूप जन-जनसे याचना करते हैं।

ब्रह्मरूप जन-जनसे देशकी अखण्डताके लिए प्रयत्नशील होनेकी याचना कुछ विलक्षण-सी प्रतीत हो सकती है। परन्तु देशकी सत्ताकी मानसिकताका जिस रूपमें निर्माण हुआ है, उसकी जिन रूपोंमें अभिव्यक्ति होती है, लक्ष्य-सिद्धिको जिस प्रकार केवल नारोंमें परिवर्तित कर भीतरही भीतर लक्ष्य-भंगके लक्ष्य-विरोधी जो षड्यन्त्र रचे जाते हैं, व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनाकी समाज-कल्याणके जिस आवरणमें प्रस्तुति की जाती है, धर्म-निरपेक्षताको उछालते हुए संकीर्ण और कट्टर पंथी

धार्मिकताको और अधिक संकीर्ण और कट्टरपंथी बनाते हुए उसकी जड़ोंको अधिकसे अधिक गहराईमें स्थापित किया जाता है, चिन्ताका विषय वही है।

जब मानसिकताके निर्माणकी चर्चा करते हैं तो यह स्थिति भी हमारे सामने रहती है कि इस देशपर बाहर से होनेवाले आक्रमणों और आक्रमणकारियोंके साथ जुड़ जाने और उनकी सत्तामें उनके भागीदार बनकर उनकी सेवा करनेका अधिकाधिक अवसर प्राप्त करनेकी जिस प्रवृत्तिका विकास हुआ, वह देशके स्वतन्त्र होनेके बाद और अधिक उत्कट रूपमें सामने आने लगी है। स्वतन्त्रता पूर्वके कालमें सेवाकर्मियों और जन-साधारण तथा स्वतन्त्रताके लिए संघर्ष करने वालोंमें पर्याप्त दूरी रहती थी, इन सेवाकर्मियोंको 'शान-शौकत' और 'ठाठ-वाट' के वावजूद समाजमें बहुत सम्मान प्राप्त नहीं था। जो सम्मान था, वह उनके और शासन एवं सत्ताके आतंक का था। साथ ही ब्रिटिश कालमें मैकालेके संकल्पके अनुसार देशमें जिस सुनियोजित शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था की गयी, वह देशके शिक्षित लोगोंकी मानसिकताको इस रूपमें परिवर्तित करनेमें सफल हुई, इस शिक्षित एवं दीक्षित वर्गके लिए देशकी स्वतन्त्रताका अर्थ केवल इतना ही था कि सत्ता उनके हाथमें आनी चाहिये, वह सत्ता निर्द्वन्द्व होनी चाहिये, उसमें जन-साधारण केवल हाथ उठाकर उनका समर्थन करनेवाला होना चाहिये, न कि सत्ताकी भागीदारीका स्वप्न लेनेवाला जन-साधारण। इस स्थितिमें जिस मानसिकताका निर्माण हुआ, वह वही थी जिसकी हमने चर्चा की है। सत्ताकामी यह नेतृवर्ग इसी कारण राजनीतिक विसंगतियोंका शिकार हुआ। अपनी इस मानसिकताके कारण यह नेता वर्ग विवश था कि लार्ड माउंटबेटनकी देश-विभाजनकी योजनाको स्वीकार करे और उसे कार्यान्वित करे क्योंकि तत्कालीन सत्ताने वर्षोंके श्रमसे उसका आधार तैयार किया था, वह विवश था कि कश्मीरमें बढ़ती सेनाओंको आगे बढ़नेसे रोककर कश्मीरका एक भाग



देशके विरोधी नवविभाजित भागको सौंप दे और विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे, वह विवश था कि ब्रिटिश-चीन संधिको स्वीकारकर तिब्बतको थालीमें सजाकर चीनको भेंट करे, वह अपनी शिक्षा-दीक्षा और संस्कारोंके कारण विवश था कि ब्रिटेन द्वारा निर्मित सेना-सैनिक नीतियों-सैनिक व्यवस्थाओंको स्वीकार करे और स्वतन्त्रताके लिए संघर्ष करनेवाले बम्बईकी गोदीमें नौ-सैनिक विद्रोह करनेवाले और आजादहिन्द फौजके बलिदानियोंको गलियोंमें भटकनेके लिए छोड़े, उसकी विवशता थी कि ब्रिटिश हितोंको देशपर लादे रखनेवाले सेवा-संगठनको ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लें, उसकी विवशता थी कि देशकी समाज व्यवस्था-अर्थव्यवस्था-राजनीतिक व्यवस्थाको कूड़ेदानमें डालकर यूरोप-अमरीकाकी वैधानिक परम्पराओं-व्यवस्थाओंको ज्यों-का-त्यों का संवैधानिक रूप देकर देशपर थोप दे, उसकी विवशता थी कि देशकी भाषाओंको ठुकराकर देशपर अंग्रेजी लाद दे और उसका ही विकास करे। इस रूपमें सत्ताका जो रूप निर्मित हुआ, वह पूर्व शासक वर्गकी मनोकामनाओंका प्रतिरूप बन गया, उसे निरन्तर जन-साधारणको भरमाने और बरगलानेकी 'टैक्नालाजी' अपनायी पड़ी। केवल इतनाही नहीं, इस व्यवसायमें वे स्वतन्त्रता-सेनानी और उनकी सन्तति सम्मिलित हो गये जिन्होंने स्वतन्त्रतापूर्व कालमें इस स्थितिकी कल्पना भी नहीं कीथी और वे भी जन-शोषण, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकताके व्यवसायके भार्गीदार बन गये। आज यही भार्गीदार वर्ग इन्हीं अनाचारोंके विरुद्ध नारे लगानेमें भी अग्रणी है। यही चिन्ताका विषय है, इसीलिए ब्रह्मरूप जन-जनसे याचना करनेकी आवश्यकता है।

इस मैकाले पद्धतिसे शिक्षित और यूरोपीय संस्कृति में अन्तर्तममें दीक्षित वर्गकी मानसिकताने न केवल उनके जीवन-व्यवहारमें आन्तरिक विसंगतियोंको जन्म दिया अपितु बाह्य-जीवनमें भी उन्हें अनुकरण और नकल करनेको विवश कर दिया है क्योंकि उन्होंने अपनी जीवन-पद्धतिका आदर्श प्रतिमानभी यूरोपीय परिवेश और उससे परिचालित व्यवहार मान लिया है। उत्तरी यूरोप में रातें बड़ी होती हैं, वर्षका अधिकांश भाग तिमिराच्छन्न अंधकारपूर्ण रहता है। सूर्य-दर्शन दुर्लभ होता है, फिर भी उसके लिए वे लालायित तो रहते ही हैं। अपनी इस प्राकृतिक विवशताके कारण ही वे अपने पर्व उत्सव अंधकारमें मनाते हैं, सूर्य-तापके अभावमें शीतके प्रभावको मुरापा नसे दूर करते हैं, उससे उत्पन्न उत्तेजनाके कारण नृत्य-गीतिका आयोजन करते हैं और इस कृत्रिम उत्तेजनाके वशीभूत होकर सीमाओंका भी उल्लंघन कर जाते हैं। इस निशाचरी और आसुरी

वृत्तिका यह सहज परिणाम है। परन्तु इसी निशाचरी और आसुरी वृत्तिका भी हमारे अनुकरणी प्रवर वर्ग प्रदर्शन आवश्यक मानते हैं। शीतके प्रबल प्रकोपमें अपनी अन्तर्राष्ट्रीयताको प्रमाणित करनेके लिए ईसा नववर्ष की पूर्व मध्यरात्रिमें ये प्रवर रात्रि उत्सवोंका आयोजन करते हैं, मुरापा नसे निढाल होकर गीत-नृत्य अथवा केवल स्वर-तालहीन शोरशराबोंसे इस देशमें, भारतमें यूरोपके नववर्षका आह्वान करते हैं और अपनी राष्ट्रीयताको रौंदते हुए अन्तर्राष्ट्रीय होजाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय होनेकी यह प्रवृत्ति नयी नहीं है। पौराणिक आख्यानोके अनुसार इस देशमें निशाचर जीवनके अभ्यस्त असुर लोग जब देवासुर संग्रामोंमें निरन्तर पराजित होकर पाताल-लोककी ओर चले गये, वे भी नये पाताल राष्ट्रमें शरण लेकर अन्तर्राष्ट्रीय होगये थे। यह नहीं भूलना चाहिये कि पौराणिक आख्यानोके देव-दनुज-असुर-मानव सभी कश्यप सन्ताने हैं, एकही कुल की शाखाएं हैं, व्यवहारमें अपनी प्रवृत्तियोंके कारण निशाचरी और आसुरी जीवन धारण कर लिया और पूरे देशको अपने आतंक और उपद्रवोंके कारण भयभीत और त्रस्त करते रहे। यह भी संभव है कि अपनी आतंकवादी प्रवृत्तियोंके कारणही निशाचरी प्रवृत्ति, इसलिए आसुरी प्रवृत्ति, अपनायी हो, सूर्य-दर्शनसे दूर रहे हों, सूर्योदयके साथ सम्पन्न होनेवाले सामाजिक पर्व-उत्सवोंमें सम्मिलित होनेसे कतराते रहे हों, ऋतु-कालकी अनुकूलता होनेपर सम्पन्न होनेवाले सामाजिक समारोहों और कृत्योंसे बचते रहे हों। इन निशाचरी और असुर राज्योंके जो चित्रण हमें अपने पौराणिक आख्यानो और महाकाव्योंमें मिलते हैं, इन राज्योंके आतंकित-पीड़ित जन-साधारणके जो विवरण मिलते हैं, हत्या-लूटपाट-बलात्कारके जो चित्र मनपर अंकित होते हैं, वे क्या आजके यूरोपकी लकीर पीटनेवाले अनुकरणी सत्ता वर्गसे आतंकित-पीड़ित जनसाधारणसे भिन्न हैं। ये वर्ग अन्धकारप्रिय हैं, अन्धकारमें रहना चाहते हैं, अन्धकारमें क्रिया व्यापार सम्पन्न करते हैं, अन्धकारमें ही सबको रखना चाहते हैं। उनका जीवन अन्धकार-केन्द्रित है।

नव संवत्सरके शुभारम्भपर हमारी यही कामना है कि इस देशकी परम्पराके अनुसार हमारे क्रिया-कलाप सूर्यके प्रकाशके अवतरणसे प्रारम्भ हों, सूर्यकी ज्योति, तेजस्विता, ऊष्मा ग्रहणकर सम्पूर्ण वातावरण और परिवेशको हम निरापद बनानेमें समर्थ हों, निशाचरी और आसुरी वृत्तिके कारण उत्पन्न विघटन और विखंडनकी प्रक्रिया समाप्त हो, राष्ट्रमें वसन्त-राज्य स्थापित हो। □



## आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार (३)

### द्रविड़ परिवार और प्राकृत भाषाएं (१)

—डॉ. राजमल बोरा

२७. ज्ञात इतिहासमें भारतवर्षकी भाषाओंपर विचार करें तो हमें जीवित और प्रचलित भाषाओंके रूपमें प्राकृतोंके रूप मिलतेहैं। भगवान् महावीर तथा भगवान् बुद्धके समयमें प्राकृत भाषाएं विद्यमान रहीहैं। यह स्थिति ईसा पूर्वकी छठी शती तक की है। उससे पूर्वभी प्राकृत भाषाएं रहीहैं। हम इस बातको छोड़ें तबभी जवसे ऐतिहासिक वृत्त—भारतवर्षका—लिखा गया है, उस समयमें प्राकृत भाषाएं रहीहैं।

२८. प्राकृत भाषाओंकी भौगोलिक सीमाएं भाषा-विदोंने बतायीहैं। आर्य परिवारकी भाषाओंका जो भौगोलिक क्षेत्र है, वही प्राकृत भाषाओंका भौगोलिक क्षेत्र बतलाया जाता है। प्राकृत भाषापर विचार करते समय विद्वानोंने प्राकृत भाषा पर स्वतन्त्र रूपसे विचार नहीं किया। सदैव संस्कृतसे जोड़कर ही प्राकृत भाषापर पर विचार किया गया है।

२९. प्राकृत भाषाओंके कालमें ही दक्षिणमें द्रविड़ परिवारकी भाषाएं रहीहैं। भाषाओंका भौगोलिक अध्ययन प्रस्तुत करना जो तो हमें प्राकृत भाषाओं और द्रविड़ परिवारकी भाषाओंको आमने सामने रखकर उनके मूल स्वरूपपर विचार करना चाहिये। ज्ञात इतिहासके तथ्योंको अलगाकर उसे ठीकसे क्रममें रखकर, उनपर विचार करना उपयोगी होगा।

३०. द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके विद्वान् डॉ. बी. एच. कृष्णमूर्ति द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके अलगाव के सम्बन्धमें लिखतेहैं : तेलुगु-गोंडी-कुई—समूहकी भाषाएं तमिल-कन्नड़-तुलु समूहकी भाषाओंसे कम-से-कम ई. पू. १००० वर्ष पहलेही अलग हो गयी थीं अर्थात् ३००० वर्ष पूर्वतक ये दोनों समूह अलग हो गये थे। तमिल भाषाके व्याकरण और उसके साहित्य के विकासके रूप हमें ई. पू. तीसरी शतीके मिलतेहैं। प्राचीन तमिलकी अभिजात (क्लासिक) रचनाओंकी भाषा, प्राचीन ज्ञात तेलुगुसे एकदम भिन्न है। छठी शतीसे तेलुगु भाषाके अभिलेख मिलतेहैं और इन अभि

लेखोंकी भाषा तमिलके भिन्न है। अतः हम कह सकते हैं कि तेलुगुका प्राक्-इतिहास १६०० वर्षोंका है। इसी तरह ज्ञात-इतिहास १४०० वर्षोंका है। श्री नम्बूद्रीने ग्लोटोक्रोनोलोजी (glottochronology) के सिद्धान्तका उपयोग करते हुए बतलाया है [अर्थात् मौखिक-उच्चारणके कालक्रमको ध्यानमें रखकर बतलाया है] कि दक्षिणकी द्रविड़ भाषाएं तेलुगु एवं तमिल ई. पू. ग्यारहवीं शतीमें अलग होगयी थीं। इसी प्रकार तमिलसे कन्नड़ ई. पू. दूसरी शतीमें अलग हुई और तमिलसे मलयालम ईसाकी सातवीं शतीमें अलग हुई हैं।<sup>१</sup>

३१. डॉ. बी.एच. कृष्णमूर्तिने द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके अलगावके सम्बन्धमें बतलाया है कि तमिलको द्रविड़ परिवारकी मूल भाषा वे नहीं कहते। आर्य परिवारकी मूल भाषा जैसे संस्कृत बतलायी जाती है, उस रूपमें वे तमिलको मूलभाषा बतलाते हुए नहीं लिखते। तेलुगु-तमिलके अलगावका समय १००० ई. पू. बतलातेहैं। वैदिक संस्कृत-ग्रीक-लैटिन-अवेस्ता—प्राचीन भाषाओंसे पूर्व इन भाषाओंको जोड़नेवाली एक भाषा पहले रही होगी, ऐसी कल्पना ध्वनि-नियमोंके आधार पर भाषाविदोंने की है और उसका नाम 'भारोपीय' भाषा रखा है। इस प्रकारकी कल्पना [या अनुमान कहिये] द्रविड़ भाषा परिवारकी मूलभाषाके सम्बन्धमें नहीं की गयी।

३२. तमिलको द्रविड़ परिवारकी मूल भाषा मानकर द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका इतिहास नहीं लिखा

१. XI All India Conference of Dravidian linguists June 5-7, 1981, Osmania University Hyderabad SOUVENIR—

पृ. ३ एवं ४।



जाता। द्रविड़ परिवारमें भाषाओंके विकासके सौपान आर्य परिवारके समान नहीं बतलाये जाते। वैदिक संस्कृत > लौकिक संस्कृत > प्राकृत भाषाएं > अपभ्रंश भाषाएं > देशी भाषाएं > आधुनिक भाषाएं—इस प्रकारका इतिहास द्रविड़ भाषा परिवारका नहीं है। तमिल-तेलुगु-मलयालम-कन्नड़—आदि सभी भाषाएं आधुनिक हैं और पारिवारिक रूपमें इनका सम्बन्ध बहनोंकी भांति है। इतिहास यही कहता है।

३३. मौर्य कालसे हम ठीक ठीक इतिहास जानने लगते हैं। पीछेके इतिहासकी बात छोड़ दें तबभी मौर्य-कालके समयमें भारतवर्षकी भाषाओंका भौगोलिक मानचित्र क्या रहा होगा? उस समयमें यदि भारत वर्षकी भाषाओंका सर्वेक्षण किया जाता और वही भी ठीक उसी प्रकार जैसे आधुनिक कालमें किया गया है तो उस सर्वेक्षणका स्वरूप क्या हो सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर हमें उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्योंके आलोकमें देनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस रूपमें विचार करनेपर प्राकृत भाषाएं, द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके साथ ज्ञात इतिहासके आदिकालमें—मौर्य कालमें कहिये—मिलेंगी।

३४. प्राकृत भाषाके भौगोलिक स्वरूपपर हम विचार कर सकते हैं। प्राकृत भाषाके भौगोलिक भेदों का उल्लेख मिलता है। मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री—प्राकृतके प्रमुख चार भेद भौगोलिक आधारपर किये गये हैं। इनमें फिर पैशाची भी अलगसे है। पालीका रूप और अलग है। अभिलेखोंकी प्राकृत अलग है और नाटकों (संस्कृतके) में प्रयुक्त प्राकृत अलग है। प्राकृतके इन विभिन्न रूपोंपर—विचार करनेकी आवश्यकता है।

३५. संस्कृत भाषाका भौगोलिक विस्तार अखिल भारतवर्षमें हुआ है। ठीक उसी रूपमें प्राकृत भाषाका भौगोलिक विस्तार हमें नहीं मिलता। किसी भाषाका भौगोलिक विस्तार होता है अर्थात् वह भाषा अपने मूल बोली-क्षेत्रसे बाहर पहुंचती है—बाहर पहुंचनेके अनेक कारण हो सकते हैं—धर्मका प्रचार, शिक्षा-व्यवस्था, व्यापार, अन्य कारणोंसे आवागमन आदि। भाषाके बिना सम्पर्क कैसे हो सकता है? इन सब कारणोंमें राजनीतिक कारण भी हैं। प्राकृत भाषाके भौगोलिक विस्तारका कारण मौर्य साम्राज्य है। सम्राट् अशोक का शासन भारतके जिन क्षेत्रोंपर रहा है, वहाँ तक

प्राकृत भाषाका भौगोलिक विस्तार हुआ है। और हमें यह मानना चाहिये कि मौर्योंके समयमें प्राकृत भाषा जीवित भाषा थी—व्यवहारकी भाषा थी और उसका मूल क्षेत्र मगध है।

३६. श्री के. ए. नीलकंठ शास्त्रीने 'नन्द-मौर्य-युगीन भारत' पुस्तकमें प्राकृत भाषाके भौगोलिक विस्तारके सम्बन्धमें लिखा है:

“अशोकके अभिलेख तीन विभिन्न स्थानीय बोलियोंमें हैं। इन्हें ठीकही भारतका भाषा विषयक सर्वेक्षण कहा जाता है। अशोकके लेखोंमें हमें तीन प्राकृतोंके दर्शन होते हैं [१] उत्तर-पश्चिमी प्राकृत अथवा पश्चिमोत्तरी आर्य भाषा जिसका दृष्टांत मान-सेहरा और शाहवाजगढ़ीके आदेश लेखोंमें है। इसका आधार पूर्वतर कालकी उदीच्य बोली है। ई. पू. तीसरी शतीमें भी इनकी ध्वनि रीतियोंसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारती-आर्य आदर्शसे इसमें बहुत कम अन्तर पड़ा था और इसप्रकार इसकी प्रशंसामें पूर्वतर ब्राह्मणोंके प्रणेता ने यह कहा है कि यह प्रज्ञाततर वाणी है, सर्वथा सत्य सिद्ध होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि भाषाके क्षेत्रमें उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी पंजाब ई. पू. तीसरी शती तक परिरक्षणवादी था। हम यह कह सकते हैं कि यह अभी प्रायः प्राचीन भारती-आर्य अवस्थामें थी (कमसे कम ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे इसमें अनेक संयुक्त व्यंजनोंकी तथा श् ष् और स् की तीनों ऊष्म ध्वनियां वर्तमान थीं) इसके विपरीत पूर्वी वाणीमें सर्वाधिक अन्तर आगया था।

[२] प्राकृतका एक पूर्वी रूप है, जो अशोकके पूर्वी अभिलेखोंमें और अन्यत्र भी मिलता है। प्राचीन भारती-आर्य आदर्शसे इस भारती-आर्य बोलीमें बहुत परिवर्तन हो गया था। अपि च,—इसकी कतिपय ध्वन्यात्मक विशिष्टताएं (उदाहरणार्थ केवल ल् का प्रयोग, र् का नहीं) और रूप भी हैं (जैसे, अकारांत पुल्लिङ्ग संज्ञाओंमें अः के स्थानपर 'ओ' न होकर 'ए' का प्रयोग) जो अन्य प्राकृतोंमें नहीं मिलते। ऐसा संभव है कि यहां पूर्वी प्राकृत पाटलीपुत्रके राजदरबार की भाषा थी। अशोकके आदेश संभवतः पहले इसी प्राकृतमें पाटलीपुत्रमें लिखे गये। फिर अन्य प्रांतोंमें प्रमुख स्थानोंपर पत्थरपर खुदाकर इनका प्रचार करने के लिए भेजे गये। जब इन स्थानोंकी बोली राजभाषा से इतनी भिन्न होती कि वहाँ आसानीसे समझमें न



आ सके, जैसे उत्तर पश्चिममें (मानसेहरा और शाह-वाजगढी) और दक्षिण पश्चिम (गिरनार) में, तो इन आदेशोंका वहांकी बोलीमें रूपान्तर कर दिया जाताथा। किन्तु यह रूपान्तर सावधानीसे नहीं अपितु लस्टम-पस्टम ही हुआ है। अतः दरवारीकी बोलीके अनेक रूप उत्तर-पश्चिम और दक्षिण पश्चिमकी बोलियोंमें भी घुस गये हैं। जिस स्थानकी प्राकृत पूर्वी दरवारी- प्राकृतसे ऐसी भिन्न नहीं थी कि वहां वह दरवारी भाषा समझी न जा सके, वहां उक्त पूर्वी भाषा का वैसेही प्रयोग होताथा जैसे पूर्वी भागोंमें। इस प्रकार राजस्थान, पश्चिमी उ. प्र. (कालसी) और मध्य उ. प्र. (प्रयाग) में पूर्वी प्राकृतका प्रयोग उसी भांति हुआ है जैसे पूर्वी उ. प्र. बनारस (सारनाथ) और बिहार (लोरिया, रुम्मिनदेई, बराबर पहाड़ी) में। कहीं-कहीं कुछ विशेषताएं अवश्य दीख पड़ती हैं, जैसे कालसीमें। परन्तु इसका क्या कारण था, यह बतलाना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार और बनारसकी दरवारी बोली पूर्वी प्राकृतका प्रयोग वैसेही होताथा जैसे हिन्दीका (जो पश्चिमी उत्तर प्रदेशकी पश्चिमी हिन्दीका एक रूप है) पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहारमें होता है। सामान्यतया मध्यदेश की ही भाषाका पूर्वी भागोंमें प्रयोग होता आया है, परन्तु मगधके राजनीतिक महत्त्वके कारण, जो मौर्य साम्राज्यका मूल स्थान था, अशोकके अभिलेखोंमें मध्य-देशकी राजभाषाके रूपमें पूर्वी भाषाकी प्रथम और अन्तिम बार प्रतिष्ठा दिखायी देती है।”<sup>२</sup>

३७. प्राकृत भाषाओंके सम्बन्धमें श्री नीलकंठ शास्त्रीने औरभी विस्तारसे लिखा है। यह बात सच है कि बोलचालकी देशी भाषाओंको (प्राकृतोंको) जो प्रतिष्ठा मौर्यकालमें प्राप्त हुई, वह पुनः देखनेमें नहीं आयी। प्राकृत भाषाओंका उत्कर्ष काल मौर्यकाल ही है। प्राकृत भाषाएं संस्कृतसे मुक्त हैं। द्रविड़ परिवार की भाषाओंको संस्कृतसे मुक्त मानकर भाषाविद् उन भाषाओंका अध्ययन करते हैं। ठीक उसी प्रकार यदि उत्तर भारतकी आर्य परिवारकी भाषाओंका अध्ययन करना होतो प्राकृत भाषाओंका अध्ययन करना होगा। इस प्रकार अध्ययन करनेपर आर्य परिवार एवं द्रविड़ परिवारका अलगाव अपने आप दूर होगा।

है या मूल भाषा संस्कृत है और प्राकृतके रूपमें उसका विकास हुआ। यह बात गले नहीं उतरती। इस बात को आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी मानते हैं और आचार्य किशोरीदास वाजपेयीका समर्थन राहुल सांकृत्यायनने और डॉ. रामविलास शर्माने भी किया है। इसे प्रमाणित करनेके लिए बहुत कुछ कहा जा सकता है।

३९. श्री नीलकंठ शास्त्री द्वारा भाषाओंका सर्वेक्षण बहुत-सी बातें कह जाता है जिसपर विचार करने की आवश्यकता है। तथ्योंका विवेचन वे ठीक ठीक करते हैं और जो वस्तुस्थिति रही होगी, उसके सम्बन्ध में उनके अनुमानोंमें बलभी है। प्राकृत भाषाके भौगोलिक रूपोंकी पहचान वे करवाते हैं। दक्षिण पश्चिमकी प्राकृतके सम्बन्धमें वे लिखते हैं :—

[३] अशोकके समयकी तीसरी प्राकृत दक्षिण-पश्चिमकी है जो मुराष्ट्र या गुजरात प्रायद्वीप (गिरनार) में मिली है। यह प्राकृत वहाँ सुप्रतिष्ठित है। यदि ईसा पूर्व तीसरी शतीकी गुजरातकी प्राकृत मध्य-देशकी प्राकृतसे निकली हुई थी, तो हमें अशोकके गिरनारके आदेश लेखमें मध्यदेशीय प्राकृतके ही एक रूपके दर्शन होते हैं जो मथुरा क्षेत्रकी शुद्ध मध्यदेशीय प्राकृत का यत्किंचित् परिवर्तित रूप है। इस प्रकार मध्यदेशके केन्द्रकी बोलीको मध्यदेशसे बहुत दूर मान्यता मिली है, क्योंकि हम यह देख ही चुके हैं कि मध्य देशमें भी इसकी मुख्य सीमाके भीतर प्राच्य भाषाही, जो राजभाषा थी, अभिलेखोंके लिए प्रयुक्त होती थी। .....

अशोकके पूर्वही प्राच्य प्राकृतको, बौद्ध तथा जैन आगमोंके इसमें रूपान्तरसे, साहित्यिक रूप मिल चुका था। अतः अशोकने अपने अभिलेखोंके लिए उसीका प्रयोग किया। उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिमकी प्राकृतोंका प्रयोग केवल उन दूरस्थ प्रान्तोंकी जनताकी सुविधाके लिए एक छूटके रूपमें हुआ जहाँकी जनताको पाटलिपुत्रकी दरवारी भाषाके समझनेमें कुछ कठिनाई होती थी। हम जानते हैं कि पहले-पहल यूनानी लोग उदीच्य अर्थात् उत्तरी-पश्चिमी प्राकृतके क्षेत्रमें ही बसे। यह वही प्राकृत थी जिसका प्रयोग अशोकने

२. नंद-मौर्ययुगीन भारत, श्री के. ए. नीलकंठ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७, प्रथम संस्करण १९६६ ई., पृ. ३४४-३४५।



मानसेहरा और शाहवाजगढ़ के लेखों में किया है। इस पश्चिमोत्तरी प्राकृत में कतिपय पुरातन या प्राचीन भारती-आर्य भाषा के अनेक रूप वर्तमान थे। इसका प्रमाण न केवल ब्राह्मण साहित्य अशोक के अभिलेखों से मिलता है अपितु यूनानी विवरणों में आये भारतीय नामों में भी मिलता है जो उन्होंने स्थानीय लोगों से सुनकर लिखवाये होंगे।<sup>३</sup>

४०. श्री नीलकंठ शास्त्री की जो पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत हैं, उन्हें ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि वे संस्कृत से मुक्त प्राकृतों के रूपों पर विचार कर रहे हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार से विचार करते समय वे संस्कृत भाषा के स्थान पर 'भारती-आर्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके लेखन में आर्य और अनार्य का भेद भी है। अनार्य को वे कदाचित् द्रविड़ कहते हैं।<sup>४</sup> वे लिखते हैं:

“बुद्ध के समय के पूर्व उत्तर भारत के आर्यों को कदाचित् दक्षिण के द्रविड़ राज्यों का अधिक ज्ञान नहीं था। बौधायन धर्म सूत्र के आधार पर ईस्वी संवत् के ठीक पहले की शतियों में सिंधु वैसे ही आर्य-सीमा के बाहर था जैसे बंगाल। सिंधु संभवतः अभी द्रविड़ ही था। वहाँ एक ऐसी भाषा बोली जाती थी जो ब्राह्मण से मिलती-जुलती थी। यूनानियों का कथन है कि दक्षिणी सिंधु में अरबिताई (Arbitai) नाम की एक जाति रहती थी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समस्त दक्षिणी एवं पूर्वी दकन और दक्षिण भारत में जो तेलुगु, कन्नड़ और तमिल-मलयाली भाषियों के पूर्वज थे, वे स्वतंत्र राज्यों में निवास करते थे। उनकी दक्षिण भारतीय अथवा द्रविड़ संस्कृति आर्यों से सर्वथा भिन्न ढंग की थी।”<sup>५</sup>

४१. श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू सभ्यता' में भारतवर्ष की भाषाओं के सम्बन्ध में लिखा है। 'द्रविड़' शब्द के सम्बन्ध में उनके विचार विचारणीय हैं। वे लिखते हैं—

“क्या सिन्धु के निवासी द्रविड़ थे? वह इसलिए, क्योंकि जिन सुमेर के लोगों के साथ सिन्धुवासियों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे भी उस नृवंश के माने जाते हैं जिसके द्रविड़ हैं। विलोचिस्तान की ब्राह्मण भाषा बताती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में द्रविड़ लोग उत्तर के उन प्रदेशों में थे। इस प्रश्न में कठिनाई यह है कि सुमेर और द्रविड़ इन दोनों जातियों की निश्चित

परिभाषा दुष्कर है, क्योंकि वे स्वयं मिलावट से बने हैं। यदि द्रविड़ों को पश्चिम से आये आक्रमणकारियों के रूप में मान लिया जाये तो भी उनका मूल नृवंश भारतीय निषाद जातियों के साथ अन्तर्विवाह के कारण घुलमिलकर परिवर्तित होगया। यदि उन्हें भारत का ही मूल निवासी माना जाये, तो वे स्वयं आदिवासी निषाद वर्ग के ठहरते हैं, जो पीछे-चलकर स्वाभाविक विकास क्रम से एवं बाहरी तत्त्वों की मिलावट से द्रविड़ होगये। दोनों ही अवस्थाओं में, चाहे वे पश्चिम से पूर्व या पूर्व से पश्चिम गये हों, मोएँजोदड़ों से प्राप्त थोड़े-से नर-कंकालों की पहचान से, न उन्हें द्रविड़ कह सकते हैं न सुमेरवासी।”<sup>६</sup>

४२. हमारे सामने दो तीन प्रश्न हैं, जिनका उत्तर खोजना आवश्यक है—द्रविड़ जाति, द्रविड़ भाषा और द्रविड़ देश? इसी प्रकार अनार्य होना क्या द्रविड़ है? ये सब नामकरण वाद के हैं और इनकी पहचान के प्रयत्न हम पीछे—प्राक्-इतिहास काल में—जाकर कर रहे हैं, इसीलिए ऐसा हो रहा है। बाहरी आक्रमणों का मिथक मान लिया गया है और उक्त मिथक को ध्यान में रखते हुए जब अन्य तथ्यों को देखा जाता है, तब यही सोचना (अनुमान करना) पड़ता है। प्राकृत भाषाएं बोलनेवालों को अनार्य नहीं कहा गया—प्राकृत भाषाएं आर्य परिवार की भाषाएं हैं, इसी रूप में मान्यता रही है। आर्य परिवार की भाषाओं का विवेचन करने में देश जाति और भाषा की सीमाएं टूटती हैं। एक को दूसरे से जोड़ें और दूसरे को तीसरे से जोड़ें या तीनों का समीकरण करें तो बात स्पष्ट नहीं होती। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में लिखते समय इन तीनों को जोड़कर नहीं लिखा है। जब राधाकुमुद मुकर्जी द्रविड़ जाति कहते हैं तो वे द्रविड़ों को आर्य से भिन्न मानते हैं। वस्तुतः द्रविड़ शब्द पहले देशवाची रहा और बाद में उसके साथ जाति शब्द का प्रयोग हुआ और उसके बाद भाषा-परिवार के रूप में उक्त शब्द का प्रचलन रहा है।

४३. भाषाओं का विवेचन करते समय भूगोल की प्राथमिकता दी जानी चाहिये। भाषाओं के नामकरण प्रायः भौगोलिक होते हैं। यदि नामकरण भौगोलिक न

६. हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक : वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-११०००६, छठा संस्करण : १९८३ पृ. ४७।

३. उपर्युक्त पृ. ३५६-३५७।

४. —वही—पृ. ३६३।

५. वही—पृ. ३६३-३६४।



हों तो फिर उनके स्थानीय स्वरूपपर विचार करनेमें कठिनाई होती है। उदाहरणके लिए संस्कृत और प्राकृत—दोनोंही नामकरण भौगोलिक नहीं है। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश नामकरण भी भौगोलिक नहीं है। ये नामकरण शिक्षा-ग्रन्थोंके (व्याकरण-ग्रन्थोंके) द्वारा किये गये हैं।

४४. प्रस्तुतमें हम प्राकृत भाषाओंपर विचार कर रहे हैं। प्राकृत भाषाओंके विविध भौगोलिक रूपोंका उल्लेख मिलता है। मागधी-अर्द्धमागधी-शौरसेनी-महाराष्ट्री-पैशाची—नामकरण भौगोलिक हैं।

४५. अशोककालीन अभिलेख—वास्तवमें प्राकृतके जीवित रूपके और भौगोलिक भेदोंके परिचायक हैं। दूसरी बात यह है कि मगधके राजनीतिक केन्द्र होनेके कारण प्राकृतके मागधी रूपको प्रधान रूपसे महत्त्व प्राप्त हुआ है। व्यावहारिक रूपमें मागधी प्राकृत—भौगोलिक दृष्टिसे भी—प्रधान रही है, यही मानना चाहिये।

४६. उत्तर भारत और दक्षिण भारतके सम्पर्कका मार्ग महाराष्ट्रकी भूमिके माध्यमसे अधिक रहा है। मगधवासी भी दक्षिण तक पहुंचे हैं तो वे महाराष्ट्रके मार्गसे पहुंचे। उड़ीसा और आंध्रके मार्गसे आवागमन कठिन रहा है। आर्य परिवारकी भौगोलिक सीमाएं इस समय जो बनी हुई हैं, उसका एक प्रधान कारण यह भी है। अर्थात् दक्षिण भारतमें महाराष्ट्रकी आर्य परिवारमें सम्मिलित किया जाना इसका कारण है। स्वयं अशोकके शासन कालमें उसका प्रबल आक्रमण कलिंग (उड़ीसा) पर हुआ था। उस दिशामें उसके बाद आगे बढ़ना संभव नहीं हुआ। यों अशोकके काल में ही दक्षिण भारतमें चोल राज्यका सीमाओं तक मौर्य साम्राज्यका विस्तार हो गया था। दक्षिणमें साम्राज्यका विस्तार महाराष्ट्रके मार्गसे हुआ प्रतीत होता है क्योंकि उड़ीसा, मध्यप्रदेशके घने जंगलोंसे आंध्रप्रदेशों प्रवेश करना और सुदूर दक्षिण तक पहुंचना सुगम न रहा हो।

४७. आर्य परिवारकी भाषाओं और द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका संगम स्थल प्रधान रूपसे महाराष्ट्र है। दूसरे स्थानपर हम आंध्रप्रदेशके उत्तर-पूर्वी भागको मान सकते हैं। महाराष्ट्रकी सीमाएं दक्षिणमें पश्चिमी किनारेपर दूरतक पहुंचती हैं। ठीक इसी प्रकार आंध्र प्रदेशकी सीमाएं पूर्वमें सुदूर उत्तरतक पहुंचती हैं। भाषा भेदके इस पारिवारिक अलगावके कारण भौगो-

लिक हैं। पश्चिमकी भाषा मराठी आर्य परिवारकी भाषा है और पूर्वकी भाषा तेलुगु द्रविड़ परिवारकी भाषा है।

४८. आर्य परिवारकी भाषाओंमें जैसे मराठी द्रविड़ परिवारकी भाषाओंसे प्रभावित है, ठीक उसी प्रकार द्रविड़ परिवारकी तेलुगु भाषा आर्य परिवारकी भाषाओंसे प्रभावित है।

४९. प्राकृत भाषाओंके कालमें—मौर्योंके कालमें—महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषा प्रचलित रही है। आंध्र प्रदेशके उत्तरपूर्वमें ऐसी स्थिति नहीं रही है। लगता है पाणिनिने जब अपना व्याकरण-ग्रन्थ [अष्टाध्यायः] लिखा था, उसी समयमें महाराष्ट्रकी भौगोलिक सीमाओं में प्राकृत भाषा प्रचलित रही हो [प्राकृत भाषाको उस समयका जो भी स्थानीय रूप हो—वह] इसका कारण यह है कि इस भूमिसे सम्बन्धित भौगोलिक नाम अष्टाध्यायमें मिलते हैं। यहांपर, यह कह देना भी उचित होगा कि पाणिनिके समय संस्कृत भाषाका जितना भौगोलिक विस्तार हो गया था—वह प्रायः आर्य भाषाओंका भौगोलिक विस्तार आज भी माना जाता है।

५०. पाणिनिके कालमें संस्कृत भाषाके भौगोलिक विस्तारकी सीमाओंके साथ प्राकृत भाषाके भौगोलिक विस्तारकी सीमाएं जुड़ी हुई हैं। संस्कृतके भौगोलिक विविध रूपोंका परिचय हमें नहीं है किन्तु प्राकृतके भौगोलिक रूपोंका परिचय हमें अशोककालीन अभिलेखोंके आधारपर मिलता है।

५१. प्राकृत भाषाके विविध रूप हैं, उनमें पालि (प्राकृत) का सम्बन्ध बौद्ध धर्मके ग्रन्थोंसे है और अर्द्धमागधीका सम्बन्ध जैन-धर्मके ग्रन्थोंसे। जहां-जहां बौद्ध धर्मका प्रचार हुआ, वहां-वहां पालिभाषा पहुंची है और जैनधर्मके साथ अर्द्धमागधी। प्राकृत भाषाको साहित्यिक महत्त्व पूर्वकी तुलनामें पश्चिममें प्राप्त हुआ है और उसमें भी विशेष रूपसे महाराष्ट्री प्राकृतका साहित्यिक प्राकृतका प्रधान रूप है।

५२. महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषा साहित्यिक भाषाके रूपमें स्वीकृत रही है। सातवाहनोंके कालमें प्राकृत भाषा दरबारी भाषा रही हो। शालकी गाथा-सप्तशती प्राकृतमें है और वह साहित्यिक प्राकृत है। प्राकृत बोलचालके रूपमें—व्यवहारमें एवं जीवित भाषाके रूपमें—महाराष्ट्रमें रही होगी, इसके लिए प्रमाण खोजने होंगे। महाराष्ट्री प्राकृत—प्राकृत भाषाका दक्षिणी छोरका



भाग है। मगधसे लेकर इतनी दूर तकके विशाल क्षेत्र में यदि एक ही भाषा फैलती है या व्याप्त होती है या भौगोलिक विस्तारका रूप लेती है—तो वह बोली रूपमें विस्तार नहीं पा सकती और सुदूर क्षेत्रमें तो वह केवल साहित्यिक रूपमें रह सकती है। प्राकृतको साहित्यिक रूप दक्षिण-पश्चिममें क्यों प्राप्त हुआ और पूर्वमें उसको वह स्थान क्यों नहीं मिला—इसका उत्तर खोजना चाहिये।

५३. प्राकृतके साहित्यिक रूपसे भिन्न धार्मिक रूप हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्मके ग्रन्थ पालि तथा अर्द्ध-मागधी [प्राकृतके ही रूप हैं] में हैं। इन ग्रन्थोंकी भाषा ठीक भगवान् बुद्ध या भगवान् महावीरके कालकी नहीं है। इनका लेखन दोनोंके ही निर्वाणके बाद चार-पांच शताब्दियोंके बादमें हुआ। तबतक मौखिक परम्पराके रूपमें यह सब चलता रहा इसलिए पालि—मागधी से भिन्न है। मागधी प्राकृत—अशोकके समयमें—जीवित भाषा थी और वह पालिसे भिन्न है। जैनोंकी प्राकृत पालिसे भिन्न है। उसे अर्द्ध मागधी कहा गया है। साहित्यिक रूपमें तो शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतको महत्त्व प्राप्त हुआ है। लगता है कि प्राकृतोंके ये भिन्न-भिन्न सभी रूप बोल-चालकी प्राकृतोंसे भिन्न रहे होंगे।

५४ आर्य परिवारकी भाषाओंमें प्राकृत [भाषाओं के विविध रूप होनेपर भी] भाषाही ऐसी है जिसे संस्कृत भाषाकी छायाके रूपमें समझा जाता रहा है। योंभी प्राकृत भाषाका शब्द समूह देखनेपर संस्कृतके तद्भव रूपोंके सदृश प्रतीत होता है। यह कहना कठिन है कि प्राकृत रूपोंका संस्कृतीकरण हुआ या संस्कृत रूपोंका प्राकृतीकरण हुआ? इतनी बात सच है कि प्राकृतभाषा संस्कृत प्रभावसे मुक्त हैं—ऐसा तभी कह सकते हैं जब प्राकृतको लोकभाषा या व्यवहारकी भाषा के रूपमें स्वीकार कर लिया जाये। अन्यथा स्थितिमें तो मान्यताके अनुसार यह कहना होगा कि लौकिक संस्कृतका विकास प्राकृतोंके रूपोंमें हुआ। यदि इस स्थितिको स्वीकार नहीं करना है तो यह कहना पड़ेगा कि प्राकृत भाषाएं संस्कृत प्रभावसे उसी प्रकार मुक्त रही हैं, जैसे द्रविड़ परिवारकी भाषाएं मुक्त रही हैं। इसलिए मेरा आग्रह है कि प्राकृतोंके साथमें द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये।

५५. प्राकृत भाषाके व्यावहारिक मंचसे लुप्त हो

जानेके क्या कारण हैं? वह केवल धर्मग्रन्थोंकी—बौद्ध तथा जैन—भाषा रह गयी है और उसमें कुछ साहित्यिक रचनाएं भी हैं—किन्तु बादमें प्राकृत भाषाओंका क्या हुआ? उसके स्थानपर अपभ्रंश और अनन्तर देशी भाषाओंका विकास हुआ जिन्हें हम आधुनिक आर्य परिवारकी भाषाएं कहते हैं। प्राकृत भाषाओंकी व्यावहारिक स्थितिपर विचार होना चाहिये।

५६. आर्य परिवारकी भाषाओंका चित्र इस प्रकार है—

वैदिक संस्कृत

↓

लौकिक संस्कृत

↓

↓

↓

↓

प्राकृत (सभी रूप) अपभ्रंश (सभी रूप) देशी भाषाएं (आधुनिक आर्य परिवारकी भाषाएं)

इस चित्रमें प्रश्न यह है कि क्या विकास बतलाते समय प्राकृतके माध्यमसे विकास बतलायें या सीधे संस्कृतके साथ सम्बन्ध जोड़ें। आजकी आधुनिक हिन्दी में संस्कृतके जितने तत्सम शब्द मिलते हैं उतने प्राकृतके रूप नहीं मिलते—प्राकृत रूपोंका अनुमान विद्वान् लोग करते हैं। यहांपर निष्कर्ष रूपमें इतना कहा जा सकता है, कि विकासके क्रममें संस्कृतके साथ प्राकृत—य प्राकृतके साथ संस्कृत [दोनोंही स्थितियोंपर स्वतंत्र रूपमें विचार होना चाहिये] इसप्रकार आवद्ध हैं कि दोनोंका अलगाव एक दूसरेके अनुरूप—छाया सदृश—है और इसीलिए इस अलगावको 'ध्वनि परिवर्तन' का प्रधान भाग माना जाता रहा है।

५७. प्राकृत भाषाओंके सम्बन्धमें डॉ. आर. पिशा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राकृत भाषाओंका व्याकरण' में लिखते हैं :—

'प्राकृत भाषाएं वास्तवमें कृत्रिम और काव्यिक भाषाएं हैं, क्योंकि इन भाषाओंको कवियोंने अपने काव्योंके काममें लानेके प्रयोजनसे बहुत तोड़-मरो और बदल दिया। किन्तु वे इस अर्थमें तोड़ी-मरोई हुई या कृत्रिम भाषाएं नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियोंकी कल्पनाकी उपज हों। इनका ठीक हिसाब वही है जो संस्कृतका है, जो शिक्षित भारतीयों



सामान्य बोलचालकी भाषा नहीं है और न इसमें बोल-चालकी भाषाका पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनताके द्वारा बोली गयी किसी भाषाके आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहासकी परम्पराके कारण यह भारतकी सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असंभव है कि सब प्राकृत भाषाओंको संस्कृतकी भाँति एक मूल भाषातक पहुँचाया जाये। केवल संस्कृतको ही इसका मूल समझना, जैसा कि कई विद्वान् समझते हैं और इन विद्वानोंमें होएफर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी भी शामिल हैं, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओंका वैदिक व्याकरण और शब्दोंका नानास्थलोंमें साम्य है और ये बातें संस्कृतमें नहीं पायी जाती। [आगे पिशेलने कई उदाहरण दिये हैं] ..... आदि-आदि, जो इस व्याकरण में प्रासंगिक स्थलोंपर दिये गये हैं। केवल एक बात यह सिद्ध करती है कि प्राकृतका मूल संस्कृतको बताना संभव नहीं है और भ्रमपूर्ण है।<sup>१७</sup>

५८. डॉ. आर. पिशेलने प्राकृत भाषाके विभिन्न रूपोंपर विस्तारसे विचार किया है। उसका कहना है कि प्राकृतोंमें पैशाची प्राकृत संस्कृतसे सबसे अधिक मिलती-जुलती है। पैशाची प्राकृतके ग्यारह भेद बतलाये गये हैं। पिशेल लिखते हैं—

“एक बहुत प्राचीन प्राकृत बोली पैशाची है..... अज्ञातनामा लेखक द्वारा, जिसका उल्लेख मार्कण्डेयके ‘प्राकृत सर्वस्व’ में है, ११ प्रकारकी प्राकृत भाषाओंके नाम गिनाये गये हैं—

‘कांचिदेशीयपाण्ड्ये च पांचाल गौडभागधम् ।  
काचडम् दाक्षिणात्यम् च शौरसेनम् च कैकयम् ।  
शावरम् द्राविणम् चैव एकादश पिशाचकाः ।

किन्तु स्वयं मार्कण्डेयने केवल तीन प्रकारकी पैशाची बोलियोंका उल्लेख किया है—कैकेय, शौरसेन और पांचाल। ..... प्राचीन व्याकरणकारोंके मतके अनुसार उसने [लास्सनने] इसके निम्नलिखित भेद दिये हैं—

पाण्ड्य, कैकय, वाह्लीक, सह्य (महाराष्ट्रमें सह्याद्रि प्रदेशका नाम है), नेपाल, कुन्तल, गान्धार। अन्य चारों के नाम विकृत हो गये हैं और हस्तलिखित प्रतियोंमें इस

७. प्राकृत भाषाओंका व्याकरण, डॉ. आर. पिशेल, अनुवादक : डॉ. हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् पटना-३, प्रथम संस्करण १९५८ ई., पृ. ८ और ९।

प्रकार मिलते हैं—सुदेश, भोट, हैव और कनोजन। इन नामोंसे पता चलता है कि पैशाची प्राकृतकी बोलियाँ भारतके उत्तर और पश्चिम भागोंमें बोली जाती रही होंगी। ..... ‘सरस्वती कण्ठाभरण’ ५८, १५ में यह कहा गया है कि उत्तम मनुष्योंको जो ऊँचे पात्रोंका पार्ट नहीं खेलते, ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जो एक साथ संस्कृत और पैशाची हो। बात यह है कि पैशाचीमें भाषाश्लेषकी चातुरी दिखानेकी बहुत सुविधा है, क्योंकि सब प्राकृत भाषाओंमें पैशाची संस्कृतसे सबसे अधिक मिलती है।”<sup>८</sup>

५९. पैशाचीको स्वतंत्रभाषा भी माननेके पक्षमें तर्क दिये जाते हैं। ऐसे कुछ तर्क पिशेलने दिये हैं—

“पैशाची आर्यभाषाका वह रूप है जो द्रविड़ भाषा भाषियोंके मुँहसे निकली थी जबकि आरम्भमें आर्यभाषा बोलने लगे हों। इसके विरुद्ध ‘सेनार’ ने अधिकारके साथ अपना मत दिया है। होएनेलेके इस मतके विरुद्ध कि भारतकी किसी भी अन्य आर्य बोलीमें मध्यम वर्ण बदलकर प्रथम वर्ण नहीं बनते, यह प्रमाण दिया जा सकता है कि ऐसा शाहवाजगढ़ी, लाट तथा लेणके प्रस्तर लेखोंमें पाया जाता है और नयी बोलियोंमें से दरदू, काफिर और जिप्सियोंकी भाषामें महाप्राण वर्ण बदल जाते हैं। इन तथ्योंसे इस बातका पता चलता है कि पैशाचीका घर भारतके उत्तर-पश्चिममें रहा होगा। पैशाची ऐसे विशेष लक्षणोंमें युक्त और आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र भाषा है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके साथ, अलग भाषा गिनी जा सकती है।”<sup>९</sup>

६०. संस्कृत और प्राकृतके सम्बन्धपर अगले अध्यायमें विचार होगा। यहां प्राकृतपर विचार करते हुए यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राकृतोंके विविध रूप मिलते हैं और उन रूपोंकी भौगोलिक विशेषताएँ भी बतलायी गयी हैं। प्राकृत भाषाओंके धार्मिक रूप हैं और साहित्यिक रूप भी हैं, और विशेष बात यह कि प्राकृतों [अलग-अलग भाषा रूपोंका] का भौगोलिक विस्तार हुआ है।

[इस अध्यायका शेष अंश आगामी अंकमें]

८. वही पृ. ५३ से ५५।

९. वही पृ. ५५ तथा ५६।

‘प्रकर’—चैत्र २०४७—११



## बल्गारियाके क्रान्ति-कवि

### निकोला वप्सरोव

— डॉ. इन्दुलेखा

रीडर, स्लाविक भाषा विभाग,  
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

साहित्य जीवनकी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति है और कविता उसकी एक विशिष्ट विधाके रूपमें इन अनुभूतियोंको वाणी देती है। बल्गारियाकी कविता भी इसका अपवाद नहीं है। इसमें जनताके हर्ष-विषाद, उनकी आकांक्षाएं, संघर्ष और बलिदानोंका इतिहास अनुप्राणित है। यही कारण है कि बल्गारी कवितामें सदैव एक प्रकारकी संपन्नता, स्थिरता और विश्वसनीयता परिलक्षित होती रही है। बाइजेण्टियमकी विदेशी संस्कृतिके आध्यात्मिक दबाव, आक्रामक शक्तियों द्वारा निरन्तर थोपे गये प्रतिबंधों और फासिज्म (फासीवाद) के अत्याचारोंसे बोझिल जीवनसे जूझते बल्गारियावासियों ने अनुपम सौन्दर्यसे पूर्ण लोकगीत गाये और देशभक्ति तथा स्वतन्त्र्य-संघर्षसे अनुप्रेरित अप्रतिम गाथाकाव्यों की रचना की जो दुःख और संकटकी घड़ियोंमें उनकी आत्माके एकमात्र सम्बल बने, उनका एक ऐसा अस्त्र जिससे उन्होंने आतताइयोंपर चोटभी की और साथही उसे ढाल बनाकर अपनी सभ्यता और संस्कृतिकी भी रक्षा की। इस प्रकार शत्रुओंके विरुद्ध संघर्षोंसे आन्दोलित बल्गारी कविताका दीर्घकालीन इतिहास लोकतंत्रीय विचारधारा और जुझारु भावनासे अनुप्राणित है। बोतेव और वाजोवने देशभक्तिकी भावनासे ओतप्रोत अपने गाथा-गीतोंमें तुर्क आक्रान्ताओंके अत्याचारोंसे पीड़ित लोगोंकी व्यथा और कष्टों, उनसे जूझते वीरोंके अदम्य साहस और बलिदानके चित्र प्रस्तुत किये तो तेओदोर त्रयानोवने अपने अद्भुत गाथा-काव्य “स्त्रूमा का रहस्य” में विनाशकारी बल्कान युद्धोंके युगको अभिव्यक्ति दी। आस्सेन रस्वेतिकोव और निकोला फर्नाजिएवने अपने लोकप्रिय गीतोंमें सितम्बर १९२३ के वीरतापूर्ण रक्तरेंजित विद्रोहका अभिनन्दन किया

और इसके बाद प्रारम्भ हो गयी फासिज्म-विरोधी आंदोलनसे अनुप्रेरित आधुनिक कवियोंके लोकगीतोंकी परम्परा।

इस प्रकार बल्गारी कविताने देशके कष्टप्रद इतिहासकी लम्बी अवधिमें सर्वत्र बल्गारियाकी जनताके विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्रको सुरक्षित रखा। उनके कष्टों, संघर्षों और क्रान्तिकी स्मृतियाँ बल्गारी साहित्यमें स्थायी अनुभूतिके रूपमें काव्यमें परिणत होगयीं।

फासिज्मके विरुद्ध रोष और विस्फोटसे भरे वातावरणने बल्गारियाके कवियोंको साधारण नागरिकसे सैनिक बना दिया। जिन अनेक कवियोंने इस भयंकर वर्ग-संघर्षमें सर्वहाराके विजयी कदमोंके साथ अपनी कविताकी लय और ताल मिलायी उनमें हीस्तो स्मिर-नेन्स्की और निकोला वप्सरोवके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

हीस्तो स्मिरनेन्स्कीका सितम्बर-विद्रोहकी पूर्व-संध्यामें पच्चीस वर्षकी अल्पायुमें ही देहान्त होगया। उन्होंने बल्गारी कविताको एक नयी संवेदनशीलता प्रदान की। श्रमजीवी जनता लम्बे समयसे ऐसे कविकी प्रतीक्षा कर रही थी। उन्होंने जनताकी कठिनाइयों, कष्टों और आस्थाको बड़े स्पष्ट शब्दोंमें अभिव्यक्त किया।

फासिज्म-विरोधी संघर्षके सर्वाधिक भयंकर अन्तिम दौरमें निकोला वप्सरोवके ‘मोटर-गीत’ मुखरित हुए। बल्गारियाके इस लोकप्रिय कविका जन्म १९०९ में पीरिनकी उपत्यकामें बसे वांस्को नगरमें हुआ था। उनकी माता एक प्रबुद्ध महिला थीं। सर्दियोंकी लम्बी रातोंमें वह अपने तीनों बच्चों सहित अँगोठीके पास बैठ उन्हें शूरवीरोंकी कहानियाँ सुनाया करती थीं।



उनके पिताने भी मकदूनियाके क्रान्तिकारी आंदोलनमें सक्रिय भाग लिया था। परिवारकी क्रान्तिकारी परम्परा ने निकोलाके हृदयमें सत्य, श्रम, मानव और मातृभूमि के प्रति प्रेमकी भावना विकसित की और उन्हें 'शूरवीर' की भांति जीवन बितानेकी प्रेरणा दी।

शज्लोगमें प्राथमिक शिक्षा पानेके बाद उन्होंने छः वर्ष तक वारनामें नाविक मैकेनिकल स्कूलमें शिक्षा प्राप्त की। पढ़ाईके अन्तिम वर्षोंमें धीरे-धीरे-पाम्यवाद के विचारोंसे प्रभावित होने लगे। १९३२ में पढ़ाई समाप्तकर वे कोचेरिनोवो गाँवमें कागज और गत्तेकी मिलमें मशीन-मिस्त्रीका काम करने लगे। यहां उन्होंने मजदूरोंको संगठित किया, उन्हें गोर्कीकी रचनाएं पढ़ कर सुनायीं, नाटकोंका आयोजन किया और सूझबूझके साथ श्रमिकोंके हितोंकी रक्षा की। १९३६ में अन्य लोगोंकी भांति वप्सरोवको भी नौकरीसे निकाल दिया गया और वे अपने परिवारके साथ सोफियामें रहने लगे। वहाँ उन्होंने पहले बड़ी कठिन परिस्थितियों में एक मिलमें कोयला झोकनेका काम किया, फिर १९३८ में उन्हें सरकारी कारखानेमें मशीन-मिस्त्रीका काम मिल गया। सोफियामें ही एक महान् प्रवर्तक कवि के रूपमें वप्सरोवकी प्रतिमा विकसित हुई। वे जोखिम उठानेवाले साहसी क्रान्तिकारियोंके साथ जी-जानसे फासिज्म-विरोधी संघर्षमें जुट गये। मार्च १९४२ में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और २३ जुलाईको उन्हें गोला मार दीगयी।

वप्सरोव अपने युगके सर्वाधिक प्रतिभावान् फासिज्म-विरोधी क्रान्ति-कवि थे। उन्होंने मजदूरोंकी आत्मा, कारखानेके जीवन और संघर्षके उत्साहको अपने समयके अन्य कवियोंकी अपेक्षा अधिक गहराईसे समझा और अनुभव किया। अपने 'मोटर-गीतों' (मोटोर्नी पेस्नी) में उन्होंने बड़ी कलात्मक सहजतासे श्रमित, पीड़ित और प्रताड़ित जनताके दुःख-दरोंका सच्चा और सही चित्रण किया, नाटकीय कौशलसे फासिज्मके साथ जनताके शानदार संघर्षको अभिव्यक्त किया और उस कष्टपूर्ण पुरातन जीवनपर जनताकी विजय तथा नव-जीवनके निर्माणमें अपना अटूट विश्वास व्यक्त किया, एक ऐसा नया जीवन जो 'गीतोंसे भी सुन्दर, वासन्ती दिनसे भी मनहर' है। उनकी अधिकांश कविताएं ऐसी गीतिमय आत्मस्वीकृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने अपनी भावनाओं, अपने सुख-दुःखोंको

पाठकोंके साथ बाँटते हुए अपने कठिन जीवनका प्रखर निरूपण किया है। किन्तु उनकी ये आत्मस्वीकृतियाँ जितनी व्यक्तिगत है उतनी सार्वभौम भी। उन्होंने सदैव अपनेको निर्धनों तथा कारखानों और दफ्तरोंमें काम करनेवाले उन अपरिचित व्यक्तियोंका अभिन्न अंग माना जो अभावों और घुटनमें जी रहे थे। बड़ी-बड़ी घटनाओंके पीछे उन्होंने साधारण जनताकी नियतिको देखा और उसीमें अधिक दिलचस्पी ली। अपने युगके रक्तरंजित संघर्षमें उन्होंने वीरता और शौर्यके आडम्बरपूर्ण दृश्योंकी परिकल्पना नहीं की बल्कि सामान्य मानव-क्रिया कलापोंको ही खोजनेका प्रयास किया। दैनिक जीवनके दृश्योंके माध्यमसे उन्होंने बड़ी कुशलतासे अपने युगका उत्साहपूर्ण नाटकीय इतिवृत्त प्रस्तुत किया जिसे हम फासिज्म-विरोधी आन्दोलन में संघर्षरत अनाम योद्धाका जीवन्त-चित्रभी कह सकते हैं। इस प्रकार उनकी कवितामें उन असंख्य लोगोंकी पीड़ा, भावनाएं और संघर्ष मूर्तरूप हो उठे हैं जो सुखी जीवनके लिए संघर्ष कर रहे थे।

वप्सरोवकी अपने आदर्शोंमें गहन आस्था थी। उन्हें विश्वास था कि मुक्ति-संघर्षसे अलग खड़े होनेका अभिप्राय है—मानव-आत्माकी मृत्यु। इस आस्थासे वंचित होतेही उनका अस्तित्व तार-तार होकर बिखर जायेगा। 'आस्था' (व्यारा) नामक कवितामें वे इसी विश्वासको व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

किन्तु देखो,  
ले लिया यदि—कितना ?

एक कणभी तुमने  
मेरी आस्थाका,  
चीख उठूँगा मैं,  
चीख उठूँगा पीड़ासे  
बिद्ध-हृदय  
व्याघ्र-सा।  
क्या शेष रह जायेगा  
मुझमें तब ?  
पलभर में लुटकर  
तार-तार हो जाऊँगा।  
और अधिक सीधे,  
और सही शब्दोंमें—  
रीता रह जाऊँगा  
पलभर में लुटकर।



**मूल पाठ बल्गारी भाषामें**

नो ऐतो, दा काझेम,  
 बीइ व्जेमेते—कोल्को ?  
 प्शेनीचेनो जर्नो  
 ओत मोयाता वेरा,  
 बीख रेन्नाल तोगावा,  
 बीख रेन्नाल ओत वोल्का  
 कतो रानेना  
 व् सत्सॅतो पन्तेरा ।  
 कक्वो श्ते ओस्ताने  
 ओत मेने तोगावा ?  
 मीग स्वेद ग्रावेझा  
 श्ते बदा राज्नीश्तेन ।  
 इ ओश्ते पो-यास्नो,  
 इ ओश्ते पो-प्रावो-  
 मीग स्लेद ग्रावेझा  
 श्ते बदा आस् नीश्तो ।

वप्सरोवकी कविताओंकी एक अन्य विशेषता मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण है। वे पात्रोंकी अत्यन्त अंत रंग भावनाओंमें पैठकर उनसे पाठकोंका परिचय करते हैं। मानव-गीत (पेसेन् जा चोवेका) नामक कवितामें उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया है कि एक अपराधी को भी पूरी तरह समाजमें रहने योग्य बनाया जा सकता है यदि उसे मानवीय परिस्थितियोंमें जीनेका अवसर दिया जाये।

उनकी कविताएं भावुक स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म), नृशंस रक्तपात और संघर्षमें परिपक्व गंभीर-चिन्तनसे संवृक्त हैं। उसमें हमें उस हार्दिक संतुष्टिकी अनुभूति होती है जो बलिदानसे पूर्व अपने सार्वजनिक कर्तव्य पूरे कर लेनेपर अन्तरात्माको होती है। जर्मन लेखक थॉमस मानने उनकी कविताका मूल्यांकन करते हुए लिखा है, “हम ऐसी कलाकी सराहना करते हैं जिन्में जीवनकी भाषाके स्वर मुखरित हों, किन्तु इससे भी अधिक हम उस जीवनकी सराहना करते हैं जो सच्ची कलाकी भाषासे अनुप्राणित हो। ऐसी है वप्सरोवकी कविता।”

युगीन परिस्थितियोंकी निष्ठुर वास्तविकताओंके चित्रणके साथ-साथ उनकी रचनाओंमें मानव-सुलभ कोमल भावनाओंकी अभिव्यक्ति भी मिलती है। फांसी से पूर्व अपनी पत्नीको लिखे विदा-गीत (प्रोश्ताल्नो)

में उन्होंने भावी-बिछोहसे व्यथित मनका कितना मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है :

कभी-कभी आऊंगा तुम्हारे स्वप्नोंमें,  
 अचानक दूरसे आया अतिथि-सा ।  
 मुझे न छोड़ देना तुम, प्रिये बाहर सड़कपर,  
 बन्द मत कर लेना द्वार ।  
 चुपकेसे भीतर आ, बैठ जाऊंगा धामेसे ।  
 दृष्टि गढ़ा दूंगा अंधेरेमें तुम्हें देखनेको ।  
 और निहार लूंगा जब तुम्हें जी भर कर,  
 चला जाऊंगा बस एक चुम्बन लेकर ।

**(मूल पाठ बल्गारी भाषामें)**

पोन्याकोगा श्ते ईद्वम् व्व सन्या ति,  
 कतो नेचाकन इ दलेचेन् गोस्तेनिन ।  
 ने मे ओस्ताव्यइ ती ओत्वन् ना पत्या,  
 व्रतीते ने जलोस्त्वइ !  
 श्ते व्लेज्ना तीखो, क्रोत्को श्ते प्रिसेदना  
 श्ते व्येर्पा पोग्लेद्व् आका दा ते वीद्या ।  
 कोगातो से नसीत्सा दा ते ग्लेदम,  
 श्ते ते त्सेलून इ श्ते सि ओतीदा ।

स्वाभाविक और अभिव्यक्तिपूर्ण संवादभी उनकी शैलीकी विशेषता है। वे अपने संवादोंमें, और लेखकके नाते अपने शब्दोंमें भी बोलचालकी भाषा और मुहावरोंका प्रयोग करते हैं। काव्यात्मक प्रतिबिम्बोंका प्रयोग किये बिना ही वे प्रायः ऐसे भावनात्मक वातावरणकी सृष्टि कर देते हैं कि साधारण शब्द और वाक्यभी उनकी भावनात्मक शक्तसे अनुप्राणित होकर गीतिमय प्रतीत होने लगते हैं। वस्तुतः काव्यकी भाषाका आधार लोक-जीवनकी भाषा ही होनी चाहिये, तभी वह लोक-मानसके विचारों और भावनाओंको वाणी प्रदान कर सकती है। यही कारण है कि वप्सरोवकी कविता का रसास्वादन करते हुए पाठक अनायासही उनकी भावनाओंसे जुड़ जाता है और उनके स्वरोंमें स्वर मिलाकर गुनगुना उठता है :

**(मूल पाठ बल्गारी भाषामें)**

यह मैं श्वास लेता, ऐतो-आस् दीशम,  
 काम करता, रबोत्या  
 जी रहा हूँ श्तिवेया  
 लिख रहा हूँ गीत अपने इ स्तिबोवे पीशा  
 (पूरे सामर्थ्यसे) । (तइ काक्तो उमेया) ।  
 पलकोंके नीचे



देख रहा हूँ                      स झिबोता पोद वेझिदि  
जीवनको ठिठाईसे              से ग्लेदमे स्त्रोगो  
और जूझ रहा हूँ इससे      इ बोर्या से सु नेगो,  
सम्पूर्ण शक्तिसे ।              दोकोल्कोतो मोगा ।  
वप्सारोवकी कवियाओंके साथ बल्गारी कविताने  
फासिज्मपर विजय प्राप्त की और स्वातन्त्र्यके उन्मेषसे

पूर्ण नये जीवनका अभिनन्दन किया । लगातार व्यस्तता और असामयिक मृत्युके कारण वे अपनी कविताओंका केवल एक ही संग्रह 'मोटर-गात' प्रकाशित करा पाये । १९५२ में विश्व शांति परिषद्ने इस महान् बल्गारी क्रान्ति-कविको मरणोपरान्त विशिष्ट शांति पुरस्कारसे सम्मानित किया । □

## काव्य

### बीचका रास्ता नहीं होता?

[पंजाबीसे अनूदित]

कवि : पाश (सोहनसिंह संधू)

सम्पादन-अनुवाद : चमनलाल

समीक्षक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

सन् १९५० में जन्मे पाश सन् १९८८ में खालिस्तानी आतंकवादियोंकी गोलियोंके शिकार हो गये । पाशके निधनके रूपमें यह पंजाबी कविताकी एक बड़ी दर्दनाक दुर्घटना है । उनके निधनके बाद उनकी कविताओंके हिन्दी अनुवाद सबसे पहले 'पहल' ने छापे । उसके बाद राजकमलसे यह संग्रह आया है । संग्रहका यह नामकरण पाशकी कविताकी अन्तर्वस्तुके अनुकूल है । पाशने कभीभी समझौता नहीं किया । न उन्होंने जीवनमें और न कवितामें बीचके रास्तेकी कोई खोज की या उसे वरीयता दी । 'पाशकी काव्य-यात्रा' शीर्षक भूमिकामें अनुवादक चमनलाल उन्हें एल्फ फाक्स, काडवेल आदिकी परम्परामें मानते हैं जिन्होंने लेखनके साथ जनसंघर्षमें सक्रिय भागीदारी भी की ।

पाशने कविताके अतिरिक्त औरभी बहुत कुछ लिखा है । चमनलाल बताते हैं कि उन्होंने अपनी डाय-

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : २७३; डिमा. ८६; मूल्य : ६०.०० रु. ।

रियोंमें साहित्य और राजनीतिक विषयक चिन्तन किया है । 'सिआड़' 'हाँक', 'प्रेम ज्योति' और 'ए'टी-४७' का सम्पादन करते हुए सम्पादकीय टिप्पणियाँ व साहित्यिक राजनीतिक लेखभी लिखे हैं । मुख्यतः वे कविके रूपमें ही पंजाबी साहित्य-जगत्में प्रतिष्ठित हैं । उनके चार संग्रहोंमें कुल मिलाकर १२५ कविताएं संकलित हैं । इसीके वलपर वे पंजाबी साहित्यमें एक धारदार कविके रूपमें प्रतिष्ठित हैं । अब जबकि उनकी कविताओंके हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो गये हैं तो अनुवाद और प्रकाशकका यह दायित्व होता है कि वे उनकी गद्य-रचनाओंका भी एक प्रतिनिधि संग्रह हिन्दी पाठकोंको सुलभ करायें ।

चमनलालने पाशकी तुलना पंजाबीके एक अन्य लोकप्रिय-कवि शिव बटालवीसे की है, यद्यपि वे यह भी कहते हैं — "इन दोनों कवियोंमें इसके अतिरिक्त कुछ भी समान नहीं है कि दोनों ही कवि ३६ वर्षकी अल्पायुमें चल बसे, दोनोंका ही पंजाबी साहित्य मंच पर सनसनीखेज तरीकेसे प्रवेश हुआ और दोनोंही बहुत लोकप्रिय रहे । वास्तवमें जिन दिनों शिव बटालवी लोकप्रियताके शिखरपर थे उन्हीं दिनों पंजाबी काव्य मंचपर पाशके प्रवेशने शिव बटालवीको उनके शिखरसे नीचे खींच लिया । ... शिव बटालवी 'मौतकी शान' के शायर थे और पाश उसके मुकाबिल 'जिन्दगी की शान' के शायर बनकर आये । 'हमें तो जीवन



रितुमें मरना' शिवके साहित्य और जीवनका लक्ष्य था और उन्होंने शराबमें डूबकर ३६ वर्षकी अल्पायुमें मौतकी गोदमें जाकर यह लक्ष्य पूरा कर लिया। पर उसी समय पाश जिन्दगीकी शान और संघर्षकी कविताएं लेकर साहित्य मंचपर आये और उन्होंने अपनी कवितासे पंजाबी पाठकोंकी मनोवृत्तिकी शिव बटालवी की मौतकी संवेदनाओंसे आजादकर एक खूबसूरत जिन्दगी हासिल करनेके संघर्षको मोड़ दिया।" (पृ. १६)। इस रूपमें चमनलाल पंजाबी साहित्यमें पाश का एक ऐतिहासिक महत्त्व मानते हैं।

इस संबंधमें कहना यह है कि हिन्दी पाठक शिव बटालवीकी कवितासे परिचित नहीं हैं। जब किसी एक कविको महत्त्वपूर्ण मानकर किसी दूसरी भाषामें उसे अनुवादके द्वारा स्थापित या लोकप्रिय करनेकी चेष्टा होती है तो स्वभावतः उसी भाषाके दूसरे कविसे उसकी तुलना करनेपर उस दूसरे कविके प्रतिभी पाठकोंकी जिज्ञासाका होना स्वाभाविक है। इसलिए चमनलालसे यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक है कि जब आप जिन्दगी की शानके कविका इस रूपमें अनुवादकर सके हैं तो क्या 'मौतकी शान' के शायरकी शायरीका अनुवाद भी क्या आप कभी हिन्दी पाठकोंके लिए प्रस्तुत करेंगे? तभी तो आपकी तुलनाकी सही परख हिन्दीवाले भी कर सकेंगे। कमसे कम इसी वहाने यदि पंजाबीका एक और कवि हिन्दीमें आ जाये तो क्या बुरा है। पाश और शिव बटालवी कविताके अंतरको मात्र दो कवियों का अन्तर मान कर नहीं छोड़ देना चाहिये। इसका और गहरा विश्लेषण होना चाहिये—विशेषकर पंजाब के वर्तमान संघर्ष सन्दर्भमें। क्या साहित्य समाजको प्रभावित करता है? या क्या वह समाजका प्रतिफलन है? या वह दोनों है? इस दृष्टिसे विचार करनेपर लगेगा कि पाश और शिव बटालवी पंजाबी समाजके दो विरोधों लक्षणोंके प्रतिफलन भी हैं और शायद पंजाबी समाजको अपने अपने ढंगसे प्रभावितभी करते रहे हों। मुझे ऐसा लगता है कि शिव बटालवीने जीवन रितुमें मरनेका जो गौरव गान किया, सम्भव है उससे पंजाबी युवकोंको युवावस्थामेंही मरनेकी प्रेरणामिली हो। सब तो शिव बटालवीकी भाँति शराबमें गर्क होकर नहीं मर सकते थे। यह पंजाबकी धरती और इतिहास-परम्पराके अनुकूल भी नहीं होता। इसलिए मुझे लगता है कि वे आतंकवादकी ओर आकृष्ट हुए हों,

या उन्होंने मरजीवड़ेके रूपमें मरनेका संकल्प लिया हो। आतंकवादियोंके रूपमें मारे जानेपर एक गौरव और शहीदानी भावका अनुभव तो उन्हें होता ही होगा। शिव बटालवीकी सीधीसादी निर्दोष कविता का यदि ऐसा प्रभाव पड़ा हो कुछ अस्वाभाविक नहीं! या पंजाबी समाजके युवकोंमें 'हाराकिरी' करने जैसी प्रवृत्ति, अनेक सामाजिक ऐतिहासिक कारणोंसे उपजी हो और उसे ही शिव बटालवीने वाणी दी हो तो यह समझना भी अस्वाभाविक नहीं है। 'परन्तु समाजमें कोई एकही प्रवृत्ति यों सर्वमान्य नहीं होती। बहुधा एक प्रभावशाली प्रवृत्तिके समानान्तर, या उसके विरोधमें विशेषकर तब जबकि वह प्रवृत्ति अस्वस्थ हो—तो एक दूसरी प्रवृत्ति भी विकसित होती है। सम्भव है पाश पंजाबी समाजकी स्वस्थ और जीवन दायिनी शक्ति और प्रवृत्तिके स्वाभाविक प्रतिफलन रहे हों। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने आतंकवादियोंका विरोध किया, अताकिक हिंसाका विरोध, अकारण जीव-विनाशका विरोध किया। परन्तु जिन्हें मरने-मारनेका चस्का लग चुका था, जो उस नशेके अभ्यस्त हो चुके थे, वे इसे कैसे सहते? इस रूपमें भी इस अंतर को समझनेकी जरूरत है।

पाशकी कविताकी केन्द्रीय धारा मनुष्यकी उसके सम्मानकी, उसकी शानकी गौरवगाथा मानी गयी है। इस कारण ही पाशको नाजिम हिकमत और पाब्लो नेरुदाकी परम्पराका क्रांतिकारी कवि माना गया है। वैसे डॉ. नामवरसिंह पाशको स्पेनके 'जनकवि' लोर्काकी परम्परामें मानते हैं। इनकी प्रस्तावनाका शीर्षकही है 'पंजाबीका लोर्का,' लोर्काकी कविता सुनकर जनरल फ्रांकोने आदेश दिया था कि यह आवाज बन्द होनी चाहिये। पाशकी भाँति वे भी ३६ वर्षकी आयुमें फासिस्टोंकी गोलियोंके शिकार हो गये थे।

पाशकी कविताओंमें कविताको लेकर बहुत चिन्ता है। कविताकी क्या भूमिका है, क्या होनी चाहिये, आजकी दुनियाँके हिसाबसे कविताको क्या रूप धारण करना चाहिये ऐसी अनेक बातोंपर कवि सोचता और अपनी प्रतिक्रिया देता है। उसे बहुत अफसोस दुःख और रंज है कि 'कविता बहुतही शक्तिहीन हो गयी है जबकि हथियारोंके नाखून बुरी तरह बढ़ आये हैं।'

इसीलिए वह मानता है—अब हर तरहकी कविता से पहले हथियारोंसे युद्ध करना बहुत जरूरी हो गया



है। इस प्रकार कविता द्वारा कायाकल्प या समाज परिवर्तनकी बात पाश सोचते थे।

पाशके संबंधमें नामवरसिंहका यह कथन कि 'कुल मिलाकर था वह कवि ही—एक सरापा कवि' क्या अर्थ रखता है मैं समझ नहीं सका। यदि वह उनके शब्दोंमें ऐसा समझदार कवि था जिसे उस जगहका पता था 'जहाँ कविता खत्म नहीं होती' तो वह कविसे बढ़कर कविताकी शक्ति और भीमाको समझनेवाला अपने समयका एक जागरूक इंसान था। यदि वह सहीमें एक कम्युनिस्ट था जैसाकि डॉ. नामवरसिंह मानते हैं तो वह एक सरापा कवि कैसे हो सकता था? जो कवि कह सकता है—'हाथ श्रम करनेके लिए ही नहीं होते, लुटेरे हाथोंको तोड़नेके लिए भी होते हैं' वह केवल कवि नहीं हो सकता। पाशभी केवल कवि नहीं थे, क्रांतिकारी कवि थे। एक ओर तो पाशको लोका सम-कक्ष मानना और दूसरी ओर उसे विशुद्ध कवि कहना यह नामवरसिंहकी कथन शैलीकी विशेषता हो सकती है। पता नहीं इस रूपमें वे पाशके प्रशंसक हैं या उसके कवि और क्रांतिकारी रूपपर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

पाशकी सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे जंची उसकी ईमानदारी है—गहरी ईमानदारी। वे सच्चाईको जीनेवाले और उसपर बलिदान होनेवाले कवि हैं। उन्होंने जो कुछ अनुभव किया, जिसे ठीक समझा उसे सशक्त भाषामें कहा। इसलिए वे झूठसे, वनावटीपन से नफरत करते हैं। सचकी ताकत उनकी कवितामें बराबर महसूस होती है। वे कहते भी हैं—हम झूठमूठका कुछ भी नहीं चाहते / हम सब कुछ सचमुच का चाहते हैं। 'जिन्दगी समाजवाद या कुछ और' यह 'कुछ और' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। समाजवादके अलावाभी शायद वे कुछ और चाहते थे। उनकी कल्पना की आँखें समाजवादसे आगे जाकर कुछ औरपर भी टिक सकती थीं। यह भी पाशकी विशेषता है। शायद वे समाजवादकी भी कुछ सीमा मानते रहे हों।

संग्रहमें 'कामरेडसे बातचीत' के कई टुकड़े हैं। इन कविताओंसे पता चलता है कि 'पार्टी' को लेकर पाशके मनमें भी कुछ द्वन्द्व थे इस द्वन्द्वको इन कविताओंमें उसने निर्भीक वाणी दी है। वह साहसके साथ कह सकता है—'कामरेड, तुम्हारा स्तालिन बहुत बड़बोला था। उसने अपने कविकी स्थितिभी इस प्रकार स्पष्ट की है—'पिछले

दिनों जिस शायरके / सुरक्षित पार्टीमें मिल जानेकी खबर थी / वह मैं नहीं था।... मैं तो उस खबर से बहुत पहले ही / जब शब्दोंमें रात उतर रही थी / और अंधेरेके नाग नामोंपर कुंडली मार रहे थे / मैं शब्द 'पार्टी' की बची-खुची सम्बेदना चुराकर / फिसल गया था चोरीसे / मनुष्यके हो हल्लेमें / (पृ. १७५)। यहाँ अंतिम तीन पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। वे पार्टीका अपने कविके लिए उपयोग करते हैं खुद पार्टीके लिए इस्तेमाल किये जायें इसकी छूट नहीं देते। इस रूपमें वे अपने कवि व्यक्तित्वकी स्वायत्तता बरकरार रखते हैं। यह पाशके शक्ति, साहस और विवेकका सूचक है। वे अपनेको मनुष्यके अन्य हो-हल्लों से असंपृक्त नहीं कर पाते। इस रूपमें वे कुछ कुछ हिन्दी कवि नागार्जुन और रणजीतके समीप दिखायी देते हैं। पाशकी कवि दृष्टिमें वह सहज मानवीयता है जो मनुष्यके भीतरी दर्दको, उसकी असमर्थता-विवशता को देख सकती है और उसके लिए करुणा अनुभव कर सकती है। इसीलिए उसने बड़े दर्दिले अन्दाजमें कहा है—'खुफिया पुलिसके विद्वानोंके लिए बने तो बने / कामरेड, तुम्हारे लिए क्यों बनती हैं शेखी... कविकी पराजय। इतनाही नहीं वह संकीर्णता, असहनशीलतापर प्रहार करता हुआ कहता है—'कामरेड, तुमने पराजितों से घृणा करना सीखा है / उन्हें तुम जानते भी नहीं / जो केवल जीत न सके। (पृ. १७४)। इस प्रकार थके, हारे, टूटे हुआँके लिए पाशके मनमें जो दर्द और करुणा है वहीं यहाँ व्यंग्य बनकर प्रकट हुआ है।

पाशकी कविताकी दूसरी विशेषता जो पाठकोंको निरन्तर आकृष्ट करती है उसकी निरन्तर बेचैनी है—एक बेहतर दुनियाँ देखने-बनानेके लिए एक ईमानदार कोशिशके तहत महसूस कीजानेवाली बेचैनी। वे मेहनत की लूट, पुलिसकी मार, गद्दारी-लोभ आदिको उतना खतरनाक नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें—'सबसे खतरनाक होता है / मुर्दा शांतिसे मर जाना/न होना तड़प का सब सहन कर जाना... सबसे खतरनाक होता है। हमारे सपनोंका मर जाना।... सबसे खतरनाक वह आँख होती है / जो सच कुछ देखती हुई भी जमी बर्फ होती है। जिसकी नजर दुनियाँको मुहब्बतसे चूमना भूल जाती है।' संग्रहकी यह अंतिम कविता सम्भवतः अपूर्ण रह गयी आततायियोंकी गोलियोंने पाशको मौतकी नींद सुला दी लेकिन उनका लिखा जो कुछ सामने है उससे



उनकी एक विशिष्ट छवि बनती है। भारतकी विभिन्न भाषाओं में ऐसे अनेक कवि हैं, हो सकते हैं जिनके साथ पाशका तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। इस अध्ययनकी शुरुआतके पहले यह आवश्यक है कि पाशका शेष सृजनभी सामने आये। □

## टूटते जल-बिम्ब<sup>१</sup>

कवि : सत्यनारायण

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्र सिंह

सत्यनारायण नवगीतकी परम्पराके एक हस्ताक्षर हैं और उनका कविता संग्रह "टूटते जल-बिम्ब" ऐसे गीतों और कविताओंका संकलन है जो संवेदनाके विविध आयामोंको, यथार्थके भिन्न रूपोंसे संपृक्तकर गीत' को एक नया आयाम देते हैं जो छायावादी गीतों से भिन्न हैं। समकालीन कविताके संदर्भमें नवगीत या गीत एक विशेष विधाके रूपमें उभरकर आया है जिसने यथार्थके भिन्न रूपोंको वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर उद्घटित करनेका प्रयत्न किया है और उस प्रयत्नमें संवेदनाके उस रूपको मुखर किया है जो मर्मस्पर्शी होते हुए भी हमारे "सोच" को आंदोलित करता है। सत्यनारायणकी ये रचनाएं इस माँगको काफी सीमा तक पूरा करती हैं। अब हिन्दी कविता आंतरिक बदलावके मोड़ पर पहुँच गयी हैं और छायावादी एवं नयी कविताका जादू धीरे-धीरे कम हो रहा है — आजके गीत इसीसे नये रूपाकारों, नये तैवरों और नयी संवेदनाके संघर्ष-शील आयामोंको पकड़नेका प्रयत्न कर रहे हैं। गीतका प्राण है "लय" जो एक छंदकी माँग करता है जो नये अर्थ-संदर्भोंको अपने अन्दर समेट सके। सत्यनारायणके गीत कथ्य और शिल्पके अंतःसम्बन्धको मानते हैं क्योंकि इसके वगैरे "गीतकी यात्रा" अधूरी ही रहेगी —

देहकी भाषा जरूरी है

कथ्यही जब शिल्पसे कट जाये

गीतकी यात्रा, अधूरी है।

सुनो, तुमसे और मुझसे परे

नहीं कोई अर्थ--ध्वनि संगीत !! (पृ. ६४)

१. प्रका. : आर्यभाषा संस्थान, बी-२/१४३ ए भदौनी, वाराणसी-२२१००१। पृष्ठ : ८०; डिमा. ८८; मूल्य : ३५.०० रु.।

'प्रकर'—मार्च'९०—१८

आजका गीत मात्र भावनाओंका तरल मोहक रूप नहीं है क्योंकि त्रासद स्थितिमें मात्र भाव-केंद्रित गीत कुछ समयके लिए चाहे मनको मोह ले, पर उनका प्रभाव हमारे सम्पूर्ण विचार-संवेदनको दूरतक सोचने के लिए विवश नहीं कर सकता है —

भावनाओंका, तरल परिवेश

वहुत संभव है कि सब

भ्रममें लदल जाये

और कच्ची धड़कनोंके साथ

कौन जाने वक्त

कब क्या चाल चल जाये। (पृ. ३२)

इन कविताओंसे गुजरते हुए एक बात साफ नजर आती है कि कविका मानस, लोक-जीवनके रूपाकारों और प्रकृति के रूपोंसे इस प्रकार 'गुंथ' गया है कि उसकी रचनात्मकतामें लोक एवं प्रकृति बिम्ब और रूपाकार नये अर्थ-संदर्भोंको व्यंजित करते हैं। जनपदीय रूपोंका जो चित्र उभरकर आता है, वह आज किस कदर विडंबनापूर्ण हो गया है, इस तथ्यको अंडमान निकोबार की जनजातियोंके संदर्भमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है

किन्तु आज तो, नयी सभ्यताके

इस जलसागरमें

रंग विरंगे

चित्रोंका

उपहार हो गये हम। (पृ. ४२)

दूसरी ओर 'दिया' और "भरी भरी दो आंखों" के द्वारा कविने जो संवेदना चित्र प्रस्तुत किया है, वह लोक धड़कनोंसे संयुक्त होते हुए भी आजकी विडम्बना को भी व्यक्त करता है —

सूने घरमें, कोने कोने, मकड़ी बुनती जाल।

फिरभी एक दिया, जब जलता है, सांझीके नाम

लगता कोई पथ जो है, ड्योढ़ी पर, पल्ले थाम

भरी भरी दो आंखे पूछें,

फिर फिर वही सवाल। (पृ. ३८)

उपर्युक्त दो उदाहरण पूरे संग्रहकी संवेदनाको मुखर करते हैं क्योंकि गीतोंमें ग्राम्य और शहरी प्रारूपों का जो द्वन्द्व दृष्टिगत होता है, वह इन गीतोंकी एक प्रमुख विशेषता है। इसी संदर्भमें उन गीतोंका अपना अलग महत्त्व है जो 'समय-संदर्भ' की विडम्बनाओं और त्रासद स्थितियोंको बिम्बायित करते हैं। इस संवेदनामें



भिन्न रूपाकार और मिथकीय आद्य रूपोंका जो रचनात्मक प्रयोग यदा कदा हुआ है, वह परोक्ष रूपसे समय-संदर्भकी त्रासद दशाओंको गहराते हैं। समकालीन कविताका एक मुख्य स्वर है जिसे सत्यनारायणने संवेदना के स्तरपर लयांकित किया है, यथा —

(१) फेंक रही पांसे, यह बीसवीं सदी  
सभागार बीच खड़ी, विवश द्रौपदी  
धर्मराज खेल रहे खेल जुएका  
बिछ गये बिसातोंके, दाँवोंके दिन।  
(पृ. २७)

(२) मछलीसे तडपते अभावोंके दिन  
(३) राह बीच सिरफिरी हवाएं, डंक मार  
गया क्या बतायें ?  
लेकर जायेंगी किस हृद तक, हमको  
ये त्रासद यात्राएँ। (पृ. २५)

(४) संविधानमें बंद, हम मौलिक अधि-  
कार होगये। (पृ. ७१)

ये सभी उदाहरण गीतोंके उस रूपको प्रकट करते हैं जो आजकी विडम्बना और त्रासद यात्राओंको संकेतित करते हैं। इसी संदर्भमें “प्रजाका कोरस” नामक अंतिम खण्डमें जिन गीतोंका संकलन है, वे यथार्थ-सापेक्ष होते हुएभी उनमें सांकेतिकताका अभाव है जिसके कारण ये गीत ‘सपाट, अधिक हो गये हैं। उनमें वह प्रभविष्णुता नहीं है जो हमें अन्य खण्डोंके गीतोंमें प्राप्त होती है।

इन गीतोंकी संरचनाको लेकर एक बात जो मुझे लगातार परेशान करती रही, वह थी सीमित रूपाकारों का प्रयोग, वे या तो प्रकृति या लोकसे लिये गये या फिर राजनीतिक क्षेत्रसे। कविकी संवेदनामें भिन्न ज्ञानानुशासनों [जैसे विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास] दर्शन आदिके रूपाकारों और प्रत्ययोंका (शब्द, बिम्ब) रचनात्मक प्रयोग शायद नहीं के बराबर है। इसका क्या कारण है ? शायद इसका कारण हमारा रचनाकार मात्र अनुभवसे काम चलाना चाहता है, उसे विचारकी गत्यात्मकतासे गहरानेमें असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि बिना विचार-साहित्यके अध्ययन एवं मननके द्वारा रचनाकारका संवेदना तंत्र बहुआयामी नहीं होसकेगा क्योंकि आप जो अध्ययन करते हैं, उसका परोक्ष प्रभाव सृजनपर अवश्य पड़ता है। यह बात प्रसाद, मुक्तिबोध, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदिकी रचनाओंमें स्पष्ट देखी जा सकती है।

## अंश अंश अभिव्यक्ति?

कवयित्री : श्रीमती शकुन्तला सिरौठिया  
समीक्षक : डॉ. रामप्रसाद मिश्र

श्रीमती शकुन्तला सिरौठिया सुप्रसिद्ध बालसाहित्यकार हैं तथा बालसाहित्य-संबद्धनाथ ‘श्रीमती शकुन्तला सिरौठिया बालसाहित्य पुरस्कार’ भी प्रति वर्ष प्रदान करती हैं। किन्तु वे एक कुशल कवयित्रीभी हैं जिनके ‘दीप’ (१९४४ ई.) से ‘अंश अंश अभिव्यक्ति’ (१९८७ ई.) तक चार संग्रह निकल चुके हैं। वे प्रयागके साहित्यकारोंको प्रतिवर्ष ‘अभिषेक श्री’ द्वारा सम्मानित भी करती हैं।

कवयित्री श्रीमती सिरौठिया वाद-मुक्त, निर्यात-मुक्त, आयातमुक्त सहज कवयित्री हैं। यह हर्षका विषय है कि जब कविगण ‘वाद-विवाद’ में उलझे रहे हैं तब भी कवयित्रीगण सहज कविताकी सर्जना ही करती रही हैं। संप्रति ‘वाद’-व्यामोह छीज रहा है क्योंकि आयातित वाग्जाल घिस-पिटकर जर्जर हो गया है और कविता पुनः भारतकी माटीसे जुड़ रही है। कविता भारतवादी हो रही है। आलोचना तकमें सामान्य पाश्चात्य विचारोंको ‘सैद्धांतिकता’ की लपेटमें लेकर जनता को आतंकित करनेकी घटिया परिपाटी चुकती नजर आ रही है।

श्रीमती सिरौठियाकी कवितामें उनके जीवन-संघर्ष, उनका विराट् अटन, उनका शोषित-संवेदन एवं उनका लौकिकसे अलौकिककी ओर आकर्षण इत्यादि तत्त्व प्रशस्य रूपमें विवृत्त हुए हैं। उनके ‘कफन मत उड़ाओ मुझे मीत मेरे तुम्हारी शपथ मैं अभी शव नहीं हूँ’ एवं ‘लहरोंपर सो जाना नाविक छोन जाना कूलोंसे’ जैसी पंक्तियोंका स्रोत मन मोहती रहती है। उनके गीतोंमें कई रंग हैं, जो नवगीत तक की यात्रा करते प्रतीत होते हैं (किन्तु संभवतः अनायासही सायास प्रयोग उनकी रुचिमें नहीं आते)। उनकी विनम्रता आस्थामूलक है जिसकी गहराई प्रभावित करती है।

लरजते गरजते/सागरको देखा, /उसकी अतल/ गहराइयोंको झांका, /अहं से उफनता। /मेरा बूढ़-मन सहमकर सूख गया। /रवि किरणोंसे/ आलोकित उत्तुंग नगशृंगको / गर्वसे ग्रीवा उठाकर/ देखने की धृष्टता की, /मेरा सिकता-मन/ पिताके चरणों पर/सिंह-कर बिज्र गया।

१. प्रका. : विद्या साहित्य संस्थान, इलाहाबाद-२११-००३। पृष्ठ : १३६; डिमा. ८७; मूल्य : ४५.००



श्रीमती सिरौठियाकी कवितामें लोकगीतकी मिठास भी मिलतीहै, जो प्रकृतिके रससे सराबोर है। कवितामें भारतकी अस्मिता ऐसे नवगीतोंमें प्रशस्य रूपसे उजागर हुईहै :

आग लगी वनमें नयन भर आये / टेसूने कैसे अंगार दहकाये ! / तारोंकी पाँत खिली/पानी में ज्योति जली/पुरइनपर चंदा नीहार ढरकाये । / टेसूने कैसे अंगार दहकाये ।

बेलाने आह भरी, / चंपा विरहाग्नि जरी/ सीतन रंगिले बालम भरमाये । / टेसूने कैसे अंगार दहकाये !

माथेका सिंदूरा / बिखर गया अंखियन, / अंखियनका कजरा/बरस रहा छतियन, /जुल्मी वसंत दई प्राणोंपर आये । टेसूने कैसे अंगार दहकाये !

□

## सच क्या है?

कवि : शिवशंकर वसिष्ठ

समीक्षक : डॉ. मनोज सोनकर

प्रस्तुत काव्य-संग्रहमें, छन्दहीन और छन्दबद्ध दोनों किस्मकी कविताएं शामिल हैं, छन्दबद्ध कविताएं पुरानेपनसे ग्रसित हैं।

रामायण और महाभारतके पात्रोंसे सम्बन्धित कविताएं विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करतीहैं, ये मिथकीय कविताएं ही इस संग्रहकी सार्थक कविताएं हैं। इन कविताओंमें पात्रोंका आत्मकथन काफी प्रभावशाली है, चितनको कुरेदता हुआ, नयी दिशाका संकेत देताहै।

“द्रौपदीकी पीड़ा” (पृ. १६) सशक्त कविता है। द्रौपदी अर्जुनकी पत्नी थी, लेकिन वे उसे अपने चारों भाइयोंकी वासनासे नहीं बचा पायेथे। प्राचीन मूल्योंका विरोध करती हुई वह आधुनिक प्रबुद्ध नारी की तरह फूट पड़ीहै :

“घृणा, मैंने केवल अर्जुनसे कीहै,

घनघोर घृणा, बीभत्स घृणा !

१. प्रका. : जीवन प्रभात प्रेस, २२१, गुरु गोविन्दसिंह इंडस्ट्रियल एस्टेट, गोरेगांव, बम्बई-४०००६३।

पृष्ठ : ११२; डिमा. ८६; मूल्य : ५०.०० रु.।

‘प्रकर’—मार्च’९०—२०

अर्जुन जिसने पौरुषको कलंकित कियाहै  
नारीत्वको अपमानित कियाहै  
स्त्रीकी स्वतंत्रता समताका हनन कियाहै  
पत्नीकी प्रतिष्ठाको गिराया है।” (पृ. १७)

इन पंक्तियोंमें प्राचीन मूल्योंका विरोध और नारी स्वतंत्रताकी गूंज बहुत प्रबल है। यह कविता पढ़नेके बाद, रामदेव आचार्यकी प्रसिद्ध कविता—एक पौराणिक वेदना—(रेगिस्तानसे महानगर तक, पृ. २५)--की याद आतीहै। विभीषणने आत्मपरीक्षण करते हुए, अपने आपको राष्ट्रद्रोही, कृतज्ञ, नीच और स्वार्थी बतलायाहै। उसने स्वीकार कियाहै, कि वह रामको राजनीतिका हथकंडा बन गयाथा। उसने सीताहरणको सूर्पणखाके अपमानका बदला बतलायाहै। (पृ. १८)। रामने कहाहै :

जनमतको ठुकराकर यदि मैं सीताको अपनाता,  
निश्चित ही सीता मर जाती तोड़ उसी दिन  
नाता।” (पृ. १७)।

‘जनमत’ बहुतही महत्त्वपूर्ण है और इस मतसे बड़ा कुछभी नहीं है, यह हमारे राजनीतिज्ञोंको बड़ी गहराईसे समझा लेना चाहिये। रूमानियाके चाऊशेस्कू का पतनभी इसी सत्यकी गवाही है। मुक्तिबोधने अपनी पुस्तक (“नये साहित्यका सौन्दर्यशास्त्र”) में रामायण और महाभारतको सामंती मूल्योंका पोषक बतलायाहै और उनकी यह मान्यता गलतभी नहीं है। दलित चेतनाने रामायण और महाभारतके सामने गंभीर प्रश्न खड़े कर दियेहैं, धार्मिक ग्रन्थोंके पुनर्मूल्यांकनकी महती आवश्यकता है। कविने सचपर पड़े पदोंको हटायाहै—कैकेयीका मस्तक कलंकित नहीं/गौरवान्वित है (पृ. १३)। कवियोंको प्रख्यात कथाओंका मोह त्यागकर, जन-जीवनसे कथानक उठानेका प्रयास करना चाहिये, केवटको नायक बनाकर, रामायण लिखनी चाहिये।

कविने विभिन्न कविताओंमें जयशंकर प्रसाद, नेहरू, अरविंद, जयप्रकाश नारायण और साईबाबाके प्रति श्रद्धा और स्नेह दर्शायाहै।

“विचार और कल्पना” कविता (पृ. ७१) अपनी सहजताके कारण आकर्षक है। “मैं सिर्फ माँ हूँ” कवितामें (पृ. १००) अमीर बेटों द्वारा उपेक्षित ग्रामीण गरीब माँका मार्मिक अंकन हुआहै। “छिपे ईश्वरको बाहर लाओ” में ग्रामीण (पृ. ६७) ढोंगी



सन्तों और संन्यासियोंपर हमला बोला गया है। “हास्य सम्राट्” में (पृ. ८८) हास्य सम्राट् कवि नहीं, चुट-कुलेबाज हैं, घाघ व्यापारी हैं। “दूरदर्शी संपादक” (पृ. ८५) का व्यंग्य महीन है। टुच्चा आदमी ‘मंहगी शख्सियत’ का नाटक रच रहा है।

“साधक” नामक कविता (पृ. ५७) में कविने समकालीन कविताको बदबूदार, नीरस, छन्दहीन, ताल-तुकहीन, गीत रहित और प्रेमहीन बताकर यह शिका-यत की है, कि हर कोई कविता लिख रहा है। कवि भूल गया है, कि समकालीन कवितामें बहुत अच्छी प्रेम कविताएं (बलदेव वंशी, विनय, नंदकिशोर आचार्य, चन्द्रकांत देवताले, विनोद गोदरे, अमृता भारती, कुसुम अंसल, प्रभा खेतान आदिकी कविताएं) भी लिखी गयी है। कविने लिखा है, कि भारतका शत्रु बनकर कोई नहीं जीता है (पृ. १२); यह सत्य है कि भारतका इतिहास पराजयका भी इतिहास है। कवि भावुक है और भावुकतामें बहकर, बड़बोलेपनका शिकार हुआ है, परिवेशसे गहन जुड़ावका अभाव इस संग्रहकी बहुत बड़ी कमजोरी है। □

## कविता और कविताके बोच?

कवि : प्रकाश मनु, देवेन्द्रकुमार

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

इस एक जिल्दमें दो कवियोंकी दो पुस्तकें समाहित हैं, एक पुस्तक है ‘एक युद्ध अनिवार्य’। कृतिकार हैं प्रकाश मनु। इसमें २४ कविताएं हैं। दूसरी कृति है ‘पुस्तकें बदल गयीं’। रचनाकार हैं देवेन्द्रकुमार। कविताओंकी संख्या ३० है।

रचना-प्रवृत्ति और ढाँचोंके अनुसार दोनोंकी कविताओंके दो घाट हैं। एक घाट इस ओर है दूसरा उस ओर। पहलेकी रचनाएं वस्तुमुखी और व्यवस्था विरोधी हैं। दूसरेकी व्यक्तिनिष्ठ और व्यक्तित्व व्यञ्जक।

पहले संग्रहकी कविताएं एक खांटी व्यक्तिके द्वारा झेले गये कठोर संघर्षोंका प्रमाणपत्र हैं। ऐसा व्यक्ति जो दुमको लंगोट बनानेकी मासूमियतको संस्कृति नहीं

मान सकता है। उसमें गुस्सा है। ऐसा गुरिल्ला गुस्सा कि सभ्यताकी चिकनी चुपड़ी चींचनियतको नोंच फेंके। बेरोजगारी और साधनहीनताकी अभिशप्त मनःस्थि-तियां कविताओंका विषय बनी हैं—गुस्सेल शब्दोंकी संघर्षी चट्टानपर/उगा हुआ विस्फोटक घूसाही आखिर-कार/सही जवाब है—एक पूरी विर्का हुई/शब्द व्य-वसायी मानसिकता/और अफराये पेटकी/हरामखोर/लफफाजीका।

कविके अनुसार ये ‘खून जलाकर रची गई कविताएं हैं।’ या फिर ‘भभकते क्रोधमें लिखी/क्षत-विक्षत आगकी लकीरें हैं।’ मनस्वी मानसिकता और परिवेश की क्रूरताने मिलकर कविको ऐसा तीखा कर दिया है कि उसे किसीसे किसी प्रकारकी वांछा नहीं रही। कांटे जैसी इस स्थितिको व्यक्त करती कविता है—मुझे वाकई तुमसे कुछ नहीं लेना/और मैं थूकता हूँ देनेवालेके नामपर/—यह लो आक्...थू...।

कविताओंमें कल्पना और स्मैतिक तरंगोंका स्थान मुन्नाका दूध, सकीलाकी साड़ी और दुखियाकी रोटी ने ले लिया है। कवि गुहार लगाता है कि ‘गणतन्त्रको जमीनतक लाओ और भूखी धरतीकी रोटी खिलाओ। कवि देशको टटोल रहा है। देश, जो बुढ़ोंके पायजामेके नाड़ोंमें खो गया है।’ उनके लिए चुनावही उत्सव और उल्लास है। वे जनताको अनपेक्षित खूंसट औरतसमझे हुए हैं।

लाज चींटियों-मी पूरे जिस्ममें रेंगती भूख सर्वभक्षी बनकर कविताओंमें पसर जाना चाहती है। कवि उस काव्यशास्त्रको बदल देनेकी हिमाकत करता है जो साहित्य और कलाओंसे भूखके सम्बन्धको विच्छिन्न करना चाहता है। अराजकताका आलम जैसा हम दैनिक जीवनमें देखते-मुनते आ रहे हैं, कविताओंमें भी देखतेको मिलता है।

देवेन्द्रकुमारकी कविताओंमें व्यक्तिका पारिवारिक और सामाजिक सरोकार है। उनकी कविताओंमें बाबा और बागकी स्मृतियां हैं। पति-पत्नीके रिश्ते हैं। पड़ोस मुहल्ला है। गलतफहमियां हैं। अफवाहें और हंगामे हैं जो हमारे परिवेशको उग्र बनाती हैं। उनमें वे ईर्ष्याएं और आशंकाएं हैं जो एक परिवारकी छतके नीचे रहते हुए अक्सर मां, बाप, बड़का भैया, छोटी बहना और दूसरे सदस्योंको आ घेरती हैं। कवितामें ‘कमाऊ बेटा’ है जो हमारे समाजकी हैरतभरी

१. प्रका. : धारा प्रकाशन, ११३५ रानी झांसी मार्ग, सुमाष पार्क विस्तार, दिल्ली-११००३२। पृष्ठ १०४; डिमा. ८६; मूल्य : ४०. ४० रु।



शर्मको उघाड़ता है। कविताओंमें स्त्रियोंकी कुढ़न और खुन्दक भी हैं और डर पैदा करनेवाली 'गुमसुम स्थितियाँ' भी। नखरों और लियाकतोंको अच्छे तरीकेसे अभिव्यक्त किया गया है। धन्नो जादूगरिनी, सुखीराम माली, सवित्तराकी मां, रमुआ, फत्तेकी मां, मेहरअली, मंतर मारनेवाली बंगालिन और जहरीबाबाके भीतर पैठकर कविने मानवीय संवेदनको टटोला है। गलीके नये बागके निर्माणकी योजनाके कारण विस्थापित हुए लोगोंके दिलोंकी दरारोंने कविताको करुणाका स्पर्श दिया है।

अपने कलात्मक ताने-बाने और बुनावटकी मही-नतामें देवेन्द्रकुमारकी रचनाएं ज्यादा साहित्यिक हैं। प्रकाश मनुकी कविताएं सपाटपन लिये हुए खादी जैसी खुरदरी हैं। उनका महत्त्व उनके यथार्थगत नकार में निहित है जबकि देवेन्द्रकुमारकी कविताओंमें एक खास किस्मका अपनापन है। □

### अतिथि देवो भव?

कवि : बी. डी. गुप्ता

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

इस संग्रहमें ८६ कविताएं हैं। व्यंग्य, शब्द-

१. प्रका. सीता प्रकाशन, मोती बाजार, हाथरस-२०४१०१। पृष्ठ : ५३; का. ८६; मूल्य : २०.०० रु.।

## उपन्यास

# उन्नीसवीं शताब्दीके इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण मानवीय आलेख मय्यादासकी माड़ी<sup>१</sup>

उपन्यासकार : भीष्म साहनी

समीक्षक : डॉ. मूलचन्द सेठिया

'मय्यादासकी माड़ी' भीष्म साहनीका नवीनतम

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी. नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : २७३; डिमा. ८८; मूल्य : ७५.०० रु.।

विनोद, फितरेबाजी और हास-परिहास उपहासके लिए उन्होंने कविताको साधन बनाया है। हल्की-फुल्की जिन्दगीको चालू सतहको छूती इन कविताओंके बीसेक मिनटमें पढ़ लिया जा सकता है।

'पहलीही बारिशमें वह गया नवनिर्मित पुल' है तो बागदों और सपनोंकी दुनियाँके वे सौदागरभी हैं जिन्हें हम नेता रूपसे जानते हैं। कमीशन, बाबू, बाँस और सफेदपोशोंके जख्मोंको खुजलाती इन कविताओंमें, शब्दोंका, अपने-अपने निहित लक्ष्योंके हिसाबसे और का और अर्थ लगानेका वाक्-चातुर्यभी देखनेमें आता है।

'दुल्हन हीं दहेज', 'विवाह', 'पति', 'ड्राइवर' आदि संग्रहकी अच्छी कविताएं हैं। 'अतिथि देवो भव' संग्रहकी पहली कविता है। इसमें—

"सेवक सदन स्वामी आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू" चौपाईकी पैरोडी 'स्वामी आ / गमनू' करके, अतिथिके आनेपर घरमें आनेवाली साँसत और चले जानेपर होनेवाली खुशीकी व्यंजना है जो आजके जीवनकी विद्रूपता है। यथार्थके इस विद्रूपको लेकर की गयी चुटकीमें ही इस कविताका निहितार्थ है। □



का भाग्य-चक्र उठता-गिरता है। "जैसे अमलदारी बदलती गयी या माड़ीके अन्दर रहनेवालोंका भाग्य बदलता गया, वैसेही माड़ीकी स्थिति या साज-सज्जा भी बदलती गयी।" महाराजा रणजीतसिंहकी मृत्युके बाद सिख इतिहासमें एक पतन और पराभवका दौर आता है। पूरे देशको अपने शिकंजेमें कस चुकनेके बाद पंजाब के सिख दरबारकी स्वतंत्रता अंग्रेजोंकी आँखोंमें काटे की तरह कसकती है। सन् १८४५ में अंग्रेजोंने सिखोंके खिलाफ जो मुल्की और फिरोजशाहकी लड़ाईयां छेड़ीं उनमें सिख फौजे बड़ी बहादुरीके साथ लड़ीं परन्तु लालसिंह और तेजसिंह जैसे सालारोंकी गद्दारीके कारण उन्हें घुटने टेकने पड़े। 'प्रसादने' अपनी प्रसिद्ध कविता 'शेरसिंहका शस्त्र समर्पण'में लालसिंहकी जीवित कलुष पंचनदका कहकर भर्त्सना की है। ये गद्दार सालार लड़ाई के मैदानसे जानबूझकर खिसक गये और इस प्रकार अंग्रेजोंकी विजयका पथ प्रशस्त कर नये निजाममें अपने लिए सत्ताके शोषणपर बने रहनेकी अस्थायी व्यवस्थाकरली। पंजाबकी पराजयके साथ भारतीय भूमि पर एक बार तो अंग्रेजोंके विरुद्ध प्रतिरोधका पटाक्षेप हो गया।

सिख इतिहासके भाग्य निर्णायक कालके इन उतार-चढ़ावोंको भीष्म साहनीने मय्यादासकी माड़ी (गढ़ी) के दर्पणमें बड़ी सजीवता और संवेदनाशीलता के साथ प्रतिबिम्बित किया है। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे लेकर बीसवीं शताब्दीके दो दशकों तकके पंजाबका जन-जीवन, उसका सुख-दुःख उसकी जय-पराजय और सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक पट-परिवर्तन, एक तर्क-संगत तारतम्यके साथ इतने जीवन्त रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं कि माड़ी सिख इतिहासकी हर करवटके साथ अपना पार्श्व-परिवर्तन करती हुई प्रतीत होती है। दीवान मय्यादास कस्बेकी अपनी माड़ीके मालिकही नहीं, लाहौर दरबारके बड़े हाकिम भी थे। उन्हें एक ऊँचे ओहदेपर काबुलभी भेजा गया था। जब अंग्रेजोंके साथ खालसा सरकारकी टक्कर हुई तो उन्होंने अपनी सारी जमा-पूँजी लाहौर दरबारको कर्जके रूपमें दे दी थी। रुपया-पैसा, सोना-चाँदी कुछभी बचाकर नहीं रखा। इधर लाहौर-दरबारने घुटने टेके, उधर मय्यादासका दिवाला पिट गया। ओहदे और रुतबेके साथ जमीन-जायदादभी चली गयी। अब मय्यादास 'कस्बेकी गलियोंमें चलते हुए छायासे प्रतीत होते थे, किसी बीते गौरवकी छायासे।' मय्यादासके भाईकी

रखैलका बेटा धनपतराय, जिसे अनैतिक आचरण के कारण उसने माड़ीसे निकाल बाहर किया था, इस संघर्षमें अंग्रेजोंका पल्ला पकड़ लेता है। वह फौजके मरे हुए ऊँटोंकी दुम काटकर पेश करता है तो उसे नये ऊँट सप्लाई करनेका आर्डर मिल जाता है। लोग उसे व्यंग्यसे 'दुमकटा दीवान' कहते हैं। जब अंग्रेज हाकिम कस्बेमें आकर पहला दरबार करते हैं तो यह धनपतराय एक मरियलसे टट्टू पर एक मुचड़ा हुआ अंगरखा पहने और एक पोटलीमें ऊँटोंकी कटी हुई दुमोंका ढेर लेकर हाजिर हो जाता है। राजा अमीरचन्द दीवान मय्यादास और बस्तीके बड़े-बड़े लोग लाहौर दरबारके साथ अपनी पुरानी वफादारीके कारण अंग्रेजी दरबारमें जाने या नहीं जानेके असंमजसमें झूलते रह जाते हैं और जब धनपतराय उन सबसे पहले वहाँ प्रकट हो जाता है तो अंग्रेज हाकिम सोचता है अगर इसे कुछ दे दिया तो कस्बेके उन रईसजादोंके मुंहपर चपत पड़ेगी जो अभीतक हमारे पास नहीं पहुँचे हैं। भाग्यका विपर्यय ही कहिये कि वह अपने गुजर-बसरके लिए केवल कुछ जमीनके मुरब्बे मांगता है और उसे मिलते हैं तीन गाँव। उसके पास जागीरकी सनद देखते हैं तो लोग सकतेमें आ जाते हैं और देखते-देखते कलका विदूषक आजका राजा बन जाता है। इस घटनाके माध्यमसे उपन्यासकारने यह प्रदर्शित किया है कि केन्द्रीय सत्तामें परिवर्तनके साथ ही स्थानीय स्तरपर नये सत्ता-केन्द्र उभरने लगते हैं और पुराने सत्ता शिखरोंको ध्वस्त होते देर नहीं लगती। जब अंग्रेजी फौजकी टुकड़ी कस्बेमें कवायद करती हुई निकलती है तो राजा अमीरचन्द इस उम्मीदसे तनकर खड़ा हो जाता है कि यह उसे सलामी देते हुए निकलेगी, पर यह देखकर वह स्तब्ध रह जाता है कि उसकी ओर किसीने आँख उठाकर भी नहीं देखा। राजा अपनेको एक ऐसे टूटे हुए किनारे-सा अनुभव करता है जिसे छोड़कर कालप्रवाहकी धारा कहीं दूसरी ओरसे बहने लगी है।

दीवान मय्यादासके व्यक्तित्वमें एक प्रकारकी मर्यादा और सन्तुलन होनेके कारण गरिमाका आभास प्राप्त होता था। जब वे छड़ी उठाये कस्बेकी गलियों से होकर निकलते थे तो लोगोंका सर अनायास झुक जाता था परन्तु बदली हुई स्थितियोंमें वे स्वयं अपनेको असंगत प्रतीत होने लगे थे। "वे न तो वतमानके साथ कहीं जुड़ते नजर आते थे, न भविष्यके साथ।



उन्हें देखकर लगता जैसे कोई व्यक्ति किसी प्रवाहमें से छिटककर बाहर फेंक दिया गया हो...।" वे जीवन भर जिन मूल्योंको सहेजते रहे, उनके साथ अन्ततक चिपके रहना चाहते हैं। परन्तु लगता है कि ऊपरका आकाश ही नहीं बदला, नीचेकी धरती भी उनके पैरोंके नीचेसे खिसकती नजर आती है। "और इसे भी जीवन की विडम्बना ही मानिये कि जिस ओर सत्ताका पलड़ा भारी होता है, उसी ओर प्रजाकी मान्यता भी झुकने लगती है"। मय्यादास यह जानते हुए भी कि उनका जमाना अब लद चुका है, अपनी पुरानी आन-बानके साथ जीते रहना चाहते हैं, परन्तु काल-प्रवाहका ऐसा जबरदस्त रैला आता है कि उसमें मय्यादासके पैर भी उखड़ जाते हैं। विधिकी कैसी विडम्बना है कि जो मय्यादास अंग्रेज हाकिमकी हाजिरीमें जानेमें अंततक परहेज करतारहा, वह आखिर रेलके अंग्रेज गार्डके सामने फर्शी सलाम बजाते हुए कहता है 'हुजूर बन्दगी। आपका इकबाल बलन्द हो।' लगता है कि छूटी हुई बसको पकड़नेकी चेष्टामें दीवान मय्यादास ठोकर खाकर चारों खाने चित होगये। भीष्म साहनीने दीवान मय्यादासके माध्यमसे यह प्रमाणित करनेका प्रयास किया है कि शाश्वत सिद्धान्तों और जीवन-मूल्योंकी चाहे कितनी ही दुहाई क्यों न दी जाये, व्यक्तिकी संचेतना का संचालन बहुत कुछ बाह्य स्थितियोंके द्वारा ही होता है। भगवतीचरण वर्माके नियतिवादसे इस ऐतिहासिक नियतिवादकी धारणा नितान्त भिन्न है, पर है यह नियतिवादही !

पंजावमें अंग्रेजकी सत्ता स्थापित होनेके साथही उपन्यास समाप्त नहीं हो जाता। नया अमलदारीमें वर्गीय स्वार्थोंके नये समीकरण स्थापित होते हैं। राजा अमीर-चन्द और दीवान मय्यादास इतिहासके मंचसे गायब हो गयेथे, उनके सामने 'सवाल देशप्रेम या देशभक्ति का नहीं था, वफादारीका भी नहीं था। सवाल केवल अपने हितका था। किस ओर कदम उठाये कि बच भी जायें और कुछ प्राप्तिभी होजाये। अंग्रेज अमलदारी जो नयी व्यवस्था कायम कर रहीथी, उसका देवता 'मुनाफा' था। समूचे पंजावमें जिन्सके स्थानपर नकद रकमके रूपमें लगान वसूल किया जाने लगा। खेत कटाईके पहलेही लगानका भुगतान करना होता। यह नहीं कि फसल खराब होगयी तो लगान कम हो जायेगा। लगान चुकानेके लिए रकम नहीं हो तो

साहूकारसे ऊँचे ब्याजपर कर्ज लो। परिणाम यह हुआ कि किसान जमींदार और साहूकारोंके दो पाटोंके बीच बुरी तरह पिस रहाथा। कहीं-कहीं तो खाजमें कोढ़की तरह जमींदारही साहूकार बन गयाथा। एक ओर किसानका दम टूट रहाथा तो दूसरी ओर सिख सामन्त जिनके मालिकाना हक औरभी मजबूत हो गयेथे, अंग्रेजी राजके ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ बन गयेथे, जिन्हें सत्ता-वनका गदर और बयालीसकी जन-क्रान्तिभी टससे मस नहीं कर सकीथी। ब्रिटिश मालको बेचनेवाले दलालों का एक ऐसा नया वर्ग सर उठाने लगाथा, जो 'व्यापार' के नामपर उचित-अनुचितकी सारी मर्यादाओंको धता बतानेपर तुला हुआथा। लाला गोविन्दरामको अठन्नी पंसेरी गेहूँ खरीदकर किसानको दुगनी कीमतपर विलायती छींट खरीदनेके लिए मजबूर करते देखकर जब मय्यादास कहते हैं—

"सेठ, यह तो ठगी है" तो उत्तर मिलता है "ठगी नहीं, दीवानजी यह व्यापार है।

इस व्यापारने अंग्रेजी मालके एजेन्टों और दलालों का एक ऐसा वर्ग खड़ा कर दियाथा जो अगले दशकमें दीवान धनपतराय जैसे भूस्वामियोंको भी चुनौती देने लगा। जब मय्यादासकी हवेलीको नीलाम करनेकी डुगडुगी बजती है तो धनपतरायके मनमें रत्ती भरभी सन्देह नहीं होता कि उसके अलावा कोई औरभी बोली लगा सकता है। परन्तु जब उसकी 'दस हजार' की बोलीके मुकाबले मलिक मंसाराम 'चारह हजार' की बोली लगाता है, तो उसकी आँखोंके आगे भूत नाचने लगते हैं। सब भीचक्केसे होकर देखते हैं कि कस्बेके रईस जमींदारको चुनौती देनेवाला यह विलायती माल का एजेन्ट कहाँसे टपक पड़ा ? किसे मालूम था कि 'कस्बेमें एक ऐसा व्यक्ति प्रकट होजायेगा जिसका न आगा, न पीछा, न नाम न धाम, न जमीन न जायदाद, पर जो सबको ललकारनेकी हिम्मत रखता होगा"। यह मलिक मंसारामके हाथों दीवान धनपतरायकी पराजय नहीं थी, नयी उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के समक्ष भूराजस्वपर आधारित पुरानी सामन्तवादी व्यवस्थाके पराभवका सम्बन्ध था। वर्ग-संक्रमणके कारण स्थापित वर्गोंकी उच्चावचतामें उलटफेर हो रहाथा।

भारतीय जन-जीवनमें उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध का विशेष महत्त्व है। इस युगमें ऐसा आभास होने लगाथा कि जैसे मध्ययुगीन जड़ता अन्दर बाहरसे



टूटती जा रही है। रेलकी पटरियोंके बिछाये जाने और आवागमनके इस सर्वाधिक समर्थ माध्यमके आरम्भ होनेसे स्पृश्य और ऊँच-नीचके बीचकी दीवारें टूटकर गिर नहीं गयीं तो हिल अवश्य गयी थीं। आलोच्य उपन्यासमें रेलके आगमनको नवयुगकी पदचापके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। सीटीकी यह आवाज शेखोंके वाग की ओरसे आयी थी और लगताथा जैसे कस्बेके समूचे इतिहासको चीरती हुई उठ है। रेलके धुआं उगलते हुए दैत्याकार इंजिनने अंग्रेजी राजकी सर्वशक्तिमत्ताका आतंकही लोगोंके मनपर नहीं जमा दिया था, भारतके खेतोंमें पैदा होनेवाली गन्ने, कपास, तम्बाखू और चाय, की फसलका मुखभी समुद्र पार बसे हुए इंग्लैण्डकी ओर मोड़ दिया था। रेलके आगमनसे पंजाबके एक कस्बेमें व्याप्त होनेवाले भय, संशय और उत्सुकताके वातावरणको भीष्म साहनीने बड़ी एकात्मताके साथ उपन्यासके ताने-बानेमें बुन दिया है, परन्तु लन्दनके इण्डिया हाउसमें भारतीय रेलके हिस्सेदारोंके बीच होनेवाला लम्बा बहस मुवाहसा ऊबाऊ न होनेपर भी उपन्यासपर आरोपित-सा प्रतीत होता है।

‘मय्यादासकी माड़ी’ का पूर्वार्द्ध लाहौर-दरबारसे सत्ता सम्पर्क बनाये रखनेवाले राजा, दीवान और मलिक घरानेके कथा सूत्रोंसे संग्रथित किया गया है। ज्यों-ज्यों लाहौर-दरबार बिखराव और पराभवकी ओर अग्रसर होता है, कस्बेके पुराने घरानोंकी चमक फीकी पड़ने लगती है। फिरभी “कस्बा पुराना है, मध्ययुगके घटाटोपमें से निकलकर आया है, इतिहासके अनेक भन्ना-वशेष, स्मृतियाँ, किस्से-कहानियाँ, किंवदन्तियाँ संजोये हुए हैं।” एक प्रकारका मध्ययुगीन सामन्ती वातावरण माड़ीको घेरे हुए रहता है, जिसमें मय्यादास और उसके पूर्वजोंके चरित्र आदमकदसे भी कुछ ऊँचे दिखायी पड़ते हैं। वैसेभी अतीतकी ओर देखनेकी हमारी दृष्टिमें कुछ अतिरिक्त भावुकताका पुट मिल ही जाता है। “वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।” माड़ीके सामन्ती गौरव और चाकचिक्यका चित्रण भीष्म साहनीने पूरी जीवन्ततासे किया है परन्तु वे स्वयं अतीतके प्रति मोह-मुग्धतासे अभिभूत नहीं हैं। उनका मार्क्सवादी विवेक यह जानता है कि यह पतनशील व्यवस्थाकी वृद्धि हुई लौकी आखिरी चमक है और इसके बाद अंधकारका पर्दा गिरनेही वाला है। उपन्यासकार इस जर्जर समाज की अवश्यम्भावी परिणतिको बिना किसी लाग-लपेटके

पूरी यथार्थदर्शिताके साथ चित्रित करता है “टूटे-फूटे तख्त, पुराने कपडे-लत्ते, दीवारपर लटकती जंग लगी तलवार, कालीन-साजसमान जिसपर धूलकी परतें चढ़ी हैं, जालोंसे अटी छतें, टूटे-अधटूटे खिडकियोंके शीशे जिनमें कबूतर गुटरगू-गुटरगू करते हैं क्या इसीको पिछला जमाना कहते हैं ?” अब तो राजा अमीरचन्दके शीश महलपर भी उल्लू बोलने लगे हैं। पर, उपन्यासके पूर्वार्द्ध में जहां लाहौर-दरबारके साथ जुड़ी हुई सामन्ती व्यवस्थाके क्रमशः टूटते जानेकी कहानी है, वहां उत्तरार्द्ध में रेलकी सीटीके साथ एक नूतन युगके आगमनका इतिहास भी है। पुराने चरित्र इतिहास-मंचसे ओझल होगये हैं तो लेखराज, वानप्रस्थीजी, रुक्मिणी और ‘आजाद’ के रूपमें नये चरित्र उभरते हुए दिखलायी पड़ते हैं।

अंग्रेजोंके साथ अपवित्र गठबंधन करनेवाले सालारोंकी गद्दारीके कारण लेखराज, जो धनपतराय का भाई है, फिरंगी फौजोंके साथ तीन-तीन लड़ाईयाँ लड़ता है लेकिन हारता चला जाता है। दीवान घरानेमें वही एक ऐसा व्यक्ति है, जो जीवनभर कुछ मूल्योंके लिए संघर्षकरता है और अपनी सिद्धान्तवादिताके कारण बहुत कुछ खोकर भी अपूर्व आत्म-सन्तोष प्राप्त करता है। एक युगके बाद जब वह घर लौटता है तो कस्बेके लोगोंके मनमें उसकी यादभी धुंधला चुकी होती है। लोग समझते हैं वह कुछ बना-बनाया नहीं था। जैसा दसियों साल पहले कस्बेसे बाहर गया था, वैसाही लौट आया है। परन्तु लेखराज अन्दरसे टूटा नहीं है, कुछ है उसे अन्दरसे जोड़े हुए। अभी वह वक्त नहीं आया है कि वह किसानोंको सामन्तोंके विरुद्ध प्रतिरोध के लिए संगठित कर सके। परन्तु, वह कहीं बाहरसे आये हुए आर्यसमाजी कार्यकर्त्ता वानप्रस्थीजीके साथ पुत्री पाठशालाके संचालनमें अनन्य सहयोगी बन जाता है। कस्बेके लोग अपनी रूढ़िवादित्तके कारण उनका घन-घोर विरोध करते हैं परन्तु लेखराज उनके साथ घूम-घूमकर चंदा उगाहता है और पुत्रियोंको पाठशालामें प्रवेश पानेकी प्रेरणा देता है। जब दीवान धनपतराय के पगलैट बेटेकी बहू पाठशालामें अपना नाम लिखा लेती है तो लेखराजका दिल बांसों उछलने लगता है। वह कहता है, “इस अंधेरे कस्बेमें एक दिया जल गया है, उसकी लौ सारे कस्बेको रोशन कर देगी।” परन्तु, नये युगका अवतरण इतनी आसानीसे नहीं होता, एक



पूरी पीढ़ीको उसकी प्रसव वेदना झेलनी पड़ती है। एक अंधेरी रातमें सरगोधाका थानेदार आता है और लेखराजको तफतीशके लिए अपने साथ ले जाता है। इसके बाद फिर कभी किसीने उसे नहीं देखा। अंधकार एक प्रकाश पुंजको निगल गया, पर इसके बाद नये युगकी पदचाप औरभी स्पष्टतासे सुनायी पड़ने लगी। करीमखानकी बेरहम पिटाईका दारुण दृश्य न देख पानेके कारण जब किसान प्रतिरोधकी सामर्थ्यके अभावमें दीवानको बिना सलाम किये हुए उठकर चल देते हैं तो उसे यह आवाज इतनी अप्रत्याशित प्रतीत होती है कि वह अन्दरही अन्दर कांप उठता है।

इस पुराने कस्बेमें भी असहयोग आन्दोलनकी गूंज सुनायी पड़ने लगती है। धनपतरायका तीसरा बेटा हुकूमतराय विलायतसे बैरिस्ट्री पढ़कर आता है। जब कस्बेमें पहली बार राजनीतिक जुलूस निकलता है तो वह गोरे कलैक्टरको बेरहमीसे लाठी चार्जके लिए उकसाता है। लाठी चलती है और एक कार्यकर्ता तीरथ राम कड़ी मार खाकर दम तोड़ देता है। लेकिन, आन्दोलन औरभी तेज हो जाता है। उपन्यासके अन्तिम पृष्ठ पर अंग्रेजी राजके पिटू हुकूमतरायको जागृत जनताके प्रतिनिधि तिलकराजकी यह चेतावनी अंकित है: 'मैं तुमसे कहने आया हूँ कि जुलूस कल फिर निकलेगा। आगे-आगे तीरथरामकी अर्थी होगी। पीछे वे जखमी लोग होंगे, जिनपर आज लाठियां चलती थीं और उनके पीछे सारा कस्बा होगा।'

भीष्म साहनीने माड़ीको आवाद करनेवाली तीन पीढ़ियोंके माध्यमसे जो परिवार गाथा प्रस्तुत की है, उसका प्रमुख प्रतिपाद्य खालसा सरकारके पतनके बाद पंजाबमें अंग्रेजी राजके प्रारम्भिक वर्षोंमें बदलते हुए वर्ग-सम्बन्धोंके आधारपर होनेवाले सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनोंका साक्षात्कार कराना है। फिरभी, यह एक समाजशास्त्रीय अध्ययन मात्र न होकर तीन-चौथाई सदीके संघर्षमय जन-जीवनका एक जीवन्त और मानवीय आलेख है। उपन्यासकारकी द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक जीवन दृष्टि उसकी सृजनात्मक चेतनाके साथ ऐसी एकात्मक हो गयी है कि सामाजिक दवावसे होनेवाले बदलाव और पात्रोंकी मानसिकताके संयोगसे जिस जीवन-प्रवाहका प्रत्यक्षीकरण होता है वह सामाजिक-राजनीतिक जीवनकी परत-दर-परत छिपी हुई सच्चाईयोंका अनावरण करनेके साथही हमें

अनेक सजीव चरित्रों और जीवन्त एवं स्पन्दनशील जीवन स्थितियोंके आमने-सामने खड़ा कर देता है। आलोच्य उपन्यासके किरदार सामाजिक शक्तियोंके प्रतिनिधि रूपमें अपना वर्ग-चरित्र रखते हैं, इसमें सन्देह नहीं परन्तु उनका सुख-दुःख और आशा-निराशाके धूपछांही धागोंसे बुना हुआ वैयक्तिक रूपभी इतना सहज विश्व-सनीय है कि उनके साथ पाठकका भावात्मक स्तरपर सहज तादात्म्य हो जाता है। मय्यादास और धनपत रायके चरित्र अपनी पारम्परिक रूढ़तामें कहीं-कहीं हास्यास्पदभी होगये हैं, फिरभी भीष्म साहनीने उन्हें अपनी मानवीय सहानुभूतिसे वंचित नहीं किया है। हम उनपर हंसते हैं पर उनके लिए आह भरनेसे भी अपने को रोक नहीं पाते। कृष्णा सोबतीने भीष्म साहनीके औपन्यासिक पात्रोंके बारेमें लिखा था "कई लोगोंको भीष्मके लेखनकी लकीर कुछ सपाट दिखायी देती है। शायद इसलिए कि उनके समूचे लेखनमें सहज साधारण पात्रोंकी बहुलता है, अनोखापन नहीं"। यह सही है कि माड़ीके पात्रोंका चित्रण भी व्यक्ति-वैचित्र्यवादके आधारपर नहीं किया गया है, परन्तु, वे बहु-आयामी हैं, उनमें सादगीके साथ गहराई भी है और सरलताके साथ जटिलता भी है।

भीष्म साहनीने उपन्यासके शिल्प-पक्षकी अपेक्षा उसके आधारभूत विचार-तत्त्वको अधिक प्रधानता दी है। प्रयोग-सचेत कथाकार वे नहीं हैं। परन्तु, कथाकृतिमें भाव या विचार अमूर्त रूपमें नहीं जीवनकी गतिमय वास्तविकतामें रूपायित होकर प्रस्तुत किये जाते हैं, अतः शिल्प-विधानभी एक अनुपेक्षणीय तत्त्व बन जाता है। 'मय्यादासकी मड़िया' में कथा-प्रवाह काल-क्रमका अनुसरण नहीं करता है। उपन्यासका आरम्भ धनपतरायके बेटोंके विवाहसे होता है और पंजाबके सिख-इतिहाससे जुड़ी हुई घटनाओंका उल्लेख बादमें होता है, जो असलमें पहले घटित हो चुकी होती हैं। ये घटनाएं 'प्लेश बैक' के रूपमें ही प्रस्तुत की गयी हैं, लेकिन कहींभी अनुभव नहीं होता कि कोई नया प्रयोग किया जा रहा है। वस्तुतः 'प्लेश बैक' के प्रयोगमें अब कोई नवीनता रह भी नहीं गयी है। 'मय्यादासकी माड़ी' में उपन्यासकारकी वास्तविक उपलब्धि यह है कि उसने पंजाबकी तीन-चौथाई सदीके घटना-क्रमको माड़ीमें संकेन्द्रित कर दिया है। सब कुछ माड़ीमें ही घटित नहीं होता, बहुत कुछ उसके बाहर, कस्बेके भी बाहर, घटित



होता है, परन्तु माड़ी के चतुर्दिक् घटना-प्रवाहका ऐसा संकेन्द्रण होगया है कि वह एक ऐतिहासिक प्रतीकके रूपमें परिणत होगया है। भीष्म साहनी अपने भाषा-प्रयोगमें भी सहजताके उपासक हैं; परन्तु उनकी भाषा सरल होकर भी सपाट नहीं है। सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियोंकी सटीक अभिव्यक्तिमें वे पूर्णतया सक्षम हैं। उनकी भाषा हिन्दी गद्यकी सम्प्रेषणव्यक्तिका एक नया प्रतिमान प्रस्तुत करती है। भाषा हो या शिल्प, भीष्म साहनी इनका बड़ी अनायासताके साथ सहज प्रयोग करते हैं, जो चाहे चमत्कारिक प्रतीत नहीं होता है, पर गहन और मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है।

जैनैन्द्र, अज्ञेय आदि मनस्तात्त्विक उपन्यासकारोंने अपने उपन्यासोंमें अन्तर्जगत्के भाव संघातके चित्रणको ही विशेष महत्त्व दिया था। अतः उनके उपन्यासोंमें बाह्य परिवेशका चित्रण चलते-चलाते योंही-सा कर दिया गया है। इसके विपरीत उपेन्द्रनाथ अश्व, अमृतलाल नागर और भीष्म साहनी आदिने बाह्य परिवेश का बड़ी सजीव मूर्तिमत्ताके साथ चित्रण करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया था। भीष्म साहनीके चित्रणकी विशेषता यह है कि वे दो-चार रेखाओंमें ही पूरा चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। कस्बेकी जिन्दगीके ठहराव और बदलावकी दो भिन्न स्थितियोंको उन्होंने दो पृथक् बिम्बोंके माध्यमसे बड़ी चित्रात्मकताके साथ-साथ प्रस्तुत किया है।

“कुबड़े हलवाईकी दूकान अबभी उसी जगहपर थी, यहाँ पहले हुआ करती थी। लगताथा यहाँपर कुछ भी नहीं बदलाथा, वही कड़ाहे, वही बड़े-बड़े चूल्हे, हलवाईयोंके वही मैले कपड़े।”

राजाके नामकी अनुगंजभी अब हवामें खोती जा रही थी। गलियोंमें नयी-नयी सूरत और तौर तरीकोंके लोग उसका रास्ता काटते हुए निकल जाते थे। वकील, कले रंगका कोट पहने और नीचे सफेद रंगकी सलवार या कमीज लगाये और वकीलोंके मुन्शी, बगलमें कागजोंके पुलिन्दे दवाये आ-जा रहे थे। वही गलियां, वही घर, वही चेहरे पर उनमें से, कुछ या, जो निकल गया था।

भीष्म साहनीके परिवेश चित्रणमें न तो ‘अश्व’ का-सा विस्तार है, जो कभी-कभी ऊब पैदा करने लगता है और न अमृतलाल नागर का-सा सम्मोहन कि पाठक कथा-प्रवाहको भूलकर उसीमें मगन होजाये।

भीष्म साहनी प्रगतिवादके प्रति घोषित रूपसे

प्रतिबद्ध कथाकार है और ‘मय्यादासकी माड़ी’ मेंभी वे द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार बाह्य स्थितियोंको मानवीय संचेतनाकी नियामिका शक्तिके रूपमें प्रस्तुत करनेमें हिचकिचाये नहीं है। “नयी अमलदारी अपनी कदरें-कीमते लेकर कस्बेकी ओर बढ़ती आ रही थी। उसके अपने आग्रह थे, अपने दबाव थे।” उपन्यासकारकी रचना-दृष्टिपर भी मार्क्सवादी आग्रहोंके दबाव हैं, परन्तु उनकी मानवीय सहानुभूति इतनी व्यापक और सृजनात्मक स्फूर्ति इतनी तीव्र है कि वह इनपर हावी नहीं होपाती। चरित्रोंके गठनमें भी उनकी कोई दखलन्दाजी नहीं दिखायी देती। हां, काल-प्रवाहके विश्लेषणमें वे अवश्य अपने दृष्टिकोणसे प्रभावित हैं, परन्तु उनका इतिहास-बोध ऐतिहासिक स्थितियोंके विश्लेषणको गहन और तीक्ष्ण बनानेमें ही सहायक हुआ है। उपन्यासमें जहाँ एक ओर पुरानी व्यवस्थाके कंगूरे टूटकर गिर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर नयी व्यवस्था की गोदमें राष्ट्रीयता और मानवाधिकारोंकी चेतना और उनके लिए संघर्ष करनेकी प्रतिबद्धताभी स्पष्ट झलकती है। एक पूरे युगको सही ऐतिहासिक सूझबूझ और उदार मानवीय संवेदनशीलताके साथ चित्रित करनेकी दृष्टिसे ‘मय्यादासकी माड़ी’ को हिन्दी उपन्यास के क्षेत्रमें एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरके रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिये। □

### सर्पयुद्ध?

उपन्यासकार : प्रह्लाद तिवारी

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

‘सर्पयुद्ध’ प्रह्लाद तिवारीकी दूसरी औपन्यासिक कृति है, जिसमें उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर भारतमें निरंतर उभरते जा रहे नेतृत्व वर्गकी मूल्यहीन गतिविधियोंका यथार्थ रूपांकन किया है। यद्यपि प्रस्तुत कृति के फलपत्र पर इस उपन्यासके सम्बन्धमें लिखा गया है कि इसमें यांत्रिकताके बढ़ते दबाव और आर्थिक असन्तुलन के कारण मनुष्यकी सहज वृत्तियोंपर पड़नेवाले प्रभावों को दर्शाया गया है, तथापि मूल्योंके बदलावके पीछे औरभी अनेक कारण रहे हैं।

१. प्रका. : प्रभा प्रकाशन, ३८ पीर गली, इन्दौर।

पृष्ठ : १६२; का. ८६; मूल्य : ५०.०० रु.।



स्वातंत्र्योत्तर कालसे ही हिन्दी उपन्यासने जिस नयी दिशाको पकड़कर अपनी आक्रामक स्थिति प्रकट की है, उसके पीछे प्रारम्भमें विज्ञान और अर्थके बढ़ते प्रभाव प्रमुख कारण अवश्य रहे हैं, क्योंकि दोनों ही संवेदनाके धरातलको काफी हदतक छुआ है। सारे विश्वमें ही कमोवेश रूपमें ये प्रभाव मूल्योंको निरंतर आहत ही नहीं, नष्ट भी करते जा रहे हैं। अतः स्वाभाविक ही कला रूपों और साहित्यमें इसकी प्रतिक्रियाएं प्रकट होंगी ही। किन्तु अब तो इन्होंने मानवीय चेतनाको जड़ बना दिया है। परिणामस्वरूप नयी चिन्तनाकी धाराकी यहीसे शुरुआत होकर आगेकी अनेक सूक्ष्म दशाओंकी ओर गतिशील होती जा रही है। अतः आजका साहित्य यांत्रिकता, विज्ञान और आर्थिक असंतुलनसे आगेकी अवस्थाओंमें जीते मानव जीवन और उसकी सहज प्रवृत्तियोंको उकेरनेमें अधिक सक्षम होता जा रहा है। निरंतर अनुभव होती निरर्थक जिदगी और उसके निरंतर संघर्षकी निरर्थक भंगिमाही आज रचनाओंके माध्यमसे इस रूपमें व्यक्त हो रही है, जिससे अप्रत्यक्ष ही सार्थकतापर सोच-विचारके लिए चेतनाके किसी नये कोणको झकझोरा जा सके। 'सर्पयुद्ध' भी जीवनके विविध कोणोंमें से कतिपय कोणोंको अत्यन्त दक्षताके साथ उकेरता है।

'सर्पयुद्ध' की कथा प्रमुखतः विजय शर्माके बहाने सत्ताकी ओर गतिशील तथा निरंतर निःशेष होते जा रहे मनुष्यकी व्यथा-कथा है। आजके राजनीतिक वात्स्याचक्रोंके बीच स्वयंके शक्तिशाली होनेका भ्रम पाले हुए उन लोगोंकी कथाकी ओर संकेत करती है, जो न चाहते हुए भी उस गहरे अंधेरेमें खोते और दलदलमें धंसते जा रहे हैं और अपने अंतरमें अव्यक्त दर्दको झेलनेकी विवशतापूर्ण स्थितिमें आ चुके हैं। कुछ कर गुजरनेवाला उनका प्रारंभिक जोश पडयंत्रोंके तहखानेमें न जाने कहां कैद होजाता है, गुम हो जाता है या समाप्त हो जाता है—इसका कुछ भी पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे आग्रहके साथ वे जिस ओर अग्रसर हुए थे, अयाचित स्थितियोंने उनके हाथ-पैर-जुबान, दिल और दिमाग सबकुछ निगल लिये हैं और अब वे अपने नियंत्रणसे बाहर जाती हुई अपनी जीवन-स्थितियोंको इतनी तटस्थतासे देखनेके अभ्यस्त हो चुके हैं कि कहीं उनके सजीव होनेका प्रमाण भी शेष नहीं रहता। इन्हीं सब स्थितियोंकी प्रतीक रूप है विजय शर्माकी जीवन कथा।

इस कथाके बहाने लेखकने आज राजनीतिक जीवनकी ओर भागे जा रहे लोगोंकी विसंगतियों, मूल्यहीन स्थितियों और अंततः मानवकी करुण नियतिके प्रसंगोंको पूरी तन्मयतासे यथार्थका जामा पहनाकर प्रस्तुत किया है। इस रूपमें यह उपन्यास आजके राजनीतिक क्षेत्रका सच्चाईके प्रति प्रतिबद्ध अंकन प्रस्तुत करती है।

'सर्पयुद्ध' की मुख्य कथा वस्तुतः विजय शर्माके जीवन मूल्योंके अवमूल्यनकी कथाही है। आधुनिक साहित्यकी रचना प्रक्रियाके मानसे यह मूल्यहीन चरित्र ही इस उपन्यासका नायक है। अपने प्रारंभिक कालसे ही विजय अपनी जीवन-यात्रा एक निर्भीक योद्धाकी तरह निर्बाध प्रारम्भ करता है। यद्यपि प्रारम्भमें उसकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, तथापि असंगतियोंके विरुद्ध उसकी प्रकृतिमें संघर्षका तत्त्व है। चुनावोंके जरिए वह धीरे-धीरे राजनीतिके जगत्से परिचित होने लगता है। राजनीतिसे परिचयका अर्थ उसमें निहित जोड़तोड़, धूर्तता, अक्खड़पन आदि उसके व्यक्तित्व का अंग बनते जाते हैं। स्कूलसे कालेज, कालेजसे नगर निगम, वहांसे राज्य विधानसभाके लिए वह चयनकी एकके बाद दूसरी सीढ़ीपर उत्तरोत्तर चढ़ता चला जाता है और अंततः मंत्रीपद प्राप्त कर लेता है। अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिए वह हर चुनौतीका साहससे सामना करता है, सारी सच्चाइयोंसे परिचित होता है और मूल्यवत्ताके क्रांति संदर्भोंसे मूल्यहीनताके गर्तकी ओर निरंतर गतिशील होकर अपने अस्तित्वको ही निःशेष कर देता है। भ्रष्टाचार और यौनाचार अब उसकी दृष्टिमें कदाचरण नहीं है। इस प्रकार विजयके माध्यमसे वस्तुतः आजकी राजनीतिक विसंगतियों एवं खोखलेपनको सच्चाइयोंके साथ लेखकने प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत उपन्यासका दूसरा चरित्र है रामकुमार। इसका व्यक्तित्व अंतर्मुखी, दुहरा और विचित्र कहा जा सकता है। एक ओर यह कलाकार है तथा दूसरी ओर विजयका विश्वस्त साथी भी। एक दुनियां अंतर्जगत्से सम्बद्ध है, तो दूसरी उससे बिल्कुल विपरीत—वहिराजगत्से संबंधित अपने व्यक्तिगत जीवनमें बहुत ही विचित्र किस्म का, अकेलेपन और कुंठाओंसे ग्रसित व्यक्ति है। इन्हीं प्रभावोंके कारण उसका अपनी पत्नी मीनासे तालमेल नहीं जम पाता। सारी दुनियांसे जूझने और उसे अपने अर्क प्रमाणोंकी ओर मोड़ दे देनेमें सक्षम यह



व्यक्तित्व अपनीही कुंठाओंमें ग्रस्त होकर मीनाके साथ निर्बाह नहीं कर पाता। मीना स्वस्थ मानसिकताके साथ उससे जुड़ना चाहतीहै और यही अपेक्षा उससे भी करतीहै, किन्तु अपनेही अंधेरेमें बंद और छटपटाहट होते हुएभी बाहर निकलनेके लिए लगभग निष्क्रिय-सा रामकुमार अंततः अपने दाम्पत्य जीवनको कोई अनुकूल परिणति नहीं दे पाता।

दूसरी ओर विजयके मित्रके रूपमें वह निश्चित योजनाबद्ध उपायोंसे सफलता हस्तगत करताहै। इस क्षेत्रमें उसे व्यक्तिशः कोई अभिलाषा नहीं है, साथही वह जबभी विजयको मूल्यहीन संदर्भोंकी ओर गतिशील देखताहै, कटु आक्षेप करनेमें चूकता नहीं। चाहे विजय किसीभी दलदलमें धंसता रहे, उसे कोई चिंता नहीं, केवल इतनीही चाह रहतीहै कि विजयके कारण वह स्वयं किसी दलदलमें न धंसे। इसलिए अखबारके संपादक पदसे मुक्त होनेमें क्षण भरकी भी देरी नहीं करता। अपने जीवनमें मूल्योंको महत्त्व देने वाला यह चरित्र जब विजयका प्रत्येक प्रकारसे प्रत्येक स्थितिमें साथ देताहै और अपनी पत्नी मीनाके आग्रह करनेपर भी उससे मुक्त होनेका निश्चयकर संतोषके साथ जुड़ताहै तो लगताहै कि उसके सारे मूल्योंकी स्थिति सिद्धांतोंके आवरणोंसे ही चिपकी हुईहैं, व्यवहारसे उसका कोई संबंध नहीं है। रामकुमार और मीनाकी कथाको लेखकने व्यर्थही अधिक विस्तार दियाहै। प्रत्येक स्थान

पर वही बातें, वही स्थितियाँ, वही तेवर। शायद लेखक कलाजगत्से संबंध चरित्रोंको बेनकाब करना चाहताहै, उनके उलझावपूर्ण धुंधले चरित्रोंका रूपांकन करना चाहताहै, पर एकही चरित्रके परस्पर विरोधी व्यवहार की संगति अधिक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती।

प्रस्तुत कृतिमें राजनीति अपनी सिद्धिके निमित्त जोड़तोड़की बाह्य नीति है, जबकि कला क्षेत्रका संबंध मानवीय संवेदनासे है। एक लघु उपन्यासमें आरोपित और मात्र सुने गये माध्यमोंसे दोनों क्षेत्रों की मूल्यहीनताको जोड़ना रचनाकी सफलता हेतु आवश्यक घटकोंके तालमेलमें निर्जीव स्थितिका अनुभव करातेहैं और कृतिकी समग्र प्रभावशीलतामें बाधा पहुंचाते प्रतीत होतेहैं। क्योंकि जितना यथार्थ चरित्र विजय का है, उतना रामकुमारका नहीं। विजयका चरित्र आद्यंत गलत मूल्योंपर आधारित होकर भी सही इसलिए है, क्योंकि यह आजके राजनीतिक विषधर मनुष्यका चरित्र है। किन्तु रामकुमारका कलाकार मन अपनेही अंतर्विरोधोंसे ग्रस्त एक रूग्ण मनका प्रतिनिधित्व करता है और ऐसी स्थितिमें उसके चरित्रका दूसरा जुझारु पक्ष बहुतही खोखला अनुभव होने लगताहै। पारिवारिक और सामाजिक संबंधोंके विघटनकी इन दिशाओं को यदि समर्थ सार्थक नये मूल्योंसे अप्रत्यक्षतः सज्जित किया जाता, तो संभवतः कृति अधिक सशक्त हो सकतीथी। □

## कहानी

### मुश्क रंगी हिरणी?

लेखक : कश्मीरीलाल जाकिर

समीक्षक : ऋषिकुमार चतुर्वेदी

‘मुश्क रंगी हिरणी’ जाकिर साहबकी सात कहा-

१. प्रका. : दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली-११००३५। पृष्ठ : ११२; का. ८६; मूल्य : ३०.०० रु.।

नियोंका संकलन है। संकलनके आरंभमें ‘बस सच यही है’ शीर्षकसे एक छोटी-सी भूमिका है, जिसमें लेखकने ‘वागर्थ विश्व कविता समारोह’ के अपने अनुभवोंको सूत्रबद्ध करते हुए यह प्रतिपादित कियाहै कि कि लेखकके हृदयमें सच यही है कि वह ‘सच लिखताहै और लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता है। और यहभी कि ‘हममें से हर कोई तो उम्रकैद भोगता रहताहै और कोई जिदगीभर अपनी मौतकी



संजा सुस्ता रहता है।' और यह भी कि, "हम जिन्दा हैं और जिन्दगीकी ही बात करते हैं और जिन्दगीकी ही दास्तान सुनाते-सुनाते, मौतका इंतजार करते रहते हैं। और अपनी बात कहे जाते हैं अंतिम सांस तक। कहीं भी रुकते नहीं।'

लेखकका कहना है कि यही सच इन कहानियोंमें भी इधर-उधर बिखरा नजर आयेगा। इन कहानियोंमें हमें सचमुच जिन्दगी और मौतके बीचकी यह कशमकश दिखायी देती है। सातमें से चार कहानियोंमें यह कशमकश यौनाकर्षणके धरातलपर है। 'मुश्क रंगी हिरणी' दो पंजाबी युवतियोंकी कहानी है जो शोख-शोख रंगोंके गोटे-किनारीसे लदे कपड़ोंमें अपने ऊँचे लेकिन संगीत भरे स्वरोंसे अपने आस-पासके परिवेशको गुंजाती हैं और जिनके दिलोंकी धड़कनोंपर पंजाबकी अलहड़ जवानियोंके कटोरे छलक-छलक उठते हैं। अलहड़ जवानी और जिन्दगीके जोशसे भरपूर इन युवतियोंमें से एक विवाहिता है और अपने 'दारजी' के प्रेममें मग्न है। दूसरी अविवाहित है जो एक ओर तो कम उम्रमें मर जानेवाले एक पंजाबी शायरकी मुहब्बतका दर्द अपने सीनेमें सँजोये है और दूसरी ओर मिजोरमके कवि साइजाहौलाको अपना प्रेम देकर उसके घायल हृदयपर मरहम लगाती है। उसके भीतर मुहब्बतका मुश्क है और वह तड़पती रहनेको विवश है। 'वासी फूल' एक ऐसी युवतीकी कहानी है जो अपने पड़ोसी और अपनी सहेलीके भाई एक नवयुवकको ऐसे समयमें सहारा देती है जब वह अपनी माँकी मौतके बाद हताश और निराश हो गया है और उसके घावोंपर मरहम लगानेके लिए वह एक दिन उसे अपना सर्वस्व समर्पण भी कर देती है। किन्तु जब विवाहकी बात आती है तो गरीब-अमीरका सवाल बीचमें आ जाता है। एक गरीब माँकी बेटी है। उसके पास भावनाओंका खरा सोना तो है, किन्तु उसके गहनोंमें पचास प्रतिशतकी खोटा है। इसलिए वह अपने घरकी छिड़कीकी सलाखोंमें जकड़ी अपने उस प्रेमीकी वरप्राप्ति देखती रहती है और उस दाहण मानसिक यातनाके क्षणोंमें मरणान्तक कष्ट भोगते हुए उसका व्यक्तित्व अत्यन्त निरीह और करुण हो उठता है। इस प्रकार पहली कहानीमें, नारी-हृदय में मुश्ककी तरह छिपी प्रेमकी संजीवनी निराशाके कगारपर खड़े पुरुषको नवजीवन प्रदान करती है, तो दूसरी कहानीमें नारी जिस पुरुषको नवजीवन प्रदान

करती है, वही उसे मृत्युके कगारपर लाकर छोड़ देता है।

'दिलके दरवाजे मजबूत नहीं' भी एक प्रेम-कथा है जिनमें निशि कंबल नामके एक ऐसे नवयुवकको अनजानेही अपना हृदय दे बैठती है जो उसके परिवार के सदस्यकी भांति घुल-मिल गया है और उसके पिता बाहरवालोंसे जिसका परिचय 'माई सन' कहकर कराते हैं। उसका विवाह होता है एक कट्टर आर्यसमाजी परिवारमें, जिसका वातावरण और आहार-विहार उसके परिवारसे ठीक उल्टा है। विवाह तय होनेसे लेकर विदा होनेतक कंबल लगातार सक्रिय सहयोग देता है। किन्तु एक तो कंबलके प्रति आकर्षणके कारण और दूसरे विपरीत परिवेशके कारण यह संबंध टूट जाता है। फिर बहुत दिनोंतक निशि अपने दिलके दरवाजे बंद रखकर मनोज और भारद्वाजके लिए खोल देती है। आखिर दिलके दरवाजे इतने मजबूत नहीं कि एक बार बन्द होनेके बाद फिर खुलही न पायें। यहाँ भी 'हरिणी' के भीतर छिपा मोहब्बतका मुश्क उसे किसी करवट चैन नहीं लेने देता और जिन्दगी एक बार मौतके दरवाजेपर दस्तक देकर लौट आती है। 'छोटा घर बड़ा घर' भी एक मुश्क रंगी हिरणीकी ही कहानी है जिसमें एक 'फस्ट्रेटेड' और बेहद 'सेन्सिटिव' अमीर नवयुवकके साथ एक गरीब घरानेकी युवतीके प्रेम-संबंधोंका चित्रण है जो पब्लिक स्कूलमें टीचर है। वह नवयुवक हर समय उस युवतीको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहता है, न चलनेपर उखड़ जाता है और उसका अपमान करता है। युवती उससे प्यार करते हुए भी उसकी अनुचरी नहीं बन पाती। प्रेम और अस्मिताके द्वन्द्वको झेलती हुई वह मुश्क रंगी हिरणीकी तरह तड़पती रहती है।

'एक थर्ड क्लास आदमी' की शुरुआत रेलके डिब्बे के एक दृश्यसे होती है जिसमें हम देखते हैं कि वासना शेखरकी छोड़ने आयी है और उसकी बदहवासीपर उसे झिड़क रही है, सिगरेटके पैकेटोंका ढेर उसकी बर्थपर रख रही है। प्रथम दृष्ट्या लगता है कि वह शेखरकी पत्नी होगी। किन्तु वह उसकी स्टूडेंट है, उसकी मित्र है। किन्तु यह दृश्य कहानीकी भूमिका मात्र है। कहानी तो ट्रेनसे वासनाके उतर जानेके बाद शुरू होती है जब ट्रेन चल देती है और शेखर देखता है कि उसके सामने वाली बर्थपर एक प्रौढ़ावस्थाके द्वारपर खड़ी एक सुन्दर स्त्री अपने दो खूबसूरत बच्चोंके साथ बैठी है। ये बच्चे शुरू-शुरूमें शेखरसे चिढ़कर अपनी-अपनी बर्थों



पर बिना खाये-पिये सो जाते हैं और रातकी खामोशी में आम्ने-सामनेकी बर्षपर लेटे शेखर और शबनम बहल एक दूसरेके संबंधमें परिचयात्मक प्रश्न पूछते बात करते रहते हैं। दूसरे दिन वच्चे शेखरके निकट आ जाते हैं, फिर यह यात्रा दोनों पक्षोंके निकटतर होती आत्मीयता में कटती है। शेखरको बातोंही बातोंमें शबनम बहल बतलाती है कि इन वच्चोंके डेडी सिगरेट, शराब, चाय-काँफीके खिलाफ हैं, जबकि शेखर इनका उन्मुक्त सेवन करते हुए अच्छे स्वास्थ्यका स्वामी है। कहांनीके अंतमें शबनम बहल दिल्ली लौटनेपर शेखरको फोन करनेकी बात कहती है और वे अपनी-अपनी यात्राओंपर आगे बढ़ जाते हैं। यह छोटा-सा परिवार शेखरके साथ इस अल्प समयमें ही जो इतना खुल गया है, उसका कारण शायद यही है कि शेखरके उन्मुक्त सहज व्यक्तित्वने वे सभी बाँध तोड़ दिये हैं जो उन वच्चोंके पिताने अपने अतिशय संयम और आहार-विहार संबंधी विधि निषेधोंके द्वारा बाँधे थे। और इसप्रकार शेखर जो मजाकमें अपनेको 'थर्ड क्लास आदमी' कहता है, दर-असली 'फर्स्ट क्लास आदमी' है, फिर थर्ड क्लास आदमी कौन है? वह जो अपने चारों तरफ बाँध बाँधता है और उन्हें अपने बीबी-वच्चोपर थोपता है?

'तीन मूर्तियाँ' तीन मूर्ति भवनमें गुलाबके पौधेमें लगे एक फूलके द्वारा नेहरूके महाप्रयाणपर कीजा रही एक काव्यात्मक रनिंग-कमेंट्री है। आप इसे कहानी भलेही कहलें किन्तु यह फांतासी और रिपोर्ताजके घोलसे तैयार एक गद्य-काव्यही अधिक प्रतीत होता है।

'तलाक' कहानी एक ऐसे आदमीकी कहानी है जो अपने छोटे भाईके लिए अपने सारे सुखोंका बलिदान कर देता है, उसका परिवार बसाकर आत्मतोषका अनुभव करता है, किन्तु जब देखता है कि भाईकी पत्नी की इच्छा अलग रहनेकी है तो अत्यंत शांत भावसे अलग हो जाता है। ... "और जब वह घर लौटा तो उसे लगा कि उसकी उम्र भरका एकाकीपन जिसको उसने अपने पागलपनसे एक दिन तलाक देकर घरसे बाहर निकाल दिया था, एक बार फिर वापस आ गया था।"

कुल मिलाकर इस संकलनकी कहानियाँ पठनीय हैं। लेखकका यह कथन कि "मैं अनजानेमें और बिना किसी नजर आ सकनेवाली कोशिशके स्मार्ट किस्मकी कहानियाँ और स्मार्ट किस्मके नावेल लिखनेकी कोशिश करता रहा हूँ" इन कहानियोंपर पूरी तरह चरितार्थ

होता है। इन कहानियोंकी भाषा स्थान-स्थानपर काव्यात्मक हो गयी है, किन्तु उससे कथा-प्रवाहमें शैथिल्य आनेके स्थानपर रचनाको और अधिक स्मार्ट बनानेमें सहायता ही मिली है। कहानियोंमें पात्रोंके परस्पर संवाद अत्यंत स्वाभाविक बन पड़े हैं और उनसे पात्रोंके परस्पर संबंध तथा उनकी चारित्रिक विशेषताओंकी व्यंजना बड़ी कुशलताके साथ की गयी है। □

## दूसरी शहादत?

कहानीकार : डॉ. वेदप्रकाश 'अमिताभ'

समीक्षक : डॉ. ब्रजेशकुमार पालीवाल

इस कहानी संग्रहमें सोलह कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ नगर जीवनके परिवेश तथा पात्रोंके माध्यमसे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाजके स्वरूप, सोच, द्वन्द्व तथा बदलते मूल्योंको स्पष्ट करती हैं। लेखककी दृष्टि अपने चतुर्दिक समाजपर है। इन कहानियोंके द्वारा वह नगरों में रहनेवाले मध्यवर्गीय जीवनके विविध पक्षोंको उद्घाटित करता है।

संकलनकी पहली कहानी 'दूसरी शहादत' में एक शहीद विधवाको परम्परासे प्राप्त जीवनके आदर्शों तथा नवीन शिक्षा तथा सोचके आलोकमें बदलते जीवन मूल्योंसे उत्पन्न द्वन्द्व है, जहाँ एक ओर 'अतीतका शीतल मोह था तो दूसरी ओर भविष्यका छायादार सपना।' जीवन-यथार्थ अर्थात् जीवनके जीनेकी चाह और शहीद की विधवा होनेके गौरवके मध्य वह जीवनके अर्थको तलाशनेकी कोशिश करती है। इसी प्रकार 'नहीं-नहीं-नहीं' कहानीकी शुभ्रा आधुनिक-जागरूक-नारीके निश्चय को प्रकट करती है कि वह दूसरोंकी उतरन अब नहीं पहनेगी। जीवनके महत्त्वपूर्ण निर्णय लेनेके अपने अधिकारको वह दूसरोंको नहीं सौंपेगी। इसमें स्वातंत्र्योत्तर नारीके बदलते सोचको लेखकने रेखांकित किया है। अंधेरका सच 'पति-पत्नीके मध्य उत्पन्न तनावों और झुंझलाहटभरी खामोशीके मध्य स्नेह सूत्रसे जुड़े पति-पत्नीके सम्बन्धोंको व्यक्त करनेवाली रचना है।

मध्यवर्गीय मानसिकता और निम्न मध्यवर्गीय जीवनके यथार्थपरक चित्रणके लिए 'दूसरा चेहरा',

१. प्रका. : अमर प्रकाशन, सदर बाजार, मथुरा।

पृष्ठ : १००; क्रा. ५७; मूल्य : २०.०० रु.।



‘सफलता’, ‘सवालोंने वीच’, तथा ‘त्यौहार’ आदि कहा-नियां द्रष्टव्य हैं। मध्य वर्गकी लड़ाई अभी अपनेसे कुछ सम्पन्न वर्गसे ही है, क्योंकि उसका पाला प्रायः उससे ही पड़ता है और इससे तुलना करते रहनेवाला उसका स्वभाव उसे हीनता अथवा आत्मश्लाघासे भर देता है। दूसरे की बाहरी चमक-दमक अथवा आत्मश्लाघासे वह समझता है कि दूसरा उससे बेहतर है परन्तु सामान्य मध्य-वर्गीय जब वास्तवमें देखता है तो जान जाता है कि दूसरे उससे भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ एक कमरा कुछ अलग और विशेष है, वैसा ही दूसरोंका भी है। (‘दूसरा चेहरा’) ‘त्यौहार’ कहानी मध्य वर्गकी असहाय आर्थिक स्थितिको उघाड़कर रख देती है। जहाँ त्यौहार उत्सव बनकर नहीं आते अपितु उनकी दयनीय स्थितिको अनावृत कर जाते हैं।

लेखक व्यक्ति और परिवारके सचको तो उद्घाटित करता ही है साथ ही उसकी दृष्टि अव्यवस्था तथा दादागिरी, लोकतांत्रिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक संस्थाओंसे जुड़े व्यक्तियोंके दांवपेंच, टुच्चेपन, अहंकार और अनैतिक कृत्योंपर भी गयी है। वह वर्ग वैषम्य, शोषण तथा मजदूर आन्दोलनोंको उसके वास्तविक उद्देश्यसे हटानेवाली शक्तियोंके स्वरूपको स्पष्ट करता है। इस दृष्टिसे मतदान, ‘पागल कुत्ता’ ‘अभियुक्त’ तथा ‘बदलनेके बावजूद’ सफलता आदि कहानियां वैचारिकता और व्यंग्यके पैनेपनके कारण ध्यान खींचती हैं। ‘पागल कुत्ता’ में बड़े बाबू समझ जाते हैं कि पुलिसवाले ‘कुत्ते’ को मार सकते हैं पागल कुत्तेको नहीं। गुण्डोंको पागल कुत्तेकी बराबरीमें रख आदमीकी असुरक्षा और व्यवस्थाके स्वरूपका खुलासा किया है। ‘सफलता’ गुलाम मानसिकता तथा कानवेष्ट शिक्षाके प्रति बढ़ते मोहके साथ-साथ स्वाभिमान तथा सांस्कृतिक मूल्योंके क्षयकी कहानी है, जहाँ सफलता प्राप्त करना ही एक मात्र मूल्य है। इस प्रकार यह कहानी स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय चरित्रके अवमूल्यनकी कहानी है।

साम्प्रदायिकताकी समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है। लेखक ‘कर्षयू’, ‘लावारिस’ आदि कहानियोंमें इस समस्याको चित्रित करता है। ‘लावारिस’ कहानी साम्प्रदायिक चिंतनकी उन सीमाओंको स्पष्ट करती है जहाँ धर्मके तथाकथित ठेकेदार दूषित साम्प्रदायिक मानसिकताके आधारपर घटनाओंका संग्रह व आकलन करते हैं। कर्षयू साम्प्रदायिक दंगोंके समय असुरक्षा तथा

आतंकमें जीनेके लिए विवश व्यक्तिके तनावको चित्रित करती है। ‘ड्रेकुला’ के प्रतीकका निर्वाह भले ही सशक्त रूपसे नहीं हो पाया है परन्तु लेखक इसके माध्यमसे समाजके सौहार्द तथा सौमनस्यको समाप्त कर देनेवाले रक्तपिपासु साम्प्रदायिक दानवके विकराल तथा सर्व-प्राप्ती रूपको प्रस्तुत करता है।

इन कहानियोंमें घटनाओंके संचयनमें लेखक छोटी-छोटी घटनाओंको महत्व देता है। इस प्रकार ये कहानियां अपनी सहजता और लघु कलेवरमें जीवन्त हो उठी हैं। कथाका वैशिष्ट्य लेखकीय पर्यवेक्षणकी दृष्टि में है जहाँ लेखक स्वयं पात्र बनकर अथवा घटनाओंका तटस्थ द्रष्टा बनकर पात्रों और कार्योंपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, वहाँ व्यंग्य लेखकका सशक्त अस्त्र है। व्यंग्यको कहानियोंका प्राण कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। वह साधारण ढंगसे विषय उठाता है और अंत तक पहुंचते-पहुंचते व्यंग्यकी तेज धार पाठकको मर्माहत कर देती है—‘बदलनेके बावजूद’, ‘पागल कुत्ता’, ‘सफलता’, आदि कहानियां इस दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय हैं। ‘त्यौहार’ तथा ‘गुलामी’ कहानियां अधिक सशक्त होतीं यदि लेखक उसके निहितार्थको स्वयं स्पष्ट न करता। इन कहानियोंका अभिप्राय उनकी बुनावटमें संग्रथित नहीं हो पाया है। लेखक कहानियोंमें ‘अनकहे’ तत्त्वके प्रभावसे अनभिज्ञ नहीं है। ‘बदलनेके बावजूद’ कहानीका अंतिम अधूरा भाग सब कुछ कह जाता है अधिकांश कहानियोंमें वह आधे-अधूरे वाक्योंका सजग प्रयोग करता है। बाह्य घटनाओं और स्थितियोंसे उत्पन्न क्षोभ, भय, आतंक और गुस्सेको, जो वाणीसे व्यक्त न हो पानेकी असहायतासे भीतरही घुटता है, लेखक सधी सहज और प्रतिदिनकी भाषामें मूर्तमान कर देता है। ‘अंधेरेका सच’ का यह अंश द्रष्टव्य है : “पता नहीं सालीको काहेका गुमान है। किसी औरके पल्ले बंध जाती तो सारे नखरे भूल जाती। यह तो मैं ही हूँ—” भाषिक सामर्थ्य, उसकी अप्रस्तुत योजना और लाक्षणिक प्रयोगोंमें भी देखीजा सकती है। “एक घंटे बाद लौटी तो तरकशके सभी तीर चेहरेकी कमानपर चढ़े हुए थे।” (अंधेरेका सच)। ‘आम प्रचलित विदेशी शब्दोंके प्रयोगसे भाषाके स्वाभाविक प्रवाहको बनाये रखा गया है। बीच-बीचमें प्रख्यात लेखकों और कवियोंके उद्धरण है। भाषाका सर्जनात्मक प्रयोग कथानकको तो आगे बढ़ाता ही है, पात्रों और परिस्थितियोंका बेवाक



उद्घाटन करनेमें भी समर्थ है । 'दूसरा चेहरा', 'तफ-लता', 'कर्पू' में शिल्प सम्बन्धी नये प्रयोग हुए हैं ।

संक्षेपमें कथ्य और शिल्पकी दृष्टिसे लेखकका यह प्रथम कहानी संग्रह उसके एक समर्थ कथाकारके रूपमें प्रतिष्ठित करता है । स्वातंत्र्योत्तर भारतके नगर व मध्य-

वर्गीय जीवनकी समस्याओंके साथ-साथ मध्य वर्गके सोच और व्यवहारको स्पष्ट करनेवाली कहानियोंका यह संग्रह अपनी वैचारिकता, भाषा और तटस्थ लेखकीय दृष्टिके कारण पठनीय और संग्रहणीय है । □

## आलोचना : निबन्ध

### हिन्दी नई कविता : मिथक काव्यः

लेखक : डॉ. अश्विनी पाराशर

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

आधुनिकता-बोध परम्पराका नकार या उससे पलायन न होकर उसको समझनेकी चुनौती स्वीकार करता है । इसीलिए साहित्य और समाजको समझनेके लिए परम्पराका अवगाहन बारबार किया जाता है । आधुनिक साहित्यको समग्रतामें समझनेके लिए उन मिथकों को समझना आवश्यक है जो आदिम स्थितियोंसे आज तक हमारे चेतन-अचेतनको समर्थ रूपमें प्रभावित करते रहे हैं । इन मिथकोंकी शक्ति इसीसे प्रमाणित है कि प्रत्येक युगकी सर्जनात्मकता अपने समयके संघर्षोंको इन्हींके माध्यमसे व्यक्त करती है । डॉ. अश्विनी पाराशरने शोध प्रबन्धकी सीमाओंको स्वीकार करते हुए भी इस ग्रंथको समकालीन कविताकी व्यावहारिक आलोचनाके रूपमें प्रस्तुत किया है ।

शोध कार्यकी परम्पराका निर्वाह करते हुए लेखक ने पहले अध्यायमें मिथका का अर्थ, उसके जन्मकी कथा, उसकी परिभाषाएं प्रतीक, बिम्ब, आदिके साथ मिथक की तुलना आदिका कार्य करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि "मिथक स्वयंमें कल्पनापर आश्रित होता हुआ भी सत्यको इंगित करता है । साहित्यमें मिथकीय दृष्टि

यथार्थके चित्रणमें सहायक होती है । मिथकमें सत्य, यथार्थ और इतिहास तथ्य रूपमें नहीं बल्कि तत्त्व रूपमें विद्यमान होता है । मिथकमें वर्णित सत्य मानवकी संवेदनाओंका सत्य होता है । भाव-संवेदनकी दृष्टिसे मिथकका सत्य व्यक्ति, देश, कालकी सीमाओंका अतिक्रमण करता हुआ हमारे मन पटलपर गिन भावचित्रों का उपस्थापन करता है वह हमें एक ओर हमारी संस्कृतिसे जोड़ते हैं । दूसरी ओर एक सुदृढ़ भविष्य कल्पनाका रास्ता इंगित करते हैं ।" (पृ. ४८-४९) ।

दूसरा अध्याय है 'मिथक काव्य : कथा विवेचन' । इसमें मिथकीय काव्योंके कथा-स्रोतसे लेकर उनकी प्रासंगिकता और आधुनिकतातक का गहन विवेचन किया गया है । इसी अध्यायमें चुने हुए मिथकाधारित ग्रंथोंका इस दृष्टिसे विवेचन किया गया है । ये ग्रंथ हैं—अन्धायुग, कनुप्रिया, संशयकी एक रात, एक कण्ठ विषपायी, आत्मजयी, योगनिद्रा, एक पुरुष और, महाप्रस्थान, सूर्यपुत्र, एक विश्वास और, शम्बूक, आत्मदान । इस अध्यायमें विस्तारपूर्वक एक-एक काव्य ग्रंथ को लेकर उसके केन्द्रीय भाव, उसकी मूलकथा, कवि द्वारा मूलकथामें किये गये परिवर्तन और उसकी युगिन आवश्यकता, रचनाकी प्रासंगिकता और उसकी मौलिकता तथा आधुनिकताको स्पष्ट रूपमें रेखांकित किया गया है । यही अध्याय शोध प्रबन्धका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है । इस अध्यायका सुविचारित निष्कर्ष है कि "मानव जीवनका संघर्ष प्रत्येक कालमें बहुत कुछ एक-सा रहता है । उसके रूप रंग, परिवर्तनके लम्बे अंतराल

१. प्रका. : दीर्घा साहित्य संस्थान, २५ बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७ । पृष्ठ : २४८; डिमा. ८५; मूल्य : ६०.०० रु. ।



के बादभी मानवीय और सामाजिक दृष्टिका विस्तार करते हैं। मिथक काव्यकी चेतना मिथकोंकी मूल चेतना से विरोधी न होकर परिवर्तित जीवन सन्दर्भमें प्ररक होती है। इससे रचनाकार उन सम्भावनाओंका अनुसन्धान करता है जो बीज रूपमें तो मिथकमें विद्यमान रहते हैं लेकिन उनका अनेक पक्षीय विवेचन नहीं हो पाता। मिथक उस बहुत कुछ अनकहेको नया सन्दर्भ देते हैं, जिससे भविष्यके प्रति रचनाके स्तरपर निर्माणोन्मुख हुआ जा सके। यह रचना प्रक्रिया जहां नये अर्थोंकी खोज करती है वहां सामाजिक स्तरपर प्रतिष्ठित मूल्योंकी व्याख्या करते हुए नये मूल्योंका संधान भी करती है। इसमें सांस्कृतिक वैचारिक तारतम्यके साथ विकासमान सभ्यताके अनेक स्तर प्रतिष्ठित होते चलते हैं। कभी-कभी कोई रचनाकार मिथकके विरोधमें दिखनेवाले मूल्योंकी अवधारणा करता है लेकिन अन्ततः उसकी परिणति भी मानव-विश्वासमें होती है। यही कारण है कि विश्व साहित्यमें अधिकांश मिथक रचनाओंका उल्लेख होता है” (पृ. १३३)।

तीसरा अध्याय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें मिथक काव्यमें चरित्र सृष्टिका बहुत गम्भीर अध्ययन किया गया है। चुनी हुई रचनाओंमें आये मिथकीय चरित्रों—अश्वत्थामा, कृष्ण, युयुत्सु, गांधारी, युधिष्ठिर, कर्ण, कुंती, विश्वामित्र, मेनका, राम, अहल्या, राधा, शम्भूक, नचिकेता, शिव, सर्वहत्, हनुमान, लक्ष्मणके जिस रूपको आलोच्य कृतियोंमें रचा-सिरजा संचारा गया है, उसका बहुत विश्वसनीय ढंगसे परीक्षण-विश्लेषण किया गया है।

अध्ययनकी तर्कसम्मत पद्धति और रचनाके विश्लेषणकी अचूक क्षमताके कारण डॉ. अश्विनी इन चरित्रों को समझने-समझानेमें सफल हुए हैं। इस अध्यायके अन्त में मूल्यवान् निष्कर्ष हैं। अधिकांश चरित्र मिथकीय सीमाओंमें रहते हुए भी ‘आधुनिक अर्थवृत्ताको प्रकाशित कर पानेमें सफल हुए हैं। पुरा सन्दर्भोंमें आयी घटनाओं और चरित्रोंमें असीम मानवीय संवेदना, आत्मिक संघर्ष, और मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वोंके संकेत मिलते हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्यमें युगानुरूप चित्रित होते हुए भी मिथक चरित्र अपने अलौकिकत्वका पूर्ण त्याग नहीं कर पाते। ऐसी स्थितिमें मिथक चरित्र युगानुरूप विघटन, संक्रास, सामाजिक विसंगति, अकेलापन अलगाव, मृत्यु पीड़ा, आदि मानवीय वृत्तियोंको अपनी

सीमामें द्वन्द्वात्मक स्तरपर रेखांकित करते हैं।

सार्यकता और समकालीन सन्दर्भोंमें इन चरित्रों की उपादेयताके स्पष्ट संकेत इस अध्यायमें किये गये हैं। डॉ. अश्विनीकी रचनात्मक प्रतिभाने समीक्ष्य काव्य ग्रंथोंके मिथक चरित्रोंको समझनेमें इनकी भर-पूर सहायता की है।

चौथा अध्याय ‘मिथकीय काव्योंका काव्य-सौष्ठव’ है। यह अध्याय और भी विशिष्ट हो उठा है, समकालीन सृजन और रचना प्रक्रियासे गम्भीर जुड़ावके कारण। समीक्ष्य कृतियोंमें कैसे परम्परागत रस योजना की उपेक्षा की है, कैसे इनमें भावप्रवणता और संवेदना का घनत्व मिलता है और अधिकांश प्रबन्ध काव्योंमें क्यों कथातत्त्व क्षीणतर होता गया है, इसका अध्ययन गम्भीर किन्तु सरस ढंगसे किया गया है। डॉ. अश्विनी समकालीन साहित्यका मूल्यांकन करनेके लिए रसको शास्त्रीयताके ढण्डे वस्तेसे बाहर निकाले जानेकी आवश्यकताको रेखांकित करते हुए लिखते हैं—“भावना, विचार और कल्पनाके समभाव-असहभावमें सहभाव तथा क्षणिक भावोंके संश्लिष्ट प्रभावमें नये साहित्यको परखा जाये क्योंकि साहित्य या काव्य किसी भाव (स्थायी भाव) कल्पना, विचार, अलंकार या किसी भी वादका योगमात्र नहीं है वरन् वह तो मनुष्य मात्र के लिए न्यूनाधिक रूपमें इन सबका रचनात्मक सदुपयोग है। यह साधारणीकरण और तादात्म्यीकरणसे बढ़कर सहअस्तित्वका सहमानसीकरण है। अतिमानसीकरण भी इसकी तुलनामें हेय है। सामाजिक यथार्थ का यह सौन्दर्य-मूलक रूप है जिसमें जनअस्तित्वका विकास होता है और मिथककी अवधारणा उसके लिए सापेक्ष वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करती है।” (पृ. १८२)।

इसी अध्यायके उत्तरार्द्धमें नयी कविताके शास्त्रीय प्रबन्ध विधानसे प्रस्थान और शिल्पगत नवीनताकी स्पष्ट परख की गयी है। लेखक यह बता पानेमें सफल हुए हैं कि क्यों नये काव्योंमें नवीन शिल्पका आग्रह प्रबल हुआ और उससे कितना रचनात्मक लाभ मिला। इस अध्यायका निष्कर्ष अनेक संकेत करता है। “आज के कविने एक ओर काव्यमें निर्धारित वस्तुको उसकी सम्पूर्णतामें अनुभव किया और साथहीं उसके अलग-अलग खण्डोंको अलग अलग व्यस्तित्व भी दिया।”



स्मृतिपरक प्रासंगिक वृत्तोंके संयोजनसे उन्होंने मूलकथा को न केवल विस्तार दिया है, बल्कि उसके संवेदनात्मक घनत्वका संवर्द्धन भी किया है।" (पृ. १६३)।

पाँचवाँ अध्याय 'मिथक काव्योंका जीवन-दर्शन' है। शीर्षककी अस्पष्टता अध्यायके पहलेही वाक्यसे दूर हो जाती है—“मिथक काव्योंके जीवन दर्शनसे अभिप्राय कविके सम्पूर्ण चिन्तनक्रम तथा काव्यके वैचारिक पक्षसे है।” शोधकर्त्ताने कुशलतापूर्वक समीक्ष्य कवियोंकी रचनाओं और उनके वक्तव्योंके आलोकमें उनकी जीवन दृष्टिको समझनेका सफल प्रयत्न किया है। मिथकीय पात्रोंकी सीमाएं, आजके मनुष्यकी समस्याएं और रचनाकारकी दृष्टि तथा उसके दायित्वके संश्लेषसे जीवन-दर्शन रेखांकित किया गया है। इस प्रक्रियामें जीवन मूल्य, परम्परागत, मान्यताएं और विधि-निषेध, कुंठाएं-वर्जनाएं किस रूपमें इन कवियोंकी कृतियोंमें स्वीकृत-अस्वीकृत सृजित हैं—इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है। मूल्यहीनता और मूल्यगर्भिताकी टकराहटको ठीक-ठीक पहचाना गया है। 'आधुनिक रचनाकारकी संवेदनामें रचनात्मक स्तरपर द्वन्द्वका सबसे बड़ा आधार, वर्तमान जीवनमें मूल्यहीनताकी टकराहट है। इसी टकराहटमें से नये मूल्योंकी प्रतिष्ठा और नवीन सामाजिक संरचनाका संकल्प रचनात्मक स्तरपर कैसे उभर सका है, इसे शोधकर्त्ताने साफ साफ दिखाया है। नये मानवकी ये रचनाएं कहांतक सफल हुई हैं, इसे भी रेखांकित किया गया है।

छठा और अंतिम अध्याय है 'मिथकीय काव्य और भाषा'। भाषा विशेषतः काव्यभाषाके साथ मिथक का अध्ययन एक स्वतंत्र शोध-कार्यका विषय है। प्रस्तुत ग्रंथमें इसके लिए उतना अवकाश न था, फिर भी संक्षेपमें डॉ. अश्विनीने काव्य भाषा और मिथकीय भाषाके सूत्रोंका संकेत किया है। यह अध्याय उपसंहारात्मक भी है इसलिए भाषा-चिन्तनको कम स्थान मिला है। निष्कर्ष है कि "... उनमें कवि अपनी संवेदनाको अक्षुण्ण रूपसे पाठक तक पहुंचाना चाहता है..." शब्द अभिव्यक्तिका माध्यम भर नहीं लगते, जीवन्त अनुभूति का अनुभावन होता है। शब्द और अनुभूति दोनों मिलकर एक स्वच्छन्द अर्थकी सृष्टि करते हैं जो पाठकीय संवेदनासे तादात्म्य स्थापित करता है। कथाके झीने आवरणमें रहकर प्रतीयमान अर्थको वहन करनेवाले शब्द मिथकीय काव्य-भाषाकी उपलब्धि हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध आधुनिक कविता और मिथक दोनोंपर शोधकार्य करनेवालोंके लिए या स्वतंत्र अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रंथ सिद्ध होगा। □

## भक्ति रसका काव्यशास्त्रीय अध्ययन?

लेखक : डॉ. जगतनारायण गुप्त

समीक्षक : डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित'

डॉ. जगतनारायण गुप्तका आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधिके लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध/आलोच्य शोध प्रबन्धके प्रकाशनसे भक्ति रस प्रक्रियाके विमर्शक आचार्योंमें डॉ. गुप्तका नाम भी इस प्रकाशित शोध प्रबन्धके साथ जुड़ जाता है। रस प्रक्रियाकी एक सुदीर्घ परम्परा है। यह परम्परा एक ओर द्रुहिण अर्थात् ब्रह्माके और दूसरी वासुकिकी परम्पराओंसे जुड़ी हुई है। द्रुहिण = (आठ) रस मानते हैं। वासुकि नवें शान्त रसको भी मानते हैं। भरत मुनिने नाट्यशास्त्रमें द्रुहिणकी परम्पराओंका निर्देश किया किन्तु श्लोकोंमें वासुकिकी परम्परा भी मिलती है। इसी भक्तिरस परम्पराके विवेचनमें डॉ. गुप्तने भक्तिरस विषयक सामग्रीका आलोड़न करके अपने एक दशकके श्रम एवं पठन-पाठन तथा गवेषणात्मक अन्तर्दृष्टिसे अनेक शंकाओंका निराकरण करते हुए अपने पूर्ववर्ती आचार्योंसे साम्य एवं वैषम्य रखते हुए जो नवीन स्थापनाएं की हैं, उनसे यह शोध प्रबन्ध ऐतिहासिक एवं भक्तिरसके न्याय-निर्णयमें मौलिक एवं अभिनव सिद्ध होता है।

भक्तिरसकी मान्यतापर विचार करते हुए उसकी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा मौलिक रूपसे की गयी है। इस ग्रन्थ द्वारा काव्यशास्त्रीय परम्परामें भक्ति रसके रूपमें एक नवीन कड़ी जोड़नेका सफल प्रयास है।

लक्ष्य ग्रन्थोंके निर्माणके पश्चात् लक्षण ग्रन्थोंकी रचना होती है, इस दृष्टिसे भक्तियुगीन सरस रचनाओं के बाद भक्ति रसको काव्य शास्त्रमें मान्यता मिल जानी चाहिये थी, पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो सका। भक्तिपरक रचनाओंको या तो शृंगार रसमें या शान्त रसमें समाविष्ट किया जाता रहा है, जोकि उचित नहीं है।

१. प्रका. : सरस्वती सदन, २५४ लालपुरा, इटावा (उ. प्र.)। पृष्ठ : २८६; डिमा. ८८; मूल्य : १०० रु. (पेपरबैंक)।



मधुसूदन सरस्वती एवं रूप गोस्वामीने १६ वीं शतीमें भक्तिरसको नये रसके रूपमें मान्यता देकर उसकी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कीथी, पर उसे काव्यशास्त्रमें स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। प्रस्तुत ग्रन्थमें भक्ति रसकी मान्यतापर साहित्यिक ढंगसे विचार करके साम्प्रदायिक वैष्णवाचार्योंके मतोंका भी तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

प्रथम अध्यायमें भक्तिके रसत्वका ऐतिहासिक दृष्टिसे अनुशीलन किया गया है। भक्तिके लक्षण एवं स्वरूपपर विचार करते हुए यहां उन उपकरणोंपर विचार किया गया है जिन्होंने भक्ति भावको रसकोटि तक पहुंचानेमें सहायता पहुंचायी है। ये उपकरण हैं :— मध्ययुगीन प्रचुर भक्तिकाव्य, श्रीमद्भागवत एवं स्तोत्र साहित्य, भक्तिके विभिन्न सम्प्रदाय, मधुरा भक्तिका अधिकाधिक प्रचार आदि।

द्वितीय अध्यायमें भक्ति रसकी मान्यताके प्रश्नको उठाकर संस्कृतके पुराने एवं नये आचार्यों—भरतसे लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक—की मान्यताओंपर अपेक्षित गहराईसे विचार किया गया है तथा उन कारणों एवं परिस्थितियोंका विस्तृत विश्लेषण किया गया है जिनके आधारपर भक्ति रसको नवीन रसके रूपमें मान्यता नहीं दी गयी। भक्ति रसकी सांकेतिक स्थिति का श्रेय दण्डीको है जिन्होंने भक्तिको प्रेय अलंकारका विषय माना है। उन्होंने कामनायुक्त शृंगारसे इसकी पृथक्ता प्रतिपादित कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया पर भक्तिको भाव या रस न मानकर उसकी मर्यादाको घटाया। अभिनव गुप्त भक्तिका शान्त रसमें ही अन्तर्भाव करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टिमें भक्ति और शान्त दोनोंका लक्ष्य मोक्ष है। ये शान्तका स्थायी निर्वेद न मानकर तत्त्वज्ञान मानते हैं। आगे चलकर मम्मटेने भक्तिको रसोद्बोधक तत्त्व मानकर उसे देव विषयक रति नामसे स्वतंत्र भाव कोटि अवश्य प्रदान की पर उसे रसकोटि में ग्रहण नहीं किया। आचार्य विश्वनाथने अभिनव गुप्त तथा मम्मट दोनोंके मतोंका समन्वय किया। १७वीं शतीके प्रमुख आलंकारिक पंडितराज जगन्नाथने भक्तिके उत्कट रसत्वको स्वीकार करते हुए भी उसे स्वतंत्र रसके रूपमें केवल परम्परागत रूढ़िवादिताने आधारपर मान्यता नहीं दी। वे भक्तिका अन्तर्भाव शान्त एवं शृंगारमें करनेके भी विरुद्ध थे।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमें कोई मौलिक प्रकर'—मार्च'६०—३६

प्रतिभा नहीं। उन्होंने एक स्वरसे संस्कृतके आचार्यों का अनुसरण किया। हिन्दीके वर्तमान विद्वानोंमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भगीरथ मिश्र, हरिऔध, कन्हैयालाल पोद्दार, बलदेव उपाध्याय, रामदहिन मिश्र, गोपीनाथ कविराज, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र आदिने भक्तिके रसत्वका स्पष्ट रूपसे समर्थन किया है। उधर भक्तिकालीन प्रमुख कवियों :—सूर, कबीर, तुलसी, मीरा, परमानन्द दास, नन्ददास आदिके काव्योंमें भक्तिरसकी मान्यताके सूक्ष्म संकेत प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें इन सभी कवियों, विद्वानों एवं आचार्योंकी मान्यताका सविस्तार समीक्षापूर्वक उल्लेख किया गया है।

“साम्प्रदायिक भक्ति रसका विश्लेषण” इस ग्रन्थका तृतीय अध्याय है। इसमें बोपदेव रचित “मुक्ताफल”, रूप गोस्वामी कृत हरि भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वल नीलमणि, मधुसूदनकृत भक्ति रसायन, नारायणतीर्थ कृत “भक्ति चन्द्रिका” तथा रामभक्तिके रसिक सम्प्रदायमें प्राप्त साम्प्रदायिक भक्ति रसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है। इन ग्रन्थोंमें विवेचित भक्ति रसकी क्या सीमाएं हैं, क्या उसके गुणदोष हैं तथा इस सामग्री को साहित्यिक दृष्टिसे किस रूपमें ग्रहण किया जासकता है इसका भी यथास्थान विवेचन इस ग्रन्थकी अपूर्व विशेषता है। साहित्यिक दृष्टिसे इन साम्प्रदायिक भक्ति रसपरक ग्रन्थोंकी समालोचना एक ग्रंथमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इस ग्रन्थकी यह एक मौलिक उपलब्धि है।

“भक्ति रसका सैद्धांतिक विवेचन” में भक्तिको रस न माने जानेके पक्षमें तर्कोंपर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उनका खण्डन किया गया है। यह खण्डन तर्क-सम्मत एवं गहन अध्ययनसे परिपुष्ट है। अन्तमें यह स्थापना की गयी है कि भक्ति एक पूर्ण तथा स्वतंत्र रस है। भक्ति रसकी स्थापनामें डॉ. नगेन्द्र, डॉ. आनन्द-प्रकाश दीक्षित तथा अनेक मराठी लेखकोंके मतोंकी सटीक एवं सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

“भक्ति रसकी शास्त्रीय व्याख्या” अध्याय भक्ति-रसके स्थायी भाव, रस सामग्री चिन्मुखता एवं सर्व-श्रेष्ठता, संयोग एवं विग्रह पक्षों, भक्ति रसके पंचधा भेदों—शान्त भक्ति, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य-भक्ति रसरसके रूपमें, भक्तिके सहायक रसों आदि काव्यशास्त्रीय विषयोंपर मौलिक एवं नितान्त नवीन



व्याख्या प्रस्तुत करता है।

“मध्ययुगीन वैष्णव काव्यमें भक्ति रसकी अभिव्यक्ति” इस ग्रन्थका अन्तिम अध्याय है। इसमें विभिन्न भक्तिपरक कविताओंके उदाहरण देते हुए उन्हें विभिन्न भक्ति रसांगोंपर घटित कर दिया गया है।

संक्षेपमें कहा जासकता है कि यह ग्रंथ भक्ति रस की ११वें रसके रूपमें प्रतिष्ठा करता हुआ उसकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियोंसे समीक्षा प्रस्तुत करता है। □

## हिन्दीके आंचलिक उपन्यास?

लेखक : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

समीक्षक : डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

‘आंचलिक उपन्यास’ की चर्चा एक समय बहुत जोरशोरसे हुई थी लेकिन कालान्तरमें ‘आंचलिक उपन्यास’ को स्वयं आंचलिक उपन्यासकारोंने भी अधिक महत्त्व नहीं दिया। आंचलिक उपन्यास एक दगा हुआ कारतूस लगने लगा। लेकिन शोध-समीक्षाके स्तरपर आंचलिक उपन्यास और आंचलिक उपन्यासकारोंकी चर्चा और विवेचनका क्रम बराबर जारी रहा है। इंदुप्रकाश पाण्डेय, नगीना जैन, इंदिरा जोशी, ज्ञानचंद गुप्त, आदर्श सक्सेना आदिके शोधप्रबंध और आलोचना-ग्रंथ इस संदर्भमें द्रष्टव्य हैं। हालमें ‘समीक्षा’ (पटना) में डॉ. गोपाल और ‘आलोचना’ (दिल्ली) में सुवासकुमार तथा कैथरिन हैंसनके गंभीर आलेखभी प्रमाणित करते हैं कि आंचलिक उपन्यास आजभी आलोचकोंको विचारोत्तेजित करते हैं, चुनौती देते हैं। इसी क्रममें डॉ. मृत्युंजय उपाध्यायकी शोधकृति ‘हिन्दीके आंचलिक उपन्यास’ प्रकाशित हुई है। देखना होगा कि यह कृति आंचलिक उपन्यास संबंधी विवेचन-आलोचनामें क्या कुछ जोड़ सकी है, नया क्या बढ़ा सकी है?

डॉ. उपाध्यायने ‘भूमिका’ में आंचलिक उपन्यास का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए एक ओर आंचलिकता तथा स्थानीय रंगमें अन्तर किया है, दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासके अविभक्तिकी पृष्ठभूमिको भी रेखांकित किया है। उनका सुविचारित निष्कर्ष है कि

१. प्रका. : चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद । डिमा. ८६; मूल्य : १००.०० रु.।

आंचलिकताका उदय अकस्मात् या जादुई ढंगसे न होकर वर्षोंकी साधनाका फल है। एक सुस्पष्ट ऐतिहासिक आवश्यकताके रूपमें उसका उदय हुआ है (पृ. २६)। क्या ‘रेणु’ से पूर्व आंचलिक उपन्यास नहीं लिखे गये, इस प्रश्नका उत्तर डॉ. उपाध्यायने सधे हुए ढंगसे दिया है। उनकी स्थापना है कि ‘रेणु’ से पूर्वके उपन्यासोंमें आंचलिक चित्रण एक तत्त्वके रूपमें हुआ है लेकिन रेणु-नागार्जुन आदिके उपन्यासोंमें आंचलिक चित्रण अधिक विवरणधर्मी यथार्थ और प्रमुख होता गया है। अतः विधाके रूपमें आंचलिक उपन्यासका उदय ‘मैला आंचल’ से ही मानना समीचीन है। ‘भूमिका’ में ही शोधकर्ताने स्पष्ट कर दिया है कि वह आंचलिक उपन्यासोंके समाजशास्त्रीय एवं भाषाशास्त्रीय विवेचनके उद्देश्यसे इस कृतिके लेखनकी ओर प्रवृत्त हुआ है। अतः यह स्वभाविकही है कि कृतिका अधिकतर कलेवर दो बड़े अध्यायों—(१) ‘आंचलिक उपन्यासोंका समाजशास्त्रीय विश्लेषण’ (२) ‘आंचलिक उपन्यासोंका रूपात्मक विश्लेषण’ में सिमट आया है। एक अन्य अध्याय ‘आंचलिक उपन्यासोंकी तुलनात्मक समीक्षा’ शीर्षकसे है। शीर्षकोंके निर्धारणसे यह बात स्पष्ट रूपसे उभरती है कि शोधकर्ताने हिन्दी शोधप्रबंधों की भारी भरकम रूपरेखाकी रूढ़िको तोड़ा है।

आंचलिक उपन्यासोंके समाजशास्त्रीय विश्लेषणके अन्तर्गत परिवार, अर्थव्यवस्था, धर्म-विश्वास आदिके संबंध में आंचलिक उपन्यासकारोंकी स्थापनाओंका परीक्षण किया है। शोधकर्ताने पाया है कि सभी आंचलिक उपन्यासोंमें गाँवोंकी गरीबी, जहालत और भुखभरीका विस्तृत चित्रण हुआ है। चाहे आदिवासी हों या जनजातियोंके सदस्य, सबकी मूलभूत समस्याएँ एक समान हैं। संपन्न-विपन्नका संघर्ष, शासक-शासितका संघर्ष और प्रगतिशीलताके प्रवाहमें नयी रौशनीमें आनेकी आतुरता अधिसंख्य जनसमुदायमें द्रष्टव्य है। अनपढ़ और पिछड़ी नारियोंमें अपने ‘स्व’ की पहचान और अपनी अस्मिताकी तलाशके स्वर आश्वस्त करते हैं। इस अध्यायका एक महत्त्वपूर्ण अंश वह है, जहाँ बंधुत्व संगठनकी अवधारणाके संदर्भमें आंचलिक उपन्यासोंको परखा गया है। शोधकर्ताने गाँवकी सामाजिकता और सामूहिकताके टूटनेके संदर्भमें आंचलिक उपन्यासोंकी वैचारिकताका मूल्यांकन किया है। ‘परती परिकथा’ के विवेचनका यह पक्ष उसे यथार्थवादी लगता है कि उपन्यास टूटनेके लिए सर्वाधिक उत्तरदायी परिवर्तित







उपाधि प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तकमें पांच अध्याय हैं तथा अंतमें संदर्भ ग्रन्थ-सूची है।

समीक्ष्य ग्रंथके प्रथम अध्याय 'आधुनिक मानव-मूल्य: संतकाव्यकी प्रासंगिकता' में आधुनिक मानव-मूल्योंके संदर्भमें संत-काव्यकी प्रासंगिकतापर विचार किया गया है। डॉ. मिश्रने संत-काव्यकी जिन समकालीन परिस्थितियोंका पृष्ठ २-३ पर उल्लेख किया है, वे आचार्य रामचन्द्र शुक्लके 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' (सातवाँ संस्करण) के पृष्ठ ६०-६२ से उद्धृत हैं। हिन्दीके शोध-प्रबन्धोंमें यदि आचार्य शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित इतिहास-लेखकके कथनभी बिना संदर्भ-संकेतके उद्धृत किए जायेंगे, तो हिन्दी-शोधकी नियतिका अनुमान लगाया जा सकता है। लेखिकाने मूल्य और आधुनिक युगके मानव-मूल्योंपर संक्षेपमें अच्छा प्रकाश डाला है। मध्यकालीन संतोंने दलित वर्गको संवल प्रदान किया, सामाजिक भेदोंका विरोध किया और रूढ़िवादी मान्यताओंका निर्भीकताके साथ खंडन किया। उन्होंने मानसिक विकारोंको परमात्माके साक्षात्कारमें बाधक माना। उनका प्रिय (परमात्मा) से मिलनका दाम्पत्य रूपक मनोहारी है। क्रोध, क्रूरता, परिग्रह, असन्तोष, अहंकार आदिका शमन व्यक्तिको आनन्द प्रदान करता है। यद्यपि संत-काव्यमें वैयक्तिकता परिलक्षित होती है। तथापि उसके आदर्शोंका समष्टिगत महत्त्व भी निर्विवाद है। डॉ. मिश्रका यह कथन उचित है, "संतोंका दृष्टिकोण आधुनिक साम्यवादसे उत्तम था। संतोंने वर्गवादको प्रश्रय नहीं दिया। आध्यात्मिकता एवं मानवतावादको आधार बनाकर संतोंने समग्र संसारमें समत्वके दर्शन किये थे। × × × अतः मानव मूल्योंकी दृष्टिसे संत-काव्यका योगदान अक्षुण्ण रहेगा।"

पुस्तकका द्वितीय अध्याय 'वैचारिक धरातल' दस उपविभागोंमें विभक्त है—सृष्टिका मूल, अपरम्पार, समर्पण भाव, सर्वव्यापकता, ब्रह्मज्ञान, विश्वास, ज्ञानका महत्त्व, प्रेम एवं अध्यात्म, प्रेम सामाजिक रूपमें तथा सत्य। संत कवियोंके अनुसार ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टिका मूल अपरम्पार और सर्वव्यापक है। उसके प्रति मन, वचन और कर्मसे समर्पण जीवका धर्म है। आध्यात्मिक सत्ता के प्रति परमविश्वासी संतोंकी दृष्टिमें ज्ञान सर्वथा वंदनीय है। ब्रह्मज्ञानके अनन्तर अनिवर्चनीय आनन्दकी प्राप्ति होती है। संतोंकी भक्ति-भावनाका आध्यात्मिक धरातल प्रेम-तत्त्व है। उन्होंने स्वयंको नारी और

ब्रह्मको प्रियतम मानकर प्रेम-लीलाके मनोरम चित्र खींचे हैं। उनके प्रेम-वर्णनमें सवस्व त्यागकी भावना निहित है। संतोंकी दृष्टिमें सत्य परम तत्त्व, त्रिकालाबाधित, सर्वोत्तम तपस्या तथा श्रेष्ठतम पूंजी है।

आलोच्य कृतिके तृतीय अध्याय 'समष्टिगत' के दो उपविभाग हैं—एकताकी भावना और दया। संत-कवियोंके अनुसार सम्पूर्ण संसारका सृष्टिकर्त्ता एक है, अतः धर्म, जाति और वर्गके भेद व्यर्थ हैं। उन्होंने जन-साधारणको भावात्मक एकता, दया और अहिंसाका उपदेश दिया।

ग्रंथका चतुर्थ अध्याय 'कर्मके क्षेत्रमें' सात उप-विभागोंमें विभक्त है—बाह्याडंबर, मूर्तिपूजा, जाति धर्म तीर्थ, सत्संगति, कर्मकी प्रधानता और नैतिकता। संतोंने वर्ण-व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने घट-घटमें ईश्वरके दर्शन किये तथा हिन्दुओं मुसलमानों—दोनोंके बाह्याडंबरोंकी भर्त्सना की। संत-कवियोंने अवतारवाद के तत्कालीन प्रचलित रूपका खंडन किया। उनकी दृष्टिमें सत्संगति ज्ञान और मोक्षकी प्राप्ति, आध्यात्मिक उन्नति तथा सम्पूर्ण विकारोंके विनाशमें सहायक है। मानव-जीवन कर्मोंके अधीन है। निष्कलंक चरित्र और नैतिक आचरण जीवनकी सार्थकताके चिह्न हैं।

पुस्तकका पंचम अध्याय 'व्यक्तिगत मानव-मूल्य' अहंकारका त्याग, काम-क्रोधका त्याग, मनकी निर्मलता तथा आत्मा और परमात्मामें समानता—इन चार उप-विभागोंमें विभक्त है। संतोंके मतमें अहंकार मानवके अंतःकरणकी दुर्बलताका प्रतीक, भ्रमका कारण तथा विकारोंका जनक है। काम और क्रोधकी भावनाएं मनुष्यको कर्तव्यच्युत तथा असंयमित कर देती हैं, अतः उनका परित्याग अनिवार्य है। मनके निर्मल तथा शुद्ध होनेपर ही ज्ञानकी प्राप्ति तथा परम सत्ताका साक्षात्कार संभव है। संतोंने ब्रह्म और जीवमें अद्वैत भाव स्वीकार किया है। उनके अनुसार चराचर जगत्के कण-कणमें परमात्माकी सत्ता व्याप्त है, किन्तु व्यक्ति भ्रम-वश इसको जान नहीं पाता।

आलोच्य कृतिमें जिन संतोंके काव्यको समीक्षाका आधार बनाया गया है, वे इस प्रकार हैं—नामदेव, कबीर, गुरु नानक, दादूदयाल, पलटू साहब, मलुकदास, रैदास, सुन्दरदास, गरीबदास, गुलाल साहब, दरिया साहब (बिहार), रज्जब, धरमदास और चरनदास। डॉ. मिश्रने अपने मतके समर्थनमें संत-काव्यसे पर्याप्त उद्ध-



रण प्रस्तुत किये हैं। वर्तमान अव्यवस्थित, स्वार्थपूर्ण और मर्यादाहीन जीवनमें लेखिका द्वारा उल्लिखित संतोंके मानव-मूल्योंका महत्त्व अंदिग्ध है। □

## निबन्ध-संग्रह

### वातायन?

लेखक : डॉ. के. राज शेषगिरि राव

समीक्षक : डॉ. केदार मिश्र

डॉ. के. राज शेषगिरि रावने प्रस्तुत वातायन संग्रहके ग्यारह निबन्धोंमें क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय समस्याओंके समाधानके आलोकमें आन्ध्र लोक-साहित्य, तेलुगु-साहित्य, तेलुगु और हिन्दी-साहित्य तथा दक्षिण में हिन्दी-साहित्य आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंका राष्ट्रीय चिन्तन-धारामें एकरस होते हुए सारगर्भित विवेचन किया है।

आलोच्य पुस्तकके प्रथम लेख 'आन्ध्र लोक साहित्य की रूपरेखा' में आन्ध्र लोक-साहित्यके विविध पक्षों का संक्षिप्त परिचय है। लोकगीतोंके सन्दर्भमें डॉ. रावने व्यक्त किया है कि "आन्ध्रप्रदेश कृषि प्रधान क्षेत्र है, अतः लोकगीतोंमें कृषिसे सम्बन्धित मान्यताओं, आदिम विश्वासों, हर्ष, उल्लासकी भावनाके साथ-साथ शृंगारका पुटभी परिलक्षित है। वरुणदेवकी प्रार्थना, हलदेवीकी पूजा, गणेश-पूजापरक गीतोंमें धार्मिक भावना स्पष्ट है।" ऋतु गीतोंमें मानवकी चिरन्तन प्रवृत्तियों की तथा पर्व गीतोंमें सामाजिक वातावरणकी अभिव्यक्ति है। आनुष्ठानिक गीतोंमें स्त्रियोंका प्राधान्य है। प्रयोजन की दृष्टिसे 'नोमुल' (अनुष्ठान) में पुत्र प्राप्तिकी भावना, आयु, कष्ट निवारण, दान, सौभाग्य समृद्धिकी

प्राप्ति, परस्पर मैत्री एवं अनुराग, भगवद्भक्ति एवं सदाचारकी अभिव्यक्ति मिलती है। सोलह सेंस्कारों में जन्म एवं विवाहकी प्रमुखता है। अन्य लोकगीतोंमें व्यवसाय सम्बन्धी गीत, गृह जीवन-सम्बन्धी, बाह्य जीवन-सम्बन्धी गीत बाल-गीत, तथा भक्ति-गीत प्रमुख हैं।" (पृ. १०)

लोक-गाथाएं 'बुर-कथा' कहलाती हैं, क्योंकि इनमें 'बुर' नामक वाद्य अनिवार्य होता है। इन्हें प्राचीन कालमें 'जंगम' जातिवाले कहा करते थे अतः इन्हें जंगम कथाएं भी कहते हैं। टेक पदके आधारपर इन्हें 'तंदान पद' तथा 'हरिनारायण पद' भी कहते हैं। लोक-कथाएं 'एक था राजा' से शुरू होती हैं। प्रत्येक कथामें उपदेश निहित रहता है। सत्यकी विजय व्यक्त होती है। डॉ. रावके विवेचनसे ज्ञातव्य है कि तेलुगु भाषाभाषी आन्ध्रप्रदेश हो या भारतका अन्य भू-भाग, बाह्य विविधताओंके उपरान्तभी अन्तर्गतमें एकही जीवन-स्वर और आत्मभाव निहित है। (पृ. १७)

द्वितीय लेख 'जंगम कथाओंकी परम्परा' (पृ. १८-२२) में लेखकने स्थापना प्रस्तुत की है कि "जंगम कथाओंमें आंध्रप्रदेशका हृदय स्पन्दित है। इन कथाओं को सुनकर लोग पुलकित हो जाते हैं। कथाओंमें तल्लीन हो, जीवनकी मधुर कल्पनाओंका आस्वादन करते हैं। जंगम कथाओंमें ही आन्ध्र जनपदीय संस्कृतिकी अपनी स्पष्ट छाप अंकित रहा करती है।" इन कथाओंके द्वारा भाषा वैज्ञानिकोंको भी उचित सामग्री मिलती है, साथ ही सामाजिक आचार-व्यवहार राजकीय नियम, लौकिक वेषभूषा आदिका परिचय भी इन कथाओंमें पर्याप्त लक्षित है। काम्भोज राजु कथा (ईसवी सदी-पूर्व) नल्ल तंगाल कथा (पांड्योंकी ६०० ई. की कथा), चिन्तमा-कथा (१२वीं शताब्दी पूर्वकी) तथा पलनाडुकी कथा (सन् ११६० ई.) आदि प्रमुख प्रचलित जंगम कथाएं हैं।

तृतीय लेख 'तेलुगुमें काव्यानुवाद-परम्परा' (पृ. २३-२८) के अनुसार तेलुगु साहित्यका प्रारम्भिक युग पुराण युग अथवा अनुवाद युग रहा है जो ११वीं शताब्दीसे १६वीं शताब्दी तक था। "माना जाता है कि नन्नया आदि कवि थे उन्होंने राज राजनरेन्द्र (सन् १०२३-१०६३) के आदेशानुसार अपने सहपाठी नारायण भट्टके तत्त्वाधानमें महाभारतके आदि, सभा तथा अरण्य पर्वके कुछ अंशोंका अनुवाद किया।" आदि कवि नन्नयाने संस्कृत काव्योंके अनुवादके लिए जो मार्ग प्रशस्त किया, वही परम्पराके रूपमें अक्षुण्ण है।"

१. प्रकाशक : मयंक प्रिंटिंग एण्ड पैकेजिंग, सराय माली खां, पोस्ट आफिस बिल्डिंग, लखनऊ-२२६००३। पृष्ठ : २०४; डिमा. ८७; मूल्य : ३०.०० रु.।



चतुर्थ लेख 'दक्षिणमें हिन्दी' (पृ. २६-३२) में डॉ. के. राज शेषगिरिने हिन्दीकी सुदीर्घ परम्पराका उल्लेख करते हुए कहा है कि "हिन्दी प्रचार केवल अन्तर्प्रान्तीय परिचय और व्यवहार बढ़ानेके लिए नहीं, बरन् उससे भी बढ़कर एक नूतन भारतीय राष्ट्रका निर्माण करनेके लिए है। भारतवासी देशकी भिन्न-भिन्न भाषाओंके कारण, एक विदेशी भाषाके जालमें फँस जानेके कारण विभक्त, कमजोर, लक्ष्यहीन और परमुखापेक्षी बने हुए हैं × × × उन्हें विदेशी भाषा, साहित्य व संस्कृतिकी गुलामीसे मुक्त करना है। हिन्दी प्रचार भारतीय नवोत्थानकी पुकार है। राष्ट्रीय एकता और उद्धार इसका लक्ष्य है।" (पृ. ३०)।

डॉ. गिरिने दक्षिणमें हिन्दी-साहित्य-सृजनके परिचयमें कहा है कि "दक्षिण भारतके लोग इस समय हिन्दीका कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करनेसे सन्तुष्ट नहीं, बरन् हिन्दी साहित्यकी श्रीवृद्धिमें भी लगे हुए हैं। 'अब हिन्दी-व्रती दक्षिणके लेखक अपनी-अपनी देशी भाषाओंकी कालजयी कृतियोंका अनुवाद हिन्दीमें कर रहे हैं। इस पवित्र कार्य द्वारा हिन्दी भारत-भारती अवश्य बनेगी, जिसमें आंध्र-भारती, तमिल-भारती, कन्नड़-भारती, मलयालम-भारती मुखरित होती रहेगी।" (पृ. ३२)।

'तेलुगुपर नाथ-मम्प्रदायका प्रभाव' (पृ. ३३-४४) लेखमें आंध्र लोक-जीवनपर सिद्धों एवं शैवोंका प्रभाव व्यक्त किया गया है। 'तेलुगुमें राधाका विकास' लेखमें डॉ. रावने १६वीं शताब्दीसे १८वीं शताब्दीके तेलुगु काव्यमें राधाके विविध रूपोंके निरूपणकी परम्पराका परिचय दिया है। 'तेलुगु साहित्यपर प्रेमचन्दका प्रभाव' (पृ. ५०-६२) लेखमें दक्षिणमें हिन्दीके प्रचार-प्रसारके विवरणके साथ प्रेमचन्द-साहित्यके महत्त्वका निरूपण है। इसी क्रममें 'प्रेमचन्द और साहित्य विवेचन' (पृ. ६३-६७) लेखमें प्रेमचन्दजीकी साहित्य सम्बन्धी मान्यताओंके साथ उनके व्यक्तित्वकी विशेषताओंका उल्लेख है। 'सूर और पोतन्न' [पृ. ६८-८८] लेखमें दो महाकवियोंकी तुलनामें स्थापित किया गया है कि "सूर ब्रज लोक-संस्कृतिके तथा पोतन्न आन्ध्र लोक-संस्कृतिके उन्नायक थे। ब्रज एवं आन्ध्र लोक-संस्कृतियोंका चिरंतन सम्बन्ध वैदिक संस्कृतिसे रहा है। अतः दोनोंमें साम्य परिलक्षित होता है। पर सूरको ब्रज में घटित घटनाओंका उल्लेख ब्रजभाषामें करनेका श्रेय

मिला वहाँ पोतन्नको श्रीमद्भागवत्का अध्ययनकर अपनी देशी भाषामें लोक-जीवनका वर्णन करनेका श्रेय।" हिन्दी साहित्यकाशके 'सूर-सूर हैं तुलसी ससि है। श्री उन्नव लक्ष्मीनारायणकी दृष्टिमें तेलुगु साहित्यकाशके सूर तिवक्कन्न हैं और 'ससि' पोतन्न है। दोनों अमर कवि हैं। दोनों लोक-प्रिय कवि हैं। (पृ. ८८)।

'हिन्दी एवं तेलुगु भक्ति परम्पराका तुलनात्मक अध्ययन' लेखमें हिन्दी और तेलुगु संत कवियोंके साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है; जिससे स्पष्ट विदित होता है कि मध्ययुगमें भारतीय समाज-चिन्तन धारा एकोन्मुखी हो अविरल बहती रही। सम्पूर्ण भारतीय जीवनही समन्वयका जीवन है। ज्ञान, भक्ति और कर्मका समन्वय ही भारतके धार्मिक अंत्रोंकी विशेषता है। इसी समन्वयका प्रतिबिम्ब हमें भारतीय साहित्यके सभी अंगोंमें मिलता है।" रामानन्द और वल्लभाचार्यका धार्मिक आन्दोलन उत्तरी एवं दक्षिण भारतका अभूतपूर्व सम्मिलन था। इसी युगमें पंजाबसे गुरु नानकने पश्चिम का प्रतिनिधित्व किया था और पूर्व बंगालमें जगन्नाथ मिश्रके गृहमें चैतन्य महाप्रभुका प्रादुर्भाव हुआ। वल्लभाचार्यने जिस सांस्कृतिक प्रेरणाका पुनरुद्धार किया उसमें चैतन्यकी साधना और उनकी कलाने चार चांद लगा दिये थे।" उत्तर भारतमें जिस सामाजिक एवं धार्मिक सहिष्णुताकी पावनधाराको प्रवाहित करनेमें गोस्वामी तुलसीदासजी सृजनरत थे, साहिष्णुताकी उसी धाराको दक्षिणमें तिवक्कन्न महाकवि अपनी काव्य-साधना से सम्पन्न कर रहे थे। (पृ. ९०)

डॉ. के. राजशेषगिरि रावके विवेचनसे स्पष्ट है कि भाषा-भेदके उपरान्त भी हर युगमें भारतकी प्राण-वायु अखण्ड रही है। सम्पूर्ण भारतका इतिहास भलेही वह किसीभी क्षेत्रीय भाषामें लिखा गया हो, एक साथ भारतीय-आत्मा, भारतीय-जीवन-दर्शनको अभिव्यक्ति देता रहा है। दक्षिणमें भी हिन्दी-साहित्यकी भाँति मध्य युगमें राम काव्य-परम्परा (रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण, कवयित्री मोल्लाकृत रामायण); कृष्ण काव्य-परम्परा (नारायणतीर्थ कृत कृष्णलीलातरंगिणी; सिद्धेन्द्रनारायण तीर्थ कृत पारिजातापहरण, पोतन्न कवि कृत भागवत् अनुवाद); शैव काव्य-परम्परा (पं. मल्लिकार्जुन कृत शिवतत्वसार पालकुरिकि सोमनाथ कृत बसव पुराण आदि) तथा निर्गुण संत-परम्परामें काव्य



सृजन होरहाथा । वेमन्न आन्ध्रके कर्बोर थे । (पृ. ६४-६५) ।

आलोच्य ग्रन्थके ग्यारहवें लेख 'हिन्दी साहित्य और सामासिक संस्कृति' (पृ. ६६-१०४) में भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी साहित्यका परिचय प्रस्तुत हुआ है । डॉ. के. राज शेषगिरि रावने हिन्दी भाषाके संदर्भमें अपनी मान्यता व्यक्त कीहै कि—'यह सच है कि हिन्दी मध्यदेशकी भाषा है । परन्तु मध्यदेशकी भाषा ही भारतकी सार्वभौमिक भाषा रहीहै । यह कोटि-कोटि जनोकी अमृत-वाणी है । फिरभी आज हिन्दीके तीन रूपोंकी चर्चा जोरोंपर है—राष्ट्रभाषा, राजभाषा एवं सम्पर्क भाषा । पर आश्चर्यकी बात है कि हिन्दीके किसीभी रूपका आजतक स्थिरीकरण नहीं हुआहै क्योंकि राजनीतिका भूत इसका पीछा कर रहाहै । आजभी इसे मात्र क्षेत्रीय भाषा सिद्ध करनेका प्रयास किया जा रहा है ।' "यों हिन्दी भारतीय हृदयकी वाणी है । यह भारत-भारती है, जिसमें भारतीय आत्मा मुखरित हो रहीहै । आन्ध्र-भारती, केरल-भारती, तमिल-भारती, कन्नड़-भारती आदि भारतीय भाषाओंकी वाणी इसमें मुखरित हो, यही हमारा दृढ़ संकल्प होना चाहिये ।"

"यह राष्ट्रीय प्रश्न है, भावनात्मक एकताका प्रश्न है ।" (पृ. १०४) ।

आलोच्य कृतिके अधिकांश लेख पूर्व प्रकाशित हैं । कुछ संगोष्ठियोंमें दिये गये भाषणर्भा हैं, जिससे लेखों में पुनरुक्ति भी है । मुद्रण-कला-सौष्ठव एवं विवेचनके विस्तारसे निबन्ध-संग्रह औरभी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकताहै ।

निबन्धोंका भाषा-शिल्प सहज, सुबोध एवं सार-गर्भित होनेसे कृतिकी उपादेयता असंदिग्ध है । निश्चित ही डॉ. के. रावकी प्रस्तुत कृति विवादोंको शान्त करते हुए एक आवश्यकताकी पूर्ति करतीहै ।

लेखकका दृष्टिकोण राष्ट्रीय एकता, अखण्डता एवं भावनात्मक जुड़ावका रहाहै । समग्र लेखकीय प्रयास भारतीय साहित्यकी एकरूपताको व्यक्त करताहै । हिन्दी साहित्य एवं तेलुगु साहित्यका तुलनात्मक विवेचन लेखकीय प्रयासकी सार्थकता सिद्ध करताहै । डॉ. के. राज शेषगिरि रावने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि एवं आत्मीय भावसे राष्ट्रभाषा, राजभाषा एवं सम्पर्क भाषा के रूपमें हिन्दीकी स्थापनाका अभिनन्दन कियाहै । □

## प्रकृति और लोक

### पर्यावरणकी संस्कृति?

लेखक : शुभू पटवा

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

पर्यावरणकी समस्यासे आज हर देशके समझदार लोग चिन्तित हैं । वर्षोंसे अनजाने ही जिसे नष्ट किया

१. प्रका. : वाग्देवी प्रकाशन, सुगन निवास, चन्दन सागर, बीकानेर-३३४००१ । पृष्ठ : १२४; डिमा. ८६; मूल्य : ५५.०० रु. ।

'प्रकर'—मार्च'९०—४२

जाता रहाहै, वही जब प्राणोंके संकटके रूपमें दिखायी देने लगाहै तो उसी तेजीसे उसकी रक्षाकी दुहाईभी दी जाने लगीहै । स्पष्ट है, जो जितनाही साधनसम्पन्न है, वह पर्यावरणकी सुरक्षाके लिए उतनीही बड़ी योजना बना रहाहै । तबभी पर्यावरण है कि बिगड़ता ही जा रहाहै । इसका कारण क्या है ? क्या यह बात किसीकी समझमें ही नहीं आरही ? क्या जानबूझकर यह बात समझी ही नहीं जा रही ? क्या वे ही सबसे बड़े जिम्मेदार हैं इस प्रदूषणके जो सबसे बड़े समर्थ हैं ?



क्या होसकता है ? क्या किया जासकता है ? क्या किया जाना तत्काल आवश्यक है ? इस प्रकारके प्रश्नोंसे टकरानेसे पहले उस मूल अवधारणा तक पहुंचना अनिवार्य है, जिसे आँखकी ओट कर देनेसे आज विश्व के सामने यह संकट आ धमका है। सर्जनात्मक लेखक और सजग पत्रकार शुभू पटवा अपनी पुस्तक 'पर्यावरणकी संस्कृति' में उसी मूल अवधारणाको अनेक कोणों से, अनेक रूपोंमें समझाते हैं। आजतक विज्ञानके विकास के द्वारा प्रकृतिका दोहन, शोषण करनेवाले जिसे 'प्रगति' कहते रहे हैं वह कैसी 'दुर्गति' रही है, इस बातको तो अब बहुत लोग समझ रहे हैं। शुभू पटवा यह बताते हैं कि यह सब कुछ क्योंकर हुआ, क्यों हो रहा है और क्यों रुक नहीं रहा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि, "पर्यावरणका जो विनाश पिछले डेढ़-पौने दो सौ सालोंमें हुआ है, उसे रोकनेका कोईभी कारगर उपाय यही हो सकता है कि हम नीतिगत तौर पर यह मानें कि जो प्राकृतिक सम्पदा है उसपर किसी वर्ग अथवा किसी सत्ता का नहीं, समाजका अधिकार है और अपनी प्रकृतिसे जुड़े लोगही उसे ठीक तरहसे सम्हाल सकते हैं। सम्बर्द्धन कर सकते हैं।" (पृ. ७१)।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें पृथ्वी इसीलिए महत्वपूर्ण है कि इसपर प्राण और वनस्पतिमें 'समतोल' है। इसी 'सम' को, इसी सन्तुलनको समूल और समग्र रूपमें समझने वाली भारतीय दृष्टि "प्रकृतिके शोषणकी न होकर उसके संरक्षणकी, समतोल और श्रद्धाकी रही है। प्रकृतिपर विजय पानेकी धारणा तो पश्चिमकी रही है। भारतीय दृष्टिमें मनुष्य प्रकृतिका स्वामी नहीं, उसकी सन्तान है। प्रकृतिके साथ भारतीय जनका यही पारम्परिक रिश्ता भारतकी 'अरण्य संस्कृति' है। यही 'अरण्य संस्कृति' आजके आधुनिक समाजमें 'पर्यावरणकी संस्कृति' के रूपमें हमारे सामने है। लेकिन इसे देखने समझनेकी दृष्टिमें आज भारी चूक आगयी है" (१५)।

यह 'संस्कृति' दृष्टि-दोषका शिकार कैसे होगयी ? औद्योगीकरणकी होड़में हमने अपनी दृष्टिपर पश्चिम का चश्मा चढ़ा लिया और 'मनुष्य' के विकासके नाम पर 'वस्तुओं' का विकास करने लगे। इसीलिए संकट आया। पटवा स्पष्ट कहते हैं कि "भारतीय दृष्टि हमें बताती है कि यह प्रकृति सबका पेट भर सकती है, पर किसी एकका भी लालच पूरा नहीं कर सकती।" (१५)।

उस बिडम्बनाकी ओर हम धकेल दिये गये हैं, जब

अधिकसे अधिक 'लालची' होनेकी होड़ लगी हुई है। जो जितना बड़ा 'लालची' है वह अपनेको उतनाही 'बड़ा' समझ रहा है और इसी दादागिरीमें प्रकृतिको अपनी निजी सम्पत्ति मानकर उसको नष्ट करनेमें लगा है। शुभू पटवाकी पुस्तक यही सिखाती है कि 'लालच' छोड़कर सहअस्तित्व और शान्तिसे सबकी सहभागिता का आदर करते हुए 'वस्तुओं' के बदले 'मनुष्यों' का विकास करनाही एकमात्र उपाय है, आगेभी पृथ्वीपर जीवनको सम्भव बनाये रह सकता है।

अपने समयके संकटको वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और समाजसेवियोंकी दृष्टिसे पूरी तरह समझते हुए शुभू पटवा महात्मा गांधी और उनके विचारोंको 'भारतीय दृष्टि' के सर्वाधिक निकट पाते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि "हिन्द-स्वराज' को हम 'पर्यावरणकी संस्कृति' का निचोड़ मान सकते हैं। दुर्भाग्यसे स्वाधीनताके बाद इस देशको डिंगा देनेवालोंने इस छोटी-सी पुस्तककी जो उपेक्षा की उससे बड़े संकटोंकी सम्भावनाएँ ही प्रबल हुईं और अब तो वे घटित भी होने लगी हैं।" (पृ. २३)।

मनुष्यके आचार और विचारसे लेकर सत्ताके विकेन्द्रीकरण तकके महात्मागांधी द्वारा प्रस्तुत विचार उसी भारतीय दृष्टिको मूर्त करते हैं जो सबके विकासकी ओर देखती है, किसीके विनाशकी ओर नहीं।

पुस्तक मुख्यतः तीन चरणोंमें अपनी बात कहती है १. पर्यावरणकी संस्कृति : इसमें तीन अध्याय हैं—पर्यावरणकी संस्कृति, श्रमका मानवीयकरण और औद्योगिक संस्कृति।

२. प्राकृतिक सम्पदा : इसमें चार अध्याय हैं—प्राकृतिक सम्पदा, ताकि सनद रहे, यह धरती, और जल जीवन भी है।

३. थारका पर्यावरण : इसमें तीन अध्याय हैं—थार का पर्यावरण, वन और थारका सामाजिक वानिकी और गोचर-ओरण।

पुस्तकके अन्तमें 'इत्यलम्' शीर्षकसे विनम्रतापूर्वक अध्ययनका निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। सन्दर्भ ग्रंथोंकी सूचीको पटवाने सुन्दर शीर्षक दिया है, 'देखा-समझा'।

इस पुस्तककी विशेषताएँ अलगसे गिना देना कठिन है क्योंकि प्रत्येक शब्द पठनीय और मननीय है। लेखकके पास आँकड़ोंका, अध्ययनका, अध्यवसायका बल तो है ही विनम्रताका सबसे बड़ा बल है जिसके



कारण वे बड़ीसे बड़ी बात कहकर भी दम्भसे बचे रहते हैं। शुभू पटवाके लेखनमें यह शक्ति आती है उनके जीवन-सन्दर्भोंसे। वे पर्यावरणपर विचारही नहीं करते व्यवहारमें उसके लिए निरन्तर कार्यभी करते हैं। अतिप्रसिद्ध कवि भवानीप्रसाद मिश्रके पुत्र स्वनामधन्य अनुपम मिश्रकी पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रही है। अनुपमजी शुभू पटवाकी पुस्तकके विषयमें लिखते हैं—“यह पुस्तक धुरीसे हट रहे समय चक्रको फिर से धुरीपर ले आनेके लिए हमें अभिप्रेरित करती है।

और पर्यावरणका समझको विकसित करनेमें एक सच्चे मित्रका ‘रोल’ भी अदा करती है।” (आवरण-लेख)।

शुभू पटवाका यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्तिके पास पहुंचे, इसका उपाय वाग्देवी प्रकाशनको और भारत सरकारको करना चाहिये। योजना आयोगके सदस्योंके लिए तो इस पुस्तकका अध्ययन अनिवार्य है क्योंकि भारत जैसे देशकी परियोजनाएं किन मूल अवधारणाओंपर आधारित होनी चाहियें यह इसी पुस्तकसे सीखा जाना जा सकता है। □

## अनुवाद-समस्या

### बैंकोंमें अनुवादकी समस्याएं?

लेखक : डॉ. भोलानाथ तिवारी (स्वर्गीय)

एवं डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी

समीक्षक : डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री

बैंकोंसे हमारा परिचय सामान्यतया रुपये-पैसेके लेनदेन तक ही सीमित रहता है, इसलिए यदि कोई पाठक पुस्तकका शीर्षक पढ़कर चौंक पड़े तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। वैसे जबसे बैंकोंमें (तथा अन्य संस्थानोंमें भी) हिन्दी अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे हैं, जनताको कुछ पत्र हिन्दीमें मिलने लगे हैं, शाखाओं में बोर्ड आदि तथा विभिन्न प्रकारकी सूचनाएं हिन्दीमें भी दिखायी देने लगी हैं, अपने प्रयोगके फार्म, चैक, ड्राफ्ट आदि हिन्दीमें मिलने लगे हैं तबसे जनताके मनपर यह छाप पड़ती जा रही है कि इन दफ्तरोंमें थोड़ा-बहुत काम हिन्दीमें भी होता है। इस प्रकारका परिवर्तन लानेके लिए हिन्दी अधिकारियोंको जो प्राणान्तक श्रम करना पड़ा है और जिन समस्याओंसे जूझना पड़ा है, उनकी

जानकारी सामान्य-जन तो क्या, विद्वानोंतक को नहीं है। हिन्दी अधिकारियोंके सौभाग्यसे भाषा-विज्ञानके विद्वान् डॉ. भोलानाथ तिवारीने उनकी समस्याओंके एक पक्ष—अनुवाद—की ओर ध्यान दिया और “अनुवाद विज्ञान”, “अनुवाद कला”, “कार्यालयी अनुवाद की समस्याएं”, “अनुवादकी व्यावहारिक समस्याएं”, “पारिभाषिक शब्दावली : कुछ समस्याएं”, “व्यावसायिक हिन्दी आदि अनेक कृतियोंकी रचना अकेले, अथवा अन्य लेखकोंके साथ मिलकर कीं। समीक्ष्य पुस्तक भी इसी दिशामें उनकी एक और देन है जिसके सह-लेखक भारतीय रिजर्व बैंकमें राजभाषा हिन्दीके कार्यान्वयनमें जुड़े एक वरिष्ठ अधिकारी हैं। इस प्रकार यह पुस्तक भाषा विज्ञानके ज्ञान और बैंकिंग क्षेत्रमें अनुवादके व्यावहारिक अनुभवके मणि-काँचन योगका परिणाम है।

अब इसे देशके दुर्भाग्यके सिवा क्या कहें कि “राष्ट्रभाषा” के रूपमें जिस हिन्दीको देशकी आम-जनता अपने हृदयमें स्थान दिया, “राजभाषाके” रूपमें उसे अंग्रेजोंके उन मानस-पुत्रोंके हाथों अपमानित होना पड़ा जिन्हें उसके सम्मानकी रक्षा करनेका दायित्व जनता सौंप दिया था। पाठक जानतेही हैं कि संविधान सभा

१. प्रका. : शब्दकार, १५६ गुरु अंगदनगर (पश्चिम), दिल्ली-११००६२। पृष्ठ : २५२; डिमा. ८८; मूल्य : ६५ ०० रु.।



में नेहरूजीकी केन्द्रीय भूमिका रही। वहाँ विभिन्न समस्याओंपर निर्णय बहुमतके आधारपर ही लिये गये, पर राजभाषाके बारेमें नेहरूजीका आग्रह था कि निर्णय सर्वसम्मतिसे ही लिया जाये। परिणामतः संविधान सभाको यह निर्णय लेना पड़ा कि संघकी राजभाषा हिन्दी होगी, पर अंक अन्तर्राष्ट्रीय होंगे। विघ्न-संतोषियोंको इतनेसे भी संतोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने यहभी तय किया कि इस निर्णयका क्रियान्वयन १५ वर्ष बाद होगा, तबतक अंग्रेजीका प्रयोग यथावत् जारी रहेगा। इस बीच राष्ट्रपति यदि चाहे तो हिन्दी भाषाका और/या देवनागरी अंकोंका प्रयोग प्राधिकृत कर सकता है, पर अंग्रेजीके साथ-साथ, उसे हटाकर नहीं। इसके अलावा, संसद् चाहे तो १५ वर्षकी अवधि को और आगेभी बढ़ा सकती है। विडंबना देखिये कि संविधान सभाने एकभी काम ऐसा नहीं पाया जो संविधान लागू होतेही हिंदीमें किया जासके। १५ वर्ष की जो “आस्थगन अवधि” तय की, उसे भी “संक्रमण” या “परिवर्तनकी तैयारी” का रूप नहीं दिया। उसने हिन्दीका प्रयोग शुरू करने और क्रमशः बढ़ाते जानेकी कोई योजना न तो स्वयं बनायी और न इस संबंधमें कोई नीति-निर्देशक सिद्धान्त निरूपित किये। अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षाकी महत्वाकांक्षी योजना को पूरा करने, कमजोर वर्गोंको आरक्षणकी सुविधा देकर समाजमें आधारभूत परिवर्तन लाने जैसे कामोंके लिए तो १० वर्षकी अवधि पर्याप्त समझी गयी, पर सामन्ती व्यवस्थाके स्थानपर जनतंत्रकी स्थापना करनेके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन “जनताकी भाषा” को सरकार के कामकाजकी भाषा बनानेके लिए १५ वर्षकी अवधि भी मानों अपर्याप्त थी; इसलिए संसद्को यह अधिकार देना आवश्यक समझा गया कि वह चाहे तो इसे और भी बढ़ा सकती है। कितने समयके लिए? इस प्रश्नपर विचार करनेकी कोई आवश्यकता संविधान सभाने अनुभव नहीं की। शायद गाँधी-युगकी एक उपलब्धि यहभी है कि हम समस्याओंके स्थायी समाधान खोजना नहीं चाहते, बस उनके तात्कालिक उत्तर खोजकर, उन्हें किसी प्रकार टालकर, भविष्यके लिए स्थगित करके ही संतुष्ट हो जाते हैं।

इस सबका परिणाम यह हुआ है कि देशकी राज-भाषा नीति (यदि उसे नीति कहा जासके) एक अंधी गलीमें भटक रही है। अब इस नीतिके अनुसार सरकारी

कामकाजसे संबंधित अनेक चीजें हिन्दी-अंग्रेजी दोनों भाषाओंमें होनी चाहियें। इसका निहितार्थ यों तो एक-दम स्पष्ट है कि सरकारी कर्मचारियोंको हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओंका ज्ञान होना चाहिये; पर सरकार अपनेको स्व. नेहरूजीके उस आश्वासनसे बंधा हुआ अनुभव करती है जो उन्होंने संविधानके सर्वसम्मत निर्णयको दरकिनार करके दिया था और जिसे कानूनी रूप देनेके लिए उन्होंने संसद्को रवड़की मोहरसे अधिक महत्त्व नहीं दिया। इसलिए अब राजभाषा नीतिको लागू करनेका रास्ता सरकारने यह निकाला है कि हर सरकारी कार्यालयमें एक “राजभाषा विभाग” बनाया जाये जिसमें “हिन्दी अधिकारी” नियुक्त किये जायें। कार्यालयके अन्य कर्मचारी तो अपना काम यथावत् अंग्रेजीमें करते रहें, राजभाषा नीतिका खुलेआम उल्लंघन करते हुएभी पदोन्नतियाँ पाते रहें, पर हिन्दी अधिकारी विशुद्ध सेवाभावसे, अपने कैरियरका कोई विचार किये बिना, राजभाषा नीतिका अनुपालन करने के लिए उस कार्यालयके पत्र, प्रपत्र, मैनुअल, कोड, प्रक्रिया साहित्य आदिका हिन्दीमें अनुवाद तैयार करते रहें। भाषावैज्ञानिकोंका मानना है कि अनुवाद करनेके लिए “स्रोतभाषा” अर्थात् जिस भाषामें सामग्री लिखी गयी है, “लक्ष्यभाषा” अर्थात् जिस भाषामें अनुवाद करना है, और “विषयवस्तु”—तीनोंपर अनुवादकका अच्छा अधिकार होना आवश्यक है; पर सरकारी संगठनोंमें नियुक्त हिन्दी अधिकारियोंकी इस संबंधमें स्थिति इसके ठोक विपरीत है। शिक्षाका स्तर इतना गिर चुका है कि एक भाषापर ही अधिकार नहीं हो पाता, दो भाषाओंकी तो बात ही क्या कहनी! रही विषयवस्तु, सो किसीभी कार्यालयसे संबंधित विषयवस्तु से परिचय वहाँ काम करनेपर ही प्राप्त होता है, पर हिन्दी अधिकारियोंको इसका कोई अवसर मिलता ही नहीं। उनका काम तो बस अनुवाद करना है, कार्यालय का नियमित काम करना नहीं। ऐसी स्थितिमें जैसा अनुवाद ये अधिकारी कर रहे हैं, उसके नमूने देखे बिना गलतियोंका अनुमान लगा पाना संभव ही नहीं। समीक्ष्य पुस्तकमें ऐसे नमूने यों तो सर्वत्र बिखरे पड़े हैं, फिर भी “बैकिंग साहित्यका अनुवाद और उसका पुनरीक्षण” शीर्षक अध्याय इस दृष्टिसे विशेष रूपसे पठनीय है। पुस्तककी एक विशेषता यह है कि इसमें केवल गलतियाँ गिनायी नहीं गयी हैं, उन्हें ठीक करनेके उपाय भी बताये



गये हैं। इसके अतिरिक्त, पुस्तकमें कुछ ऐसे बिन्दुओं पर भी विचार किया गया है जिनका सामना हर अनुवादक को करना पड़ता है। उदाहरणके लिए, अंग्रेजीमें May be (पृ. ६६) By (पृ. १२६, ११५, ७६), on (पृ. ११५) आदिका अनुवाद। इनका शाब्दिक अनुवाद प्रायः अर्थकी दृष्टिसे गलत और भाषाकी दृष्टिसे भ्रष्ट होता है। पुस्तकमें यह ठीक ही लिखा है कि, “अकेले इस By ने हमारी भाषाका स्वरूप इतना विगाड़ दिया है कि अब यही शुद्ध रूप लगने लगा है। (पृ. ७६)”। इसी प्रकार, “बैंकिंगमें प्रयुक्त कुछ अति-विशिष्ट शब्दोंकी व्याख्या” (पृ. ५४-६३) बैंकिंग साहित्य का अनुवाद करनेवालोंके लिए संभवतः पहली बार प्रस्तुत की गयी है।

हिंदीमें सारिभाषिक शब्दावलीके विकासका परिचय देते हुए लेखक हमें निकट अतीतमें काफी दूरतक, शिवाजी के शासन-कालतक ले जाते हैं। बंगीय परिपद, गुरुकुल काँगड़ी (जिसे प्रसिद्ध संस्था होनेके कारण पुस्तकमें केवल गुरुकुल लिखा है—पृ. ३५), विज्ञान परिपद, नागरी प्रचारणी सभा, सुखसम्पत राय भंडारी, भारतीय हिंदी परिपद आदिका केवल नामोल्लेख किया गया है। यदि इसे किंचित् विस्तारके साथ विषय-वार प्रस्तुत किया जाता तो उपयोगी जानकारी मिल सकती थी। हाँ, बैंकिंग शब्दावलीके रूपमें यद्यपि भारतीय रिजर्व बैंक की शब्दावली बहु-प्रचलित भी है और प्रमाणिक भी, तथापि विभिन्न कारणोंसे अभी एकरूपताकी कमी है। कुछ शब्दोंके हिन्दी रूप भारतीय रिजर्व बैंक की शब्दावलीमें ही एकसे अधिक दिये हुए हैं जबकि उनके अर्थमें कोई अन्तर नहीं, कुछ शब्द उस शब्दावलीमें मिलते ही नहीं। अस्तु। इस संबंधमें लेखकोंका यह सुझाव बहुत उपयुक्त है कि “बैंकिंग शब्दावलीमें एकरूपताके लिए अलगसे एक समिति बनायी जाये जिसमें बैंकिंग, अर्थ-शास्त्र, वाणिज्य आदि विषयोंके विद्वानोंके अलावा भाषाविदोंको भी शामिल किया जाये (पृ. ३६)।”

पुस्तकमें कुछ कमियाँ भी रह गयी हैं। “प्रवेश” शीर्षक प्रथम अध्यायमें “बैंकिंग पारिभाषिक शब्दावली से संबद्ध कुछ मुख्य प्रकाशनों” (पृ. ११) की चर्चा में न्यू बैंक आफ इंडिया, यूनियन बैंक आफ इंडिया, सेंट्रल बैंक आफ इंडिया की शब्दावलियोंका तो उल्लेख किया गया है जबकि वे भारतीय रिजर्व बैंक की शब्दावली प्रकाशित होनेके बाद उसीके आधार पर तैयार की गयीं,

पर भारतीय स्टेट बैंक की बैंकिंग शब्दावलीका कोई उल्लेख नहीं किया गया जबकि वह इस बिशामें वस्तुतः पहला प्रयास था और भारतीय रिजर्व बैंकने भी अपनी शब्दावलीका विकास करनेमें उसका उपयोग किया। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण बैंकिंग जगत् में केवल भारतीय स्टेट बैंकने ही असमीया, बंगला, कन्नड़, तमिल, तेलुगु आदि विभिन्न भारतीय भाषाओंकी भी बैंकिंग शब्दावलियाँ तैयार कीं। साथही जनसम्पर्कमें आनेवाले सभी फार्म आदि स्थानीय भाषा, हिंदी और अंग्रेजीमें त्रिभाषी तैयार किये। अतः हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओंमें बैंकिंग शब्दावलीका विकास करनेमें भारतीय स्टेट बैंकके योगदानकी चर्चा अवश्य करनी चाहिये थी। पुस्तकमें एक अन्तर्विरोध भी रह गया है जो संभवतः दो लेखकोंकी निजी मान्यताओंका परिणाम है। एक स्थान पर तो कागज, दुकान आदिके बहुवचन रूप कागजों, दुकानों आदिके बजाय कागजात, दुकानात आदि अपनानेकी सलाह दी गयी है (पृ. ४६) जबकि दूसरे स्थान पर बैंक, एजेंसी जैसे शब्दोंके बहुवचन रूप बैंकों, एजेंसियों आदिको शुद्ध बताया गया है (पृ. ६७-६८)। वस्तुतः यह दूसरा मतही ठीक है क्योंकि जो हिंदीमें विदेशी शब्द लिये गये हैं उनका प्रातिपदिक प्रथम रूपही स्वीकार किया गया है। उनके विभिन्न रूप हिंदी व्याकरणके आधार पर ही बनाये जाते हैं। अमीर, गरीब, शायर आदिके बहुवचन उमरा, गुर्बा, शोअरा नहीं, अमीरों, गरीबों, शायरों आदिही स्वीकृत हैं। अनुवादकी अशुद्धियाँ बताते हुए या किसी कामकी प्रशंसा करते हुए दो स्थानों पर दो बैंकोंके नामका उल्लेख किया गया है (पृ. ६६ तथा १४६)। इससे वचना चाहिये या क्योंकि किसी बैंककी प्रशंसा या निन्दा करना प्रयोजन नहीं था। फिर इस प्रकारके उदाहरण दूसरे बैंकोंमें भी बहुतायतसे मिल सकते हैं। एक स्थान पर अंग्रेजीको “सह-राजभाषा” लिखा है (पृ. ८६)। अंग्रेजीके लिए इस शब्दका प्रयोग सभी लोग करने लगे हैं। शिक्षा आयोग १९६४-६६ तक ने भी इस शब्दका प्रयोग किया था; पर वास्तविकता यह है कि व्यवहारमें भलेही अंग्रेजीही “सह” नहीं, मुख्य, राजभाषा हो, कानूनी दृष्टिसे उसे “सह-राजभाषा” घोषित नहीं किया गया है।

पुस्तकके संबंधमें यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अनुवाद कार्यसे जुड़े सभी व्यक्ति इसे समान रूपसे अत्यंत उपयोगी पायेंगे, फिर चाहे वे अनु-



वाद करनेवाले हों, उसकी जांच करनेवाले हों, या फिर उसके पाठकही हों। ऐसी उपयोगी कृतिकी रचना करनेके लिए हम लेखकोंके आभारी हैं। पुस्तकके प्रथम यशस्वी लेखक डॉ. तिवारी अब इस लोकमें नहीं हैं, पर सैद्धान्तिक और अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञानके क्षेत्रमें हिन्दीकी जितनी सेवा वे अपने जीवनकालमें कर गये, उतनी विरले लोगही कर पातेहैं। समीक्ष्य पुस्तकके लिए केवल हिन्दी अधिकारीही नहीं, वैकिंग जगत् उनका ऋणी रहेगा। प्रकाशकने पुस्तकको सुरुचिपूर्ण ढंगसे आकर्षक साज-सज्जाके साथ प्रस्तुत किया है।

हां, एक बात अखरती है। पुस्तकके प्रारंभमें “दो शब्द” के अन्तर्गत डॉ. तिवारीने एक तीसरे सहयोगी लेखक श्री रामदास धुर्वेका भी उल्लेख किया है। पुस्तक के अन्तमें दिये लेखक-परिचयमें भी उनका समावेश किया है, पर मुखपृष्ठपर उनका उल्लेख नहीं है। यदि यह मुद्रणकी भूल है तो अक्षम्य है। यदि वे लेखक नहीं, केवल सहयोगी हैं तो “लेखक परिचय” में उन्हें सम्मिलित करनेकी उदारता नहीं बरतनी चाहिये थी। □

## श्रीअरविन्द साहित्य

### चिकित्सा?

[श्रीअरविन्द और श्री मांके विचारोंका संकलन]

सम्पादक : अम्बालाल पुराणी

समीक्षक : सोम चैतन्य

सूरत (गुजरात) में जन्मे श्री अम्बालाल बालकृष्ण पुराणी (१८९४-१९५० ई.) भारतीय संग्रामके क्रांतिकारी नेता और श्रीअरविन्द साहित्य, दर्शन, योग एवं वेदके मर्मज्ञ विद्वान् व्याख्याता और सिद्धहस्त लेखक थे। वे सन् १९२३ ई. में योगसाधनाके लिए अपने जीवनको समर्पित करके श्रीअरविन्द-आश्रम पाण्डिचेरीमें स्थायी-रूपसे निवास करने आगयेथे। उन्होंने सन्ध्या-कालीन बैठकोंमें श्रीअरविन्दके साथ नानाविषयोंपर होनेवाले बीस वर्षोंके (सन् १९२३ से १९४३ ई.) के वार्त्तालापोंका संक्षिप्त प्रामाणिक विवरण ‘ईवनिंग टॉक्स विद श्रीअरविन्द’ नामक ग्रंथमें प्रकाशित किया है। इसी ग्रंथके “ऑन मेडिसिन” नामक अध्यायका हिन्दी अनुवाद यह ‘चिकित्सा’ नामक लघु पुस्तक है। यद्यपि

उक्त ग्रंथके अन्य भागोंमें भी विभिन्न रोगों तथा उनकी चिकित्साके विषयमें पर्याप्त गहन चिन्तनपूर्ण मूल्यवान् जानकारी उपलब्ध है, परन्तु उस अमूल्य जानकारीको इस पुस्तकमें समाहित करनेका प्रयत्न नहीं किया गया। इसके बदले इस पुस्तकके सम्पादकने इसके अन्तिम चार पृष्ठोंमें ‘माताजीसे बातचीत’ नामक ग्रन्थसे चिकित्सा विषयक विचारोंको लेकर संयोजित कर दिया है।

इस पुस्तकमें रोगके आधिभौतिक एवं आधिमानसिक कारणोंकी मीमांसा करनेके साथ-साथ विश्वमें प्रचलित एलोपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेद, यूनानी, आत्म-सुझाव, एक्यूपंकचर, बौद्धध्यान पद्धति, स्पर्श-प्रभाव, योगशक्तिप्रेषण, मंत्र, झाड़ू-फूंक आदि अनेक प्रकारकी चिकित्सा पद्धतियोंकी तर्कसंगत विवेचना करके उनकी प्रभावकारिताके मूलस्रोतको समझने और समझानेका प्रयत्न किया गया है। क्षय और कैंसरके रोगके विषयमें यह विचार प्रकट किया गया है कि इन रोगोंका मूल अन्तश्चेतनाके अवसाद तथा विघटनमें है। इन रोगोंको चेतना और व्यक्तित्वकी सत्ताके विभिन्न अंगोंमें संतुलन तथा सामञ्जस्यकी स्थापना करके एवं उच्चतर शक्तिके अवतरणको ग्राह्य और कार्यशील बनाकर दूर किया जा सकता है। प्रबल श्रद्धा, दृढ़ संकल्प, अटलविश्वास तथा

१. प्रका. : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५-००२। पृष्ठ : ६२; का.; मूल्य : ५.०० रु।



आत्मबलके द्वारा भी शरीर, प्राण और मनके क्षेत्रसे विकृतियोंको दूर करके उनमें शान्ति स्थापित की जा सकती है। शरीरके रुग्ण भागमें प्राण-ऊर्जाको अधिक मात्रामें प्रेषित करके नीरोग हुआ जा सकता है। वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान अभी सच्चे अर्थोंमें विज्ञान नहीं बन पाया है, क्योंकि रोगोंके निदान और चिकित्साके विषयमें इसकी धारणाएं प्रायः बदलती रहती हैं, चिकित्सामें अटकलबाजी अधिक रहती है।

इस पुस्तकमें उपर्युक्त विषयोंके अतिरिक्त परमाणु, प्राणायाम, प्राणशक्ति, निद्रा, स्वप्न, मृतव्यक्तिके दर्शन मृत्युपर विजय योगियोंके चमत्कार, भूत-बाधा, धातुओं की संजीवता, योगसाधक दम्पतीमें कामरति-संबंध आदि विषयोंपर भी गम्भीर चर्चा सार्थक रूपमें की गयी है।

इन वार्तालापोंमें श्रीअरविन्दके व्यापक, गम्भीर-और समृद्ध बौद्धिक ज्ञानके अनेक आयामों, प्रखर मेधा सूक्ष्म विश्लेषण, तथ्यपरक तुलनात्मक विवेचन सूक्ष्म जगत्का प्रामाणिक अनुभव तथा समर्थ अभिव्यंजनाकी अद्भुत क्षमताके दर्शन होते हैं। वे प्रत्येक बातकी तथ्यता को युक्ति, तर्क, प्रयोग, अनुभव और परीक्षणकी कसौटी पर परखते हैं।

इस पुस्तकके अनुवादमें प्रमादभरी भूलों और विसंगतियोंके दर्शन अनेक स्थलोंपर होते हैं जो इसकी प्रामाणिकतापर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। Auto Suggestion के दो भिन्न अनुवाद मिलते हैं—आत्म-सुझाव (पृ. ६) तथा आत्म सम्मोहन (पृ. २०)। Black force का अनुवाद 'कालीशक्ति' (पृ. ५३) तथा Alliancesor Axis का अनुवाद 'मैत्री माधुरी' (पृ. ५०) सही नहीं है। 'दिमागके पुर्जे ढीले होना' का मुहावरा लोकमें प्रचलित है, परन्तु अंग्रेजी मुहावरेका शाब्दिक अनुवाद 'दिमागके कील-कांटे ढीले होना' (पृ. ४) नहीं। पृ. ५ पर चौथी एवं सातवीं पंक्तिमें Strong imagination वाक्य खण्ड में strong शब्द के दो भिन्न अनुवाद मिलते हैं—'बहुत' और 'प्रबल'। पृ. ६ की तीरी पंक्ति में Mental diseases का अनुवाद 'मानसिक रोगों' के स्थान पर 'मानसिक निचारों' मिलता है, जिससे अनर्थ हो गया है। पृष्ठ ७ का प्रारंभ ५-७-१९२४ के वार्तालापसे सम्बन्धित है, जिसमें तारीखको और वार्तालापके प्रारम्भिक अंशको छोड़ दिया गया है। यह प्रसंग डॉ. अब्राहमकी चिकित्सा-पद्धतिकी विवेचना

का है। प्रारंभिक अंशको छोड़ देनेसे संदर्भ-ज्ञानके अभावमें श्रीअरविन्दके कथनका अनूदित अंश अबूझ रह जाता है। इस लघु-पुस्तकके प्रारंभके कुछ पृष्ठोंके अनुवाद तो अत्यन्त लापरवाही एवं उत्तरदायित्व हीन ढंगसे किये गये हैं। मूल ग्रन्थको सामने रखे बिना उनके तात्पर्यको ठीक-ठीक सही रूपमें नहीं जाना जा सकता। पुस्तकके शेष भागमें भी अनुवादके सिद्धान्तों और प्रक्रियाओंकी प्रायः उपेक्षा ही की गयी है।

आशा है इस उपयोगी पुस्तकका अगले संस्करणमें सभी त्रुटियोंको दूर करके सम्पूर्ण अनुवादका भलीभांति संशोधन करनेके बादही प्रकाशित किया जायेगा। हम यह भी अपेक्षा करेंगे कि उसमें 'ईविनिंग टॉक्स' में उपलब्ध एवं रोग चिकित्सा विषयका सम्पूर्ण सामग्रीका संकलन विषय-क्रमके अनुसार किया जाये। □

## ‘प्रकर’ का प्रकाशन संबंधी विवरण

फार्म ४ [नितम ८]

प्रकाशन स्थान	ए-८/४२, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७
प्रकाशन अवधि	प्रति मास
मुद्रक/ प्रकाशक/ सम्पादक	विद्यासागर विद्यालंकार
नागरिक	भारतीय
पता	ए-८/४२, राणा प्रताप बाग
स्वामित्व	विद्यासागर विद्यालंकार

मैं, विद्यासागर विद्यालंकार, घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

२८.१.६०

—विद्यासागर विद्यालंकार



वाराणसी

साहित्य अकादमी

विज्ञान कला उद्योग व्यापार

समाज शास्त्र साहित्य

वाराणसी



## प्रस्तुत अंकके लेखक-समीक्षक

- ☐ प्रा. अशोक भाटिया, ५५/१३, एक्सटेंशन एस्टेट, करनाल—१३२००१.
- ☐ डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, इमैरिटस प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे (महाराष्ट्र)—४११००७.
- ☐ डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी, काजी गली रामपुर (उ. प्र.)—२४४६०१.
- ☐ डॉ. कुन्दनलाल उमैती, ८/११ हरिनगर, अलीगढ़ (उ. प्र.)—२०२००१.
- ☐ डॉ. कृष्णकुमार, मिश्रा गार्डन, हनुमान गढ़ी कनखल (उ. प्र.)—२४६४०८.
- ☐ डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त, १८६/१२, आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)—२५१००१.
- ☐ डॉ. जमनालाल बायती, प्रवाचक, शिक्षाशास्त्र, डॉ. राधाकृष्णन् उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान, बीकानेर (राज.)—३३४००१.
- ☐ डॉ. तालकेश्वर सिंह, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)—८२४२३४.
- ☐ डॉ. तेजपाल चौधरी, ५६, रामदास कालोनी, जलगाँव (महाराष्ट्र)—४२५००२.
- ☐ डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी, हरिहर सिंह रोड, मोरावादी, रांची (बिहार)—८३४००८.
- ☐ डॉ. भामुदेव शुक्ल, ४३ गौर नगर, सागर (म. प्र.)—४७०००३.
- ☐ डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, २१ जी मेकर गार्डन, लिडो-जुहू, सान्ताक्रुज (पश्चिम), बम्बई—४०००४०.
- ☐ श्री राजपाल शर्मा, द्वारा प्रो. मधुरेश, ब्रह्मानन्द पाण्डेयका मकान, मांजी टोला, वदायू—२४३६०१.
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषानगर, केसरसिंह पुरा औरंगाबाद (महाराष्ट्र)—४३१००५.
- ☐ डॉ. रामदेव शुक्ल, पैडलेगंज, गोरखपुर (उ. प्र.)—२७३००६.
- ☐ डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, पाठक भवन, वैल्वेडेयर कम्पाउंड, नैर्नाताल (उ. प्र.)—२६३००१.
- ☐ डॉ. विद्या केशव चिटको, ८ 'यमाई' अक्षर को. सोसायटी, समर्थनगर, नाशिक—४२२००५.
- ☐ डॉ. वं.रेन्द्र सिंह, ५५ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज.)—३०२००४.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

- |  |   |
|--|---|
| <input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)                            | ५.०० रु.                                  |
| <input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :         | ६०.०० रु.; व्यक्तिगत ५०.०० रु.            |
| <input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता :                                   | संस्था : ७५१.०० रु.; व्यक्ति : ५०१.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) :        | पाकिस्तान, श्रीलंका १२०.०० रु.            |
| अन्य देश :   | १८५.०० रु.                                |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्ष के लिए) :        | ३१०.०० रु.                                |
| <input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें. |   |

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



**प्रक्रम**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षा मासिक]

वर्ष : २२

अंक : ४

वैशाख : २०४७ [विक्रमाब्द]

अप्रैल : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां**

मत-अभिमत	२	
स्वर : विसंवादो	३	वि. सा. विद्यालंकार
वर्तमान राजनीतिका आधुनिक भूत : 'साम्प्रदायिकता'		
आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार (३ ख)	५	डॉ. राजमल बोरा
द्रविड़ परिवार और प्राकृत भाषाएं (२)		
प्राकृत ऋषिभाषित	१३	डॉ. कृष्णकुमार
इसिभासिआइं सूताइं — सम्पादक : महोपाध्याय विनयसागर		
स्मृतिसे दृष्टि तक	१५	१. डॉ. तालकेश्वर सिंह
डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण — सम्पादक : मारुतिनन्दन पाठक		२. डॉ. विद्याकेशव चिटको
अमृतस्य कन्या — शीला कड़कीआ	१६	डॉ. जमनालाल बायती
आलोचना		
सर्जकका मन — नन्दकिशोर आचार्य	२०	डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित
हिन्दी कविताकी प्रकृति — डॉ. हरदयाल	२२	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
नयी कविताकी भूमिका — अंजनीकुमार	२४	डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी
साहित्य संस्था : संरचना और प्रकार्य — डॉ. दिश्वरदयाल गुप्त	२५	डॉ. रामदेव शुक्ल
उपन्यास		
धीरे रम्भीरे — गोविन्द मिश्र	२७	राजपाल शर्मा
काला कोलाज — कृष्णवलदेव वैद	२९	डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त
कहानी		
तपती धरतीका पेड़ — सम्पा. हेतु भारद्वाज	३१	डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी
आसमानी हाथ — एन. सी. शील	३३	डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती
घर लौटते कदम — (लघुकथाएं) रामनिवास मानव	३५	डॉ. तेजपाल चौधरी
उदाहरण — " विक्रम सोनी	३६	प्रा. अशोक भाटिया
काव्य		
खोजो तो देटी पापा कहाँ हैं — ध्रुव शुक्ल	३७	डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित
खामोश हूँ मैं — भगवतशरण अग्रवाल	३८	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
ब्रजी कवि-बन्दन — डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'	३९	डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त
ब्रज लोकगीत — डॉ. हर्षनन्दिनी भाटिया	४१	डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ
नाटक		
कल विल्लीकी बारी है — श्रवणकुमार गोस्वामी	४४	डॉ. भानुदेव शुक्ल
विविध		
कीमिया — आचार्य चतुरसेन शास्त्री	४५	डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री
भोजनके द्वारा चिकित्सा — डॉ. गणेशनारायण चौहान	४६	डॉ. जमनालाल बायती
क्या खाये और क्यों — "	४६	"

'प्रकर'—वैशाख '२०४७—१



# मत-अभिमत

## □ सहज सरल व्यावहारिक हिन्दी का विकास

आपके सम्पादकीय 'देशके अराष्ट्रीय तत्त्वों की मनोवृत्तिकी कलई खोलते रहते हैं'—इसके लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें। 'प्रकर' (फर. १०) का सम्पादकीय पढ़कर मन प्रसन्न हुआ।

हिन्दी भाषाके सरलीकरणके समर्थनमें जो अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दोंकी भरमार कीजा रही है और जो भारतीय संस्कृतिकी संवाहिका हिन्दी भाषाके स्वरूपको विकृत किया जा रहा है, उसकी ओर आपने निश्चित रूपेण इस अंकके सम्पादकीयमें अभिनन्दनीय विसंवादी स्वरका उद्घोष किया है। "विद्यालंकारो विजयतेतराम्।"

प्रथम अराष्ट्रीयता तो यही थी कि 'राष्ट्रभाषा' के स्थानपर हिन्दीको 'राजभाषा' बनाया गया, फिर अष्टम अनुसूचीमें अंग्रेजी सहित १५ भाषाओंको राष्ट्रभाषा घोषित किया गया। 'राष्ट्रभाषा' और 'राष्ट्रीय भाषा' के अर्थकी अवधारणाही हमारी सरकारने बदल डाली। अब भारतीय अंग्रेजीने नयी चाल चर्ल है।

भारतके कुछ लोग सरलीकरणके लिए डंका पीटकर हिन्दीको मिटाना चाहते हैं। आपने जो बात इस अंकमें कही है, वही बात मैं पिछले आठ-दस सालोंसे कहता आ रहा हूँ। प्रसन्न-खुश, भोजन-खाना, रोगी-बीमार, रिक्तहस्त-तिहीदस्त, नली-ट्यूब और प्रकाश-लाइट जैसे युग्मोंमें वे प्रथम शब्दको कठिन मानते हैं, जबकि भारतीय प्रादेशिक भाषाओंके लोग प्रथमको ही अधिक समझते हैं।

—डॉ. श्रम्वप्रसाद 'सुमन', ए-८७ विवेक-

नगर दिल्ली रोड, सहारनपुर-२४६००१.

जनवरी-फरवरी १९९० के सम्पादकीय मर्मस्पर्षी रहे हैं। अब यह इंगित कीजिये समस्यासे जूझा कैसे जाये। आप स्वीकार करें या नहीं हिन्दीका हिन्दूसे गठजोड़ पुराना है विशेषकर उत्तर भारत (मध्यदेश) के नागरिकोंका। हिन्दूकी मानसिकता दिनोंदिन विपथगामी होती जा रही है। वह हीनताके भावसे ग्रस्त है और अपने संस्कारोंको हेय समझकर उनकी उपेक्षा और दूसरोंके तौर-तरीकोंको उपादेय मानकर उनकी पूजा

'प्रकर'—अप्रैल'९०—२

और नकल करनेपर उतर आया है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें यह परिवर्तन दृष्टिगोचर है।

—डॉ. हरिश्चन्द्र, 'संस्मृति', बी-११४६,

इन्दिरानगर, लखनऊ—२२६०१६.

'प्रकर' के फर. अंकमें 'स्वर-विसंवादी' के अन्तर्गत बहुत सच्ची-खरी बातें कही हैं। हिन्दीकी सरलता (तथा-कथित) को लेकर विवाद खड़ा करनेवालोंकी मानसिकताको आपने ठीक-ठीक उघाड़ा है। हमारे सबसे समर्थ लेखकोंकी 'हिन्दी' अपने आप सर्जनात्मक प्रमाण है। वास्तविक हिन्दी क्या है, क्या हो सकती है, क्या होनी चाहिये, इसका। इस प्रमाणको अनदेखा करके 'सरलीकरण' के ये सारे दायित्वहीन उपक्रम जिस कुण्ठित और विकृत मानसिकतासे उपजते हैं, उसे रेखांकित करके आपने उचितही किया है। ऐसा भी नहीं है कि इन पुण्यात्माओंके लिए जैनेन्द्रजी ही सरल हिन्दीके आदर्श हो। उनसे कोई प्रेरणा नहीं लीगयी।

—डॉ. रमेशचन्द्र शाह, ३/२ प्रोफेसर्स,

कालोनी, विद्याविहार, भोपाल-४८२००२.

## □ आर्य और द्रविड़ भाषा परिवार

डॉ. राजमल बोराकी लेखमाला भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्यमें एकदम नया प्रकाश डालनेवाली सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। तेलुगुके प्रसिद्ध कवि पेद्दन्ना (१६वीं शती) ने कहाथा कि संस्कृत समस्त भाषाओंके लिए जननी है। डॉ. बोरा बधाईके पात्र हैं।

—डॉ. भीमसेन निर्मल, १-१-४०५/७/१,

गांधीनगर, हैदराबाद (अं. प्र.)-५००३८०,

डॉ. राजमल बोराका लेख उपयोगी लगा। दक्षिण भारतीय भाषाओंके संस्कृतसे सम्बन्धके बारेमें जो कुछ उन्होंने कहा है, ठीक लगता है। इस प्रसंगमें मुझे श्री अरविन्द द्वारा उनके 'आनंद वेदाज' नामक ग्रन्थमें व्यक्त किये गये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण लगे थे। इसमें संदेह नहीं कि मिशनरी विद्वानोंने भारतीय भाषा साहित्योंकी जन-जातियोंको लेकर जोभी कार्य किया है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो आरम्भदूषित लगने लगा है।

—डॉ. रमेशचन्द्र शाह



## वर्तमान राजनीतिका आधुनिक भूत : 'साम्प्रदायिकता'

**भा**रतीय राजनीतिमें 'साम्प्रदायिकता' शब्द देशकी राजनीतिपर एक आधुनिक भूतकी भाँति सवार है। इसे उतारनेके जितने प्रयत्न किये जातेहैं, यह उतनीही शक्तिके साथ राजनीतिसे चिपक जाताहै। रोचक स्थिति यह है कि जनसाधारण तो इससे अभिभूत नहीं है, परन्तु विदेशोंसे आयातित 'धर्मनिरपेक्षता' का पग-पग पर प्रदर्शन करनेवाले जब जनसाधारणको इसपर ध्यान देते हुए नहीं पाते तो नगाड़ोंपर चोटपर चोट कर बतातेहैं कि किस प्रकार 'साम्प्रदायिकता' उनसे चिपककर उनका खून चूस रहीहै और उन्हें रक्तहीन और निर्जीव बनाकर देशको पतनके गर्तकी ओर धकेल रहीहै। देशके जीवनका एकभी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसे वे साम्प्रदायिकताके विषाणुओं से आक्रान्त न पातेहों। अपने-अपने क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलनेवाले उत्तर भारतके जिन खण्डोंने हिन्दीको मातृभाषाका स्थान प्रदान कर रखाहै, और अबतककी प्रशासनिक नीतियों के इन क्षेत्रोंको 'हिन्दीके आक्रमणसे मुक्त' रखाहै और डंकेकी चोटके साथ कहते रहेहैं कि हिन्दी किसीपर लादी नहीं जायेगी, तो उसकी प्रतिक्रियाके कारण नयी राजनीतिक परिस्थितियोंमें अपनेही क्षेत्रमें हिन्दीको प्रचलित करने, प्रशासनिक और शिक्षाके क्षेत्रोंमें उसका उचित स्थान देनेकी नयी राजनीतिक घोषणाओंसे इतने उद्विग्न हो उठेहैं कि अब वह 'साम्प्रदायिकता का भूत' उन्हें अपनी आँखोंके सामने नग्न नृत्य करता दिखायी देने लगाहै और इसे वे 'धर्मनिरपेक्षता' के लिए संकट घोषित करने लगेहैं। उनका फतवा है कि यह अपसंवेदन — एलर्जी — है।

इंडिशवर्गके प्रबुद्ध इंडिश समाचारपत्र 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का कहनाहै : "इंग्लिशके प्रति अपसंवेदनसे प्रेरित होकर उत्तरप्रदेशके मुख्यमंत्री श्री मुलायमसिंह यादवने सभी कार्योंमें इसके प्रयोगपर प्रतिबन्ध लगाकर उसके स्थानपर हिन्दीके प्रयोगके आदेश दियेहैं।" यदि देशपर इंडिश लादे रखनेवाले अपना आक्रोश इतने तक सीमित रखते तो इसपर बहुत ध्यान

देनेकी आवश्यकता न होती। परन्तु चौकानेवाली बात है ईसाई मिशनरियोंकी धार्मिक-साम्प्रदायिक और विदेशी भाषाकी संलग्नताकी भावनाओंको भड़काने और अल्पसंख्यकोंके अपनी संस्थाएं चलानेकी स्वतंत्रता प्रदान करनेकी संवैधानिक व्यवस्थाके रंगीन झुनझुनेकी ओर ध्यान खींचनेकी, 'क्योंकि उत्तरप्रदेशमें लगभग छः सौ अंग्रेजी माध्यमके स्कूल इन ईसाई मिशनरियों (एक कोश में मिशनरीका अर्थ दिया गया है : अपराधियोंकी और से पैरवी करनेवाले लोग) द्वारा चलाये जा रहेहैं। इस इंडिश पत्रका दावा है कि एकही दिनमें अंग्रेजीको हटा देनेसे प्रशासनिक व्यवस्था फँस जायेगी क्योंकि हिन्दी सामग्री या तो हैहीं नहीं अथवा अपर्याप्त है।' स्पष्ट रूपसे इस इंडिश पत्रका यह सम्पादकीय लिखनेवाला व्यक्ति न तो इस तथ्यसे परिचित है कि इन शर्तोंके प्रारम्भसे प्रशासन और शिक्षामें प्रशासनिक स्थान लेनेके लिए किस प्रकार हिन्दीको प्रथम सार्वजनिक प्रयत्नों द्वारा तैयार किया जुता रहाहै और बादमें हिन्दीको प्रशासनिक और वैज्ञानिक स्तरपर लानेके लिए करोड़ों रुपये खर्च किये गयेहैं। वह इन तथ्योंको भी नहीं देखना चाहताहै कि किस प्रकार इन प्रयत्नोंको नकारा गयाहै और उनके विरुद्ध किस प्रकार अधिकारी वर्ग और ब्यूरोक्रैटोंने तथा स्वयं उनके इंडिश वर्ग और इंडिश समाचार-पत्रोंने कितनी बाधा पहुँचायी है, और उन प्रयत्नोंके विरुद्ध वातावरण तैयार कियाहै, किस प्रकार करोड़ों रुपये व्यय करनेके बादभी उस सारी राशिको नालियोंमें बहा देनेका प्रयास किया गयाहै। सम्पादकीय लेखकों अल्पसंख्यकोंके लिए संवैधानिक व्यवस्थाका तो पूरा स्मरण है, परन्तु संविधान सभामें सर्वसम्मतिसे स्वीकृत 'हिन्दीको राजभाषा बनाने' और उसे व्यावहारिक रूप देने और सरकारको उसका दायित्व सौंपनेके लिए कीगयी व्यवस्थाओंकी ओरसे आँखें मूंदे रहनेमें भी वह उतनाही तत्पर है। संभवतः ईसाइयत साम्प्रदायिकता और भाषावादके भूतसे अभि



भूत होकर वह कुतर्क उगल रहा है। यह है अपसंवेदना, इंडिशवालोंके शब्दोंमें हिन्दीके प्रति एलर्जी।

साम्प्रदायिक अपसंवेदनासे यह वर्ग कितना पीड़ित है, इसका एक उदाहरण अभी कुछ दिन पूर्व दिल्लीमें सामने आया जिसमें पुलिसकी गोलियोंसे अनेक लोगोंको अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ा। दिल्लीके निजामुद्दीन क्षेत्रमें श्मशानभूमि है जोकि दिल्ली प्रशासनसे प्राप्त कीगयी है। इसके एक भागपर एक कबाड़ी अपने सहधर्मियोंके सहयोगसे अधिकार जमाकर यह प्रचारित करने लगा कि यह वक्फकी जमीन है, और श्मशान भूमिमें आनेजानेवाले लोगों तथा वहाँके कर्मचारियोंको डराने-धमकाने लगा, परिणामस्वरूप वहाँ दंगा होगया। परन्तु इंडिश प्रबुद्ध वर्ग और हिन्दीमें प्रकाशित होने वाले उनके अनुवादित संस्करणोंने इसे साम्प्रदायिक दंगा घोषितकर श्मशान भूमिसे जुड़े लोगोंकी साम्प्रदायिकताके शीर्षकोंसे समाचारपत्र भर दिये।

अपसंवेदनाकी इस मानसिकतासे भारतीय राजनीति इतनी अधिक पीड़ित है कि वह स्वयं साम्प्रदायिकतामयी होगयी है। यदि इसे रोग मानकर उपचारके प्रयत्न किये जाते तो इससे मुक्ति पानेका मार्गभी निकल आता। परन्तु अपने इसी रोगसे भारतीय राजनीति इतनी अधिक मुग्ध है कि वह इस रोगसे मुक्ति पानेके स्थानपर अधिकाधिक साम्प्रदायिक मार्ग अपनाती है। कांग्रेस-युगमें इस रोगका प्रदर्शन किया जाता था, इसका प्रचार किया जाताथा, इसे पुण्यकार्य माना जाताथा। परन्तु कांग्रेसका स्थानापन्न शासन यह कार्य गुप्त-चुप परदेके पीछे करताहै, अपनी धर्मनिरपेक्षताका डंका निरन्तर बजाते हुए, साम्प्रदायिक तत्त्वोंको छाती से चिपकाये हुए और उनके पालन-पोषण और संवर्द्धन की पूरी व्यवस्था करके। देशके वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री विश्वनाथ प्रतापसिंहके जामा मस्जिदके शाही इमाम सैय्यद अब्दुल्ला बुखारीसे समझौतेके अन्तर्गत उग्र कट्टर-पंथियों—मौलाना ओवेदुल्ला खाँ आजमी और मोहम्मद अफजल खाँको राज्यसभामें स्थान दे दिया गया है। राज्य सभामें वे जो रुख अपनायेंगे वह तो भविष्यमें पता चलेगा, (वह भी शीघ्रही), परन्तु जनता दलके राज्य सभामें इन प्रतिनिधियोंके अतीतकी एक सामान्य-सी झलक साम्प्रदायिकतासे क्षत-विक्षत देशकी राजनीतिका, विशेषतः कांग्रेस-कल्चरसे जुड़े दलोंका एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करनेमें समर्थ है।

घोर रूढ़िवादी मौलाना आजमीके संबंधमें बताया

जाताहै कि वह आग उगलनेवाला मुस्लिम वक्ता है। जिसे एक सार्वजनिक भाषणके लिए ५००० रु. दिये जातेहैं। उसके विषयमन करनेवाले भाषणोंके कैसेट बिना कठिनाईके बाजारमें बिकतेहैं, जो मात्र साम्प्रदायिक विद्वेष फैलातेहैं। मुस्लिम श्रोताओंको मौलाना बतातेहैं कि उन्हें गुलाम बनानेके प्रयत्न कियेजा रहेहैं, उन्हें इस्लामकी रक्षाके लिए जंग-ए-बद्र से जंग-ए-कबला मजहबीयुद्ध लड़नेवाले मुस्लिम योद्धाओंका रास्ता अपनाना चाहिये। ..... “सियासतका इस्तेमाल हम मजहबके लिए करेंगे, सियासतका इस्तेमाल हम मिल्लतके लिए करेंगे।”... “हम देशके विधि-विधानोंका तभीतक पालन करेंगे जबतक हमारे हितोंकी रक्षा होतीहै।”... “हम किसी न्यायालयके निर्णयसे बंधे नहीं हैं यदि वे मुस्लिम निजी कानूनोंकी चुनौती देतेहैं (उसे भी हम जूतेकी नोकपर रख देंगे)। हिन्दुओंकी मृत परम्पराओं के विरुद्ध खूब बरसतेहैं जैसे साँप निकल जानेके बाद लकीर पीट रहेहों। शवोंके माध्यमसे हिन्दुओंका उपहास करते हुए अपने अनुयायियोंको बतातेहैं कि मुसलमान अधिक अच्छे राष्ट्रवादी हैं क्योंकि “हिन्दुओंके शव गंगामें फेंक दिये जातेहैं और वे बहकर पाकिस्तान पहुंच जातेहैं।” जबकि मुसलमान अपनीही मातृभूमि हिन्दुस्तानमें दफनाये जातेहैं। अपनी घोर रूढ़िवादिता के कारण वे भूल जातेहैं कि हिन्दू भूमि, जल, ऊर्जा आदि सभी शक्तियोंकी अर्चना करताहै, इसलिए न केवल अपने जीवन कालमें वह साष्टांग दण्डवत करते हुए तीर्थयात्रा द्वारा भूमि अर्चना करताहैं, बल्कि मरणोपरान्त अपना शरीर या अपनी भस्म और अस्थियाँ जल (वरुण) देवताको अर्पितकर जीवनमें प्राप्त वरदानों का प्रत्यार्पण करताहै, भूमि-जलके अंश-अंशमें अपना अंश-अंश समाहित कर देताहै जिससे वह उन्हींका अंश-भूत होकर पुनः भूमिपर प्रत्यावर्तित हो, इसीको वह अपना पुनर्जन्म मानताहै, मरणोपरान्तभी वह यह भूलता नहीं कि पाकिस्तान उसके देशका अंग है, उसके देशका अंगच्छेद कर देनेसे वह अपनी प्राकृत भूमिसे कटा नहीं है, इसलिए उसके स्पर्शके लिए, उसके नमनके लिए उसकी भारत देशसे अविच्छन्नताके लिए अपना शरीर, अपनी भस्म, अपनी अस्थियाँ गंगाके माध्यमसे वहाँ पहुंचानेकी व्यवस्था करताहै। फिर महासागरकी जल राशिमें लीन होकर सम्पूर्ण मानव-सागरका अंश हो जाताहै। मौलानाको संभवतः इसीपर आपत्ति है कि



# आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार (३)

## द्रविड़ परिवार और प्राकृत भाषाएं (२)

—डॉ. राजमल बोरा

६१. अशोकके कालमें प्राकृत भाषाके भौगोलिक विस्तारको देखते हुए यह कहना पड़ता है कि प्राकृत भाषा सीमित क्षेत्रकी भाषा नहीं रह गयी थी। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्मके प्रचार तथा प्रसारके कारण सुदूर दक्षिणमें भी उक्त भाषाका भौगोलिक विस्तार हो गया था। द्रविड़ परिवारके भौगोलिक क्षेत्रोंमें इसका विस्तार हो गया था। ई. पू. तीसरी शतीमें तमिल भाषाका स्वरूप स्पष्ट होनेके चिह्न मिलते हैं। द्रविड़ परिवारमें सबसे प्राचीन भाषा तमिलही है। तमिल क्षेत्रमें प्राकृत भाषा जैन-धर्म और बौद्ध-धर्मके कारण पहुंची है।

६२. डॉ. हीरालाल जैनने 'भारतीय संस्कृतिमें जैन धर्मका योगदान' पुस्तक लिखी है। उक्त पुस्तकमें दक्षिण भारतका विवरण भी है। वे लिखते हैं :—

“एक जैन परम्पराके अनुसार मौर्यकालमें जैनमुनि भद्रबाहुने चन्द्रगुप्त सम्राट्को प्रभावित किया था और वे राज्य त्यागकर, उन मुनिराजके साथ दक्षिणको गये थे। मैसूर प्रान्तके अन्तर्गत श्रवण बेलगोलामें अब भी उन्हींके नामसे एक पहाड़ी चन्द्रगिरि कहलाती है और उसपर वह गुफा भी बतलायी जाती है, जिसमें भद्रबाहुने तपस्या की थी, तथा राजा चन्द्रगुप्त उनके साथ अन्त तक रहे थे। इस प्रकार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके कालमें जैन धर्म का दक्षिण भारतमें प्रवेश माना जाता है। किन्तु बौद्धोंके पालि साहित्यान्तर्गत महावंशमें जो लंका के राजवंशोंका विवरण पाया जाता है, उसके अनुसार बुद्ध निर्वाणसे १०६ वर्ष पश्चात् पांडुकाभय राजाका अभिषेक हुआ और उन्होंने अपने राज्यके प्रारंभमें अनुराधापुरकी स्थापना की, जिसमें उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए अनेक निवास स्थान बनवाये। इस उल्लेखसे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि बुद्ध निर्वाण सं. १०६ वें वर्षमें भी लंकामें निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व था। लंकामें बौद्ध धर्मका प्रवेश अशोकके पुत्र महेन्द्र द्वारा बुद्ध

निर्वाणसे २३६ वर्ष पश्चात् हुआ कहा गया है। इसपर से लंकामें जैन धर्मका प्रचार, बौद्ध धर्मसे कमसे कम १३० वर्ष पूर्व हो चुका था, ऐसा सिद्ध होता है। संभवतः सिंहलमें जैन धर्म दक्षिण भारतमें से ही होता हुआ पहुंचा होगा। जिस समय उत्तर भारतमें १२ वर्षीय दुर्मिक्षके कारण भद्रबाहुने सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा विशाख मुनिसंघके साथ दक्षिणापथकी ओर विहार किया, तब वहांकी जनतामें जैन धर्मका प्रचार रहा होगा और इसी कारण भद्रबाहुको अपने संघका निर्वाह होनेका विश्वास हुआ होगा, ऐसा भी विद्वानोंका अनुमान है। चन्द्रगुप्तके प्रपौत्र सम्प्रति, एक जैन परम्परानुसार आचार्य सुहस्तिके शिष्य थे, और उन्होंने जैन धर्मका स्तूप, मन्दिर आदि निर्माण कराकर, देशभरमें उसी प्रकार प्रचार किया जिस प्रकार कि अशोकने बौद्ध धर्मका किया था। रामानन्द और त्रिन्नावलीकी गुफाओंमें ब्राह्मी लिपिके शिलालेख यद्यपि अस्पष्ट हैं, तथापि उनसे प्राचीनतम तमिल ग्रंथोंसे उस प्रदेशमें अति प्राचीन काल में जैन धर्मका प्रचार सिद्ध होता है। तमिल काव्य कुरल व तोल्काप्पियमपर जैन धर्मका प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।” १०

६३. जैन-धर्म और बौद्ध-धर्मके माध्यमसे जो भाषा सुदूर दक्षिणमें और श्रीलंकामें पहुंची है, वह प्राकृतही है। दक्षिण भारतकी—द्रविड़ परिवारकी—भाषाओं में उस समयमें तमिलकी (ई. पू. ३ शतीमें) पहचानके संकेत मिलते हैं। उस समयसे लेकर एक हजार वर्षोंका इतिहास—लगभग ८ वीं शतीतकका इतिहास, आज

१०. भारतीय संस्कृतिमें जैन धर्मका योगदान—डॉ. हीरालाल जैन। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल। प्रथम संस्करण १९६२, पुनर्मुद्रण १९७५ ई., पृ. ३५ तथा ३६।



भी खोजका विषय है। ऐसी स्थिति केवल दक्षिण भारतमें रही है, ऐसी बात नहीं, अपितु उत्तर भारतमें भी ऐसी स्थिति रही है। तमिल-तेलुगु-कन्नड़-मलयालम—इनके अलगवका ऐतिहासिक स्वरूप ठीक-ठीक जाननेकी आवश्यकता है। इन पूरी शताब्दियोंमें— ठीक आधुनिक रूपमें इन भाषाओंको स्वतंत्र रूप प्राप्त होने तक—भाषाओंका स्वरूप क्या रहा होगा, इस बातकी जाँच होनी चाहिये। उस समयमें आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार—जैसा कोई पारिवारिक भेद नहीं था। इन शताब्दियोंमें जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मका प्रचार-प्रसार दक्षिण भारतमें रहा है। और इस प्रचार-प्रसारमें प्राकृत भाषा भी—स्थानीय भाषाओंके साथ साथ—रही है। प्राकृत भाषासे स्थानीय भाषाएं प्रभावित हुई हैं और स्थानीय भाषाएं प्राकृत भाषाओंके सम्पर्कमें आयी हैं। संक्षेपमें ई. पू. दूसरी शतीसे ईसाकी ८ वीं शती तकके भाषा सम्बन्धी इतिहासको स्पष्ट करना आज भी आवश्यक है।

६४. महाराष्ट्रकी भाषा मराठी है। वह आर्य परिवारकी भाषा मानी गयी है। उक्त भाषा आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार—दोनोंके संगम-स्थलकी है। कहा जाता है कि मराठीका उद्भव प्राकृत भाषासे हुआ है। विश्वनाथ कार्शनाथ राजवाड़े यही मानते हैं, ११ राजवाड़ेकी तरह कुछ और विद्वान् भी [वैद्य, गुणे, तुळपुळे] इसी विचारधारके हैं। किन्तु नवीन विचारधारवाले भाषाविद् अब प्राकृतका मराठीके साथ सीधा सीधा सम्बन्ध माननेमें संकोच कर रहे हैं। इस सम्बन्धमें डॉ. मधुकर रामदास जोशीने अपनी पुस्तक 'मनोहर अम्बानगरी' में बहुत विस्तारसे लिखा है। उनके लेखनका निर्णय एक प्रकारसे यह है कि प्राकृत भाषासे मराठीका सम्बन्ध सीधा-सीधा नहीं है। मराठीका उद्भव वे शक संवत् ५५०

११. राजवाड़े लेख संग्रह—विश्वनाथ कार्शनाथ राजवाड़े, सं. तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, अनुवादक: वसन्तदेव। शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा। प्रथम संस्करण १९६४, पृ. १४३ से १५० तक देखिये।

१२. मनोहर अम्बानगरी, डॉ. मधुकर रामदास जोशी (मराठी पुस्तक)। हिन्दु धर्म-संस्कृति प्रकाशन, धंतोली, नागपुर, प्रथम संस्करण १९७१, पृ. १५ से १०० तक।

'प्रकर'—अप्रैल '९०—६

से ६०० तक मानते हैं। १२ सच तो यह है कि पारम्परिक रूपमें मराठीका सम्बन्ध प्राकृतसे माना गया है किन्तु उसके लिए उचित प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। इसका एक बड़ा कारण यह है कि संस्कृत तथा प्राकृतका सम्बन्ध ठीकसे स्पष्ट नहीं है और इसीलिए आधुनिक भाषाओंका सम्बन्ध संस्कृत तथा प्राकृतके साथ ऐतिहासिक क्रममें बतलानेमें कठिनाईका अनुभव होता है।

६५. भाषाओंके इतिहाससे सम्बन्धित पुस्तकें देख जाइये—फिर वह हिन्दी भाषाका इतिहास हो या तमिल भाषाका—दोनोंही प्रकारकी पुस्तकोंमें भाषाओंका सम्बन्ध संस्कृतके साथ तो बतलाया गया है किन्तु प्राकृतोंके साथ उनका सम्बन्ध रिक्त स्थानोंकी पूर्तिके रूपमें ही लिखा हुआ मिलेगा। ठीकसे क्रमको स्थापित रूपमें स्पष्ट नहीं किया गया है। भाषाओंके इतिहासमें प्राकृत भाषाकी स्थिति लगभग यही है।

६६. भारतवर्षकी भाषाओंके इतिहासमें प्राकृत भाषाकी स्थिति विशेष हो गयी है। बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्मके प्रार्चन ग्रंथोंमें वह भाषा आजभी जीवित है किन्तु व्यावहारिक रूपमें अब उसका उपयोग बोलचाल के रूपमें कहीं नहीं है। यों तो संस्कृत भाषाकी स्थिति भी बोलचालकी दृष्टिसे या उसके व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टिसे प्राकृतके समान होनेपर भी संस्कृतकी स्थिति 'इतिहास दोहराये जानेके रूपमें' है। अर्थात् संस्कृतके तत्सम रूप आज आधुनिक भाषाओंमें मिलते हैं किन्तु क्या प्राकृतके रूप इतिहास दोहराये जानेके रूपमें आधुनिक भाषाओंमें मिलते हैं क्या? इसका उत्तर खोजना पड़ेगा। प्राकृतोंके रूप एक तो पूरे रूपमें देशी भाषाओंमें बदल गये [आधुनिक भाषाओंके अंग होगये] हैं और उनकी अब स्वतंत्र पहचान बतलाना कठिन है। संस्कृतके रूपोंके प्राकृतके रूपोंमें परिणत बतलाये जा सकते हैं और इसी प्रकारके रूपोंका संस्कृतीकरण भी संभव है किन्तु ऐसी बात आधुनिक भाषाओंके साथ प्राकृत भाषाओंके साथ संगति बैठते हुए बतलाना कठिन है। इसीलिए यह कहना पड़ता है कि प्राकृत भाषाओंकी स्थिति भारतीय भाषाओंके इतिहास में विशेष है।

६७. लगभग सात आठ शताब्दियों तक [ई. पू. ३ री शतीसे छठी तकका इतिहास] का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। इन शताब्दियोंका इतिहास



अभिलेखों और अन्य प्रकारके पुरातात्विक आधारोंसे ही अधिक लिखा गया है। इन शताब्दियोंमें लोकभाषाएं—देशभाषाएं [जिन्होंने आधुनिक भाषाओंका रूप लिया] प्रचलित रही होंगी। बोलचाल और व्यवहारके रूपमें प्राकृत भाषा—इन्हीं दिनोंमें महाराष्ट्रमें रही होगी, ऐसा संभव नहीं लगता। महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषा वास्तवमें दो रूपोंमें प्रचलित रही है और वे हैं—धार्मिक रूपमें [बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म] और साहित्यिक रूपमें। मौर्योंके कालमें ही प्राकृत भाषा महाराष्ट्रमें पहुंच गयी थी और महाराष्ट्र में तो उसे साहित्यिक रूप प्राप्त हुआ। सातवाहन राजाओंके कालसे देवगिरिके यादव राजाओंके काल तक का भाषाओंका इतिहास स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। देवगिरिके यादव राजाओंके कालमें तो मराठी भाषाने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया था। उससे पूर्व चालुक्यों और चालुक्योंसे पूर्व राष्ट्रकूटोंके काल तक भाषाओं की स्थितिका विवेचन करना है। इसप्रकार विचार करनेपर हमें प्रश्नों का उत्तर मिल सकता है।

६८. सातवाहनोंके कालसे [ई. पू. एक शताब्दी] चालुक्योंके कालतक [बारहवीं शताब्दी तक] महाराष्ट्र में कौनसी भाषाएं प्रचलित रही हैं? लगभग हजार-ग्यारहसौ वर्षका काल है। सातवाहनोंके समयमें प्राकृत साहित्यिक रूपमें महाराष्ट्रमें प्रचलित थी। हालकी गाथा सप्तशती इसका प्रमाण है। सातवाहनों से राष्ट्रकूट तथा चालुक्य राजाओंतक का इतिहास जानना है। इनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रकूटोंका इतिहास जानना है।

६९. सच तो यह है कि ईसा पूर्वकी प्रथम शताब्दीसे लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके बीचमें संस्कृत भाषाका पुनरुत्थान हुआ है। भास, कालिदास, भवभूति, माघ, दण्डी प्रभृति अनेक प्रसिद्ध कवि तथा आचार्य इसी युगके हैं। वाकाटकों और गुप्त राजाओं के युगमें प्राकृत भाषाओंका महत्त्व कम हो गया था। उत्तरमें गुप्त राजा थे और दक्षिणमें वाकाटक थे। इनका आपसमें पारिवारिक सम्बन्ध भी था। इनके माध्यमसे महाराष्ट्र उत्तर भारतसे जुड़ा हुआ था। किन्तु वाकाटकोंके बादमें राष्ट्रकूट राजा प्रबल हुए। ऐसा लगता है कि राष्ट्रकूटोंके शासन कालमें उत्तर और दक्षिणकी [आर्य परिवार और दक्षिण परिवार की भाषाएं] भाषाएं अपना अपना अलग-अलग स्वरूप

स्पष्ट करने लगी थीं। मौर्य वंश या गुप्त-वाकाटक वंशके राजाओंके सम्बन्धमें जितना कार्य हुआ है, वैसा राष्ट्रकूट राजाओंपर कार्य नहीं हुआ। राष्ट्रकूट वंशपर एकमात्र पुस्तक अनंत सदाशिव अल्टेकर की मिलती है और वह भी अंग्रेजीमें और वह प्राथमिक कार्य है। हिन्दीभाषामें तो राष्ट्रकूट वंशपर लिखी एकभी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारकी भाषाओंको समझने-समझानेमें राष्ट्रकूट राजाओंका इतिहास जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

७०. बौद्ध-धर्म और-जैन-धर्म दोनोंके धार्मिक ग्रंथ प्राकृत भाषाओंमें है। इनमें हम देखते हैं कि बाद में जैन-धर्मने प्राकृतोंके साथ-साथ देशमें प्रचलित अन्य भाषाओंको अपनाया है। इस तुलनामें बौद्ध-धर्मने देशमें प्रचलित भाषाओंको तुलनात्मक रूपमें बहुत कम—नगण्य ही कहना चाहिये—अपनाया। भारतमें बौद्ध-धर्मके लुप्त हो जानेका एक कारण यह भी है कि बौद्ध-धर्म प्राकृत भाषाओंतक सीमित रह गया। एलोरा तथा अजंताकी बौद्ध-गुफाओंको देखकर मैं सोचता हूं कि जब इनका उपयोग होता होगा, उस समय इनमें बौद्ध भिक्षु वास करते होंगे, और वे निश्चित ही प्राकृत भाषाका (पालिका) व्यवहार करते होंगे। स्थानीय भाषाओंसे वे परिचित होंगे या नहीं? अनुमान है कि वे स्थानीय भाषाओंसे परिचित होंगे किन्तु उन्होंने स्थानीय भाषाओंमें कुछ भी लिखा नहीं। मराठीके आदिकालमें—यादवकालीन मराठीमें बौद्ध-धर्मपर एकभी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। मराठीके प्रोफेसर डॉ. यू. म. पठाण [प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद] को आश्चर्य है कि ऐसा क्यों है। बौद्धोंने मराठी भाषाको क्यों नहीं अपनाया? इस तुलनामें हम अनुभव करते हैं कि जैनियोंने [उत्तर भारतकी भाषाओं को छोड़ दें, उनमें तो जैनियोंके धार्मिक ग्रंथ मिलते ही हैं और दक्षिण भारतकी भाषाओंपर विचार करें तो] कन्नड़, तमिल आदि भाषाओंमें विपुल जैन साहित्य उसी कालका लिखा है।

७१. निश्चित ही महाराष्ट्रमें जिस समय एलेरा और अजंताकी गुफाओंका निर्माण हुआ, उस समय सातवाहनोंके बाद और वाकाटकों तथा राष्ट्रकूटोंके समय तक—(उसी समयमें ये गुफाएं बनी है) प्राकृत भाषा - बोलचाल तथा व्यवहारकी भाषा



नहीं थी। ठीक हिन्दू धर्मग्रन्थोंमें जैसे संस्कृत भाषाका व्यवहार होता है, वैसाही बौद्ध धर्ममें प्राकृत [पालि] भाषाका व्यवहार होता रहा होगा। उस समय मराठी भाषाके विविध रूप—अलग-अलग स्थानोंपर प्रचलित होंगे। यहां मराठी भाषाकी बात इसलिए की जा रही है कि इसके माध्यमसे आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारकी सीमाओंका विश्लेषण ऐतिहासिक आधार पर हो सकता है।

७२. देवगिरिमें यादव राजाओंका राज्य स्थापित होनेसे पूर्वही एलोराकी गुफाओंका निर्माण हो गया था। इन गुफाओंमें बौद्ध गुफाएं प्राचीन हैं और जैन गुफाएं सबसे अन्तमें बनी हैं। बीचमें हिन्दू धर्मोंकी गुफाएं हैं। गुफाएं अपने आप—ध्यानसे देखा जाये तो—भाषाओं को व्यक्त करती हैं। बौद्ध गुफाओंके समयमें प्राकृत भाषा अपने उन्नत कालमें रही। बादमें जब हिन्दू धर्मोंकी गुफाएं बनीं उस समय संस्कृत भाषा प्रबल हो गयी। और पुनः जब जैन-गुफाएं बनीं उस समय प्राकृत भाषाओंके साथ-साथ संस्कृत और स्थानीय भाषाओंका महत्त्व बढ़ता गया हो। वस्तुतः यह सब अभी खोज का विषय है। मैं केवल अनुमान कर रहा हूँ।

७३. राष्ट्रकूट राजाओंकी राजधानी पहले नाशिकके पास रही। बादमें वह एलोराके पासके गाँव एलापुर [इस गाँवका अस्तित्व अब नहीं है] में रही है। इसी गाँवके अवशेषोंमें सूलीभंजन स्थान वहांपर है। इसके बादमें वे दक्षिणमें मलखेड़ चले गये। मलखेड़ बीदर जिलेमें है। यह वह स्थान है, जो पहले निजामके राज्यके अन्तर्गत रहा। अब बीदर जिला कर्नाटक का भाग हो गया है। बीदर जिला ऐसा क्षेत्र है जिनमें तीन भाषाओंका संगम है। उत्तरकी ओर मराठी है। दक्षिण पश्चिममें कन्नड़ है और दक्षिण पूर्वमें तेलुगु है। ऐसे संगम स्थलपर राष्ट्रकूटोंकी राजधानी रही है। सम्भव है राष्ट्रकूटोंके समयमें भाषाओंका यह अलगाव देखनेमें न आया हो।

७४. राष्ट्रकूटोंके समयमें उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत दोनों एक प्रकारसे मिल गये थे। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव अनुपम एवं गोविंद तृतीयके समयमें ये संबंध चरम शिखरपर थे। उनके समय राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मलखेड़ नहीं थी। वे एलापुरमें थे और उनकी छावनी मयूरखंडीमें थी। वहींसे उत्तरभारतके अभियानोंपर जाना सरल था। उनके समयमें पूर्वमें पाल राजा

तथा पश्चिममें गुर्जर प्रतिहार राजा थे। दोनों शक्तियां आपसमें उत्तरमें टकराती रहती थीं। राष्ट्रकूट राजा उत्तरमें पहुंचकर दोनोंकी टकराहटका लाभ उठाते। इन तीनोंमें लगभग १५० वर्षों तक संघर्ष चलता रहा है। राष्ट्रकूट राजाओंने उत्तरमें राज्य स्थापित नहीं किया। बादमें उन्होंने दक्षिणको सुरक्षित स्थान माना और वे मलखेड़ चले गये। मलखेड़ चले जानेके बाद उनके प्रतिनिधिके रूपमें एलापुरमें यादव राजा रह गये। मलखेड़में सबसे अधिक राज्य अमोघवर्ष प्रथमने, ८१५ ई. से ८७८ ई. तक, लगभग ६३ वर्ष राज्य किया। वस्तुतः अमोघवर्ष प्रथमके शासनकालका पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है। वह गोविंद-तृतीयका पुत्र था। अमोघ वर्षके समयमें कर्नाटकमें जैन धर्मका प्रचार हुआ है। राष्ट्रकूटोंके उत्तराधिकारी चालुक्य हुए। उन्होंने भी अपनी राजधानी बीदर जिलेमें ही कल्याणिको बनाया। राष्ट्रकूटों और चालुक्योंके समयमें तेलुगु-कन्नड़ तथा मराठी भाषाओंका पूरी तरह अलगाव नहीं हुआ था।

७५. चालुक्योंके बादमें उनके तीन उत्तराधिकारी राज्य बने। वे हैं—देवगिरिमें यादवोंका राज्य, द्वार समुद्रमें होयसल राजाओंका राज्य और वरंगलमें काकतीय राजाओंका राज्य। ये तीनोंही राज्य—अलग अलग भाषाओंके केन्द्र इतिहासमें प्रथम बार अस्तित्व में आये। भाषाओंके भौगोलिक भेद इस समयमें राजनीतिक स्तरपर भी स्पष्ट हुए।

७६. यादव राजाओंके समयमें, तदनुसार होयसल राजाओंके समयमें या काकतीय राजाओंके समयमें क्रमशः मराठी, कन्नड़ और तेलुगु भाषाओंका स्वरूप स्पष्ट हो गया था। इनके समयमें प्राकृत भाषाओंका पुराना गौरव नहीं रहा हो। इन तीनों राज्योंके अस्तित्वमें आनेसे पूर्व अर्थात् राष्ट्रकूटोंके समयमें व्यावहारिक स्तरपर किन-किन भाषाओंमें काम होता होगा? इस विषयकी जांच करना है। राष्ट्रकूट राजाओंका उत्तरी सिरा मालवाको छूता था और दक्षिणमें वे कृष्णा नदीको पारकर चोल राजाओंकी सीमा तक पहुंच गये थे। चोल राजाओंके शासन कालमें तमिल भाषाका विकास हुआ है। चोल राजाओंके कालमें जैसे तमिल का विकास हुआ ठीक उसी प्रकार राष्ट्रकूट राजाओंके कालमें जिन भाषाओंका विकास हुआ उनमें कन्नड़ तेलुगु और मराठी तीनों हैं। तीनों भाषाओंकी भौगोलिक सीमाएं राष्ट्रकूट शासनके अंतर्गत रही हैं। इनका



अलगवा बहुत बादमें यादवों, होयसलों तथा काकतीयोंके समयमें हुआ। किन्तु स्वयं जब राष्ट्रकूट राजा राज्य कर रहे थे उस समय उनकी व्यवहारकी भाषा क्या रही होगी? इसका उत्तर हमें खोजना है।

७७. राष्ट्रकूटोंका शासन काल ऐसा है, जिसमें वे एक ओर उत्तर भारतसे जुड़े हुए रहे और दूसरी ओर वे कृष्णा नदी पार कर चोल राज्यकी सीमाओंतक पहुंच गये। उत्तरमें वे नर्मदा तक पहुंचे हैं। उत्तरमें वे नर्मदासे आगेभी बढ़े थे किन्तु बादमें उन्होंने स्थिरता के साथ शासन दक्षिणमें ही किया। राष्ट्रकूट राजाओं के राज्यमें आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार—दोनों परिवारोंकी भाषाएं प्रचलित रही हैं। उनकी राजधानी मलखेड़ दोनों परिवारोंकी सीमारेखाओं को छूती है।

७८. आधुनिक भाषाओंकी पहचान बननेका काल—राष्ट्रकूटोंका काल—है। इस पहचानके बननेसे पहले प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं रही हैं। ऐसा कहा जाता है। महाराष्ट्रमें [यादव राजाओंके क्षेत्रमें] तो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंके अस्तित्वको बतलाया जाता है किन्तु कर्नाटकके क्षेत्रमें और आन्ध्र प्रदेशके क्षेत्रमें [यद्यपि ये नामकरण उस समय प्रचलित नहीं थे तथापि वे क्षेत्र राष्ट्रकूट राजाओंकी सीमाओंमें थे] क्या प्राकृत भाषाएं या अपभ्रंश भाषाएं—नहीं रही हैं? इसका उत्तर हमें खोजना है।

७९. राष्ट्रकूटोंसे पहले वादामीके चालुक्योंका शासन था। पुलकेशिन द्वितीयके समयमें भी आर्य और द्रविड़ परिवारका भौगोलिक क्षेत्र एकही था। उस समयमें जो भाषाएं—देशी भाषाएं—प्रचलित रही हैं, उनकी भी खोज आवश्यक है।

८०. भारतके उत्तर पश्चिमी सिरेपर पाणिनिने अष्टाध्यायीकी रचना की। उसी प्रकार दक्षिण-पूर्वमें 'तोलकाप्पियम्' की रचना हुई है। कहते हैं 'तोलकाप्पियम्' का सम्बन्ध द्वितीय कविसंघके कालसे है। 'तोलकाप्पियम्'का रचना काल ईसा पूर्वकी शताब्दियोंमें बतलाया जाता है। यह विवाद नहीं उठाया जा रहा कि अष्टाध्यायी प्राचीन है या तोलकाप्पियम्? क्योंकि दोनोंही स्थितियोंमें अनुमानही किये गये हैं। 'तोलकाप्पियम्' के कारण तमिलका व्याकरणिक रूप स्थिर हो गया था। उसके आद्य रूपका परिचय इस ग्रंथसे मिलता है। 'तोलकाप्पियम्' की भाषाकी प्राकृत भाषासे तुलना कीजानी चाहिये। लगता है दोनोंकी तुलना करनेसे कुछ

नये तथ्य सामने आ सकते हैं। श्री टी. वी. मीनाक्षी सुन्दरन्ते अपनी पुस्तक 'तमिल भाषाका इतिहास' में 'तोलकाप्पियम्की भाषा : स्वन प्रक्रिया' स्वतंत्र अध्याय लिखा है। उक्त अध्यायमें ध्वनि-प्रवृत्तियोंपर विस्तारसे विचार किया गया है। इसी रूपमें प्राकृतकी ध्वनि-प्रवृत्तियोंपर विचार करें तो संभवतः पर्याप्त साम्य मिले। निर्णयात्मक रूपमें अभी कुछ कहनेके स्थान पर इतनाही कहा जा सकता है कि तमिलका संस्कृतसे मुक्त रूप 'तोलकाप्पियम्' में है। इसी प्रकार आर्य परिवारकी भाषाओंमें संस्कृतसे मुक्त रूप केवल प्राकृत भाषाओंका है। प्राकृत भाषा दक्षिणमें धार्मिक भाषाके रूपमें [बौद्ध-जैन] पहुंची हैं और उसका प्रभाव निश्चित ही 'तोलकाप्पियम्' की भाषापर रहा होगा। इस विषय पर गंभीर रूपमें अध्ययनकी आवश्यकता है।

८१. उपयुक्त यह होगा कि 'तोलकाप्पियम्' का हिन्दीमें शीघ्र ही अनुवाद हो और उसमें तमिल भाषा की परम्पराका ठीक ठीक विवेचन भी हो।

८२. तेलुगु भाषा पूर्वी घाटके उत्तरी छोर तक पहुंचनेवाली भाषा है। बिहार, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के वन्य प्रदेशोंकी सीमाओंको तेलुगु भाषा भौगोलिक रूपमें स्पर्श करती है। घने जंगलोंके कारण आवागमनकी सुविधा इन सीमा प्रदेशोंपर उपलब्ध न होनेके कारण प्राकृतिक रूपमें अपने आप अलगवा रहा है। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारकी सीमा रेखाएं—प्राकृतिक रूपमें वन्य प्रदेशों के कारण बनी हुई हैं। पूर्वी घाट एक प्रकारसे द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ही है पश्चिमी घाटपर तो कोंकण पट्टीके नीचे हम पहुंच जाते हैं और बादमें कन्नड़ भाषा [द्रविड़ परिवारकी भाषा] का क्षेत्र शुरु होता है।

८३. तेलुगु भाषापर आर्य परिवारकी भाषाओंके संस्कार सबसे अधिक हैं [कन्नड़ मलयालम तथा तमिल की तुलनामें], इसका कारण यह है कि तेलुगु भाषा आर्य परिवारकी भाषाओंसे सीधे सम्पर्क बनाये हुए है। पूर्वी छोरपर द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका विस्तार इसीका परिणाम है।

८४. श्री के. महादेव शास्त्रीने 'हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु [२०० ई. पू. से १०० ईस्वी की प्राचीन तेलुगुके संदर्भमें] पुस्तक अंग्रेजीमें लिखी है इसमें १२०० वर्षोंका तेलुगु भाषाका



इतिहास है। नन्नय्याका महाभारत ११ वीं शतीकी रचना है। उससे पूर्वकी तेलुगु भाषापर ही पुस्तकमें विचार किया गया है। नन्नय्यासे पूर्वकी तेलुगु को वे प्राचीन तेलुगु कहते हैं। वे लिखते हैं : “२०० ई. पू. से १००० ईस्वी की अवधिको ‘प्राचीन तेलुगुका नाम दिया जा सकता है, और प्रथम ७०० वर्षोंको (२०० ई. पू. से ५०० ईस्वी तक) प्राकृत और संस्कृत अभिलेखों का युग कहा जा सकता है। प्रस्तुत कृतिमें मैंने प्राकृत-संस्कृत युगकी सभी उपलब्ध सामग्री और तेलुगु-अभिलेख-युग के पचास चुने हुए प्रलेखोंके आधारपर ‘प्राचीन तेलुगु’ का ऐतिहासिक व्याकरण लिखनेका प्रयत्न किया है।” १३

तदनुसार सभी अभिलेख लेखकने पुस्तकके अंतमें दिये भी हैं। अभिलेखोंका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

८५. मैं महादेव शास्त्रीके इस कथनकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि वे ७०० वर्षोंका काल [ई. पू. २०० से ५०० ई. तक] प्राकृत-संस्कृत अभिलेखोंका काल मानते हैं। तेलुगु अभिलेख छठी शतीसे मिलते हैं और इस समयसे नन्नय्यातकके कालको [लगभग ५०० वर्षोंके कालको] वे प्राचीन तेलुगु भाषाके काल के अन्तर्गत समझते हैं। कहना यह है कि प्राकृत भाषा के जो अभिलेख तेलुगुभाषी क्षेत्रमें मिलते हैं और वे ई. पू. दूसरी शतीसे ५०० ई. तक मिलते हैं। इन ७०० वर्षोंमें प्राकृत भाषाका उपयोग होता रहा है। ठीक वैसे ही जैसे महाराष्ट्रमें होता रहा है। दक्षिण भारतमें उपलब्ध प्राकृत अभिलेखोंका अध्ययन द्रविड़ परिवार की भाषाओंके अध्ययनके साथ होना चाहिये।

८६. डॉ. रामनिवास साहूने ‘भाषा सर्वेक्षण’ पुस्तक लिखी है। इस पुस्तकमें छत्तीसगढ़की मुण्डा भाषाओंका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। छत्तीसगढ़का क्षेत्र आर्य परिवार तथा द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका संगम होते हुए भी वहाँ एक तीसरा परिवार मुण्डा परिवार है। भाषाओंके तीनों परिवार इस क्षेत्रमें मिलते हैं। साहूजी ने उक्त क्षेत्रके बोली रूपोंका सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है।

१३. हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु—लेखक : के. महादेव शास्त्री, प्रकाशक : श्री वेकटेश्वर विश्व-विद्यालय, तिरुपति, प्रकाशन वर्ष १९६६, पृ. १।

१४. भाषा सर्वेक्षण—डॉ. रामनिवास साहू; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली—११०००२। प्रथम संस्करण, १९८६ ई., पृ. ३०।

१५. वही—पृ. १३

‘प्रकार’—अप्रैल ६०—१०

उक्त सर्वेक्षणमें उपलब्ध तथ्योंका विवरण कुछ इस प्रकार है—

“यहाँ एक व्यापक भाषाई समुदाय है, जहाँ मुण्डा भाषा परिवारकी १६, द्रविड़ भाषा परिवारकी १६, आर्य भाषा परिवारकी ८७, विदेशी १८ एवं अवर्गीकृत २२ मातृभाषाएं प्रचलित हैं, जिनमें एक ओर तो संवैधानिक मान्यता प्राप्त अनेक राष्ट्रीय भाषाएं—जैसे हिन्दी, तमिल, तेलुगु इत्यादि हैं और अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त भाषाएं, जैसे अंग्रेजी, चीनी, जर्मन, एशियन इत्यादि हैं तो दूसरी ओर ऐसी मातृभाषाएं हैं जिनकी न कोई लिपि है, न साहित्य और न ही किसी प्रकारके चर्चित पुरालेख हैं। इनमें मुण्डा भाषाओंकी खरिया, असुरी, सवरा, द्रविड़ भाषा परिवारकी कुर्गी, केकाड़ी, वदारी; आर्य भाषा परिवारकी गावली, डूंगरी, दोगरी, लोनारी एवं अवर्गीकृत मातृभाषियोंमें दोलभा, मदरी, महाकुरी मुनारी इत्यादि हैं जिनके भाषियोंकी संख्या १ से ५० तक ही है।” १४

राजनीतिक [भौगोलिक भी] सीमाओंके सम्बन्धमें लिखा है—

“छत्तीसगढ़ अनेक राज्योंसे घिरा हुआ है। उत्तर में मध्यप्रदेशकी सीमा बनाते हुए यह उत्तर प्रदेशके मिर्जापुर जिलेकी सीमारेखाको छूती है, तो पूर्वमें उड़ीसा एवं पश्चिममें महाराष्ट्रकी सीमाएं हैं सरगुजा जिला इस क्षेत्रकी उत्तर-पूर्वी सीमाको बनाता है। यह क्षेत्र उत्तर और पश्चिममें मध्यप्रदेशकी सीधी एवं शहडोल जिलेसे अपनी सीमारेखा बनाता है। इसलिए उत्तरमें बिहारी एवं पश्चिममें बुन्देलखण्डकी भाषाई प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पूर्वमें रायगढ़, रायपुर एवं बस्तर जिलेकी सीमाएं उड़ीसा राज्यको छूती हैं, अतः इन क्षेत्रोंमें उड़ीसा संस्कृति झलकती है। बस्तर जिलेका दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिमी भाग आंध्र-प्रदेशकी राजमन्दी एवं वरंगल जिलेकी सीमारेखासे घिरा है, इसलिए इन क्षेत्रोंमें तेलुगु संस्कृति प्रभावी शील है। बस्तर एवं दुर्ग जिलेका पश्चिमी क्षेत्र महाराष्ट्रकी संस्कृतिसे प्रभावित है। इस क्षेत्रका बस्तर जिलाही ऐसा है, जो तीनों राज्यों [महाराष्ट्र, आंध्र, एवं उड़ीसा] से घिरा हुआ है एवं बिलासपुर जिला ऐसा है, जो क्षेत्रीय जिलोंसे ही चारों ओर परि-संमित है। शेष जिले किसी न किसी रूपमें अन्य राज्यों की सीमाओंको छूते हैं।” १५



६७. डॉ. रामनिवास साहूकी उक्त पुस्तक प्रधान रूपसे मुण्डा भाषाओंके संदर्भमें लिखी गयी है। मुण्डा भाषाओंके सम्बन्धमें लिखना अप्रासंगिक होगा किन्तु आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारका विवेचन करने हेतु इस परिवारको जानना आवश्यक होगा। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जीने मुण्डा परिवारका परिचय दिया है। वे लिखते हैं—

“आदिम आग्नेय या निषाद वंशके लोगोंने नव पाषाण युगकी संस्कृतिकी नींव डाली और मिट्टीके बरतनोंका आरम्भ किया। किन्तु भाषाके क्षेत्रमें उनकी देन अधिक स्थिर और महत्त्वपूर्ण है। वे लोग उन आग्नेयवंशी भाषाओंके बोलनेवाले थे जो पंजाबसे न्यूजी-लैंड तक और मेडगास्करसे ईस्टर द्वीपतक के विशाल क्षेत्रमें फैले हुए हैं। भारतवर्षमें इन भाषाओंका वंश मुण्डा कहलाता है, जो इस देशमें बोली जानेवाली भाषाओंमें सबसे प्राचीन है। भारतवर्षके मुण्डाभाषा क्षेत्रोंपर विचार करनेसे इस बातपर प्रकाश पड़ता है कि आदिम आग्नेय जातियोंके आने और फैलनेकी मार्ग कौनसा था।.....

..... मुण्डा भाषा लद्दाख और सिक्किमके बीचमें हिमालयकी भीतरी पट्टीमें, मध्यप्रदेशके पश्चिममें और दक्षिणकी ओर गञ्जाम और विशाखापत्तनम्के पहाड़ोंके क्षेत्रमें जीवित है, लेकिन गोदावरीसे नीचे नहीं।” १६ औरभी लिखा है :—

“भारतके इन आदिवासियोंने कुछ प्राचीनतम भाषाओंका दान देशको दिया, जैसे मुण्डा[निषाद]; मौन ख्मेर[किरात वंशकी], आग्नेय द्वीपोंकी एवं भोट चीनी परिवारकी भाषाएं।.....ये भाषाएं द्रविड़ भाषाओंके द्वारा औरभी अधिक दक्षिण-पूर्वकी ओर ढकेल दी गयी, जिस प्रकार स्वयं द्रविड़ भाषाओंको आर्यभाषाओंके दबावमें स्थान छोड़ना पड़ा।” १७

८८. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी तो मानते हैं कि भारतमें प्रायः सभी जातियाँ बाहरसे आर्य हैं। उन्होंने जो क्रम दिया है, वह इस प्रकार है—

“(१) प्राक्द्रविड़, (२) द्रविड़, (३) आर्य, (४)

१६. हिन्दु सभ्यता—डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक: वासुदेवशरण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली-११०००२। छठा संस्करण, १९८३ ई. पृ. ५२।

१७. वही—पृ. ५४

१८. वही—पृ. ६३

ईरानी, (५) यवन, (६) रोमन, (७) शक, (८) हूण, (९) इस्लाम और (१०) यूरोपीय।” १८

प्राक्द्रविड़को वे सबसे प्राचीन मानते हैं और उनमें ‘मुण्डा’ भाषा परिवार है।

८९. बाहरी आक्रमणोंका मिथक विदेशी विद्वानोंकी देन है, इस सम्बन्धमें पहलेही कहा गया है। इसी प्रकार एक परिवारकी जातियोंने दूसरे परिवारकी जातियोंको ढकेल दिया, वह सबभी कहना ठीक नहीं लगता। इस सम्बन्धमें पुनर्विचारकी आवश्यकता है।

९०. छत्तीसगढ़ ऐसा क्षेत्र है जिसमें वन्य प्रदेश अधिक हैं। भाषाओंकी जितनी संख्या इस क्षेत्रमें साहूजी ने बतायी है, वे सब जीवित भाषाएं हैं और व्यवहारमें हैं। मातृभाषाके रूपमें वे भाषाएं इस क्षेत्रमें प्रचलित हैं साहित्यिक और विदेशी भाषाओंको छोड़ दें, तबभी बोली रूपमें बोली जानेवाली भाषाओंकी संख्या सीमित क्षेत्रको देखते हुए अधिक है। सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ क्षेत्र में साहूजीके अनुसार ही आर्यभाषा परिवारकी छत्तीसगढ़ी, हिन्दी (सम्पूर्ण छत्तीसगढ़में) एवं हलवी तथा भतरी (रायपुर, बस्तर एवं दुर्ग जिलेमें) अग्रणी हैं। द्रविड़ भाषा परिवारमें कुड़ुख एवं गोंडी सम्पूर्ण छत्तीसगढ़में हैं। छत्तीसगढ़ी, हलवी, भतरी (आर्य परिवार की) और कुरुख एवं गोंडी (द्रविड़ परिवारकी) — बोलियाँ प्रधान हैं। मुण्डा परिवारकी—कोकू, कोरवा, खरिया तथा माझी कोरवा बोलियाँ ऐसी हैं जिनकी संख्या १००१ से एक लाख तक बतायी गयी है। शेष मुण्डा परिवारकी बोलियाँ बोलनेवालोंकी संख्या एक हजारसे भी कम हैं। भाषाओं (बोलियों) की संख्याओं को देखते हुए यह कह सकते हैं कि—तीनों परिवारों में प्रथम स्थान आर्य परिवारका है—दूसरा स्थान द्रविड़ परिवारका और तीसरा स्थान मुण्डा परिवार का है।

९१. बोलियोंके रूपमें भाषाओंके प्राचीन रूप सुरक्षित रहते हैं और भाषावैज्ञानिक रूपमें बोलियोंका अध्ययन अधिक उपयोगी होता है। संस्कृतकी भांति मुण्डा भाषामें तीन वचन मिलते हैं। सर्वनामोंके रूपभी तीन वचनोंसे युक्त हैं। आधुनिक आर्य परिवारकी भाषाओं में तीन वचन नहीं मिलते। परम्परामें व्याकरणिक रूप सुरक्षित और जीवित रहते हैं।

९२. भाषाओंके वर्गीकरणका मुख्य आधार भौगोलिक ही हो सकता है। अन्य आधारोंपर किया हुआ वर्गी-



रण प्रायः ठीक नहीं होता। आदान-प्रदान तथा परिवर्तन की संभावनाएं भाषाओं में विद्यमान रहने पर भी उनके मूल भौगोलिक स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं आता। इसके प्रमाण में बोलियाँ अपने-आप में बहुत कुछ कह जाती हैं। बोलियाँ अपने साथ परम्परा को जीवित रखे हुए हैं। साहूजीका कार्य मुण्डा भाषाओं (बोलियों) तक सीमित है। मुण्डा भाषाओं की तरह द्रविड़ परिवार की बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

६३. मुण्डा परिवार की बोलियाँ जीवित हैं और प्राकृत भाषा का कोई रूप (कहेंगे कि परिवर्तित रूप में छत्तीसगढ़ी रूप है) जीवित नहीं हैं। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में कोई रूप जीवित न हो तो किसी और स्थान पर तो होना चाहिये। यह सब इसलिए कहा जा रहा है कि प्राकृत भाषाओं की जो स्थिति महाराष्ट्र आन्ध्र प्रदेश या सुदूर दक्षिण में [द्रविड़ परिवार के क्षेत्र में] रही है, वही स्थिति आर्य परिवार के क्षेत्र में भी है। वह भाषा के रूप में—भौगोलिक विस्तार के रूप में—धार्मिक भाषा का आधार लिये हुए—आज भी जीवित है किन्तु उसका बोली रूप आज प्रायः लुप्त है।

६४. बोली रूपों के नामकरणों का आधार प्रायः स्पष्ट नहीं है। विशेष रूप से साहित्येतर बोलियों के नाम और उनमें भी वन में रहनेवालों की बोलियों के नाम भौगोलिक नहीं हैं। स्वयं छत्तीसगढ़ क्षेत्र की प्रधान बोली छत्तीसगढ़ी है। छत्तीसगढ़ी बोली का नाम भौगोलिक है किन्तु उसी क्षेत्र में जो बोलियाँ प्रधान रूप से बोली जाती हैं, उनके नामकरण भौगोलिक नहीं हैं। द्रविड़ परिवार की बोलियों के नाम और मुण्डा परिवार की बोलियों के नाम भौगोलिक नहीं हैं।

६५. आर्य परिवार की भाषाओं का विकास जिस प्रकार दिखलाया जाता है, उसमें बीच की भाषाएं प्रायः अब बोलचाल के रूप में व्यवहृत नहीं होती। उनके भौगोलिक स्वरूप की पहचान के लिए हमारे पास अभिलेख और साहित्य ही प्रमाण है। ऐसा द्रविड़ परिवार की भाषाओं के साथ प्रायः नहीं बतलाया जा सका है। द्रविड़ परिवार की भाषाओं में प्राचीन तथा नवीन के रूप बताये जा सकते हैं किन्तु नामकरण प्रायः वही हैं। तेलुगु-कन्नड़-मलयालम तथा तमिल भाषाओं का इतिहास—में प्राकृत भाषा या संस्कृत भाषा को बाह्य प्रभाव के रूप में ही बतलाया जाता है। प्राकृत को जोड़कर या संस्कृत को जोड़कर इन भाषाओं का इतिहास नहीं लिखा

जाता।

६६. वन्य प्रदेशों की बोलियाँ जीवित हैं और उनमें प्राचीन परम्परा सुरक्षित है और वह परम्परा प्राकृत-संस्कृत ही नहीं बल्कि उससे भी प्राचीन प्राकृत-द्रविड़ भी है। नृत्तशास्त्री मुण्डा भाषियों को सबसे प्राचीन मानते हैं। इस रूप में बोलियों के अध्ययन से भाषा परिवारों पर नये सिरे से विचार करने के लिए सामग्री मिलती है।

६७. यह बात सच है कि वन्य प्रदेशों की बोलियाँ अब पूर्व रूप में नहीं रह गयी हैं और उनमें लगातार परिवर्तन हो रहा है। इसपर भी सर्वेक्षणों के माध्यम से बहुत से नये तथ्य उजागर हो रहे हैं। बोलियों के माध्यम से भाषाओं के पहचानने के प्रयत्न होने चाहिये। द्रविड़ परिवार की बोलियों के उत्तर भारत में जो क्षेत्र हैं, ब्राह्मणों से लेकर छत्तीसगढ़ तक क्षेत्र तक कुरुख, गोंडी आदि इन सब बोलियों का आर्य परिवार की बोलियों से सम्बन्ध बताने का प्रयत्न होना चाहिये। और फिर एक ही क्षेत्र में अलग-अलग परिवारों की बोलियाँ जीवित मिलें तो उनका सम्बन्ध भौगोलिक आधार पर क्योंकर जीवित है—इसके कारणों की खोज आवश्यक है। कुछ बोलियाँ ऐसी हैं जिनके बोलनेवाले घुमन्तू हैं। ऐसे लोगों के कारण बोलियों का भौगोलिक विस्तार होता है और स्थान बदलने के कारण एक ही बोली के विविध रूप ऐतिहासिक काल में हो जाते हैं। कुछ बोलियाँ लुप्त हो जाती हैं और उनका स्थान नयी बोलियाँ ले लेती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि भौगोलिक परिवर्तन—सामूहिक रूप में परिवारों के विस्थापन कहना चाहिये—से बोली का रूप बदल जाता है। ऐसे लक्षणों को ध्वनि गुणों के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। भौगोलिक परिवर्तन का प्रभाव सबसे पहले ध्वनि गुणों पर पड़ता है। लिखित भाषाओं में ध्वनि गुणों की रक्षा के उपाय रहते हैं किन्तु बोलचाल में स्थिरता नहीं रह पाती। बोलियों की यात्रा और भाषाओं की यात्रा के भेदों पर विस्तार से विचार करें तो भाषा परिवारों को पहचानने में और उनके विश्लेषण में हमें सुविधा होगी। बहुत-सी बोलियाँ आज घरों में सुरक्षित हैं किन्तु सड़कों पर उनका व्यवहार नहीं होता। घरों में भी पुरुषों की बोलियों की अपेक्षा स्त्रियों की बोलियों में पारिवारिक रूप अधिक सुरक्षित हैं। प्राचीन रूपों को पहचानने के लिए इन सब रूपों पर विचार होना चाहिये। ऐसा क्षेत्र



— जहाँ अधिक बोलियाँ बोली जाती हैं, वह क्षेत्र भाषाओं के मूल स्रोतों का पता लगाने के लिए अधिक उपयोगी है।

६८. द्रविड़ परिवार का आर्य परिवार से सम्बन्ध बताने के लिए छत्तीसगढ़ जैसे क्षेत्रों का चयन कर भाषाओं के पारिवारिक स्वरूप पर नये सिरे से विचार करना चाहिये। छत्तीसगढ़ की तरह बीदर जिले के बोली रूपों पर विचार हो—उस जिले की बोलियों का सर्वेक्षण हो तो हमें तुलनात्मक रूप में विचार करने के लिए नयी सामग्री मिलेगी।

६९. प्राकृत भाषा का विस्तार दक्षिण में बोली रूप में हुआ नहीं—यह तथ्य केवल दक्षिण भारत तक सीमित नहीं है अपितु यह स्थिति उत्तर भारत में भी रही है। प्राकृत भाषा का भौगोलिक विस्तार आर्य भाषा क्षेत्र में भी धार्मिक और साहित्यिक भाषा के रूप में उसी प्रकार हुआ है, जैसे वह दक्षिण भारत में हुआ। प्राकृत भाषा के विविध रूप भारतीय बोलियों में, भारतीय आधुनिक भाषाओं में इतने घुल मिल गये हैं कि उनकी पहचान—स्वतंत्र पहचान—लुप्त प्रायः है। प्राकृत के रूप आर्य भाषाओं में जिस प्रकार घुल मिल गये हैं वैसे ही वे द्रविड़ परिवार की भाषाओं में भी है। ये रूप बोलियों में अधिक जीवित हैं। इन्हें पहचानने से हम भाषा परिवारों के मूल स्वरूप को ठीक से बतला सकेंगे। प्राकृत भाषाओं का सम्बन्ध आर्य परिवार से तो बतलाया गया है किन्तु द्रविड़ परिवार के साथ उन्हें जोड़ा नहीं जाता। अनेक ऐतिहासिक तथ्य हमें इन सम्बन्धों को जोड़ने के लिए विवश कर रहे हैं। ऐसे प्रयास हों तो भाषाओं के माध्यम से भारतीय भूगोल पर नया प्रकाश पड़ेगा। और ठीक इसी प्रकार भाषाओं के अलगाव के कारणों को पहचाना जा सकेगा। [क्रमशः]। □

## इसिमासिआइं सुत्ताइं ?

[ऋषिभाषित सूत्र]

सम्पादक तथा अनुवादक : महोपाध्याय  
विनयसागर

प्रस्तावना-लेखक : प्रो. सागरमल जैन

समीक्षक : डॉ. कृष्णकुमार

इसिमासिआइं सुत्ताइं (ऋषिभाषित सूत्र) जैन

१. प्रकाशक : प्राकृत भारती, जयपुर एवं श्री जैन  
श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ मेवांनगर।  
पृष्ठ : १६० + १०२ + ६६ + २१४; रायल ८८;  
मूल्य : १००.०० रु.।

श्रमण परम्परा की एक अमूल्य निधि है। इसको विशुद्ध जैन-ग्रन्थ न कहकर यदि प्राचीन भारतीय वैदिक, बौद्ध और जैन-परम्परा की संयुक्त निधि कहा जाये, तो अधिक उपयुक्त होगा। इस ग्रन्थ में इन सब परम्पराओं के ऋषियों के उपदेशों का समभाव से संकलन है। परन्तु इसको सुरक्षित रखने और समादृत करने का श्रेय जैन श्रमण परम्पराओं को ही है। इस ग्रंथ में दसवीं शती ई. पू. से लेकर छठी शती ई. तक के तीर्थंकरों, श्रमणों, ऋषियों, महाऋषियों और परिव्राजकों के उपदेशों का पूर्ण प्रामाणिक संकलन है।

प्रस्तुत प्रकाशन को हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में अनुवाद सहित तथा इन दोनों भाषाओं में ही प्रस्तावना सहित प्रकाशित किया गया है। प्रस्तावना विस्तृत जानकारी देने वाली है और “ऋषिभाषितः एक अध्ययन” शीर्षक से दी गयी है।

पूर्णतः जैन सम्प्रदाय का न होने पर भी इस अमूल्य धार्मिक जैन श्रमण परम्पराने अपने आगम साहित्य में अति महत्त्वपूर्ण स्थान देकर सुरक्षित रखा है। यह अर्ध-मागधी भाषा में लिखा गया अति प्राचीन ग्रन्थ है, जिसके समय को निर्धारित करना पूरी तरह सम्भव नहीं है।

सामान्य रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन परम्परा के आगम साहित्य में ऋषिभाषित सूत्र का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजा के जो ४५ आगम ग्रन्थ माने जाते हैं, उनमें भी इस ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं मिलता। परन्तु नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में जो कालिक सूत्रों की गणना की गयी है—उनमें ऋषिभाषित सूत्रों का उल्लेख है। उत्तरवर्ती कुछ जैन आचार्यों ने भी प्रकीर्णक ग्रन्थों में ऋषिभाषित सूत्रों का उल्लेख करके प्रकीर्णक-अध्ययन-विधिको समाप्त किया है। इस प्रकार ऋषिभाषित सूत्र की गणना जैन आगम साहित्य के प्रकीर्णकों में की जा सकती है।

ऋषिभाषित सूत्र की रचना जैन धर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने से पूर्व ही हो चुकी थी, क्योंकि इसमें जैन संघ के सामुदायिक अभिनिवेश का अभाव है। यह पालि त्रिपिटक से भी पहले की रचना है। प्रो. सागरमल जैन के अनुसार इसका वर्तमान रूप पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से तीसरी शती ई. के मध्य में बन गया था।

ऋषिभाषित सूत्र ग्रन्थ में ४५ ऋषियों के उपदेशों का, जो अध्ययन शीर्षक से कहे गये हैं, संकलन है। इनमें से अधिकांश ऋषि जैन-परम्पराओं से सम्बद्ध नहीं हैं।



किन्हींके नामके साथ ब्राह्मण परिव्राजक विशेषण लगा होनेसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। देव नारद, असित देवल, आंगिरस, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेण, कृष्ण, द्वैपायन, आरुण, उद्दालक और नारायण ऐसे नाम हैं, जो वैदिक परम्पराओंमें सुरक्षित हैं तथा इनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत और पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। वज्जीपुत्त, महाकश्यप और सारिपुत्तके नाम बौद्ध परम्पराके सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं। इनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्यमें है। अनेक ऋषियों का उल्लेख बौद्ध और जैन दोनों साहित्यमें है। सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रवण वैदिक तथा पौराणिक देवता हैं। परन्तु इनका उल्लेख लोकपालोंके रूपमें वैदिक, बौद्ध और जैन सभी साहित्यमें है। इससे सिद्ध है कि इसिभासिआइं सुत्ताइं (ऋषिभाषित सूत्र) केवल जैन परम्पराका ही ग्रंथ नहीं है, परन्तु यह प्राचीन भारतीय ऋषियोंकी ऐतिहासिक सत्ताको निर्विवाद सिद्ध करता है।

प्रो. सागरमल जैनने ऋषिभाषित सूत्रकी प्रस्तावना में इसके ४५ ऋषियोंके व्यक्तित्व और उपदेशोंके मर्मका सम्यक् विवेचन किया है। इस ग्रन्थमें इनको अर्हत और प्रत्येकबुद्ध कहकर सम्मानित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथमें सर्वप्रथम देव नारदके उपदेश हैं। नारदका सम्बन्ध ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, छान्दोग्य उपनिषद्, नारदोपनिषद्, नारद परिव्राजकोपनिषद्, नारद-सन्तकुमार संवाद, भगवद्गीता, महाभारत, रामायण, भागवत तथा अन्य पुराणोंमें कहा गया है। बौद्ध परम्परा इनको गौतम बुद्धके पूर्ववर्ती एकबुद्धके रूपमें स्वीकार करती है। जैन परम्परामें इनको भावी तीर्थंकर कहा गया है।

ऋषिभाषित सूत्रमें देव नारदके उपदेशोंमें शौच धर्मकी परम्परामें स्वीकृत पांच महाव्रतोंका ही पूर्वरूप है। यह आन्तरिक पवित्रताका उपदेश देता है। शौचके चार प्रकारके लक्षण हैं—

१. प्रणातिपात (हिंसा) से विरति
२. मृषा (असत्य) वादसे विरति
३. अदत्तादानसे विरति
४. अब्रह्मचर्य और परिग्रहसे विरति

नारदने निर्ममत्व और समभावका भी उपदेश दिया है। जो साधक साधारण शौच धर्मका पालन करता है, ममत्वके भावसे रहित है और समभावका आचरण

‘प्रकर’—अप्रैल’६०—१४

करता है, वह शीघ्र मुक्तिको प्राप्त करता है।

ऋषिभाषितके अन्य ऋषियोंके उपदेशभी प्रायः जैन संघ परम्पराके पूर्वके हैं। इनको जैन संघने स्वीकार करके अपनी साधनामें स्थान दिया।

प्रो. सागरमल जैनने लिखा है कि जैन धर्म और दर्शन का एकभी ऐसा पक्ष नहीं है, जिसके मूल बीज ऋषिभाषित सूत्रमें न उपलब्ध हों। ऋषिभाषित सूत्रके ऋषियों और उनके उपदेशोंके तुलनात्मक अध्ययनकी अत्यधिक आवश्यकता है। इससे विभिन्न धार्मिक परम्पराएं अधिक निकट आसकेंगी तथा यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि जैन परम्पराओंमें कौनसे तत्त्व कहाँसे आये हैं।

इसिभासिआइं सुत्ताइं (ऋषिभाषित सूत्र) का अनुवाद अंग्रेजी और हिन्दी भाषामें महोपाध्याय विनयसागरने किया है। इस ग्रन्थकी भाषा अर्धमागधीका प्राचीन रूप है, जो संस्कृतके अधिक समीप है। इसपर महाराष्ट्री प्राकृतका भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऋषिभाषित सूत्रके ये उपदेश कहीं तो गद्यमें और कहीं पद्यमें हैं। इस प्रकार यह गद्य-पद्य मिश्रित विधा है।

महोपाध्याय विनयसागरने अनुवाद करनेमें बहुत सावधानी बरती है। अनुवादकका प्रमुख उद्देश्य है—सूत्रों के आशय और मूलके सीधे अर्थको पाठकके हृदयमें उतार देना। इससे वह मूलके भावको सीधे रूपमें समझ कर अपने निष्कर्ष निकाल सकता है। हिन्दी अनुवादके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना उपयोगी होगा—

दुदन्ता इन्दिया पंच संसाराए सरीरिणं ।

ते च्चेव णियमिया सन्ता जेज्जाणाए भवन्ति हि ॥

ऋषिभाषित सूत्र १६. १.

शरीरधारियोंकी दुर्दान्त (दुर्दम) बनी हुई ये पाँचों इन्द्रियाँ संसारभ्रमणका कारण बनती हैं। ये दुर्दान्त इन्द्रियाँ नियन्त्रित होनेपर संसार-साहित्यका कारण बनती हैं।

कल्लाणा लभति कल्लाणं पावं पावा तु पावति ।

हिंस्र लभति हन्तारं जइत्तां अ पराजयं ॥

ऋषिभाषित सूत्र ३०.४;

कल्याणकारी कार्योंसे कल्याण प्राप्त करता है। पापकारी कृत्योंसे पाप प्राप्त करता है। हिंस्र कृत्योंसे हिंसा प्राप्त करता है और जेता बनकर भी पराजय प्राप्त करता है।

ऋषिभाषित सूत्रका प्रथम संस्करण रोमन लिपिमें संस्कृत टिप्पणीके साथ जर्मन विद्वान् शुब्रिगके सम्पादन



में छपा था । यह प्रकाशन १९४२ ई. में हुआ । १९६३ ई. में इसका गुजराती और हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ । एक देवनागरी संस्करण अहमदाबाद की एल. डी. इन्स्टीट्यूट ने १९७४ ई. में प्रकाशित किया । महोपाध्याय विनयसागर द्वारा अनुवादित प्रस्तुत संस्करण में एल. डी. इन्स्टीट्यूट के प्रकाशन के अनुसार क्रम में मूल प्राकृतसूत्र उद्धृत किये गये हैं । तदन्तर प्रत्येक सूत्र का

हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में अनुवाद है । इससे प्रत्येक सूत्र को पाठक एक साथ तीनों भाषाओं में समझ सकता है । यह क्रम सभी ४५ अध्ययनों में निभाया गया है । सामान्यतः यह क्रम ठीक ही है, परन्तु इसके साथ प्राकृत अर्धमागधी भाषा का संस्कृत रूपान्तर भी दे दिया जाता, तो यह अधिक शोभन लगता । □

## डॉ. प्रभाकर माचवे : स्मृतिसे दृष्टिक

सम्पादक : डॉ. मारुतिनन्दन पाठक

समीक्षक : डॉ. तालकेश्वर सिंह

कृति “डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण”

व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व की पहचान के कोण और स्तर की हद में बिन्दु कहां होगा कहना कठिन है । क्योंकि ‘अर्थ बदलता ‘शब्द’... सौ प्रश्न बना रहता ‘मैं कौन ?’ में छिपे अजनबीपन को पकड़ने में एक मुश्किल है । पर अजनबी के अजनबीपन की गहराई में प्रवेश एवं उसे भाषिक परिधान में मूर्त करने से काव्य में एक विशिष्ट चमत्कार आ गया है । और, यह चमत्कार भाव और शिल्प दोनों का है । प्रभाकर माचवे का ‘स्व’ ही अजनबी बनकर स्मृति से दृष्टि में तथा दृष्टि से स्मृति में ढल गया है । स्मृति और दृष्टि के समवेत से निमित्त ‘दृष्टि पथ’ माचवे के व्यक्ति और रचनाकार के समय का उद्भावक है ।

बहुभाषाविद् की हैसियत को लय देने की वांछ से माचवे जीने हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी तीनों में लिखा, पर समर्पण की गूँज हिन्दी में उतरती रही, निखरती रही । देशी और विदेशी भाषाओं की वक्रता को समेटने वाली संवेदना विभिन्न विधाओं में राशिभूत होगयी । फलतः हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं के मध्य विचार और अनुभूति के अन्तर्लयन के सेतु बने माचवे जी ।

१. प्रकाशक : पारमिता प्रकाशन, अनुग्रहपुरी कालोनी, गया (बिहार) - ८२३००१ । पृष्ठ : ३६४; डिमा. ८८; मूल्य : १५०.०० रु. ।

इस यायावरने हिन्दी की भावगत एवं वैचारिक संपदा का उपवृंहन किया । डॉ. मारुतिनन्दन पाठक लिखते हैं, ‘विश्वकर्मा’ ‘खण्डकाव्य में मिथकीय कथा के माध्यम से’ उसे नयी अर्थवत्ता प्रदान करते हुए वर्तमान संसार की ज्वलन्त यांत्रिक एवं आणविक समस्याओं पर उन्होंने करारा प्रहार किया है कि विकृतिको संस्कृति मानकर चलने के कारण विश्व अंधेरे में डूबता चला जा रहा है और उसका भविष्य खतरे के खौफनाक कगार पर पहुंच गया है । प्रकृति और जीवन की यथार्थता की जमीन पर अधिष्ठित हुए बिना मनुष्य का न तो वास्तविक जीवन ही मिल सकता है और न उसका निस्तार ही है ।” (डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण, दृष्टिपथ, पृ. १२)

रचना और व्यक्तिकी दृष्टि से माचवे जी समय के झंझा-झकोरों को झेनते हुए भी “सहज और मुक्त हैं—व्यक्ति में भी और कविता में भी ।” (वही, पृ. १६) । रचना और भावना की अपनी दृष्टि है माचवे जी के पास । एक नया काव्यादर्श वे प्रस्तुत करते हैं । और यह काव्यादर्श उनके उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व को वादों के कटघरे से बाहर कर देता है । प्रयोग को रचना-धर्म के रूप में भी स्वीकार करने वाले ‘तारसप्तक’ का यह विशिष्ट तार कबीर की घरफूँक मस्ती एवं फकीराना अन्दाज में गा उठता है —



कविता अब भक्ति-आर्द्र आरती प्रभाती नहीं  
 कविता अब अश्रु - सजल विरहिनकी पाती नहीं  
 कविता अब मुठ्ठीभर लोगोंकी थाती नहीं  
 कविता अब केवल मधुशाला मधुमार्तीनहीं  
 कविता अब संगतका साज नहीं  
 कविता अब गलेकी सुरीली आवाज नहीं  
 कविता अब शब्दोंकी अल्पना या साज नहीं  
 कविता अब केवल चीख होकर नाराज नहीं  
 कविता अब विषयके मुँहताज नहीं  
 कविता अब स्वयम्भय है  
 कविता अब निर्भय

अविनय  
 निस्संशय है ।

परम्परित काव्यादर्शके स्वीकारपर कविताके विषय-विस्तार, कविताका कविताके रूपमें भावन, कविताकी निर्भय स्थितिके साथ तमाम जिजीविषाकी संभावना एवं असंभावना, सब कुछका समाहार यहां घटित हो गया है। कबीरके अनुसार दिव्य पर्यवसानमें कवि और कविताका समापन रच जाता है। यह समापन व्यष्टि और समष्टि दोनोंका होता है। व्यष्टिसे प्रारंभ होनेवाली कविताका अन्त माचवेजी समष्टिमें मानते हैं। भावनका यह नया आदर्श सर्वथा श्लाघ्य है। पद्य या गद्यमें पीरकी बेलीस अभिव्यक्ति माचवेजी करते हैं। उनके रचना-संसारकी यह नियति बन गयी है।

उपन्यासोंमें माचवेजीने मनुष्यका मनुष्यके रूपमें चित्रण प्रस्तुत किया है। मनुष्य निःशब्द या स्पन्दनहीन पुर्जा मात्र नहीं है। वह अतीत और वर्तमान दोनों है। डॉ. पाठक के शब्दोंमें, “वह न तो इतिहासमें वर्तमानका शिकार होते, न वर्तमानके किसी रंगीन जालमें फँसकर अटकते, न पुनरुत्थानवादियोंकी तरह किसी काल्पनिक स्वर्णिम युगकी आड़में वर्तमानको सिर्फ कोसते हैं और न अधकचरे आधुनिकतावादियोंकी तरह विकृतियोंकी महागाथा में एकाकी होकर डूब जाते हैं।” (वही, पृ. १७) नारी-स्वातन्त्र्यको स्वर देने में माचवेजी नीतिके शीर्षपर गुंबज साटनेवाले मनुष्य भी एक हाथ आजमा लेते हैं। मनोविश्लेषणकी दृष्टिसे तो मनके सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचते हैं। चेतना-प्रवाह-शैली में भी वे समष्टि-चित्रको दरकिनार नहीं होने देते। पीढ़ियोंके संघर्ष, वर्ण-भेद और जाति-भेद, आर्थिक वितुलन, दर्शन और जीवन

की टकराहट सबको उनके उपन्यासोंमें वाणी मिली है।

साहित्यमें मानव-वृत्तियाँ हाड़-माँसकी पात्र बनी हैं। और माचवेजीने निर्जीव वस्तुओंमें जीवन-रस डाल दिया है। जबभी शब्दोंकी फिरकी गँद उछली है कमाल कर गयी है। बेबाक कथनके तो माचवेजी सहज सिद्ध पुरुष हैं, — ‘पश्यन्ती सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्’ की भाँति आस्वादय ।

अब भावन-क्षेत्रकी ओर दृष्टि फेरिये। आलोचना में तटस्थ पकड़की सरहदपर खड़े माचवेजीने “अपनी दृष्टिका विकास अपनी मिट्टीमें किया है इसलिए बाहर से इतने अधिक साक्षात् संपर्क और परिचयके बावजूद उसमें कहीं आयातित रूपकी मिलावट नहीं हुई, क्योंकि उनका नीर-क्षीर विवेक हमेशा जागृत रहता है।” (वही पृ. १९)। दर्शन एवं चिन्तनको मूर्त रूप देनेके लिए उन्होंने बहुत कुछ पुस्तकाकार लिखा। चित्रकलाका भी उन्हें सुन्दर अभ्यास है। चित्रमें भावकी अभिव्यक्ति शब्दों और रेखाओं दोनोंसे करते हैं। नृत्य संगीत एवं शिल्प उनके ललित कला-प्रेमके दूसरे बिन्दु हैं। कहने का अभिप्राय कि दर्शन, इतिहास, रचना, आलोचना, कला आदि सब कुछ उन्हें स्वायत्त है। अतः सी रासीम के घेरे में बँधे ही नहीं। इसका दूसरा प्रमाण उनके प्रयोगधर्मी मनकी ‘अथातो धुमक्कड़ जिज्ञासा’ है।

‘डॉ. प्रभाकर माचवे: सौ दृष्टिकोण’ शुद्ध संस्मरण है। शंसा एवं आशीर्वादके घेरेसे बाहर। पर शतायु-ष्मान्की कामना तो लेखकीय संवेदना बनही गयी है। इस स्थितिसे ‘असंग’ होना भी थोड़ा कठिन है। चालीस वर्षका अनुभव छोटी अवधिका अनुभव नहीं है। और जब दो साधक-कलमके योगः—एक ही मोड़पर मिलते हैं और समयके सरित्प्रवाहके साथ कदमताल हो लेते हैं तो ईमानदार मन निस्संग होकर कहता है “गर्दिशके इस स्याह दौरमें, वो, वो रह पाये, और मैं उन्हें देख पायी, इसमें अपनी प्राप्ति समझती हूँ, अपना हासिल।” (वही, पृ. ३२) मन तो उनके पास पुराना संपर्क लेकर जाता रहा है और लौटा है नये संस्करणके साथ। श्रद्धेय और श्रद्धालु युगपत् होगये हैं। शब्द मन्त्र बन गये हैं।

माचवेजीके संबंधमें लिखे गये शब्दभी सत्य हैं और अनुभूतियाँ भी। क्षण ही आन्तरिक अनुभूति बनकर शब्दोंमें उतर गया है। माचवेजी ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें “अतलस्पर्शी महासमुद्र एवं मौन हिमालयके शिलाभूत अतीत सब उसमें समाएँ एक बिन्दु बनकर एकाकार हो



गये हैं।" (वही, पृ. ३७) ।

पचपन वर्षोंसे माचवेजी हिन्दीकी सेवा कर रहे हैं। उन्होंनेकी कलमसे सुन लीजिये : "५५ वर्षोंसे हिन्दीकी सेवा कर रहा हूँ, पर पूरा संतोष या समाधान नहीं है।" (वही, पृ. ४५) । क्योंकि भारतीय संस्कृतिकी आन्तरिक शक्तिसे माचवेजी सम्यक् रूपसे परिचित हैं। हिन्दी एवं हिन्दीतर भाषाओंमें संस्कृतिकी स्पष्ट मूर्ति वे देख लेते हैं और अपनी रचनाके माध्यमसे उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर लेते हैं। वस्तुतः माचवेजी शब्दकी साधना करते हैं। लिखा है— "शब्दब्रह्म का ज्ञान उन्हें विरासतमें नहीं मिला, यह उनकी व्यक्तिगत रूपसे कीर्णगी शब्द-श्रम-साधना की पूंजी है। उनकी अपनी सरस्वतीकी आराधना है, उनका अपना पुरुषार्थ है।" (वही, पृ. ४८) ।

भ्रमणशील विश्वकोशके रूपमें माचवेजी प्रायः शब्द किये जाते हैं। यह कोई प्रशंसा-वेष्टित अलंकरण नहीं है, अपितु, वास्तविकता है। वाग्वर्थाका प्रेरक एवं अनुकरणीय प्रसंग है। सूचनाके तो माचवेजी अशेष आकर हैं। रचनाका फलक काफी विस्तृत है और अनेकशः आयामोंको वह सहजता : सहेज लेता है। डॉ. माचवेका रचना-विवेक सार्वत्रिककी धरतीपर खिला है। इस दृष्टिसे वे विरल हैं। उनके रचना संसारका मूल्यांकन अभी शेष है। ध्यातव्य है कि माचवेजी एक व्यक्ति नहीं एक संस्था हैं, एक युग हैं। आनेवाले समय को विवश होकर माचवे-युगसे अपनी पहचान निर्धारित करनी होगी, क्योंकि, क्षण-क्षण नये प्रतीत होनेवाले व्यक्तित्वसे चिन्तन और लेखनका आसव टपकता है। प्रत्युत्पन्नमत्तित्व रचना, भाषण और संभाषण तीनोंमें चार चाँद लगा देता है।

शब्द-रेखा में माचवेजीकी सृजन-शक्ति और व्यंग्य की तीव्रता साथ उभरी है। किन्तु चित्रसे भी अधिक लेखनमें व्यंग्य मुखर है।

विचार और चिन्तनकी नयी धाराके स्वागतमें माचवेजी कंजूस कभी नहीं रहे। उदीयमान साहित्य-कारोंको प्रोत्साहन देनेमें उनकी ओरसे कोताही कभी नहीं हुई। समकालीन लेखकोंमें यह बात कमही दिखायी पड़ती है। ऊर्ध्वरेतस योगीकी तरह वे चिन्तन और व्यक्ति दोनोंसे युक्त हैं—जलसे जीवन ग्रहण करनेवाले पद्मपत्रकी भांति अनासक्त, त्यागपूर्वक जीवन जीने वाले हिन्दीके समर्थ लेखक और इस दृष्टिसे संभवतः अकेले। अतः माचवेजीको भारतकी भावनात्मक एकता

के प्रतीकके रूपमें देखना अति समीचीन है। अन्तः-भाषीय वैचारिक आदान-प्रदानके कार्यान्वयनमें माचवेजी सक्रिय रहे हैं। इसके प्रभूत-प्रमाण हैं। इन सारी स्थितियों के मूलमें है, उनकी सिसृक्षा। भीतरकी सृजन-शक्ति बाहर तो प्रकट होतीही रहती है। घाटसे बंधना उनका स्वभाव ही नहीं है। ऐसे साहित्य-सेवीके लिए शमशेर बहादुर सिंहके उद्गार दिक् और कालके अनुकूल हैं ; युग युग जिओ प्रभाकर प्यारे ।

माथे सरस्वतीका पट्टा । (वही, पृ. ११०) ।

बाहरके कोलाहलसे उनके भीतरका लेखक हतोत्साह नहीं होता। ध्यानकी स्थितिमें टूट नहीं आती। क्योंकि ध्यानके लिए जिस संयम और ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है, वह उनके पास है। लगता है कि वे आत्मस्थ और समाधिस्थ होकर लिखते हैं। फिरभी, आत्मपरकतामें भी असंगतता बनी रहती है। सचमुच वीतराग। वीतरागी रचना-मानससे ही स्थायी चीज आती है। वीतरागका अभिप्राय यहाँ संसारसे पलायन नहीं है। मनकी द्विकोटिक स्थितिसे उपरत होना है। माचवेजी कहते हैं, "हमारा निश्चित मत है कि इन लोगोंके जीवनमें और लेखनमें दुचित्तापन है, एकात्मकता नहीं है। इनमें संश्लेष नहीं यानी केवल प्रासंगिक हैं। जैसा आदमी भीतर है उसे वैसाही दिखना और लिखना चाहिये। दो नावोंमें सवार होगा—रहेगा एक तरह, लिखेगा दूसरी तरह—तो ऐसे लेखकका एतबार नहीं रह सकता।" (वही, पृ. १२३) ।

श्री बालकृष्ण उपाध्याय माचवेजीकी निर्वैयक्तिकता का विचार करते और लिखते हैं, "वह जितनी संलग्न उतनीही निस्संग और निर्वैयक्तिक है" (वही, पृ. १४४) । पर इम निर्वैयक्तिकताकी तहमें कहीं-कहीं मनकी चिनगारियाँ भी हैं। तथापि, माचवेजीने उन्मुक्त मनसे उन्मुक्त वातावरणमें उन्मुक्त साहित्य-साधना की है। उनकी कला शिखरपर पहुँचती है। क्योंकि, वे स्वतन्त्र हैं। मसिजीवी और अच्छे पारिवारिक तथा साहित्य-सेवी व्यक्ति हैं। उनका ज्ञान अगाध है।" (वही, पृ. १६०) । मन्त्रद्रष्टा ऋषिके ज्ञान और लेखनके प्रति प्रपत्तिभावके साकार भावोच्छ्वास हैं माचवेजी। डॉ. विजयेन्द्र स्नातकसे कुछ पंक्तियाँ :

तुम इसी कंठकभरे पथपर चले हो

बीस कम सत्तर बरससे लिख रहे हो

हृद्-दुःख, पीडा-व्यथा, संत्रास, सुख



उल्लास, हर्ष-विषाद मानवके। (वही, पृ. १७८)  
विवेक और संवेदनाके मेलमें माचवेजीका साहित्यकार  
रहता है। पर विवेक या ज्ञानका बोझ ढोना उनका  
शगल नहीं है। यह ठीक है कि पाण्डित्यसे दवा व्यक्ति  
“अपने युगके तकजोंसे बेखबर होता है, खबर होतीभी  
है तो बेअसर रहता है।” (वही, पृ. १७९)। पर  
माचवेजी न तो बेखबर हैं और न बेअसर।

अलंकार अर्थ-वहनमें कभी-कभी चूक जाता है। कवि  
उपमाके अन्वेषणमें बेवसीमें बोल उठता है—‘सब उपमा  
कवि रहे जुठारी।’ माचवेजीके लिए भी उपमा गढ़नेका  
प्रयास तो किया गया, पर

“माचवेजीकी कहीं उपमा नहीं हैं,

इसलिए माचवेके सम अकेले माचवे है।”

(विजयेन्द्र स्नातक, वही, पृ. १९६)

कारण स्पष्ट है। उनकी रचनाशीलता ईमान और निष्ठा  
के साथ लोकापित हुई है। भीतरका दर्द विभिन्न  
विधाओंमें प्रकट हुआ है। अनुभूतिके क्षण संप्रेषणके  
बिन्दु बन गये हैं। माचवेकी आभ्यन्तर करुणा महाकरुणा  
में लयात्मक समाधान ढूँढती है। एक भाषासे दूसरी  
भाषामें अनुवाद तो माचवेजी करते ही हैं, करुणाभी  
महाकरुणामें अनूदित हो जाती है। अतः सत्य वचन है,  
“सर्जककी यही करुणा महाकरुणामें रूपान्तरित होती  
रही है। और भारतीय साहित्यकी सबसे बड़ी पहचान  
बनी हुई है।” (वही, पृ. २२०)। और, यह पहचान  
माचवेजीके रूपमें अभी जीवित है।

बेवजह गुनाह ढूँढनेवालेके तितक व्यवहारसे उत्पन्न  
आहसे बेखबर माचवेजीके लिए बुराई और वाह-  
वाहका फासला बहुत नहीं रहा है। खाव आतेभी होंगे,  
पर खावगाहका पता न चला। राहें बतानेका कष्ट  
भी लोगोंने किया, लेकिन राह नहीं मिली। तथा-  
कथित निःशुल्क उपदेशकोंसे कविका अर्ज है :

मैं तो सोता रहा जब सब जागे  
जानता नहीं खावगाह क्या है ?

इतने लोगोंने इतनी राहें बतायीं

कि जानता नहीं हूँ कि राह क्या है ? (वही,  
पृ. २२५ में उद्धृत)।

इति यायावरीय। राहका अता-पता इसलिए भी नहीं  
हो सकता है कि उनकी रचनासरिता तो साहित्यार्णवमें  
सीधे और गहरे डूबती है। सरिताका ध्येय होता है  
उन्मुक्त प्रवाह और जल-राशिके मिस शीतलताका

निर्व्यर्ज दान। प्रभाकरके लिए विष्णु प्रभाकरने लिखा,  
“नदी कभी नहीं पछती। वह तो दान करनेका गर्व  
भी नहीं पालती। सहजभावसे समुद्रको समर्पित हो  
जाती है और समुद्र उसके जलको स्वीकार करके फिर  
उसेही लौटा देता है मेघके रूपमें। × × × पानेमें सुख  
है देनेमें आनन्द है। आनन्द सुखसे ऊपर है। माचवे  
उसी आनन्दके अधिकारी हैं।” (वही, पृ. २६५)।  
अनन्य साधक होनेके कारण साहित्य-साधनाका सच-  
मुच वास्तविक और अलौकिक आनन्द तो उन्हें ही  
नसीब है। क्योंकि, उनके पास सूफी दृष्टि है और  
जीवन तथा मनुष्यको सत्य एवं सुन्दरके मध्य शिवको  
स्थापित कर देखनेकी ऊर्जा। माचवेजीमें कला और  
पाण्डित्यका संगम रेखांकित हो गया है। भाव एवं बुद्धि  
का दुर्लभ योग घटित हो सका है। ‘भूमा वै सुखं नाले  
सुखमस्ति’ के माचवेजी सहज निनाद हैं।

‘डॉ. प्रभाकर माचवे: सौ दृष्टिकोण’ अनुसंधित  
मनके लिए उपयोगी है, क्योंकि माचवेजीके जीवनकी  
महत्वपूर्ण घटनाओं तथा उनके साहित्यकी तिथिक्रमसे  
विधागत सूची काफी उपादेय है। यह संपादककी  
मौलिक सूझ है। ये संस्मरण माचवेजीके चिन्तक, लेखक  
एवं व्यक्तिके अभिप्राशके साथ आधुनिक हिन्दी तथा  
हिन्दीतर साहित्यकी चिन्ताधाराका, आनेवाले दिनोंमें  
जो इतिहास लिखा जायेगा, उसके प्रमुख पृष्ठ होंगे।  
‘संस्मरण’ तथा ‘हमारे अपराध’ (बनारसीदास चतुर्वेदी),  
‘अतीतके चलचित्र’ एवं ‘स्मृतिकी रेखाएं’ (महादेव वर्मा),  
‘माटीकी मूर्तें’ (रामवृक्ष वेनीपुरी), ‘क्या गोरी क्या  
सांवरी’ और ‘रेखाएं बोल उठी’ (देवेन्द्र सत्यार्थी), ‘जो  
न भूल सका’ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन), ‘पदचिह्न’  
(शान्तिप्रिय द्विवेदी) प्रभृति संस्मरण-साहित्यकी परम्पराका विकास होकर भी “डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ  
दृष्टिकोण” एक अलग मानक है। डॉ. मारुतिनन्द  
पाठकको, इस प्रसंगमें, शतशः बधाई।

[२]

भाषा एवं संस्कृतिके सेतु

—डॉ. विद्या केशव चिट्ठो

कविता, उपन्यास, नाटक, व्यंग्य, आलोचना, यात्रा-  
वृत्त, जीवनी, प्रबन्धचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, सौ



हायक साहित्यके विविध रूपों पर प्रभाकर माचवेजी के लेखों के जलाल नागर, श्री कल्याण वाले डॉ. प्रभाकर माचवे अपने आपमें निराले हैं। उन्होंने दर्शन और कलापर भी लिखा है। शब्दकोश उन्होंने तैयार किये हैं। अनुवादके क्षेत्रमें तो डॉ. माचवेने इतना अधिक काम किया है कि उसको इकट्ठा करना ही एक "विशेष शोध" हो सकता है। भारतके बाहर लगभग पच्चीस देशोंका उन्होंने भ्रमण किया है और वहांकी लोक संस्कृति और भाषा साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन किया है। वे पूर्ण रूपसे हिन्दी साहित्य के लिए समर्पित रहे हैं। उनकी पहली कविता सन् १९-३४ में पं. माखनलाल चतुर्वेदीने अपने "कर्मवीर" में छापी थी। मुन्शा प्रेमचन्दजीने उनकी पहली कहानी "हंस" में सन् १९३५ में छापी थी, और सन् १९३६ में निरालाजीने "सुधा" में एक लेख छपा था। तबसे यह "कर्मवीर" अपने कार्य-क्षेत्रमें निष्काम भावसे कर्मरत है। उन्हींके शब्दोंमें वे अब केवल "नाना" "दादा" हैं पर "चौथा संसार" को नवसृष्टि का रूप प्रदानकर उसकी अलग साख बनानेमें वे आज भी जुटे हुए।

देशके प्रत्येक प्रदेशमें वे गये हैं पर विशेषतः दक्षिण प्रदेशोंमें। डॉ. माचवेने हिन्दीके लिए जो काम किया, जितने ऊंचे स्वर्गमें बातों की और जो सौहार्द उत्पन्न किया वह अपने आपमें एक उदाहरण है। उनके कारण अनेक हिन्दीतर भाषाभाषी हिन्दीमें लिखने लगे। हिन्दी एवं हिन्दीतर भाषाओंके मध्य सेतु रूप रहे हैं डॉ. माचवे।

ऐसे समर्थ बहुमुखी व्यक्तित्वके विविध कोण डॉ. मारुतिनन्दन पाठक द्वारा संपादित पुस्तकमें उभरे हैं। जैसाकि शीर्षकसे स्पष्ट है सौ झरोखोंसे देखे गये एक व्यक्तित्वका बहुरूप हैं।

व्यक्ति या व्यक्तित्वको देखना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति अपने आपमें जो होता है वह छनकर रचना में उपस्थित हो जाता है। फिर व्यक्तिकी पहचानके बाद रचनाकी ईमानदारीकी पहचान सहज हो जाती है। हर दृष्टिसे यह रोचक और महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न कोणोंसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा डॉ. माचवेको देखा परखा और पहचाना गया रूप इस संपादित ग्रन्थमें प्राप्य है।

इस ग्रन्थमें डॉ. माचवेके संबंधमें प्रत्येक भाषाके और प्रत्येक प्रान्तके व्यक्तित्वने अपना मनोगत व्यक्त

किया है। अग्रणी प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रबोधन मल लोढ़ा, जगदीश गुप्त, क्षेमचन्द्र सुमनने माचवेजी को जैसा पाया वैसा रूप आंका है। दूसरी ओर उनके सम्पर्कमें आये व्यक्ति मित्र, राष्ट्रभाषा प्रचारक, पत्रकार संपादकोंके अपने व्यक्तिगत अनुभव हैं तो तीसरी ओर पुत्र-पुत्री, जामाता, छात्र, मित्र एवं पारिवारिक संबंधियोंकी अनुभूतियों और अन्तर्भावोंका सहज रूप लेखोंमें स्पष्ट हुआ है। कुछ ऐसे लोगोंके भी लेख हैं जिन्होंने माचवेजीसे बहुत कुछ सीखा है उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए हैं। हिन्दीमें जो लोग अपने भावोंको अभिव्यक्ति देनेमें असमर्थ रहें उन्होंने अंग्रेजीमें अपनी भावनाओंको स्पष्ट किया है, इनमें डॉ. बी. बी. भट्टाचार्य, डॉ. के. एम. जार्ज, डॉ. एस. कृष्णमूर्ति हैं जिनके लेख भी इस पुस्तकमें हैं।

इस प्रकार 'डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण' पुस्तक माचवेजीके बहुआयामी व्यक्तित्वकी एक झलक मात्र है। एक कर्मठ व्यक्तित्वकी अनेक छवियां, अनेक रंग, अनेक रूप उभरकर यहां सामने आये हैं, इस सौ दृष्टिकोण के द्वारा विविध आयामी व्यक्तित्वकी बहुमुखी प्रतिभा और ऊर्जाके दर्शन होते हैं। व्यक्ति, मित्र, सहायक, साहित्यिक, सेवक, मार्गदर्शक पिता अभिभावक, कट्टर गांधीवादी—यह ऐसा व्यक्तित्व है जो निष्काम भावसे वीणापाणिकी आराधनामें गत पचपन वर्षोंसे जुटा हुआ है। उनके अन्दर बाहर समान सरल रूप, मनुष्य बनकर रहनेकी कला, कार्य करनेकी पद्धति सभी अनूठी है, बेजोड़ है। यह पुस्तक एक व्यक्तिकी परिचयात्मक प्रशंसा नहीं बल्कि एक प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रबोधन है जो प्रत्येकको कुछ-न-कुछ देनेकी दिशामें पहल करती है। "उनकी आन्तरिक ऊर्जा, कर्मठता, सहज, प्रत्युत्पन्न-मति विलक्षण तीव्र स्मृति, कार्य करनेकी तत्परता, और उम्रकी शिथिलताके मोड़तक भी निरन्तर सक्रियता, किसीभी सामान्य व्यक्तिके आदर्श बन सकते हैं। इस दृष्टिसे "डॉ. प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण" अपनेमें एक उपलब्धिही समझी जानी चाहिये। □



## अनन्य साधिका

### अमृतस्य कन्या?

लेखिका : शीला कड़कीआ

समीक्षक : डॉ. जमनालाल बायती

‘अमृतस्य कन्या’ आचार्य विनोबा भावेके आश्रमकी अनन्य साधिका सुशीला दीदीके साधनामय जीवनकी प्रेरणास्पद जीवन कथा है मोटे टाइपमें मुद्रित। भाषा में रोचकता, प्रवाह एवं प्रांजलता है, एक बार पढ़ना शुरू कर दें तो रुक नहीं सकते। भूदान यज्ञमें दीदीके योगदानकी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने पवनार आश्रममें सामूहिक जीवन बिताया, कुटुम्बीजनोंसे विरासतमें पाये सहयोग, प्रेम, सादगी, सहिष्णुता आदि गुणोंके उनके जीवनमें, दैनिक व्यवहारमें, प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

वे विद्यार्थी जीवनमें अमीर गरीबके बीचकी खाई

१. प्रका. सस्ता साहित्य मण्डल, एन-७७, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली-११०००१। पृष्ठ : ११६, क्रा ८७, मूल्य : ८.०० रु.।

## आलोचना

### सर्जकका मन?

लेखक : नन्दकिशोर आचार्य

समीक्षक : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

समकालीन हिन्दी लेखनमें साहित्य, विशेषतः कविता, को लेकर जो प्रश्न उभरे हैं, ‘सर्जकका मन’ उन्हें चिन्तनके केन्द्रमें रखकर कविता और साहित्यकी अन्य विधाओं

१. प्रकाशक : वाग्देवी प्रकाशन, सुगम निवास, चन्दन-सागर; बीकानेर (राजस्थान)। पृष्ठ : १६८; डिमा. ८६; मूल्य : ७०.०० रु.।

‘प्रकर’—अप्रैल’६०—२०

को देखकर विचलित हो जाती थीं। बिहारमें भूदानके समय तथा उसके बाद आश्रममें उनकी तपस्याका वर्णन रोचक है। कठोर जीवन बिताकर वे अपने विचारोंमें परिपक्व होगयी थीं। वे एक प्रगत साधिका थीं, जीवनके असमंजसके क्षणोंमें वातचीतकी प्रक्रियासे वे चित्त संशोधनकी सशक्त राह बताती हैं। कर्म, विकर्म, अकर्मके क्षेत्रमें विनोबाजीसे विचार विमर्श करती थीं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आश्रम कितने ऊंचे आदर्शोंके लिए कार्य कर रहा था। गुरु हृदय सान्निध्य प्रकरणमें सुशीला दीदीका पवनार आना, लौट आना तथा फिर विनोबाजीका दिल्ली आनेपर यशपालजीकी मध्यस्थतासे जीवन पथपर आगे बढ़नेका वर्णन बड़ा रोचक एवं हृदयस्पर्शी है।

यह कृति परम्परागत जीवनी साहित्यसे भिन्न है। इनमें सिर्फ उनके कार्योंका ही वर्णन नहीं है वरन् जीवन को कल्याणके मार्गपर ले जानेकी प्रेरणास्पद जीवनगाथा है। लगता है स्वयं दीदी सामने खड़ी होकर हमें उस मार्ग पर चलनेके लिए दिशा संकेत कर रही हैं। मानव जीवन को सद्पथपर ले जानेवाला यह उपयोगी साहित्य है। □

(नाटक और कथा) के बहाने अथवा स्वतंत्र रूपसे उनका उत्तर खोजनेका चिन्तन-परक तथा आलोचनात्मक प्रयास है। भिन्न समयपर भिन्न प्रसंगमें लिखे गये कुल तेईस लेखोंमें बिखरावकी अपेक्षा परस्पर सम्बद्धता या एक प्रकारकी प्रबन्धात्मकता इसीलिए है क्योंकि नन्दकिशोर आचार्य मूलतः रचना-कर्म, रचनाके मूल्यांकन और उसके आस्वादसे अपनी सनातनता और समकालीनतामें जुड़े प्रश्नोंको अलग-थलग केवल वैचारिक स्तरपर ही अपनी सोचका विषय नहीं बनाते बल्कि रचनाओंके बीचसे गुजरकर अपने चिन्तनका प्रमाणभी



जुटा लेना चाहते हैं या, कहना ठीक होगा, उसे रचनाकी कसौटीपर कस लेना चाहते हैं। आरम्भिक नौ विचारात्मक लेखोंमें साहित्य, मिथक, विज्ञान, इतिहास, संस्कृति, परम्परा, सनातनता और भारतीयता या कविताकी संरचना और उसके रूपकी जिस चिन्ताको लेकर वे धीरजके साथ प्रश्नोंकी तहोंमें उतरे या उनकी परतें खोलते चले हैं, पुस्तकके शेष आलोचनात्मक लेखोंमें भी उन्होंने उस चिन्ताको अन्यान्य पहलुओंसे विकसित करने और परखनेका क्रम बनाये रखा है। इन शेष लेखोंमें वे क्रमशः हजारीप्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा, श्रीराम वर्मा, गिरधर राठी, प्रयाग शुक्ल, रमेशचन्द्र शाह, भैरप्पा और मैनेजर पाण्डेयकी कृतियोंकी परीक्षा/समीक्षाके बहाने साहित्यके मूल्योंकी पहचान करते हैं। पूर्व निर्धारित प्रतिमानोंके आधारपर कीगयी आलोचनासे ये लेख इस बातमें भिन्न हैं कि कृतिके प्रसंगमें उभरे प्रश्नों को लेकर व्यक्त कीगयी चिन्ता और आलोचकका सोच-विचार इन्हें एक सर्जनात्मक भूमिका प्रदान करता है और पाठकको सहजही आस्वादके माध्यमसे काव्यशास्त्रकी नयी भंगिमाओंसे परिचित कराता चलता है।

यों घूम-फिरकर लेखकको कई-कई बार एक-से प्रश्न विकल करते हैं, जिससे दुहराहटका खतरा हो सकता है, किन्तु आचार्यके लेखनकी खूबी यही है कि वे हर बार किसी-न-किसी नये अन्दाजसे प्रश्नोंका समाधान खोजते हैं, दुहराहटकी ऊब पैदा नहीं करते। लक्षित यह भी किया जाना चाहिये कि यद्यपि उनका चिन्तन प्रगतिवादी / समाजवादी खेमेके आलोचकोंके विरुद्ध पड़ता है और वे यदा-कदा उनमें से दो-एकका नामोल्लेख भी कभी-कभी तीखी वितृष्णासे करते हैं, तथापि व्यंग्य को दूरतक न घसीटकर, अपने कथनोंको तर्काश्रित रखते हुए वे एक तटस्थ चिन्तककी मुद्रा बनाये रखते हैं और उसी तर्कबलपर वे उसकी गरिमाकी रक्षा कर पाते हैं। वैचारिक लेखोंमें आचार्य भारतीय पक्षकी खोज और उसकी व्याख्यामें तत्पर दिखायी पड़ते हैं। पश्चिमसे सब कुछ लेते-लेते इधर कुछ समयसे हिन्दी लेखकोंके एक वर्गको अपनी अस्मिताके खोजनेका ही डर हुआ और उन्होंने भारतीय पक्षसे अपने सोचको जोड़ने और उस दिशामें विकसित करनेका यत्न किया। नन्दकिशोर

आचार्य उसी वर्गके साथ हैं। उनका यह झुकाव राष्ट्रीय दृष्टिसे शुभ है। चिन्तनकी दृष्टिसे शुभ यह भी है कि वे साहित्य और विज्ञानके बीच पूर्वकल्पित खाईको और चौड़ा नहीं करते, बल्कि उसे पाटते हैं और दोनोंके बीच सन्तुलन स्थापित करते हैं। इसीलिए वे अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान और तर्कमूलक ज्ञानको एक-दूसरेकी प्रतिद्वन्द्वितामें न रखकर उन्हें एक-दूसरेका पूरक मानते हैं और तर्कज्ञान के एकान्त आग्रही मानवेन्द्रनाथ रायके समान चैतन्य तथा रामकृष्ण परमहंसको मनोरोगी माननेके भ्रमसे बच जाते हैं।

विज्ञान और कविताके द्वन्द्वकी उपजके रूपमें 'कविताकी स्वायत्तता' का ज्वलन्त प्रश्न आचार्यको प्रमुखतः चिन्तित करता जान पड़ता है। इन लेखोंमें बार-बार वे उसका स्वरूप निर्धारित करने तथा समाधान खोजनेमें प्रवृत्त होते दिखायी देते हैं। यही प्रश्न कभी कविताकी प्रासंगिकताके रूपमें और कभी कविताके भविष्यके रूपमें उपस्थित होता रहता है और हर बार वे कोई नया या अलग तर्क और समाधान प्रस्तुत करते हैं।

आचार्यको साहित्यकी स्वायत्तता तो स्वीकार है, क्योंकि भावसत्यके अनुभवको केवल कविता या कलाही सम्प्रेषित कर सकती है, विज्ञान नहीं; क्योंकि उस सत्य की अभिव्यक्ति काव्य-भाषामें ही संभव है, विज्ञानकी भाषामें नहीं; क्योंकि अन्तःप्रज्ञा और कविताका भी अपना एक विज्ञान होता है, अपनी एक तर्कपद्धति और व्यवस्था होती है; क्योंकि एक स्वतंत्र चिन्तन शैली होने के नाते रचनाकार जिस सत्यको पहचानता है उसतक किसी दूसरी चिन्तन शैलीके माध्यमसे पहुंचना संभव नहीं है; क्योंकि साहित्यका केन्द्रीय सरोकार साहित्य स्वयं ही है—उसकी रचनात्मकताकी, रूपसत्यकी सिद्धि ही उसका प्रयोजन है; पर मुक्तिबोधिय सापेक्ष स्वायत्तता उन्हें स्वीकार्य नहीं है क्योंकि "इस प्रकारके आपत्तिहीन लगनेवाले कथन साहित्यकी स्वायत्तता या स्वतंत्रताको सीमित ही नहीं, नष्टकर रहे होते हैं क्योंकि, ये साहित्यको ज्ञानके अन्य प्रकारोंके मुकाबले ओछा और कम प्रामाणिक मानते और इस प्रकार साहित्यको अन्य अनुशासनोंका पिछलगू बनाकर उसकी अपनी विश्वसनीयताकी परख उन अनुशासनोंके आधारपर करना चाहते हैं।" (पृ. ३२)।

आचार्यका यह तर्क (आपत्ति) तब है जबकि 'नयी



कविताका आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में ही मुक्ति-बोध 'रचना-प्रक्रियाकी स्वायत्त प्रक्रिया', 'बाह्य संसार का अनवरत आभ्यन्तरीकरण' और बाह्य अनुरोधोंके आन्तरिक अनुरोध बन जानेकी बात करते हैं और स्पष्टतः कालान्तरकी आन्तरिक सम्पन्नतापर बल देते हुए कहते हैं, "इसीलिए, कलाके स्वायत्त क्षेत्रका स्वातंत्र्य तभी सार्थक है जब कलाकारमें आन्तरिक सम्पन्नता हो, ऐसी आन्तरिक सम्पन्नता जो वास्तविक जीवन-जगत्के संवेदनात्मक आभ्यन्तरीकरणसे उत्पन्न हुई है। (पृ. १७८)। मुक्तिबोध अपनी अन्य रचनाओंमें भी इस स्वायत्तताका पक्ष लेते और विचार करते रहे हैं और उनका पक्ष बाह्य अनुरोधोंके 'सतही आग्रह' का नहीं है, बल्कि केवल 'लेखककी अपनी मूलभूत प्रेरणा' बनने और उसके 'अन्तर्तत्त्वोंकी व्यवस्थाकी पुनर्स्थापित और पुनर्निर्दिष्ट' करनेका है। मुक्तिबोध और आचार्यके दृष्टि-भेदका ही परिणाम है कि आचार्य इस रूपवादी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'साहित्यकार रूपकी रचना करता है क्योंकि प्रत्येक रचना अनिवार्यतः एक रूप होती है, और इसीलिए न केवल साहित्यका प्रयोजन रूपकी रचना करना है बल्कि रूपकी उत्कृष्टताही साहित्य रचनाकी श्रेष्ठताकी कसौटी होनी चाहिये।" (पृ. २६)। अन्तर्वस्तुवादी या यथार्थवादीका भी वे इस रूपाश्रयितासे बचाव नहीं देखते। अस्तु।

मतभेद किसी रचनाके महत्त्वको गिराते नहीं, दुराग्रह उसे नष्ट करता है। आचार्यके अपने तर्क हैं, उन तर्कोंमें दूसरोंका विरोध भी है, काटका यत्न भी; पर काटका उत्साहजनित आवेश नहीं। आद्यन्त धीर-गम्भीर विवेकवान् व्यक्तिकी भूमिकाका निर्वाह करते हैं। अतएव पाठकको चिन्तित नहीं करते, यद्यपि उसकी चिन्ता (चिन्तन) को जगाते हैं। प्रबुद्ध पाठकोंके लिए वह पुस्तक मूल्यवान् सिद्ध होगी। □

### कविताकी प्रकृति

लेखक : डॉ. हरदयाल

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्रसिंह

डॉ. हरदयाल उन आलोचकोंमें है जिन्होंने रचना-

१. प्रका. सरस्वती प्रेस, २/४३ अंसारी रोड, नयी दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : २०७; डिमा. ८८; मूल्य : ५०.०० रु.।

'प्रकर'—अप्रैल'६०—२२

शीलताके व्यक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक सरोकारोंको अपनी आलोचना-दृष्टिमें उचित स्थान दिया है जिसमें इतिहास, परम्परा और आधुनिकता-बोधके आपसी रिश्तोंको उजागर करनेका प्रयत्न हुआ है। इस दृष्टिसे, "हिंदी कविताकी प्रकृति" उनके निबंधोंका एक ऐसा संग्रह है जो एक ओर आधुनिक कविताके विविध रूपों का यथोचित विवेचन करता है, तो दूसरी ओर मध्यकालीन कविताकी संवेदनाको भी स्पर्श करता है, स्पर्श इसलिए कि इस संग्रहमें ऐसे केवल दो ही निबंध हैं—  
—एक "सूरदासकी प्रासंगिकता" और दूसरे "वांकी-दासकी ब्रजभाषाकी कविता"। इसीके साथ उनका पहला निबंध "राजनीति और कविता" एक महत्त्वपूर्ण निबंध है जो हिन्दी कविताकी पृष्ठभूमिमें राजनीतिक सरोकारोंको आवश्यक मानता है क्योंकि एक सजग रचनाकार राजनीतिसे दो स्तरोंपर टकराता है—एक विरोध की स्थितिमें, और दूसरे समर्थनकी स्थितिमें। इसके अतिरिक्त लेखकके अनुसार, तीसरा सम्बन्ध उदासीनता का है जो यथास्थितिका पोषक है (समर्थनमें भी) (पृ. १०)। इस संदर्भको लेखकने मध्यकालीन कवियों (यथा कुंभनदास, कबीर, तुलसी आदि) के परिप्रेक्ष्यमें विवेचित किया है और उनका यह मानना सही है कि एक सजग रचनाकार राजनीतिसे अपनेसे अछूता नहीं रख सकता—परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे। लेकिन इसके साथ यह भी सत्य है कि एक सजग रचनाकार मात्र राजनीतिसे ही नहीं वरन् विचार-संवेदनके भिन्न आयामोंसे (अन्य ज्ञानक्षेत्र) भी टकराता है जिसकी ओर डॉ. हरदयालका ध्यान नहीं गया। दूसरी बात जो मुझे इस संग्रहके बारेमें कहनी है कि लेखकने आधुनिक रचना-शीलताके भिन्न आयामोंसे सम्बंधित लेखोंको अधिक स्थान दिया है, आदि मध्यकालकी सृजनशीलताको अपेक्षाकृत कम। 'सूरकी प्रासंगिकता' एक ऐसा निबंध है जो सूरकी भक्तिकाव्यके घेरेसे बाहर निकालकर उसकी सार्वभौमिकताके तत्त्वोंको उजागर करता है। यदि लेखक ऐसे कुछ और निबंधोंको शामिल करता, तो मेरे विचार से, वह अतीतको, इतिहासको नये संदर्भोंमें विवेचित और मूल्यांकित कर पाता। वस्तुतः आजकी आलोचना को इस ओर प्रवृत्त होना जरूरी है क्योंकि हम आलोचक अपनेको आधुनिक कालतक ही अधिकतर सीमित रखते हैं। आवश्यकता है अपने अतीतको नये ज्ञान-संवेदन के प्रकाशमें पुनः निर्धारित करना। डॉ. हरदयालके ऐसे



निबंध मुझे यह कहनेके लिए प्रेरित करते हैं।

इस संग्रहके निबंध गुप्तजीसे लेकर आठवें दशक तक की कविता-यात्राको एक क्रममें प्रस्तुत करते हैं और इस पूरे काल-क्रममें वैयक्तिकता और सामूहिकताके उतार-चढ़ावको, उनके द्वन्द्वको, सृजनकी गति-शीलतामें देखते हैं (पृ. १५०-१५१) और साथही, आठवें दशककी कवितामें व्यक्तिवादिताके स्थानपर सामूहिकता के तत्त्वोंको अधिक पाते हैं (पृ. १५४)। इसीके दौरान लेखक प्रेम और प्रकृति-संदर्भको विवेचित करते हुए यह पाता है कि प्रेमका परिवर्तित रूप सातवें दशकसे ही आरम्भ होगयाथा क्योंकि सातवें दशकमें सेक्सका और आठवें दशकमें 'प्रेम' की एकनिष्ठताका स्पष्ट अंतर लक्षित होता है जो हमें विनय, नंदकिशोर आचार्य आदि में प्राप्त होता है (पृ. १५५)। लेखकने "आजकी हिंदी कविताकी प्रकृति शीर्षक लेखमें समकालीन कविताके व्यापक परिप्रेक्ष्यका विवेचन करते हुए आजकी कविता के तीन प्रमुख प्रेरक तत्त्वों या घटकोंका संकेत किया है—एक प्रेमकी वापसी, दूसरे विचार कविता और तीसरे नवप्रगतिवाद (पृ. १५४)। मेरे विचारसे आजकी कविताके ये तीनों तत्त्व एकसही परिदृश्यको सामने रखते हैं जो पूर्वाग्रहोंसे पीड़ित नहीं हैं। इस सारे परिदृश्यको मैं "विचार-संवेदन" के विविध आयामोंके रूपमें लेता हूँ जिसमें समाज, मिथक, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और राजनीतिके सरोकारोंका न्यूनाधिक रूप प्राप्त होता है। विचार-संवेदनकी गतिशीलता इन सबसे अपना नाता स्थापित करते हुए 'कृति'को जन्म देती है। यदि लेखक विचारके इस गतिशीलरूपको सामने रखता तो वह अपने निबंधोंको और अधिक व्यापक और अर्थवान् बना सकता था। मेरे विचारसे "विचार कविता" को मात्र आंदोलनमे बाँधना विचारके सार्वभौमिक एवं गतिशील रूपके प्रतिअन्यायकरना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रतीकको मात्र प्रतीकवादी आंदोलनसे। ऐसे संप्रत्यय होते हैं जो सीमित परिप्रेक्ष्यकी मांग नहीं करते।

इसी संदर्भमें "हिंदी कविता : पच्चीस वर्ष" लेख एक महत्त्वपूर्ण आलेख है जिसमें, साठोत्तरी कविताके चरित्रको उसके द्वन्द्वको और उसके अनेक आंदोलनोंकी शल्य क्रिया कीगयी है और इन सबसे निकलकर कविता का वह रूप स्पष्ट किया गया है जो आजकी कविताका मूल स्वर है यथा नवप्रगतिवाद।

कविताके व्यापक परिप्रेक्ष्यमें लघु पत्र-पत्रिकाओंका जो हुजूम प्राप्त होता है, उसका विश्लेषण करते हुए लेखक ने इसके दो कारण दिये हैं—एक युवा कवियोंकी रचनाओंका व्यावसायिक पत्रिकाओंमें न प्रकाशित होना और दूसरे अनेक आंदोलनोंकी प्रस्तावनाके अन्तर्गत अपनी पहचान बनानेकी छटपटाहट (पृ. १३६)। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण था कि औद्योगिक समाजमें व्यक्ति की पहचान गुम हो जाती है, और इसीसे इस पहचान को बनाये रखनेके लिए नये हस्ताक्षरोंको लघु पत्रिकाओं के प्रकाशनकी ओर प्रवृत्त होना पड़ा। मेरी दृष्टिसे एक औरभी कारण था कि विचार संवेदनका एक ऐसा उद्देलन जो अपनी अभिव्यक्तिके लिए अपनी पत्रिकाओं का संपादन करता है। इस सारे वैचारिक उद्देलनने साठोत्तरी कविताको क्रमशः निखारही दिया और काल की 'छलनी' से बहुत-सी अरचनात्मक एवं मात्र नारे-बाजवाली कविताओंकी क्रमशः छटनी होती गयी, फलतः आजकी कविताकी मुख्यधारा अपना मार्ग प्रशस्त कर सकी। लेखकने साठोत्तरी कविताके विवेचनमें एक ऐसी कृतिके निर्धारणका प्रयत्न किया है जिसपर लोगों का ध्यान कमही गया है, वह कृति है "शोषितनामा" (मनोज सोनकर) जो दलित वर्गका एक जीवित दस्तावेज है जो मराठीके दलित आंदोलनसे प्रभावित रचना है। मुझे यह कृति नितान्त अलग प्रकारकी लगी जहाँ तक कथ्य और शिल्पके मारक प्रयोगका प्रश्न है। मैंने इस पुस्तककी समीक्षामें ('प्रकर' में प्रकाशित) इसी तथ्य को सविस्तार विवेचित किया है।

इस संग्रहमें केदारनाथ सिंहकी काव्य यात्राका (बिम्बसे प्रतीक तक) जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसके दो चरण माने गये हैं—एक बिम्ब प्रधान सुबोध सरल चरण और दूसरा चरण दुरूह एवं क्लिष्ट जहाँ वे दलित वर्गको केन्द्रमें लाते हैं। प्रथम चरणमें उदासी अकेलेपन और व्यक्तिवादका प्रभाव अधिक है, तो दूसरे चरणमें प्रतीकका, यथार्थका अधिक आग्रह। इन दोनों चरणोंमें पर्याप्त अन्तराल है क्योंकि "अभी बिल्कुल अभी" के प्रकाशनके बाद "जमीन पक रही है" का प्रकाशन एक लम्बी अवधिके बाद होता है (बीस वर्ष) मेरे विचारसे यह अन्तर रचनाशीलताको नये संदर्भोंकी ओर ले जाता है; और कविकी दूसरे चरणकी कविताएं परिवर्तित संवेदनाकी कविताएं हैं और उनकी 'दुरूहता' इसी परिवर्तित बोधके कारण है। मेरे विचारसे वे उस रूपमें



दुरुह भी नहीं है जिस रूपमें लेखक उन्हें स्वीकार कर रहा है। “जमीन पक रही है” की कविताएं (जो लेखक उद्धृत करता है) मुझे न दुरुह ही लगें और न क्लिष्ट, यह अवश्य है कि पहले चरणकी कविताओंसे भिन्न इनकी संवेदना और संरचना है जो परिवर्तित काल बोध का परिणाम है। इसे मैं कविकी गत्यात्मकता मानता हूँ। इस दृष्टिसे लेखकने कुंवरनारायणकी कविताके बारे में कहा कि “उनकी कविता विचार-संयमित संवेदनाकी कविता है” (पृ. ७९) एक सही मूल्यांकन है और यही मूल्यांकन केदार की काव्य यात्राको क्यों नहीं दिया गया? यह प्रश्न मुझे सोचनेको विवश करता है और शायद लेखककी भी करें।

इस संग्रहमें एक निबन्ध अजितकुमारकी पुस्तक “कविताका जीवित संसार” (रची कविता बनी कविता) को लेकर उस ‘बहस’ से सम्बन्धित है जो लेखक और अजितकुमारके मध्य चली। यह पूरा लेख एक वैचारिक नोंक-झोंक है जो रोचक ‘बहस’ के रूपमें है। इस बहस में डॉ. हरदयाल अजितकुमारकी समीक्षाके बारे में कहते हैं कि ये समीक्षाएं कोमल स्वभावके आदमीकी हैं जिसमें बौद्धिक साहस और दो टूक बात कहनेकी क्षमता नहीं है” (पृ. २४)। यह मत पर्याप्त ठीक है क्योंकि अजितकुमार मूलतः कवि हैं, समीक्षक नहीं। वे “कविनुमा” समीक्षाही कर सकते हैं जो उन्होंने की है। मेरे विचारसे “रची कविता” और “बनी कविता” का द्वन्द्व एक सत्य है, लेकिन रची कविताका महत्त्व अधिक रहेगा ही। इसी प्रकार “चौथा सप्तक” पर लेख एक सही स्थिति रखता है कि अज्ञेयका यह संपादन समकालीन कविताके सार्थक ‘तेवर’ को व्यक्त नहीं करता, इसमें वे ही कवि संकलित हैं जो अज्ञेयके किसी-न-किसी रूपमें पक्षधर हैं। फिर, अज्ञेयका यह मत कि समकालीन कविता सामान्यतः घटिया कविता है—पूरे परिदृश्यका सही मूल्यांकन नहीं, है यह एक प्रकारका एकपक्षीय परिदृश्य ही कहा जायेगा।

अस्तु, डॉ. हरदयालकी यह पुस्तक आधुनिक कविता के विविध आयामोंको प्रस्तुत करती है जो सृजनके घरातलसे उठाये गये हैं, और इसीसे लेखक सृजन और आलोचनाके अन्तःसम्बन्धको किसी-न-किसी रूपमें उद्घाटित करता है। निबन्धोंकी शैली ग्राह्य एवं रोचक है जो आलोचनाको भी रचनात्मक आयाम देती है। □

‘प्रकर’— अप्रैल १९०—२४

## नयी कविताकी भूमिका

लेखक : अंजनी कुमार

समीक्षक : डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी

छायावादोत्तर हिन्दी कविताने जहां पहुंचकर अपनी एक पहचान स्थिर की, वह पड़ाव नयी कविताका ही है। अपने जन्मकालसे ही नयी कविता इस चर्चके केन्द्र में रही है कि नयी कविता क्या है और इसका नयापन किन दिशाओंमें लक्षित होता है? लक्ष्मीकान्त वर्मा और जगदीश गुप्तके आरम्भिक वक्तव्योंमें लेकर आज तक नयी कविताकी विवेचना कई विवादों और चिन्ताओंसे जुड़ी रही है। युवा समीक्षक अंजनीकुमार की यह पुस्तक नयी कविताकी भूमिका इसी चिन्ता-धाराकी नवीनतम कड़ी है। पांच शीर्षकोंमें विभक्त ७५ पृष्ठोंकी यह समीक्षा-पुस्तक नयी कविताके संतुलित मूल्यांकनकी दिशामें उठे हुए युवा-कदमकी बानगी है। नयी कविता और प्रयोगवाद, नयी कविता और प्रगतिवाद, नयी कविता और सीमाएं, नयी कविताकी प्रवृत्तियां, नयी कविता और अस्तित्ववाद—इन पांच शीर्षकोंसे ही अंजनीकुमारकी समीक्षा-दृष्टि इंगित होती है।

विषय-सामग्रीका यह क्रम संगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः पुस्तककी रूपरेखा क्रमशः नयी कविता और प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, अस्तित्ववाद, प्रवृत्तियां और सीमाओंके अनुसार बननी चाहिये थी। तभी पाठकोंके सामने नयी कविताका एक क्रमिक विवेचन परोसना तार्किक होता है। अपनी वर्तमान रूपरेखामें भी यह पुस्तक नयी कविताको समझनेमें सहायक है, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः नयी कविता अपनी यात्रामें भारी-भरकम पहाड़ों और दुर्गम घाटियोंके बीचसे अपना रास्ता निकालती हुई आयी है। इसने प्रशंसाका अमृतभी चखा है और आलोचनाका विषभी। इसी कारण अंजनी कुमारने नयी कविताके साथ प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, एवं अस्तित्ववादके अन्तःसम्बन्धोंकी विवेचना करते हुए नयी कविताके स्वतंत्र व्यक्तित्वको पहचाननेका

१. प्रका. : शारदा प्रकाशन, १६/एफ-३ अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : ७३;

डिमा. ८८; मूल्य : ३५.०० रु.।



यत्न किया है। समीक्षकने बताया है कि वादोंसे अलग हटकर नयी कविताकी खोज कविताकी है। उसे यह देखकर संतोष होता है कि नयी कविताका हर कवि दूसरेसे भिन्न होना चाहता है। १९०० से १९६० के बीच लिखी गयी सभी नयी कविताओंकी प्रासंगिक व्याख्या करना इस समीक्षा कृतिका संकल्प नहीं है। अंजनीकुमारने केवल नयी कविताकी प्रवृत्तियों और सीमाओंका संकेतन किया है। इस क्रममें युवा समीक्षककी अपनी प्रवृत्तियाँ और सीमाएँ भी इस पुस्तकमें उजागर हुई हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अंजनीकुमारके पास संकलन और सर्वेक्षणकी क्षमता है, लेकिन निजी निष्कर्षोंके निर्माणकी प्रतिभा अभी उन्हें विकसित करनी होगी। नयी कविताकी भूमिकामें संदर्भ-ग्रंथोंका समुचित उल्लेख नहीं किया गया है। वास्तवमें इस दिशामें एक प्रकारकी असावधानता लक्षित होती है। या तो किसी भी उद्धरणके सूत्रका संकलन न किया जाता, अन्यथा सभी उद्धरणोंके संदर्भ दिये जाते। ऐसी संदर्भ-अनेक-रूपता युवा समीक्षककी शोध प्रतिभाके बारेमें चिंतित करती है। पुस्तकके अंतमें सहायक ग्रंथोंकी प्रामाणिक तालिकाका अभाव भी खटकता है। □

## साहित्य संस्था: संरचना और प्रकार्य

लेखक : डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

समाजशास्त्री प्रत्येक वस्तुको संस्थाबद्ध करके देखनेके अभ्यस्त होते हैं। इसीलिए साहित्यको भी संस्थाके रूपमें देखे जानेकी सम्भावना प्रस्तुत पुस्तक का आधार है। अनेक विश्वविद्यालयोंमें 'साहित्यका समाजशास्त्र' अध्ययन-अध्यापन और परिसम्बादके विषयके रूपमें स्वीकृत है। विश्वम्भरदयाल गुप्तकी पांच पुस्तकें साहित्यके समाजशास्त्रसे सम्बन्धित हैं। उन्होंने 'साहित्य संस्थाका सैद्धान्तिक एवं अवधारणात्मक निरूपण' करनेके उद्देश्यसे इस पुस्तककी रचना की है। वे मानते हैं कि 'अभिव्यक्तिमूलक एवं कलात्मक

संस्थाओंको समाजशास्त्र अपने अध्ययनमें सम्मिलित करता है। अतः साहित्यके संस्थात्मक स्वरूपका विश्लेषण एक समाजशास्त्री जितने व्यवस्थित एवं स्पष्ट रूप से कर सकता है। उतना अन्य नहीं।' इसीलिए समाजशास्त्री डॉ. गुप्त इस अध्ययनकी ओर प्रवृत्त हुए हैं।

पुस्तकके पांच अध्याय हैं। पहला है साहित्य-संस्था : उद्गमबिन्दु। विचार और संरचनासे मिलकर संस्था बननेकी धारणामें इसका आरम्भ होता है। हेगल, मार्क्स, एंगेल्स और अनेक समाजशास्त्रियोंके विचारोंके आलोकमें साहित्य संस्थाकी अवधारणा विकसित की गयी है।

'संस्थाकी अवधारणा' दूसरा अध्याय है। इसमें राबर्ट वुडवर्थकी बातसे आरम्भ किया गया है कि मानवीय क्रियाएँ तीन प्रकारकी प्रेरणाओंसे उत्पन्न होती हैं आत्मरक्षण, आत्मनिरन्तरता और आत्माभिव्यक्ति। संस्थाकी अवधारणाओंका सम्यक् परीक्षण करनेके बाद साहित्यके संस्थात्मक स्वरूपपर गम्भीर विचार विमर्श हुआ है। समकालीन समाजशास्त्रियोंके दृष्टिकोण, साहित्यके संस्थात्मक स्वरूप-निर्धारणकी प्रमुख समस्याओं, साहित्यको संस्था माननेकी अवधारणाकी साहित्य द्वारा ग्राह्यता और साहित्य-संस्थाकी प्रकृति-प्रकार्य आदिपर इस अध्यायमें विचार किया गया है। समाजमें बढ़ती हुई जटिलताके कारण साहित्य-संस्था को आवश्यक माना गया है। अन्य विचारकोंके साथ रेने वेलेककी धारणा कि "साहित्य एक सामाजिक संस्था है" को विशेष महत्त्व दिया गया है। हे. लेविन, एच. डी. डंकन, माइकेल जिराफ, माल्कन ब्रोडबर्गी, एन. सी. अल्ब्रेख्त, राबर्ट एस्नॉरपिट, जार्ज ए. ह्याको, हार्ट और हण्ट आदि विचारकोंकी धारणाओंका परीक्षण करते हुए डॉ. गुप्त निष्कर्षतक पहुँचते हैं कि "साहित्य एक सामान्य संस्था है। उसकी सार्वभौम प्रकृति, उसके व्यापक सृजन एवं प्रसारसे प्रमाणित होती है। बील्स ह्याइजर, लावी, हर्सकोविट्ज जैसे विचारक कलाकी सर्वव्यापकताको स्वीकार करते हैं। यथार्थतः वह संस्कृति निरर्थक है जिसमें सौन्दर्यात्मक भावना कोई रूप नहीं होता। साहित्यकी मूलभूत एकता के बिना विश्व साहित्यका सृजन व विभिन्न भाषाओंमें अनुवाद इस और संकेत करता है कि साहित्य संस्था एक गुणकारी व नियामक संस्थाके रूपमें निरन्तर विस्तार पा रही है। उसके मूल्य जाति, धर्म, क्षेत्र आदिकी

१. प्रका. : सीता प्रकाशन, मोती बाजार, हाथरस-२०४१०१। पृष्ठ : १०६, डिमा. ८८; मूल्य : ४४.०० रु.।



सीमित परिधिसे निकलकर सार्वभौम मूल्योंके ग्रहण व प्रसारकी ओर अग्रसर हैं। समाजशास्त्रीकी इस प्रकार की रुचि स्वाभाविकही है।

तीसरा अध्याय है 'साहित्य संस्था : संरचना, इसमें बोगार्डसकी सामाजिक संस्थाकी अवधारणासे प्रस्थान करके रैडक्लिफ ब्राउन, हेरी एम. जान्सन, कार्ल मन्हीम जिन्सबर्ग, मैकाइवर-पेज, इवान्स प्रिचार्ड, नैडेल आदि विचारकोंकी उक्तियों-मान्यताओंके सहारे आगे बढ़ते हुए डॉ. गुप्त बताते हैं कि साहित्य संस्थाकी संरचनाके विश्लेषणके सन्दर्भमें समाजशास्त्री निम्नलिखित तथ्यों को ध्यानमें रखता है—पूर्ववर्ती विचारकोंके दृष्टिकोण, संरचनात्मक प्रकृतिके औपचारिक अनौपचारिक रूपकी व्याख्या, संरचनात्मक स्थिरताके आधारोंके बोधके साथ उसमें विद्यमान गतिशीलता सम्बन्धी मान्यताओंका विश्लेषण, संस्थाके स्थानीय पहलू उसके पारस्परिक प्रभाव एवं परिणामोंका विश्लेषण और संरचनात्मक इकाइयोंकी क्रियाओंमें नियमितताके विश्लेषणके साथ संरचनाकी सार्वभौम प्रकृतिका अध्ययन।

इस दिशामें साहित्य समाजशास्त्रीका कार्य है कि वह यदि साहित्य संस्थाकी संरचनाका विश्लेषण करना चाहता है तो स्थानीय पक्ष और साहित्यकी अनेक विधाओंमें लेखक-पाठक-दर्शक-श्रोताकी अन्तःक्रियाओं को ध्यानमें रखकर ही आगे बढ़े।

'साहित्य संस्था : प्रकार्य' चौथा अध्याय है। साहित्य और व्यवस्था, व्यक्ति और समाज, समाज और व्यक्तिकी साहित्यसे अपेक्षाएँ, आत्मतुष्टि और सामाजिक तुष्टि, सार्वभौम और क्षेत्रीय सन्दर्भ, मानव-आस्था आदि प्रश्नोंको आधार मानकर साहित्यके मार्गदर्शन (दीपक-भूमिका) को स्वीकार करते हुए साहित्यके निम्नलिखित कार्य संकेतित हैं—विश्वके समक्ष समाजके

स्वरूप एवं उसके क्रमिक विकासका प्रस्तुतीकरण, सभ्यता एवं संस्कृतिका प्रचार-प्रसार वहन, रक्षण, सामाजिक संगठन एवं एकीकरणका अभिकरण, व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक सन्तुष्टि एवं मनोवृत्तियोंका परिष्करण, मनोरंजनका अभिकर्ता, व्यक्ति और समाजके विश्लेषण द्वारा सामंजस्यपूर्ण परिस्थितियोंका विकास।

साहित्य संस्थाके प्रकार्यके साथ डॉ. गुप्त उसके अकार्य पक्षपर भी प्रकाश डालते हैं। साहित्यकी रचनात्मक शक्तिको विशेष महत्व देते हुए साहित्यके अकार्य की व्याख्या महावीरप्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानन्दन पन्त और उपेन्द्रनाथ अशक जैसे लेखकोंकी मान्यताओंके सन्दर्भमें किया गया है। पलायनवादी, कर्तव्यविमुख, आस्थाहीन साहित्य अकार्य ही है।

उपसंहारमें विचार-विन्दु निम्नलिखित हैं—साहित्य संस्थाका अन्य सामाजिक संस्थाओंसे क्या सम्बन्ध है, क्या वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है? या वह स्वयं संस्थाओंपर आश्रित है? साहित्य-संस्था के अध्ययन-उद्भव-विकास आदिको समझने हेतु साहित्य-समाजशास्त्री किन-किन रीतियोंका प्रयोग कर सकते हैं?—साहित्यका पारिवारिक संस्थाओंसे घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक संस्थाओंसे साहित्य-संस्थाके परस्पर प्रभावको भी स्वीकार किया गया है। इन सबके अन्तःसम्बन्धोंपर सावधान दृष्टिपात करनेके बाद ही डॉ. गुप्त अपने निष्कर्ष देते हैं।

उपसंहारके अन्तकी टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है—“यथार्थतः साहित्य जितना प्राचीन है, उसके संस्थात्मक स्वरूपकी अवधारणा उतनीही नवीन है।” (पृ. ६९)।

साहित्यको गतिशील संस्था मानना डॉ. गुप्तको उन समाजशास्त्रियोंसे अलग करता है जो अपने शास्त्र की बारीकियोंको तो समझते हैं पर साहित्यकी संवेदना को इसलिए नहीं समझ पाते कि उसे भी स्थिर संस्था मान लेनेकी भूल करते हैं।

साहित्यका साहित्येतर अध्ययन और मूल्यांकन अपेक्षाकृत नया प्रयास है। इस दिशामें समाजशास्त्रीय अध्ययनोंका अपना महत्त्व है। साहित्यके समाजशास्त्रीय अध्ययनमें डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्तका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, इसे स्वीकार करना चाहिये। □

उत्कृष्ट रंगीन फोटो के लिए

अमित फोटो सर्विस

ए-८/४२, राणाप्रताप बाग,

दिल्ली-११०००७



## घोर समीरे?

लेखक : गोविन्द मिश्र

समीक्षक : राजपाल शर्मा

‘घोर समीरे’ धार्मिक यात्रा वृत्तात्मक शैलीमें लिखा गया उपन्यास है। इसमें ब्रजके स्थापत्य, कला, संस्कृति, इतिहास, लोकमानस, ब्रजगरिमा और पौराणिक-स्थलों तथा प्राकृतिक परिवेश एवं विराटताका सुखद साक्षात्कार कराया गया है। दो दशक पूर्व डॉ. लक्ष्मीनारायण लालका ‘मन वृन्दावन’ उपन्यासभी ब्रजयात्रा को केन्द्र बनाकर लिखा गया था। धार्मिक यात्रामें देश के विभिन्न प्रान्तों तथा संस्कृतियोंवाले मनुष्योंका परस्पर समागम होता है। विभिन्न मानसिकता एवं विचारोंवाले व्यक्ति एक दूसरेके सम्पर्कमें आते हैं तथा परस्पर विचारों और धारणाओंका आदान-प्रदान करते हैं। उन्हें एक दूसरेको समझनेका अवसर मिलता है। जीवनके झंझट तथा रोजकी घिर्गीपिटी व्यस्त दिनचर्या से मुक्त होकर व्यक्ति धार्मिक यात्रापर प्रयाण करता है। उसे उन्मुक्त रूपसे विचरने तथा मुक्त एवं निर्मल मनसे सोचने, समझने तथा आत्मावलोकनका अवसर मिलता है।

यह उपन्यास भारतकी कर्मस्थली, योगस्थली, भक्ति एवं साधनास्थली और रंगस्थली ब्रजभूमिकी चौरासी कोसकी परिक्रमापर आधारित धार्मिक यात्रा से सम्बन्धित है। इसमें सुनन्दा और नन्दनकी प्रेम कहानी है तथा नायिका सुनन्दाके माध्यमसे ब्रजकी धार्मिक यात्राके साथ-साथ मानव-मनकी यात्राके प्रसंगों को भी मार्मिक ढंगसे अंकित करनेका प्रयास किया है। सुनन्दा अपने मनमें धार्मिक आस्था तथा विश्वासकी आशाकिरण लेकर इस यात्रामें शामिल होती है। उसके अन्तर्मनमें ईश्वरके प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास है

१. प्रका. : राजपाल एंड संस ‘कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-११०००६ । पृष्ठ : २१४, डिमा. ८८; मूल्य : ६०.०० रु. ।

कि दैवीय कृपासे उसका खोया हुआ बेटा किशोर मिल जायेगा। घोर निराशा और ऊबके किंचित् क्षणोंमें उसकी आस्था तथा विश्वास डगमगाने लगते हैं और वह अनन्त कष्ट और घोर असुविधा झेलकर कीगयी यात्रा, प्रदूषणसे युक्त यमुना और कुंड सरोवरोंमें स्नान और आचमन एवं ब्रज रजमें लेट-लेटकर गिरिराज गोवर्धनकी सात कोसकी दंडौती परिक्रमा तथा वर्तमान पंडईकी गुंडई आदिको अज्ञान और अशिक्षासे मंडित नितान्त अन्धविश्वास एवं धार्मिक रूढ़वादिता मात्र समझती है। फिरभी वह यह अस्वीकार नहीं कर पाती कि उसकी यह यात्रा निष्प्रयोजन है। उसकी आस्तिकता एवं पुत्र मिलनकी ललक और जन्मजात संस्कार अन्त तक तर्क बुद्धिसे परास्त नहीं हो पाते। ईश्वरके प्रति अटूट आस्था एवं विश्वासके बलपर अन्तमें अपने खोये हुए पुत्र किशोरको पानेमें सफल होती है। सुनन्दाकी अपनी यात्रामें वाँछित इच्छाको फलीभूत करना लेखक की ईश्वरके प्रति अटूट श्रद्धा एवं धार्मिक यात्राके प्रति सात्त्विक निष्ठा और विश्वासका परिचायक है। श्रद्धा, विश्वास तथा निष्ठा संस्कारवश स्वयंही हृदयमें पैदा होते हैं, थोपे नहीं जा सकते :- ‘आडम्बर जो फिर आदतकी तरह बड़ेही स्वभाविक ढंगसे हमारा हिस्सा बन बैठ जाता है। फिर एकसे लेकर दूसरेने ओढ़ा। हमने उससे सुना, उसने उससे। बापने बेटेको बताया ... और इसीतरह लोग चले आते हैं। जैसे मनमें कुछ उठे या नहीं, लोग मन्दिर जाते हैं, शीशमी झुक जाता है मूर्तिके सामने आदतन।’ (घोर समीरे, पृ. १६७)।

आदर्शवादी, ईमानदार एवं देशभक्त पिताको त्याग और बलिदानके बदले उपेक्षित, अभावग्रस्त तथा घुटनभरा जीवन जीते देखकर सत्येन्द्र पितासे विपरीत जीवन जीनेको विवश होता है। उसका जीवन-दर्शन व्यावहारिकताके घरातलपर टिका है। वह दुनियाँदार एवं व्यवहारकुशल और चलतापुर्जा इन्सान है। जायज

‘प्रकर’—वैशाख २०४७—२७



यां नाजायज हर तरीकेसे अधिकाधिक धनोपाजन करके भौतिक सुखोंको प्राप्त करके समाजमें प्रतिष्ठा पाना उसके जीवनका चरम लक्ष्य है। अभावग्रस्त एवं घुटन भरा जीवन जीनेसे उसे सख्त परहेज है। हेरा-फेरी, छल-प्रपंच तथा जोड़-तोड़से धन दौलत एवं जायदाद खड़ी करके भी इस व्यस्त तथा अफरा-तफरीभरे जीवन के प्रति वितृष्णा पैदा होती है तथा परिवर्तनकी कामना सत्येन्द्रके मनमें जागृत होती है। घिसीपिटी दिनचर्या एवं मशीनी जिन्दगीसे ऊबकर देहातकी सैर करनेका मन बनाकर तथा नयेपनकी तलाशमें सत्येन्द्रकी धार्मिक यात्रा शुरू होती है। वह अथ यात्रियोंकी भांति नियम ग्रहण करनाभी उचित नहीं समझता। उसके दृष्टिकोणमें मूर्तियों व विग्रहोंकी पूजा, रासलीलाका प्रयोजन अशिक्षित व्यक्तियोंको ईश्वर एवं धर्मको अनुभव करनेमें सहायता करता है तथा शिक्षित लोगोंमें पूजा, पाठ एवं अर्चनाशून्य जीवनमें प्रेमकी सृष्टि करता है और ईश्वरके प्रति आस्था एवं विश्वास जागृत करता है। वह मात्र परिवर्तनके लिए ही नहीं, वरन् घिसेपिटे ढर्रे पर व्यस्त, एवं नीरस जीवनसे उकताकर पढ़ी लिखी, समझदार तथा प्रेममयी महिला प्रेमिकाकी खोजमें अपनी यात्रा आरम्भ करता है। सुनन्दाकी गुणोंसे रक्षा करके वह उसे अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयास करता है तथा दर्शनीय धार्मिक स्थलोंकी यात्रा में उसका सान्निध्यभी प्राप्त करता है। परन्तु अपने उद्देश्यमें असफल रहता है। जीवनके कटु अनुभवों एवं दुःखोंको झेलती तथा पुत्रविछोहमें और पति द्वारा धोखा खाया हुई सुनन्दाके भग्न हृदयमें प्रेमका अंकुर दोबारा फूटनेकी सम्भावनाही समाप्त हो गयी है। सत्येन्द्रकी व्यावसायिक बुद्धि सुनन्दाकी आड़में जमुना लाल चौबे जैसा मुक्किल पाकर जागृत हो जाती है। वह धनोपाजनके लालचमें सुनन्दाका सौदा बीस हजार रुपयेमें चौबेसे कर लेता है। इसे वह नितान्त व्यावसायिक मामला कहकर सिद्धान्त रूपमें तर्कसम्मत ठहराता है। परन्तु उसके अन्तर्मनमें अन्तर्द्वन्द्वकी स्थिति बनी रहती है। कुछ है जो अन्तरको मथ रहा है। वह अपने फैसलेको न्यायसंगत नहीं ठहरा पाता। धर्मको आडम्बर माननेवाले सत्येन्द्रका मन अनायास बदलने लगता है तथा वह सुनन्दाको सत्यसे अवगत करा देता है। उसकी व्यावसायिक तर्कबुद्धि, उसकी मानवता एवं कर्तव्यपरायणतासे एकदम परास्त हो जाती है। उसके

अन्दर मानवीय गुणोंका विकास आकस्मिक रूपसे हो जाता है तथा उसका हृदय आमूल परिवर्तित हो जाता है। वह सुनन्दाको अपने अधिकार प्राप्त करनेके लिए तथा अपनी लड़ाई स्वयं अपने बल-बूतेपर लड़नेको प्रेरित करता है। सत्येन्द्रमें आये आकस्मिक व आश्चर्यजनक परिवर्तनके लिए गोविन्द मिश्र धार्मिक यात्राका प्रभाव मानते हैं : “सत्येन्द्रको अपने आपसे ऐसी आशा नहीं थी। वह तो यही सोचता था कि कुछभी ठीक है— जो अपने फायदेमें आये, उसे फटाकसे अपनी झोलीमें। जमुनालालके पैसोंको छोड़कर सत्येन्द्र अनजाने अपनेको कितना आदर दे गया है। चलो वह बड़ी बात बोलता सही, कमसे कम इतना तो हुआ ही कि वह गिरनेसे बच गया, एक बेहद घृणित काम करते-करते बच गया। यह कैसे हो सका— पतनके नीचेसे नीचे तल..... कि जिसे आपने चाहे जितना चाहा, उसे ही बेचने चल पड़ना .... उस निम्नतम तलपर जा गिरनेके ठीक पहले उठ जाना— यह कैसे हुआ? यात्राका असर?” (धीर समीरे, पृ. २१२—२१३)।

नरेन्द्र व्यस्त एवं सफल व्यवसायी है। वह अपनी पत्नीकी खुशी और सुखकी खातिर धार्मिक यात्रापर आया है। वह इसे धार्मिक यात्रा समझकर नहीं बल्कि पिकनिक मानकर पत्नीके साथ घूमने आया है। उसका मानना है कि इस यात्रामें उसके लिए नेचुरल डिसिप्लिन हो जाता है, स्वास्थ्य बन जाता है तथा प्रतिदिन के विसेपिटे नीरस जीवनमें सरसता और बदलाव आ जाता है। वहीं नास्तिक नरेन्द्र एक अनजान वैष्णवी ब्राह्मणी बुद्धियाकी लावारिस लाशके पास सारी रात अकेला बैठा रहता है तथा उसका अंतिम संस्कार अपने पैनोंसे स्वयं सम्पन्न करता है। नरेन्द्र का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन तथा मान्यताओंमें आमूल परिवर्तन हो जाता है।

गोविन्द मिश्रने ‘धीर समीरे’ में ब्रजकी गौरवगाथा एवं संस्कृतिकी झलकी पुस्तक की है। इस उपन्यासके परिप्रेक्ष्यमें आधुनिक ब्रजको समझनेका प्रयास किया गया है। पंडोंकी धूर्तता व गुंडईकी घोर आपराधिक संस्कृति के विकासका तर्क यथार्थ ब्रजकी गरिमामयी संस्कृतिमें कालिख सदृश है। धर्मके खोखलेपन एवं ढोंग और आडम्बरका मार्मिक एवं यथार्थवादी चित्रण है। ब्रजके सभी तीर्थों व धार्मिक स्थलोंका विशद वर्णन एवं महिमा, ब्रजकी सारी ललित कलाएं, ब्रजका लोक जीवन और उससे जुड़े कला एवं संस्कृतिके पक्षसे सम्बन्धित



पर्याप्त जानकारी उपन्याससे मिलती है। सत्येन्द्र व नरेन्द्र के जीवन दर्शनमें अनायास पूर्ण बदलाव लाकर लेखकने अपनी धारणाओं, मान्यताओं एवं धार्मिक आस्था और विश्वासको आरोपित करनेका प्रयास किया है। सत्येन्द्र एवं नरेन्द्र के चरित्रका विकास स्वाभाविक रूपसे नहीं हो पाता। प्रायः यह असम्भव लगता है कि किसी व्यक्तिकी जीवन पर्यन्तकी मान्यताओं एवं जीवन दर्शनमें आमूल परिवर्तन आकस्मिक रूपसे एक साथ द्रुतिगतिसे धार्मिक यात्रामें हो जाये। इसे मात्र धार्मिक रूढ़िवादिता और अन्धविश्वासही कहा जा सकता है। यह धार्मिक आस्था, मान्यताओं एवं धारणाओंकी विश्वसनीयतापर कुठाराघात है।

‘धीर सर्मा रे’ ब्रजके सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवेशके अतीत व वर्तमान को समझनेमें प्रमुख भूमिका निभाता है। इसमें लेखक ने सामयिक व समर्थ भाषा एवं वर्णनात्मक शैलीमें यथार्थके नामपर विद्रूपताको ही प्रदर्शित करनेका प्रयास नहीं किया है वरन् उसके पास ऐसा दृष्टि है जिसमें विद्रूपताके साथ आशा एवं आस्थाकी नयी किरण व प्रकाश हैं। शैलीमें सजीवता एवं सहजताका अभाव नहीं है। सुनन्दा, सत्येन्द्र, शैलजा तथा नरेन्द्रके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एवं गम्भीर चिन्तन तर्क-सम्मत हैं। वे उनको अनिश्चय, निष्क्रियता तथा दुविधाकी स्थितिसे उबारते हैं तथा सोचके वास्तविक स्रोतोंके समुचित उल्लेखकी उपस्थितिमें ये सभी पात्र यदाकदा गहरी प्रेरणा तथा आत्मिक बलकी प्रतीति कराते हैं। धार्मिक यात्रा में यात्रियोंमें मानवीय गुणोंका विकास होता है। मनुष्यके हृदयको शान्ति मिलती है। सोचने तथा मनन करनेका पर्याप्त समय मिलता है अनेक जिज्ञासाओं और शंकाओं का समाधान होता है। धर्म एवं संस्कृतिके स्वरूपसे परिचय होता है और आस्था तथा ज्ञान पिपासाका विकास होता है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि धार्मिक यात्राएं अनायास किसी व्यक्तिके जीवन-दर्शन, सोच विचार, नैतिक आदर्शों एवं धार्मिक विश्वास और मान्यताओंको आमूल परिवर्तित करनेमें अलादीनका चिराग साबित नहीं हो सकतीं वरन् व्यक्तिके व्यक्तित्व, अनुभव एवं ज्ञानके विकासमें महत्वपूर्ण योगदान अवश्य प्रदान करती हैं। □

## काला कोलाज

लेखक : कृष्ण बलदेव वैद

समीक्षक : डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

८५ से ८८ तक भारत भवन भोपालमें निराला सृजन पीठाध्यक्ष रहते हुए श्री वैदने यह लिखा है जिसे फ्लैपपर अनुपन्यास कहकर प्रचारित किया गया है। अकहानी अकविताकी तर्जपर। सोलह वर्ष दिल्ली और चंडीगढ़में अंग्रेजी साहित्यका अध्यापन करनेवाले श्री वैद १६ वर्ष अमरीकामें अंग्रेजी और अमरीकी साहित्यिके अध्यापक रहे और वहांसे लौटकर निराला जैसे क्रांतिकारी और मानवीय जिर्जाविपाके प्रबल पक्षधरके नामपर स्थापित पीठपर रहते हुए, अशोक वाजपेयी और भारत भवन भोपालका आभार मानते हुए यह अनुपन्यास लिखा “जिसमें अपनेको ही दुबारा खोजती हुई चेतना एक क्रमहीन सहवर्तित्वमें” इस विशृंखलित कथाकृति रूपमें व्यक्त हुई है। अपनी और परिवेशगत संवेदनात्मक खोजमें रुचि रखनेवाले पाठकोंके लिए इसे एक आवश्यक उपन्यास माना गया है, फ्लैपपर छपे प्रकाशकीय विवेक (?) के द्वारा।

चेतना तो है इस उपन्यासमें, लेकिन अपनी और संवेदनात्मक खोजको कितनी और किस रूपमें व्यक्त करती है यही प्रश्न है। ऊब, ऊलजलूलपन, एवसडिटी, उद्देश्यहीनता, भटकाव, बिखराव व्यर्थताके साथ यौन कुंठाएं, आत्मविश्वासहीनता, बुद्धिभ्रम, द्विविधा, नकार, अनास्था, और इससे उत्पन्न कायरता, नपुंसकता लिज-लिजापन, गलीजपन इसमें दिखाया गया है। कोलाज आधुनिक कलाकी एक शैली है जिसमें नितान्त असंगत चीजोंको सहज या विकृत रूपमें थोपकर कला या अ-कला (अनुपन्यासकी तर्जपर) या विकृत डिस्टोरशन-रैंड-रिंगका आभास कराया जाता है, जिसका सिर-पैर स्वयं कलाकारको भी कभी-कभी मालूम नहीं होता, और यदि उसको बतानेके लिए कहा जाये तो कला और कलाकार दोनों ही कभी-कभी हास्यास्पद हो जाते हैं। फिर भी कुछ-न-कुछ वैचित्र्य खड़ा करनेकी सनकमें कोलाजमें कुछ

१. प्रका. : वाग्देवी प्रकाशन, सुगन निवास, चन्दन-सागर, बीकानेर (राजस्थान)। पृष्ठ : २६२; डिमा. ८६; मूल्य : ६५.०० रु।

‘प्रकर’—वैशाख २०४७—२६



रचनाएं या संरचनाएं होती रहती हैं। ऐसे ही इस कृति में ८६ शीर्षकों में बंटी सामग्री को प्रस्तुत किया गया है। अधिकांशतः इसमें गलाजत, विकृति विडम्बना और वह भी अराजक, नपुंसक, कुंठित असाधारण एवं रुग्ण मानसिकतावाले व्यक्तिकी अंधेरी बंद मानसिक कोठरियों के दुःस्वप्न और आशंकाएं ही हैं।

कहीं कुछ सहज, स्वस्थ जीवन्त प्रगतिशील सोद्देश्य उच्च जीवन मूल्यों की झलक दूर-दूर तक नहीं मिलती। और जो बिना खोजे प्रत्येक पृष्ठपर अंकित है उसके कुछ उदाहरण ये हैं—मांस और मलका संगम, मुख-मैथुन, मोटी औरतका हाथ नायककी रान-जांघपर यो पड़ना जैसे किसी मोटे लौड़ेवाजका...। उसकी रानों के बीच बची खुर्चा मिट्टीको गूँथकर उसे कोई कड़ा रूप देनेकी चेष्टा, मवादको मलमलकर मुंहमें डालना, बुढ़ियाके साथ सटकर सोने या मरनेकी कामना (पृष्ठ ११)। रात किसी विशाल वेश्याकी तरह टांगें फैलाकर बाल खोले और इस नीली वेश्याके आगोशमें गायब होजाने की ख्वाहिश, बूढ़ी वेश्या और उसके पिलपिले आशिक, इस वेश्याकी अंगड्डियोंपर नायकके किसीभी अंगका न उठना, बूढ़े व्यभिचारी। यह रचना संसार है इस कृतिका ! इन गलीज यौन विकृतियोंके चिथड़ोंसे अनुपन्यास लिखनेका दावा किया है, निराला जैसे साहित्यकारके नामपर भारत भवन द्वारा स्थापित सृजनपीठपर। हैरानी होती है कैसा भारत भवन और कैसी संस्कृतिका कैसा सृजन ? और विडम्बना देखिये निरालाका नाम, सबसे निर्धन प्रांत मध्यप्रदेशमें संस्कृतिके नामपर यह सब कूड़ा कंकट नहीं अपितु मल मवाद। एक ओर असंख्य कलाकार रोजी-रोटी और कला साधनाके लिए पैसे पैसेको तरस रहे हैं और दूसरी ओर यह यौन ताण्डव हो रहा है, सरकारी संस्कृतिकी छायामें। कितना आपराधिक अपव्यय है।

आखिर यह सब क्यों लिखा गया ? किस संवेदना की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है यह ? किस देश किस समाजका कैसा यथार्थ है कैसा परिदृश्य है। यदि इसे यथार्थ माना भी जाये तो कैसे और कितने लोगोंके जीवनका यथार्थ है यह। इतने विशाल भूखंड अमरीका और इतने विशाल जन समूहवाले भारतको अनदेखाकर केवल नपुंसक पियकूड़ा हताश, कुंठित, अराजक, लिज-लिजा और गलीज जीवन बितानेवाले मुट्ठीभर लोगों के जीवनका विवरण ! चेतनाकी तथाकथित साहसभरी

‘प्रकर’—अप्रैल २०४७—३०

प्रयोगशीलताका यह वैचित्र्य क्या सिद्ध करता है, सिवाय इसके भरे पेट वालोंकी रुग्ण मानसिकताका यह गंदा नाला है जिसमें हर प्रकारकी गंदगीही है, और विडम्बना यह है कि इसे प्रयोगशीलता, संवेदनात्मक सृजनात्मकता के नामपर महिमामंडित किया जा रहा है। भीमसेन त्यागी ‘नंगा शहर’ में और मनोहर श्याम जोशी ‘कुरु-कुरु स्वाहा’ में दशक पहले ऐसा ही कर चुके हैं।

यह कौन-सी दिशा है। कहां पहुंचनेका प्रयास है यह ? यह सांस्कृतिक प्रदूषण, मल-मवादका यह गट्ठा, यौन विकृतिका यह प्रदर्शन सृजनकी कौन-सी प्रतिबद्धता पूरा कर रहा है। कमसे कम ‘माँकी यादमें’ तो इसे समर्पित नहीं करना चाहिये। कौन-सी मां यह देखकर संतुष्ट होती। दुराचार, मानसिक व्याधि, यौन विकृति की इस नुमायशके पीछे सृजनकी कौन-सी प्रेरणा है ? किन जीवन मूल्योंकी खोज है यह ? एक हजार एक समस्याएं अपने इस देशमें और अमरीकामें हैं जिनसे असंख्य लोग जूझ रहे हैं, उनके मनोबलको बढ़ानेके लिए अनेक कलाकार साहित्यकार रात-दिन एन कर रहे हैं, उन सबसे आखें मोड़कर किशोर और युवा पाठकोंको भटकानेके षड्यंत्र का सूत्र संचालन कहांसे और क्यों हो रहा है, इसकी जांच पड़ताल होनी चाहिये और जांच पड़ताल क्या रोकथाम इस बातकी भी होनी चाहिये कि भूखी प्यासी भारतीय जनताके खून पसीनेकी गाढ़ी कमाई मानसिक एय्याशी में बर्बाद न हो।

पूरी रचना बड़बुदर सड़ी हुई गलीज मानसिकता से रंगे हुए विकृत जीवनके चिथड़ोंका ढेर लगती है। इससे अधिक जिन्हें कुछ लगता हो, कृपया बतानेका कष्ट करें। □

‘काला कोलाज’ को समीक्षापर और इसी प्रकारके लेखनपर पाठकीय प्रतिक्रियाएं आमन्त्रित हैं।



# कहानी

## तपती धरती का पेड़?

सम्पादक : डॉ. हेतु भारद्वाज

समीक्षक : डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी

‘तपती धरती का पेड़’ ‘राजस्थान के कहानीकार’ शृङ्खला का तीसरा भाग है। संकलन के संपादक ने इसमें उन्हीं कहानीकारों की कहानियाँ ली हैं, जिनकी रचनाएं सीरीज के पहले के और दूसरे भागों में सम्मिलित नहीं थीं। संकलन के आरंभ में भूमिका है जिसमें संपादक ने हिंदी कहानी की परंपरा में राजस्थान के कहानीकारों के योगदान का संक्षिप्त निदर्शन करते हुए प्रस्तुत संकलन के रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया है।

संकलन की पहली कहानी अशोक आत्रेय की ‘अनस्तित्व’ है जो अपने प्रारूप में कहानी कम और ‘रिपो-तार्ज’ अधिक प्रतीत होती है। इसमें लेखक अपने आस-पास की जिंदगी पर नजर डालते हुए सर्वत्र बदबू, गला-जत और अभाव के ही दर्शन करता है। उससे लगता है कि जिंदगी एक साँप-सीढ़ी की खेल है और वह इस खेल में युद्ध स्तर पर भाग लेने लिए अभिशप्त है। हर दर्शन सहगल की ‘भविष्याकान्त’ एक निम्न मध्यवर्गीय अभाव-ग्रस्त परिवार तथा उसमें उत्पन्न किशोर की कहानी है जो अनेक संघर्षों से जूझता हुआ जबतक अपनी परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने तथा एक नौकरी में नियुक्ति पाने में सफल होता है तबतक उसका शरीर कुपोषण और कड़ी मेहनत के कारण जर्जर हो चुका होता है। कहानी के अंत में हम किसी को कहते हुए पाते हैं, “खाने को तो कुछ मिलता नहीं, तिसपर उतनी कड़ी मेहनत। अब यह लड़का बचेगा नहीं।” हसन जमाल की ‘इधर मत बहो हवा’ जीवन के संघर्षों में खटते असमय बूढ़े

होगये रमजान की कहानी है। उसकी गरीबी से वेखबर उसकी अमीर बहन जब-तब उसके यहां आ धमकती है और उससे शानदार मेहमानदारी की उम्मीद करती है। कहानी मार्मिक है किंतु अंत अस्पष्ट है और उसके प्रभाव को कम करता है। प्रभा सक्सेना की ‘धारा के विरुद्ध’ में हमारी वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है, जिसमें स्वतन्त्रता की बात से अबतक ग्राम-विकास के असफल स्वप्न देखते और नेताओं के झूठे वादे सुनते-सुनते एक ग्रामवृद्ध अंत में चुनावों के बहिष्कार का निर्णय लेता है... “अब फिर गांव में झंडेवाली जीपें आयी हैं। पर बाबूजी ने निर्णय कर दिया है कोई ठप्पा लगाने नहीं जायेगा।” किन्तु नयी पीढ़ी समझती है कि बाबूजी का दिमाग खराब हो गया है। शीतांशु भारद्वाज की ‘घर घुसेरु’ एक ख्यातिप्राप्त नेता की कहानी है जो दौरे पर अपने गृह-ग्राम में आते हैं, नारी-मुक्ति आदि पर भाषण करते हैं। वहीं जब उन्हें एक विवाह में सम्मिलित होना पड़ता है तो हंसा हुणक्याणी (नर्तकी) को उसमें नृत्य करते देव विचलित हो उठते हैं। कभी हंसा को उन्होंने चाहा था किंतु उससे विवाह करने का साहस वे नहीं जुटा पाये थे। आज हंसा की चाह फिर उनमें जाग उठती है। रात के अंधेरे में वे उसके घर पहुंचते हैं किंतु पाते हैं कि हंसा अब विवाहिता है और उतनी सस्ती नहीं जितनी वे समझते थे। कहानी काफी गठी हुई है और उसमें नेताजी (देवदा) के दुहरे चरित्र को जहाँ एक ‘टाइप’ के रूप में प्रस्तुत किया गया है वहीं उनके व्यक्ति-वैशिष्ट्य को भी उभारा गया है। हंसा का चरित्रांकन भी बड़ा मार्मिक बन पड़ा है। ‘एक और द्रौपदी’ (मोहरसिंह यादव) एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो बचपन में माँ-बाप की मृत्यु के बाद एक पुरुष के शोषण का शिकार होकर दूसरे और फिर तीसरे उसी प्रकार अनेक पुरुषों के साथ रहने के लिए बाध्य होती है। किंतु अंततक अदम्य जिजीविषा के साथ वह इस शोषण से संघर्ष करते हुए अपनी गृहस्थी बढ़ाने का स्वप्न संजोये

‘प्रकर’—वैशाख २०४७—३१

१. प्रका. : राजस्थान साहित्य अकादमी, सेक्टर ४, हिरनमगरी, उदयपुर-३१३००१। पृष्ठ : २२०; डिमा. ८६; मूल्य : ६५.०० रु.।



रहती है। अंतमें उसका स्वप्न साकार होता है। वह बैराठ गाँवके बूला गुजरकी गृहिणी बनती है और बूला उसे अपना पूरा घर सौंप देता है। और, एक दिन जब रमजू जाट उसकी खूबसूरतीपर लट्टू होकर उसके घरमें कूद पड़ता है तो वह उसे झाड़ू मारकर बाहर निकाल देती है। तब रमजू और उसकी पार्टीवाले 'बैराठमें एक द्रौपदी और आ गयीं' कहकर उसकी बदनामी करते हैं। यह निष्ठुर समाज नारीकी विवशताका लाभ भी उठाता है और उसका उपहासभी करता है। यही नहीं, द्रौपदी के पवित्र और गरिमा मण्डित मिथकको भी उसने किस प्रकार कीचड़में लथेड़कर गंदा कर दिया है !

शुभू पटवाकी 'अदीठ' कहानीमें हम देखते हैं कि एक धनाढ्य विधवा एक लावारिस शिशुको पाल-पोस कर बड़ा करती है, पिताके स्थानपर अपने दिवंगत पति का नाम देकर अपनी अतुल संपत्तिका उत्तराधिकारी भी उसे बना देती है। किंतु बड़े होनेपर जब उसे वस्तु-स्थितिका ज्ञान होता है तो वह अपनी उस मौसीकी अतुल ममता और विपुल वैभवको छोड़कर 'अदीठ' हो जाता है। इस कहानीके द्वारा लेखक क्या यह दिखाना चाहता है कि उस नवयुवकने कानूनी तौरपर विपुल संपत्तिका अधिकारी होते हुए भी उसे इसलिए ठुकरा दिया कि नैतिक तौरपर वह उसका अधिकारी नहीं था ? या फिर वह इसलिए चला गया कि "जिसने उसे पोषण दिया, उसमें अपने पूर्वजोंके अहसास अभी भी तरौताजा थे। उसमें ही नहीं, जो समाज उसके इर्दगिर्द था, वह भी उसे 'वंशानुगत' घरानेके कारणही सम्मान देता था।" किसी भी कारण हो, किंतु अपनी उस धात्री को जिसने उसे अपने जीवन रससे पाल-पोसकर योग्य बनाया, उम्र ही डलानपर एकाकी छोड़कर चले जाने को उसकी सनकही कहा जायेगा। रामानन्द राठीकी 'रूक्का', प्रेमचंदकी 'सवासेर गेहूँ' की याद दिलाती है। किंतु 'सवासेर गेहूँ' का शंकर जहां निरीह भावसे विप्रजी की गुलामी करते हुए इस असार संसारसे प्रस्थान कर देता है वहाँ 'रूक्का' का सिरचन फर्जी रूक्केको फाड़कर अपना विरोध प्रकट करता है और पूंजीवादी व्यवस्थाके अत्याचारोंके विरोधमें वह अकेला नहीं है, और भी हैं जो उसके साथ हैं। मालचन्दने 'वरण' कहानीमें एक छोटे-पूरे उपन्यासके कथानकको भरनेकी कोशिश की है। इसमें उदय नामक जीवन्त नवयुवकके अपनी पारिवारिक परिस्थितियोंके कारण धीरे-धीरे नष्ट

होनेके परिदृश्यको बड़ी मार्मिकताके साथ अंकित किया गया है। किंतु उदयके विनाशके लिए उसकी पारिवारिक परिस्थितियां ही नहीं, उसके अपने व्यक्तित्वकी त्रुटियां भी बहुत हदतक उत्तरदायी नहीं हैं क्या ? सूरज पालीवालकी 'श्रवणकी वापसी' सरकारी कर्जकी भ्रष्टाचारमयी दारुण यंत्रणाके चक्रमें फंसे हुए बुढ़ापेमें जेलका मुंह देखनेको विवश होनेवाले एक भोले-भाले ईमानदार ग्रामीणकी व्यथा-कथा है। श्याम जांगिड़की 'नाटक' कहानीमें हम देखते हैं कि किस प्रकार शासन-तंत्रके अन्यायपूर्ण दमनकी प्रतिक्रियामें नवयुवक विद्रोही हो जाते हैं और पुलिस उन्हें अपराधी मानकर उनसे बर्बर व्यवहार करती है। सत्यनारायण की 'हे राम' गाँवमें पुरोहित और पुजारीका काम करते वाले एक वृद्धके भीषण अभावग्रस्त एकाकी, अशक्त जीवनकी कहानी है। अशोक सक्सेनाकी 'एल. टी. सी.' सरकारी सुविधापर सपरिवार एयर कंडीशंड डिब्बेमें कश्मीरकी यात्रा करनेवाले एक डाक बाबूकी कहानी है, जिसकी दरिद्रता और जिसके अभाव इस यात्रामें पग-पगपर उसकी हंसी उड़ाते प्रतीत होते हैं और अंतमें बहुत जल्दी ही वापस लौट आनेपर उसे मजबूर करते हैं क्योंकि वहाँ 'हर कदमपर पैसा चाहिये' और 'एल. टी. सी.' भले ही प्रथम श्रेणीमें यात्राका सौभाग्य प्रदान कर दे, किंतु कदम-कदमपर पैसेकी यह मांग कहाँसे पूरी होगी ? माधव नागदाकी 'उसका दर्द' में एक गरीब मेहनतकश कारीगरका चित्रण है जो अपने बच्चेको डाक्टर बनानेका असंभव स्वप्न पाले हुए अपनी आमदनी बढ़ानेके लिए दिन-रात एक करता है किंतु उसकी आमदनी से बीमार बीबीकी दवाके लिए भी पैसा नहीं जुट पाता, बच्चेकी डाक्टरीकी पढ़ाई तो बहुत बादकी बात है। कमलेश शर्माकी 'किस्तूरीका बेटा' एक नीरस, असफल कहानी बनकर रह गयी है, उसका प्रमुख कारण राजस्थानी बोलीके लंबे-लंबे कथोपकथनोंका प्रयोग है। ये कथोपकथन राजस्थानीसे अपरिचित पाठकके लिए बोधगम्य नहीं हो पाते। लेखकको ध्यान रखना चाहिये था कि वह कहानी खड़ी बोलीमें लिख रहा है, राजस्थानीमें नहीं। कहानीमें स्थानीय पुट देनेके लिए स्थानीय बोलीके दो-चार वाक्य तो ठीक हैं किंतु आधीसे अधिक कहानीका स्थानीय बोलीमें हो जाना उचित नहीं। पुष्पा रघुकी 'पेड़ तो कट गया' को बाल मनोविज्ञानपर आधारित कहानी कहा जा सकता है। अपेक्षित बरताव



के अभावमें बच्चा किस प्रकार बेहाथ हो जाता है किन्तु इसका दोष, घरके प्रबुद्ध सदस्य तो, अपने ऊपर लेकर पछताते हैं, लेकिन रूढ़िवादी वृद्ध जन उसे आंगनके शिरीष पेड़पर मढ़ते हैं और उसे कटवा देते हैं क्योंकि आंगनमें शिरीषका पेड़ अशुभ होता है। चेतन स्वामीकी 'पानी तेरा रंग' में खान-पानमें छुआछूत बरतनेकी मनोवृत्तिपर बड़ा सटीक व्यंग्य है। कहानी शिल्पकी दृष्टिसे भी सफल है और आरंभसे अंततक पाठकको बाँधे रखती है। चंद्रकान्त कक्कड़की 'डायमंडकी दुनिया' अप्रतिम सौंदर्य, प्रतिभा और बुद्धिकी धनी एक युवतीकी कहानी है। एक सम्पन्न युवक उसे अपनी जीवन संगिनी बना लेता है। किन्तु 'डायमंड' की चकाचौंधसे ग्रस्त उस परिवारमें भरपूर सम्मान पाकर भी वह अंततक उससे अपना सामंजस्य नहीं बिठा पाती। वह अपने पतिसे कहती है—“दुनियांमें जीनेके लिए सिर्फ पैसाही सब कुछ नहीं होता। मैं अपने ढंगसे जीना चाहती हूँ।” सरस्वती लक्ष्मी एक साथ नहीं रह सकती—समझे। मुझे खुला जीवन चाहिये।” रघुनंदन त्रिवेदीकी 'वह लड़की अभी जिंदा है' में लेखक इस तथ्यको रेखांकित करना चाहता है कि व्यक्तिके किशोर-जीवनमें अचानक एक दिन चुपके से आकर एक किशोरी उसके स्वप्नोंकी रानी बन जाती है और यथार्थ जीवनकी कठोर विषमताओंके बीचभी एकांत पाकर उसे दुलराती रहती है। और, ढलती वयमें वह देखता है कि उसकी किशोर संतानके स्वप्नमें भी वही लड़की जिंदा है।

एक-दोको छोड़कर प्रस्तुत संकलनकी सभी कहानियोंमें आम आदमीके अभावग्रस्त और संघर्ष-रत जीवनका चित्रण किया गया है। जीवनमें जो दरिद्रता है, जो त्रुटि है, जो विसंगति है जो तिल-तिलकर खटता और अपनी विपरीत परिस्थितियोंसे जूझता मानव है, जो अन्याय, दुराचार और भ्रष्टाचार है, उसे पाठकके सामने लाना कथाकारका प्रमुख कर्तव्य है, किन्तु मानवके भीतर जो श्रेष्ठ और उत्तम है, जो सदाचार, सहानुभूति, तप और त्याग है, वह शायद निःशेष नहीं हो गया है। उसे पाठकके सामने लाकर मानवताकी ज्योतिको जगाये रखनेका दायित्व क्या कथाकार या कथा-संपादकका नहीं है? □

## आसमानी हाथ?

लेखक : एन. सी. शील

समीक्षक : डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती

यदि किसी कहानीकारके पास आकर्षक एवं संवेदनशील 'प्लॉट' हो, पर 'प्लॉट' के रचावकी शक्ति और शिल्पकी कमी हो तो कहानी बेदम और बेमानी होजाती है। यह सत्य है कि कथाकारका भी एक अनुभव संसार होता है परन्तु उससे बेहतर और बड़ी बात देखनेकी यह है कि वह उस कथाको किस लहजेमें पेश करता है। कथाके कहनेका ऐसा सम्मोहन हो और जिज्ञासा-सूत्रोंका कसा गुम्फन हो कि प्रत्येक अनुभव खंड-खंड होते हुएभी समग्रतामें एक अखण्ड प्रभाव छोड़े। केवल घटना मात्रका साधारण ढंगसे वर्णन कहानी नहीं बन पाती कुछ और भलेही बने। अतः कहानीकारके पास एक व्यापक अनुभव संसारके साथ कहानीके 'कहने की कला' भी होना आवश्यक है। शीलजीकी कहानियां इस कसौटीपर खरी नहीं उतरतीं।

'अपनी बात' में शीलजीने लिखा है—कुछ गम्भीर समस्याएं मेरे अवचेतनपर उतरतीं रहीं हैं। ये सब कहानियां उन्हीं समस्याओंके समाधानका नतीजा हैं। कहानीके परम्परागत शिल्प-विधानको सहारा बनाकर समस्यासे पार होनेके लिए मेरी समझने कभी साथ नहीं दिया है।” ठीक है, पर सातवें दशकके बादसे अबतक जो कहानियां लिखी जा रही हैं वे तो परम्परागत शिल्प-विधानपर आश्रित नहीं हैं। प्रत्येक कथाकार का अपना-अपना लहजा होता है। शीलजीका भी है जो सरल, वर्णनात्मक एवं साधारण है।

'आसमानी हाथ' में पन्द्रह छोटी-छोटी कहानियां संकलित की गयी हैं। 'आसमानी हाथ' के नायक कुन्दन से शीलजीको बेपनाह प्यार है। उसकी समस्याओंने उन्हें स्पंदित भी किया है। कुन्दन कोई असाधारण चरित्र नहीं है, आधुनिक विखंडित एवं भ्रष्ट समाजका एक अंग है। यथार्थ यही है कि ऐसे चरित्रभी सामने लाये जायें तो परिस्थितियोंके शिकार होते हैं। उनसे

१. प्रका. : लोक प्रकाशन, ५६० जी. टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-११००३२। पृष्ठ : ६६; का.

८७; मूल्य : २०.०० रु.।



## विज्ञप्ति

हिन्दी-शोधके लिए प्रख्यात संस्था 'हिन्दी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ. प्र.)' अपनी इस विज्ञप्ति द्वारा सूचना दे रहा है कि शोध-सन्दर्भका तीसरा भाग शीघ्र प्रकाशित करनेकी तैयारी चल रही है। शोध-सन्दर्भमें भारतीय विश्वविद्यालयोंमें पी.-एच. डी. तथा डी. लिट्. उपाधियोंके लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्धोंका विवरण प्रकाशित होगा। शोध-उपाधि प्राप्त करनेवाले महानुभाव तथा शोध-निदेशक इस सन्दर्भ-ग्रन्थमें प्रकाशनार्थ निम्नलिखित जानकारी यथाशीघ्र भिजवायें—नाम (जन्मतिथि सहित), शोध का विषय, उपाधि देनेवाले विश्वविद्यालयका नाम, उपाधि-प्राप्तिका वर्ष, निदेशकका नाम-पता, प्रकाशित होनेकी स्थितिमें प्रकाशनका विवरण (प्रकाशकका नाम, प्रकाशन-वर्ष, मूल्य, पृष्ठ संख्या) तथा शोधकर्ता का पता।

इस विषयमें उल्लेख्य है कि यह संस्थान इससे पूर्वभी हिन्दी-शोधके आरम्भसे सन् १९८६ तक पी.-एच.डी. तथा डी.लिट्. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के वर्गीकृत विवरणोंसे युक्त दो सन्दर्भ-ग्रन्थ 'शोध-सन्दर्भ' के नामसे प्रकाशित कर चुका है।

**हिन्दी साहित्य निकेतन**  
**शोध एवं प्रकाशन संस्थान,**  
**बिजनौर (उ. प्र.)-२४६७०१**

आदर्शकी अपेक्षा क्यों ? 'सोचताही' रह गया' एक ऐसी गरीब युवतीकी दर्द कथा है जिसके पतिको नौकरी से निकाल दिया जाता है। पति कायर निकलता है और युवतीको संघर्ष करता छोड़ भाग जाता है। 'रास्तेमें' कहानी आजके अनपढ़ नौजवानकी गरीबीकी कहानी है जो सफ़ेशोश बननेकी खातिर लूटपाट और भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है। कथाकार इस कहानीके माध्यम से ऐसे व्यक्तियोंको यह एहसास दिलाना चाहता है कि वह मनुष्य है और मनुष्य मनुष्यको नहीं लूटता।

'फूलोंमें तितली' नितान्त साधारण कथा है। पारिवारिक तनाव और बच्चों द्वारा उससे मुक्ति। केवल संवाद है। 'मर्यादा' कहानी स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर आधारित है। ये सम्बन्ध मर्यादापर आधारित होने चाहियें। पहले बन्धन फिर प्रेम। 'जीवन साथी' एक लेखक के दाम्पत्य जीवनके कलह और सुलहकी कथा है। 'समाज के वफादार' अच्छी कहानी बन सकती थी यदि तीक्ष्ण व्यंग्य-शिल्पको अपनाया जाता। केवल समाजके कुछ वर्गोंके उदाहरण देकर उनकी पोल खोलना मात्र, ऐसा लगता है जैसे कोई अध्यापक छोटे बच्चोंको कोई खण्डहरका नजारा दिखा रहा हो।

'अनुगत' संग्रहकी श्रेष्ठ कहानी है जो सहसा 'त्यागपत्र' की याद दिला देती है। पर अन्त, वही साधारण। सारी कहानीके भ्रमको तोड़ता हुआ। 'अव्यक्त' एक गरीब बेटेकी कहानी है जो मांकी दवाई के लिए सिनेमाके टिकट ब्लैकमें बेचता तो है पर बादमें मांके कहनेपर वापस करने चला जाता है। 'बिन पानी मीन' गृहकलहसे पीड़ित दम्पतीकी कथा है। एक दूसरेको न समझनेके कारण उनके दिलोंमें दरार पड़ जाती है और दोनों मुरझाकर सूख जाते हैं। 'अन्धोंका समाज' तीन कहानियोंकी एक कहानी। सभीका कथ्य एक है और वह है समाजका अपरिवर्तशील दृष्टिकोण। 'कान्हा बजाये बांसुरी' में कर्मचारी वर्गके भीतर छिपे उस दर्दको उजागर किया गया है जो अपनेसे बड़े (सीनियर) वर्गके उपदेशोंसे दबा रहकर एक अताकिक द्वन्द्वमें घिर जाता है कि कैसे वह कर्मचारी वर्गका कल्याण करे जबकि उसे सुबहसे शाम तक लेखनी घिसनी पड़ती है।

संकलनकी दो चार कहानियोंको छोड़कर शेष कहानियोंके धरातल सपाट है। घटनाका केवल वर्णन है, कहानीपनका पूरा अभाव है। कुछ कहानियोंमें केवल संवाद है। अच्छा होता यह संवाद पाठकोंसे भी



होता। इसमें संभवतः शीलजीकी कोई मजबूरी रही हो। फिरभी शीलजीका प्रयास तथा संकलनकी कुछ कहानियां सराहनीय अवश्य हैं। □

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्रका प्रकाशन

## नाथ सम्प्रदाय : साधना, साहित्य एवं सिद्धान्त

लेखक : डॉ. वेदप्रकाश जुनेजा

(स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, दयारसिंह कालेज, करनाल)

### घर लौटते कदम?

लेखक : रामनिवास मानव

समीक्षक : डॉ. तेजपाल चौधरी

लघुकथा हिन्दीकी अपेक्षाकृत अर्वाचीन विधा है। केवल आकारमें छोटीही नहीं, कथ्य और शिल्पकी दृष्टि से अपनी बिल्कुल अलग पहचान लिये। लघुकथाकी लघुताने इधरके अनेक छोटे बड़े साहित्यकारोंको अपनी ओर आकर्षित किया है, ऐसे लोगोंको भी जो न लघुकथाके मर्मको समझते हैं और न जिसमें रचनात्मक सामर्थ्य है। सौभाग्यसे रामनिवास मानवकी ये लघुकथाएं इस वर्गके लोगोंकी कृतियोंमें नहीं आती और कुछ ठोस देनेका प्रयास करती हैं। कमसे कम कुछ लघुकथाओंके विषयमें तो यह कहाही जासकता है।

विवेच्य संग्रहमें पचास लघुकथाएं हैं। ये मध्यवर्गीय मानवकी विवशताओं, मनोवृत्तियों और आम व्यवहारकी विभिन्न विवृतियोंको अलग-अलग सन्दर्भों के माध्यमसे व्यक्त करती हैं। स्वार्थ वृत्ति, मुखौटावाद, सम्बन्धोंका विघटन, अभावग्रस्त जीवन और व्यवस्था क्रूर चक्कीमें पिसते रहनेकी आम आदमीकी नियति आदि कुछ विषय ऐसे हैं, जिनपर लघुकथाकारोंने अधिक लिखा है। रामनिवास मानवभी इस दायरेसे बाहर नहीं निकल पाये हैं। किन्तु अनुभवोंकी प्रामाणिकताके कारण कुछ लघुकथाएं सुन्दर बन पड़ी हैं। 'शो-पीस' के सतीश द्वारा जीवनभर उपेक्षित रहे पिताकी मृत्युके बाद उनके चित्रको सुनहरे फ्रेममें जड़वाकर बैठकमें टांगना, भानजे के लिए कुछ न करते हुए दीदीको 'पोस्टकार्ड' लिख-

इस ग्रन्थकी प्रस्तुतिमें नाथ सम्प्रदायके सिद्धांतों, साधना पद्धति, नाथ योग शास्त्रके अध्ययन और नाथ योगसे प्रभावित विशिष्ट अन्यान्य योगपरक सम्प्रदायों और निर्गुण मत, सूफी साधना आदिके परिप्रेक्ष्यमें विद्वान् शोधकर्त्ता डाक्टर वेदप्रकाश जुनेजाने अप्रत्याशित श्रम तथा अध्यवसायका परिचय दिया है। उन्होंने नाथ सम्प्रदायके प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्य, संस्कृत और लोकभाषामें रचित तथा संगृहीत गोरखवानी, नाथ सिद्धोंकी वानियां आदिका मन्थनकर नाथ योगके नवनीत सारतत्त्वका नाथ योगमें शोध कार्य करनेवालों तथा नाथ योगमें आस्था रखकर स्वरूपानुसंधान करनेवालोंके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उनकी यह कृति अत्यन्त उपादेय, संग्रहणीय, पठनीय तथा लोककल्याणकी दृष्टिसे अपनाने योग्य हैं।

**विषय सूची :**—विषय प्रवेश, नवनाथ और उनके अनुयायी, नाथयुगीन परिस्थितियां, नाथ-साहित्यपर पूर्ववर्ती प्रभाव, नाथ साहित्य, नाथ सम्प्रदायके सिद्धान्त, नाथ सम्प्रदायकी साधना पद्धति, नाथ साहित्य के पारिभाषिक शब्द, नाथ साहित्यका कलापक्ष, नाथ साहित्यका परवर्ती साहित्यपर प्रभाव, नाथ साहित्यका हिन्दी साहित्यमें स्थान, उपसंहार तथा परिशिष्ट।

प्रकाशन वर्ष : १९८६; आकार : डिमा.; पृ. ३२८  
सजिल्द मूल्य : रु. १३६/-

सम्पर्क :

व्यवस्थापक,  
प्रकाशन विभाग,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,  
कुरुक्षेत्र-१३२११६

१. प्रका. : पंज प्रकाशन, सी-८/१५८ ए, लारेंस रोड, दिल्ली-११००३५। पृष्ठ : ७७; क्ला. : ८८;  
मूल्य : २०.०० रु.।

'प्रकर'—वैशाख २०४७—३५



कर सान्त्वना देना, पतिके अत्याचार सहकर भी विवा-  
हित बेटीका मांको 'मेरी चिन्ता न करना मम्मी, ये  
बहुत अच्छे हैं' लिख भेजना (टॉलरेन्स), दो भाइयों  
में सम्पत्तिका विभाजन होजानेपर माता-पिताका भी  
विभाजन होजाना (बीजारोपण), आदि प्रसंग सुने-  
सुनाये होनेपर भी हृदयको छूते हैं। राजनीतिक विषयों  
पर लिखी लघुकथाओंमें 'व्यवस्था परिवर्तन' विशेष  
उल्लेखनीय है, जो भारतीय जनतन्त्रके खोखलेपनको  
उधेड़कर रख देते हैं। जंगलके जानवर शेरके एकतन्त्रके  
विरुद्ध बगावत कर देते हैं, जनतन्त्रकी स्थापना होती है। शेर  
'जंगल काँग्रेस' नामकी पार्टी बनाता है और चुनाव जीत-  
कर फिर शासक बन जाता है। 'मोहरे' राजनीतिज्ञोंकी  
चालके शिकार मजदूरोंकी अज्ञानताकी कथा है।

'काफिर', 'धर्महिंसा' 'धर्म परिवर्तन' और  
'चेहरा मोहरा' धर्मान्धताकी विभीषिकाको स्वर देती हैं  
तो 'निरापद' नारी शोषणको। 'घर लौटते कदम'  
महानगरकी उपेक्षित जिन्दगीसे भागकर फिरसे गांव  
लौट आनेकी कथा है तो 'रिजर्वेशन' स्वार्थ और अधि-  
कारकी भेदकताकी।

ग्रामीण संवेदनाओंको व्यक्त करनेके लिए लोक-  
भाषाके संवादोंका उपयोग किया गया है, जो कथाओंको  
स्वाभाविक और संप्रप्रेषणीय बनाता है। किन्तु अनेक  
लघुकथाओंके अंग्रेजी शीर्षक खटकते हैं, जैसे 'शो पीस',  
'स्टेटस', 'टॉलरेन्स', 'सरप्राइज', 'हार्टअटैक', 'मेरिड  
आदमी', 'टू लैट', 'नेम प्लेट' और 'चैक अप'। माना कि  
कई बार अंग्रेजी शीर्षक एक विशिष्ट मानसिकताकी  
अभिव्यक्तिके लिए जरूरी होता है, जैसे 'शो-पीस';  
परन्तु इसे एक प्रवृत्ति बना लेनेका क्या औचित्य  
है? क्या 'टॉलरेन्स' के लिए 'सहनशीलता' उतनाही  
सूचक शीर्षक नहीं है? □

## उदाहरण १

लेखक : विक्रम सोनी

समीक्षक : अशोक भाटिया

हिन्दीमें लघुकथाका सहज आंदोलन आठवें दशक  
आरम्भ हुआ था। नवें दशकके आरम्भसे विक्रम सोनी

१. प्रका. : महल प्रकाशन, आई-१६६, रविशंकर  
शुक्ल नगर, इन्दौर-४५२००५। पृष्ठ:३२;  
डिमा. ५६; मूल्य : ५.०० रु.।

'प्रकर'—अप्रैल'९०—३६

ने 'आघात' (अब 'लघु आघात') नामक त्रैमासिक  
पत्रिकाके माध्यमसे इसे नयी गति प्रदान की। संपादन  
के साथ-साथवे लघुकथाएं लिखते रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक  
में उनकी तीन सौमें से तीस श्रेष्ठ लघुकथाएं प्रकाशित  
की गयी हैं। यह उनका पहला लघुकथा संग्रह है।

हिन्दीमें कमजोर लघुकथाएं भी काफी लिखी जा  
रही हैं। इस दृष्टिसे भी अपनी मात्र श्रेष्ठ रचनाओं  
को प्रकाशित करानेकी प्रवृत्ति लघुकथा तथा रचना-  
त्मकताके लिए स्वस्थ कही जायेगी।

पहली रचना 'चश्मा' में एक मास्टरजी कभी अपने  
विद्यार्थी रहे एक साहबके पास अपनी बेटी प्रतिमाकी  
नौकरीके संबंधमें आते हैं। साहबकी प्रतिमाके प्रतिदृष्टि  
को भांपनेके लिए वे पनियायी आंखोंपर चश्मा पहनने  
लगते हैं, तो वह गिर जाता है। उसके गिरने और लेन्स  
टूटनेतक विक्रम सोनी प्रतीकको वस्तुपर हावी नहीं होने  
देते। 'पुरस्कृता' नारी-पीड़ा तथा पुलिसकी पाशविकता  
को उजागर करती है। नौकरानीका वाक्य—'मैं चोर  
नहीं हूं मालकिन, लेकिन औरत तो हूं' इसे चरमसीमा  
तक पहुंचा देता है। इसके बादका वाक्य लेखककी ओर  
से टिप्पणी लगती है। 'बनैले सुअर' में सवर्ण जातिका  
निम्न जातिपर अत्याचार तथा स्वार्थके लिए बदल जाने  
की उनकी प्रकृतिको दिखाया है। बेहतर निर्वाहके कारण  
अन्तमें बिसुआके बेटेको लोटोंसे मार देनेपर पाठकके  
भीतर अन्यायके प्रति हलचल होती है। 'जूतेकी जात'  
संग्रहकी बेहतरीन रचनाओंमें आती है। पण्डित सिया-  
रामकी गर्दनका 'हूल' दूर करनेके लिए रमोली चमार  
से जूता छुवानेको कहते हैं। रमोली अपने पितापर हुए  
अन्यायको याद करके लाठियोंके समान जूते मारने  
लगता है। सहजताके साथ मनोविश्लेषण किया गया है।  
ग्रामीण जीवनके यथार्थको आंचलिक भाषा और सजीव  
बना देती है। 'गृहस्थ' कोल्हूके बैलका प्रतीक लेकर बुनी  
गयी कौशलपूर्ण रचना है। 'अजगर' कृषकके जीवनपर  
आधारित सहज रचना है। संवाद शैलीके कारण कथा  
तीव्र गतिसे मनोविश्लेषण करती हुई बढ़ती है। आंचलिक  
भाषाका सहज प्रयोग 'लावा' और 'मीलों लम्बे पेंच'  
में भी हुआ है 'लावा' में साहूकारके शोषणके खिलाफ  
झोंपड़ियोंके द्वार धड़ाधड़ खुलते हुए स्वाभाविक पृष्ठ-  
भूमिके साथ पाठकोंको जोड़े रखते हैं, वहीं 'मीलों लम्बे  
पेंच' का अंत फामूलाबद्ध-सा लगता है।

भाषाकी दृष्टिसे कुछ लघुकथाओंमें कोई-कोई



वाक्य दूरतक संकेत करते हैं। 'बीमार आजादी' के अंत में आंगनमें ठुमकता बेटा और बड़कुलकी पीठपर स्पष्ट कोड़ेके निशान पूरी कथाको नया अर्थ देते हैं? ऐसेही अर्थ 'रोजी रोटी' रचनाके अंतमें मांको अकेली सोयी दिखानेपर निकलते हैं।

लघुकथामें बड़ी बात कहनेका प्रयास कई बार रचनाका ठीक निर्वाह करनेमें बाधा खड़ी करता है। 'चिनगारी' में दर्हामाखनको गरीबोंका निवाला छीनने वाला कहा है, किन्तु इसका कोई सन्दर्भ या उसका संकेत नहीं है। 'आजसे' लघुकथामें सांड किसी विशेष वर्गका अर्थका संकेत नहीं दे पाते। 'डर' में 'दोमु' हैं भ्रष्ट व्यक्तियों' कहकर सरलीकरण करनेका प्रयास किया है। 'उलझन' में गेहूँके दानोंकी बात चलती है, तो अंतमें उसमें घुन लगनेको मुल्कमें घुन लगनेपर आरोपित कर दिया है। इस प्रकार इस एब्सट्रैक्ट रचनामेंसे वस्तु

गायब है।

इन लघुकथाओंमें बड़ी पहचान एक ओर इसके वस्तुगत यथार्थमें छिपी है। ये रचनाएं आजके, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रके, यथार्थसे भली-भांति परिचित कराती हैं। दूसरे, आशावादी तथा कहीं-कहीं विरोध और विद्रोहका स्वर मुखरित होता है, जो प्रायः आरोपित न होकर रचनाकी माँगके अनुसार आया है। इन लघुकथाओंके विषय-निर्वाहों एक उदात्तता दिखायी देती है। इस कारण पाठकपर इनका प्रभाव अधिक पड़ता है। वर्णनात्मक व संवाद शैलीकी इन लघुकथाओंमें यथार्थके पुनर्निर्माणकी झलक कहीं-कहीं मिलती है। किन्तु लेखक नये प्रयोग करनेका खतरा कहीं नहीं उठाता, जिसकी बड़ी आवश्यकता है।

'उदाहरण' की कुछ लघुकथाओंको स्वस्थ रचनाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। □

## काव्य

### खोजो तो बेटो पापा कहां है?

लेखक : ध्रुव शुक्ल

समीक्षक : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

प्रजा, पिता, प्रिया, चतुर्मुखम्, खोजो तो बेटो पापा कहां हैं शीर्षकोंमें विभाजित खण्डोंमें संगृहीत ध्रुव शुक्लकी ये कविताएं १९८० से १९८८ के बीच लिखी गयी हैं अर्थात् लेखकके समस्त रचनाकालको घेरती हैं। अन्तिम खण्डमें एकमात्र वही कविता है जिसके आधार पर कृतिका नामकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त 'माँ' और 'वर्णाक्षरी' दो और ऐसी कविताएं हैं, जिन्हें किंचित् लम्बी कहा जा सकता है।

'खोजो तो बेटो पापा कहां है' कविता सृष्टि-क्रमके बहाने रचना और भाषाके सम्बन्धको रेखांकित करती

१. प्रका. : वाग्देवी प्रकाशन, सुगन निवास, चन्दन सागर, वीकानेर-३३४००१। पृष्ठ ९९; डिमा. ८९; मूल्य : ४५.०० रु.।

हुई रचनाकी व्यंजनामें रचनाकारकी पहचान करनेका संकेत करती है, रचनाकारकी आत्मलीनतामें उसके अन्तरंग स्वरके संधानकी आवश्यकतापर बल देती है :

'अगर कभी तुम पापाको खोया-खोया-सा देखो, उनके भीतर कुछ जागा-सा कुछ सोया-सा देखो पापाके भीतर खोये पापाको खोज निकालो, मचाओ तो हल्ला—पापा कहां हैं'

कवितामें व्यंग्यार्थकी खोज और रचनाकारके अन्तरंगके संधानका अर्थ यह नहीं है कि इन कविताओंमें बाह्यसे जगत् गायब है या कि ध्रुव शुक्ल नितान्त वैयाक्तिकताके कवि हैं। नहीं; उनकी कविताओंमें परिवेश और समाजकी गुंजभी है; उसका खट्टा-मीठा स्वादभी है, सुख-दुःखकी अनुभूति, विश्वास, विपत्तिमें फंसा आदमी, समकालीन स्थितियोंसे परिचय आदि ऐसा बहुत कुछ है जो उसे आत्मग्रस्तताकी गुंजलसे मुक्त करता है, पर चूंकि उसमें कुण्ठा या निराशा नहीं है और उसकी कथन-भंगिमा ऐसी धीरताभरी है कि एक-

'प्रकर'—वैशाख'२०४७—३७



दम ठण्डापन हो न हो, आक्रोशका प्रचण्ड ताप इन कविताओंमें कहीं नहीं है। संवेदना और आत्मीयता है, 'भावुकता' नहीं।

नहीं कहा जासकता कि ध्रुव शुक्लकी वाणीमें कविता ठीक ऐसेही अवतरित होतीहैं कि नहीं पर इनके रूप-विन्यासको देखकर यह लगताहै कि कविका ध्यान इनके साज-संवार और इनके रख-रखावपर कुछ अधिक ही है। 'चतुर्मुखम्' शीर्षककी कविताएं (?) तो उसके रूपाग्रही होनेका परिचय तो देतीही हैं, शब्दक्रीड़ा-कौतुकके प्रति उसके व्यामोहको भी उजागर करताहैं।

ध्रुव शुक्ल लहजोंके कवि हैं। कवितामें नये-पुराने कौशलकों निर्वाहके कवि हैं। उन्हीं कौशलकों बीच अर्थकी गूँज सुनायी पड़तीहै। लोकगीतसे लेकर कबीर और नागार्जुनतक की उक्तिभंगिमा उनमें देखी जासकती है। कहीं ध्रुव पदोंकी समानान्तर पुनरावृत्तिसे काल और घटनाओंको एक ही सम्बन्ध-बोधमें बाँध लेतेहैं, असम्बन्धके बीचसे सम्बन्ध या विषमताके बीचसे समता पैदा करतेहैं ('उसी शहर में' कविता), कहीं एक लय-गतिसे प्रवाहित भाषामें मोड़ लाकर कवितामें थिरता ले आतेहैं ('प्रभु तुम द्वन्द्व समास' की अन्तिम पंक्तियाँ), कहीं किसी संज्ञा और उससे जुड़े सम्बन्धोंका दूसरे अर्थोंमें सार्थक प्रयोग करके अर्थ-चमत्कार ले आतेहैं ('तंग गलियोंमें ही सही / बहुत पाससे होतीहै दुआ-सलाम/यहीं है हमदर्द दवाखाना/यहीं होता है रोगोंका शक्तिया इलाज'—'पुराने शहरपर विश्वास करतेहैं लोग' कविता); कहीं पदोंका विषम सम्बन्धोंके साथ प्रयोग करके विचारक्रमको भंग करतेहैं: "आगे-आगे सुखका कुत्ता/पीछे-पीछे कुत्तेका सुत्र/पीछे-पीछे दुःखका कुत्ता/आगे-आगे कुत्तेका दुःख" ('कुत्तोंसे सावधान' कविता)। कभी कबीरकी उलटबाँसीकी-सी (उलटबाँसी नहीं) मुद्रा अपनातेहैं ('भीतर-भीतर' कविता), कभी शब्दोंके हेर-फेरसे कुतूहल उत्पन्न करतेहैं ('सब आगेके आदर्माके पीछे-पीछे चल रहेहैं/इस तरह आगे-आगे चल रहाहै/आगेके आदर्मीके पीछेके आदर्मीके पीछेका आदर्मी भी ('एक कदम पीछे हटनेकी मुश्किल' कविता), या 'तब पापाके पापाके पापाके पापा/पापाके पापाके पापाके पापा जी आये/मम्मीकी मम्मीकी मम्मीकी/मम्मीकी मम्मीकी मम्मीकी लाये ('खोजोतो बेटी पापा कहां हैं, कविता), 'आईनेके सामने' कवितामें एकही 'वार्ता' संज्ञा शब्दको भिन्न क्रिया-सम्बन्धोंमें रखकर न केवल चमत्कारिक 'प्रकर'—अप्रैल'६०—३८

ढंगसे भाषाका अर्थवान् प्रयोग करतेहैं, बल्कि उसीके बीचसे उभरकर लगभग उस औपनिषदिक उक्तिका पीछा करतेहैं: 'ऊं पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमे-वाशिष्यते'। कौशल औरभी कई हैं; चित्र कविताके भी, ठोस कविताके भी और प्रयोगवादी काव्यकी आरं-भिक स्थितियोंके भी। प्रतीक पद्धतिपर उतारी हुई इन कविताओंमें प्राचीन संदर्भभी गर्भित हैं, विशेषतः रामा-यण और महाभारत कथाके, और जहां है वहां वे उन कविताओंको अर्थवान् बनातेहैं। 'प्रिया' खण्डकी कवि ताएं ऐसीही हैं।

रूप और शब्दको प्रधान बनाकर भी ध्रुव जीवन सत्यको पकड़तेहैं, क्षणानुभूतियोंमें किसी-न-किसी मर्मकी बातको कह जातेहैं। कविताएं स्वयं पढ़नेकी चीज है। उदाहरण कहाँ तक दें। हमारी दृष्टिमें ध्रुव संभावनाओंके कवि हैं। □

## खामोश हूं मैं?

कवि : भगवतशरण अग्रवाल

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्र सिंह

श्री भगवतशरण अग्रवाल एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने हायकू तथा गीत क्षेत्रोंमें अपनी एक पहचान बनायीहै जो "टुकड़े-टुकड़े आकाश" तथा "बस, तुमही तुम" जैसे संग्रहोंमें संकलित हैं। उनका नया काव्य संग्रह "खामोश हूं मैं" में वे एक मुक्त छंदके कविके रूपमें सामने आयेहैं और यही कारण है कि इन कविताओं में गीतात्मकताके गुण अन्तर्व्याप्त हैं, जिससे हुआ यह है कि उनकी मुक्त छंद योजनामें भी एक गीतात्मक 'लय' है, क्योंकि 'लय' छंदका प्राण है, चाहे वह मुक्त छंदही क्यों न हो? समकालीन युवा कवियोंमें अधिकांशतः यह देखा जासकताहै कि मुक्त छंदके प्रयोगमें एक प्रकार की अराजकता है जो 'छंद' के स्वरूपके प्रति एक प्रकार की अज्ञानताका ही सूचक है। भगवतशरणकी कवि-ताओंमें मुक्त छंदकी लयात्मक संरचना है जो पूरे छंदको 'अर्थकी लय' से बांध देतीहै। उदाहरणस्वरूप ये पंक्तियाँ लें—

१. प्रका. : संस्कृति प्रकाशन, गोलवाड, रतनपोल, ग्रहमदाबाद-३८०००१। पृष्ठ : ७६; डिमा. ८७; मूल्य : २५.०० रु.।



‘मैं’

जो अपनी मृत्युसे अनजान  
पर संतुष्ट  
कि हर कोनेसे जैसा घूरता कोई  
निरासकार !

(पृ. ३४)

यहाँ पर ‘निरासकार’ शब्द प्रयोगके द्वारा छंद को एक ‘लय’ में बाँधा गया है जो विस्तारकी प्रतीति करता है। कविके रचना संसारमें ऐसे प्रयोगोंकी यदा-कदा छटा प्राप्त होती है जो उसके ‘समय-बोध’ को संकेतित करता है। आजकी भयावह स्थितियोंमें ‘मृत्यु’ भी उसके लिए एक ‘अपराध’ है क्योंकि यहाँ फिर जन्म लेना एक दंड भोगनेके समान है—

मेरा तीसरा अपराध मेरी मृत्यु होगी  
क्योंकि मुझे फिर जन्म लेना पड़ेगा

उस प्रथम अपराधकी परम्पराका (पूर्वजन्म)  
दंड भोगनेके लिए ।

(पृ. २७)

कविकी कविताओंसे गुजरते हुए एक मुख्य तथ्य यह प्रकट होता है कि व्यक्ति लगातार संघर्षरत है और इस संघर्षमें वह ‘टूट’ भी रहा है, अनिश्चित निश्चितताओं और निश्चित अनिश्चितताओंके मध्य (पृ. २४)। यही कारण है कि कवि अपने महत् ‘मैं’ को दफन करना चाहता है (पृ. ३५) क्योंकि विडम्बनाओंसे घिरे समाजमें जहाँ शोषण और अनाचारका बोलवाला हो, व्यक्तिकी अस्मिताका प्रश्न अधरझूलमें हैं। ये सभी कविताएं इसी वेदनाको भिन्न-भिन्न संदर्भों और रूपाकारोंके द्वारा व्यक्त करती हैं। हो यह रहा है कि शून्य और महाशून्यके मध्य व्यक्ति अभिशप्त है जीनेके लिए जो अस्तित्वकी एक ऐसी विडम्बना है जिसके लिए आदमी अनचाहेही अभिशप्त है—

अनगिनत शून्योंसे बनी

महाशून्यकी उपलब्धि के भटकावमें

नये नये शून्य बनाते

बनाकर मिटाते

हर नया दिन बितानेपर

मजबूर हूँ ।

(पृ. ६)

उपर्युक्त विवेचनसे कविके मनःलोकका एक ऐसा चित्र सामने आता है जो कभी-कभी भिन्न ज्ञान-क्षेत्रोंके प्रत्ययात्मक रूपाकारोंको, प्रतीकों और घटनाओंका एक रचनात्मक संदर्भ देता है। इस दृष्टिसे कविके बोध संसारमें विचारोंका एक ऐसा रूप प्राप्त होता है जो

प्रायः ज्ञानानुशासनोंके अध्ययनकी ओर भी संकेत करता है क्योंकि कवि जब विचार साहित्यसे कम संबंधित होगा, तो उसकी रचनामें रचनात्मक ऊर्जाका अभाव बना रहेगा। श्री अग्रवालकी कविताओंमें प्रायः ऐसा नहीं प्राप्त होता है। इन कविताओंमें रसायन, फार्मूला, डायनोसुर, मशीन-मानव, कलन, लॉगबुक आदि ऐसे शब्द हैं जो गणित, प्राणीशास्त्र, मानवशास्त्र जैसे क्षेत्रोंसे लिये गये हैं और उन्हें रचनात्मक संदर्भ दिया गया है। ये सभी रूपाकार अन्य क्षेत्रोंके होते हुए भी कविताके अंग बन गये हैं, इसलिए ये, मेरे विचार से, हाशिएके शब्द नहीं रह गये हैं अपितु वे कविकी संवेदना तंत्रके अंग बन गये हैं। ऐसे कुछ उदाहरण देना यहाँ आवश्यक है—

१. मैं प्रकृतिके पंचभूतोंके  
रसायनका—

सफल एक फार्मूला (पृ. ३५)

२. निकल रहे पंख, डायनोसुरवाली सभ्यताके  
एक दिन आकाश घेर, सूरज निगलना चाहेंगे  
(पृ. ५५)

३. जीवनका हर क्षण

स्टैटिस्टिक्सका वह फार्मूला बन गया है

जिसकी लॉगबुक

शायद चित्रगुप्तकी बही ही निकले !! (पृ. ६२)

इन कविताओंसे गुजरते हुए मेरी उपर्युक्त प्रतिक्रिया वैयक्तिक होते हुए भी अग्रवालके संवेदना लोकको पकड़नेमें कहाँ तक सफल हुई हैं, यह स्वयं कविही बता सकता है और किसी सीमातक पाठकभी ! □

## ब्रज काव्य

### ब्रज कवि-बन्दन ?

कवि : डॉ. अम्बाप्रसाद ‘सुमन’

समीक्षक : डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

प्रस्तुत संकलन डॉ. सुमनकी सर्जनात्मकताका सर्वो-

१. प्रका. : वासन्ती प्रकाशन, ए-८७, विवेकनगर,  
दिल्ली रोड, सहारनपुर-२४७००१। पृष्ठ : ६४;  
क्रा. ८६; मूल्य : ३०.०० रु.।



तम अवदान है। जन्मतिथि, पुण्यतिथि, शताब्दी समा-  
रोहोंपर कवियोंके विषयमें कविताएं लिखनेकी परम्परा  
रही है। व्यक्तिगत सम्बन्धोंके कारण तथा साहित्यिक  
प्रतिभाके कारण रचिताओंके मानस उद्वेलित प्रफुल्लित  
होकर ऐसी रचनाएं करते रहें; लेकिन केवल छव्तीस  
दिनोंमें ब्रजभाषाके पन्द्रह सिद्ध एवं प्रसिद्ध कवियोंके  
विषयमें अड़तालीस घनाक्षरियाँ लिखना निश्चितही  
प्रतिभाका रससिद्ध विस्फोटही कहा जायेगा, जबकि  
अपने साठ वर्षके रचनाकालमें सुमनजीने इस प्रकारका  
पहले कुछ नहीं लिखा। हां अध्ययन-अध्यापनके इन  
वर्षोंमें इन कवियोंके व्यक्तित्व-कृतित्वके विषयमें उनकी  
गहरी पैठ इन छंदोंका आधार बनी है। इनके रसमय  
रूपकी विविधता तो सुमनजीका कोई तात्कालिक  
उद्वेलन ही रहा होगा, जिसने उनकी अवरुद्ध या वर्षोंसे  
संचित भाव-भूमिको कुरेद दिया। कहीं वियोगी हरिजी  
के निधन (तिथि १ मई ८८) ने तो सुमनजीके हृदयको  
उद्वेलित नहीं कर दिया कि १ जून १९८८ ई. से  
उन्होंने ये छन्द लिखने शुरू कर दिये और इस प्रकार  
ब्रजभाषाके अन्तिम समर्थ और मर्मज्ञ कविकी स्मृतिसे  
उनका मानस उद्वेलित हो उठा, जिसमें न जाने कितने  
दर्शकोंकी अनुभूतियाँ हिलडुलकर उनकी कलमकी  
नोक से निकल पड़ीं।

इन छन्दोंका पूरा ठाट-बाट मध्यकालीन है। वही  
भावभूमि, वही रचना कौशल। ब्रजभूमि और ब्रजभाषा  
एवं साहित्यके रसिक एवं वाणीपर असाधारण अधिकार  
होनेके कारण भावों एवं विचारोंको साकार करनेमें  
सिद्धहस्त सुमनजी सम्पूर्ण व्यक्तिगतत्वको ये छन्द उजागर  
करते हैं। नाद-सौन्दर्यसे भरपूर भावानुकूल भाषामें लिखे  
गये इन छन्दोंको यदि ढंगसे पढ़ा जाये, तो सहृदय क्या  
सामान्य श्रोताभी भावविगलित हुए बिना नहीं रह  
सकता। सूरदासके सन्दर्भमें ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

“गोपिनकी गारिनमें गोरस चखाइवौ”

तथा—

“झांझरी भई है देह, बांह आंगुरी भई है”

“माय जसुदा लीनीको लौंदा पकरान लागीं”

तथा—

“सूर आंधरी हियेकी आँखिन ते देखि रह्यौ”

संग-संग सूरकी हूं आँखें मिदुरान लागीं।

यह बिम्ब देखें—

“गोपिका तो ठाड़ी रह्यौ पर आँखि ऊधौ पीछें,

‘प्रकर’—अप्रैल’९०—४०

चलीं, चलीं, चलीं तोऊ पीछें चलिबौ करीं ॥”  
तुलसीके दारिद्र्यपूर्ण जीवनकी एक झलक—

“दारिदकी लात खाइ यहां गिर्यौ वहां गिर्यौ”

तथा कोहवटमें सीताका रामचरण-स्पर्श करनेके  
संकोचमें एक मौलिक उद्भावना है—

“आगे कूं बढ़्यौ हो हाथ, मुनि नारि आई याद,  
खैचि लयौ पीछें फिर अति दुख पाइ रह्यौ।”

तुलसी द्वारा सीता-परित्यागका प्रसंग मानसमें समाहित  
न करनेके औचित्यकी कल्पना इस रूपमें की गयी है—

“स्वामी अवधेस कौ सुदकनौ न भायौ मन

तुलसी कथा न कही सीता वनवासकी।”

मीराके काव्य-माधुर्यके कारणकी यह कल्पना भी सहज,  
सरस और प्रभावी है—

बांधे पग घुंघुलू, अधर धरी बाँसुरी हू

स्याम कौ ममीरा आँखि आँजि मीरा नाचि रही।”

रसखान की भाषाके विषयमें—

“सैत-सी कहूं कै, मिसिरी कौ उपमान दऊं,

चासनी-सी लिखी ब्रजभाषा वा पठान नैं।

कहां पठानकी जगजाहिर कठोरता और उसके वैषम्य,  
कहां शहद मिश्री-चासनीकी तरल मधुरता।  
बिहारीके काव्य-वैभवका यह बखान—

“हावनके भावनके, नैननके सैननके,

बतरस—वैननके रूप चित्रधारी हे।”

उनकी अपनी नायिकासे होड़ लेनेवाली बिहारीकी  
कविता कामिनीका यह अंकन सुमनजीकी वाग्विभूतिका  
प्रमाण है—

“तेरी कविता ही नव जोवना बिहारीलाल

सब्रद-योजना तो बाकी नरम कलाई ही।”

महाकवि देवकी राधाका यह चित्र दर्शनीय है—

“स्यामके बियोगमें भई है गोरी सांवरी-सी”

तथा देवके ही प्रसिद्ध छन्दकी पंक्ति (वेग ही बूढ़  
गई पंखियां-अंखियाँ मधुकी मखिया भई मेरी) के  
आधारपर ये पंक्तियाँ बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं—

“कूदि परीं मधुके सरोवर मैं ताही छिन

राधिकाकी अंखियां भई हैं मधुमखियां।”

घनानन्दमें जाकर ब्रजभाषा और उसकी प्रेमकविताके  
रूपान्तरको बड़ी सूक्ष्मतासे पकड़ा और व्यक्त किया है—

“बाहरी उछल कूद त्यागी वा वियोगिनी नैं

अन्तरविथाकी कथावारी सतवन्ती भई।

दरबारी वार-वनिताका प्रेमयोगिनीमें यह पर्यव-



सान निश्चितही सुमनजीके सूक्ष्म पर्यवेक्षणसे प्राप्त अनुभवकी रागात्मक अभिव्यक्ति है। घनानन्दके व्यक्तित्वमें निहित अन्तर्द्वन्द्वकी यह अभिव्यक्ति भी द्रष्टव्य है—

“बिन्दावन वासी हे जरूर पै उदासी ना हे  
त्यारी छिपी पीरकी मरोर हूं महान है।”  
कोई कवि-हृदयही इस पीरको पहचान सकता था। पद्माकरके ब्रजकठोर और कुसुमकोमल व्यक्तित्वको बड़े अनूठे ढंगसे व्यक्त किया है।

“तुम ही हे ज्वालामुखी, तुमही सरोवर हे,  
आगि हू लगाई रसधार हू बहाई ही।”  
भारतेन्दुका योगदान एक पंक्तिमें कितनी सारगर्भिता से व्यक्त किया है—

“हिन्दी कौ ये हरौ भरौ पादप जो देखि रह्यौ,  
त्यारे समबिन्दुन ते सींचौ गयौ ‘हरीचन्द’।”  
‘रत्नाकर’ की गोपियोंके व्यंग्य वाणोंसे आहत उद्धवकी मनोदशाका यह चित्रण इतने लाघवसे शायदही किसीने किया हो—“ऊधौ कर्यौ सूधौ” तथा स्यामकी पाती पढ़ने और उसकी प्रतिक्रियाकी यह अभिव्यक्ति तो मार्मिक है ही—

“स्याम पाती बांचन कूं पंजेन पै ठाड़ी भई,  
दुःखी भई बांचि कै लिखे जो-जो आंखर है।”  
गोपियों द्वारा यदि कहीं ध्यान-योग ग्रहण कर लिया जाता, तो ऊधौ लाइलाज मुसीबतमें पड़ जाते—

“एती मृगछालाएं कहां ते ऊधौ लावते।” क्या कल्पना है सत्यनारायण कविरत्नके विषयमें “पढ़ी कान्हू पाटी, ब्रजमाटीमें रम्यौ रह्यौ जो।”

इनके अलावा सूर तुलसीके हृदय और नेत्रोंको गोपियों यशोदा और राम-सीताके साथ द्रवित दिखाने के ये प्रसंग हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं—

“देखि नन्द कान्हू बिना मानसके गोकुल मैं,  
जमुदा लड़ीही नाहि, सूर तुम लड़े हे।”  
तथा—

“केवट न धोये पग धोये पग तुलसी नैं  
पादामृत पिथी कवि केवटके रूपमें।”  
“विललाती कुररी-सी नभ दीना सीता गई,  
जब राम रोये संग तुलसी हू रोयौ हो।”

इन अंशोंको देखकर आधुनिक कवि नागार्जुनकी ‘कालिदास सच-सच बतलाना’ की ये पंक्तियां सहसा याद आ जाती हैं—

“कलिदास सच-सच बतलाना  
इन्दुमतीके निधन शोकसे  
अज रोया या तुम रोयेथे।”

आलम्बनसे बिना तादात्म्य किये ऐसी मार्मिक रचना होही नहीं सकती।

भक्तिकालमें भक्त कविके जीवनवृत्तको लेकर छप्पय लिखे गयेथे, जिनमें तथ्य और प्रशस्ति थी, वे इतिहासकी सामग्री बने; लेकिन सुमनजीके ये छन्द इतिहास और समीक्षाकी सामग्री तो हैंही, इनसे बढ़कर उक्त कवियोंके सरस काव्य व्यक्तित्वकी सूक्ष्म भाव-सम्पन्न पहचान होनेके नाते कहीं बहुत मूल्यवान् हैं। व्याकरण और भाषा विज्ञानके तार्किक जालसे मुक्त होकर संवेदनशील रचनाकार कितनी रसमय रचना कर सकता है इसका अनुमान इन्हें पढ़े बिना नहीं होसकता। ब्रज वसुधरामें पलने-बढ़नेका ऋण सुमनजीने इन छन्दोंमें चुकाया है और व्याज सहित चुकाया है। □

## ब्रज लोकगीत

संकलक-प्रस्तुतकर्त्री: डॉ. हर्षनन्दिनी भाटिया  
समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

इस वर्ष पं. रामनरेश त्रिपाठी जन्मशती वर्ष है। पं. त्रिपाठीने ग्रामगीत संकलनकी परम्पराका श्रीगणेश हिन्दीमें किया था तथा वर्षोंकी साधनासे हिन्दी साहित्य का सम्बर्द्धन किया था। फिर डॉ. सत्येन्द्रने ब्रजलोक-साहित्यका संकलन-मूल्यांकन कर लोकसाहित्यपरक अध्ययनकी परम्पराकी प्रतिष्ठा की। इसके बाद अनेक क्षेत्रीय भाषाओंके लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, लोकनाट्यों, लोकभाषा, लोकोक्ति-मुहावरो, लोकोत्सव तथा व्रतानुष्ठानों आदिको अध्ययन आरम्भ होगया। डॉ. हर्षनन्दिनी भाटिया लोकसाहित्य एवं लोककलाके क्षेत्रमें एक समर्पित अध्येता और शोधकर्मी के रूपमें प्रतिष्ठित हैं जो बिना प्रचारके निरन्तर कार्यरत रहकर ब्रजलोक साहित्यके अध्ययनके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही हैं। आलोचना कृतिसे पूर्व उन्होंने ब्रजलोककला नामक उच्चकोटिकी कृतिका

१. प्रका. : श्री मदनमोहन ब्रजलोक समिति, टकसाल गली, बृन्दावन (मथुरा, उ. प्र.)। पृष्ठ : ११२ + १०; डिमा. ८८; मूल्य : ५१.०० रु.।

‘प्रकर’—वैशाख २०४७—४१



संपादनभी किया है। वे ब्रजलोककला एवं संगीतकी मर्मज्ञ हैं। उन्होंने इस कृतिके माध्यमसे देवी वन्दना, गणपति, सालिगराम, वृन्दावन महिमा, यमुना स्तुति, आरती, गोवर्धन, मोरा, टेसू, साँझी, झाँझी, होली, भारतभाव-रूप श्रीकृष्ण, वैद्यकलीला, गोदनालीला, जन्म, कठुला, झुनझुना पालना, विवाह, खेल, शृंगार आदिके गीतों का संकलन नहीं किया अपितु प्रवाहमयी टिप्पणियों के साथ गीतोंकी प्रतीतिकी गहनता रेखांकित करनेमें कोई कमी नहीं छोड़ है।

डॉ हर्षनन्दिनीने स्वयं यह स्वीकार किया है कि—  
“लोकगीतोंमें मानव-मनके हृदयका स्पंदन छिपा हुआ है। सरल हृदयकी सहज अभिव्यक्ति, मार्मिक उक्तिमें ब्रजलोक जीवन तथा ब्रजलोक संस्कृतिका चित्रण गीत बनकर ओंठोंसे प्रस्फुटित होता है (पृ. १ : अपना गीत)। इस लघु गीत-संग्रहमें ब्रजलोकगीतोंकी बानगीही देखी जासकती है क्योंकि संकलन गहन चयन दृष्टि एवं सन्दर्भपरक योग्यताके स्तरपर ही किया गया है। वास्तविकता यह है कि ब्रज लोकजीवनमें पर्वोत्सव, तीज-त्यौहार और विविध लोक संस्कारोंके अवसर आजके इलैक्ट्रॉनिक मीडियापर मनोरंजनके साधनोंकी बहुलता के रहते हुए सरस एवं कोमल कण्ठोंसे उभरते हुए मधुर स्वर विमोहित करनेमें पीछे नहीं रहते और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया (टी. वी. तथा रेडियो) पर भी ब्रज लोकगीतों की धाक कम नहीं है। तब ऐसे विशिष्ट दृष्टिकोण और सटिप्पण गीतोंका संकलन अपनी उपादेयता स्वयं ही चरितार्थ करता है।

हमारे लोक संस्कारोंमें किसीभी कार्यका शुभारम्भ बिना वन्दना, एवं स्तुतिके होताही नहीं है तो विदुषी संकलनकर्त्री इस पुर्णित कार्यकी विस्मृति कैसे कर पाती। इसलिए राधा-कृष्णके चित्रके तुरन्त बाद माँ सरस्वती (सर्वप्रथम) की वन्दनासे ही कृति आरम्भ कीगयी है :—

सरसुत-सरसुत तुम जग जैनी ।

हंस चढ़ी, लटकाओ बैनी ।

फिर गणेश वन्दना, क्योंकि विघ्न-विदारक वही है, यदि गणेश स्तवन न हो तो विघ्न विधायक भी वे हो जाते हैं। इसीलिए ‘गौरी-गणेश मनाऊं मेरी अम्बे मइया’ के गीतके इतर देवी-देवताओंके गीत, लांगुरिया (देवी का सहचर) गीत प्रस्तुत किया गया है। देवी सहचर,

‘प्रकर’—अप्रैल’६०—४२

देवी पार्षद एवं सेवकसे ब्रज वनिताएं एवं भक्तिनें व्यंग्य विनोद करनेसे नहीं चूकतीं :—

करि लीये दूसरौ व्याह

लांगुरिया मेरे भरोसे मति रहियो ।

मोहि लीपि न आवै लीपनो

और काढ़ि न आवै खूंट

मेरे भरोसे मति रहियो । (पृ. ३)

फिर हिंगुलाज माता, वेलोन माता, कैलादेवीके साथ लांगुरिया-गीत भी हैं। यहाँ प्रबन्धात्मक कल्पनासे सम्पन्न देवीगीत संकलित किया गया है।

व्यथाभरी लोकगीतात्मक कथाके रूपमें ‘मोरा’ गीत बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त लोकरचना है। तो टेसू तथा झाँझी गीत तथा साँझीके गीत बालक-बालिकाओंके गीत हैं जिनमें लोक जीवनका यथार्थ चित्रित होता है तथा विशिष्ट सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतनाका स्पर्श है। विविध लोकोत्सवोंके गीत जीवनकी विविधता तथा ब्रज संस्कृति की शाश्वतताका परिचय देते हैं।

डॉ. भाटियाने बड़ेही नैपुण्यसे ब्रजलोक गीतोंमें श्रीकृष्णके लोकरंजक रूपको भारत भाव रूपमें देखने-परखनेकी चेष्टा की है तथा इस दृष्टिसे सोचकी नयी धाराका परिचय मिलता है। श्रीकृष्ण ब्रजलोक गीतोंमें प्राणबिन्दु बनकर उपस्थित हैं और विविध संस्कारोंसे सम्पन्न रहनेवाले लोकजीवन से कृष्णका अलगाव कहीं देखाभी नहीं जासकता। इसीलिए डॉ. हर्षनन्दिनीजीने ब्रजलोक गीतोंको कृष्ण-प्राण-बिन्दु रूपमें रखकर वैज्ञानिक दृष्टिके साथ आनु-ष्ठानिक, ऋतु, श्रम और बाल—चार प्रकारसे वर्गीकृत किया है तथा श्रीकृष्णके जन्मपर वधाई, जन्मोत्सव पर नृत्य गायन, दान, आशीर्वादपरक गीतके साथ कृष्णकी काल लीलाओंसे सम्बन्धित लोकगीतोंका उल्लेख है। प्रतीत यह होता है कि इस समृद्ध लोकगीत परम्परासे प्रेरित होकर ही श्रीकृष्णके बाल रूपके वैविध्यपूर्ण चित्रोंकी रचना सूरदासकी रचनात्मक पृष्ठ-भूमिमें रही है।

राधा-कृष्णके प्रेमके परिपाकसे संवर्द्धित गीतोंमें ब्रजलोक पीछे नहीं रहा है। यही कारण है कि राधा मिलनके लिए कृष्णके वैद्य बनकर जाने और एकान्तालापके लिए अवसर जुटानेसे लेकर ललिहार गोप्तहारीके वेप धारण करनेवाले बहुरूपिया कृष्णकी प्रेम-पराकाष्ठाका चित्रण ब्रजलोक गीतोंमें संकलित है



क्योंकि राधा वेषधारी श्रीकृष्णसे कहती हैं—

ठोड़ी पै ठाकुर लिखौ  
गलेमें गोकुलचन्द  
छतियन पै लिखि छैल  
बांहनि पै लिखौ बिहारी (पृ. ५०)

जन्म संस्कारके लोकगीतोंकी बहुलता है ब्रजमें, जिन्हें जच्चा या सोहर गीतभी कहा जाता है, इनमें अठमास, नरंगफल, साध, निबरिया, कोमरी, कंगना, जगमोहन लुगरा आदि बहुप्रचलित गीत हैं। ब्रजलोक गीतोंके इस संकलनमें डॉ. भाटियाने बड़ी विद्वत्ताके साथ गीत चयन किया है। तभी ब्रजके पर्याय कृष्ण तक उनकी दृष्टि सीमित नहीं रही है अपितु राम, कौशल्या और दशरथने लोकजीवनको प्रभावित किया है, उसे भी आकलित करनेमें वे पीछे नहीं रहते हैं—

चौकी पै बैठे राजा दशरथ  
अरु नीचे कौशल्या

×

×

कौशल्याके भए राजाराम

सुमित्राके लछिमन

कैकईके चरतभरत भए

तो चारि कुमर भए राज

प्रसववेदनाकी प्रतीति नारीकी मौन सामर्थ्यकी ऐसी भावधारा है जिसमें मातृत्व सार्थक होता है, जिसका संकेत लोकगीतोंमें ब्रजवनिता करती है—

सेज पे अब न चढ़ूंगी मोरे राजा ।

पहली पीर मेरे आई

मैंने सासुल जाय जगाई

वो तो सुनतेई करवट लै गई

ऐसी वेदनी भई महाराजा ।

इस पीड़ाको सद्यप्रसवशीला बांट लेनेका आग्रह भी करती है—

बांटे लेउ कोई पीर हमारी

तुम सुनियौ सासु हमारी

मेरी नारि कौ हंसुला भारी

इसके इतर कठुला (गलेका आभूषण), झुनझुना (खिलौना) पालना आदिके गीत, पुत्रजन्मसे सम्बन्धित लोकगीत हैं जो क्षण-क्षण ब्रजवनिताओंसे अधरोपर लरजते रहते हैं। फिर डॉ. भाटियाने विवाहके अवसर पर गाये जानेवाले लोकगीतोंको पुत्र-पुत्री वर्गके रूपमें वर्गीकृत करके संकलित किया है और यथा-स्थान महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां भी दी हैं। कन्यापक्ष और वरपक्षमें

विविध कार्य-सम्पादनार्थ प्रयुक्त गीतोंका यह संकलन अपनी सर्वांगपूर्णताका संकेत करता है।

अन्तिम अध्यायमें 'खेलके गीतों' का संकलन किया गया है जो अत्यन्त उपयुक्त है। लेकिन वैवाहिक संदर्भके ब्रजलोकगीतोंमें 'गारी' (गाली) जो कन्यापक्षकी स्त्रियां ज्यौनारके समय वरपक्षके समर्थियोंकी श्रेणीमें आनेवाले सम्बन्धियोंके लिए गाती हैं उसमें एक दो गालियोंका संक्षिप्त परिचय देकर इस संकलनकी समग्रता सिद्ध की जानी चाहिये थी यथा—

अट्टा ऊपर अट्टा

तैने व्याहू करो के ठट्ठा

और जब ब्रज क्षेत्रमें बारात चली जाती है और वरपक्षमें घर तथा मुहल्लेमें भी पुरुषवर्गका अभाव प्रतीत होता है तो उस रात्रिको जागरणकर घरकी चौकसीके साथ कुंवारी लड़कियोंके समक्ष 'खोइया' के गीत गाकर उन्हें विवाहके गूढार्थ समझाये जाते हैं। उस अवसरके सभी गीत अश्लील नहीं होते, उनमें से एक दो का परिचय दिया जा सकता था। इसी प्रकार दाम्पत्य जीवनके अनमेल विवाहसे सम्बन्धित गीतोंकी भी एक परम्परा ब्रजक्षेत्र में उपलब्ध है, उसका भी उल्लेख होता तो अच्छा था क्योंकि उनमें युवा पत्नीके जीवनकी ठाठें मारती कामनाएं और बुढ़ऊ पतिकी उदासीनतापर गहरे व्यंग्यकी छाप है या युवा और वासना-विदग्ध पत्नीका पति उम्र में छोटा है, ऐसे गीतोंका उल्लेख भी इस संकलनकी परिपूर्णताके लिए आवश्यक प्रतीत होता है यथा—

छोटो सो मोरा बालमा

गिल्ली डण्डा खेलें।

पनिया भरनको जाऊं

मोहि कहै—गोदी लै लै। □

### [पृष्ठ ४६ का शेष]

खाये जानेवाले भोज्य पदार्थ, मौसमके फल, सब्जियां, मसाले, आदिके सेवनसे रोगोंसे बचावके तरीके बताये गये हैं। इसलिए इस पुस्तकको चिकित्साके लिए घरका वैद्य या डाक्टर कहा जा सकता है। न केवल इतना ही वल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि दवाइयोंके दुष्प्रभावसे भी पाठकोंको परिचित कराया गया है। इस दृष्टिसे दवाइयोंके प्रयोगपर सजगतासे निगाह रखना जरूरी है।

यह तो स्पष्ट है खानपानमें सावधानी बरतकर कई रोगोंसे बचा जा सकता है। कई रोगोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है, कानकी पीड़ा, बिच्छू काटना, छाले, हिनकी, बवासीर आदि। □



# नाटक

## कल दिल्लीकी बारी है?

नाटककार : श्रवणकुमार गोस्वामी

समीक्षक : डॉ. भानुदेव शुक्ल

आधा दर्जन उपन्यासों, एक कहानी संग्रह तथा अनेक समीक्षा-पुस्तकोंके पश्चात् डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामीने एक नाटककी रचनाभी की है। गोस्वामीजी के प्रथम उपन्यास 'जंगलतंत्रम्' के समानही 'कल दिल्लीकी बारी है' में भारतमें जनतंत्रके विकृत रूपकी व्याख्या की गयी है। विश्वके सबसे बड़े लोकतंत्रके प्रजातंत्रको जंगल-तंत्रकी संज्ञा देकर गोस्वामीजीने अपनी यथार्थ-दृष्टिके परिचय दिये। आलोच्य नाटक में चुनावी रणनीतिपर उन्होंने कड़े प्रहार किये हैं।

नाटकमें भारतके तथाकथित लोकतंत्रके जिस रूप को प्रदर्शित किया गया है वह नाटककारके अपने प्रदेश बिहारमें नया नहीं है। वृथपर जबर्दस्ती कब्जा कर मत-पत्रोंके दुरुपयोग, विरोधी मतदाताओंको बन्दूकोंसे धमकाकर मताधिकारसे वंचित रखना, डरा-धमकाकर विरोधी प्रत्याशियोंको चुनावसे हटा देना आदि वहाँके आम हथकण्डे बन गये हैं। नाटक एक नेताजीके चुनाव-अभियानसे प्रारम्भ होता है। हर प्रचारके तरीकेसे वे अनेक बार चुनाव जीत चुके हैं। अबकी बार उनकी स्थिति बहुत कमजोर है क्योंकि उनका विरोधी एक ईमानदार तथा निर्भीक प्राध्यापक है। नेताजी डाकू बज्जरसिंहसे सहायता लेते हैं। डाकूओंकी बंदूकें चुनाव का फैसला करती हैं। बज्जरसिंह अपनी बन्दूकोंकी शक्तको समझकर स्वयं चुनाव लड़नेका फैसला करता है। मूर्छे मुड़ाकर, खादी पहनकर तथा बन्दूकें त्यागकर बज्जरसिंह ठाकुर ब्रजनारायणसिंह बन जाता है। नेताजीकी सहायतासे वह विधान सभाके लिए पार्टीका प्रत्याशी

१. प्रका. : सत्साहित्य प्रकाशन, २०५ बी चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : १२८; का. ८६; मूल्य : ४०.०० रु.।

बन जाता है। चुनाव जीतकर वह विधायक बन भी जाता है। अब वह उसके साथी लोकतन्त्रपर डाके डालते रहनेके लायसेंस पा चुके हैं तथा शासन-तंत्र उनकी मुट्ठीमें आ गया है। बज्जरसिंहका नया नारा है—“आज विधान सभा हमारी है, कल दिल्लीकी बारी है।”

नाटकमें जिस चिन्ताको व्यक्त किया गया है उसका कारण है देशकी राजनीतिमें निरन्तर अपराधी तत्त्वोंका बढ़ता प्रभाव। ऐसे तत्त्वोंके लिए पनपनेका सबसे सुरक्षित तथा लाभकारी क्षेत्र राजनीतिका क्षेत्र बनता जा रहा है। बज्जरसिंहके डाका डालनेका कार्य छोड़कर राजनीतिमें प्रवेश करनेके निर्णयसे उसके दलके साथी आशंकाग्रस्त होते हैं तो वह समझाता है—“यहां हमसे भी बड़े डाकू हैं, हमसे भी बड़े-बड़े अपराधी हैं, हमसे भी बड़े पापी हैं, मगर उन्हें न तो कोई डाकू कहता है और न अपराधी। समाजकी निगाहमें ये लोग जनताके सेवक हैं। पुलिसकी निगाहमें ये देशके नेता हैं” तथा अपने साथियोंको समझाता है कि “नेताओंकी जातिके लिए सबसे बड़ी चीज होती है कुर्सी और उनका धरम होता है बराबर झूठ बोलना।” बस, सभी चोला बदलकर जन-सेवक बन जाते हैं। ‘जंगलतंत्रम्’ में वोट की शक्तिपर जो विश्वास लेखकको था वह १९८६ की रचनामें समाप्त हो चुका दिखायी देता है।

नाटकके तीन अंक बीस दृश्योंमें विभाजित हैं। सभी दृश्य छोटे हैं। ये बीस दृश्य नाटकके कथानकको बीस खण्डोंमें बांटकर तीव्र गति देनेके लिए नहीं है। वास्तव में नाटकमें कथानक तो गौण ही है, प्रमुख है वह भयावह वास्तविकता जो इस छोटेसे नाटकमें अंश रूपमें ही आ पायी है। तबभी हम इसके परिचयसे सिहर उठते हैं। कथानक छोटा है इसलिए नाटकमें एकरसताकी आशंका थी। किन्तु नाटक इससे पूरी तरह बचा है। नाटकमें गति निरन्तर बनी रही है। संवाद नाटकीय हैं। दो स्थलोंपर नाटककारने एक कुशल युक्तिके प्रयोग किये हैं। इसमें बच्चे अपने बड़ोंकी नकल उतारते हैं। यह नकल



व्यंग्यकी सृष्टिभी करती हैं और इससे नाटकमें विलक्षण नाटकीयता आ गयी है। छोटे-छोटे दृश्य इसमें सहायक बने हैं।

नाटक अभिनय हेतु रचा गया है। इसमें मंच-विधान अत्यन्त नगण्य है इसलिए स्वल्पतम साधनोंसे इसकी प्रस्तुति हो सकती है। अपने शिल्पमें नाटक काफी-कुछ नुक्कड़-नाटकके निकट है। तथापि, ध्वनि और प्रकाशके प्रयोग इसे नुक्कड़-नाटकसे भिन्न बनाते हैं। नाटककार ने नाट्याभिनयके विचारसे सावधानी रखी है कि इसमें कोई नारी-पात्र नहीं है। प्रायः ही नाट्य-प्रेमी व्यावहारिक कारणोंसे ऐसे नाटककी खोजमें रहते हैं जिसमें नारी-पात्रोंकी संख्या कमसे कम हो। कम साधनोंके सहारे खेले जा सकनेवाले इस नाटकमें दृश्यात्मकताके गुणभी पर्याप्त हैं। इसलिए आसानीसे माना जा सकता है कि

यह नाटक अभिनय-प्रेमियोंमें लोकप्रिय होगा।

डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी मुख्यतः उपन्यास-लेखक हैं। उनका नवीनतम उपन्यास 'चक्रव्यूह' उनको शीर्षस्थ उपन्यासकार सिद्ध भी करता है। तथापि, हमारे विचारमें, 'चक्रव्यूह' से अधिक कहीं-कहीं प्रभावशाली उनका नाटक बन गया है। निश्चय ही उपन्यासके विस्तृत कलेवरमें तथा कथात्मक शैलीके सहारे जितना कुछ अंकित किया जा सकता है, नाटकमें उसका बहुत थोड़ा भाग ही आ सकता है। भविष्यमें गोस्वामीजी उपन्यास-लेखनको ही अधिक महत्त्व दें, यह स्वाभाविक है। किन्तु, दृश्य-माध्यमकी अपनी क्षमताको स्वीकार कर वे समय-समयपर और नाट्य-कृतियाँ देंगे, इसकी हम आशा रखते हुए नाटकका स्वागत करते हैं। □

## विविध

### कीमिया?

लेखक : आचार्य चतुरसेन शास्त्री (स्वर्गीय)  
समीक्षक : डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। वे व्यवसायसे चिकित्सक, पर रुचियोंसे कहानी-उपन्यास लिखनेवाले साहित्यकार थे। उन्हें प्रसिद्धि भी इसी रूपमें खूब मिली। समीक्ष्य पुस्तक उन्होंने ऐसे विषयपर लिखा है जिसमें उनके दोनों ही रूपोंका समन्वय हो गया है। यद्यपि "कीमिया" अर्थात् पारेसे सोना बनानेका चिकित्सा शास्त्रसे कोई संबंध नहीं, तथापि जिस रसायन विज्ञानका वह भाग माना जाता है वह चिकित्सा शास्त्रके ही अन्तर्गत माना गया है। "रसायन" का तो अर्थ ही बताया गया है—मानव

जीवनको वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्त करानेवाली औषध। इस दृष्टिसे "रसायन" के दो भाग किये गये हैं—देह-सिद्धि और लौह-सिद्धि। देह-सिद्धिका अर्थ है रसायनका वह सफल प्रयोग जिससे शरीर अजर-अमर हो जाये, और लौह-सिद्धिका अर्थ है रसायनका वह सफल प्रयोग जिससे हल्की धातुएं सोना-चांदी बन जायें। यह माना जाता है कि कोई रसायन द्रव्य यदि हल्की धातुको सोना-चांदीमें बदल सकता है तो वह शरीरको भी अजर-अमर बना सकता है। (पृष्ठ ६)। लौह-सिद्धि वाले भागको ही "कीमिया" कहा जाने लगा है। भारत में ही नहीं, मिस्र, अरब, यूनान, इटली, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशोंमें भी कीमियागरोंके किस्से मशहूर रहे हैं। आज भी यद्यपि निर्विवाद रूपसे यह कह सकना संभव नहीं है कि यह वास्तविक विद्या है या मायावी जाल, तथापि समीक्ष्य पुस्तकमें लेखकने आधुनिक विज्ञान के कतिपय नियमोंका उल्लेख करते हुए पारेसे सोना बनानेका सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट करनेका प्रयास

१ प्रका. : राजपाल एड संस, कश्मीरी दरवाजा,  
दिल्ली-११०००६ । पृष्ठ : ११२; डिमा. ८८;  
मूल्य : ४०.०० रु. ।

'प्रकर'—वैशाख २०४७—४५



किया है (पृ. ५३-८४) और यही इस पुस्तकका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। भारतीय रसशास्त्रियोंके जो ग्रंथ उपलब्ध हैं और वे जितने समझे जा सके हैं उनमें वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी कोई चर्चा नहीं मिलती। अतः लेखक ने स्वीकार किया है कि भारतीय कीमियागर आधुनिक विज्ञानके इन अति गहन सूक्ष्म तत्त्वोंसे परिचित थे, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जासकता (पृ. ५६)। लेखकने कीमियागरीके इतिहासका भी विवेचन किया है और इस सन्दर्भमें उसने भारतीय एवं विदेशी कीमियागरोंके अनुभवोंका भी उल्लेख किया है, उनके ग्रन्थोंसे उद्धरण भी दिये हैं। इससे लेखककी बहुज्ञताका प्रमाण मिलता है।

लेखकने जिन रसशास्त्रियोंकी चर्चा की है, उनमें से अधिकांश तांत्रिक और वाममार्गी हैं। लेखकने उनकी रसशास्त्रसे संबंधित कुछ ऐसी मान्यताओंकी चर्चा की है जो अज्ञानता, अंधविश्वास और वामाचारपर आधारित प्रतीत होती हैं, पर लेखकने उनका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, पारेकी उत्पत्तिका विषय लें। भारतमें पारेकी कोई खान नहीं है, इटली, स्पेन, कैलिफोर्निया आदिमें पारेकी खानें हैं। वहाँ इसके कुएंभी हैं। अनुमान है कि वहाँसे मिस्र, ईरान, अरब और काबुल होते हुए पारा भारत आता था, पर भारतीय रसशास्त्रियोंने पारेकी उत्पत्ति शिवजीके वीर्यसे मानी है। लेखकने इसका समर्थन यह कहकर किया है कि भूकम्प और ज्वालामुखी विस्फोट पारद उत्पत्तिमें सहायक है। उसीको शिव-पार्वती सम्भोगका रूपक दिया गया है (पृ. २८-२९)। साहित्यिक प्रतिभा के बलपर की गयी यह लेखककी अपर्णा मौलिक उद्भावना है, किसी पुराण आदिसे ली हुई नहीं। लेखकने "रससिद्धिकी वामतांत्रिक विधि" को "विचित्र" (पृ. ३१) "चमत्कारिक और अद्भुत" (पृ. ३३) आदि बताया है और उसकी सफलताके लिए अत्यन्त आवश्यक "काकिणी स्त्री" के रूप, केश, नेत्र, जांघ, स्तन, योनि-देश आदिका वर्णन भी मूलग्रन्थसे उद्धरण देते हुए किया है। (पृ. ३२) पर इसपर कोई टिप्पणी नहीं की है।

कीमिया जैसे विषयपर विभिन्न ग्रन्थोंमें उपलब्ध जानकारी इस पुस्तकमें एकही स्थानपर पढ़ी जासकती है। □

'प्रकर'—अप्रैल '९०—४६

## स्वास्थ्य

### भोजनके द्वारा चिकित्सा

#### क्या खाये और क्यों?

लेखक : डॉ. गणेशनारायण चौहान

समीक्षक : डॉ. जमनालाल बायती

दोनों पुस्तकें एक दूसरेकी पूरक कही जानी चाहियें, एकमें भोजनमें सम्मिलित विभिन्न सामग्रियोंसे, उचित एवं सावधानीपूर्वक पर्याप्त मात्रामें प्रयोगकर किस प्रकार रोगोंसे बचा जा सकता है, इन सामग्रियोंको वर्णमालाके क्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है, सामग्रियोंके गुण, प्रभाव, स्वभाव आदिका सविस्तार वर्णन किया गया है। जबकि दूसरी पुस्तकमें विभिन्न रोगोंको वर्णमालाके क्रमानुसार प्रस्तुत करते हुए विभिन्न खाद्य सामग्रियोंके उचित मात्रामें तथा विधिवत् प्रयोगकर रोगोंसे बचनेके लिए सजग किया गया है।

बीमारीका उपचार करनेकी अपेक्षा बीमारीही न हो, इस विचारकी सराहना कीजानी चाहिये। बीमारियोंकी जड़ है अनुपयुक्त अनुपातीय आहार, असंतुलित आहार, अविवेकपूर्ण पकाया हुआ आहार। इस दृष्टिसे ये पुस्तकें जनसाधारणके लिए उपयोगी पथ-प्रदर्शक सिद्ध होंगी। ऐसी अपेक्षा कीजानी चाहिये।

प्रथम पुस्तक जैसाकि नामसे स्पष्ट है भोजन द्वारा चिकित्सापर केन्द्रित है। इस पुस्तकमें मुख्यतः रोगी क्या खाये तथा क्यों? नीरोग रहनेके लिए हम क्या खाये? साथही भोज्य पदार्थोंसे चिकित्सा करना बताया गया है। यह भी बताया गया है, कि किस प्रकार उचित संतुलित तथा सुव्यवस्थित भोजन चिकित्सा विधिके अनुसार मनुष्यके नीरोग रहनेका साधन बन सकती है। इस पुस्तकके आरम्भमें ३६ पृष्ठोंमें वर्णमालाके क्रमानुसार दी गयीं अनुक्रमणिका पाठकोंके लिए उपयोगी है। दूसरी पुस्तकमें लगभग २०० सामान्य बीमारियों पर रोगोंके लक्षण, कारण, निदान, चिकित्साके लिए

[शेष पृष्ठ ४३ पर]

१. प्रका. : नारायण प्रकाशन, २१३ दामोदर गली, चौड़ा रास्ता, जयपुर। पृष्ठ क्रमशः ३३६ : २६०; का. ८८; मूल्य क्रमशः २२.०० रु. और २०.०० रु.।



## स्वर : विसंवादी.....[पृष्ठ ४ का शेष]

एक हिन्दू पाकिस्तानका स्पर्श करता है। इसी मौलाना और उनके सहयोगीको देशके प्रधानमन्त्रीने देशके प्रतिष्ठित मंचपर अपना आक्रोश-उद्देग-उन्माद प्रकट करने और उनके जीवन भरके अभ्यासके अनुसार हिन्दुओंपर पूरी कड़वाहटके आग वरसानेका स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है।

अपनी रूढ़िवादिताके कारण कुछ वर्ष पूर्व 'मुस्लिम महिला (विवाह-विच्छेद)' विधेयकके प्रश्नपर मौलाना आजमीने एक सम्मेलनकी स्थापना इसलिए की कि निजी कानूनके प्रश्नपर अपेक्षाकृत तर्कसंगत रूख अपनाने वालोंके विरुद्ध मोर्चाबन्दी कीजा सके। अयोध्यामें मुस्लिम आक्रमणके स्मारक बावरी मस्जिदको मुस्लिम आक्रमणका स्थायी स्मारक बनाये रखनेके लिए अपने अन्य साथियोंके साथ सम्मिलित रूपसे कार्य समिति बनायी और अयोध्याकी ओर अभियानके कार्यक्रम बनाये। इसकी परिणति शाही इमामके उस भाषणके रूपमें हुई, जिसमें उन्होंने सहधर्मी विरादरोंका मन्त्रियों के घरोंको जला देनेका आह्वान किया। जनता दलके सत्तामें आतेही शाही इमाम बुखारी साहब सत्ताके दलालके रूपमें विख्यात होगये हैं। उनका दावा है कि उनका प्रधानमन्त्री श्री विश्वानाथ प्रताप सिंहसे लिखित समझौता हुआ है। यहीं चर्चित मौलाना उन्हींके निर्देश से राज्यसभामें भेजे गये हैं। यह भी बताया जाता है कि गृहमन्त्री श्री मुहम्मद सैय्यदकी नियुक्ति शाही इमामके परामर्शसे हुई। बिहारके राज्यपाल यूनस सलीमकी नियुक्तिका सुझावभी उन्हींका बताया जाता है। कश्मीर के आतंकवादियोंसे उनके संबंधोंकी चर्चाएं भी होती रहती हैं। शाही इमामकी अरब देशोंकी यात्राएं तथा अरब पैसेके इस देशमें लाये जानेकी चर्चाएं भी चलती रहती हैं।

इस परिस्थितिसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि सत्तारूढ़ दलका राजनीतिक दृष्टिकोण और मनोवृत्ति वही है जो पूर्व सत्ताकी थी। दोनोंकी मानसिकता, शिक्षा-दीक्षा, अभ्यास, जोड़तोड़की नीतियां और दांव-पेंच सभीमें समानता है। दोनोंकी साम्प्रदायिक नीतियां, इन नीतियोंको ढकनेकी प्रवृत्ति और उन्हीं साम्प्रदायिक नीतियोंको धर्मनिरपेक्ष बनाने और प्रचारित करनेकी प्रवृत्तिभी समान है। सभी मजहबोंसे समान व्यवहारके नामपर कुछको विशिष्टता प्रदान करना और इस प्रकार विभिन्न धार्मिक वर्गोंमें विद्वेषका भावना उत्पन्नकर उससे लाभ उठानेकी प्रवृत्तिभी वही है। सत्तापर अधिकार जमानेके हितोंमें अवश्य परस्पर विरोध है, परन्तु दोनोंकी कल्चर एक है। न पूर्व सत्ता कभी धर्मनिरपेक्ष थी, न वर्तमान सत्ता धर्मनिरपेक्ष है, दोनोंमें

धर्मनिरपेक्षताको भुनानेमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता है। इसीका परिणाम है पंजाब और कश्मीरके आतंकवादसे दृढ़तापूर्वक जूझनेकी मानसिक शक्तिका दोनोंमें अभाव है, परन्तु दोनों दोपारोपण एक दूसरेपर करते हैं जबकि सामान्य नागरिकका मनोबल गिरताजा रहा है। पंजाब और कश्मीर दोनों स्थानोंपर समस्या मात्र साम्प्रदायिक है, परन्तु उसे स्वीकार करनेमें दोनों सत्ताओंने संकोच किया है। साम्प्रदायिक शक्तियां अपने-अपने उग्र रूढ़िवादी और धार्मिक आधारोंपर विखण्डनके मार्गपर ही चलते रहनेकी घोषणाएं करती हैं, इस प्रयोजनसे धर्म और मजहबकी दुहाई देती हैं, परन्तु इस देशकी न पूर्व सत्ता और न वर्तमान सत्ता इसे चुनौतीके रूपमें स्वीकार करनेको तैयार हुई हैं। यह दुविधा, यह विभाजित मनोवृत्ति देशको तो विभाजित कर सकती है, धर्मनिरपेक्षताकी स्थापना नहीं कर सकती। स्वयं धर्मनिरपेक्षता ही विभाजित मनोवृत्तिकी प्रतीक बन गयी है। यही विभाजित मनोवृत्ति कभी भिन्न धर्म-राज्योंकी स्थापनामें सहायक हो सकती है। १९४७ के देशके विभाजनसे इसी प्रकार भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दो-राष्ट्र सिद्धान्तकी समर्थक बन गयी थी और १९४२ के 'अधिकारी प्रस्ताव' द्वारा दो-राष्ट्र सिद्धान्तको अपना समर्थन प्रदान किया था। यह भी ध्यानमें रखना होगा कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कट्टर सिद्धान्तवादी रही है, उसे विभाजनके समर्थनमें राजनीतिमें उतरते देर नहीं लगी, जबकि कांग्रेसी कल्चरकी समान उत्तराधिकारी कांग्रेस और वर्तमान जनता दल मात्र सत्तासे चिपके रहनेवाले ऐसे अवसरवादियोंका समूह बनकर रह गये हैं कि वे सत्ता लिप्साके मोहमें ऐसे किन्हींभी तत्त्वोंसे समझौता कर सकते हैं, वे भलेही कट्टर हों, मतान्ध हों।

हमें यह स्वीकार करनेमें संकोच नहीं कि नये चुनावोंके बादके घटनाचक्रने वर्तमान सत्ताके प्रति केवल देशके विश्वासको ही खण्डित नहीं किया, अपितु देशको झकझोर दिया है। देशका १९४७ से बादका इतिहास साम्प्रदायिक शक्तियोंके निरन्तर अधिकाधिक शक्तिशाली होते जानेका इतिहास है, जोकि देशके अबतकके राजनीतिज्ञोंकी प्रतिभा और कार्य प्रणालीपर बड़ा प्रश्नचिह्न लगाता है। क्या अब समय नहीं आ गया कि अबतक की साम्प्रदायिक नीतियों और भाषा-वादसे जुड़े प्रश्नोंपर अबतक प्राप्त अनुभवों और उनसे प्राप्त परिणामोंके आधारपर गम्भीरतापूर्वक पुनर्विचार करें ! □



# पठनीय और संग्रहणीय ग्रंथ

## आलोचना

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य—सम्पादक : डॉ. महेन्द्र भटनागर  
अन्धाधुन : एक विवेचन—डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा (पुरस्कृत)

सजिल्द ५०.००

" ३५.००

विद्यार्थी संस्करण २०.००

सजिल्द ३५.००

२२५.००

छायावाद : नया मूल्यांकन—प्रा. नित्यानन्द पटेल  
'प्रकर' : विशेषांक [पुरस्कृत भारतीय साहित्यके सात अंक,  
भारतीय साहित्य : २५ वर्ष, अहिन्दीभाषियोंका हिन्दी  
साहित्य अन्य विशेषांक]

## उपन्यास :

अपरार्थी वैज्ञानिक : (वैज्ञानिक उपन्यास)—यमुनादत्त वैष्णव अशोक

" ५०.००

ये पहाड़ी लोग—यमुनादत्त वैष्णव अशोक

२५.००

सुधा [मलयालमसे अनूदित]—टी. एन. गोपीनाथ नायर

" २५.००

शकुन्तला ['अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का औपन्यासिक रूपान्तर]—विराज

" २५.००

प्रवासी [बर्माके भारतीय प्रवासियोंकी कहानी]—श्यामाचरण मिश्र

३०.००

## नाटक :

देवयानी—डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर

१५.००

श्रेष्ठ एकांकी—डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद

१५.००

## जीवन दर्शन :

शंकराचार्य : जीवन और दर्शन—वैद्य नारायणदत्त

२०.००

महर्षि दयानन्द : " "

२५.००

गुरु नानक : " "

३०.००

श्री श्ररविन्द : " —रवीन्द्र

२०.००

## समसामयिक साहित्य :

रूपयेका उन्मूलन और उसका प्रभाव—सम्पा. डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी

४०.००

समाजवादी वर्मा—श्यामाचरण मिश्र

३०.००

विस्तारवारी चीन—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी (पुरस्कृत)

जेवी आकार ६.००

कच्छ—पद्मा अग्रवाल

"

"

६.००

एवरेस्ट अभियान—डॉ. हरिदत्त भट्ट शैलेश

"

६.००

अफ्रीकाके राष्ट्रीय नेता—जगमोहनलाल माथुर

"

८.००

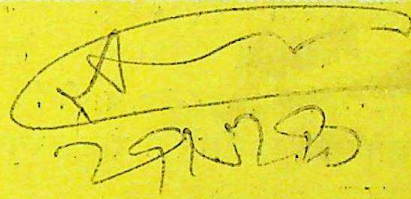
## 'प्रकर' कार्यालय

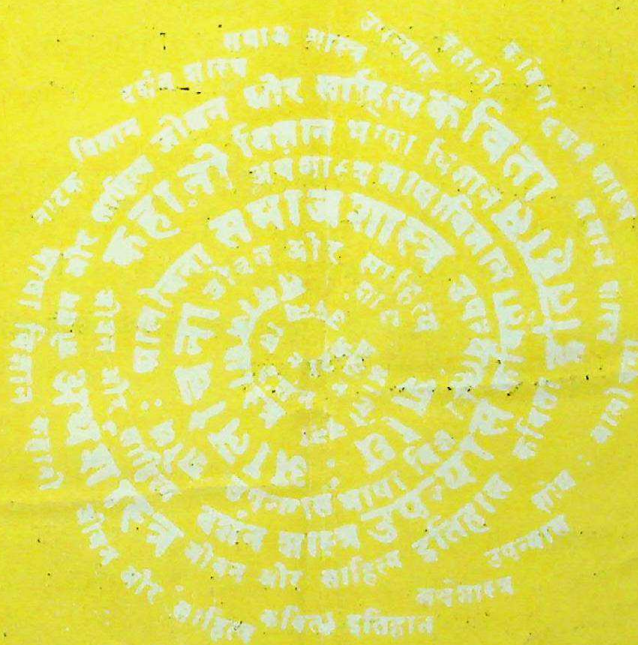
ए-८/४२, राणा प्रतापबाग, दिल्ली ११०००७.



# प्रकर

ज्येष्ठ: २०४७ (विक्रमाब्द) :: मई : १९६० (ईस्वी)







- डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, इमेरिटस प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग,  
पुणे विद्यापीठ, पुणे (महाराष्ट्र)—४११००७.
- डॉ. केदार मिश्र, क्वा. नं. ६, पोदार महाविद्यालय परिसर, नवलगढ़ (राज.)—  
३३३०४२.
- स्वर्गीय श्री गोविन्दप्रसाद
- डॉ. भगोरथ वड़ोले, रोडर हिन्दी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन  
(म. प्र.)
- डॉ. मनोज सोनकर, ५६६/३ शर्मा निवास, जे. जे. रोड, बम्बई—४०००१६.
- डॉ. मूलचन्द सेठिया, २७६ विद्याधर नगर, जयपुर (राज.)—३०२०१२.
- डॉ. रघुवीरशरण व्यथित, एस-४८६ विवेक मार्ग, स्कूल ब्लॉक (पश्चिम),  
शक्करपुर, दिल्ली—११००६२.
- डॉ. राजमल वोरा, ५ मनीषा नगर, केसरसिंह पुरा, औरंगाबाद (महा.)—४३१००५.
- डॉ. रामदरश मिश्र, आर-३८, बाणी विहार, उत्तम नगर, नयी दिल्ली—११००५६.
- डॉ. रेवतीरमण, मझौलिया रोड, रसूलपुर जिलानी (भारती क्लबके पीछे),  
मुजफ्फरपुर—८४२००१.
- डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, पाठक भवन, बेल्वेडियर कम्पाउंड, नैनीताल—२६३००१.
- डॉ. वीरेन्द्रसिंह, ५ झ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज.)—३०२००४.
- डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, द्वारिकापुरी, अलीगढ़—२०२००१.
- डॉ. मुखवीरसिंह, ६/३०० ब्राह्मण गली, विश्वासनगर, दिल्ली—११००३२.
- डॉ. हरदयाल, एच-५०, पश्चिमी ज्योतिनगर, गोकुलपुरी, दिल्ली—११००६४.
- डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, यू एच-२, मेडिकल एन्क्लेव, रोहतक—१२४००१.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

□ प्रस्तुत अंक (भारतमें)	५.०० रु.
□ वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :	६०.०० रु.; व्यक्तिगत ५०.०० रु.
□ आजीवन सदस्यता : संस्था :	७५१.०० रु.; व्यक्तिगत : ५०१.०० रु.
□ विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्ष के लिए) : पाकिस्तान, श्रीलंका	१२०.०० रु.
अन्य देश :	१८५.०० रु.
□ विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्ष के लिए) :	३१०.०० रु.
□ दिल्लीसे बाहरके बैंकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.	

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



# प्रकाश

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ५

ज्येष्ठ : २०४७ [विक्रमाब्द]

मई : १९६० (ईस्वी)

## लेख एवं समीक्षित कृतियां

मत-अभिमत	२	
स्वर : विसंवादी		
सत्ता राजनीति और साहित्य	५	वि. सा. विद्यालंकार
आलोचना : शोध		
कामायनीका नया मूल्यांकन : सिद्धान्त और विवेचन—गोविन्दप्रसाद	६	डॉ. रघुवीरशरण 'व्यथित'
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी मिथक काव्य : युगीन संदर्भ—सविता गौड़	१३	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
आधुनिक महाकाव्योंमें भारतीय संस्कृति—डॉ. प्रमिला शर्मा	१५	डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
राजस्थानी लोकनाट्य : ह्याल—डॉ. (श्रीमती) कमलेश माथुर	१७	डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ
शब्द ब्रह्म		
भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति—डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'	१६	डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित
भार्य परिवार और द्रविड़ परिवार		
द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा (४. १.)	२२	डॉ. राजमल बोरा
उपन्यास		
हवाघर—केशव	३०	डॉ. मूलचन्द सेठिया
अगला कदम—रामदेव शुक्ल	३३	डॉ. रामदरश मिश्र
ये छोटे महायुद्ध—शशिप्रभा शास्त्री	३४	डॉ. केदार मिश्र
अपने अपने अंधेरे—अमृतलाल मदान	३६	डॉ. भगीरथ बड़ोले
कहानी		
सारलावास कथासागर—सम्पादक : शंकरलाल पुरोहित	३८	डॉ. हरदयाल
धूप अनमनी धूप गुनगुनी—गंगाप्रसाद श्रीवास्तव	४०	डॉ. भगीरथ बड़ोले
काला नवम्बर—सम्पादक : सुरेन्द्र तिवारी	४१	डॉ. गोविन्दप्रसाद (स्वर्गीय)
काव्य		
घटनाहीनताके विरुद्ध—सुधेश	४४	डॉ. सुखवीर सिंह
देश खण्डित हो न जाये—दर्शन बेजार	४६	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ
इस सार्वजनिक उद्यानमें छोटा आदमी गुम है—कार्तिक अवस्थी	४७	डॉ. रेवतीरमण
तुम्हींसे बात करें—विप्रम	४७	डॉ. मनोज सोनकर



# मत-अभिमत

## □ अकादमी पुरस्कृत मैथिली उपन्यास 'मन्त्रपुत्र'

[उपर्युक्त मैथिली उपन्यासकी 'पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६' विशेषांक—नवम्बर' ८६—में लग-भग छः पृष्ठीय समीक्षाके अतिरिक्त 'स्वर : विसंवादी' में सम्पादकीय टिप्पणीमें लिखा गयाथा : "पाश्चात्य कल्पना यह है कि आर्य इस देशमें बाहरसे आये।... रोचक तथ्य यह है कि अभीतक किसी भारतीय ग्रन्थमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं ढूँढा जा सका, न कोई पुरा-तात्त्विक प्रमाण प्रस्तुत किया जा सका है कि आर्योंने इस देशमें विदेशी आक्रान्ताओंके रूपमें प्रवेश किया और बर्बर ताण्डव नृत्य किया, बादमें परिस्थितिको अनुकूल बनानेके लिए अनार्योंसे सम्पर्क बढ़ाकर नये मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनानेके प्रयत्न किये और सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रियाको गतिशील बनाया। परन्तु मैथिली उपन्यास 'मन्त्रपुत्र' इसी यूरोपीय प्रतिपादनका औपान्यासिक रूपान्तर है।" इसी टिप्पणीका निम्न उत्तर उपन्यास-कार प्राध्यापक श्री मायानन्द मिश्रने कुछ दिन पूर्व भेजा है, वह यहां प्रस्तुत है। अब, इस उपन्यासका हिन्दी रूपान्तर भी उपलब्ध होगया है।]

आर्य-इतिहास-प्रसंगमें मैं भी आपसे सहमत हूँ। वस्तुतः अंग्रेज इतिहासकार सर विलियम्स जोन्स आर्य-अभिजन-समस्याके जनक हैं। परन्तु दुःखद तो यह है कि जब डॉ. सी. वी. वैद्य, तिलक और डॉ. सम्पूर्णानन्द तक भारतीय इतिहासकारों (डॉ. भण्डारकर, डॉ. जाय-सवाल, डॉ. अल्टेकर, डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ. रमेश-चन्द्र मजूमदार, डॉ. एच. सी. चौधुरी, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, डॉ. दिनकर, डॉ. दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी डॉ. वी. वी. लाल, डॉ. आर. एस. शर्मा, डॉ. रोमिला थापर तथा डॉ. के. एम. श्रीमाली) के द्वारा मान्य नहीं होसके तो मैं किस 'मूलीका खेत' हूँ।  
'प्रकर'—मई ६०—२

फिरभी, मैं संशोधित करनेकी चेष्टा, प्रचलित मान्यता की सीमामें रहकर ही करता रहता हूँ, जैसे ऋग्वेदके तिथि बिन्दु आदि।.....दूसरी बात, अफगानिस्तान तक तो कभी हम थे ही, दावा ईरान तक क्यों न हो? स्वयं कास्पियन सागरका नामकरण क्या कश्यप ऋषिके नामपर नहीं है? ये सारे (भारतीय) आर्योंके ही क्षेत्र हैं, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है? राजनीतिक सीमाएँ तो बहुत बादकी हैं। इसीलिए तो ऋग्वेदमें अफ-गानिस्तानकी नदियों तथा हिन्दूकुशकी सुवास्तु (स्वात) नदीकी आत्मीय चर्चाएँ हैं। मैं यदि इतिहासकार रहता, कुछ उत्खनन कर पाता तो अवश्य कुछ नया करता। अभी तो मान्य सीमामें रहकर ही कुछ कर सकता हूँ, तभी मुझे मान्यता मिल सकती है।

—प्रा. मायानन्द मिश्र, स्नातकोत्तर मैथिली विभाग, सहरसा कालेज, सहरसा (बिहार)।

## □ काला कोलाज

'काला कोलाज' (कृष्ण बलदेव वैद) पर डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्तकी समीक्षा पढ़नेको मिली ('प्रकर' अप्रैल ६०)। यही प्रतिक्रिया हुई कि यह समीक्षा कुछ विस्तार चाहती है। गुप्तजीने प्लैपके मंटरका मनचाहा उपयोग किया है और जिन्हें अभीतक यह उपन्यास पढ़ने का अवसर नहीं मिला, उन्हें बरबस इसे पढ़नेकी जिज्ञासा की ओर अनजाने प्रेरित किया है। एक दृष्टिसे यह ठीक है। मैंने इस उपन्यासको दोबार पढ़ा है और इसपर लिखनेके लिए मनभी बना है, परन्तु यह सोचकर चुप्पी साध गया कि अग्रजकी लेखनीकी तारीफ करना किन्हीं कारणोंसे इतना सरल नहीं होगा। मैं ही क्या, कहेँ न कहेँ, बहुत-से प्रबुद्ध पाठक और लेखक यह स्वी-कार करेंगे कि अपनी मान्यताओंकी अभिव्यक्ति देने वालोंमें वैदजी जैसे साफ और ईमानदार लेखक संख्या में अधिक नहीं हैं। 'उसका बचपन' हो, 'गुजरा



हुआ जमाना' हो, नसरीन हो, बिमल अर्फ जाये तो जायें कहां, और असंख्य कहानियां इस बातकी पुष्टि करती हैं कि वे अपने दमखमपर लिखते हैं और उनका लीकसे हटकर लिखना कईबार बहुतोंको गवारा नहीं होता। इसमें भी दो राय नहीं कि अपने प्रारम्भिक लेखनके बाद वे प्रयोगधर्मी और एबस्ट्रेक्ट लेखनकी ओर निरन्तर बढ़ते गये।

'काला कोलाज' की समीक्षाएं अन्य पत्रिकाओं में आयी हैं, सकारात्मक, नकारात्मक, और पूर्णतः नकारात्मक भी, परन्तु कहीं दबे स्वरमें कहीं मुक्त कण्ठसे शिल्प प्रधान इस उपन्यासकी भाषा, नवीन प्रयोग, बिम्बों, उपभोक्ताओंकी प्रशंसा हुई है। कुछेकने तो इस अनुपन्यासमें कहानी ढूँढ़नेकी चेष्टा की है और उन्हें एक कहानी मिली है जिसमें दर्दभी है, निर्धनताका चित्रण भी। वेद अजूबेके लेखक हैं, परन्तु ऐसा मान लेना कि उनमें गरीबोंके साथ कोई सहानुभूति नहीं या गरीबीको वे जानते नहीं या कभी उन्होंने झेली नहीं, यह उनके समस्त साहित्यको पढ़नेसे ही जाना जा सकता है, असंदिग्ध रूपसे यदि मानसिक रूपसे हम तैयार हों। कुछ पाठक उनकी प्रत्येक कृतिकी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते हैं।

मूल्यांकनका एक पक्ष है कि लिखनेवाला कौन है। वेद विश्व साहित्य और भारतीय साहित्यके अच्छे जानकार ही नहीं विद्वान् हैं। निरालाकी रचनाधर्मिता और क्रान्तिकारी लेखनकी बात उठायी गयी है। हम सब जानते हैं निराला जीको उनके समकालीनोंमें से कितनोंने उस समय मुक्त कण्ठसे सराहा था ? आज उन्हें सम्मानित करते हैं। विश्व साहित्यमें उनका सही मूल्यांकन हुआ है। प्रत्येक लेखककी अपनी सीमाएं और अपने ढंग हो सकते हैं। अच्छा होता कि गुप्तजी अपनी नकारात्मक समीक्षा में उपन्यासमें कुछ ऐसा नया ढूँढ़नेका प्रयत्न करते जो लेखकीय संवेदनाको झकझोरता—उस स्थितिमें उन्हें प्रत्येक पृष्ठपर मांस और मलका संगम न मिलता। जहाँतक किशोरों और युवाओंकी दिशाहीनताका प्रश्न है, यदि बरिष्ठ लोग उन्हें समझने दें तो सम्भव है उनका सही दिशामें रेचन हो, वे भटकें नहीं। अच्छे बुरेका विवेक, जो साहित्य पढ़ता है, उसे हो ही जाता है। फिर रुचि अपनी-अपनी, आवश्यक नहीं कि सभीको सभी बातें रुचिकर लगें। गुप्तजीके समीक्षकसे विस्तृत समीक्षाकी अपेक्षा भी जिसमें कृतिसे कृतिकार और कृतिकारसे कृति तक पहुंचनेका समन्वित रूप मिल पाता। फिर भी, जो

कुछ उन्होंने लिखा है यह उनकी अपनी सम्मति है, उस पर प्रतिक्रियाही व्यक्त की जा सकती है।

—डॉ. यशपाल वैद, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, डी. ए. बी. कालेज, अम्बाला शहर (हरियाणा)।

श्री वैदके अनुपन्यास (?) की समीक्षा बहुत उपयुक्त है। वेदका लेखनकी समीक्षा और भर्त्सना हमारा कर्तव्य है। बहुत-से लोग फुटपाथी लेखनके सहारे चर्चित होना और साहित्यको पाना चाहते हैं।

—डॉ. सुरेशचन्द्र त्यागी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महाराजसिंह कालेज, सहारनपुर-२४७००१।

### □ वर्तमान राजनीतिका आधुनिक भूत : 'साम्प्रदायिकता'

'प्रकर' अप्रैलका सम्पादकीय मेपगत सूर्य-सा उच्चस्थ रहा। देखना है बर्फ पिघलती है या प्रकाश प्रारवर्तित होकर रह जाता है। राजनीतिमें धर्मका प्रवेश हुआ खिलाफत आन्दोलनसे, जिसके सर्वेसर्वाका विचार था : "इस्लाम जिन्दा होता है हर कर्बलाके बाद।" काँग्रेसकी ओरस और दत्तक सन्तान इसी आदर्श को लेकर धर्म-निरपेक्षताकी ध्वज फहराती आयी है। नयी पुरानी सरकारमें भेद करनेकी गुंजाइश नहीं दीखती। गांठ कोई हो, अदरकके पंजेसे सम्बद्ध रहकर स्वाद चरपरा ही देगी।

लार्ड माउण्टबेटेनसे हुई एक भेंटके अवसरपर कायदे-आजम जिन्नाने कहा था : "हिन्दू असाध्य हैं। वे सदैव रुपयेके सत्तरह आने चाहते हैं।" बात नागवार हो सकती है पर है खरी। ऐसे धन-लोलुप वर्गको धर्म, समाज और राष्ट्रकी हित-चिन्तामें क्या दिलचस्पी हो सकती है ? उसका जीवन-दर्शन बन चुका है—चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय और जहाँ देखो थाली परात वहीं गाओ सारी रात। इस घरको आग लग गयी घर के चिरागसे।

एक बात हिन्दीकी भी, हिन्दीकी कुछ न पूछिये। एक विश्वविद्यालयकी स्नातक परीक्षाके लिए रचित हिन्दी भाषा विषयक प्रश्नपत्रमें अ, ब, स, द, खण्ड निमित्त किये गये हैं, यानी हिन्दीकी रोटी खाकर अंग्रेजी की जय बोली गयी है। कर्मभूमि उत्तरप्रदेश है।

—डॉ. हरिश्चन्द्र, संस्मृति, बी-११४६, इन्दिरानगर, लखनऊ-२२६०१६।

'प्रकर'—ज्येष्ठ '२०४७—३



# पठनीय और संग्रहणीय ग्रन्थ

## आलोचना

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य—सम्पादक : डॉ. महेन्द्र भटनागर	सजिल्द	५०.००
अन्धायुग : एक विवेचन—डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा (पुरस्कृत)	"	३५.००
	विद्यार्थी संस्करण	२०.००
छायावाद : नया मूल्यांकन—प्रा. नित्यानन्द पटेल	सजिल्द	३५.००
‘प्रकर’ : विशेषांक [पुरस्कृत भारतीय साहित्यके सात अंक, भारतीय साहित्य : २५ वर्ष; अहिन्दीभाषियोंका हिन्दी साहित्य, अन्य विशेषांक]		२२५.००

## उपन्यास :

अपराधी वैज्ञानिक : (वैज्ञानिक उपन्यास)—यमुनादत्त वैष्णव अशोक	"	५०.००
ये पहाड़ी लोग—यमुनादत्त वैष्णव अशोक		२५.००
सुधा [मलयालमसे अनूदित]—टी. एन. गोपीनाथ नायर	"	२५.००
शकुन्तला [‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ का औपन्यासिक रूपान्तर]—विराज	"	२५.००
प्रवासी [वर्माके भारतीय प्रवासियोंकी कहानी]—श्यामाचरण मिश्र		३०.००

## नाटक :

देवयानी—डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर		१५.००
श्रेष्ठ एकांकी—डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद		१५.००

## जीवन दर्शन :

शंकराचार्य : जीवन और दर्शन—वैद्य नारायणदत्त		२०.००
महर्षि दयानन्द : " "		२५.००
गुरु नानक : " "		३०.००
श्री श्ररविन्द : " —रवीन्द्र		२०.००

## समसामयिक साहित्य :

रूपयेका अवमूल्यन और उसका प्रभाव—सम्पा. डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी		४०.००
समाजवादी वर्मा—श्यामाचरण मिश्र		३०.००
विस्तारवादी चीन—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी (पुरस्कृत)	जेबी आकार	६.००
कच्छ—पद्मा अग्रवाल	"	६.००
एवरेस्ट अभियान—डॉ. हरिदत्त भट्ट शैलेश	"	६.००
अफ्रीकाके राष्ट्रीय नेता—जगमोहनलाल माथुर	"	८.००

## ‘प्रकर’ कार्यालय

ए-८/४२, राणा प्रतापबाग, दिल्ली-११०००७,

‘प्रकर’—मई ६०—४



## सत्ता, राजनीति और साहित्य

**भा**रतीय साहित्यकी चर्चा करते समय हमारी दृष्टि देशके सामूहिक साहित्यपर होती है और यह सामूहिक साहित्य देशकी विभिन्न साहित्यिक भाषाओं में लिखा जा रहा है। स्थूल रूपसे देशकी विभिन्न साहित्यिक भाषाओंमें लिखा जानेवाला यह साहित्य केवल अपने भाषायी क्षेत्र तक सीमित होता है और अपने क्षेत्रसे बाहरके लोगोंके सम्पर्कमें नहीं आ पाता क्योंकि अभी तक सम्पर्क-साधनों और माध्यमोंका सक्षम विकास नहीं हो पाया। बाह्य रूपसे सम्पर्क साधनोंकी इस विरलताके कारण भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंके साहित्य सीमाबद्ध हो गये हैं, अपने सहज पड़ोसियोंसे भी आदान-प्रदानसे वंचित हैं, एक-दूसरेको प्रभावित करनेकी काम्य स्थितिके यह विपरीत है। इस सीमाबद्धताके कारण न केवल प्रादेशिक भाषाओंके साहित्यको निकट आनेमें और उनके आदान-प्रदानमें अवरोध उत्पन्न हो गया है, बल्कि अविच्छिन्न परम्परासे प्राप्त संस्कारोंकी सामान्य चेतना छिन्न-भिन्न होने लगी है, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि देशकी सामूहिक चेतनाके सूत्र विच्छिन्न हो रहे हैं। इसीका परिणाम है कि एक क्षेत्रके साहित्यसे दूसरे क्षेत्रका समाज अपरिचित रहता है, और इन क्षेत्रोंमें विच्छिन्नताकी प्रवृत्ति जागृत होने लगती है। सत्ताधीशोंकी मान्यता है कि भाषाओं और साहित्यका यह अन्तराल उनकी दृष्टिसे एकमात्र अन्तराष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी और इंडियन इंगलिशसे भरा जाना चाहिये। इसपर उनका इतना आग्रह है कि उन्होंने देशकी सम्पर्क भाषाही इंडियन इंगलिश बना दी है और प्रत्येक भारतीय भाषाका लेखन वे पहले इंडियन इंगलिशमें अनूदित चाहते हैं और उससे देशकी विभिन्न भाषाओंमें अनुवाद। भारतीय भाषाओंके सीधे सम्पर्क और उनके आदान-प्रदानको प्रशासनिक स्तरपर वे अनुत्साहित करते हैं। इंडियन इंगलिशके माध्यमसे वे सर्वप्रथम अपने साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी स्वामियोंकी अभ्यर्थना करते हैं और अपने मनमन्दिरके इन

देवताओंको प्रसाद चढ़ानेके बाद ही देशके जनसाधारण के लिए चिन्ता करते हैं, और आग्रह करते हैं कि इसीसे वे तृप्तिलाभ करें। अर्थात् देशकी सत्ता और सत्ताधीश ही देशकी चेतनाको विच्छिन्न करने और खण्डित करने के लिए आग्रहशील हैं। सम्भवतः यह विश्वका एकमात्र देश है जहां देशकी चेतनाको ही खण्डित करनेके लिए अथक प्रयत्न होते हैं और साहित्यके माध्यमसे जनचेतना को जागृत करनेवालोंको दण्डित भी किये जाते हैं।

जनचेतना सामूहिक चेतनाका रूपान्तर है। इस चेतनाकी अभिव्यक्ति सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनोंसे होती है। इसका रूप रचनात्मक भी हो सकता है, विध्वंसक भी। यदि वे आवेग या उद्वेगसे उत्पन्न होते हैं, अपनी पृष्ठभूमिमें चिन्तनसे दूर हैं तो ऐसे आन्दोलन विध्वंसक रूप धारण कर लेते हैं। परन्तु साहित्य कर्मकी चेतना व्यक्तियोंमें उत्पन्न होती है, और यह चेतनामात्र अनुभवके स्तरपर व्यक्तिसे नहीं जुड़ी होती अपितु परम्परासे प्राप्त समाजका पूरा अनुभव भी उसमें विलीन होकर विद्यमान रहता है। इसलिए किसीभी कृतिमें वैयक्तिक अनुभव यदि सामाजिक अनुभवकी उपेक्षाकर रचनात्मक प्रक्रियामें संलग्न होता है तो उसकी स्तरीयता सदा संदिग्ध रहती है। सामाजिक अनुभव व्यक्तिके अनुभवके पूरक भी हो सकते हैं और उसे प्रामाणिकताभी प्रदान कर सकते हैं। व्यक्तिकी विशिष्टता यह होती है कि वह सामाजिक और वैयक्तिक अनुभव दोनोंको अभिव्यक्ति देता है, उसका संश्लेषण करता है और संवादका अवसर प्रदान करता है। साहित्यिक क्षेत्रमें अतीत और परम्परासे कटा रचनाकार स्वप्नदर्शी हो सकता है। वह क्रान्तिके स्वप्न देख सकता है, परन्तु क्रान्तिके उतार-चढ़ाव, उसकी जटिलता, उसे कार्यान्वित करनेके लिए सामाजिक अनुभवोंकी उपेक्षा कर रचनात्मक प्रस्तुति नहीं कर सकता। प्रत्येक समाजकी अपनी अनुभव-सम्पदा होती है, उसकी अपनी प्रकृति अपना स्वभाव होता है, अपनी विशिष्ट सामूहिक चेतना होती है, ये सभी सामूहिक रूपसे व्यक्ति



की रचना-प्रक्रियाको प्रभावित तो करतेही हैं, बहुधा दिशा-निर्देशभी करतेहैं। आधुनिक भारतीय समाजको इस स्थितिसे काटकर शून्य स्थितिमें रखनेका प्रबल प्रयत्न होरहाहै और इसी शून्यताके कारण आधुनिक भारतीय जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी भाँति साहित्यके क्षेत्रमें भी अनुकरणकी प्रवृत्तिही केवल जीवन्त पायी जातीहै।

अनुकरणकी प्रवृत्तिका जीवन्त होना राष्ट्र और समाज द्वारा मरणशीलताका मार्ग स्वीकारकर लेनेका संकेत है। अर्थात् राष्ट्र और समाजका अपने सम्पूर्ण जीवनकी अपनी आन्तरिक जीवनी शक्तिको तिलांजलि देकर मात्र कठपुतली बन जाना। ऐसे राष्ट्र और समाजका साहित्य उसके प्रतिरूपका चित्र होताहै। ऐसा साहित्य राष्ट्र और समाजपर आक्रमण और उसकी पीड़ाओं, उसपर हुए बर्बर अत्याचारों, अनाचारों, राष्ट्रसे बलात् छीने गये मानवों और उन मानवोंका राष्ट्र और समाजकी पीड़ाओंसे पृथक् होजाना ही नहीं अपितु उन अनाचारों और अत्याचारोंका सह-योगी बनना, बार-बार राष्ट्र और समाजका खण्डित होना अनाचारियों और अत्याचारियों द्वारा गढ़े गये नारोंको दोहराते रहना—स्वयं अमानवीय कृत्योंके शिकार होकर भी मानवताके नामपर आतंकवादियों-आक्रमण-कारियों को दण्डित करने एवं मानवताके नामपर वैधानिक उपायोंका विरोध करना जैसे आत्मघाती कृत्योंद्वारा अपनेको मानवोत्तर प्रमाणित करना सजीव देहधारीके लिए सम्भव नहीं है, यह कार्य तो केवल कठपुतलियांही कर सकतीहैं। ये कठपुतलियाँ ही जब साहित्य-सृजनके क्षेत्रपर एकाधिकार कर लें और सत्ता-परिवर्तनके साथ अपनी नर्तनमुद्रामें परिवर्तन कर लें, ऐसा 'रचनात्मक' साहित्य किसी राजनीतिक सत्ता द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत तो हो सकताहै जनसाधारणमें स्थान नहीं पा सकता।

वस्तुतः यह कर्तृत्व खण्डित व्यक्तित्वके साहित्यिक का ही होसकताहै। सामान्य अर्थमें जिस चेतना शब्द का प्रयोग होताहै उसके क्षेत्रसे यह बाहर होताहै। देश-राष्ट्र-समाजकी अपनी समग्र चेतना होतीहै, यदि साहित्यकार उस चेतनामें स्नात नहीं है, उसमें पगा नहीं है, यदि वह निरन्तर साधानारत नहीं है, तो पूरी सम्भावना होतीहै कि उसका व्यक्तित्व खण्डित हो, सत्ताके निकट जानेके लिए प्रयत्नशील हो और सत्तासे प्रसाद रूपमें मान-सम्मान-पुरस्कार प्राप्त करनेकी दौड़ा-दौड़ीमें सम्मिलित हो। इस प्रकारका वर्ग तैयार करनेमें ही सत्ताका हित निहित है। अपने हितोंको

ध्यानमें रखकर सत्ता साहित्यसे अपने संबंध निर्धारित करतीहै और यह संकेत करती रहतीहै कि वह कैसा साहित्य चाहतीहै। प्रचारकी दृष्टिसे सत्ता 'लेखनकी स्वतन्त्र चेतना'को निरन्तर जागृत रखतीहै ! और पुरस्कार-समारोहोंमें पुरस्कृत महान् लेखक-साहित्यिकभाँ उसीको प्रतिध्वनित करतेहैं, प्रशासन-तन्त्रके उच्च-पदोंको सुशोभित करतेहैं, कृतज्ञताके भारसे लदे ये ही महान् व्यक्तित्व 'लेखनकी स्वतन्त्र चेतना'की अलख जगाये रखतेहैं।

आधुनिक परिदृश्यसे हटकर यदि संस्कृत संहिता चेतनाका निर्माण करनेवाले सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर दृष्टि डालें तो विभिन्न सांस्कृतिक परिवर्तनोंके रूप उपलब्ध होतेहैं। जो यवन, शक और पहलव आक्रमणकारी रूपमें इस देशमें आये, उन्हें हम भारतीय नाम, भाषा, जीवन और धर्म अपनाते तथा भारतको अपनी मातृभूमि बनाते पातेहैं। यह प्राचीन परिदृश्य मध्ययुगके परिदृश्यसे बिल्कुल विपरीत है और आधुनिक अनुकरणी प्रवृत्तिका एकदम प्रत्यावर्तन। शकों, पहलवोंका भारतीय संस्कृति और समाजको अपनाने का मुख्य कारण यह था कि भारतीय सीमाओंसे बाहर इन वर्गोंके अपने देशमेंही भारतीय संस्कृतिका प्रभाव था। इस प्रसंगमें यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि इन जातियोंका भारतीय सांस्कृतिक चेतनामें विलीनीकरण से पूर्व ये सभी जातियाँ इस देशमें आक्रमणकारियोंके रूपमें प्रविष्ट हुईथीं और शकोंका सर्वप्रथम राजा विक्रमादित्यने लगभग उन्मूलनकर दियाथा, जिससे ये सभी जातियाँ भारतीय सांस्कृतिक चेतनाकी गरिमा से प्रभावित हुईं। विशेषतः शकोंके विजेता रूपमें भारतमें पुनः राज्य स्थापनाके बाद तो उन्होंने पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति और धर्मको अपना लिया। मध्यकालकी मुस्लिम विजयोंसे तथा बादमें ब्रिटिश विजयोंसे भारतीय संस्कृति और धर्मोंको और परिणामस्वरूप भारतीय चेतनाको प्रबल धक्का पहुंचा, जिससे ऐसा प्रभावशाली वर्ग उत्पन्न होगया जो अन्य समुदायोंको आकृष्ट करने और अपनेमें विलीन करनेवाली अपनी मूल संस्कृतिको ही हीन दृष्टिसे देखने लगा और इस वर्गकी चेतना तक उससे मुक्ति पाने लगी। फिरभी सामान्यतः पराजित जातियाँ जिस प्रकार चेतनाहीन होकर अपनी अस्मिताको ही नहीं बल्कि अपने अस्तित्व तक को नकारने लगतीहै और विजेताओंमें ही आत्मसात् होकर अपनी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करने लगतीहैं, उसीकी



पुनरावृत्ति प्रत्यक्ष रूप हम अपने देश और समाजमें देख रहे हैं। सांस्कृतिक स्तरपर यह परिवर्तन किस प्रकार सर्जनात्मक क्षमताको पंगु बना देता है उसका उदाहरण हमारा आधुनिक साहित्य, कला और संगीत हैं।

हम अपनी जिस व्यवस्थाको स्वतंत्र और लोकतन्त्रीय बताते हैं, सांस्कृतिक स्तरपर वह न स्वतन्त्र है, न लोकतन्त्रीय। इसे स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय चित्रित करने के लिए अथवा स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय व्यवस्था का भ्रम उत्पन्न करने के लिए समय-समयपर जो नाटक मंचित किये जाते हैं, उसमें भ्रामक प्रचार, धनशक्तिका प्रदर्शन और शस्त्रास्त्रोंके विस्फोट उसके वास्तविक रूपका परिचय दे जाते हैं। इस प्रतीतिको नकारना संभव नहीं है, विशेषतः आधुनिक भारतीय साहित्यको सामने रखते हुए, देशकी राजनीतिक सत्ता उसकी संचालक और नियंत्रक है। विशाल साधन जुटाकर, प्रशासनिक संगठनोंका निर्माण कर, संचार साधनों और माध्यमोंको कठोर प्रशासनिक नियन्त्रण द्वारा जो साहित्य प्रकाशित किया जाता है, पत्र-पत्रिकाओंका संचालन किया जाता है, विभिन्न कलात्मक गतिविधियोंका नियन्त्रण किया जाता है, वे साहित्य और अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताके यथार्थको उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त हैं। समाचार-संकलन जिस एकाधिकारके अन्तर्गत होता है; भारतीय भाषाओं के संगठनोंको जिस प्रकार समाचार-संकलनसे निरुत्साहित किया जाता है और उनके लिए आर्थिक संकट उत्पन्न कर उन्हें भूखों मरने के लिए छोड़ दिया जाता है, क्या यह राजनीतिक यन्त्रणा द्वारा 'श्मशानी मौन' लादना नहीं है? पुस्तकोंकी केन्द्रीय खरीद क्या भारतीय भाषाओंके साहित्य प्रकाशनका गला घोटना नहीं है? वस्तुतः राजनीतिका रूप सर्वग्रासी होगया है, और सत्ताके निहित हितोंके विपरीत जानेवाला साहित्य हो या कलाका कोई रूप, राजनीति उसे निगलनेको लपकती है। यही भारतीय राजनीतिका सांस्कृतिक कार्यक्रम है।

साहित्यसे जुड़े लोग जानते हैं कि मानवीय संवेदन को न आपात्स्थिति रोक पाती है न सैनिक शासन। हिंसाके ये शक्तिशाली रूप, अनेक बार मानवीय संवेदन को सर्जनात्मक रूप प्रदान करते हैं और शक्ति प्राप्त होती है सामूहिक चेतनासे। साहित्यकी अपनी भी एक अन्तर्निहित चेतना होती है जो रचना-प्रक्रियासे अभि-

व्यक्त होती है। यह अन्तःशक्ति किसी बाह्य बाधा प्रतिबन्धको स्वीकार नहीं करती, अपने प्रस्फुटनके साथ बलात् ध्यान खींचती है। तब प्रतीत होता है कि उसका वरण करनेवाले तत्त्व उसकी प्रतीक्षामें थे। यही साहित्यका सम्प्रेषण है। संघर्ष करना साहित्यकी नियति है, चाहे वह संवेदनात्मक हो अथवा किसी ज्ञानात्मक अनुशासनसे बंधा।

सत्ता, राजनीति और साहित्यका जो संबंध इस समय दिखायी देता है, वह है साहित्यकी रचनात्मक और सर्जनात्मक प्रवृत्तिको रोककर मात्र अनुकरणी वृत्तिको प्रतिष्ठित करना। उद्बोधक रचनात्मक और सर्जनात्मक प्रवृत्ति सत्ता और राजनीतिको अनुकूल नहीं बैठती, क्योंकि वह उसे अपने प्रयोजनात्मक रूपमें सामूहिक चेतना, जन-चेतना, से जोड़ना चाहती है। उससे सत्ता और उसकी संचालित राजनीतिके मूलपरही प्रहार होता है क्योंकि वे मात्र क्षुद्र संकुचित वैयक्तिक चेतनासे बंधी होती हैं और यह संकुचित वैयक्तिक चेतना सर्वसत्तावादी होती है। सत्ताका यह रूप मानवीय संवेदन और विवेकका प्रबल विरोधी होता है, इसकी पुष्टि कम्युनिस्ट देशोंकी शासन प्रणालीसे होती है और वहां रचनाकारोंको अपनी असहमतिका भारी मूल्य चुकाना पड़ा है।

माक्सवादी चिन्तनने एक ओर तो अपने सत्ता क्षेत्रोंके साहित्यको दमन और यातनाओं द्वारा नियन्त्रित किया है, दूसरी ओर सत्ताके बाहरके क्षेत्रोंमें कम्युनिस्ट दल संगठितकर प्रबल दबाव, आक्रामक प्रचारके विभिन्न माध्यमों, आन्दोलनों और नारोंकी सहायतासे मानवीय संवेदनाको इतना अधिक कुण्ठित करनेका प्रयत्न किया है और ऐसा वातावरण तैयार किया कि सामान्य रचनाकार इस प्रवाहमें उनके साथ वहने लगे। पिछले कुछ दशकोंका भारतीय साहित्य इस बातका प्रमाण है कि रचनाकार गर्वके साथ अपने लेखनमें ऐसे सिद्धान्तोंको 'वेदवाक्य' और 'पवित्र संदेश' मानकर दोहराने लगे, प्रत्यक्ष रूपसे जिन विचारोंकी यथार्थसे संगति सहीं बैठती थी, उन्हें तर्काभासोंके बलपर प्रतिपादित करने लगे। भारतीय लेखन इस स्तरपर पहुंच गया कि रचनाकारका संवेदन घरातल पर नहीं, वातानुकूलित चारदीवारीमें स्पन्दित होने लगा; इस समयभी यह स्थिति बनी हुई है। पूंजीवाद के विरुद्ध वियतनामी और दक्षिण अमरीकी प्रतिरोध तो उसके हृदय-मस्तिष्कको कम्पायमान करते थे, परन्तु



## आगामी अंकमें

प्रसादजीकी मूर्धन्य काव्यकृतिका अनेक दृष्टिकोणों से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साहित्यके मार्क्सवादी शिविरके पुरोधाओंने भी अपने दृष्टिकोणसे विचार किया है। उस दृष्टिका विश्लेषणपरक लेख प्रस्तुत किया जा रहा है :

### ‘प्रासंगिकता कामायनीकी आजके संदर्भमें’

लेखक हैं प्रो. घनश्याम शलभ.

× × ×

‘आर्यभाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार’ लेखमालाके अन्तर्गत गत अंकमें द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषाकी सापेक्षिक स्थितियोंपर विचारका प्रथम खण्ड प्रस्तुत हुआ है, इसका दूसरा खण्ड है :

### ‘द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा’

लेखक हैं डॉ. राजमल बोरा.

× × ×

डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्यायका उपन्यास ‘जोगी मत जा’ पर्याप्त चर्चित हुआ है। उपन्यासके समीक्षक ‘डॉ. बीरेन्द्रसिंहका विचार है कि यह उपन्यास चेतनाके क्रमिक द्वन्द्व और आरोहणका ऐसा रूप प्रस्तुत करता है जो वस्तुगत यथार्थसे चेतनाकी ऊर्ध्व स्थितितक जाता है। लेखकने चेतनाके इन दोनों स्तरोंको पूरक माना है।

उपन्यासकी संरचनामें भर्तृहरिके चार पक्षों—योद्धा-प्रशासक, भोगी, योगी और चिन्तक रूपोंको उजागर किया है। सामान्यतः उपन्यासकारकी प्रवृत्ति भोग एवं योगके द्वन्द्वको उभारनेमें अधिक क्रियाशील रही है। इन प्रसंगोंमें तल्लीन होकर उपन्यासकार समाधिकी दशातक पहुँच गया है।

× × ×

कुछ अन्य समीक्षित कृतियाँ हैं :

हीरामन हाईस्कूल—कुसुम कुमार, समीक्षक :

डॉ. श्यामसुन्दर घोष

संत साहेब—डॉ. युगेश्वर : समीक्षक :

डॉ. भगीरथ बड़ोले

अर्थविज्ञान—डॉ. ब्रजमोहन, समीक्षक :

डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Press, Dehra Dun.

अपने चारों ओरकी हाहाकारसे ध्वनिरोधी आवासोंमें उनकी समाधि भंग नहीं होती थी। ये रचनाकार चाहे सत्ता-पोषित हों, अथवा दल-पोषित, इनका तन्त्र इतने प्रभावी ढंगसे राजनीतिमें, विभिन्न साँगठनोंमें, बुद्धिजीवियोंमें क्रियाशील है कि इनके संकेतमात्रसे रचनाकार ‘प्रतिक्रियावादी’ घोषित हो जाते हैं और उनके विरोधमें आयोजन होने लगते हैं। इनके पक्षमें प्रायः कहा जाता है कि इन लोगोंने ‘प्रगतिवाद’, ‘जनवाद’, ‘कलावाद’ और ‘रूपवाद’ जैसी अस्वस्थ मनोवृत्तियोंसे साहित्यकी रक्षा की। विभिन्न आन्दोलनोंके माध्यमसे, भड़ाससे, साहित्यके पूरे परिवेशको असंतुलित कर दिया। ये सब मुखौटे साहित्यको तो नयी दिशा प्रदान करनेमें असमर्थ रहे, परन्तु साहित्यके ऊपर चर्चित कठपुतली वर्गकी सहायतासे भारतीय साहित्यको सीमाबद्ध करने और मात्र यूरोपीय चिन्तनसे सराबोर करनेमें पर्याप्त सफल रहे। इस सारी प्रक्रियामें भारतीय साहित्य प्रगतिवादी और जनवादी तो नहीं हो पाया, पर अपनी आयातित इस विशिष्ट प्रकृतिके कारण विशिष्ट कलावादी और रूपवादी होगया है।

आजभी भारतीय साहित्य पाश्चात्य चिन्तनके मार्क्सवादी और पूंजीवादी दो पाटोंके बीच पिस रहा है। यद्यपि भारतीय साहित्यमें क्षीण असन्तोषके लक्षण प्रकट होने लगे हैं और सत्ता, राजनीति और दलीय हस्तक्षेपके विरोधमें चेतना जागृत होने लगी है। फिर भी चिन्तनके स्तरपर खण्डित और राजनीतिक दबाव से छिन्न-भिन्न साहित्यको अपने समग्र रूपमें अपने व्यक्तित्वका पुनर्निर्माण करनेमें समय लगेगा। □

## ‘प्रकर’ का विशेषांक

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८९

सम्पादनके चरणमें है।

अपने नियत समयपर प्रकाशित होगा।

पुरस्कृत कृतियोंके निम्न समीक्षकोंसे समीक्षा—लेखककी स्वीकृति प्राप्त होगयी है : उड़िया—डॉ. तारिणीचरण दास, उर्दू—डॉ. सुधेश, कन्नड़—डॉ. शरेशचन्द्र चूलकीमठ, कोकणी—मोहनदास सुलंकर, गुजराती—डॉ. कमल पुजाणी, डोगरी—डॉ. ओम्प्रकाश गुप्त, तमिल—डॉ. शेफन, तेलुगु—डॉ. टी. राजेश्वरानन्द शर्मा, नेपाली—डॉ. चन्द्रशेखर दुवे, पंजाबी—डॉ. हरमहेन्द्र सिंह, मणिपुरी—डॉ. देवराज एवं डॉ. इबोहल सिंह, मराठी—डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, मलयालम—



# कामायनीका नया मूल्यांकन : सिद्धान्त और विवेचन<sup>१</sup>

लेखक : गोविन्दप्रसाद (स्वर्गीय)

समीक्षक : डॉ. रघुवीर शरण 'व्यथित'

प्रस्तुत पुस्तकमें तीन निबन्ध हैं, 'मूल्यांकनकी भूमिका', 'कामायनीके कथ्यकी संदिग्धता' और 'कामायनीके कथ्यकी प्रामाणिकता'।

मूल्यांकनकी भूमिकामें लेखकने मौलिक प्रश्न उठाये हैं। भारतीय रस सिद्धान्तको उन्होंने संक्षिप्त इतिहासके साथ और समालोचककी तलस्पर्शी और सटीक दृष्टिपर निरखा-परखा है, और अभिनव पर-वर्ती रस-सिद्धान्तपर सुलझी हुई दृष्टि डाली है। उसके सामाजिकतासे विच्छिन्न होनेके कारणोंको तलाशा है और उसकी 'मजेदारी' में तथा 'काव्य-गुरों' में बद्ध हुए रूपकी आलोचना की है। यह एक साहस और स्वतन्त्र-

चिन्तनका परिणाम है कि वे भरतमुनिके कथनोंको उसके मौलिक एवं सामान्य अर्थोंमें, बिना किसी दार्शनिक पूर्वाग्रह और रहस्यमयी शब्दावलीके, प्रस्तुत कर सके हैं।

उन्होंने अर्थ-सम्प्रेषणकी आदिम समस्यासे बात उठायी है। समस्या आदिमही नहीं, सामाजिक और मानवीय भी है जो आजभी यथावत् कम्प्यूटर और दूर-दर्शनके युगमें बनी हुई है। भरतने वेदशास्त्र, स्मृति, पुराण, और आख्यान आदिको 'अर्थ प्रवर्तन' में पूर्णतया असफल होते देखा था। समाज अच्छा बन नहीं रहा था, गम्भीर ज्ञान, उच्च शास्त्रों, निर्णायक स्मृतियों, रोचक

## स्वर्गीय श्री गोविन्दप्रसाद

कथाकार और आलोचक गोविन्दप्रसादजीका ६७ वर्षकी आयु में २८ नवम्बर १९८० को दिल्लीमें देहावसान होगया। देहावसानसे पांच-छह दिन पहले उन्हें पक्षाघात हुआ था। वे कर्मठ विद्वान् और विनयशील व्यक्ति थे। अल्मोड़ा (उ. प्र.) के एक किसान परिवारमें जन्मे गोविन्दप्रसादजीने मेरठ कॉलेजसे बी. ए. और दिल्ली विश्वविद्यालयसे हिन्दीमें एम. ए. की परीक्षाएं उत्तीर्ण की थीं। अनेक वर्षोंतक दिल्लीमें रामजस स्कूलमें अध्यापन करनेके बाद वे वहींसे सेवानिवृत्त हुए थे। साहित्यका चस्का उन्हें विद्यार्थी जीवनसे ही लग गया था, लेकिन आर्थिक कठिनाइयोंके कारण बड़े पदोंपर बैठे लोगोंके लिए वे प्रेत-लेखन करते रहे। लिखते वे रहे, छपता औरोंके नामसे रहा। बहुत बादमें जब आर्थिक कठिनाईयां कुछ कम होगयीं तो उन्होंने अपने नाम से लिखना प्रारम्भ किया। पहले उनके लेख, पुस्तक समीक्षाएं और कहानियां पत्रिकाओंमें छपीं, फिर पुस्तक रूपमें। पुस्तक रूपमें उनका एक कहानी-संग्रह 'सहस्रनामी' एक आलोचना पुस्तक 'कामायनीका नया मूल्यांकन' तथा एक उपन्यास 'जारज कौन' ही प्रकाशित हो पाये हैं। अपने उपन्यासको वे पुस्तक-रूपमें देख भी नहीं पाये। वे कई अप्रकाशित लेख और एक अधूरा अप्रकाशित उपन्यास छोड़ गये हैं। उनकी रचनाएं प्रौढ़ रचनाएं हैं; क्योंकि वे एक प्रौढ़ व्यक्तिकी रचनाएं हैं। निम्न मध्यवित्त परिवारकी कठिनाईयोंसे जूझते हुए वे साहित्य-सृजनमें संलग्न थे। मार्क्सवादके प्रति उनका सहज आकर्षण था, किन्तु उनमें मार्क्सवादका कठमुल्लापन न था। यदि जगन्नियन्ता ने उन्हें कुछ और जीवन दिया होता तो वे निश्चयही हिन्दी साहित्यका भण्डार भरते।

१. प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४ कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२। पृष्ठ : ८३; डिमा. ८८; मूल्य : ३५.०० रु.



और सरल पुराणों एवं उदात्त आख्यानों और गौरव-शाली इतिहास और परम्पराके बीचभी, जैसाकि आजके युगमें भी विश्वभरमें देखा जाता है। यह समाज आजकी ही भांति परम सुख-साधनोंसे सम्पन्न होनेपर भी दुःखित था (लोके सुखितदुखिते) क्योंकि अश्लील मैथुनकर्ममें प्रवृत्त, काम-लोभका वंशगत, और ईर्ष्या-क्रोधादिसे संमूढ़ था। भरतमुनिने समाजको उच्च बनानेके लिए, उसमें व्याप्त विघ्नों (रोगों) को दूर करनेके लिए, मानव-शरीरके समान विघ्नोंको दूर करनेके लिए, आयुर्वेदके समानान्तर समाजमें प्रकृति-साम्य लानेके लिए अपने रस-सिद्धान्तका प्रणयन करते हुए कहा—‘नहीं रसादृते कश्चिदर्थः (कश्चिदृष्यर्थः) प्रवर्तते’।

भरतमुनिके नाट्यशास्त्रमें भाव और रस दोनों ही आयुर्वेदकी परिभाषाको लेकर प्रयुक्त हुए हैं। खोजनेपर अन्य औरभी प्रकल्पनाएं एवं विचार मिल जायेंगे। उन्होंने ‘रस क्या पदार्थ है?’ का उत्तर उसे आयुर्वेदकी परिभाषाके अनुसार ‘आस्वाद्य’ बताकर दिया। भावको भी भरतमुनि उत्पन्न या नष्ट होने वाले पदार्थके अर्थमें नहीं, अपितु सत्ताके अनुभव करने के अर्थमें, आयुर्वेदशास्त्रकी भांति, करते हैं। लेकिन ये भाव हैं क्या जिनसे रसोद्भव होता है। भरतमुनिका स्पष्ट कथन है, हृदय-संवादी अर्थका भाव रसोद्भव है। यह हृदय-संवादी अर्थ सामान्य नहीं है। ‘हृदय’ चेतना-संस्थानको कहते हैं जो व्यष्टिसे लेकर समष्टि और बृहद् प्रकृति तक व्याप्त है। उसी अर्थका भाव जो व्यष्टि और समष्टिमें अनुकूल प्रतिक्रिया (संवाद) जगा सकता है, रसकी सृष्टि कर सकता है। स्पष्ट है कि जो (कविका) अभिप्रेत अर्थ व्यष्टि और समष्टि औरभी आगे बढ़ें तो प्रकृतिमें अनुकूल प्रतिक्रिया जगाने में असमर्थ है, उसका भावरस उद्भव नहीं कर सकता। भरतमुनिने ‘भवति इति भावः’ न कहकर ‘भावयति इति भावः’ कहा है, अर्थात् वे स्वयंके लिए नहीं, अर्थ का भावन करानेके लिए प्रयोगमें लाये जाते हैं। इस प्रकार समस्त (वे पांच प्रकारके होते हैं—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी और स्थायी) भाव ‘अर्थ’ की ही व्याप्ति और उसका विभिन्न रूप होते हैं। अर्थभी, भरत मुनिके समय प्रचलित अर्थानुसार, इन्द्रियार्थ—मनोऽर्थ जो व्यक्ति और समाज दोनोंको अपनी परिधिमें ले लेते हैं, दोनों हो सकते हैं। सामाजिक और

वैयक्तिक अर्थोंको भरतमुनि विधा विभक्त करते हैं—धर्मार्थ, अर्थार्थ और कामार्थ। मोक्षकी चर्चा वे नहीं करते, काव्यके प्रयोजनोंमें मोक्ष पीछे जुड़ा है। भरत-मुनि तो इन तीनोंकी सम्यक् प्राप्तिमें ही, व्यक्ति और समाजका मोक्ष खोजते दिखते हैं।

रचना-प्रसंगमें भरतमुनि अर्थके भावसे ही रसकी अभिवृत्ति मानते हैं, रससे भावकी नहीं। सहृदय पक्षमें, अभिनवगुप्त सहृदय-पक्षमें भावकी रससे उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

थोड़ा और गहरे जायें तो लगता है कि भरतमुनि रसको आस्वाद्य कहकर संकेत करना चाहते हैं कि वास्तविक अर्थ-प्रवर्तन तभी हो सकता है, जब वह इन्द्रिय और मनके अर्थोंको सन्तुष्ट करता हुआ व्यक्ति और समाजका हृदय-संवादी हो। यदि नहीं होगा तो वह आकर्षण और आह्लादसे परिपूर्ण रचना होकर भी रमणीय होकर भी अर्थ-प्रवर्तनकी विधायिका नहीं होगी। हृदय-संवादसे संस्कार होता है, संस्कार बदलते हैं, और संस्कार बनते हैं। संस्कारभी तीन प्रकारके होते हैं—भावना, वेग और स्थिति-स्थापक। संस्कार भावना बनकर आत्मा (व्यष्टि और समष्टिका व्यक्तित्व) का गुण बन जाता है। शेष दोनों विशेष कारण परिस्थिति, दिक्काल सापेक्ष होते हैं।

लेखकने बड़े मार्मिक और रोचक ढंगसे भरत-मुनिके कथनकी स्मृति और उसके अपस्मरणके इतिहासका अवलोकन किया है। इसमें उन्होंने आलंकारिकों और ध्वनिवादियोंपर दृष्टिपात करके अर्थको शरीर ठहराकर प्राप्त होती गौणता एवं काव्यकी आत्मा में विभेदकी क्रमिकताको लक्षित किया है। वास्तवमें शरीर और आत्माका यह भेद भी काव्यके शब्द और उसके अर्थसे ध्वनित होनेवाले आत्मारूप अर्थका भेद है, जिसे लेखकने ध्वनिमें लक्षित न करके, अपना प्रतिपाद्य बनाया है। उनका प्रतिपाद्य रस साधन है, साध्य नहीं, ‘रस-ध्वनि’ से लक्षित होता है। रस-ध्वनिमें साधन और साध्य एकाकार हो गये हैं। भरत-मुनिके सूत्र ‘तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस-निष्पत्तिः’ में ‘इच्छा-ज्ञान-क्रिया’ के त्रिकसे संयोगसे प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक रस और आस्वाद्यत्वकी एकाकारिताको लक्षित किया गया है। कोई रस रस-द्रव्यसे पृथक् नहीं होता जैसेकि आत्मा शरीरसे, यद्यपि दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् अनुभव होता है रमणीय अर्थमें



रमणीयताकी सत्ता सर्वोपरि होते हुएभी वह अर्थके आस्वाद्यत्वकी सर्वांगिकताको प्राप्त नहीं होता, वह बोध्य तो है, परन्तु साक्षात्कारात्मकताको नहीं पहुंचता।

कवि अपने परिवेशको आस्वाद्य अर्थ देता है, केवल अर्थ-बोध नहीं। और, यह कार्य वह भावानुभावन और भावानुकीर्तनके द्वारा, भरतमुनिके अनुसार, करता है। इसीमें कवि संदृष्ट वस्तु-संबंध, मूल्य और अवधारणा निहित होती है, जो सामाजिकतासे निबद्ध रहते हैं। मात्र मनोविनोद या अनुरंजनही कवि या कृतिकारका अन्तिम लक्ष्य नहीं होता। वह प्रेक्षकके मनको एकाग्र करने और मनके तनावको दूर करनेका साधन है जिसके होनेपर कविके अनुभूत नवीन अर्थको वह उसकी साक्षात्कारात्मक समग्रतामें अनायास ग्रहण करता है। लेखकने सबल युक्तियोंसे प्रतिपादित किया है कि 'अर्थ ग्रहणमें ही रस-ग्रहणका रहस्य छिपा है।' मनोविश्लेषण पूर्वक उन्होंने स्थापित करनेका प्रयत्न किया है कि "प्रेक्षक अवधारणाके पुनःसर्जनमें उस (वस्तु-संबंधोंके) अन्वित बिन्दुतक पहुंचकर उसके प्रति अपने निजी संवेदानुभवसे जुड़ता है। और यह संवेदानुभव प्रेक्षक का स्थायी भाव नहीं है। वह उसकी अभिग्रहण क्षमता या प्रभवनीयता है जिसे अभिनवने अनादि वासना कहा है। भरतने भावको 'भावितं, वासितं तथा कृतं' से जोड़ा है। ये मनकी संस्कार-भावनाको इंगित करते हैं। संस्कार और कुछ नहीं प्रभवनीयता या अभिग्रहण क्षमताही है। लेखकने अभिनवगुप्तके पोषित चिर-मान्य अनादि वासनात्मक भावोंका प्रत्याख्यान किया है, वह भी भरतकी परम्परासे जुड़कर। यह एक सैद्धान्तिक पुनःशोधनकी बात है।

लेखक साधारणीकरणके प्रसंगमें अभिनवगुप्तके बताये देशकाल-ज्ञानके 'तिरोधान' के विषयको भी उठाते हैं। अभिनवगुप्त नट-बुद्धिके आच्छादनसे विभ्रमावस्थाकी उत्पत्तिसे देशकालका तिरोहित होना बताते हैं। लेखकने कहा है कि "दरअसल वह विभ्रमावस्था नहीं है वरन् देशकालके परिज्ञानसे एक नयी धारणाका उदय होता है। उसे ही उन्होंने (अभिनवगुप्तने) देश कालका तिरोहित होजाना कहा है। दरअसल वह वस्तुबोधका जातिबोध या वर्गबोधमें बदल जाना है। लेखक यहां प्रकारान्तरसे भरतमुनिके 'सामान्यगुणयोगेन' 'अनुकीर्तन' का कथन कर रहे हैं जिसे विभावादिके 'साधारणीकरण' नामसे भट्टनायकने

प्रस्तुत किया था। साधारणीकरणमें सामान्य धारणाके सम्पूर्ण आधारका निरन्तर गतिशील सृजनका भाव निहित है। इसकी व्युत्पत्ति स+आ+धृ+अन्+चि+करण उपसर्ग, धातु और प्रत्ययोंसे निश्चित है। 'आधारण' में समग्र धारणाभी निहित है। अतः यह विभ्रम नहीं, अपितु यह साक्षात्कारात्मक जाति या वर्ग-बोधमें वस्तु बोधका रूपान्तर है।

लेखकने आधुनिक कालमें आचार्य शुक्लमें प्रकट हुई अर्थकी संप्रेषणीयताकी संभावनाओंको देखा है। परन्तु उन्हें कहना पड़ा है कि "डॉ. नगेन्द्र ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने संप्रेषणीयताकी संभावनाओंकी महत्ताको पूरी तरह नकार दिया। उन्होंने अभिनवके मार्ग पर चलकर अर्थको पूरी तरह दफना दिया और दशकों तक आलोचनापर रसवादकी जकड़को सुदृढ़ बनाया।" यह एक मार्मिक कथन है और लेखककी वर्चस्विताका भी। रसको प्रेक्षकके स्वानंद तक ही सीमित करके अभिनवगुप्त और उनके पृष्ठ पोषक डॉ. नगेन्द्रने अत्यन्त सीमित कर दिया। जब किसी काव्य-रचनासे प्रेक्षक / श्रोता / पाठक आत्मानन्द और वह भी अपने ही स्थायिभावका अनुभव करेगा तो कवि या लेखकका प्रयोजन या उद्देश्य तो ध्वस्त ही हो जायेगा। काव्य-रचना-कर्म ही व्यर्थ हो जायेगा, जबकि भरतका अभिप्रेत तो काव्यार्थके द्वारा / कविके अन्तर्गत भावके द्वारा प्रेक्षक समाजको संस्कारित करना था, भावित, वासित करना था, वेगवान् बनाना था और स्थिति-स्थापकता पैदा करनी थी, अर्थात् उसे उच्चसे उच्चतर, ऊर्जस्वी और युग-सापेक्ष कर्मोपेत करना था। यों भरतने भी आनन्दकी चर्चा की है। वे भी काव्यमें आनन्दकी स्थिति स्वीकार करते हैं, लेकिन उसे एक अवस्था ही बताते हैं और उसे 'अर्थोंका समागम' नाम देते हैं। तो काव्य या नाटकमें कवि और प्रेक्षक के हृदय-संवादी अर्थोंकी समागमकी स्थिति ही आनन्द है, न कि केवल प्रेक्षकका आस्वादन-जनित आनन्द। लेखकने अपने विवेचन और विश्लेषणसे 'रस' की एकांगिता और विजडिमाको विदारनेका सफल प्रयास किया है, और काव्यमें रसका पुनराख्यान पूरी विज्ञतासे किया है। वस्तुतः 'रस' अर्थको संस्कार स्तरपर उतार देनेकी प्रक्रिया है। संस्कार भावना, वेग और स्थिति-स्थापक रूप है। भावना व्यक्ति और समाजकी, व्यष्टि-समष्टिकी आत्माका गुण है।



मूल्यांकनकी भूमिकामें सैद्धान्तिक प्रश्नोंको उठा कर लेखकने हिन्दी आलोचनाकी जकड़नको छुड़ानेका स्तुत्य प्रयास किया है, और रससे जुड़े रहकर उसे काव्यार्थका अभिन्नवाहक, साक्षात्कारक संप्रेषक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, जो उन्हें अन्य समालोचकोंसे अलग खड़ा करता है ।

कामायनीके कथ्यकी संदिग्धतामें सुधी लेखकने मूल्यांकनके आधुनिक समालोचनमें स्वीकृत और समाजशास्त्र और मनोविज्ञानकी अद्यतन विचारधारा और शब्दावलीमें विवेचन-विश्लेषण-पूर्वक नये मुद्दे उठाकर उसके काव्यकी संदिग्धता या आभासित दुर्बलताएँ पकड़नेकी पूरी ईमानदारीसे कोशिश की है । 'कामायनी' के कथ्यमें भावनाओंको निरपेक्ष रूपसे श्रद्धामें रूपाकार दिया गया है । 'प्रसाद' के आदर्शवादी तत्त्व-चिन्तकने मनमें अर्जित ढाँचेको (भावनाओंके) आध्यात्मिक रूपमें देखा है, उसकी प्रक्रियामें नहीं उतरा गया । अवधारणा दोषके कारण आये भावना दोषको दिखाते हुएभी उसकी जड़ों तक नहीं पहुँचा गया ? श्रद्धाकी जीवनको उन्नत करनेवाली भावनाओंकी बदले-परिवेशमें क्या स्थिति रह जाती है, इसका द्वन्द्वात्मक विश्लेषण और निरूपण कामायनीके कथ्यमें नहीं है । लेखक आधुनिक युगकी विडम्बनाके परिप्रेक्ष्यमें आर्थिक ढाँचे और सामाजिक व्यवस्थाके संदर्भोंका हवाला देता है और परिदर्शित करता है कि हमारे क्रोधादि संवेगोंका व्यवस्थाकी प्रतिनियुक्तोंपर चोट करके ही शमन होकर रह जाता है, मूल कारण व्यवस्था पर कोई चोट नहीं पहुँचती क्योंकि वह प्रत्यक्षणका विषय नहीं रहती । परन्तु, कामायनीमें 'प्रसाद' ने देव-संस्कृति (अर्थात् प्राकृतिक दैवी शक्तियोंके कारण उत्पन्न संस्कृति और उन शक्तियोंपर निर्भर व्यक्ति और समाजके संस्कार) और मानव-निर्मित आर्थिक ढाँचे और समाज-व्यवस्थाके संदर्भोंमें मनुको प्रस्तुत तो किया है, भलेही अपने कथ्यको क्षिप्र और स्थूलतासे बचाकर थोड़ेमें चित्रित किया है । कथ्यकी संदिग्धता इसमें भी बतायी गयी है कि 'प्रसाद' की दृष्टि इस ओर नहीं गयी कि वस्तु जगत्की अपनी पृथक् सत्ता है, जो चेतनासे स्वतन्त्र है और उसके नियमनके अनेकानेक विधान हैं, जो परस्पर संबंधित और निर्भर होते हैं । वही लोगोंके बोध, संवेग और आवेगका कारण होता है, और (वस्तु-जगत्ही) अपने नियमनसे हमारी

आंतरिक संघटनाको निर्मित एवं अनुकूलित करता है । यहाँतक कि, लेखकका साग्रह निष्कर्ष है, हमारी चेतना भी उससे ही प्रकाशित होती है । अनात्मसे ही आत्माकी सिद्धि है । किन्तु आदर्शवादी चिन्तन-बुद्धि सदा व्यक्ति को ही प्रधान मानती है । यहाँ लेखकसे पूर्णतया सहमत नहीं हुआ जा सकता । 'प्रसाद' ने क्षीणही सही, व्यक्ति को प्रकृति निर्भर (दैवी) संस्कृति और मानव निर्मित समाज दोनोंमें रखकर देखा है, और उसमें समरसताको ढूँढनेका प्रयत्न किया है, अधिकार और अधिकारीकी समरसता (संगति) का सम्बन्ध खोजनेका उपक्रम किया है । फिरभी, लेखक कामायनीके कथ्यकी संदिग्धताका एक तथ्य यह भी मानते हैं कि कामायनीमें 'समस्त जीवनकी स्थूल जीवन्तताके मध्य उसकी समस्त प्रक्रिया में प्रवेश करनेका प्रयास नहीं किया गया । कामायनीमें जीवनका वह जीवन्त चित्रण नहीं मिलता । वह क्षण को ही लम्बी आयु देना चाहती है ।" वह वस्तुगत यथार्थकी संघटनासे कटी हुई है और यह जीवनकी जीवन्ततासे कटना है । कामायनीके मूल कथ्यकी यही प्रकृति है । लेखककी दृष्टि आधुनिक स्थूल यथार्थवादी काव्य-मूल्यांकन-पद्धतिका सहारा लेकर चली है, और उसे यहाँतक उचितही 'कामायनी' के कथ्यको संदिग्धता दिखी है ।

इसपर भी लेखकने स्वीकार किया है कि कामायनीका अनुभूति जगत् इतना प्रगाढ़ एवं चमत्कारिक है कि उसके कथ्यकी अवधारणा दोषपूर्ण और संदिग्ध होनेपर भी पाठकको सहजमें दूर-दूरतक प्रभावित किये बिना नहीं रहती है । यह तो, भरतमुनिका मंतव्य, हृदय-संवादी अर्थके भावसे रसोद्भवकी ही स्वीकृति है, और इसीसे अगला निबन्ध संदिग्ध कथ्यकी प्रामाणिकतासे उद्भूत हुआ है ।

लेखककी, अन्योसे पृथक्, नवीन खोज कामायनी के कथ्यमें मानवके अस्तित्वकी नहीं, अपितु मानवताको विकसित करनेकी है जो उसे प्रामाणिकता प्रदान करती है । लेखककी पकड़ सही है कि 'प्रसाद' ने वस्तुओं एवं व्यक्तियोंको परम्परासे चले आरहे सम्बन्धोंमें न देख कर नये सम्बन्धोंमें देखा है और साथही उनके परिवेश को भी नवीन अर्थ देकर उनमें परस्पर घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है । कामायनीके इतिवृत्तमें नाट्यशास्त्र की कार्यवस्थाएँ, अर्थ-प्रकृतियाँ और सन्धियाँ सहज नियोजित हैं, देखी गयी हैं, संवादोंमें भले आधुनिक-



नाटकीयता शिथिल दिखती हो, परन्तु काव्यकी नाट्यता उसमें आद्योपान्त व्याप्त है। प्रत्येक सुष्ठु काव्य प्रकृतिः नाट्य-दृश्यात्मक श्रव्य होता है या कहें दृश्य-श्रव्य होता है। लेखकने कामायनीमें प्रयुक्त शैव शब्दावलीको विशेष महत्त्व और उसकी आध्यात्मिकताको प्रतिष्ठा नहीं दी है, जैसा कि प्रायः कामायनीकी व्याख्याओंमें होता रहा है, गौणरूपमें लिया है, जैसा कि काव्यालोचनमें होना जरूरी है, क्योंकि काव्य दर्शन नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष अनुभूतिका दर्शन है। वह कामायनीके प्रतीकार्थको उचित रूपसे रचनाका उप-उत्पाद मात्र कहते हैं। उसे वह कामायनीको रचनाका केन्द्र-बिन्दु नहीं स्वीकारते। उनके मतानुसार कामायनीमें पार्श्विक वृत्तियोंका संवेद या भावनामें रूपान्तरणकी प्रक्रियाका संघटन किया गया है। उसमें पार्श्विकतासे परिष्कृत मानवीयताका मार्ग-शोधन हुआ है। यही, लेखक के मतानुसार, कामायनीका हृदय और बुद्धिका समन्वय है। कामायनीमें प्रकृति उद्दीपन मात्र नहीं, अपने मानवीय कार्य-कलापोंसे, सहचारी पात्रोंकी प्रेरणा भी है। लेखकके विचारसे आनन्दवादकी स्थापना कामायनीका प्रतिपाद्य नहीं है, अपितु समरस होना है। समरस होनाही मानवके लिए श्रेयस्कर है। जो समभाव रखता है, वह परको स्वीकार करता है, वही एक श्रेष्ठ मानव है। हमारे विचारसे तो सामाजिक परिवेश और समाजभी वही स्वस्थ और श्रेष्ठ है। थोड़ा भरतमुनि के रस-सिद्धान्तको आयुर्वेदकी दृष्टिसे देख लें। आयुर्वेदमें रसका प्रयोग विकृत प्रकृति या प्रकृति-विकृतिको साम्य प्रदान करनाही 'साम्य' है। यदि सम-रसको सामाजिक और वैयक्तिक प्रकृति-विकृतिको 'सम' करनेके अर्थमें लिया जाये तो 'प्रसाद' की कामायनीका प्रतिपाद्य 'समरस' सम्यक् अर्थोंमें ग्रहण किया जा सकता है। कामायनीका आरम्भ हिमगिरिके उत्तुंग शिखरपर बैठकर एक पुरुषके भीगे नयनोंसे प्रलय-प्रवाहको देखते हुए हुआ है। यह प्रलय-प्रवाह और कुछ नहीं प्रकृति-विकृति (जड़-चेतनकी) ही है और कामायनीकी समाप्ति (फलागम) प्रकृति-साम्यमें, समरस होनेमें देखा गया है। 'समरस ये जड़ औ' 'चेतन' और 'आनन्द' तो इस समग्र प्रकृतिकी साम्य-अवस्थाका उप-उत्पाद्य (बाइ-प्रोडक्ट) है।

'कामायनी का नया मूल्यांकन : सिद्धान्त और विवेचन' हिन्दी समालोचनामें एक नया प्रयास है और

कामायनीके मूल्यांकनमें एक नया आयाम भी। यहें रुढ़ बन गये भारतीय काव्य-शास्त्रको रूढ़ियों और जकड़नोंसे मुक्तिका पथ-प्रदर्शित करता है। यह भरत सम्मत अर्थको रस बनाकर, कविके हृदय-संवादी अर्थको सामाजिककी चेतना और संस्कारोंका अंग बनाकर प्रवर्तित करनेकी प्रक्रियाको भी उद्घाटित करनेका प्रयत्न करता है। इसमें लेखकका रसके मूल-स्वरूप और पाश्चात्य मनोविज्ञानको समन्वित रूपमें प्रस्तुत करनेका स्तुत्य प्रयत्न है। लेखककी निर्भीक और बेलग आधुनिक रस-सिद्धान्तियोंकी समालोचना भी स्पृहणीय है। यह नया मूल्यांकन भौतिकवादी और ऐतिहासिक दृष्टिको समोये हुए है, परन्तु सब कुछ स्वात्म किया हुआ है। इसमें न तो मार्क्स-एंगेल्सके आतंककारी उद्धरण हैं, और न उनसे आतंकित दृष्टि-विचार। लेखक अपनी बात अपने ढंगसे बड़े आश्वस्त और सुलझे-सूक्ष्म ढंगसे कहता चलता है। लेखकने कामायनीके कथ्यकी सन्दिग्धता और प्रामाणिकताके दो छोरोंमें तनी रस्सीपर संतुलित कदम रखे हैं, जो सराहनीय हैं। इससे भी बढ़कर सैद्धान्तिक विवेचनसे युक्त 'मूल्यांकनकी भूमिका' का अपना विशेष महत्त्व है।

□

## स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी मिथक काव्य :

### युगीन संदर्भ ?

लेखिका : सविता गौड़

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्र सिंह

समकालीन आलोचना विभिन्न ज्ञानानुशासनोके प्रत्ययों और सरोकारोंको (यथा दर्शन, विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि) लगातार ग्रहण करती आ रही है जिससे सृजनके विविध आयाम उद्घाटित होसकें और इस दृष्टिसे आलोचना और सृजनका जहाँ एक ओर आपसी रिश्ता उजागर होता है, वहीं दूसरी ओर, आलोचना की व्यापकताके लिए विचार साहित्य और संवेदनाके परिष्कारकी प्रक्रिया भी लगातार चलती रहती है। इधरकी आलोचनामें विकसित नये प्रकार (जैसे मिथ-

१. प्रका. आशिर प्रकाशन, रामजीवन नगर, चिल-  
क्राना रोड, सहारनपुर-२४७००१। पृष्ठ : २५६;  
डिमा. ८८; मूल्य : १००.०० रु.।



कीय, संरचनावादी, विसंरचनावादी, मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्रीय एवं अंतःअनुशासनीय आदि) इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हैं और यह भी संकेत करते हैं कि भिन्न ज्ञान क्षेत्रके 'शब्द' भी लगातार आजकी आलोचना में आ रहे हैं जैसे फोरप्राउडिंग, जैविकी, संरचना आदि। अतः इधरकी आलोचना में मिथकीय आलोचनाका जो स्वरूप उभरकर आ रहा है, वह एक प्रकारसे सृजनको नये संदर्भों में विवेचित कर रहा है। रमेशकुंतल मेघ, शंभुनाथ, वीरेन्द्रसिंह, अश्विनी पाराशर, आदिने मिथकीय आलोचनाको एक ऐसा आधार दिया है जिसपर अभी कार्य करनेकी काफी गुंजाइश है। इसी संदर्भ में डॉ. सविता गौड़का शोधपरक अध्ययन "स्वातंत्र्योत्तर हिंदी मिथक-काव्य" एक ऐसी कृति है जो आजके हिंदी शोध प्रबंधोंके स्वरसे भिन्न है क्योंकि सामान्य शोध प्रबंधोंसे यह 'अध्ययन' काफी स्तरीय है।

प्रस्थान-विन्दुके अन्तर्गत लेखिकाका यह कहना सही है कि "शोध केवल अज्ञात तथ्योंकी खोज ही नहीं है; अल्पज्ञात या अज्ञातकी अभिनव एवं मौलिक व्याख्या भी है।" (पृ. IX)। यह ग्रंथ अपने तरीकेसे इस 'व्याख्या' को प्रस्तुत करता है जो शोधार्थीकी अपनी सीमाका भी परिचायक है। दूसरी बात डॉ. सविता गौड़ने कुछ मिथक चिंतन सम्बंधी नयी पुस्तकोंका 'प्रस्थान विन्दु' में उल्लेख किया है जिनके आधारपर उन्होंने मिथक विवेचनकी दिशाओंको निश्चित किया है और इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने १९४७-१९७५ के बीच प्रकाशित मिथक रचनाओंको लिया है। मिथक चिंतनसे सम्बंधित जिन चार पुस्तकोंका संकेत लेखिकाने किया है, उनके नाम यहाँ इसलिए दिये जा रहे हैं जो इधरके मिथक-चिन्तनको गति देने में समर्थ हुए हैं—

१. मिथक और साहित्य—डॉ. नगेन्द्र
२. मिथक दर्शनका विकास—डॉ. वीरेन्द्रसिंह
३. मिथक और भाषा—डॉ. शंभुनाथ (संपादन)
४. पुराख्यान और कविता—

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा

इन पुस्तकोंके अलावा एक शोध प्रबंध है, डॉ. अनिलकुमार तिवारीका जिसका शीर्षक है "मिथकीय आलोचना" जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। यह शोध प्रबंध अत्यंत स्तरीय है और शीघ्र प्रकाश्य है। यह सारा परिदृश्य यह स्पष्ट करता है कि डॉ. सविता

गौड़का यह प्रयास नये संदर्भों और नये सरोकारोंको लेकर हिंदी जगत् में आया है।

यह पुस्तक जहां तक प्रथम अध्यायका प्रश्न है मात्र एक पीठिका है। आधुनिक कविता और स्वतंत्रताके बादकी काव्य स्थितियों और सरोकारोंके विवेचनकी ओर इस पूरे विवेचन में मिथक काव्यको "लोकेट" करनेका प्रयत्न है। राजनीति और अर्थनीतिका प्रभाव, स्त्री-पुरुष सम्बंधोंका परिवर्तित रूप, विचार कविता और नवमाक्सवादी या जनवादी कविता—ये सभी धाराएं मिथक ट्रीटमेंटको किसी-न-किसी रूप में लेती हैं और इस दृष्टिसे, मिथक एक सार्वभौम सत्ताके रूप में उभरकर सामने आता है। इस पक्षको लेखिकाने लिया तो अवश्य है, पर पूरे रूप में इसे रेखांकित नहीं किया है। अपने विवेचन में मिथकाश्रित काव्योंको अनेक प्रभागोंने बांटा है यथा वैदिक पौराणिक, रामायण एवं महाभारतके प्रसंगोंपर आश्रित मिथक काव्य जिनमें कथावृत्तका गहरा या हल्का रूप मिलता है और न्यूनाधिक रूपसे 'वैचारिकता' का संस्पर्श। स्वतंत्रताके बाद के मिथक काव्यों में विचार तत्त्वके बहुआयामोंका जो संकेत प्राप्त होता है, उन आयामों में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सरोकारोंका विश्लेषण सटीक रूपसे किया गया है जो आधुनिक परिवेश में भी परोक्षतः प्रासंगिक हैं। वैचारिकताकी दृष्टिसे यह पक्ष पुस्तक में उभरकर आया है और इस दृष्टिसे 'भस्मांकुर' (नागार्जुन), 'एक कण्ठ विषपायी' (दुष्यंतकुमार), शम्बूक (जगदीश गुप्त) तथा "एक पुरुष और" (विनय) का विवेचन महत्वपूर्ण है; लेकिन इसके बावजूद लेखिकाने 'योगनिद्रा' (श्री कृष्णनंदन पीयूष) को लेकर जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह इस दृष्टिसे महत्वपूर्ण है कि इसमें 'कृष्ण' के मानवीय पक्षको उभारा गया है जो राजसत्ता, गीता उपदेश, महाभारतका युद्ध आदिपर प्रश्नचिह्न लगाते हैं क्योंकि

"युगको दिया था  
जो धर्म पथ चलनेको

वह पथभी गलत निकला।

और उन्हें लगता है कि बिना कारण जानेही लड़ने वाले, सैनिकी-सी उनकी नियति है। (पृ. १४१-१४२)। 'योगनिद्रा' पर लोगोंका कमही ध्यान गया है, और डॉ. सविता गौड़ने इस ग्रंथपर एक सुव्यवस्थित तार्किक प्रतिक्रिया दी है। इसी संदर्भ में 'एक कण्ठ विषपायी'



और 'भस्मांकुर' के सम्बन्धको, भस्मांकुरकी इस कमीको कि इसमें शिव-पार्वतीकी मुख्य कथा पृष्ठभूमिमें चली गयी है और काम, रति और वसंतका चरित्रांकन अधिक विस्तृत हो गया है (पृ. ७६), 'अंगराज' एक असफल काव्य है तथा "जयभारत" में आधुनिक समस्याओंके यत्रतत्र संकेत अवश्य हैं, परंतु इन्हें प्रखरतासे उभारा नहीं गया है (पृ. १४३)—आदि अभिमत लेखिकाकी विवेचनात्मक 'दृष्टि' का परिचय देते हैं। फिर भी एक बात ध्यान खींचनेवाली है कि मिथक काव्योंको युगीन संदर्भसे अवश्य जोड़ा गया है, परन्तु युगीन वैचारिकता के भिन्न आयामोंको कमही निर्धारित किया गया है। मेरा तात्पर्य उन प्रत्ययों, अवधारणाओं और विचारोंसे है जो भिन्न ज्ञान-क्षेत्रोंसे सम्बंधित होते हुए उन्हें रचनात्मक संदर्भ प्राप्त हुआ है, इन मिथक काव्योंकी संरचनामें। विकासवाद, विज्ञानकी धारणाएं, इतिहास और जनचेतना, समाजशास्त्रीय, दार्शनिक और नेतृत्व शास्त्रीय आदि ऐसे ज्ञानके क्षेत्र हैं जिन्होंने परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे युगीन वैचारिक संदर्भोंको भी रचनात्मक 'अर्थ' प्रदान किया है। इन मिथक-काव्योंमें उपर्युक्त भिन्न वैचारिक आयामोंका यदा कदा संकेत प्राप्त होता है जो रूपाकारोंके द्वारा रचनात्मक संदर्भ प्राप्त करते हैं। उदाहरणके तौरपर डॉ. विनयके काव्य 'एक पुरुष और' में आदिगोलक या ब्रह्मांडीय अण्डकोष (कॉस्मिक एग) का संकेत है जो सृष्टिका 'आदितत्त्व' है जिससे विलोमों (अपोजिट्स) की उत्पत्ति हुई और क्रमशः द्वन्द्वका आरंभ हुआ। इसे ही फ्रेड हायल 'पृष्ठभूमि पदार्थ' की संज्ञा देता है। कविने इस वैज्ञानिक (एवं मिथकीय भी) अवधारणाको "सर्पाकार कुण्डल द्वारा इसप्रकार रचनात्मक संदर्भ दिया है—

एक सर्पाकार कुण्डल  
धीरेसे खुल रहाथा हवाओंमें  
और एक आरंभ  
द्वन्द्वकी शक्ल देता हुआ  
विभाजित हो रहाथा।

अपनेही खण्डमें। ('एक पुरुष और' पृ. १)

इस प्रकारके अनेक प्रसंग समकालीन मिथक काव्यों में अन्तर्निहित हैं। इस पक्षका विवेचन मैंने 'दस्तावेज' के विशेषांक आठवें दशककी कवितामें किया है और ऐसे कुछ लेख मेरी पुस्तक "सृजन और अन्तःअनुशासनीय

परिप्रेक्ष्य" में भी सम्मिलित हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि लेखिकाने इस पक्षपर विशेष विचार नहीं किया है और इसीप्रकार आधुनिक आद्य रूपों एवं मिथकोंकी भी छानबीन नहीं की है। यदि इन पक्षोंको भी शामिल किया जाता तो यह शोध प्रबंध कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षोंको उद्घाटित कर सकता।

अन्तमें, एक बात और। शोध प्रबंधकी अपनी सीमाएं होती हैं और उन सीमाओंके अन्दर विवेचन एवं मूल्यांकनकी परिधियां अन्तर्निहित रहती हैं। डॉ. सविता गौडने इन सीमाओंके अंदर ही नवीन एवं अर्थवान् विवेचन किया है। उनका यह निष्कर्ष सही है कि स्वतंत्रताके बादके मिथक काव्योंमें महाभारतके प्रसंगों की अधिकता है (पृ. २४६) जो युग संवेदनाको वाणी दे सके हैं। लेकिन ऐसा क्यों हुआ, इसकी छानबीन भी जरूरी थी। ऐसा इसलिए हुआ कि स्वतंत्रताके बाद भारतीय समाजमें जो विडम्बनाएं, तनाव, शोषण और विघटनकारी तत्वोंका बोलबाला हुआ, इनकी प्रासंगिकता 'महाभारत' में अधिक थी, रामायण अथवा अन्य मिथक आख्यानोकी अपेक्षा। दूसरी बात 'महाभारत' जीवन यथार्थ एवं संघर्षके अधिक निकट है जो हमारी आजकी "भयंकर" समस्या है। तीसरी बात 'महाभारत' का नायक काल है जो हर युगके लिए प्रेरणाका स्रोत है।

समग्र रूपसे, इस शोध प्रबंधका अपना एक स्थान है क्योंकि यह मात्र शोध न होकर एक विवेचन है—नये आयामोंकी खोज है। आशा है कि लेखिकाकी यह खोज विचार साहित्यके अध्ययनसे और गतिशील होगी। □

## आधुनिक महाकाव्योंमें भारतीय संस्कृति?

लेखिका : प्रमिला शर्मा

समीक्षक : डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

प्रस्तुत पुस्तक डी. फिल. उपाधिके लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। समूचा अध्ययन पांच अध्यायोंमें विभक्त है। अन्तमें 'समाहार' में अध्ययनका सार दिया गया है।

१. प्रका. पूजा प्रकाशन, ३६ ए कमला नगर, दिल्ली-७। पृष्ठ : २८२; डिमा. २०४७ (संवत्), मूल्य : १४०.०० रु.।



संस्कृतिकी अवधारणा स्वयंमें पर्याप्त दुर्ग्रह है; फिर भारतीय संस्कृतिका स्वरूपभी कम जटिल नहीं है। इसी प्रकार महाकाव्यका स्वरूपकी काफी उलझा हुआ है। ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत विषयके साथ न्याय करना निश्चयही दुस्साध्य कहा जा सकता है। डॉ. प्रमिला शमनि शोध-रूढ़िके रूपमें दी जानेवाली अनेक असम्बद्ध और अवांछित परिभाषाओंकी उद्धरण जुटाने की प्रवृत्तिसे मुक्त रहकर अपनी अवधारणाओंको तर्क सम्मत आधारपर विवेचित एवं निरूपित किया है। ऐसा करनेमें विवेक संगत त्याग एवं ग्रहणकी पद्धति अपनायी गयी है। विदुषी शोधिकाने संस्कृतिके सम्बन्ध में नृविज्ञान, समाजशास्त्र आदि द्वारा दीगयी परिभाषाओंको साहित्यिक कृतियोंके मूल्यांकनके लिए अपर्याप्त ठहराया है। शोधिकाके अनुसार संस्कृति एक जीवन्त, विकासमान तत्त्वके रूपमें “श्रेष्ठतम मानवीय उपलब्धियोंकी संश्लिष्ट सृजनोन्मुख प्रक्रिया है।” सौन्दर्य-बोध, जीवन-दर्शन, नीति-बोध, आर्थिक-राजनीतिक संघटन, सृजनात्मक क्षमताको लेखिकाने संस्कृतिरूपी अवयवीके परस्पर अन्वित अवयव या घटक माना है। उपर्युक्त घटकोंका समाहार करते हुए लेखिकाने संस्कृतिकी अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है—“संस्कृति किसी मानव-समूहकी जातीय चेतनाके सौन्दर्य-बोध, जीवन-दर्शन, नीति-बोध और सामाजिक-राजनीतिक संघटनमें व्याप्त सृजनात्मक क्षमताका नाम है।” इस प्रकार सृजनात्मक क्षमता ही संस्कृतिका मूल प्रेरक तत्त्व है जो विविध देशोंके निवासियोंकी जातीय चेतना के स्थूल (सामाजिक-राजनीतिक) तथा सूक्ष्म (सौन्दर्य-बोध, जीवन-दर्शन नीति-बोध) आयामोंमें ढलकर तदनु रूप विविध रूपान्तरण ग्रहण करता है।

लेखिकाने आधुनिक युगके महाकाव्योंकी प्रेरक पृष्ठभूमिके रूपमें ‘पुनर्जागरणका सन्दर्भ तथा भारतीय संस्कृति’ शीर्षकके अन्तर्गत भारतीय संस्कृतिके नवोन्मेष और उसके प्रेरक आन्दोलनों—ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण-मिशन, गांधीवाद आदि—का गम्भीर विवेचन किया है तथा सर्वधर्म समन्वय, अछूतोद्धार, सत्याग्रह, नारी-जागरण, सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि मूल्योंपर आधारित भारतीयताके संवाहक राष्ट्रपति गांधीको राष्ट्रीय पुनर्जागरणका चरम विकास माना है।

प्रस्तुत प्रबन्ध एक दृष्टिसम्पन्न अध्ययनका स्तुत्य

उदाहरण कहा जा सकता है। शोधिकाने सामग्रीके चयन और संयोजनमें गहरी अन्तर्दृष्टिका प्रमाण प्रस्तुत किया है। विवेकसम्मत चयनकी प्रक्रियाका अनुसरण करते हुए लेखिकाने बावन महाकाव्योंके ढेरमें से केवल प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, जयभारत, एकलव्यको ही विवेच्य माना है। ‘रामकी शक्ति पूजा’, तुलसीदास, अंधायुग, उर्वशीको, इन रचनाओंमें निहित औदात्त्यके कारण विवेचित करना समीचीन समझा गया है। लेखिकामें विवेच्य कृतियोंके उदात्त अंशोंके अनुशीलनमें प्रातिभ दृष्टिसे अपेक्षित उत्कर्ष तक ऊपर उठने और अध्येय तथ्योंमें निहित आशयोंके साथ मानसिक तादात्म्य स्थापित करते चलनेकी महती क्षमता है। ऐसे स्थलोंपर लेखिकाकी भाषा सक्रिय एवं जीवन्त होकर निगूढ़ अर्थोंके निर्वचनमें अपनी ऊर्जाका सम्यक् प्रकाशन करती है। प्रियप्रवासमें निरूपित राधाकी प्राणेशमें ही परम विभुकी तथा प्राणेश-प्रेममें ही विश्व-प्रेमकी प्रतीति करानेवाली उदात्त आध्यात्मिक दृष्टि की समीक्षा करते हुए शोधिकाका निष्कर्ष है कि ‘कवि निवृत्तिमूलक आध्यात्मिकताके पक्षधर नहीं है, अपितु वे प्रवृत्तिपरक मार्गको ही मोक्षका साधन मानकर चले हैं—यही उनके आध्यात्मिक चिन्तनकी युगानुरूपता है। यह नूतन आध्यात्मिकता निषेधपरक न होकर हममें जिजीविषा एवं संघर्षप्रियताका संचार करनेवाली है।”

डॉ. प्रमिला शमनि इस तथ्यको भली प्रकार पहचाना है कि वेदान्त ही भारतका राष्ट्रीय दर्शन है जो राष्ट्रीय आन्दोलनकी अमोघप्रेरक शक्ति सिद्ध हुआ। आधुनिक महाकाव्यकारोंकी मानसिक निर्मितिमें वेदान्त दर्शनकी भूमिकाको इस अध्ययनमें सही रूपमें रेखांकित किया गया है। तुलसीदास, कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, रामकी शक्ति-पूजा आदि कृतियोंमें वेदान्त दर्शनकी वैचारिक पीठिका रचनाकारोंकी अनुभूतिमें अनुस्यूत रही है। लेखिकाका यह निष्कर्ष ध्यातव्य है कि “हिन्दी के आधुनिक महाकाव्योंके अनेकशः उद्धरणोंकी गीता के श्लोकोंके साथ मिलाकर देखनेमें अदभुत साधर्म्य प्रतीत होता है।” इसी निष्कर्षकी संगतिमें शोधिकाकी मान्यता है कि “प्रियप्रवाससे लेकर अंधायुग तकके सभी काव्य मानो तिलकके इस गीता रहस्यसे अनुप्राणित हैं।”

प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें लेखिकाकी पारदर्शी



दृष्टिका प्रमाण मिलता है। लेखिकाने जयभारत, कुरु-क्षेत्र, अंधायुगका पूर्ववर्ती अध्यायोंमें अलग-अलग अध्य-यन करनेके उपरान्त 'संवेदनात्मक विकासकी रूपरेखा' शीर्षक पांचवें अध्यायमें महाभारतके एकही कथानकपर आधारित उक्त कृतियोंके क्रमिक विवेचनके माध्यमसे भारतीय संस्कृतिके संवेदनात्मक विकासकी रूपरेखाको निरूपित किया है।

सौन्दर्य-बोध, जीवन-दृष्टि आदि संस्कृतिके जिन घटकोंके आधारपर साकेत, कामायनी आदि महाकाव्यों को विवेचित किया गया है उन्हें रामकी शक्ति पूजा, तुलसीदास, उर्वशीके अध्ययनका आधार नहीं बनाया गया, जबकि उक्त सांस्कृतिक साँचा 'रामकी शक्ति पूजा' को छोड़कर शेष सभी रचनाओंपर भली प्रकार लागू हो सकता था। इतने स्तरीय ग्रंथमें राजनीतिक अवस्थशीलता, ग्रहीत, जैवकीय, द्रोपदी जैसे प्रयोग चिन्त्य हैं।

यद्यपि शोधिकाके सभी मन्तव्योंसे सहमत होना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही, तथापि यह निरापद् रूपमें कहा जा सकता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें आधुनिक युगकी कपितय महत्त्वपूर्ण कृतियोंका गम्भीर और अनेक दृष्टियोंसे मौलिक अध्ययन हुआ है। □

### राजस्थानी लोकनाट्य : ख्याल?

लेखिका : डॉ. श्रीमती कमलेश माथुर

समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

लोकवातमें लोकनाट्य लोकानुरंजन कलाका ऐसा समृद्ध रूप है जिसमें लोक-जीवनका समसामयिक यथार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। राजस्थानमें लोकनाट्यकी सुदीर्घ परम्पराका विकास उपलब्ध होता है। इसमें भी लोकनाट्यकी 'ख्याल' परम्परा अपने आपमें एक विशिष्ट संरचना लिये हैं। ख्याल-रचनाके विविध रूप आजभी राजस्थानके विभिन्न जनपदोंमें उपलब्ध होते हैं। चूरू, चिड़वा, बीकानेरी, शेखावटी, कुचामणी, जयपुरी, नागौरी, कन्हैया, अलीबक्सी, डोडिया, जैसल-

मेरी और रम्मत ख्यालोंकी ख्याति आजभी है, और आज इनकी परम्परा लुप्त होती जा रही है। लोकनाट्य और लोकवातकी मौखिक परम्पराका स्वरूप ग्रामीण जनो एवं अधुनातन सभ्यतासे परे जीवन्त समाजकी प्रकृतिमें समाया और समोया हुआ था और मेवाड़के अन्तःक्षेत्रोंमें आदिवासी समाजमें चौधरियोंने मुद्रित विज्ञप्तियां जारी करके इन लोकनाट्यपरक प्रदर्शनकारी कलाओंको प्रतिबन्धित किया गया था। इन्हीं पंक्तियोंके लेखकके पास और डॉ. महेन्द्र भानावत (भारतीय लोक कला मंडल) के पास ऐसी विज्ञप्तियां आजभी उपलब्ध हैं। सभ्यताकी अधुनातन दौड़में भलेही समाजके पुरोधा अपनी प्राचीन कला और गवरी लोकनाट्यकी प्रदर्शन-कारी लोकानुरंजनी विधाको प्रतिबन्धित करें परन्तु अप्रत्यक्षकारी अहितवादी सोचकी असीमताका भान उन चौधरियोंको नहीं रहा है। जबकि राजस्थानमें लोक-नाट्य एवं उसके विशिष्ट रूप ख्यालकी परम्पराका साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व निर्मूल नहीं हुआ है।

श्रीमती कमलेशने बड़े श्रमपूर्वक 'राजस्थानी लोक-नाट्य : ख्याल' विषयक इस लघु आकरीय पुस्तकमें शोधेतर स्वतंत्र कृतिकी महत्ता दी जा सकती है जिसमें ख्यालोंकी वस्तु, पात्र रचना, शिल्प योजना एवं संस्कृति की विशिष्ट उपलब्धियोंका विश्लेषण किया है। लोक-नाट्य विषयक गम्भीर चिन्तन-मनन और विश्लेषणकी आवश्यकता आज इसलिए और अधिक है क्योंकि आज खुले या ढके रंगमंचपर लोकनाट्यके तत्त्वोंका समावेश करके आधुनिक नाट्यलेखक अनेक रचनाएं प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीमती कमलेश माथुरने 'ख्याल' पर अपना ध्यान केन्द्रितकर इसके अध्ययनकी दिशाओंकी ओर शोध-यियोंका ध्यान आकर्षित किया है।

यह कहना अनुचित न होगा कि लोकनाट्यके विविध अखाड़े, ख्याल रचयिता, गायक, निर्देशक उस्ताद और रंगकर्मी आज आधुनिकताकी चकाचौंधमें खोते जा रहे हैं, हम ख्यालोंपर शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। श्रीमती माथुरने दीर्घ निबन्धात्मक कृतिमें ख्यालोंकी वस्तुगत विशेषताओंका परिचय देनेसे पूर्व लोकनाट्यके छः रूपोंका परिचय दिया है—धार्मिक एवं पौराणिक, लोक देवी-देवता ऐतिहासिक घटनाचक्र एवं वीरता, साहसिक एवं डाकू-लूटेरे, प्रेम और सामाजिक। फिर इनकी विषय-वस्तुपरक विशेषताओंका उल्लेख सोदाहरण

१. प्रका. : अर्चना प्रकाशन, III/6 विश्वविद्यालय  
भावास, रेजीडेन्सी, जोधपुर। पृष्ठ : ११६; डिमा.  
५७; मूल्य : ८५.०० रु. (पेपरबैक)।



प्रस्तुत किया है। इनमें अलौकिक कृत्य, जनकल्याण, सत्य धर्म एवं वचन निर्वाह, पारिवारिक आदर्श, राजनीतिक कुचक्र, शौर्य एवं पराक्रम, राज्य व्यवस्था, मान-मर्यादा, जाति धर्म एवं राष्ट्र प्रेम, स्वाभिमान, युद्ध, प्रेमाचार, साहस एवं निर्भिकता, प्रेमोद्दीपन, प्रेमी-प्रेमिका मिलन माध्यम, शृंगार रसवर्णन, प्रेमप्राप्ति हेतु त्याग, सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएं, जन्म-जन्मान्तरवाद, सामाजिकता, असामाजिक कृत्योंका विरोध आदिका उदाहरण देकर विश्लेषण किया गया है।

श्रीमती कमलेशने ख्यालके दूसरे पक्ष 'पात्र' के अन्तर्गत देव पात्र, (पौराणिक एवं अलौकिक), दानव पात्र, ऋषि-मुनि-सिद्ध-पीर पैगम्बर, ईश्वरानुरागी, अध्यात्मिकताकी ओर प्रवृत्त, राजकुल वीर पात्र (ऐतिहासिक एवं डाकू-लुटेरे) प्रेमी आदिके इतर निम्नवर्गीय पात्रों का सविस्तार सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत कर इस निबन्धनीय कृतिकी सार्थकता बढ़ा दी है। 'ख्यालके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रोंमें अमरसिंह राठौड़, जगदेव पंवार, डूंगजी-जुहारजी, पूरणमल, विजयसिंह, ढोला आदि हैं। नारी पात्रोंमें निहाल दे, तारामती, सोरठी, पद्मिनी, चन्द्रावल, नागवंती, लूणा दे, फूलादे आदिका उल्लेख भी सोदाहरण प्रस्तुत किया है। श्रीमती माथुरने पात्रगत वैशिष्ट्यमें यह स्पष्ट किया है कि—पौराणिक देवियों, लोकदेवियों, पतिव्रताओं, प्रेमिकाओं, दुराचारिणियों आदिके रूपमें स्त्रियोंकी मनःस्थितिका मनो-वैज्ञानिक उद्घाटन (पृ. ८६-८७) मिलता है।

शिल्पगत विवेचन करते हुए डॉ. माथुरने राजस्थानी ख्यालके संगीत और नृत्यपक्षकी लोकशैलीका सविस्तार विवेचन करते हुए बताया है कि—'राजस्थान के गवरी-नाट्यमें प्रत्येक प्रसंगके बाद सभी कलाकारोंकी एक अद्वितीय गम्मत होती है। जिसे हम सम्पूर्ण नाटक की 'टेक' या 'स्थायी' समझ सकते हैं। यह गम्मतही समस्त गवरी-नाट्यका प्राण है (पृ. ८८)। यही नहीं विदुषी लेखिकाने हीर-रांझा, ढोलामारू, मूमल-महेन्द्र नौटंकी, शाहजादा केसर-गुलाब आदि प्रेमाख्यानक लोकनाट्यकी गेयतात्मकताका विशद संकेत किया है। इन सभी ख्यालोंका गेय-धुनोंकी परम्परागत परिपाटी और शैलीकी मर्यादापर विशेष बल दिया जाता है जिसमें राग-रागनियों एवं छन्द विधानका वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है। छन्दोंमें विशेष रूपसे दंगल

(तिलाणी), लावणी, कवित्त, झेला, शेर, गजल, दोहा, चौबोला आदिके ख्यालोंकी रचनाके लिए प्रयुक्त किया जाता है। डॉ. कमलेशने विविध छन्दोंके विश्लेषणके साथ यह भी स्पष्ट किया है कि 'तुरा कलंगीके ख्यालों को' 'लावणीबाजी' के ख्याल भी कहा जाता है जिनमें रसिया, झाड़शाही, छोटी कड़ी, लावणी कड़ी, रोदता, खेंच, मोड़, घूमर, सोरठ, विहाग, डेढकड़ी, कालिगड़ा, आसावरी, सोहनी, ठुमरी, गजल, कव्वाली, दादरा, शेर, सिंहाविलोचन आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। भाषाके स्तरपर हिन्दी, उर्दू, अरबी और फारसीके छन्द प्रयुक्त किये जाते हैं। (पृ. ९२)।

'ख्याल' प्रस्तुतीकरणके लिए विशिष्ट वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है जिनमें ढोलक, सारंगी, नगाड़ा, मंजीरा, तबला, शहनाई, ढपली, चिकारा, झांझ, खर-ताझ, ढप, भपंग, चंग, चिमटा, नाद, तुरई, ढोल, भेर, उरबी, कमामचा, हारमोनियम आदिकी बहुलता है।

लेखिका श्रीमती माथुरने विविध ख्यालों और स्थान-विशेषके आधारपर लोकनाट्योंकी वेशभूषाका भी सविस्तार उल्लेख किया है (पृ. ९५-९६)। भाषा वैशिष्ट्यका विश्लेषण करते हुए डॉ. माथुरने मूलतः राजस्थानी भाषाकी विविध शैलियोंके रूपमें उल्लेख किया है, परन्तु वे जहां भरतपुर, धौलपुर, क्षेत्रकी भाषा को 'मेवाती' बताती है तथा ब्रजका प्रभाव बताती है वहां तर्कहीनता दृष्टिगत होती है, क्योंकि अलवर क्षेत्र और भरतपुर अलवरके सीमान्तकी भाषा मेवाती है जिसपर ब्रजका प्रभाव देखा जा सकता है, लेकिन भरतपुर, डींग, कामा, वैर क्षेत्रोंकी भाषा मेवाती नहीं है। वैसे राजस्थानी ख्यालोंकी भाषापर उर्दू-फारसीका प्रभाव (पृ. ९७) स्पष्टतः देखा जा सकता है। जिसमें कहीं-कहीं प्रचलित अंग्रेजी शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है। कुछ ख्यालोंमें खड़ी बोलीका प्रभाव भी परिलक्षित होता है, परन्तु उसे व्याकरण सम्मत खड़ी बोलीके रूपमें ग्राह्य नहीं कहा जा सकता।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इन वर्णित लोकनाट्य-ख्यालमें प्रयुक्त उपमाएं लोक-जीवन और संस्कारोंसे गृहीत हैं जिसमें गालियोंके अतिरिक्त प्रतीक लोकविधान भी निहित रहता है। निस्संदेह डॉ. कमलेश माथुरने सभी वर्णन बड़े कोशलसे नियोजित एवं विश्लेषित किये हैं तथा इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं कि इस



दिशाभी प्रदान करते हैं ।

इन ख्यालोंमें राजस्थानी लोकसंस्कृतिके विश्लेषण के निकषपर डॉ. माथुरका यह कथन सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है कि—जनजीवन एवं उसकी चेतनाका अभिन्न अंग, यह नाटक प्रकृतिकी प्रतिच्छविके समान है । जनसाधारणकी अनुभूतियों, आकांक्षाओंके एवं प्रवृत्तियोंका सजीव चित्रण इन राजस्थानी लोकनाट्यों में दृष्टिगत होता है (पृ. १०१) । यह कहना कदाचित् अधिक न्यायसंगत होगा कि राजस्थानी ख्यालोंका उद्देश्य सामूहिक आवश्यकता एवं प्रेरणाही रहा है ।

जिसमें लोकजीवन, लोक-विश्वास तथा लोकानुरजनकी विशिष्ट पद्धतियाँ समसामयिक चिन्तनकी विकासोन्मुखी प्रक्रियाके रूपमें व्यवहृत होती हैं । डॉ. श्रीमती माथुरने बड़े श्रमसे इस निबन्धात्मक कृतिको तैयार किया है । यदि इस कृतिमें अध्यायपरकता एवं अनुक्रम-व्यवस्था अपनायी जाती तो मुद्रण तकनीककी दृष्टिसे भी यह कृति सफल कही जा सकती थी, पर यह कृति प्रत्यक्षतः एक सुदीर्घ निबन्ध रचना रूपमें ही सामने आती है ।

□

## शब्द-ब्रह्म

### भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति

लेखक : डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'

समीक्षक : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

डॉ. 'सुमन' का सरस्वती-समर्चनाका यह छब्रीसर्वा सुमन है । तिहत्तर वर्षकी आयुमें भी वे अथक सारस्वत-यज्ञका सम्पादन कर रहे हैं, यह केवल इसलिए कि वे सिद्ध-सरस्वतीक हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक शब्दानुशासनसे सम्बन्धित है । एक सजग भाषाविद् और शब्द व्यापारके कुशल व्यवहर्त्ताके रूपमें उनकी यह चिन्ता स्वाभाविकही है कि हिन्दी अपने व्यापक प्रसारके बावजूद अपनी व्याकरणिक संरचनाको बनाये रखे और उसके व्यवहारमें यदा-कदा की जानेवाली भूलोंसे उसकी रक्षा कीजा सके । साथही उसकी प्रकृतिके अनुकूल उसकी स्वच्छन्द गतिकी भी अवमानना न हो । व्याकरण और लोक-व्यवहारका दृढ़

आधार पाकर हिन्दी समृद्धतर और सुविकसित भी हो और संस्कारशालिनीभी । शुद्ध वैयाकरणी विद्वानोंके हाथों पकड़कर यह काम जितनाही रूखा, नीरस और विकर्षक हो सकता था, 'सुमन' की सहृदयताका संयोग पाकर यह उतनाही सरस और आकर्षक बन गया है कि हंसते-खेलते अत्यन्त सहज गतिसे भाषाकी उन गूढ़ताओं से आपका अन्तरंग परिचय होता जाता है और श्रमका कहीं अनुभव नहीं होता ।

यह ग्रंथ वस्तुतः व्याकरण-ग्रंथ नहीं है; भाषाका व्यवहार-ग्रंथ है, उसका संस्कार-ग्रंथ है । जनपदीय भाषा, भारतीय संस्कृति और हिन्दीकी प्रकृतिके अनुरूप उसके राष्ट्रभाषा-स्वरूपको लेकर कीगयी आश्वस्ति-कारक व्याख्यासे युक्त इस ग्रंथमें 'सुमन' जी भारतीय चिन्तनकी अन्य दिशाओंसे प्राप्त सामग्रीका भी इस प्रकार उपयोग करते चले गये हैं कि पाठकके सामने ज्ञान का बृहदाकाश खुला दीख पड़ता है, और यह सब हुआ है उनकी मृदुल, थपकी भरी, नितान्त आत्मीय शैलीमें । नीरस-से दीख पड़नेवाले विषयमें काव्यत्वकी आहट सुनायी पड़े तो इसे सुमनकी सहज सुगन्धिका प्रसाद ही मानना चाहिये ।

१. प्रका. : पासन्ती प्रकाशन, ए-८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर (उ. प्र.)-२४७००१ ।  
पृष्ठ : १२६ + २६४ = ३९०; डिमा. ८६;  
मूल्य : २००.०० रु. ।



पढ़नेके लिए पुस्तक उठाइये तो एक बार उठाकर उसे छोड़नेको जी न चाहे; भाषा-चिन्तनमें औपन्यासिक तल्लीनताका-सा अनुभव करानेवाली इस रचनाके लिए उस कृतिको ही बधाई देनी होगी जो भाषाविदोंमें अपनी अलग पहचान बनाता है। क्या अनुचित है यदि पुस्तकके सम्पादक-द्वय डॉ. कमलसिंह और डॉ. (श्रीमती) शारदा शर्माके संपादकीय शब्दोंको ही दुहराते हुए पुस्तकका परिचय दे दिया जाये ?

“.....विस्तृत भूमिकाके साथ बारह अध्यायोंमें विभक्त इस ग्रंथमें शब्द-ब्रह्म, शब्द-चिन्तन, शब्द और पद, शब्द और अर्थ तथा शब्द और उसकी संस्कृतिका विस्तारसे अर्थवैज्ञानिक, व्याकरणिक एवं साहित्य-शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विषयको स्पष्ट करनेके लिए हिन्दीकी पृष्ठभूमिमें यथास्थान संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी-फारसी, उर्दू एवं आधुनिक भारतीय भाषाओंके व्याकरण, भाषाशास्त्र एवं साहित्यशास्त्रके साम्य-वैषम्यका भरपूर उपयोग किया है। शब्दके तीन तत्त्वों (ध्वनितत्त्व, वस्तुतत्त्व और अर्थतत्त्व)में अर्थतत्त्व को प्रस्तुत ग्रंथमें बहुत गहराई और विस्तारसे मीमांसित किया गया है। शब्दोंमें साहित्यिक शब्दोंके साथ लोकशब्दभी हैं।”

यह भी यहीं कह दें कि सम्पादकोंकी इस आशंसासे हमारा कोई मतभेद नहीं है कि : “भाषा और उसकी संस्कृतिके मर्मज्ञ डॉ. अम्बाप्रसादजी ‘सुमन’ ने इस ग्रंथ के द्वारा हिन्दी शब्दशास्त्रके क्षेत्रमें एक अभावकी पूर्ति की है। राष्ट्रभाषा प्रेमियोंको निश्चयही इस ग्रन्थको पढ़कर सन्तोष एवं आनन्दकी नयी अनुभूति होगी। आनेवाली पीढ़ी प्रोत्साहित होकर अपने राष्ट्रकी धरती से जुड़ेगी। कालदेवतासे—‘कारे जहां दराज है, अभी इन्तजार कर’—कहनेवाले ‘सुमन’ जीसे हिन्दी भाषा और साहित्यको अभी बहुत-बहुत आशाएं हैं।”

अच्छी, पठनीय और गम्भीर किताबोंके साथ हमेशा एक कठिनाई होती है; उनमें विषयको इतना दाब-दाब-कर रखा जाता है कि न कहींसे कुछ छोड़ते बनता है, न उनके विवेचनका पूरा परिचयही दिया जा सकता है। अध्यायोंके शीर्षकोंके सहारे उनके अंतरंगको नहीं जाना जा सकता। नहीं जाना जा सकता तो सराहाभी नहीं जा सकता। पर समीक्षकके लिए इसके अतिरिक्त और रास्ताभी क्या है कि वह शीर्षकोंका उल्लेख करदे, नमूने के तौरपर कुछ उदाहरण दे दे। अन्ततः पुस्तकका सही

और पूरा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पाठकोंको स्वयंही आगे बढ़कर उत्तरदायित्व वहन करना पड़ेगा। डॉ. ‘सुमन’ की प्रस्तुति कृतिपर भी निःशंक भावसे यही बात लागू होती है। वह केवल भाषा-विवेचनका ग्रन्थ नहीं है, एक छोटा-मोटा ज्ञान-कोशभी है, अतः पाठक द्वारा स्वयं पठनीय है।

इस बातसे कुछ हल नहीं होगा, यदि मैं आपको बताही दूँ कि मूल पुस्तकमें जिन बारह अध्यायोंमें विवेचन किया गया है उनके विषय क्रमशः इस प्रकार हैं : (१) शब्द और उसकी संस्कृति, (२) शब्द ही ब्रह्म है, (३) शब्द, पद, कारक और विभक्तिकी संकल्पना, (४) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंमें फारसी बहुवचनीय प्रत्ययकी छाया, (५) हिन्दीके कुछ व्युत्पादक प्रत्यय, (६) कुछ भारतीय आर्यभाषाओंमें विशेषण-विशेष्य पद, (७) हिन्दीके कारक-क्रिया रूप—पं. गुरु और आचार्य वाजपेयी, (८) हिन्दी-उर्दूमें भाषा-व्याकरण संबंध, (९) शब्दोंके चिन्तक : कवि और समालोचक, (१०) हिन्दीके सन् १९८५ ई. तक के कतिपय व्याकरणोंपर एक दृष्टि, (११) मैथिली और अवधीके क्रियापदोंकी तुलना तथा (१२) बिहार और उत्तरप्रदेशकी कुछ लोकभाषाओंमें शब्द-साम्य-वैषम्य। और अन्तमें दी गयी है पारिभाषिक शब्दोंकी अनुक्रमणी। ग्रंथारम्भके पूर्व विस्तृत भूमिका अपने-आपमें एक अलग पुस्तक है, जिसमें भाषाके अन्यान्य रूपों और पहलुओंका विचार किया गया है। काश ! इसमें ‘सहज भाषा’ का विवेचन और होता, क्योंकि यह कह तो दिया जाता है कि अमुक लेखककी भाषा बड़ी सहज और स्वाभाविक है, पर सहज भाषा है क्या—इसे समझा शायद ही जाता है।

पुस्तकके गुणोंके विस्तारमें जानेकी अपेक्षा हम कुछ ऐसे स्थानोंकी ओर इंगित करना चाहेंगे जिनके विषयमें हमें या तो कुछ शंका है या जिनसे हमारी कुछ कारणोंसे असहमति है। यह सब दोष-दर्शनके लिए नहीं, बल्कि एक अधिकारी व्यक्तिसे कुछ और स्पष्टताकी आकांक्षा से।

‘सुमन’ जी ‘अंगरेजी’ ठीक समझते हैं या ‘अंग्रेजी’? दोनोंका यत्र-तत्र प्रयोग भ्रममें डालता है। पृ. भू. ५२ पर दोनों एक साथभी हैं। पृ. १२२ (भू.) और १२५ (भू.) पर ‘अंगरेजी’ भी है और कई बार है। ‘अंगरे-जियत’ तो है ही (भू. १२५)। पृ. भू. ५३ पर ‘सुमन’ जी लिखते हैं : “दो भिन्न भाषाओंमें ही नहीं, एकही भाषा



में प्रयुक्त दो पर्याय शब्द एक अर्थ नहीं रखते।" उदाहरण देते हैं—'नयन' और 'दीदा' का। पर 'नयन' संस्कृतका है और 'दीदा' फारसीका! हाँ, दोनोंका प्रयोग हिन्दीमें होता अवश्य है। तब 'सुमन' जी का अभिप्राय यही है क्या कि चाहे मूलमें शब्द किसी भाषा के हों पर यदि उनका एकही भाषामें प्रयोग होता है तो दोनोंका एकही अर्थ नहीं होता? पृ. भू. ५२ पर वे भारतको 'अहिंसा परमोधर्मः' जैसी उक्तियोंके आधार पर अहिंसावादी और पश्चिमको 'क्रिलिग टू बड्स विद वन स्टोन' के आधारपर हिंसावादी घोषित करते हैं। तब 'मत्स्य न्याय' को किस देश और संस्कृतिसे जोड़े? शीघ्रतापूर्वक तीव्र वेगसे चलनेके लिए 'झपट (कर) चल' कहेंगे और चलनेको उद्यत होनेके लिए 'झटपट चल' या इसके विपरीत? 'दौड़ चल' या 'दौड़ा चल' कहें तो? भू. ८४ पर 'नमामि' का अर्थ 'मैं नमस्कार करता हूँ' और 'नौमि' का अर्थ 'मैं स्तुति करता हूँ' लिखा है। पर 'बृहत् हिन्दी कोश' में पृ. ७४७ पर 'नौमि' का अर्थ 'प्रणाम करता हूँ' लिखा है और आप्टेके संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें पृ. २८० पर 'नमस्कृत' का अर्थ 'वर्शिष्ट' भी दिया है। तब क्या करें? पृ. भू. ६८ पर 'मामला' का अर्थ 'घटना' और 'माजरा' का 'झगड़ा' या 'कलह' बताया गया है। बृहत् हिन्दी कोशमें 'माजरा' को भी 'घटना', 'वृत्त' या 'हाल' कहा गया है। यह माजरा क्या है? पृ. भू. १०१ पर 'धूम्रपान' और 'धूमपान' की वर्तनी गड़बड़ा जानेसे कुछ स्पष्ट नहीं हो रहा है। पृ. भू. १०३ पर 'फूल चुनना' और 'फूल तोड़ना' का अन्तर पुजारीके और मालीके भावको ध्यानमें रखकर किया गया है, पर हमारा 'वाणीका डिकटेर' कबीर तोड़नेके अर्थमें चुननेका प्रयोग करता है: 'फूले-फूले चुन लिये, कालिह हमारी बार'। 'संस्कृति' राष्ट्रका सिर है और 'भाषा' राष्ट्रके चरण हैं" (भू. १२६) में लिंग और वचन-भेदके कारण रूपक बन नहीं रहा है। मूल ग्रंथके पृ. ६ पर वक्रपदिका—बकैयाँ—बैयाँके 'बैयाँ' की भाषा तो नहीं बतायी गयी, पर उदाहरणसे वह ब्रजका ही रूप सिद्ध होता है जबकि कहा गया है—“ब्रज-भाषामें यहीं 'घुटुखन' है।" अतः कुछ और स्पष्टता अपेक्षित है। पृ. ४२ पर भाषा-शब्द-निर्माणके वैचित्र्य के उदाहरणोंमें 'घड़ा', 'कोठा' तथा 'डोल' के स्त्रीलिंग या लघुता-सूचक रूप 'घड़ियाँ', 'कुठला' तथा 'डोलची'

और दे दिये गये होते तो अच्छा रहता। इसी प्रकार फल, होला और गलासे इस प्रकारके रूप नहीं ही बनते, यह भी स्पष्ट कर देना चाहिये था। ऐसेही 'छाता' से 'छतरी' नहीं 'छत्र' से ही 'छतरी' स्त्रीलिंग बना है। सांपिनभी सीधे 'सपिर्णा' से गृहीत है, 'सांप' से उसका कुछ लेना-देना नहीं। सप और सपिणीका जोड़ही सांप-सांपिन है। पृ. ५० पर "पांच प्रश्नोंमें से किन्हीं चार को हल कीजिये।" वाक्यसे 'से' हटायें या 'में'? 'सुमन' जी 'में' बनाये रखनेके पक्षमें हैं और 'से' को झटक देनेके। पर क्या 'चारों भाइयोंमें रामको पहचानिये' में 'से' जोड़ना और स्पष्टता नहीं लाता या क्या 'उस ढेरसे चार आम तो लाइये' में 'से' ठीक नहीं लगता?

पर पूरी पुस्तकमें ऐसे स्थल दो-चार निकलही आयें तो इससे उसकी गरिमाको क्या आंच आती है? हमारी दृष्टिमें डॉ. 'सुमन' की यह पुस्तकभी उनकी अन्य भाषा-पुस्तकोंके समानही प्रामाणिक है और सर्वथा उपयोगी भी। हमारी बधाई। □

नये युगकी वैवाहिक, साहचरिक और सार्वजनिक नारी-पुरुष सम्बन्धोंकी आचार संहिता रावी द्वारा प्रस्तुत और भाष्यकृत पुस्तक

नीतराग वातायन कृत

## उच्चतर काम विज्ञानके सूत्र

१० रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ३५ रु. की वी.पी. से मंगायेँ या केवल एक कार्ड लिखकर विस्तृत जानकारी प्राप्त करें।

त्रिलोचन ग्रामिण टोम प्रकाशन,  
नया नगर, पो. कैलास, आगरा-२८२००७.



# आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार

## द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा (४. १.)

—डॉ. राजमल बोरा

१००. संस्कृत भाषा भारतवर्षकी मूलभाषा है। उसका सम्बन्ध भारतवर्षकी समस्त भाषाओंके साथ है। भारतवर्षकी भाषाओंका इतिहास संस्कृतको जोड़कर ही लिखा जा सकता है। संस्कृत भाषाका भाषावैज्ञानिक अध्ययन संस्कृत बोलीको जाने बिना नहीं होसकता। ज्ञात इतिहासमें संस्कृत भाषाके रूपमें समस्त भारत-वर्षमें भौगोलिक विस्तार पाये हुए ही मिलती है। भारत भूमिका सांस्कृतिक स्वरूप जो संस्कृत भाषामें व्यक्त है, वह किसी भाषामें नहीं है।

१०१. संस्कृत भाषा भारतीय पुनरुत्थानकी भाषा भी है। इतिहासके दोहराये जानेका क्रम इस भाषामें मूर्त रूप होता प्रतीत होता है। भारतवर्षकी आधुनिक भाषाएं—आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारकी भाषाएं—संस्कृत भाषाके संस्कारोंसे युक्त हैं। भाषा-रहस्य और भाषा गरिमाका अनुभव संस्कृत भाषाकी निजी विशेषता है क्योंकि व्याकरण शास्त्रमें संस्कृत भाषा जितनी परिपूर्ण है, उतनी विश्वकी और कोई भाषा नहीं है।

१०२. संस्कृत भाषाके बोली रूपकी—भौगोलिक क्षेत्रकी कहिये—पहचान आजभी खोजका विषय है। तदर्थ वैदिक संस्कृतके स्वरूपसे और पीछे जाना होगा। हम जो इतिहास जानते हैं वह लौकिक संस्कृतका इतिहास है।

१०३. ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान—की संगति जो संस्कृत भाषामें विद्यमान है, वह अन्य भाषाओंके लिए मानक और प्रमाण-स्वरूप है। कारण यह कि अन्य भाषाओंमें जहां इस संगतिको बैठानेमें कठिनाई होती है वहींपर तुरन्त संस्कृतका आश्रय लिया जाता है।

१०४. संस्कृत भाषाके स्वरूप और उसकी प्राचीन महत्ताको देखकर विदेशी विद्वान् भी चकित हैं। ज्यूल ब्लाख लिखते हैं—

“यह कोई नहीं जानता कि भारतीय आर्यभाषा

के विभिन्न रूप विविध सामाजिक वर्गोंमें अथवा अनेक क्षेत्रमें कितनी गहराईतक प्रवेश कर चुके हैं, राजनीतिक इतिहास भाषाओंके केन्द्रों और विकास-शक्तिपर कोई प्रकाश नहीं डालता; किन्तु भारतीय सभ्यताकी एकता बहुत प्राचीन है; ग्रीक यात्रियोंने गंगाकी घाटीमें दक्षिण के राज्योंका अस्तित्व पायाथा, और तमिलकी अत्यधिक प्राचीन कविताओंमें संस्कृतका प्रभाव मिलता है। ..... जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अद्भुत संस्कृतकी उत्तराधिकारिणी, एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है। ..... कुछ स्फुट अवशेष इस बातके प्रमाण हैं कि भारत वर्षमें जिसे हम वास्तवमें संस्कृत कहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएं भी थीं। वास्तवमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि एक व्यापक क्षेत्रमें प्रचलित प्राचीन ‘भाषा’ के विविध रूप न रहे हों; और फिर स्वयं-भारतीय आर्य-भाषाओंकी सीमाओं और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थानको कुछ और निर्धारित करनेपर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होगा।”

१०५. ज्ञात इतिहासमें संस्कृत भाषा प्रतिष्ठित भाषाके रूपमें अखिल भारतवर्षमें मिलती है। भारतीय सभ्यता एवं भारतीय संस्कृति दोनों ही संस्कृतमें आरम्भसे ही मूर्त होते रहे हैं। भाषाके रूपमें संस्कृतका भौगोलिक विस्तार सचमुच आश्चर्यजनक है—ऐसा विस्तार कि उसके बोली रूपका निर्धारण करना कठिन हो और वह सर्वत्र अपने मानक रूपमें प्रतिष्ठित प्रतीत हो। संस्कृत भाषा इस देशकी अभिजात (ब्लै-

१. भारतीय आर्यभाषा—मूल लेखक : ज्यूल ब्लाख, अनुवादक : डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्ण्य; हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश शासन, लखनऊ। द्वितीय संस्करण १९७२, पृ. १४.

२. वही पृ. ५.



सीकल) भाषा होगयी। और क्लैसीकल भाषा—वैज्ञानिक अध्ययनके लिए विशेष उपयोगी नहीं होती। ज्यूल ब्लॉखने इसीलिए लिखा है—

“भाषाविज्ञानी यदि क्लैसीकल संस्कृतमें शैलीके इतिहासके अतिरिक्त कुछ और खोजता है तो उसके हाथ लगभग कुछ नहीं लगता।”<sup>२</sup>

१०६. संस्कृत भाषाके भौगोलिक विस्तारके स्वरूप पर हम विचार कर सकते हैं। भौगोलिक विस्तार भाषाका होता है, बोलीका नहीं। बोली रूपमें किसी भाषाको सीखना और भाषाके रूपमें किसी भाषाको सीखना—दोनोंमें काफी अन्तर है। ज्ञात इतिहासमें [भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीरके समयसे] संस्कृत बोली रूपमें भारतमें कहीं बोली जाती हो या उसके बोली रूपका कोई भौगोलिक केन्द्र रहा हो, यह हम नहीं जानते। विद्वान् लोग अटकलें लगाते हैं और वे अटकलें वैदिक कालके सम्बन्धमें अधिक हैं।

१०७. ज्ञात इतिहासमें संस्कृत जनभाषा—बोलचाल की सामान्य भाषा नहीं थी। दूसरे शब्दोंमें संस्कृत सामान्य व्यवहारकी भाषा नहीं थी। उसका बोली रूप कहींपर भी प्रचलित नहीं था। सारे देशमें एक साथ अनेक भाषाएं प्रचलित थीं। प्राकृत भाषाओंके विविध भौगोलिक रूप व्यवहारमें रहे हैं। दक्षिण भारतमें द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके विविध भौगोलिक रूप थे। यद्यपि इन सबके प्रमाणमें हमारे पास विपुल उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं, तथापि विविध भाषाओं और उनसे सम्बन्धित बोलियोंके प्रचलित रहनेके प्रमाण मिलते हैं। अखिल भारतवर्षमें जितनी भी बोलियाँ ओर तदनुसार भाषाएं प्रचलित रही हैं, उन सबके साथ संस्कृत भाषा सम्बद्ध हुई है।

१०८. भारतीय भाषा परिवारोंकी विशेषताएं बतलाते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं :

“भारतीय भाषा-परिवार, संसारके किसी भी देश, राज्य या राष्ट्रकी भाषाओंकी अपेक्षा, अधिक दीर्घकालसे साथ-साथ रहते आये हैं। अनेक भाषा विज्ञानी भारतकी भाषागत इकाई [लिग्विस्टिक एरिया] मानते हैं। भाषा गत इकाईका अर्थ यह है कि एकही भूखण्डमें बहुत दिनोंतक साथ रहनेके कारण भिन्न भाषापरिवारोंने ऐसी सामान्य विशेषताएं विकसित की हैं जो भारतके बाहर इन परिवारोंसे सम्बद्ध अन्य भाषाओंमें नहीं मिलती। यथा भारतका आर्यभाषा परिवार इंडो-यूरोपियन

परिवारकी शाखा माना जाता है। उसमें और द्रविड़ भाषा परिवारमें ऐसी सामान्य विशेषताएं उत्पन्न हुई हैं जो यूरोपकी ‘आर्य’ भाषाओंमें नहीं मिलतीं। यही नहीं, यह भाषागत इकाई ऐसी स्पष्ट पहचानी जाती है कि भारतके बाहर तथा दक्षिण-पूर्वी एशियामें, जहां वे सामान्य विशेषताएं लक्षित होती हैं, वहां उन प्रदेशोंके भी कुछ भाषाविज्ञानी वृहत्तर भारतके अन्तर्गत शामिल करते हैं। इससे कम-से-कम इतना तो सिद्ध होता है कि भारतीय भाषा-परिवारोंमें परस्पर आदान-प्रदान शताब्दियों तक होता रहा है, और इन शताब्दियों में परस्पर संपृक्त परिवारोंमें से कोई भाषा परिवार नष्ट नहीं होगया।”<sup>३</sup>

१०९. डॉ. रामविलास शर्मा ‘भाषागत इकाई’ की बात करते हैं। उक्त इकाईको स्पष्ट करते हुए मैं यह कहना चाहूंगा कि यह भाषागत इकाई संस्कृत भाषाके कारण है। संस्कृत भाषाने ही भारत-वर्षकी सभी भाषाओंको भाषागत इकाईके रूपमें आवद्ध कर रखा है।

११०. संस्कृतसे मुक्त-भारतवर्षकी भाषाएं किसी कालमें रही हैं तो वे प्राकृत भाषाओंके कालमें ही कहना चाहिये। इस रूपमें संस्कृत तथा प्राकृत—दोनों भाषाओंके आपसी सम्बन्धोंपर पुनर्विचारकी आवश्यकता है। ठीक इसी प्रकार द्रविड़ परिवारकी भाषाओं पर विचार करते समय उसके संस्कृतके साथ सम्बन्ध को अलग कर उनपर विचार किया जाता है। भारतीय भाषाओंका जो इतिहास हम जानते हैं, उसमें संस्कृत भाषा सर्वप्रथम भाषाके रूपमें अखिल भारतवर्षमें मिलती है। अन्य भाषाओंका इतिहास संस्कृतसे सम्बद्ध करके ही लिखा गया है। हम चाहते हैं कि भारतवर्ष की अन्य भाषाओंका इतिहास लिखते समय—सम्बन्धित भाषाओंके संस्कृतसे मुक्त रूपकी अलग पहचान करें और फिर उनके संस्कृतके साथ सम्बन्धको बतलायें। इस रूपमें हमारे सामने जो भाषा सर्वप्रथम आती है—वह प्राकृत है।

१११. संस्कृत तथा प्राकृतका सम्बन्ध बतलानेके लिए दोनोंके बोली रूपोंको तथा उनके प्राथमिक भौगोलिक केन्द्रोंको पहचानना होगा। तदर्थ एक ओर पुरा-  
३. भारतीय साहित्यके इतिहासकी समस्याएं—डॉ. रामविलास शर्मा; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली। पृ. ६१ तथा ६२।



तत्त्वोंके प्रमाण जुटाने होंगे और दूसरी ओर पुरातन वाङ्मयकी ऐतिहासिक सीमांसा करनी होगी। इस विस्तारमें न जाते हुएभी ज्ञात इतिहासमें उपलब्ध तथ्योंको ठीकसे क्रममें रख सकें तो हमें इस प्रकारके अनुमानमें सहायता मिल सकती है।

११२. 'संस्कृत' तथा 'प्राकृत' भाषाओंके नाम भौगोलिक नहीं है। प्रायः भाषाओंके नाम भौगोलिक होते हैं। यह कहना कठिन है कि संस्कृतकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्राकृत का नामकरण हुआ या प्राकृतके कारण संस्कृतका नामकरण हुआ। इतनी बात सच है कि दोनोंही नाम संस्कृत भाषाकी प्रकृतिके अनुरूप हैं और एक दूसरेके आपसी सम्बन्धोंको व्यक्त करते हैं।

११३. संस्कृत भाषाके उपरान्त यदि कोई भाषा अखिल भारतवर्षमें भौगोलिक विस्तार पा सकी है तो वह एकमात्र प्राकृत है। जैन-धर्म और बौद्ध-धर्मके विस्तारके कारण प्राकृत भाषाएँ सुदूर दक्षिणमें पहुंच गयी थीं। श्रीलंका में भी उसका विस्तार हो गया था। संस्कृतकी तरह प्राकृत भाषाओंका विस्तार भी द्रविड़ परिवारके भौगोलिक क्षेत्रमें हुआ है। ईसा पूर्वकी शताब्दियोंकी यह स्थिति है। विशेष रूपसे मौर्यकालकी यह बात है।

११४. संस्कृत भाषाके भौगोलिक प्रसारके साथ भारत देशके नाम सम्बद्ध रहे हैं। ये सारे वैकल्पिक नाम इसी बातको व्यक्त करते हैं। सप्तसिन्धु, ब्रह्मवि देश, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त, जम्बूद्वीप अथवा भारतवर्ष—सभी नाम संस्कृत भाषाके भौगोलिक प्रसारको व्यक्त करते हैं और जनताको एक सूत्रमें बांधते हैं। प्राकृत भाषाके भौगोलिक प्रसारसे पूर्व ही संस्कृत सुदूर दक्षिण भारततक पहुंच गयी थी। इस देशकी आत्माको सर्वप्रथम व्यक्त करनेवाली भाषा संस्कृतही है और इस भाषाने देशकी भौगोलिक एकता को उस समय व्यक्त किया है, जिसका प्राक् इतिहास हमें अभी जानना है क्योंकि ज्ञात इतिहासमें संस्कृत भाषा सर्वत्र व्याप्त रूपमें आरम्भसे मिलती है।

११५. वैदिक संस्कृतसे लौकिक संस्कृत तक पहुंचने का ठीक-ठीक ऐतिहासिक विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद सबसे प्राचीनतम ग्रंथ हमें उपलब्ध है। अन्य तीनों वेद बादके हैं। अनन्तर ब्राह्मण-ग्रंथ हैं और उसके पश्चात् उपनिषद् आदि हैं। रामायण-महाभारत और भी बादके हैं। ऋग्वेदका सम्बन्ध सप्तसिन्धुसे है।

राधाकुमुद मुखर्जीने संस्कृतके भौगोलिक विस्तारके सम्बन्धमें लिखा है :—

“ऋग्वेदके युगमें सभ्यताका केन्द्र पश्चिमसे जहाँ पंजाबमें पंचजन लोगोंका निवास था, पूर्वकी ओर, जहाँ सरस्वती और दृषवतीके बीचमें भारतजनकी स्थिति थी, विस्तारोन्मुख रहा था। किन्तु इस उत्तर-युगमें सभ्यताके पूर्वकी ओर प्रसारकी यह प्रक्रिया निश्चित रूपसे पूरी हो चुकती है। उसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था जिसके दक्षिणमें खाण्डव, उत्तरमें तूहर्न और पश्चिममें परीणह था। इस केन्द्रके चारों ओर, जो पीछे मध्यप्रदेश कहलाया और जिसमें कुरु-पांचाल सम्मिलित थे, शवस् और उशीवर एवं उत्तर कुरु और उत्तर मद्र और सात्वत् दक्षिणकी ओर बसे हुए थे, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणके एक प्रसिद्ध भौगोलिक अवतरणसे ज्ञात होता है। पश्चिमके देश पीछे पड़ते गये और कुरु-पांचालकी अपेक्षा पूर्वके जनपदों, जैसे कोसल (अवध), विदेह (उत्तरी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार) और अंग (पूर्वी बिहार) का महत्त्व बढ़ता गया। दक्षिणकी ओर विन्ध्य प्रदेशमें, जिसका नाम किसीभी वैदिक ग्रंथमें नहीं मिलता, कुछ ऐसी जातियाँ बसी थीं जो पूरी तरहसे ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्थाका अंग नहीं बनी थी, जैसे अंध्र, पुलिन्द (अशोकके अभिलेखोंमें उल्लिखित), मूतिव, पुण्ड्र और शबर (जो अब मद्रास और उड़ीसा की सीमा में रहते हैं और मुण्डा भाषा बोलते हैं); एवं निषध तथा विदर्भका प्रदेश जो ऐतरेय ब्राह्मण (७।३४।६) और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२/४/४०) में उल्लिखित है। प्रकट है कि उस समय तक आर्य सभ्यता विन्ध्यके उस पार नहीं फैली थी।”

पाणिनिके समयतक इस क्षेत्रमें और विस्तार हुआ। गोदावरीके तटपर स्थित प्रतिष्ठान नगरीका उल्लेख पाणिनिमें मिल जाता है। पूर्वी छोरपर उड़ीसा तक का प्रदेश और पश्चिममें महाराष्ट्रके भीतरी भाग तक संस्कृत भाषा फैल गयी थी। इससे दक्षिणमें भी संस्कृत पहुंच गयी तो पाणिनिके व्याकरणमें उसका उल्लेख नहीं मिलता। रामायण एवं महाभारत निश्चित ही बादकी रचनाएं हैं। रामायणकी अपेक्षा

४. हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुखर्जी, अनुवादक : वासुदेवशरण अग्रवाल। राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली। छठा संस्करण, १९८३, पृ. १०८ और १०९।



दक्षिण भारतका उल्लेख महाभारतमें अधिक है। इस नाते महाभारतको रामायणके बादकी रचना कहा जा सकता है। महाभारतके कालतक संस्कृत भाषा सारे भारतवर्षमें भौगोलिक विस्तार पा चुकी थी और निश्चितही यह काल गौतम बुद्ध तथा महावीरके पहले मानना चाहिये। नन्द और मौर्योंके पहले संस्कृत भाषा सुदूर दक्षिणमें फैल गयी थी।

११६. संस्कृत भाषा पश्चिमसे पूर्वकी ओर तथा बादमें दक्षिणकी ओर फैली है। इस तुलनामें प्राकृत भाषा पूर्वसे पश्चिमकी ओर तथा बादमें दक्षिणकी ओर फैली है। संस्कृतका बोली रूप हम नहीं जानते। उसकी पहचान वैदिक संस्कृतके रूपमें ही की जा सकती है। संस्कृतका—वैदिक संस्कृतका—बोली रूप पश्चिममें ही रहा है। पं. काशीराम शर्माका कहना है कि इरावती [इसका नाम शरावती भी बतलाया गया है इसीको आज रावी नदी कहा जाता है] के उत्तर-पश्चिमका भाग उदीच्य और दक्षिण पूर्वका भाग प्राच्य कहा जाता है। आरम्भमें प्राच्य पंजाब और हरियाणाको कहा जाता रहा। बादमें प्राच्यका विस्तार गंगा-जमुनाकी घाटीतक होगया। वैदिक संस्कृतके भौगोलिक पड़ोसमें पैशाची प्राकृत भाषा रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्राकृतके जितने भी रूप मिलते हैं, उन सबमें पैशाची प्राकृतही ऐसी भाषा है जो संस्कृतसे अधिक मेल खाती है। प्राकृत भाषाका व्याकरण लिखनेवाला पिशेल यही कहता है। १६ इसीलिए यह मान लिया जा सकता है कि वैदिक संस्कृत और पैशाची प्राकृत भौगोलिक रूपमें एक दूसरेके अति समीप रहो हैं। आरम्भमें भेद न रहा हो किन्तु कालान्तरमें भेद हो गया है।

११७. संस्कृतका मूल भौगोलिक क्षेत्र अफगानिस्तान, बलूचिस्तानसे लेकर पंजाब और हरियाणा तथा कश्मीरका क्षेत्र रहा है। उदीच्यमें कश्मीरका क्षेत्र प्रधान है। भाषाका मूल उत्तर और क्षेत्र पश्चिम का भाग [उत्तर-पश्चिम कहना चाहिये] ही है। बोली का मूल रूप यदि जीवित रह सकता है तो केवल अपने भौगोलिक क्षेत्रमें ही। और हम देखते हैं कि अपने मूल क्षेत्रमें बहुत परिवर्तन हो गया है। अफगानिस्तान-बलू-

५. द्रविड़ परिवारकी भाषा : हिन्दी — काशीराम शर्मा, पृ. १३.

६. प्राकृत भाषाओंका व्याकरण—आर. पिशेल; अनुवादक : डॉ. हेमचंद्र जोशी, पृ. ५५.

चिस्तान तथा कश्मीर एवं पंजाबकी भाषाओंमें ऐतिहासिक कालमें बहुत परिवर्तन हो गया है। कश्मीरकी भाषा कश्मीरीको तो ग्रियर्सनने दरद परिवारमें रखा है—उसे संस्कृत परिवारके—आर्य परिवार—से जोड़ा नहीं है। बलूचिस्तानकी ब्राहुईसे द्रविड़ परिवारके लक्षण बतलाये गये हैं और वैदिक संस्कृत स्वयं आर्य परिवारकी हैं। कहना यह है कि संस्कृतके मूल भौगोलिक क्षेत्रमें एक साथ तीन परिवारोंकी भाषाएं मिलती हैं। ईरानकी अवेस्ता भाषा वैदिक संस्कृतके निकट है। उस समय ये दोनोंही भाषाएं—एक दूसरे के पड़ोसमें रही हैं। इसीलिए ऐसा है।

११८. पंजाबकी नदियोंके नामतक बदल गये हैं। वैदिक कालके नाम नहीं रह गये हैं। वितस्ताका नाम झेलम; असिक्नीका नाम चिनाव; परुष्णीका नाम शरावती फिर इरावती और अब रावी; शुतुद्रीका नाम सतलज और विपाशा का नाम व्यास—के रूपमें बदल गये हैं। यह परिवर्तन साधारण परिवर्तन नहीं है। भारत के किसी भी भागमें नदियोंके नामोंमें ऐसा परिवर्तन नहीं हुआ है। चर्मण्वतीका चम्बल, यमुनाका जमुना, नर्मदाका रेवा या ताप्तीका तापी—ये परिवर्तन स्थानीय बोलियोंकी उच्चारण सुविधाके कारण हैं और फिर उनके नाम सुरक्षित भी हैं। सरस्वती और दृषद्वती नदियोंका तो अब अस्तित्व नहीं है। सिन्धु घाटीकी सभ्यताका क्षेत्र स्वयं इसके निकट ही है। आर्य परिवारकी भाषाएं और द्रविड़ परिवारकी भाषाएं—इन दोनों परिवारोंके आपसी सम्बन्धको लेकर 'सिन्धु घाटीकी सभ्यता' के रूपमें विद्वान लोग अभी अनुमान ही कर रहे हैं। भाषाओंके सम्बन्धमें स्थिति स्पष्ट नहीं है।

११९. वैदिक कालमें क्या राजस्थानमें मरुस्थल था ? खोजका विषय है।

१२०. श्री भगवानसिंहने 'हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य' (दो भाग) पुस्तकमें भाषाओंपर भी विचार किया है। श्री भगवानसिंह हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यतामें अलगाव नहीं मानते। हड़प्पा सभ्यता द्रविड़ सभ्यता है और वह वैदिक सभ्यतासे एकदम भिन्न है, इस प्रश्नपर उन्होंने पुनर्विचार किया है। उनके कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

“ये दोनों सभ्यताएं अलग नहीं हैं, बल्कि सभ्यता एकही है और इसके भौतिक अवशेषोंको सामने रखने



पर हम इसे हड़प्पा सभ्यताका नाम देते हैं और साहित्यिक साक्ष्योंको सामने रखनेपर वैदिक सभ्यता कहकर पुकारते हैं। हड़प्पा सभ्यताको अलग मानकर चलते हैं तो यह स्वीकार करते हैं कि इसका भी एक विशाल साहित्य रहा होगा, पर साहित्य अवशेषोंमें ही नहीं, भारतीय पौराणिक परम्पराओंमें भी गायब दिखायी देता है और वैदिक आर्योंके साहित्य और भाषाको पकड़ कर चलते हैं तो हड़प्पाके पुरातात्विक साक्ष्योंका निषेध करते ही इसका कोई निश्चयात्मक अवशेष ही नहीं मिलता।”<sup>७</sup>

श्री भगवानसिंह हड़प्पाकी सभ्यताको तमिल भाषासे जोड़ना उचित नहीं मानते। वे लिखते हैं :

“हड़प्पाकी भाषा वैदिक और इसकी बोलियोंको छोड़कर अन्य कोई हो ही नहीं सकती।”<sup>८</sup>

१२१. हड़प्पा सभ्यताके विनाशका कारण प्राकृतिक आपदाएं हैं। आर्योंका आक्रमण हुआ और उन्होंने इस सभ्यताका विनाश किया, यह बात ठीक नहीं है। श्री भगवानसिंहने इस सम्बन्धमें बहुत विस्तारसे लिखा है। विद्वानोंने इस विषयपर जो कुछ लिखा है उसपर आश्चर्य व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं :

“विडम्बना यह है कि तथाकथित आर्य प्रसार क्षेत्रके चारों ओर जिनभी ‘अनार्य’ माने जानेवाले जनोको हम पाते हैं वे सभी उत्पादनकी दृष्टिसे बहुत पिछड़े दिखायी देते हैं और इनमें से किसीसे यह पता नहीं चलता कि ये हड़प्पा सभ्यताके किसानों आदि के वंशधर हो सकते हैं। इसका अपवाद द्रविड़ भाषा-भाषीभी नहीं है और ब्राहुई जन, जिनकी भाषाको लेकर विभिन्न प्रकारकी अटकलें लगायी जाती रही हैं, हड़प्पा सभ्यताके ठीक सीमान्तपर बसे होनेपर भी आजतक अर्धयायावर ही रहे हैं। इसके विपरीत जिन आर्योंको यायावर और कृषिसे नाममात्रको परिचित माना जाता है उनको वैदिक कालसे लेकर आजतक भूधन और पशुधनसे घनिष्ट रूपसे जुड़ा पाया जाता है। यह कमाल कैसे होगया कि जो लोग अर्ध बर्बर और स्थायी वस्तीके प्रति उदासीन थे उन्होंने झटपट स्थायी जीवन और खेती-बाड़ीको अपना लिया और जो स्थायी वस्तियां बनाकर बसे हुए थे उन्होंने

७. हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य—भगवान-सिंह, (भाग १), पृ. ५४.

८. वही पृ. ६०.

यायावरी अपना ली और आदिम आहार-संग्रह और आखेटकी ओर लौट गये ? यह एक अद्भुत विनिमय है जिसकी न तो कल्पना कीजा सकती है, न ही जिसकी कोई अन्य मिसाल विश्वके इतिहासमें पायी जा सकती है।”<sup>९</sup>

१२२. श्री भगवानसिंहने आर्योंके बाहरी आक्रमण का तीव्र विरोध किया है। मूल जनको द्रविड़ भाषी [द्रविड़ सभ्यता मानना और बाहरसे आने वालोंको आर्य मानना ठीक नहीं है। और इस दृष्टिसे विचार करने लगे तो प्राकृत बोलनेवाले सभी द्रविड़ होंगे। किन्तु हम देखते हैं कि प्राकृत भाषा बोलनेवालों को द्रविड़ नहीं कहा गया। ऐसा क्यों ? सिंधु घाटी की सभ्यताकी भाषाको वैदिक संस्कृत या प्राकृतका कोई स्थानीय रूप माना जाये तो भाषा-भूगोलके अनुसार ठीक बात हो सकती है। इसके विपरीत द्रविड़ भाषा कहना ठीक नहीं है। न तो उस समय संस्कृत नामकरण था न प्राकृत और न ही द्रविड़। सभी नामकरण वादके हैं और इनमें प्राकृतोंको आर्य परिवारके अन्तर्गत रख दिया गया है और द्रविड़ परिवारको भिन्न माना गया है। भाषा-भूगोलके आधारपर ही इस समस्याका निदान खोजा जाना चाहिये।

१२३. भारतवर्षके समस्त भू-भागमें जिस संस्कृत का विस्तार हुआ है, वह लौकिक संस्कृत है, वैदिक संस्कृत नहीं। वैदिक संस्कृतकी भौगोलिक सीमाएं बनी हुई हैं और वे सीमाएं सप्तसिंधु हैं। गंगा-जमुनाकी घाटी [उत्तरप्रदेश तथा बिहार] और दक्षिण भारत—आदि सब स्थानोंपर लौकिक संस्कृत पहुंची है।

१२४. डॉ. कुंवरलाल व्यास शिष्यने एक पुस्तक लिखी है। नाम है—‘भारतीय इतिहास : पुनर्लेखन क्यों ? तथा पुराणोंमें इतिहास विवेक’। इस पुस्तकमें संस्कृत वाङ्मयको आधार मानकर इतिहासके तथ्यों की मीमांसा की गयी है। पाश्चात्य विद्वानोंने जो कुछ संस्कृत साहित्यके सम्बन्धमें ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखा है, उसका उन्होंने खण्डन किया है। विशेष रूपसे उनका लेखन प्रागैतिहासिक तथ्योंपर पुनर्विचार करता है। आर्योंके बाहरी आक्रमणको वे नहीं मानते और इसके विपरीत यहांसे [भारतसे] आर्य लोगोंका विस्तार अन्य देशोंमें हुआ है, इस बातको प्रमाणित करनेके लिए संस्कृत वाङ्मयसे उन्होंने अनेक उदाहरणभी प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक रोचक है और तथ्योंको वैज्ञानिक ढंग

९. वही पृ. ६३.



से प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। १०

१२५. डॉ. कुंवरलाल व्यासके कथनोंसे सभी सहमत होंगे, ऐसी बात नहीं किन्तु संस्कृत भाषाके बाहरी [यूरोप तथा पूर्वीय देश] प्रसारके संबंधमें उन्होंने रोचक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। आर्योंके बाहरी आक्रमणको वे 'उल्टी गंगा बहाना' कहते हैं। विस्तार भयसे तथ्य नहीं लिख रहा हूँ। ११ इन तथ्योंको देखकर प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषाके जो लक्षण ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता—आदि भाषाओंमें भाषाविद् बतलाते हैं, उसका कारण यहांसे संस्कृत भाषा बाहर पहुंची है, ऐसा कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि वह प्रभाव ही है। मूल संस्कृतका रूप भारतवर्षके बाहर दिखायी नहीं देता।

१२६. भारतीय वनोंका, पर्वतोंका, नदियोंका, भूमिका, ऋतुओंका और सभी प्रकारकी प्राकृतिक वस्तुओंका वर्णन संस्कृत भाषामें जिस प्रकारसे व्यक्त हुआ है, वह भारतवर्षकी किसी और भाषामें नहीं हुआ है। संस्कृत भाषा सारे भारतमें किस प्रकार फैल गयी, यह आजभी आश्चर्यका विषय है। संस्कृत भाषा अपने मूल रूपमें वैदिक संस्कृत थी और उसका विस्तार जब पूरव और दक्षिणकी ओर हो रहा था, उस समय देशमें अन्य भाषाएं बोली जाती थीं। वैदिक संस्कृतके ठीक पड़ोसमें पैशाची थी और क्रमशः अन्य भागोंमें प्राकृतोंके ही अन्य रूप थे। प्राकृतोंके कारण संस्कृत भाषा—लौकिक संस्कृत कहना चाहिये—समृद्ध हुई है। संस्कृत भाषाकी मूल पूंजी प्राकृत भाषाएं हैं। इस रूपमें विचार करनेकी आवश्यकता है।

१२७. वैदिक संस्कृतके भौगोलिक क्षेत्रसे बाहर जहांभी संस्कृत भाषा पहुंची है, वहांके शब्दसमूहको संस्कृतने आत्मसात् किया है, उस शब्द समूहका संस्कृतीकरण किया है। दूसरे शब्दोंमें प्राकृतोंका शब्दसमूह संस्कृतके शब्द समूहमें परिणत हुआ है। इसे संस्कृतीकरण कह सकते हैं। संस्कृतीकरणका तात्पर्य शब्दोंको संस्कृत भाषाकी प्रकृतिके अनुसार ध्वनि-परिवर्तनका रूप देना है। संस्कृत भाषासे प्राकृत भाषाका उद्भव हुआ है, यह कहना भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संगत नहीं

है। वैदिककालमें प्राकृतोंके विविध रूप इस देशमें प्रचलित थे। वैदिक भाषा—लौकिक भाषामें परिणत होते समय उसका संस्कार हुआ है। इसे चाहें तो प्राकृत रूपों का संस्कृत रूपोंमें संस्कार कह सकते हैं। संक्षेपमें प्राकृतोंके बलपर ही संस्कृत भाषा बलवान हुई है।

१२८. संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषा—दोनोंमें ध्वनि-परिवर्तनके रूप इतने अधिक परिमाणमें मिलते हैं कि दोनों एक-दूसरेकी छाया प्रतीत होते हैं। इसीलिए प्राकृतको यदि संस्कृत भाषासे उद्भूत माना गया तो आश्चर्य करनेकी बात नहीं है। किन्तु सच्चाई यह है कि प्राच्य देशमें—पूर्वमें—बिहारमें—प्राकृत भाषा बोलचालकी—बोली रूपमें प्रचलित—भाषा थी। संस्कृत से उद्भूत होनेवाली भाषा बोली रूपमें जीवित भाषा नहीं हो सकती।

१२९. प्राकृत भाषाको साहित्यिक रूप प्राप्त होने से पूर्व या धार्मिक भाषाके रूपमें [बौद्धधर्म तथा जैन धर्म] प्रतिष्ठित होनेसे पूर्व संस्कृत भाषा सारे भारतमें फैल गयी थी। रामायण तथा महाभारत—महाकाव्यों के काल तक संस्कृत भाषा—लौकिक संस्कृत ही कहना चाहिये—सारे भारतमें व्याप्त हो गयी थी और इसे हम निश्चितही गौतम बुद्ध और महावीरके कालसे पहलेका काल ही कह सकते हैं। वैदिक संस्कृतके लौकिक संस्कृतमें परिणत होनेका ठीक-ठीक विवरण हमें प्राप्त नहीं है किन्तु इतनी बात निश्चित है कि इस प्रकारसे परिणत होनेमें प्राकृत भाषाओंके रूप संस्कृतमें अपनाये गये हैं। यह प्रक्रिया पाणिनिके समय तक पूरी हो चुकी थी। वैदिक संस्कृत की भौगोलिक सीमाओंमें और पाणिनिके व्याकरण (अष्टाध्यायी) की भौगोलिक सीमाओंमें अन्तर है। इस समय संस्कृतका भौगोलिक क्षेत्र जितना मान लिया गया था, वह आजभी आर्यभाषाओंका भौगोलिक क्षेत्र माना जाता है। दक्षिण भारत तदनुसार द्रविड़ भाषाओंका भौगोलिक क्षेत्र पाणिनिके भौगोलिक क्षेत्र से बाहर है। और चूंकि, रामायण तथा महाभारत दोनोंमें दक्षिण भारतके भौगोलिक क्षेत्रका विवेचन है अतः यह मानना उचित होगा कि ये दोनों काव्य पाणिनिके बादके हों। फिरभी हमें मान लेना चाहिये कि गौतम बुद्ध और भगवान महावीरसे पहले ही महाकाव्योंकी रचनाएं हो गयी हैं और इन रचनाओं की व्याप्ति सुदूर दक्षिणमें (आजके तमिलनाडु तकमें)

१०. भारतीय इतिहास : पुनर्लेखन क्यों ? तथा पुराणों में इतिहास विवेक—डॉ. कुंवरलाल व्यास शिष्य। इतिहास विद्या प्रकाशन, धर्म कालोनी, नांगलोई, दिल्ली-११००४१। प्रथम संस्करण १९८४।

११. वही, पृ. ४१ से ४५।



हो गयी थी ।

१३०. संस्कृत भाषाका इतिहास पौराणिक है । इतिहासके मूल तथ्योंके रूपमें संस्कृत भाषाके तथ्योंका उपयोग प्रायः नहीं किया गया । अन्य प्रमाणोंके मिल जानेपर संस्कृतके पौराणिक वृत्तको प्रामाणिक माना गया है । इस तुलनामें प्राकृत भाषाओंमें लिखे गये तथ्यों को अधिक प्रामाणिक माना गया है । हमारा ज्ञात इतिहास प्राकृत भाषासे आरम्भ होता है ।

१३१. भारत देशका ज्ञात इतिहास पश्चिमसे नहीं पूर्वसे आरम्भ होता है । नंद राजाओंसे इतिहासका आरम्भ होता है । नंद राजाओंके बाद मौर्योंका काल आता है । पाटलिपुत्रसे सारे भारतका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । प्राकृत भाषा इस समय महत्त्वपूर्ण भाषा हो जाती है । उसको धार्मिक भाषाके रूपमें अपना लिया गया और शासकीय भाषाके रूपमें भी स्वीकृति मिली और इस नाते उक्त भाषाका प्रचार-प्रसार पश्चिम तथा दक्षिणमें भी हुआ ।

१३२. ज्ञात इतिहास प्राकृत भाषाके कालसे आरम्भ होता है । उस समय संस्कृत भाषा पहलेसे प्रतिष्ठित थी । प्राकृत-ग्रंथोंके निर्माणके समय ग्रंथकर्त्ताओंके सामने संस्कृत भाषा रही है । जहांतक धार्मिक ग्रंथोंका प्रश्न है, उनमें पालि तथा अर्द्धमागधी प्राकृत रूपोंका उपयोग हुआ है और उसे भी ठीक उस समयमें नहीं लिखा जा सका, जिस समय उनका ठीक-ठीक सृजन हुआ । वे ग्रंथभी बहुत बादमें स्मृतिके आधारपर लेख-बद्ध हुए हैं । उनकी भाषाको भी ठीक लोकभाषा में प्रचलित प्राकृत भाषासे भिन्न ही माना गया है । साहित्यिक रूप में प्राकृतको प्रतिष्ठा पश्चिममें प्राप्त हुई है । विशेष रूपसे शौरसेनी और उससे भी बढ़कर महाराष्ट्री प्राकृत को साहित्यिक रूपमें प्रतिष्ठा मिली है ।

१३३. संस्कृतके भौगोलिक प्रसारकी तरह प्राकृतके भौगोलिक प्रसारपर विचार करना चाहिये । इसीप्रकार दोनों भाषाओंके एक साथ प्रचलित रहनेके कारण दोनों भाषाओंपर तुलनात्मक रूपमें विचार किया जाना चाहिये । हमारे पास इस प्रकारसे विचार करनेके लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है । उन्हें ठीकसे क्रममें रखनेकी आवश्यकता है । यहां तो केवल स्थूल तथ्योंपर ही विचार किया जा रहा है ।

१३४. संस्कृत भाषा हो या प्राकृत भाषा हो—दोनोंके प्रचार-प्रसारका कारण धर्मभी है । संस्कृत भाषा

प्रधान रूपसे वैदिक परम्पराके धर्मकी भाषा रही है और प्राकृत भाषा जैनधर्म तथा बौद्धधर्म की भाषा रही है । धार्मिक रूपमें इन भाषाओंको महत्त्व प्राप्त हुआ है । इस दृष्टिसे यह महत्त्व आज भी बना हुआ है ।

१३५. धार्मिक महत्त्व प्राप्त होनेके बाद न तो संस्कृत भाषा जनभाषा रही और न प्राकृत भाषा जनभाषा रही । विदेशोंमें बौद्धधर्मकी भाषाके रूपमें जो भाषा पहुंची हैं—लंका, बर्मा, स्याम आदिमें—वह भाषा पालि है । पालिका भौगोलिक क्षेत्र मध्यभारत है । श्री वि. गाङ्गर [पालि भाषाका व्याकरण लिखनेवाले विद्वान्] अपनी भूमिकामें लिखते हैं :

“पालि एक प्राचीन प्राकृत है जो कि एक मध्य-भारतीय बोली है । इसके वही विशेष लक्षण हैं जो कि किसी मध्य भारतीय भाषाको प्राचीन भारतीय भाषासे पृथक् करते हैं । फिरभी पालिको संस्कृतका विकसित रूप नहीं माना जा सका, क्योंकि इसमें ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जो इंगित करती हैं कि यह वैदिक भाषाके अधिक निकट है । १२

कहना यह है कि पालि भाषा प्राकृतोंके भौगोलिक रूपोंसे भिन्न है और उसका भौगोलिक प्रचार-प्रसार देश तथा विदेशोंमें धार्मिक भाषाके रूपमें हुआ है ।

१३६. संस्कृत भाषामें शिक्षा-ग्रंथोंका निर्माण हुआ है । शिक्षा-ग्रंथोंसे तात्पर्य प्रधान रूपसे व्याकरण तथा व्याकरणसे सम्बन्धित वे सभी ग्रंथ, जिनके आधार पर भाषाको शास्त्रीय रूप दिया गया है । ऐसे ग्रंथ संस्कृतमें अधिक हैं । भाषाके मानक रूपको स्थिर करने वाले ये ही ग्रंथ हैं । इनके कारण संस्कृत भाषाको जो स्थिरता प्राप्त हुई है, वह किसी और भाषाको प्राप्त नहीं हो सकी है । प्राकृत भाषाके भी शिक्षा-ग्रंथ मिलते हैं किन्तु वे सब संस्कृतके अनुकरणपर ही और संस्कृत की पद्धतिको सामने रखकर लिखे गये हैं, और उनमें वह पूर्णता नहीं है ।

१३७. प्राकृत भाषाको महत्त्व प्राप्त होनेका कारण धार्मिक भाषाके अतिरिक्त वह उस क्षेत्रकी भाषा थी, जहांसे सारे भारतवर्षकी राजनीतिके सूत्र चलने लगे थे ।

१२. पालि भाषा और साहित्य—इन्द्रचन्द्र शास्त्री, [जर्मन भाषाशास्त्री विल्हेल्म गाङ्गरकी कृतिका अनुवाद]—हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित । प्रथम संस्करण, १९८७, पृ. १४ [आरंभके] .



सम्राट् अशोकके कारण प्राकृत भाषा उन स्थानोंपर पहुंच गयी, जहां वह बोलचालकी भाषा नहीं थी। एक प्रकारसे वह राजभाषा हो गयी थी। अशोकके बाद उस भाषाको उक्त साम्राज्यके प्रभावके कारण साहित्यिक भाषाका रूप भी मिला। प्राकृतको साहित्यिक गौरव पश्चिममें और प्रधान रूपसे महाराष्ट्रमें मिला है। सात-वाहनोके शासनकालमें प्राकृत भाषा साहित्यिक रूपमें स्थिर हो गयी थी।

१३८. प्राकृत भाषाके विभिन्न रूपोंका मिलना और उनके भौगोलिक स्वरूपकी अलग-अलग पहचान का पाया जाना, इस बातका प्रमाण है कि प्राकृतका मानक रूप देशभर में प्रचलित नहीं था, और ठीक इसी समय सारे देशमें संस्कृतका मानक रूप प्रचलित रहा है। लौकिक संस्कृतके भौगोलिक क्षेत्रकी पहचान कठिन है। वैदिक संस्कृतकी भौगोलिक पहचान है—इस रूपमें लौकिक संस्कृतकी पहचान नहीं है। चाहें तो उसे उत्तर पश्चिमकी—पाणिनिके स्थानकी—भाषा कह लें किन्तु उसका रूप ऐसा स्थिर होगया कि भारतके सभी भू-भागोंसे उसका सम्बन्ध मान लिया जा सकता है।

१३९. दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी भारतमें बौद्ध धर्मकी स्थितिके सम्बन्धमें लिखते हैं :

“अपनी जन्मभूमिमें ही बौद्धधर्मका लोप होगया, केवल पूर्वोत्तर सीमा प्रदेशमें ही कुछ अवशेष बचे रहे। बाह्य सफलताके विपरीत स्वदेशमें इस धर्मका पूर्ण लोप एक पहली-सा जान पड़ता है। आज भी यदि शिक्षित भारतीयोंसे यह कहा जाये कि बौद्ध-धर्म—जिसे वे क्षणिक पथभ्रंश मात्र समझते हैं—विश्व-संस्कृतिको उनके देशका विशिष्ट योगदान है, तो वे भौचक्के रह जायेंगे या नाराज हो जायेंगे। बौद्धधर्मके उत्थान, प्रसार और पतनके १५०० वर्षोंके पूरे कालचक्रमें भारत अर्ध-पशुपालक जीवनकी अवस्थासे प्रथम पूर्ण राजतंत्र की अवस्थामें पहुंचा और तदन्तर सामंती युगमें। अतः इस धर्मने अपनी जन्मभूमिकी इन विविध अवस्थाओंमें विभिन्न भूमिकाएं निभायी हैं उनका भारतीय सभ्यताके गंभीर अध्ययनमें केन्द्रीय स्थान होना ही चाहिये।” १३

१३. प्राचीन भारतकी संस्कृति और सभ्यता— दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी, अनुवादक : गुणाकर मुळे। राजकमल प्रकाशन। तृतीय संस्करण १९६०, पृ. १२७.

१४०. बौद्धधर्मके प्रचार और प्रसारके साथ प्राकृत भाषा जुड़ी हुई है। प्राकृतको छोड़ भारतवर्षकी अन्य भाषाओंको बौद्धधर्मके आचार्योंने और भिक्षुओंने लोक सम्पर्कके लिए आवश्यकतानुसार अपनाया नहीं। यह बौद्धधर्मके भारतमें पतनका एक कारण है। संस्कृतको न अपनाना समझमें आने जैसी बात है किन्तु भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओंको तो अपनाना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

१४१. संस्कृत भाषाके विद्वानोंने प्राकृतको अपनाया है। संस्कृत भाषामें प्राकृत वाङ्मयके अनूदित रूप प्रचुर परिमाणमें मिलते हैं—यह मैं विपरीत स्थितिको ध्यानमें रखते हुए और प्रधान रूपसे प्राकृतकी साहित्यिक कृतियोंको ध्यानमें रखते हुए कह रहा हूँ। संस्कृतमें गौतम बुद्धके सम्बन्धमें लिखा गया है। संस्कृतके आचार्योंने प्राकृत भाषाके शिक्षा-ग्रंथ लिखे हैं। फिर भाषाओंके भौगोलिक प्रसारको देखें तो १५०० वर्षोंके कालमें [ईसापूर्व छठी शताब्दीसे ईसाकी नौवीं शताब्दी तक] संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषा—दोनोंही भाषाएँ साथ-साथ रही हैं। इसके बाद तो आधुनिक भाषाओंका काल आगया है। हमें वास्तवमें इन १५०० वर्षोंपर ही विचार करना चाहिये क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृतके प्रचार-प्रसार काल ये ही रहे हैं।

१४२. प्राकृत भाषाके संदर्भमें ही हमें लंकाकी सिंहली भाषापर विचार करना चाहिये। सिंहली भाषा को आर्य परिवारकी भाषा माना जाता है। इसका कारण यह है कि पालि भाषा वहांपर बौद्ध धर्मकी भाषाके रूपमें पहुंची और बादमें पालिका बौद्ध साहित्य वहांकी स्थानीय भाषा सिंहलीमें अनूदित हुआ। सिंहली भाषापर प्राकृत भाषाके संस्कार उसी प्रकार हैं जैसे महाराष्ट्रमें मराठी भाषापर प्राकृतके संस्कार हैं। इसीलिए मराठी द्रविड़ परिवारकी भाषा नहीं कहलाती। मराठीने बादमें जैसे संस्कृतका आश्रय ग्रहण किया ठीक वैसे ही सिंहली भाषाभी संस्कृतके सम्पर्कमें आयी है, और यह सम्पर्क इतना बढ़ गया कि सिंहली भाषा आर्यपरिवारकी भाषाओं सद्ग हो गयी। डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायनने अपनी पुस्तक ‘सिंहली भाषा और साहित्य’ पुस्तकमें इस सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है। वे लिखते हैं—

“लंकाके पण्डित बड़ी उत्सुकतासे संस्कृताभिमुख हुए। उनकी साहित्यिक प्रवृत्तिने दो धाराएं ग्रहण कीं।



धार्मिक साहित्यको विकसित करनेके लिए उन्होंने पालि की शरण ली और शुद्ध लौकिक साहित्यका विकास करनेके लिए, काव्यशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र तथा व्याकरण-शास्त्र आदिमें पारंगत होनेके लिए संस्कृतकी की [ये सब संस्कृतमें थे] । ये दोनों प्रकारके ग्रंथ श्रीलंकामें उस समय [मध्य-युगमें १००० से १६००] लिखे गये जब श्रीलंकाके पंडितोंका दाक्षिणात्य पंडितोंके साथ निकट सम्बन्ध स्थापित हो चुकाथा । संस्कृत साहित्यका सिंहल भाषा पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने एक प्रकारसे सिंहल भाषाके स्वरूपको ही बदल दिया ।' १४

१४३. श्रीलंकामें बौद्ध-धर्मकी स्थिरताका एक कारण यहभीहै कि वहांकी सिंहली भाषामें बौद्ध-साहित्य

लिखा गया । दूसरे शब्दोंमें स्थानीय जीवित भाषामें बौद्ध-साहित्य रचा जाने लगा । यदि ऐसी स्थिति भारत में होती तो भारतवर्षसे बौद्ध-धर्मका लोप न होता । महाराष्ट्रमें मराठीमें बौद्ध-साहित्य नहीं लिखा गया । यही स्थिति अन्य-अन्य आधुनिक भाषाओंमें रही हो । इस तथ्यकी जांच होनी चाहिये । [इस अध्यायका शेष अंश आगामी अंकमें]

१४. सिंहल भाषा और साहित्य—डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन । मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल । प्रथम संस्करण, १९७३, साहित्य खण्ड, पृ. २१.

## उपन्यास

### हवाधर?

उपन्यासकार : केशव

समीक्षक : डॉ. मूलचन्द सेठिया

अधुनातन हिन्दी उपन्यासकारोंने स्त्री-पुरुष संबंधों को धुरी बनाकर कई कृतियाँ प्रस्तुत की हैं । जैनेन्द्रके प्रायः सभी उपन्यास प्रेम-त्रिकोणपर आधारित हैं । 'अज्ञेय' का 'नदीके द्वीप', अश्वका 'गर्म राख', श्रीकान्त वर्माका 'दूसरी बार', निर्मल वर्माका 'वे दिन' और महेन्द्र भल्लाका 'एक पतिके नोट्स' आदि उपन्यासोंमें दाम्पत्य जीवनमें व्याप्त यौनाकर्षणको केवल भावनाके स्तरपर ही चित्रित नहीं किया, गुह्य रति-प्रसंगका ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत करनेमें भी किसी प्रकारके संकोचका परिचय नहीं दिया गया । कवि-कथाकार केशवका प्रथम उपन्यास 'हवाधर' भी स्त्री-पुरुषके वैवा-

हिक और विवाहेतर सम्बन्धोंको अपना प्रमुख उपजीव्य बनाकर लिखा गया है । उपन्यासमें केवल तीन चरित्र हैं; पत्नी अरुणा, पति राजन और तीसरे व्यक्तिके रूपमें अखिलेश । इस प्रकारके उपन्यासमें यौन सम्बन्धोंकी उपस्थिति अपरिहार्य होती है परन्तु मुख्यतः पतिके पुरुष-अहंके साथ पत्नीके निजी व्यक्तित्वकी टकराहटको दी गयी है ।

वैवाहिक जीवनके प्रथम चरणमें पति-पत्नीको सब कुछ हरा-हरा दिखायी देता है । "हम दोनोंकी जिन्दगीमें एक-दूसरेके सिवा कुछ खास नहीं था । एक-दूसरेके निकट । एक-दूसरेमें उगते-बिहते । प्यार करते ।" तब दोनोंके दायरे अलग होकर भी एक-दूसरेसे टकराते नहीं थे । पर, जल्दीही सपनोंके रंग फीके पड़ने लगते हैं और पारस्परिकताके बीच कहीं-कहीं दरारें दिखायी पड़ने लगती हैं । पति राजनको लगता है "इस घरकी दुनिया बहुत छोटी है । अरुणाका सर इस दुनियाकी छतसे टकराते लगा है । इन्हीं दिनों अरुणाका परिचय होता है पत्रकार अखिलेशसे जो शीघ्रही एक नाटकके मंचनकी योजना बना रहा होता है । अभिनयमें अरुणाकी सहज अभिव्यक्ति

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुमाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : ६७; का. ८६; मूल्य : ४०.०० रु. ।

'प्रकर'—मई/६०—३०



रही है और अखिलेश चाहता है कि रंग-कर्म में वह उसका सहयोग करे ! अनिच्छापूर्वक ही क्यों न हो, राजनकी अनुमति भी प्राप्त हो जाती है । राजनकी दुनियां उसके घर-दफ्तर तक सीमित थी, वह अपने आपमें बन्द रहने का आदी था । लेकिन, अरुणा चाहती थी उन्मुक्तता 'अपने आपको खुला रखना । एक हवाघर की तरह खुला रखना ।' उसे अखिलेश में उन्मुक्त आकाश दिखायी पड़ता है तो वह उसकी ओर बढ़ती है; दोनों के बीच का 'अपरिचय पल-पल पिघलकर' गहरे अपनाव में परिणत होने लगता है । वह खतरे को पहचानती है फिर भी एक दुनिवार आकर्षण के वशीभूत होकर वह सुरक्षा की कीमत चुकाकर भी जोखिम मोल लेने के लिए तैयार हो जाती है ।

अब राजन को अरुणा के व्यक्तित्व में छिपी हुई एक दूसरी अरुणा दिखलायी पड़ती है, जो उसके पुरुष-अहंको चुनौती दे रही होती है । दोनों के बीच एक अनमनापन आता है जो धीरे-धीरे बेगानेपन में बदल जाता है । राजन का अहं एक चोट खाये हुए साँप की भाँति अपना फन फटकारने लगता है । वह बिना मुकाबले के हथियार डालना नहीं चाहता था । "अपने आपको अरुणा के हवाले कर अपनी ईगो 'पंक्चर' नहीं करना चाहता था ।" अरुणा को आहत करने के लिए वह कहता है 'अभी तक तुम मेरी छत के नीचे साँस ले रही हो । अरुणा का व्यक्तित्व भी अब पीछे लौटकर देखने के लिए तैयार नहीं है । वह तुर्की-व-तुर्की देती है "साँस ले रही हूँ तुम्हारी छत के नीचे । हुं ! तुम यह न भूलना कि यह छत अभी तक जितनी तुम्हारी है, उतनी ही मेरी भी । अरुणा को लगता है कि राजन ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नकारकर उसे एक बेजान चीज में बदल देना चाहा है । इसके विपरीत अखिलेश के निकट आकर उसे अपनी निजता का बोध होता है "बार-बार हम एक-दूसरे में उगते हैं । फिर फलते हैं । फिर कितना कुछ फूटने लगता है ।"

अरुणा और राजन के बीच का अन्तराल उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । दोनों के बीच का दैहिक सम्बन्ध भी अरुणा को एक विडम्बना-सा प्रतीत होने लगता है । अगर परस्पर भावों का प्लावन हो तो पति-पत्नी को निकट लाने के लिए देह एक पुल बन सकती है परन्तु इस वितृष्ण मनःस्थिति में तो वह भी एक खाई बन गयी है । वह राजन को साफ कह देती है "तुम पुल को सबकुछ मानकर लोट जाते रहे हो आज तक; क्योंकि तुम्हें उतने की ही

जरूरत है । उस पार उतरने से तुम हमेशा बचते रहे हो ।" जिन संस्कारों की दुहाई राजन की ओर से दी जाती है वे अरुणा के लिए अर्थहीन हो गये हैं क्योंकि उसके संस्कारों में दूसरे की जरूरत के लिए कोई जगह नहीं है । अरुणा संस्कारों में उस खुलेपन की मांग करती है जो व्यक्तिको सम्बन्धों के बायरे में बांधते हैं तो जरूरी होने पर उसके बाहर जाने की छूट भी देते हैं । सैक्स को वह एक 'टैबू' के रूप में नहीं, अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की एक आवश्यक शर्त के रूप में ही स्वीकार करना चाहती है । अरुणा अपने पति को तलाक न देने पर भी पूरे तौर पर उसके साथ अपने सम्बन्ध को नकार देती है । अपने संपूर्ण मोहभंग को अखिलेश के सम्मुख व्यक्त करते हुए वह कहती है "हमारे यहाँ अक्मर उपयोगिता व्यक्तिकी नहीं होती । दूसरों के लिए साधन बन सकने की उसकी सामर्थ्य से आँकी जाती है । मेरी इस सामर्थ्य को लेकर राजन का मोहभंग हो चुका है । ऐसे में मैं उसके लिए व्यक्ति तो क्या एक शरीर भी नहीं हूँ अब, यहां तक कि एक खूंटी भी नहीं, जिस पर वह अपनी उतरन को भी टांग सकें । परन्तु, अरुणा, अखिलेश के प्रति अपने सम्पूर्ण समर्पण भाव—अंजुरी की तरह उसके प्रति निवेदित हो जाने की आकांक्षा के बावजूद आखिर हंगरी सरकार की एक स्कॉलरशिप स्वीकार कर देश से बाहर चले जाने का निर्णय लेती है । इस प्रकार, संस्कार हारकर भी क्या अन्ततः अरुणा को हराने में कामयाब नहीं हो गये हैं ? यह कन्नी काटकर निकल जाना नहीं है तो और क्या है ? क्या राजन के खिलाफ अपनी घृणा का वह जाने या अनजाने अपने ही खिलाफ इस्तेमाल नहीं कर रही है ? कभी उसने कहा था हर गाड़ी एक दूरी तक ही जा सकती है । सफर खत्म न हुआ हो तो गाड़ी बदलनी ही पड़ती है ।" परन्तु, यहां तो वह गाड़ी बदलने की बजाय अपनी यात्रा को ही दिशान्तरित कर देती है ।

केशव ने दाम्पत्य सम्बन्धों में व्यक्तित्वों की टकराहट के सन्दर्भ में पुरुष की अहंवादिता को ही मुख्य रूप से रेखांकित किया है । कथा-साहित्य में आधुनिकता के आग्रह से कथ्य और कथा-संरचना को लेकर चाहे कितने ही प्रयोग क्यों न किये गये हों, पुराना प्रेम त्रिकोण अपने स्थान पर ज्यों का त्यों कायम है । अन्दाजे-बयां चाहे कितना ही बदल गया हो, पर बयान का मुद्दा वही है । फिर भी, 'हवाघर' की एक खासियत को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उसमें सम्बन्धों की टूटन को टालने की ओर



सार्थक सँकेत किया गया है। “हर सम्बन्ध एक मुकाम तक लेजाकर हमें अकेला कर देता है। ..... जरूरत इस बातकी है कि हम उस सम्बन्धको जितना खाली करें, उतनाही भरतेभी रहें। लेकिन लेनेका लालच हमें भरनेकी फुर्सत ही नहीं देता।” पति-पत्नी ही क्यों, कोईभी सम्बन्ध जब ‘टेकन फॉर ग्रान्टेड’ हो जाता है तो उसे भावनात्मक खाद-पानी देकर नित नया और तर्रो-ताजा बनाये रखनेकी जरूरत नहीं समझी जाती। यहीं से सम्बन्धोंकी नींवमें दीमक लग जाती है, जो एक दिन उन्हें विल्कुल खोखला कर डालती है।

‘हवाघर’ में केवल तीन पात्र हैं और तीन बिन्दुओं से बननेवाला यह त्रिकोण जीवनके बहुत छोटे दायरेको घेर पाता है। दाम्पत्य जीवनके विस्तारमें जाकर उसके स्तर-प्रस्तरको उद्घाटित करना उपन्यासकारका अभिप्रेत भी नहीं प्रतीत होता। पति-पत्नी अपने वेडरूममें ही नहीं, परिवार और समाजमें भी जीते हैं, उस जीवन का सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पक्षभी होता है, पर उपन्यासकारका उमसे सरोकर नहीं है। उसने अपनेको जानबूझ कर पतिके पुरुष-अहंके साथ पत्नीके निर्जी व्यक्तित्वकी टकराहट और उसकी निष्पत्तियों तक अपने आपको सीमित रखा है। शायद इसीलिए बाह्य परिवेश की ओरसे भी वह नितान्त उदासीन है। शिमलाके रिज और स्कैण्डल प्वायंट, केवल नामोल्लेख किया गया है, जिससे पाठकके मनमें उनका कोई चित्र नहीं उभरता है। उभरेभी कैसे? बुकहाउसकी ओर सीढ़ियां उतरते हुए वह सोचता है: “यह क्या मैं कहीं औरभी उतर रहा हूँ। किन्हीं और सीढ़ियोंपर भी। ये और सीढ़ियां उनके मनमें हैं, यादोंकी सीढ़ियां। कविके मनमें बाहर की सीढ़ियोंकी अपेक्षा ये अन्दरकी सीढ़ियांही अधिक अर्थपूर्ण हैं। इस स्थितिमें अगर पात्र बाह्य परिवेशके प्रति विल्कुल बेखबर बना रहता है तो किमाश्चर्यम्? देखनेही नहीं, सुननेके साथभी यही स्थिति है। “मैं नहीं देख रहा हूँ कुछभी। सिर्फ सुन रहा हूँ। अपने भीतर बजते शब्दको।” जो अपने भीतर बजते शब्दको ही सुनना चाहता है, उसे बाहरकी आवाज कैसे सुनायी पड़ेगी? अपने अन्दरके प्रति इस एकान्त तल्लीनताके कारण बाहरके शब्द-दृश्यके प्रति कहीं-कहीं अतिरिक्त संवेदनशीलताभी परिलक्षित होती है। कभी अपनी ही सांस हथौड़ेकी तरह चोट करती है, कभी दरवाजेपर लगी हुई घंटी अपनी देहमें लगी हुई मालूम देती है तो

कुछ कड़वी बातें चाबुककी तरह मार करती हुई महसूस होती है।

इस उपन्यासकी भाषा बिम्बों और प्रतीकोंवाली काव्य-गन्धी भाषा है। उसके प्रवाहमें संगीतकी लय है। आज जब कविताकी भाषा गद्यात्मकताकी ओर बढ़ रही है, हवाघरकी औपन्यासिक भाषामें यह काव्यानुरूपता असंगत न होनेपर भी पाठकको अपनी ओर अलगसे खींचती हुई दिखायी पड़ती है। उपन्यासकारने सामान्य सी बातोंको भी ऐसी असामान्य मूर्तताके साथ चित्रित किया है कि हमें उनका चाक्षुष साक्षात्कार होता हुआ प्रतीत होता है। दो-तीन पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

“अरुणा अपने अन्दरके बन्द अजायबघरसे बोल रही थी जैसे।”

“उसका सारा अतीत उसके चेहरेके बिलसे बिच्छुओं की तरह निकल आया था।”

“मेरी आवाजमें दिनों बाद लौटा उल्लास जैसे दूब की तरह बिछ-बिछ जाना चाह रहा है।”

उपन्यासके अनेक स्थल अपनी मार्मिक संवेदनशीलताके कारण हमें गहराईसे छूते हैं। परन्तु, यह सघन काव्यात्मकता और बिम्बात्मक मूर्तिमत्ता अपने आपमें स्पृहणीय होनेपर भी एक प्रश्न खड़ा करती है। कविता और उपन्यास साहित्यकी दो पृथक् विधाएं ही नहीं हैं, अपने पृथक् प्रकृति धर्मके कारण अपना अलग-अलग मिजाजभी रखती हैं। फिर, क्या दोनोंके भाषा-व्यवहार के मूलगत प्रतिमानभी एक-दूसरेसे भिन्न नहीं होने चाहियें? केशवकी दृष्टि मूलतः यथार्थपरक होनेके कारण इस उपन्यासकी भाषाका कविताकी सरहदमें घुसपैठ करना हमें अखरता नहीं है; कहीं-कहीं प्रीतिकर भी प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रवृत्तिका अतिरेक विपरीत परिणामभी प्रस्तुत कर सकता है, इस तथ्यको नकारा नहीं जा सकता। केशवको यह श्रेय है कि उन्होंने ‘हवाघर’ की छतको जिन दीवारोंपर खड़ा किया है उसकी नींव जमीनमें गहरी धंसी हुई है। एक बहुत पुरानी ‘टीम’ को लेकर एक अत्याधुनिक उपन्यास प्रस्तुत करनेकी उनकी सफलतापर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता। □



## अगला कदम?

उपन्यासकार : रामदेव शुक्ल

समीक्षक : डॉ. रामदरश मिश्र

रामदेव शुक्ल उन लेखकोंमें से हैं जो अपने समय की विसंगतियोंको पहचानते मात्र नहीं है वरन् उनसे बेचैनभी होतेहैं और उनसे मुक्ति दिलानेवाले मूल्योंकी खोजमें छटपटातेभी हैं। बच्चे हमारे समाज और समूची मानवताकी बुनियाद हैं किन्तु हमारे समाजकी सबसे बड़ी विडंबना यही है कि हम बच्चोंको बहुत हल्केपन से लेतेहैं। उनकी इच्छाओं, उनके प्रश्नोंकी चिन्ता नहीं करते, उनके सामने हम अनेक भद्दे कार्यकलाप करतेहैं, अनप-शनाप वकतेहैं, उनके सामने मां-बाप फूहड़पनसे लड़ते-झगड़तेहैं। वे बच्चोंको एक रूटीनके तहत रोटी, कपड़ा, खिलौने और स्कूल देकर समझतेहैं कि उन्होंने अपना दायित्व पूरा कर लिया। जब उनका मन हुआ तो अपने आनन्दके लिए बच्चोंसे खेल लिये किन्तु बच्चों की इच्छासे न उनके साथ उन्हें खेलनेका अवसर होता है, न उनकी बात सुननेका, न उनके आग्रहोंका सम्मान करनेका। परिणाम यह होताहै कि बच्चे तरह-तरहसे अस्वस्थ हो जातेहैं, न जाने कितनी गांठें और अतृप्तियां लिये हुए बीमार जीवन जीतेहैं और आगे चलकर समाज को बीमार बनातेहैं।

प्रस्तुत उपन्यास बच्चोंसे संदर्भित इसी यथार्थपर आधारित है। केन्द्रमें है प्रो. देवका परिवार और कुछ अन्य परिवारोंके लोग आते-जाते रहतेहैं। प्रो. देव एक अवकाश प्राप्त संवेदनशील और विवेकशील व्यक्ति हैं, वे अपनी पत्नी, पुत्री, जामाता और नतिनीके साथ रहते हैं। पुत्री अनु एक इंस्टीच्यूटमें शोध कर रहीहै और उसके पति किशोर उसी इंस्टीच्यूटमें डायरेक्टर हैं। उनकी बेटी नेहा नाना-नानीके पास पलतीहै। नाना प्रो. देव एक आदर्श व्यक्ति हैं। उनके माध्यमसे लेखकने यह चित्रित कियाहै कि बच्चेके लालन-पालनका आदर्श रूप क्या होना चाहिये। वैसे तो यह पूरा परिवार सभ्य है और सभीका बच्चेके प्रति सभ्य आचरण

दिखायी पड़ताहै किन्तु वे सभी केवल मां-बाप और नाती हैं। देव केवल अच्छे नाना नहीं हैं बल्कि वे पूरे समाजके लिए अच्छे, जागरूक संवेदनशील और विवेक-वान् नागरिक हैं इसलिए उनकी चिन्ताका केन्द्र केवल अपनी नतिनी नेहा नहीं है, बल्कि समाजके सारे बच्चे हैं। वे जहां कहीं बच्चोंपर अत्याचार देखतेहैं परेशान हो जातेहैं। चाहतेहैं उसके लिए कुछ करें किन्तु दूसरों के परिवारमें अवांछित रूपसे घुसकर कुछकर पाना कहां संभव हो पाताहै। अतः वे उस बच्चेकी पीड़ा लिये छटपटातेहैं।

इंजीनियर अपने भतीजेको रोज वेरहमीसे पीटता है। बच्चेकी चिल्लाहट देवकी पीड़ा बन जातीहै। वे उस दरिद्र इंजीनियरको मना करना चाहतेहैं किन्तु अपनी सीमा समझकर दखल नहीं दे पाते और रातभर छटपटातेहैं। पड़ोसी बच्ची पुतुल अपने बापसे इसलिए पिट रहीहै कि उसने विस्तरपर 'सू सू' कर दियाहै। पुतुलकी रुलाई देवके भीतर समा जातीहै और वे सोचतेहैं कि इस अवस्थामें बच्चेने विस्तरपर 'सू सू'कर दिया है तो क्या होगया? इस अवस्थामें तो यह सब बहुत सहज है। इंस्पेक्टर अपने बेटे बबलूसे परेशान है। वह प्रो. देवसे सहायता मांगताहै। प्रो. देव बबलू जैसे बिगड़ते लड़केको मनोवैज्ञानिक ढंगसे पकड़तेहैं और उसके रोगको पहचान लेतेहैं। उसका रोग उसका इंस्पेक्टर बाप है जो उसके सामनेही उसकी मांको और दुनियां भरकी औरतोंको गंदी-गंदा गालियां देताहै, अनेक फूहड़ आचरण करताहै। वह अपने बेटेको पैसेसे संबंधित सारी सुविधाएं देकर समझताहै कि उसने बच्चेके प्रति अपना सारा दायित्व पूरा कर दिया। बबलू बापके गंदे आचरणके कारण मनसा रुग्ण हो जाताहै और अपने अनियंत्रित आचरणसे समाजके लिए एक मुसीबत बन जाताहै। देव उसके रोगकी पहचानकर उसे स्वस्थ करनेकी चेष्टा करतेहैं।

प्रो. देव अपने पुत्र प्रकाश और बेटी अनुके माध्यम से बच्चेकी एक मनोवैज्ञानिक समस्या उठातेहैं। प्रकाश बापका समूचा ध्यान अपने प्रति आकृष्ट करना चाहता है, उस ध्यानको अपने और बहनके बीच बंटा हुआ पाकर बहनके प्रति ईर्ष्यालु हो उठताहै। उसे प्यार भी करताहै और ईर्ष्याभी। प्यार और ईर्ष्याका उसका द्वन्द्व बड़ा प्रिय लगताहै।

रामदेवजीने इस बुनियादी समस्याके साथ मानव-

'प्रकर'—ज्येष्ठ २०४७—३३

१. प्रका. : आनन्द प्रकाशन, सी-१८८/१, कालेपुर, पंडलेगंज, गोरखपुर (उ. प्र.) । पृष्ठ : १०२; क्रा. ८६; मूल्य : ३५.०० रु. ।



जीवनके अन्य अनेक सवाल उठाये हैं और प्रो. देवको इस सोचकी प्रक्रियासे गुजारा है कि विज्ञान कैसे इन समस्याओंको सुलझा सकता है। इन समस्याओं और प्रश्नोंको लेकर वे अपने वैज्ञानिक जामातासे लंबी-चौड़ी बहस करते हैं और इस प्रक्रियामें विज्ञानको मानव-मूल्यों से संदर्भित करनेपर बल देते हैं। आधुनिकताको गांवसे, उसकी जमीनसे जोड़ना चाहते हैं।

बच्चोंसे जुड़ी हुई इस मूल्यवान् समस्याको लेकर चलनेवाला यह लघु उपन्यास अपनी संरचनामें यदि प्रभाव-शाली बना रहता तो और अच्छा प्रभाव छोड़ सकता था। उपन्यास अधिकांशतः प्रो. देवके आत्मचिन्तन और दामाद के साथ बहसोंके माध्यमसे चलता है। लगता है कि देव बच्चे, समाज और पूरी मानवताके बारेमें सोचते रहते हैं, सोचते रहते हैं। विज्ञान और मनुष्यताके संबंधोंके बारे में चिन्तन करते रहते हैं और इस प्रक्रियामें वे कहीं-कहीं आसपास घटित छोटे-छोटे प्रसंगोंसे टकरा जाते हैं तो थोड़ी देरतक उनकी रौ में बहते रहते हैं। यानी यह उपन्यास घटित कम कथित ज्यादा है और जो घटित है वह भी शृंखलाबद्ध नहीं हैं। यानी लेखक अनेक छोटे-छोटे और परस्पर असम्बद्ध प्रसंगोंको यहां-वहां घटित करता है और उन्हें देवसे जोड़ देता है। संरचनाकी यह शिथिलता उपन्यासकी वस्तुगत मूल्यवत्ताके बांछित प्रभावमें बाधक बनी है। □

## ये छोटे महायुद्ध ?

लेखिका : शशिप्रभा शास्त्री

समीक्षक : डॉ. केदार मिश्र

हिन्दी कथा-साहित्यके विकासकी दो धाराएं हैं— कथात्मक एवं प्रयोगात्मक। कथ्य एवं शिल्पगत प्रयोग को प्रधानता देनेवाला कथा-साहित्य वैशिष्ट्य बोध रखता है। कथात्मक अभिव्यक्ति दैनन्दिन जीवन-निरूपण-पद्धतिको अपनाती है। शशिप्रभा शास्त्रीने दैनन्दिन जीवनकी कथाके रूपमें 'ये छोटे महायुद्ध' उपन्यासकी रचना की है, जिसके सन्दर्भमें लेखिकाका कथन है कि पीढ़ियोंके मध्य असहमति—तकरार होती

रहना क्या जरूरी है ? क्यों होती है ये तकरारें ? एकही पीढ़ीके दो भिन्न प्रकृतिके व्यक्तियोंके मध्यभी मनोमालिन्य-खटपट हो सकती है, होती है × × तब मूल-बिन्दु दो पीढ़ियाँ नहीं हैं, विचारों के स्तरपर दो वर्ग कहे जा सकते हैं।' 'पारिवारिक इकाइयोंके मध्य समायोजन जरूरी है।'

उक्त मनोभूमिपर ही शशिप्रभा शास्त्रीने दस अध्यायोंमें समीक्ष्य उपन्यासकी कथावस्तुका विन्यास प्रस्तुत किया है। कथ्यका दायरा पारिवारिक परिवेश है। स्त्री-पात्र अभिव्यक्तिके माध्यम हैं। विशेषकर लोपा और लोपाकी माँ गार्गी। सम्पूर्ण कथा गार्गीके रूपमें एक विशिष्ट मनःस्थितिका निरूपण है, जो अनावश्यक, कृत्रिम मानसिकतासे उत्पन्न पारिवारिक विषमताओंको व्यक्त करता है। वृद्धावस्थाकी मानसिकता, जीवन-पद्धति स्वभावतः भिन्न प्रकारकी हो जाती है, जिससे सामान्यतः परिवारके अन्य सदस्य असुविधा अनुभव करते हैं। और जब वृद्ध व्यक्तिकी मानसिकता नितान्त भिन्न प्रकारकी हो, तब असामंजस्यकी स्थिति और भी अधिक मुखर हो जाती है। लेखिकाने ऐसीही असामान्य मनःस्थितिको कथ्यका विषय बनाया है।

उपन्यासकी प्रमुख पात्र गार्गीकी "जिन्दगीका निर्माण एक विचित्र ढंगसे हुआ था— अपने माता-पिता की वे एकमात्र सन्तान थीं—बेहद लड़ती और सिर चढ़ी। पिताने आर्यसमाजी मतावलम्बी बनकर अपने उसूल बदले.....तो उनकी गतिविधियोंका प्रभाव उनपर भी पड़ा, पिताके नये संशोधित सुरोंमें भी ढलती चलीं.....गरूरवाली तो वे शुरूसे ही थीं, पिताने उनके नामको तो वैदिक युगकी पंडिता 'गार्गी' से संयुक्तकर उनके घमण्डमें आठ अंगुलकी बढ़ो-त्तरी कर दी थी।" 'मां-बापके लाड-प्यार और शिक्षा ने उन्हें खासी अहंवादिनी, सिरचढ़ी और अकड़ल बना दिया था।' (पृ. ११)। 'विवाहके बाद जिस परिवारमें वे गयीं, वहांका माहोल उनके संस्कारोंसे मेल नहीं खाता था.....इसलिए उन्होंने चुपचाप सिर्फ पति को.....इन सबसे अलग कर लिया।' 'घरभी नहीं नगरभी छोड़ दिया।' 'उनके द्वार बच्चेकी जिदगी बाकायदा चौखटोंमें कसी हुई बन गयी थी। लड़कियोंके लिए एक दूसरी नियम-तालिकाभी निर्धारित थी। (पृ. १२)।

१. प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-६। पृष्ठ : १५५; क्रा. ५५; मूल्य : ३०.०० रु.।

'प्रकर'—मई ६०—३४



पचास सालोंसे समय धुर तक बदल चुका है—लोगोंकी प्रवृत्ति-प्रकृति और सोचनेका ढंगभी । 'समयकी रफ्तारको पहचाननेमें वे बहुत बड़ा दक्का खा गयीं थीं, एक तरहसे हार गयीं थीं, उनके सपने, उत्साह-आकांक्षा-योजनाएं सब धराशायी होगयीं ।' (पृ. १४) । पुत्रका विवाह हुआ । सास-बहू दोनोंके मध्य ईर्ष्या-द्वेष-कलह कटाकटी और एक-दूसरेकी अवमानना किये जानेकी परिणति इस रूपमें हुई थी कि वे अपने एकमात्र बेटेको छोड़ बेटीके घर रहने पहुंच गयीं थीं । बेटियोंमें भी उन्होंने अपनी तीसरी बेटी लोपाके घरको ही चुना । (पृ. १५) ।

लोपाके घर उनका भरपूर स्वागत किया गया, किन्तु अहसान न लेनेकी और अहसान चढ़ानेवाली वृत्ति, स्वनिष्ठ प्रकृति तथा रूढ़-व्यवहारके कारण माँके प्रति लोपाका उत्साह कम होने लगा । वे प्रायः अपने महत्त्व और आवश्यकताको महसूस करवानेकी कोशिशमें लगी रहती । परिस्थितियोंसे निर्मित उनकी आवाजमें तुर्षी और कठोरताके कारण हर वाक्य प्रायः कर्कशता लिये होता । अपने अलगावको उन्होंने नौकरी करनेकी इच्छा के रूपमें व्यक्त किया । परिवारकी हर गतिविधियोंके वे इच्छानुरूप चाहती थीं । लोपाका परिवार अपनी इच्छा-नुरूप जीवन-यापन करना चाहता था । दो भिन्न मान्यताओंसे उत्पन्न विषम स्थितियोंके सन्दर्भमें लोपा सोचती थी कि—“मां-बाप अपनेही बच्चोंके प्रति इतने कठोर क्यों हो जाते हैं, उनकी परिस्थितियोंका अन्दाज क्यों नहीं लगा पाते, और बच्चेभी माता-पिताकी मजबूरी जानते हुए भी उसके उस प्यारके लिए क्यों हिचकते रहते हैं ।” (पृ. २७) ।

उनकी अनुमतिके बिना पानी छूनेका साहस कोई नहीं कर पाता था, उनके खाना बनानेका पानी अलग रहता, पीनेका अलग, हाथ और बरतन धोनेका अलग रहता । (पृ. ३८) । आर्यसमाजसे लौटकर आतीं, आते ही भाषण शुरू करतीं । घरही शामको प्रवचन प्रारम्भ कर दिया । 'बच्चोंके प्रति उनके मनमें प्रेम भलेही रहा हो, पर उसका प्रदर्शन उन्होंने शायदही किया उल्टे बच्चोंके कामोंमें वे हरदम हस्तक्षेप जरूर करतीं ।' (पृ. ४७) ।

असामंजस्य और भिन्न प्रकृतिके कारण गार्गीने अपना घर छोड़ा था । लोपाके यहाँभी सामंजस्य नहीं हो पाया । आर्यसमाजके आश्रममें जाकर रहने लगीं,

किन्तु वहाँभी सन्तुष्ट नहीं हो सकी । प्रारम्भमें लोपा को भी वहाँ बुलाती रहीं । लोपाको आश्रमका वातावरण रास नहीं आया । यज्ञशालामें पहुंचनेपर जब वह मोटी-पतली, ऊँचे-नीचे कदकी वृद्ध महिलाओंको मूर्ति बने बैठे देखती, तो उसके मनमें इनके घरोंकी एक काल्पनिक तस्वीर उभरने लगती, 'उस समय वह सोच ही नहीं पाती कि हर व्यक्तिकी अपनी अलग कहानी होती है, जो दूसरोंको दिख रही है, सिर्फ वह नहीं उसकी एक अन्तर्भावना—उसकी भावनाओं—संवेदनाओं और महत्वाकांक्षाओंके बीच संघर्षकी कहानी—जिसके तहत उसकी अपनी माँ भी संघर्ष करती रही थी करती रही है । असलमें हर आदमी हर किसीको उसकी स्थितिको अपने नजरियेसे ही देखता है ।' (पृ. ६०) ।

आश्रमकी विषम स्थितियोंसे पीड़ित हो गार्गी पुनः लोपाके घर लौटती है, किन्तु पुनः परिवारसे अलगाव और आर्यसमाजमें जाना प्रारम्भ होगया । लोपा और उसकी माँके मध्य संवादकी स्थिति प्रायः हकड़ा-तुकड़ी में ही समाप्त होती । परिणामतः लोपा अपने मनोभावों को डायरीमें लिखने लगी—“सोच रही हूँ बड़े-बूढ़े इतने रुक्ष क्यों हो जाते हैं ? क्या हर बड़ेका रवैया यही होता है ? छोटीके प्रति सदय-मीठे वे क्यों नहीं बन पाते ? छोटीसे उन्हें इतनी शिकायत क्यों रहती है ? क्या छोटे सचमुच इतने बुरे होते हैं ? क्या वे हरदम गलतीही करते हैं और करतेभी हैं तो क्या उनको क्षमादान कभी नहीं मिलना चाहिये ।” ‘कभी ध्यान आता है कि मैं कभी इस कोणसे क्यों नहीं सोचती हूँ कि दूसरोंके घरमें रहना कितना मुश्किल होता है, 'ऐसी स्थितिमें क्या दोनों पक्षोंके लिए 'लचना' जरूरी नहीं है ।' (पृ. १०६) ।

‘वैमनस्यका मुख्य बिन्दु शायद यही होता है, कि एक परिवारके प्राणी एक-दूसरेकी जरूरत-संवेदना और अपेक्षाओंको समझनेकी जरूरतही नहीं समझते । अपने अहंके मायाजालमें गुड़ी-मुड़ी हो बस मात्र अपनी संवेदनाओं तक ही सीमित होकर रह जाते हैं । निकटके बेहद निजी सम्बन्ध होनेपर भी दोनों पक्ष एक-दूसरे पर अपना-अपना अहसान लादते रहते हैं और एक-दूसरे के अहसानसे बचना भी चाहते हैं—अपेक्षाएं ज्यादा होती हैं और समायोजनकी प्रवृत्ति शून्य । (पृ. ११२) । मान-स्वार्थको परे रखकर अगर हम एक-दूसरेको तरह देते चलें तो इतने झगड़े-बखेड़े हो ही क्यों । विश्व-



संगठनकी बात करते हैं। हम परिवारकी इकाईके बारे में कभी क्यों नहीं सोचते, जो बड़े समूहकी असल जड़ है। (पृ. २२५)।

लोपाकी मां पुनः शहरके निकटके आश्रममें चली गयी और वहांसे बीमार होकर लौटभी आयीं। अहं तबभी उसी रूपमें था। लोपा मांकी स्थितिसे व्यथित होकर सोचती है—‘जब एक दिन हर किसीको चलेही जाना है, तब ईर्ष्या-द्वेष, हकड़ा-तुकड़ी, हताशा, चख-चख, मनमुटाव आदमीको क्यों घेरे चलता है? आपस के सगे-सम्बन्धीही एक-दूसरेको क्यों तांसेते-तोड़ते रहते हैं। ‘जियो और जीने दो का सिद्धान्त आदमीको क्यों रास नहीं आता।’ लोपाके माध्यमसे लेखिकाने स्थिति विशेषके सन्दर्भमें अपने मनोभावोंको व्यक्त किया है कि ‘समझौता? समझौता कोई इन्सान आखिर कबतक कर सकता है? ‘तब क्या समझौताही जिन्दगीमें सबसे बड़ी चीज है? कुछ न सोचना, हर हालमें खुश रहना और चुपचाप सबकुछ भोगते चलना—यही नियति है नारीकी क्या? विवेक भावना और संवेदनशीलताको कतई ताकपर रखकर चलते चलना क्या इतना आसान है? (पृ. १५३)।

सम्पूर्ण उपन्यास लोपाकी मां (गार्गी) और लोपा के मध्य एक मनःस्थिति और उससे निर्मित जीवन-वैषम्यके रूपमें व्यक्त हुआ है। प्रमुख पात्र गार्गी है। लोपा अपनी मां गार्गीकी जीवन-कथाको व्यक्त करनेवाले पात्रके रूपसे मुखरित हुई है। उपन्यास की कथावस्तु पूर्व परिवेश द्वारा निर्मित मनःस्थिति विशेषकी तज्जन्य अन्य व्यवहार, विषम परिवेश और सम्बन्धोंके बिखरावकी स्थिति विशेषकी अभिव्यक्ति है। गार्गी और लोपा दो पीढ़ियों का, वैचारिक स्तरपर दो वर्गोंका प्रतिनिधित्व करती है, जिनके मध्य अनावश्यक टकराव रहता है। पुरानी पीढ़ीमें एक प्रकारकी रूढ़ता होती है और नयी पीढ़ीमें रूढ़ता के विरुद्ध स्वतन्त्रताकी ललक। आवश्यकता दोनोंही पक्षोंमें एक-दूसरेकी भावनाओंको समझने और महत्त्व देनेकी है।

उपन्यासकी विषय-वस्तु लोपाके कथ्यके रूपमें व्यक्त हुई है। लेखिकाने लोपाको अपनी भावनाओं-मान्यताओं की वक्ताभी बनाया है। समग्र रूपमें लेखिकाका उद्देश्य परिवारके सदस्योंमें सामंजस्य, समायोजन, उदारता और पारस्परिक भावनाओंको समझने और महत्त्व

देनेकी आवश्यकताको व्यक्त करना रहा है—‘समय-स्थिति और आवश्यकताके परिणामस्वरूप आज बदलाव आया है—व्यक्तिके मनोमें व्यक्तिकी दैनन्दिन चर्चा में उसकी जीवन शैलीमें—इस स्थितिमें पारिवारिक इकाइयोंके मध्य समायोजन जरूरी है।’ अतः ‘ये छोटे महायुद्ध’ उद्देश्य एवं कथ्य प्रधान औपन्यासिक कृति है। प्रौढ़ एवं सघन भाषा-शिल्प, वाग्वैदग्ध्य और भावानुरूप शब्द प्रयोग लेखनकी सार्थकताको व्यक्त करते हैं। सुरुचिपूर्ण प्रकाशन एवं मुद्रणने कृतिको सौष्ठव प्रदान किया है। प्रगाढ़ अभिव्यक्ति शशिप्रभा शास्त्रीके कथा-साहित्यकी विशेषता रही है। कथा-फलक सीमित होते हुएभी उक्त विशेषता आलोच्य उपन्यासमें भी उपलब्ध है। कृति अपने कथ्यको व्यक्त करनेमें सक्षम है। □

### अपने अपने अंधेरे?

शेखक : अमृतलाल मदान

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

‘अपने अपने अंधेरे’ एक लघु उपन्यासिका है, जिसके साथ तीन कहानियां क्रमशः ‘दृष्टिदान’, ‘हिप्पो’ और ‘वह रात’ भी संकलित हैं। ये सभी रचनाएं स्त्री-पुरुषके वर्जित संबंधोंको आधार बनाकर लिखी गयी है। यद्यपि यह कहा गया है कि इसमें स्त्री-पुरुष संबंधोंको बहुआयामी दृष्टिकोणसे रूपायित किया गया है, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि नर और मादाकी आदिम हवसही प्रत्येक रचनाके घटनाक्रमका आधार बनी है। मात्र एकही रचना ऐसी है, जिसमें पुरुषके साथ नारी द्वारा भोग प्रस्तावको अस्वीकृति दी गयी है। शेष सबमें पुरुषही अपनी आदिम दैहिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिए नारीको अपने जालमें फांसे का प्राण-प्रण प्रयत्न करता है तथा किसीभी युक्तिसे फांसे रखना चाहता है।

इस सारी ‘आदिम कथा’ के साथ रचनाकारने आदर्शोंकी भी घुट्टी पिलायी है। मूलतः भारतीय होनेसे उपन्यासका एवं कहानियोंके तमाम पुरुष चरित्र अन्त-

१. प्रका. : विशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर, दिल्ली-११००३५। पृष्ठ : १०४; का. ८६; मूल्य :



द्वन्द्व या अन्तरके ऊहापोह या किकर्तव्यविमूढ़ताकी स्थितिको जगह-जगह उपदेशक बनकर प्रदर्शित करते रहते हैं। किन्तु हर समय यह साफ नजर आता है कि सारा अन्तर्द्वन्द्व बनावटी है। आंतरिक स्तरोंसे इसका तालमेल नहीं है। क्योंकि नैतिकता और अनैतिकताके झूलेमें डूबते-उतराते व्यक्तित्वका अंतर्द्वन्द्व कुछ दूसरेही ढंगका होता है—यदि वह अंतरकी घुमड़नके रूपमें आकार पा जाये। इसमें उन आंतरिक रूपोंका नहीं, मात्र जिस्मोंके संबंधोंकी सतहको ही आह्लादके साथ चित्रित करनेकी चेष्टा सर्वत्र परिलक्षित होती है। इसीके साथ एक बात और कहना युक्तिसंगतही होगा कि उपन्यासकी भूमिका लेखिका डॉ. मंजुला गुप्तने यथासंभव इसे दार्शनिक वोझिलपनसे भरा पूरा बनाने का यानी वह गंभीर दृष्टिकोण ओढ़ानेका प्रयास किया है, जिसके माध्यमसे बात भारी होजाये। किन्तु उसमें भी अनेक अंतर्विरोध नजर आते हैं। परिणामतः बुद्धि-जीवी मानसिकताके तर्क सच्चाइयोंका किसी सीमातक मजाकही उड़ाते हैं।

इन सभी बातोंको समझानेके लिए पहले इसके कथानकको अनावृत्त करना अत्यावश्यक है। 'अपने अपने अन्धेरे' में दो पुरुष हैं क्रमशः प्रोफेसर राजेश और प्रदीप। दोनोंही विवाहित। दोनोंको अपने-अपने घर ऊब अनुभव होती है और दोनोंके अन्य स्त्रियोंसे संबंध हो जाते हैं। फर्क इतनाही है कि प्रो. राजेश अपने विवाहके बाद अविवाहित रेखाकी विवश स्थितियों और भावुकतापूर्ण मनःस्थितिका लाभ लेते हुए उससे अपना संबंध जोड़ता है और प्रदीपके मोहिनीसे संबंध उस समगसे बने हुए हैं जब दोनों अविवाहित थे और दोनोंने ही अन्योसे विवाह करनेके बादभी अपने संबंध बनाये रखे। इन संबंधोंके क्रममें प्रोफेसरको इसलिए अपने एकाकीपनमें अंतर्द्वन्द्वसे ग्रसित बताया है कि वह 'प्रोफेसर' है और नैतिक शिक्षापर उसे हर सप्ताह व्याख्यान देने पड़ते हैं। अंतर्द्वन्द्वकी दूसरी स्थिति तब बनती है जब रेखाके पिता रेखाके विवाहकी पेशकश राजेशके छोटे भाई सुरेशसे करते हैं। यद्यपि प्रो. राजेश के साथ अविवाहित अवस्थामें अपने यौन संबंधोंको अनैतिक न माननेवाली रेखा इस विवाहके लिए इसलिए तैयार है कि इसके होनेसे राजेशके साथ उसके संबंध बने रहेंगे, जबकि नैतिक शिक्षाका पाठ पढ़ाने वाला प्रोफेसर संभवतः इसलिए इस स्थितिको स्वीकार

नहीं कर पाता कि तब रेखाकी देहका भोग उसका छोटा भाई उसकी जानकारीमें करेगा। इसलिए वह 'फिल्मी स्टाइल' में अपने छोटे भाईको शराबी, जुआरी बदचलन आदि बताकर रेखाके पिताको अपने छोटे भाईसे एकाएक घृणा करनेकी स्थितिमें ले आता है। सोचता है कि अब रेखापर मात्र उसका ही अधिकार होगा, किन्तु आशाके विपरीत रेखा राजेशके घर ट्यूशनपर आना छोड़ देती है—शायद इसलिए कि राजेश को सुरेशके बहाने स्थायी पानेकी रेखाकी इच्छापर राजेशने ही कुठाराघात कर दिया था और इससे राजेश अपनेही जालमें छटपटाकर रह जाता है। इधर प्रदीप मोहिनीके संबंधोंका ज्ञान जब मोहिनीके पतिको हो जाता है, तब वे मोहिनीकी अच्छी-खासी मरम्मत कर देता है। टांगें तुड़वाने और नौकरीसे निकाल दिये जाने के भयसे प्रदीपको मोहिनीसे संबंध तोड़ देने पड़ते हैं। इस प्रकार यह पात्रभी अंततः छटपटाकर रह जाता है।

प्रस्तुत संग्रहकी पहली कहानी 'दृष्टिदान' का कथानक कुछ भिन्न है। उषाको अपने मकानमें किरायेदार बनाकर कथानायक उसकी देहका जागीरदार बनने का सपना ही नहीं देखता, बल्कि इस दिशामें सक्रिय प्रयत्न भी करता है। उसे लुक-छिपकर संपूर्णतः अनावृत्त देखकर उसका मन वशमें नहीं रहता और वह उसे फांसनेके लिए निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता है। किन्तु उषा उसके इरादे भाँप जाती है और अन्तमें उसकी फटकार नायकको इसलिए राखी बंधवानेपर आमादा कर देती है कि प्रयोजन निष्फल होनेसे अब उषा उमे एकाएक 'दृष्टिमयी, आनंदमयी, प्राणमयी' वगैरह-वगैरह के रूपमें दिखायी देने लगती है। खोखला अंतर्द्वन्द्व यहाँ भी है और दोनोंही रचनाओं (उपन्यास तथा इस कहानी) में रचनाकारने नायकों (राजेश तथा कथानायक) को पूरा-पूरा एकांत देनेकी व्यवस्था की है। अब जब प्रेमिकाएं घर होती हैं, तब पत्नियाँ नौकरी करने जरूर जाती हैं और अंततक लगभग सीधी, सच्ची और नैतिकताको माननेवाली बनी रहती हैं।

दूसरी कहानी 'हिप्पो' में भी पुरुषकी यौन संबंधों की पशु-प्रवृत्तिको ही रेखांकित किया गया है। इथो-पियाकी हिप्पो झील देखने गये दो मित्र अप्पू और मिस्टर कथानायक अपनी अन्तिम बसको जान-बूझकर इसलिए छोड़ देते हैं, क्योंकि अप्पूको होटलकी रिसेप्सनिस्टने स्पष्टतः देहभोगका निमंत्रण दिया था। ये



दोनोंभी विवाहित हैं। कथानायक नैतिकतावादी है अतः अकेले ही रात गुजारता है, जबकि अप्पूकी रात उसी काउण्टरवाली लड़कीके साथ बीतती है। वैसे दूसरे दिन बिस्तर छोड़तेही शिथिल अवस्थामें अप्पूको एका-एक पश्चात्ताप होता है, पर व्यर्थ-सा।

‘वह रात’ शीर्षक कहानीमें आतंकवादी गिरोहसे छूटे ‘मैं’ और ‘वह’ अपने प्राण बचाने एक रात किसी अपरिचितके घर बिताते हैं और दहशतके वातावरणके बीचभी देहभोगमें संलग्न हो जाते हैं। वास्तव में यह योजना आतंकवादियोंके आक्रमणके पूर्वही दोनों सांकेतिक रूपमें सुनिश्चित कर चुके थे। लगता है कि आक्रमण इसी सुनिश्चितताको आकार देनेवाला लेखकीय संयोग-विधान है।

इस प्रकार प्रत्येक रचना मात्र देह संबंधोंको स्थापित करनेकी पशु-लालसाके ही चित्रणका प्रयत्न है, अन्य कुछ नहीं। सभी पुरुष विवाहित, सभीकी पत्नियां आदर्श भारतीय स्त्रियाँ, किन्तु देहभोगमें सक्रिय सहयोगी स्त्रियाँ ‘मूल्यहीनता’ को ही तथाकथित आधुनिकताका आदर्श माननेवाली हैं। ये सभी भोगके लिए हर क्षण लालायित रहती हैं और अत्यन्त सहजतासे समर्पणभी कर देती हैं। प्रस्तुत कृतिकी भूमिका लेखिका डॉ. मंजुला गुप्त तथा कृतिकार श्री अमृतलाल मदानने अनेक बार ‘जैनेन्द्रकुमार’ नुमा लहजेमें इन प्रेमिकाओंको प्रेरणा प्रदान करनेवाली बताया है, किन्तु पूरे लघु उपन्यास और कहानियोंमें ये स्त्रियाँ देहभोगके अलावा और

कोई प्रेरणा प्रदान नहीं करतीं। प्रेमका अर्थमात्र देह-भोगही सिद्ध होता है और रचनाएं इस बातको भी बताती हैं कि सहानुभूतिका षड्यंत्री-प्रदर्शन करके किसी भी स्त्रीको भोगा जा सकता है और स्त्रियोंको अन्य पुरुषों द्वारा भोगा जाना चाहिये क्योंकि विवाहेतर संबंध बनाना पुरुष जीवनका मौलिक अधिकार है तथा सुखकी स्थिति वजित रेखाओंको पार करनेमें ही है।

प्रस्तुत कृतिकी रचनाओंमें लगभग सभी पुरुष पात्रोंका जीवनगत संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व देहभोगकी लालसाका ही ऊपरी परिणाम है अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे पात्र स्वस्थ न होकर विवाहेतर यौन संबंधोंकी लालसामें मानसिक तनाव झेलनेवाले रुग्ण पात्रही दिखायी देते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उन्मुक्तता को प्रश्रय देनेवाले विद्रोही पात्रोंकी मूल्य सर्जनाके विरुद्ध ये उच्छृंखल पात्र मात्र मूल्यहीन संदर्भोंको ही आयत्त करते हैं।

वैसे यौन-संबंधोंकी लालसाको लेकर पुरुष चरित्रों पर पड़नेवाले मनोवैज्ञानिक प्रभावोंका चित्रण लेखकने बखूबी किया है। उनके सारे अतिभावुकतापूर्ण उद्गार पाठकोंके मनको अपने अनुकूल उत्तेजित करनेमें समर्थ हैं तथा भविष्यमें अनियंत्रित रहनेवाली किसी धूमिल पशु-प्रवृत्तिगत रेखाका आभासभी अनुभव कराते हैं, किन्तु सारी स्थितियाँ निराशाजनकही कही जा सकती हैं। □

## कहानी

### सारलादास कथा-सागर?

सम्पादक : शंकरलाल पुरोहित

समीक्षक : डॉ. हरदयाल

सारलादास उड्डियाके आदि कवि हैं। उन्होंने जो

१. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : ३२ + १५२; का. ८८; मूल्य : ३५.०० रु-।

‘प्रकर’—मई ६०—३८

रचनाएं लिखी हैं, उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय उनका ‘महाभारत’ काव्य है। उनके महाभारतका आधार तो व्यासदेवका महाभारतही है, किन्तु उनकी रचना मौलिक रचना है। उन्होंने मूल महाभारतसे उसका कंकाल-भर लिया है किन्तु कहीं विस्तार, कहीं संक्षेप कहीं मौलिक घटनाओं, कहीं पात्रों और स्थानोंके नाम-परिवर्तन आदिका सहारा लेकर मौलिक रचना प्रस्तुत कर दी है। उनके महाभारतपर लोकका प्रभाव



अधिक है, जिनके कारण उनके महाभारतमें अतिमान-वीर्यताकी अपेक्षा मानवीर्यता अधिक है। 'सारलादास कथा-सागर' में उनकी महाभारतके तेईस कथा-प्रसंगों को विभिन्न उड़िया रचनाकारोंने प्रस्तुत किया है।

'सारलादास कथा-सागर' के कथा-प्रसंगोंका सम्बन्ध कर्णकी दानवीरता, कौरव-पाण्डवोंकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, शिखण्डीके विवाह, अर्जुनको दिये गये उर्वशीके शाप, द्रोणाचार्यको मारनेके लिए युधिष्ठिरके द्वारा बोने गये झूठ, दुःशासन और दुर्योधनकी मृत्यु, दक्ष-यज्ञ आदि प्रसंगोंसे है। ये कथा प्रसंग अत्यंत रोचक और मानव मनका उद्घाटन करनेवाले हैं। इनको पढ़कर यह कहनेका मन करता है कि सारला साहित्य संसद, कटकको चाहिये कि वह सारलादासके महाभारतका अविकल अनुवाद हिन्दीमें प्रस्तुत करे। इससे सारलादास अखिल भारतीय महाकविके रूपमें जाने जा सकेंगे, और हिन्दी पाठक तो उपकृत होंगे ही।

'सारलादास कथा-सागर' के कथा-प्रसंगोंसे यह तो सहजही स्पष्ट हो जाता है कि सारलादासने हर प्रसंगमें अपनी मौलिक उद्भावनाएं की हैं। शिखण्डी-विवाह को ही लीजिये। 'महाभारतके मूल प्रसंगसे तुलना करने पर अनेक अन्तर दिखायी देते हैं। कहीं मूल अधिक अच्छा लगता है, कहीं सारलादासकी मौलिक उद्भावना। पहले तो नामोंमें ही अन्तर है। मूल महाभारतमें शिखण्डीका विवाह दशार्णराजकी पुत्रीसे होता है। सारलादासमें उडंग-नरेश मधुकेश्वरकी पुत्री मधुवती से। व्यासजीने दशार्णराज हिरण्यवर्माकी पुत्रीका नाम नहीं दिया है। जो यक्ष शिखण्डीको पुरुषत्व प्रदान करता है, मूल महाभारतमें उसका नाम स्थूणाकर्ण है, सारलादासमें तूलाकर्ण। इस प्रसंगमें शिखण्डीके विवाह, उसकी पत्नीको उसकी नपुंसकताके ज्ञान, उसे पुरुषत्व की प्राप्ति आदिके विवरणमें मौलिक अन्तर है। उदाहरणके लिए, मूल महाभारतमें इतना कहकर कि 'दशार्णराजकी कन्याने कुछही दिनोंमें समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है—ततः सा वेद तां कन्यां कश्चित् कालं स्त्रियं किल' काम चला लिया गया है, किन्तु सारलादासने इस प्रसंगको अधिक विस्तार दिया है। सारलादासका शिखण्डी मुहागरातसे ही सम्भोग-विरत रहनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाता है। एक रात वह मधुवतीसे उसकी छोटी उम्रका बहाना बनाता है जिसपर वह क्रुद्ध होकर कहती है—“मुझे बालिका समझ लिया है? मैं आपका कृष्ण-सहोदर हूँ।”

या नहीं, यह मुझसे ज्यादा आप जानेंगे? मेरे साथकी कन्याएं चार-चार बच्चे जन चुकी हैं। वास्तवमें आपकी इच्छा क्या है, साफ-साफ कहें? संसार बसाने की इच्छा न थी, विवाह न करते, योगी होना उचित था, अब विवाह कर निरपराध बालिकाका जीवन बर्बाद करना चाहते हैं? मैंने आपका क्या बुरा किया था, जो यह सजा दे रहे हैं?” (पृष्ठ ३३)। लेकिन शिखण्डीपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सुनते-सुनतेही सो जाता है। उसे सन्देह होता है। वह प्रसुप्त शिखण्डीको निर्वस्त्र करनेपर पाती है कि “पति का पुरुषांग ही नहीं। वह स्थान तो खाली है। न पुद्गल है न स्त्री! क्लीब, नपुंसक, हिजड़ा, पुरुषबलहीन है उसका पति।” (पृष्ठ ३४)। मधुवतीका शिखण्डीकी नपुंसकताका इस प्रकार पता लगाना अधिक नाटकीय विश्वसनीय और स्वाभाविक है। इस प्रकारकी मौलिकता सारलादासमें प्रायः सभी प्रसंगोंमें मिलती है।

विभिन्न प्रसंगोंमें सारलादासने मौलिक उद्भावनाओंके साथ-साथ उनके अभिप्रायभी बदले हैं। हेमन्त-कुमार दासके द्वारा लिखित विद्वत्तापूर्ण 'सारलादासः परिचय' में बताया गया है कि 'सारलाके गोपीजन वल्लभ सहजिया लम्पट कृष्ण' है। अनुमान लगाया गया है कि कृष्णको लम्पट और कामातुर विलासीके रूपमें चित्रित करनेकी प्रेरणा जयदेवके 'गीतगोविन्द' से मिली है। 'सारलादास कथा-सागर' के 'उत्तर-पुरुष' प्रसंगमें कृष्ण और अर्जुनके प्रति अभिमन्युका दृष्टिकोण मूल महाभारतसे सर्वथा भिन्न है। जब भीम आदि पाण्डव अभिमन्युको आगामी कलके युद्धमें पाण्डव-सेनाका सेनापतित्व करनेका निर्देश देते हैं तो वह गम्भीर एवं आत्मविश्वास भरे स्वरमें कहता है—“ठीक है। मैं आप लोगोंके आदेशको शिरोधार्य करता हूँ। पर मेरा भी एक प्रण है—यदि मैं इस युद्धमें मृत्यु-वरण करूँ तो वह होगी मेरे लिए श्रेयस्कर। और अगर जीत जाऊँ तो पहला कार्य होगा कृष्ण-अर्जुनकी हत्या करना।”

“अभिमन्यु!” एक तरहसे चीख उठे भीम।

“हां, ज्येष्ठ तात! जो लोग आपको और उत्तर पुरुषोंको पथभ्रष्ट कर रहे हैं, उन्हें क्षमा नहीं मिल सकती। यही है मेरी प्रतिज्ञा, आप चलिये। मैं प्रस्तुत हूँ।” (पृष्ठ ११८)।

स्पष्ट है कि सारलादासकी महाभारत व्यासकी महाभारतपर आधारित होते हुए भी मौलिक रचना है। उसकी कथा-शैली बहुत रोचक है। उड़िया भाषाके



विभिन्न लेखकों ने सारलादासके महाभारतकी कहानियाँ प्रस्तुत करके स्तुत्य कार्य किया है। अनुवादकी भाषामें कहीं-कहीं उड़िया शब्दोंकी झलक होनेपर भी साफ-सुथरी हिन्दीमें कहानियाँ प्रस्तुत की गयीं हैं। हिन्दी पाठकोंके बीच 'सारलादास कथा-सगर' का स्वागत होगा। □

## धूप अनमनी धूप गुनगुनी?

कहानीकार : गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

समीक्षक : डॉ. भगीरथ वड़ोले

अपने लंबे इतिहास क्रममें हिन्दी कहानीको कितने ही पड़ावोंसे होकर गुजरना पड़ा है। तिलिस्म-ऐयारी, पशुओं और परियोंके मनोरंजक किस्सोंके साथही आदर्शोंके घटाटोपको अपनाती हुई हिन्दी कहानी अपने संघर्षकालमें यथार्थकी ठोस जमीनपर खड़ी हुई। फिर इसने आधुनिक-क्रमके बीच मनुष्यकी जीवन स्थितियोंकी तलाश करते हुए कभी तो अनेक आन्दोलनोंके घेरेको स्वीकारा तो कभी अपनी सहज परिचय धाराको ही प्रवहमान बनाये रखा। कहानीकी यह सहज परिचयधारा जब-जब आन्दोलनोंके वात्याचक्रोंमें घिरी, लगा कि जैसे बहुत कुछ उथलपुथल होनेवाली है, पर विशेष कुछ हुआ नहीं और जब कभी मानवीय संवेदनासे सहजतासे जुड़ी, तब लगा कि जैसे इसकी इसी जीवनी शक्तिपर भरोसा कर इसके भविष्यके प्रति आश्वस्त हुआ जासकता है। विगत कुछ दशकोंकी कहानियोंमें इसीलिए यह आश्वस्त-भाव सर्वत्र दिखायी नहीं देता, किन्तु जहाँ कहीं भी दिखायी देता है, मन साहित्य कलाकी ऊंचाइयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। हिन्दी कहानीके भविष्यके प्रति ऐसाही आश्वस्त भाव जगानेमें श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तवका प्रथम कहानी संग्रह 'धूप अनमनी धूप गुनगुनी' पूर्णतः समर्थ है।

प्रस्तुत संग्रह 'धूप अनमनी धूप गुनगुनी' की सभी कहानियोंकी पहली विशेषता यही है कि ये मानव संवेदनाकी ठोस जमीनसे जुड़ी हैं। न किसी वादके घेरे

में, न किसी आन्दोलनके चक्करमें; अपितु पूरी कलात्मकताके साथ आजके मानव जीवनकी विविध स्थितियोंको प्रत्यक्ष करती हैं। न इनमें अतिभावुकता है, न कपोल कल्पनाएं और न इनमें तथाकथित प्रयोगोंके मुखौटे ही चस्पा हुए हैं। इनमें है संवेदनाकी सही तरलता और सघनता तथा इनमें है संप्रेषित होनेका दमदार माट्टा। और यह सब कुछ कहानीके सारे कहानीपनको सहेजते हुए सहजतासे अनुभव होता है। यह इस संग्रहकी दूसरी विशेषता कही जायेगी।

'धूप अनमनी धूप गुनगुनी' में कुल मिलाकर तेरह कहानियाँ हैं और लगभग सभी कहानियाँ मानव जीवनकी घनीभूत संवेदनाको मुखर करती हुई मानवीयताके शाश्वत मूल्योंके प्रति समर्पित हैं। 'पीपलकी डालें' तथा 'गांठकी गांठ' कहानी युगोंसे प्रताड़ित विवश जिंदगी जीरही नारीकी करुण गाथा प्रस्तुत करती हैं। जीवनके करुण प्रसंगोंमें ओतप्रोत इन भावनापूर्ण कहानियोंमें आद्यंत एक गहरे अवसादकी छाया मंडराती दिखायी देती है। जहाँ 'धूप अनमनी धूप गुनगुनी' कहानीमें रजनीके माध्यमसे जीवनका समर्थ और सशक्त चित्रण हुआ है, वही 'गांठकी गांठ' में निर्मलाके बहाने नारीकी विवश दयनीय स्थितिका अन्तर्द्वन्द्वात्मक रूपोंकन भीतरकी पीड़ाको निरंतर गहराता रहा है। इसी तरह 'पीपलकी डालें' शीर्षक कहानीमें भी नारीकी इसी दयनीय स्थितिका चित्रण है। किन्तु जब 'पीपलकी डालें' की बहू पुरुषकी शंकालु प्रवृत्तिपर प्रहार करते हुए कहती है कि—'क्या इस तरह वे मुझे रोक सकते हैं? नारी जो चाहे कर सकती है, पर वह करती नहीं।' अथवा 'गांठकी गांठ' की निर्मला कहती है।—'सच पूछो तो मर्द डरनेवाली चीजही नहीं होते।'—तब लगता है कि अपने अन्तरके विद्रोहको भीतरही दबाये रखकर नारीने अपनी अवश स्थितिको संसारकी व्यवस्था बनाये रखनेके लिए ही स्वीकार किया है।

प्रस्तुत संग्रहके अन्तर्गत घटनाके निशान, उजड़ लोग, जब पाँव निकल पड़े—शीर्षक कहानियाँ आर्थिक अभावोंसे त्रस्त कठिन जीवनसे समझौता कर चलने वाले मनुष्यकी कहानियाँ हैं। आर्थिक अभावोंको जीवगत कठिनाइयोंका मूल मानते हुए भी ये कहानियाँ किसी वाद-विशेषसे जुड़कर नारेबाजीको ही आख्यायित नहीं करती, बल्कि मानवीय संवेदनाको आधार बनाकर जीवनके शाश्वत संदर्भों एवं मूल्योंको व्या-

१. प्रका. : उन्मेष प्रकाशन, एन-१६ ए, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-६२। पृष्ठ : १६२; का. ८६; मूल्य : ५०.०० रु.।



ख्यायित करती हैं। 'घटनाके निशान' का रामसिंह और उसकी पत्नी, 'उजड़ ड लोग' की निर्मला तथा 'जब पांव निकल पड़े' की गरीब महरी छदमियां की व्यथा-कथा करुण प्रसंगों के अनेक प्रभावी चित्र प्रस्तुत करने के साथ ही आज के मनुष्य के विसंगतिपूर्ण दृष्टिकोण पर जबर्दस्त प्रहार भी करती है।

युगीन विसंगतियों पर लेखक ने अन्य कहानियों में भी आक्रोशपूर्ण दृष्टि से प्रहार किये हैं। शंका-दर-शंका, टाइगोन, राशनका गेहूं तथा गंगाका पानी आदि में लेखक ने भ्रष्टाचार और सांठगांठ के कारण परेशान आम लोगों के दुख-दर्द का बेबाक भावनापूर्ण चित्रण कर एक नयी चेतना जगाने का अप्रत्यक्ष ही स्तुत्य प्रयास किया है। 'क्रिकेट मैच' आज के मनुष्य की विचित्र मनः स्थितिको प्रदर्शित करता है। 'बढ़ती उम्र का सच' तथा 'स्वागत पार्टी' आज की पीढ़ी द्वारा परंपरागत स्वस्थ मूल्यों को बिना सोचे नकारने की प्रवृत्ति से संबद्ध कहानियां हैं। जिन बच्चों को संस्कार देने की प्राणप्रणसे कोशिश की, जब वे ही आदेश देने लगे और मन के भीतर एक गहरे सन्नाटे की सर्जना में सहायक बनें, तो बात वस्तुतः चिंतनीय हो जाती है। परिणाम निकलता है—पीढ़ी के दिग्भ्रमित हो जाने का और यही स्थिति स्वागत पार्टी में भी दिखायी देती है। इसी के साथ परंपरा को ढोकर चलने वाले और हर नयी बात को गलत करार देने वालों पर भी लेखक ने व्यंग्य प्रहार किये हैं।

वस्तुतः सभी कहानियां मानवीयता के ठोस धरातल से संबद्ध और निष्पन्न हैं, फलतः इनमें मानवीयता के मूल्यों की पीड़ा और स्थापना की छटपटाहट सर्वत्र परिलक्षित होती है। यहां यह कहना असंगत नहीं होगा कि लेखक ने इन कहानियों को हल्के चित्रण से सस्ती कहानियां नहीं बनने दिया, बल्कि अपने कलात्मक कौशल का बखूबी इस्तेमाल कर उनकी गंभीरता को बनाये रखने का सार्थक और समर्थ प्रयास किया है। जगह-जगह संवेदना की प्रभावी अभिव्यंजना है, मानवीय पीड़ा का प्रत्यक्षीकरण है, विसंगतियों पर चुटीले व्यंग्य-प्रहार हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन सबके बावजूद न कहीं फैशन परस्ती है, न नारेबाजी, बल्कि कहानियों में अनुठा कहानीपन है। उसके संवादों में निहित शब्दों की व्यंजना सटीक और गहरी है। भाषा का जीवंत प्रयोग, प्रतीक और बिम्बों की उपयुक्त सार्थक स्थिति तथा गहरी मानवीय संवेदना—सभी

इनमें एकसार हो गये हैं। वस्तुतः ये कहानियां स्वयं मुखर हैं तथा इनकी बनावट रचनाधर्मिता का कौशल-पूर्ण साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं। ऐसे स्वस्थ संकलन का सम्मान किया जाना वस्तुतः संगत है। □

## काला नवम्बर?

सम्पादक : सुरेन्द्र तिवारी

समीक्षक : गोविन्दप्रसाद (स्वर्गीय)

'काला नवम्बर' में काला विशेषण इस बात का सूचक है कि भूतपूर्व प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की नृशंस हत्या (३१ अक्टूबर, '८४) के फौरन बाद आने वाला नवम्बर का महीना राष्ट्रव्यापी स्तर पर होने वाले साम्प्रदायिक दंगे में मारे जाने वाले लोगों के खून से नहाया हुआ था। इसमें अभूतपूर्व यह रहा कि इस बार आदमी का गुस्सा सिक्ख समुदाय पर उतारा गया। उस हत्या खून-खराबे ने लेखक की संवेदना को भी छुआ। देश में शायद ही कोई ऐसा संवेदनशील व्यक्ति रहा हो जिसको उपर्युक्त घटना ने न छुआ हो, लेकिन प्रस्तुत संग्रह की २७ कहानियां कुछ विशेष हैं जो सम्पादक द्वारा उठाये गये प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने में सहायता देती हैं। सम्पादक का प्रश्न है कि, "क्या सन् '४७ को हम इतनी आसानी से भूल सके हैं? क्या सन् '८४ को हम इतनी आसानी से भूल जायेंगे? — जिनका उत्तर हां में है उनसे मुझे कुछ नहीं कहना, लेकिन जिनका उत्तर नहीं में है उनसे मुझे यही कहना है कि आइये, हम कुछ और सजगता से, कुछ और गम्भीरता से सोचें कि ऐसा क्यों होता है?"

उत्तर की तलाश करें तो पता लगता है, कि 'सत्य को जीने की राह' (विष्णु प्रभाकर), 'अरथी' (वीर राजा), 'छुटपुटा' (भीष्म साहनी), 'मोहजोदड़ो' (पंकज विष्ट), 'नंगे लोग' (सुरेन्द्र मनन), 'चल खुसरो घर आपने' (सुरेन्द्र सुकुमार), लुटे हुए (आभा गुप्त), 'हत्यारा' (सुरेन्द्र तिवारी) आदि कहानियों में वैचारिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से समस्या को देखा गया है। विष्णु प्रभाकर ने देखा "उसी मादक खूब-सूरती को हम दरिदे, देरतक झिझोड़ते-नोचते रहे—

१. प्रका. : अभिव्यंजना प्रकाशन, नयी दिल्ली-२६।

पृष्ठ : २६६; डिमा. ८७; मूल्य : ₹ १५०.०० रु.।



पर समाप्त नहीं हुई हमारी जानवर होनेकी क्षमता ।”  
(पृ. १३) । भीष्म साहनीकी दृष्टि ऐतिहासिक है ।  
वे निष्कर्षपर पहुंचतेहैं कि, “जैसे हम इतिहासके झुट-  
पुटमें जी रहेहैं । आपसी रिश्तोंके इतिहासका पन्ना  
पलट जा रहा है, दूसरा खुल रहा है । इस अगले पन्ने  
पर जाने हमारे लिए क्या लिखा होगा ।”

वीर राजाका कहना, “अगर लोग जाति, वर्ग,  
धर्म और स्थानके बलबूतेपर चुनाव लड़ेंगे  
तबतो तीन चार चुनावोंके बाद हम  
औरभी बंट जायेंगे—ये सरकारकी नीतियां  
हैं जो साम्प्रदायिकता और भेदभावको बढ़ावा देतीहैं  
—(पृ. ६४) । इसी बातको पंकज विष्टने और गह-  
राईमें उतरकर कहा कि “पिछले चालीस वर्षोंमें ‘लिटिल  
बॉम’ किस तरह अपने शिकारोंको तड़पा-तड़पा कर  
खाता रहा है, यह सब दस्तावेज है ।”—(पृ. १६६) ।  
क्योंकि “तुमने पढ़ा होता तो इतने वर्षोंसे तुम रावण  
नहीं बन रहे होते—राम पात्र नहीं एक आदर्श  
है जिसे हमें जीना होता है और रावण एक ऐसा पात्र  
है जिससे हमें बचना है ।”—(पृ. १६२) । सुरेन्द्र मनन  
का भावातिरेक बातको ज्यादा वास्तविक बनाकर पेश  
करता है कि “मैं आजाद देशका नागरिक हूं, सदियोंसे  
भूखा हूं, सालोंसे प्यासा हूं । तुम्हारी सभ्यता मेरी बर्ब-  
रताको नहीं ढांप सकती, तुम्हारी विकास योजनाएं  
मेरी भूख नहीं छिपा सकती । मैं आदमीको जिंदा जला  
सकता हूं ।—देखो और सुनो मुझे, मैं जिन्दा हूं और  
रहूंगा क्योंकि अपनी जिंदगीके लिए तुम्हारे शासकोंको  
बार बार मेरी जरूरत पड़ती है कि मैं आऊं और अपना  
तांडव दिखाऊ ।”—(पृ. २२६) । इसी बातको सुरेन्द्र  
कुमार होटलके लड़केके इन शब्दोंमें कहतेहैं, “ये  
आदमीके बनाये हुए धर्म आदमीका खून चूसतेहैं ।  
दादा साब अब वक्त आ गया है कि इन धर्मोंकी और  
इनको चलानेवालोंकी अर्थी निकाल दीजाये—मेरा घर  
मुझे वापस नहीं मिल सकता । मेरे सपनेका शहर भी  
दुनियाके किसी कोनेमें नहीं होसकता, पर यह हकीकत  
जानते हुएभी मन बार बार वही सपना देखना  
पसंद करता है ।” (पृ. २३६-२३७) । सुरेन्द्र  
तिवारीने उस कारणको पकड़नेकी कोशिश की है  
जब आदमी प्रतिशोधमें खड़ा रह सकताथा । वह  
“जब भी उन आंखोंको याद करता है, उसके पैरोंमें एक  
कम्पन भर जाती है । वह यह तो नहीं जानता कि कोशिश  
करके भी ताराको वह बचा सकताथा या नहीं परन्तु  
‘प्रकर’—मई’९०—४२

इतना तो निश्चित रूपसे जानता है कि यातनाके उन  
क्षणोंमें वह लखवंत ताईके पास खड़ा हो सकताथा,  
परन्तु तब वह कायर बना बंद कमरेमें बैठा रहा ।”  
(पृ. १६०) ।

इन कहानियोंके अलावा इस संग्रहमें अधिकांश कहा-  
नियां ऐसी हैं जो आदमीके उन्मादको और भी नंगा  
करके दिखातीहैं कि किसप्रकार उस तरसहारके सामने  
न्यायभी विवश और दयनीय हो जाता है । जब भावो  
के “कुटुंबके सारे सत्रह लोगभी आग धुआ बनकर  
जाने किन असमानोंमें खो गये तो पता चला कि कच्चा-  
धारी आदमखोर कहानी नहीं सच्चाई है, जबभी उसके  
बच्चे खानेके लायक हुए, ये आदमखोर उन्हें खा गये ।  
मगर भावो यह कहानी इच्छाधारी आदमखोरोंकी,  
अब किसीको नहीं सुनाती क्योंकि भावो अब बोलना  
भूल चुकी है—(पृ. ८४) । ‘फिर एक बार’ (सच्चिदा-  
नन्द जोशी) की चाईजीका दर्द और तीखा है । सीमा  
पार केवल घर-द्वार ही नहीं छूटा, नाते रिश्तेदार भी  
छूट गये । फिर अड़तीस साल बाद दिल्लीमें एकदुर्घ-  
टना हुई और दोनों बेटे मारे गये । किसी प्रकार बहूओं  
बच्चोंका मन रखती है । और जब बदला, बरबादी, लूट  
और कत्लका बाजार गर्म होता है तो वह किसीपर  
भरोसा कैसे करे । ‘बच्चोंको स्कूल लेने खुदही जानेको  
तैयार हो जाती है । चाईजीने अभीभी हिम्मत नहीं  
हारी है । उनका कहना है, “नहीं मैं ही जाऊंगी । मैं  
उन दरिदोंको देखना चाहती हूं । उनसे पूछना चाहती  
हूं । कि तुम्हारी भूख अभी मिटी या नहीं ।” (पृ.  
२६४) । लेकिन सहना, एक प्रभावोत्पादक कहानीको तो  
जन्म दे सकता है किन्तु साम्प्रदायिकताका उससे विरोध  
नहीं होजाता, जबकि दिंगे होते नहीं हैं करवाये जाते  
हैं ।” इसका मुकाबला करती है ‘वसन्त लाया जाता है  
(सरोज वशिष्ठ) की मोना । जैसेही साइकिल सवार  
गुरुमुखपर वार करता है वह अपनी कोठीका गेट  
खोलकर उस भेड़ियेपर झपटती हुई-सी कहती है,  
—‘स्टाप इट-यू काण्ट डू दिस । यू काण्ट किल दिस  
मैन’—(पृ. २६६) । ऐसेही ‘अगली सुबह’ (मृदुला  
गर्ग) की आंटी अकेलेही भेड़ियोंके सामने डट जाती है ।  
‘कुछ अनकहा’ (कुसुम अंसल) की मैं और जुनूनिने  
(राकेश तिवारी) की राधेकी मां भीड़के सामने खड़ी  
होकर युवकोंकी शिक्षा-दीक्षा और खानदानपर कीचड़  
उछालने लगी थी ।’ (पृ. २६५) । लेकिन व्यक्तिगत



प्रतिरोध आदमीकी पहचान तो कराता है लेकिन जब 'दंगे भड़कते हैं तो लोगोंमें धार्मिक जोश, उन्माद भी हद तक विस्फोटक हो जाता है।' तो वह बहुत कारगर साबित नहीं होता। उससे जहर समाप्त नहीं हो जाता। जब जहर समाजकी रगोंमें दौड़ने लगता है सड़ांध आने लगती है, अंग गलने लगते हैं तो उसके कारणोंमें जाना जरूरी होता है। इस संग्रहकी कहानियां हमारा ध्यान इस ओर भी खींचती हैं। वे एक ओर आदमीके भीतर पल रहे पशुको नंगा करके दिखाती हैं तो साथ-साथ उसका पोषण करनेवाले तत्त्वोंको बिना किसी संकोच पक्षपातके उघाड़ती हैं। जैसे अफवाहें (हृदयेश) का बिरजू गुरु अपने चेलोंसे कहता है—जगू ? इस मुसलटे ने एक सरदारको मार दिया है और हम हिन्दु कुछ न कर पाये। हिन्दुओंके लिए यह डूब मरनेकी बात है।" —(पृ. ४४) 'एक भरा हुआ दिन (महीपसिंह) में इस मेडिकल इंस्टीच्यूटसे निकली हुई भीड़ने कितनीही टैक्सियोंको आग लगा दी। स्कूटरोंपर जाते हुए कुछ सिक्खोंको घसीटकर उतार लिया था, उन्हें पीटा गया और उनके स्कूटरोंको, उन्हींके पेट्रोलसे आग लगा दी गयी थी।' (पृ. ४७)। 'लुटे हुए' (आभा गुप्त) ने समस्याको ज्यादा गहरेमें छुआ है, एक ओर यह कहा गया है कि, "कुछ जूनूनियोंका फितूर जातिगत पहचान नहीं होता—एकने बुराईकी, दूसरेने वैसाही उत्तर उसे पकड़ा दिया तो बुरा कौन हुआ ?" तो दूसरी ओर एक औरही सत्यका उद्घाटन हुआ कि "रामदीनवा क्या कहिका दू वन लाया था। प्ररिस लै गइन। हम तो यह सोचें क गेहुंआ या चावरकी दुकानें लुटती तो पेटकी आग तो बुझती।' (पृ. २५७)। शोक (प्रन्तीसिंह) के बिहारीजीको भी लुटेके मालको घर ले आनेमें संकोच नहीं है। पार्टीके अध्यक्ष है, उन्हींने घोषणाकी कि वे तीसरे दिन प्रधानमन्त्रीका कारज करेंगे और अपना सिर मुड़ा-येगे और ठीकी बारहवें दिन ब्राह्मणोंके साथ पार्टीजनों को भोज देंगे।" (पृ. १२०)। लेकिन बिहारीजी यह

मतभी रखते हैं कि "कोई आसमान नहीं टूट पड़ा है। सभी लूट रहे हैं तो वो बेचारा (लड़िका) एक चीज उठा लाया। इसमें कौन बड़ी बात होगयी जो किसीको मुंह नहीं दिखा सकोगे।" (पृ. १२२)। इतनाही नहीं इस साम्प्रदायिकताके विष-वृक्षको पानी देनेवालों के शीर्षपर हैं 'संस्कृतिका अर्थ' (चन्द्रमोहन प्रधान) के तिवारीजी। वे भारतीय संस्कृतिका गीत गाते हैं। बख्तियार खिलजीके कारनामोंसे नवयुवकोंको तरह देते हैं। दंगाई मुसलमानोंके हमलेसे बचावके लिए उन्हें शह देते हैं। दलका कार्यालयभी अपनी कोठीमें खुलवा लेते हैं। और खुद कलक्टरसे मिलकर परिवार सहित अन्य स्थानमें शरण लेने चले जाते हैं। बलवेवाले हमला बोलते हैं और तिवारीजीकी कोठीकी रक्षामें दलका नेता मंगल अपने प्राण गवां देता है। और अंतमें मुख्यमन्त्री के आनेकी भी शहरमें खबर फैलती है। तिवारीजी कोठीपर लौटकर उनकी जानकी खैर मनानेवालोंको एक लम्बा-सा भाषण देते हैं। कहते हैं, "हम उन वीरोंकी संतान हैं, जिन्होंने सिर दे दिये, लेकिन आन नहीं दी। हमें उन नौजवानों पर गर्व है, जो अपने धर्म और संस्कृतिकी रक्षामें शहीद हुए हैं। हमें उन वीरोंका स्मारक बनवाना चाहिये।" (पृ. १४२)। यह कहानी समस्त भारतके सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेशका खुलासा करती है। यदि कोई समाधान ढूँढना चाहे उसे इसी परिप्रेक्ष्यमें तनिक और गहरे जाना होगा।

इतनाही नहीं, कलागत साधारणीकरणकी क्षमता भी इस संकलनकी कहानियोंमें अपार है। प्रत्येक कहानी दंगेके कारणोंके प्रति निन्दा भर्त्सनाकी भावनाको अवसाद, नैराश्य तथा आशा, विश्वास, एवं चिन्ता शक आदिकी संवेदनासे पुष्ट करके अपने कथ्यको सहजमें ही सम्प्रेष्य बनानेमें सक्षम है। इस संकलनका महत्त्व इसलिए भी ज्यादा है कि इसमें साम्प्रदायिकताके विषयको, आदमीके पशुत्वको उसके 'कन्सेन्ट्रेंट' को एक केपसूलमें इकट्ठा करके दिखाया गया है। □



## काव्य

### घटनाहीनताके विरुद्ध?

कवि : सुधेश

समीक्षक : डॉ. सुखवीर सिंह

सुधेश जनवादी कवि हैं। साधारण जनके दुःख-दर्द, इच्छा-आकांक्षाको वाणी देनाही उनकी काव्य रचनाका उद्देश्य है। भारतीय जन-जीवन तथा सामाजिक स्थितिमें आगयी जड़ता एवं ठहरावके विरोधमें उनका स्वर मुखर है। वे पूंजीवादी स्थिति-स्थापकता के खिलाफ हैं और साधारण जनकी स्थितिमें सुधारके लिए कुछ न कुछ करना चाहते हैं, भलेही वह बहुतही कम मात्रामें किया गया प्रयत्न ही क्यों न हो। 'घटना हीनताके विरुद्ध' उनका नवीनतम काव्य-संग्रह है जिसमें जड़ता एवं ठहरावके विरोधमें रची गयी कविताओं को संगृहीत किया गया है।

कवि सुधेशका यह निश्चित मत है कि जन-जागरण तथा जनहितके लिए कीगयी रचनाकी भाषाभी ऐसी होनी चाहिये जो साधारण जनताकी समझमें आसके। वे ऐसे आलोचक और उसकी आलोचनाका विरोध करते हैं "जो कविताके कथ्यमें तो जनभावनाओंका दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु उसमें वे एक विशिष्ट वर्गकी भाषा और एक ऐसे कला शिल्पकी मांग करते हैं जिसे सामान्य जन प्रायः समझ नहीं पाता।" कवि इसका विरोध करते हुए कहता है— "मैं यह नहीं मानता कि सरल शब्दोंमें सहज ढंगसे यदि कोई बात कही जाये तो वह कलात्मक नहीं रहती। आजकी हिन्दी कविता उर्दू कविताकी तरह लोकप्रिय नहीं हो पायी है। इसका एक कारण आजके हिन्दी कवियोंका प्रच्छन्न कलावाद है जो उनके जनवादी आग्रहके बावजूद उनपर हावी है। वे नाम जनताका लेते हैं, पर भाषा एक विशिष्ट वर्गकी लिखते हैं।" इसीलिए कवि अपनी काव्य-भाषाके बारेमें

बताता है— "धरतीपर पड़ा / मैं तुम्हीं-सा धूल कण हूँ / मैं तुम्हारी खुरदरी आसान अनगढ़ / सहज भाषा जानता हूँ / कला मर्मज्ञ / इसको राहका रोड़ा कहें / तो कहें। (कला, पृ. ७७)।

वर्तमान पूंजीवादी यथास्थितिको तोड़नेका आग्रह कविके मनमें बहुत पुख्ता है। वह मानता है कि वर्तमान स्थितिमें एक कदम चलनाभी यथास्थितिको, जड़ताको तोड़नेकी दिशामें एक सफल प्रयास है— "इसलिए / चल पड़े पांव / जाने-अनजाने पथपर / जिसपर चलकर / मंजिल हाथ न आये / फासला अनन्त यात्राका / कम एक कदम तो होगा / तब चलनाही / एक बड़ी घटना है।" (पृ. ७)। कवि चलनेका पक्षधर है, किन्तु अलग-थलग, अकेले-अकेले, किसी किनारेपर नहीं बल्कि समूह के साथ, जीवन-प्रवाहके बीचोबीच चलना चाहता है, जहां चलने या रुकनेकी सार्थकताको रेखांकित किया जासके— "मैं सोच रहा / जीवनके चौराहेके बीचों-बीच चलूँ / हजार आंखोंके सम्मुख मारा जाऊँ / या सड़कके किनारे चलूँ / हो अलग-थलग / जीवन प्रवाह से कटकर / जहां फिरभी हो सकती है / दुर्घटना, संवकी नजर बचा / ..... अच्छा है / जीवन प्रवाहमें बहना / संकटकी लहरोंपर तिरना / अगर डूबना / तो मोतीको / तटपर उछाल।" (पृ. ९-१०)।

यह संघर्ष चेतना कविकी मानसिकताको तराशती रहती है और उसकी सौन्दर्य चेतनाको अधिक मानवीय तथा जनवादी बनाती है। ऊपरी, खालकी सुन्दरतापर कविका विश्वास नहीं है। यह कवि मनकी गहराइंमें उतरकर मानवीय-सहानुभुतिके सुन्दर मोती निकाल लाता है। उसका विश्वास है— "यह धरती कितनी सुन्दर / पर इससे भी बढ़कर / है मानव सुन्दर / ..... मानवकी सुन्दरता/खालसे ज्यादा गहरी/वह है उसके मनकी / ..... घोर असुन्दरतामें भी/मानवकी सुन्दरता पर/विश्वास मुझे / जितना विरूप जितना कुरूप/जगपर छाया है। उसे चीर निकलेगी/सुन्दरताकी मूर्ति/पूर्ण-तम।" (पृ. ११, १२)।

१. प्रका. : साहित्य संगम, १३१७, पूर्वांचल, जवा-हरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली-६७।

पृष्ठ : ८४; डिमा. ८८; मूल्य : ३०.०० रु.।

'प्रकर'—मई/९०—४४



संसारके समस्त अभावग्रस्त, भूखे-प्यासे मनुष्यों को कवि एकजुट करना चाहता है क्योंकि एक होनेपर ही उनका संघर्ष सार्थक हो सकता है। यह संघर्ष धर्म, जाति, भाषा आदिसे अलग हटकर, केवल रोटीके लिए हो तो पृथ्वीपर एक भूचाल आ जाये। समयके दलालों को गोदाम खोलने पड़ जायें, क्योंकि अन्न और जलपर धन और धरतीपर सबका बराबरका हक है—“अपनी भूख और प्यासमें/शामिल कर लो/मेरी, इसकी उसकी/सबकी भूख और प्यास/तब भूख बन जायेगी भूचाल/प्यास एक दहकती ज्वाला/जिसमें दबकर मरेंगे/जमा-खोर/जिसमें जलकर राख होंगे/गंगाजलके व्यापारी।” (पृ. १८)।

हमारे देशमें ‘श्रम’ सबसे अधिक सस्ता है, श्रम-शक्ति सर्वाधिक उपेक्षित है तथा श्रमिक सर्वाधिक दयनीय जीवन जीनेके लिए विवश है। सड़क बनती है तो उसके हाथोंसे—“देखो सड़क किनारे/एक कली/वह लिए हथौड़ा हाथ/तोड़ रही है पत्थर/श्रम जल भीगा माथ।” (पृ. ४०)। जीवनके प्रथम पहरमें ही अभाव से लड़नेके लिए उसे कुदाल उठानी पड़ती है—“जीवन बगियाची नयी कली/वह खिली कहां अधखिली कली/झांडी कांटोंके बीच पली/बरसात गली नित धूप जली।” (पृ. ३७)। जिनके हाथोंमें खिलौने होने चाहियें, वे ही हाथ मजदूरी करनेके लिए विवश हैं—“उसे खिलौना दिलवायेगा कौन भला/स्वयं खिलौना बनी/कूर नियतिका।” (पृ. ३०)। जो मजदूरन मकान बनाती है, वही उससे वंचित भी है—“चार मंजिला भवन/खड़ा सिर ताने/छूनेकी कोशिशमें आसमानको/... उसके पास खड़ी मजदूरन/ऊपर नीचे तकती/जाने किससे क्या-क्या बकती—/मैंने सिरपर ढोया/सूरजकी निगरानीमें/इसकी ईंट-ईंटको/अपने श्रमजलसे/अभी आँसुओंसे धोया है/इसकी ईंट-ईंटको/मेरी हो न सकी है/फिर भी।” (पृ. ३२)। श्रमसे श्रमिकका यह अलगाव एक अन्य किस्मके लगावको उत्पन्नकर देता है। इस श्रमके फलपर उसका भी हक है। भलेही आज वह कच्चे घरोंमें रह रहा है, पर पक्के घरमें रहनेका उसका भी अधिकार है। कच्ची मिट्टीसे बने ये श्रमिक, कच्ची मिट्टीमें लिपटे और लिपटकर रहनेको विवश ये श्रमिक (कविको विश्वास है)—“एक दिन ये उठेंगे/सबकुछ साफ-साफ कहेंगे/ मिटानेकी हर कोशिशके बावजूद/वे रहेंगे/क्योंकि ये/कच्ची मिट्टीसे जुड़े हैं/अपने देशकी

जमीनपर खड़े हैं।” (पृ. २२-२३)।

यह कवि शहरकी सभ्यतासे आतंकित नहीं है, अपितु उसकी कठोरता अमानवीयता और असभ्यतापर व्यंग्य करता है। “कंकरीटके नगर” में बने हुए कल-गाह जैसे “सरकारी अस्पताल” मानवीय सम्बन्धोंकी गर्मी चूसते हुए ‘कोल्ड स्टोरेज’ तथा अधर्मकी कमाईको बांटते हुए “धर्मकांटे” कविके व्यंग्यके शिकार बने हैं। नगरकी सभ्यताके सचको उजागर करते हुए कवि कहता है—“हम/जितने सभ्य/हुए/उतने चुप/अलग-थलग/एक दूसरेके/सुखसे दुःखसे/किसीकी पहुँचसे बाहर/अपने घर/या अहंकी कोठरीमें बन्द।” (पृ. ४३)। कवि इससे उकताकर बाहर निकल जाता है जहाँ “रेलकी पटरियोंके बीच नन्हें पौधे” हैं (पृ. ४४) नयी सुबह का सूरज है और “पूरवसे उठने वाला/अग्निपिंड यह लाल-लाल/किस परिवर्तनका सूचक/लाल सवेरा आंगनमें झांक रहा है/नये सृजनका, नये कर्मका/श्रमपर आधृत नये धर्मका सन्देश सुनाता/ (पृ. ४६-४७)। ‘सूरज और बादलोंकी गुप्त सन्धि’ के बावजूद—सूखते और डूबते पौधे, झड़बेरी और वबूल—सिर उठाये खड़े होंगे।

इस संग्रहकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताएं बिम्बधर्मी नहीं हैं, प्रतीक-बहुल भी नहीं हैं, पर उनका सन्देश बिल्कुल स्पष्ट है। वे सभी क्रान्तिके, परिवर्तनके और संघर्षके सन्देशसे गर्भित हैं। एक नये भविष्यके प्रति वे संकेत करती हैं। प्यारके रोमानी, लिजलिजे, भावुक चित्र भी इन कविताओंसे गायब हैं। इसके उलट, जन-जीवनके चिर-परिचित हर्ष एवं आवेगके चित्र हैं जो अभावमें भी प्रेम और मस्तीका भाव झलका लेते हैं! ये कविताएं आशा और विश्वासकी कविताएं हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःखके फफोले फोड़नेसे ये परहेज करती हैं और सामूहिक दुःख-ददं, इच्छा-आकांक्षा तथा संघर्ष कामनाको अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई, समाजवादी दर्शनकी ओर ले जाती हैं। इनमें कलात्मक लफ्फाजी नहीं है, शिल्पका भटकाव नहीं है। शब्दका चमत्कार और बिम्बकी नक्काशी भी नहीं है। इस कविने प्रतीकों का जंगल नहीं उगाया है। ये तो साधारण जनको सम्प्रेषित होने लायक साधारण भाषामें लिखी गयी, साधारण शिल्पकी कविताएं हैं, जो छद्मके अनेक सामा-जिक मुखौटोंको उतारनेमें सक्षम हैं। ‘घटनाहीनताके विरुद्ध’ निश्चयही इस कविका एक सशक्त हस्तक्षेप है



जिससे सामाजिक न सही, साहित्यिक यथास्थिति एवं जड़ताको तोड़नेमें तो मदद मिलही सकती है। □

## देश खण्डित हो न जाए?

कवि : दर्शन बेजार

समीक्षक : वेदप्रकाश अमिताभ

रामदरश मिश्रने दो तरहकी कलमोंकी चर्चा की है—  
—सोनेकी कलम और सरकंडेकी कलम। सरकंडेकी कलमके संबंधमें उनकी मान्यता है : 'खूबसूरत नहीं, सही लिखती है। वह विरोधके मंत्र लिखती है। प्रशस्तिपत्र नहीं लिखती है' (दिन एक नदी बन गया, पृ. २)। समूची हिन्दी कविता इन्हीं दो तरहकी कलमोंसे लिखी जा रही है। 'देश खंडित हो न जाये' की रचनाओंको देखकर सहजही विश्वास हो जाता है कि ये सरकंडेवाली कलमकी रचनाएं हैं क्योंकि इनका मुहावरा 'विरोधके मंत्र' और प्रशस्तिपत्र-विरोधका है। 'कवि-कथन' में श्री बेजार का यह कथन ध्यानाकर्षक है कि देशकी एकतापर कविता लिखना कविताके कथित समझदारोंकी दृष्टिमें अज्ञानताही कही जायेगी और अज्ञानी कहे जानेका खतरा उठाकर यह संग्रह रचा गया है। 'मानव-सापेक्ष कविता' के एकमात्र कवि धूमिलको इस संग्रहका समर्पित किया जाना भी कविकी व्यवस्था-विरोधी एवं जनधर्मी मानसिकताकी ओर संकेत करता है।

संग्रहकी ४८ रचनाओंमें केन्द्रीय स्वर यह है कि अब तक 'जो' होता आया है, या हो रहा है, वह नहीं होना चाहिये और कवि आश्वस्त है कि भविष्यमें देशको जर्जर और खंडित करनेका कोई प्रयास सफल नहीं होगा। जहां कवि 'जो है' का बयान करता है, वहां उसकी भूमिका एक द्रष्टाकी है जो देशमें व्याप्त 'फसादी आलम', 'उन्माद धर्मका' और 'नफरतकी होली' देखकर क्षुब्ध और चिंतित है। जिन रचनाओंमें 'ऐसा होना चाहिये' की गुंज है, वहां कवि की मुद्रा उद्बोधक या संबोधककी है। जहां यह सब न होने देनेका संकल्प है, उन रचनाओंमें कवि आस्था-बद्ध, सही दिशामें सक्रिय युवा पीढ़ीका प्रवक्ता बन

गया है। 'द्रष्टा', 'उद्बोधक' और 'प्रवक्ता' इन तीनों रूपोंमें दर्शन बेजारका कवि लगातार ध्यान आकर्षित करता है। उनके अनुभव 'फर्स्ट हैंड' जान पड़ते हैं; विचार प्रासंगिक और उनकी अभिव्यक्ति कहींभी असहज और बनावटी नहीं लगती। एक 'द्रष्टा' के रूपमें अपने युग और देशकी विसंगतियोंको देखते हुए कई स्थलोंपर कवि बहुत कटु हो गया है। कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

१. दुराचार जबभी फूला है,

उसे मिला है खाद धर्मका। (पृ. ३०)

२. स्वार्थसे रोटियां अब सब रहे हैं सैंक,

भाग्यसे उनके लगी है गैरके घर आग। (पृ. ३४)

यह सब देखकर कविका यह उद्बोधन अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता : 'अन्यायके शैतानका सिर धड़से उड़ा दो।' (पृ. ३५)। आँद्रे बेते जैसे समाज-शास्त्रियोंका विचार है कि परिवर्तनकी प्रक्रिया अहिंसात्मक एवं शान्तिपूर्ण ढंगसे होसकेगी, इसमें संदेह है। कवि बेजारका सोचभी कुछ ऐसा ही है। वे यह भी जानते हैं कि 'वतनकी भुखमरी' दूर करनेके लिए युवा पीढ़ीको ही कुछ करना होगा—

हमको ही करना यहां नवयुगका निर्माण

हमीं गढ़ेंगे साथियों खुद अपनी तकदीर। (पृ. ५६)

अपने जनधर्मी, देशधर्मी और व्यवस्था-विरोधी 'कथ्य' को दर्शन बेजारने वाँछित अप्रस्तुतों और भाषा-प्रयोगोंके माध्यमसे अभिव्यक्त किया है। फलतः कुछ पंक्तियां बहुत नुकीली और असरदार बन गयी हैं—

१. झूठ कथाएं सत्य होगयीं

साखी सबद हलाल होगये। (पृ. ४६)

२. वक्तके हाथों व्यवस्थाकी छुरी

और हम ऐसे खड़े ज्यों मेमने। (पृ. ३८)

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि अपने पहले संग्रह 'एक प्रहार लगातार' के बाद इस नये संग्रहमें कविने कथ्य और शिल्पकी सफल जुगलबन्दी की है। जैसा कि भूमिकामें डॉ. 'रवीन्द्र भ्रमर' ने लिखा है 'इन रचनाओं का कथ्य इस्पात' है। इस 'इस्पात' को अपनी अभिव्यजनाके खरादपर चढ़ाने और धारदार बनानेमें कवि को सफलता मिली है। वह आज लिख रहे इन बहुतसे कवियोंका संजातीय है जो सरकंडेकी कलमसे विद्रोह और आक्रोशके छंद रचते हैं। लेकिन कविने स्वयंको ऐसे कवियोंसे अलग लिया है जो सुविधाजीवी और अवसरवादी है—

१. प्रका. : सार्थक सृजन प्रकाशन, १५/१०६ ईसा

नगर, अलीगढ़-२०२००१। पृष्ठ : ६४; डिमा :

८६; मूल्य : १०.०० रु. (पेपरबैक)।

'प्रकर'—मई ६०—४६



कल तलक विद्रोहके स्वरमें रहा  
अब प्रशस्ति-गान वह रचने लगा । □

## इस सार्वजनिक उद्यानमें

### छोटा आदमी गुम है?

कवि : कार्तिक अवस्थी

समीक्षक : डॉ. रेवतीरमण

कार्तिक अवस्थीके काव्य-प्रयत्नमें अराजक मनकी सक्रियता है। व्यवस्था-विरोधके साँगठनिक प्ररूपोंसे भिन्न कोटिका उदय अनुभव उनकी कविताओंमें मिलता है। 'इस सार्वजनिक उद्यानमें छोटा आदमी गुम है'—यह समझ कविके शुरूके दौरमें यदि है तो आगे चलकर वह कदाचित् यह भी लिख पायेगा कि ऐसा क्यों है? अभी तो सिर्फ इतना है कि कवि शान्त तालाबमें सेवालोंकी कंकड़ी फेंक रहा है—

कहां हैं समुद्री लहरोंके तूफान यहां?/वहीं हैं  
स्मृतिके निशान यहां और मेले गांवके बाहरके/  
सब्जी बेचती औरतें बुधवारी हाटमें  
लालटेनकी चुप रंगरेली रातमें और आगे चुप  
अन्धेरा । (पृ. ७) ।

कविको सहज-सामान्यकी, नगण्य और समतलकी अनुपस्थिति उत्तेजित करती है, पर यथार्थकी बीभत्स आकृति आक्रामक न बनाकर जिज्ञासु बना देती है। वह जानना चाहता है कि 'पतझड़पर टिके हैं पेड़ या पेड़ोंपर पतझड़।' 'दीमक तन्त्र' इस संग्रहकी विशिष्ट भावोत्तेजक कविता है—एक चीनी किवदन्तीसे अनु-प्रेरित—ऊपरसे लेकर नीचे तक दीमकोंकी अलग-अलग हैसियतका जायजा लेती यह कविता अपनी उप-स्थितिसे आश्वस्त करती है कि कार्तिक आगे चलकर राजनीतिक कविताएं बेहतर लिख सकेंगे।

कार्तिकमें यात्राका बोध तीव्र है, वे लम्बी थका देनेवाली उद्देश्यपूर्ण यात्राएं करना चाहते हैं किन्तु मौजूदा स्थितिमें वे एक ऐसे यात्रीका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो दूरसे समुद्रमें धूपको छूनेकी कल्पना कर सकता है केवल। उन्हें लोकांका यह वक्तव्य कि 'रास्ता जानते हुए भी मैं कोराडोबा नहीं पहुंच पाऊंगा', प्रिय है—शायद इसलिए कि उन्हें पहुंचना अर्थहीनतासे आत्म-

रक्षाका घटिया उपाय लगता है। यात्राएं और बहस समकालीन मानवीय संवेदनाके प्रसारके सुन्दर माध्यम हैं, इससे आत्मनिरपेक्षता और निस्संगताकी पुष्टता आधार मिलता है। अपनेसे बाहर आनेका रास्ता भी खुलता है इस तरह। कार्तिक अवस्थीकी 'बस स्टॉप', 'यात्राके बादकी बहस', 'बहसके बाद यात्रा' कविताएं उनके व्यक्तित्व-विकासकी प्रक्रियाका साक्ष्य बनती कविताएं हैं। इन कविताओंसे अलग प्रेम भावुकता और प्रकृति-रागकी कतिपय कोमल भव्य प्रतिक्रियाएं भी इस संग्रहकी कविताओंमें द्रष्टव्य हैं।

कार्तिककी काव्यभाषा निर्माणाधीन है, लेकिन शब्दोंके पूर्ण नियोजित दुर्भिक्षको निर्मूल करनेके लिए कृतसंकल्प, संभावनासे लैस। परम्परा और इतिहास, स्वभावोक्ति और अतिनाटकीय, गगनचुम्बी इमारतोंसे लेकर रिकशेवालेकी झुकी हुई पीठ तक को बेसब्रीसे काव्यबद्ध करनेकी आकांक्षा कार्तिकको किसी ट्रेडमार्क से जुड़कर सीमित और सन्तुष्ट होनेसे रोकती है। वे एक लड़ाकू और यथास्थितिके प्रति अनुदार कवि हैं, लेकिन प्रेम और प्रकृतिसे सर्वथा असंपृक्त नहीं। इसी लिए वसन्तको अपने दरवाजे खटखटाते महसूस करना उन्हें 'ताजा खबर' लगती है। ऋतु-सन्दर्भ उनके संकलन की आखिरी कविता है जिसमें ये पंक्तियां आती हैं—

इम जो मौसमका पीछा करते

'घर' से टूट गये/और चालू मुहाविरोंकी चौबीस  
घण्टा धर्मशालामें अब हमारे लिए कोई कमरा  
खाली नहीं/पतझड़ झिझोड़ता ऊंचे-ऊंचे पेड़ोंकी/  
और पेड़ झाड़ देते अपनी पीली पत्तियां/क्यों नहीं  
हम झाड़ पाते अपनी पीली पत्तियां?

अपने बीते कितने मौसम?

कार्तिक अवस्थीकी कविताएं चालू मुहाविरोंसे बची हैं। उनके काव्योपकरण अपनी नवीनतासे आश्वस्त करते हैं। □

## तुम्हींसे बात करें?

कवि : विप्रम

समीक्षक : मनोज सोनकर

"तुम्हींसे बात करें" कवि विप्रमका पहला काव्य-

१. पूर्वग्रह अंक ६५ की अनुषंग पुस्तिका—भारत भवन, भोपाल ।

१. प्रका. : विभूति प्रकाशन, के-१४, नवीन शाहबरा, दिल्ली-११००३२ । पृष्ठ : ७२; डिमा. ८६; मूल्य : ३०.०० रु. ।



संग्रह है। इस संग्रहके कथ्यका संबंध साहित्य, परिवार, राजनीति, शहर, आतंकवाद, दलित, मूल्यहीनता और आंतरिक जगत्से है।

रिश्ते द्वन्द्वसे भरे हुए हैं, रिश्ते अविश्वसनीय हो गये हैं, अतः 'कोमालिया' से बातचीत करना ज्यादा उचित है (पृ. १)। सचमुच मनुष्यका मनुष्यपर से विश्वास उठाया जा रहा है। रिश्ते, बेईमानी, अपमान, असभ्यता जीवनका अंग बन गयी है (पृ. १६)। यह अनुभूत सत्य है।

“किसका लहू है, कौन मरा” कविता, कविकी जागरूकताकी परिचायक है। पंजाब समस्या भयानक और खतरनाक है। हर दिन हत्याएं होती रहती हैं। कविने पूछा है : ये लोग किधरको जाते हैं/क्यों कौमको देश बताते हैं/यह किसका लहू है, कौन मरा ? (पृ. १०)।

जातीयता, प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता और धार्मिक विद्वेष इस देशके लिए जहर है और यह जहर फैलता जा रहा है; यह शोचनीय स्थिति है। कविने राष्ट्र और राष्ट्रीय अखंडताको महत्त्व देते हुए, संकीर्णता त्याग देनेका निवेदन किया है (पृ. १२)। कविका यह निवेदन बहुत सही है कि जनशक्ति इतिहास बदलती है, आवश्यकता मिलकर चलनेकी है। 'वोटर्स' नेताको मंचतक पहुंचा देता है, लेकिन वह नेता तक नहीं पहुंच पाता है (पृ. २२)। गांवमें लोग भूखसे मर रहे हैं और नेता दिल्लीमें स्वांग रचा रहे हैं, मौज मना रहे हैं (पृ. २६)। नेताओंका यह स्वांग जगजाहिर है।

दलितोंके पास रोटी, कपड़ा, मकान नहीं है, न उनका भूत है, न उनका भविष्य है। वे पानी नहीं

भर पा रहे हैं, मंदिरोंमें नहीं जा पा रहे हैं ! उन्हें जिंदा जलाया जा रहा है। उन्हें प्रदत्त साधन, सुविधा और अवसर नाटकके हिस्से हैं (पृ. ५१)। सचमुच, दलित समस्या बहुत गम्भीर समस्या है। उठती इमारतों और फैलती सड़कोंके नीचे मजदूर दब गया है। (पृ. ३०)। इस स्वतंत्र देशमें मजदूर अन्याय, अत्याचार और शोषण के शिकार हैं।

साहित्यकार नारा-पसंद हैं, स्वार्थी हैं, सुविधाभोगी हैं (पृ. १४)। साहित्यकार भाट नहीं, पल-पल जलने वाले दीपक हैं (पृ. २४)। राजनीतिने साहित्यकारोंको फांस लिया है (पृ. ३७)। यह सब विवादका विषय नहीं है।

शहर जहरीला है, हिंसक है, अनैतिक है, प्रतिस्पर्धी है, खोखला है (पृ. १७) वह मुखौटाधारी है, भ्रष्ट है (पृ. ३१)। यह सब कुछ देखा परखा है।

ताड़ीखानेमें जाकर लोग सब किस्मके भेद-भाव भूल जाते हैं (पृ. ३३)। काश ! देश ताड़ीखाना होता।

“दीदी” नामक कविता मर्मस्पर्शी हैं, कविने मां को धुआं होते देखा है। (पृ. ११)। वत्सल पिताके सफेद बाल, जिदगीके 'सफेद सफे' थे (पृ. ४०)। ये कविताएं पारिवारिक लगावकी द्योतक हैं।

कविने लिखा है—नारी प्रेम नहीं करना चाहती, प्रेम पाना चाहती है (पृ. ६८)। नारीको अब प्रतिनिधित्वकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। कवि वेश्याको बहन बनाकर, मुक्ति दिलाना चाहता है (पृ. ७०)। वेश्याओंको भाइयोंकी नहीं पतियोंकी आवश्यकता है।

लोकगीतोंकी याद दिलानेवाला “अब रहा न जाय रे” गीत आकर्षक है (पृ. ६३)। कविने घोषित किया है : हम मिले थे, मिलते रहेंगे/ प्रेम कथा और गूढ़ गुनते रहेंगे। (पृ. ७२)।

विप्रमजीके इस पहले संग्रहमें विकासके तगड़े अंकुर जीवंत रूपमें विद्यमान हैं। कविकी परिवेशगत सजगता प्रशंसनीय है। □

उत्कृष्ट रंगीन फोटोके लिए

अमित फोटो सर्विस

ए-८/४२, राणा प्रताप बाग

दिल्ली-११०००७



247000



## प्रस्तुत अंकके लेखक-समीक्षक

- ☐ प्रा. अजोक भाटिया, ५५/१३, एक्सटेंशन एस्टेट, करनाल — १३२००१.
- ☐ डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, भारती नगर, मैरिस रोड, अलीगढ़ — २०२००१.
- ☐ श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, ६० चित्र विहार, नयी दिल्ली-११००६२.
- ☐ प्रा. घनश्याम शलभ, ११-ख, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राजस्थान).
- ☐ डॉ. जमनालाल बायती, प्रवाचक शिक्षाशास्त्र, डॉ. राधाकृष्णन् उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान, वीकानेर (राज.) — ३३४००१.
- ☐ डॉ. प्रयाग जोशी, बी-३/१३, जेल गार्डन रोड, रायवरेली — २२६००१.
- ☐ डॉ. भगीरथ बड़ोले, सी-२८६, विवेकानन्द कालोनी, फ्रिंगज, उज्जैन (म. प्र.) — ४५६००१.
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषा नगर, केसरसिंह पुरा, औरंगाबाद — ४३१००५.
- ☐ डॉ. रामदेव शुक्ल, पैडलेगंज, गोरखपुर — २७३००६.
- ☐ डॉ. रामप्रसाद मिश्र, १४ सहयोग अपार्टमेंट्स, मयूर विहार-१, दिल्ली — ११००६१.
- ☐ डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, पाठक भवन, वैल्वेडियर कम्पाऊंड, नैनीताल — २६३००१.
- ☐ डॉ. वीरेन्द्र सिंह, ५ झ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज.) — ३०२००४.
- ☐ डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, द्वारकापुरी, अलीगढ़ — २०२००१.
- ☐ डॉ. श्यामसुन्दर घोष, ऋतंबरा, गोड्डा — ८१४१३३.
- ☐ डॉ. हरदयाल, एच-५०, पश्चिमी ज्योतिनगर, गोकुलपुरी, दिल्ली — ११००६४.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

- |  |                                  |
|--|----------------------------------|
| <input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)  | ५.०० रु.                         |
| <input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :                     | ६०.०० रु.; व्यक्तिगत ५०.०० रु.   |
| <input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता : संस्था :                                      | ७५१.०० रु.; व्यक्ति : ५०१.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षकेलिए) : पाकिस्तान, श्रीलंका | १२०.०० रु.                       |
| अन्य देश :   | १८५.०० रु.                       |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्ष के लिए) :                    | ३१०.०० रु.                       |
| <input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.             |                                  |

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



**प्रकर**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ६

आषाढ़ : २०४७ [विक्रमाब्द]

जून : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां**

मत-अभिमत	२	
स्वर विसंवादी		
भारतीय साहित्य-कलाका संकट : विकृत इतिहास एवं दुराग्रहपूर्ण राजनीति	३	वि. सा. विद्यालंकार
आलोचना : शोध		
प्रासंगिकता कामायनीकी आजके संदर्भमें	५	प्रा. घनश्याम शलभ
आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार		
द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा [४. २.]	१५	डॉ. राजमल बोरा
भाषा-विज्ञान		
अर्थ विज्ञान—डॉ. ब्रजमोहन	२२	डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया
कुमाउं नौकी भाषिक संरचना—डॉ. श्यामप्रकाश	२५	डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ
भाषावैज्ञानिक निबन्ध—डॉ. त्रिलोकीनाथ सिंह	२६	"
उपन्यास		
जोगी मत जा — डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय	२७	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
हीरामन हाईस्कूल—कुसुम कुमार	३०	डॉ. श्यामसुन्दर घोष
सन्त साहेब—डॉ. युगेश्वर	३३	डॉ. भगीरथ बड़ोले
कहानी		
मणियां और जलम—नवनीत मिश्र	३५	डॉ. रामदेव शुक्ल
प्यासी रेत—दामोदर सदन	३८	गंगाप्रसाद श्रीवास्तव
बिहारकी प्रतिनिधि हिन्दी लघुकथाएं—सतीशराज पुष्करणा	४०	प्रा. अशोक भाटिया
काव्य		
चौखटका दूसरा हिस्सा—अश्विनी पाराशर	४१	डॉ. प्रयाग जोशी
जानेके लिए—महेन्द्र भटनागर	४३	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ
पारावार ब्रज कौं—प्रकाश द्विवेदी	४४	डॉ. रामप्रसाद मिश्र
कर्मशील व्यक्तित्व		
तपती पगडण्डियोंपर पदयात्रा—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४५	डॉ. हरदयाल
एक महान साधिकाकी कहानी—वीणा गवाणकर	४७	डॉ. जमनालाल बायती



लम्बे मौनके बाद कुछ पंक्तियां लिख रहा हूँ। पिछले कई बरस दिल्ली और पूनाके बीच नितान्त अव्यवस्थित तौरपर जिया हूँ। संपर्कमें नहीं रह सका। प्रायः मित्रोंके पत्रभी अनुत्तरित रह गये, कुछ डाकमें यहांसे वहां, वहांसे यहां आते-आते गुम हो गये। यहां उधरके समाचार नहीं मिलते। समाचारपत्र स्थानीय बन गये हैं और दूरदर्शन तथा आकाशवाणीको साहित्य-कारोंका कोई लिहाज कभी रहा नहीं। ये दूरदर्शनि ए तो पुस्तकोंका प्रकाशन कभी दिखाते हैं तो इसलिए कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति या किसी मन्त्रीको प्रकाशनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जनताको उनकी छवि दिखानो है। लेखकका नाम और उसका रूप बताना-दिखाना उन्हें याद नहीं रहता।

### □ स्वर्गीय डॉ. गोविन्दप्रसाद

यह सब इसलिए कि मईके 'प्रकर' में गोविन्द प्रसादजीके नामके साथ 'स्वर्गीय' शब्द लगा देखा तो सन्न रह गया। फिर आपकी टिप्पणी पढ़ी तो माथा पीट लिया। गोविन्दप्रसादजीका देहान्त नवम्बर (८६) में हुआ और मुझे आज तक पता नहीं। अपराध-बोधके कारण असह्य पीड़ाका अनुभव कर रहा हूँ। अपराध यह कि वे दिल्लीमें एक दिन अनजानेही अपनी पुस्तक 'कामायनीका नया मूल्यांकन' लेकर आ पहुंचे थे। लम्बी बातचीतके दौरान मैंने उन्हें उक्त पुस्तकपर समीक्षा करनेका वचन दिया था और कुछ मित्रोंके पते उन्हें दिये थे, जो अपनी प्रतिक्रिया उन्हें भेज सकें। समीक्षा मेरी प्रकाशित हुई 'परामर्श' (पूना) में, पर उनके चले जानेके बाद (यह आज समझ रहा हूँ)। 'व्यथित' जी समीक्षा कर पाये तो वह अब उनके देहावसनके बाद। जिसने अपने प्राणपनसे जुटकर कुछ नया कहा, उसको इतनाभी सन्तोष न मिल सका कि उसकी कृतिकी समीक्षाभी उसकी दृष्टिसे गुजर जाये। कितनी साध रही होगी उनके मनमें कि उनके रचना-कर्मका सही मूल्यांकन हो। अपनी उलझनोंमें हम चूक गये और समय रहते उनका आदर न कर सके। यह बात मनको खलती रहेगी और मैं अपने आपको कभी क्षमा नहीं कर पाऊंगा। हालांकि वह उनसे पहली

'प्रकर'—जून ६०—२

और अन्तिम भेंट थी, पर लगता है उन्हें खोकर रंक हो गया हूँ।

उनके इस तरह चले जानेकी प्रतिक्रिया यह कि अब मैं अपने उन सब मित्रोंसे सार्वजनिक रूपसे क्षमा मांगता हूँ जो यदा-कदा रचनाएं समीक्षार्थ मुझे भेजते हैं। मेरी प्रार्थना है वे अब इस इच्छासे रचनाएं न भेजें। मैं समयका पालन नहीं कर पाता। लेखककी पीड़ाको समझता हूँ, इसलिए नहीं चाहूंगा कि किसीकी प्रतीक्षा करनी पड़े।

### □ काला कोलाज

एक अंकमें डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्तकी आलोचना ('प्रकर' अप्रैल ६०) की प्रतिक्रियामें यशपाल वैदका पत्र पढ़ा, साथमें डॉ. सुरेशचन्द्र त्यागीका भी। कृष्णचन्द्र असावधान समीक्षक नहीं हैं, न त्यागी ही हैं। कृष्णचन्द्रजीकी समीक्षाको पढ़ा तो उसमें जो उद्धरण दिये हैं 'काला कोलाज' से, उनसे तो वैद महोदयका कोई कथन समर्थित नहीं होता। फिरभी, चूंकि विवाद खड़ा होगया है तो पुस्तक पढ़ना चाहूंगा। उपन्यासों का मैं समीक्षक नहीं रहा, उनमें मेरी विशेष रुचि भी नहीं है। और इस बेशकीमती ६२.०० रु. के उपन्यासको खरीदनेका कोई उत्साहभी मनमें नहीं है। आप भेज सकें तो प्रति भेज दें—। शायद कोई प्रतिक्रिया ऐसी हो कि कुछ कहना चाहूँ। यों इस विवाद को समेटनेके लिए कुछ उपन्यास लेखकों और उपन्यास-समीक्षकोंसे विचार आमन्त्रित करके बहस छापही दें तो बुरा नहीं है। आखिर इस 'प्रयोगधर्मी, एस्ट्रेक्ट और अजूबे' उपन्यासको समझनेकी तमीज तो पैदा हो—अगर हो।

### □ सम्पादकीय

आपके सम्पादकीय काफी तेज जा रहे हैं, पर इनका किन हलकोंमें असर हो रहा है—होभी रहा है कि नहीं—नहीं जानता। राजनीतिके सामने तो सारा लेखन और चिन्तनही परास्त हो गया है।

### □ श्रायं परिवार द्रविड़ परिवार

भाई बोराके लेखभी सुचिन्तित हैं।

—डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, 'कलापी',  
१६२/५ ब-1 स. डी. पी. रोड, औंध,  
डा. घ. गणेशास्त्रिड, पुणे-४११००७



## भारतीय साहित्य-कलाका संकट : विकृत इतिहास एवं दुराग्रहपूर्ण राजनीति

यद्यपि हिन्दी सहित सम्पूर्ण आधुनिक भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य चिन्तनके गहरे और गम्भीर प्रभावकी चर्चा 'प्रकर' में अनेक बार कीजा चुकी है, पर गत अंकमें 'मत-अभिमत' के अंतर्गत 'मन्त्रपुत्र' के यशस्वी लेखक प्रा. मायानन्द मिश्रने आर्य-इतिहास संबंधी हमारी चर्चाओंसे सहमति व्यक्त करते हुए भी अपने पक्षमें उन इतिहासकारोंकी नामावली प्रस्तुत की है जो पाश्चात्य चिन्तनके अनुगामी हैं। वैसे यह सूची बहुत लम्बी हो सकती है। परन्तु इस स्थितिका कारण क्या है, इसका उत्तर भी स्वयं प्रा. मिश्रने दे दिया है कि 'मुझे तभी मान्यता मिल सकती है जब मैं मान्य सीमामें ही रहकर कुछ कर सकूँ।' आज केवल उन्हीं भारतीय इतिहासकारोंको मान्यता प्राप्त है जिन्होंने मूल रूपसे पाश्चात्य चिन्तन और मनोवृत्तिको स्वीकारकर और अपनाकर कुछ नयी उद्भावनाएं उसी क्रममें प्रस्तुत की हैं, अथवा उन्हें निरन्तर दोहराया जिससे उनकी कृतियां पाठ्य-क्रमोंमें स्थान पा सकें। यह सारा प्रयास ऐसे इतिहासका निर्माण है, मान्यता प्राप्त करनेके लिए, जिसकी अबतकके भारतीय साहित्यमें चित्रित भारतीय जीवन-पद्धति उससे उद्भूत चिन्तन-दिशा और मनीषासे संगति नहीं बैठती। भारतीय साहित्यसे जन-जीवनकी जिन मूल अवधारणाओं, सामाजिक जीवन, सामाजिक प्रणाली और सामाजिक व्यवहारका जो रूप अभिव्यक्त होता है उससे एकदम असंगत, अपितु कहना चाहिये विकृत, रूप मान्यताप्राप्त आधुनिक इतिहासकारों और लेखकोंने उभारा है। आजके भारतीय साहित्यको 'मान्यता प्राप्ति' का मोह त्यागकर साहित्यिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषणका मार्ग अपनानेकी आवश्यकता है।

यह प्रसंग इसलिए फिर उठानेकी आवश्यकता है क्योंकि पाश्चात्य चिन्तन और मनोवृत्तिके अनुगामी बुद्धिजीवी पूरे आग्रहके साथ और सशक्त प्रचार-प्रसार

प्रणालीके साथ इसी क्षेत्रमें किये जा रहे नये अध्ययनों और विश्लेषणोंका एवं उनसे प्राप्त निष्कर्षोंका विरोध कर रहे हैं। अबतकके भारतीय साहित्यके अध्ययन—विश्लेषणके आधारपर नहीं, अपितु केवल पुरानी लीक पीटते हुए और वह भी अत्यधिक आग्रहके साथ। इस संबंधमें साहित्य अकादमीसे १९८६ में पुरस्कृत कन्नड़ उपन्यास 'अवधेश्वरी' (शंकरमोकाशि पुणेकर) की इस लिए चर्चा कीजा सकती है क्योंकि उपन्यासकारने यह संकेत किया है कि उसने प्राचीन ग्रंथों, ताड़पत्रों, शिलालेखों, हड़प्पा-मोएजोदड़ोंके सिक्कोंके आधारपर कथाके सूत्रोंको जोड़ा है, राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक आयामोंका चित्र प्रस्तुत किया है। आग्रहपूर्वक प्रस्तुत की गयी इस पृष्ठभूमिसे यह स्पष्ट है कि इस तथाकथित वैदिककालीन उपन्यासका कथानक वैदिक साहित्यके पाश्चात्य विद्वानोंके अंग्रेजी अनुवादोंके आधारपर प्रस्तुत किया गया है, मूल वैदिक साहित्यका अध्ययन उपन्यासकारने नहीं किया। पात्रोंके नाम अवश्य वैदिक हैं, परन्तु कथासूत्रोंका कमसे कम वैदिक संहितासे कोई संबंध नहीं है और राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक प्रसंगोंकी संगति भी इस युगसे नहीं बैठती। स्पष्ट रूपसे उपन्यासका सम्पूर्ण कथानक और उसका परिवेश आधुनिक कल्पनाओंके तानेबानेसे बुना गया है। यह भी कह सकते हैं कि जिन मान्यताओं, संकल्पनाओंका विकास आधुनिक युगमें किया गया है,

### स्व. डॉ. गोविन्दप्रसाद

हमें खेद है मई ६० अंकमें पृष्ठ ६ पर स्व. डॉ. गोविन्दप्रसादकी निधन-तिथि असावधानीसे २८ नवम्बर १९८० छप गयी है जबकि यह २८ नवम्बर १९८६ होनी चाहिये।

इस असावधानीके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

—सम्पादक



उन्हें औपन्यासिक रूपमें प्रामाणिक बनानेके लिए अतीत पर थोप दिया गया है। यह सायास बौद्धिकताही इसे 'मान्यता' प्रदान करती है, अन्यथा 'प्राचीन युगमें ऐसाही था' (इतिहास) की इससे स्थापना नहीं होती। यह भ्रामक दृष्टि उत्पन्न कर कुशल मायावी चित्र निर्माण-कर 'मान्यता' प्राप्त करनेका आधुनिक प्रयास है।<sup>१</sup>

ये आधुनिक प्रयास केवल इतिहासको विकृत करने और भारतीय चिन्तनको अपनी रुचि और श्रमपूर्वक अर्जित और निर्मित मानसिकता तकही सीमित नहीं हैं। यदि कोई आधुनिक भारतीय काव्य या साहित्यिक कृति सफलतापूर्वक नयी उद्भावनाओंके साथ कलात्मक रूपमें भारतीय चिन्तनकी पृष्ठभूमिके साथ प्रस्तुत होती है, तो पाश्चात्य चिन्तनकी मार्क्सवादी शाखाके अनु-गामियोंको तो वह विशेष रूपसे खटकती है। मुख्य कारण तो यह है कि वे अपनी चिन्तन पद्धतिके प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण चाहते हैं। इस कठोर और कट्टर मनोवृत्तिके कारण उनके पथ और पन्थसे दूर जानेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति और चिन्तन उन्हें असह्य होते हैं। यह असहिष्णुता इस सीमातक जाती है कि वह साहित्यको ऊर्ध्व गति प्रदान करनेकी क्षमता, काव्यके काव्यत्व तक को नकारनेके लिए प्रस्तुत हो जाती है। इस दृष्टिसे 'प्रकर' के प्रस्तुत अंकका "प्रासंगिकता कामायनीकी आजके प्रसंगमें" लेख पठनीय है। सैद्धान्तिक और वैचारिक मार्क्सवादी दृष्टि, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी लोहेके ढाँचेके भीतर जीवन-व्यवस्थाके विकासका स्वप्न इस काव्य कृतिमें नहीं है, इसलिए उनकी दृष्टिमें यह काव्य-कृति पराजयवादी-पलायनवादी-प्रतिक्रियावादी है। यथार्थके धरातलपर कामायनी जैसी काव्यकृति, छिन्न-भिन्न होती रूसकी समाजवादी व्यवस्थामें भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगी, इस कृतिके आलोचकोंको यह आभास कभी नहीं हुआ होगा। जिन राजनीतिक आग्रहोंको लेकर अबतक साहित्यिक कृतियोंका मूल्यांकन किया गया है, अब उस पूरी कसौटीपर प्रश्नचिह्न लग गया है। वस्तुतः इस कट्टरपन्थी दृष्टिने मार्क्सवादी सैद्धान्तिक और वैचारिक संलग्नता, अपितु कहना चाहिये, प्रतिवद्धता, ने भारतीय साहित्यमें ऐसे आतंकका वातावरण बना दिया है कि किसी कृतिका प्रारम्भ अपनी प्रगतिशीलता और यथार्थवादिताकी घोषणा और उसका

प्रमाण प्रस्तुत किये बिना नहीं होता। वस्तुतः यह सिद्धान्त और विचार अपनी कट्टरवादिताके कारण आन्तरिक राजनीतिक और सामाजिक क्षरण-प्रक्रियाके संकेत प्राप्त होते रहने परभी उसे लक्षित करनेमें असमर्थ रहा और क्षरण-प्रक्रियाको विरोधकी मनोवृत्ति मानकर उसके दमनके लिए निष्ठुर रूपसे सक्रिय रहा। इस क्षरण-प्रक्रियाके जब राजनीति और सामाजिक परिणाम सामने आये तब हमें यथार्थ-बोध हुआ। उसी यथार्थ को भारतीय साहित्यकी दृष्टिसे भी हृदयंगम करनेकी आवश्यकता है और साहित्यमें व्याप्त 'आतंक'को समाप्त करनेपर सक्रिय रूपसे आगे आनेकी भी। हमें यहभी स्मरण रखने की आवश्यकता है कि मार्क्सवादी सिद्धांतों और विचारोंका मूल आधार पाश्चात्य चिन्तन है। सामान्य भारतीयकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य-चिन्तनमें और मैकाले शिक्षण पद्धतिमें होनी है। इस पद्धतिसे वह शिक्षित बुद्धिजीवी होनेका दम्भ पालता है और वैचारिक स्तरपर अपनी उदारता और तर्क-संगत होनेका का प्रदर्शन करता है जबकि दोनों अपने और प्रक्रियामें पूर्ण रूपसे पाश्चात्य-संलग्नता और पाश्चात्य-प्रतिवद्धतासे जुड़ी होती हैं। इसी कारण आधुनिक बुद्धिजीवी भारतीय साहित्य, भारतीय कला, भारतीय जीवन-व्यवस्था का विरोधी होता है और निरन्तर उसका प्रचार-प्रसार भी करता है। समग्र रूपमें अपने जिस समग्र रूपाकार का वह स्वयं दर्शन करता है और उसका प्रदर्शन करता है वह जन-विरोधी होता है।

अभीतक इस जन-विरोधी, भारतीय जीवन-व्यवस्था विरोधी और साहित्य-कलामें निरन्तर आतंकका वातावरण बनाये रखनेवाली सैद्धान्तिक-वैचारिक पाश्चात्य प्रक्रियाका हम किसी भी रूपमें सफल प्रतिरोध नहीं कर पाये हैं। पर अब यह धारणा जड़ पकड़ रही है कि इतिहासकी विकृत प्रस्तुति और पाश्चात्य अवधारणाओंके कारण दुराग्रहपूर्ण राजनीति भारतीय साहित्य-कला-सौन्दर्य सहित पूर्ण भारतीय जीवन व्यवस्थाके लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं। हमारे देशकी नगरीय सभ्यता पूरे देशकी सभ्यता-संस्कृतिसे इतनी भिन्न है कि कोईभी सजग पर्यवेक्षक इसे लक्षित किये बिना नहीं रहता। सामान्य भारतीय जीवन जब नगरीय सभ्यताकी आँख से देखा जाता है तो उसमें वही अन्तर होता है जो 'तमस' उपन्यास और दूरदर्शनके 'तमस' धारावाहिकमें है।

[शेष पृष्ठ ४८ पर]

१. देखें 'प्रकर' : नवम्बर १९८६ अंक ('पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८८)



## प्रासंगिकता कामायनीकी आजके संदर्भमें

[माक्सवादी श्रालोचक-कवि मुक्तिबोधकी 'कामायनी' संबंधी धारणाओंका विश्लेषण]

—प्रो. धनश्याम शलम

प्रसादजीकी कामायनी भारतीय काव्य जगत्का एक महत्त्वपूर्ण शिखर है। हिन्दीके विभिन्न काव्य समीक्षकों और आचार्योंने उसपर अपने मत-मतान्तर प्रस्तुत कियेहैं। कोई उसे बृहत् काव्य रूपक मानताहै, तो कोई मनोविज्ञानका महाकाव्य, तो कोई उसे शैवा-गमोंकी आध्यात्मिक रहस्यवादी दृष्टिका महाकाव्य कुछ उसे छायावादी सौन्दर्य-बोधका महाकाव्य मानते हैं। इसी प्रकारकी विभिन्नता दृष्टि-बाधाओंके कारण प्रायः एकांगी और अधूरे साक्षात्कारोंको प्रस्तुत किया गयाहै। हिन्दी काव्य-जगत्के एक अत्यंत समर्थ काव्या-लोचक और श्रेष्ठ रचनाकार गजानन माधव मुक्तिबोधने अपने ग्रंथ “कामायनी : एक पुनर्विचार” में उक्त कृतिको एक विशाल फैंटेसी मानाहै। जिस प्रकार एक फैंटेसीमें मन निगूढ़ वृत्तियोंका, अनुभूत जीवन-समस्याओंका, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियोंका प्रक्षेप होताहै, उसी प्रकार कामायनीमें भी हुआहै। वे वैदिक कथा-पात्रोंके माध्यमसे आधुनिक युगकी सामंतवादी जीवन व्यवस्थाके ध्वंस पर निर्मित पूंजीवादी सभ्यता और उसके हासजन्म वैराग्यमय उपासनाका काव्य कामायनीको मानतेहैं, और यह सिद्ध करनेका निरंतर प्रयत्न करते रहेहैं कि उसमें वैज्ञानिक जीवन-व्यवस्थाकी दृष्टिका नितान्त अभाव है। वे यह तो मानतेही हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोणके कारणही हमारी समझ बढ़तीहै, और हमारी भीतरी मनुष्यताके कारण हमारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी ‘लक्ष्ययुक्त आदर्शमय’ होताहै।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि कामायनी एक सशक्त कविकी श्रेष्ठ काव्य-कृति है। हिन्दीमें वैसे ‘लोकायन’ है, “उर्वशी” है, “असाध्य बीणा” है, “अंधेरेमें” है, “रामकी शक्तिपूजा” है, ‘आत्मजयी’

और ‘अंधा युग’ भी है, लेकिन कामायनी एक सर्वश्रेष्ठ काव्य-शिखर अवभी हैही। रूस जैसे समाजवादी देश में भी उसकी प्रतिष्ठा है, हालांकि उसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी वैज्ञानिक जीवन-व्यवस्था और उसके विकासके सपने उसमें कहीं नहीं है। यह इस कृतिकी अपनी गुणवत्ताकी शक्ति है कि उसकी प्रतिष्ठा फिर भी वहां है। चाहे हम उसे रूपक मानें, या किसी प्रकारका महाकाव्य—शास्त्रीय, रहस्यवादी, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-बोध प्रधान या कोई विशाल फैंटेसी ही, एक बात निर्विवाद है कि उसमें भारतीय संस्कृतिकी गहरी आस्था और अस्मिता सन्निहित है। प्रश्न यह कि क्या भारतीय संस्कृति जो निरंतर वर्धमान और गतिशील रहीहै, आजके युगमें, मनुष्य जीवनके लिए अप्रासंगिक है? यदि है तो कामायनीकी मानवी जीवन-दृष्टिभी अप्रासंगिक स्वतः हो जातीहै। प्रश्न यहभी है कि आजकी अतिभौतिक, अतियांत्रिक और अतिबुद्धिवादी जीवन-परिस्थितियोंमें, जहां यंत्र-मानव (राबोट) और सुपर कम्प्यूरोंकी फीडिंगके युगमें भारतीय संस्कृतिकी विरासतका क्या मूल्य और महत्त्व है? क्योंकि आज तो उपर्युक्त अतियोंके कारणही इस साढ़े चार अरब लोगोंकी दुनियांमें विस्फोटक स्थितियोंकी निरन्तरता बाढ़पर है। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोणने हमारी भीतरी मनुष्यताका कहां तक विकास कियाहै? हमारे इन अनेक रासायनिक कारखानोंकी विषैली गंध और उनके अस्त्रोंने ‘मनुष्यकी भीतरी मनुष्यता’ को कितनी शक्ति दीहै? उसे कितना सुरम्य बनाया है? उसे कौन-से उत्कृष्ट सौन्दर्य बोधसे सृष्णित कियाहै? आण्विक ऊर्जाने हमारे सामूहिक अन्तश्चेतनको कौन-सी अपार ऊर्जसे सम्पन्न कर दियाहै? जिस दुनियांमें प्रत्येक पांचवें मिनटमें एक बलात्कार होताहो, हर दसवें मिनटमें एक हत्या, हर



घंटेमें एक डकैती-कांड, हर समय धोखाधड़ी, जाल-सार्जी, शोषण-उत्पीड़न और दमन, कभी-कभी भोपाल जैसी भीषण गैस-त्रासदियां, जासूसी उपग्रहोंके अन्तरिक्षीय निरंतर चक्कर, समुद्र-तटमें आपिक्क पनडु-बिबियोंकी सरगर्भी, हर बार बदलती राष्ट्र-नीतियाँ—यही तो है हमारा उच्च तकनीकवाला वैज्ञानिक संसार, जिसपर हमें बहुत गर्व है। आज तो केवल व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं, बल्कि राष्ट्र राष्ट्र तक अपनी स्वार्थपूर्ण राष्ट्रनीतियोंके घृणित षडयन्त्रोंमें कितना व्यस्त है ? प्रचार माध्यमोंके कारण यह अब कोई गोपनीय रहस्य नहीं रहा।

यही नहीं, आजभी आर्मीनियामें आये भयंकर भूकम्पके समयभी लूटपाटके कारण माननीय गोर्वा-चेवकी सरकारको तुरंत व्यवस्था करनीही पड़ी। सोवियत भूमिपर भी क्या ब्रोजेनेवके जामाता जैसे लोग अब वहां नहीं है ? मात्र शासन-व्यवस्था चाहे वह कितनीही समाजवादी और दीर्घकालीन रहीहो, अबभी व्यक्ति-मनकी विविध कमजोरियोंका निराकरण कर पायी है ? वर्ग-संघर्षका प्रबल रूप अबभी पोलैन्ड जैसे समाजवादी राष्ट्रमें विद्यमान हैही। वैज्ञानिक दृष्टिके इतने विकासके बावजूद हमारी भीतरी मनुष्यता “लक्ष्यमय आदर्शमय” क्यों नहीं हो पा रही है ? न्यस्त स्वार्थोंके कारण राष्ट्रोंमें शोषणकी आपिक्क भट्टियां अबभी निरंतर क्यों चालू हैं ? और “स्टार-वार” की तैयारियां अबभी क्यों हो रही हैं ?

मानवतावाद चाहे वह पश्चिमी गढ़तका हो, या पूरबकी पैदायश, उस वर्ग-विहीन शोषणरहित समाजसे अबभी कितनी दूर है ? लगताहै, इस सदीमें तो वह महत् परिकल्पना—कल्पना मात्र ही रह जाती है। हम अबभी तो ‘कहते कुछ और हैं, और करते कुछ और ही’ हैं। अबभी कितना सच है यह कि ‘यह मनुष्यता अपनी लक्ष्य प्राप्तिके लिए, जिन संघर्षोंकी ओर व्यक्तिको ले जाना चाहती है, उस ओर बहुत बार वह मुड़तीही नहीं। और यदि मुड़ती है तो गिरती-पड़ती है। फलतः ज्ञान, इच्छा और क्रियामें समन्वय स्थापित नहीं हो पाता, न वह हो सकता है।’ उपर्युक्त वाक्य मुक्तिबोध का ही है जो हमारी अक्षमताओंपर अंगुली रखते हैं। वे (मुक्तिबोध) इस मानवी परिस्थितिसे पूर्ण परिचित थे, तभी ऐसे विचार व्यक्त करते थे। विज्ञानने निश्चय ही, जीवनके हर क्षेत्रमें, हमें असंख्य साधन-सुविधाएं

दी है, आयुर्विज्ञानने भी बहुत विकास किया है, लेकिन, व्यक्ति मनमें परिव्याप्त प्रसुप्त पशुत्वका परिहार वह भी कहां कर पाया है ? आजभी वह निर्वाध विलास, और अपने अजस्र अधिकारोंका उतनाही महत्वाकांक्षी है, जितना कि कामायनीका मनु। लगता है कि आजका यह व्यक्तिभी ‘जन्मजात कमजोर प्राणी है’, और वह अपने बुद्धिपरक ज्ञान-कौशलसे अभूतपूर्व विज्ञानका विकास कर, अनेकानेक जन संहारक अस्त्र-शस्त्रों और त्रासद उपायोंका निरंतर आविष्कार कर रहा है। “क्रिमिनालॉजी”—अपराध-विज्ञानका भी इसीलिए तेजीसे प्रचार-प्रसार हो रहा है। आजका मनुष्य कामायनीके मनुसे किसीभी बातमें कमतर नहीं हैं। वहभी अपनी आत्मग्रस्त स्पृहाकाँक्षाओंके आपिक्क घोड़ेपर बैठ ब्रह्माण्ड विजयके स्वप्न तो देख ही रहा है। अहंकार, विलासिता, आत्म-मोह, निर्वाध उच्छृंखलता, व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखंड और वैसाही आत्मग्रस्त निविड़ आत्म-विश्लेषण, अबभी उसमें यथावत् विद्यमान हैही। उसके अहंकारकी वह चौधरात आदि आजभी जीती जागती सच्चाई अबभी है। लेकिन यहभी सच है कि ‘समाजके दुःख दैन्यको मात्र दया-माया-ममतासे नहीं, बल्कि वैज्ञानिक सामाजिक उपायोंसे ही दूर किया जा सकता है, और वही हम कर भी रहे हैं’। अधिसंख्य शोषकोंका हृदय-परिवर्तन, किसी आध्यात्मिक प्रणालीसे आजतक नहीं हो पाया है। जयप्रकाशजीके वे सद्प्रयत्न—हृदय-परिवर्तनके प्रयोग, असफल ही रहे हैं, और दस्यु वर्ग भी बदला कहां है ?

लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक उपायभी, मनुष्य-मन के विकासकी कौन-सी सीढ़ी छू पाये हैं ? क्या यह ‘विश्व विपुल आतंकग्रस्त’ अब भी अपने विषम तापसे परितापित नहीं हैं ? क्या ‘परम अन्तर्दाह’ की ‘धनी नीलिमाका कुहासा’ अबभी नहीं फैल रहा है ? आजभी ‘दारुण निर्ममता’ विद्यमान है और ‘त्रुभने वाला अंतरंग छल’ भी। आजभी सैंकड़ों लोग गोलियोंसे भूने जा रहे हैं, आजभी सामूहिक बलात्कारों की व्यवस्थामें विकृत मस्तिष्क संलग्न हैं। अब भी ‘एकके जीवनका सन्तोष अन्यका रोदन’ बना इसीलिए हंस रहा है। ‘वीरभोग्या वसुधेश’ का वह प्रबल भावावेग ‘सब कुछ अपनेमें’ ही नहीं भरना चाहता, चाहे फिर ‘भीषण एकान्त स्वार्थ’ अपनाही नाश क्यों न



करले ? फिर प्रसादकी कामायनी तो 'विकल बिल्व' हुए निरुपाय और व्यस्त शक्तिके विद्युत्कणों में समन्वयही तो चाहती है, ताकि ध्वस्त, भ्रष्ट और पराजित सामन्त-संस्कृतिके बाद "नवमानवता" का जागरण और विकास होसके, और वह 'विजयिनी' बन जाये ।

श्रद्धाका अवतरण निश्चयही हेतुमूलक है । यही क्यों, कामायनीका प्रत्येक पात्र हेतुमूलक है, अहेतुक सृष्टि तो कोईभी श्रेष्ठ कृतिकार करता ही नहीं । श्रद्धाकी रचना तो 'भयभीत सभीको भय देता' और 'भयकी उपासनामें विलीन'—उस मनुष्य मनको जिसे आजका 'आकर्षणसे भरा यह विश्व केवल भोग्य हमारा' ही लगता है, जो जीवनके दोनों फूलोंमें 'वासनाधारा' ही वहाना चाहता है, जो शैल-शृंग जैसी "स्थिर मुक्ति प्रतिष्ठा" का कामी नहीं है, और जो 'मरुत सदृश्य अबाध गति, अपने मनकी चाह रहा है, ताकि अपने 'प्रति पगमें कम्पनकी तरंग लिये अगजग' रौंदता हुआ—'वह ज्वलनशील गतिमय पतंग' बन सके,—ऐसेही प्राणीके पाशविक संस्कारोंको औदात्यमें बदल सके, उसके लिए हुई है ।

प्रसाद मनु जैसे कमजोर पात्रका उच्चतामें रूपान्तर नहीं करते, वे तो उसका उदात्तीकरण चाहते हैं । जो श्रद्धा जिस अन्तस्तलसे विलोपित हो गयी थी, उसमें उसकी पुनर्स्थापना करते हैं, तभी तो मनु श्रद्धामय हो, तन्मय हो सके थे—वह मनु जो इस धरातलपर 'लू-सा झुलसता दौड़ रहा है, न वह किसीकी उदारतासे रीझा है, न उसके लूसे झुलसते व्यक्तित्वसे अबतक कोई फूल ही खिल पाया है ।' उसके अहंकी यह कड़ी होड़ तो हर व्यक्तित्वसे लगी हुई है, वह 'स्वयं सतत आराध्य' हो 'अपनीही उपासनामें विभोर' हैं, वह स्वयं 'उल्लास-शील शक्ति-केन्द्र' है । भला फिर वह किसीकी शरण क्यों खोजे ? उसका जीवन-विकास तो 'वैचित्र्य-भरा' है, वह "आनन्द-उच्छलित शक्ति-स्रोत", और इसी शक्तिके बलपर 'अपना नव नव निर्माण किये' इस विश्वको सदैव हरा रखता है । वह अमरता-सृष्टिका जर्जर दंभ है, वहीं अब श्रद्धाको भूल गया है । पुरुषत्व मोहसे आविष्ट नारीकी सत्ताको वैसेभी कौन पूछता है—ऐसे अधिसंख्य पुरुषोंके लिए तो 'वसुधरा' और 'सुन्दरा'—दोनोंही भोग्या हैं ही । फिर 'अधिकार और

अधिकारी' के बीच सम्बन्ध समरसता हो तो कैसे ?

यह समरसताही कामायनीके विचारोंकी मेरुदंड है । यह विशाल फैंटेसी (स्वप्न चित्र) प्रसादके 'फैंटासगोमिक चैम्बर' यानी स्वप्न कक्षमेंही तो निर्मित हुई है । इस स्वप्न-कक्षका इस फैंटेसीकी रचनामें पूरा हाथ है । हर फैंटेसीका अपना एक सुनिश्चित पैटर्न होता है, जो उसकी सीमा और शक्ति-दोनों ही होता है । जब हम यह मानकर चलते हैं कि कामायनी फैंटेसी की विम्बात्मकता, कथाकी वर्णनात्मकताको बहुतही सीमित स्थूल रूपमें स्वीकार कर पाती है । उसमें फिर स्थूल रूपमें कैकेयी जैसी पश्चाताप-परितापके अवतरणकी गुंजाइश ही कहाँ रहती है ? पात्र अपने अन्तर्मथनको आत्मालापसे विम्बित चित्र-रसमें ही अधिक मुखरित कर पाता है । यह सत्य है कि प्रसादने निश्चयही शैवागमोंसे कुछ प्रतीक लेकर 'एक ऐसी विराट फैंटेसी खड़ी की है, जो चित्रमयी होनेके साथ ही कुछ इस प्रकार धुंधली होकर रहस्यात्मक हो गयी है ।'

और यहीं मुक्तिबोध प्रसादके जीवन-दर्शनको 'व्यक्तिको पलायन करना सिखानेका दोषी' पाते हैं । वे तो यहांतक कहते हैं कि प्रसाद इस पलायनवादको 'डिफेंड' करते ही हैं । इस फैंटेसीकी शुरुआत ही 'हिमगिरिके उत्तुंग शृंग' से होती है, सधन अन्तर्मथन होता है, मानव का जन्म और मनुका श्रद्धाका परित्याग, सारस्वत प्रदेश की इड़ाके साथ नया मानवी संस्कृतिका निर्माण और ध्वंस, तुमुल संघर्षके अनंतर कृष्ण अवसाद, और उसके उपरान्त अंतमें 'मानसी गौरी लहरोंके कोमल नर्तन' के दृश्यपटलपर जहां 'पुरुष पुरातन-सा रजत नग चंद्र किरीट' पहने स्पंदित हो रहा है जहां जड़ या चेतन समरस होकर साकार सौन्दर्यमें परिवर्तित हो गया है, जहां चेतनाके विलसित होनेसे ही घने अखंड आनंदकी सृष्टि होती है, और यहीं वह पर्यवसित होती है । यही मुक्तिबोधको कामायनीकी सबसे बड़ी ट्रेजेडी लगती है । क्योंकि प्रसाद 'जीवनकी वास्तविकताओंसे अधिक अपनी अमूर्त रहस्यवादी भावधारामें बिधे रहें । वे हमें मनुष्यताके वास्तविक उदार-लक्ष्योंकी ओर पहुंचानेका मार्ग न बता सके ।"

उनके द्वारा उठाये गये मुद्दे इस प्रकार हैं :—

— कि प्रसादका श्रद्धावाद प्रक्रियावादी और शुद्ध पलायनवाद है, पंगु पराजयवाद है, रवीन्द्रनाथका आध्यात्मिकवाद-सा श्रेष्ठ मानवतावादी नहीं ।

— कि इसलिए श्रद्धा घोर व्यक्तिवादी है, उसका व्यक्तित्व स्थिर और एकान्त आदर्शवादी है, इड़ा-



सा गत्यात्मक कर्मनिष्ठ, निर्माण संकल्पसे पूर्ण, तेजस्वी और प्रतिभाशाली नहीं। 'सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय' कहकर उसे अपमानित किया गया है।

— कि विश्व पूंजीवादके बुढ़ापेका ज्ञान उसके पास नहीं था, न ही वैज्ञानिक दृष्टि।

— कि विश्व पूंजीवादकी सामाजिक परिस्थितिसे विरक्त होकर प्रसादका चिन्तन अपना समाधान श्रद्धावादमें ढूंढ़ता है, जैसे इशरबुड़ वेदान्तमें।

— कि उनका चिन्तन वर्गभेदका विरोध करते हुए भी मेहनतकशोंके वर्ग-संघर्षका तिरस्कार कर, पलायनमें पर्यवसित होता है।

— कि वर्ग-वैषम्यसे वर्गहीनता तक पहुंचनेके लिए उनके पास कोई रचनात्मक उपाय नहीं है, मात्र इस उपायहीनताका आदर्शिकरण है—उनकी आदर्शवादी रहस्यवादी धारा।

— कि वर्गहीन सामंजस्य और समरसताका अमूर्त आदर्शवाद अंतिम तीन सर्गोंमें घोर प्रतिक्रियावादी और पलायनवादी है।

— कि उनके निष्कर्ष अनुभवमिद्ध, तर्कशुद्ध, अद्यतन ज्ञान-विज्ञानके प्रतिकूल हैं।

— कि नायक मनु जन्मजात कमजोर प्रार्णा है। उसकी कमजोरीपर श्रद्धाको दया आती है, और इड़ा उसे बर्दाश्त कर लेती है, उसे मनुसे घृणा नहीं होती। न प्रसादने ही इड़ाके क्षोभको उभारा है। कुछ देरके लिए ही सही, इड़ाको मनुसे घृणा होनी ही चाहिये थी।

— कि श्रद्धाने भी मनुका करुण मुख देखा और दया से पिघल गयी। उसे धिक्कारा तक नहीं।

— कि मनुकी निन्दनीय अक्षमताओंपर स्वयं न चिढ़कर प्रसादने केवल लोक-विप्लव, प्रकृति-विप्लव तथा रुद्र क्रोधके नाटकीय घटना समुच्चय द्वारा ही उसके अपराधकी चण्डता बतलायी है। इसलिए मनुकी आहत मूर्छितावस्थाको देखकर पाठक उससे घृणा नहीं कर पाता।

— कि प्रसादने मनुको केवल उसके आत्मविश्लेषणके द्वारा ही निन्दित किया है, तथा घटनाओंके स्वरूप विशिष्टके द्वारा भी।

— कि प्रसादको मनुकी निन्दनीय अक्षमताओं पर चिढ़ना चाहिये था, उसने जितना विशाल अपराध किया है उसे गहराईसे रेखांकित किया जाना चाहिये था, कि पाठकके मनमें उसके प्रति क्षोभ और घृणा पैदा हो सके।

— कि प्रसादको भारतीय सन्त परम्परा, विशेष रूप से कवीर-रैदासी परम्पराकी सामाजिक मानवीयताको भी लक्ष्यमें रखना चाहिये था।

— कि मनु और श्रद्धा 'टाइप' पात्र हैं, 'व्यक्ति' पात्र नहीं। मनुको मानव मात्रका, मनका, मनन-मात्र का प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है।

— कि मनु-समस्या वस्तुतः प्रसाद-समस्या है, आत्मानुभूत समस्या है, वे मनुको खड़ा कर अपनेको ही खड़ाकर रहे हैं, अपनी कुछ मूलभूत प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधि बनाकर।

— कि उन्होंने अपने जीवनकी सारी वासना, वासना-स्वार्थके पीछे छिपा हुआ अहंकार, अहंकारकी कठोरता, शासन, तथा अधिकार भावना की उच्छृंखलता आदिके जो दृश्य उपस्थित किये हैं वे वस्तुतः उनकी (प्रसादजीकी) ही कुछ भीतरी प्रवृत्तियोंके काल्पनिक चित्र हैं।

उपरिलिखित मुद्दे मैंने "कामायनी : एक पुनर्विचार" के लेखकके शब्दोंमें ही उठाये हैं। इनपर हमें आगे कुछ विस्तारसे विचार करना होगा, क्योंकि ये ऐसे मुद्दे हैं, जिनकी अनदेखी करना न्यायसंगत कदापि नहीं होसकता। मुक्तिबोध हिन्दी-भारतीके एक प्रबुद्ध विचारक, श्रेष्ठ कवि और जनवादी दृष्टिके महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्री हैं। यही नहीं वे एक सिद्धहस्त फेंटेसीके रचनाकार भी हैं; जिसका मूल कथ्य है अस्मिताकी खोज। जिसमें किसी प्रकारकी आध्यात्मिकता या रहस्यवाद है ही नहीं, बल्कि गली-सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और मानव चरित्रोंकी आत्माके इतिहासका वास्तविक परिवेश है। ऐसा लेखक जब कामायनी जैसी कृतिपर पुनर्विचार करता है, जिसे (कामायनीको) वह स्वयं 'जीवनकी पुनर्रचना' मानता है, और वह यह भी मानता है कि 'कामायनीके पात्र अधिक प्रतीकात्मक हैं, परन्तु वे किसी मूर्त यथार्थके प्रतीक हैं, और वह मूर्त यथार्थ वर्तमान समाजकी सर्वमान्य मध्यवर्गीय वास्तविकता है।



परन्तु वह उस विचारादर्शवादसे प्रेरित है, उसकी एक आदर्शवादी मनोवृत्ति है। इस नमूनेकी आदर्शवादी प्रवृत्ति तथा तदनुरूप मनोरचनाका जितना आभास कविते दिया है वह है एक प्रतीक मूर्त वास्तविक यथार्थ का। ("हंस"में प्रकाशित प्रथमतः)।

यह तो स्वीकृत सत्य है कि कामायनीके पात्र प्रतीक हैं, चाहे 'वे' किसी विशेष काल-खंडके भीतर उपस्थित व्यापक वास्तविकताको एक विशाल कल्पना-चित्र द्वारा प्रस्तुत करते हैं या भारतीय औपनिवेशिक रुग्ण बाधाग्रस्त पूंजीवादकी कथाको उसके आक्रामक अहंग्रस्त व्यक्तिवादका प्रतीकात्मक चित्र बनाते हैं, अथवा वे फिर हासग्रस्त विश्व पूंजीवादके भीतर, भारतीय औपनिवेशिक रुग्ण पूंजीवादके सामंती प्रभाव-छायाग्रस्त उग्र व्यक्तिवादको इस कृतिका आत्म चरित्र बनाते हैं—तो फिर प्रश्न उठता है कि इस कृति का यह विराट् चित्रित परिदृश्य कामायनीकारके ही अपने जीवनकी सारी वासना कैसे मान ली गयी? क्या उपर्युक्त जीवन-फलकका चित्रण 'वस्तुतः उनकी ही कुछ भीतर प्रवृत्तियोंके काल्पनिक चित्र हैं', या हो सकते हैं? यह विचार-असंगति स्वतः स्पष्ट हो जाती है। सन् १९५२ से १९५८ तक के एम. ए. (अंग्रेजी) के पत्रोंमें मिल्टनके 'पेरेडाइज लॉस्ट' पर ही एक ऐसाही प्रश्न बारबार दोहराया जाता था—'दी हीरो ऑव पेरेडाइज लॉस्ट इज द पायंट हिमसेल्फ, कॉमेन्ट'। और जिन छात्रोंने विशेष कविके पत्रोंमें मिल्टन लिया था, वे उसकी विवेचना किया करते थे। 'टू रूल इन हैल इज बेटर देन टू सर्व इन हैवन—'की उग्र आक्रोश भरी दृष्टि उस कृतिके महानायककी ही दृष्टि थी, न कि कवि स्वयंकी। लेकिन दूरकी कौड़ियां तो लार्दा ही जा सकती हैं—तत्कालीन व्यवस्थाके खिलाफ जो था वह कवि-विद्रोही मन।

वैसे हर रचनाका माध्यम कवि होता है। भला स्रष्टा अपनी सृष्टिके पीछे नहीं होगा तो और कौन होगा। लेकिन उसका व्यक्ति, उसकी चेतना स्वयं एक छन्नी होती है, और हर अनुभवके रसको उस छन्नीसे छनना होता है, तभी वह रचना बन पाती है। कवि-जीवनकी अनूभूतिका सारा तलछट रचना में आ ही नहीं पाता, इसीलिए कृति सर्वसंवेद्य हो पाती है। क्योंकि तब उसका सत्य और सौन्दर्य सर्व-जनीन हो जाता है, और वह वासना, या प्रेम, या अहं या किसी विशेष प्रवृत्तिका चित्रण व्यक्तिगत रह ही

नहीं जाता। अतः यह विचार संगत नहीं है कि कामायनी उसके स्रष्टा कविके जीवनकी ही सारी वासना है, या उसके ही अहंग्रस्त व्यक्तिवादके प्रतीक-चित्र हैं।

मुक्तिबोधभी यह तो मानते ही हैं कि 'वे' (प्रसाद) कामायनीमें ऐसा कर सके, चाहे हम उनके मतोंसे, टेकनीकसे, अथवा दर्शनसे सहमत हो या न हों। और मुक्तिबोध उनके मत-दर्शनसे 'नाइत्तफाकी' रखते ही हैं। उन्हें कामायनीकी श्रद्धा और इड़ाभी रहस्यवादी ही लगती है। आचार्य शुक्लजीको भी काव्यमें रहस्यवादसे खासी चिढ़ थीही, तो फिर द्वांद्वात्मक वैज्ञानिक भौतिकवादी सिद्धान्तके प्रतिपादक किसी समीक्षकको उससे गहरी चिढ़ हो तो यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि श्रद्धाका यह अद्वैतवादी रहस्यवाद, जो 'सर्वमंगले तुम महती' पर आधृत है, सामरस्यकी वकालत करता है—'सबका दुख अपनेपर सहने'की शिक्षा देता है, तो ऐसे श्रद्धावादी-साधु-संत और उनके चेले-चपाटी शोषक-शोषित, न्यायी-अन्यायी, संत-दुष्ट-सभीको क्षमा नहीं कर देंगे? ऐसाही श्रद्धावाद तो प्रतिक्रियावादी शक्तियोंके हाथ मजबूज करता है न। जो समरसता का 'दर्शन विश्वके सुख-दुखमें एकरस होकर डूबे रहने का संदेश देता है, वह बुरेके, शोषणके अमंगलके विरोध का, पराजयका और विनाशका संदेश तथा जनताके संघर्ष, विजय और विकासका संदेश नहीं दे सकता।' वे तो यह आरोपभी लगाते हैं कि श्रद्धाको प्रसादजीने सब गुण दिये हैं, केवल दो ही गुण नहीं दे पाये—'कर्म और बुद्धि'। वे अपने समर्थनमें आचार्य शुक्लको ले आते हैं—'रस पगी रही, पाई न बुद्धि'। मुक्तिबोध कर्मकी बात अपनी ओरसे जोड़ते हुए कहते हैं—'रस पगी रही, पायी न बुद्धि, पाया न कर्म।'।

कैसा विचारावेग है यह समीक्षकका? ऐसे आवेग-मय विचार मुक्तिबोधने अन्य स्थलोंपर भी व्यक्त किये हैं। लेकिन इस बातकी पड़ताल जरूरी है कि क्या श्रद्धा सचमुचही कर्महीन और बुद्धिहीन थी? क्या उसमें बुद्धि थीही नहीं? तो फिर श्रद्धा सर्गमें देव-असफलताओंके ध्वंसावशेषके प्रचुर बिखरे उपकरण को फिरसे जुटाकर, नयी मानवी-सृष्टि जो कल्याणी और सुन्दरभी हो, ऐसे नवनिर्माणकी प्रेरणा कोई 'बुद्धिहीन सामान्या' तो दे ही नहीं सकती। वह त्याग-मयी कल्याणी नारी हताश और विस्मय-विमूढ़ मनुको बिना बुद्धिके कैसे यह कह सकती है कि—



शक्तिके विद्युत्कण जो व्यस्त  
विकल बिखरे हैं, जो निरुपाय,

समन्वय उसका करें समस्त

विजयिनी मानवता हो जाय ।

‘तप नहीं केवल जीवन सत्य’ की बात बताती है, यह कहती हुई कि ‘पुरातनताका वह निर्मोक त्याग कर, कर्मशील बनकर, नूतनताके आनन्द, और परिवर्तनकी टेकका सत्य स्वीकारें’—बुद्धिहीन नारी यह कैसे जान सकी, पता नहीं ? यही नहीं वह ‘आत्मविस्तार’ की बात उस तपस्वीसे कहती है जो निरुपाय और असहाय हो पराजयका दुःख झेल रहा है । यही नारी ‘शक्तिशाली हो, विजयी बनो’ की उत्कट प्रेरणाभी देती है, ‘चेतना के उस सुन्दर इतिहास’ की बात बताती है जो ‘अखिल मानव भावोंका सत्य’ है । वह मानवताकी कीर्ति समस्त प्राकृतिक सम्पदापर अनिल, आकाश, भू, जल, अग्नि पर चाहती है । कोईभी बुद्धिहीन नारी इड़ा जैसी प्रबुद्ध, तेजस्वी, विज्ञान-ज्ञानसे सम्पन्न जनपद-कल्याणी को उसकी यह भूल कैसे बतला सकती है, यह कहकर कि—

चेतनताका भौतिक विकास

कर, जगको बांट दिया विराग;

चित्तिका स्वरूप यह नित्य जगत्

वह रूप बदलता है शतशत ।

कण विरह मिलनमय नृत्य-निरत

उल्लासपूर्ण आनन्द सतत,

तल्लीनपूर्ण है एक राग

झंकृत है केवल ‘जाग जाग’

तुम दोनों देखो राष्ट्रनीति

शासक बन फैलाओ न भीति ।

×

×

×

तब देखूँ कैसी चली रीति,

मानव ! तेरी हो सुयश गीति ।

उस बुद्धिमती नारीकी सौमनस्यपूर्ण चेतना तो देखिये—

हे सौम्य ! इड़ाका शुचि दुलार

हर लेगा तेरा व्यथा भार,

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,

तू मननशील कर कर्म अभय,

इसका तू सब संताप निचय

हर ले, हो मानव भाग्य उदय !

सबकी समरसता कर प्रचार,

मेरे सुत ! सुन मांकी पुकार ।

यह ‘सबकी समरसता’ ही वह अंगुली है शोषित-शोषकवाली मनो-ग्रंथीकी पीड़ाको उकसाहट देती है । और अन्ततः मुक्तिबोधको स्वीकारना पड़ता है कि ‘निश्चयही इस समरसताका अर्थ यहभी हो सकता है कि प्रसादजी सामाजिक स्तरपर समताके पक्षपाती थे । जिस आवेगसे, जिस जोशसे, जिस तीव्र संवेदनासे प्रसादजीने (अपने भाववादी तरीकेसे) विषमताओं पर आघात किया है, उससे यही अर्थ सूचित होता है ।’

(मु. र. पृ. २८७)

तो प्रश्न उठता है कि जो नारी इतनी प्रबुद्ध हो, जो हिंसा-अहिंसा न्याय-अन्याय. आशा-निराशा, ज्ञान-विज्ञान और जीवन-दर्शनके भेदाभेदकी गहरी पहचान रखती हो उसे—‘रस पगी रही, पाई न बुद्धि’ की बात कहनेवाली समीक्षा-दृष्टि कितनी न्यायसंगत है, पाठक ही इस बातका निर्णय कर सकते हैं ।

रही ‘कर्म’ की बात । मुमुर्षु चिन्तक मनु किसकी कर्म प्रेरणासे प्रेरित हो जीवनोन्मुखी है ? उनके जीवन में मधुमय बसंतका संचार किसकी प्रेरणासे होता है—

आह ! वैसाही हृदयका बन रहा परिणाम,

पा रहा हूँ आज देकर तुम्हींसे निज काम ।

आज ले लो चेतनाका यह समर्पण दान,

विश्वरानी ! सुन्दरी नारी ! जगत्की मान ।

कामगोत्रजा होनेपर भी यह नारी ‘वासनाधारा’ बनकर ही कभी नहीं रह सकी । वह न केवल उस मनु को जो ‘इस आकर्षणसे विश्वको केवल भोग्य’ समझता रहा है, प्रबोधनकी न केवल चेष्टाही करती है बल्कि उसकी तमाम उद्धत और उद्दाम अन्तर्वृत्तियोंके उदात्तीकरण करनेमें भी अंततः सफल होती है । इस फैंटेसीका सृजन ही इसी हेतु हुआ है । कामायनीके अंतिम तीनों सर्ग उसी भाव-चित्तनके चित्ररूप हैं ही । श्रद्धाका यही महत् ‘कर्म’ इस कृतिकी उपलब्धि है । प्रसादजीके ‘समरसता’ के समूचे सिद्धान्तकी वही प्रतीक-पात्र है, जो अपने महत्कर्मके द्वारा मनुष्य मनकी उद्धत, विकृत और उद्दाम बासनाओंके परिष्करणका निरंतर प्रयत्न करती है । परन्तु मुक्तिबोधको आपत्ति इसी बातपर है कि जो नारी यह कहती हो कि—

मैं लोक अग्निमें तप नितान्त

आहुति देती प्रसन्न प्रशान्त ।



वह सारस्वत नगरके अंचलमें उस करुण स्थितिमें जहाँ—

अभी घायलोंकी सिसकीमें जाग रहीथी मर्म व्यथा पुर लक्ष्मी खग-रवके मिस, कुछ कह उठतीथी करुण कथा ।

ऐसे समयभी—‘उम्के मनमें—प्रजाने जो विद्रोह कियाथा उसके पक्षमें अथवा, उस जनताके पक्षमें कोई सहानुभूति ही नहीं जागती, न ही इतना अत्याचार देखकर उसके मर्मको कोई चोट ही पहुंचतीहै, न वह उनकी सेवा-सुश्रूषाही करतीहै, तो लगताहै है कि उसकी सहानुभूति, कोमलता, मानवताका आदर्शवाद आदिकी अभिव्यक्ति जो उसने ‘कर्म’ और ‘ईर्ष्या’ सर्गों में कीहै, वह जैसे मात्र कोई नारा हो ।’ मुक्तिबोधको श्रद्धाके पत्नीत्वपर कोई आपत्ति नहीं है । आपत्ति है तो उसके ‘मानवता’ ‘लोकाग्निमें तपने’ आदिकी फालतू बातोंपर ही । लेकिन प्रश्न यह है कि श्रद्धाका यह कथन है कि ‘वह लोक-अग्निमें तप नितांत, प्रशांत और प्रसन्न मनसे, अपने जीवनकी आहुति दे रहीहै’, तो गलत है ? श्रद्धा कामगोत्रजा, कामपुत्री है और कामकी महत् प्रेरणासे ही मनु उसकी ओर आकर्षित होतेहैं । गांधार देशकी यह घुमन्तु नारीभी मनुको प्रेरणास्पद, भावमयी, वसंतके दूत, ‘घनान्धकारमें चपलाकी रेख’ और उसके उत्तप्त जीवनमें ‘मधुर बयार-सी’ लगतीहै । विस्मृतिके उस अचेत स्तूप मनुके लिए, श्रद्धाका अवतरण इसी महत् प्रयोजनसे ही होता है । वह उसे प्रकृतिके प्रचुर वैभवसे भरे उस विस्तृत भू-खंडमें कर्मकी प्रेरणा देतीहै, ‘कर्मका भोग, भोगका कर्म’के रहस्यको समझातीहै, जड़ प्रकृतिके चेतन आनंद का रूप चित्र प्रस्तुत करतीहै, उसे कर्मण्य बननेकी जीवन्त प्रेरणा देतीहै, वह स्वयं अकर्मक कैसे हो सकती है ? मुक्तिबोधको आश्चर्य होताहै कि वह घुमन्तु स्व-भावकी नारी कुटिया बनाकर कैसे बस गयी ? तकली कातना, स्वर्णशालियां बीनना, वेतसी लताका सुन्दर झूला बनाना, कुटियाके धरातलको सुमनोंके कोमल सुरभि चूर्णसे सुरभित और चिकना बनाना आदि इस गृह-लक्ष्मीका गृह-विधानही तो हैं । उस मनकी कैसी मधुर साध है यह—

मेरी आंखोंका सब पानी

तब वन जायेगा अमृत स्निग्ध

उन निर्विकार नयनोंमें जब

देखूंगी अपना चित्र मुरध ।

केतकी-गर्भसे पीले मुख-छविवाली यह नारी मातृत्व बोधसे अब सुवेष्टित है, जिसके प्रशस्त भालपर भावी जननीका सरस गर्व, श्रम-विन्दुके रूपमें झलक रहाहै । ऐसी कर्ममयी मातृ-छवि है श्रद्धाकी । आनेवाले शिशुके लिए एक माँ जितना कष्ट उठाती है, श्रम करती है वह किसी कर्मनिष्ठ तपस्यासे कम नहीं होता । आजकी यह पुरुष-प्रधान व्यवस्था, और उसकी क्षुद्र और स्वार्थपूर्ण मानसिकताके लिए इस देशकी करोड़ों गृहलक्ष्मियोंको रात-दिन अपने गृह-विधानमें जो श्रम करना पड़ताहै, जैसे उसका कोई मूल्य ही नहीं ? हमारी ऐसी मानसिकताही तो उनके ढेर सारे कामों को उनके कर्तव्यमें ही अवतक सम्मिलित करती रही है । लेकिन क्या उनके इन महत्त्वपूर्ण गृह-कर्मोंको कर्म की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती ? फिर पुरुषको मात्र रूप, रस, गंध, स्पर्शके लिए कस्तूरी-मृग बनकर, स्थल-अस्थल भटकनेकी छूट रहे । वह अपने आत्मजातके आगमनकी आहट तक नहीं सह सकता, यह कहकर कि यह तो उसके प्रेमका विभाजन है, वह बस एकाधिकार चाहताहै, और अन्तमें ज्वलनशील आकुल अन्तर लिये भाग छूटताहै, लेकिन मनुष्यकी कोईभी जननी ऐसा पलायन नहीं करना चाहतीहै और अंततः मातृत्वकी वही करुण पुकार—‘रूक जा, सुन ले ओ निर्मोही !’ अधीर और श्रान्त बनी, निराशाके अंधकार में डूब जातीहै ।

लेकिन श्रद्धा किसीके शृंगार कक्षकी गुड़िया नहीं हैं, वह अपने वत्सका पालन-पोषण अपने ममताभरे असीम वात्सल्यसे करतीहै । वह एक उत्तरदायी माँ है, चाहे फिर किसी राजनीतिक-दृष्टिकी मानसिकतामें वह अकर्मक और अकारथ ही रहीहै । ऐसे चिन्तनमें निश्चय ही कहीं कोई सामंती-उद्वेग और असंतुलन अवश्य है । कोई क्षुद्र मानसिक आवेगही इसकी अनदेखी कर, इसका अवमूल्यन कर सकताहै । सामंतवाद वैसे मर चुकाहै, लेकिन उसकी मान्यताएं अबभी मनुष्यकी अन्यान्य बुराइयोंकी तरह जीवित है । श्रद्धा और इडा, दोनोंही नारियां स्वामिनी है, अतः स्वाभिमाननीभी पूरी हैं । एक गृहस्वामिनी है, तो दूसरी राष्ट्रस्वामिनी, कोई रखैल नहीं हैं वे । प्रसादने इन दोनोंका ही बर्चस्व निरंतर कायम रखाहै । श्रद्धा परित्यक्ता है, तो इडा धर्षिता नारी, लेकिन प्रसादकी कामायनीमें दोनोंही नारियोंका स्थान अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण है । और मनुके व्यक्तित्व-विकासमें वे पूर्णतः योगदायक



रही हैं। श्रद्धा-सी परित्यक्ता भी जब सपनेमें अपने पति को घायल और मूर्छित अवस्थामें देखती है, तो बेचैन हो, अपने वत्सके साथ उसकी खोजमें तुरंत निकल पड़ती है। वे थके हारे श्रान्त पथिक अन्ततः उस स्थानपर पर पहुंच ही जाते हैं, जहाँ—

अभी घायलोंकी सिसकीमें जाग रही थी मर्म व्यथा,  
पुर लक्ष्मी खग-रवके मिस कुछ कह उठती थी मर्म व्यथा।

और उल्का-ज्वालाके प्रदीप्त प्रकाशमें जब घायल और मूर्छित पड़े मनु उसे दिखायी देते हैं, तो वह तुरंत उनके पास पहुंचती है। उस समय उसका एक मात्र लक्ष्य अपने पीड़ित पतिको प्राप्त करना रहा था। राष्ट्रस्वामिनी इड़ा जो स्वयं अपने विषादमय चिन्ता-भारसे आक्रान्त थी, इस परित्यक्ता नारीसे सहजहो सहानुभूति प्रकट करती है।

आहत दुख और विषादके ऐसे क्षणोंमें कौन किससे क्या कहे और क्या सुने ? उन घटनाओंका लेखा-जोखा लेनेका किसके पास इतना अवकाश था ? श्रद्धा यहां प्रथमतः पत्नी और मां है, कोई राजनीतिक सामाजिक कार्यकर्त्री नहीं। यदि यहां प्रसाद श्रद्धासे उस पीड़ित जन-समाजकी सेवा सुश्रुषा करवा देते तो फिर स्थल कथा-काव्य और फैन्तासीमें फर्क क्या रह जाता ? अपने पथभ्रष्ट पतिकी खोजही उस उस विछोहभरे दुखी हृदयका लक्ष्य था।

और फिर एक घायल और विषादभरे निपीड़ित मनकी भर्त्सना करना किस सौजन्यकी प्रेरणा हो सकती है ? ऐसी भर्त्सना करना क्या नितान्त अमनोवैज्ञानिक कार्य नहीं होता ? ऐसे समय तो प्राणी दया और सहानुभूतिका पात्रही होता है, जिसे प्रताड़ना नहीं, प्रेमसे ही सही मार्गपर प्रेरित किया जा सकता है। और फिर राष्ट्रस्वामिनी इड़ासे श्रद्धा रूबरू नहीं होती ? —उस इड़ासे जिसने 'घृणा और ममतामें ऐसी—'कितनीही रातें बितायी है, जो अबभी सोच रही हैं—

कितना दुःखी एक परदेशी  
बन, उस दिन जो आया था,  
जिसके नीचे धरा नहीं थी,  
शून्य चतुर्दिक छाया था।

लेकिन आज वही मुमूर्षु-सा आहत उसके सामने पड़ा हुआ है। इड़ाकी आंखोंकी पिछवाईपर वह सारा अतीत उभर आता है। वह जो कभी शासनका सूत्रधार था, नियामक था और नियंता भी, लेकिन आज अपनेही

द्वारा निर्मित नवविधानसे स्वयंके लिए साकार दण्ड बन गया है। वही अतीत अब सपना हो गया है—वह 'जो सबका अपना था' आज सभी उसके पराये हो गये हैं। स्नेहभी अपराध हो जाता है, जब वह सब सीमाएं तोड़ देता है। निश्चयही ऐसा स्नेह एक प्रकारका शोषणही होता है। अपना या पराया सुखभी जब अपनी सीमा का उल्लंघन करता है तो ऐसी अतिवादिताभी दुःख-दायी हो जाती है। इड़ा ऐसी स्थितिमें यह भी स्थिर नहीं कर पाती कि वह उस मण्डपकी सीढ़ियोंपर मनु को दण्ड देनेके लिए बैठी है, या उसकी रखवाली करने? ऐसी उलझनमें फंसी नारी फिर मनुकी भर्त्सना क्या करती ? इड़ाकी इन मानसिक स्थितियोंसे अवगत होना भी आवश्यक है। उसका मन निश्चयही घृणा और स्नेहके बीच दोलायमान है, तब वह श्रद्धा जैसी परिश्रान्त और दुःखी पथिकसे भी क्या शिकायत करती ?

श्रद्धा 'मानव' की जननी है। वह इस 'सृष्टिकी बेल फैलाने' के लिए, अपने आत्म-विस्तारके लिए, कर्म को भोगके लिए और भोगको कर्मका फल मानती है। यह कोई निष्काम कर्मकी बात नहीं है —जड़ प्रकृति का तो यह चेतना आनंदही है। महामान्य तिलक और महात्मा गांधीके निष्काम कर्मयोगसे कुछ भिन्न। इस बातको प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदीने भी अपनी पुस्तक 'कामायनी : पुनर्मूल्यांकन' में स्वीकार किया है। वे तो यहाँतक कहते हैं — 'रामकृष्ण, विवेकानंद और तिलकके युगमें गीताकी विराट् दृष्टिमें भी कुछ जोड़नेका उपक्रम इस कविकी उपलब्धिको अधिक स्पृहणीय बनाता है'। इसी नारीने मनुको हंसते हंसते यह सिखाया था कि यह विश्व एक खेल है, खेलते चलो। और सबसे मेल करते चलना चाहिये। वह तो उसके चिर-अतृप्त जीवनमें भी अपने 'अज्ञ सुहागकी वर्षा' लेकर संतोष बन पायी है। वह इड़ासे कतई ईर्ष्या नहीं करती, उसकी भूलको मात्र दुलारतीभर है—

बोली—“तुमसे कैसी विरक्ति,

तुम जीवनकी अन्धानुरक्ति,  
मुझसे बिछुड़ेको अवलम्बन  
देकर, तुमने रक्खा जीवन।

तुम आशामयि ! चिर आकर्षण  
तुम मादकताकी अवनत घन।  
मनुके मस्तककी चिर अतृप्ति  
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।

उसकी आशामयता, आकर्षण और सोन्दर्यकी संराहना



करती हुई, बिछुड़े पतिको अवलम्बन देनेके लिए आभार व्यक्त करती है । यही नहीं अपनीही वत्सलताके महत्त्वपूर्ण प्रतीक 'वत्स मानव' को भी उसे ही सौंप, अकेलीही पतिकी तलाशमें चल देती है, और अन्ततः उसे प्राप्तकर, उस उच्च धरातलपर पहुंचती ही है, जहाँ...

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो

इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,

दिव्य अनाहत पर निनादमें

श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।

और वे युगल अब वहीं बैठ संसृतिकी सेवा कर रहे हैं, सभीको संतोष और सुख देकर, उनके दुःखकी ज्वाला का हरण कर रहे हैं । वे उपदेष्टा हैं, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कामनासे युक्त हो कहते हैं कि—

हम अन्य न, और कुटुम्बी

हम केवल एक हमी हैं

और यहभी कि—अपने सुख-दुःखसे पुलकित

यह मूर्त विश्व सचराचर ।

चितिका विराट् वपु मंगल,

यह सत्य सतत चिर सुन्दर ।

मनु यह कभी नहीं कहते हैं—“रहना नहि देश विराना है” या ‘यह संसार कागदकी पुड़िया’ है । वे “जग-न्मिथ्या” की अद्वैतवादी धिचारधाराको भी व्यक्त नहीं करते । यह विश्व चितिका ही विराट् वपु है, जो मंगल-मय है, यह सदैव सत्य है, चिर सुन्दर है । ‘एक नूर ते सब जग उपजा, कौन भले कौन मदे’ की दृष्टि भी इसी सौन्दर्यको देख सकी थी । मनु नयी मानवतासे यही चाहते हैं कि—

सब भेदभाव भुलवाकर

दुख सुखको दृश्य बनाता

मानव कह रे ! ‘यह मैं हूँ’

यह विश्व नीड़ बन जाता ।

लेकिन यह सभी कामनामूलक तो है, लेकिन क्या हर फेंटेसीका सत्य कामनामूलक नहीं होता ? और इसी-लिए आदर्शवादी दृष्टिही यहां महत्त्वपूर्ण है । प्रसादने काम-ध्वनिके माध्यमसे ‘अभिनव मानव प्रजासृष्टि’ का ज्वलंत चित्रण किया है—‘जहाँ निरंतर वर्णोंकी सृष्टि हो रही है, अपने परायेकी भावनाही प्रबल हो रही है, अनजान समस्याएं निरन्तर गढ़ी जा रही हैं सभी ‘अपनी अपूर्ण-अहंता’ से ही प्रेरित हैं, इसीलिए सारा जीवन संघर्षमय हो गया है, और आजका यह मनुष्य इस धरा-

तलपर, चलता फिरता ‘दंभ-स्तूप’ सा बन गया है । औरोंको दोषी-अपराधी कहकर हम अलग-अलग व्यवस्थाओंके तंत्र स्थापित कर चुके हैं, लेकिन यह प्रत्येक तंत्र कितना अपूर्ण है अब भी ? क्या यह प्रजातंत्र अब भी शाप भरा नहीं है ? आजका मनुष्य प्रगति और विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है । ‘पंचशील’ के सिद्धांत तक खोजे गये हैं, तो अब ‘पेरिस्वोइका’ और ‘ग्लासनोत्स’ की विचार-दृष्टि उभरकर सामने आयी है । अब तो हंगरीकी समाजवादी सरकार तक ने अपने यहां बहु-दलीय व्यवस्थाको स्वीकृति दे दी है, क्योंकि आज विश्व-का यह साढ़े चार अरबका जनसमाज और उसका सामूहिक अन्तश्चेतन उत्तरोत्तर जटिल होता जा रहा है ।

अब तो ऐसे-ऐसे ‘शस्त्र, यंत्र बन चले, न देखा जिनका सपना’—क्या कामायनीका भी सत्य नहीं है ? यही नहीं, दो बड़े शक्ति-गुट अब भी शक्ति-खेलके प्रदर्शनमें लगे हुए हैं । राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाभी उनके ‘वीटो’ की शक्तिसे कितनी असहाय और पीड़ित रही है, यह एक जीवन्त वास्तविकता है । माननीय मिखाइल गोवर्चिक्के विवेकशील प्रयत्नोंको भी अन्यान्य राष्ट्र असफल करनेके लिए अब भी प्रयत्नशील हैं । विश्वकी इस अभिशप्त सामूहिक अन्तश्चेतनाकी श्रद्धा जैसे खो गयी है, मनुके मनुजात फिर श्रद्धाको भूल गये हैं तो फिर... ‘श्रद्धावान् लभते नरः’ की स्थिति कैसे लौट सकती है ? समस्या फिर इस विराट् सामूहिक अन्तश्चेतनमें श्रद्धाको स्थापित करनेकी है, प्रयत्न जारी है—ईरान और ईराकमें वर्षोंके ध्वंस और विनाशके बाद, विवेक और विश्वास जैसे पुनः लौट रहा है, लेकिन आर्थिक और सामाजिक शोषण पहलेकी भांति जारी है, उससे मुक्तिकी बात अब भी दूर है, यह बात हर गली-चौराहा, खेत-खलियान, कल-कारखाने चलानेवाला मनुष्य जानता है । बीसवीं सदीकी समाप्ति और इक्कीसवीं सदीका आरंभ भी हमें मात्र आश्वासनही दे सकता है । अन्तरिक्षके अन्तर्ग्रही यानोंका यह युग होते हुए भी यह विराट् सामूहिक अन्तर्मन आज भी कितना विक्षुब्ध, त्रस्त और दोलायमान है, क्योंकि स्वस्ति-आश्वस्ति कहीं नहीं है । संभवतः इसीलिए सोवियत रूसने गिरजाघरोंके शिखरोंसे घोषणा की है कि ‘हमारे यहां धर्मकी पूरी स्वतंत्रता है, और रूसमें ईसाई धर्मके साथ-साथ अन्य भी फल-फूल रहे हैं (सोवियत भूमि खंड ३६—अंक ५, १९८८) उस ‘लामजहबियत’ में शायद इसीलिए फिर



‘मजहब’ लौट रहा है। श्रद्धा, विवेक, विश्वास और प्रेमकी उच्चतम भावभूमि है, श्रुत-धा है वह। श्रुत अव्यय है, उसमें सत्य और विश्वास दोनों ही विद्यमान हैं। उसके बिना मनुजातकी मनुष्यताका विकास असंभव है ही। विश्वास न हो तो हरबर्ट रीडकी ये काव्य पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

हम अंधेरा हैं दिनकी रोशनीमें ।  
भाग्यवान् हैं वे लोग जो  
प्रार्थना करके दुःखसे छुटकारा पा लेते हैं  
भाग्यवान् हैं वे लोग जो  
भगवान् में विश्वास रखते हैं  
उनके दर्शन पा लेते हैं  
और बड़े धैर्यसे मृत्युकी परीक्षा करते हैं  
लेकिन हम  
जिनकी आस्था मानवमें केन्द्रित है  
और मानवकी मानवता  
कुत्तों और भेड़ियोंसे भी गयी बीती है  
हमें सान्त्वना मिलेगी ?  
कैसे ? ..... कैसे ?

“मानव” की जननी इस श्रद्धाका निश्चयही, विश्वके इस विराट् सामूहिक अन्तर्मनमें गहरा अभाव है, इसी-लिए तो मानव-मूल्योंका इतना “प्रोस्टीट्यूशन” हो रहा है ? कामायनी कभीभी ‘कर्म’ और कर्मनिष्ठ होने के खिलाफ नहीं रही, उसके लिए तो ‘यह नीड़ मनोहर कृतियोंका, यह विश्व कर्म-रंगस्थल है’, ही, ‘जहां परम्परा लग रही यहां, ठहरा जिसमें जितना बल है।’— वह तो इसी बातकी घोषणा करती है, वह अकर्मक होकर, कर्महीनताका संदेश कहां देती है ? इस मानवकी कर्मण्यताके लिए ही श्रद्धा अपने पुत्रका हाथ इड़ाको सौंपती है, इसलिए कि वह पुत्र ‘मननशील’ और ‘श्रद्धा-मय’ है, और इसीलिए अभय होकर कर्म कर सकेगा। तभी इड़ा और मानव तन्मय होकर—

दो लौट चले पुर ओर मौन

जब दूर हुए तब रहे दो न।

निश्चयही यह कृति जीवनके कर्मक्षेत्रको छोड़नेका कहीं भी संदेश नहीं देती। चाहे उसकी ‘सबकी समरसता कर प्रचार’ पर किसी वैज्ञानिक ‘वाद’ की विभक्त और तर्कपूर्ण भेदभरी दृष्टिकी असहमति हो।

यह तो सच है ही कि प्रसाद अपनेही युगके पूरे परिवेशसे सुपरिचित थे। उनकी अकाल मृत्युभी ही

‘प्रकर’—जून १०—१४

गयी थी, लेकिन मुक्ति-बोधके सामने भी ‘स्टारवाद’ की संभावनाओंके युगका विस्तार कहां हुआ ? जिस द्वन्द्वात्मक वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिसे ‘पेरिस्त्रोइका’ और ‘ग्लासनोत्स’ की प्रेरणा उपजी है, वह तो मुक्ति-बोधके युगको बहुत पीछे छोड़ आया है। तेजीसे बदलती हुई जीवन-विस्तारकी दिशा-दृष्टि अपने साथ नवीन संभावनाएं लेकर आती है। कामायनी एक कवि-मनीषी की कृति है, एक विशाल फैंटेसी, जो न केवल अपना ही युगमात्र समाहित किये हुए है, बल्कि अपने अति प्राचीन प्रतीक पात्रोंके माध्यमसे अनागतकी संभावनाओंको भी उजागर करती है। उसका आधारभी निश्चयही वैश्विक है। जिसमें जीवनकी अनादि वासनाका रुपायन हुआ है, और जिसकी निरंतरता सर्वकालिक और वैश्विक है। मुक्ति-बोधकी निगाहमें भी प्रसादजी ‘निस्संदेह शक्तिशाली कवि’ हैं,। कामायनीका यह सौभाग्य ही कहिये कि मुक्तिबोध-सा श्रेष्ठ जनवादी कवि-मनीषी पिछले बीस वर्षोंसे, उसका ‘पठन-पाठन और अध्ययन’ करता आया था। वह प्रथमतः ही कामायनीको ऐतिहासिक महाकाव्य माननेसे इन्कार करता है, अपनी समीक्षामें इस मतको निराधार और भ्रामक सिद्ध करता रहा है। वह मानता है कि वैदिक कथानक तो उसके लिए एक विशाल फैंटेसी (स्वप्न चित्र) का काम करता है, जिसके द्वारा प्रसादजी आधुनिक जीवन-तथ्यों और उससे उद्भूत निष्कर्षोंका चित्रण कर रहे थे। मुक्तिबोधकी आपत्ति इसपर है कि प्रसाद मनुको अद्वैतवादी रहस्यवादमें पलायन करवाते हैं, कैलाशके अंचलमें ले जाकर, एक परिकल्पित आनंद-वादमें स्थिर कर देते हैं। मनुमें निश्चयही कर्म करनेकी प्रबल सामर्थ्य-शक्ति और निर्बाध उत्साह रहा है, लेकिन उनकी हताशा और पराजयके क्षणोंका लाभ उठाकर, उन्हें प्रकृतिके एकान्तमें निष्कासित कर दिया गया है, चाहे फिर वे वहां बैठकर यात्रियोंको सत्यकर्मका उपदेश ही क्यों न देते हो ? उनकी दृष्टिमें यहीं प्रसाद सफलता के शिखरकी ऊंचाई तक पहुंचते-पहुंचते लुढ़क पड़ते हैं। (शायद किसी सिसिफलकी तरह)।

दिनकरजीने इसी ओर संकेत किया ही था—‘कितनेक यात्री मानसरोवरकी यात्रापर उस समय जाते होंगे ? क्या उपदेश देना भी सेवा कार्य है ? आदि बिन्दु उठाये गये हैं। मुक्तिबोध कामायनीकी शैव दर्शनवाली व्याख्या इस कृतिपर आरोपित करना उसके साथ ज्यादातीही समझते हैं—‘नित्य समरसताका अधिकार’, उमड़ता कारण



जलधिमान / व्यथासे नीलों लहरों बीच/बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान' की प्रो. विजयेन्द्र स्नातक द्वारा की गयी विवेचनासे वे बिल्कुल असहमत हैं।

'कामायनी : एक पुनर्विचार' लिखकर, एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक समीक्षाका दस्तावेज इस लेखकने दिया है। वे स्वयंभी मानते हैं कि उन्होंने 'जो उत्तरदायित्व स्वीकार किया है, उसका निर्वाह कहां तक होसकेगा, यह नितांत शंकास्पद है। यदि मेरी इस रचनाकी ओर आलोचकोंका ध्यान गया तो निश्चयही मतभेदोंकी टंकार सुनायी देगी। सचमुच उनकी बुद्धिकी यह वरेण्य मुक्तावस्था ही है। उनकी यह आलोचना निरंतर आक्रामक रही है—आद्यंत। उसका एक ही प्रबल कारण है—उनकी मार्क्सवादी अवधारणाओंका विश्व-मानवताके विकासमें योगदान। उनके युगमें अवधारणाओंका जोर बाढ़पर था ही। फिरभी 'नर्थिंग इज फाइनल' कहकर मार्क्सने अपनी प्रबुद्ध द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिको एक स्वस्थ खुलापन दे दिया था। इसी कारण उसमें निरंतर होते संशोधन इस बातके प्रबल प्रमाण है।

मुक्तिबोधके कामायनी विषयक पुनर्विचारकी यह विशेषता है कि जैसे कोई शास्त्रीय गायक, अपने रागकी स्थायीके स्वर, अंतरा और आलापके विवादी विषमका सम, स्थायीके स्वरमें ही बार-बार ध्वनित करता है, उसी

प्रकार कामायनीकी रहस्यवादी समरसतापर बार-बार आकर वे स्थायी रूपसे आक्रमण करते रहे हैं। वे अपने प्रत्येक तर्कपूर्ण विचारको बड़ी आश्वस्तिसे पेश करते हैं, यह नहीं कि किसी बड़े आचार्य प्रवरकी तरह कामायनी पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, इतना भर कह दें कि 'और एक-दूसरे तरहका दर्जो होता है, जो कम परिश्रम और ज्यादा कल्पना करके एक लम्बा-चौड़ा झूल तैयार कर देता है, जो प्रत्येक आदमीको ढक सकता है। कामायनीका कवि इसी श्रेणीका है' (प्रसाद और उनकी कवितासे उद्धृत)। ये आचार्य अपने इस विवेचनकी गहराईमें उतरनेका कोई कष्ट नहीं उठाते, कि ऐसा उन्होंने क्यों कहा? इसका उत्तरभी शायद उन्हींके पास हो। लेकिन वे भी इस संसारमें अब नहीं है।

मुक्तिबोध कामायनीकी रचनाके कलात्मक सौन्दर्यके लिए इतना भर कह देते हैं कि वह तो कृतिका सिंहद्वारा है, असल महत्त्व तो कृतिमें सन्निहित वस्तु और विचार-तत्त्व तथा उसके दृष्टिकोणका है। उनके पुनर्विचारकी अपनी सीमाएं स्पष्ट है। मेरा तो अब भी निश्चित मत है कि विविध विचारधाराओंसे उत्तापित इस तुमुल कोलाहलके कलह-युगमें, कामायनी जो 'मनुष्यके हृदयकी बात' कहती है, वह अब भी अत्यन्त प्रासंगिक और मनुष्यताके लिए श्रेयस्कर है। □

## आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार

### द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा (४. २.)

—डॉ. राजमल बोरा

१४४. धार्मिक रूपसे हटकर प्राकृत भाषाके साहित्यिक रूपपर विचार करें तो उसका सबसे उत्कर्ष काल महाराष्ट्रमें सातवाहनोके शासनकालमें प्रतिष्ठान-पुरी—जिसे आजकल पैठण कहते हैं—देखनेमें आया। विशेष रूपसे हालके समयमें यह उत्कर्ष अधिक रहा है। हालको नायक मानकर 'कोऊहल' (कुतूहल) ने 'लीलावई' (लीलावती) काव्यकी रचना की है। लीलावती सिंहल-

द्वीपकी राजकुमारी है। दोनोंके प्रेमकी कहानी है। हाल की 'गाथा सप्तशती' है, इसी प्रकार गुणादयकी बहु-कहा (बृहत्कथा) है। प्राकृतमें औरभी साहित्यिक रचनाएं लिखी गयी हैं और इन रचनाओंके संस्कृत भाषामें परिणत रूप मिलते हैं। संस्कृत भाषामें प्राकृत साहित्यकी छाया [अनूदित रूप] मिलती है। संस्कृतके नाटकोंमें प्राकृतोंके रूप मिलते हैं। जिस समय संस्कृत



भाषा स्वयं प्राकृतोंके रूपोंको अपना रहीथी तो इसका कारण क्या हो सकता है ? ऐसा क्यों हुआ ? प्राकृत भाषाको संस्कृतसे सरल मानें तो फिर ऐसा क्यों हुआ ? प्राकृतके रूपोंको, प्राकृतकी साहित्यिक कृतियोंको आत्मसात्कर संस्कृत भाषा और समृद्ध हुई है। इस रूपमें प्राकृत भाषामें संस्कृतकी मूल साहित्यिक रचनाएं प्रायः नहीं मिलती। यदि ऐसा होता तो प्राकृत भाषा और समृद्ध होती। प्राकृत भाषामें लौकिक जीवन खुलकर व्यक्त हुआ है। इस विशेषता को संस्कृतने अपना लिया है।

१४५ प्रोफेसर दामोदर धर्मानन्द कोसंबीने बौद्ध धर्मके उद्भव, प्रसार और पतनका काल १५०० वर्ष माना है। इसे ई. पू. छठी शताब्दीसे आरम्भकर हम ६ वीं शताब्दी तकका काल कह सकते हैं ? इसी काल में प्राकृत भाषाका [बौद्ध-धर्मके साथ साथ कहना चाहिये] उद्भव, प्रसार और पतन हुआ कहना चाहिये। पतन न कहकर ह्रास कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसी कालमें संस्कृत भाषाकी दृष्टिसे विचार करें। संस्कृत साहित्यका कालभी लगभग यही है। ईसा पूर्व छठी शतीसे पूर्वके संस्कृत वाङ्मयको हम प्रागैतिहासिक काल कह सकते हैं। प्रागैतिहासिक काल का सम्बन्ध वैदिक साहित्यसे है। उसीके अंतर्गत आरण्यक, ब्राह्मण ग्रंथ, तथा उपनिषद् आदि लिखे गये हैं। लौकिक संस्कृतका काल बादका है और वह काल लगभग वही है जिस कालमें प्राकृत भाषाभी फूलती रही है। इसलिए हम कह सकते हैं कि दोनों भाषाओंका काल लगभग समान है। दोनोंका क्षेत्र भारतवर्ष है। इसमें संस्कृत प्राचीन है और संस्कृतकी तुलनामें प्राकृत अर्वाचीन है। अतः इस बातपर विचार होना चाहिये कि प्राचीन भाषा तो बनी रहती है और प्राकृत भाषा धीरे धीरे ह्रासकी ओर बढ़ती है। ऐसा क्यों हुआ।

१४६. प्राकृत भाषा केवल बौद्ध-धर्मकी भाषा नहीं थी। वह जैन धर्मकी भाषाभी रही है। प्राकृतमें जैनोके आगम-ग्रंथ पाये जाते हैं और उनका आजभी उतनाही सम्मान है किन्तु प्राकृतकी महत्ता कम होती है जैनोंने संस्कृतही नहीं अपितु भारतवर्षकी अन्य भाषाओंमें अपना साहित्य लिखा। जैन धर्मका साहित्य दक्षिण भारतकी भाषाओंमें उसी समय लिखा गया है। मराठी, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओंमें जैन धर्मकी

पुस्तकें ठीक उसी समयसे लिखी जाने लगी, जिस समय जैन धर्म प्राकृत भाषाके साथ दक्षिणमें पहुंच गया था। जैन साहित्यके माध्यमसे प्राकृत भाषाओंके संस्कार दक्षिणकी—द्रविड़ परिवारकी—भाषाओंपर हैं। इन संस्कारोंपर विचार होना चाहिये।

१४७. संस्कृत भाषामें और प्राकृत भाषामें पाये जानेवाले मूलभूत अंतरको समझनेकी आवश्यकता है। क्या संस्कृत मृत भाषा है ? और क्या प्राकृत मृत भाषा है ? दोनोंही प्रचलित भाषाएं नहीं हैं—आधुनिक भाषाएं नहीं हैं। अतः दोनोंको व्यवहार—बोलचालके रूपमें न रहनेके कारण—में न रहनेके कारण मृत कहा जा सकता है। किन्तु दोनोंके मूलभूत अन्तरको समझने की आवश्यकता है। संस्कृत जिस अर्थमें आज जीवित है, उस अर्थमें क्या प्राकृत जीवित है। इसका उत्तर खोजना है। इस सम्बन्धमें पादरी कार्ल्डवेलने लिखा है—

“भारतीय भाषाओंकी खास विशेषता यह है कि जैसेही उनका संस्कार होने लगता है, उनकी साहित्यिक शैली, साहित्यिक बोलीके रूपमें विकसित होने लगती है और वे अपने आप सामान्य जीवनके बोली रूपसे अलग हो जाती हैं। उसका शब्द समूह और व्याकरण भी कुछ अपना हो जाता है। ये विशेषताएं उत्तर भारतके आर्य परिवारकी भाषाओंमें मिलती हैं। दक्षिण भारत की द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें भी ये विशेषताएं पायी जाती हैं। संस्कृत-प्राकृत या आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध जिस रूपमें बना हुआ है, वह यूरोपकी आधुनिक भाषाओं और मृत भाषाओंके सम्बन्धोंकी तरह नहीं है। यूरोपकी मृत भाषाएं किसी समय जीवित भाषाएं रही हैं और वे उसी तरह प्रचलनमें थीं जैसे आजकी आधुनिक भाषाएं हैं। वे जैसे बोली जाती थीं, वैसेही लिखी भी जाती थीं। उदाहरणके लिए डेमोस्थेनेस [Demosthenes] और सिसरो [Cicero] के भाषणोंकी भाषाएं इस तथ्यको प्रमाणित करती हैं। जब हम उन भाषाओंको मृत कहते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि हम उन भाषाओंका उल्लेख पूरी तरहसे मृतके अर्थमें करते हैं। वे इस समय जीवित नहीं हैं। इस अर्थमें हम संस्कृतको मृत भाषा नहीं कह सकते। संभवतः वह किसीभी समय भारतीय आर्योंकी बोलचालकी भाषा नहीं रही है। ज्ञात इतिहासके जिस छोर तक भी पहुंचे, हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे हम संस्कृतको बोलचालकी भाषामें



जानते हैं। १५

१४८. पादरी काल्डवेल एक प्रकारसे संस्कृत भाषाकी 'निरन्तरता' के रूपमें बने रहनेकी बात कहते हैं। संस्कृतको मृत भाषा नहीं कहा जा सकता। लौकिक संस्कृत किसीभी समय बोलचालकी भाषा रही होगी [Living tongue] ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता। भारतीय भाषाएं संस्कृतके साथ 'निरन्तरता' के रूपमें जुड़ी हुई हैं। यूरोपकी मृत भाषाएं, जिस तरह मृत हैं, उसी तरहसे संस्कृत भाषाको मृत भाषा नहीं कहा जा सकता। संस्कृत भाषाकी जो विशेषताएं पादरी काल्डवेलने बहुत विस्तारसे लिखी हैं, उन विशेषताओं को 'निरन्तरता' कह सकते हैं। पहले काल्डवेलके शब्दोंमें ही उन विशेषताओंको देखें। वह लिखता है—

‘उसका नाम संस्कृत स्वयं उसके मूल उत्सका द्योतक है : संस्कारित भाषा। वह भाषा न तो जाति विशेष की है न किसी जिलेकी, अपितु वर्ग विशेषकी भाषा है। वह चरणों और पुरोहित वर्गकी भाषा है। प्रथम पुरातन युगके साहित्यिक जनोंकी भाषा है या कहिये कि पुरातन वाङ्मयकी भाषा है। और जैसेजैसे वाङ्मयने प्रगति की बैसेबैसे ही भाषा शब्द-बहुल, नाद सौंदर्यसे युक्त और परिमार्जित होती गयी। यदि जीवन का अर्थ प्रगति है और प्रगतिका अर्थ परिवर्तन है तो संस्कृत भाषाको दीर्घकाल तक [निरन्तरताके अर्थमें] मृत भाषाके रूपमें नहीं अपितु जीवित भाषाके रूपमें मानना चाहिये। हाँ, इस तथ्यको स्वीकार किया जा सकता है कि उसके परिवर्तनकी गति मंद है। वैसे ही जैसे भारतमें और बातोंमें भी प्रगतिको गति मंद रही है। आधुनिक बोली भाषाओंकी प्रगतिकी गतिकी तुलनामें अपेक्षाकृत मंद है।’ १६

१४९. संस्कृत भाषाकी 'निरन्तरता' को समझनेकी आवश्यकता है। यह निरन्तरता आर्य परिवारकी भाषाओं तक सीमित नहीं है अपितु वह निरन्तरता दक्षिण भारतकी द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें

१५. ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ द्रविडियन एंड साउथ फैमिली ऑफ लैंग्वेजिज—राबर्ट काल्डवेल। पृ. ७८.

१६. वही, पृ. ७८-७९.

१७. वही, पृ. ७९.

भी विद्यमान है। संस्कृत भाषाकी निरन्तरताको समझनेवाला संस्कृतको मृत नहीं कह सकता। यह निरन्तरता प्राकृत भाषाओंमें नहीं है। इसलिए संस्कृतकी तुलनामें प्राकृत भाषा अधिक ऐतिहासिक है। वह संस्कृतके समान Living tongue—निरन्तर बनी हुई वाणी—नहीं है।

१५०. संस्कृत भाषाओंमें परिवर्तन नहीं हुआ—ऐसी बात नहीं है। इस परिवर्तनको पादरी काल्डवेलने ठीक पहचाना है। वह कहता है—वेदोंकी संस्कृतसे पुराणोंकी संस्कृत अलग है और स्वयं वेदोंमें भी आदि से अंत तक भाषाका एक रूप नहीं है। उसीके शब्दों में—

“उपलब्ध प्राचीन संस्कृतका स्वरूप संस्कारोंकी प्रक्रियासे गुजरा हुआ है और निश्चितही वह अपनेसे परायुगकी साहित्यिक गतिविधियोंका प्रतिनिधित्व करनेवाला है। हमारे पास उसका कोई प्रमाण नहीं है। संस्कृतमें लिखा होनेसे यह मान लेना भूल होगी कि वह प्राचीन है क्योंकि संस्कृत भाषाका प्रयोग इतिहासमें सभी युगोंमें निरन्तर होता आया है और वह निरन्तरता आजभी बनी हुई है। उत्तर भारत एवं पश्चिम भारतमें संस्कृतकी स्थिति आजभी वही है। अपवाद रूपमें बौद्ध हैं और दक्षिण भारतका साहित्यिक क्षेत्र है, जो संस्कृतको रुढ़ भाषाके रूपमें मानता आया है। ऐसा विश्वास है संस्कृतमें व्यक्त विचार पारम्परिक होते हैं।” १७

१५१. संस्कृतके निरन्तर बने रहनेके अनेक कारण हैं। भारतवर्षमें और किसी भाषाको यह निरन्तरता प्राप्त नहीं है। एक छोटा-सा उदाहरण—भारतीय या भारतीयता—का स्वरूप संस्कृत भाषाका आश्रय लिये बिना आजभी स्पष्ट नहीं होता। हम 'भारतीय काव्य-शास्त्र' कहें तो उसके अंतर्गत हमें भरत मुनिसे लेकर मम्मट और विश्वनाथ तकके आचार्योंका अध्ययन प्रस्तुत करना होगा। उस परम्परामें 'हिन्दी काव्य शास्त्र' को अलग कर कहना होगा किन्तु हिन्दी काव्य-शास्त्रको क्या भारतीय काव्य शास्त्रकी संज्ञा दी जा सकती है? देना चाहिये? किन्तु भारतीय काव्य शास्त्र कह देनेपर अनकहे ही संस्कृतका काव्य शास्त्र आ जायेगा। आपको संस्कृत काव्यशास्त्र कहनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतीयका अर्थ संस्कृतके पर्यायके रूपमें समझा जाता है। और फिर यह स्थिति



केवल काव्य शास्त्र तक सीमित नहीं। अन्य विषयोंके लिए भी इस शब्दका प्रयोग सीधे संस्कृतसे जुड़ा है। परम्परा जो जीवित है और जिसकी पहचान भारतीयताके रूपमें है, उसमें सर्वत्र संस्कृत भाषा विद्यमान है। आधुनिक भाषाओंका प्रयोग विवाह कार्योंमें होने लगा है किन्तु उसके साथ मानसिकता [परम्परासे जुड़े रहनेकी साध या इच्छा] पूरी तरह जुड़ती नहीं है। भारतीय मानस अपनेको सभी प्रकारके कार्योंमें व्यावहारिक स्तरपर परम्परासे जुड़े रहनेके लिए आजभी संस्कृत भाषासे जुड़ा हुआ है। यह व्यावहारिक बात है। 'निरन्तरता' का यह एक प्रमाण है।

१५२. संस्कृतको orthodox कहा गया है। काल्डवेल उसे orthodox vehicle कहता है। ठीक कहता है। किन्तु orthodox को परम्पराका जीवित रहना क्यों न कहा जाये? जिस देशको ज्ञानकी इतनी भारी और मूल्यवान् थाती संस्कृत भाषा और उसके समस्त वाङ्मयके रूपमें प्राप्त है, उसे त्याग देना क्या सरल कार्य है? जिसने एक बारभी संस्कृत ठीकसे पढ़ ली है, वह तो संस्कृतको त्याग ही नहीं सकता। उसे तो जबभी कठिनाई होगी—जीवनके किसीभी क्षेत्रमें और किसीभी विषयमें—वह संस्कृतकी ओर अनकहे ही दौड़ेगा। संस्कृतकी इसी 'निरन्तरता' को विदेशियोंने पहचाना है और आजभी संस्कृतकी प्राचीन पुस्तकोंकी माँग विदेशोंमें अधिक है। इस तथ्यको समझनेकी आवश्यकता है। संस्कृत भाषा पढ़े बिना भारतीय स्वरूप ठीक ठीक स्पष्ट नहीं होसकता। संक्षेपमें भारतीय परम्परा संस्कृत भाषाके वाङ्मयमें पूरी तरह प्रतिष्ठित है।

१५३. द्रविड़ परिवारकी भाषाएं संस्कृतकी निरन्तरता को दृढ़तासे अपनाये हुए हैं। इसे पहचाननेकी आवश्यकता है। दक्षिण भारतमें और विशेष रूपसे तिरुपति में रहते हुए मैंने यह सब अपनी आँखों देखा है।

१५४. पादरी काल्डवेल संस्कृत भाषाकी विशेषताओं को जानता था। उसके लेखनमें वे सब तथ्य अप्रत्यक्ष रूपमें व्यक्त हो गये हैं जिसके कारण संस्कृत भाषाका सम्बन्ध द्रविड़ परिवारके साथ बतलाया जा सकता है। वह द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका परिचय देते समय—इतिहास लिखते समय—संस्कृतसे मुक्त रूपको अलगता जाता है। इस अलगानेके लिए उसे संस्कृत

भाषाकी समस्त विशेषताओंको उजागर करना पड़ा है। उसीमें से कुछ अंश उद्धृत किये हैं।

१५५. संस्कृत भाषाकी निरन्तरताके कारणही भारतीय संस्कृतिका प्रधान लक्षण निरन्तरता हो गया है। भारतीय संस्कृतिका निरन्तर रूपमें बने रहना—ऐतिहासिक न होना—निरन्तरता है। दामोदर धर्मानन्द कौसम्बी इस विशेषताको स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—

“भारतमें जो विविधता है, मात्र उसीसे देशकी प्राचीन सभ्यताका वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता। अफ्रीका अथवा चीनके केवल एक प्रांत यूनानमें ही इतनी विविधता मौजूद है। परन्तु मिस्रकी महान् अफ्रीकी संस्कृतिमें वैसे निरन्तरता देखनेको नहीं मिलती, जैसी कि हम भारतमें पिछले तीन हजार या इससे भी अधिक वर्षोंमें देखते हैं।..... भारतीय संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है—अपनेही देशमें इसकी निरन्तरता।” १८

१५६. आर्य परिवारकी भाषाएं हों या द्रविड़ परिवार की भाषाएं—भारतवर्षकी किसी भाषाको लें—सबकी सब संस्कृत साहित्यसे अनुप्राणित हैं। जो कुछ संस्कृतमें लिखा गया है, उसे अपनाकर और इसी विषयपर भारतवर्षकी आधुनिक भाषाओंमें साहित्य रचा गया है। संस्कृत साहित्य पुनः आधुनिक भारतीय भाषाओंमें मूर्त हुआ है और इस तरह मूर्त होकर वह निरन्तर बना रहा है।

१५७. गौतम बुद्ध और महावीरके बादकी शताब्दियोंमें दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाने बहुत विकास किया। संस्कृत वाङ्मयको नयी गति और ज्ञान गरिमा प्रदान करनेमें दक्षिणके आचार्योंका पण्डितोंका और कवियोंका योगदान अपूर्व है। दक्षिणके कवि एक ओर संस्कृत जानते थे और दूसरी ओर अपने प्रदेशकी भाषाभी। वे संस्कृतमें भी लिख सकते थे और अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा में भी। भारतीय वाङ्मयकी अभिव्यक्ति उत्तर-दक्षिणकी सभी भाषाओंमें समान रूपसे हुई है। और इस अभिव्यक्तिने उत्तर-दक्षिण दोनोंको जोड़ा है। इस प्रकार जोड़नेमें भारतीय मनीषाने संस्कृत वाङ्मयको आधार

१८. प्राचीन भारतकी संस्कृति और सभ्यता—दामोदर धर्मानन्द कौसम्बी, अनुवादक : गुणाकर मुले। राजकमल प्रकाशन। तृतीय संस्करण १९६०।



माना है और उसकी निरन्तरता को बनाये रखा है। क्योंकि मुझे द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके साथ संस्कृत भाषाका सम्बन्ध व्यक्त करना है अतः मैं केवल दक्षिण भारतको ही केन्द्रमें रखते हुए, यह सब लिख रहा हूँ।

१५६. संस्कृत भाषामें जैसे पारलौकिक वाङ्मय लिखा गया है, वैसेही उसमें इहलोकका और भौतिकवादी दृष्टिकोणसे लिखा गया वाङ्मयभी है, ज्ञान-विज्ञानकी अनेक शाखाओंमें प्रचुर परिमाणमें भौतिकवादी वाङ्मय है, जिसका सम्बन्ध-धर्म-विशेषसे नहीं है। संस्कृत वाङ्मयकी इस विशेषताके कारणही संस्कृत अखिल भारतवर्षमें—दक्षिणमें भी—ज्ञान-विज्ञानकी भाषा मानी गयी। शिक्षाका प्रधान माध्यम भारतवर्षमें ठीक अंग्रेजोंके आगमन तक संस्कृत भाषा रही है। जो भाषा शिक्षाका माध्यम होती है, वह भाषा किसी विषयका त्याग नहीं कर सकती। संस्कृत भाषा भारतवर्षमें आरम्भसे शिक्षाका माध्यम रही है। उसमें भौतिकवादी दृष्टिसे लिखा हुआ वाङ्मयभी विपुल परिमाणमें है।

१६०. संस्कृत भाषामें शब्दोंके पर्यायी रूप जितने मिलते हैं—संभवतः भारतवर्षकी किसी अन्य भाषामें नहीं मिलते। इसका एक कारण यह भी है कि संस्कृत भाषाका प्रयोग जहाँ-जहाँ हुआ, वहाँ-वहाँके रूप उसमें सम्मिलित होते गये हैं। बात इतनीही है उन शब्दोंका संस्कृतीकरण हुआ है। संस्कृत भाषाकी प्रकृतिके अनुसार उनको बदला गया है। पादरी काल्डेवलने अपनी पुस्तकमें संस्कृतके शब्दोंकी ऐसी सूची दी है, जो मूल रूपमें द्रविड़ परिवारके हैं। सूचीके साथ उन्होंने प्रत्येक शब्दका अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित अलग-अलग रूपों का द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके अनुसार विश्लेषण भी किया है। यहां केवल शब्दोंकी सूची दी जा रही है :

“अक्का [माताके अर्थमें] / अत्ता [बड़ी बहनके अर्थमें] अटवी [जंगल] / अजि [पहिएकी धुरी] / अम्बा [माता] अलि [सखि] / कटुक > कटु [कडली रुचि] कला [व्यावहारिक कौशल] / कावेरी [नदीका नाम] / कुटी [झोंपड़ा] / कुणि [अपंग—जिसके हाथमें खोट हो] कुल [तालाब] / कोट [किला] / खट्वा [खाट] > कट्टिल > [कट्टू] / नाना [विविध] / नीर [जल] / पट्टण [नगर] / पन्ना पन्नो [सोना] / पल्ली [नगर या ग्राम] / भाज [हिस्सा] / भाग [हिस्सा] / मीन [मछली] वलक्ष [श्वेत, सफेद] /

वला [घिराव] / वलय [घिरे रहना गोलाकार]। वल्गु [सुन्दर] / वल्गुक [चंदनकी लकड़ी] / शंव (प्रेत) / शाव (शवसे सम्बन्धित) / सूक्ति (छल्ला, कुंडल) / साय (सांयकाल, शाम) /” १६

इस सूचीके अतिरिक्त पादरी काल्डेवलने एक और इसी प्रकारकी सूची दी है। इस सूचीका चयन उन्होंने डॉ. गुण्डर्ट (Dr. Gondert) की सूचीके आधारपर किया है। पादरी काल्डेवल मानते हैं कि डॉ. गुण्डर्ट द्रविड़ भाषाओंके प्रकाण्ड विद्वान् थे। सूची इस प्रकार है—

“उरुण्डा (गोल > एक राक्षसका नाम) एडा — एडका (भेड़) / करवाल = करवाल (तलवार) / कर्नाटक (कर = काला, नाट = देश—भीतरका देश जो अपनेमें घना और काला है—काली मिट्टीका देश — नाडुका अर्थ देशका वह भाग जहां खेती होती है। [काली मिट्टीमें खेती होती है—इस अर्थमें] कुण्ड (रन्ध्र—विवर) / कुक्कुर (कुत्ता) / कोकिला (कोयल) / घोट (घोड़ा) / चम्पक (फूलका नाम) / नारंग [संतरा—फलका नाम] / पिट = पिटक (एक बड़ा टोकरा, डालया)। पुत्र (लड़का, संतान) / पुन्नाग (सोना) / पेटा (टोकरा) / फल (< पलम — पंडु) / मरुत (ओड़ना, अभिचारक) / मर्कट (बन्दर) / मुक्ता (मोती) / भील > बील (धनुष चलानेवाले) विरल (खुले हुए) / हेम्ब (भैंस) / शंगवेर (अदरक)। २०

१६१. पादरी काल्डेवलने संस्कृत शब्दोंका सम्बन्ध द्रविड़ परिवारके साथ बतलाते हुए—उनके अर्थ तत्त्व पर विचार किया है। संस्कृतके शब्दोंमें महाप्राणता मिल सकती है। मूलमें द्रविड़ शब्द अल्पप्राणोंसे युक्त रहे हैं। द्रविड़ पलम का फलम् हुआ है। इसी प्रकार अन्य शब्दोंको समझना चाहिये।

१६२. डॉ. गुण्डर्टके अनुसार ही पादरी काल्डेवल कहते हैं कि संस्कृतका रूप / शब्द तमिलके / उरुवम / तथा रुडरुवु / से बना तद्भव रूप है। तमिलका शब्द मूल है और संस्कृतका शब्द उससे बना तद्भव रूप

१६. ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ द्रविड़ियन एंड साउथ इंडियन फैमिली ऑफ लैंग्वेजिज—राबर्ट काल्ड-  
वेल। पृष्ठ : ५६७ से ५७५.

२०. वही, पृष्ठ ५७७ तथा ५७८.



है १२१

१६३. श्री कट्टलने भी संस्कृतमें द्रविड़ शब्दोंकी खोज कीहै। श्री कट्टल द्वारा दिये हुए शब्दोंको पादरी काल्डवेलने उद्धृत कियाहै। वे शब्द इस प्रकार हैं—

“अट्टा (ऊपरकी अटारी) / अट्टा (उबले हुए चावल, खाद्य) अट्टा—हट्टा [बाजार, हाट]/ आम [हां] / अर कुटा [पीतल, मिश्रधातु]/ आट—आड [खेलकी प्रवृत्ति, किसीसे खेलना—प्रत्यय रूपमें] आल (प्रत्यय रूपमें सम्बन्ध भाव) / आलि (खाई, नाली)/ कुछ और शब्द—

पालना (पालूका अर्थ दूध उमसे बना रूप) / वल्ली (बेल, जो बलियत होतीहै) / मुकुर—मुकुल (कलिका, कली) / कुट (मिट्टीका पात्र) कुठार (कुल्हाड़ी) कडी (द्रविड़ रूप) / २२

पादरी काल्डवेलने ऐसेही शब्दोंको उद्धृत किया जिनको वे ठीक मानते रहे। ऐसे शब्द जो उन्हें उभय भाषाओंमें समान प्रतीत हुए या वे जिनका वे ठीकसे निर्णय नहीं कर पाये, ऐसे शब्दोंको उन्होंने छोड़ दिया है।

१६४. हम यह स्वीकार कर लेतेहैं कि पादरी काल्डवेल ठीक लिख रहेहैं और उनके द्वारा बताये गये शब्द द्रविड़ परिवारसे संस्कृतमें आयेहैं। संस्कृतने तो भारतवर्षके सभी क्षेत्रोंके शब्दोंको अपनेमें आत्मसात् कियाहै, उन शब्दोंको अपनी प्रकृतिके अनुकूल बना लियाहै और सहजही में ऐसा नहीं लगता कि ये दूसरी भाषाओंके शब्द हो सकतेहैं। संस्कृत भाषाके सम्बन्ध में तो ऐसी धारणा बलवती हो गयीहै कि सभी शब्दों के मूल रूप संस्कृतमें मिलनेही चाहियें। ऐसी स्थितिमें उससे अन्य भाषाओंके शब्दोंको उससे प्राचीन माननेमें सन्देह होताहै। ऐसी खोज हुईभी है तो भी क्या उसे पूर्णतः ठीक मानना चाहिये? हम मानेंगे, तभी ठीकसे विचार होगा।

१६५. कोई भाषा किसी प्रदेशमें पहुंचकर ही उस प्रदेशके शब्द-समूहको आत्मसात् कर सकतीहै। द्रविड़ प्रदेशमें रहकर संस्कृत भाषाने अपने पर्यायी रूपोंमें वृद्धि कीहै। बिल्लीके लिए संस्कृतमें बिडाल : और मार्जार दो शब्द मिलतेहैं। उनमें से बिल्लीवाले रूप

२१. वही, पृ. ५७५-५७६।

२२. वही, पृ. ५७६

‘प्रकर’—जून’१०—२०

का सम्बन्ध बिडालसे है किन्तु मराठीमें मार्जर रूप मिलताहै। इसका सम्बन्ध ‘मार्जारः’ से है। संस्कृतमें दोनों रूप मिलतेहैं। संस्कृतमें मूषकः (चूहेके लिए) है और उन्दुरः भी है। ‘उन्दुरः’ का रूप मराठीमें उन्दौर है। इस तरह एरुही संज्ञाके लिए जातिवाचक संज्ञाओंके लिए अलग अलग पर्याय यदि संस्कृतमें मिलते हैं तो वे अलग अलग प्रदेशोंकी भाषाओंसे संस्कृतमें आयेहैं और इस तरह संस्कृतमें उनको आत्मसात् करते समय (अपनाते समय) उनका संस्कृतीकरण हुआहै। संस्कृतका शब्द-भंडार विपुल है। ‘हलायुध कोश’ देख जाये तो पता चलेगा कि एक-एक शब्दके लिए कई (१०/१२/१५/२५—तक) पर्यायी शब्द हैं। स्वर्गके लिए १२, देवके लिए २१, ब्रह्मके लिए २०, शिवके लिए ४५, विष्णुके लिए ५६, सूर्यके लिए ४७—आदि आदि। जातिवाचक संज्ञाओंके लिए कम होनेपर भी पाँच-छः पर्यायी रूप तो मिलही जातेहैं। इन शब्दोंके स्वरूपपर विचार करते समय उनका सम्बन्ध भारतकी अन्य भाषाओंसे स्थापित करना चाहिये। ऐसा करते समय हमें यह देखना चाहिये या विचार करना चाहिये कि ये सारे पर्याय संस्कृतने दूसरी भाषाओंसे ग्रहण कियेहैं। बात इतनीही है कि पर्यायी रूपोंका संस्कृतीकरण किया गयाहै।

१६५. दक्षिण भारतमें संस्कृत वाङ्मय विपुल परिमाणमें लिखा गयाहै। वैदिक वाङ्मयके पुनरुद्धारका काम हुआहै। इस सम्बन्धमें प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री लिखतेहैं—

“सौभाग्यकी बात है कि आपस्तंब, जो गोदावरी घाटीमें ईसाके ३०० वर्ष पूर्व हुआ होगा, की सम्पूर्ण रचनाएं श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र आजभी सुरक्षित हैं। इसकी भाषा पाणिनीसे पूर्ववर्ती युगकी प्रतीत होतीहै और उनके मतवादके अनुयायी नर्मदासे दक्षिण के देशमें भरे पड़ेहैं। दूसरा मतवाद सत्यासाढ हिरण्य केशिनों का है जिसके धर्मसूत्रपर आपस्तंबका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। उन रचनाकारों और उनके मतवाद ने सह्य क्षेत्र (मालावार और दक्षिण कनारा)में ईसा की पूर्व प्रथम शताब्दी और बादकी प्रथम शताब्दीके बीच प्रमुखता प्राप्त कीथी। एक तीसरा मतवाद, जो निश्चित रूपसे दक्षिण भारतका है वैखानसोंका है, जिनके गृह्यसूत्रमें द्रविड़ भाषाओंके मुहावरे और



वाग्व्यवहारके अनेक प्रभाव दीखते हैं । १२३

१६६. वेदोंके भाष्यकार सायण और माधव दक्षिणमें ही हुए हैं । कई नाम हैं । भागवत जैसा भक्ति का अमर ग्रंथ दक्षिण भारतमें लिखा गया है । इस सम्बन्धमें लिखा गया है—

“पुराणोंमें भागवतकी रचना दसवीं शताब्दीके आरम्भमें दक्षिण भारतमें कहीं हुई । इसमें नवभक्ति पथके सिद्धान्त और दृष्टिकोण संगृहीत हैं । यह पंथ चौथी या पाँचवीं शताब्दीसे ही हिन्दू और वैदिकेतर धर्मों अर्थात् जैन और बौद्ध-धर्मोंके संघर्षके फलस्वरूप विकसित हो रहा था । भागवतमें कृष्णके प्रति सरल उमड़ती भावात्मक भक्ति और शंकरके अद्वैत दर्शनका इस ढंगसे सम्मिश्रण है जैसा इस अवधिमें केवल तमिल देशोंमें ही संभव था । २४

१६७. यथार्थ यह है कि दक्षिण भारतमें वादकी शताब्दियोंमें—आपस्तम्बके बादसे विपुल वाङ्मय रचा गया है । वैदिक वाङ्मयकी व्याख्या है, धर्मशास्त्रके ग्रंथ है, भक्तिपरक रचनाएं हैं । चिन्तनपरक दार्शनिक वाङ्मय है और शिक्षा-ग्रंथभी हैं । प्रो. नीलकंठ शास्त्रीने इस सम्बन्धमें बहुत विस्तारसे लिखा है । दक्षिणमें आचार्योंकी (शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, माधवाचार्य आदि) एक लम्बी परम्परा है । उनसे बादमें सारा भारतवर्ष प्रभावित रहा है । एक प्रकारसे संस्कृत भाषा दक्षिण भारतमें अभिजात भाषा हो गयी और उस रूपमें उसका स्थान आजभी उसी रूपमें है । दक्षिण भारतकी संस्कृति संस्कृत भाषामें पूरी तरह व्यक्त हुई है ।

१६८. संस्कृतके दोनोंही महाकाव्य वाल्मीकि रामायण और व्यासकृत महाभारतसे अनुप्राणित वाङ्मय द्रविड़ परिवारकी चारों भाषाओंमें—तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़में—रचा गया है । इस प्रकारकी परम्परा जैसे उत्तर भारतकी भाषाओंमें पायी जाती है ठीक उसी प्रकार दक्षिण भारतकी भाषाओंमें भी है । इसप्रकार संस्कृत वाङ्मय दक्षिण भारतकी भाषाओंमें सांस्कृतिक धरोहरके रूपमें सुरक्षित है । संस्कृतकी जो अपनी शास्त्रीय परम्परा है, वह दक्षिण

में रुढ़ हुई है । उसका अपना पृथक् व्यक्तित्व है । दक्षिणके मन्दिर संस्कृत वाङ्मयके प्रभावको व्यक्त करते हैं और उनका अपना प्रभाव अलग है । उत्तर भारतसे भिन्न उनकी शैली है और उसका रूप तथा कलेवर स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर चुका है ।

१६९. तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ भाषाओंका इतिहास और उनके साहित्यका इतिहास संस्कृत भाषा तथा संस्कृत साहित्यके समान्तर स्तरपर रखकर लिखा जा सकता है । कारण यह है कि इन भाषाओंका साहित्य रचनेवाले संस्कृत जानते थे । संस्कृत भाषा और साहित्यके ज्ञानका उपयोग द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें लिखनेवाले कविगण करते रहे हैं । संस्कृतकी शास्त्रीय शैली दक्षिणकी भाषाओंमें मूर्त हुई है । उत्तर भारतकी—आर्य परिवारकी—भाषाओं में संस्कृतकी शास्त्रीय शैली वैसी नहीं मिलती जैसी दक्षिणकी भाषाओंमें मिलती है । वस्तुतः इस विषयपर स्वतंत्र रूपमें तुलनात्मक रूपमें विचार होना चाहिये ।

१७०. उत्तर भारतमें संस्कृत भाषा और आधुनिक भाषाओंके बीच एक लम्बा अन्तराल प्राकृत भाषाओं तथा अपभ्रंश या अवहट्ट भाषाओंका है । ऐसा अन्तराल दक्षिण भारतकी भाषाओंमें नहीं है । दक्षिण की भाषाएं एक प्रकारसे सीधे संस्कृतसे जुड़ी हैं ।

१७१. संस्कृतका क्लासिकल (अभिजात) वाङ्मय दक्षिण भारतमें कलात्मक रूपमें परिणत हुआ और उसने विशिष्ट शैली और शिल्पका निर्माण किया । दक्षिणमें नृत्य कला, संगीत कला तथा अन्य कलाओं को संस्कृतका शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ है । दक्षिणकी कलाओंका इतिहास संस्कृतसे मुक्त होकर नहीं लिखा जा सकता ।

१७२. उत्तर भारत अपने ऐतिहासिक कालमें अनेक आक्रमणोंसे आक्रान्त रहा है और इसीलिए परिवर्तनकी गति उत्तरमें दक्षिणकी अपेक्षा अधिक तेज रही है । पश्चिममें जितने परिवर्तन हुए उतने पूर्वमें नहीं हुए और पूर्वमें जितने परिवर्तन हुए उससे कम दक्षिण में हुए हैं । संस्कृत भाषाका अभिजात रूप वैदिक काल में पश्चिममें था वह बादमें पूर्वमें पहुंचा और दक्षिणमें भी । पश्चिममें आज हम उसे सुरक्षित नहीं देखते । पूर्व में भी वह उसी रूपमें सुरक्षित नहीं है । पश्चिममें एक नया देश [जो भारतका ही अंग था] पाकिस्तान बन गया है और पूर्वमें भी एक नया देश जो भारतका ही

२३. दक्षिण भारतका इतिहास—प्रो. नीलकंठ शास्त्री, अनुवादक: डॉ. वीरेन्द्र वर्मा । बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना । तृतीय संस्करण, १९८६, पृ. २९६.  
२४. वही, पृ. २९७.



अंग था, बंगलादेश बन गया है। ऐसा दक्षिण भारत में नहीं हुआ। दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषा तुलनात्मक रूपमें अधिक सुरक्षित है।

१७३. दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाके सुरक्षित रूपको पादरी काल्डवेल बहुत अच्छी प्रकार जानता है। उसकी पुस्तकमें इसके कई प्रमाण हैं। हम दृष्टिकोण बदलकर पुस्तक पढ़ें विभाजनवाली प्रवृत्तिको छोड़कर—तो उसकी पुस्तकके तथ्योंको हम जोड़नेवाले तत्त्वोंके रूपमें परिणत कर सकते हैं। उसका लेखन संस्कृतके प्रति नकारात्मक है। उसने द्रविड़ परिवारकी भाषाओं का विवेचन करते समय संस्कृत भाषाकी निरन्तरता की उपेक्षा की और उससे तटस्थ रहकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। हमें उसके तथ्य संचयन और उसके भ्रम का लाभ उठाना है। उसके दृष्टिकोणको अपनानेकी आवश्यकता नहीं है।

१७४. दक्षिणमें जितने राजवंश हुए हैं, उनके दरबारोंमें संस्कृत भाषाका सम्मान हुआ है। चोल, पाण्ड्य, पल्लव, वाकाटक, चालुक्य, कलचुरी, राष्ट्रकूट, यादव, काकतीय, होयसल आदि अनेक हैं। इन राजाओंके दरबारोंमें संस्कृत भाषा फलती फूलती रही है। प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेख दक्षिणमें संस्कृत भाषामें वैसे ही मिलते हैं, जैसे वे उत्तरमें मिलते हैं। बौद्ध कालमें चौथी पांचवीं शती तक, विरल रूपमें प्राकृत अभिलेख भी मिलते हैं किन्तु बादकी शताब्दियोंमें संस्कृतको अपना लिया गया है। आधुनिक भाषाओंके विकासके साथ संस्कृत भाषा बादमें निरन्तरताके रूपमें बनी हुई है।

१७५. संस्कृत भाषाकी निरन्तरताकी व्याख्या

अन्तमें करना चाहूंगा। संस्कृतको देववाणीभी कहा गया है। उसके ऐतिहासिक स्रोत तक हमारी पहुंच नहीं है। इस वाणीमें जो लिखा गया है उसे काल बाह्य (कालसे मुक्त अर्थात् निरन्तर) माना गया है। अतीत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंकी आधारणाको संस्कृत वाङ्मयसे जोड़कर देखें तो निरन्तरता आपने आप स्पष्ट हो जायेगी। उसका क्षय नहीं—मिटना नहीं है। संस्कृत भाषाको मृत भाषा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आजभी वह भारतवर्षकी भाषाओंको अनुप्राणित किये हुए है। इस भाषाके माध्यमसे भारतीय संस्कृति आधुनिक भाषाओंमें निरन्तरताका रूप ग्रहण किये हुए है। इस भाषाने अखिल भारत वर्षको एक सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया है और वह स्वरूप भारतवर्षकी प्रत्येक आधुनिक भाषामें चाहे वह आर्य परिवारकी हो द्रविड़ परिवारकी—मृत हुआ है। संस्कृत भाषा हमें सांस्कृतिक धरोहरके रूपमें प्राप्त है और उसका त्याग कोईभी भारतीय (चाहे वह किसी प्रदेशमें रहता हो) करना नहीं चाहेगा। स्वयं संस्कृत सीख लें तो उसके सामने ज्ञानकी ज्योति जगमगायेगी और न भी सीखें—केवल भारतीय भाषाएं सीखें—हिन्दी, मराठी, तेलुगु, तमिल ही सीखें तबभी उन भाषाओंके माध्यमसे संस्कृत भाषाकी निरन्तरता को अनुभव कर सकेंगे। क्योंकि भारतवर्षकी भी सभी भाषाओंमें संस्कृत भाषाका प्रवाह अखण्डित रूपमें प्रवाहित है। □

(आगामी अंकमें : सीमा प्रदेशोंकी भाषाएं—  
—मराठी और तेलुगु-कन्नड़)

## भाषा विज्ञान

### अर्थ विज्ञान?

लेखक : डॉ. ब्रजमोहन

समीक्षक : डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया

‘अर्थविज्ञान’ में भाषाके अर्थपक्षका वैज्ञानिक विवे-

१. प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, २ बी नेताजी  
सुभाष मार्ग, दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : १२४;  
डिमा. ८६; मूल्य : ५०.०० रु।

चन प्रस्तुत किया जाता है। अर्थविज्ञानकी भाषाविज्ञानकी ही एक शाखा माना जाता है अतएव हिन्दीमें लिखी भाषाविज्ञानकी पुस्तकोंमें प्रायः एक अध्याय रहता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसे भाषाविज्ञानमें सम्मिलित नहीं करते। पर्याप्त समयतक अर्थको ध्यानमें रखे बिना भाषिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता रहा अब फिर मान्यता बदली है। कुछ विद्वान् इसे दर्शनशास्त्रके अंतर्गत रखते हैं और कुछ स्वतंत्र। कुछ अंशोंमें यह मनो-



विज्ञान और तर्कशास्त्रसे सम्बद्ध रहा है। पुस्तकके लेखक तर्कशास्त्रके विद्यार्थी रहे हैं। डॉ. बाबूराम सक्सेना तथा डॉ. हरदेव बाहरीकी इस विषयपर स्वतंत्र पुस्तकें हैं पर प्रस्तुत पुस्तक एक ऐसे सुप्रसिद्ध गणितज्ञ द्वारा लिखी गयी है जिसकी वर्षोंसे भाषाविज्ञानमें रुचि रही है। इससे पूर्वभी लेखककी दो कृतियों—मानक हिंदी तथा शब्द चर्चाका हिन्दी जगत्में स्वागत किया जा चुका है।

लेखकने समूची पुस्तकको बारह अध्यायोंमें समुचित विभाजितकर विषयके अंगोंपागोंकी अत्यन्त सरल व सहज भाषामें व्याख्या की है। पुस्तकका प्रारम्भही 'तर्कवाक्य' शीर्षक अध्यायसे होता है जिसमें तार्किक ढंग से अपना मत व्यक्त करते हुए (वैयाकरणोंकी राय) लिखा है कि 'एक ऐसा पदसमूह जो किसी पूर्ण विचार को व्यक्त करे, कथनकी कोई स्वतन्त्र ईकाई, एक ऐसा अभिव्यंजक जिसमें कम-से-कम एक उद्देश्य और एक विधेय हो। लेखकने तार्किक ढंगसे अनेक ऐसे वाक्योंको प्रस्तुत किया है जिनमें "उद्देश्य और विधेय होतेही नहीं, अर्थात् न प्रत्यक्ष रूपमें, न प्रच्छन्न रूपमें।' तर्कवाक्यके सदैव तीन अंग होते हैं—उद्देश्य, विधेय, संयोजक। संयोजक सकारात्मक अथवा नकारात्मक होता है। वाक्य के गुणोंकी चर्चाभी संक्षेपमें की गयी है जिसमें सार्थकता शक्यता, पूर्णता, पदक्रम तथा अन्विति। वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो और वाक्य द्वयर्थक न हो, अल्पविरामके भेदसे एकही वाक्य नितान्त दो भिन्न अर्थ दे सकता है। (पृ. १३) यहां औरभी विस्तार अपेक्षित था। आजकल भाषाविज्ञानमें 'संगम' (जंकचर) प्रक्रियाके अंतर्गत इसका विवेचन किया जाता है। लेखकने स्वयं स्वीकार किया है कि 'ऐसे वाक्योंको तर्कवाक्यका रूप देना बहुत कठिन है।' (पृ. १२) पदक्रममें तर्कयुक्त क्रमपर बल दिया गया है।

दूसरा अध्याय 'शब्द और पद' बहुत सूक्ष्म है जिसमें शब्द और पदका सोदाहरण विवेचन है। लेखक का अभिमत है कि "किसी स्वतन्त्र सार्थक ध्वनिको शब्द कहते हैं" और "जो शब्द या शब्द-समूह किसी तर्क-वाक्यका उद्देश्य या विधेय हो अथवा उक्त रूपमें प्रयुक्त हो सके, उसे पद (टर्म्स) कहते हैं।" यहां 'पद' का प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थमें किया गया है। 'पद' को वाच्यार्थ तथा गुणार्थके आधारपर वर्गीकृत किया है। 'कनोटेशन' के लिए 'गुणार्थ' का प्रयोग प्रशंसनीय है, इसी प्रकार 'जनरल' के लिए 'सार्विक' का प्रयोग किया

गया है। ऐसा पद जो सर्व-सबके लिए हो। इसका विलोम 'विशेष' (सिगुलर) रखा गया है। लेखकने स्थान स्थानपर बड़ी सटीक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है। यह किसी गणितज्ञसे ही संभव हो सकता था।

तीसरे अध्याय 'पदोंका वाच्यार्थ और गुणार्थ' में दूसरे अध्यायका ही विस्तार है। गुणार्थ और वाच्यार्थ में प्रतिलोम संबंध है। इस बातको ही गणितीय भाषा में भी दिया गया है। बड़े तार्किक ढंगसे अनेक रेखा-चित्रोंसे विषयको स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष रूपमें कहा गया है कि "पदोंका गुणार्थ प्राथमिक है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उनका वाच्यार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है।" उद्देश्य और विधेयमें किस-किस प्रकारके सम्बन्ध हो सकते हैं, इन सम्बन्धोंका विवेचनही चौथे अध्याय 'वाच्यधर्म' में किया गया है। अबतक लेखक स्वयं परिभाषा देनेसे बचता रहा है। पांचवें अध्यायमें 'परिभाषा' की परिभाषा देनेका प्रयास किया गया है। परिभाषाके नियम और सीमाओंको विश्लेषित करते हुए निष्कर्ष रूपमें कहा गया है कि "अतः हम कह सकते हैं कि परिभाषाही ज्ञानका आदिभी है, अंतभी।" 'परिभाषाके प्रकारोंमें कोशीय, स्वनिर्मित, जननिक, तार्किक, आलंकारितको स्पष्ट किया गया है। परिभाषाको अनेक सीमाएं हो सकती हैं। गणितमें परिभाषा निश्चित होती है। इस अध्यायकी उपलब्धि है तार्किक परिभाषा (= जाति = विभेदक) की व्याख्या तथा उसके नियम। बड़े रोचक तथा सरस उदाहरणोंसे नियमोंको स्पष्ट किया गया है। (पृ. ३८-३९) 'बिंदु', 'सुन्दर', 'आकाश' आदिकी परिभाषा क्या संभव है। तब ही तो सीताके सौन्दर्यपर तुलसीदास जैसे महाकविको लिखना पड़ा :

सुन्दरता कहं सुन्दर करई

(जिसकी सुन्दरता सौन्दर्यको भी चार चांद लगादे, उसकी सुन्दरताकी परिभाषा किस प्रकार होगी?)

'तार्किक विभाजन' अध्यायमें तार्किक विभाजन और भौतिक विभाजन और इसीके साथ तात्त्विक विभाजनमें सूक्ष्म अंतर स्पष्ट किया गया है। एकही विभाजनके किसप्रकार द्विवर्ग विभाजनमें बदला जा सकता है इसको अनेक रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है। (पृ. ४६-४९)।

वस्तुतः प्रथम छह अध्याय मूल विषयकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।



सातवें अध्यायसे 'अर्थ' के विभिन्न पक्षोंपर चर्चा प्रारम्भ होती है । वाक्यपदीयकार भर्तृहरिके अनुसार "शब्दके उच्चारणसे जिसकी प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है, अर्थका कोई दूसरा लक्षण नहीं है (उच्चरिते-शब्दे योऽर्थः प्रतीयते । तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यर्थस्य लक्षणम् ॥) 'अर्थका अर्थ' और अर्थकी 'प्रतीति' अध्यायोंमें अर्थकी सम्पूर्ण प्रक्रियाको सहज शैलीमें अनेक उदाहरणों सहित समझाया गया है । 'अर्थकी प्रतीति' की दो विधियाँ हैं : आत्म-अनुभव और पर अनुभव । 'अर्थ' का अनुभव अक्षु (आँख), श्रवण, रसना, घ्राण, त्वचाके माध्यमसे होता है । अर्थकी प्रतीतिके साधक तत्त्व है—व्यवहार, आप्तवाक्य, उपमान, प्रकरण, विवृति, सन्निधि, व्याकरण और कोश । वस्तुतः ये साधन तत्त्व हैं । इसमें ही बलाघात, सुरलहर आदिक बढ़ाया जा सकता है । स्थान-स्थानपर गद्य तथा पद्यमें उदाहरण दिये गये हैं । विवृति (विवरण) में जहाँ एक ओर गणितके पारिभाषिकशब्द 'लांबिक वतुल शंकु' की सचित्र व्याख्या दी गयी है वहीं भगवान् कृष्णको—

जाके सिर मोर मुकुट, मेरे प्रभु सोई ।

शंख, चक्र, गदा, पद्म, कंठ भाल सोई ॥

पद्यात्मक रूप । 'व्यवधान' तथा 'अभिभव' से इस अध्यायको समाप्त किया गया है । 'अभिभव' का व्यवधान तब पड़ता है जब एक भारी आवाज दूसरी हल्की आवाजको दबा देती है । जहाँ चिल्ल-पों हो, वहाँ सितार की ध्वनि सुनाना व्यर्थ होगा । तभी तो 'नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज' कहावत प्रसिद्ध होगयी ।

'शब्द और अर्थका सम्बन्ध' अध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । भर्तृहरिने 'वाक्यपदीय' में शब्दको ब्रह्म घोषित किया है । लेखकने उसी शब्द-ब्रह्मकी यहां खोजकर शब्द और अर्थकी महिमाका विस्तारसे बखाना किया है । इस अध्यायके माध्यमसे शब्दब्रह्मके इस स्वरूपकी सोदाहरण चर्चा रोचक शैलीमें की गयी है । भक्तिके सोपान - प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदिकी तरह लेखक पाठकको एक-एक सीढ़ी चढ़ाता है । इस शब्द ब्रह्मकी खोज करना कोई सरल कार्य नहीं है पर लेखकने रोचक उद्धरणों, कविताओं, किवदंतियों और मनोरंजक उक्तियोंसे इस प्रक्रियाको सहज बना दिया है ।

'शब्द-शक्ति और अर्थ निर्णय', 'अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ', 'अर्थ परिवर्तनके कारण' अध्यायोंमें विषय को भलीप्रकार व्याख्यायित किया है । स्थान-स्थानपर

सुगम शैलीमें सरस उदाहरण हैं जिनसे विषय बोधगम्य होता चलता है । स्थान-स्थानपर प्रस्तुत निष्कर्ष सहज ग्राह्य हैं ।

'अर्थविज्ञान' काव्य भाषामें भी कितना अधिक सहायक सिद्ध होता है यह लेखक द्वारा दिये गये उद्धरणों से स्पष्ट होता है । इसके माध्यमसे अर्थगत जटिलताकी पहचान कविके मन्तव्यका संकेत ग्रहण और उसकी युगानुरूप व्याख्या, शब्दगत आकर्षणके परिप्रेक्ष्यमें अर्थगत आकर्षणका ध्वनन, कृतिगत काव्यार्थ चेतना उद्घाटित होती है ।

'अर्थ परिवर्तनकी दिशाएँ' अध्यायमें अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थादिश, अर्थोत्कर्ष, अर्थपिकर्षको समुचित उदाहरणोंसे समझाया गया है । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय शब्दब्रह्मकी खोजके बाद 'अर्थपरिवर्तनके कारण' है । इसमें बारह कारणों—लाक्षणिक प्रयोग, परिवेश-भौगोलिक - सामाजिक - भौतिक-सांस्कृतिक, विनम्रता, शिष्टोक्ति, मंगलभाषित, अंधविश्वास व्यंग्य, भावात्मक बल, सार्विकके लिए विशेष, गौण अर्थ एक शब्दके दो रूप, अनिश्चितता, अज्ञान-भ्रांति तथा सर्वेक्षणपर समुचित प्रकाश डाला गया है । संक्षेपणके अंतर्गत 'एक्रोनिम' भी चर्चा की गयी है ।

प्रकारान्तरसे लेखक यह भी संकेत करता चलता है कि हिन्दीकी शब्दावली कितनी विस्तृत है, जैसे बुलाने के लिए आदरार्थक आइये, बैठिये, पधारिये, विराजमान होइये । (पृ. ११२) । अंग्रेजीकी तुलनामें हिन्दीमें अर्थाभिव्यक्ति कम नहीं, अधिक है इस तथ्यको दो शब्द 'बट' तथा 'पट्टी' लेकर अभिव्यक्त किया है । 'बट' के अंग्रेजी में दो अर्थ हैं जबकि हिन्दीमें आठ । इसी प्रकार 'पट्टी' के अंग्रेजीमें मात्र दो जबकि हिन्दीमें पन्द्रह अर्थ हैं । (पृ. ७५) । कुछ अंग्रेजी शब्दोंके महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है, जैसे अंग्रेजीके instinct के लिए हमारे पास कोई पुराना शब्द नहीं है । भिन्न-भिन्न लेखकोंने कई प्रकारके शब्द दिये हैं : सहजज्ञान, सहजबुद्धि, मूल प्रवृत्ति । किन्तु न यह ज्ञान है, न बुद्धि, न प्रवृत्ति । हमारी समझमें इसे "सहजवृत्ति" कहना चाहिये ।

गणितज्ञ होनेके नाते स्थान-स्थानपर गणितका सम्यक् प्रयोग किया जाना स्वाभाविक है । "गणित हमें बताता है कि बिंदुकी सत्ता काल्पनिक है । उसमें स्थिति होती है, परिमाण नहीं होता । न उसमें लंबाई न



चौड़ाई, न मोटाई ।" (पृ. ८०),

अर्थविज्ञानकी भारतीय समृद्ध परम्पराके संदर्भमें प्रस्तुत पुस्तक भाषाविज्ञानके विद्यार्थियोंके लिए तो उपयोगी है ही सामान्य पाठकोंके लिएभी रुचिकर सिद्ध होगी। ऐसे दुर्लभ विषयको सरल तथा सहज शैलीमें प्रस्तुत कर गणितज्ञने प्रकारान्तरसे भाषाविदोंको भी मार्ग दिखाया है। फलैपपर दी गयी इस उक्तिसे मैं शत-प्रतिशत सहमत हूँ कि "प्रत्येक शब्द एक नयी अर्थदाप्ति से भर उठता है।" □

## कुमाउंकी भाषिक संरचना?

लेखक : डॉ. श्यामप्रकाश

समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

भाषाशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनके क्षेत्रमें भाषिक संरचनापरक अध्ययन विगत दो दशकोंकी देन कही जा सकती है और हिन्दी भाषाके उत्तर क्षेत्रीय भाषाओंके अध्ययनकी परम्पराके विकासमें इस आलोच्य कृतिका मूल्यांकन और योगदान महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। कुमाउंकी भाषाका परिक्षेत्र नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथौरागढ़के जनपदोंमें व्यवहृत भाषा है जिसमें साहित्य सर्जना और लोकसाहित्य सम्बर्धन विपुल रूपमें उपलब्ध होता है। अतः भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी अपेक्षा की जा सकती है।

कुमाउंकी भाषा पहाड़ी हिन्दीका वह रूप है जो सुदीर्घ कालसे अपनी अस्मिता बनाये हुए अन्यान्य बोलियोंके परिवर्द्धनमें योगदान करती रही। अबतक की सूचनाओं के अनुसार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे कुमाउंकीके नैनीताल जिलेके भाषा-भूगोलपर कार्य सम्पन्न हुआ है। इसके अतिरिक्त कुमाउंकी बोलीका वर्णनात्मक अध्ययन (भगतसिंह : जबलपुर : १९७१) कुमाउंकी समूहका व्युत्पत्तिपरक अध्ययन (रूबाली : आगरा : १९७३), कुमाउंकी बोलीका भाषावैज्ञानिक अध्ययन (जुकंडिया : आगरा १९७६) आदि कार्य सम्पन्न हुए हैं। अतः आलोच्य कृतिमें कुमाउंकीके उच्चारणको मानक आधार

बनाकर उसकी संरचनाके ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक रूपका विश्लेषण बड़ेही सरल एवं सुबोध ढंगसे किया गया है।

डॉ. श्यामप्रकाश स्वयं भाषावैज्ञानिक हैं और उन्होंने गढ़वाल विश्वविद्यालयमें कार्य करते हुए कुमाउंकीको मध्य-पहाड़ीकी बोलीके रूपमें प्रस्तुत अध्ययन किया है। जिसके अन्तर्गत भूमिका रूपमें पहाड़ी भाषाके कुमाउंकी का स्थान, साहित्य, कुमाउंकीका उद्भव एवं विकास तथा उसके विविध रूपोंका परिचय दिया है। कुमाउंकीके विविध रूपोंके विषयमें डॉ. श्यामप्रकाशकी दृष्टि बहुत स्पष्ट और गहन है।

द्वितीय अध्याय 'भाषिक संरचना' में सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुतकर तृतीय अध्यायमें कुमाउंकीके ध्वन्यात्मक पक्षपर सविस्तार विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कुमाउंकीके स्वनिमिक संरचनात्मक पक्षके विश्लेषणमें डॉ. श्यामप्रकाशने पचास खण्डीय स्वनिमों, दो खण्डे-तर स्वनिमोंका उल्लेख किया है तथा खण्डीय स्वनिमोंमें चौदह मूल स्वर तथा छत्तीस व्यंजन स्वनिमका संकेत करते हुए सात ह्रस्व एवं सात दीर्घ स्वरोंका उल्लेख किया है जबकि खण्डेतर स्वनिमोंमें अनुनासिकता और विवृतिका उल्लेख किया है। चित्रके माध्यमसे स्वर त्रिकोण (वोवल ट्राइंगल) द्वारा शब्दोच्चारका स्थान निर्दिष्ट किया है। इसी अध्यायके अन्तर्गत कुमाउंकीमें प्रयुक्त हिन्दीके मूलस्वरोंकी स्वतंत्र स्वनिमिक सत्ताका उल्लेख कर कुमाउंकीके अर्थभेदक अन्तरको भी स्पष्ट किया है। उदाहरणोंके माध्यमसे विद्वान् भाषा वैज्ञानिकने व्यंजन परक ध्वनियोंका भी विश्लेषण चार्ट देकर किया है। यही नहीं, कुमाउंकी भाषाकी आक्षरिक संरचनाके व्यावहारिक स्तरपर उन्होंने स्पष्ट किया है कि कुमाउंकीमें स्वर ही अक्षरोंका निर्माण करते हैं न कि व्यंजन (पृ. ५२)। लेकिन अक्षरीय गणनामें मुक्त और आबद्ध—दोनों प्रकारके अक्षरोंमें स्वरोंके साथ व्यंजनोंको भी समाविष्ट माना है। इस प्रकारका अध्ययन भावी अध्येताओंके लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

चतुर्थ अध्यायमें कुमाउंकीकी रूपात्मक संरचनापर विचार करते हुए शब्द-व्युत्पत्ति, प्रत्यय-विधान, पुनरुक्तिविधान, समास विधान, विभक्ति, शब्दवर्ग आदि का सविस्तारित विश्लेषण उदाहरणों सहित प्रस्तुत किया गया है जो भाषाके सूक्ष्म अध्ययनकी गहनता सिद्ध करता है। पंचम अध्यायमें कुमाउंकीकी वाक्यात्मक संर-

१. प्रकाशक : स्नेह प्रकाशन, पीर जलील साउथ-४, लखनऊ-२२६०१८ । पृष्ठ : १०६ + ८; डिमा. ८७; मूल्य : ६०.०० रु.।



चनाके अन्तर्गत पदक्रम, अन्विति, नियमन तथा प्रका-  
यक रूपोंमें वाक्यीय संरचनाका विश्लेषण किया है तथा  
उदाहरण देकर भाषाकी महत्ता संकेतिक की गयी है।

इस कृतिकी उपलब्धि निःशंक और निर्विवाद रूपमें  
महत्त्वपूर्ण है तथा कुमाउनीके व्यावहारिक, भाषा रूप  
का यह संरचनात्मक अध्ययनके क्षेत्रमें सबसे पहला कार्य  
है जो आवश्यक और उपयोगी सरणियां देकर अपने  
निर्णयोंकी परिपुष्टि करता है। आधुनिक भाषा विज्ञान  
की दृष्टिसे मध्यपहाड़ी हिन्दीके विशिष्ट भाषा रूप  
'कुमाउनी' का यह अध्ययन पठनीय, श्लाघनीय और  
शोधार्थियोंके लिए मार्गदर्शक है—इसमें कोई सन्देह  
नहीं है।

पुस्तक प्लास्टिक जैकेटमें कुमाउनीके प्राकृतिक  
छायाचित्रसे गृहीत सुन्दर आवरणमें भाषिक संरचना  
के गहन अध्ययनकी दिशा निर्देशित करती है। □

### भाषा वैज्ञानिक निबन्धः

लेखक : डॉ. त्रिलोकीनाथ सिंह

समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

हिन्दीमें अभीतक स्वतंत्र लेखनके क्षेत्रमें भाषा  
वैज्ञानिक निबन्ध बहुत कम लिखे गये हैं। आलोच्य  
पुस्तक लेखकके समय-समयपर लिखे गये निबन्ध हैं जो  
विषयानुगत रूपमें पांच हिन्दी भाषा तथा भूभाषासे  
सम्बन्धित, दो हिन्दी शब्द रचनापरक, तीन हिन्दीकी  
प्रमुख बोली अवधी तथा तीन हिन्दी कवियोंकी भाषाके  
कुछ पक्षोंको लेकर लिखे गये हैं। कुल चौदह निबन्धोंका  
यह संकलन त्रिआयाभी अध्ययन प्रस्तुत करता है—  
भाषागत, हिन्दी और अवधी विषयक तथा काव्य भाषा  
परक। यह कहा जा सकता है कि इन आयामोंको छूनेमें  
लेखकने कोई स्थिति विस्मृत नहीं की है।

आलोच्य संग्रहके प्रथम पाँच निबन्ध भाषाई परि-  
निष्ठीकरण एवं परिनिष्ठित हिन्दी, राजभाषा हिन्दी,  
भाषा समस्या, भाषाके विविध रूप तथा भाषा, समाज  
और संस्कृतिका ज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य लिये हुए हैं। ये  
निबन्ध निरन्तर भाषाके अध्येताओं तथा प्रतियोगी

परीक्षाओंमें सम्मिलित होनेवाले अभ्यर्थियोंके लिए  
आवश्यक हैं। यदि विद्वान् लेखक पुस्तक तैयार करते  
समय एक निबन्ध भाषा-विधेयकोंकी अपेक्षाओं, सीमाओं  
तथा द्वन्द्वात्मक स्थिति (दुविधात्मक) पर भी अपना  
विश्लेषण प्रस्तुत करते तो इस पुस्तककी उपादेयता  
औरभी बढ़ जाती। विश्वभाषा एस्पेरान्तो इस संग्रहका  
उपसंहारात्मक अथवा परिशिष्टगत निबन्ध कहा जा  
सकता है जो परिचयात्मक प्रकृतिका है। एस्पेरान्तोका  
यह परिचय हिन्दी भाषाकी समकक्षताका परिचय देता है  
क्योंकि उसमें २८ ध्वनियों—२१ व्यंजन, ५ स्वर तथा  
दो अर्द्धस्वर हैं जिनका मान निश्चित है तथा उसके  
लेखन, उच्चारणमें देवनागिरी लिपिकी भांति एकरूपता  
है।

हिन्दीके संरचनात्मक पक्षका स्पर्शभर कतिपय  
अपेक्षाएं बढ़ा देता है और लेखककी भूमिकाको औरभी  
स्पृहणीय बना देता है कि लेखक इसपर पुनः पुस्तक  
रचना करे। अवधीपर वैसे अनेक काम हो चुके हैं और  
अबभी शोधकार्यके रूपमें हो रहे हैं। यदि इन्हें इस पुस्तक  
में संकलित नहीं किया जाता तो भी पुस्तककी अस्मिता  
प्रश्नवाचक नहीं होती। इन पच्चीस पृष्ठोंसे अवधीकी  
अस्मिताकी पहचान तो होती है, पर भाषा वैज्ञानिक  
निबन्ध संग्रहमें लेखकसे भाषापरक अन्य विविध क्षेत्रोंमें  
अपेक्षाएं की जा सकती हैं।

तुलसीके स्वराघात, सूरके कूट काव्यकी भाषा  
वैज्ञानिक दृष्टि तथा प्रसादकी काव्य-भाषाके क्षेत्र  
निबन्धात्मक मौलिक प्रयासोंकी सिद्धि करते हैं, परन्तु  
पुस्तकाकार रूपमें विषयानुगतताका क्रम अवश्य भंग  
करते हैं। यह दोष इसलिए छिप सकता है कि यह निबन्ध-  
संग्रह है, पर भर्त्तिके लिए संकलन तैयार किया जाना  
श्रेयस्कर नहीं होता, विषयानुसंधाताओंकी अपेक्षाओंको  
ध्यान रखकर पुस्तक प्रस्तुतीकरण अधिक उपादेय होता  
है। पुस्तक छात्रोपयोगी है। □

पत्र-व्यवहारमें ग्राहक संख्याका

उल्लेख अवश्य करें।

१. प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, रेल्वे क्रासिंग, सीतापुर  
रोड, लखनऊ-२२६०२०। पृष्ठ : १३१+४०,

डिमा. ८८; मूल्य : १६.४९ (वेस्ट बैंक)।

'प्रकर'—जून'९०—२६



## चेतनाकी द्वन्द्वात्मकताका महावाक्य<sup>१</sup>

कृति : 'जोगी मत जा'

उपन्यासकार : डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्रसिंह

रसिक प्रेमी, योद्धा और शासक नीतिज्ञ, भाषा दार्शनिक और संन्यासी—इन सबका एक अद्भुत सम्मिश्रण भर्तृहरि, जो इतिहास और मिथककी सीमाओंको अपने अन्दर समेटता हुआ 'लोकमानस' में एक चरित्रनायकके रूपमें अपना स्थान बना सका है। उपन्यासकार डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्यायने ऐसे चरित्रनायकको अपने उपन्यासका विषय बनाकर मिथक, जनश्रुति, दर्शन और इतिहासके तन्तुओंको, अपनी कल्पना और संवेदनासे संस्पर्शित कर, उसे जीवन्त ही नहीं बनाया है वरन् एक ऐसे चरित्रको रचनात्मक ऊर्जा प्रदान की है जो पहली बार औपन्यासिक संरचनामें रूपान्तरित किया गया है। लेखकका यह कथन कि चाहे यह उपन्यास ऐतिहासिक न बन पाया हो पर इसमें ऐतिहासिक संवेदना या चेतना अवश्य है।' (भूमिका)। लेखकका यह कथन एक सीमातक सत्य है क्योंकि मेरे विचारसे इस उपन्यासकी संरचनामें इतिहासके तथ्य हैं ही, उसके साथ ही जनमानस एवं लोकवृत्तोंमें प्रचलित तथ्य भी हैं जैसे जनश्रुतियोंमें विक्रम भर्तृहरिका छोटा भाई है, मालवा प्रदेशमें पुगल प्रदेशसे सम्बन्धित पिगलाका चरित्र आदि ऐसे जनश्रुति आधारित तथ्य हैं जिनका उपन्यासकारने औपन्यासिक संरचना के घटकोंके रूपमें उपयोग किया है। औपन्यासिक संरचना के इन घटकों (चरित्र, घटना, परिवेश, विचार एवं संवेदना) का महत्त्व इस दृष्टिसे है कि वे सह-अस्तित्वके द्वारा संरचनाकी 'सम्पूर्णता'को व्यंजित करते हैं। इस दृष्टिसे उपन्यास एक "महावाक्य" है जिसमें सज्ञा सर्वनाम (चरित्र), क्रिया, क्रियाविशेषण (घटना), कारक

(घटनाओंको जोड़नेवाले तन्तु) आदिके अन्योन्य संबंधसे वाक्यकी संरचना होती है। 'जोगी मत जा' एक ऐसा ही उपन्यास-महावाक्य है जिसका पलक अत्यन्त विस्तृत है जो उस समयके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आर्थिक सरोकारोंको इस प्रकार समाविष्ट करता है जो औपन्यासिक संरचनामें तिल-तंदुलकी भाँति मिले हुए हैं।

विक्रम भर्तृहरिका शकोंको पराजित करना, कालकाचार्य, विकट भैरव, मंगला, सिद्धयोगिनीके प्रसंगों के द्वारा धार्मिक तांत्रिक-सामाजिक स्थितियोंका संकेत करना, चाणक्यकी अर्थनीति एवं विनियोगका शासनमें उपयोग करना तथा दार्शनिक प्रश्नों और सरोकारों (महाकाल, तंत्र आदि) को रचनात्मक ऊर्जा प्रदान करना—ये सभी तत्त्व एवं घटक औपन्यासिक संरचना में इस प्रकार गूँथे गये हैं कि उनकी स्थिति तिल-तंदुल की भाँति ही है। इन सभी सरोकारोंके साथ संवेदनात्मक स्थितियोंके मोहक चित्र इस उपन्यासमें इस प्रकार संयोजित है जो उपन्यासकी संरचनाको भाव-संवेदन-शृंगार सौन्दर्यकी रश्मियोंसे आलोकित कर देते हैं। इस संरचनामें प्रेम-शृंगार वर्णन (भर्तृहरि, पिगला सम्बन्ध) के अनेक मोहक चित्र हैं, लेकिन उनका विस्तार कभी-कभी अधिक होनेसे संरचना शैथिल्यके दर्शन होते हैं। इसके बावजूद उपन्यासकारने शृंगार-शतक एवं वैराग्यशतकके अनेक उद्धरणोंके द्वारा भर्तृहरिके रसिक एवं वैरागी रूपोंको साकार किया है और इस साकारतामें द्वन्द्वात्मकताका आन्तरिक रूप मुखर होता है। यह आन्तरिक द्वन्द्वात्मकता भर्तृहरि और पिगलाके चरित्रको जहाँ विकसित करते हैं, वहीं विचार-संवेदनके अनेक आयामोंको भी उद्घाटित करते हैं। अन्तमें उन दोनोंमें चरित्रोंकी

१. प्रका. : राजपाल एंड संस, कश्मीरी दरवाजा, विल्ली-६। पृष्ठ : ३१५; डिमा. ८६; मूल्य : ६५.०० रु.।



क्रमिक 'द्वन्द्वात्मकता' अपनी चरम परिणतिको पहुंचती है जब भर्तृहरि योग और प्रणय (पिंगला, बिम्बका बार-बार आना) के द्वन्द्वों लगातार जूझते हुए, बन और उज्जयिनीसे लगातार संघर्ष करते हुए, चेतनाके उस ऊर्ध्व रूपका साक्षात्कार करते हैं जहाँ पिंगला 'माता' हो जाती है और इस दशामें वह उससे 'भिक्षा' प्राप्त करनेकी स्थितिमें आते हैं। यह इन्द्रिय-निग्रहकी चरम परिणति या समाधि थी जिसे लेखकने नाटकीय ढंगसे उकेरनेका सुन्दर प्रयत्न किया है और इस प्रयत्नमें उसने जिस रूपकात्मक व्यंजना प्रधान भाषाका प्रयोग किया है, वह विचार-संवेदनकी एक रचनात्मक अभिव्यक्ति ही कही जा सकती है। यहांपर मैं केवल दो उदाहरण देना चाहूंगा जो 'चेतना' के ऊर्ध्व रूपको रचनात्मक अर्थवत्ता प्रदान करते हैं और साथ ही भिन्न रूपाकारोंके द्वारा उस चेतनाकी गतिको रेखांकित करते हैं—

“भर्तृहरिकी चेतनामें पर्वत ऊपर उठने लगे ..... सैकड़ों योजनों तक वे पर्वत फैलते जाते। हृदय प्रदेशमें इच्छारूपधारिणी षट्क्रतुएं अपने रंग दिखाती और ध्रुव प्रदेशोंमें योगी छः मासके दिन और रात्रिके अद्भुत दृश्योंमें खो जाता। उसे कालकी प्रत्येक धड़क सुनायी पड़ने लगी और दिक् उसकी इच्छानुसार छोटे बड़े होने लगे ..... आदि-आदि (पृ. ३०४)। इसके पश्चात् चिदाकाशकी वह एकाग्र स्थिति है जो पिंगलासे भिक्षा पानेके लिए उज्जयिनी दुर्गकी ओर बढ़ती है जिसे उपन्यासकारने व्यंजनात्मक रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“..... भर्तृहरि कुछ समय बाद बाहर आये और सम्मुख उज्जयिनीके दुर्ग और दूरतक फैली बस्तीको किसी गूढ़ चित्रकी तरह घोकने लगे, किन्तु आज धरा-तलपर बिखरे, कहीं खुले और वृक्षोंमें छिपे नगर-चित्रने कोई अतिरिक्त स्पन्द उपस्थित नहीं किया... वह चित्र योगीके चित-पृष्ठोंपर स्वयं खचित्र चित्रोंमें से एक तस्वीर-सा ही लगा... योगीका अपनेपर विश्वास बढ़ा और वह भृकुटियोंके मध्य दृष्टिकी एकाग्रतामें दत्तचित्त आगे बढ़ता गया... वह पथपर कूट प्रहेलिका-सा चला जा रहा था।” (पृ. ३०६)। इसके बाद भिक्षा लेनेका नाटकीय प्रभावशाली प्रसंग है। औपन्यासिक संरचनामें यह प्रसंग 'चरमबिन्दु' का ही विस्तार है जहां समस्त घटन-एं, प्रक्रम एवं विचार-संवेदनकी भिन्न गतिशील धाराएं अपना पर्यवसान प्राप्त करती हैं जो निर्वेदकी चरम स्थितिसे एकाकार हो जाती हैं।

चेतनाकी इस ऊर्ध्व अवस्था तक पहुंचनेके पीछे संघर्ष और तनावकी अनेक स्थितियां उपन्यासकी संर-

चनामें अन्तर्निहित है जो जागतिक दिक्कालसे आरम्भ होकर क्रमशः पराजागतिक दिक्कालके स्तरका साक्षात्कार करती है, जो चेतनाकी ऊर्ध्व अवस्था है, पर इस साक्षात्कारमें जागतिक स्वरका नकार नहीं है, और यही कारण है कि भर्तृहरि अपने क्रमिक चेतना विकासमें प्रेम, शृंगार, श्रद्धा, शक युद्ध और राजनीतिक संघर्ष आदि की अनेक संघर्षशील स्थितियोंसे जूझता हुआ चेतनाकी द्वन्द्वातीत या ऊर्ध्व स्थितिका साक्षात्कार करता है। इस दृष्टिसे भर्तृहरिका चरित्र कर्मप्रेरित सहृदय बुद्धिजीवी का चरित्र है जो कर्म और ज्ञान-संवेदनाका एक अद्भुत सम्मिश्रण है। इस उपन्यासको पढ़ते समय लगा कि प्रत्यक्षतः यह उपन्यास संघर्षशील चेतनाका उपन्यास है जो आजके सन्दर्भमें भी प्रासंगिक है। मंगला, सिद्ध-योगिनी और पिंगला—ये तीनों स्त्री-पात्र जहां शृंगार प्रेम और तन्त्र-योग-माधनाके संघर्षको तीव्र करती हैं, वहीं दूसरी ओर, ये तीनों नारी पात्र जहां शृंगार, प्रेम और तन्त्र योग-साधनाके संघर्षको तीव्र करती हैं वहीं दूसरी ओर ये तीनों नारी पात्र भर्तृहरिकी चरित्र रेखाओंको उभारती हैं, लेकिन इस उभारनेकी प्रक्रियामें उनके व्यक्तित्वकी रेखाओंको सुरक्षित रखा गया है। उपन्यासकी संरचनामें ये तीनों पात्र भर्तृहरिकी चेतना विकासको तीव्र करते हैं और इस विकासमें यथार्थसे जो क्षोभ उत्पन्न होता है, वह कल्पनामें यथार्थकी पलटसे क्षोभरहित हो जाता है। इस पूरी दशाको लेखकने भर्तृहरिके चितन द्वारा कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है—

“भर्तृहरिने पाया कि यथार्थ तो क्षुब्ध करता है। उस क्षोभमें आत्मस्थता कठिन हो जाती है, किन्तु कल्पना में यथार्थकी पलटसे, दृश्य क्षोभक नहीं रहते, कैसे मनोहर हो जाते हैं... वहाँ केवल सौन्दर्य रह जाता है और जड़ चेतनाका द्वन्द्व मिट जाता है... किन्तु ये प्रति-बिम्ब मिथ्या नहीं लगते इनमें वास्तविक दृश्यों जैसी ही शक्ति क्यों प्रतीत हो रही है ?” (पृ. १६८)। इस उद्धरणमें दृश्य और अदृश्यके संवादको सांकेतिक रूपसे व्यक्त किया गया है जो यह तथ्य प्रकट करता है कि चेतनाकी गति और दिशा अनेक आयामी है। यहांपर दृश्य मिथ्या नहीं वास्तविक हैं।

‘जोगी मत जा’ की संरचनामें भर्तृहरिके व्यक्तित्व के चार पक्षों यथा योद्धा-प्रशासन, भोगी, योगी और चिंतकके रूपोंको उजागर किया गया है लेकिन उपन्यास-



कारकी प्रवृत्ति भोग एवं योगके द्वन्द्वको उभारनेमें अधिक क्रियाशील रही है और इन प्रसंगोंके वर्णनमें लगता है, कि लेखक इतना तल्लीन हो गया है कि वह स्वयं एक समाधिकी दशतक पहुंचा हुआ नजर आता है। उपन्यासमें ऐसे प्रसंगोंकी योजना कुछ इस प्रकार की गयी है कि वे अधिकतर नाटकीय भंगिमाको लिये हुए हैं। कामदेव प्रसंगपर आधारित पिगलाका नृत्य, हठयोगकी प्रक्रियाका रचनात्मक वर्णन, युगनन्दका सजीव चित्रण, प्रकृति दृश्योंका गतिशील रूप, परिवर्तित रोमांटिक बोधका स्पर्श, नारी शक्तिका तात्त्विक संदर्भ तथा शृंगारी मनोभावोंका उच्छल रूप आदिको उपन्यासमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वस्तु और चरित्र का द्वन्द्व लगातार गतिशीलताको प्राप्त करता है। रोमांटिक एवं प्रकृति दृश्योंमें भाषिक संरचनाका रूप प्रवाहमय और सांकेतिक हैं, तो दूसरी ओर वैचारिक स्थलोंपर भाषा प्रवाहमय होते हुएभी अवधारणाओंको रचनात्मक संदर्भ प्रदान करती है। इस रचनात्मक संदर्भ में कभी-कभी विम्बों और रूपाकारोंका प्रयोग भी प्राप्त होता है जो किसी अवधारणाको अधिक ग्राह्य बना देते हैं। इस भाषिक संरचनामें एक अन्य तत्त्व जो न्यूनाधिक रूपमें प्राप्त होता है, वह है ओज एवं एक लम्ब-परक उर्ध्व भंगिमा, जो उपाध्यायजीकी भाषिक संवेदना को ताजगीही नहीं, वरन् एक विशिष्ट 'तेवर' प्रदान करती है। इस दृष्टिसे, सौन्दर्य और प्रकृति वर्णनोंमें पारम्परिक रूपाकारोंका प्रयोग भी मिलता है, यथा जैन साध्वी सरस्वतीका सौन्दर्य वर्णन इसी प्रकारका है—“केशहीन सिरसे उसकी शोभा घटी नहीं, बड़ीथी क्योंकि उसके नेत्र इतने बड़े और रत्नाकर सरोवरको तरह गहरे थे..... ओठोंका कटाव इतना उत्तम था कि उपदेशके प्रभावसे श्रद्धामिश्रित स्मिति जब ओठोंपर आतीथी तो अमृतका लेप-सा होताथा या विद्रुम रत्न पर चांदनी-सी जड़ जातीथी आदि। (पृ. १६)। इस प्रकारके दृश्योंके अतिरिक्त उपन्यासमें अनेक ऐसे स्थल हैं जो किसी प्रत्यय या अवधारणाको रचनात्मक ऊर्जा प्रदान करते हैं, और इन स्थलोंमें विचार-संवेदन का कभी-कभी सुन्दर 'घोल' प्राप्त होता है। महाकाल का रूप, दिक्कालकी सापेक्षता, नारी शक्तिका प्रतीकत्व मनकामेश्वरका अर्थ, चेतनाका द्वन्द्व और उसकी द्वन्वातीत अवस्था, हिरण्यगर्भ और ब्रह्माण्डीय तत्त्व, स्फोट-विस्फोटका तात्त्विक अर्थ तथा भक्त और योगीमें अंतर

आदि ऐसे अवधारणात्मक प्रसंग पूरे उपन्यासमें नाटकीय रूपसे संकेतित किये गये हैं। एक उदाहरण 'महाकाल' की अवधारणाका लें जो शक विरोधके संदर्भमें प्रस्तुत किया गया है—

“महाकाल कोई कल्पित सत्ता नहीं, न अन्धविश्वास है, वह तो प्रकृतिका ही दूसरा नाम है। दिक् और काल सत्य है, प्रत्यक्ष है, वह प्रकृति ही है। प्रकृति और पूजाको जो अपने वंश या श्रेणीके लिए प्रयुक्त करेगा, काल उसके विरुद्ध हो जायेगा और कालका विरुद्ध हो जाना ही तो रुद्रकोप है।” (पृ. ७२)। एक अन्य उदाहरण भर्तृहरिकी वह अनुभूति है जो आदि-सत्ताको ज्योतिस्वरूप और सृष्टिकी उत्पत्तिको अण्ड विस्फोटके रूपमें देखती है। भारतीय दर्शनमें हिरण्यगर्भ विज्ञानमें प्राप्त ब्रह्माण्डीय अंडकोष (कॉस्मिक एग) है, जो विस्फोटकी प्रक्रियाके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है। इसे ही हिरण्यगर्भका विस्फोट कहते हैं जो काल पुरुष और इतिहास पुरुषके रूपमें क्रियाशील होता है। इस यथार्थ तात्त्विक रूपको उपन्यासकार इस प्रकार प्रस्तुत करता है—“ओंकारमें तीनों काल, तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों स्वर और तीनों देवताओंके दर्शनकर भर्तृहरिने पाया कि आदिसत्ता ज्योतिस्वरूप है जो सृष्टिके पूर्वमें नाद और बिन्दुके रूपमें व्यक्त होती है। जिस प्रकार अण्डा भीतरकी स्वगतसे एक ध्वनि कर विस्फोटित होता है, सृष्टिकी प्रक्रिया अण्डविस्फोटकी प्रक्रिया है। 'हिरण्यगर्भ' शब्दकी सार्थकता भी योगी समझ गया। (पृ. २६२)।

मेरे विचारसे इस उपन्यासका एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है—राज्यकी अर्थनीति और उसका विनियोग जो जन-आकांक्षाओंका पोषण कर सके। भर्तृहरि यहांपर एक शासकके रूपमें सामने आता है वह धनको सांस्कृतिक विकासके लिए महत्त्वपूर्ण मानता है जो धन रक्षण और पोषणके निमित्त हो, न कि व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्तिके लिए। यहांपर भर्तृहरि विक्रमको यह भी बताता है कि हमें विष्णुगुप्त कौटिल्यके अर्थशास्त्रको पढ़ना चाहिये जहाँ राज्य केवल शुल्क, कर-संग्रह ही न करे वरन् अर्थ-क्षेत्रमें वित्त-विनियोग इस प्रकार करे कि श्रेष्ठ वर्ग और उसके निगम जनसामान्यका शोषण न कर सके। यही नहीं चाणक्यने यह भी कहा कि राज्य जहाँ भी एकाधिकार पाये, वहाँ हस्तक्षेप करे। (पृ. १८०-८१)। विक्रम इस नीतिके क्रियान्वयनमें दत्तचित्त भी



होता है और पिगला महिला श्रमजीवियोंकी स्पर्द्धाके संतुलन हेतु कार्य करती है। उपन्यासकारने इस जन-तान्त्रिक अर्थव्यवस्थाको आधुनिक संदर्भ दिया है लेकिन कथावस्तुमें इसका संकेत मात्र ही है, उसका क्रियात्मक रूप उतना उभरकर नहीं आया है जो अपेक्षित था।

‘जोगी मत जा’ की संरचनामें एक अन्य तत्त्व है, वर्ग चेतना और वर्ग संघर्षका, जिसे उपन्यासकारने मुख्य रूपसे दो चरित्रोंके द्वारा उभारा है, एक माया मालिन, जो पिगलाकी परिचारिणी है, और दूसरे कवीन्द्र भारती, जो ब्राह्मण हैं। ये दोनों पात्र निम्न एवं उच्चवर्गके प्रतिनिधि हैं। इस प्रसंगके द्वारा ब्राह्मण एवं श्रेष्ठी वर्ग द्वारा निम्न जातियोंका शोषण और उससे उत्पन्न निम्न-वर्ग मालिनीका आक्रोश और विक्षोभ, इतिहासके उस व्यंग्यको साकार करता है जो हर युगमें किसी-न-किसी रूपमें घटित होता रहा है। मायाका यह विक्षोभभरा कथन पूरी स्थितिको एक व्यंग्यके रूपमें रखता है—  
“मुझे नीच कुलके देवताओं और देवियोंने द्विजोंसे प्रति-शोधके लिए भेजा है—मैं मालंगी देवी हूँ—कंकाली हूँ ..... मैं चाहती हूँ ये सब ऊंची नाकवाले परस्पर लड़-कर मर जायें..... शकोंका राज्यभी देखा है मैंने, वे जंगली हैं, उनमें भेदभाव नहीं है... किन्तु ये अपने देश के द्विज .. मेरा वंश चले तो इन पाखंडियोंकी बोटी-बोटी काट डालूँ। जाओ ब्राह्मण, यहाँसे चले जाओ, मैं तुमसे घृणा करती हूँ... तुमभी नीच हो और वासनाके कीड़े हो।” (पृ. २५४)।

उपर्युक्त विवेचनसे उपन्यासकी संरचनामें विविध वैचारिक एवं संवेदनात्मक संदर्भोंका संकेत प्राप्त होता है जो उपन्यासके विराट् फलकको प्रस्तुत करता है। उप-न्यासको पढ़ते समय भर्तृहरिके भिन्न वैचारिक संदर्भोंका संकेत तो मिलता है, लेकिन इस वैचारिकतामें दिक्काल, महाकाल आदिका समावेश होते हुए भी, भर्तृहरिका भाषा चिंतन विषयक पक्षका समावेश मुझे कहीं देखनेको नहीं मिला है। यदि इस पक्षको भी उपन्यासकी संरचना में अन्तर्निहित कर लिया जाता तो कदाचित् भर्तृहरिके सम्पूर्ण चिन्तनकी रेखाएं उभरकर सामने आ जातीं। फिर भी, यह उपन्यास भारतीय उपन्यासोंकी भंगिमामें एक विशिष्ट उपन्यास है जो इतिहास, लोक और मिथकके आपसी रिश्तेको एक रचनात्मक ऊष्मा प्रदान कर, उन्हें एक संरचनामें रूपान्तरित करता है।

अन्तमें, एक बात और। ‘जोगी मत जा’ चेतनाके

क्रमिक द्वन्द्व और आरोहणका ऐसा रूप प्रस्तुत करता है जो वस्तुगत यथार्थसे चेतनाकी ऊर्ध्व अवस्था तक जाता है और लेखकने चेतनाके इन दोनों स्तरोंको पूरा माना है। मुझे ऐसा लगता है कि डॉ. उपाध्यायका यह उप-न्यास उनके परिवर्तित चिन्तनका भी परिणाम है जिसे वस्तुगत प्रत्ययवाद (ऑब्जेक्टिव आइडियोलिज्म) की संज्ञा देना चाहूंगा जो चेतनाकी वस्तुगत द्वन्द्वात्मकताकी ऊर्ध्व परिणति है। कह नहीं सकता डॉ. उपाध्याय इससे कहां तक सहमत होंगे? □

## हीरामन हाईस्कूल?

लेखिका : कुसुम कुमार

समीक्षक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

‘हीरामन हाईस्कूल’ वाचनसे इतना तो स्पष्ट है कि लेखिकामें दमखम है। मानव संबंधोंकी सरगमसे प्रश्न उठे इस कहानीको ‘साहसिक’ भी कह सकते हैं। आखिर लेखिकाको, एक ऐसे परिवारको ही—जिसमें विधवा माँ है, और दो बेटियाँ—क्यों लेना पड़ा? जाहिर है कि वे जीवनसे जूझते तीन अलग-अलग ढंग की पात्रियोंको लेती है—माँ जो अपने विधवापनके कारण कुछ हद तक लाचार है पर जो जीनेकी मूल वृत्तिसे प्रेरित है, सासके इस प्रस्तावको, कि देवरसे पुन-विवाह कर ले और अपना घर-बार चलाये, साहस-पूर्वक झटक देती है और अपनी दोनों अवोध बेटियों को कुछ बनानेकी सोचती है, बेटियाँ जो स्कूलकी छात्राएं हैं, पर वे जीवनकी पाठशालामें जो कुछ सीख रही हैं वह उन्हें ऊंचाईयोंपर पहुंचा रहा है, वे अपनी माँकी अवश स्थितिको खूब समझती हुई भी जीवनसे सामना करनेको पूरी तरह तैयार हैं। एक पुरुष प्रधान समाजमें लेखिकाने जानबूझकर इस परिवारको अपना केन्द्र बनाया है। केवल यही नहीं, उसने जो दूसरे पात्र भी लिये हैं, जैसे प्रोफेसर वर्मा आंटी, वह भी इस परिवारसे मिलती-जुलती है। उनकी भी एक बेटी है कपिला। ये दोनों माँ-बेटियाँ भी अपने-अपने ढंगसे जीवनका सामना करती हैं और न केवल अपने आपको

१० प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियावाज, दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : ३१०; डिमा. ८६; मूल्य : १००.०० रु.।



बनातीहैं अपितु दूसरोंको भी बनानेमें सहयोग देतीहैं। लगताहै लेखिकाको अडिग न झुकनेवाले नारी चरित्रों को आँकनेमें विशेष रुचि है। उसकी यह प्रवृत्ति गौण पात्रोंके चयन और चित्रणमें भी स्पष्ट है, चाहे साजन कौर हों या नौकरानी लाडो या राजो। किसीमें नारी जीवनकी विवशता और दयनीयता नहीं है। और तो और, नानीका चित्रणभी इस ढंगका है कि उसकी बूढ़ी उम्रकी झुर्रियोंमें भी जीवन जीनेका एक ललक और कामना—है, यद्यपि वह बेटे मदनसे कटी हुई और बेटी जुगिन्दर कौरको असमय विधवा हुई पातीहै। उसका नातिनोंसे जो लाड़ प्यारका संबंध है, जिस प्रकार वह सुनीलसे बातें करने, नाता जोड़नेको लालायित हैं वह सब उसके जीवनके पुष्ट आधारको व्यक्त करताहै।

लेखिकाने चरित्रोंके वैविध्यपर भी ध्यान रखाहै यद्यपि कुछ चरित्र उपन्यासमें अपनी संगति नहीं प्रमाणित कर पाते, जैसे पगलेको लीजिये। वह उपन्यासमें क्यों लाया गयाहै यह समझमें नहीं आया। यदि यह तर्क दिया जाये कि वह खेवनाके जीवनका एक आवश्यक अंग है, तो कहना होगा कि कलात्मक सृजनमें जीवनको ऐसे, ज्योंका त्यों नहीं लाया जाता। सृजनमें संगति और प्रयोजन ये दो लक्ष्य बराबर ध्यानमें रखने पड़तेहैं। यह बात और पात्रोंपर भी लागू है। यदि इसके पीछे उपन्यासमें रंग भरनेका लेखिकाका भाव है तो इसे क्षम्य मानाजा सकताहै।

लेखिकाकी जो बात अच्छी लगतीहै वह पात्रोंको सधे ढंगसे धीरे-धीरे विकसित करनेकी कला है, उसके पात्र ऐसे हैं जो काफी जीवंत और उतावले-से हैं जैसे तान्या और सोन्या दोनों बहनें, या सुनील या बन-जारिन बहनें खस्तो मस्तो, ये ऐसे चरित्र हैं जो स्वभावतः ही वेगवान् है। यदि इन चरित्रोंमें लेखिका अपनी ओरसे कुछ और वेग भर देती, तो यहभी स्वाभाविकही होता, पर लेखिकाने संयमसे काम लिया है और उन्हें धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सोच समझकर विकसित कियाहै। तान्या और सुनीलके बीच जो प्रेम संबंध विकसित होताहै वहभी अपने ढंगका है। दूसरा कोई लेखक या लेखिका इन तौर-तरीकोंको सहजही नहीं निभा सकता, या तो इनमें कोई गांठ डाल देता, या इन्हें सरपट भागता दौड़ता चित्रित कर देता। एक-सी परिस्थितिमें तान्या और सोन्या दोनों बहनें हैं, पर दोनोंका विकास कितना भिन्न है—कितना अन्तर

है एक स्कूलकी पढ़ी हुई दो बहनोंमें। एकने हीरामन हाई स्कूलकी दीवारें चमका दीं, दूसरीने फाटक लाँघा बांरहवींके परिणामकी प्रतीक्षाभी नहीं की और शादी ...”। सोन्या और विपुलके प्रेम संबंधको लेखिकाने तुरंत विकसित और फलित दिखायाहै, पर उसमें भी स्वाभाविकता है। तान्या और सुनीलके संबंधको इस रूपमें दिखाना कि सुनील तान्याके विदेश जानेके समय उससे मिलने एयरपोर्ट भी नहीं आता, उसके विदेश चले जानेपर उसे पत्रभी नहीं लिखता और सोन्या और विपुलको एक भेंटेके बाद ही विवाहकी सीमातक पहुंचा देना क्या जल्दबाजी नहीं है? इसका उत्तर यही हो सकताहै कि यदि लेखकको जीवित पात्रों पर कुछ पकड़ है तो वह जहां पात्रोंको अपने ढंगसे चलाताहै वहीं वह पात्रोंके जोरसे खिचकर कभी कभी उसके साथ या उसके पीछेभी चल पड़ताहै। परन्तु सोन्या और विपुलके विवाहपर वह जुगिन्दरकौर द्वारा एक रोक भी लगवा देतीहै कि तान्याके विदेशसे लौटने पर ही उसका विवाह होगा, पहले नहीं। इसलिए कह सकतेहैं कि लेखिकाने अपने हाथकी लगाम बिल्कुल ढीली नहीं छोड़ीहै, वह पात्रोंपर अपनी पकड़ बनाये रखतीहै पर यह पकड़ ऐसीभी नहीं है कि उन्हें जकड़ ले।

उपन्यासका भाषा पक्ष ज्यादा जीवंत और आकर्षक है। जैसे कृष्णा सोबतीके ‘जिन्दगीनामा’ को कुछ लोग भाषा प्रयोग या उसकी नवीनता और जीवंततासे कारणही पढ़ ले जातेहैं वैसेही कुसुम कुमारका यह उपन्यासभी भाषा संबंधी बेबाक और बेलौस प्रयोगोंके कारणभी पढ़ा जा सकताहै विशेषण और विशेष्य पद-प्रयोगोंके लिए तीरन्दाज आँखें, खुलेमें तिरते विचरते उरोज, तिलफुल जवाब, सूरतसे टपकता नमक, सन् पचासके आसपासके पान-बीड़ी छाप गाने, जलसा पुरुष, जलवा पुरुष, बहुत-सी थुलधुली उम्मीदें, छोटा गोल मसीहाई चेहरा, भारी दुमंजिला वक्ष, सरफरोशी स्टाइलमें अधिकार-रक्षा, घने लम्बे काले लहरिया बाल, माँकी इकलौती बाकी टाकी, मानक शहरी हंसी, प्यार करनेका मार्शल स्टाइल, पत्थरोंकी बनी दुमंजिली इमारतोंको मात देनेवाली काया, चिरंतन और चिड़चिड़ी डाह, मुंडी कटा सिद्धान्तवादी, जीरो बटा जीरो हस्ताक्षर, भावातिरेकका बच्चा प्रदर्शन...जैसे प्रयोग सुन्दर और ध्यानाकर्षी हैं।



इसी प्रकार बहुत-से कथन वर्णन ऐसे हैं जो नये मुहावरों और कहावतोंके रूपमें चल सकते हैं जैसे कमर टूटनेके दिन, भीतरका लोहा पिघल जाना, बंदर-बोध के दौरसे गुजरना, मानक हंसी हंसना, सिर उठाती बेटियोंका पर, हर चीजकी कपड़छान, सारी धूप खुद पर झेलना, ससुरा न खरीफकी फसल न रबीकी, भीतर ताकतका कोई कुआ हो जैसे, लाचारियोंके तोते उड़ना, वद-बोधकी उम्र, थूकके समन्दरमें नौका विहार, चेहरा पक जानेका डर, मनका गठिया जाना, अपनेही आलनेकी चिड़िया, प्राण उलीचकर हथेलीपर धरना, एक दूसरेकी सिगरेट सुलगाना, अपनी तख्तीके अक्षर चमकाना, न साँप न सीढ़ी, न जूता न एड़ी, ये ऐसे प्रयोग हैं जो आगे चल-निकल जा सकते हैं। लेखिका इनका प्रयोग बहुत 'अनायास शैली' में करती है।

लेखिका स्थान-स्थान अपने वर्णनमें भी अपना कौशल दिखा सकनेमें सफल रही है। भूलसे तान्या अपनी छोटी बहन सोन्याकी कमीज पहन लेती है। इसका परिणाम ?—“ऐसीही फिटिंगके लिए आज दिन तक तरसती आयी थी वह। वक्षका उभार इतना बेपनाह, कटाछंटा और साफ... कितने सुन्दर श्री-फल थे ? कितने ठोस और जादुई। कितने संगठित, कितने समर्पित। अपने इलाके पे कब्जा किये। चुपचाप ! शांत ! न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र ! न पेटपर झपट्टा डालते हुए, न गुदोंपर ! (पृ. १३३)। जब सुनील टी. वी. की आलोचना करता है, उसको ऊलजलूल बताता है, तो तान्या उसका विरोध करती हुई कहती है—“डिब्बा अद्भुत माध्यम है माई डियर ! जरा सोचकर देखिये। कोवलम् बीच ! निशात गार्डन ! पंचमढी ! ऊटी ! आवू ! चैल ! हमें सब खेवना बैठे देखनाही नसीब हो जाता है। आय थिक इट्स फैंटास्टिक ।” (पृ. १५६)। राज्य परिवहनकी बसको उसका ड्राइवर ‘हुस्नबानो’ कहता है। जब गाड़ी बिगड़कर रुक जाती है तो ड्राइवरके बोल सुनिये—हुस्नबानो ! बोल न मेरी जान, अब क्या करें ? पानीमें पेट्रोल मिलायें कि पेट्रोलमें पानी ? बोल न गुलबानो ! तुझे खुश करनेको क्या करें ? यारी जोबनावाली सरकार ! यहां तो सवारियोंका भी मामला है।” (पृ. १६३)। जब बस किसी स्टॉप पर रुकती है जो चाय पिलानेवाले छोटे-छोटे भाड़ेके

‘प्रकर’—जून’६०—३२

टट्टू बसपर एक साथ धावा करते हैं। उनकी वचना-वालियोंके नमूने हैं—“चाय गरम ! गरम चाय ! पिये उसका भी भला, न पिये उसकाभी ! पचास पैसेकी चाय ! मिठास ऐसी कि हाय ! पिये सो जिये ! जिये सो पिये ! रुपयेमें दो चाय हाय हाय-हाय ! ।” (पृ. १६८)। ऐसे वर्णनोंसे उपन्यास भरा पड़ा है। और तो और, उपन्यासमें आये कीकरका जो वर्णन है वह भी गौर करनेके काबिल है—“मरेने डरा दिया आज तो ! कैसा कंस मुद्रामें खड़ा है !” इसपर तान्या कहती है—“बेचारा दिन रात चुपचाप खड़ा रहता है। कभी कभी अपनी मूंछोंपर ताव देने लगता है, तुमसे इतना भी सहन नहीं होता ?” (पृ. ४५)। इस प्रकार दृश्यों और प्रसंगोंको सजीव कर देनेकी क्षमतासे लेखिकाके वर्णन कौशलका बोध होता है। उपन्यासमें आये तोते का वर्णन भी आह्लादकारी है विशेषकर उसका उपन्यासके पात्रोंसे जो सम्वाद चलता है। पशु पक्षी जीव जगत् प्रकृतिसे ऐसे संवाद निरन्तर विरल होते जा रहे हैं। लेखिकाने इसे उपन्यासमें बहुत खूबसूरतीसे पिरोया है।

लेखिका स्थान स्थान खूब महीन व्यंग्यभी कर सकी है विशेषकर लेखकों, प्राध्यापकों, बुद्धिजीवियोंपर। एक स्थान एक लेखिकाका चित्र आया है—“लेखिका क्या हर बड़े रूतवे, हर बड़ी ख्वाबेगाहको लगनेवाली चाबी। गोरे रंग, खुले नासा पुटों और छोटी मसकीनी आंखोंवाली लोमड़ी। .. लोमड़ी बड़े घरकी भी। अंग्रेजी हिन्दी दोनों जुवातोंकी चपरगट्ट। सिद्धान्त जितने बघारती थी उससे ज्यादा हजम कर जाती थी। इतिहासके ‘हाथी घोड़ा पालकी’ पर कमालकी जानकारी थी उसकी। शायद तभी सबको आतंकित किये थी। महिलाओंकी समस्याओंका उद्योग खासा चल निकला था। हालांकि अपने भीतरकी महिलासे तब-रुफ (परिचय) होना अभी बाकी था।” (पृ. २७३)।

उपन्यासमें आये पात्रोंसे कहीं कहीं लेखिकाका लेखन संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। इस दृष्टिसे जहां तहां गुरुचरण, सुनील और एक बच्चा लेखकके सम्वाद गौर करनेके काबिल हैं। एक स्थान गुरुचरण कहता है—“मन नहीं माना नाटक जैसे पुख्ता उम्दा माध्यमको खराब करनेका... नहीं यार, इरादा छोड़ दिया हमने ! नाटक ! आ जाकर एक ही तो लड़ाई



का हथियार बचा है। उसेभी बुझी हुई, खर्च हुई 'आतिशबाजियों' पर जाया करदूँ ? मन नहीं मानता। यार ! नाटक और मंचका उपयोग सस्ता या मन बहलावके लिए करने ? मन नहीं मानता। (पृ. २७०)। पलैपपर लेखिकाका जो परिचय है उससे स्पष्ट है कि लेखिकाने कई नाटक लिखे हैं। पता नहीं वे नाटक कैसे हैं ? क्या उनमें आतिशबाजियाँ हैं या उसे लड़ाईका एक हथियार मानकर बरता गया है ?

एक स्थान रावणके दश शीशका अच्छा विश्लेषण हुआ है—“दिमाग दस थे तो दिल केवल एकही क्यों ? इतने हमलावरोंमें बचानेवाला कुल एक ? ऐसे असंतुलनका मिटना, क्षय होना स्वाभाविक नहीं तो क्या ? भावना और बुद्धिका कहीं कोई मेल नहीं। होना तो इससे उल्टा चाहिये—खोपड़ियाँ दस तो दिलभी कमसे कम बीस।” (पृ. १८३)। ऐसे वर्णनों और विश्लेषणोंसे वाचनका स्वाद बढ़ जाता है और बहुत-सी कमियाँ पूरी मालूम होने लगती हैं।

अन्तमें उपन्यासका नामकरण : इस मामलेमें लेखिका बहुत सफल हुई है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उपन्यासमें कुल दो स्थानोंपर हीरामन हाईस्कूल का नाम आया है। वैसे यदि हीरामन उस सुग्गेको भी समझ लिया जाये जिसे रहीम नाम दिया गया है तो उसकाभी एक स्कूल है ऐसा माना जा सकता है। लेकिन ऐसा मान लेनेपर भी इस स्कूलसे उपन्यासकी घटनाओंका बहुत तालमेल नहीं बैठता। उपन्यास जैसाभी बन पड़ा है नाम तो वैसाभी नहीं है। लगता है लेखिकामें बिखराव ज्यादा है। अलग-अलग विशेषताओं को लेकर उपन्यासकी बढ़ाई की जा सकती है पर इन सभी विशेषताओंको लेखिका इस ढंगसे नियोजित नहीं कर सकी है कि इसका एक समवेत ठोस प्रभाव पड़े। पर अपने पहलेही प्रयासमें उन्होंने जो कुछ दिया है वह इतना अप्रीतिकर भी नहीं है कि उसे फूँक मार कर उड़ा दिया जाये। □

## संत साहेब ?

लेखक : डॉ. युगेश्वर

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

डॉ. युगेश्वर हिन्दीके सुपरिचित लेखकोंमें से हैं। आजके सांस्कृतिक हासके युगमें अपनी रचनाओं द्वारा मानव मूल्योंको प्रतिष्ठित करनेका लक्ष्य लेकर उन्होंने अपनी रचनाधर्मिताके आयामोंको कौशलके साथ प्रस्तुत किया है। अद्यावधि गद्य साहित्यकी अन्यान्य विधाओंमें आधिकारिक लेखन प्रस्तुतकर साहित्यकारके दायित्व को ईमानदारीसे निवाहनेका प्रयास किया है। सांस्कृतिक संदर्भोंसे युक्त उनकी विचार दृष्टि आधुनिक युगकी विसंगतियों और उनके उचित समाधान प्रस्तुत करनेमें समर्थ है।

‘संत साहेब’ डॉ. युगेश्वरकी नयी औपन्यासिक कृति है, जो गहनीय जीवन चरित्रोंको आधार बनाकर उदात्त मानवीय मूल्योंकी व्याख्या और उनकी प्रतिष्ठाका समर्थ प्रयास करती है तथा दिग्भ्रमित आधुनिक युगको रचनाधर्मी दिशाओंसे परिचित कराती है। प्रस्तुत कृति में लेखकने उदार मानवीय दृष्टिसे संपन्न महान् समाज-सुधारक कबीरके जीवन वृत्तको अत्यन्त रोचक एवं उद्देश्यके अनुकूल दृष्टिसे प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः कबीर अपने युगका एक क्रांतिकारी व्यक्तित्व रहा है। यह क्रांति बिध्वंसात्मक नहीं रचनात्मक दृष्टिसे संपन्न है। युगीन संकीर्ण मतवादों, मान्यताओंके खिलाफ कबीरकी लड़ाई मनुष्यमात्रके हृदयमें संचित महनीय वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब है और इन सब बातोंको डॉ. युगेश्वरने प्रभावशाली पद्धतिसे अभिव्यक्त किया है। इस उपन्यासकी कथाके निर्माणमें दोनोंही प्रकारके साक्ष्योंकी डॉ. युगेश्वरने सहायता ली है। जहाँ एक ओर कबीरकी रचनाएं उनके जीवन वृत्तको निर्धारित-निश्चित करनेका आधार बनी हैं, वहीं अन्यान्य ग्रंथोंमें प्राप्त कबीर चरित्र-विषयक सामग्री तथा लोक में प्रसिद्ध किंवदंतियाँ भी इसका आधार बनी हैं। इन्हीं के साथ डॉ. युगेश्वरने बिखरे सूत्रोंको जोड़नेके लिए

१. प्रका. : हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१। पृष्ठ : २३४; का. ८८; मूल्य : १०.०० रु.।



अनुकूल संगत कल्पनाका भी उपयोग किया है। इस प्रकार इस उपन्यासकी कथा एक सुचिंतित तथा प्रामाणिक धरातलपर निष्पन्न हुई है।

प्रस्तुत उपन्यासको डॉ. युगेश्वरने बारह अध्यायों में विभक्त कर कथाके ताने-बानेको बड़े कौशलसे बुना है। अध्यायोंका शीर्षक कबीरकी ही रचनाओंकी अर्द्धालियोंके आधारपर निश्चित किया है तथा अध्यायोंके अन्तर्गतभी अनुकूल घटना व्यापारका विवेचनकर डॉ. युगेश्वरने सिद्ध किया कि संत साहेबकी रचनाएं उनके वास्तविक जीवनानुभवोंका ही परिणाम हैं। इस प्रक्रियामें चाहे रचनाओंके आधारपर कविके चरित्रको जानिये या फिर चरित्रके आधारपर रचनाओंको समझिये—कहीं कोई दिक्कत नहीं होगी। वस्तुतः डॉ. युगेश्वरकी इस कृतिको पढ़कर कबीरकी रचनाएं समझी जा सकती हैं। यह बात इस कृतिकी प्रमुख विशेषताओंमें परिगणित की जानी चाहिये।

‘संत साहेब’ उपन्यासके पहले अध्यायमें लेखकने काशीकी तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दुरवस्थाका चित्रण करते हुए ऐसे तनावग्रस्त युगमें कबीर और आचार्य रामानन्दका मेल कराया है। दूसरे अध्याय ‘तनना-बुनना तजा’ में काशीके अकालका जीवंत चित्रण करते हुए कबीरकी मानव सेवाको समर्पित साधनाकी अभिव्यक्ति की है। तीसरे तथा चौथे अध्याय में एक ओर तांत्रिक साधकोंके चंगुलसे स्त्रीको बचानेमें कबीरकी अप्रतिहत मनःशक्तिका चित्रण हुआ है तो दूसरी ओर साधना क्षेत्रमें प्रचलित विकृत पद्धतियोंका भी कबीर द्वारा विरोध किया गया है।

‘संत साहेब’ के पांचवें अध्यायमें किंवदंतियोंके आधारपर वृत्त रचनाकार डॉ. युगेश्वरने विरोध होते हुएभी अपनी मानवीय दृष्टिके कारण कबीरके बढ़ते प्रभावको शब्दांकित किया है। इसके बाह्याचारों और विसंगतियोंके प्रति कबीरकी विद्रोही प्रवृत्तिका समर्थ चित्रण हुआ है। छठे अध्याय ‘गांव-गांवकी’ में कबीरके देशाटनका उल्लेख है। इस यात्रामें कबीरने अपनी स्वस्थ मानवीय दृष्टिसे अनेक लोगोंको प्रभावित किया। सातवें अध्यायमें लोई तथा उसकी सन्तानोंके संरक्षक कबीर द्वारा स्वीकृत नारीकी महिमाको प्रभावशाली रीतिसे अभिव्यंजित किया गया है। आठवें अध्याय ‘बाहर भीतर पानी’ के अन्तर्गत कबीरकी सामाजिक सेवा का उदात्त पक्ष उभरता है। इसमें जहां एक ओर बाढ़

के समय किये गये कबीरके महीनय कार्योंकी शान्ति प्रस्तुत की गयी है, तो दूसरी ओर शास्त्रोंको ही सब कुछ माननेवाले प्रेम और सेवाकी भावनासे हीन तथा पांडित्यके अहंसे पीड़ित विद्वानोंको पराजित करनेकी कथा भी कही गयी है। ‘मांस अहारी’ में पशु और मनुष्यकी जीवन रक्षामें कबीरकी क्रियाशीलता चित्रित की गयी है।

‘संत साहेब’ के दसवें अध्याय ‘काहे रो नलनी’ में पुनः योगिनीकी चर्चा अभिव्यंजित हुई है। अपने अभिशप्त जीवनसे त्रस्त योगिनीका पश्चात्ताप तथा कबीरसे मोक्षकी याचनावाला दृश्य वस्तुतः हृदयको आन्दोलित कर देता है। ग्यारहवें अध्यायके अन्तर्गत मनुष्य और कायाके धूपछांहीं मेलजोलके साथही बताया गया है कि कैसे मायाका चक्र धीरे-धीरे मनुष्यपर अधिकार जमा लेता है और इस संदर्भमें कबीरकी निर्वृन्द दृष्टि क्या थी ! अन्तिम अध्यायमें प्रचलित लोकमान्यताओंके विरोधमें कबीर द्वारा मगहर जाकर अपने प्राण त्यागने और उपेक्षित समझे जानेवाले स्थलको तीर्थ बना देने वाली उनकी व्यापक-उदार दृष्टिका परिचय दिया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति ‘संत साहेब’ के कथावृत्त को प्रभावशाली ढंगसे बुनकर डॉ. युगेश्वरने अपने रचना कौशलको अधिकांशतः अभिव्यंजित किया है। प्रायः प्रत्येक अध्यायमें युगान् स्थितियोंका प्रभावशाली चित्रण तथा विसंगतियोंका समर्थ विरोध अंकित हुआ है, साथही स्वस्थ मानव मूल्योंकी शोध और स्थापना का प्रयास स्तुत्य कहा जा सकता है। निश्चयही कबीरकी यह दृष्टि वर्तमान परिदृश्यको आमूल बदलने और उसे स्वस्थ दिशा प्रदान करनेमें पूर्णतः समर्थ है।

‘संत साहेब’ में आद्यंत प्रभावशाली वर्णन होते हुएभी कुछेक स्थलोंपर ऐसाभी प्रतीत होता है कि लेखकने उपन्यासमें चल रही सहज कथा-धाराको अगली बातपर आनेकी जल्दबाजीमें कुछ अधिक तीव्र कर दिया है तथा अस्वाभाविक बना दिया है। पर ऐसे स्थल कुछेक ही हैं—जैसे नवें अध्याय ‘मांस अहारी’ में बेकाबू भीड़ की मानसिकताको बदलनेवाला वर्णन असहज और संक्षिप्त लगता है। अध्यायके अंतमें समस्याको जितनी जल्दी समेटनेका प्रयास किया गया है, वह स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ‘गांव गांवकी’ अध्याय में अवधूतके जीवित होजानेकी कथाके फैलनेपर संपन्न



समुदायके लोगोंका कबीरके प्रति भक्ति-भाव प्रकट करना धन वृद्धिके आशीर्वादोंकी प्राप्तिके लिए नहीं था जैसाकि लेखकने व्यंजित किया है (पृष्ठ १२६ पर), क्योंकि यहां यह कारण या निष्कर्ष उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः संगत और स्वाभाविक बात तो यह है कि मुर्दोंको जिलानेवाली बात जानकर सभी अपने जीवनको अक्षय बनाना चाहते थे, ताकि ऐश्वर्यको भोग सकें। यदि लेखक इस निष्कर्षको प्रतिष्ठित करता, तो बात अधिक संगत प्रतीत होती। इसी प्रकार लोई एवं योगिनीके जीवन वृत्तको यदि कुछ और बढ़ा दिया जाता, तो इस रसधाराके निरंतर प्रवहमान रहनेसे उपन्यास की रोचकतामें वृद्धि होनेकी संभावना की जा सकती थी। किन्तु लेखकने अधिक विस्तार पानेकी क्षमता रखनेवाले इन चरित्रोंको अपेक्षित आकार नहीं दिया, अथवा जीवनके अन्यान्य मार्मिक पक्षोंको औरभी सूक्ष्म रूपमें चित्रित करना संभव होता।

जैसाकि बताया गया है कि ऐसे स्थल कुछेक ही हैं, जहां विस्तार दिया जाना संभव था, किन्तु अधिकांश विवेचन संगतही कहा जायेगा। वस्तुतः लेखककी मूल दृष्टि कबीरके जीवन-वृत्तसे जुड़ी रही, अतः जीवनके अन्य पक्षोंका उतनाही विवेचन प्रस्तुत किया गया, जो मूल जीवनवृत्तको अभिवृद्धि प्रदान कर सके। अतः

प्रस्तुत उपन्यास एक विशिष्ट व्यक्तित्वपर लिखित जीवन चरितात्मक उपन्यास ही माना जायेगा।

प्रस्तुत कृतिकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी भाषा है। बंधे हुए उपयुक्त पद, कसी हुई अर्थ-वान् प्रभावी भाषाका प्रयोग वरेण्य कहा जायेगा। कृति में आद्यंत छोटे-छोटे अनुकूल एवं सहज वाक्योंका प्रयोग, प्रभावके अनुरूप भाषाकी सहज-परिवर्तित रूप क्षमता तथा अनुरूप प्रभावी शैली इस उपन्यासकी विशिष्ट उपलब्धियां कही जा सकती हैं और इसका श्रेय लेखककी रचनात्मक क्षमताको ही जायेगा।

इस कृतिसे पूर्व डॉ. युगेश्वरकी अन्य अनेक औप-न्यासिक कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। वे सभी पौरा-णिक चरित्रोंको आधार बनाकर रचित हैं, किन्तु यह उपन्यास पुरावृत्त (मिथक) को आधार बनाकर नहीं लिखा गया है, बल्कि एक ऐतिहासिक चरित्रपर आधा-रित है। ऐतिहासिक चरित्रको कृतिका आधार बनाने पर लेखकको इतिहाससे बहुत कुछ बंध जाना पड़ता है। किन्तु स्वतन्त्रताके बाधित हो जानेके बादभी लेखक ने जो कुछ प्रस्तुत किया है, उसे ऐतिहासिक चरित्रके प्रामाणिक दस्तावेजके रूपमें स्वीकार करना असंगत नहीं होगा। अपने रचनाधर्मी कौशलसे कृतिको विश्व-सनीयताका पुष्ट आधार मिला है। □

## कहानी

### मणियां और जखम?

कहानीकार : नवनीत मिश्र

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

प्रचारके हयकण्डोंके प्रति विरक्त होनेपर भी नवनीत मिश्र हिन्दी कहानीके पाठक-समीक्षकके लिए

१. प्रका. : प्रकाशन संस्थान, ४७१५/२१, दयालन्द मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : १३६; का. ५७; मूल्य : २५.०० रु.।

परिचित हैं। प्रायः सभी प्रमुख पत्रिकाओंमें प्रकाशित इनकी कहानियोंका एक संग्रहके रूपमें आना एक सुखद घटना है। 'मणियां और जखम' में नवनीतकी पन्द्रह कहानियां संगृहीत हैं। इनमें वह कहानीभी है जिसे सारिका कहानी प्रतियोगितामें प्रथम पुरस्कार मिल चुका है। कहानियां हैं—यह कोई नाटक नहीं है, निर्णय, ओझल होते हुए रास्ते, मणियां और जखम, कृतज्ञ, क्लीव, कांस, परास्त, जरा सी बात, केस हिस्ट्री, किसीभी गलीमें, कागजका ईमान, उसका आंगन, बेई-



मान और कुछभी नहीं। इन्द्र कहानियोंमें मध्य-वर्गीय शिक्षित परिवारके बड़े बूढ़ों-स्त्री-पुरुषों, बच्चे-बच्चियों, नौकर-महरियों और पूरे परिवेशकी धड़कनों को उनकी सारी खूबियों-खामियोंके साथ, उनके भले बुरेके साथ महसूस किया जा सकता है। नवनीत अपनी कहानियोंमें जो यथार्थ बुनते हैं, वह नारोंपर पाखण्डपूर्ण बड़बोलेपन और साहित्यस्रष्टा होनेके दम्भ पर बलपूर्वक खड़ा किया गया शामियाना नहीं होता—वह जीवनका ऐसा यथार्थ होता है जिसे न निगलते बनता है, न उगलते। उससे सामना होजानेपर संवेदनशील पाठक अपनेही भीतर कहीं अपनेको उधरता हुआ अनुभव करता है। आज जो फैशन है, अपनेको छोड़कर सारी दुनियांको चोर कहनेका भ्रष्ट कहनेका उससे लेखकभी ग्रस्त है। नवनीतका विनम्र रचनाकार ऐसे किसी भ्रमका शिकार नहीं है। नवनीतके पात्र जिस जीवनको जीते हैं, वह अतिपरिचित है। अधिकसे अधिक यह कह सकते हैं कि कुछके लिए वह प्रत्यक्ष है तो कुछ के लिए कुछ अप्रत्यक्ष। अवास्तव उसे कोई नहीं कह सकता। यह यथार्थ उन लेखकोंके लिए एक चुनौती है जो अपनी कहानियोंसे दुनियां बदल देनेके भ्रममें हैं या किसी काम कुण्ठाको ही रचनाधर्मिताका मूलमंत्र समझते हैं। नवनीतकी कहानियां हिन्दी कहानांके विकास क्रममें अपनी पहचान बनाती हुई अविस्मरणीय कहानियां हैं जो हल्ला नहीं मचातीं, शोर नहीं करतीं बल्कि सोचनेको विवश करती हैं।

पहली कहानी 'यह कोई नाटक नहीं है' एक ऐसे युवककी कहानी है जो नाटकको अपना जीवन मान चुका है। उसके घरमें उसकी अति संवेदनशील वृद्धा माँ हैं—अम्मा—जिनके जीवनका एक सूत्र बेटीकी धड़कनोंसे जुड़ा हुआ है और दूसरा अपने अति संवेदनशील पतिकी स्मृतियोंके साथमें। 'मैं' युवक है। उसके युवकोचित सपने हैं। वह नाटकोंमें काम करता है। यथार्थ का पहचान उसे दो स्तरोंपर होती है, एक जीवनकी धड़कनोंमें, दूसरे उन नाटकीय पात्रों और परिस्थितियों में, जिन्हें वह जीता है। माँ बेटीके जीवनको अपने ढंग से भरापूरा देखना चाहती है, बेटी उसे अपनी कल्पनाके अनुरूप गढ़ना चाहता है। एक सघन क्षणमें माँ विवाह पर अड़ती है। बेटी मना करता है। वे कहती हैं—'मैं सारे दिन तुम्हारी सूरत देखनेको तरसती रहता हूँ और तुम आफिससे सीधे रिहर्सलमें चल देते हो। सवेरे

से रात तक घरसे बाहर रहते हुए तुमको मेरी याद कभी नहीं आती? तुम्हारा मन कभी सब कुछ छोड़-छाड़कर घर भाग आनेको नहीं करने लगता? तुम्हें कभी ध्यान नहीं आता कि जिस समय तुम नाटकमें नकली आंसू बहा रहे होते हो, उस समय मैं अपने दर्द से ऐंठते पैरोंको अपने जुजगुन हाथोंसे दबाकर आराम पानेकी कोशिशमें सचमुच रो रही होती हूँ? तुम्हें पता किया, तुम्हारे अत्याचार सहने होंगे, मगर एक बात आज कान खोलकर सुन लो—तुम्हारा यह नाटक-वाटकका चक्कर मुझे फूटी आंखों नहीं सुहाता'।

अम्मा एक साथ इतना कभी नहीं बोलतीं। अधिकांश संवाद बिना शब्दोंके होते हैं किन्तु यह वह क्षण है जब अम्मा वक्सेकी सारी सामग्री खोलकर छितरा कर बैठी हैं—अपने गतकी स्मृतिके चिह्नोंके साथ और आगतके सपनोंके साथ। लेखककी टिप्पणी है : "अम्माका सन्दूकमें सहेजा हुआ अतीत और भविष्यके सपनोंकी कोंपलें फर्शपर बिखरी पड़ी थीं।"

'मैं' माँकी संवेदनाका हिस्सा है। उनकी एक-एक धड़कनको समझता है, वे उसे भीतर तक छूती हैं, उनके लिए कुछ करना चाहता है परन्तु वह अपने आपसे कहता है—'मैं तुम्हारा बेटा हूँ, मगर साथही कुछ औरभी तो हूँ। कितना अर्जाव लगता है यह कहना कि मैं तुम्हारे सामने कुछ औरभी हूँ या हो सकता हूँ। ऊपर ऊपर फैलती जानेवाली महत्वाकांक्षाओंकी श्वेतर जलकुंभी उसी जलको ढंक लेती है, जिससे वह पैदा होती है।'

यह बिम्बविधान कविताकी जातिका है किन्तु कहानीमें किस कुशलतासे 'मैं' और 'अम्मा' की व्यथा-कथा कह लेता है? वही भाषाकी शक्ति है जो नवनीत की कहानियोंको अलग पहचान देती है।

'यह नाटक नहीं है' का 'मैं' साथके अवसरवादी रंगकर्मियोंकी टुच्चईको झेलता हुआ जब महानगर जाने का एक अवसर पाता है तो माँके आशीष झरते हैं—'जाओ, खूब अच्छा अच्छा करना।'

कहानी बड़ेसे बड़े धैर्यवान् पाठकको भी विचलित करती है। यह 'अम्मा' वह कण्ठासागर है जो हम सबके लिए सब कुछ सहती है और आशीषही बरसाती है। 'निर्णय' की 'मैं' सौमित्रकी उपेक्षाको झेलती हुईभी है। 'निर्णय' की 'मैं' सौमित्रकी उपेक्षाको झेलती हुईभी उसे पराजित देखनेको तैयार नहीं। क्योंकि 'मैं' खूब जानती हूँ कि यदि मैं विजयी हो गयी होती तो फिर



सौमित्र जीवन भर पराजित ही रहते, मैं ऐसी निष्फल विजयका क्या करती ?” कहानीके अन्तमें सचमुच पराजित सौमित्रको विदा देती हुई वह सोचती है—“मैं कहना चाहती थी कि तुम अब एक खण्डित मूर्तिकी तरह हो जिसकी अब कोई पूजा नहीं करेगा।”—“तो किन्तु कहती नहीं। कहती है तो सिर्फ इतना कि—“तो फिर आप अकेलेही चले जाइये।” पाठक जब इस निर्णयके क्षणमें ‘मैं’ की वह बात याद करता है कि ‘कभी कभी मैं नहीं रह जाती हूँ, कोई और हो जाती हूँ, वो हो जाती हूँ जो सौमित्रके कदमोंकी बाहट पातेही बावली-सी हो उठती है, वह पवित्र किताब हो जाती हूँ जो सौमित्रके हाथोंकी ‘रेहल’ पर पढ़े जानेके लिए खुल जाती है, जिसे सौमित्र अंतिम शब्द तक पढ़ते हैं, सार्थक कर देते हैं, निहाल कर देते हैं। कभी-कभी मन होता कि सौमित्रका अपने पोर पोरमें बस जाना महसूस कर सकूँ।” तो इस नाजुक चरित्र को मनमें संजो लेनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता।

निम्न वर्ग और मध्य वर्गके बीचका सम्बन्ध कितना सरल कितना जटिल। ‘ओझल होते हुए रास्ते’ में चाची है जो महरी बन गयी है, इसलिए कि पति की मौतके बाद बेटोंके बीच बांटी जानेवाली गठरी नहीं बनना चाहती। कई मकानोंके मालिक उसकी पूरी शक्तिका शोषण करनेका नायाब उपाय काममें लाते हैं—“जब बछड़ा मर जाता है तो गायके थनोंसे दूध लेनेके लिए भूसेपर मढ़ी बछड़ेकी खालका सहारा” बनकर उसे ‘चाची’ कहने लगते हैं। वह इतने बड़े शायदमीकी चाची होनेका भरम पालती हुई जीवनभर खटती रहती है। उसका भरम टूटता है कहानीके अंतमें जब वह पाती है कि अब उसकी हड्डियोंमें श्रमका दूध नहीं रह गया। वह चाचीसे फिर महरी हो जाती है।

करण रसकी कविता बन गयी है वह कहानी। नवनीतकी कहानियोंमें भावनाओंको जो रूप मिलता है वह अन्य शब्दोंमें बांधकर किसीके सामने परोसा नहीं जा सकता। उसका आस्वादन करनेके लिए इन कहानियों को ही पढ़ना पड़ेगा।

“फैण्टेसी” को मुक्तिबोधने कविता और कहानी दोनोंके लिए एक अतिमहत्त्वपूर्ण टेकनीक बना दिया है। नवनीतकी भाषा-संवेदना फैण्टेसीके बाहरकी है किन्तु सचमुचकी शीर्षक कहानी ‘मणियां और जख्म’ इसी

टेकनीकमें लिखी गयी है। कथा केवल इतनी है कि “अपनी उम्रके बेहतरीन चालीस साल सिर्फ रोटी कमानेमें गंवा देनेवाली औरतकी जिन्दगी जखम तो होती ही है।—ये जखम कहां हैं ? ये तो इन लोगोंके चिरे हुए मुंह हैं जो निवाला चाहते हैं। मैं अपनी उम्र का एक एक दिन इन खुले हुए जबड़ोंमें कौर बना बनाकर डालती आयी हूँ। नौकरीका शौक और नौकरी की मजबूरीमें वही फर्क है जो किसी अनुष्ठानके लिए रखे गये उपवास और भुखमरीमें है।... तुम्हारा साथ मिला था तो कामनाओंकी ये मणियां मैंने ही सजाली थीं इन जखमोंपर। मगर पहले कभी मणि देखी नहीं थी इसलिए मणियोंके भ्रममें जखमोंके अन्दर पत्थरके टुकड़े भर रही हूँ, जानही नहीं सकी।... (काग भुशुण्डिकी तरह) मुझे भी एक ज्ञान प्राप्त हुआ है जिसे मैं एक लम्बे समय तक लोगोंको सुनाती रहूँगी।”

ये जखम सहलानेकी आकांक्षासे ग्रस्त ‘मैं’ नवनीतके अतिसंवेदनशील पुरुष पात्रोंमें से है तो एक लेकिन अविस्मरणीय अद्वितीय।

‘कृतज्ञ’ कहानी मध्यवर्गीय परिवारमें से एकके विलायत चले जाने और लौटकर वैभवके उच्छिष्टसे शेष परिजनोंको उपकृत करनेवाली मानसिकताका मर्म-स्पर्शी दस्तावेज है। मुझे स्मरण है वत्सलनिधिसे लेखक शिविर (वर्गी) में इसका पाठ और साहित्यकारोंका झूम उठना। अज्ञेयजीने अन्तमें विलायती मौसीजीके प्रतिभी सहनुभूतिका संकेत किया था। किन्तु वह बात कम लोगोंकी रुची। देशके बाहरके वैभवका सम्मोहन लोगोंको अपने देश अपने लोगों और अपनेपनसे कितना अलगकर देता है, यह मर्मस्पर्शी कहानी यही बताती है।

‘एवज वसूलने वाला क्लीव नहीं हूँ’... लाशभी नहीं हूँ... गर्म खून रखनेवाला जिन्दा इन्सान हूँ !” कहता है ‘क्लीव’ कहानीका नायक जो इसलिए नौकरीसे निकाल दिया जाता है कि औरोंकी भांति अपनी पत्नीको बाँसके पास नहीं भेजता। यह कहानी दाम्पत्यको व्यापार बनानेवाले सुविधाजीवियोंके विरुद्ध एक जीवित पुरुषके आक्रोशकी आग है।

‘काँस’ एक विचित्र कहानी है। एक युवककी कहानी है यह जो लेखक बनना चाहता है। “लेखकभी ऐसा जिसकी कलमकी नोकपर सरस्वती विराजै, मगर मेरी कल्पनाएं रोटी नहीं बन सकीं, मेरी दूध जैसी उजली चांदनी, सदीमें ठिठुरते हुए मेरे बच्चोंकी चादर नहीं



बन सकीं। और अब इन बाबुओंकी उस भीड़में मैं चुपचाप शामिल हो गयाथा, क्योंकि पत्नी, दो बच्चों और स्वयंके लिए दो पहरोंका भोजन एक अनुपम उपहार था।" युवकको एक उपन्यासकी पाण्डुलिपि रास्तेमें पड़ी मिल जातीहै। उसे वह बिना अपना पता दिये वापस कर देताहै। लेखकको वर्षका श्रेष्ठ उपन्यासकार मानकर सम्मानित किया जाताहै। वह अनाम व्यक्तिका उल्लेख तक नहीं करता जिसने उसकी खोई हुई पाण्डुलिपि वापस कीथी। उपन्यासमें शहजादी हुस्नअराराके पच्चीस करोड़के हीरोके द्वारको इसी प्रकार वापस कर देनेवाले गुलाम सादिकके मौन प्रेमकी कथा है। दोनोंके प्रेमका पता चलतेही गुलामको मृत्युदण्ड मिलताहै, शहजादी आत्महत्या कर लेतीहै।

कहानीमें ऐतिहासिक रोमांसके साथ बड़े लेखककी बादशाहत और अनाम रह जानेवालेकी पीड़ाको एक स्तरपर बुना गयाहै। सौन्दर्य-वर्णनसे लेकर घुटकर रह जानेकी पीड़ा तकको मूर्त करनेमें कहानीकारको स्मरणीय सफलता मिलीहै।

'परास्त' प्रौढ़ दम्पतीकी कथा है, जिसमें पुरुष पलभरकी असावधानीके कारण पत्नीसे दूर भागकर आठ वर्ष बाद लौटाहै। ताई कहतीहै—“मैं कम बुद्धिकी औरत, तुम्हें क्या समझाऊंगे? औरत जिस्मको प्यार करनेका जरिया बहुत कम समयके लिए ही बनतीहै। फिर तो सारा कुछ इस जिस्मसे बहुत ऊपर उठ जाता है। जिस्म तो एक पुल भर है उस बहुत ऊपर तक जाने के लिए। नवनीतकी कथा-भाषा इन शब्दोंको प्रौढ़ाके मुंहसे नहीं कहलाती, पाठकको महसूस करा देतीहै। ताई तो सोच रहीथी कोई कहनेपर आ जाये तब भी क्या सबकुछ कहा जा सकताहै? इसी प्रकार संग्रहकी अन्य कहानियाँ भी अपनी किसी-न-किसी विशेषताके कारण पाठकके पास बनी रहतीहैं।

नवनीतकी ये कहानियाँ इसीलिए स्मरणीय हैं कि भाषाकी शक्ति और सीमा दोनोंकी प्रतीति करातीहैं। कहानीकी आलोचनाके चालू शीर्षकोंसे इन कहानियोंकी वास्तविक पहचान नहीं करायी जासकती। भाषाकी विशिष्ट संवेदना और गहरे स्तरकी नाटकीयता इन कहानियोंमें उजागर होतीहै। आकाशवाणीमें समाचार सम्पादन और समाचार वाचनसे लेकर रंगमंचसे जुड़े रहनेका लम्बा अनुभव नवनीतकी कथा-भाषामें कुछ

ऐसा जोड़ताहै जो इन्हें अन्य कहानीकारोंसे अलग करता है। □

## प्यासी रेत?

लेखक : दामोदर सदन

समीक्षक : गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

समीक्षकको रचना और रचनाकार दोनोंको जोड़कर देखना होताहै और इसीलिए जब १९८३ में प्रकाशित पुस्तक १९६० में समीक्षाके लिए प्राप्त हो तो यह स्पष्ट करना उसके लिए मुश्किल हो जाताहै कि यह अन्याय दोनोंमें से किसके प्रति है। बहरहाल रचनाके साथ अन्याय तो स्पष्ट है। इन कहानियोंका कथ्य अबसे सात वर्ष पूर्व जितना उत्तेजक और प्रभावी था अब पाठकोंके लिए उतना नहीं रह गया। ऐसा नहीं है कि उस यथार्थकी उम्र घट गयीहै पर यह अवश्य है कि उसका तेज धीमा पड़ गयाहै। और शायद इसके प्रभावसे रचनाकारभी अछूता नहीं रह पाता।

'प्यासी रेत'की ग्यारह कहानियाँ सरकारी और राजनीतिक तंत्रके घालमेल और जनतासे प्रतिकार अथवा अपकारकी साक्षी हैं। इनमें प्यासी रेत और किस्सा तोता मैना अवश्य पृथक् तेवरवाली हैं। शेष नौ कहानियोंके अंतर्द्वन्द्व, गतिका निर्वाह, पात्र पहचान, कथाभूमि आदि वस्तुपरक तथा जनोन्मुख हैं। इन कहानियोंके सरोकार प्रायः सर्वसामान्य और सर्वापेक्षी हैं। देशमें अफसरशाही, जनतंत्र और उद्योग के सर्वतोमुखीके स्थानपर अस्वास्थ्यकर तरफदार विकासके दुष्परिणाम स्वरूप उत्पन्न विसंगतियाँ, असमानताएँ, अपरूपताएँ आदि जब समाजमें परिलक्षित होने लगीथीं। इन कहानियोंका रचनाकाल उसके निकट होनेके कारण ये मनग्राही अथवा अधिक प्रभावकारी लग सकतीथीं। पर इतने ही समयके अंदर दृश्य चक्र जिस तेजीसे बदला और साथही परिवेश परिवर्तनमें जैसी तेजी और द्वन्द्वमें जो तीव्रता आयी, उसको देखते हुए यह लगभग डेढ़ दशक पुराना परिदृश्य और उसकी अपील दोनोंही फीके पड़ चुकेहैं। वास्तवमें इन कहा-

१. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-१।  
पृष्ठ : १४६; क्रा. ८३; मूल्य : २५.०० रु।



नियोंकी कथाभूमिकी अगली अवस्था यां अंगला चरण आ चुका है अत्र मूड विकृतियों आदिके साक्षात्कारसे बढ़ कर निस्तार अथवा प्रतिकारका बन चुका है।

ताजका सेल्समैन, अंग्रेजोंके नकलवाज, तरक्कीसे बने एक छोटे घटिया अफसरकी कहानी है। यह अफसर भ्रष्टभी इतना है कि उसका लगभग हर काम बोरोंके पैसे और बूतेपर होता है। अंधा कसबा आजके राजनीतिप्रस्त और विभाजित गंवई नेताओं अथवा बहुआ लोगोंके छोटे मोटे हथकंडी करतबोंकी कहानी है। 'वन अप'जुए और तिकड़मसे रईस बने और बिगड़े एक विवाहित युवकके झूठे दम्भ और कुछ अनहोनी घटनाओंकी गाथा है। 'वह आ रहा है' में एक कवि एक कथाकार और एक राजनीतिज्ञकी कमीनी हरकतोंके कथन हैं। दावतमें एक ऐसी पार्टीका लेखाजोखा है जिसमें छोटे उद्योगपति, नव रईस, एक दो छोटे अफसर और उनकी आधुनिकताकी नकलची पत्नियां भाग लेती हैं और जिसमें उन्हींके स्तरके अनुकूल सतही किस्मकी बातें और अधिक रईस बननेकी योजनाएं बनायी जाती हैं। इसी तरह 'गोलाबारी' एक छोटे अफसर और उसके मातहतोंके बीच खींचतान और साथही एक मातहतपर अफसरके कोपका किस्सा है। ये दोनोंही वातावरण बनानेवाली कहानियां हैं। अकाल एक दुर्भिक्षप्रस्त पिछड़े हुए इलाकेमें वहांके अधिकारियोंकी अकर्मण्यता और असहानुभूति-पूर्ण रवैया वृत्तांत है और 'एक और दौरा' ऐसेही इलाकेमें एक कांग्रेसी मंत्रीके दौराका बहुज्ञात बखान है। 'तनसू भाई' किसीभी गांवके छुटभैया नेताके कारनामोंका चित्र है। सब मिलकर ये नौ कहानियां लगभग डेढ़ दशक पुराने कसबों आदि और शहरोंकी तसवीर प्रस्तुत करती हैं। इनके बारेमें भूमिकाके ये शब्द सही हैं 'इन कहानियोंमें आप अपने सामने गुजरते हुए वक्तको आपने सामने देख सकेंगे, अपने समयकी बहुत-ही गठिन सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक स्थितिसे स्वरूप हो सकेंगे।'।

प्यासी रेत और किस्सा तोता मैना अंदाज और वेदमें इनसे अलग जरूर हैं पर कहानीकी शैलीका बड़ातक सम्बन्ध है इन्हीं जैसा है। प्यासी रेत एक बड़े हुए शराबी पहलवान छोटे लाल और उसके नये पूड़े चेले रामूकी शराबके लिए एक रातके 'एडवेंचर' की कहानी है। इसमें जहाँ कहानीको सार्थक बनानेके

लिए अंजूबा घटनाका संहारा लिया गया है वहीं पहलवान शराबीमें अंतरात्माका अभाव भी कुछ अजूबा लगता है। किस्सा तोता मैना उस शैलीकी किस्सागोई के प्रति बेवजह आग्रह है। उससे न तो अविवाहित युवक जाँन और न विवाहित प्रेमिका मीना किसीके साथ न्याय हो पाया है और न कहानीके प्रति ही। इस चक्करमें कहानी थुलथुली अवश्य हो गयी है।

इस सभी कहानियोंमें समय और स्थानकी अन्विति तो है पर गहराईकी कमी है। लेखक जैसे किसी वाहनमें सवार किसी प्रदेश अथवा स्थिति विशेष से गुजरता हुआ वहांका विहंगम दृश्य प्रस्तुत करता जा रहा हो, जैसे वह तटस्थ खड़ा हो। केवल 'अकाल' कहानीमें लेखक कुछ संपृक्त होनेकी मनोदशामें था तो वहाँ यह कहनेसे कि 'मैं विकास अधिकारीके पदपर जरूर था लेकिन सच कहूं इससे पहले मैंने अपने आपको इतना अशक्त महसूस नहीं किया था। लोग भूखों मरते जा रहे थे और मैं जिलाधीशसे यहभी कह नहीं सका कि आप यह क्या कर रहे हैं।' बात बननेके बजाय और बिगड़ गयी क्योंकि स्थिति यह मांग करती है कि लेखक अपनी असमर्थता बताये। यह मानना नितान्त सही न होगा कि इन कहानियोंमें वर्ग संघर्ष अथवा प्रगतिवाद अपने रूढ अर्थोंमें है और यह मानना भी नितान्त सही न होगा कि ये कहानियां हमारी संस्कृतिके अथवा मानवीय मूल्योंकी स्थापना अथवा उनके पुनरुद्धारसे ही प्रेरित हैं। वास्तवमें इन कहानियों में साक्षी बननेकी लालसा और किस्सागोई अधिक है। मानवीय रिश्तोंको परिभाषित करनेकी ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तवमें प्रायः सभी कहानियां आधुनिक कहानीके तनाव अथवा द्वन्द्व भाव से विमुक्त हैं। संकेन्द्रीयता और चरम बिंदुभी अनेक कहानियोंमें नहीं दीख पड़ते।

फिरभी ये कहानियां विवरणकी विशदता और सहलताके कारण उबाऊ नहीं प्रतीत होतीं। भाषा अवश्य निखरी और धारदार है जो लेखनकी प्रौढताकी ओर संकेत करती हैं। लेखकके चार उपन्यास और दो कहानी संग्रह पहले ही आ चुके हैं और उनमें प्राप्त कौशल इन कहानियोंमें दिखना लाजिमी है। शैलीमें व्यंग्यका पुट भी इष्ट मात्रामें है। ये रचनाएं इतने व्यंग्यके बिना खड़ीभी नहीं हो सकती थीं। लेखकमें



प्यासी रेतको ग्राह्य संग्रह बनानेके लिए आवश्यक सभी तकनीकी दृश्य हैं पर आत्माके साथ संसर्ग यथेष्ट न होनेसे ये सुग्राह्य न होसकें। हां प्रौढ़ता अवश्य एक मंजे हुए लेखककी है। □

## लघुकथा

### बिहारकी प्रतिनिधि हिन्दी लघुकथाएं?

सम्पादक : सतीशराज पुष्करणा

समीक्षक : अशोक भाटिया

हिन्दीमें लघुकथा साहित्य एक सहज आंदोलनके तहत उभरकर आया है। लघुकथाएं विशेष रूपसे हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, बिहार और राजस्थान यानी हिन्दीभाषा राज्योमें अधिक लिखी गयी हैं। राज्य-विशेषकी रचनाओंको लेकर संपादन करना एक जोखिम-भरा काम होता है। एक ओर नये-नये रचनाकारोंको सामने लानेका प्रयास उसमें रहता है, वहीं क्षेत्रीयता आनेका खतरा भी रहता है। राज्य-विशेषकी लघुकथाओंके सन्दर्भमें पहला कार्य हरियाणाको लेकर सुशील राजेशने 'अक्षरोंका विद्रोह' पुस्तकके संपादक द्वारा १९८१ में किया था। १९८७में रूप देवगुणने 'हरियाणा का लघुकथा संसार' ग्रंथके रूपमें बृहद् कार्य संपादित किया था। सतीशराज पुष्करणा ने 'बिहारकी लघुकथाएं' और अब 'बिहारकी प्रतिनिधि हिन्दी लघुकथाएं' के रूप में ऐसी ही कार्य किया है।

पुस्तकके 'संपादकीय' में लिखा है—“इसमें बिहारके प्रायः चर्चित लघुकथा-लेखकोंकी चर्चित एवं प्रतिनिधि लघुकथाओंका चुनाव मैंने किया है।” इन लघुकथाओंको संपादकने अपनी रुचिके आधारपर चुना है। इसके अतिरिक्त अप्रैल १९८८ में हुए लघुकथा सम्मेलन तथा उसपर हुई चर्चाको लेकर भी विचार रखे गये हैं, जो महत्वपूर्ण होनेपर भी पुस्तकके संदर्भमें अप्रासंगिक

लगते हैं। ऐसी बहससे व्यक्तिगत आक्षेपकी गन्ध आती है, जो लघुकथाके भविष्यके लिए उत्साहजनक नहीं है। अन्तमें अच्छी लघुकथाओंको बार-बार छापनेपर बल दिया गया है, जो निश्चयही आवश्यक है।

पुस्तकके तीन भाग हैं। पहले भागमें सक्रिय ४३ लेखकोंकी ७४ लघुकथाएं दी गयी हैं। इनमें कुछ चर्चित लेखकोंके साथही कुछ कम सक्रिय लेखकोंकी रचनाएं भी विषय व प्रस्तुतिके कारण आश्वस्त करती हैं। सत्यनारायण नाटकी 'अपना देश' में भिखारीसे पूछनेपर कि घाव पर मरहम क्यों नहीं लगाते, उसका कथन है—“बाबूजी? घाव तो सारे शरीरमें है, मरहम कहाँ-कहाँ लगाऊँ?” पारंपरिक दृष्टिसे रचना प्रभावक न सही, किन्तु व्यापक शीर्षक उक्त कथनके साथ मिलकर आंखें खोलता है। डॉ. संतोष दीक्षितकी 'उत्तराधिकारी' नारीकी गृह प्रबन्ध क्षमता तथा उसके बिना पुष्पके लड़खड़ानेकी गाथाको कुशलतासे कहती हुई भारतीय संस्कृतिके उजले पहलूको उजागर करती है। वरिष्ठ लेखक रामनारायण उपाध्याय 'संघर्ष' में छिपकली व चींटियोंके माध्यमसे दीखनेमें कमजोर वर्गकी संघर्ष क्षमताको उद्घाटित करते हैं। मार्टिन जॉन अजनबीकी 'मुर्गी' और तारिक असलम 'तस्नीम' की 'सिर उठाते तिनके' में परिवर्तनकी आकांक्षा और छटपटाहट है, किन्तु 'मुर्गी' में यह बात सहज और कलात्मक ढंगसे रेखांकित हुई है, जबकि 'सिर उठाते तिनके' में अन्त अस्वाभाविक लगता है। सिन्हा बीरेन्द्रकी 'पुरानी चादर' प्राचीन मूल्योंकी पक्षधर सशक्त प्रतीकात्मक रचना है। भगवती प्रसाद द्विवेदीकी 'पड़ोसी' रचना पड़ोसियोंकी स्वार्थ भावना और दिखावटी सहानुभूतिको दिखाते हुए वर्तमान व्यवस्थामें ऐसे लोगोंकी मानसिकता को झकझोरती है। यथार्थ-चित्रणके जरिए यह रचना पाठकके मनमें उतर जाती है। डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी की 'प्रश्न प्रसंग' संवाद शैलीमें लिखी खूबसूरत रचनाका उदाहरण है। पतिकी मृत्युके बाद तीन बच्चोंके बारेमें जब पूछा जाता है, तो वह कहती है—“अजी बाबूजी, वे नहीं हैं तो क्या, मैं तो जिन्दा हूँ।” जीनेकी अदम्य सहज लालसा और जीवनकी राहोंपर पाठकको सोचनेके लिए यह आधार देती है। सतीशराज पुष्करणाकी 'विश्वास' में पतिके प्रति पत्नीके अखण्ड विश्वासको दिखाकर पति द्वारा लंबे समयसे बीमार पड़ी पत्नीको जहर देने वाले पतिकी हीनताको कुशलतासे दिखाया गया है।

१. प्रका. : विवेकानन्द प्रकाशन, महेन्द्रू, पटना-८००-

००६। पृष्ठ : १०६; डिमा. ८६; मूल्य : २५.००

रु.।



बांद मुंगेरीकी 'पहचान' सहज संवादों द्वारा साम्प्रदायिकताकी घुन्घपर सूर्यकी किरणें बिखेरनेवाली रचना है। अंकुशकी रचना 'भाग्यसे' भी सहजताके कारण प्रभावित करती है।

शेष रचनाएं सामान्य हैं या सामान्य कमजोरियोंसे युक्त हैं। एक तो महंगाई, भ्रष्टाचारको या कपोत-कपोतीको या नींवकी ईंटको पात्र बनाकर उनपर अतिरिक्त विश्वास करके प्रस्तुत किया जाना रचनात्मकताके लिए घातक है। कुछ लघुकथाएं सतही यथार्थको स्पर्श करके सन्तुष्ट हो गयी हैं, जबकि कुछका उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाया। रेडीमेड यथार्थवाली लघुकथाएं इन प्रतिनिधि लघुकथाओंमें भी शामिल हैं।

दूसरे भागमें बिहारकी नौ धरोहर लघुकथाएं प्रस्तुत की गयी हैं। इनमें जानकीवल्लभ शास्त्रीकी रचना 'पंडितजी' रुढ़ धारणाओंको सहज ढंगसे खंडित करती है। बुद्धिहीन ब्राह्मण और जगमोहन नाईकी मानसिकताको इस ढंगसे उभारा गया है कि पंडितजीकी कलाई खुल जाती है। इनके अतिरिक्त भवभूति मिश्र

और रामवृक्ष बेनीपुरीकी भी स्मरणीय लघुकथाएं दी गयी हैं।

तीसरे भागमें संपादक द्वारा लिखित 'लघुकथा : समस्याएं एवं समाधान' लेख है। वास्तवमें इस लेख में विचार बहुत कम हैं, प्रतिक्रियाएं और आक्रोश अधिक है। लेखमें लघुकथाके व्युत्पत्तिपरक अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयास किया गया है। लेखकका मत है कि किसी विचार या परिभाषाको गलत या सही सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। इस लेखमें कुछ विचार ऐसे भी हैं, जो पटना लघुकथा सम्मेलनमें अन्य प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा कहे जा चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक बिहारके चर्चित लघुकथा लेखकोंका प्रतिनिधित्व करती हैं। धरोहरके रूपमें दीगयी लघुकथाओंमें से कुछ अपनी उदात्तता और मानवीय पहचानके कारण लघुकथाके स्वस्थ और बेहतर स्वरूपकी ओर संकेत करती हैं। कुछ कमजोरियोंके बावजूद संकलनकी लघुकथाएं पठनीय हैं। □

## काव्य

### चौखटका दूसरा हिस्सा?

कवि : अश्विनी पाराशर

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

अश्विनी पाराशरकी उन्तीस कविताओंका यह संकलन कविके अपने देश-काल और व्यक्तिसे जुड़े संसारको शब्दोंका आकार प्रदान करता है। संकलनकी कविताएं निराकार सामयिकताके मकड़जालोंको फाँदकर, व्यक्तिको बाहर लाती हैं। एक ऐसे व्यक्तिको जो रचनात्मकताको जीवन मानकर उसे बरत रहा होता है।

१. प्रका. : दीर्घा साहित्य संस्थान, २५ बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७। पृष्ठ : ६५; डिमा. ८६; मूल्य : ४०.०० रु.।

इसी बरतावमें वह तमाम व्यवधानोंको बरजता रहता होता है। संकलनकी कविताएं किसी विशेष राजनीतिक प्रतिबद्धता या सामाजिक पूर्वाग्रहोंको न अपनाकर आंखों देखी निचट स्थितियोंका रूपांकन करती हैं। इस निचट सपाट और एकरस-नीरस शोरमें, गुण्डई-दहशत, भय और शंकामें भी एक आवाज है जो अपनी अस्मिता की खोजको नहीं छोड़ती। जंगल, इतिहास, गिद्ध, पेड़, घास, नागफनी, बंजर जमीन व दीपककी लौके प्रतीकों के दर्पणोंमें उसने अपने समयका सच प्रतिबिम्बित करना चाहा है।

'अपराधबोध' संग्रहकी 'सशक्त कविता' है। कवितामें दहशतसे हुई मृत्युकी बयानी है। आत्म-अपराधके स्वीकारके साथ अपने लिए अपने आप सजाकी व्यवस्था निर्धारित करती मनःस्थितिका इस कवितामें



डर समाया है। अपने ही बच्चे की हत्या का अपराध अपने ऊपर लेने की स्वीकृति से उत्पन्न डर। कविता घटना की तरह हमारे भीतर घटती जाती है और पाठक के भीतर अस्तित्वमान 'पिता', इस लोमहर्षक त्रासदी में भागीदार होता जाता है।

"कितना त्रासदायी होता है/एक पिता के लिए/अपने पुत्र की हत्या की साजिश में/शामिल होना/और इससे भी अधिक त्रासद होता है/इसका अहसास?"

कविता इस त्रासद-अहसास को उग्र रूप में प्रस्तुत करती है। वैयक्तिक त्रास के साथ ही संग्रह की कविताओं में एक देश-घर की परिकल्पना भी है जिसकी चौखट से बाहर निकलकर हम, अपने 'स्व' से परे एक वस्तुनिष्ठ दुनिया में प्रवेश करते हैं। अब्दुल रशीद ने इस चौखट के एक हिस्से को आंगन में गाड़कर घर का विभाजन कर दिया था। यों चौखट, दरवाजों को जड़ने लायक तो नहीं ही रह गयी थी, तिसपर उसके बचे हुए हिस्से में—

दीमक नहीं आदमी चढ़े बैठे हैं/हाथ में रम्दा लिये तैयार आदमी/चौखट अब कुर्सी का हत्था बनती जा रही है।

यों 'चौखट का दूसरा हिस्सा' विघटन के कगार पर खड़े देश की स्थितिका चित्र बनता गया है।

'जिन्दा आदमी की तलाश' संग्रह की लम्बी कविता है। यह कविता हमें उस निर्मम दुनिया में ले जाती है जो खड़ आपाधापियों ने हमें दी है। उसमें हमारे साथ जो व्यवहार होता है उसमें 'व्यक्ति' की संभावनाओं के विकास के सारे दरवाजे बन्द रहते हैं और मुक्तिबोध के शब्दों में वह 'भूतों की शादी में कनातों से तनने' के लिए विवश होता है। कनात तने आदमी के जीवन-मृत भावना-जगत् की ऊसर-वीरानी ने इस कविता के कथ्य को सिरजा है। इस ऊसर में मानवीय कुछ भी नहीं है। कविता में एक आग है जिसमें वस्तियां झुलस रही हैं। झुलसी हुई हैं। कुछ लोग उसमें जल रहे हैं। जलते जा रहे हैं। अमानवीय यह कि तमाम लोग उसे सेकने में लगे हुए हैं। ज्यादातर लोग उस आग को सह रहे हैं। कविको तलाश उन आदमियों की है जो उस आग के विरुद्ध खड़े होने का साहस जुटायें। हमारी व्यवस्था के पास और सब विकल्प है परन्तु इस बर्बर आग के विरुद्ध भीड़ को इकट्ठा करने का कोई विकल्प नहीं। इस बिडम्बनाने सारे दृश्यों को धुंधलक में और यथार्थ को एक क्रूर शरारत में बदल दिया है जिससे लगने लगा है कि—

'प्रकर'—जून ६०—४२

यह मकान नहीं/पूरी विसात है शतरंज की/और यह सारा खेल/फर्जी की शहपर प्यादों के सहारे चलता है/वही पिटवाती है मोहरे/लकड़ी के घोड़े पर सवार/दौड़ता है इधर-से-उधर/आदमी के खून से बेखबर/ × × और गांव के गांव उबले पड़ रहे हैं शहर में/इसकी गठरी में बंधा हुआ है/झोपड़ियों, झुगियों की झुलसका धुआँ/बैवसी और लाचारी का कुआं हैं ये लोग।

यह कविता समाज, देश, परिवेश, व्यवस्था से जुड़े समसामायिक दृश्यों का एक बड़ा-सा कोलॉज है। इसे देखना, आज के समय की खराब खबर से वाकिफ होना जैसा है। इसे खण्डों-खण्डों में एक-दो-तीन शीर्षकों के साथ लिखा गया है। अंकों के सीरियलों से कविता का विस्तार करना शिल्प की कमजोरी का सूचक तो है परन्तु कविता के शब्द-शब्द पर पैरों के खोज छोड़ती हुई एक लीक निर्मित होती जा रही है। यह वह लीक है जिस पर चलकर दहशत हमारे घर पहुंचना चाहती है। यों कसाव की कसर पूरी होती गयी है। कविता मोह-भंग से शुरू होती है और हमें मोह से जोड़ने का प्रयत्न करती है।

मूल्य के बिखराव से उत्पन्न बोध की तीखी प्रतीति कविताओं से होती है। कविताओं में गांव हैं तो मध्य युग की नियतियों में ठहरे हुए शहरों की आधुनिकता है तो तोड़-फोड़ और आगजनी का शिकार होती हुई, कृषक के परिश्रम की फलाप्ति है परन्तु घर के दीपक की रोशनी बनने में अशक्त, सींचने के लिए पानी छोड़ा गया है तो वह दरारों को भरने में ही रिक्त हो गया है। यों सामाजिक जीवन की दुर्निर्वार बिडम्बनाओं ने मिलकर कठोर यथार्थ का निर्मित किया हुआ है।

सामयिक यथार्थ के दृश्यों से कविने संभावित भविष्य के दृश्यों का पूर्वानुमान किया है। यह भविष्य एक भौंड़े-प्रहसन की सृष्टि करता हुआ प्रतीत होता है। आक्सीजन की विरलता, धूप का अकाल, मकानों के गगन-चुम्बन की अश्लील हरकतों से जीवन की क्रम-विन्यस्तता आदि से कविता के भविष्य का दुःस्वप्न से भरजाने की संभावनाएं मनुष्य जीवन के दुःस्वप्नों की ही संभावनाएं हैं।

समय और कविता के जटिलतर होते जाते सम्बन्धों का ग्राफ है यह संकलन है। □



## जीनेके लिए?

कवि : महेन्द्र भटनागर

समीक्षक : डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

महाकवि दिनकरके अनुसार सरस्वतीकी जवानी कविता और बुढ़ापा दर्शन होता है। अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि अधिकतर वयोवृद्ध कवि कविताकी जगह दर्शन परोसते दिखायी देते हैं। जो समझदार होते हैं वे अपना जाल समेट लेते हैं। कई एक आदतन कविता घसीटते रहते हैं जबकि उनमें कविताके लिए वांछित संवेदनशीलता क्रमशः विरल होती चली जाती है। किन्तु महेन्द्र भटनागरके नये संग्रह 'जीनेके लिए' को देखकर ऐसा नहीं लगता कि कविता उनके हाथसे छूट रही है या संवेदनशीलता उनका साथ छोड़ गयी है। उन्नीस सौ सतहत्तरसे उन्नीस सौ छियासीके बीच रची गयी ये कविताएं विचार, संवेदना और युगबोध आदि स्तरोंपर आश्रय करती हैं। उनकी जनकल्याण वाणी इसमें अपने पूर्व परिचित रूपमें विद्यमान है।

'जीनेके लिए'में छोटी-बड़ी ४० कविताएं संकलित हैं। ये कविताएं मुख्यतः तीन प्रकारकी हैं। पहली प्रकारकी कविताएं दलितों-मेहनतशोसे संबंधित हैं और इनका केन्द्रीय स्वर है : 'हो सदा-सदाको दूर/ विपत्ता/ जागे दलितोंमें/ अपराजित अद्भुत क्षमता।' (पृ. ३४)। मंत्र, 'विजय-विश्वास', 'दग्धिनारायण', 'इतिहास स्रष्टाओं' आदि कविताएं इसी ढंगकी हैं। इन कविताओंमें वैचारिक आवेग प्रबल है। 'आग्रह' कवितामें शोषकोंको सावधान किया गया है कि अधिक मजबूर किये जानेपर शोषित जानवर बन सकता है। कविकी कविता मुख्यतः शोषितों-पीड़ितोंकी पीड़ाका भाष्य करनेवाली है। महेन्द्र भटनागरने 'कविता-प्रार्थना' में कविताकी रचनात्मक भूमिकाका उल्लेख करते हुए उसे अन्याय-अत्याचारके विरोधका सशक्त माध्यम करार दिया है : 'आदमीको आदमीसे जोड़नेवाली/ क्रूर हिंसक भावनाओंकी उमड़ती आँधियोंको / मोड़नेवाली/ इनके प्रखर अंधे वेगको/ आवेगको / बढ़ / तोड़नेवाली / सबल

कविता/ ऋचा है।' (पृ. ६)। शोषण विरोधी उपर्युक्त कविताओंमें कविकी यह मानसिकता कोई दबी-ढंकी नहीं है। दूसरे प्रकारकी कविताओंमें आजके आतंकवादको खारिज किया गया है। 'आतंकके घेरेमें', 'धर्मयज्ञ', 'आरजू', 'सन् १९८६ ई.', 'अग्निपरीक्षा' सरीखी कविताओंमें धर्म और सम्प्रदायके नामपर मनुष्योंको वाँटने और दूसरे सम्प्रदायके लोगोंकी हत्या करनेको बहुत चिन्ताकी दृष्टिसे देखा गया है। यह आशा की गयी है कि इक्कीसवीं सदीतक सभी तथाकथित धर्मों के स्थानपर एक महान् मानव धर्म प्रतिष्ठित हो लेगा— 'इक्कीसवीं' सदीका/ महान् मानव-धर्म/ प्रतिष्ठित हो/ अन्य लोगोंमें पहुंचनेके पूर्व/ मानवकी पहचान/ सुनिश्चित हो ! (पृ. २६)

तीसरे प्रकारकी रचनाएं वस्तुतः कविकी वे आत्मानुभूतियां हैं, जो उसने उम्रकी इस 'सीढ़ीपर' अनुभवी हैं। मुक्तिबोध (१) और मुक्तिबोध (२) शीर्षक कविताओंमें सेवानिवृत्तिके बाद एक बंधनसे मुक्तिका उल्लास व्यक्त हुआ है। 'विश्लेषण' में पूरे जीवनका हिसाब लगानेकी कोशिश है कि सबकुछ गंवाया है या कुछ पायाभी है। मुक्तकोंमें अंजुरी सूनी रह जानेकी पीड़ा बहुत तीक्ष्ण रूपमें उभरी है—जी, वाह ! क्या वाहवाही मिली, / ता उम्र कोरी तबाही मिली, / दौलत बहुत दर्दकी बच रही / सच जिन्दगी भारवाही मिली। (पृ. ५७)।

'अननुभूत : अस्पृशित' जैसी कविताओंसे महेन्द्र भटनागरकी रागवृत्ति व्यक्त हुई है। यह रागात्मकता 'बुढ़भस' का प्रदर्शन न होकर बहुत संयत अभिव्यक्ति है। इस संग्रहकी सर्वोत्तम कविता 'गौरैया' है कविने इस बिडम्बनाको बखूबी व्यक्त किया है कि आधुनिक मनुष्य अपने कमरेमें गौरैयाके चित्र तो टांग सकता है, लेकिन उसके घोंसलेको कूड़ेदानमें फेंक देता है।

इन कविताओंका शिल्प बहुत सहज और सादा है। कवि अप्रस्तुतों, प्रतीकों आदिपर अधिक निर्भर नहीं है। जहाँ वे आदमीका दर्प—'दुर्वासा' (पृ. ३), 'एक-मात्र कृपण महाजनका मसखरा रोल' (पृ. ५), 'ब्रजवादी बदलियां' (पृ. १९), 'मानकी सम्मानकी रोटी' (पृ. ३०) जैसे प्रयोग हैं, वहाँभी अर्थग्रहणमें कोई असुविधा नहीं होती। भाषामें शब्दोंके प्रयोगको लेकर कोई कट्टरता नहीं है। वस्तुतः इन कविताओंमें वैचारिक आवेग प्रमुख हैं, शिल्प-संघटन गौण। ये समस्त

१. प्रका. : सर्जना प्रकाशन, ११० बलवंतनगर, ग्वालियर। डिमा. ६०; मूल्य : १०.०० रु.। (पेपरबैंक)।



कविताएं एक नये मानव-धर्मकी कल्पनासे जन्मी हैं। यह मानव-धर्म पुराने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही सगा भाई है। इस वैचारिकताकी नींवपर खड़ी कविता न केवल बहुमूल्य होती है, अपितु यह हमारी वैचारिक विरासतभी होती है। कविने स्वयं कहा है—

इस मानसिकता / से रची कविता / ऋचा है / इबादत है। □

## ब्रजकाव्य

### पारावार ब्रज कौं?

कवि : प्रकाश द्विवेदी

समीक्षक : डॉ. रामप्रसाद मिश्र

शताब्दियों तक सार्वदेशिक कविता-रानी ब्रजभाषा में आजभी प्रचुर सृजन हो रहा है, किन्तु खेद है कि महानगरोंके अनेक परकीयतावादी विद्वान् एवं पाठक उससे समुचित रूपसे परिचित नहीं हैं। बीसवीं सदीके ब्रजभाषा-कवियोंमें रत्नाकरके अतिरिक्त अन्य किसी कविको साधारण न्याय तक नहीं प्राप्त हो सका, जबकि सत्यनारायण 'कविरत्न', रामनाथ 'जोतिषी', श्यामबिहारी शर्मा 'विहारी', केशवदेव शुक्ल 'केशव', 'राजेश', 'ब्रजनन्दन', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इत्यादि कवियोंने उच्चस्तरीय सृजन किया तथा खड़ी बोलीके साथमें भी सृजन करनेवाले श्रीधर पाठक 'शंकर', 'हरिऔध', पूर्ण' इत्यादिने भी उसे सम्पन्न किया। संप्रति कम-से-कम सौ ब्रजभाषा कवि अच्छा सृजन कर रहे हैं। 'पारावार ब्रज कौं' के कवि प्रकाश द्विवेदी (१ जनवरी १९५०) उनमें अग्रणी माने जा सकते हैं। सूरदास, नंददास, परमानन्ददास, तुलसीदास, देव, भारतेन्दु, रत्नाकर, रसाल, ब्रजनन्दन इत्यादिकी महान् भ्रमरगीत-परम्परामें प्रकाश द्विवेदीभी सम्मिलित हो गये हैं। वियोगी हरि, श्यामनारायण पाण्डेय, नीरज, भारतभूषण इत्यादि कवियोंने उनकी कविताकी सरा-

हना ठीकही की है। 'पारावार ब्रज कौं' की डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित द्वारा लिखित बयासी-पृष्ठीय भूमिका शब्दव्ययपूर्ण एवं बोझिल होते हुएभी अनमोल है क्योंकि वह काव्यको सरल-सुगम प्राध्यापक-शैलीमें परत-दर-परत खोलती है। भाषाके लालित्यसे लेकर अनुभूतिकी तन्मयता एवं दर्शनकी विवृति तक 'पारावार ब्रज कौं' एक सफल कृति है। प्रत्येक छंद (घनाक्षरी या कवित्त) की अस्मिता इसे उद्धवशतकके सदृश मुक्तक-काव्य ही सिद्ध करती है।

भ्रमरगीत निवृत्तिपर प्रवृत्तिकी विजयका काव्य है। भ्रमरगीत जीवनवादका प्रतीक है। श्री प्रकाश द्विवेदीने बड़ी युक्ति एवं कलाके साथ निर्गुणकी सगुण, निराकारपर साकार, ज्ञानपर भक्ति एवं योगपर प्रेमकी वरीयताकी परम्पराका निर्वाह किया है। उन्होने भ्रमर गीतको यशोदा एवं ब्रज-जनतासे जोड़ने तथा कृष्णकी क्रांत दृष्टिका मौलिक उन्मेष करनेमें भी सफलता प्राप्त की है। निस्संदेह उनपर सूर, नंददास, देव, आलम, रत्नाकर—विशेषतः रत्नाकर—का प्रभाव स्पष्टतः दृग्गत होता है, किन्तु उनकी मौलिक दृष्टिभी आद्यत प्रसरित है। कहीं-कहीं उनका अलंकरण अतीव मनो-हारी है (जैसे कि श्लेष-वक्रोक्तिका प्रस्तुत निदर्शन स्पष्ट कर सकता है) :

“आली ! बंतरावौ तौ हमैं, हैं बनमाली कहां ?”

‘ह्वै हैं बन-बीच कहां वै गुहत बनमाल !’

‘जानति खबरि घनश्यामकी कछु तौ कहीं’

‘देखत हौ नाहि वै मौ छाए नभ मे विसाल !’

‘पूछति हौ मोहन कौ !’, ‘मोहई न जाको कछु,

सकौगी सनेह ताको का विधि ? कही सम्हाल !’

‘पांयन परति चक्रधारी कौ बतावौ, सखि !’

‘बैठि घर ह्वै है वै सनारत कलस-जाल !’

‘प्रकाश’ ने अध्यात्मको काव्यमें सम्यक् लालित्यके साथ अभिव्यक्त किया है। उनकी खड़ीबोली कवितामें भी अध्यात्मको उचित सम्मान प्रदान किया गया है। किन्तु ‘पारावार ब्रज कौं’ तो आरम्भसे ही अध्यात्मसे सराबोर है :

कबौ बनि सक्ति-ब्रह्म, प्रकृति-पुरुष कबौ,  
परमानु ह्वै कै कबौ सृष्टिको करै जो अथ ।

सिरजै सिंदूर वारी सांझ, राग वारो प्रात,

तिमिर-बह्मनको छिनमें करै है स्लथ ॥

सिंधु-गिरि, गुल्म-लता, चेतन-अचेतनको

बिरचै निरंतर, रुकै ना रचनाको रथ ।

भानु-चंद-तारन मैं ताही को ‘प्रकाश’ भरो,

कोऊ कितै खोजै, पै न पावै भेदको तौ पथ ॥ □

१. प्रकाशक : मनोरमा प्रकाशन, सेठवा, मालीपुर,  
जिला फैजाबाद-२२४१५९ । पृष्ठ : २०४; क्रा  
६०; मूल्य : ५१.०० रु. (पेपरबैक) ।



## कर्मशील : व्यक्तित्व

### तपती पगडंडियोंपर पदयात्रा?

लेखक : कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर  
समीक्षक डॉ. हरदयाल

प्रभाकरजी सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता-सेनानी, पत्रकार और साहित्यकार हैं। साहित्य और पत्रकारिता दोनों के क्षेत्र में उन्होंने अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनायी है। समीक्ष्य पुस्तक १९३३ से लेकर १९४७ तक 'विकास' के लिए किये गये उनके संघर्षकी रोचक कहानी है। १५ अगस्त १९४७ को पुनः प्रकाशित 'विकास' की प्रथम टिप्पणी में उन्होंने इस संघर्षका सारांश प्रस्तुत किया है, जिसका मुख्य अंश यहाँ उद्धृत कर देना उचित होगा—

‘अगस्त, १९३३ में समाज-सुधारकी भावनासे ‘विकास’ जन्मा और कुछही महीनोंके विचार-संघर्षमें राजनीतिक विद्रोह उसका जीवन-लक्ष्य होगया। गुलाम देशकी राजनीतिका अर्थ है आगकी सेज, और हमें खुशी है कि आगकी उस सेजपर हम खूब सोये; जमानत, जेल, तलाशियाँ, पाबन्दियाँ और जाने क्या-क्या प्रसाद-मिठाई-मेवे हमें मिले, जिनके कारण संस्थाकी आर्थिक दशा बेहद खराब होगयी। अंग्रेज कलक्टरके दबाव पर, ‘विकास’ जिसकी आंखोंका काँटा था। कर्जवालों ने संस्थाकी मिटानेका बीड़ा उठाया और उनकी डिग्रियोंमें सत्तानवे, यानी तीन कम एक सौ बार विकास प्रेसको नीलामपर चढ़ाया गया, पर वे उसे नीलाम न करा सके।

“इन नीलामोंसे संस्था हल्की हुई तो १९४२ में अंग्रेज सरकारके प्रतिनिधि कलक्टरने पहले संचालक

को नजरबन्दीमें जेल भेजा, फिर ‘डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूलस’ के अन्दर ‘विकास’ का प्रेस बन्द करा दिया और ‘विकास’ का प्रकाशन असम्भव कर दिया। यही नहीं, सेनाके लिए गेहूं भरनेके नामपर वह बंगलाभी छीन लिया गया, जिसमें प्रेस और कार्यालय था; सब सामान पुलिसकी देख-रेखमें कूड़ेकी तरह बाहरके मैदानमें फिकवा दिया गया।” लेकिन इस संघर्षमें अन्ततः विजय कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ और ‘विकास’ की हुई।

प्रभाकरजी पत्रकारितामें संयोगवश आये और फिर उसीके होकर रह गये। पत्रकारिताको उन्होंने व्यवसायके रूपमें नहीं अपनाया, अपितु एक मिशनके रूपमें अपनाया। केवल उन्होंने ही नहीं, अपितु स्वाधीनतापूर्वके तमाम पत्रकारोंने पत्रकारिताको मिशनके रूपमें अपनाया। मिशन था देशकी स्वाधीनता, और भारतीय समाजमें सुधारकर उसका स्वस्थ विकास। इस मिशनकी अभिव्यक्ति प्रभाकरजीने अपनी इस पुस्तकमें अनेक बार की है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—“बात साफ है कि ‘विकास’ हमारे लिए कोई सौदा न था, शोक न था, यज्ञ था जिसमें हम सब अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अपने सबोत्तमकी आहुति डाल रहे थे। अपनी कूट, मेरे लिए तो वह देशकी स्वतन्त्रताके लिए अपने सर्वस्व-समर्पणकी अंजलि ही तबतक बना रहा जबतक देश स्वतन्त्र हुआ। रात-दिन एकही धुन, एकही लगन, एक ही काम, न अभावोंका त्रास, न सुखोंकी प्यास, बस विकास-ही-विकास।” इस मिशनके कारणही प्रभाकर जी उस संघर्षको बिना टूटे दृढ़तापूर्वक झेल गये जिसमें कोईभी टूट सकता था। स्वतन्त्रतापूर्वकी पत्रकारिता और स्वतन्त्रताके बादकी पत्रकारिताका अन्तर, प्रभाव और प्रकृति प्रभाकरजीकी इस पुस्तकसे तुलना करने

१- प्रकाशक : भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६, चाणक्यपुरी, सदर, मेरठ-१। पृष्ठ : २३२; डिमा. ८६; मूल्य : १००.०० रु.।



पर स्पष्ट हो जाती है। स्वतन्त्रतापूर्वकी पत्रकारिता मिशन थी, स्वातन्त्र्योत्तर कालमें पत्रकारिता व्यवसाय बन गयी। पहले छोटे-से पत्रका सम्पादक भी निजी व्यक्तित्व-सम्पन्न होता था, आज बड़े-से-बड़े पत्रका सम्पादक भी व्यक्तित्वहीन होता है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने 'विकास' माध्यमसे कई मोर्चोंपर लड़ाई लड़ी। एक लड़ाई स्वाधीनता-संघर्षकी थी। इसमें उन्होंने गान्धीजीको अपने नेताके रूपमें स्वीकार किया और उनके बताये रास्तेपर चलकर अनेक कष्ट सहे, जेल गये। दूसरा संघर्ष पत्रकारिताके क्षेत्रमें था। इस संघर्षका जो विवरण प्रभाकरजीने प्रस्तुत किया है उसका हिन्दी पत्रकारिताके इतिहासमें अत्यधिक महत्त्व है। इसके माध्यमसे स्वाधीनता-संघर्ष और पत्रकारिताके क्षेत्रके अनेक स्मरणीय व्यक्ति और घटनाएं सामने आये हैं। संघर्षका तीसरा क्षेत्र सामाजिक आर्थिक और कानूनका क्षेत्र है। हमारे देशकी उपनिवेशवादी न्याय-व्यवस्था और कानून नागरिकोंको पहलेभी आतंकित करते थे, आजभी आतंकित करते हैं, क्योंकि वे इकतरफा हैं। सारे अधिकार शासन-प्रशासनके हैं और सारे सारे कर्तव्य नागरिकके हैं; लेकिन कानूनके कीड़ोंने इन्हें धता बतानेके रास्ते निकाल लिये हैं। यह बात प्रभाकरजीकी पुस्तकसे स्पष्ट है। सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रमें भी प्रभाकरजीने कटु संघर्ष झेला। इसमें उनके अनेक मित्रों और उनकी सहधर्मिणी प्रभाजीने उनका भरपूर साथ दिया। इस संघर्षमें मनुष्य दैत्य और देवता दोनों रूपोंमें सामने आये। मनुष्यके देवता-रूपके अनेक उदाहरण इस पुस्तकमें सामने आये हैं। एक उदाहरण खानबहादुर शाहनजरका है, जिनके विषयमें लेखकका कहना है— 'मैं एक ऐसे आदमीके सामने बैठा था जिसे किसीभी जलसेमें मैं खुले आम देशका गद्दार और गुलामीका अलमवरदार कह सकता था और जिसे मैं किसीभी जुलूसमें 'टोडी बच्चा हाय हाय' कहकर धिक्कार सकता था, पर मैं एक ऐसे आदमीके सामनेभी तो बैठा था जिसे किसीभी परिभाषाके अनुसार 'इंसानियतका फरिश्ता' कहा जा सकता है। ओह, आदमीको पहचानना कितना कठिन है। उसके एक रूपमें समायें कितने रूप हैं।' मनुष्यमें जब देवत्व प्रकट होता है तो न केवल मनुष्यमें हमारी आस्था दृढ़ होती है अपितु जीने का उत्साहभी जागृत होता है। प्रभाकरजीकी पुस्तक

दोनों चीजें प्रदान करती है।

प्रभाकरजी निष्ठावान् व्यक्ति तो हैं लेकिन वे अन्धमक्त किसीके नहीं रहे—न किसी नेताके न किसी दलके और न किसी विचारधारा या सिद्धान्तके। फलतः वे सत्यका साक्षात्कार करनेमें सफल रहे हैं। कांग्रेसने निष्ठावान् स्वाधीनता-सेनानियोंकी उपेक्षा की है, यह पीड़ादायक सत्य है। प्रभाकरजीने इसका साक्षात्कार किया है। उन्होंने स्वतन्त्रता-पूर्वके पूंजीपतियोंपर जो टिप्पणी की है, वह आजभी सच है— "भारत में एक तीसरा समुदायभी है जिसे आजकी बोलचालमें पूंजीपतियोंका समुदाय कहते हैं। इसकी तिजोरीमें धन है और हाथोंमें साधन। यह यदि चाहे तो भारत की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकता है और इस प्रकार अपने अस्तित्वको गौरवपूर्ण बना सकता है, पर इसमें अधिकांश भाग ऐसा है जिसे भारतसे कोई सम्बन्ध नहीं, 'खाओ-पियो, मौज उड़ाओ' ही इसका जीवनसूत्र है। विदेशोंसे आनेवाला अधिकांश माल इसीके घरमें खपता है।" उन्होंने इस बातको भी नोट किया था कि यह पूंजीपति-वर्ग अंग्रेजोंके साथभी था और स्वाधीनताके संघर्ष में लगे हुए लोगोंके साथभी था। इस वर्गका यह दुरंगापन आजभी बना हुआ है।

'तपती' 'पगडण्डियोंपर पदयात्रा' के माध्यमसे प्रभाकरजीके व्यक्तित्वकी अनेक विशेषताएं सामने आती हैं। उनकी एक विशेषता है उनकी सिद्धान्त-वादिता। एक दूसरी विशेषता है उलझनहीनता। इस सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है— "उलझन मेरा स्वभाव नहीं है, सही समयपर सही निर्णय और उसपर तुरन्त अमल मेरी कर्म-प्रक्रिया है।" उनकी सिद्धान्तवादिता और उलझनहीनताने उन्हें निर्भीकता प्रदान की। सम्मेलनके सन्दर्भमें वे ही टण्डनजीपर ऐसी टिप्पणी कर सकते थे— "आवश्यकता अच्छे कर्णधारोंकी है पर वे कौन हैं? आम पाठककी निगाह हमारे श्रेष्ठ श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डनपर जाती है, पर हमारा विश्वास है कि वर्तमान दुर्दशाके कारणभूत बहुत कुछ वे ही हैं। वे सम्मेलनके लिए अबतक जहां दैवी वरदान रहे हैं वहां हमें यह कहनेको क्षमा किया जाये कि वे शोषक अभिशापभी सिद्ध हुए हैं। उनकी शक्ति बहुत है और सम्मेलनका उनपर विशेष अधिकारभी है, पर अधिवेशनमें पहुंचकर 'अपने भक्तोंको' चुनवा देना और फिर वर्षभर उनकी खबर न लेना निश्चय



ही समर्पित नहीं होसकता।" उनके व्यक्तित्वकी जो अन्य विशेषताएं इस पुस्तकसे उभरकर सामने आयी हैं वे हैं—प्रगतिशीलता, स्पष्टवादिता, संघर्षशीलता, वाक्तावादिता, आस्थामयता, साहस, मर्मभेदी दृष्टि आदि।

प्रभाकरजी उच्चकोटिके गद्यशैलीकार भी हैं। उन्होंने ऐसा गद्य लिखा है जिसकी रफ्तार बहुत तेज है। उनका गद्य ऐसा है जो पाठकको रुककर सोचनेके लिए प्रेरित नहीं करता, अपितु अपने साथ दौड़नेके लिए विवश करता है। ऐसा रोचक और प्रवाहपूर्ण गद्य कमही लोग लिख पाते हैं। सामान्यतः उसमें वर्णन और विवरणकी प्रधानता है, लेकिन बीच-बीचमें आनेवाले अलंकरणने उसकी सुन्दरता प्रदान की है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण आदि अलंकार उसका सहज सौन्दर्य हैं। उसमें वक्ताका आवेग है; और इस आवेग में होनेवाली वाक्यों या वाक्यांशोंकी आवृत्तियां पाठकों का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रह सकतीं। जैसे—

(१) "मैं कुदकता बछेरा था, मंजर भाई शिवके भारी-भरकम नन्दी थे। मैं प्रखर था, वे मुझे प्रशस्त बनानेमें जुटे थे। मैं जलती शमांपर कूदकर जल मरनेवाले पतंगेका चारण था, वे चूल्हेमें आग जलाकर उससे अपनी उंगली बचाते हुए रोटी सेंक लेनेकी समझदारीके कायल थे।

(२) राजनीतिमें जिनकी गति है, साहित्यमें जिसका प्रवेश है, वाणीमें बल है, कलममें प्रवाह है, हृदयमें कोमल अनुभूति है, दिमाग में आगे बढ़नेकी धुन है; यह भक्तदर्शन है। वह आज प्रयाग विश्वविद्यालयमें अपनी शिक्षाकी प्यास बुझा रहा है और कल गढ़वालके जनसाधारणका प्याला जागृतिके आसवसे भर देगा, ऐसी उसके चिर निरीक्षककी भावना-आशा है।

प्रभाकरजीकी इस पुस्तकका कई दृष्टियोंसे महत्व है। साहित्यमें यह संस्मरणोंकी श्रेष्ठ रचना है। पत्रकारिता और राजनीतिक इतिहासका यह दस्तावेज है। इतिहासकी सामग्रीका यह मूल स्रोत है। अतः यह स्वागत-योग्य है। □

## एक महान् साधिकाकी कहानी?

लेखिका : वीणा गवाणकर

अनुवादिका : प्रतिमा डिके

समीक्षक : डॉ. जमनालाल बायती

प्रस्तुत पुस्तक मानव समाजके लिए समर्पित अमरीकामें जन्मी डॉ. स्कडर आयडा (१ दिसम्बर १८६६ से २४ मई १९६०) का अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद जीवन चरित्र है जो १८९० में अपनी रोगी माताको देखने-मिलने भारत आयी थीं। विश्व प्रसिद्ध चिकित्सा संस्थान, वैलूर डॉ. आयडाका निश्चयही पर्यायवाची नाम है। अशिक्षित भारतीय किस प्रकार रूढ़ीवादी बन जाते हैं, बिना विवेक या तर्कके वे उनका पालन करते हुए क्रूर बन जाते हैं, पुस्तकमें ऐसे कई स्पष्ट उदाहरण हैं। भारतीयोंका नारकीय, पीड़ित, द्रिष्ट, असहाय, उपेक्षित दुःखी जीवन देखकर डॉ. आयडाका हृदय-मन भारतवासियोंकी सेवाके लिए उमड़ पड़ा, उन्होंने जीवन भर भारतीयोंकी सेवा की, भारतीय चिकित्सा संस्थानके लिए धन राशि एवं उपकरण जुटाये और वे वहीं ब्रह्मलीन भी होगयीं।

कुमारी आयडाके चिकित्सा विज्ञानके क्षेत्रमें प्रवेश करनेके पीछेभी मानवताका एक दर्द छिपा हुआ है। अपने माता-पितासे मिलने आनेपर जब उन्होंने देखा कि तीन अल्पवयस्क माताएं प्रसव-पीड़ासे मर गयी हैं तो वे कराह उठीं तथा चिकित्सा विज्ञान पढ़नेका निश्चय किया, चिकित्सा विज्ञान पढ़कर अपनेको मानव सेवाके लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने बैलगाड़ीको आपरेशन टेबल मानकर शल्य चिकित्सा की। उनका कर्म क्षेत्र वैलूर था, जहां वे हर रोगीकी, परमात्मा मानकर सेवा करती रही थीं।

ऐसे असंख्य लोग भारत भूमिमें हो सकते हैं जो सेवा कर रहे हैं, मानवताके लिए समर्पित हैं पर अपना नाम बताना नहीं चाहते (राजस्थानसे राज्य सभाके सम्मानीय सदस्य स्वामी केशवानन्दजी भी इसी प्रकारका व्यक्तित्व है), पर वीणा गवाणकरने जैसे-तैसे तथ्य एवं सामग्री संग्रहकर डॉ. आयडाके जीवनकी

१. प्रका. : सस्ता साहित्य मण्डल, एन-७७ कनाट;  
सरकस, नयी दिल्ली-११०००७। पृष्ठ : १५६;  
क्रा. ८८; मूल्य : ८.०० रु।



कड़ियां जोड़नेका स्तुत्य प्रयास किया है । लेखिकाने यह जीवन चरित १२ कड़ियोंमें कहानी रूपमें प्रस्तुत किया है, वर्णन शैली रोचक है, जो हृदयस्पर्शी है तथा एक बार पढ़ना आरम्भ करनेके बाद पाठक पूरी ही कहानी पढ़ना चाहता है । अनुवादभी सहज स्वाभाविक

है, पुस्तक स्फूर्तिदायक एवं प्रेरणास्पद है । यदि कोई सेवाका अर्थ या परिभाषा जानना चाहे तो उन्हें इस पुस्तकका सहारा अवश्यही लेना चाहिये । संक्षेपमें, मानव जीवनका सही ध्येय समझनेमें पुस्तक सहायक होगी, ऐसी आशा है । □

## स्वर : विसंवादी.....

[पृष्ठ ४ का शेष]

नगरीय सभ्यताकी कुटिलता, राजनीतिक पारिभाषिक शब्दावलीकी दोषारोपणकी प्रवृत्ति में द्वान्तिक-वैचारिक प्रतिबद्धताके कारण पूरे समाज और वर्गको अपराधी घोषित करनेकी मनोवृत्ति, मूल जघन्य अपराधियोंका विस्मरण परन्तु जघन्य अपराधियोंके अनाचारों-अत्याचारोंसे जड़ीभूत-अवश-निरीह जनसमूहको साम्प्रदायिक पशुओंके रूपमें प्रदर्शित करना, और उनके विरुद्ध जनभावनाएं उभारकर घृणाका वातावरण बनानाही इस अंतरको स्पष्ट कर देता है । वस्तुतः भारतीय देहमें उस विदेशी आत्माको बिठाने और स्थापित करनेके प्रयत्न किये जा रहे हैं जिसमें प्रत्येक यातना, अनाचार-अत्याचार उत्पीड़न राजनीतिका अंग मात्र है ।

आधुनिक भारतीय राजनीतिका यथार्थ यह है कि सैद्धान्तिक और वैचारिक संलग्नता अनुयायियोंके अन्तःकरणमें इतनी गहराईसे जमकर बैठ गयी है कि उसके कारण वे अपने समाज, अपने परिवेशसे भी विच्छिन्न हो जाते हैं । जिन नये देवताओंका वे वरण करते हैं, उनके प्रति अपनी सम्पूर्ण निष्ठा व्यक्त करनेके लिए पूरे समाज और देशसे भी विद्रोह कर देते हैं और अपने नये देवता और अपनी नयी निष्ठाको ही देश-समाजपर लादनेका उन्माद पाल लेते हैं । इस उन्मादसे जो दिव्य दृष्टि उन्हें प्राप्त होती है उससे वे आक्रान्ता और जनपीड़कके जनरंजक और जनपालक रूपमें दर्शन करने लगते हैं और साष्टांग-दण्डवत् होकर चरणधूलि लेनेको पागल हो उठते हैं; जो इसका विरोध करते हैं उन्हें ही वे इतिहाससे अपरिचित, मूर्ख, साम्प्रदायिक कहने लगते हैं, पीढ़ियोंसे इन आक्रान्ताओं और जनपीड़कोंकी जिन जन-गाथाओं को स्मरणकर, उनके अनाचारोंकी पीड़ाओंको आजभी

तीव्रतासे अनुभव करते हैं, उन्हें वे प्रलाप घोषित करते हैं । इतिहासको वे अपनी धारणाओंके अनुकूल निर्मित कर अपनी भ्रष्ट राजनीतिक महत्वाकांक्षाओंका साधन बनानेका संकल्प किये हुए हैं । इस संकल्पकी पूर्ति वे दूरदर्शन धारावाहिक 'टीपू सुलतानकी तलवार' के माध्यमसे करना चाहते हैं । जो लोग उनकी उन्माद ग्रस्त दिव्य दृष्टि प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं उन लोगों का अपने पारिवारिक और सामूहिक अनुभवोंके आधार पर दृढ़तापूर्वक कहना है कि हैदराबादी खान (टीपूके पिता) और टीपूने कुर्ग, हैदराबाद, मालाबार, कोच्चि, तिरुवनन्तपुरम्पर आक्रमणके समय जो अत्याचार किये वे इतने जघन्य थे कि चंगेज खाँ, तैमूरलंगके अत्याचारभी उनके सामने फीके पड़ जाते हैं । कालिकट, मैसूर और पेरियापाटनाके मन्दिरोंको तोड़नेके आदेश स्वयं टीपूने दिये थे । केरल, कुर्ग, कोयंबतूर और मैसूरमें आठ हजारसे अधिक मंदिर लूटे-तोड़े गये । टीपूकी धर्माधताका उदाहरण लाखों हिन्दुओंको मुसलमान बनाना, स्त्रियोंका अपहरण, उनसे बलात्कार हत्याएं हैं । परन्तु दिव्य दृष्टि प्राप्त उन्मादग्रस्त महामहिम टीपू सुलतानको धर्मनिरपेक्ष, देशभक्त और राष्ट्रवादी घोषित करते हैं, इसी राष्ट्रवादी धर्मनिरपेक्ष देशभक्तने भारतको अपने और फ्रांसीसियोंके बीच बांटनेकी संधि की थी तथा इस उद्देश्यसे फ्रांसीसियोंको भारतपर चढ़ाईका निमन्त्रण दिया था ।

स्वाधीनता-प्राप्तिके बादसे यह मनोवृत्ति इतनी प्रबल हो गयी है और भारतीय जीवन-व्यवस्था और पद्धतिका विरोध इतना बढ़ गया है कि इस दास-वृत्ति को जड़मूलसे उखाड़नेके प्रबल प्रयत्नोंकी आवश्यकता है । □



# प्रकर

श्रावण : २०४७ [विक्रमाब्द] :: जुलाई : १९६० (ईस्वी)

*[Handwritten signature in red ink]*





## प्रस्तुत अंकके लेखक-समीक्षक

- ☐ डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, 'दीप्ति', मंगलकलश, ३६४ सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़—२०२००१.
- ☐ डॉ. कृष्णकुमार, मिश्रा गार्डन, हनुमानगढ़ी, कनखल (उ. प्र.)—२४६४ द.
- ☐ डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त, १८६/१२, आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)—२५१००१.
- ☐ डॉ. तेजपाल चौधरी, ५६ रामदास कालोनी, जलगांव (महाराष्ट्र)—४२५००२.
- ☐ डॉ. त्रिभुवननाथ वेणु, द्वारा डॉ. विवेकीराय, बड़ी बाग, गाजीपुर—२३३००१.
- ☐ डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम', अध्यक्ष स्नातकोत्तर अंग्रेजी विभाग, लालबहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर—३०२००४.
- ☐ डॉ. प्रयाग जोशी, बी-३/१३, जेल गार्डन रोड, रायबरेली—२२६००१.
- ☐ डॉ. भानुदेव शुक्ल, ४३ गौर नगर, सागर (म. प्र.)—४७०००३.
- ☐ प्रा. मधुरेश, ब्रह्मानन्द पाण्डेयका मकान, भांजी टोला, बदायूं—२४३६०१.
- ☐ प्रा. रमेश दवे, ६३/१, तुलसी नगर, भोपाल—४६२००५.
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद—४३१००५.
- ☐ डॉ. रामदेव शुक्ल, पैडलेगंज, गोरखपुर—२७३००६.
- ☐ डॉ. रामप्रसाद मिश्र, १४ सहयोग अपार्टमेंट्स, मयूर विहार-१, दिल्ली—११००६१.
- ☐ डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, पाठक भवन, बैल्वेडियर कम्पाउंड, नैनीताल—२६३००१.
- ☐ डॉ. विद्योत्तमा वर्मा, प्रवाचक, डॉ. राधाकृष्णन् उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान, बीकानेर.
- ☐ डॉ. विश्वभावन देवलिया, स-१ सरस्वती विहार, पचपेड़ी, जबलपुर—४८२००१.
- ☐ डॉ. वीरेन्द्र सिंह, ५ झ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज.)—३०२००४.
- ☐ डॉ. सन्तोषकुमार तिवारी, फुटेरा वार्ड २, दमोह (म. प्र.)—४७०६६१.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

<input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)	६.०० रु.
<input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत : ६५.०० रु.; व्यक्तिगत	५०.०० रु.
<input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता : संस्था : ७५१.०० रु.; व्यक्ति :	५०१.०० रु.
<input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) : पाकिस्तान, श्रीलंका	१२०.०० रु.
अन्य देश :	१८५.०० रु.
<input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्षके लिए) :	३१०.०० रु.
<input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.	

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.

‘प्रकर’—जुलाई’६०



**प्रकर**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ७

श्रावण : २०४७ [विक्रमाब्द]

जुलाई : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां**

मत-अभिमत	२	
स्वर : विसंवादी		
सर्वधर्म समभाव : धर्म-परिवर्तन : धर्म निरपेक्षता : साम्प्रदायिकता	३	वि. सा. विद्यालंकार
आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार		
मराठी भाषाका ऐतिहासिक स्वरूप	५	डॉ. राजमल बोरा
कोश		
संस्कृत वाङ्मय कोश—डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर	१२	डॉ. कृष्णकुमार
आलोचना : शोध		
समकालीन आलोचना—डॉ. वीरेन्द्रसिंह	१५	डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'
लेखकका समाजशास्त्र—डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त	१८	डॉ. रामदेव शुक्ल
मैथिलीशरण गुप्त : विचार और अनुभूति—डॉ. राजशेखर शर्मा	२०	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया
उपन्यास		
मृत्युंजय (कन्नड़से अनूदित)—निरंजन	२१	प्रा. मधुरेश
अब किसकी बारी है [बंगलासे अनूदित]—विमल मित्र	२४	डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त
नाटक : एकांकी		
भूगोल राजाका, खगोल राजाका—देवेन्द्र दीपक	२७	प्रा. रमेश दवे
नाटक बाल भगवान्—स्वदेश दीपक	२९	डॉ. विश्वभावन देवलिया
उजली दस्तक—सरताज नारायण माथुर	३१	डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ
हे मातृभूमि—राधाकृष्ण सहाय	३२	डॉ. भानुदेव शुक्ल
एक पर एक—डॉ. जितेन्द्र सहाय	३२	डॉ. भानुदेव शुक्ल
काव्य		
चिरविहाग—शशि तिवारी	३३	डॉ. सन्तोषकुमार तिवारी
बारिश थम चुकी है—विद्या भण्डारी	३६	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
ग्रांथों देखा हाल—अक्षय जैन	३७	डॉ. प्रयाग जोशी
गीत गरिमा—कैलाश कल्पित	३९	डॉ. रामप्रसाद मिश्र
कहानी		
बच्चे बड़े हो रहे हैं—मदन मोहन	४०	डॉ. रामदेव शुक्ल
फन—हनुमंत मनगटे	४३	डॉ. तेजपाल चौधरी
कर्मशील व्यक्तित्व		
औषड़ यात्रा—डॉ. त्रिभुवन राय	४४	डॉ. त्रिभुवननाथ वेणु
शिक्षा		
नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति—डॉ. जमनालाल बायती	४६	डॉ. विद्योत्तमा वर्मा

'प्रकर'—श्रावण २०४७—१



# मत-अभिमत

## □ स्वर : विसंवादी

आपके सम्पादकीय ध्यानसे पढ़ता हूँ। समस्याके मूलमें जानेका प्रयत्न नहीं किया जाता। देशमें केवल सिख और मुसलमान ही तो नहीं बसते, अन्य मजहबोंके लोग भी तो रहते हैं। उनके द्वारा मजहब या कौमके नामपर दंगे नहीं होते। तथाकथित मजहबी नेता अपने अपने मजहबके मानवतावादी दृष्टिकोण, सत्य, परोपकार, दया, पवित्रता, ईमानदारी आदि चारित्रिक गुण एवं समग्र भारतीयताकी दृष्टिका खुलकर प्रचार क्यों नहीं करते? पुलिस एवं सेनामें भरतीको भी मजहबी रंग और आधार देनेकी वकालत क्यों कीजाती है? भारतीय इतिहास, परम्परा, संस्कृति आदिसे अपनेको विच्छिन्न करके किस भारत और राष्ट्रीय एकताकी बात की जाती है। भारतीय जनताकी एकताको तो स्वयं सरकारही विभिन्न वर्गोंमें बाँटती है, वोट पाने के लिए अनेक प्रकारके संरक्षण, सुविधा एवं वचन देकर। मरणोपरान्त डॉ. अम्बेदकरका दलित नेताके रूपमें सरकारी सम्मान करके उनका अवमूल्यनही किया गया है।

--- सोम चैतन्य श्रीवास्तव, श्रीअरविन्द निकेतन,  
पुजारोपुट स्ट्रीट, कोरापुट (उड़ीसा)-७६४०२०.

## □ भारतका इतिहास—विकृतिकी व्यथा-कथा

भारतके इतिहासके सम्बन्धमें 'प्रकर' ज्येष्ठ-२०४७ अंकमें प्रकाशित डॉ. मायानन्द मिश्रके विचारोंसे मैं सहमत हूँ। इस प्रसंगमें उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आधुनिक भारतीय इतिहासकार, चाहे वे कितनेही महान् क्यों न हों—महानता, मान्यता एवं प्रसिद्धिके पदपर पाश्चात्य विचारोंका पोषण करके, उन्हींकी कृपा एवं अनुकम्पाके परिणाम-स्वरूप पढ़े हैं। इस तथ्यपर गहराईसे विचार करने पर लगता है कि भारतीय मनीषाने लोभ और लाभके जालमें पड़कर देश जाति-समाजके हितोंकी ही हत्या नहीं की है, गौरवपूर्ण अतीतका भी गला घोट दिया है।

'प्रकर'—जुलाई '९०—२

विगत ५ अप्रैलको ऐतिहासिक अनुसंधानकी भारतीय परिषद्के अध्यक्ष डॉ. प्रो. इरफान हबीब—जो प्रसिद्ध इतिहासविद् माने जाते हैं—ने राजीव गम्भावाले स्मारककी ओरसे "भारतमें प्रौद्योगिकी इतिहास" विषय पर बोलते हुए कहा "भारतने जो उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं की थी, उनको भी यहाँ विद्यमान बतानेकी प्रवृत्ति बहुत गलत है। इस प्रवृत्तिको हमें छोड़ना होगा कि जो यहाँ आदिम युगकी बातें प्रचलित है, उनको स्मरणातीत कालसे चली आती परम्पराओंका अंग मान लिया जाये।" उन्होंने उदाहरण देकर कहा कि भारतमें चरखा भलेही स्वदेशी आन्दोलनका प्रतीक रहा हो, परन्तु यह विदेशोंका आविष्कार है और बाहरसे आया है। हम अपने अतीतको जो "स्वर्णयुग" कहते हैं, वह भी इतिहासके विरुद्ध है। चीनी, यूनानी और रोमन नागरिकोंकी अपेक्षा हमारे देशके ज्ञानकी प्यास नगण्य थी। इसीलिए यहाँ प्रौद्योगिकी विकास नहीं हुआ। और तो और पहिया, हल और बैलगाड़ीभी इस देशमें बाहरसे आये हैं।" (आर्यजगत्, २ अप्रैल ९० अंक).

इसी प्रकारकी औरभी बहुत-सी अनर्गल बातें इतिहासविद् माने जानेवाले इन प्रो. साहबने कही हैं। इस लेखकका अनुमान है कि हबीब साहबकी यह सूझ पाश्चात्य प्रचारकोंकी देन है और उन्हें इस सूझके लिए इतिहासका 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया जाना चाहिये।

प्रो. हबीब अकेले नहीं हैं, इतिहासविदोंकी पूरी जमात उनके साथ है। सबने एकही पाठशालामें शिक्षा ग्रहण की है, जिसका नाम है—मैकाले महाविद्यालय। उनका दीक्षा-सूत्र है : गौरांग महाप्रभु सर्वशक्तिमान् एवं स्वयंभू। दो-ढाई सौ सालसे यही पाठ प्रत्येक भारतीयको रटाया जा रहा है। परिणाम यह है कि आजका शिक्षित वर्ग बौद्धिक स्तरपर विकृति और आत्मविस्मृति का शिकार है। इसका उपाय सरकार कर सकती है,

[शेष पृष्ठ ४८ पर]



## सर्वधर्म समभाव : धर्म परिवर्तन : धर्मनिरपेक्षता : साम्प्रदायिकता

इसी अंकमें अन्यत्र यह प्रश्न उठाया गया है कि "देशमें केवल सिख और मुसलमान ही नहीं बसते, अन्य मजहबों के लोग भी रहते हैं, उनके द्वारा मजहब या क्रोम के नाम पर दंगे नहीं होते।" यह कथन वस्तुतः ऐतिहासिक राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे अर्द्ध-सत्य है। 'प्रकर' में अनेक बार अनेक दृष्टिकोणोंसे इस समस्यापर विचार किया गया है, और इसी कारण पुनरावृत्ति भी बहुत हुई है। क्योंकि यह प्रश्न उठाया गया है, इसलिए इस सम्बन्धमें फिरसे कुछ लिखना उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे समस्याको एक और दृष्टिकोणसे देखनेका पुनः अवसर मिलेगा।

भारतीय इतिहासके जिस रूपने हमारी मन-बुद्धि में स्थान बनाया है, वह यह है कि इस देशकी भूमिपर निर्माण—बौद्धिक और भौतिक—की प्रक्रियाएं प्रबल रही हैं, परन्तु इस निर्माणमें आन्तरिक मतभिन्नता-असंतोष-आक्रोश-संघर्ष-विघटन और विभाजनकी प्रक्रियाएं भी कम प्रबल नहीं रहीं। आज भी ये शक्तियां सक्रिय हैं। वर्तमान भारतीय स्थितिपर विचार करनेसे पूर्व हमें अतीतके उन प्रसंगोंको ध्यानमें रखना होगा जिन्होंने वर्तमान स्थितियोंके निर्माणमें योगदान किया है। देवासुर संग्रामसे बौद्ध-विद्रोह तक ये दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ सम्पन्न होती रहीं, परन्तु साथ ही ये भारतीय चिन्तन-परम्पराको भी समृद्ध करती रहीं। शंकराचार्यके आविर्भावतक बौद्धधारा प्रबल होगयी, परन्तु एक और धारा—जैनधारा शान्त भावसे देशमें प्रवाहित होती रही, यद्यपि इस धाराके संघे उदारावके उदाहरण विरल हैं, पर अपनी आन्तरिक शक्तके आधारपर यह धारा समानान्तर रूपसे निरन्तर प्रवाहित हो रही है। साथ ही ये उल्लिखित धाराएं तथा अन्य अगणित धाराएं-पन्थ-सम्प्रदाय समानान्तर रूपसे प्रवाहित होते हुए भी समाजकी विच्छिन्नता अथवा विघटनका कारण बननेके स्थानपर एक ही मुख्य धारा

का अंग बनी रहीं, यद्यपि ये विभिन्न धाराएं धार्मिक रूप भी ग्रहण करती रहीं, फिर भी किसी एक संगठित धर्म के निर्माणकी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई, केवल पारस्परिक सम्मान और सहिष्णुताके कारण एक ही समाजका अंग बनी रहीं। इस बीच अनेक अन्य धाराएं प्रकट हुई, लुप्त हुई, और अनेक धाराएं पूर्व धाराओंमें समाहित होगयीं, किसी भी विप्लव-संघर्षका अवशेष छोड़े बिना। 'सर्वधर्म समभाव' की यह लोक भावना लम्बे समयतक हमारा 'सामाजिक धर्म' बनी रहीं।

परन्तु पश्चिमी एशियासे मुस्लिम आक्रमणोंसे स्थितिमें एकदम परिवर्तन आया। ये आक्रमण मुख्य रूपसे संकीर्ण धार्मिक एवं देशकी धन-सम्पत्तिको लूटनेके उद्देश्यसे किये गये। ये आक्रमणकारी पूरे उन्मादके साथ आक्रमणके शिकार क्षेत्रके प्रत्येक व्यक्तिको इस्लाममें दीक्षित करते थे, बहुधा तलवार के बलपर। दीक्षाका विरोध करनेवालेको जीवित नहीं रहने देते थे। दीक्षित जन इस नये धर्मका विरोध न करने पायें, इसलिए आक्रमणकारी वहां अपनी शासन-व्यवस्था करते थे और निरीक्षण चौकियोंके रूपमें मस्जिदोंका निर्माण करते थे। इस्लामसे बाहरका व्यक्ति उनके लिए काफिर था। इसलिए जब इस देशपर उन्होंने सिन्धकी ओरसे आक्रमण किया तो इस पूरे देशको ही उन्होंने हिन्द नाम दिया, इस देशके हिन्दके वासियोंको 'हिन्दू' नाम दिया क्योंकि इन वासियों का सामाजिक धर्म 'सर्वधर्म समभाव' था, इसलिए सभी धाराओं-पन्थों-सम्प्रदायों और धर्मोंको सामूहिक नाम 'हिन्दू धर्म' दिया। 'हिन्दू-धर्म' अपने आपमें कोई धर्म नहीं है क्योंकि 'हिन्दू धर्म' की और कोई परिभाषा नहीं है, सिवाय इसके हिन्दवासी हिन्दुओंका सामाजिक धर्म, धार्मिक धर्म नहीं, 'सर्वधर्म समभाव' था, और इस्लाम इसका अपवाद था। इसी कारण देशके विभाजनसे पूर्व मोहम्मद अली जिन्ना प्रायः कहा करते थे कि पाकिस्तान का जन्म उसी दिन होगया था जिस दिन 'हिन्द' का



पहला हिन्दू मुसलमान हुआ था। कारण स्पष्ट था कि कोई मुसलमान 'सर्वधर्म समभाव' स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। क्योंकि उनकी दृष्टिमें इस्लाम सर्वोच्च धर्म था, फिर वह 'हिन्दू' का शासक बन गया था। वस्तुतः धर्म-परिवर्तन—हिन्दू का मुसलमान बनना—विघटनकी प्रक्रियाका समारम्भ है और विघटनके विभाजनमें परिवर्तित होनेकी प्रक्रिया हम देख चुके हैं। अब इस देशमें जो प्रक्रिया चल रही है वह है सम्पूर्ण देशको 'मुस्लिम देश' बनाना। इससे उत्पन्न होनेवाले आक्रोश को दबानेके लिए 'हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई आपसमें सब भाई-भाई' के नारेके साथ धार्मिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक धुंधलका उत्पन्नकर 'समभाव' कीही कब्र तैयार कीजा रही है।

इस प्रक्रियाका एक सामाजिक पक्षभी है, जिसे इस देशके निवासी प्रारम्भसेही अनुभव करते आ रहे हैं कि धर्मपरिवर्तन करनेवाले इस देशके, इसी धरतीके हैं। इनके निकट अध्ययनसे देखाजा सकता है कि इनमें अन्तः और बाह्य दोनों स्तरोंपर परिवर्तन हो गया है। गत सवा हजार वर्षमें इन्हीं लोगोंकी एक विशाल सेना तैयार होगयी है जो अब विश्वास करती है यह धरती उन्हींकी है, इस धरतीपर केवल उन्हींके धर्मका, उन्हींके विश्वासोंका ही राज्य होसकता है, वे किसी पूर्ववर्ती धारामें सम्मिलित होकर 'सर्वधर्म समभाव' में विलीन नहीं होसकते। इसलिए वे पृथक् धर्मके साथ अपने लिए पृथक् कानून, पृथक् व्यवहारकी मांग करते हैं, उसके लिए संघर्ष करते हैं। इन्हें मुख्य धारामें लानेके जो प्रयास किये जाते हैं, उसका वे स्वयं तो विरोध करते ही हैं, भारतीय राजनीतिकी कांग्रेस कलचरी विचार-धारा उसका साथ देनेके लिए सदा तत्पर रहती है और सक्रिय रूपसे उनकी आकांक्षाओंको मूर्त रूप देती है। इसी मानसिकताके कारण कश्मीरके लिए संविधानमें अनुच्छेद ३७० जोड़ा गया, शाहबानोके पक्षमें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयको बदलनेके लिए संसद द्वारा कानूनमें ही संशोधन किया गया। इसी साम्प्रदायिक सहयोगको कांग्रेस कलचरमें 'धर्मनिरपेक्षता' का नाम दिया जाता है। इसी अनुच्छेद ३७० और धर्म-निरपेक्षताका 'ताण्डव नृत्य' कश्मीरमें हो रहा है। इसी प्रकारकी धर्मनिरपेक्षताका ताण्डव नृत्य सिख-प्रसादनसे निर्मित सिख-बहुल पंजाबी सूबेमें हो रहा है, दोनों स्थानों पर बलि 'सर्वधर्म समभाव' के सामाजिकोंकी चढ़ायी

जा रही है। ये बलि लेनेवाले मजहब और कौमके सदस्य इसी देशकी सन्तति हैं। जिस मजहब और कौमियतको इन वर्गोंने स्वीकारा है उन्हींके पवित्र ग्रंथों में मानवता, सत्य, परोपकार, दया, पवित्रता, ईमान-दारी आदि चारित्रिक और नैतिक गुणोंकी गाथाएं और गीत भरे पड़े हैं, वे उन्हीं रटते भी हैं और ग्रन्थोंपर हाथ रखकर उन गुणोंकी महिमाका प्रत्येक मजलिस-मजमेमें और संगतमें उद्घोषणाएं भी करते हैं, फिरभी इनमें से किन्हीं नैतिक चारित्रिक गुणोंको कश्मीर-पंजाब में मूर्त होते नहीं देखा गया। यह अवश्य है कि इन क्षेत्रोंमें आतंकवादियोंके मारे जानेपर मानवतावादी संगठन उन आतंकवादियोंपर होनेपर तथाकथित अत्याचारोंको रोकनेके लिए जागृत हो उठते हैं, परन्तु आतंकवादियों द्वारा बलि चढ़ाये गये सामाजिकोंकी हत्यापर न मानवतावादी संगठनोंकी चेतना जागृत होती है, न राज्यतन्त्रकी।

इसलिए समस्याके मूलमें जानेके लिए गत सवा हजार वर्षमें 'सर्वधर्म समभाव' के सामाजिकोंकी अत्याचार-अनाचार, विभिन्न प्रकारकी यातनाओं और पीड़ाओंको सहते जिस मानसिकताका निर्माण हुआ है, उसका अध्ययन-विश्लेषणकर उसके कारणोंके दशन करने होंगे। इन सामाजिकोंके अनेक वर्गोंने पूर्ण आत्म-समर्पणकर या तो आक्रमणकारियोंके सहयोगी रूपमें परिवर्तित होनेका साहस किया है, कुछ वर्गोंने इसे अर्थ-साधन का मार्ग मानकर आर्थिक सम्पन्नता तथा राजकीय मान-सम्मान अर्जित किया है, कुछने सामाजिक सांस्कृतिक-बौद्धिक रूपमें परिवर्तित होकर काल और युगका अतिक्रमणकर रूढ़ अर्थोंमें बिना धर्म परिवर्तन किये क्रांतिकारी दिशा ग्रहणकर अपनी आधुनिकताका परिचय दिया है। ये वर्ग इसीलिए विभिन्न सम्मोहक शब्दों, आयातित आधुनिक शब्दावलियों, तर्काभासों, व्यंग्यों और सार्वजनिक नारों द्वारा उन सामाजिक वर्गोंको दिग्भ्रमित करनेका सायास प्रयत्न करते हैं कि यदि आक्रमणकर आक्रान्त वर्गकी भूमि, पूजास्थल, मन्दिर, कीर्ति-स्तम्भपर मस्जिद या चर्च बना दिये गये हैं, आक्रमण के उन स्मारकोंको हटाकर उस स्थानपर पुनः किसी देव मन्दिरकी स्थापना साम्प्रदायिकता है। यदि कोई धार्मिक साम्प्रदाय अपने शक्ति-वैभवके दिनोंमें विजयोन्मत्त होकर आक्रमणकर किसी दूसरे सम्प्रदायके देव-स्थानपर अपना धार्मिक प्रतीक मस्जिद या गिरजा खड़ा

[शेष पृष्ठ ४८ पर]



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and Bangalore

# आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार : सीमा प्रदेशोंकी भाषाएं—

## मराठी-तेलुगु-कन्नड़

### मराठी भाषाका ऐतिहासिक स्वरूप [५. १.]

—डॉ. राजमल बोरा

१७६. मराठी भाषाको आर्य परिवारकी भाषाओंके अन्तर्गत रखा गया है। वस्तुतः दक्षिण भारतका भाग होनेपर भी महाराष्ट्रको दक्षिण भारतका भाग नहीं माना जाता। आर्य परिवारकी भाषाओंमें महाराष्ट्र दक्षिणमें है। भाषा परिवारके भेदके कारण महाराष्ट्र उत्तर भारतसे जुड़ा हुआ है।

१७७. मराठीका सम्बन्ध महाराष्ट्री प्राकृतसे बतलाया जाता है। ऐतिहासिक रूपमें मराठीको महाराष्ट्री प्राकृतका विकसित रूप मानना चाहिये। किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत और मराठीके बीचके अंतरालको जोड़ने वाले ऐतिहासिक सूत्रोंका अभीतक उद्घाटन ठीक-ठीक नहीं हुआ है। इस विषयपर खोज अपेक्षित है।

१७८. डॉ. कृष्णचन्द्र आचार्यने मार्कण्डेयके 'प्राकृत-सर्वस्वम्' ग्रंथका सम्पादन किया है। वे प्राकृत-सर्वस्वम्का रचनाकाल १५६० और १५६५ ई. के बीच मानते हैं। अर्थात् इस ग्रंथकी रचना सोलहवीं शतीमें हुई। ग्रंथ संस्कृतमें लिखा गया है किन्तु उसमें विवेचन प्राकृत भाषाओंका है। प्राकृतकी प्रायः सभी बोलियोंका उल्लेख उसमें है। एक प्रकारसे भारतवर्षकी भाषाओंका सर्वेक्षण उसमें है। यह सर्वेक्षण ग्रियर्सन और काल्डवेलसे बहुत पहलेका है। इसमें भारतवर्षकी भाषाओंका पारिवारिक भेद नहीं है। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार जैसा कोई विभाजन नहीं है। सम्पूर्ण भारतको राष्ट्रके रूपमें इकाई मानकर प्राकृत विविध भौगोलिक नामोंका उल्लेख इस ग्रंथमें है।

१७९. हमें मार्कण्डेयके भाषा सर्वेक्षणपर विचार १. प्राकृत-सर्वस्वम् (मार्कण्डेयविरचित); सम्पादक : डॉ. कृष्णचन्द्र आचार्य। प्रकाशक : प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद-९। प्रथम संस्करण १९६६, भूमिकासे, पृ. ३७।

करना चाहिये। उसने कुल सोलह भाषाओंपर विचार किया है। वर्गीकरण इस प्रकार है—

भाषा : महाराष्ट्री / शौरसेनी / प्राच्या / अवन्ती / और मागधी /—५

विभाषा : शाकारी / चाण्डाली / शावरी / आभीरी / और टाक्की /—५

अपभ्रंश : नागर / ब्राह्म / और उपनागर /—३

पैशाची : कैकयी / शौरसेनी / और पांचाली /—३

इन सोलह भाषाओंपर ही मार्कण्डेयने विचार किया है। यों तो भाषाके अन्तर्गत आठ, विभाषाके अन्तर्गत सात, अपभ्रंशके अन्तर्गत २७ तथा पैशाचीके अन्तर्गत ११—भाषाके विविध रूपोंका उल्लेख उसने किया है किन्तु उसके विवेचनका आधार प्रधान रूपसे १६ भाषाएं ही हैं। कुल २० पाद उक्त ग्रंथमें हैं। इनमें विवेचन क्रम इस प्रकार है—

प्रथमसे आठवें पाद तक : महाराष्ट्री (१), नौवां पाद : शौरसेनी (२), दसवां पाद : प्राच्या (३) ग्यारहवां पाद : अवन्ती (४) (इसीके साथ बाह्लीकीका अन्तर्भाव है); बारहवां पाद : मागधी (५) (इसीके साथ अर्धमागधीका अन्तर्भाव है), तेरहवां पाद : शाकारी (६) चौदहवां पाद : चाण्डाली (७) पंद्रहवां : शावरी (८) (इसीके अन्तर्गत औड्रीका अन्तर्भाव है) और आभीरी (९), सोलहवां पाद : टाक्की (१०), सत्रहवां पाद : नागर अपभ्रंश, (११), अठारहवां : ब्राह्म (१२), और उपनागर (१३), उन्नीसवां पाद : पैशाची-कैकयी (१४), और बीसवां पाद : शौरसेनी (१५), तथा पांचाली (१६) [पैशाचीके अन्य दो रूप]। भाषासे सम्बन्धित इन नामकरणोंमें विविधता है।

१८०. मार्कण्डेयने भाषाओंके रूपगत भेद बतलाये हैं। सूत्रात्मक शैलीमें ही सब कुछ लिखा है। अपनेसे

'प्रकर'—श्रावण'२०४७—५



पूर्वके आचार्योंका उल्लेख उसने किया है। सोलहवीं शतीमें उसने 'प्राकृत-सर्वस्वम्' लिखा किन्तु उसने अपने समयकी आधुनिक भाषाओंपर विचार नहीं किया। प्राकृत भाषापर उसने उस समय विस्तारसे लिखा है, जबकि प्राकृतके रूप प्रचलित नहीं थे। संस्कृत के ग्रंथोंमें संस्कृतके आचार्योंने उसके समयतक प्राकृत भाषाके विविध रूपोंको जिस क्रममें रखकर और जिस प्रकारसे विचार किया है, उसी क्रमको सामने रखते हुए मार्कण्डेयने प्राकृतके विवेचनको अति संक्षेपमें पूर्णता प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। बात यह है कि संस्कृत भाषा तो सारे भारतवर्षमें व्याप्त थी किन्तु देश-भेदसे प्राकृत भाषाओंके विविध रूप देशमें प्रचलित रहे। अतः संस्कृतके आचार्योंने देश-भेदके आधारपर प्राकृत के भेदोंपर समय-समयपर विचार किया है। इनमें एक-रूपता रहना संभव नहीं था। प्रयोजन-भेदसे, देश-भेद से, काल-भेदसे एवं व्यावहारिक कारणोंसे—इन भाषाओं में अंतर रहा है और इस अंतरको संस्कृतके आचार्यों ने जैसे अनुभव किया है, उसे लिखा है। एक अर्थमें प्राकृतोंके देशगत, बोलीगत नाम संस्कृत भाषाके अनु-रूप हैं। मार्कण्डेयने अपनी दृष्टिसे प्राकृतके विविध रूपोंका उल्लेखकर विषयका उपसंहार किया है। ग्रंथ का नाम "प्राकृत-सर्वस्वम्" सार्थक है। सब प्रकार की प्राकृतोंके नाम प्रायः उसमें आ गये हैं।

१८१. संस्कृत भाषाके साथ देशगत, बोलीगत नाम नहीं जुड़े हैं। प्राकृतोंके साथ ऐसे नाम मिलते हैं और ये नामकरण संस्कृतके आचार्योंके द्वारा किये गये हैं। बात इतनी है कि उन्होंने सभीको प्राकृत कहा है। 'प्राकृत-सर्वस्वम्' के अन्तर्गत सभी आ जाते हैं।

१८२. सभी प्राकृतोंमें महाराष्ट्री प्राकृतको साहित्यिक स्थान प्राप्त हुआ। उसे महत्त्वपूर्ण माना गया और राजदरबारकी भाषाके रूपमें उसका आदर हुआ है। उसीका व्याकरण विस्तारसे लिखा गया है। पश्चिममें (गुजरातमें) हेमचन्द्रने 'सिद्ध हैमशब्दानुशासन' (११४३ ई.)<sup>२</sup> की रचना की और पूर्वमें (उड़ीसा) में मार्कण्डेयने 'प्राकृत-सर्वस्वम्' (१५६०-१५६५ ई. के बीच) की रचना की। दोनोंने महाराष्ट्री प्राकृतको महत्त्वपूर्ण माना है।

२. 'देशी नाममाला' का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—  
डॉ. शिवमूर्ति शर्मा। देवनागर प्रकाशन, जयपुर।  
प्रथम संस्करण, १९८५, पृ. ३४।

'प्रकर'—जुलाई १९०—६

१८३. महाराष्ट्री प्राकृत साहित्यिक प्राकृत है। उसमें लौकिक वाङ्मय विपुल परिमाणमें लिखा गया है। प्राकृत भाषाके साहित्यकी प्रशंसा दण्डीने चौथी शताब्दीमें की है। मार्कण्डेय 'प्राकृत-सर्वस्वम्' में महाराष्ट्री प्राकृतके सम्बन्धमें लिखते समय सबसे पहले दण्डीका स्मरण करता है। काव्यादर्शकी पंक्तियां उद्धृत कर महाराष्ट्री प्राकृतकी महत्ता ज्ञापित करता है। उसने सोलह भाषाओंमें महाराष्ट्री प्राकृतको सर्वप्रथम स्थान दिया। उसका कारण बतलाते हुए वह लिखता है—

अतः षोडशधा भिन्न भाषा लक्ष्म प्रचक्ष्महे।  
वेधा विदग्धस्य शस्तत्तद्देशानुसारतः ॥ ७ ॥  
तत्र सर्वभाषोपयोगित्वात् प्रथमं महाराष्ट्रीभाषा  
अनुशिष्यते। यथाह परमाचार्यो दण्डी—

महाराष्ट्राश्रयां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्

॥ इति ॥

[काव्यादर्श १.३६]

१८४. महाराष्ट्रकी आज जो भौगोलिक सीमाएँ हैं, उसका राजनीतिक रेखांकन सबसे पहले देवगिरिके यादव राजाओंके समयमें मिलता है। अलाउद्दीन खिलजीके आक्रमणसे पूर्व यादव राजा रामचंद्र देवके समयमें—यादव राजाओंके राज्यकी जो सीमाएँ थीं उसमें आजके सम्पूर्ण महाराष्ट्रकी सीमाएँ प्रायः आ जाती हैं। उत्तरमें नर्मदा और दक्षिणमें कृष्णा और तुंगभद्रातक महाराष्ट्रका विस्तार रहा है। यादव राजाओंके समयमें मराठी भाषाने अपना साहित्यिक रूप प्राप्त कर लिया था। 'ज्ञानेश्वरी' और लीळाचरित्र जैसी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियां यादव कालकी हैं। वस्तुतः यादवोंसे पूर्व मराठी भाषाके ऐतिहासिक स्वरूपपर हमें विचार करना है।

१८५. यादवोंसे पूर्व चालुक्योंका शासन था। चालुक्योंके पूर्व राष्ट्रकूटोंका और राष्ट्रकूटोंसे पहले वाकाटकोंका शासन था। बहुत पीछे जाते हैं तो सातवाहनोंका शासन मिलता है। उससे पीछे जायें तो महाभारत तथा रामायणके कालमें जाना होगा। वह प्राकृत इतिहास है। हम सातवाहनोंसे आरंभ करें। सात-

३. प्राकृत-सर्वस्वम् [मार्कण्डेयविरचितं], सम्पादकः  
डॉ. कृष्णचन्द्र आचार्य। प्रथम पाद, पृ. सं. ६।



बाहनोंकी राजधानी पैठण [प्रतिष्ठान) नगरी रही है, जो गोदावरीके तटपर है। पैठण औरंगाबादके निकट ३३ मील दक्षिणमें है। सातवाहनोंका शासन ई. पू. २३० से आरम्भ हुआ और इस वंशने ४५० वर्षोंतक शासन किया। सातवाहनोंके समयमें इस क्षेत्रमें प्राकृत भाषा रही है। इसी प्राकृतको महाराष्ट्री प्राकृत कहा गया है। सातवाहनोंके समयसे यादवोंके समयतकके अंतरालके भाषा सम्बन्धी सूत्रोंकी खोज हमें करनी है। वह काल लगभग एक हजार वर्षोंका है।

१८६. सातवाहनोंके कालकी महाराष्ट्री प्राकृतसे यादव कालकी मराठीके आपसी सूत्रोंका पहचानना हमारा प्रयोजन है।

१८७. श्री विश्वनाथ कार्शीनाथ राजवाड़े एवं प्रो. ज्यूल ब्लॉख आदि विद्वानोंने मराठी भाषाके स्वरूपपर विचार किया है। उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृतसे मराठीका सम्बन्ध जोड़ा है।

१८८. महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषाका उत्कर्ष हुआ है। सातवाहनोंके कालसे पुलकेशिन द्वितीयके काल तक प्राकृत भाषा [ईसाकी सातवीं शती तक] यह उत्कर्ष रहा है। पुलकेशिन द्वितीयके समयसे फिर संस्कृत भाषा का महत्त्व बढ़ता गया है। सातवाहनोंके पहले संस्कृत भी और पुलकेशिन द्वितीयके बाद पुनः संस्कृत प्रबल होगी। ऐतिहासिक रूपमें प्राकृतका काल बीचका है।

१८९. मराठी भाषा ऐतिहासिक क्रममें विषय-वस्तुकी दृष्टिसे संस्कृतसे जैसे सीधे जुड़ती है, वैसे प्राकृतसे नहीं जुड़ती। ऐसा क्यों है? इसपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

१९०. बात यह है कि मराठीका भाषिक स्वरूप प्राकृत भाषासे उद्भूत प्रतीत होता है किन्तु मराठीका अपलब्ध प्राचीनतम साहित्य पारम्परिक रूपमें सीधे संस्कृत वाङ्मयसे जुड़ा हुआ है। ज्ञानेश्वरी, चक्रधर और म्हाइमट—संस्कृत जानते थे। वे प्राकृत जानते थे या नहीं? हम इसका ठीक उत्तर नहीं दे सकते। उनकी मराठीमें प्राकृतके रूप हैं, इसे हम स्वीकार कर

४. दक्षिण भारतका इतिहास—डॉ. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, अनु: डॉ. वीरेन्द्र वर्मा। बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना। तृतीय संस्करण १९८६, पृ. ७७।

सकते हैं। और यह खोजका विषय है। ज्यूल ब्लॉखने इस प्रकारकी खोज की है। ज्यूल ब्लॉखके बाद ऐसा प्रयत्न किसी औरने किया हो, वह भेरी जानकारीमें नहीं है।

१९१. ज्यूल ब्लॉखने अपनी पुस्तकमें मराठीका प्राकृतके साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए अपने विचार लिखे हैं। वह लिखता है:

“महाराष्ट्री प्राकृतका कई शताब्दियोंतक वाङ्मय भाषाके रूपमें उपयोग हुआ है। इस नाते मराठीका प्राकृतके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना ठीक होगा। इस तथ्यको स्वीकार करना चाहिये। वैयाकरणोंकी ओरसे इसकी पुष्टि हुई है। महाराष्ट्रमें काव्य भाषाके रूपमें प्राकृतका जबसे उद्भव हुआ, उसी समयसे भरत ने शौरसेनीको जो महत्ता प्रदान की थी, वह घटती गयी। छठी शतीतक दंडीने [ज्यूल ब्लॉख दंडीका समय छठी शती मानते हैं। पीछे मैंने जयशंकर त्रिपाठी के आधारपर दंडीका समय चौथी शती दिया है] महाराष्ट्रीको उत्तम प्राकृतके रूपमें स्वीकार किया और वैयाकरणोंने प्राकृत भाषाके लक्षण महाराष्ट्री प्राकृतको आधार मानकर लिखना शुरू कर दिया। हेमचंद्रकी देशी नाममालामें प्राकृत और मराठीके सम्बन्धको दर्शाने वाले उत्तम उदाहरण मिलते हैं। हेमचंद्र गुजरातमें हुआ और उसके कोषमें पाये जानेवाले बहुतसे शब्द गुजराती और मराठीसे सम्बन्ध रखनेवाले मिलते हैं।” ५

१९२ ज्यूल ब्लॉख मराठी भाषाकी भौगोलिक सीमाएं बतलाते हैं। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारतसे महाराष्ट्रका सम्पर्क ज्ञापित करते हैं। वे मानते हैं कि मराठी वस्तुतः मूल रूपमें (भौगोलिक कारणसे कहना चाहिये) द्रविड़ आधार लिये हुए है। इसीलिए वह आर्य परिवारकी अन्य भाषाओंसे भिन्न भी है। ऐसी विशेषताओंको उजागर करते हुए वे लिखते हैं:—

“मराठी स्वयं द्रविड़ मूलसे सम्बन्ध रखनेके नाते उसमें स्थानीय द्रविड़ अवशेष स्पष्ट दिखलायी देते हैं। उनमेंसे कुछ अवशेष सारे भारतवर्षमें प्राचीन कालसे सभी आधुनिक आर्य परिवारकी भाषाओंमें समान हैं।

५. मराठी भाषाका विकास, (प्रो. ब्लाक कृत)—भाषा-न्तरकार : वासुदेव गोपाल परांजपे [मराठी पुस्तक]। स्वयं लेखक द्वारा प्रकाशित। फर्ग्यूसन कॉलेज पुणेके संस्कृतके प्राध्यापक, प्रथम संस्करण १९४१, पृ. (उपोद्धातसे), ४६।



उदाहरणार्थ मूर्द्धन्य ध्वनियोंका एक नया वर्ग, ईष-त्स्पृष्ट स्पर्शोंका अभाव (देखिये LSI मुंड-दा.पृ. २८०-२९१), एक सामान्य विभक्तिका निष्पन्न होना और उसे दोनों वचनोंमें समान रूपमें शब्दयोगी अव्ययके रूप में जुड़ जाना, षष्ठीका उपयोग सम्बन्ध विशेषणके रूपमें होना—इन सबको छोड़दे तबभी मराठीमें ऐसे दो प्रकारके उच्चारण प्रचलित हैं जिसके कारण वह अन्य आर्य परिवारकी भाषाओंसे भिन्न हो जाती है और वे रूप पड़ोसकी द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें ही मिलते हैं। उनमें से एक अर्थात् कंठ मूलोद्भव स्वरों पूर्व अर्धस्पर्श तालव्योंके तालव्यत्वका लोप है। मराठी-तेलुगुमें यह प्रवृत्ति समान रूपसे मिलती है। दूसरी बात आदि 'ए' और 'ओ' दोनोंमें व्यंजन श्रुतिके लक्षण 'ये' और 'वो' के रूपमें मिलते हैं। यह प्रवृत्ति सभी द्रविड़ भाषाओंमें समान रूपसे मिलती है।<sup>६</sup>

१९३. ज्यूल ब्लाखकी पुस्तककी एक विशेषता यह भी है कि उसने मराठी शब्दोंकी व्युत्पत्ति-सूची दी है। इस सूचीको ध्यानसे देखा जाये तो उसमें मराठी शब्दोंसे साम्य रखनेवाले अन्य भारतीय भाषाओंके (हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, प्राकृत, संस्कृत, सिंधी, बंजारा आदि) शब्द भी हैं।

१९४. ज्यूल ब्लाखकी पुस्तक पढ़नेके बाद लगता है कि मराठी संस्कृतकी तुलनामें प्राकृत भाषाके अधिक निकट है। व्युत्पत्ति सूचीमें आर्य परिवारकी अन्य भाषाओंके जो समान रूप दिये गये हैं, उन्हें देखनेसे लगता है कि आधुनिक भाषाओं (मराठी, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, हिन्दी आदि) में काफी समानता है। यह समानता ध्वनिगत और रूपगत दोनों है। लगता है हमारी आधुनिक भाषाएं संस्कृतकी तुलनामें प्राकृतोंके अधिक निकट हैं।

१९५. विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े प्राकृत भाषाके सम्बन्धमें उसकी परम्पराको बतलाते हुए लिखते हैं :—

“सातवाहनोंके राज्यकालमें राज्यकर्ता प्राकृत भाषा-भाषी थे, इससे महाराष्ट्री भाषाको प्रोत्साहन मिला। प्रोत्साहनका फल इतना ही पाया जाता है कि सौ-दो-सौ महाराष्ट्री कवि सिर्फ गुनगुनाना सीखे। हाल-सातवाहनने 'गाथा-सप्तशती' में कई महाराष्ट्री

कवियोंकी रचनाओंके उद्धरण दिये हैं। काव्य छोड़दे तो शास्त्र, व्याकरण, मीमांसा, गणित, ज्योतिष जैसे गहन विषयोंपर महाराष्ट्रीमें एकभी पंक्ति नहीं लिखी गयी। वहीं गौडवहो, कर्पूरमंजरी आदि सस्ते साहित्यकी चार-पाँच बड़ी कहलानेवाली रचनाएं महाराष्ट्रीकी ग्रन्थ सम्पत्ति है, पर ये चार-पाँच रचनाएं भी तबकी है जब महाराष्ट्री अन्तिम सांसें गिन रही थी, तबकी नहीं जब वह पूर्ण यौवनमें थी। जैन-महाराष्ट्री भिन्न भाषा थी इसलिए उसके धर्म-विषयक ग्रंथोंका समावेश नहीं किया जा सकता। संस्कृत नाटकोंमें उच्च वर्गकी स्त्रियोंसे जो पद्य कहलाये गये हैं वे इतना ही दिखलाते हैं कि महाराष्ट्री भाषामें सुन्दर पद्य रचना हो सकती थी। उच्च कुलकी स्त्रियां महाराष्ट्री इसलिए व्यवहारमें लाती थीं कि भारतके प्रायः समस्त राजा महाराष्ट्रिक स्त्रियोंसे विवाह करना गौरवकी बात समझते थे—वह भी इस कारण कि उस कालमें महाराष्ट्रिक या महाराजिक जनोका वंश अत्यंत शुद्ध माना जाता था। महाराष्ट्रिकोंकी भाषाका यही विस्तार था। वाङ्मय-विपुलतामें वह भी नष्ट हो गयी। शक संवत् ५०० (५७८ ई.) के लगभग महाराष्ट्रीका पतन होना आरम्भ होगया। शक संवत् ५०० तक शिलालेख, ताम्रपट, काव्यग्रंथ प्राकृत भाषामें रचे जाते थे, चालुक्योंकी पताका फहराते ही वे संस्कृतमें लिखे जाने लगे।<sup>७</sup>

१९६. महाराष्ट्री प्राकृतका पतन क्यों हुआ? इसके कारणोंकी पूरी जाँच आवश्यक है। जो कुछ कहा गया और लिखा गया है, उससे पूर्ण संतोष नहीं होता। राजवाड़ेजी कहते हैं : प्राकृतका स्थान संस्कृतने लिया। तो संस्कृतने कौनसा स्थान लिया? वह शिलालेखोंकी भाषा होगयी, ताम्रपटोंकी भाषा हुई, काव्य-ग्रन्थोंकी भाषा हुई। किन्तु जनसाधारण-सामान्य जनता—अपने व्यवहारमें शक संवत् ५०० में ही क्या मराठी भाषाका व्यवहार करती थी? इस सम्बन्धमें राजवाड़ेजी चुप हैं। संस्कृतका स्थान प्राकृतने लिया और पुनः प्राकृतका स्थान संस्कृतने लिया। महाराष्ट्रमें संस्कृत

७. राजवाड़े लेख संग्रह : सम्पादक—तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, अनुवादक : वसन्तदेव। साहित्य अकादमी दिल्लीकी ओरसे शिवलाल अग्रवाल आगरा, द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, १९६४ ई. पृ. १४३-१४४।

६. वही, पृ. ४६ और ४७.

‘प्रकर’—जुलाई ६०—८



कभी बोलचालकी भाषा रही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। ठीक इसी प्रकार अपने उन्नत कालमें—सात-बहनोंके समयमें—भी प्राकृत भाषा, सामान्य लोगोंकी बोलचालकी भाषा रही होगी, इसमें सन्देह है। प्राकृत भाषा, राजभाषा थी, इसे हम स्वीकार करेंगे किन्तु व्यवहारमें क्या वह सामान्य लोगोंकी भाषा थी? इसकी जांच करना आवश्यक है।

१९७. महाराष्ट्री प्राकृत एकमात्र प्राकृत भाषाका वह रूप है, जिसे स्तरीय प्राकृत कहा गया, उसे वैयाकरणोंने मान्यता प्रदान की। प्राकृतका यह रूप महाराष्ट्रमें बना। प्राकृतका भौगोलिक विस्तार हुआ। इस विस्तारमें वह महाराष्ट्रमें पहुंची है। महाराष्ट्रमें ही उसे राज्य भाषाके रूपमें स्वीकृति मिली। इस स्वीकृति के कारणही वह दरबारमें आदर पाने लगी। और इसी नातेसे प्राकृतमें जो कुछ लौकिक वाङ्मय रचा गया उसे संस्कृतके आचार्योंने स्वीकार किया। संस्कृत भाषा के लौकिक वाङ्मय लिखनेवाले श्रेष्ठ कवियोंने प्राकृत भाषा—विशेष रूपसे महाराष्ट्री प्राकृत भाषा—को परम्पराके रूपमें अपनाया। संस्कृत वाङ्मयमें शृंगार रसकी जो परम्परा चली है, मुक्तक काव्योंका जो विकास हुआ है या नीतिपरक सूक्तियां लिखी गयी हैं और इसी प्रकार चरित-काव्योंकी रचनाएं हुई हैं—उन सबमें प्राकृत वाङ्मयकी छाया है। संस्कृत भाषाने प्राकृत भाषाके वाङ्मयको [महाराष्ट्री प्राकृत] अध्ययनकी सामग्री माना। उन्होंने प्राकृत ग्रंथोंके अनुवाद संस्कृतमें किये। इन अनुवादोंके कारण संस्कृत भाषा प्राकृतके निकट पहुंच गयी। एक प्रकारसे प्राकृत भाषाका संस्कृतीकरण, संस्कृतमें हुआ। प्राकृतोंके संस्कृत अनुवादको प्राकृतोंका संस्कृतीकरण कहना चाहिये। प्राकृतोंके संस्कृतीकरणके कारण लौकिक संस्कृत बलवान् हुई है। इस तथ्यको उजागर करनेकी आवश्यकता है।

१९८. अनुवाद विषयकी महत्ताके कारण होते हैं। अनुवादके कारण एक भाषाके ज्ञानका विस्तार दूसरी भाषामें होता है। मूल भाषामें तो वह ज्ञान रहता ही है किन्तु अनूदित भाषामें उस ज्ञानका हस्तान्तरण हो जानेसे दूसरी भाषा (जिसमें अनुवाद किया गया है) भी बलवान् होती है। इस प्रकारसे विचार करनेपर हमारा ध्यान इस तथ्यकी ओर भी जाता है कि प्राकृत ग्रंथोंके अनुवाद तो संस्कृतमें हुए किन्तु संस्कृत ग्रंथोंके अनुवाद प्राकृतोंमें भी हुए हों तो उस परिमाणमें नहीं

हुए जिससे कि प्राकृत भाषाएं आगे बनी रहतीं। संस्कृत भाषा जाननेवाले प्राकृत जानते थे किन्तु प्राकृत जाननेवाले संस्कृत जानते थे क्या? और जानते थे तो संस्कृतके उत्तम ग्रंथोंका अनुवाद उन्होंने प्राकृतोंमें क्यों नहीं किया? इस विषयमें जांच आवश्यक है। हम यह मानते हैं कि जिस भाषामें अनुवाद होता है, वह भाषा व्यावहारिक रूपमें जीवित है और चूंकि संस्कृतमें प्राकृत ग्रंथोंके अनुवादोंकी परम्परा निरन्तर चलती रही इसलिए प्राकृतकी तुलनामें संस्कृतको व्यावहारिक रूपमें अधिक जीवित मानना चाहिये।

१९९. संस्कृतमें जिस प्रकार शिक्षा-ग्रंथोंकी (विशेष रूपसे व्याकरण आदि) रचनाएं हुई हैं, वैसे प्राकृत भाषामें रचनाएं नहीं हुई। यही नहीं, प्राकृतके शिक्षा ग्रंथ संस्कृतमें ही रचे गये हैं। प्राकृत सीखनेके लिए संस्कृतके शिक्षा-ग्रंथ पढ़ना आवश्यक है।

२००. श्री विनायक लक्ष्मण भावेने 'महाराष्ट्र सारस्वत' की रचना १९०१ ई. में की है। बादमें उसके संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक प्रकारसे यह मराठी साहित्यका इतिहास है। इसके पृष्ठोंकी संख्या १००० से कुछ अधिक है। इस ग्रंथमें मराठी भाषाके उद्भवके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, वह प्रश्न-चिह्नोंके रूपमें ही है। उपलब्ध तथ्योंको एक क्रममें रखकर उनका सांस्कृतिक मूल्यांकन भावेजीने बड़ेही आत्मीय रूपमें किया है। मराठी भाषा के उद्भवके सम्बन्धमें श्री भावे लिखते हैं—

“उत्तर भारतसे जो लोग पहले इस ओर (महाराष्ट्रमें) आये संभवतः वे नाग लोग थे। उनकी अपनी मूल संस्कृति थी। किन्तु ये आर्योंकी भाषा एवं संस्कृति से प्रभावित थे। यहाँ आकर इन्होंने कुछ गाँव बसाये। नागोठणे / पनवेल (< पन्नग पल्ली) / नागपुर / नागांव / नागपाडा जैसे नाम इस तथ्यको आजभी सूचित करते हैं। इनकी संस्कृति यहांके श्वपचोंसे ऊँचे स्तरकी थी किन्तु आर्योंसे कुछ नीची थी। संभवतः ये लोग महाभारतके युद्धके बाद, जनमेजयके यज्ञके पश्चात् कहना चाहिये, यहां आये हों। इसके पश्चात् पाणिनिके अनंतर शक संवत्से पूर्व छठी या सातवीं शतीके आसपास राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक एवं महाराष्ट्रिक तीन संघ या लोग इस ओर आये और बादमें उन सबके सम्मिलन से यहां 'मरहट्ट' या 'मराठा' लोगोंका उद्भव हुआ।



नांगलोग वैदिक अपभ्रंश बोलतेथे और महाराष्ट्रक यहाँकी महाराष्ट्री बोलतेथे। इन दोनोंके मिश्रणसे मराठी भाषाका उद्भव हुआ। यह सब कैसे हुआ? क्या हुआ? इसके प्रमाण ठीकठीक उपलब्ध नहीं हैं।”<sup>५</sup>

२०१. श्री विनायक लक्ष्मण भावेके विचार श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़ेके विचारोंसे मिलतेहैं। वे भी नाग लोगोंके आगमनको स्वीकार करतेहैं। वे लिखतेहैं—

“महाराष्ट्रकोंका नागोंसे जब दक्षिणमें संगम, सहवास तथा सहगमन हुआ तब नागोंकी प्राचीन वैदिक आपभ्रंश तथा महाराष्ट्रकोंकी महाराष्ट्री— इन दो अपभ्रष्ट आर्यभाषाओंका सम्मिलन हुआ और वह मराठी भाषा उदित हुई जिसमें दोनोंकी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होतीहैं। मराठीमें जो ऐसे प्रयोग, प्रत्यय तथा क्रिया रूप पाये जातेहैं जो महाराष्ट्रीमें नहीं परन्तु वैदिक भाषामें है, जो संस्कृतमें नहीं परन्तु वैदिक भाषामें है, उसका कारण नागोंकी वह वैदिक अपभ्रंश भाषा है जो महाराष्ट्रीसे अधिक प्राचीन है।”<sup>६</sup>

२०२ राजवाड़ेजीके अनुसार मराठी तो सीधे वैदिक अपभ्रंशसे जुड़तीहै। उसे प्राकृतोंके माध्यमसे विकसित होनेवाले क्रमको वे पूरे रूपमें स्वीकार नहीं करते। उनके विचारोंको ध्यानसे पढ़ जायें तो लगता कि महाराष्ट्री प्राकृत—अपने उत्कर्ष कालमें—महाराष्ट्रमें बोलचाल या व्यवहारकी भाषा नहीं रही। जैसे लौकिक संस्कृत किसीभी प्रदेशकी बोली भाषा नहीं रही, ठीक उसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत भी महाराष्ट्रमें बोली भाषा नहीं रही। वह तो प्राकृतोंमें मानक भाषा (स्तरीय भाषा कहिये) थी और जिसको प्राकृत भाषाके प्रायः सभी प्रचलित रूपोंमें विशेष

८. महाराष्ट्र सारस्वत (पुरवणी सह) — विनायक लक्ष्मण भावे। पाप्युलर प्रकाशन, ३५ सी, ताड-देव रोड, मुंबई-३४। (मराठी पुस्तक) पाँचवाँ संस्करण १९६३ ई., पृ. २.

९. राजवाड़े लेख संग्रह—तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, अनुवादक : वसन्तदेव। साहित्य अकादमी दिल्ली की ओरसे शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा द्वारा प्रकाशित। प्रथम संस्करण १९६४, पृ. १४५.

‘प्रकर’—जुलाई ६०—१०

स्थान दोजानेवाली भाषा कहना चाहिये।

२०३. सच तो यह है कि सातवाहनोंके समयमें बोलचालकी भाषा मराठी रही होगी, यह अनुमान किया जा सकताहै। इस अनुमानके प्रमाणमें दो बातें स्पष्ट है। एक तो यह कि महाराष्ट्री प्राकृत बोलचालकी (बोली रूपमें प्रचलित भाषा) भाषा कभी नहीं रही। वह सदैव साहित्यिक और काव्य भाषा रही। दूसरा प्रमाण यह है कि संस्कृत भाषाभी बोली भाषा नहीं रहीहै। अतः तीसरा विकल्प हमारे सामने यही रह जाताहै कि वह मराठी भाषा रहीहोगी। चाहे उसका नामकरण उस समय न हुआ हो।

२०४. इतनी बात सत्य है कि सातवाहनोंके काल में मराठी भाषाका मूल ढांचा रहा होगा। वह बोली रूपमें होगा। उसमें दक्षिणकी भाषाके संस्कार अधिक होंगे। क्या कारण है कि पश्चिमी घाटका आधा किनारा (बम्बईसे गोवा तक) मराठी भाषासे सम्बन्धित है और ठीक उसीके समान्तर पूर्वी घाटका आधा किनारा श्रीकाकुलम, विशाखापट्टनम्से नेल्लूर-गुडुर तकका आधा किनारा तेलुगु भाषासे सम्बन्धित है। एक आर्य परिवारकी भाषा है और दूसरी द्रविड़ परिवार की। ऐसा क्यों? पश्चिमी किनारा उत्तरसे जुड़े और पूर्वी किनारा दक्षिणसे जुड़े। भाषागत भेदके कारणोंकी खोज आवश्यक है।

२०५. डॉ. बी. एच. कृष्णमूर्ति लिखते हैं :

“ई. पू. पाँचवीं शतीसे ई. के पश्चात् ५वीं शती तक (लगभग एक हजार वर्ष तक) आर्य संस्कृति तेलुगु भाषी प्रदेशमें प्राकृत एवं संस्कृत भाषाके माध्यम से प्रसार पाती रहीहै। सातवाहन कालके अभिलेखोंके आधारपर इस तथ्यको पुष्टि होतीहै। श्री के. ईश्वर-दत्तने आन्ध्रप्रदेशके सामाजिक एवं राजनीतिक इति-हासके विवरणमें यह सब बतलायाहै। बहुतसे प्रशासन सम्बन्धी नाम और विभाग सातवाहन कालके हैं— हार/आहार/रट्ट/मंडल / राष्ट्र / विषय/ राज्य/ सीमा/ भोग—जैसे रूप संस्कृत भाषासे सम्बन्धित हैं। केवल/ नाडु/ एवं/ पाडी/ स्थानीय हैं। स्थानीय रूप बादके अभिलेखोंमें मिलतेहैं। इसी प्रकार व्यक्तियोंकी तथा मन्दिरोंकी जो दान-पत्र दिये गयेहैं, उनकी भाषा भी प्रधान रूपसे अ-तेलुगु रहीहै.....”<sup>१०</sup>

१०. XI आल इंडिया कांफ्रेंस ऑफ द्रविडियन लिक्वि-स्ट्स जून ५ से ७, १९८१, सोवेनीर, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद। पृष्ठ ६-१०.



डॉ. बी. एच. कृष्णमूर्ति तेलुगु भाषाके अस्तित्व को ई. पू. १००० वर्ष तक स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से सातवाहनोंके कालमें तेलुगु भाषाके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहिये। सातवाहनोंके राज्यका विस्तार पूर्वी तटके प्रदेशोंतक तेलुगुभाषी प्रदेशपर कहना चाहिये था ? ऐसा हुए बिना सातवाहनोंकी शासकीय शब्दावली आन्ध्रदेशके स्थानोंमें कैसे मिलती ? सातवाहनोंकी राजधानी पश्चिममें थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सातवाहनोंके राज्यकी सीमाओंमें शासकीय भाषा एकही प्रकार की थी। दान-पत्रोंकी भाषा या अन्य अभिलेखोंकी भाषा महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेश दोनोंही स्थानोंपर समान थी। आन्ध्र-प्रदेशकी जनता उस समयमें यदि तेलुगु भाषा का व्यवहार करती थी तो महाराष्ट्रकी जनता मराठी भाषाका व्यवहार करती थी। मराठी-तेलुगुका अन्तर उस समयमें विशेष नहीं रहा होगा।

२०६. सातवाहनोंके राज्यकी सीमाएं हम ठीक-ठीक नहीं बता सकते। उत्तर तथा दक्षिणमें एवं पूर्व-पश्चिममें उनका विस्तार कितना था ? यह सब अभी ठीकसे ज्ञात नहीं हैं। इतनी बात सच है कि उनके शासन-कालमें राज्य-स्तरपर संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंका उपयोग होता था। उनकी राजधानी पश्चिममें थी। नागरी-प्रचारिणी पत्रिकाके संवत् २००५ वर्ष ५३, अंक ३-४ में श्री सूर्यनारायण व्यासने 'सातवाहन राजवंश'—शीर्षक लेख लिखा था। उसमें नाशिकके निकट त्रिरश्मि (त्रिरराहु) पर्वतकी तीसरी गुफामें उत्कीर्ण अभिलेखके आधारपर गौतमीपुत्र शातकर्णीके राज्यकी सीमाओंके संकेत हैं। लिखा है:—

“वह (गौतमीपुत्र शातकर्णी) हिमालय, सुमेरु और मंदर पर्वतोंके समान सारवान् था। अशिक, अश्मक, मूलक, मुराष्ट्र कुक्कुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, बाकर और अवन्तिपर उसका राज्य था। उसके राज्य में विध्य, कृक्षवान्, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मंच, श्री स्तन, मलय, महेन्द्र, श्वेतगिरि और चकोर पर्वत थे। तीन ओरसे समुद्र उसके विस्तृत राज्यकी सीमा थी, उसने क्षत्रियोंके दर्प और अभिमानको चूर कर दिया था। शक यवन और पहलवोंका उसने संहार किया था और क्षत्रराज वंशका तो उसने मूलोच्छेदही कर

दिया था...” ११

इस राजा ने ५६ वर्षतक राज्य किया [ई. पू. १४७-६१; वि. पू. ६१-३४)।” १२

२०७. सातवाहनोंमें प्रथम सिमुक था और उसके शासन कालका आरंभ ई. पू. २३१ बतलाया गया है। कुल ३० शासकोंने ई. सन् २२५ तक लगभग ४६० वर्षों तक शासन किया है। १३ यदि इन कथनोंको स्वीकार करें तब तो समस्त दक्षिण भारतपर सातवाहनों का शासन मान लिया जायेगा। अर्थात् द्रविड़ भाषा परिवारका समस्त क्षेत्र सातवाहनोंके राज्यकी सीमाओं का भाग होगा। सातवाहनोंके राज्यका शासकीय केन्द्र [राजधानी कहिये] प्रतिष्ठान [पैठण] रहा है। उत्तरमें सातवाहन राजा अवन्ती तक और पूर्वमें कलिंग की सीमाओं तक पहुंचे थे। मौर्य साम्राज्यके अनन्तर भारतवर्षमें दूसरा प्रधान राज्य सातवाहनोंका है। परम्पराके रूपमें मौर्य साम्राज्यकी अनेक विशेषताएं सातवाहनोंको प्राप्त हुई हैं। इस सम्बन्धमें इतिहास चुप है। भाषाकी दृष्टिसे प्राकृत भाषा स्वयं मौर्योंकी देन है और मौर्योंके शासन कालमें [स्वयं अशोकके भी] प्राकृत भाषाका उतना सम्मान नहीं हुआ जितना सम्मान सातवाहनोंके कालमें हुआ है। मौर्योंके राजनीतिक केन्द्र [पाटलिपुत्र] में तो प्राकृत भाषा भौगोलिक बोली रही है। महाराष्ट्रमें वह भौगोलिक बोली नहीं रही है। महाराष्ट्रमें उसे काव्यभाषा तथा दरबारकी भाषाका स्थान मिला। अभिलेखों, ताम्रपत्रों, दान-पत्रों—सभी शासकीय कार्योंमें उस भाषाका उपयोग हुआ है। समस्त दक्षिण भारतमें प्राकृत भाषाके प्रसार का कारण सातवाहनोंका साम्राज्य है।

२०८. सातवाहनोंको आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य कहा गया है। इस स्थितिको स्पष्ट करते हुए डॉ. के. ए. शास्त्री लिखते हैं:

“उन्हें [सातवाहनोंको] आन्ध्र इसलिए कहा जाता था कि वे आन्ध्र जातिके थे और जिस समय पुराण-सूचियोंका संकलन हो रहा था उस समय संभवतः उनका शासन आन्ध्रप्रदेश तक सीमित था। दूसरा नाम आन्ध्रभृत्य पड़नेका कारण यह हो सकता है कि

११. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००५, वर्ष ५३, अंक ३-४, पृ. २२२.

१२. वही, पृ. २२१.

१३. वही, पृ. २२० से २२४.



सातवाहन राजाओंके पुरखे मौर्य साम्राज्यकी सेवामें थे और इस प्रकार अशोकके बाद उक्त साम्राज्यका सौभाग्य-सूर्य अस्त हो जानेपर वे पश्चिमी दक्कनमें चले गये और वहाँ एक स्वतंत्र राज्य कायम किया।" १४

सातवाहन राजा आन्ध्रके थे, पूर्वके थे। बस गये पश्चिममें आकर और उन्होंने प्राकृत तथा संस्कृत भाषाको महत्त्व दिया। उस समयमें तेलुगु—और मराठी—दोनों भाषाओंमें ऐसी विभाजन रेखा नहीं थी। उन भाषाओंके अलगाव स्पष्ट नहीं हुए थे। तेलुगु द्रविड़ परिवारकी भाषा और मराठी आर्य परिवारकी भाषा—इस प्रकारका अलगाव बहुत बादमें हुआ।

२०६. सातवाहनोंके शासन कालमें पूर्वमें जब तेलुगु भाषाका अस्तित्व था [डॉ. बी. एच. कृष्णमूर्ति यही मानते हैं] तो पश्चिममें निश्चितही मराठी भाषा रही होगी। किन्तु दोनोंही स्थानोंपर प्राकृत भाषा एवं संस्कृत भाषामें काम-काज होता होगा। सातवाहनों का मूल केन्द्र पश्चिममें [महाराष्ट्रमें] था। यहीसे उन्होंने शासन किया। इस नाते हमें यह मानना चाहिये कि मराठी भाषाकी भौगोलिक सीमाओंका निर्धारण भलेही सातवाहनोंके कालमें न हुआ हो किन्तु उसने उस समयमें आकार ग्रहण कर लिया हो।

२१०. सातवाहनोंके बादमें दक्षिण भारतमें उनका

राज्य अलग-अलग राज्योंमें बंट गया। उत्तर पश्चिममें आभीरोंका राज्य हुआ। कृष्णा-गुंटरमें इक्ष्वाकुओंका और महाराष्ट्र तथा कुन्तलमें चुतुओंका राज्य हुआ, दक्षिण-पूर्वमें पल्लवोंका राज्य हुआ, जिनकी राजधानी कांचीपुरम् थी। ये सभी राज्य ऐतिहासिक रूपमें पहले सातवाहनोंसे जुड़े हुए थे। बादमें सातवाहनोंके पतनके बाद स्वतंत्र हो गये। और भी छोटे छोटे राज्य हैं, जिनका पूरा विवरण ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं है। अलग-अलग राज्य हो जानेसे स्थानीय भाषाओंका महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। भाषाओं का प्रचार-प्रसार राजधानियोंके माध्यमसे भी होता है। संस्कृत-प्राकृत भाषाएं सामान्य भाषाके रूपमें तथा व्यावहारिक रूपमें आदान-प्रदानकी भाषाके रूपमें अनकहे ही [विना घोषित किये ही] सब राज्योंमें प्रश्रय पाती रही हैं। सातवाहनोंके समय तक प्राकृत भाषा-समस्त दक्षिण भारतमें प्रश्रय पाती रही किन्तु बादमें धीरे-धीरे संस्कृतने उनका स्थान पुनः ले लिया। यही नहीं बादमें दक्षिण भारतकी अन्य भाषाएं भी अवसर पाकर प्रकाशमें आने लगीं। [लेखका उत्तर खण्ड आगामी अंकमें]

१४. दक्षिण भारतका इतिहास—मूल लेखक : डॉ. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, अनुवादक- डॉ. वीरेन्द्र वर्मा। तृतीय संस्करण, १९८६ पृ. ७७.

## संस्कृत साहित्य और ग्रन्थकारोंका विशाल कोश

### संस्कृत वाङ्मय कोश

लेखक-सम्पादक : डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

समीक्षक : डॉ. कृष्णकुमार

अनेक काव्यों-नाटकोंकी रचना करनेवाले डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक तथा अध्यापक हैं। 'संस्कृत वाङ्मय कोश' के लेखन-सम्पादन

१. प्रकाशक : भारतीय भाषा परिषद्, ३६-ए शेक्स-पीयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७। पृष्ठ : प्रथम खण्ड-५७३, द्वितीय खण्ड ५६०+५८; डिमा. दुगना ८८; मूल्य : ५००.०० रु.।

प्रकर—जुलाई ६०—१२

द्वारा श्री वर्णेकरने संस्कृत साहित्यका समग्र रूपसे यथार्थ परिचय एक स्थानपर एकत्रितकर संस्कृत साहित्य विशाल कोश प्रस्तुतकर दिया है, इस प्रकार संस्कृत-प्रेमियोंकी एक महती आवश्यकताकी पूरा किया है। कोश संस्कृत साहित्यकी सभी विधाओंको अपनेमें समेटे हुए है। वेद तथा वैदिक साहित्य, जैन साहित्य, दर्शन, काव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, आख्यान एवं शास्त्रीय ग्रन्थोंका तथा ग्रन्थकारोंका संक्षिप्त



परिचय इस महान् ग्रन्थके द्वारा पाठकको प्राप्त हो सकता है। 'संस्कृत वाङ्मय कोश' के प्रथम खंडका सम्पादकीय उपोद्घात बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखकने उन विषयोंका परिचय दिया है, जिनसे सम्बन्धित प्रविष्टियां इस कोशमें हैं। संक्षेपसे ये इस प्रकार हैं :

वैदिक वाङ्मय (मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आयुर्वेद, संगीत, ज्योतिर्विज्ञान, शिल्पशास्त्र, वेदांग, धर्मशास्त्र तथा सम्बन्धित साहित्य, अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शन-साहित्य, जैन-बौद्ध साहित्य, तान्त्रिक साहित्य, काव्य-शास्त्र, नाट्यशास्त्र ललित साहित्य, काव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, आख्यान, गीतिकाव्य, कोश, अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय आदि।

सर्वप्रथम २६७ पृष्ठोंमें संस्कृत वाङ्मयका समग्र रूप डॉ. वर्णेकरने प्रस्तुत कर संस्कृत जगत्का बहुत उपकार किया है। इससे पाठकको संस्कृत भाषाके प्रभाव, व्यापक प्रचार, भाषा वैज्ञानिक विशेषता, विविध-रूपता, महनीयता आदि गुणोंका बोध होनेके साथही प्राचीन कालसे अबतक उसके लेखनमें प्रयुक्त होनेवाली लिपियोंका भी ज्ञान होता है। वैदिक वाङ्मयके प्रकरण में लेखकने यूरोपीय विचारधाराकी इस मान्यताका खण्डन किया है और प्रबल युक्तियां दी हैं कि आर्य जाति ने कभी इस देशपर आक्रमण किया था और यहाँकी मूल अनाथ जातियोंको दास बनाया था।

वैदिक वाङ्मयके अन्तर्गत वैदिक संहिताओंके तथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थोंके नामोंके साथ तालिकाएं हैं, जिससे बिदित होता है कि किस शाखाका ब्राह्मण, और उपनिषद्का किस वेदसे सम्बन्ध है।

वेदांग साहित्यके परिचयमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषके विवरण हैं। कल्पके अन्तर्गत गृह्यसूत्रोंका परिचय देते हुए पंच महायज्ञोंका वर्णन है (पृष्ठ ३१)। ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ और अतिथि यज्ञ; ये पाँच महायज्ञ गृहस्थके कर्तव्य हैं। गृह्य संस्कारोंकी संख्या १३ है, जबकि प्रसिद्ध १६ संस्कारोंमें से ६ के ही नाम हैं। सूत्र ग्रन्थोंके वर्णनमें लेखकने बताया है कि धर्मशास्त्रके अन्तर्गत चार प्रकारके ग्रन्थोंको रखना चाहिये—सूत्र वाङ्मय, स्मृति साहित्य, उपस्मृति ग्रन्थ और निबन्ध ग्रन्थ।

इनका निदेश यथाक्रम है। वेदांगके अन्तर्गतही प्रातिशाख्योंका भी परिचय है। निरुक्त, प्रातिशाख्य तथा व्याकरणके मत-मतान्तर भी दिये गये हैं। छन्दाशास्त्र, संगीत, ज्योतिर्विज्ञान, आयुर्विज्ञान और शिल्पशास्त्रके ग्रन्थोंकी सूची महत्त्वपूर्ण है। शिल्पशास्त्रसे सम्बन्धित ग्रन्थोंकी नामावली (पृष्ठ ६६) राववहादुर बज्जे (महाराष्ट्र) ने १९२८ में तैयार की थी। इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इस सम्बन्धमें डॉ. वर्णेकर का कथन है :

‘हमारे आधुनिक वास्तुशास्त्रज्ञ और शिल्प शास्त्रज्ञ यदि संस्कृतका अध्ययन करेंगे तभी उनके द्वारा भारत को प्राचीन प्रगत विद्याका परिचय करानेका कार्य हो सकता है। इंजीनियर लोग संस्कृत नहीं जानते और संस्कृतज्ञ लोग इंजीनियरी नहीं जानते। इस कारण यह अवस्था निर्माण हुई है।’

पुराणोंका और रामायणका परिचय पर्याप्त विस्तारसे है। महाभारतका परिचय उससे भी अधिक विस्तृत है। इसकी पूर्वके अनुसार (१८ पर्व) कथाका वर्णन है। इसके पश्चात् इतिहास विषयक अन्य संस्कृत वाङ्मयका विवरण है।

प्रकरण ५ से ६ तक वैदिक और अवैदिक दर्शन साहित्य का परिचय जैन-बौद्ध साहित्य सहित है। प्रकरण १० में काव्यशास्त्रका और प्रकरण ११ में नाट्यशास्त्र एवं नाटक साहित्यका परिचय है। इस प्रसंगमें लेखक ने सिद्धान्तपक्षको भी प्रस्तुत किया है। तदनन्तर ललित वाङ्मयका विस्तारसे वर्णन है। इसके अन्तर्गत महाकाव्य, कथाकाव्य, चम्पू, गीतिकाव्य, दूत काव्य, स्तोत्र काव्य, सुभाषित संग्रह और कोश वाङ्मय हैं। अन्तमें अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मयका परिचय है।

प्रथम खण्डमें संस्कृत ग्रन्थकारोंका परिचय मूल्यवान् है। जिन अर्वाचीन संस्कृत लेखकोंका परिचय लेखकको मिल सका और प्राचीन साहित्यसे एवं आधुनिक सन्दर्भोंसे इनको वे जान सके, इन ग्रन्थकारोंका परिचय यथास्थान दिया गया है। इस प्रसंगमें अधिक विस्तार करना न तो सम्भव था और न वांछनीय। प्राचीन ग्रन्थकारोंके विवरण अधिक विस्तृत है। ग्रन्थकारोंकी कृतियों, समय एवं जीवनवृत्तके साथही उनके सम्बन्धमें प्रचलित दन्तकथाओंका भी उल्लेख है। उदाहरणके रूपमें कालिदास विषयक १३ दन्तकथाएं दी गयी हैं।



प्रथम खण्डके परिशिष्ट बहुत उपयोगी है। इनमें विभिन्न शास्त्रोंसे सम्बद्ध ग्रन्थोंकी सूची देकर अन्तमें सन्दर्भ ग्रन्थ सूची दीगयी है।

‘संस्कृत वाङ्मय कोश’ के द्वितीय खण्डमें ग्रन्थों का विवरण है। प्रथम ४२० पृष्ठोंमें ६००० से अधिक संस्कृत ग्रन्थोंका परिचय दिया गया है। संस्कृत ग्रन्थों को वर्णानुक्रमसे लिया गया है। लेखकने इन ग्रन्थोंके अन्तरंगका दर्शन कराया है तथा उनके विचार-प्रवाहों और सिद्धान्तोंका संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

द्वितीय खण्डके परिशिष्टभी उपयोगी और ज्ञान-वर्धक हैं। इनमें २७० ऐसे ग्रन्थोंकी सूची है, जिनके रचयिताओंके नाम अज्ञात हैं। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं, जिनके नाम मात्र ही मिलते हैं। कुछ ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियां भी उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थोंकी विषय-वस्तुका संकेत किया गया है।

लेखकने स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्यका विशद परिचय अकारादि वर्णक्रमसे दिया है। दो परिशिष्टोंमें ग्रन्थ और ग्रंथकार शीर्षकसे भारतके १६ प्रदेशोंके विभाजनके अनुसार इसको लिखा गया है। इसमें ७०० से अधिक ग्रंथों तथा ग्रंथकारोंके नाम परिचय सहित हैं। डॉ. वर्णेकरने देशभक्तिनिष्ठ साहित्यकी एक सूची अलगसे बनायी है, जो उनकी प्रबल देशभक्तिको सूचित करती हैं।

संस्कृत लेखकोंको आश्रय देकर साहित्यकी रचना और प्रसारको प्रोत्साहित करनेवाले आश्रयदाताओं और उनके आश्रितोंकी सूचनाको विद्वान् लेखकने एक स्थानपर एकत्रित किया है। इसके साथही श्री आत्माराम विरचित वाङ्मय कोश (पद्यबद्ध) भी दिया है। इन्हीं परिशिष्टोंमें विभिन्न विषयक साहित्य—साहित्य शास्त्र, ललित वाङ्मय, नाट्य वाङ्मय, सुभाषित, कोश आदि ग्रंथोंकी सूची है।

अन्तमें लेखकने संस्कृत वाङ्मय प्रश्नोत्तरीमें १२०० संस्कृत वाङ्मय विषयक प्रश्न तथा उनके उत्तर दिये हैं। प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी संस्कृत छात्रोंके सामान्य ज्ञानकी वृद्धिमें सहायक है।

प्रस्तुत संस्कृत वाङ्मय कोश विस्तृत, ज्ञानवर्धक है तथा संस्कृत साहित्यकी सम्पूर्ण झलकको प्रस्तुत करता है। संस्कृत साहित्यके इतिहास सम्बन्धी ग्रंथोंमें इस विषयसे सम्बन्धित, सारी सामग्री यद्यपि उपलब्ध हो जाती है, तथापि यह सारा ज्ञान विभिन्न ग्रंथोंमें

बिखरा हुआ है। उसको एक स्थानपर एकत्रित करना और सुव्यवस्थित रूपसे सम्पादन करना डॉ. वर्णेकर की प्रतिभा और परिश्रमसे ही होसका है। उन्होंने समयकी आवश्यकताको पूरा कर एक महनीय कार्य किया है।

ग्रंथके महनीय होनेपर भी अति विशाल कार्य होनेके कारण कुछ कमियोंका रह जाना स्वाभाविक है, इसकी पूर्ति अगले संस्करणमें कीजा सकती है। संकेत रूपसे निर्देश करना उचित होगा :

कुछ अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंके रचयिता एवं ग्रंथ इस कोशमें प्रविष्ट नहीं पा सके हैं। उदाहरण के लिए केदारखण्ड पुराण, मानसखण्ड पुराण, हिमवन्त पुराण आदि हैं, जो मध्ययुगमें क्रमशः गढ़वाल, कुमायूं और नेपाल क्षेत्रको लेकर लिखे गये थे। ‘निबन्ध रत्नाकर’ और ‘राजनीतिरत्नाकर’ नाम के अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका भी विवरण नहीं है अन्य भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोंके नाम छूट गये हैं।

अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मयके प्रस्तुतीकरणमें डॉ. वर्णेकरने बहुत प्रयास किया है। हैभी यह कार्य अति कठिन। सम्पूर्ण साहित्य-सृजनको प्रस्तुत करना शायद सम्भव भी न होता। तथापि अनेक लेखकों और उनकी कृतियोंके नाम ऐसे हैं, जो सुप्रतिष्ठित, समादृत और सुपठित हैं। जैसे अलीगढ़के परमानन्द शास्त्री, ज्ञानपुरके कपिलदेव द्विवेदी, खुर्जाके ब्रह्मानन्द शुक्ल, मेरठके श्री निवास शास्त्री, दिल्लीके रसिकविहारी जोशी, मेरठ के प्रभुदत्त स्वामी आदि। इनमें अनेक विद्वानोंकी रचनाएं विभिन्न संस्थाओंसे पुरस्कृत हैं। इन विद्वानों तथा इनकी रचनाओंकी प्रविष्टि नहीं मिल सकी है। यदि इस प्रकारका कार्यभी कर लिया जाता तो पाठकों को इनकी जानकारी मिल जाती। डॉ. गंगाराम गर्गने अपने कोशमें अर्वाचीन संस्कृत लेखकोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यह अधिक कठिन भी नहीं है। केन्द्र सरकारके मानव विकास संसाधन मन्त्रालयके संस्कृत प्रकोष्ठसे, विभिन्न प्रान्तीय संस्कृत अकादमियोंसे, संस्कृतके सुप्रतिष्ठित प्रकाशकोंसे, विश्वविद्यालयोंके विभागाध्यक्षोंसे और संस्कृत पत्रिकाओंसे यह जानकारी मिल सकती है। संस्कृतकी अनेक पत्रिकाएं भी प्रकाशित हो रही हैं। परिशिष्टोंमें उनके नाम देना भी उपयोगी होता।

अनेक स्थानोंपर कुछ विवरण खटकते हैं। जैसे



कि कौटिल्यका अर्थशास्त्र अधिकरणों और प्रकरणोंमें विभक्त है, अध्यायोंमें नहीं। कामन्दीय नीति सारका विभाजन सर्गोंमें है, अध्यायोंमें नहीं। 'नीति-काव्यामृत' का विभाजन समुद्देश्योंमें है, प्रकरणोंमें नहीं। इस ग्रंथमें लेखकने ३२ प्रकरण कहे हैं, जबकि शीर्षक २५ प्रकरणोंके हैं।

कवियोंके विवरणमें उचित अनुपात नहीं है। कालिदास उच्च कोटिके कवि हैं, उनके सम्बन्धमें प्रसिद्ध दन्तकथाओंका देना उचित है, जो १३ संख्यामें दी गयी है। परन्तु श्रीहर्षभी माननीय सुपठित कवि हैं। उनकी चिन्तामणि मन्त्र तथा कश्मीर यात्राकी दन्तकथाओंका उल्लेख न होना खटकनेवाला है।

विद्वान् लेखकने श्रीहर्षके साथ न्याय नहीं किया। उनकी अनेक रचनाओंके नाम नहीं दिये। 'खण्डन खण्ड छाद्य' जैसी प्रौढ़ दार्शनिक रचनाका नाम भी नहीं है। श्रीकृष्णमाचार्यने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (१९७४) के पृष्ठ १८१ पर श्रीहर्षकी अनेक रचनाओंके नाम दिये हैं। उसके अनुसार 'नवसाहसांकरित चम्पू', जैसे कि 'संस्कृत वाङ्मय कोश' प्रथम खण्डके पृ. ४७९ पर दिया गया है, श्रीहर्षका कोई चम्पू काव्य नहीं है। उन्होंने केवल 'साहसांकरित' नाम दिया है, जो सम्भवतः श्रीहर्षका कहा जाता है।

धर्मसूत्रोंके परिचयमें कुछ विरोध-सा है। एक स्थानपर लिखा है—चारों वेदोंके धर्मसूत्र नहीं मिलते, वहीं आगे लिखा है—सामवेदका एकमात्र गौतम धर्म-

सूत्र उपलब्ध है (प्रथम खण्ड पृ. ३२)। वैदिक साहित्य की जो तालिका पृष्ठ ३२-३५ पर है, वह अधिक व्यवस्थित नहीं है। तालिकामें कृष्ण यजुर्वेदके ५ धर्म सूत्रोंके नाम लिखकर अन्यको छोड़ दिया गया है। इस सम्बन्धमें बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' पुस्तकमें दी गयी वैदिक ग्रन्थों की तालिका अधिक व्यवस्थित है। दर्शनके प्रकरणमें चार्वाक दर्शनकी तथा वामार्गकी उपेक्षा है।

ग्रन्थमें मुद्रणकी भी अनेक अशुद्धियाँ स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणके रूपमें कुछ इस प्रकार हैं—

दृष्टिकोन (अनुक्रमणिका प्रथम खण्ड), अन्तर्भूत (सम्पादकीय उपोद्घात), श्रोत सूत्र (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३५ तथा ५२१), बोधयन (प्रथम खण्ड पृ. ५२१), सांख्यायन ब्राह्मण तथा सांख्यायन आरण्यक (प्रथम खण्ड पृ. ३२), ऐतरेय उपनिषद् (प्रथम खण्ड पृ. ३२), आचारंग (प्रथम खण्ड पृ. १८८), ब्रह्मा बिन्दूप (पृ. ५२० प्रथम खण्ड) आदि।

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा लिखित एवं सम्पादित संस्कृत वाङ्मय कोशका विस्तृत निरीक्षण और अध्ययन करनेसे इसकी उपादेयता और महनीयता स्पष्ट है। यह एक संग्रहणीय ग्रन्थ है, जिसमें संस्कृत ग्रन्थकारों तथा ग्रन्थोंके सन्दर्भ एक स्थानपर प्राप्त हो सकते हैं। विद्वज्जनोंके सन्दर्भके लिए यह उनको उपलब्ध होना आवश्यक है। □

## आलोचना

### समकालीन आलोचना?

सम्पादक : डॉ. वीरेन्द्र सिंह

समीक्षक : डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

अब यह वहस बहुत पुरानी पड़ चुकी है कि सर्जन

प्रका. : पंचशील प्रकाशन, फिल्म कालोनी, जयपुर-३०२००३। पृष्ठ : २००; डिमा. ८९; मूल्य : १५०.०० रु.।

और समीक्षणमें, समीक्षणका दर्जा सर्जनके बराबर है या नहीं? वस्तुतः, समीक्षण या समालोचना एक ऐसी स्वतंत्र विधा है जो सर्जनकी भाँति सर्जनात्मक संदर्शन से अनुविद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। सृजन और समीक्षणके समीकरणका अन्दाजा इसीसे लगा लेना चाहिये कि "समालोचनाकी आत्मा कलामय है, किन्तु इसकी शरीर रचना बैज्ञानिक है।" समालोचनाके माध्यमसे हम अधिकाधिक बौद्धिक सजगता प्राप्त करते हैं, और

'प्रकर'—आवण '२०४७—१५



इस प्रकार हमारी निर्णयात्मक शक्तिकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती है। हमारी बोध वृत्तिका परिष्कार सही समालोचनाके द्वारा ही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि समीक्षकका दायित्व व गौरव सर्जकके दायित्वसे किसीभी प्रकार कम या महत्त्वहीन नहीं है। देश-विदेशमें समालोचनाकी एक महिमाशालिनी परम्परा रही है: एक ऐसी परम्परा जो सतत प्रवहमान रही है और आजभी अप्रतिहत रूपसे आगे बढ़ती हुई नित्य नवीन संभावनाओंके क्षितिजोंका स्पर्श कर रही है। हिन्दीमें भी समालोचना अपने विकासके विभिन्न सोपानोंको पार करती हुई, अपनी प्रतिभासे सहजोद्भूत नवीन व मौलिक दृष्टि-भंगिमाओं एवं निकषोंका पाथेय लेकर अपने गंतव्यकी ओर बढ़ रही है। समालोचनाकी इस विकास-यात्रामें डॉ. वीरेन्द्रसिंह द्वारा संपादित कृति “समकालीन आलोचना” एक महत्त्वपूर्ण मीलका पत्थर है। पुस्तकमें समकालीन आलोचनाके विभिन्न पक्षोंका उद्घाटन करनेवाले सोलह लेख संकलित हैं। इन लेखोंमें एक लेख डॉ. वीरेन्द्रसिंहका भी है। सभी लेख अपने-अपने क्षेत्रके अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखाये गये हैं। समीक्षाकी प्रकृति एवं उसके तंत्र पर प्रभूत प्रकाश डालनेवाले ये लेख सभी रूपोंमें पठनीय एवं मननीय हैं।

एक बात पुस्तकके नामकरणपर कहना उपयुक्त होगा। यदि पुस्तकका नाम “समकालीन समालोचना या समीक्षा” रखा जाता तो उपयुक्त होता। यह बात मैं अनुप्रासके लोभके कारण नहीं सुझा रहा, अपितु मुझे ऐसा लगता है कि इस विधाकी समग्रता एवं मूलभूत भावनाका पूर्ण प्रतिनिधित्व हर दृष्टिसे “समालोचना” या “समीक्षा” शब्दों द्वारा ही हो सकता है। “आलोचना” शब्द में उतनी अर्थवत्ता प्रतीत नहीं होती, पुस्तकके समग्र मूल्यांकनमें यह बिन्दु विचारणीय है या नहीं, मैं नहीं जानता।

“आलोचना” कर्मपर लिखे तीनों लेख समालोचना की प्रकृति एवं समालोचककी अपेक्षित क्षमताओंपर पर्याप्त गंभीरतासे प्रकाश डालते हैं। चन्द्रकान्त बांदिव-डेकरके दृष्टिकोणकी अपेक्षा है कि समालोचक “समृद्ध मन” का धनी होना चाहिये तभी वह आलोच्य कृति का सम्यक् व्याख्यायन एवं समीक्षण कर पायेगा। उनका मानना है कि समर्थ समालोचकमें कल्पना शक्ति के विविध रूपोंको पहचानकर उसकी मूल्यधर्मिता और

सौन्दर्यात्मक क्षमताके दर्शन करनेकी क्षमता अनिवार्य रूपसे होनी चाहिये तभी कृति और समालोचकके बीच कोई संवाद संभव हो सकता है। अन्तःप्रज्ञासे समृद्ध समालोचक रचनाकी बनावट और बुनावटको विश्लेषण और संश्लेषणकी प्रक्रियाओंसे पाठकोंके सामने रखता है। रचनाकी निर्माण-प्रक्रियामें सहभागी समस्त सांस्कृतिक तत्त्वोंका सम्यक् आकलन समीक्षकके आलोचना-कर्मका अभिन्न अंग होना चाहिये। इस कार्यमें समीक्षकका अन्तःअनुशासनीय अभिगम विशेष भूमिका निभा सकता है। डॉ. चन्द्रकान्तका यह लेख उनके परिपक्व एवं व्यापक चिन्तनका प्रमाण है। इसी क्रममें डॉ. हरदयालका लेख भी समीक्षाकी मूल प्रकृतिको रेखांकित करता है। वे समालोचनाको, विशिष्ट पाठकों की व्याख्याधारित और विवेकाश्रित मौलिक और स्थायी प्रतिक्रिया (जिसे सुव्यवस्थित ढंगसे अभिव्यक्त किया गया हो) मानते हैं। उनके अनुसार सहृदय एवं दीक्षित संवेदनासे युक्त समालोचक स्वभावतः पूर्वाग्रह मुक्त होगा। आलोचकके लिए विद्वत्ता साधन होनी चाहिये साध्य नहीं। जब विद्वत्ता साध्य बन जाती है तो जड़ता को जन्म देती है। हरदयालकी यह सपाटबयानी ध्यान खींचनेवाली है: “जिन्हें ज्ञानका अर्जार्ण हो जाता है, वे स्वयं जीवन-भर भटकते रहते हैं और दूसरों को भटकाते रहते हैं”। अंग्रेजी समालोचक टी. एस. एलियटका भी यही कहना है कि अत्यधिक विद्वत्ता संवेदनशीलताको कुचल डालती है। डॉ. हरदयाल आलोचना-प्रक्रियाके तीन चरणों—प्रभाव, व्याख्या, मूल्यांकन की विवेचना करते, समालोचनाकी विभिन्न शैलियोंके गुणों-अवगुणोंपर विचार करते और इस निष्कर्षपर पहुंचते हुए कि अच्छी आलोचना “अतियों” से बचकर लिखी जाती है। उनके अनुसार “वस्तु” का विश्लेषण करते समय आलोचक बौद्धिक होनेके साथ-साथ संवेदनशील हो और नवोन्मेषशाली भी। चिन्तनकी स्पष्टताकी दृष्टिसे यह लेख महत्त्वपूर्ण है। तीसरे लेख में महावीर दाधीचका मानना है कि कृतिविषयक निर्णय की कार्मिक विवेचनाही आलोचना है। वे मौलिक रूपसे कृति की अपेक्षाओंपर विचार करते हुए कहते हैं कि धार्मिक रचनाओंको छोड़कर साहित्यिक कृतियां सर्वधारणाके लिए नहीं होती, उनका अलग-अलग पाठक समुदाय होता है, जो परस्पर विरोधी नहीं होते, बल्कि विशिष्ट होते हैं। डॉ. दाधीचका आग्रह है कि जहाँ



तक होसके आलोचकको कृतिसे समरस होना चाहिये, कृतिके अपने यथार्थमें उसे जीना चाहिये और इस गहन अनुभवके आधारपर उसका मूल्यांकन करना चाहिये। वे समीक्षामें अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष्यके दायित्वपर भी बल देते हैं। आलोचना कर्म और समालोचकके दायित्व पर संतुलित दृष्टिसे विचार करनेवाले ये लेख प्रस्तुत-संग्रह के अन्य लेखोंके लिए एक अपेक्षित परिपार्श्वका निर्माण करते हैं।

डॉ. प्रेमशंकरका लेख समकालीन आलोचनाके संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर प्रकाश डालता है। उनकी दृष्टिमें समकालीन आलोचना, रचनाको समाज-सापेक्ष स्वीकार करके चलती है और उसके समकालीन सरोकारके प्रति विशेष रूपसे जागरूक है। उनका विचार है कि शिविरोंके बावजूद आलोचनाकी भूमि अधिक व्यापक हुई है और उसका सामाजिक सरोकार गहरा। डॉ. प्रेमशंकर हिन्दी आलोचनाकी दुर्गतिसे दुःखी हैं, वे शिविरोंकी राजनीतिको राष्ट्रीय संकटके रूपमें देखते हैं। उनका कथन बहुत वजनी है जब वे यह बात कहते हैं कि "जरूरत है कि आलोचना पैगम्बरी मुद्रा छोड़े और अपने तथाकथित अभिजात्य" से बाहर निकलकर समा-वीकरण लोकतंत्रीकरणकी प्रक्रिया स्वीकार करे। यह इतिहासकी अनिवार्य मांग है।" समकालीन आलोचना में मुक्तिबोधके अवदानको प्रमुखतासे स्वीकार करने वाले डॉ. प्रेमशंकर "संवेदनात्मक ज्ञान अथवा ज्ञानात्मक संवेदन" की भूमिकाको समीक्षामें प्राथमिकता देते हैं। वे समीक्षामें आयातित प्रतिमानोंके प्रबल विरोधी हैं और चाहते हैं कि सृजनकी तरह समीक्षाको भी अपना व्यक्तित्व खोजना होगा। उसे अपने नया मुहारा खोजना होगा। मौलिकता और बौद्धिक ईमानदारीके हिसाबसे यह लेख एक सारगर्भित लेख है। डॉ. हेतु भारद्वाजका लेख प्राध्यापकीय-शैलीमें लिखा हुआ लेख है। अनावश्यक विस्तार और उद्धरणबहुल यह लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्लको हिन्दी आलोचना की जातीय परम्परासे जोड़ता है, लोकमंगलके व्यापक संदर्भको मार्क्सवादी खेमेमें खींचनेका जो श्रम डॉ. भारद्वाजने किया है उसपर प्रश्नचिह्न लगने बिना नहीं रह सकता। अध्ययनकी व्यापकताकी दृष्टिसे यह लेख पठनीय तो है ही। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्यायका लेख उत्प्रेरक, एवं समीक्षकीय नैष्ठिकतासे ओतप्रोत है। तथा साहित्यके समाज-शास्त्रीय अध्ययनकी ओर

प्रेरित करता है। डॉ. उपाध्यायका विशद ज्ञान और उनका अमित साहस लेखके मुख्य संबल हैं। वे बहुत जोरदार शब्दोंमें समाजशास्त्रीय अध्ययनकी वकालत करते हुए कहते हैं कि समाजशास्त्रके बिना, साहित्यका शिक्षण-प्रशिक्षण, आस्वादन और मूल्यांकन, गतानुगतिक, अनुर्वर एवं जड़ बना रहेगा। पर, इस अध्ययनकी सीमाओंकी डॉ. उपाध्याय उपेक्षा करके चलते हैं। अर्थव्यवस्था और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके परिप्रेक्ष्यमें साहित्यका अनुशीलन जीवनकी अन्य उदात्त चेतनाओंके प्रति उदासीन ही रहेगा। फलतः दृष्टिकोणमें व्यापकताका अभाव रहेगा। इस एकांगी मनोवृत्तिका परिष्कार तभी हो सकता है जबकि समाज-शास्त्रीय आधारपर प्राप्त निष्कर्षोंका प्रभावात्मक समीक्षा और मनोविश्लेषात्मक समीक्षाकी विशेषताओं के अनुसार पुनर्मूल्यांकनकर लिया जाये। डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ तथा रवि श्रीवास्तवके लेख भी डॉ. उपाध्याय के धर्मका ही निर्वाह करते हैं। परन्तु इन दोनों लेखोंमें मार्क्सवादी आलोचनाका पूरा परिदृश्य दिखायी पड़ता है, साथही दोनों विद्वान् लेखकोंकी समालोचनावृत्तिमें गहरी आस्था और निष्ठा। जिस स्पष्टतासे ये लेख लिखे गये हैं वह प्रशंसनीय है। 'मिथकीय समीक्षा' 'काव्य के गर्भित संकेत—प्रतीक' सूचनापरक होनेके साथ-साथ कुछ मौलिक बिन्दुओंका भी स्पर्श करते हैं।

नव्य आलोचनाके अन्तर्गत आनेवाले तीन लेख संरचनात्मक 'शैलीविज्ञान', 'शैलीवैज्ञानिक आलोचना' 'संरचनावादी आलोचना' 'आलोचना प्राध्यापकीय' तर्ज पर लिखे लेख हैं तथा शैलीविज्ञानको समीक्षाका एक महत्वपूर्ण निकष मानते हैं। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि ये निकष साहित्यकी संलिप्त चेतनाको ग्रहण करानेमें बहुत बौने पड़ेंगे। वस्तुनिष्ठताका दंभ भरने वाले ये प्रतिमान भावयित्री प्रतिभा और कारयित्री प्रतिभाको शल्यक्रियाके द्वारा देखनेके उत्साहातिरेकमें सौन्दर्य-बोधका गला घोटनेमें लगे हुए हैं। समीक्षाके विकासमें इन शैलियोंका अपना महत्त्व है। डॉ. वच्चन सिंह और डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागरके लेख सूचनात्मक हैं तथा इसी रूपमें उनका अपना महत्त्व है। इस संग्रहका अंतिम लेख समीक्षाके अंतःअनुशासनीय पक्षको उजागर करता है। डॉ. वीरेन्द्रसिंहका मानना है कि अंतःअनुशासनीय दृष्टिमें ज्ञान और संवेदनाका समीकरण परमावश्यक है। यह बिल्कुल सही है। उनका यह



कहना उनकी दृष्टिका व्यापकताको रेखांकित करता है कि अन्तःअनुशासनीय आलोचनामें वाट, सिद्धान्त और प्रत्ययका पूर्णतया नकार नहीं है, अपितु उनका सही लोकेशन आवश्यक है। सृजनकी बहुआयामिकताको पकड़नेमें अन्तःअनुशासनीय समीक्षाकी भूमिका निर्विवाद है। पर इस प्रक्रियाके अपने खतरे हैं। इस प्रक्रिया को अपनानेवाले समीक्षकको बहुज्ञ एवं बहुआयामी होना पड़ेगा, यह तो तय है।

कुल मिलाकर इस संग्रहके सभी लेख अपने-अपने ढंगसे उपयोगी हैं। समकालीन समीक्षाका परिदृश्य समेटनेवाले ये लेख समीक्षाकी विविध शैलियोंसे परिचय कराते हुए हमें समीक्षाकी सही पहचान करानेमें सहायता देते हैं। समकालीन समीक्षासे यह अपेक्षा है कि अपनेको एकांगिता और अतिचारसे बचाये, तथा पूर्व और पश्चिमकी मनीषाके उत्तमांशको आत्मसात् करती हुई, नवीन जीवन-स्पृहाओं तथा कला-रुचियों का सम्मान करती हुई, मानवमें बहिर्जीवन व अन्तर्जीवनकी पूर्णता व समृद्धिकी दृष्टिसे, युगोचित नवीन समीक्षा निकर्षोंका निर्माण करें।

डॉ. वीरेन्द्रसिंहका सम्पादकीय सम्पूर्ण लेखोंका प्रतिनिधित्व करता है और समकालीन समीक्षाका परिदृश्य प्रस्तुत करता है। इस मानक कृतिको यदि मुद्रणकी अशुद्धियोंसे मुक्त रखा जाता तो, इसकी गुणवत्ता और भी बढ़ जाती। □

## लेखकका समाजशास्त्र?

लेखक : डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

साहित्य सृजनकी प्रक्रियाको समझनेके प्रयास लेखकों और विचारकोंकी ओरसे होते रहे हैं। जिस समाजमें लेखक रहता है, जहाँसे अपने जीवन और रचनाके सूत्र प्राप्त करता है, उस समाजके साथ उसकी अन्तःक्रियाओंमें ही सृजनके रहस्य छिपे रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक लेखकके समाज-वैज्ञानिक अध्ययनकी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। आमुखमें लेखक अध्ययनकी

दिशाओंकी ओर संकेत करते हैं—कि “सृजनकी प्रकृति एवं मापदण्ड कभी स्थिर नहीं रहे, निरन्तर गतिशील रहे हैं। ‘माँगि खइवो मसीतकी सोइवो’ से लेकर लेखक व्यावसायिक प्रवृत्ति तक, ‘संतनको कहा सीकरी सो काम’ से लेकर पार्टी-प्रतिबद्ध लेखन तक, ‘कवित विवेक एक नहि ‘मोरे’ से लेकर पांडित्यपूर्ण प्रदर्शनतक ‘जोप्रबन्ध बुध नहि आदरहीं’ की आकांक्षातक की यात्रा में सृजन और उसकी प्रक्रियामें निरन्तर उतार-चढ़ाव आते रहे हैं जो उसके गतिशील स्वभावके परिचायक हैं। सृजनसे आस्वादतक की यात्रा, इस यात्रामें संग-साथ निबाहनेवाले विभिन्न सहयोगियों, दिशानिर्देशकोंकी अन्तःक्रियाओंके परिप्रेक्ष्यमें ‘लेखक का समाजशास्त्र’ अपना स्वरूप ग्रहण करता है जो सृजन की बिखरावपूर्ण मान्यताओंको व्यवस्थित एवं वस्तुपरक आधार प्रदान कर सकनेमें सक्षम सिद्ध हो सकता है। उसके ऐतिहासिक, संरचनात्मक प्रकारात्मक पक्षको उद्घाटित करने, विश्लेषित कर सामान्यीकृत मान्यताओंके निरूपण करनेकी ओर अग्रसर हो अपने भावी विकास एवं अस्तित्वकी सम्भावनाएं प्रकट करता है।” (आमुख-२)।

इस पुस्तकके लिए डॉ. गुप्तने पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओंसे सामग्री एकत्र करनेके साथही लेखकों, प्रकाशकों और साक्षात्कारकर्त्ताओंसे प्रभूत सहायता ली है। फिरभी लेखककी विनम्रता सराहनीय है कि वे अपने निष्कर्षोंके सर्वमान्य होनेका आग्रह नहीं करते।

पाँच अध्यायोंमें पुस्तक विभक्त है। लेखकका समाजशास्त्र : आवश्यकता, साहित्य सृजन : एक सामाजिक प्रक्रिया, लेखक और उसकी रचना-प्रक्रिया : कलमके आइनेमें, साक्षात्कारोंकी परिधिमें लेखक और लेखकका समाजशास्त्र : सम्भावनाएं।

पहले अध्याय ‘आवश्यकता’ में पहली बात है कृति को समझनेके लिए कृतिकारको समझनेकी आवश्यकता। समाजके सदस्यके रूपमें लेखककी स्थितिसे लेकर उसके आर्थिक संरक्षण, पाठक-प्रकाशक-आलोचक के साथ उसके सम्बन्धतक को जानना कृति, कृतिकार समाजके अध्ययनके लिए आवश्यक है। साहित्य-अध्येता जहाँ कृतिकारको अध्ययनकी इकाई मानकर चलता है, वहीं “समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य-सृजन को एक सामाजिक घटनाके रूपमें स्थापित करती है। एक तटस्थ विश्लेषकके रूपमें समाजशास्त्री लेखन-

१. प्रका. : सीता प्रकाशन, मोती बाजार, हाथरस।

पृष्ठ : १०६; डिमा. ८८; मूल्य : ४४.०० रु.।



प्रक्रियाकी उन परतोंको उधारनेकी और अग्रसर होता है जो उसके सृजनके मूलमें निहित रहती हैं।" (२) डॉ. गुप्त प्रतिभाके सम्बन्धमें लेखकोंके सर्वेक्षण से जो निष्कर्ष निकालते हैं, उसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों और गीर्कों जैसे विश्व प्रसिद्ध लेखकोंकी मान्यताओंके आलोकमें देखकर निष्कर्ष देते हैं कि "बदलते हुए परिवेशमें इन मान्यताओंका पुनः सत्यापन आवश्यक है।" (पृ. ५)। पुस्तकके नामके सम्बन्धमें डॉ. गुप्तका स्पष्टीकरण है कि "नामकी दृष्टिसे हो सकता है अटपटा लगे, परन्तु साहित्य संरचनामें लेखककी केन्द्रीय स्थिति है, एतदर्थ उसकी अन्तःक्रियाएं, अन्तःक्रियाजनित अनुभूतियाँ व अन्तर्सम्बन्ध, सामाजिक स्वीकृति व अस्वीकृति उसका प्रकार्यात्मक योगदान आदिका अध्ययन करने हेतु लेखकका समाजशास्त्रही अधिक उपयुक्त है।" (पृ. ६)।

'साहित्य-सृजन : एक सामाजिक क्रिया' नामक दूसरे अध्यायमें—साहित्य सृजनके लक्ष्य एवं साधनोंकी अन्तर्सम्बद्धताके सन्दर्भमें कृतिकारकी भूमिकाका विश्लेषण, साहित्यकार द्वारा सम्पादित क्रियाकी वस्तुनिष्ठता एवं व्यक्तिनिष्ठताकी जांच और साहित्यसृजनमें निहित प्रेरणाओंका विश्लेषण—इन आधारोंपर साहित्यकारकी क्रियाकी विवेचना की गयी है।

इस अध्ययनमें साहित्यकारके 'व्यक्ति' और उसकी प्रेरणाका भी पूरा ध्यान रखा गया है। हिन्दीके प्रसिद्ध कथाकार अमृतलाल नागरके उपन्यास 'अमृत और विष' के गहन उपयोग द्वारा इस अध्यायको विश्वसनीय बनाया गया है।

तीसरा अध्याय है 'लेखक और उसकी रचना प्रक्रिया: कलमके आइनेमें'। स्वयं डॉ. गुप्तके शब्दोंमें—“कृतिकारकी उन कृतियोंमें जिनमें कि लेखक पात्र प्रमुख भूमिकाओंमें हैं, अपने रचना-संसारमें रहकर अन्तःक्रियाएं करते हैं तथा अभिव्यक्तिके माध्यमसे साहित्यिक लक्ष्योंकी प्राप्ति हेतु क्रियाशील रहते हैं, के विश्लेषण द्वारा सृजन और उसके परिवेश, प्रभाव एवं परिणामको ज्ञात करनेका प्रयास है जो अमृतलाल नागरके लोकप्रिय व बहुचर्चित उपन्यास 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' पर आधारित है।" (पृ. १६)। महिपाल और अरविन्द शंकरके माध्यमसे अध्याय बहुत रोचक और सार्थक अध्ययनके रूपमें पूरा हुआ है।

निष्कर्ष है कि साहित्य समाजका गतिशील दर्पण है तो लेखकीय कलमके आइनेमें कृतिकार और उसकी अभिव्यक्तिकी प्रतिच्छविका निरीक्षण सहज सम्भव है। विभिन्न कृतियोंमें लेखक पात्रोंके विश्लेषणसे साहित्य और उसकी रचना प्रक्रियाके सन्दर्भको समझना आवश्यक है। समाजशास्त्रीय दृष्टि इस दिशामें महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त करनेमें सहायक हो सकती है।" (पृ. ३६)।

'साक्षात्कारोंकी परिधिमें लेखक' चौथा अध्याय है जिसमें 'सारिका' पत्रिकामें प्रकाशित भारतीय और विदेशी लेखकोंके साक्षात्कारोंको द्वैतीयक स्रोतके रूपमें प्रयोग करके विश्लेषित किया गया है। इस अध्यायमें लेखककी रचना-प्रक्रिया, रचना-काल, लेखक-पाठक, लेखक-प्रकाशक, लेखक-आलोचकके सम्बन्ध स्मरणीय अध्ययन किया गया है।

पांचवां और अन्तिम अध्याय है, 'लेखकका समाज शास्त्र : सम्भावनाएं'। पिछले अध्यायोंके अध्ययनके निष्कर्ष सूत्र रूपमें देनेके बाद कुछ निर्णय हैं, जैसे 'लेखक जन्मजात नहीं होते। समाजको लेखक बनाते हैं लेकिन समाज लेखकको बनाता है। लेखकका समाजीकरण होता है। लेखकका व्यक्तित्व और उसकी प्रतिभा समाजसे प्रभावित होते हैं। लेखकके अपने सन्दर्भ-समूह होते हैं। लेखककी प्रतिबद्धता और उसकी सामाजिक प्रस्थिति एवं उसकी लेखकीय भूमिकाकी अच्छी व्याख्या की गयी है। आर्थिक संरचना, पुरस्कार-व्यवस्था, शक्ति-संरचना और लेखकके संघर्षकी जांच करनेके साथही डॉ. गुप्त लेखक द्वारा समाजकी रुचिके निर्माण का प्रश्न भी उठाते हैं। उसकी सामाजिक छवि और लेखककी सामाजिक सार्थकताके प्रश्नोंपर भी स्पष्ट विचार दिया गया है।

समाजशास्त्रीके लेखक सम्बन्धी दायित्वको रेखांकित करते हुए डॉ. गुप्त पुस्तक सम्पूर्ण करते हैं। वे लिखते हैं—“समाजशास्त्रीका कार्य है कि वह कृतिकारके कृतित्व एवं उसकी प्रकार्यात्मक भूमिकाके सन्दर्भमें लेखनकी सामाजिक सार्थकताका औचित्य निरूपण करे तथा उसकी सामाजिक उपलब्धियोंको प्रकाशमें लाकर मानव एवं समाजपर प्रभावका मूल्यांकन करे।" (पृ. १०५)।

डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त समाजशास्त्रके गम्भीर अध्येता रहे हैं साथही साहित्यके साथ संवेदनाके स्तर पर जुड़े रहे हैं। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तकमें अपनी अन्य



पुस्तकोंकी ही तरह साहित्य और समाजशास्त्र के परस्पर सम्बन्धोंका बहुत अच्छा उपयोग करनेमें सफल हुए हैं। साहित्य और समाजशास्त्र दोनोंके गम्भीर अध्येता इस पुस्तकका उपयोग करेंगे, ऐसी आशा है।

□

## मैथिलीशरण गुप्त : विचार और अनुभूति

लेखक : डॉ. राजशेखर शर्मा

समीक्षक : डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'

भारतीय मनीषाके सरस उद्गाता कवि मैथिलीशरण गुप्त नयी भावभूमियोंके उद्घाटक हैं और हैं व्यापक जीवनके भावक। गुप्तजीका कवित्व-निर्धार सौन्दर्य शिलाखण्डसे टकराकर प्रवाहित हुआ है, जो वहिर्मुख होकर मानव कल्याण-साधनमें तथा अन्तर्मुख होकर भारतीय संस्कृतिकी सम्पत्ति-स्वरूपा भक्तिके रूपमें प्रकट होता है। कल्पनाकी मनोज्ञता, भावोंकी सुकुमारता अनुभूतिकी सघनता, विचारोंकी गम्भीरता और अभिव्यक्तिकी सूक्ष्मतासे गुप्तजीकी कृतियोंको अमरत्व मिला है। गुप्तजी लोकप्रिय कवि थे, उन्होंने समाजके हितके लिए व्यक्ति-साधनाका मर्यादा-स्थापन का संदेश प्रदान किया है। इन्हीं राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त परही प्रस्तुत कृतिमें डॉ. शर्मनि सात बिन्दुओंको स्पर्श किया है।

प्रथम बिन्दु 'राष्ट्रीयताका मानबिन्दु' शीर्षक अध्यायमें डॉ. राजशेखरने गुप्तजीको 'राष्ट्रकवि' होने का अधिकारी सिद्ध किया है, क्योंकि भारतका अतीत वर्तमान और भविष्य गुप्तजीके काव्यमें प्रतिबिम्बित हुआ है। गुप्तजीकी दृष्टिमें हिन्दी भाषाको अपना माना राष्ट्रीय विचारोंको विकसित करना है। लेखकने इस बिन्दुको गुप्तजीकी रचनाओंके परिप्रेक्ष्यमें बखूबी व्याख्यायित किया है।

पुस्तकका द्वितीय बिन्दु है—'कलात्मक सौन्दर्य'। इसमें डॉ. शेखरने कलात्मक सौन्दर्यका शास्त्रीय विवेचन करते हुए गुप्तजीके काव्य-कला-सौन्दर्यको रेखांकित किया है। लेखकका मानना है कि गुप्तजीके व्यक्ति-

त्वका निर्माण धर्म, संस्कृति साहित्य कला और मानवताके तत्त्वोंसे निर्मित है। इन तत्त्वोंको गुप्तजीने अपने जीवन और काव्यमें पूरी निष्ठासे चरितार्थ किया तथा इन्हींके आधारपर भूतलको स्वर्ग बनानेका स्वर्णिम स्वप्न देखा। तृतीय बिन्दु है इस पुस्तकका—'नारी-आदर्श'। गुप्तजी सदा नारी-सम्मान के प्रबल समर्थक रहे। उनकी समूची रचनाधार्मितामें नारीका तेजस्वी और महिमामंडित स्वरूप परिलक्षित है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीकी प्रेरणासे उपेक्षित नारियोंका साहित्यमें समादरणीय स्वरूप स्थिर किया है गुप्तजीने। डॉ. शेखरने इसीका लेखाजोखा इस शीर्षक बिन्दुमें प्रकृष्टताके साथ प्रस्तुत किया है।

'भक्तिभावना'—चतुर्थ बिन्दु है इस समीक्ष्य कृति का। इस बिन्दुके आरम्भमें भक्तिको विवेचित करते हुए लेखकने गुप्तजीके काव्यमें निरूपित भक्ति-स्वरूप को स्पष्ट किया है। गुप्तजीकी यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी धर्मों और धर्मग्रंथोंके प्रति किसी-न-किसी रूपमें श्रद्धा-सम्मान प्रदर्शित किया है। 'मानवताका प्रतिमान' पंचम बिन्दु-शीर्षकमें मैथिलीशरण गुप्तके काव्यमें निरूपित मानवता-प्रेमके विविध रूपों को उद्घाटित किया गया है। इस कृतिका षष्ठ बिन्दु है—प्रेम तत्त्वकी व्यापक अनुभूति। लेखकने आरम्भमें प्रेम शब्दको विश्लेषित करते हुए गुप्तजीके काव्यमें प्रेम तत्त्वकी व्यापक अनुभूतिको अभिदर्शित किया है। पारिवारिक सम्बन्धोंमें प्रेम संदर्भोंका विभिन्न उदाहरणोंके माध्यमसे प्रतिपादन किया गया है।

सप्तम बिन्दु है—'औचित्य विचार'। इसमें आरम्भमें औचित्य विचारपर शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण हुआ है, फिर गुप्तजीके काव्यमें निरूपित आचार्य क्षेमेन्द्र की औचित्यपरक स्थापनाओंका यथावश्यक प्रसंगके साथ प्रस्तुति है। यह प्रस्तुति ततोऽधिक अभिनव आस्वाद परिवेष्टित करती है। अन्तमें 'उपसंहार' शीर्षकमें गुप्तजीके काव्यमें समाहित उक्त बिन्दुओंका मूल्यांकन-आकलन संक्षिप्त रूपसे प्रौढ़ प्रांजल भाषिकीके साथ प्रस्तुत हुआ है। ग्रंथारम्भमें 'प्राक्कथन' लिखा है हिन्दीके प्रज्ञा प्रौढ़ वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. छैलबिहारीलाल 'राकेश गुप्त' ने। उनके इस 'प्राक्कथन'में राष्ट्रकविके सम्बन्धमें महार्घ मन्तव्य यथावकाश 'टेलपीस' के रूपमें समावेशित है। ग्रंथान्त में सहायक ग्रंथोंकी सूची है जो उपयोगी है □

१. एका. : तारामण्डल, ३६८, आवास विकास कालोनी, सासनी गेट, अलीगढ़-२०२००१ (उ. प्र.)। पृष्ठ : १००; डिमा. ८६; मूल्य : ५०.०० रु.।

'प्रकर'—जुलाई १०—२०



मृत्युंजय?

[कन्नड़से अनूदित]

लेखक : निरंजन

अनुवादक : कान्तिदेव

समीक्षक : प्रा. मधुरेश

सपने देखना आदमीका स्वभाव है। व्यावहारिक दृष्टिसे ये सपने आदमीकी त्रासदी और यातनाका कारण भी हो सकते हैं, लेकिन विश्वकी संस्कृतियों और मानव-सभ्यताके विकासमें, अनेक काल-खंडोंमें, मनुष्य द्वारा देखे गये इन सपनोंका विशेष महत्त्व है। देखे गये इन सपनोंके अपराधमें अपने युगकी प्रथानुसार उसे निष्कासन, सूली, फांसी, विषपान और गोली जैसे अनेक दण्ड दिये जानेकी व्यवस्था की जाती रही है। लेकिन फिर भी आदमीका सपने देखना बंद नहीं होता। अपने समयकी प्रचलित व्यवस्थाके विरुद्ध एक बेहतर और मानवीय व्यवस्थाके लिए देखा गया सपना हमेशा ही अपराध माना जाता रहा है और इसके लिए मानव-इतिहासमें हमेशा कड़े से कड़े दण्ड विधान द्वारा ऐसा पाठ पढ़ानेके प्रयास किये जाते रहे हैं कि लोगोंको शिक्षा मिल सके वे सपना देखना बंद कर दें। लेकिन सच्चाई यह है कि सपनोंके विरुद्ध बरती जानेवाली इस क्रूरता और नृशंस दमनके विरोधमें सपनोंके प्रति लोगों का आकर्षण और भी अधिक बढ़ता गया है। यही शायद दमन और निरंकुशताकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी है।

मानव सभ्यताके इतिहासमें दमन, शोषण और बर्बरताके विरुद्ध समता और स्वाधीनताका एक सपना इससे लगभग एक शताब्दी पूर्व रोममें स्पार्टकसने

१. प्रा.: भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नयी दिल्ली-११०००३। पृष्ठ : ४८०; डिमा. ८६; मूल्य : ६५०० रु.।

देखा था। जैसा कि हावर्ड फास्टने अंकित किया है उस सपनेके कारण उसके साथ वही व्यवहार किया गया जो निरंकुश सत्ता और शक्तिमदमें अंधे बने लोग हमेशा से करनेकी कोशिश करते रहे हैं। लेकिन अंधेरे बिया-वानमें उसका वह सपना देरतक रोशनी एक झिल-मिलाहट बनकर दिप-दिप करता रहा था। उससे भी पहले ईसासे प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व, मिस्रके साम्राज्य की पृष्ठभूमिसे, मेनेप्टा-मेन्ता द्वारा देखे गये ऐसे ही एक सपनेको आधार बनाकर कन्नड़ लेखक निरंजनने 'मृत्यु-जंय' की रचना द्वारा यह संकेत किया है कि वास्तवमें ये सपने देखनेवाले लोग ही मृत्युंजय होते हैं—वे मरकर भी नहीं मरते क्योंकि उनके भौतिक अस्तित्वकी समाप्तिके बाद वे ऐसा प्रकाश-पुंज छोड़ जाते हैं जो मानव-विकासके अंधेरे मोड़ों और खाई-खन्दकोंको प्रकाशित करके मानव-सभ्यता और संस्कृतिके विकासकी संभावनाओंको उद्घाटित करता है।

'मृत्युजंय' का प्रारम्भ मेनेप्टाकी एक धार्मिक-यात्रासे होता है। वह अपने परिवारके साथ अपने नगर हिप्पोपोटामससे तीर्थस्थान आब्टूकी यात्रापर निकला है। वह ईश्वर और देवताओंसे डरनेवाला और उनमें गहरी श्रद्धा रखनेवाला ईमानदार व्यक्ति है। अपने नगरमें सम्राट्के प्रतिनिधि तिहूतीके द्वारा कर-वसूलीके अत्याचारके विरोधमें, नगरके अन्य लोगोंके साथ, वह अन्याय और अत्याचारका विरोध करता है। इसी लम्बे और गंभीर संघर्षमें वे लोग सम्राट्के प्रतिनिधियोंको परास्त करके भगा देते हैं। उसके बाद वे अपने उस क्षेत्रको स्वतंत्र घोषित कर देते हैं। वे लोग तय करते हैं कि अब अत्याचारी अधिकारियोंको इस क्षेत्रमें नहीं घुसने दिया जायेगा। कोई सम्राट्को कर नहीं देगा। क्षेत्रपर वहींकी स्थानीय समितिका शासन होगा और मेनेप्टा उसका प्रमुख होगा। मेनेप्टा सम्राट् और उसके प्रतिनिधियोंसे भिन्न सादगी तथा ईमानदारीको अपने शासनका केन्द्रीय सूत्र बनाकर कार्य शुरू करता

'प्रकर'—श्रावण २०४७—२१



है। वह दासोंकी मुक्ति और कलाओंके संरक्षणपर जोर देता है। समताका सिद्धान्त लागू करके वह प्रशासनमें लोगोंकी सामूहिक एवं सक्रिय भागीदारीको बढ़ावा देता है। नेताके पदको वह व्यापक दायित्व और जनता के प्रति आत्मीय संलग्नताकी भावनासे जोड़ता है।

जब सम्राट्को अपने प्रतिनिधियों द्वारा सारी वस्तु-स्थितिका पता चलता है तो यह तय किया जाता है कि दमनसे उस प्रांतके लोगोंको वशमें करनेके बजाय कोई और उपाय करना चाहिये। इसके पश्चात् मेनेप्टाको फेरोह-पेपीके पुनर्युवा होनेके उत्सव--सेदोत्स--में सम्मिलित होनेका निमंत्रण मिलता है। समितिके सदस्योंके गंभीर विचार-विमर्शके बाद यह निश्चित होता है कि मेनेप्टाको उसमें जाना चाहिये क्योंकि अब, इस बीच, सम्राट्ने भी उस प्राप्तकी गयी स्वाधीनताको स्वीकार कर लिया है और बराबरीके स्तरपर उसके प्रमुखको यह निमंत्रण भिजवाया गया है। अपने कुछ साथियोंको साथ लेकर मेनेप्टा राजधानी मेमफिस जाता है। लम्बे समयतक उस प्रस्तावित उत्सव और सम्राट्से उसकी भेंटको टाला जाता है और फिर, जैसा कि अनेक लोगों को शंका थी, मेनेप्टा कभी मेमफिससे लौटकर नहीं आता। उसके कुछ सहयोगियों और शुभचिंतकोंकी सहायतासे चोरीसे उसका शव अलबत्ता हिप्पोपोटामस ले आया जाता है। इसका बेटा श्मेरीटता आब्टूसे पिता द्वारा लायी गयी कमीज उसकी कब्रमें रख देता है। मेनेप्टाका मित्र और सहयोगी बाटा अन्तिम बार अपनी बांसुरीपर एक धुन बजाकर उसकी कब्रमें उतर जाता है और उसके लौटनेपर लोग देखते हैं कि वह खाली हाथ है। उसने अपनी बांसुरीको भी कब्रमें नेताके शवके साथ रख दिया है—जैसे अब उसके और उसीकी तरह समूचे प्रांतके लोगोंका जीवन-संगीत इस अंधेरी खोहमें कहीं गुम हो गया है।

एक उपन्यासके रूपमें 'मृत्युंजय' की सबसे बड़ी चुनौती साढ़े चार हजार वर्ष पूर्वके मिस्रकी ऐतिहासिक भौगोलिक और सामाजिक स्थितियोंका अंकन है। नहीं तो उसके माध्यमसे जो उद्देश्य ध्वनित है वह तो किसीभी काल-खंड और पात्रोंके माध्यमसे प्राप्त किया जा सकता था। हिप्पोपोटामससे आब्टू और हिप्पोपोटामससे मेमफिसतक की मेनेप्टाकी नौका-यात्रामें उस युगके जीवनको पर्याप्त विश्वसनीय ढंगसे प्रस्तुत करती है। फेरोहकी हजामतके सामानका विस्तृत व्यौरा

(पृ. १६) और अन्पूकी मृत्युपर 'मृतकोंकी पुस्तक'से किया गया पाठ आदिकी व्यवस्था उस जीवन-पद्धतिसे हमारा अन्तरंग परिचय कराते हैं। सम्बद्ध युग के व्यक्तियोंके ये छोटे-बड़े व्यौरे इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे एक विशिष्ट काल-खण्डमें सम्पूर्ण जीवन पद्धतिको हमारे सामने प्रत्यक्ष करनेकी कोशिश करते हैं जिसके अभावमें बड़ेसे बड़ा लक्ष्य सामने रखकर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यासभी कोई अर्थ नहीं रखता। वस्तुतः इस जीवन-पद्धतिके सघन अंकनसे ही लेखक का निर्दिष्ट लक्ष्य शक्ति और प्रामाणिकता प्राप्त करता है।

मुद्राके प्रचलनसे पूर्व विनिमयकी व्यवस्था और आब्टू जैसे धार्मिक स्थानपर भी व्यापारियों द्वारा दूर क्षेत्रोंसे आयी भोली-भाली श्रद्धालु जनताको इस विनिमयके नामपर मनमाने ढंगसे ठगना और उसका शोषण करना उस जीवन-पद्धतिकी एक ऐसी अनिवार्यता है जिसमें किसीको कहीं कुछ विशेष गलत लगता ही नहीं। इलाज के लिए जादू-टोनेका दखल उनकी सामान्य जीवन-पद्धति का अंग है। औता और बेककी बीमारी--ठंडसे कंपकपी-का कारण बताते हुए पुरोहित आईनेनी कहता है कि जब कोंपलें निकलती हैं और फसलें पकती हैं तो भूत एक शहरसे दूसरे शहरमें घूमता है। कसाई घरमें काम करने वाली युवतीके चार महीनेके बच्चेका इलाज यही पुरोहित बेंतकी तशतरीमें बच्चेका पुतला और काले बेरों की माला तथा इसीके पास एक कपड़ेके टुकड़ेपर रहस्यमय गिनती द्वारा करता है और इस सारी प्रक्रिया में उसकी नजरें युवतीकी पुष्ट और गौरी पिंडलियोंपर जमीं रहती हैं। खडियाकी कलछुलको फासफोरसके मर्तबानमें डालकर वह बाहर निकलता है। वातावरणकी गर्मी पाकर पकड़ी हुई आगको वह बच्चेकी मांको 'जादूई रोशनी' बताता है जबकि पास खड़े लोगों का दम धुएँसे घुटने लगता है। इस सबके बदलेमें पुरोहित उस स्त्रीसे उपहारमें भगवान वेसकी मूर्तिकी माँग करता है और देवालयके सामनेवाली दुकानसे उसे खरीदनेको कहता है—जहां शायद उसका कमीशन तय है—और जब वह स्त्री उसकी कीमतके बारेमें अपनी अभिज्ञता प्रगट करती है तो वह स्वयंही कसाईखानेसे एक बत्तख लाकर दुकानदारको दे देनेका उपाय सुझाता है। राजनीति और प्रशासनमें धर्मकी व्यापक घुसपैठ के कारण घूस—जिसमें औरतें और अन्य विलास साम-



श्रियां शामिल हैं, उस व्यवस्थामें बहुत आम बात है। हिप्पोपोटामसमें मेनेप्टाके विद्रोहके बाद वहांका जमीन-दार नटभोज राजधानी मेमफिसमें अपने स्थायी प्रवास की सोचने लगता है उसने शतरंजपर बिछे पियादों को पहचानना शुरू कर दिया था... ('मृत्युंजय', पृ. १६०)। धृष्ट देकर वह फेरोहकी पालकी उठानेवालोंमें शामिल होनेका गौरव प्राप्त करनेमें सफल होता है। मेन्नाका सबसे बड़ा अपराधही यह है कि उसने धर्म और उसके प्रतिनिधियोंकी वास्तविकतापर से परदा उठा दिया है। आईनेनी देर रात तक उस वेश्याके यहांसे नहीं लौटा था, और उसे तलाश करते हुए मेन्ना वहीं जा पहुंचा था। धार्मिक क्रियायों और विद्वानोंकी जघन्यताको लेकर गहरी वितृष्णा और अन्तर्दृष्टिके साथ अंकित करता है। मंदिरोंमें बैलों और अन्य पशुओंको देवताका प्रतिनिधि मानकर सुन्दर स्त्रियोंसे उनकी यौन-क्रियाकी प्रथा एक ऐसी ही क्रूर एवं जघन्य धार्मिक प्रथाके रूपमें स्वीकार्य बनी थी। फेरोहका घड़ियाल—जिसे 'भगवान का घड़ियाल' कहा और माना जाता है—हीरे-जवाहारात पहनाकर तालाबमें छोड़ा गया है। लोग उसे धर्मका प्रतीक मानकर श्रद्धापूर्वक भोजन कराते हैं और दूसरी ओर वे असंख्य निर्धन लोग हैं जो धूप खाते-खाते भूखे-प्यासे पत्थरोंपर ही सो जाते हैं। मेनेप्टाकी हत्याके बाद, प्रतिहिंसात्मक कार्यवाहीमें हेपात राजगुरु कमसे कम दस हजार युवा स्त्री-पुरुषोंको देवालयके लिए दास दासियोंके रूपमें पकड़नेका आदेश देता है। बादमें सेनाध्यक्ष बकीला अपनी सेनाके लिए लोगोंको चुन सकता है। खड़ी फसलोंको आग लगा दी जाती है क्योंकि वह पापियोंकी फसल है। आदेशके लिए जब पुजारी लोग हेपातकी ओर देखते हैं तो वह कहता है 'भजन मत रोको। एकके बाद दूसरा गाते जाओ'... (वही पृ. ४५६)। प्रतिक्रिया और प्रतिहिंसामें हेपातके निर्देशानुसार फेरोहकी सेना द्वारा रचा गया बर्बर हत्याकाण्ड हिप्पोपोटामसके हेपात-पुजारीके अनुसार... 'यह ईश्वरमें विश्वासको एक बार फिरसे स्थापित करनेका प्रयास है...' (वही, पृ. ४५८)।

निरंजनने सम्राट, राजगुरु और जमींदारके गठ-बोड़े सामान्य जनताके उत्पीड़न और शोषणके छोटे-छोटे चित्रोंसे 'मृत्युंजय' की रचना की है। सम्राट-फेरोह पपी और मेनेप्टा दो भिन्न और परस्पर विरोधी मूल्य-दृष्टियोंके प्रतीक चरित्र हैं। एक ओर फेरोह है निर्बाध

विलास और समृद्धि दंभपूर्ण प्रदर्शनमें अपने जीवनकी सार्थकता खोजता, दूसरी ओर मेनेप्टा है जिसे राजधानी मेमफिसमें नेताके रूपमें जो सामान्य सुविधाएं मुहैया करायी जाती हैं, वह उन्हें स्वीकारने से भी इन्कार कर देता है।—मेनेप्टाके सोनेके लिए तैयार किया गया कमरा बहुत बड़ा था। उसने चारपाई की ओर देखते हुए कहा, 'आजसे सात सौ साल पहले फेरोह मेनेसने मिस्रवासियोंको पलंगपर सोना सिखाया। लेकिन मैंने अभीतक पलंगपर सोना नहीं सीखा। मैं जमीनपर ही सोऊंगा...' (वही, पृ. १४८)। उपन्यास में मेनेप्टाके पारिवारिक जीवनके जो दृश्य हैं—अपनी पत्नी नेफस और पुत्र मेनेरीप्टाके साथ—उन्हें फेरोहके राजसी ताम-झामसे मिलाकर देखनेपर जीवनमें मनुष्य के मूल उत्सुक पहुंचनेमें आसानी होती है। पतिके नेता बन जानेपर भी नेफस परिवारका सारा काम स्वयं करती है। मेनेरीप्टाको लेकर इन दोनोंको केवल एक ही आकांक्षा है—पढ़ लिखकर वह अत्याचार और उत्पीड़नके विरोधकी शक्ति प्राप्त कर सके। पश्चिमी रेगिस्तानमें एक मजदूरके रूपमें अपने पिताको अनेक लोगोंके साथ पत्थरोंके डूहमें काम करने और कापीरू द्वारा लगाये जाते कोड़ोंकी स्मृति मेनेप्टाके मस्तिष्कसे कभी दूर नहीं होती। स्वाभाविक रूपसे उसके सपनोंमें मेनेरीप्टा और उसकी पीढ़ीके लिए एक भिन्न भविष्य की कल्पनाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिप्पोपोटामस, और मेमफिसमें भी सम्राट और उसके तंत्रसे पीड़ित अनेक लोग मेनेप्टाके सपनोंसे अपनेको जोड़ते हैं। शिल्पी, कामगर, नाविक, बढ़ई और ऐसेही अनेक लोग हैं जो मेनेप्टाकी हत्याके बाद उसके साथियोंसे आमिलते हैं ताकि मेनेप्टाकी मौतको उसके सपनेकी मौत बनने से रोका जा सके। एक अनिश्चित भविष्यके दौरमें जब नावपर बैठकर वे लोग निकलते हैं तो गीतकार मेन्ना अपनी और अपने साथियोंकी तुलना 'बेनू' चिड़ियासे करता है जिसके बारेमें प्रसिद्ध है कि जल जाने के बाद भी वह अपने पंख फड़फड़ाती रहती है। जब बाटा मेन्नासे पूछता है कि निष्कासनके दिनोंमें वह उन लोगोंको छोड़कर चला तो नहीं जायेगा—क्योंकि वह मूलतः मेमफिसका निवासी है और फेरोहके क्रूर उत्पीड़नके परिणामस्वरूप विक्षिप्तावस्थामें मेनेप्टासे मिला था—तो मेन्ना उत्तर देता है 'मेरा सपना टूट गया है लेकिन मुझे उसकी यादें अच्छी लगती हैं। मैं



तुम्हारे साथ रहकर उसे बार-बार याद कर सकता हूँ  
 ....'(पृ. ४७०)। बाटा, मेन्ना, सेथल, रवेम होतेप आदि  
 अनेक लोग हैं जो मेनेप्टाके सपनोंकी फसल काटनेके  
 लिए एक नयी पीढ़ीकी तैयार करनेमें लग जाते हैं।  
 मेनेप्टा जब मेमफिस गयाथा तो नेफस गर्भवती थी।  
 मेनेप्टाकी हत्याके बाद जब वे लोग अपनेको छिपाते-  
 बचाते इधर-उधर घूमते होते हैं तो नेफस एक पुत्रको  
 जन्म देती है। रवे होतेप मेनेप्टाके दोनों बच्चोंको  
 शस्त्र विद्या सिखाता है। बाटाका बेटा नेखेन शिल्पकार  
 का शिष्य बन जाता है। मेन्ना पेपीरसके पन्ने इकट्ठे  
 करके हिप्पोपोटामस प्रांतके विद्रोहकी कहानी और गीत  
 लिखकर नयी पीढ़ीको मेनेप्टाके सपनोंसे परिचित  
 कराता है। मेनेप्टाकी कब्रमें अपनी बांसुरी रख देनेके बाद  
 बाटा फिर कभी बांसुरी नहीं बजाता लेकिन मेन्नाके  
 गीतोंको वह अवश्य गाता है क्योंकि वे गीत मेनेप्टाके  
 सपनेसे जुड़े हैं। कभी-कभी मेन्ना कहने लगता था—  
 'अन्धकारके बाद प्रभात आता है। याद रखना, कहनेको  
 यह एक साधारण बात ही लगती है लेकिन वास्तवमें  
 है यह बड़ी असाधारण....'(पृ. ४८०)। ....'मृत्यु'जयमें  
 बंधुआ मजदूर,' 'दिहाड़े,' 'जमींदार,' 'नेता' और 'ट्रस्ट'  
 जैसे शब्द अलबत्ता कुछ अटपटे लगते हैं और रचनाकी  
 अन्वितिको क्षति पहुंचाते हैं।

निरंजनने 'मृत्यु'जय' में मिस्रके एक विशिष्ट काल  
 खण्डकी पृष्ठभूमिमें मानवजातिके एक सार्वभौम और  
 कदाचित् सबसे प्रिय सपनेकी कहानी कही है, ऐतिहासिक  
 उपन्यासमें विवरण और इतिवृत्तकी अपेक्षा चित्रात्मकता  
 का महत्त्व सामाजिक उपन्यासोंकी तुलनामें अधिक ही  
 होता है क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासके लेखकको एक  
 ऐसे युगकी पुनर्रचना करनी होती है जो अब केवल  
 उसकी कल्पनामें ही अस्तित्ववान् है। लेकिन यह  
 कल्पना इतिहासके साक्ष्यपर ही पुनर्रचनाका कौशल  
 दिखा सकती है। पुनर्रचनाकी इस प्रक्रियामें उस समूचे  
 काल-खण्डके बीचका छूटा हुआ भाग जिसमें हमारा  
 अपना वर्तमान भी आता है, स्वतः आलोकित होता  
 चलता है। इसके लिए लेखकको अत्यन्त धैर्यपूर्वक सम्बद्ध  
 युगमें से ही ऐसे संकेत-सूत्र चुनने और निकालने होते हैं  
 जो इतिहासकी एक संपूर्ण और अखण्डित काल-प्रवाह  
 के रूपमें प्रस्तुत कर सके। □

## अब किसकी बारी है?

[बंगलासे अनूदित]

लेखक : विमल मित्र

अनुवाद : योगेन्द्र चौधरी

समीक्षक : डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

हवाई अड्डेके प्रतीक्षालयमें बैठे हुए अमरीकी  
 कथाकार मि. ग्रिफथ भारत-विभाजनके विषयपर  
 उपन्यास लिखनेकी सामग्री इकट्ठा करनेके लिए भारत  
 आये हुए हैं, तथा मिसेज सुलताना आयशासे हुई भेंटके  
 विषयमें लेखक विमल मित्रको बता रहे हैं। रामचरित  
 मानसकी शैलीमें। अर्थात् मूल वक्ता सुलताना आयशा  
 है जो अपने जीवनकी दारुण गाथा मि. ग्रिफथको सुना  
 रही है और मि. ग्रिफथ सुना रहे है विमल मित्रको और  
 लेखक विमल मित्र सुना रहे हैं पाठकोंको ! जनसंख्या  
 स्थान्तरणके समय जो राक्षसी मनोवृत्तियोंका नंगा नाच  
 हुआ, जिसके कारण बेकसूर लोग मुट्ठीभर धर्मोन्मादी  
 और जन्मना-अपराधी लोगोंकी कामवासना, अर्थ लोलु-  
 पता और पैशाचिक हत्याके शिकार हुए, इनकी लोम-  
 हर्षक गाथाकी छाया इस पूरे उपन्यासपर मंडराती  
 रहती है। पंजाबमें गुरदासपुर जिलेके सिक्ख दर्शन  
 सिंहके पास एक मुसलमान लड़की हसीना अपने सतीत्व  
 और प्राणोंको, धर्मान्ध हिन्दू और सिक्खोंसे बचाती हुई  
 भागकर आती है, क्योंकि पाकिस्तानमें ऐसे ही भेड़िए  
 हिन्दुओंके प्राणों और स्त्रियोंके सतीत्वके प्यासे हो  
 उठे हैं। हिंसक भीड़को डेढ़ हजार रुपये देकर दर्शनसिंह  
 हसीनाको बचा लेता है, उसे अपनी पत्नी बनाकर रखता  
 है। कुछ दिन बाद सिक्खोंका एक झुंड गुरु ग्रंथ साहब  
 लेकर उसके घर आता है और उन दोनोंका धार्मिक  
 विधिसे विवाह करा देता है।

दर्शनसिंहकी चल-अचल सम्पत्तिपर आंख गड़ाये  
 उसके दो भतीजोंको जब यह सब मालूम पड़ता है तो वे  
 हसीनाको दर्शनसिंहसे अलग करनेका षडयंत्र करते हैं,  
 वकील दलालके द्वारा। हसीनाका एक भाई असगर  
 अर्ला पाकिस्तान चला गयाथा, उसका पता लगाकर

१. प्रका. : राजपाल एंड संस, कश्मीरी दरवाजा,  
 दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : १३४; डिमा. ८६;  
 मूल्य : ४५.०० रु.।



और पुनर्वास-अधिकारीके यहां उसके भाईके नामसे प्रार्थना पत्र देकर हसीनाको पाकिस्तान भिजवानेका षड्यंत्र करते हैं। दर्शनसिंहके यहाँसे हसीनाको बुलाकर विस्थापित कैम्पमें रखा जाता है क्योंकि उसने एक मुस्लिम महिलाको बलात् अपने घरमें रखा हुआ है। दर्शनसिंह और हसीनाके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं और हसीनाको पाकिस्तान भेज दिया जाता है उसके भाई असगरअलीके पास। यहां आनेपर उसका विवाह उसकी अनिच्छासे अजीजुर्रहमानसे करा दिया जाता है। दर्शनसिंह हसीनाको पानेके लिए पाकिस्तान पहुंचता है बेटेके साथ मुसलमान बनकर। बड़ी मुश्किलसे हसीनाका पता चलता है। मुकदमा दायर किया जाता है दर्शनसिंहकी ओरसे। हसीना अदालतमें दर्शनसिंह और तनवीरको पहचाननेसे मना कर देती है यद्यपि तनवीर हसीनाको देखतेही मां-मां कहती हुई उसकी ओर दौड़ती है। निराश होकर लौटनेपर दर्शनसिंह स्टेशनपर खड़ी रेल के चलनेपर उसके आगे कूदकर आत्महत्या करता है और तनवीर छिटककर दूरजा पड़ती है। किसी भले आदमी के द्वारा वह बाचली जाती है—बड़े, होनेपर उसकी शादी वह आदमी कर देता है। आज वहीं तनवीर अव मैसेज सुलताना आयशा बनी लीबियामें अपने इंजीनियर पतिके साथ है। और यह कथासार है इसका।

लेकिन इस कथाकी पृष्ठभूमिमें इतिहासका क्रूर-तम व्यंग्य है। इन निर्दोष स्त्रियोंके सतीत्वके साथ पुरुषोंकी सम्पत्ति-प्राण इस भयंकर धर्मोन्माद और देशोन्मादके राक्षसके पेटमें समा गये। उपन्यासमें कुछ विवादास्पद स्थल हैं। मि. ग्रिफथका यह कहना कि नेहरू-पटेलने माउंटबेटेनसे कहा ६ सितम्बरको साम्प्रदायिक दंगोंके भड़कनेपर—“हमें देशपर शासन करनेकी तालीम नहीं मिली।” पटेलने भी कहा ‘हां जवाहरलाल ने ठीकही कहा है। शासनके मामलेमें हम बिलकुल अनाड़ी है। आप हमारी रक्षा करें।’ दोनोंने कहा—देशका शासन आपही सम्हालें (द्रष्टव्य पृष्ठ ३०)। कुछ समयके लिए माउंटबेटेनको गवर्नर जनरल बनाया गया, लेकिन इसके मूलमें प्रशासनिक अक्षमता तो नहीं थी, अपितु अंग्रेज जातिके प्रति भारतीय शीर्षस्थ नेतृत्व द्वेष भावनाका न होनाथा। नेहरू पटेल जैसे तेजस्वी स्वाभिमानी और स्वतन्त्रता संग्राममें तपे हुए साधकोंका इस प्रकार हीनताजन्य याचना करना उनके समूचे व्यक्तित्वसे मेल नहीं खाता। इसीप्रकार पृष्ठ

६३ पर यह उल्लेख—“एक ओर है माउंटबेटेन, राईट ऑनरेबुल रेडक्लिफ, जवाहरलाल नेहरू, पटेल और मुहम्मदअली जिन्ना—सभी सत्ताके भूखे? कौन कितनी सत्ता दे सकता है और कौन कितनी सत्ता हथिया सकता है यही है उनका ध्येय।”

इससे बड़ा अन्याय और अविचार नेहरू और पटेलके बारेमें दूसरा नहीं होसकता। यह सत्ताकी भूख नहीं थी, जैसेभी हो, अंग्रेजोंसे मुक्ति पाना एकमात्र लक्ष्य था—क्योंकि प्रशासनकी अक्षमता, हिन्दू मुसलमानका परस्पर अविश्वास और मारकाटकी निराधार आशंका, देसी रिसायतोंको स्वतन्त्रकर देनेका षड्यंत्र ये सब हथकंडे अंग्रेजोंके थे यहाँ बने रहनेके लिए। इन सबको असफल करनेके लिए जैसेभी स्वतन्त्रता मिले, उसे ले लेना। बादमें सब ठीक कर लिया जायेगा। मिस्टर जिन्ना तपेदिकके, दो तीन महीनेमें मरणसन्न मरीज हैं, यह रहस्य यदि प्रकट होजाता तो स्वतन्त्रता प्रतिके दिनको टालाजा सकताथा। लेकिन जिन्नाको तो यह पढ़ा दिया गयाथा कि हिन्दुओंके साथ रहनेमें तुम्हारी सुरक्षा नहीं है। चलते-चलते अंग्रेजोंके द्वारा जो विष बीज बोये गये उसका तात्कालिक फल तो साम्प्रदायिक दंगे और विभाजनके समयकी भयंकर मारकाट थी और स्वाधीनता प्राप्तिके बादभी हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक द्वेषभावकी यदा कदा छोटी-छोटी बातोंपर भड़कनेवाली आगसे तो देश आजभी झुलस रहा है। अतः नेहरू पटेलको सत्ताका भूखा किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। यह भी साम्राज्यवादियोंका षड्यंत्र ही है जैसेकि अत्याचारी राजा रजवाड़े और जमींदारोंके जुल्मसे भारतीयोंको छुटकारा दिलानेवालोंके रूपमें अंग्रेजोंको प्रस्तुत मानना (द्रष्टव्य पृष्ठ ७३)। जबकि तथ्य यह है कि अंग्रेजोंका संरक्षण पाये हुए सामंत जमींदार ये जनताके प्रति और अधिक क्रूर हो गयेथे। ऐसेही लार्ड एटलीका यह कथन भी तत्कालीन भारतीय नेतृत्वमें फूट डालनेके षड्यंत्रसे दूषित है “हम लोग न तो कांग्रेसके भयसे और न ही महात्मा गांधीके भयसे हिन्दुस्तान छोड़कर गयेथे। गये थे तो सुभाष बोसके भयसे—क्योंकि, सुभाष बोसने ही हमारी सेनाको बिलकुल तोड़ दियाथा” (पृ. २७३)।

गांधीजी और नेहरू द्वारा चलाये असहयोग और अहिंसात्मक आन्दोलनकी बढ़ती हुई लोकप्रियताने सभ्य



दुनियांकी दृष्टिमें अंग्रेजोंको बर्बर सिद्ध कर दिया था, फिर भगतसिंह चन्द्रशेखर आजाद जैसे सशस्त्र क्रांतिकारियों और सुभाष बोसका संगठित सेनाका भी आतंक परोक्षतः था। केवल सुभाष बोसका भय प्रचारित करनेके पीछे भी गांधी-नेहरूका अवमूल्यन ही है जो भारतीय नेतृत्वका स्वाधीनता संघर्षकी अग्निमें तपे हुए कांचन व्यक्तित्वको धूमिल करनेका घृणित प्रयास है।

इसी प्रकार भयानक नरसंहार और धनजनकी कल्पनातीत हानिका लांचछन जिन्ना माउंटबेटेन नेहरू पटेलपर लगाना अनुचित है—‘एक आदमी कितनी उम्मीद लिये कल्पना कर ताजमहल बनाकर तैयार करता है परन्तु मुहम्मदअली जिन्ना, पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, लार्ड माउंटबेटेन ढहाकर मलवेमें बदल देते हैं’ (पृ. ७५)। इस अविवेकपूर्ण भावुकताने इस तथ्यको अनदेखा कर दिया कि दोनों सम्प्रदायोंके मुट्ठी भर धर्मान्धोंने भोली भाली जनताको उन्मादी बनाकर इस नृशंस मारकाटके लिए उत्तेजित किया। इस मारकाटको न रोक पानेकी प्रशासनिक दुर्बलताका दोषही अधिकसे अधिक इन लोगोंको दिया जा सकता है। इसी प्रकार यह कथनभी सत्यके विरुद्ध है—‘नेहरूजीने बहुत दिनोंतक जेल की सजा काटी थी। फिर वे कितने दिनों तक इंतजार में रहते। पटेलको दो बार दिलका दौरा पड़ चुका था, वे भी कितने दिनों तक प्रतीक्षा करते रहेंगे? और जो आदमी उनका सबसे बड़ा शत्रु था, वह सुभाष बोस तब नहीं था। वह आदमी जिन्दा होता तो हमारे लिए थोड़े बहुत डरकी बात थी। क्योंकि हमारे बदले जनता उन्हेंही प्रधानमंत्रीके पदपर बिठाती, लिहाजा हमारे रास्तेसे हटकर उन्होंने हमारे लिए रास्ता ताफ कर दिया है। अब हमें जल्दसे जल्द दे दो’ (पृष्ठ १०४)।

बड़ाही अविचार और अन्यायपूर्ण और नितान्त चरित्रहननकारी षडयंत्र है यह। ‘सशस्त्र क्रांति’ जब सफल नहीं हुई, तब गांधीजीने असहयोग और अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया। ये दो अलग रास्ते थे, लेकिन उन्हें विरोधी तो नहीं माना जा सकता। लक्ष्य दोनोंका एकही था। गांधी नेहरू पटेलको सुभाष बोस या चन्द्रशेखर भगतसिंह आदि सशस्त्र क्रांतिकारियों का शत्रु तो किसीभी प्रकार नहीं माना जा सकता। मि. ग्रिफथकी यह तथा अन्य उपर्युक्त धारणाएं इंग्लैंड अमरीकी साम्राज्यवादी षडयंत्रकी घिनौनी कल्पनाएं हैं।

इसीप्रकार यह मानना कि जो लोग साधारण

स्तरके हैं वे बड़े बड़े विषयोंके सम्बन्धमें मायापञ्ची नहीं करते। वे चाहते हैं देश चाहे स्वाधीन रहे या पराधीन, इससे उनका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, उन्हें तो बस इतना चाहिये कि उनकी सुख सुविधा ज्योंकी त्यों बनी रहे। देशका राजा चाहे अंग्रेज हो या भारतीय, इससे उनका क्या आता जाता है? (द्रष्टव्य पृ. ११४)। ये बातें केवल तत्कालीन मुट्ठीभर सामंतों और जमींदारोंपर तो लागू हो सकती हैं, परन्तु सर्व-साधारणपर नहीं। यदि ऐसा होता तो गांधीजीका असहयोग अहिंसात्मक आन्दोलन इतना व्यापक कैसे होजाता। यह भी दुष्ट बुद्धिसे तथ्योंकी तोड़मोड़ ही है। हां यह ठीक है कि आजादीका सुख सामान्य जनोको उतना नहीं मिला जितना विशिष्ट जनोंने तिकड़मसे हड़प लिया।

गांधीजीकी हत्याका सही कारण उठाया गया है। पाकिस्तानको उसका देय दिलवानेके लिए गांधीजीका आमरण अनशन हुआ, इससे हिन्दू मानसिकता भड़की और गांधीजीको मुस्लिम समर्थक और हिन्दू शत्रुके रूपमें उभारा गया और हिन्दू महासभाके अनुयायी द्वारा उनकी हत्या हुई। साम्प्रदायिक द्वेष भावके अंधड़में सभी चिरपोषित, मानव मूल्य ढह गये जो आजभी सुरक्षित नहीं हैं। ‘अब किसकी बारी है? शीर्षक प्रश्न बड़ा बेधक है कि लाखों दर्शनसिंह और हसीनाके बर्बाद होनेके बाद अब कौन बलि चढ़ाये जायेंगे? नौवें दशकके भारतीय इतिहास के बाद इसका उत्तर किसीसे छिपा नहीं है। अलगाव-वादी आतंकवादी सम्प्रदायवादी षडयंत्रकारियोंके हाथों निर्दोष जनता और कुछ अधिकारी भी मारे जा रहे हैं। स्वतन्त्र भारतकी आपाधापी, स्वार्थकी घमाचीकड़ी प्रशासनिक भ्रष्टाचार, हरामखोरी अधिकांश नेताओं का पाखंडी व्यक्तित्व, मानवीय मूल्योंका विध्वंस, येन केन प्रकारेण कुर्सी हथियानेकी अंधी दौड़ है। साम्राज्यवादी शक्तियोंका परोक्षतः देशके अन्दर और बाहर देश को तोड़नेकी घिनौनी चाल है। देशके भीतर हिन्दू और मुसलमान तथा बाहर पाकिस्तान और भारतको लड़वाते रहकर हथियारोंकी बिक्रीसे अपना खजाना भरनेवाली बाहरी शक्तियां यह सब करवा रही हैं। विभाजनकी त्रासदीकी एक सामान्य-सी प्रतीति कराने वाला एक सामान्य उपन्यास है यह। लगता है अधिकाधिक लेखनके पीछे छिपी व्यावसायिकता विमल मित्र की सृजनात्मकता और निष्ठाकी क्षति कर रही है। □



## भूगोल राजाका, खगोल राजाका?

लेखक : देवेन्द्र दीपक

समीक्षक : रमेश दवे

नाटककी विधा मनुष्यकी आत्मामें निहित सुख-दुःखको मुखरित करनेकी विधा है। यहाँका सूत्रधार या नांदी नाटकारकी संवेदनात्मक आंतरिकताका प्रतिनिधि होता है। डॉ. देवेन्द्र दीपकका नाटक “भूगोल राजाका, खगोल राजाका” उस स्वार्थमण्डित भवन-संस्कृतिकी अधिनायकवादी सत्ताके विरुद्ध पौरुष, त्याग, उत्सर्ग और लोक-कल्याणकी संस्कृतिका प्रतिपादक और पोषक है जिसे डॉ. दीपकने “हवन संस्कृति” कहा है। डॉ. दीपक ने इस नाटकमें लोक-सत्तापर हावी उस राजसत्ताका पुराणीकरण किया है जो शक्तियोंके केन्द्र स्थापितकर क्रूरताओंके अमानवीय और घिनौने इतिहास रचती है। वह कभी नीरो बनती है, कभी हिटलर-मुसोलिनी जैसी फासिस्ट शक्ति तो कभी जनतंत्रकी मृगछालामें लिपटी एकाधिकारवादकी हिंसक पशुशक्ति। आततायी शक्तियाँ वर्तमान-जीवी क्षणजीवी और तात्कालिक सुख-जीवी शक्तियाँ होती हैं और इसलिए उनके अन्दर का दर्प उनके अपने व्यक्तित्वसे बड़ा हो जाता है। दर्प जब बड़ा होता है तो मनुष्य छोटा होने लगता है और दर्पका बढ़ना मनुष्यको निरकुंश बनाता है, आततायी बनाता है, शक्तिके झूठे मोहजालमें उलझाता है। यह कथा शक्ति और दर्पके इसी उलझावकी कथा है, मनुष्य के बौने होनेकी कथा है, जनशक्तिके अन्तर्द्रोहकी कथा है और एक ऐसी फैंटेसी भी है जो नाटकको यथार्थसे

१. प्रका. : गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, २२३, दीन दयाल उपाध्याय मार्ग, नयी दिल्ली-२। पृष्ठ : ११७; डिमा. ८७; मूल्य : २०.०० रु. (पेपर बेंक).

अतियथार्थमें ले जानेके लिए मिथकको माध्यम बनाती है।

लोक-देवकी स्तुतिसे प्रारंभ नांदीवाक्य और सर्जनात्मक आक्रोशकी स्थापनाके साथ प्रारंभ यह नाटक अंधी आकांक्षाके अंध ताण्डवमें हमें लेजाकर खड़ा करता है जब आपातकालकी सत्ताने लोक-सत्ताकी गर्दन पर पैर रखकर एक नये हिरणकश्यपुके रूपमें जन्म लिया था। जब-जबभी सत्ता हिरणकश्यपु होती है तब-तब नर के अन्दरसे ही नरसिंह प्रकट होता है। यह नाटक लोक की उस नरसिंह शक्तिके आह्वानका नाटक है, उदयका नाटक है जहाँ प्रह्लाद इसलिए उपस्थित है कि वह यह दिखा सके कि मनुष्य कभी नहीं मरता है, मनुष्यता कभी नहीं मर सकती, मरता है जबभी मनुष्यके अन्दरका राक्षसत्व मरता है, दैत्य मरता है, हिंसक पशु मरता है।

नाटकका प्रथम अंक सांगीतिक और काव्यात्मक है जिसमें नाटककारने उस शासकवर्गसे साक्षात्कार कराया है जो महामहिम है, महाबली है, महाभट्ट है और जिसका राज भूगोल और खगोल दोनोंपर है। सत्ता-दर्पसे मर्दा यह शासक हिरनाकुस आत्म-प्रभु है, निरकुंश है, ज्ञान-विरोधी संस्कृतिका संवाहक है तभी उसके आदेश एक स्वेच्छाचारीके आदेशके समान हैं :

सभी ज्ञानपीठ तुरन्त बन्द कर दिये जायें

ज्ञानपीठोंके कुलपति, लिखें महाप्रभुओंके स्तोत्र

और राजकोषसे लें अपना वेतन,

लेखक जब राजकोषको अपनी जिंदगीसे बांधकर चलता है तो वह अपने द्वारा स्वीकार प्रवचनाका किस प्रकार शिकार होता है इसे दीपकने बड़े साहसके साथ ऐसे समयमें व्यक्त किया जब देशपर आपात्कालने स्वतंत्र सांस लेनेका संकट पैदा कर दिया था :

लेखक जोभी लिखेगा

उसपर शासनकी स्वीकृति लेनी होगी अनिवार्य नाटक नहीं अभिनीत होगा, जनताके बीच

‘प्रकर’—आमण २०४७—२७



तथाकथित बुद्धिजीवी ऐसे आपत्कालोंमें किस प्रकार सत्ता-पोषक और सत्ताका उद्घोषक हो उठता है, किस प्रकार अवसरकी चिड़ियाको हाथमें पकड़कर उसे पालतू बनाता है, किसप्रकार उसकी सत्ताके खूंटों से बंधी अंधी आकांक्षओंका विस्फोट होता है इसपर देवेन्द्र दीपकने अत्यन्त तीखा प्रहार किया है :

देख नहीं रहे

आजके बुद्धिजीवीका कितना बड़ा हो गया है पेट ! राजाकी निरंकुशताका विस्तार तभी होता है जब बुद्धि-जीवीके पेटका आकारभी बढ़ता है । ऐसे समयमें मूल्य, नैतिकताएं और संस्कार अपने आप दासता स्वीकार लेते हैं ।

द्वितीय अंक कथा-गायनका है जहां हर प्रकारके आततायी आतंकसे टकरानेके लिए एक जन-प्रह्लाद प्रकट हो चुका है जो देखता है कि

अधिकारी स्वयंही  
अधिकृत हो गया है !

प्रह्लाद, नग्नजित और विश्वजित यहां आकर आभास देते हैं कि प्रह्लाद उस नेतृत्वका नाम है जो पिताओंको सत्ता देनेवाला नहीं मानता और जो न सत्ताओंको पिता स्वीकारता है चाहे फिर वह स्वयं अपना पिताही या उसकी सत्ताही क्यों न हो । यहां देवेन्द्र दीपक कुछ अपनी भाषाके सपाट और ठोसपन से ऊपर जाकर लाक्षणिक और बिम्बात्मकभी हुए हैं और उन्होंने शब्दोंका सतही धरातल तोड़ा है । प्रह्लाद जब यह कहता है तो यह उस समूचे आलोड़न-विलोड़न को प्रकट करता है जो सत्ताके विरुद्ध धधक रहा है :

प्रह्लाद : ज्वालामुखी भौमिकीका ही नहीं  
मानविकीका भी विषय है

इतने प्रगाढ़ संवादके बाद दीपक फिर जब कहते हैं तो लगता है कि वे भाषाको जनके पास रखनेके आग्रहसे ग्रस्त हैं :

दमनके इतिहासके हर पृष्ठपर  
एक जैसाही लेख नहीं होता ।

... ..

हम तोते नहीं हैं  
हमारी आंख पत्थरकी आंख नहीं है  
हम निःसंज्ञ नहीं हैं ।

... ..

प्रकर'—जुलाई'६०—२८

मेरी सत्ता-लोकाताकी भूमिकाका  
करे यदि निर्वाह

तो निकल सकती है कोई न कोई राह !

तृतीय अंकमें सत्ताके हिरनाकुसी स्वभाव, कयाधु की चिंता और प्रह्लादकी प्रखरताके बीच जो संवाद है, वह पुनः ठोस होते हुएभी मारक और प्रभावी है और मंचनकी जिस भाषाके साथ जुड़ा है उससे लगता है कि नाटककारने नाटकको लिखते समय मंचनकी पूरी संभावनाओंको भी ध्यानमें रखा है ।

हिरनाकुस : सत्ताके सामने शीशका झुकना  
आवश्यक है आसनके लिए !

... ..

मैं नियामक हूं  
नियामक नियंत्रणमें नहीं रहता

प्रह्लाद : सत्यसे बड़ी शक्ति है कोई ?

राजशक्ति मुझे मार सकती है  
पराजित नहीं कर सकती

राजमत आपके साथ हो सकता है  
लोकमत लेकिन साथ है मेरे !

... ..

अंक-अंकपर आतंक

अक्षर-अक्षरपर पहरा, कितना गहरा !

दीपकने इन संवादोंसे उस भीषण कालकी याद को ताजा कर दिया है जब सत्ताके आदेशपर अक्षरोंकी इबारतें जन्म लेती थीं और लोकशक्ति राजशक्तिके समक्ष सर झुकाये निस्सहाय-सी लग रही थी ।

चतुर्थ अंक उस अहंकारके चरमका उद्घोषक है जब हिरनाकुस भावी पीढ़ीके निर्माता आचार्यको अपमानकी वेशभूषामें बंदी कर देते हैं । हिरनाकुस, गजा-ध्यक्ष और महाकूटकके संवाद राजकीय संवादोंकी सहजता व्यक्त करते हैं लेकिन यह अंक कुछ अधिक सपाट-सा लगता है । यहाँ राजा और राज्य-संचालकों के मध्य राजनीतिक संवादकी गूढ़ता प्रकट की जा सकती थी और एक स्वतंत्र जनतंत्र और निरंकुश सत्ता के बीचके स्वेच्छाचारको उघाड़ देनेका पूरा अवसर था जिसे दीपक चाहते तो रख सकते थे । यहांभी उनका मंचन-मोह गूढ़ताके बजाय सतहपर रहनेमें ही अधिक सार्थकता मानकर इस अंककी संभावनाओंका पूरा लाभ न उठा सका ।

पंचम अंकमें देवेन्द्रने पुनः अपने असली नाटककार



की गंभीरता को आजमाया है और यहाँ आकर नागपाल, सागरबंधु, महाकूटक, गजाध्वज और प्रह्लादके संवाद अत्यन्त गंभीर और प्रतीकात्मक बन पड़े हैं जैसे :

नागपाल : लगता है

राजरथका एक गुं गा पहिया है मैं ।

सागरबंधु : एक प्रश्न मनको रहा है मथता कई दिनोंसे राजसेवक क्या केवल होता है

एक कोरा पत्र .....

जिसपर शासन चाहे कुछ भी लिख सकता है ।

महाकूट : हम तो दीवार बन गये हैं पत्थरकी जिसपर जैसा भी मन चाहे

शासन टाँग सकता है चित्र

एक सर्जककी पीड़ा, एक स्वेच्छाचारी आतंक, शासक और जनसेवकके सह-सम्बन्ध और अन्तस्में घटित उद्विग्नता, आत्मग्लानि आदिका अत्यन्त प्रभावी निष्पादन इस अंकमें हुआ है और यहाँ आकर दर्शक और पाठकको नाटकका कल्प और शिल्प बाँध लेते हैं ।

पष्ठ अंक पुनः कथागायनमें उपसंहार है जहाँ हिरताकुस समाप्त होता है और आत्मचित्तन जन्म लेता है । यहाँ आकर मंचका ठोस पात्र अमूर्त होता है और ध्वनिपात्र उपस्थित होते हैं जो राजध्वज स्वभावके प्रतिएक दशन-दृष्टि देकर जनताके तनावका विरेचन करते हैं :

पहला स्वर : राजाका हर अधिकारी होता

सिंहासनका खम्बा !

...

...

नृशंसके विनाशहित

नहीं नर हो सकता पर्याप्त

इसीलिए नर सिंह

दोनोंकी थे संयुक्ति !

अब नग्नजित यह कहता है :

लौट रही है सबकी स्वतंत्रता तपःपूता

आजसे विद्यापीठ स्वतंत्र हैं, कवि-लेखक स्वतंत्र हैं

रंगमंच स्वतंत्र है

यह वाक्य अच्छा तो जरूर लगता है मगर यहाँ पुनः दीपक भाषाको विम्बात्मक नहीं बना सके । व्यंग्य की वक्तव्य यहाँ होती तो ये संवाद अधिक मनोरंजक और प्रभावी हो जाते ।

देवेन्द्रने एक बातका पूरा ध्यान रखा है कि जिस नाटकको महामहिम, महाबलि, महाभट्टकी आततायी मंजारीसे प्रारंभ किया था, उसके लोकचरित्रको अंतमें

जो रूप दिया वह अद्भुत है । राजसत्ता आतंकका पर्याय होती है और लोकसत्ता मुक्तिका पर्याय और यह संदेश अन्तके इन वाक्योंसे उभरता है :

लोक संग्रही, लोक रक्षक

लोकपति प्रह्लादकी जय

“भूगोल राजाका, खगोल राजाका” एक मार्मिक नाटकीय अभिव्यक्ति है । आपात्कालके बीच जिस बौद्धिक यंत्रणाका दौर शुरू हुआ था उस यंत्रणासे मुक्ति का आभास इस नाटकमें ऐसे चरित्रोंमें प्रकट किया गया है जो सर्जनात्मक चरित्र हैं । मिथक यहाँ आकर सर्जनकी सहायता करते हैं । दीपक चाहते तो इस नाटक को मिथकोंके प्रयोगसे अधिक गंभीर और बोझिल कर सकते थे और संवादोंसे कुछ अनाटकीय भाषा शब्दावली निकाल सकते थे परन्तु देवेन्द्रके पास यहाँ जो मनोविज्ञान था वह नाटकको केवल बौद्धिकोंकी तर्क-बुद्धि तक सीमित करना नहीं था बल्कि एक लोकचरित्रकी ऐसी रचना था जो लोकको अपनी शक्तियों से संवाद करनेका अवसर दे और अपने ही तर्कसे अपने उद्धारकी संकल्पना दे । इस अर्थमें यह नाटक अपने सम्पूर्णमें एक सफल नाट्य कृति है । □

## नाटक बाल भगवान् ?

नाटककार : स्वदेश दीपक

समीक्षक : डॉ. विश्वभावन देवलिखा

स्वदेश दीपक हिन्दी कथा साहित्यके सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, ‘बाल भगवान्’ शीर्षक कहानी संग्रहमें उनकी इसी शीर्षकवाली कहानी संगृहीत है । यह नाटक उसी कहानीका रूपान्तर है जो स्वयं लेखकने किया है । कहानीमें व्यक्त धार्मिक पाखण्ड अन्धविश्वास और अमानवीयताको दीपकका कथाकार दृष्टात्मकता तक ले जाता है और नाटककारमें रूपान्तरित हो जाता है । हिन्दी नाटकका कष्ट यही है, बहुमूल्य पृष्ठभूमिके लिए कनवायसे चलना पड़ता है, सीधे नहीं ।

फिरभी, नाटक अपने तीन अंकोंमें प्रभावशाली है । अंक-१ के आरम्भके पहले ‘पूर्वकथन’ है अंक-२ और ३

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-२ । पृष्ठ : १०३; क्रा. ८६; मूल्य : ३५.०० रु. ।

‘प्रकर’—श्रावण २०४७—२६



के पहले दो बार अन्तरालिका है। पूर्वकथन नाटक के समूचे वातावरणको स्पष्ट करता है जिसके बीच पुजारी का वक्तव्य है, पुजारी सूत्रधार भी हो सकता है। नाटक का केन्द्रीय पात्र 'सिद्ध' है। प्रथम अंकमें सिद्ध के परिचयके साथ ही उसे बाल भगवान् सिद्ध किये जानेका पाखण्ड जनतामें अन्धश्रद्धा पैदा करानेके फरेवको स्पष्ट करता है। वस्तुतः सिद्ध मानसिक रूपसे अविकसित ब्राह्मणका बेटा है जो 'कुत्तोंकी तरह गंदमें मुँह मारता है', कूड़ेके ढेरकी जूठनसे पेट भरता है ! बाप बंटवारेके बाद पंजाबवाले पाकिस्तानसे आया-बसा शराबी है। सिद्ध के मुँहसे 'लड़का, लड़ू' शब्द निकलते हैं और 'पागलों और साधुओंकी' जीभपर भगवान् का वास होता है' वाले विश्वाससे सिद्ध भगवान् बना दिया जाता है। इस अंकके चार दृश्य पूरे होने तक बाल-भगवान् घोषित 'सिद्ध' लोगोंके भाग्य बताने योग्य आसीन कर दिये जाते हैं।

अन्तरालिकाकी दो आवाजें सिद्ध को साक्षात् प्रभुका अवतरण बतलाती हैं और दूसरा अपने तीन दृश्योंमें पाखण्ड, अन्धविश्वास, झूठ और स्वार्थ साधन के चेहरे-दर-चेहरे बनाता चलता है जिसमें घटनाओंके संयोगकी स्थितियां लोगोंके विश्वास और निजी स्वार्थ को मजबूत करती हैं। इस ठगीके धंधेमें व्यवस्था और समाज दोनोंकी करतूतोंका पर्दाफाश भी है। इस अंध-विश्वासके समक्ष पूँजीवादभी धुत्ने टेक देता है और सिद्धका परिवार मालामाल हो जाता है।

तीसरे अंकके पूर्वकी अन्तरालिका सिद्ध जैसे पागल और मसखरोंका क्रिकेट प्रेम दर्शाकर नाटककारने जोरदार व्यंग्य किया है, और फिर चार दृश्यों वाले तीसरे अंकमें षडयंत्र-अंधविश्वास और जालसाजी का पूरा नाटक अमानवीयताकी चरम सीमाको पहुंचाता है इसमें पूरी नाटकीयता नाटककी आत्माको हिला देती है। बाल भगवान् बनानेवाले ही अंधविश्वासकी गिरफ्त में आते प्रतीत होते हैं—

“इनमें कोई देवी शक्ति है जरूर ! सारी दुनियां क्या पागल है, मूर्ख है जो इन्हें भगवान् मानती है। इन्हें हमारी चालों और चालाकियोंका पता चल गया तो विपदाका पहाड़ टूट पड़ेगा।” यह एक लंपट लोभी लालची ब्राह्मण पिताका वक्तव्य है जो उसके सिरपर चढ़कर बोलता है। लेकिन अब बालक भगवान् रूपी सिद्ध को यह बताना है कि चुनावमें किस पार्टीकी

‘प्रकार’—जुलाई १९०—३०

जीत होगी ताकि रतनके साथ आये मंत्रीजी उसी पार्टी का टिकट लें। बाल भगवान् पार्टीयोंका नाम उच्चारित नहीं कर पाते, इस पाखण्डके आयोजक चाहते हैं कि सिद्ध एक शब्दही बोलें इसलिए उसे भूखा रखकर पार्टीयोंका नाम सिखाया जाता है। विश्वास यह है कि जब सिद्ध भूखा रहता है तभी सच बोलता है। लोगों को बताया जाता है कि बाल भगवान् ने समाधि ले ली और पण्डित 'लोकदल', 'कांग्रेस', 'कार' 'कोठी', जैसे शब्दोंको सिखानेकी असफल कोशिशमें भागनेके लिए बेचैन सिद्ध के अल्सरसे पूले पेटपर लात मारता है और अल्सर फटते ही सिद्ध मर जाता है।

सिद्ध आम जनताका प्रतीक चरित्र है वह बौद्धिक अपंगतासे ग्रस्त है यह अपंगता समूचे समाजकी है। नाटक ब्राह्मणवादकी बीभत्स आलोचनाभी करता है। विषयवस्तु, संरचना और नाटकीय प्रभावकी दृष्टिसे नाटक लगभग २० पात्रोंके साथ कुशलतापूर्वक परोया गया है तथा आदि मंच अम्बाला द्वारा प्रथम बार उत्तर क्षेत्रीय नाटक समारोह-८८ में खेला भी जा चुका है। कथाका रूपान्तर होनेके कारण स्पष्ट है जितना वस्तु पर ध्यान रखा गया है उतनेही शिथिल संवाद है। रंग-संकेतोंसे नाटक सराबोर है। कुछ संवाद बेहद लम्बे हैं गति होते हुएभी क्रिया व्यापार और अल-ट्रेंड के स्थानपर “विचारधारा विशेष” पर लेखकने अधिक बल दिया है। वर्तमान 'टोटल थियेटर' की परिधिसे नाटक बिलकुल बाहर है। आठ नारी पात्र नाट्याभिनयके विचारसे रंगकर्मियोंके लिए एक समस्या भी बन सकते हैं। नाटक यथार्थवादी रंगशैलीको ही अपनी सीमाओंमें छुपाये हुए है और समकालीन दर्शकके लिए रंग प्रस्तुतिकी दिशामें कोई नये प्रयोगके लिए प्रेरित नहीं करता। स्वदेश दीपक विलक्षण व्यंग्यके धनी कथाकार हैं और प्रस्तुत नाटकके कथ्य हेतु उन्होंने कहानीकी विधाका चयन किया था। कथात्मक शैलीही इस नाटकका प्राण है। स्पष्ट है स्वदेश दीपक कहानी लेखनको ही महत्त्व देंगे। लेखकको यह तय करना आवश्यक है कि वह किसी कथ्यके लिए पूरी योजनाके साथ किस विधाका चयन करता है। □



## उजली दस्तक?

नाटक : सरताज नारायण माथुर  
समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

राजस्थान साहित्य अकादमीके आर्थिक सहयोगसे प्रकाशित श्री सरताज नारायण माथुरकी इस नाट्यकृति में 'मानव-मन-मंथन' एकांकी भी संकलित है। 'उजली दस्तक' नाटकका प्रथम मंचन सन् १९८४ में राजस्थान विश्वविद्यालयके मानविकी पीठ आडिटोरियममें 'एक और सावित्री' नामसे किया जा चुका है जिसका निर्देशन डॉ. अलका रवि रायने किया था। एकांकीका प्रथम मंचन हिण्डनरिवर डानसाके आडिटोरियममें किया गया, जिसका सरताजने ही निर्देशन किया था।

आलोच्य कृतिके नाटककार मूलतः निर्देशक हैं और रहे हैं तथा अखिल भारतीय सिविल सर्विसेज नाट्य प्रतियोगिताओंमें अनेक बार सर्वश्रेष्ठ निर्देशकका पुरस्कार प्राप्त करते रहे हैं, पर उजली दस्तक (या एक और सावित्री) के नाटककारके रूपमें प्रथम परिचय मिलता है। हिन्दी क्षेत्रमें रंगमंचीय नाटकोंके अभाव की बात कही जाती है और जोभी प्रयास किये जा रहे हैं, उनका विधिवत् और रंग-शिल्पकी दृष्टिसे मूल्यांकन वर्तमान युगकी उपलब्धियोंको स्वीकार नहीं किया जा रहा है। मोहन राकेशके बाद हिन्दी नाटकमें गतिरोधकी चर्चा व्यापक रूपसे की जाती रही है। यह सत्य है कि उसके बाद 'नकार' की स्थितिमें नाटकोंका मूल्यांकन नहीं किया जा रहा है। आलोच्य नाटकके विषयमें तीन कारणोंसे नाटकपर ध्यान देनेका आग्रह श्री मंगल सक्सेना (त्रिवेणी नाट्य संस्थान, उदयपुर) ने किया है—हिन्दीमें अपेक्षित नाटकोंके अभावकी चुनौती स्वीकार करने, नाट्य-भाषाकी तलाश करने तथा सामाजिक सद्भावमें युगापेक्षी मांगकी पूर्ति करने के लिए (पृ. ९-१० भूमिका)। निस्संदेह सरताजने इन तीनों चुनौतियोंका सामना किया है।

'उजली दस्तक' की कथा संक्षेपमें यह है कि वैष्णव परिवारमें जन्मी इकलौती सन्तान सावित्री है

१. प्रका. : वस्तिका प्रकाशन, ४/१ जवाहरनगर, जयपुर-३०२००४। पृष्ठ : ८७; डिमा. ८७; मूल्य : १८.०० रु.।

जो स्वयं अध्ययन करके अपने पैरोंपर खड़ी होना चाहती है तभी उसके पिताका देहान्त हो जाता है तो पिता द्वारा निश्चित प्राइमरी स्कूलके अध्यापकसे विवाह करनेके लिए मनाकर देती है। जिस युवक शेखर से विवाह होता है, वह एक रात एकाएक अस्वस्थ हो उठता है तो वह डाक्टरकी खोजमें जाती है तो पुलिसके शिकंजेमें फंस जाती है। फिर नेताजीके चमचोंद्वारा भ्रष्ट करनेकी कोशिश की जाती है। नेताजी अपने चमचोंको बचानेके लिए डाक्टरको स्थानान्तरणकी धमकी देकर रिपोर्ट अपने पक्षमें करानेका प्रयास करते हैं। सावित्री अपनी इज्जत बचाकर किसी प्रकार भागकर अपनी समुराल (पतिगृह) पहुंचती है तो दरवाजा बंद होता है, वह मंदिरके पुजारीकी शरणमें पहुंचती है। समाज-सेविकाएं पुजारीके पास पहुंचती हैं और सावित्रीके विषयमें पूछती हैं। पुजारी उन्हें पिकनिक मनाने और धूमनेका परामर्श देकर कहता है कि उस स्त्रीको अपने भाग्य और कर्मों पर छोड़ दो। अपनी दानशीलताका प्रदर्शनकर उसे लज्जित मत करो। मेरी उस बेटीमें परिस्थितियोंसे जूझनेकी शक्ति है। उसका सहपाठी दिनेश घटनाका समाचार पढ़कर खोजते हुए पुजारीके पास पहुंच जाता है—सावित्री उससे मिलती है। वह अपना नके भाव व्यक्त करता है।

सावित्री अपनी जीविका चलाती है नोट्स लिखकर और अपने पति को गुप्त रूपसे आर्थिक सहायता पहुंचाती रहती है। एक दिन शेखर (पति) उसके पास आता है और उसे अपने साथ ले जाता है। नाटककारने वर्तमान युगकी विसंगतियों, पुलिसकी आपराधिक वृत्तियों, नेताओंकी निहित स्वार्थपरक धूर्तता, नारी सुधारक समितिकी सदस्याओंकी नग्न-बीभत्स वार्ता और उद्देश्यहीन सहानुभूति तथा पत्नीके पत्नीत्व भावकी अतिशयता, समर्थता और आन्तरिक शक्तिका संकेत नाटकमें किया है जो अत्यन्त प्रभावी और दिशा बोधक है तथा नारीकी विवशताके स्थानपर सतर्क नारी-सामर्थ्यका द्योतक है। रंगशिल्पकी विविधताओंसे परिचित होनेके परिणामस्वरूप नाटकका रंग-शिल्प विधिपूर्ण है। स्थान-स्थानपर रंगदीपन और पार्श्वसंगीत तथा रंगमंचीय निर्देशोंसे सम्पन्न यह नाटक निश्चित ही लोगोंकी दृष्टिमें आयेगा।

नाटककारने नाटकमें नाट्य-भाषाका अपना



वैशिष्ट्य सुस्पष्ट रूपसे प्रस्तुत किया है जो राजस्थानमें लिखे जा रहे नाटकोंकी नाट्य-भाषाके सन्दर्भमें योगदान करता है तथा हिन्दी नाट्य-जगत्में इस नाट्य-भाषाके संरचनात्मक स्वरूपपर ध्यान दिये जानेकी अपेक्षा भी रखता है।

इस कृतिके परिशिष्टमें 'मानव-मन-मंथन' एकांकी आधुनिक रंग-बोधसे सम्पन्न है तथा उसमें नाट्य स्थितियोंकी त्रयात्मकता विद्यमान है। राष्ट्रीय चिन्तनकी विविध विषमताओं, राजनीतिक संकटोंकी यथार्थ-बोधकताका परिचय देता हुआ यह एकांकी पात्र-बहुला होकर भी मात्र आठ पात्रों द्वारा अभिनीत किया जा सकता है। मदारीके माध्यमसे आत्मागमन और उसके प्रतीकोसे आजकी विसंगतियोंका सक्षम रूपमें मंचित किए जानेके रंग-संकेत तथा नाट्यभाषाकी विषयमें संकेत यथास्थान प्रस्तुत किये गये हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ये संग्रह अपने नाटक 'उजली दस्तक' के कथ्य और रंग-मूल्योंसे अपनी पहचान बनायेगा। □

## हे मातृभूमि!

एकांकी-लेखक : राधाकृष्ण सहाय

समीक्षक : डॉ. भानुदेव शुक्ल

राधाकृष्ण सहायके नये एकांकी—संकलन 'हे मातृभूमि' में पांच एकांकी संकलित हैं। प्रथम 'ओ कलाकार' हलके-फुलके मूडका हास्य-व्यंग्यमय एकांकी है। इसमें बताया गया है कि एक कलाकारके अधूरे छोड़े हुए चित्रको एक कुत्ता अपनी रंगपुती दुमसे रंग देता है। धोखेसे चित्र एक प्रतियोगितामें भेज दिया जाता है जहां उसे अत्यन्त मौलिक तथा रहस्यमय भावानुभूतिका चित्र माना जाकर पुरस्कृत किया जाता है। संकलनके अन्य एकांकियोंसे यह इस बातमें भिन्न है कि इसमें कोई बड़ी सोद्देश्य दृष्टि नहीं मिलती।

'एक हड़का हुआ कुत्ता' हमें संकलनका सबसे प्रभावशाली एकांकी लगा है। इसमें पुलिसके अत्याचारों तथा अनाचारोंसे संघर्षमें संलग्न युवावर्गका

चित्रण है एक ऐसे युवावर्गका जिसका "अभीष्ट एक है, वस एक उत्पीड़नका उन्मूलन।... हमारी आस्था है प्रगतिमें रिक्तता नहीं रहती। भविष्य भी रिक्त नहीं रहेगा... इसलिए हम मृत्युके सामने हैं और मृत्यु हमारे सामने..." 'सोच रही हूँ' में दहेजके लालची परिवारमें बहू बनकर आयी एक प्रबुद्ध नारीकी विद्रोह-भावना तथा भविष्यके प्रति आशंकाके स्वर व्यक्त हुए हैं। यह नारी न तो पौराणिक नारीके समान परम्परासे जकड़ी है और न ही किसी रूपकुँवरके समान निरीह बलिपशु। 'और जिन्दगी' में खोखले तथा निरर्थक आक्रोशकी अभिव्यक्ति हुई है। 'हे मातृभूमि' का कथ्य सशक्त है किन्तु इसका शिल्प अपेक्षाकृत सामान्य है। तथापि, मंच-विधानके विचारसे यह एकांकी लगभग नुककड़ नाटक है। अभिनयके विचारसे यह सबसे सफल एकांकी सिद्ध होगी। नुककड़ नाटकके रूपमें इसकी प्रस्तुतिमें इसमें प्रकाश-व्यवस्था सम्बन्धी अंशमें परिवर्तन करते होंगे। इसमें कोई परेशानी नहीं होनी चाहिये।

एकांकियोंके प्रारम्भमें नाटककारने रंग-निर्देश दिये हैं जिनमें उसके मंच-विधान, ध्वनि और प्रकाशके उपयोग का ज्ञान प्रकट होता है। एकांकियोंकी मूलभूल प्रवृत्ति का ध्यान रखा गया है कि किसीभी एकांकीको एकसे अधिक दृश्योंमें नहीं फैलाया गया है। हमारी मान्यता है कि एकांकी पूर्णांगी नाटकसे इस अर्थमें पूर्ण स्वतन्त्र होता है कि उसका मंच-विधान पूरी तरह भिन्न होता है। एकांकीमें घटना-प्रवाह अनवरत होना चाहिये, उसमें कथानकके दृश्योंमें विभाजन नहीं हो। राधाकृष्ण सहायके एकांकी इस अर्थमें पूरी तरह निर्दोष हैं। हमें विश्वास है कि इन अभिनेय एकांकियोंकी रंगकर्मियों द्वारा स्वीकार किया जायेगा। □

## एकपर एक?

एकांकी-लेखक : डॉ. जितेन्द्र सहाय

समीक्षक : भानुदेव शुक्ल

डॉ. जितेन्द्र सहाय व्यवसायसे सर्जन हैं और अपनी इस विशेषज्ञताको उन्होंने साहित्यमें भी लेखनीके सहारे

१. प्रका. : साहित्य भवन, ६३ के. पी. रोड, इलाहाबाद-२११००३। पृष्ठ : १२२; क्रा. ८८; मूल्य : ७.०० रु. (पेपरबैक).

'प्रकर'—जुलाई ६०—३२

१. प्रका. : सीमान्त प्रकाशन, ६२२ कूचा रहेला, तिराहा बहराम, दरियागंज, दिल्ली-२। पृष्ठ : ८२; क्रा. ८६.; मूल्य : ३०.०० रु.



प्रदर्शित किया है। सामाजिक विद्रूपोंको चीर-फाड़में संतुलन है तथा शताधिक एकांकी लिख चुके हैं जिनमें बड़ी संख्यामें आकाशवाणी, पटनासे प्रसारित भी हुए हैं। तथापि, आलोच्य दोनों एकांकियोंमें उनकी वह गंभीर सर्जरी नहीं दिखायी देती जिससे वे अपने मरीजों को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।

पुस्तकमें प्रारम्भमें 'नाटककार उवाच' है। इसमें डॉ. सहायने स्पष्ट किया है कि मात्र विनोदकी सृष्टि करनेवाले नाटक उनको रुचिकर नहीं लगते। इसीलिए उनका प्रयास हास्यके साथ व्यंग्यका संयोग करता रहा है। "व्यंग्य गुस्सेकी अभिव्यक्ति है किन्तु हास्यके कलेवरमें लिपटकर वह अहिंसक और शक्तिशाली हो जाता है।" अहिंसाके अग्रदूत राष्ट्रपिता महात्मा गांधीकी अहिंसाकी परिभाषामें डॉ. सहाय द्वारा मान्य अहिंसा शायद स्वीकृत न भी हो क्योंकि अंततः व्यंग्यका मूल उद्देश्य अहिंसक होही नहीं सकता। हास्यमें लपेटा गया व्यंग्य निश्चयही अधिक गहरी मार करनेवाला और प्रभावशाली हो जाता है क्योंकि उसमें क्रोधकी भड़ास भर नहीं रह जाती। दृश्य-माध्यमोंमें ऐसा व्यंग्यही उपयुक्त सिद्ध होता है।

'ट्यूशनका चक्कर' में अर्थलोभी शिक्षककी विडम्बना दिखायी गयी है। पति अपनी प्राध्यापिका पत्नीको अधिकाधिक ट्यूशन करनेको मजबूर करता है। सुन्दर तथा युवती प्राध्यापिकासे ट्यूशनमें पढ़नेवाले युवा छात्रोंकी बढ़ती भीड़से पति आशंका-ग्रस्त होने लगता

है। अन्तमें पति एक पल रुके बिना उस नगरको छोड़नेका निर्णय लेता है किन्तु ट्रेन बहुत लेट है। परिस्थितिमें अंकित विद्रूप अतिरंजित अवश्य है किन्तु निष्प्रभावी नहीं। एकांकीकी एक कमी यही खटक सकती है कि परिस्थितिका समाधान पलायन ही दिखाया गया है। सोद्देश्य रचनाका स्वरूप कुछ भिन्न हुआ करता है।

दूसरे एकांकी 'इलाज' में इन्टरव्यूका नाटक अंकित किया गया है। इसबार नाटक किसी विशेष प्रत्याशीके चयनके लिए नहीं है इस बल्कि नाटकके माध्यमसे चयन-समितिके युवा तथा अविवाहित सदस्य की भंवरान्वृत्तिको समाप्तकर परिणय बंधनमें नाथनेका उपक्रम है। कथानकमें व्यंग्य प्रायः भोथरा है और हास्यकी सृष्टिही अभीष्ट हो गयी है।

दोनों एकांकी सुव्यवस्थित कथानक तथा अभिनेयता के विचारसे कुशल रचनाएं हैं। तथापि, दोनोंमें कोई भी किसी प्रकारका गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाता। इनमें लोकप्रिय होनेके गुण तो विद्यमान हैं किन्तु ये सार्थक कम हैं। डॉ. सहायको नाटककी भाषाकी भली पहचान है किन्तु वे कथ्यको आवश्यक महत्त्व कदाचित् ही दे पाये हैं। संक्षेपमें दोनों एकांकी सफल किन्तु सामान्य स्तरके हैं। दोनोंको बहुत सरलताके साथ मंचपर भी प्रस्तुत किया जा सकता है और आकाशवाणीपर प्रसारणमें भी कोई बाधा नहीं आयेगी। □

## काव्य

### चिर विहाग?

कवियत्रो : शशि तिवारी

समोक्षक : डॉ. सन्तोषकुमार तिवारो

'चिरविहाग' जीवनका वह राग है जो संतुलन

१. प्रका. : शुभम् प्रकाशन, लाल हवेली, गोंडपारा;  
विलासपुर (म. प्र.)-४६५००१। पृष्ठ : २१०;  
डिमा. ८६; मूल्य : ८०.०० रु.।

और सामंजस्यकी भाव-भूमिपर 'शिव-शक्तिके समन्वित आह्वान' को मानवीय परिप्रेक्ष्यमें आनन्दकी ओर ले जाना चाहता है। यदि 'कामायनी' में प्रसाद हमें 'चिन्ता' से 'आनंद' की ओर ले जाते हैं तो यह काव्यकृति भी इस यातनाग्रस्त और पीड़ामय संसारको शिवत्व की उच्चतर भाव-भूमि प्रदान करती है; जहाँ अनहद नाद है, ब्रह्म का प्रकाश है और चिदानंद है।

'चिरविहाग' काव्यकृतिकी सबसे बड़ी विशेषता

'प्रकर—श्रावण' २०४७— ३३



यह है कि कवयित्रीने 'शिखरस्थ-मानवता' और 'कर्मठ-ऊर्जाका समन्वित विवेक' स्वीकार कर शक्तिको अनियंत्रित नहीं होने दिया और शिवको स्थितप्रज्ञ होकर जड़ताकी सीमासे बचाया है। चाहे इसे हम प्रसादके शब्दोंमें समरसता कहें या सामरस्य, कवयित्रीकी समन्वयवादी भूमिका जीवनको रसमय और उर्वर बनाती हुई प्रतीत होती है। इस कृतिकी दूसरी विशेषता यह है कि 'दिग्दिगान्तमें पसरी पीड़ा' और 'क्षितिजतक पसरे हुए अनन्त दुःख' मानवीय भावभूमिपर अर्धनारी-श्वरसे अपना समाधान चाहते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि आध्यात्मिक ऊँचाईयोंसे जुड़कर भी कवयित्रीका प्रगतिशील दृष्टिकोण कहीं बाधित नहीं हुआ। यहाँ मार्क्सवादी प्रगतिशीलता नहीं है अपितु भारतीय संदर्भों में अध्यात्मके साथ प्रगति-चिन्तन समाहित है, जो हमारी वैचारिक पीठिकाको समृद्ध करता है। चौथी विशेषता यह है कि कवयित्रीका वैज्ञानिक दृष्टिकोण, भारतीय संस्कृतिके दार्शनिक पहलुओंसे जुड़कर प्राचीन और नवीनके सामंजस्यका प्रति-आख्यान बन जाता है।

जब कोई रचनाकार मिथकके माध्यमसे मनुष्यको केन्द्रमें रखकर सर्जनकी मनोभूमिपर नयी जीवनदृष्टि की खोज करता है तब उसमें घटनाओंके सूत्र, प्रज्ञा-प्रतीक और इतिहास-सिद्ध-पात्र, जीवन-मूल्योंको तलाशते हुए अतीतकी पृष्ठभूमिपर वर्तमानको परिवेशगत सच्चाइयोंके साथ ध्वनित करते हैं। जीवनके अनेक प्रश्न समसामयिक संदर्भोंके ताने-बानेमें उन जटिल तथ्योंका साक्षात्कार कराते हैं जो मनुष्यताको रेखांकित करनेमें अड़गे लगाते हुए जीवनको संयमित और संतुलित नहीं होने देते।

कृतिमें पाँच सर्ग / अध्याय हैं। 'आवाहन' सर्गमें शिवतत्त्वसे निवेदन किया गया है कि त्रयताप और संताप दूर कर समष्टि-कल्याणमें सक्रिय हों। कहीं कवयित्रीको विश्वयुद्धकी चिन्ता तो कहीं प्रदूषित-पर्यावरणकी विज्ञापनी जिन्दगी, सत्ताका दमनचक्र और विज्ञान-प्रदत्त विनाशक सामग्रीसे धरतीको मुण्डमालके अलावा और क्या मिलेगा? भारी मशीनोंके त्रिशूल और कम्प्यूटरी दुनियाँ, जीविका-विहीन नवयुवकोंके कीर्तिमान बनाने के अलावा और क्या कर सकेंगी? नरबलि, नारीबलि शिशुबलि जैसे जघन्य अपराध मनुष्यताको अंततः कहाँ ले जायेंगे? आजकी पीढ़ीके हिस्सेमें 'पीड़ामयी संध्या के बाँझगीत' दिखायी दे रहे हैं; शीर्षस्थ कलाकार व्यंग्य

और उपेक्षाका शिकार हो गया है। इन यातना-शिवरीमें 'अर्थपिशाची यंत्र' से पिसे हुए—मनुष्योंको कवयित्री अपनी कल्याण-कामना सौंपती हुई 'नटराज' का आवाहन करती है—

“मानव हो/ मानवसे मानवेतर/ अतिमानव महान्/  
पाये पीड़ित नेहदान/ खोले शोषकोंके/ मुँदे नैन  
कान।”

× × ×  
“बहुत होचुका भूख ताण्डव/ अब तो बना मनुज  
को प्रतापी पाण्डव/ जो जला दें सारा वन खाण्डव/  
मिटे सत्ताग्निकी अपचन/ छाये मनुजपर सुख माण्डव।”

इस सर्गमें नारी विषयक प्रगतिशील चिन्तन दिखलायी देता है; जहाँ कवयित्रीकी दृष्टि 'विछुआ भरे मेहावरी पांव', सिन्दूरी माँग, सक्षम-पुरुष, शिशु तथा कलशके रेखाचित्र खींचती हुई प्रतीत होती है। कश्या की अविरल धारा, साधनाके विविध सोपान, अधोरी तांत्रिकोंकी पैशाचिकता जैसे प्रसंगोंपर भी सार्थक लेखनी उठी है और सीताके प्रति रामकी निर्ममतापर कवयित्रीके व्यंग्य वाण औचित्यपूर्ण दृष्टिका परिचय देते हैं। कवितामें पवित्र नदियोंके स्मरणकी धाराएं हैं, ज्योतिर्लिंगोंके सिद्धस्थल हैं। अभिप्राय यह कि कवयित्रीका आधार-फलक बहुत विस्तृत है और समसामयिक संदर्भोंके साथही वे 'मूल्योंका संधान करना चाहती हैं।

'आक्रोश' सर्गमें आजका 'अविश्वासी-उल्कापात', भौतिक भटकाव, पाश्चात्य संस्कृतिका अट्टहास और जीवन-मरणके चरखेका जिक्र करते हुए महाकाली अन्न पूर्णा, विन्ध्यवासिनी-मीनाक्षी, कामाख्या आदि कई देवियोंका स्तवन किया गया है। 'गतिमें चिति और चितिमें चेतना' जैसी भावभूमिपर कवयित्रीने इच्छा और कर्मके सामंजस्यको देखा है। कर्मठ संवर्षशक्ति और ऊर्जा व्यक्तिको उन सोपानोंपर ले जाती है; जहाँ आत्मीयताकी हरीतिमा मनुष्यकी संस्कार-यात्राको धर्म और संस्कृतिसे भर देती है। यहाँ कवयित्रीने 'शक्तिकी उद्दाम-ऊर्जा' तथा 'शिवत्व' के तालमेलको विश्वकल्याण के लिए पुकारा है। इस सर्गमें विज्ञान प्रदत्त श्रमहीन सुविधाओंकी विडंबना, अतिवैदिकताकी व्यक्तिवादी चेतना और भारतके खण्ड-खण्ड भूखण्डकी चिन्ता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। जगद्गुरु शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद, गांधी जैसे साधकों और



चित्तकोंकी चर्चा करते हुए श्रीमती शशि तिवारीने इस बातको रेखांकित किया है कि अखण्ड-भारत अखण्ड हो रहेगा । यहां कवयित्रीकी राष्ट्रीय भावधारा द्रष्टव्य है :—

“शिव/ तुम धरतीपर आयेथे/ शंकराचार्यके वेश/  
टुकड़ोंमें न बंटे/ धर्म संस्कृति इस देश/ टूटे भारतके  
किन्ते अंग/ शेष भूखण्ड भी/ होने जा रहा—खंड खंड।”

युग-सत्यकी निर्भीक अभिव्यक्ति भी इस काव्य-कृतिमें यत्र-तत्र देखी जा सकती है, जैसे :—

“भूख/ अशांतिका प्रवेश द्वार/ भूखकी सर्जनहार  
सरकार/ बाँटे शांतिके पुरस्कार/ धना आश्चर्य तो  
उनपर/ जो महा अशांतिमें भी झेले/ शांतिके पुरस्कार।

‘शक्ति’ सर्गमें ‘माँ’ का अवाहन् है जो राग तथा सौख्यका प्रसारण करती है, मोहका संहार करती है, कुण्ठाओंका उन्मूलन करती है और जिसके केन्द्रित होते ही हमारी एकांतनिष्ठा ब्रह्म और जीवको एकाकार कर देती है। यहां ‘मां-शक्ति’ से आक्रोशमय स्वरोमें जीवनेके सभी वैषम्योंकी शिकायतकी गयी है और तमित कुंठाओंसे ग्रस्त व्यक्तिके उद्धारकी कामना भी। ‘यदि जननीके गेहभी स्नेह नहीं मिला’ और नारीको सृष्टिका सर्वोत्तम उपहार नहीं माना गया तो इस अविवेकपूर्ण धरतीपर वंजरके अलावा और क्या होगा? इस अध्यायमें देवी स्तुतिकी ओजमयी तथा कोमलकांत शब्दावली द्रष्टव्य है :—

“सिद्धि दे स्वभक्त वत्सले/ नमामि भवानी अम्बिके/  
तमाल हस्त मण्डिते/ तमाल भाल शोभिते।”...

‘चेतना’ खण्डमें महाशिव-महाकालीके क्रोधका चित्रण है जो शिवपर चरण रखनेके बादही शांत होती है। विवेकको लहलुहान देखकर विकारोंमें उन्मत्त ऐरावत-सा यह संसार माया बाजारमें त्रिक गया है। सभी दिशाएं हाहाकारसे भरी हैं अतः मांसे निवेदन है कि वे जीवनका हरमलक्ष्य प्राप्त करनेमें सहायक हों। यहां तनकी महत्ता भी सिद्ध की गयी है क्योंकि आत्मा का गृहस्थल शरीर ही है :—

“कर्म ही अविनाशिका ध्यान/ संतप्तको मृदुशब्द/  
मनोचचार/ आततायीको धिक्कार/ है नादोच्चार/ यही  
यही जन्मका लक्ष्य परम।”

अंतिम अध्याय ‘श्रुति’ में ‘शिव-शक्ति’ की समन्वित भूमिकाको रेखांकित करते हुए परम्परागत प्रतीकोंको नये अर्थ देनेकी चेष्टा की गयी है। यहाँ मनके अशेष

विकारोंको शेषनागके हजार कनोंके रूपमें देखा गया है। इन विकारोंपर अधिकार करनेवाला ही लक्ष्मीको स्वीकार करता है। महाकालने नागराजको गलेमें स्वीकार किया है क्योंकि बहुत निर्ममतासे संहार और ध्वंसकी भूमिका निभाना पड़ती है। लंका सोनेकी नगरी इसलिए थी कि रावणका प्रकाण्ड पांडित्य ही कंचन था। भक्ति सीधो सरल रेखा है और माया त्रिज्याकी तरह लगातार घुमाती है। फिर भी ‘मानव तनही है ओंकार / जहां विराजे प्रभु साकार।’ अंतमें ‘शिव-शक्तिसे यह कामना है कि विवशतामें कोई नारी किसीकी अंकशायिनी न बने, भूखके लिए शैशव न बेचा जाये और सुख का छन्द हर माथेपर लिखा हो ताकि सृष्टि आकण्ठ आनंदमें डूब सके। यही शिव-सी मानवता है, चिर-वसंत है, चिरविहाग है।

प्रस्तुत काव्य-कृतिकी भाषा कहीं सामासिक और संस्कृत-निष्ठ है तो कहीं कतिपय शब्द अंग्रेजी और उर्दूके भी देखे जा सकते हैं। कहीं ओजपूर्ण भाषा है और कहीं माधुर्यमय। युगीन समस्याओंके चित्रणमें भाषा कहीं-कहीं दैनिक जीवनके बोलचालके निकट है। मुक्त-छन्दमें एकलय, प्रवाह और गति है, नये उपमानके साथ देशज शब्दावली भी है। जहां श्लोकों, स्त्रोतों और स्तुतियोंका रूप अपनाया गया है, वहाँ भाषामें भावानुकूल मोड़ है। अभिप्राय यह है कि शब्द सामर्थ्य, विविध ग्रन्थोंका अध्ययन तथा स्वतः चिन्तन इस काव्य-कृतिको विशिष्ट ऊंचाई प्रदान करते हैं।

आलोच्य कृतिके बारेमें एक प्रश्न बार-बार मस्तिष्कमें कौंधता है—क्या इसे महाकाव्योंकी श्रेणीमें रखा जा सकता है? हमारे विनम्र विचारमें यदि शास्त्रीय और अकादमिक प्रतिमानोंपर आवश्यकतासे अधिक बल न दिया जाये तो इस रचनाके महाकाव्योचित औदात्यमें शंका नहीं की जा सकती। इसमें आठ सर्ग भले न हों और व्यापक संदर्भोंमें वन, उपवन, सूर्य, चंद्र और प्रकृतिके सौन्दर्यका चित्रण न हुआ हो, फिर भी इसकी विराटतामें और इसके वैविध्यमें कमी आनेका सवाल कहाँ उठता है? समग्र मानव जातिको दिये जानेवाले मानवीय संदेशमें और जीवनकी समग्रता को समेटनेमें शायद कोई त्रुटि दिखायी नहीं देती। इसमें यातनाग्रस्त, शोषित, पीड़ित और अनाथ मानवताको तमाम विसंगतियों और विषमताओंसे बचानेके लिये ‘शिव-शक्ति’ की समन्वित भावभूमिका आवाहन



किया गया है। इस काव्यमें पूरी सृष्टि को आधार बनाकर एक विराट् कैनवासपर शिव और शक्तिकी आराधना है। इसमें दार्शनिक और सांस्कृतिकभूमिपर आध्यात्मिक उत्कर्षकी झलक है। कल्याणकारी शिवतत्त्व मानवताका चरम आदर्श है और शक्तिही कर्मठ ऊर्जा। इसलिए यहां न तो निष्क्रियताका पाठ पढ़ाया गया है और न पलायनवादी जीवन वृत्तिके आधारपर निवृत्ति का संदेश दिया गया है। यहां क्रियामें सकर्मकता है। इस काव्यमें विघटनकारी तत्त्वोंसे बचते हुए जीवन निर्माणकी ऐसी ललक है जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे भौतिकता और आध्यात्मिकताका समन्वय करती है। यहां नरनारीका संयम, व्यवस्थाका संतुलन और जीवनके विविध पक्षोंकी समन्वयशील साधनाका उपक्रम है। हां, एक दो सर्गोंमें भाषागत शिथिलता भी है, भावानुभूति का यथोचित निर्वाहभी श्रृंखलित हुआ है तथा कई पुनरावृत्तियां भी हैं फिरभी समग्रतामें इस काव्यकृति की महाकाव्योचित गरिमाको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। □

## बारिश थम चुकी है?

कवयित्री : विद्या भण्डारी

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्रसिंह

नवें दशककी कवितामें नारेबाजी, आक्रामता आदि के स्वर क्रमशः पृष्ठभूमिमें जाते हुए दिखायी दे रहे हैं और उनके स्थानपर एक संयमपूर्ण आक्रामता और दहकते विक्षोभकी दशाएं सामने आ रही हैं। एक ओर इसका स्वर सामाजिक अधिक है, तो दूसरी ओर ऐसे भी कवि हैं जो वैयक्तिक धरातलपर इस विक्षोभ पीड़ा दाहकताको व्यक्तिगत संबंधोंके स्तरपर इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं जो त्रैयक्तिक राग विरागोंकी वाणी देते हुए भी बृहत् संदर्भोंको अपने अन्दर समेटनेको व्यग्र हैं। विद्या भण्डारीकी कविताएं इसी भावभूमिपर आधारित हैं जिनमें एकनारी सुलभ दाहकता और समर्पणका भावना एक साथ काम करती है। यही दशा संबंधोंको भी लेकर है जो आजके संदर्भमें लोहेकी सलाखोंकी

तरह दुःख और पीड़ाही अधिक दे रहे हैं। यहां वैयक्तिकताका अतिक्रमण होता है—

“यह सही नहीं  
कि सम्बन्ध कच्चे धागोंके-से होते हैं  
वे तो लोहेकी सलाखोंकी तरह  
गड़े होते हैं;  
और सुखकी जगह, कहीं अधिक  
दुःखका कारण, बन जाते हैं। (पृ. २६)

इस प्रकारकी एक सुन्दर कविता “कैक्टस” है जिसमें आजकी विडम्बना और परजीवी प्रवृत्ति (पैरासाइट) का संकेत प्राप्त होता है / कविताकी अन्तिम पंक्तियां “तुम तो बस/औरोंको बांधकर/स्वयं सुरक्षित/ रहना जानते हो। (पृ. ६०) पूरी स्थितिका एक सांकेतिक रूपांतरण है। यही स्थिति उनकी एक अन्य कविता “परिन्दा” में भी द्रष्टव्य है जहां व्यक्तिगत स्वरसे ‘निर्बल’ की उस ऐतिहासिक दशाका संकेत प्राप्त होता है जो ‘बाज’ के द्वारा दबोचा जा सकता है क्योंकि आकाश परिन्दे (मैं) का भी है और बाजका भी—

फिर उसी क्षण आता है ख्याल  
यकायक किसी बाजने,  
अगर धर दबोचा तो ?  
यह स्वतंत्र आकाश  
उसका भी तो है। (पृ. ४६)

इन उदाहरणों (औरभी) से एक बात यह स्पष्ट होती है कि विद्या भण्डारीकी कविताएं सहज एवं ठण्डेपन के आवरणके पीछे एक अन्तर्निहित विक्षोभ, दैन्य और कठुणाके मनोभावोंको व्यंजित करती हैं। इस वर्गकी कविताओंके अतिरिक्त कुछ ऐसीभी कविताएं हैं जो काल चेतनाको सम्बन्धोंके द्वारा व्यक्त करती हैं। यहां कालकी प्रतीति ‘पल’ के द्वारा होती है जो वर्तमान ‘अतीत’ को एक सूत्रमें बांधे रहते हैं क्योंकि कवयित्री यह प्रश्न करती है—“बीते हुए पल / क्यों चिपके रहते हैं। वर्तमानमें” (पृ. १३)। यह प्रश्न कालकी गीतसे सम्बन्धित है जो स्मृतियोंके परिदृश्यके द्वारा एक-एक बीते क्षणकी सजग करता है—

आज यादोंके सीलनको  
धूप लगाऊँ  
एक-एक लम्हा उगलने लगेगा। (पृ. १२)

इसी संदर्भमें इतिहास-बोधका सम्बन्ध ‘अतीतके गम’ से जोड़ा गया है जो एक-एक करके ‘इतिहासके बोझ’ तले दबे जाते हैं (पृ. ४७)। यहां इतिहासको

१. प्रका. : स्वर समवेत, ६ तनसुक लेन, कलकत्ता-  
७००००७। पृष्ठ : ६४; डिमा. ८६; मूल्य :  
२०.०० रु.।

‘प्रकर’—जुलाई’६०—३६



अतीतसे जोड़ा गया है जो इतिहासकी सही पहचान नहीं है क्योंकि इतिहास भूतका ही नहीं, वह वर्तमान और भविष्यका भी होता है, अर्थात् इतिहास मात्र अतीत न होकर 'वर्तमान' की सापेक्षतामें कालकी गतिको पकड़ता है। इतिहास मात्र तथ्य या साक्ष्य नहीं है, वह तो उसका एक अंगमात्र है, कच्चा माल है। काल प्रतीति में भूत, वर्तमान और संभावनाका नैरन्तर्य रहता है।

विद्या भंडारीकी कविताओंमें उपर्युक्त बोधके भिन्न स्तरोंके अलावा राग प्रेम सम्बन्धी कविताएं भी हैं जिन्हें कभी-कभी भिन्न रूपाकारों (मोर मोरनी, पक्षी, पिंजरा आदि) के द्वारा व्यक्त किया गया है। ये कविताएं नारी मनकी विशुद्ध प्रेम रागात्मक कविताएं हैं जिनमें 'क्षोभ' का भाव अन्तर्निहित है क्योंकि नारी 'एक गमले का पौधा है / जिसे नहीं मिलता खुला आकाश / जिसे फँसना है / दीवारोंके भीतरही' (पृ. ६) यदि गहराईसे देखा जाये तो विद्या भंडारीकी कविताएं इसी क्षोभ को विविध रागात्मक स्थितियोंके द्वारा व्यक्त करती हैं।

एक बात कविताओंकी संरचनाको लेकर। कविताएं 'विस्तार' को संकुचित करती हैं, उसे संक्षिप्त संरचनामें ढालती हैं। यही कारण है कि कवयित्रीकी रचनाएं सघन भावबोधकी कविताएं हैं, उनमें व्यर्थ का शब्द विस्तार नहीं है। दूसरी बात जो इन कविताओंसे प्रकट होती है कि इनकी संरचनामें आम शब्दों (यथा पिंजरा, पक्षी, हादसा, शून्य, आंसू, शब्द राज आदि) का ही प्रयोग अधिक है जो कभी-कभी बाधरूप (अरिकी टाइप्स) की श्रेणीमें नजर आते हैं। मुझे विद्या भंडारीकी कविताओंमें भिन्न ज्ञानानुशासनों (दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र आदि) के शब्दोंका रचनात्मक संदर्भ नहीं के बराबर ही मिला जो हमें प्रसाद, मुक्तिबोध, विनय आदि कवियोंमें प्राप्त होता है। क्या इसका कारण विचार साहित्यसे कम सम्बन्धित होना तो नहीं है? स्वयं कवयित्री यह आत्मनिरीक्षण करे।

यह सही है कि इन रचनाओंमें वह पैनापन, आक्रामकता और सामाजिक सरोकारोंकी वह चेतना नहीं है जो आजकी कविताकी मुख्य धारा है। फिर भी, आज की कविताकी धाराओंमें यह भी एक धारा है जो विद्या भंडारी, मुमन राजे, प्रेमलता वर्मा, इंदु जैन आदिमें प्रष्ट है। □

## आंखों देखा हाल?

कवि : अक्षय जैन

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

प्रस्तुत काव्य-संकलन हिन्दीकी समकालिक कविता को एक नया 'पड़ाव' सौंपती है, एक ऐसा 'पड़ाव' जिसमें ठहरना सुखकारी और स्फूर्तिदायक है। ग्रंथमें ७५ कविताएं संकलित हैं। १९७५ में प्रकाशित 'काला सूरज' संग्रहकी कविताओंके बाद यह उनका दूसरा संकलन है।

यह काव्य-कृति सामयिक कविताके ऊहापोहों व आशंकाओंसे हमें मुक्त करती है, चेताती है और प्रेरित भी करती है। विशेषकर महानगरोंके दरियाओंमें उगी जल कुंभियोंकी तरह भरे आदमियोंके सैलावमें, स्वयं मनुष्यको लीन हो जानेसे बचानेके लिए उन द्वीपोंका मार्ग हमें दिखाती है। जहां हम उबरकर जा सकते हैं और विराम ले सकते हैं। ये कविताएं दहशत और हादसोंके बीचभी हमें हमारे चैनके क्षण लौटाती हैं। इनको पढ़ते हुए शब्दकी सार्थक 'सत्ता' से साक्षात्कार होती है।

संकलनकी कविताएं संवेदना और कल्पनाशीलता को रोमांचक रूपसे उद्दीप्त करती हैं। बिना संवेदनशील हुए ये कविताएं पढ़ी नहीं जा सकती और सही कविताके पाठकको ये संवेदित किये बिना रहने नहीं देतीं। शिल्प और काव्य, दोनों स्तरोंपर प्रचण्ड रूपसे तरोताजा ये कविताएं कहींभी गुदगुदातीं नहीं। वे लता-इतीभी है और हमारे अंधे रोंको उजागर भी करती हैं। ये जड़ और चेतनका भेद, दार्शनिककी तरह नहीं समझातीं अपितु हमारे 'सही सोच और कर्मी' से हमारे जिंदा होनेके अर्थोंकी संगति बिठाकर ही हमें सचेत या अचेत प्रमाणित करती हैं। बापके द्वारा लड़केको दी जाने वाली ताबड़तोड़ खरी सलाहकी तरह इनमें व्यवहार सत्य प्रस्फुटित हुआ है।

कविताओंमें 'आपात्काल' है तो साइनाइड कार-खानेवाला भोपालभी, भागलपुरके जेलमें कैदियोंको तेजाबसे अंधा कर देनेवाली घटना है तो 'नौकरीके

१. प्रका. : 'लेकिन', २/२६, मेथल इस्टेट, देवी दयाल रोड, मुलुंड (प.) बम्बई-४०००८०। पृष्ठ : ८०; डिमा. ८८; मूल्य : २५.०० रु.।

प्रकर—भाषण '२०४७—३७



लिए पैदा हुए और पेशानके लिए जीनेवाले लोगोंके प्रति तरस और रहम भी। परन्तु वे कहीभी लफ्फाजी, नारा या वक्तव्य नहीं हुई हैं। न ही वे भाषाके मकड़-जालमें फंसी दृष्टिहीन छपास हैं। उनमें, शब्द-शब्द संयोजित वाक्य 'कविता' का सृजन करते गये हैं।

अक्षय जैनकी फंतासियोंकी अलग किस्मकी निजता है जिसके द्वारा वे 'पहाड़ टूटने लग गये हैं', 'नदियां सूखने लग गयी हैं', और 'जंगल कटने लग गये हैं' जैसे अति सपाट और साधारण कथनोंको भी अर्थ-व्यंजक और ध्वन्यर्थक बना डालते हैं।

यह उनकी कविताकी व्यंजना शक्तिका निदर्शन है जिसमें 'सखाराम मोची बाटाके जूते पहने हुए हैं'। 'हज्जाम, बीस सालसे यूनिवर्सिटीमें पढ़ा रहा है' और 'राजा नंगा है'। कवितामें, 'हज्जाम', 'राजा' और 'यूनिवर्सिटीमें पढ़ानेवाले' को कथ्य बनाना आसान है। कठिन है तो 'बीस सालसे यूनिवर्सिटीमें पढ़ा रहे' को 'हज्जाम' व 'राजाको 'नंगा' कहना। कविता, कान्ता-सम्मत ढंगसे, बिना मुंह विचकाये और बिना कटारी चलाये यह करनेमें सफल हुई है। बाटा और टाटाको उनके अपने कन्ट्रास्टके साथ, विडम्बना, विरोधाभास, असंगति और व्यंग्यके अर्थोंके प्रेषणके लिए कविताओंमें लाया गया है। इन शब्दोंने बिना इसके या उसके छातेके नीचे सिर झुकाये, सिर्फ कथनकी व्यंजनाके लिए कविको अपनी सुपुर्दगी की है। 'विशिष्ट' 'वर्ग' व्यक्ति और समाजको चोट किये बिना 'मूल्यगत' सनातनकी वाणी की बेलपर कविताका फूल खिला देना, अक्षय जैनका कौशल है।

कहा जाता है कि अकबरके दरबारमें नरहरिने, गोहत्याके कृत्योंसे क्षुब्ध होकर एक छन्द लिखा था और उसे एक पोटलीमें बाँधकर 'गाय'के गलेमें लपेट दिया था। गायको फतेहपुर सीकरीके उस एकांतकी तरफ हांक दिया गया था जहाँ बादशाह अकेलेमें चहल-कदमीके लिए गया हुआ था।

अकबरने गायको देखा तो पुचकारा। गाय पैर चाटने लगी। बादशाहका हाथ उसके सिरको सहलाने लगा तो वह गर्दन ऊँची करके उसका सिर सूँघने लगी। तभी अकबरकी दृष्टि गलेमें बंधी पुर्जीपर पड़ी जिसमें लिखा था—

अरिहु दन्त तून धरहि ताहि मारन न सबल होय  
हम संतत तून चरहि बैन उच्चरहि दीन होय।

'प्रकर'—जुलाई १०—३५

मधुर न हिंदुइहि देहि कटुक न तुरकहि न पिया-  
वहि।

पइ जु एक हम जनहि पुत्र जगहित मन भावहि॥  
कह नरहरि सुनु साहवर विनवत गऊ जोरे करन  
कहु कौन चुक मोहि मारियत मुयेहु चाम सेवति  
चरन॥

प्रसिद्ध है कि इस पंक्तिको पढ़कर अकबरने गोहत्या की निषेधाज्ञा जारी की थी और नरहरिने अपनी वाक्-चातुरीके लिए दाद पायी थी।

नरहरिके 'मूल्य' को अक्षय जैनने भी रेखांकित करना चाहा है परन्तु कितना जटिल है उसका रेखांकन कि अब 'बादशाहत' अनुपस्थित है और 'मूल्यवत्ता' प्रश्नांकित। 'मापदण्ड' एवं 'मानदण्ड' दण्ड बने हुए हैं। मध्ययुगसे हम बीसवीं सदीकी चोटीतक चढ़ आये हैं। अब 'गाय' जैसी मूक पशुओंकी भावनाएं 'नरहरियों' के वाक्-चातुर्यका विषय नहीं बनतीं। मनुष्यकी आज की दुनियांमें पशुकी मजाल! पशुका सम्पूर्ण उपयोग अपने हितमें न कर पानेके मलालपर कविने ध्यान दिया है और नये ढंगसे हलाल होते 'मूल्य' को पुनर्जीवित करनेकी कोशिश की है। एक त्रासद स्थितिको अन्तर्गमित करके काव्य-चमत्कार उत्पन्न करता कविताका शीर्षक है 'गाय'—

हम तुम्हारा दूध जो पीते हैं / माँस जो खाते हैं /  
तुम्हारी हड्डियों, पसलियोंके बेल्ट, बटन जो बनाते हैं /  
तुम्हारी नस-नसको नोचते हैं / हम अपनी खातिर /  
तुम्हारे तनका हर तरह उपयोग जो करते हैं / तो भी  
हम इंसानोंको / इस बातका दुःख है / कि तुमको  
काटते समय / तुम्हारी चीखका कोई उपयोग नहीं हो  
पाता।

गंडासेको धारके नीचे चित होती गायकी 'चीख'के लिए कविने मानों मानवीय-संवेदनाकी 'अदालत' में अपील की है। इसी प्रकार 'ये लोग' कवितामें 'सूखे पेड़' को देखकर उदास होनेवाले और उदास होनेके परिणाममें जीवन भर एकभी पेड़ न उगा पानेवाली विडम्बनाकी शिकार वस्तुस्थिति-व्यक्तिस्थितिका चरित्र चित्रण है। 'बहरे', 'मित्र-१', 'मित्र-२', आदि सभी संग्रहकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

यह संकलन हिन्दी कविताकी ताजा स्थितियोंका एक संग्रहणीय और पठनीय दस्तावेज है। अक्षय जैनने सिर्फ शिकायत इतनी है कि उन्होंने बहुत कम



कविनाएँ लिखकर खराब काम किया है। अपनी इस बुराईको वे आगे छोड़ देंगे, इसकी भी कोई गारंटी नहीं है परन्तु उनके काव्य-तर्कसे हम सहमत हैं—  
अर्थवान् होता, अगर वही रचा जाता  
जितना अनुभव था।

दिलीप रानाडे, ठाकोर राणा, गोपाल आडिवरेकर, बाबिद मुरती और पवनकुमार जैनके रेखांकनों-चित्रांकनोंसे संयुक्त होकर पुस्तक औरभी सम्प्रेषक और स्वीत-आयाम हो गयी है। रेखांकन हमें देर तक पन्नों पर टिकाते हैं।

‘दूरे चहेते’ शीर्षक एक कविताको देखें :

बिलमें घँस जाओगे / अपनेही बिलमें फँस जाओगे। डरो मत / पराजय इतनी सस्ती नहीं होती / कि संघर्षके पहलेही / स्वीकार कर ली जाये / यह तो अभीका विल्लीका वच्चाही है / आओ लड़ो इससे / हारभी जाओगे, तो / तुम्हारे लिए यह शर्मकी बात नहीं होगी। □

## गीत-गरिमा<sup>१</sup>

कवि : कैलाश ‘कल्पित’

समीक्षक : डाँ. रामप्रसाद मिश्र

‘इन्द्रवेली और नागफनी,’ ‘अनुभूतियोंकी अजंता,’ ‘आग लगा दो’ इत्यादिके अनंतर ‘गीत-गरिमा’ में क्रांत कविश्री कैलाश कल्पित (जन्म २५ जनवरी १९२५) एक शांत गहन गीतकारके रूपमें प्रकट हुए हैं। उनकी ध्याति उपन्यासकार, कहानीकार एवं भेंटवार्ताकारके रूपोंमें कहीं-अधिक है, किन्तु प्रकृत्या वे कविही हैं। अपने ‘समग्र’ में वे एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न सुसंस्कृत एवं गतिशील साहित्यकार हैं, जिन्हें अनेक सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

‘गीत-गरिमा’ में नवरहस्यवादी गीतभी हैं, शोषण-विरोधी गीतभी, प्रेम एवं प्रणयके गीतभी व्यथा एवं वियोगके गीतभी, महाकवियोंके प्रति श्रद्धाके गीतभी, पारिवारिक स्नेह-सौरभके गीतभी—इन ६० गीतोंमें जीवनके अनेकानेक रंगोंकी छटाके दर्शन होते हैं। कवि

की कला या शिल्पमें रुचि नहीं है, वह अनुभूतिका सहज उद्गाता है। ‘प्राक्कथन’में उसने अपने मनको निस्संकोच होकर खोला है।

‘गीत-गरिमा’ का कवि गीतकी पारंपरिक छवि एवं भाव-गरिमाका प्रतिपादक है। नव्यताके प्रति आग्रह से मुक्त कवि “एक कल्पित वाद्य हूँ, बस बज रहा हूँ” के परिचयमें रहस्यवादी स्वरोंमें गाता है :—

लग रहा है जैसे कि कोई वाद्य हूँ मैं

और मेरे तार कोई छेड़ता है !

कौन है जो मीड़ मेरी है सजाता ?

कौन मेरे सुरोंमें मुझसे गवाता ?

आध्यात्मिकता एक सहज वृत्ति है : “जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै”! मानवेंद्रनाथ राय हों या डांगे, जयप्रकाश हों या लोहिया, दिनकर हों या अज्ञेय, सभी सच्चे गतिशील (जड़बुद्धि नहीं) मनीषी अन्ततः उपनिषद् या गीता या ‘मानस’ या हरिनाम या नवरहस्यवादके रंगमें रंगे दीखते हैं। मैं कल्पितजीको हिन्दी-साहित्यका लोहिया मानता हूँ, लोहियाने रामायण मेला (चित्रकूट) लगवाया, कल्पितजीने अध्यात्मके गीत गाये। ‘गीत-गरिमा’ के अध्यात्म एवं श्रद्धाके गीत प्रभावीभी हैं।

‘प्यारकी भूख’ कवितामें कविने निस्संकोच होकर गाया है :

मानव जीवन ही नहीं

सकल संसार प्यारका भूखा है।

फूलोंपर तितली रही रीझ

कलियोंपर अलियोंकी टोली,

काले कजरारे मेघोंको

लखकर मयूर बोला बोली।

बौराए आमोंको पाकर

मादा कोयलभी बौरायी,

कू-कू-कू-कू, पी कहाँ गये ?

पेड़ोंमें छिपकर चिल्लायी।...

अन्तके गीतों ‘बेटीकी निंदिया,’ ‘पुत्रको दीक्षा,’ ‘पुत्रको प्रेरणा,’ ‘बेटीकी बिदाई,’ ‘पुत्रवधूका आवाहन,’ ‘दूसरी पुत्रवधूका आवाहन,’ ‘उद्बोधन’ एवं ‘आशीर्वाद’ में वात्सल्य-रसकी नयी भंगिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कविकी स्वस्थ स्वच्छ पारिवारिक जीवनमें गंभीर रुचिकी परिचायक हैं।

‘गीत-गरिमा’के गीत सहज स्वस्थ कविताके अच्छे

१. प्रका. : पारिजात प्रकाशन, ३४१ बहादुरगंज, इलाहाबाद-२११००३। पृष्ठ : १३६; डिमा. ८६; मूल्य : ४५.०० रु.।



निदर्शन हैं। परकीयताकी चकाचौंधसे थककर हिन्दीके अधिकांश कवि अब स्वकीयताकी ओर रीझे हैं। कविता के लिए यह शुभ लक्षण है। कल्पितजी कभी परकीयता

के व्यामोहमें नहीं फँसे थे, फिरभी, 'गीत-गिरिमा' में उनकी अस्मिता सर्वाधिक उजागर हुई है, इसमें संदेह नहीं। □

## कहानी

### बच्चे बड़े हो रहे हैं?

कहानीकार : मदनमोहन

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

साहित्यकी अनेक विधाओंमें—विशेषतः कविता और कहानीमें जुझारू तेवर तो बहुत देखनेको मिल रहा है किन्तु उसमें से अधिकांश ऐसा है जो घोर रोमैण्टिक ढंगसे जुझारू बाना धारे हुए है। मदनमोहनका यह दूसरा कहानी-संग्रह है जिसमें सचेत परिवर्तन-कामना कहानीके शिल्पमें बार-बार पाठककी चेतनाको झकझोरती है। भूमिकामें बहुत कम शब्दोंमें संजीवने मदनमोहनकी कहानियोंको समझनेके सूत्र दे दिये हैं। भाषाके विषयमें उनकी टिप्पणी है—“(मदनमोहनकी भाषामें न कोई चमत्कारिकता है, न कोई सायासता, न कोई अकहानीकी रुख सपाटता, न निर्मल वर्माकी तरलता। ट्रीटमेंटमें न कोई जादुई यथार्थवाद है न कोई फंतासी कुहासा। सीधी सपाट भाषा, सीधा पारदर्शी शिल्प, जो भय-मुक्तिके लिहाजसे विकल्पहीन भी है। यूँ इसकी अनन्त सम्भावनाओंको साधनेका काम अभी कुछ बाकी है।”

संजीव मंजे हुए कथाशिल्पी हैं। मदनमोहनकी भाषाके सम्बन्धमें उनकी टिप्पणीमें कुछ जोड़नेकी जरूरत नहीं है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि मदनमोहन जो कुछ देख-सुन-समझ और भोग रहे हैं (जी हाँ, उनके कथा-पात्र लेखकके कच्चे मालकी तरह

उनके जीवनमें नहीं आते) उसको निश्चित लक्ष्यके अनुरूप कहानीकी भाषामें उतारनेपर भाषाका कोई और रूपही नहीं सकता। इसीको उलटकर कह लीजिये, और किसी तरहकी भाषामें ये कहानियाँ कहींही नहीं जा सकतीं।

पहली कहानी 'इन्तजारके बाद' की सोनमती जानती थी कि 'सरकारने जमीन भूमिहीनोंको दी किंतु वह परधानके चुंगलमें क्यों हैं, यह वह नहीं जानती थी।' परधानने यह कहकर जमीन हड़प ली कि 'जमीन पान-पत्तेके बलपर ही मिली' उसमें एक हजार रुपये लगे। जबतक वे रुपये न चुकाये जायें जमीन परधानकी ही रहेगी। सोनमतीका मरद चनू बूढ़े बाप और नवेली सोनमतीको छोड़कर परदेश कमाने चला गया इस उम्मीदमें कि हजार रुपये परधानको लौटाकर 'भुंइ' का मालिक हो जायेगा। परधान ने उदारता पहलेही दिखा दी थी कि तुम्हारी घरवाली चौकाबरतन कर देगी तो सूद नहीं लूंगा। सूद तो उसने न ली, सोनमतीकी इच्छत आबरू जरूर लेली। पतिकी प्रतीक्षा करती सोनमती परधान द्वारा आयोजित गर्भवताको झेल गयी किन्तु पतिके लौटने और परधानको रुपये देनेके बाद भी 'भुंइ' के अगले साल मिलनेके झूठे वादेसे 'उम्मीदोंका जो गर्भपात हुआ, उसे न झेल सकी।

क्या किया उसने? मदनमोहनका एक, बल्कि आधा वाक्य उन अनेक सम्भावनाओंकी ओर पाठकको ले जाता है, जो इस तरह छली गयी आजकी सोनमती कर सकती है—“आदमीने झपटकर सोनमतीको अपने

१, प्रका. : विशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली-११००३५। पृष्ठ : १०८; का. ८६; मूल्य : ३०.०० रु.।

'प्रकर' - जुलाई '९०—४०



ऊपर गिरा लेना चाहा, किन्तु उसे झटककर वह तीरकी तरह झोंपड़े बाहर आगयी।

कहानीमें परधान कहीं प्रकट नहीं हुआ है, किन्तु लेखक उस अनुपस्थित पात्रके माध्यमसे बता देता है कि भूमिहीनोंकी भूमिदेनेवाली 'व्यवस्था' में उसकी जगह कौन-सी है और क्यों है।

एक और परधान है 'निशान' में, जिन्होंने मजदूरी बढ़ानेकी मांग और पूरी न होनेपर कामबन्दीकी धमकी के जवाबमें पूरी चमरोटी फुंकवा दी है। चमारोंकी दर-खास्त पाकर हाकिम जांच करने आये। परधानके बागमें उनके लिए इन्तजाम हुआ—“चारों तरफ रस्सियोंकी बाढ़ लगी। सदर चौकीदार लाठी ठठका-रता तंबूके दरवाजेपर तैनात हुआ। पुलिसके सिपाहियों ने पेड़ोंकी छांवमें डेरा जमाया। दूसरी तरफ हाकिमके व्यंजन पके जिसकी महक गांवकी गली-गलियारोंसे होती हुई दूर-दूर तक फैल गयी।” (पृ. ३४)।

पहले हरिजनोंके बयान होने थे। उनकी पुकार हुई। वे आये झुण्डमें और (यह सब देख, सुन, समझ-कर) एक साथ वापस मुड़े और चुपचाप चले गये।

परधानजीके लठैतने नचनिया बुलाया है। विजय का जश्न मनाया जा रहा है। परधानजी सन्तरेके नशे में नचनियाकी बलखाती कमरपर आंखें गड़ाये हैं किन्तु मन जल रहा है इस आंचमें कि “वे गये कहाँ ? उनके पैरोंके निशान ? आगे रास्ता कहाँ तक जाता है ?”

मदनमोहनका कथा-शिल्प इस अनकहेमें छिपा है। जांच करने आये हाकिम और उनका आयोजन देखकर उन सबका चुपचाप झुण्डमें उलटे पांव लौट जाना ! कितने सटीक ढंगसे हमारी आजकी न्याय-व्यवस्थाकी कथा कहता है।

उतनाही सहज, मगर सधा ढंग है, बिना फरियाद किये उन सबके लौट जानेका, जिनका सब कुछ छीन लिया गया है, जलाकर खाकर दिया गया है। उनके पैरोंके निशान ? आगे रास्ता कहाँ तक जाता है ?

व्यवस्था पता लगा रही है, वह रास्ता कहाँ तक जाता है।

‘बच्चे बड़े हो रहे हैं, में चमरोटीको सरकारकी ओरसे आवंटित कीगयी बगिया और बंसवारपर नाजायज कब्जा परमवीर सिंहका है, जिनके पुत्र धरम-वीर सिंह दारोगा भी हैं। उस जमीनके लिए चमारों की ओरसे मुकदमा लड़नेवाले चन्दरको फर्जी डकैतीके मामलेमें अधमरा करके जेलमें डाल दिया है, दारोगाजी

ने। उनके पुत्र मुन्ना बाबूकी एअरगनका सामना करता है चन्दरका नावालिग बेटा भकोल, जिसे हर अन्याय को चुपचाप सहती रहनेवाली उसकी मां कहानीके अन्तमें इस रूपमें देखती है, “दिवरीकी लुपलुप रोशनी में माँने उसका चेहरा देखा तो एक पलको दहल-सी गयी। बुझे-बुझे चेहरेपर सुख और सूजी आंखें किसी गहरी वेदनाकी कहानी कह रही थीं।” (पृ. १०६)। वह गहरी वेदना मांसे सिर्फ एक बन्दूक मांगती है, बहन के गौनेसे पहले बापको जेलसे छुड़ानेसे भी पहले।

कहानीकी साँकेतिकता शुरूमें ही चिड़ियोंके वर्णन से अपना काम करने लगती है—“ये विचित्र साहसकी धनी हैं। कोई तीनेक सालोंसे मुन्ना बाबूके एअरगनकी शिकार हो रहा है, पर टोलेकी बाग और बंसवारीको छोड़ने का नाम नहीं लेती।” (पृ. १०३)।

शिकार और शिकारीका क्रम उलटनेकी ओर धूम पड़ा है। ‘जन्म’ गांव के निम्नवर्गीय ब्राह्मण-परिवार के क्लर्क नित्यानन्द और उनके बेटेकी कहानी है, जिसमें “कोतवाल छः फुट लम्बा खिचड़ी वालोंवाला था। उसकी गर्दन घडियाल जैसी थी और चेहरा चीतेकी तरह। रंग भूरा था और हाथ गेंहुअन सांपसे लम्बे थे।” जिन नादान बच्चोंको पकड़कर कुछ कबुलवानेके लिए मारना उसका शौक है, उनमें नित्यानन्दका बेटा सत्य भी है। नित्यानन्द पहले बेटेको छुड़ानेके लिए पत्नीकी एकमात्र करधन बेचकर दो सौ रुपये जुटाकर कोतवाल-दीवानके पीछे भागते हैं। वे नहीं पिघलते। जुर्मकी इन्ताहके क्षणमें यह कायर क्लर्क चीख उठता है—“वह कुछ नहीं बतायेगा—इसका जानभी ले लो तो भी नहीं बोलेगा।”

यह उस जन्मना कर्मना भीरू वामनका नया जन्म है जो सहनशक्तिके पूरी तरह चुक जानेपर कभी कभी होता है। लेखक कहानीको सुखान्त बना देनेकी बेवकूफी करके खुश नहीं होजाता, कोतवालका वाक्य कहानीका अन्तिम वाक्य है—“पकड़ लो इस हरामीके पट्ठेको भी....”

आप कहिये, ऐसा कोई बाप करेगा क्या ? नित्यानन्दके मनको धीरे-धीरे तैयार करनेवाले दो घटक हैं—एक जुल्मकी इन्तहा और दूसरा जेल काट रहे नेता शर्माजी, जिन्होंने नित्यानन्दके मनके चोरको पकड़कर भाषणमें कहा था—“हमें अपने छोटे-छोटे स्वार्थसे ऊपर उठना होगा। मजदूरके हककी बड़ी लड़ाईके



लिए अपनी अपनी कायरताओंको ताकपर रखकर आगे बढ़ना होगा।” (पृ. ८६)

‘जन्म’ का यह प्रेरणास्त्रोत भी अनुपस्थित पात्र ही है, जिसके कारण नित्यानन्दका रूपान्तरण सम्भव होकर पाठकके मनमें गूँजता रहता है। कथाके यथार्थमें ‘ऐसा नहीं होता’ की कोई जगह नहीं।

गांवके दो निम्न मध्यवर्गीय परिवार छोटी नौकरियोंके सहारे कस्बेमें आगये। बेटियोंके ब्याहके लिए दोनोंको बराबर अपमानित होना पड़ा था। बेटोंकी नौकरियोंके लिए भी। एक परिवारका मुखिया हककी लड़ाई लड़कर तबाह होगया। दूसरा उबर गया बेटेकी ऐसी नौकरीके सहारे जो रिश्वतखोरीके लिए स्वर्ग थी। बजरंगी बाबू बुढ़ापेमें बेटेके धनसे सहसा ‘धनी’ होकर ‘विजेता’ बन गयेथे और दुर्गादत्त पागल हो गयाथा। उसी दुर्गादत्तका सामने करके लौट रहे ‘विजेता’ के लिए अपनी पराजय झेल पाना कठिन हो रहा है। विजेताकी यह पराजय ?

बजरंगी और दुर्गादत्तके बहाने स्याह-सफेदको आमने सामने रखनेमें लेखक सफल हुआ है। एक कमजोरी इस कहानीमें ‘दुर्गादत्तके बेटे ‘परेशकी हत्या को लेकर प्रकट हो गयी है। इसी बहाने इस कहानी में भी ‘गांव’ और उसका ‘खूँखार मुखिया’ आया है, जिसकी जरूरत कमसे कम इस कहानीमें नहीं थी।

‘दूसरी राहका दर्द’ गांवके पुराने सामंती शोषणमें नये गुण्डातंत्रके शामिल होजानेसे उत्पन्न भयावह स्थितिकी कहानी है। उस स्थितिका विरोध करनेका साहस करनेवाला शिवपूजन मास्टर कैसे उसीकी लपेटमें आकर तबाह हो गया है, इसे कहानी महसूस करा देती है।

‘अपना अंधेरा’ छोटी सुन्दर कहानी है। निम्न मध्यवर्गीय क्लर्क ‘भाई साहब’ के दिल्लीसे आनेकी खुशीमें उड़ता रहा है। वह सोचकर कि उसके बेटेको भाई साहब दिल्ली लेजायेंगे, सम्पन्न बुढ़ापे तक के सपने देखने लगा है। शामको कर्ज लेकर ‘भाई साहब’ के स्वागतके लिए सब्जियां लाता है। भाई साहब अपने किसी अफसर मित्रके यहां ठहरते हैं और एक चपरासी से सूचना भिजवा देते हैं कि कल वापस जाते हुए उधर से आयेंगे। दिनभर सपनोंमें उड़नेवाला क्लर्क अपनी ओकात पहचानता है और निश्चय करता है, उसका बच्चा दिल्ली नहीं जायेगा।

कर्ज और सपनोंके बीचकी इस जिन्दगीकी गहरी

छाप छोड़ती है यह कहानी।

इसी कर्ज अधभूखापन और अधनंगापनके इर्दगिर्द धूमती कहानी ‘लाली’ एक और ढक्की कहानी बन गयी है। इसका पुरुष पात्र निम्नमध्यम बाबू है जो नेता शर्माजीकी बैठकोंके कारण अपने घर और बच्चोंकी ओरसे उदासीन रह जाता है। पत्नी निहायत घरेलू है, जो पतिकी क्रान्ति-चिन्तासे अधिक महत्त्व बच्चोंकी भूख-प्यासको देती है। पति अपनेको सचेत विचारोंसे लैस समझता है और पत्नीको जाहिल-झगड़ालू औरत। एक पूरा दिन वह पत्नीकी शिकायतें दूर करनेके लिए घर रहना चाहता है तो पत्नी झगड़कर उसकी असलियतकी धज्जियां उड़ाती है। पता नहीं इस कहानीको औसत पाठक कैसे लेगा, जब कहानीकार संजीव इसके विषयमें टिप्पणी कर बैठे हैं कि “लाली” जैसी कुछ कहानियां उद्देश्यपरकता की परवानभी चढ़ गयी हैं।” (भूमिका पृ. ६)।

मदनमोहनके संकेतगर्भी शिल्पके कारण इस कहानी का जो अंश, सर्वश्रेष्ठ है, वह शायद पहली दृष्टिमें पाठककी पकड़से छूट जाता है। घर परिवार की ओर ध्यान दिलानेके कारण पुरुष पात्र अपनी पत्नीको स्वार्थी कहता है। वह कहती है—“आपका कोई सिद्धान्त-उद्धान्त नहीं है। आपको गरीबी और अन्यायकी कोई जानकारी नहीं है। आप मुझपर बच्चोंपर अन्याय नहीं करते ?” घरमें राशन नहीं है और आपके कपड़े साफ रहने चाहियें। आप बाहर सिद्धांत बघार रहे होते हैं और मुझे मुहल्लेमें मांग-मांगकर बच्चोंका पेट भरना पड़ता है। “पति महोदय उसे घरसे निकल जानेका पुरुष-दम्भी फरमान जारी कर देते हैं। वह आज्ञाको शिरोधार्य नहीं करती। कहती है—“नहीं निकलूंगी। एक बार नहीं, सौ बार नहीं निकलूंगी। यह मेरा घर है, मेरे बच्चोंका। ... आप निकल जायें। अभी।”

कहानीकी अन्तिम पंक्तियां हैं—“लालीकी कर्कश आवाज बहुत देर तक गूँजती रही और वह अशक्त और निरुत्तर हो सोच रहा था कि क्या यह वही जाहिल और गंवार लाली है ?” (पृ. ५४)।

मदनमोहनके उपर्युक्त वाक्यमें जिन्हें इस पुरुष पात्रकी ‘पराजय’ दिखायी देगी वे लोग कहानीको नष्ट भी कह सकते हैं और क्रान्तिके नामपर कलाकी कुर्बानी भी। मैं इसमें पुरुष पात्रके संघर्षकी विजय देख रहा हूँ जिसके आचरणने बिना मुखर शब्दोंका सहारा लिये



जहिल गंवार पत्नी लालीको इतने सचेत नामस्मरणको कुचल देनाही उचित समझा ।  
 रूपमें बदल देनेमें सफलता पायी है । वह 'न्याय'  
 'सिद्धान्त' और 'समानता' को व्यवहारके स्तरपर सम-  
 झनेमें इतनी 'समर्थ' हो गयी है कि अगणित स्त्रियोंकी  
 ओरसे खड़ी होकर 'घर' पर 'पति' से अधिक 'पत्नी' के  
 सहज अधिकारकी उद्घोषणा करती है ।

मदनमोहनकी कहानियां सचेत अध्ययनकी मांग  
 करती हैं, चलते ढंगसे उनको देखनेपर ऐसी असावधानी  
 हो ही जायेगी । कहानीकारकी भाषाकी यह एक अलग  
 विशेषता है । □

फन ?

कहानीकार : हनुमांत मनगटे  
 समीक्षक : डॉ. तेजपाल चौधरी

यह सात कहानियोंका संग्रह है । कुछ कहानियाँ  
 मध्यवर्गीय जीवनके आर्थिक-सामाजिक संघर्षको लेकर  
 हैं, तो कुछ मानवके अन्तःसंघर्षको लेकर । कहानी-  
 कारकी दृष्टि बदलते हुए जीवन मूल्यों और उनसे  
 उत्पन्न स्थितियोंको सूक्ष्मतासे पकड़नेमें सफल रही है ।  
 उनके पात्र जीवनकी कटु विवशताओंको झेलते हुए भी  
 पलायनशील नहीं हैं ।

एक दो कहानियोंमें केरियर और जीवन स्तरको  
 लेकर बड़ी खरी बात कही गयी है कि मध्यवर्गीय परि-  
 वारका लड़का, प्रतिभाका धनी होते हुए भी, भविष्यके  
 रंगीन सपने तो देख सकता है, पर प्रतिष्ठित पदों या  
 व्यवसायोंको छू भी नहीं सकता ।

'फन' कहानीमें यह विवशता अपनी चरम सीमा  
 तक पहुँची है । कहानीका चन्द्रप्रकाश दो बार कोशिश  
 करनेपर भी पी. एम. टी. पास नहीं कर सका और  
 उससे कहीं कमजोर एक एम. एल. ए. का लड़का उसके  
 देखतेही देखते एम. बी. बी. एस. होगया । एम. एस.-  
 सी. करनेके बादभी उसे कम पापड़ नहीं बेलने पड़े ।  
 उस समय तो उसका क्षोभ अन्तिम सीमा तक पहुँच  
 गया, जब उसने देखा कि जग्गा दादा जैसे लोग अपना  
 फन फैलाये सारी व्यवस्थाको आक्रान्त किये हुए हैं ।

१. प्रका. : यम. यन. यस 'पब्लिशर्स', ६५२ मालवीय  
 नगर, इलाहाबाद-२११००३ । पृष्ठ : १०८; का.  
 ८८; मूल्य : ३०.०० रु. ।

अभाव और गरीबीके अभिशापको भी कई कहा-  
 नियोंमें रेखांकित किया गया है । यह कैसी त्रासदी है  
 कि एक व्यक्ति गूंगी और अर्धविक्षिप्त बहनकी मृत्यु  
 की कामना करे और अपनी सारी सम्पत्ति बेटी और  
 धेवतोंके नाम कर देनेवाली नानीकी मृत्युपर 'बला टली'  
 का अनुभव करे, (गर्दिशके दिन) ।

इन कहानियोंमें इन्सानी रिश्तोंका भी सुन्दर  
 विश्लेषण हुआ है । कई बार हम पाते हैं, कि ये रिश्ते  
 रक्त-सम्बन्धोंसे कहीं अधिक मजबूत और भावात्मक  
 होते हैं । 'फन' के रहीमका चन्द्रप्रकाशके प्रति तथा  
 'सेतुबन्धु' के बालू भाईका रामप्रसादके प्रति सहज स्नेह  
 किसीभी स्वार्थकी डोरीसे बंधा हुआ नहीं है ।

सामाजिक चिन्तनसे जुड़ी हुई कहानियोंमें 'कर्ण'  
 युधिष्ठिर न बन सका' बहुत प्रभावशाली बन पड़ी है ।  
 कहानी वहीं पुरानी है, जो युगों-युगोंमें कुन्तियोंकी  
 फिसलनसे जन्म लेती आयी है, परन्तु इस कहानीकी  
 कुन्ती कर्णको जलधारामें प्रवाहित नहीं करती अपितु  
 निश्चय करती है कि "अगर कर्ण युधिष्ठिर न  
 बन सका तो यह कुन्तीभी पाण्डवोंको अजन्मा ही रहने  
 देगी ताकि महाभारतकी पुनरावृत्ति न हो । (पृष्ठ  
 १०८) ।

'स्मृति मन्दिर' दो कारणोंसे ध्यान आकर्षित करती  
 है । एक तो यह कहानी 'राजा निरबंसिया' शैलीमें  
 लिखी गयी है और दूसरे यह इस तथ्यको मूर्त करती है  
 कि अपनी 'भूख' को आदर्शोंका नाम देना कितनी  
 बड़ी धूर्तता है ।

'फ्रेममें फंसी आकृतियाँ' और 'आत्मतुष्टि'  
 अन्तर्जगत्की कहानियाँ हैं । पहली कहानी सुन्दर पत्नी  
 के कुरूप पतिकी हीन भावनाओंको स्वर देती है, तो  
 दूसरी पुत्रकी स्वयंसेवतासे खिन्न पिताकी उस अहं तुष्टि  
 को, जो बेटेकी दुश्चरित्रताको उसके पौरुषकी पहचान  
 मान लेता है ।

भाषिक स्तरपर कहानियोंमें कई त्रुटियाँ हैं ।  
 जैसे—'कुछ क्षण वह रुके रहे ।' (पृ. ८६); 'उसके  
 जीवनकी डेहरीपर आ खड़ा हुआ था ।' (पृ. ८६)  
 कैशोर्यावस्था (पृष्ठ १०) 'उन दिनों उसकी मूँछ  
 काली-सुर्ख थी ।' (पृ. ८६) निरन्तर संघर्षोंकी लम्बी,  
 जगमगाती अन्धी गुफाएं । (पृ. ६) आदि । किन्तु कुछ  
 उपमान और प्रतीक सूचक और मौलिक है । जैसे—



‘मरे बच्चेको सीनेसे चिपकाये (पृ. १३); “पुलियाके पास वही दो मीटर लम्बा नाग ऐंठी हुई रस्सीकी तरह पड़ा (पृ. ४५)।  
 अपने सीनेसे चिपकाये, (पृ. १३); “पुलियाके पास वही दो मीटर लम्बा नाग ऐंठी हुई रस्सीकी तरह पड़ा  
 कुल मिलाकर ये कहानियां उद्देश्यपूर्ण लेखनके प्रति लेखककी निष्ठाकी परिचायक हैं। □

## कर्मशील व्यक्तित्व

### ग्रोघड़ यात्रा?

[महावीर अधिकारी : व्यक्ति,  
 विचार और साहित्य]

सम्पादक : डॉ. त्रिभुवन राय

समीक्षक : डॉ. त्रिभुवन नाथ ‘वेणु’

डॉ. महावीर अधिकारी हिन्दीकी उन विभूतियोंमें से हैं जो अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञासे निबन्धकार, व्यंग्यकार, उपन्यासकार, कथाकार, अनुवादक और समर्थ पत्रकारके रूपमें पल्लवित-पुष्पित होकर फलित हुए। वे सदा निर्लिप्त रहकर मानवता और हिन्दीकी सहज साधनामें प्रयत्नशील रहे हैं। उनके व्यक्तित्व-निरूपणके रूपमें अनेक ख्यातनामा लेखकोंने श्री अधिकारीके व्यक्तित्वका विश्लेषण किया है। प्रमुख लेखक हैं : विष्णु प्रभाकर, डॉ. प्रभाकर माचवे, हरिशंकर परसाई, रामावतार त्यागी, डॉ. विनय, डॉ. भगवानदीन मिश्र, डॉ. राममनोहर त्रिपाठी, डॉ. अमरकुमार सिंह, डॉ. पी. जयरामन, हरप्रसाद शास्त्री; कवि गीतकार नीरज, कवि-गजलकार और लेखक और राजनीतिज्ञ बालकवि वैरागी और तारकेश्वरी सिन्हा। विभिन्न लेखोंमें उनके जीवनके विभिन्न पक्षोंका विवेचन-विव्लेषण है यथा—  
 ‘महावीर अधिकारीकी राजनीतिक विचारधारा’,

‘महावीर अधिकारीकी जीवन-दृष्टि’, ‘डॉ. महावीर अधिकारीकी विचार-दृष्टि’, ‘डॉ. महावीर अधिकारीकी साहित्य-दृष्टि’ और ‘डॉ. अधिकारीका साहित्यादर्श’।

समीक्ष्य ग्रंथको कुल तीन भागोंमें बाँटकर प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भागमें व्यक्तित्वका विवेचन, दूसरे भागमें विचार और तीसरे तथा अन्तिम भागमें ‘साहित्यानुशीलन’ के अन्तर्गत समीक्षकोंने अधिकारीके सम्पूर्ण साहित्यका विवेचन प्रस्तुत किया है। अन्तिम लेखमें सम्पादकने डॉ. अधिकारीका साक्षात्कार प्रस्तुत किया है उससे हिन्दीके विविध आयामोंका रहस्योद्घाटन हो जाता है।

कृतिके प्रथम लेखमें ‘भाषाके भागवत पुत्र: पंडित महावीर अधिकारी’ में प्रख्यात लेखकके ये विचार समीचीन लगते हैं—“यदि मैं कोई अभिनन्दन पत्र लिख रहा होता तो अधिकारीजीको इस ‘सदीका शिलालेख’ जैसा विशेषण लगाकर बात शुरू करता। यदि संस्मरण लिख रहा होता तो पचासों पृष्ठ उनके अंतरंग क्षणोंसे भर देता। × × अधिकारीजी तेजस्वी हैं। तेजपुंज हैं। मनस्वी हैं। और हम उन्हें चलती हुई कलमके साथ पूरे एक सौ एक अग्निवर्णी वर्षों तक अपने आसपास सशरीर देखते रहनेकी प्रार्थना प्रभुसे करते हैं।” (पृ. ५)।

हरप्रसाद शास्त्रीने इनके व्यक्तित्वमें एक साथ अनेक रूपोंका दर्शन किया है : “अधिकारीजी बहुमुखी प्रतिभाके धनी एक सशक्त मसिजीवी हैं। उनमें आधुनिक बोधोंके साथ-साथ पुरातन मूल्योंकी गहरी समझ है। उपन्यासकारकी संवेदनशीलता, इतिहासकारकी गूढ़ ज्ञानदृष्टि, निबन्धकारकी विश्लेषणकारी गहरी पैठ, व्यंग्यकारकी ठहाकामार शोधकारी क्षमता और पत्रकारका निर्भीक तथा जोखमभरा सामाजिक दायित्वका

१. प्रका. : अरविन्द प्रकाशन, २/सी, ६ सेकसरिया कम्पाउंड, सखाराम लांजेकर मार्ग, परेल, बम्बई-४०००१२। पृष्ठ : ४०४; डिमा ८६; मूल्य : १२०.०० रु.।

‘प्रकर’—जुलाई’९०—४४



आग्रह—ये सब उन्हें एक सम्मोहनकारी लेखनधर्मिताकी अधिकारी बनाते हैं।” (पृ. १६)। उनकी प्रमुख पहचान है ज्ञारूपनमें। इसी जीवट और जीवन्त व्यक्तित्वको विष्णु प्रभाकरने देखा है : “आँखें देखती ही नहीं व्यक्तित्वको उजागरभी करती हैं, बल्कि व्यक्तित्वकी पहचानही उनका मुख्य सरोकार है। महावीर अधिकारीकी आँखें अपवाद नहीं हैं। एक क्षणको उनमें झाँकिये तो एक शरारती, खुशमिजाज, कर्मठ और आक्रामक व्यक्तित्वकी तसवीर आपके सामने उभर उठेगी। लेकिन उनके आक्रमणमें दुर्भावना नहीं, चुहलवाजी अधिक रहती है। वे मुक्त अट्टहास नहीं करते। उनकी सजग हँसीकी धार पैनी होती है, चीर जाती है अन्दरतक। उनके व्यक्तित्वमें बाहरी रख-रखाव काफ़ी है, पर मित्रके प्रेमी सहज होनेमें वह कोई बाधा नहीं है।” (पृ. २६)।

सम्पादक डॉ. त्रिभुवन रायकी दृष्टिमें “उन्हें पूर्ण विश्वास है कि काव्य, नाटक, उपन्यास, गल्प तथा साहित्यकी अन्यान्य विधाओंके जरिये सामाजिक मूल्यों की स्थापना होती रही है। × × साहित्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनात्मक एकताकी स्थापनामें सहायक सिद्ध हुआ है। राजनीतिक और सामाजिक विसंगतिथोंके बावजूद जो एक राष्ट्रीय सामासिक ‘संस्कृति’ का निर्माण हो सका उसका श्रेय वे संतों और महाकवियोंके उस स्वरको देना चाहते हैं, जिसमें वह भाव था जो हमारी सामाजिकता और संस्कृति, हमारे जीवन दर्शन और धर्मके ऐसे तत्त्वोंको स्थापित करनेवाला था जोकि राजनीतिक अनेकताके बावजूद हमारे समूचेको एकतामें बाँध करनेवाला था। यह उपलब्धि निश्चित रूपसे साहित्य देवताकी है।”

अंतिम खंडमें अधिकारियोंके साहित्यकी समीक्षाएँ हैं जिनमें ‘आदमीका गणित : आदमीका विवेक’ (डॉ. कमल सिंह), ‘राग दुर्गा’ (डॉ. कमलकिशोर गोयनका), ‘स्तम्भ चटक-मटकूकी चटक-मटक’ (भुवेंद्र त्यागी), ‘मानस मोती : रचनात्मक कसमसाहट’ (डॉ. चन्द्रकान्त बांदिबडेकर), ‘तलाश : महानगरीय अपसंस्कृतिका त्रासद यथार्थ’ (डॉ. सत्य-काम), ‘प्रेम और परिवर्तनके आवर्त’ और ‘आकुलताएँ’ (डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय), ‘निबंधकार डॉ. महावीर अधिकारी’ (डॉ. सुधाकर मिश्र), ‘मंजिलसे आगे : यश और कामकी टकराहट’ (डॉ. अरविंद पाण्डेय),

‘महावीर अधिकारीकी व्यंग्य चेतना’ (आलोक भट्टाचार्य) जैसे लेखकोंने एक नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है। अधिकारियोंके साहित्यिक व्यक्तित्वको उकेरकर प्रस्तुत करनेवाला एक उदाहरण दर्शनीय है—“लोग जिन्हें तेज-तर्रार, हाजिरजवाब, बेबाक, प्रखर—कुछ और आगे बढ़कर कहा जाये तो—विद्रोही कहते हैं, वे वास्तवमें ये सब होनेसे पहले ऐसे व्यंग्यकार होते हैं, जिनके मानसमें अपने आस-पासकी तमाम विसंगतियों, विद्रूपताओं, धूर्तताओं और मूर्खताओंकी प्रतिक्रियामें तेज व्यंग्य बाण निशानेपर छोड़ते नहीं। × ×

नैतिकताके रखवाले जब खुद नैतिकताका गला घोटते दीख पड़ते हैं तब हैरतमें पड़ जाना स्वाभाविक है।” (विसंगतियोंका राडार, ‘नरम गरम’—बी. जे. कश्यप, पृ. २७६)। और अन्तमें—“निष्कर्ष यह कि ‘नरम गरम’ एक प्रभावी लघु व्यंग्य निबन्ध संग्रह है। सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक-चेतनाके त्रिविध रंगोंसे सराबोर यह कृति जहाँ गुदगुदाती है, वहीं विकृतियों एवं विद्रूपताओंके प्रति गहरी टीस भी पैदा करती है।” (पृ. २७७)।

इस संग्रहमें वर्णित ‘अनाथ मानसिकताका मनोवैज्ञानिक ग्राफ : तलाश और अन्य उपन्यास’। डॉ. विवेकीरायने इसे एक नवीन कोणसे रेखांकित किया है। यह मूल्यांकन सटीक और हृदयस्पर्शी है : “कथाकार महावीर अधिकारीकी कृति ‘तलाश’ में बम्बईके सामान्य जनजीवनके यथार्थ चित्र बहुत सजीवता और प्रभावके साथ उभरे हैं”, वे पाठकोंके मर्मको गहराईसे छूते हैं। उन चित्रोंका प्रभाव अपने शिल्प-वैशिष्ट्यके कारण भी बढ़ जाता है। बेशक, महावीर अधिकारीमें भाषा-प्रयोग और चित्रांकनकी कुशलता भरपूर है। बहुत गंझिन बुनावटमें वे अन्तःबाह्य परिवेशको ग्राफिक रेखाचित्रोंमें उठाकर रख देते हैं। यही कारण है कि मास्टर टोनीकी कहानीका आकर्षण बराबर बना रहता है।” (पृ. ३०३)। इस मूल्यांकनके अन्तमें लेखकका यह निष्कर्ष कि “मानस मोती” में मूलतः स्त्री-पुरुषके नैसर्गिक आकर्षणके प्रश्नोंको उठाते हुए उनके जवाब ढूँढ़नेकी कोशिश है। प्रश्न कुछ इस प्रकार झकझोरते हैं, स्त्रीसे पुरुष चाहता क्या है? वह उसमें क्या देखता है? और स्त्री क्या देखती खोजती है पुरुषमें? —जिस चीजकी खोज है क्या वह स्त्री-पुरुषके रूप-रंग या देह्यष्टिमें है? परिस्थितियाँ



क्या चीज है ? और कहां है ? अगर वह देह है तो देहही क्या है ? इस प्रकारके प्रश्नोंसे जूझती यह कृति वास्तवमें पर्याप्त अनुरंजनकारी और विचारोत्तेजक हो उठती है। विचारोत्तेजकता और चिंतनशीलताकी जो गंभीर प्रवृत्ति लेखकके प्रथम उपन्यासमें दृष्टि-गोचर हुई तथा लेखकने अर्थ और कामके तथा यथार्थ और आदर्शके संघर्षका जो संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया उसका पूर्ण विकास उसकी नवीन कृतिमें दृष्टिगोचर होता है। (पृ. ३०७)।

स्पष्ट है कि इन लेखोंसे अधिकारीके कृतित्वकी व्यापक व्याख्या हुई है। 'साहित्यका जीवनमूल्योंसे क्या सरोकार है ?' इस प्रश्नकी व्याख्या महावीर अधिकारीसे डॉ. त्रिभुवन रायके साक्षात्कारमें सहजही देखी जा

आदमीही वह गिनी-पिग है जिसपर समाज प्रयोग करता है। सामाजिक प्रयोगशालामें वे ही मूल्य स्वीकृति पाते हैं जिन्हें जीवनके लिए क्षेमकारी माना जाता है। यहभी देखा जाता है कि जो मानव-मूल्य समाजके विकास की एक विशेष स्थितिमें मंगलकारी माने जाते हैं वे ही आगे चलकर स्थितियोंके बदलनेपर स्वतः निर्मूल होने लगते हैं। मूल्योंकी चादर छोटी पड़ने लगती है और जीवन के पैर चादर-से बाहर निकलने लगते हैं। जीवन मूल्य वही होते हैं जो जीवनकी अभिव्यक्तिके सार्वजनिक आयामोंको साधते चलें।" × × (पृ. ३७७)

कुल मिलाकर, महावीर अधिकारीके व्यक्तित्व, विचार और उनके साहित्यके अध्ययनकी रूपरेखा उभरकर आती है। □

## शिक्षा

### नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति?

लेखक : डॉ. जमनालाल बायतो

समीक्षक : डॉ. विद्योत्तमा वर्मा

स्वतन्त्रता प्राप्तिके पश्चात् चार दशकोंमें अनेक शिक्षा-आयोगों तथा समितियोंका गठन हुआ; उनके प्रतिवेदन प्रकाशित हुए जिनकी कतिपय संस्तुतियाँ प्रयोग रूपमें शिक्षा-जगत्में अवतरित हुईं तथा अधिकांश विफल होनेके कारण हटा दी गयीं। शिक्षामें आमूलचूल परिवर्तन लानेके उद्देश्यसे राष्ट्रमें व्यापक चिन्तन प्रक्रिया चली, शिक्षाके दोषों, दुर्बलताओंको स्वीकार किया गया, तब 'नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति १९८६' का उद्भव हुआ।

'नयी शिक्षा नीति' वस्तुतः एक शैक्षिक नवाचार है,

१. प्रका. : राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-३०२००२। पृष्ठ : १५२; डिमा. ८६; मूल्य : ६०.०० रु.।

'प्रकर'—जुलाई ६०—४६

अतः पुस्तकके प्रथम अध्याय 'शिक्षामें नवाचार' में लेखकने शैक्षिक नवाचारकी अवधारणा, इसके विविध पक्ष, उपयोगिता, अनुसंधानके क्षेत्र तथा इसके विरोधके कारणोंपर प्रकाश डाला है; फिरभी लेखक, शिक्षा-जगत्में आये परिवर्तनोंको शुभ मानते हुए आश्वस्त है।

द्वितीय अध्याय 'शिक्षा शास्त्रके अध्ययन क्षेत्रमें नवीन प्रवृत्तियाँ' में शिक्षाके अर्थकी व्यापकता, विभिन्न संगठनोंके समन्वयकी उपयोगिता, व्यावहारिक अनुसंधानोंका महत्त्व तथा शिक्षाकी वैकल्पिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। 'शिक्षा प्रशासनका परिवर्तनशील सम्प्रत्यय' के सन्दर्भमें विविध विद्वानोंके विचार, इसके तत्त्व, क्षेत्र, प्रशासकका व्यवहार आदि का वर्णन है। ये तीन अध्याय मूल विषयकी पृष्ठभूमिके रूपमें हैं।

'नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीतिकी विशेषता' के अन्तर्गत लेखकने प्रत्येक विशेषतापर पृथक्-पृथक्



टिप्पणी दी है। 'सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा' के लिए अतीपचारिक विधियों की अपरिहार्यता' नामक अध्याय में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस कार्य के लिए आवंटित राशि की तुलना; १९४७-४८ तथा १९७७-७८ में विद्यार्थी-विद्यालय की तुलना, प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक स्तर पर की गयी है। शिक्षा के क्षेत्र में आनेवाली बाधाओं, उनके कारणों तथा निराकरण के उपायों की चर्चा एवं अतीपचारिक शिक्षा के महत्त्व, कठिनाइयों और उपचार पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है।

'नवोदय विद्यालय' तथा 'खुला विश्वविद्यालय' नामक दो अध्यायों में लेखक ने इनकी अवधारणा, स्थापना के उद्देश्य, महत्त्व, पाठ्यचर्या, प्रवेश-नियम, शिक्षण प्रणाली तथा विशेषताओं पर प्रकाश डाला है साथ ही इसकी समीक्षा करते हुए लेखक ने अपने तर्कसम्मत विचार भी प्रस्तुत किये हैं।

परीक्षा, शिक्षा का अभिन्न अंग तथा कक्षोन्नति, नियुक्ति, पदोन्नतिका आधार है। वर्तमान परीक्षा प्रणाली की दोषपूर्ण स्थिति के अनेक उदाहरण देते हुए लेखक ने 'परीक्षा में सुधार' की आवश्यकता तथा इस शिक्षा नीति के क्रियान्वयन कार्यक्रम में दिये विचार प्रस्तुत किये हैं। लेखक का एक सुझाव है कि विद्यार्थी को कक्षा में उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण का प्रमाण-पत्र देने के स्थान पर मात्र उपस्थिति प्रमाण-पत्र दे दिया जाये तथा नियोजक अपनी आवश्यकता अनुसार परीक्षा ले लें। इस सुझाव की व्याख्या—'डिग्री-नौकरी : अलग-अलग' नामक अध्याय में की गयी है। साथ ही इस विचार के पक्ष तथा विपक्ष से सम्बन्धित तर्कों की पृथक्-पृथक् प्रस्तुति की है। निष्कर्ष के रूप में लेखक ने स्पष्टोक्ति की है कि यह कार्य न सरल है, न व्यावहारिक। इस पर गहन तथा व्यापक चिन्तन करने के पश्चात्, विभिन्न चरणों में क्रियान्विति होनी चाहिये।

'अध्यापक' शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। 'नयी शिक्षा नीति में अध्यापक का दायित्व' अध्याय में अध्यापक की अध्येता के अधिगम, सर्वांगीण विकास, विचार-व्यवहार आदिके सन्दर्भ में, दायित्व के बारे में लेखक ने नयी शिक्षा नीति के पक्ष का विश्लेषण; विभिन्न देशों, व्यवसायों, स्थितियों के उदाहरण; अधिकारियों की स्थिति; विद्यार्थियों के अधिगम को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का विश्लेषण, मूल्यांकन की विधियों तथा प्रतिवेदन प्रस्तुति पर युक्तिसंगत विचार व्यक्त किये हैं।

स्था पर्यावरण शुद्धि की चर्चा की जाती है। बहुचर्चित वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषण से परे इन सबके मूल वैचारिक प्रदूषण के सन्दर्भ में लेखक ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के उदाहरण देकर उनका विश्लेषण करते हुए इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि इस प्रदूषण-शुद्धि की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। साथ ही स्थिति-सुधार के समीचीन सुझाव भी दिये हैं।

'शैक्षिक अवसरों की समानता' विषय को लेखक ने दो भागों में विभाजित किया है—(क) 'शिक्षा में समान अवसर'—इसके अन्तर्गत समानता की अवधारणा; अवसरों की समानता के सन्दर्भ में संवैधानिक स्थिति तथा शिक्षा आयोग की संस्तुतियों का उल्लेख करते हुए कतिपय सुझाव प्रस्तुत किये हैं। (ख) समान अवसर से जुड़े 'मुद्दे' के प्रसंग में ग्रामीण शहरी, भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के, शिक्षित-अशिक्षित माता-पिता के विद्यार्थियों की समस्याओं तथा भेद-भावपूर्ण अनुदान से उत्पन्न स्थितियों का विश्लेषण किया है।

अन्तिम अध्याय 'शिक्षा और राजनीति' के अन्तर्गत लेखक ने शिक्षा के प्रशासनिक अधिकारियों की विविध पक्षीय समस्याओं, विधायकों तथा मन्त्रियों द्वारा भारी राशि के आधार पर स्थानान्तरण, नियुक्ति आदि कार्यों में हस्तक्षेप, दबाव; इनके फलस्वरूप अधिकारियों का मानसिक तनाव, उनके व्यक्तित्व एवं अधिकारों का हनन, कार्य-स्तर-अवनति आदिका उल्लेख करते हुए शिक्षा और राजनीति के बीच विभाजन-रेखा खींचने पर बल दिया है।

इस पुस्तक में लेखक ने 'नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति' के अनेक पक्षों का विश्लेषण करने के अतिरिक्त उसकी कमियों, दोषों को उजागर करते हुए अपने मौलिक-चिन्तन परक प्रश्न उठाकर उनके समाधान भी सुझाये हैं। फिर भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति के व्यापक परिप्रेक्ष्य के कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्ष अछूते रह गये हैं—यथा परिवर्तित राष्ट्रीय शिक्षा संरचना, महिला समानता के लिए शिक्षा, वंचित वर्गों की शिक्षा व्यवस्था, विद्यार्थियों की आवश्यकता, विषय, शिक्षण के प्रति नवीन दृष्टिकोण, कला, उद्योग, शारीरिक शिक्षा, अध्यापक शिक्षा में सुधार आदि।

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षकों, शिक्षा प्रशासकों तथा प्रशिक्षणार्थियों के लिए उपादेय है। □



परन्तु जब सरकारही स्वयं रोगी हो और रोगाणुओंका प्रजननागार हो, उससे आशा करना आकाशकुसुम तोड़ने जैसा है।

डॉ. मिश्रका आर्योंके क्षेत्रको ईरान/ईराकतक सीमा-बद्ध करनेका प्रस्ताव है, जबकि लेखक पूरे एशिया / यूरोपको भारतीय आर्यक्षेत्र मानता है। नामकरणको आधार माना जाये तो...

अरब < आर्यव्य, इटली < अत्रिस्थली, ब्रिटेन < ब्रात्यस्थान, अंगरेज—अंगिराज, हंगरी < शृंगपुरी, जर्मनी < श्रमणभूमि, रसिया < ऋषिका, आस्ट्रिया < आस्तिका, पोलैण्ड < पुरन्ध्र, स्विटजर < श्वेतज आदि नाम इस तथ्यकी स्पष्ट सूचना देते हैं कि आर्य संस्कृतिके लोगही आर्यावर्तसे निकलकर दूसरे देशोंमें गये। भाषा-शास्त्रके अनुसार भारोपीय भाषा परिवारके 'केन्तुम' और 'शतम'—दो वर्ग हैं। उनका कहना है कि मूल भारोपीय भाषा-भाषी दो धाराओंमें विभक्त

हो गये थे। यह उनका प्रमाद मात्र है। वस्तुतः आर्य-भाषा 'शतम' ही यूरोपतक पहुंचते-पहुंचते 'केन्तुम' बन गयी थी। भाषापर स्थान, कालभूगोल, जलवायु आदिका प्रभाव पड़ता है। आर्योंके बाहरसे यहां आने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यहांसे जानेका प्रमाण भाषा, धर्म, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान सभी दे रहे हैं। तब इस तथ्यको भारतीय इतिहासकार क्यों नहीं मानते? वे आर्योंकी जिस पथसे भारतमें आया हुआ मानते हैं, उसी रास्तेसे यहाँसे जानेकी बात क्यों नहीं करते? इसका उत्तर श्री क्षितीश वेदालंकारके शब्द है—” प्रदूषित दिमाग इतिहासकी इस गंगाको निरंतर प्रदूषित करते आ रहे हैं... ये प्रदूषित दिमागवाले भारत के निहित स्वार्थी विदेशी मानसिकतावाले, मैकाले महा-विद्यालयके स्नातक हैं।

— डॉ. विजय द्विवेदी, हिन्दी विभागाध्यक्ष, महाराजा पूर्णचन्द्र महाविद्यालय, बारिपदा-७५७००१.

## स्वर : विसंवादी.....

[पृष्ठ ४ का शेष]

कर दे तो ये क्रान्तिकारी सामाजिक दोनों हाथ उठाकर अपने क्रान्तिकारी होनेकी घोषणा करनेवाले धर्म-निरपेक्ष होते हैं, यदि इस प्रकारके आक्रमणका दण्ड भोगनेवाले वर्ग अवसर आनेपर आक्रमणकी इस स्थितिको समाप्तकर देवस्थानकी पुनः स्थापना करना चाहते हैं तो उसे साम्प्रदायिकता घोषित किया जाता है। आजकी भारतीय राजनीति इसी धुरीपर घूम रही है। राजनीतिके भ्रामक चक्रको खण्डित करनेके लिए देशके सामाजिकोंका एक वर्ग संगठित होकर उठ खड़ा हुआ है और 'सर्वधर्म सम-भाव' के परम्परागत रूपको पुनः जागृत करने और आक्रमण द्वारा स्थापित अधिकारके निराकरण एवं प्रत्याख्यानके लिए उठ खड़ा हुआ है तो हमें उसका स्वागत और समर्थन करना चाहिये, विरोध नहीं।

हमें इस मूल तथ्यपर बल देनेकी आवश्यकता है, आक्रमण, आक्रमण है। चाहे वह सैनिक शक्तिके बल पर यहांके देवस्थानोंपर अधिकार कर उन्हें नष्ट करना हो, अथवा सैनिक बल और धनबलसे धर्मपरिवर्तन हो, विचार-परिवर्तन हो, सभी आक्रमणको परि-भाषामें आते हैं। उसे समाप्त करना वैसाही है जैसे सम्पत्तिपर बलात् किये गये अधिकारको समाप्त करना। इससे समझौता नहीं होसकता, समझौतेका अर्थ दासता को स्वीकार करना है। इस आक्रमणको समाप्त करनेके लिए यदि जनसाधारण अपनेको नये सिरेसे संगठित करता है, और संगठित रूपमें इस प्रकारके नये-पुराने आक्रमणको निरस्त करनेकी मांग करता है, यह साम्प्र-यिकता नहीं अपितु देशकी अस्मिताको जागृत करता है। □

'प्रकर'— जुलाई ६० — ४८



# प्रकर

भाद्रपद : २०४७ [विक्रमाब्द] :: अगस्त : १९६० (ईस्वी)



स्वाधीनता दिवस अंक

विशिष्ट सामग्री

भारत राष्ट्रका भौगोलिक इतिहास  
और ऐतिहासिक भूगोल

— पण्डित श्री. काशीराम शर्मा

आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार

— डॉ. राजमल बौरा

स्मृतिचछन्दा

— डॉ. नन्दकिशोर आचार्य



- ☐ पण्डित श्री काशीराम शर्मा, ओंकारमलजी पत्थर व्यापारीका मकान, २२२, गांधीनगर, चुरू (राजस्थान).
- ☐ डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, भारतीनगर, मैरिस रोड, अलीगढ़—२०२००१.
- ☐ डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल, ७१० गायत्री छाया, पश्चिमी धमापुर, जबलपुर (म. प्र.).
- ☐ डॉ. नन्दकिशोर आचार्य, सुधारोंकी बड़ी गुवाड़, बीकानेर—३३४००१.
- ☐ डॉ. भगीरथ बड़ोले, सी-२८६ विवेकानन्द कालोनी, फ्रीगंज, उज्जैन—४५६००१.
- ☐ डॉ. भानुदेव शुक्ल, ४३, गौरनगर, सागर (म. प्र.)—४७०००१.
- ☐ प्रा. मधुरेश, ब्रह्मानन्द पाण्डेयका मकान, भांजी टोला, बदायूँ—२४३६०१.
- ☐ डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद—८२६००१.
- ☐ डॉ. रजनीकान्त जोशी, सी-५ ओजस एपार्टमेंट, सु. मं. मार्ग, अहमदाबाद—३८००१५.
- ☐ डॉ. रणजीत साहा, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, फिरोजशाह रोड, नयी दिल्ली—११०००१.
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषानगर, केसरसिंह पुरा, औरंगाबाद—४३१००५.
- ☐ डॉ. रामदेव शुक्ल, पैडलेगंज, गोरखपुर—२७३००६.
- ☐ डॉ. रामानन्द शर्मा, बी-६, ज़िगर विहार, मुरादाबाद—२४४००१.
- ☐ डॉ. विद्या केशव चिटको, न 'यमाही' अक्षर को. सोसायटी, समर्थनगर, नाशिक—५ (महाराष्ट्र).
- ☐ डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, १४/५, द्वारिकापुरी, अलीगढ़—२०२००१.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

<input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)	६.०० रु.
<input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत : ६५.०० रु.; व्यक्तिगत :	५०.०० रु.
<input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता : संस्था : ७५१.०० रु.; व्यक्ति :	५०१.०० रु.
<input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) : पाकिस्तान, श्रीलंका	१२०.०० रु.
अन्य देश :	१८५.०० रु.
<input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्षके लिए) :	३१०.०० रु.
<input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.	

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



**प्रकाश**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ८

भाद्रपद : २०४७ [विक्रमाब्द]

अगस्त : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां**

मत-अभिमत		
स्वर-विसंवादी	२	
स्वाधीनता दिवसके अवसरपर प्रस्तरीभूत 'पवित्र' संविधानकी अर्चना सहित मंगलकामनाएं	३	वि. सा. विद्यालंकार
भारतीय वाङ्मय और भारतभूमि		
भारत राष्ट्रका भौगोलिक इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल	६	पण्डित श्री काशीराम शर्मा
आर्य द्रविड़ भाषा परिवार		
सीमा प्रदेशोंकी भाषाएं : मराठी-तेलुगु-कन्नड़ [५. २.]	१७	डॉ. राजमल बोरा
भाषा विज्ञान		
मण्डयालीका भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डॉ. जगतपाल शर्मा	२४	डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया
छत्तीसगढ़ी और पश्चिमी उड़ियाका रूपग्रामिक अध्ययन		
—डॉ. लक्ष्मणप्रसाद नायक	२६	डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल
पारम्परिक काव्य शास्त्र		
रूपसाहि और उनका रूपविलास	२८	डॉ. रामानन्द शर्मा
निबन्ध		
स्मृतिच्छन्दा—अज्ञेय	३३	डॉ. नन्दकिशोर आचार्य
सो...फिर, भादों गरजी—मालती शर्मा	३८	डॉ. विद्या केशव चिटको
चलते-चलते—गिरधारीलाल सराफ, उमादेवी सराफ	४०	डॉ. रजनीकान्त जोशी
शिक्षा और जीवन		
आधुनिक विचार और शिक्षा—नन्दकिशोर आचार्य	४१	डॉ. रामदेव शुक्ल
शोध और आलोचना		
प्रसाद एवं रवीन्द्रके काव्यमें सौन्दर्य बोध		
—डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र	४६	डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय
नरेश मेहताका साहित्य : एक अनुशीलन—डॉ. विद्या सिंह	४९	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ
उपन्यास		
धम्म शरणम्—सुरेशकान्त	५०	प्रा. मधुरेश
रेखाकृति—डॉ. कुसुम अंसल	५४	डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय
काव्य		
लौटते समय (उड़ियासे अनूदित)—जगन्नाथप्रसाद दास	५६	डॉ. रणजीत साहा
नाटक		
ग्रयंदोष (फ्रांसीसीसे अनूदित)—अलबेर कामू	५८	डॉ. भानुदेव शुक्ल
व्यंग्य-हास्य		
अवबोध—लक्ष्मीकान्त वैष्णव	६०	डॉ. भगीरथ बड़ोले



## □ आर्य संस्कृतिकी गंगाका प्रदूषण

‘प्रकर’ (जुलाई, ६०) के ‘मत-अभिमत’ के अन्त-गंत डॉ. विजय द्विवेदीकी टिप्पणी ‘भारतका इतिहास: विकृतिकी व्यथा-कथा’में यह पढ़कर महान् दुःखद आश्चर्य हुआ कि प्रो. इरफान हबीबने ‘भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान परिषद्’ के अपने अध्यक्षीय भाषणमें कहा कि “चरखा विदेशी आविष्कार है और हल इस देशमें बाहरसे आया है। चीनी, यूनानी और रोमन नागरिकों की अपेक्षा हमारे देशमें ज्ञानकी प्यास नगण्य थी।”

प्रो. इरफान हबीब अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयमें मेरे साथी अध्यापक रहे हैं। उनके उपर्युक्त कथन पर मुझे महान् आश्चर्य है।

मुझे लगता है कि मेरे मित्र प्रो. इरफान हबीबने भारतीय इतिहासको पश्चिमकी आँखोंसे ही पढ़ा है। मैकाले महाविद्यालयके पुस्तकालयमें भारतीय आर्य-संस्कृतिके आदि ग्रन्थ अर्थात् वेद न होंगे। विश्वके सभी मूर्धन्य विद्वान् स्वीकारते हैं कि ऋग्वेद विश्वमें सबसे प्राचीनतम ग्रंथ है। इससे पहलेकी रचना विश्व की भाषाओंमें नहीं मिलती। अतः ऋग्वेदमें जिस आर्य-संस्कृतिका विवरण मिलता है, वह प्राचीनतम संस्कृति है।

ऋग्वेद (मंडल १०/ सूक्त ५३/ मंत्र ६) में कहा गया है कि सूत कातकर उसपर रंग चढ़ाओ। उसे खराब न करते हुए कपड़े बुनो। विचारशील बनो। सुप्रजा निर्माण करो। तेजस्वियोंकी बुद्धि द्वारा जो मार्ग निश्चित किये गये हैं, उन मार्गोंकी रक्षा करो।

“तंतुं तन्वन् रजसो मानुमन्विह ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुत्कर्ण वयत जोगुवामपो मनुभवं जनया देव्यं जनम्।” — (ऋक्, १०/५३/६)।

‘तंतुं तन्वन्’ (सूत कातकर) प्रयोगसे स्पष्ट है कि उस समय भारतमें चरखेका आविष्कार हो चुका था।

वैदिकी भाषामें ‘हल’ के लिए ‘लांगल’ शब्द है।

‘प्रकर’—अगस्त ६०—२

अथर्ववेद (३/१७/३) में कहा गया है कि हल कल्याणकारी, तेज और मुठिया सहित है।

“लांगलं पवीरवत् सुशीमं सोम सत्सरः” (अथर्व. ३/१७/३)।

उसी वेदमें फिर उल्लेख है—“शुनं कृषतु लांगलम्”— (अथर्व. ३/१७/६)।

ओढ़नेके कपड़ेके लिए ऋग्वेदमें ‘अधीवास’ शब्द है। ऊपर ओढ़नेकी ‘चादर’ या ‘दुशाला’ को ‘अधीवास’ कहते थे। ऋग्वेद (१/१४०/९) में कहा गया है कि यह माताका ऊपर ओढ़नेका कपड़ा है—

“अधीवासं परिमातूरिहन्तह...”

ऋक्, १/१४०/९)।

अब स्वतंत्र भारतमें हमें अपनी भारतीय आर्य-संस्कृतिके इतिहासके मूल और विकासका अध्ययन पश्चिमीय आँखोंसे नहीं, मूलतः भारतीय नेत्रोंसे करना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपने भारतीय प्राचीन विद्वानोंको भी पढ़ें। मानसिक गुलामी दूर करनी होगी।

यदि हम सावधान नहीं हुए, तो मैकाले महाविद्यालयके स्नातक आर्य-संस्कृतिकी गंगामें प्रदूषण फैलाते रहेंगे। मैकाले महाविद्यालयके स्नातक अंग्रेजीका साहित्यही पढ़ते हैं। संस्कृत-साहित्य न पढ़नेके कारण उनकी आँखोंपर पश्चिमका चश्मा ही चढ़ा रहता है। उसी चश्मेका प्रभाव है, जो हबीब साहब अपने अध्यक्षीय भाषणमें चरखे और हल को विदेशका आविष्कार बतलाते हैं।

—डॉ. अस्वाप्रसाद ‘सुमन’, ए-८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर (उ. प्र.)-२४७००१

## □ भाषा, शब्द, संस्कृति

‘भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति’की समीक्षा (‘प्रकर’ मई ६०) में ‘दौड़ चल’ या ‘दौड़ा चल’ से अधिक

[शेष पृष्ठ ६ पर]



## स्वाधीनता दिवसके अवसरपर प्रस्तरीभूत 'पवित्र' संविधानकी अर्चना सहित मंगलकामनाएं

स्वाधीन भारत तैंतालीस वर्ष पूरे कर चवा-  
लीसवें वर्षमें प्रवेश कर रहा है। देशके पूर्ण  
जीवनको व्यस्थित रूपमें चालू रखनेके लिए २६  
जनवरी १९५० को नया संविधान लागू किया गया  
जिसका निर्माण मुख्य रूपसे इंग्लैंड-अमरीकाके लोक-  
तंत्र संबंधी चिन्तनों और उन देशोंमें लागू व्यवस्थाओं  
के आधारपर किया गया। ये चमक-दमकभरे आया-  
तित आकर्षक चिन्तन और समयकी कसौटीपर खरी  
उत्तरी मानी जानेवाली व्यवस्थाएं लगभग आधी  
शताब्दीतक देशमें लागू रहनेपर भी देशको न तो व्यव-  
स्थित जीवन दे पाये हैं, न सामाजिक-सांस्कृतिक-राज-  
नीतिक-आर्थिक जीवनको गतिशील बना पाये हैं।  
जिस लोकतन्त्रात्मक, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, सह-  
अस्तित्वके गणराज्यके निर्माणका संकल्प २६ नवम्बर  
१९४६ को लिया गया था, उस राज्यका लोकतन्त्र लाठी-  
बन्दूक-मतपेटीवदल तन्त्रमें परिणत हो चुका है; अमूर्त  
समाजवाद पूंजीवादके शोषक रूप और सम्पन्न कुलकों  
एवं सामन्ती परम्पराके क्रूर जमींदारोंका रूप धारण  
कर चुका है; धर्म-निरपेक्षता वोट-बैंककी गणितके अनु-  
सार अल्पसंख्यक धर्मोंको राष्ट्र-राज्य-निरपेक्ष कट्टर  
और असहिष्णु धार्मिक संगठनों-वर्गों-समूहोंमें तथा  
अल्पसंख्यकोंके बहुमतवाले क्षेत्रोंको जिलों-राज्योंमें  
रूपान्तरित कर चुकी है; युगोंसे देशकी सह-अस्तित्व  
की परम्पराको आरक्षणों और संरक्षणों द्वारा उन्माद-  
ग्रस्त जातिवादका रूप दे दिया गया है।

इन परिस्थितियोंके भीतरसे उत्पन्न हताशा-  
निराशाके कारण आन्तरिक विघटनकी एक प्रक्रिया  
शुरू हुई है, जो आतंकवादका रूप धारणकर आखड़ी हुई  
है। इस आतंकवादका सामना करनेके लिए 'राज-  
नीतिक प्रक्रिया' का प्रस्ताव पूरे आवेशके साथ किया  
जाता है। परन्तु 'राजनीतिक प्रक्रिया' का प्रस्ताव यह

प्रभाव छोड़ जाता है कि यह आवेश कहीं आतंकवादके  
समर्थनका उन्माद तो नहीं है, यह देशके विघटनकी  
दिशामें तो प्रच्छन्न प्रयास नहीं है ?

राजनीतिक एवं आर्थिक स्तरपर गत तैंतालीस  
वर्षोंमें देश इसी स्थितिमें आ गया है। उससे भी अधिक  
मूक लोक-विमुखताका प्रमुख कारण भयावह प्रशा-  
सनिक आतंक और भ्रष्टाचारके लोमहर्षक रूप हैं।  
प्रशासनके विभिन्न अंगोंने स्वयं अपने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष  
दुष्कृत्यों-अनाचारों-यातनाओं-बलात्कारोंके द्वारा जो  
वातावरण तैयार किया है उसे और अधिक गहरानेके  
लिए वह माफिया-समुदायों, तस्करों-हत्यारों-डकैतोंको  
वरदहस्त प्रदान करता है। इस वर्तमान तथ्या-  
त्मक स्थितिमें व्यक्तिकी स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और  
अवसरकी समता जैसे संवैधानिक संकल्प, अथवा भाग  
तीन के अन्तर्गत परिगणित विभिन्न अनुच्छेदोंकी क्या  
उपयोगिता रह गयी है, यह वाद-विवादका विषय  
तो हो सकता है, परन्तु यह स्थिति आतंकित-पीड़ित-  
त्रस्त व्यक्तिको कोई संरक्षण नहीं प्रदान कर पाती।  
आजकी स्थिति मध्ययुगीन निरंकुश शासनोकी स्थिति  
का स्मरण करा देती है जबकि 'संविधान' नामकी  
वस्तुही तब कल्पनासे दूरकी बात थी। आज संविधानने  
तो परिस्थितियों और परिवेशसे संघर्ष करने और  
उनसे मुक्ति पानेका अधिकार प्रदान किया है, परन्तु  
सत्ता और प्रशासनने आतंकका वातावरण उत्पन्न कर  
क्रूरतापूर्वक उस अधिकारको नकारात्मक बना दिया  
है। आतंकित-पीड़ित-त्रस्त व्यक्तिके लिए संविधान  
उस प्रस्तरीभूत अचेत ईश्वरीय सत्ताका रूप बन गया  
है जिसके सम्मुख बैठकर गिड़गिड़ाया जा सकता है, उसकी  
स्तुति की जा सकती है, विनति की जा सकती है, प्रार्थनाएं  
की जा सकती हैं, उसके नामकी माला जपी जा सकती है,



पर वह प्रस्तरीभूत दिव्य सत्ता के समान न सुनता है न उल्लसित होता है, न वरदान देता है न अभिशाप, केवल अपने स्थान पर अविचल बना रहता है। यह अवश्य है कि उसके नाम पर सत्तारूढ़ों को प्रसाद चढ़ाकर उनके सहयोगी-समर्थक-आदेशपालक बनकर सभी मूल्यों को जलांजलि अर्पित कर आतंक फैलाने और यातनाएं देने के सक्रिय भागीदार बनकर भूतल पर स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। यह परम्परा मध्ययुग और ब्रिटिशकाल से चली आ रही है।

भय आतंक फैलाने वाले किसी को स्वतन्त्रता नहीं दिया करते, वे केवल अपने राजनीतिक पाण्डित्य एवं बहुपठित-बहुश्रुत होने के प्रदर्शन के लिए, लोकमंगल और मानव कल्याणका आडम्बरपूर्ण वातावरण तैयार करने के लिए, अपरीक्षित विदेशी चिन्तन और प्रज्ञाका आयातकर उसे कागजों की जिल्द में बांध 'संविधान' नाम से प्रस्तुत कर सकते हैं, उस भाषा में जिसे देश-राष्ट्र के वासी न पढ़ सकते हैं न समझ सकते हैं। इससे सुविधा यह होती है कि वे उसी की शपथ लेकर निस्संकोच यह दोहराते रह सकते हैं कि हमने लिखित रूप में देश की जनता को मानवाधिकार प्रदान किये हैं, अधिकारों की रक्षा के लिए तन्त्र गठित किये हैं, यदि वे ही अपने अधिकारों की रक्षा के लिए इन तन्त्रों का उपयोग नहीं करते तो इसके लिए सत्ता को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु उस मानव कल्याणकारी प्रस्तरीभूत (वर्तमान प्रौद्योगिकी के युग में कागजीभूत) संविधान से जनसाधारण को परिचित कराने की कोई प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी हो तो हम उससे परिचित नहीं हैं क्योंकि सत्ता, प्रशासन (कार्य-पालिका एवं न्यायपालिका) का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि जनसाधारण पर उनकी भाषा नहीं लादी जा सकती, केवल सत्ता-प्रशासन की भाषा, जिसे सत्तारूढ़ और प्रशासक पीठ से पेट लगी जनता के गले पर लोह-लात रखकर उनकी गांठ से पैसा निकालकर विदेशों में विलासपूर्वक जीवन यापन कर 'बड़े श्रम और साधना' से ज्ञान और विलास अर्जित कर लौटते हैं, धूल में लोटनेवालों के गले के नीचे उतारनी होगी। विदेशों में जाकर चाहे वे अपने पूर्व प्रभुओं और वर्तमान 'भाषा-प्रभुओं' के चरण-चुम्बन करते हुए यही क्यों न निवेदन करते हों: "हमारे प्रभुओं, विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में सौंपनेवाले महिमामण्डितों! हमें तुम्हारे चरणों की शपथ है कि इस दरिद्र देशका पूरा पश्चिमीकरण करके हम इन्हें अंग्रेजीभाषी बना देंगे। हमें हादिक दुःख है कि अभी हम गत आधी शती में केवल एक-दो

प्रतिभाषी ही पाये हैं।" (इंडियन इंगलिश) भाषी बना पाये हैं।"

विश्व के स्वर्गों में रमण करनेवाले इन भारत-भू-देवों के वाग्जाल से अभिभूत और उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित प्रस्तरीभूत पवित्र संविधान की मात्र पूजा-अर्चना में संलग्न हैं। फिर भी, अपनी आन्तरिक छटपटाहट का प्रत्युत्तर न पाने पर भी जन-मानस की ऐसी दयनीय स्थिति बन गयी है कि वह निदेशक प्रावधानों को, अपनी भाषाओं के प्रयोग और अपनी भाषाओं के विकास और इस माध्यम से अपने और अपनी सन्ततिके-मानसिक विकास की व्यवस्थाओं से अपरिचित रहता है, अपरिचित रखा जाता है, उन्हें लागू करने का साहस जुटाने की स्थिति तो उत्पन्न ही नहीं होती।

जैसा कि ऊपर विवरण दिया गया है, संविधान और शासितों के बीच भयावह दूरी बनी हुई है तो दूसरी ओर शासकों के हाथ में संविधान एक खिलौना है। पिछले तैंतालीस वर्षों में राजनीतिक दलों के हितों और शासकों की व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इतने संवैधानिक संशोधन किये गये हैं कि संविधानका रूप तो बदल ही गया है बल्कि मूल अवधारणाओं में भी परिवर्तन हो गया है। यह एक गंभीर प्रश्न है। अब अपने वोट बैंक के विस्तार के लिए शासक दल पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्याख्या की है और इस प्रयोजन से संविधान में भी संशोधन करने जा रहा है, परन्तु इसके दूरगामी प्रभावों की उपेक्षा की जा रही है। इस प्रकार की नीतियों का जो प्रभाव हुआ है उन्हें अमरीकी नीति अर्थशास्त्री ने इस रूप में परिगणित किया है: (१) अल्प समय के लिए किये गये आरक्षण भी प्रायः बने ही रहते हैं और अन्य वर्ग भी इनकी मांग करने लगते हैं, (२) विशिष्ट वर्ग के लिए आरक्षण का लाभ भी उसी वर्ग के सुविधा सम्पन्न लोग उठाते हैं, (३) वर्गों का ध्रुवीकरण हो जाता है और संघर्ष की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। कभी-कभी गृहयुद्ध की स्थिति पैदा होने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं, (४) इसी वर्ग का सदस्य होने के झूठे दावों के आधार पर लाभ प्राप्त कर लिये जाते हैं, जिसके वे अधिकारी नहीं होते। संभवतः इस प्रकार की अव्यवस्थाएं राजनीतिक लाभ उठाने की दृष्टि से की जाती हैं।

सूलाधिकारों का अभाव कुशामन, अव्यवस्था, विदेशी भाषा से दबे होने पर भी इस आशा से नये स्वाधीनता दिवस का हम स्वागत करते हैं क्योंकि प्रस्तरीभूत संविधान में ही उसे बदलने का भी जन-साधारण को अधिकार तो प्रदान किया ही गया है और अन्ततः प्रभुसत्ता जनता में निहित है। □



# केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- हिंदी और तमिल की समान स्रोतीय भिन्नार्थी शब्दावली
- हिंदी और मणिपुरी परसर्गों का तुलनात्मक अध्ययन
- समसामयिकता और आधुनिक हिंदी कविता
- हिंदी रूपान्तरण व्याकरण के कुछ प्रकरण
- साहित्य में बाह्य प्रभाव
- समान स्रोत और भिन्न वर्तनी की शब्दावली असमीया-हिन्दी और हिन्दी-असमीया
- पाणिनि व्याकरण में प्रजनक प्रविधियां
- शैली और शैली विज्ञान
- हिंदी का भाषा वैज्ञानिक व्याकरण
- हिंदी शब्दावली और प्रयोग भाग-१, २
- जनजाति भाषाएं और हिन्दी शिक्षण
- बारहवीं सदी से राजकाज में हिन्दी
- हिन्दी की आधारभूत शब्दावली
- शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका
- तेलुगु और हिन्दी ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन
- हिन्दी साहित्य का अध्यापन
- भाषा मूल्यांकन तथा परीक्षण
- उच्चस्तरीय अंग्रेजी-हिन्दी अभिव्यक्ति पुस्तक
- बैकिंग शब्दावली
- कोश निर्माण : सिद्धांत और परम्परा
- देवनागरी लेखन तथा हिन्दी वर्तनी व्यवस्था
- व्याकरण सिद्धांत और व्यवहार
- प्रयोजन मूलक हिन्दी व्याकरण
- आंध्र प्रदेश में हिन्दी शिक्षण की समस्याएं
- प्रेमचंद और भारतीय साहित्य
- हिन्दी का सामाजिक संदर्भ
- भाषा अधिगम
- भाषा शिक्षण सिद्धांत और प्रविधि
- शिक्षण सामग्री-निर्माण सिद्धांत और प्रविधि
- शिक्षण सामग्री-निर्माण : प्रक्रिया और प्रयोग
- अनुवाद : विविध आयाम
- भाषा अनुरक्षण एवं भाषा विस्थापन
- मनोभाषा विकास
- संप्रेषण व्याकरण : सिद्धांत और प्रारूप
- कोश विज्ञान कोश
- भाषा संप्राप्ति मूल्यांकन
- प्रयोजन मूलक हिन्दी
- हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान
- भारतेंदु : पूनर्मूल्यांकन के परिदृश्य
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भारतीय समीक्षा
- हिन्दी तेलुगु : व्याकरणिक संरचना
- हिन्दी के अव्यय वाक्यांश
- हिन्दी का कारक व्याकरण
- हिन्दी शिक्षण : अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य
- दूरस्थ शिक्षण में भाषा शिक्षा
- शिक्षा संदर्भ और भाषा
- आधुनिक हिन्दी काव्य के कुछ पात्र
- आधुनिक भारतीय शिक्षा दर्शन
- संप्रेषण और संप्रेषणात्मक व्याकरण
- बैकिंग हिन्दी पाठ्यक्रम
- भाषा शिक्षण तथा भाषा विज्ञान
- कोश विज्ञान : सिद्धांत और मूल्यांकन
- हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां
- शब्द : अध्ययन और समस्याएं
- हिन्दी संरचना का अध्ययन-अध्यापन
- समान स्रोत और भिन्न वर्तनी की शब्दावली (ओड़िया-हिंदी-हिंदी-ओड़िया)।
- भाषा विज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियां और द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी भाषा शिक्षण

सम्पर्क सूत्र :

प्रकाशन प्रबंधक, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

'प्रकर'—भाद्रपद २०४७—५



# मत-अभिमत

[पृष्ठ २ का शेष]

उपयुक्त 'लपक' रहेगा। लपकना, चलना वर्गकी क्रिया ही है; सहसा तीव्र गतिसे अग्रसर होनेको लपकना कहते हैं। 'नौमि' का प्रयोग पद्यमें देखनेको मिला, गद्यमें नहीं। 'मामला' अरबी शब्द 'मुआम्लः' से विकसित है, अरबी लुगत 'माजरा' यथावत् हिन्दीमें आगया है। 'माजरा' घटना-प्रधान प्रसंगके लिए प्रयुक्त होता है, 'मामला' कोई प्रसंग हो सकता है। 'स्मोकिंग' का पर्याय न धूम्र-पान है न धूमपान। जहां धूम्र-पान व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध है, वहां धूम-पान आनुसंगिक क्रियाका परिचय देनेमें असमर्थ। हुक्का, चिलम, सिगरेट, बीड़ी, चिरुट, सिगार, पाइपका धुआं पिया नहीं जाता, कश खींचकर बाहर किया जाता है। 'चुनने' में सावधानीसे विलग करनेका भाव निहित है। 'तोड़ना' मात्र पृथक्करण होता है। जैसे 'देग' से लघुता-सूचक 'देगचा-देगची' बनते हैं, वैसे 'डोल' से डोलचा-डोलची। छोटे घड़ेको 'घड़ोला' भी कहते हैं।

शब्दोंकी लीला विचित्र है। फारसी लपज 'नाश्ता' से निहार (निराहार) मुंहका बोध होता था। उर्फीका कथन है—'रूह रानाश्ता फिरस्तादी' (आत्माको तूने भूखा भेजा)। हिन्दी-उर्दू में नाश्ता कलेवा (ब्रेक-फास्ट) का ही नहीं, वक्त-नावक्त प्रत्येक अवसरपर किये जानेवाले अल्पाहारका वाचक बन गया है। इसी प्रकार नयी हिन्दीमें 'खलीफा' से व्युत्पन्न भाववाचक संज्ञा 'खिलाफत' विरोधकी समानार्थी भी होगयी है। न लंच दोपहरके भोजको कहते थे और न 'डिनर' रातकी दावत को। किन्तु महाजन-समुदायने इन शब्दोंमें काल-होरा को सम्मिलितकर, इन्हें विशिष्ट अर्थ प्रदानकर दिये। शुद्धाशुद्ध शब्दवाद, शुद्धाशुद्ध अद्वैतवादकी भांति कम जटिल नहीं है।

—डॉ. हरिश्चन्द्र, संस्मृति, बी-११४६,  
इन्दिरा नगर, लखनऊ-२२६०१६

## □ प्रकारान्तसे आकारान्त

अकारान्त हिन्दी शब्दोंको अंग्रेजीके प्रभावसे आकारान्त बनानेकी प्रवृत्ति चल पड़ी है। अब अशोक नहीं 'अशोका', 'बुद्ध' नहीं 'बुद्धा' बोला-लिखा जाने लगा है। व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दीमें आकारान्त शब्द बहुधा स्त्रीलिंग होते हैं जैसे 'चंचल' पुल्लिंगसे 'चंचला'। साथ 'प्रकर'—अगस्त'१०—६

ही ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतकी दृष्टिसे ह्रस्व 'ऊ'की एक मात्रा, दीर्घ 'आ' की दो मात्रा और इसीका प्लुत उच्चारण तीन मात्राका गिना जाता है। अंग्रेजी प्रभावसे एक मात्रिक अक्षरको द्विमात्रिक बना दिया जाता है।

अब एक नया आन्दोलन यह शुरू हुआ है क्योंकि दक्षिण भारतमें अकारान्त शब्दोंको आकारान्त बोला जाता है, इसलिए केरल और कर्नाटकको 'केरला', 'कर्नाटका', बोला-लिखा जाये। आकाशवाणी और दूरदर्शनने इस 'अतिबुद्धिमत्तापूर्ण' सुझावको स्वीकारकर केरला और कर्नाटका बोलना-लिखना प्रारम्भ कर दिया है, क्योंकि अंग्रेजी कल्चरमें दीक्षित अधिकारियोंका इन संचार माध्यमोंपर आधिपत्य है। तमिलभाषी 'भगवान्' को 'पकवान्' लिखते-बोलते हैं, इसी प्रकारके सैकड़ों शब्दोंके उदाहरण दिये जा सकते हैं, क्या आकाशवाणी और दूरदर्शन भगवान् और भाग्यवान्को पकवान और पाकवान बोलने-लिखनेका साहस जुटा सकेंगे। हिन्दीको शब्दावली और सामान्य व्याकरणिक पद्धति संस्कृत साहित्यसे उत्तराधिकारमें मिली है। पूरे संस्कृत साहित्यमें केरला, कर्नाटका, पकवान-पाकवान शब्द कहीं नहीं मिलते। ये उच्चारण हिन्दीकी अपनी प्रकृति के अनुकूल भी नहीं हैं। हिन्दीकी अपनी प्रकृतिके कारणही अरविन्द और कलकत्ता उच्चारण होते हैं, बंगला उच्चारण 'ऑरविन्दो' अथवा 'कालिकाता' नहीं, 'महन्त' उच्चरित होता है 'मोहान्तो' नहीं। यदि क्षेत्रीय उच्चारण हिन्दीपर थोपे गये तो हिन्दीमें उच्चारणका जो वर्तमान मुख-मुख है, उसे छोड़कर मुख-जिह्वा-विकृतियोंका अभ्यास करना होगा अथवा पंजाबी पद्धतिके 'परकाश' आदि उच्चारणोंके लिए संवृत और विवृत (संवार-विवार) की दीक्षा लेनी होगी।

वस्तुतः 'केरला और कर्नाटका' उच्चारण उनके अपने क्षेत्रोंमें भी नहीं होते, वहां उच्चारण केरलस और कर्नाटकस हैं। अर्थात् वहां 'अकार' का उच्चारण 'विवृत' है न कि दीर्घ 'आकारान्त'। हमारे विचारसे यदि आकाशवाणी और दूरदर्शनको क्षेत्रीय उच्चारणोंकी शुद्धताका इतना अधिक ध्यान है तो अधिक उपयुक्त होगा कि वे समाचार वाचकोंको केरल और कर्नाटक को प्रश्लेष चिह्न (S) के साथ उच्चारण करनेका अभ्यास करायें।

—डॉ. भवदेव व्यास, ए-५/४२,  
राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७,



प्रशिक्षण विद्यालयों के छात्रों एवं शिक्षकों के लिए एक उपयोगी प्रकाशन

लेखक—

## राष्ट्र भाषा की शिक्षा

प्रो० डॉ. श्रोधरनाथ मुकर्जी

[स्वाधीनता के पश्चात् भारत संसद ने हिन्दी को भारत की राजभाषा के रूप में अनुमोदित किया। देश के प्रायः सभी राज्यों की माध्यमिक-शालाओं में, वैधानिक रूप से यह भाषा एक वाध्यतामूलक या वैकल्पिक विषय है एवं अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को विशेष स्थान प्राप्त है। शासकीय कार्यालयों के आदान-प्रदान में अनेक स्थानों पर हिन्दी का उपयोग हो रहा है एवं महत्व बढ़ता जा रहा है।]

- प्रस्तुत पुस्तक में राष्ट्रभाषा-अध्यापन-विषयक समस्त सिद्धान्तों और प्रणालियों का समावेश किया गया है, भाषा-शिक्षण के सम्पूर्ण सम्भावित रूपों पर विचार किया गया है तथा दृष्टान्तों और पाठ-सूत्रों द्वारा जटिलताओं को सुलझाया गया है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा शिक्षक के समक्ष उपस्थित होने वाली सारी कठिनाइयों के निराकरण करने का सैद्धान्तिक प्रयत्न किया गया है।
- शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम में हिन्दी का राष्ट्रभाषा की हैसियत से समावेश किया गया, परन्तु शिक्षक राष्ट्र-भाषा शिक्षा पद्धति से अत्यन्त अनभिज्ञ थे, क्योंकि कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी जिससे कि वह लाभ प्राप्त कर सकें। इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु इस पुस्तक की रचना की गयी है।

### अध्याय-क्रम

१. भाषा	८. गद्य-शिक्षा	१५. रचना के अंग
२. हमारी राष्ट्र-भाषा	९. पद्य-शिक्षा	१६. लिपि की शिक्षा
३. भाषा-शिक्षण की विधियां	१०. द्रुत वाचन	१७. शुद्ध वर्तनी सिखाना
४. भाषा-शिक्षण के आवश्यक अंग	११. वाणी-परिचय	१८. व्याकरण शिक्षा
५. परिचय	१२. उच्चारण-शिक्षा	१९. संगठित रचना
६. पाठ्य-पुस्तक	१३. वार्तालाप-शिक्षा	२०. स्वतन्त्र रचना
७. राष्ट्र-भाषा-प्रवेश	१४. भाषण-शिक्षा	२१. विविध विषय

आकार : डिमाई

तृतीय संशोधित संस्करण : १९९०/९१

मूल्य : १८.००

## हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां

पूर्णतया संशोधित एवं परिर्वर्द्धित तेरहवां संस्करण

लेखक—डॉ. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल

यह पुस्तक भारत के सभी विश्वविद्यालयों एवं उच्चकोटि के पुस्तकालयों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसमें हिन्दी साहित्य के समग्र इतिहास की प्रवृत्तियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आकार : डिमाई

पृष्ठ संख्या : ८७२

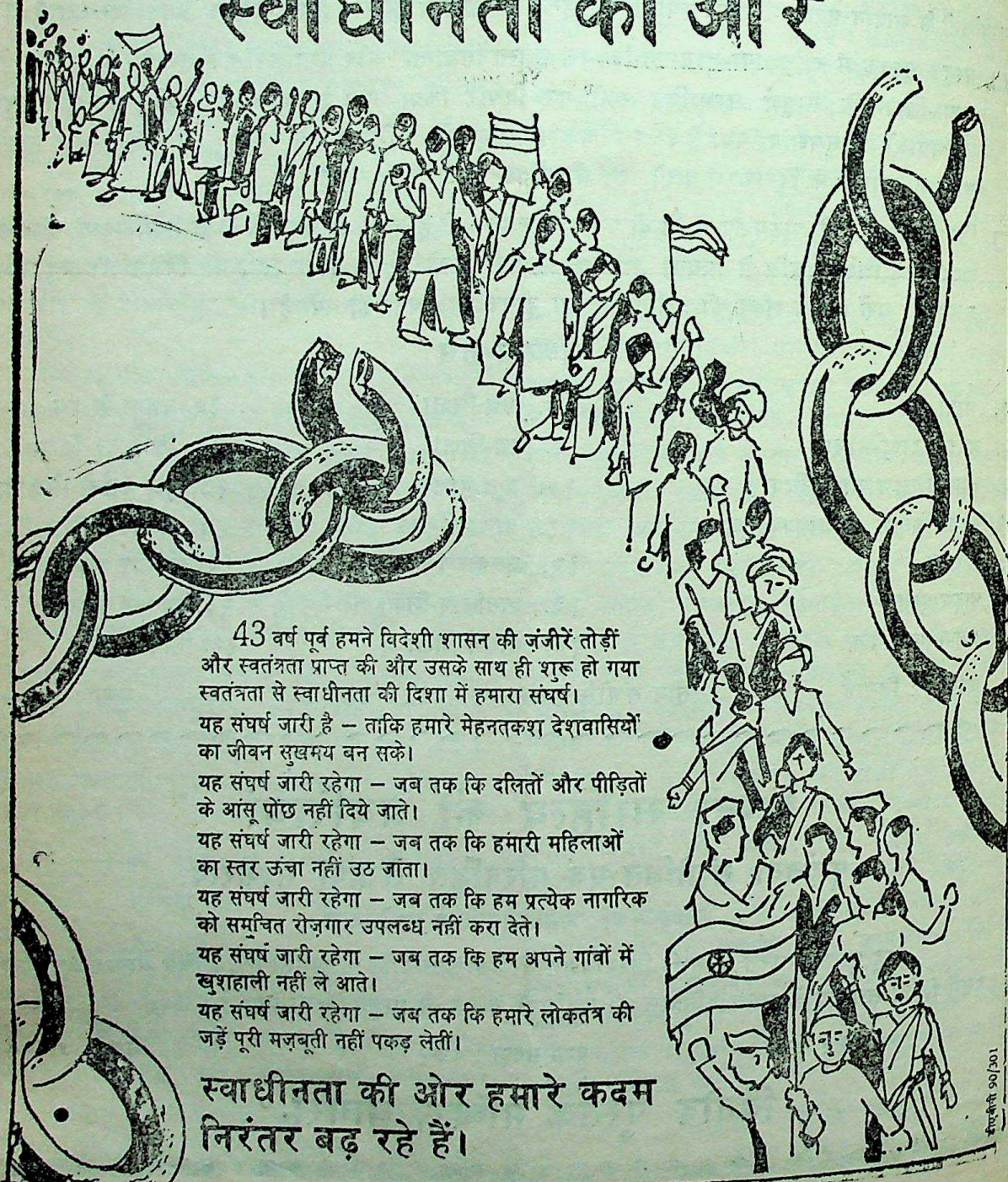
मूल्य : ७०.००

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.

प्रकर—भाद्रपद २०४७—७



# स्वतंत्रता से स्वाधीनता की ओर



43 वर्ष पूर्व हमने विदेशी शासन की जंजीरें तोड़ीं  
और स्वतंत्रता प्राप्त की और उसके साथ ही शुरू हो गया  
स्वतंत्रता से स्वाधीनता की दिशा में हमारा संघर्ष।  
यह संघर्ष जारी है — ताकि हमारे मेहनतकश देशवासियों  
का जीवन सुखमय बन सके।  
यह संघर्ष जारी रहेगा — जब तक कि दलितों और पीड़ितों  
के आंसू पोंछ नहीं दिये जाते।  
यह संघर्ष जारी रहेगा — जब तक कि हमारी महिलाओं  
का स्तर ऊंचा नहीं उठ जाता।  
यह संघर्ष जारी रहेगा — जब तक कि हम प्रत्येक नागरिक  
को समुचित रोजगार उपलब्ध नहीं करा देते।  
यह संघर्ष जारी रहेगा — जब तक कि हम अपने गांवों में  
खुशहाली नहीं ले आते।  
यह संघर्ष जारी रहेगा — जब तक कि हमारे लोकतंत्र की  
जड़ें पूरी मजबूती नहीं पकड़ लेतीं।

**स्वाधीनता की ओर हमारे कदम  
निरंतर बढ़ रहे हैं।**



# भारत राष्ट्रका भौगोलिक इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल

—पण्डित श्री काशीराम शर्मा

ब्रिटिश शासनकालमें हमें एक विशेष उद्देश्यसे लिखी हुई भारतीय भूगोल और इतिहासकी पुस्तकें पढ़नी पड़ा करती थीं। तब आशा रहती थी कि स्वतंत्र भारतमें दृष्टिकोण बदलेगा, पर वह आशा पूरी न हो सकी। विदेशी शासकोंने उस संपूर्ण भूक्षेत्रको भारत राष्ट्रका भाग स्वीकार नहीं किया था, जिसे भारतवासी गत पांच-सात सहस्र वर्षोंमें मानता आया था। न उस संपूर्ण भूभागको ही माना था जिसपर उन्होंने विजय प्राप्त की थी। उन्होंने तो भारत देशकी वे सीमाएं ही स्वीकार कीं जो उन्हें कूटनीतिक दृष्टिसे सुविधाजनक प्रतीत हुईं। उन्होंने जीता तो अफगानिस्तान, नेपाल, भूतान, तिब्बत, सिक्किम आदिको भी, पर उन्हें भारत से पृथक् ही रखा। कहा यह गया कि रूस और चीनके खतरोसे बचनेके लिए स्वतन्त्र या संरक्षित 'बफर' राज्य आवश्यक हैं। सन् १९३५ का भारत शासन अधिनियम बनने तक बर्मा और श्रीलंका भारतके भाग थे, पर उसके बाद अलग कर दिये गये। सार यह कि भारतकी सीमाएं राजनीतिक सुविधाके अनुसार घटायी-बढ़ायी जाती रहीं। यह भी कहा जाता रहा कि भारत के इतने विशाल भूक्षेत्रको एक छत्रकी छायामें लाकर एक राष्ट्रका निर्माण किया ही अंग्रेज शासकोंने; अन्यथा तो यह भूभाग हजारों छोटे-छोटे भूखंडोंमें विभक्त था और 'राष्ट्र' कहे जाने योग्य कोई लक्षण यहां विद्यमान न था। यों यदि भारतका राष्ट्रीय रूप उभरा तो अंग्रेज शासकोंकी छत्रछायामें। पर दुर्भाग्यकी बात यह है कि हमारे राजनेताही नहीं इतिहासकारभी यही मानते हैं कि भारत राष्ट्रका विस्तार वहीं तक है जहां तक हमारे शासक वर्गकी जय-जयकार बोलनेवाले

पर राजनीतिक ग्रंथोंमें बताया जाता है कि 'राष्ट्र'

और 'राज्य' पर्याय नहीं होते। 'राज्य'का संबंध उसके शासककी सत्तासे होता है और उसके राजदंडके प्रवर्तन की सीमाएं समय-समयपर बदलती रहती हैं। 'राष्ट्र' का संबंध समान सांस्कृतिक दायसे होता है। समान बन्धुत्वकी भावनासे होता है और भूक्षेत्र विशेषके प्रति आत्मीयतासे होता है। दूसरे शब्दोंमें राज्य सत्ता-मूलक होता है, राष्ट्र भावनामूलक। इसरायलके निर्माण से पूर्वभी विश्वके यहूदी स्वयंको एक राष्ट्र मानते थे चाहे वे अनेक देशोंमें फैले हुए थे, चाहे अनेक भाषाएं बोलते थे और चाहे अनेक राज्योंके सत्ताधारियोंके राज-दंडसे शासित होते थे। इसीप्रकार विशाल भारत देश तबभी एक राष्ट्र था जब वह हजारों छोटे-छोटे राज्योंमें बंटा हुआ था और तबभी एक राष्ट्र रहा जब थोड़ेसे सत्ताधारियोंके राजदंडसे अनुशासित हुआ। हमारे विचारसे भारत राष्ट्रके अन्तर्गत उस समग्र भूक्षेत्रको समाविष्ट मानना होगा जिसके बिना उसके सांस्कृतिक इतिहासका समन्वित रूप प्रस्तुत ही नहीं हो सकता। भारत राष्ट्रके संपूर्ण भूगोल और सांस्कृतिक इतिहासका परिचय पानेके लिए भारतके प्राचीन वाङ्मयका अध्ययन करना होगा। इस छोटेसे लेखमें उसी दिशामें किंचित् प्रयास किया जायेगा।

भारत राष्ट्रके भौगोलिक क्षेत्रका स्थूल रूपमें परिचायक एक श्लोक अमरकोशमें है जो इस प्रकार है :

लोकोऽयं भारतं वर्षः शरावत्यास्तु योऽवधेः ।

देशः प्राग्दक्षिणः प्रोक्त उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ॥

अर्थात् भारतवर्ष नामक यह लोक (राष्ट्र) दो भागों में विभक्त है जिनकी विभाजक रेखा शरावती (रावी) नदी है। उससे दक्षिण-पूर्वका भाग 'प्राच्य' कहलाता है और पश्चिमोत्तरका 'उदीच्य'। 'प्राच्य' के अन्तर्गत रावी से दक्षिण पूर्वका आजका भारत तो था ही इसके अति-

'प्रकर'—भाद्रपद २०४७—६



रिक्त थे—पाकिस्तानका सिंध प्रान्त, बंगलादेश, नेपाल, भूतान, तिब्बत व सिंहल (वर्तमान श्री लंका)। उदीच्य के अन्तर्गत थे रावीसे उत्तर पश्चिममें स्थित भारतका वर्तमान भाग, अफगानिस्तान, ईरान, सिंध रहित पाकिस्तान और अफगानिस्तानके उत्तरमें वंक्षुनदी (आमू दरिया) और कश्यप सागर (कास्पियन समुद्र) तक फैला सोवियत गणराज्यका भूभाग। उदीच्य और प्राच्यमें विभक्त संपूर्ण भूखंडको संस्कृत वाङ्मयमें भारतवर्ष लोक कहा गया है। संस्कृतमें 'राष्ट्र' शब्द 'राज्य' का पर्याय ही था। आजके 'नेशन' का पर्याय तब 'लोक' था। यहीं आजके 'पीपल' का भी पर्याय था। यह सम्पूर्ण क्षेत्र सांस्कृतिक बन्धुत्वके बन्धनोंसे तो बंधा था ही, इसके प्रतापी नरेशोंकी भी सदा यही कामना रहती थी कि इस सम्पूर्ण भूखण्डपर शासन करके वे चक्रवर्ती कहलायें। वीर काव्योंके रचयिता कवियों की भी सदा यही आकांक्षा रहती थी कि उनका नायक इस सम्पूर्ण भूखण्डका शासक बने। यह राजनीतिक स्वप्न चाहे कभी पूरा हुआ हो या नहीं पर यह सांस्कृतिक बन्धुत्व तो तबतक रहा ही जबतक विदेशियोंके लिखे इतिहास और भूगोल नहीं आये। विगत पाँच-सात हजार वर्षोंमें भारत राष्ट्रका स्वरूप इतना विशाल था इसकी पुष्टि प्राचीन वाङ्मयसे होती है। इसीकी पुष्टिका प्रयत्न यहां किया जायेगा।

उपलब्ध भारतीय वाङ्मयका प्राचीनतम अंश है वैदिक साहित्य। वैदिक वाङ्मयका व्यापक अध्ययन करके पं. मधुसूदन ओझाने अपने 'इन्द्रविजय' काव्यके 'सीमा प्रसंग' सर्गमें प्रतिपादित किया था कि भारत पश्चिममें मेसोपोटामिया तक विस्तीर्ण था। वैदिक साहित्यमें पणियोंका उल्लेख है जिससे भारतके सम्बन्ध पणिदेश (फिनीशिया) तक सिद्ध होते हैं। सुमेरियामें वैदिक देव उसी प्रकार पूजे जाते थे जिस प्रकार भारत में। पर वैदिक साहित्यकी भाषा आज उतनी सुबोध नहीं है कि उसका सरलतासे अर्थ निकाला जा सके और वैदिक भारतके भूगोलका सही सीमांकन किया जा सके। पर विश्वकोशीय ग्रंथ महाभारत, पाणिनीकी अष्टाध्यायी और कालिदासका रघुवंश ऐसे ग्रंथ हैं जिनसे भारतके भूगोलकी स्पष्ट जानकारी मिलती है। अतः उन तीनोंपर यहां संक्षेपमें विचार करेंगे।

## महाभारतमें भारत

महाभारतमें कम्बोज, वाह्लीक और गांधारके

'प्रकार'—अगस्त' ६०—१०

नरेशोंकी उतनीही महत्त्वपूर्ण भूमिका है जितनी वीरवों, पीचाली, यादवों, वाष्णवों और कुन्तीभोज नरेशोंकी। वाह्लीक (वर्तमान बलूच) के पृथक् राज्यका संस्थापक तो कौरव नरेश शान्तनुका बड़ा भाई था। उसे यदि नानाने वाह्लीकका राज्य न दिया होता तो वही कुरुनरेश बना होता। गांधारके शकुनिकी सम्पूर्ण महाभारतमें खलनायककी-सी भूमिका है ही। वह जिस शकुनि प्रदेशके कारण 'शकुनि' कहलाता था वह ईरान का उत्तरी भाग था। गांधार नरेशकी राज्य सीमाओं में वर्तमान अफगानिस्तान और ईरानका विशाल क्षेत्र था। कम्बोजके अन्तर्गत पामीरका पठार तो था ही वंक्षुतीर (आमू) तक फैला भूक्षेत्र था। इन तीनों—गांधार, वाह्लीक और काम्बोज—के बिना महाभारत की धटनाही संभव नहीं थी। वाह्लीक और काम्बोज धृतराष्ट्रको परामर्श देने सदा हस्तिनापुरमें ही रहते थे तो दुर्योधनका सबसे बड़ा परामर्शदाता शकुनि था। इन तीनोंकी विदेशियोंके रूपमें कल्पना भी नहीं की जा सकती। महाभारतके प्रमाणोंसे इसकी पुष्टि करना उचित होगा।

धृतराष्ट्र अपना राज्य न पा सकनेका हेतु बताते हुए दुर्योधनको बताता है कि शान्तनु सबसे छोटे होते हुए भी इसलिए राजा बन सके कि प्रतीपका प्रथम पुत्र देवापि हीनांग था और द्वितीय वाह्लीक राज्य छोड़कर ननिहाल चला गया :—

देवापिरभवत्छ्रेष्ठो वाह्लीकस्तदन्तरम्।

तृतीयः शान्तनुस्तावत् कृतिमान् मे पितामहः॥

वाह्लीको मातुकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः।

दुर्योधनकी सेनामें काम्बोज, वाह्लीक और शकुनि उसी प्रकार सेनापति थे जिस प्रकार भीष्म, द्रोण और कृप आदि।

प्रमदीक्ष्य महाबाहुश्चक्रं सेनापतीस्तदा।

कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम्॥

सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च।

शकुनिं सौबलं चैव वाह्लीकं च महाबलम्॥

इसी प्रकार भीष्म जब सेनापतियोंका वर्णन करता है तो कहता है :

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एक गुणोमतः।

शकुनि मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिपः॥

वाह्लीकोतिरथश्चैव समरेचातिवर्तते।

प्रागृज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान्॥



इनमें काम्बोज उत्तरी सीमाका है, शकुनि पश्चिमी सीमाका तो भगदत्त पूर्वीका । दक्षिणी सीमाके अधिकांश राजा पांडवोंके साथ है जिनका उल्लेख श्रीकृष्णने कर्ण को पांडवोंकी ओर मिलानेका यत्न करते हुए किया है :  
पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह सिंहलैः

अन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥

जब धृतराष्ट्र दुर्योधनको समझाताहै कि कोई युद्ध नहीं चाहता अतः विरत हो जाओ तो दुर्योधन कहताहै कि मैंने अपने बलपर ही युद्धकी ठानीहै निम्नलिखितके बलपर नहीं :

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।

न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लीके ।

इनमें भी काम्बोज और बाह्लीक उतनेही अपने हैं जितने भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामादि ।

युधिष्ठिर संजयके हाथ उत्तर भिजवाताहै तब जिनके प्रति कुशल प्रश्नका निवेदन करताहै उनमें बाह्लीक तो प्रमुख हैंही, केकय, अम्बष्ठ और चित्र-गर्तभी हैं । इनमें से कोई विदेशी नहीं होसकता :

यस्येकामो वर्तते नित्यमेव मान्यः शमाद् भारताना-  
मितस्म ।

सबाह्लीकानां ऋषभो मनीषी त्वयाभिवाद्यः संजय  
साधुशीलः ॥

अहंत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः स नो भ्राता संजय  
मत्सखा च ।

महेष्वासो रथिनामुत्तमोर्हः सहामात्यः कुशलं तस्य  
पृच्छ ।

वशातपः शात्वकाः केकयाश्च तथाम्बष्ठो ये चित्र-  
गर्तश्चिमुख्याः ॥

संजय कौरव सभामें युधिष्ठिरका संदेश सुनाताहै तब वहाँ उपस्थित सभासदोंका विवरणभी उल्लेख योग्य है :

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकः ॥

विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः ।

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ॥

यों महाभारतके अनेक प्रसंगोंसे स्पष्ट है कि महा-भारतकी रचनाके समय भारत लोकका विस्तार कहां तक था । यह विस्तार उत्तरमें बाह्लीक-काम्बोजके पारवन्धु पर्यन्त था तो दक्षिणमें द्रविड़-सिंहल तक; पूर्वमें प्राग्ज्योतिष तक था तो पश्चिममें शकुनिके प्रदेश

आयां तक । महाभारत राजनीतिप्रधान काव्य है अतः उसमें सीमा विस्तार राजाओंके माध्यमसे ही बताया गयाहै ।

## पाणिनीकी दृष्टिमें भारत

भारतकी भौगोलिक सीमाओंकी दृष्टिसे दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है पाणिनिका शब्दानुशासन जिसका नाम अष्टाध्यायीभी है । वह न तो इतिहासका ग्रन्थ है, न भूगोलका । वह तो उदीच्यकी भाषाका वैज्ञानिक विश्लेषण मात्र है । जिसे आज संस्कृत कहतेहैं वह कभी उदीच्यकी दैनंदिन वाग्व्यवहारकी भाषा थी । पर वह साथही उदीच्य और प्राच्यके बीच परस्पर संव्यवहार की तथा शास्त्र निरूपणकी भाषाभी बन चुकीथी । ज्ञान-संपादनके इच्छुक अध्येताके लिए उसे सीखना पूरे भारतके लिए आवश्यक था । उदीच्यवासी तो उसे सहज रूपमें सीखताथा पर प्राच्यमें वह लोक-व्यवहार की भाषा न थी । अतः प्राच्यवासीको उसे यत्नपूर्वक सीखना पड़ताथा । आरम्भमें तो यही होताथा कि ८-१० वर्षकी आयुमें ही छात्र उदीच्य भेज दिये जातेथे और वे वहाँ रहकर भाषा सीखतेथे । जो वहाँ नहीं जा सकतेथे, वे वहाँसे लौटकर आये छात्रोंसे सुन-सुनकर सीखनेका यत्न करतेथे । इस विवशताका उल्लेख कौषितकी ब्राह्मणमें है—

उदीच्येषु प्रज्ञाततरा वागुद्यते ।

उदक् च वै यन्ति वाचं शिभिर्भुम् ।

यो वा तत्र आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति ।

इस विवशताको दूर करनेके लिए व्याकरण बनाये जाने लगे । व्याकरणोंकी सहायतासे प्राच्योंके लिए प्राच्यमें बैठे उदीच्यकी भाषा सीखना सम्भव हुआ । ऐसे व्याकरणोंमें पाणिनिका व्याकरण सर्वांगपूर्ण सिद्ध हुआ, अतः अन्य व्याकरण उसके सामने अस्तप्राय हो गये ।

जैसा कि ऊपर बता चुकेहैं अष्टाध्यायीमें केवल उदीच्य भाषाका वर्ण-रूपात्मक विश्लेषण है, इतिहास या भूगोल नहीं । पर भाषाके दैनंदिन प्रयोगमें उस क्षेत्रसे सम्बद्ध इतिहास, भूगोल, जीवनचर्या, अशन-वसन, नगर-ग्राम, पशु-पक्षी, तरु-तृण, वाहन-गान, पर्वत-पठार, नदी-नद, खनिज-उपज सभी कुछ आते जातेहैं । ये सब पाणिनिकी दृष्टिसे कैसे ओझल हो सकतेथे । पतंजलि ने ठीकही कहाथा—'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते ह्याचार्यस्य । पाणिनिकालीन भारतके भूगोलका डॉ. वासुदेवशरण



अग्रवालने 'पाणिनिकालीन भारत' के शोध के शोध प्रबंध में अच्छा विवेचन किया है अतः प्रायः उसे ही उद्धृत किया जायेगा।

अपने ग्रंथके पृष्ठ ५० पर डॉ. अग्रवालने लिखा है—“सुवास्तु-गौरी-कुमा-सिंधुके बीचका प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुरका पिछवाड़ा था। अपने आँगन की तिल-तिल भूमिसे उनका परिचित होना स्वाभाविक था।” आगे पृ. ६० पर लिखा है—मगध, काशि कौशल, वृजि, कुह, अश्मक, अवन्ति, गंधार और कम्बोज ये नौ जनपद पाणिनिमें उल्लिखित हैं। पुनः पृ. ६१ पर लिखा है : “गंधार, कपिश, वाह्लीक और कम्बोज—इन चार महाजनपदोंका एक चौगुंडा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तानके नक्शेमें इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट है—‘हिन्दूकुशके उत्तर-पूर्वमें कम्बोज, उत्तर पश्चिममें वाह्लीक, दक्षिण पूर्वमें गंधार और दक्षिण पश्चिममें कपिश था। आधुनिक पामीर और बदखशां (द्व्यक्षायण) का सम्मिलित नाम कम्बोज था और उससे सटा हुआ दरवाजका इलाका था जिसकी पहचान डॉ. मोतीचंद्रने द्वारकासे की है।” पुनः पृ. ६२ पर वाह्लीक (बल्ख) के विषयमें लिखा है—‘कम्बोज के पश्चिम, वंक्षुके दक्षिण और हिन्दूकुशके उत्तर पश्चिमका प्रदेश वाह्लीक जनपद था।’ यह भी बताया है कि सूत्र (६-१-५१३) में प्रस्कण्व ऋषि नामका प्रत्युदाहरण प्रकण्व (फरगना) प्रदेश नाम है।

डॉ. अग्रवालने पृ. ४६ पर लिखा है—‘कुक्कुटागिरि संभवतः कोहेबावाके पश्चिमकी ओर बढ़ी हुई अपेक्षाकृत नीची बहियां हैं। प्राचीन ईरानी इन्हें उपरिशरान (उपरिशयेन बाजका अड्डा) कहते थे।

पुनः पृ. ४६० पर पाणिनि व्याकरणके दामन्यादि गणमें परिगणित मौजायनके परिचयमें लिखा है—‘वंक्षु नदीके दक्षिण और हिन्दूकुशके उत्तरका एक प्रदेश इस समय मुंजान कहलाता है। यही प्राचीन मौजायन था। यहांकी भाषा मुंजानी है जो मौजायनीसे निकला हुआ शब्द है (शाङ्गरवादि गण—४-१-७३)। नडादिगणमें पठित ‘मुंज’ से गोत्रापत्य अर्थमें ‘मौजायन’ सिद्ध होता है (४-१-६६)। ऋग्वेद (मं. १. सू. १. ऋ. ३४ में) मौजवत सोम और यजुर्वेद (अ ३ मं. ६१) में मूजवन्त प्रदेशका उल्लेख है। अथर्ववेदमें मूजवन्तको स्पष्ट ही बल्हिकका पड़ोसी कहा है (तकमन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् परस्तरान्)।

‘प्रकर’—अगस्त’ ६० - १२

डॉ. अग्रवालने आप्रीतों और मधुमन्तोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—‘राजन्यादि गणमें आप्रीतोंका उल्लेख है जो अफ्रीदी हैं। ऋग्वेदमें ये ही अपरीत हैं। कच्छादि गणमें मधुमन्तोंका उल्लेख है मध्वादिभ्यश्च। ये मोहमन्द लोग हैं जो काबुल नदीके उत्तर दीर बाजौरके लगभग १२०० वर्गमील क्षेत्रमें बसे हैं। सू. ४-१-११० में आश्वायनोंका और ४-१-६६ में आश्वकायनोंका उल्लेख है। इन्हींसे ‘अफगान’ शब्द बना होगा। इनकी राजधानी मशकावती थी जिसका वर्तमान नाम ‘मजग’ है। सू. ५-३-१५३ में उल्लिखित ब्रात अफगानिस्तान—कोहिस्तानके आयुधजीवी थे।

डॉ. अग्रवालके अनुसार सू. ४-२-६६ में कापिशी का उल्लेख है। इसके अवशेष काबुलसे ५० मील उत्तर में मिले हैं। आजकल इसे वेग्राम कहते हैं। कापिशीसे उत्तरमें कम्बोज जनपद था और उससे पूर्वमें तारिम नदीके समीप कूचा प्रदेश है जो संभवतः पाणिनिका कूचवार (४-३-६४) है।

कंथोशीनरेषु और कंथायाष्ठक् सूत्रोंसे मध्य एशिया के ऐसे नगरोंका परिचय मिलता है जिनके अन्तमें ‘कंथम्’ या ‘कंथा’ होता है (उदा. सौशमिकंथम्, आह्वर कंथं, दाक्षिकंथा)। उस प्रदेशमें आज भी ऐसे नाम हैं—समरकंद, पारकंद, ताशकंद आदि। ताशकंद दाक्षिकंथाका ही वर्तमान रूप है जहाँ दाक्षिपुत्रका ननिहाल था। कंथम्-कंथाके विषयमें डॉ. अग्रवालने लिखा है—“मूलमें यह शब्द शक भाषाका था जिसमें कंथाका अर्थ है ‘नगर’। शकोंका मूल स्थान शाक द्वीप या मध्य एशियामें था। ये लोग वाह्लीकसे आकर शकस्थान (ईरानके पूर्वी भाग सीस्तान) में बसे। कात्यायनने शकन्धु और कर्कन्धु कुओंका उल्लेख किया है।

सूत्र ४-२-७७ में सुवास्तु नदी (स्वात) का उल्लेख है। डॉ. अग्रवालके अनुसार यह वैदिक नदी है। इसकी पश्चिमी शाखा गौरी (पंचकौरा) नदी है। इन दोनों के बीच उड्डियान था जो गंधारका एक भाग था। स्वातका निचला भाग मशकावती नदी थी जिसके तट पर मशकावती नगरी थी। वहीं हास्तिनायन प्रदेश था (६-४-१७४) जिसका नाम गाजनायन भी था। वही संभवतः गजनी होगया।

ऊपरके विवेचनमें जिन प्रदेशों, जनपदों, नगरों, जातियों, नदियों, कबीलोंका उल्लेख हुआ है वे प्रायः उदीच्यके हैं और आज भारतकी सीमासे बाहर हैं।



अब मैंने उन्हें हमारे लिए विदेशी बताया। इसी आधार पर भूगोल और इतिहास पढ़ाये गये। पर क्या हम उदीच्यकी संस्कृत भाषाको विदेशी भाषा मान लें ? यदि नहीं, तो वह वस्तुतः जिस क्षेत्रमें बोली जाती थी उसे विदेश कैसे मान रहे हैं। पाणिनि जिस भूमिके तिल-तिलसे परिचित था वह यदि विदेशी भूमि है तो क्या पाणिनीभी यूरोपके विद्वानोंकी तरह एक विदेशी-भाषाशास्त्री था जिसने हमारे देशपर अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व उसी प्रकार कृपा की जिस प्रकार गत अढ़ाई सौ वर्षोंमें विदेशी शासक पादरी और भाषाशास्त्री करते रहे। हमारा तो मन न पाणिनिको विदेशी मानता है, न उसके द्वारा व्याकृत भाषाको। और यदि वे दोनों विदेशी नहीं है तो वह तिल-तिल भूमि कैसे विदेश होगयी जिसमें पाणिनि जनमा, पढ़ा, खेला खाया और स्वर्गवासी हुआ। जिस भूभागमें पाणिनि व्याकरणका कम्बोज, वाह्लीक, कपिश और गंधारका लोगड़डा था, जिसमें गंधारसे ईरान तक फैला कुक्कुटा गिरि था, जिसमें कुमा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), तैरी (पंचकौरा) नदियाँ बहती थीं; जिसमें आप्रीत, वास्तयान (आश्वकायन), मौजायन, मधुमन्त और मधुवज्जीवी जातियोंका निवास था; जिसमें दाक्षिकंथा, मक्कावती, कापिशी नगरियाँ थीं, जिसमें सौशमि-रथ, मडरकंथ, चिहुणकंथ नगर थे; जिसमें द्व्यक्षायण (दरक्षा) और प्रकण्व (फरगना) जैसे प्रदेश थे, वह भूभाग भारतके लिए विदेश कैसे मान लिया जाये ? यदि वह भूक्षेत्र विदेश है, वहाँकी भाषा विदेशी है, वहाँके निवासी विदेशी हैं तो कदाचित् हम अपने संपूर्ण गौरवमय वाङ्मयसे वंचित हो जायेंगे; गरिमामय रिक्थ के उत्तराधिकारी नहीं रह जायेंगे। न अफगानिस्तानमें ऐसे वेदोंपर गर्व कर पायेंगे, न वहाँके चरक-सुश्रुतपर, न दक्षिणिलार। न पाकिस्तानी दाक्षिपुत्र पाणिनिपर हमारा अधिकार होगा न कर्कशु-शकशु कूपोंका उल्लेख करनेवाले कात्यायनपर।

हमारे विचारसे जिस सांस्कृतिक दायपर हमें गर्व है और होनाभी चाहिये उस दायसे संबद्ध संपूर्ण भू-भाग भारत राष्ट्र है चाहे वह भारत राज्य नहीं है। हमें स्थित राज्योंकी सीमाएं तो सदाही घटती-बढ़ती रहें। ऊपर पाणिनीमें प्राप्त उदीच्यके भूगोलका कर्कशु किया गया है पर पाणिनि शेष भारतसे भी परिचित नहीं है। हाँ, उसने उदीच्यकी भाषाको

व्याकृत किया अतः उसका अधिक विवरण स्वाभाविक था। पर वह प्राच्यकी भी शिष्ट व्यवहारकी, परस्पर आदान-प्रदानकी भाषा बनतीजा रही थी अतः कोई व्याकरण प्राच्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसने सूत्र ४-२-१०१में पूर्वके काशि जनपदका और सू. ४-१-१७० में मगध और सूरमस तकका उल्लेख किया है। दक्षिणमें-अवन्ति अश्मकका ही नहीं 'अंतरयन' का भी उल्लेख है जिसमें दक्षिण भारत और श्रीलंकाभी आते हैं। उसने द्वीपादनु समुद्रं यच्चा (४-३-१०) में यह भी बताया है कि समुद्रतट स्थित द्वीपोंसे जिन वस्तुओंका आयात होता था वे 'द्वैप्य' कहलाती थीं और बीच समुद्र के द्वीपोंसे आनेवाली वस्तुएं 'द्वैप' कहलाती थीं। यों पाणिनिकालीन भारतकी सीमाएं उत्तरमें वंक्षु नदी और कश्यपसागर तक थीं तो दक्षिणमें सिंहल (श्री लंका) तक, पूर्वमें सूरमस (प्राग्ज्योतिष) तक थीं तो पश्चिममें पारसीक तक।

### कालिदास वर्णित भारत

महाकवि कालिदासने भारतकी उपर्युक्त सीमाओं का और भी स्पष्ट वर्णन किया है। रघुवंशके महानायक रघुकी दिग्विजयके मिससे उसने भारतकी सीमाओंका उल्लेख किया है। रघु दिग्विजयके लिए पूर्व दिशामें प्रस्थान करता है और मार्गस्थ पौरस्त्योंको जीतता हुआ महोदधिके उपकंठपर पहुंचता है। वहाँ सुहृद् लोग आत्म-रक्षाके लिए उसी प्रकार लेट जाते हैं जिस प्रकार सिंधु वेगके सामने वेत (आत्मा संरक्षित : सुहृद्वृत्तिमाश्रित्य वैतसाम्।) आगे वंग लोग नौ सेनाओंसे युद्ध करते हैं पर परास्त होते हैं। रघु उन्हींको राज्य वापस दे देता है तो वे अधिक कर उसी प्रकार देने लगते हैं जिस प्रकार उखाड़कर प्रतिरोपित कलमी चावल अधिक उपज देते हैं :

आपाद पद्म प्रणताः कलमाइव ते रघुम्।

फलैः संवर्धयामासु हतवात प्रतिरोपिताः॥

कपिशको पारकर रघु उत्कलोंकी ओर जाता है तो वे बिना लड़ेही पराजय स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि लड़नेवाले आगे कलिगमें रहते हैं। वहाँका माहेन्द्र लोहा लेता है पर पराजित होता है। रघु केवल उसका गर्व-हरण करता है, उसका राज्य लौटा देता है—श्रियां महेन्द्र-नाथस्य जहार न तु मेदिनीम्।

रघुका अगला आक्रमण पांड्योंपर होता है जो उस दक्षिण दिशामें है जहाँ सूर्यका भी तेज मन्द होजाता है



पर पांड्य उसका प्रताप नहीं सह पाते हैं—

दिशि मन्दयते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामपि रघोः पाड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥

दक्षिणमें श्रीलंका तक शासन करनेवाले पांड्य ताम्रपर्णितमें संगृहीत मौक्तिक राशिको लेकर रघुके चरणोंमें लेट जाते हैं । ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संस्थितम् (दक्षिणाधिकाके स्तनोंके तुल्य मलय-ददुर नामक शैलोंका मर्दन करता हुआ रघु उसके सशह्याद्रि-रूपी नितम्बोंका उल्लंघनकर अपरान्त पहुंचता है । अपरान्त जीतकर वह पारसीकोंको जीतने स्थल मार्गसे ही जाता है । उसके भालोंके प्रहारसे पारसीकोंके दाढ़ीवाले चेहरे पृथ्वीपर ऐसे गिरते हैं मानों मधुमक्खियोंके छत्ते :

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।

तस्तार सरद्याव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ।

वे ही पारसीक वचते हैं जो शिरस्त्राण उतारकर उसकी शरणमें आ जाते हैं—अपनी शिरस्त्राणाः शेवास्तं शरणं ययुः । पारसीकोंपर विजय पाकर रघु उसी प्रकार उत्तर दिशामें गया जिस प्रकार मकर-संक्रमणके बाद सूर्य जाता है—ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशं—और पहुंचा वंशु (आमू दरिया) के तीरपर जहाँ केसरके बागोंमें लोटकर उसके अश्वोंने अपनी थकान मिटायी :—

विनीताध्व श्रमास्तस्य वंशुतीर निचेष्टनैः

दुधुवूर्वाजिन स्कंधान् लुंठन कुंकुम केसरान् ।

और वहां हूणोंको मारकर हूणावरोधोंको कपोल-पाटनके लिए विवश किया ।

हूण विजयके पश्चात् रघु पुनः दक्षिणको मुड़ा तो काम्बोज सामने पड़े । वे उसके सामने उसी प्रकार झुक गये जिस प्रकार उसके हाथियोंके बंधनेसे वहाँके अख-रोटके वृक्ष । तब आये किरात । वे तो घर छोड़करही भाग गये । अब रघु पूर्वमें मुड़ा तो आजके लद्दाखसे नागालैंड तकके पार्वत्य प्रदेशमें फैले सात उत्सव संकेत गणोंसे उसका भयंकर युद्ध हुआ । कालिदासने उन गणोंकी न संख्या बतायी है, न सबके नाम । पर महा-भारतमें उनकी संख्या सात बतायी गयी है—गणानुत्सव संकेतानजयत्सप्त पांडवः जिसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकारोंने यक्ष, किन्नर, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, भूत और नाग चिह्नों (टोटेम) वाले सात उत्सव संकेत गण बताये हैं । इनका सम्बन्ध क्रमशः अक्सैचिन (यक्ष चिह्न), किन्नौर (किन्नर), तिब्बत (सिद्ध), नेपाल

(गंधर्व), सिक्किम (विद्याधर), भूतान (भूत) और नागदेश (नाग) से था उन्हें परास्तकर रघुने किन्नरों (शब्दार्थ हिंजड़ों) से अपनी जयगाथाका गान करवाया—जयोदाहरणं बाह्वोर्गपयामास किन्नरान् । इस युद्धमें रघुको पर्वतीयोंसे इतना धन मिला कि उसे हिमाद्रिकी सम्पदाका और हिमाद्रिको उसकी शक्तिका ज्ञान होगया—राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ।

यों नागभूमि तक विजयके पश्चात् रघु ने लौहित्य को पार किया तो प्राग्ज्योतिषेश्वर—उसी प्रकार कांप उठा जिस प्रकार उसके हाथियोंके खूंटे बने हुए काला-गुरुके द्रुम :

च कं पे तीर्णं लौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः

तद्गजालानतां प्राप्तैः सहकालागुरुद्रुमैः ॥

रघु वहाँसे अयोध्याकी दिशामें मुड़ा तो मार्गमें आया कामरूपेश्वर । उसने रघुके चरण हेम पीठपर रख कर रत्नोंसे पूजे :

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।

रत्न पुष्पापहारेण छायामानर्ध पादयोः ॥

यों रघु अयोध्यासे निकलकर पौरस्त्यको जीतता हुआ सुहृदों बंगोंपर विजय पाता है तब दक्षिणमें मुड़ता है तो उत्कलों कलिगोंपर विजय पाता है । फिर सिंहल तक फैले पांड्योंसे मौक्तिक उपहार पाता है । तब अपरान्तको जीतकर पश्चिममें पारसीकोंके मुंडोंसे पृथ्वी को पाटता है । तब उत्तरमें वंशुतीरपर हूणोंको समाप्त करता है । पश्चात् काम्बोजों, किरातोंको हराकर पूर्वमें मुड़ता है । सात उत्सव संकेत गणोंको परास्त कर पूर्व में प्राग्ज्योतिष तक जाता है ।

## अन्य उल्लेख

यही हमारी सांस्कृतिक परम्पराका भारत है जिसे विजितकर रघु चक्रवर्ती बनता है । रघुवंश, अष्टध्यायी और महाभारत सभीकी भारत राष्ट्रकी सीमाएं एक हैं । वही परम्परासिद्ध भारत राष्ट्र है । हिन्दीके काव्य पृथ्वीराज रासो, जयचंद रासो, रतन रासो आदि भी इसकी पुष्टि करते हैं ।

पृथ्वीराज रासोमें ईरान-तूरान, बलख बद्धशाह, काकल कंधार आदिका उसीप्रकार उल्लेख है जिस प्रकार कन्नोज, महोबा, अजमेर, देवगिरिका । अपूर्ण प्राप्त जयचंद रासो तो औरभी स्पष्ट है । उसका नायक



जयचंद पहले दक्षिणमें सिंहल तक विजयी होता है।  
तो फिर उत्तरके आठ शाहोंको पकड़ लिया। इस दोहेसे है :

तुम हु कहिय यकह दिवस यकजुध यकहि थान  
कहु चंद किह विध गहे अष्ट विकट सुलतान ॥

पृथ्वीराज चंदसे पूछ रहा है कि तुम्हारे कथना-  
नुसार जयचंदने एक दिन एक ही स्थानपर एकही युद्धमें  
आठ विकट सुलतानोंको पकड़ लिया तो यह तो बताओ  
कि ऐसा संभव कैसा हुआ। प्रश्नके उत्तरमें कवि जय-  
चंदकी सेनाओं तथा दक्षिण विजयका वर्णन करता है।  
अंतमें वह सिंहलको विजित कर वहाँकी राजकन्या  
पद्मावतीसे विवाह करता है। फिर छः मास वहाँ रस-  
रंगमें बिता देता है तो उसे अपने भतीजे प्रतापचंदका  
पत्र मिलता है कि आठ शाहोंने अवसर देखकर आक्र-  
मण किया है। वह उत्तरमें चल पड़ता है। अपूर्ण ग्रंथ-  
यहीं तक उपलब्ध है पर प्रथम दोहा स्पष्ट है कि उसने  
आठ शाहोंको जीता। हमारा आग्रह इस तथ्यको  
व्यावृत्त स्वीकार करनेका नहीं है पर कविकी इस  
भावनाको स्वीकार करनेका तो है ही कि वह अपने  
नायककी विजय उत्तरमें भी वंशुतट तक चाहता है।  
चुवंशके रचयिता कालिदास और जयचंद रासोके  
रचयिता सत्रहवीं शताब्दीके कुम्भकर्णके समय तक  
अन्तर आया तो केवल यह कि जो प्रदेश कभी हूणों,  
काबोजों किरातोंका था वह अष्टशाहोंका होगया।  
पर कविकी कल्पनामें भारतकी सीमाएं तो वे ही  
रहीं।

सार यह है कि वैदिक कालसे अंग्रेजोंके आनेतक  
भारतलोको (राष्ट्र)की सीमाएं उत्तरमें वंशुतटसे  
दक्षिणमें श्रीलंका तक थी। पूर्वमें प्राग्ज्योतिष बंगसे  
पश्चिममें ईरान तक थी। इस विशाल भूक्षेत्रमें राज्यों  
की संख्या हजारों रही। तबभी भावना एक राष्ट्रकी  
रही। संपूर्ण भूमिमें आत्मीयता रही। संपूर्ण क्षेत्रमें एक  
छत्र शासन हो, यही राजाओंकी आकांक्षा रही, कवियों  
की कामना रही।

### यूरोपीय कल्पनाओंका भारत

पर अंग्रेजी शासनमें भूगोल और इतिहासका  
नया चक्कर चला। अंग्रेजोंने अफगानिस्तान  
जीतकर भी भारतमें नहीं मिलाया।  
कहते रहे कि सुरक्षाके लिए बफर राज्य आवश्यक

है। पर लक्ष्य केवल इतना नहीं था। लक्ष्य था भारत  
जिसे भारतका मनोबल मारना। इसीलिए योजनाबद्ध  
रूपसे ईरान, अफगानिस्तान, पामीर सबको विदेश बता  
दिया। नेपाल, भूतान, सिक्किम, तिब्बत सब भारतसे  
बाहर कर दिये। खैबर और बोलनके दर्रे विदेशी  
आक्रान्ताओंके प्रवेश द्वार बता दिये। आर्य, शक, सिथि-  
यन, पार्थियन, हूण, अफगान, तुर्क, मुगल सब विदेशी  
आक्रान्ता घोषित कर दिये गये ताकि भारतका जन-  
मानस यह स्वीकार करले कि हम तो सदाही विदेशी  
शासन भुगतते रहे हैं। हममें स्वशासनकी कभी क्षमताही  
नहीं थी और जब मध्य एशियातक से आनेवाली विदेशी  
जातियाँ यहां शासन कर सकती थीं तो यूरोपके पश्चिमी  
छोरसे आयी सुसभ्य अंग्रेज जाति सुशासन स्थापित  
करले तो क्या उचित नहीं है ! भारतके इतिहासका  
छात्र आर्य, शक, सिथियन, पार्थियन, यवन, हूण,  
अफगान, तुर्क, मुगल सबको खैबरसे आये विदेशी  
आक्रान्ता मानता रहा। बादमें तो द्रविड़ लोग भी  
भूमध्यसागरके टापुओंसे भारतमें आगमन करनेवाले  
बता दिये गये। यहभी घोषित किया गया कि जिन  
आर्योंका वर्चस्व भारतमें सर्वाधिक रहा वे मध्य एशिया  
से चलकर जैसे भारत-ईरानमें बसे, उसी प्रकार यूरोप  
में सर्वत्र बसे। इस प्रकार उत्तर-भारतके आर्य यूरोप-  
वालोंके तो बन्धु हैं पर दक्षिणके द्रविड़ोंके नहीं, पूर्व  
के निषादों, नागों मंगोलोंके नहीं। उत्तर भारतके  
मुसलमानोंके भी नहीं जो सामी धर्मको मानते हैं। भारत  
के इतिहासका छात्र उस हवामें ऐसा बहा कि अशोक  
के साम्राज्यका अफगानिस्तान तक फैला होना तो  
अच्छा लगा पर अफगानिस्तानसे आये लोगोंका बंगाल  
तक पहुंचना वेदनाकारक लगा, पाणिनि द्वारा उल्लि-  
खित प्रकण्वसे आये बाबरकी जड़ें जमना नहीं सुहाया।  
किसीने यह नहीं सोचा कि यदि अफगानिस्तान विदेशी  
है तो वहां बने वेद आपके गौरव ग्रंथ कैसे होगये ?  
आयुर्वेदके स्तंभ—चरक और सुश्रुत वहीं उत्पन्न होकर  
भारतके महापुरुष कैसे होगये ? ताजिकिस्तानमें जनमा  
ताजिक ज्योतिष भारतका कैसे हो गया ? आज तो हम  
पाकिस्तानको भी पराया राष्ट्र मानते हैं क्योंकि वह एक  
पृथक् राज्य है। तो क्या हम अपने सांस्कृतिक इतिहास  
से सिंधु सभ्यता, वैदिक सभ्यता, तक्षशिला, पाणिनि,  
चरक सुश्रुत सबको निकाल देंगे ?

आजभी हमारे मनोमस्तिष्कपर अंग्रेजोंके लिखे

'प्रकर'—भाप्रपव'२०४७—१५



इतिहास भूगोल छाये हुए हैं अतः हम सगर्व गाते हैं—  
 कार्फिले आते गये हिन्दोस्सा, अब सब विदेशी  
 विदेशी कार्फिलों ने यहां आने की कृपा न की होती तो  
 यहाँ मानव न बसता; केवल शेर-भालू-चीते, कीड़े-मकोड़े  
 फुनगे ही रहते । भारत में मानव सभ्यता का जो भी  
 विकास-विस्तार हुआ वह सब विदेशी कार्फिलों की कृपा  
 का ही फल है । पता नहीं हमारे चिन्तन की यह दिशा  
 कब बदलेगी ?

विदेशी लेखकोंके सम्मुख इतिहास लेखनका दृष्टि-  
कोण भिन्न था। वे भारतके नागरिकोंके मनोबलको  
निराने मात्रसे संतुष्ट नहीं थे। वे तो भारत राष्ट्रको  
खंड-खंड देखना चाहतेथे। यहांके नागरिकोंको अनेक  
वर्गोंमें विभक्तकर उन्हें परस्पर लड़ाकर शासन करना  
चाहतेथे। अतः उन्होंने कभी हमें आर्य-द्रविड़-निपाद-  
किरात-मंगोलमें विभक्त किया; कभी हिन्दू-मुसलमान-  
ईसाई-सिख-पारसीमें विभक्त किया; कभी उच्च वर्ण-  
निम्न वर्णमें विभक्त किया। पर आज तो विदेशी शासन  
नहीं हैं। फिरभी हम उन्हीं वर्गोंमें मनसा विभक्त  
होकर क्यों सोचतेहैं ? इतिहासको मानव सभ्यताके  
विकासकी कथा मानकर क्यों नहीं लिखते। आजभी इति-  
हास अनेक राजवंशोंके आक्रमणों, युद्धों, नरसंहारों और  
काले कारनामोंके विवरण कोही महत्त्व क्यों देतेहैं। आज  
भी शोध छात्र यह खोज करनेमें क्यों लगे रहतेहैं कि  
गयासुद्दीन तुगलक विजली गिरनेसे मरा या मुहम्मद  
तुगलकके षड़यंत्रोंसे। क्या सही कारण ज्ञात होनेसे  
भारतकी सभ्यताके विकासका विवरण बदल जायेगा।  
आजभी युद्धों, आक्रमणों, नरसंहारों और षड़यंत्रोंको  
ही इतिहासमें क्यों स्थान मिलताहै ? इतिहासकार सभ्यता  
के विकासको अत्यल्प और असभ्यताके विवरणोंको  
अत्यधिक महत्त्व क्यों देतेहैं। राजस्थानके कुछ राज-  
परिवारोंके कारनामोंकी गौरवगाथा कहकर लिखने  
वाला टाड आजभी क्यों महान् इतिहासकार माना  
जाताहै। वह तो स्वयंको गौरव गाथाओंका लेखकही  
बताताहै।

भारतके राष्ट्रके इतिहास-लेखकोंसे विनम्र निवेदन है कि इन प्रश्नोंपर विचार करें और सभ्यताके विकास के विवरणको अपने इतिहासोंमें अधिक स्थान दें। युद्धों, आक्रमणों, नरसंहारों और पड़्यंत्रोंको तूल न दें। वे सभ्यताके नहीं असभ्यताके चिह्न हैं। मानवताके नहीं हिंस्र पशुताके लक्षण हैं। पर भारत राष्ट्रकी सभ्यताकी कथा कहनेके लिए उसका सही भूगोल जानना आवश्यक है। उसे जाननेके लिए भारतके भूगोलका सही शोध अपेक्षित है। वह भूगोल भारतके प्राचीन वाङ्मय में मिलेगा। वह भूगोल जानेंगे तो विशाल भूमिके प्रति आत्सीयता जगेगी। □

## पुनरध्ययनको आवश्यकता



# आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार : सीमा प्रदेशोंकी भाषाएं

## मराठी-तेलुगु-कन्नड़ [५. २.]

—डॉ. राजमल बोरा

२११. सातवाहनोंके समयमें महाराष्ट्र, आन्ध्र या कर्नाटक जैसे नाम प्रादेशिक अर्थमें और भाषाओंकी अलग अलग पहचानके रूपमें प्रचलित नहीं थे। संभव है स्वयं महाराष्ट्री प्राकृत जैसा नामभी बादमें प्रचलित हुआ हो। फिरभी महाराष्ट्री प्राकृतकी रचनाएं उस समयकी हैं। सातवाहनोंके समयमें भाषाओंका पारिवारिक भेद नहीं था। मराठी भाषा और तेलुगु-कन्नड़ भाषाएं पड़ोसकी भाषाएं थीं। सातवाहनोंके समयमें इन भाषाओंके भौगोलिक अस्तित्वको स्वीकार करना चाहिये।

२१२. महाराष्ट्रके भौगोलिक जनपदोंके नामोंका स्पष्टीकरण श्री रघुनाथ महारुद्र भुसारिने किया है। ये नाम सातवाहन कालके हैं। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) असक अर्थात् अश्मक : मराठवाड़ाके औरंगाबाद, बीड, परभणी (आजके जिले) से सम्बन्धित प्रदेश अश्मक था। एक दूसरा विचार यहभी है कि नान्देड़ एवं निजामाबाद (आजके जिले) से सम्बन्धित प्रदेशको अश्मक कहा जाता रहा हो।

(२) मूलक : प्रतिष्ठान (पैठण) और उसके आसपासका प्रदेश। पैठण सातवाहनोंकी राजधानी थी किन्तु इस रूपमें उल्लेख नहीं मिलता।

(३) अपरांत : आजका कोंकण प्रदेश। ठाणाके आसपासके प्रदेशको अपरांत कहा जाता था। कोंकण नाम बादका है।

(४) विदर्भ : आजके बरार प्रदेशको विदर्भ भी कहा जाता है। यह नाम प्रचलित है। विदर्भ नाम बहुत प्राचीन है। उपनिषद्, महाभारत एवं हरिवंश पुराणमें इसका उल्लेख मिलता है। दमयंती, रुक्मिणी, लोपामुद्रा आदि विदर्भकी राजकन्याएं थीं। इस जनपदकी राजधानी कुंडिनपुर थी।

इन नामोंके साथ साथ करहाटक, भोगवर्धन (भोकरदन), वत्सगुप्त (वासिम), नासिक आदि जनपद प्रसिद्ध थे।” १५

२१३. ऊपर जो नाम दिये गये हैं, वे सब पीछे अनुच्छेद संख्या २०६ में आये हैं। महाराष्ट्रसे सम्बन्धित नामों का स्पष्टीकरण ऊपर किया है। महाराष्ट्रकी तरह महाराष्ट्री प्राकृतका नामकरणभी सातवाहनोंके बादमें ही रूढ़ हुआ है। सातवाहन राजा आन्ध्रके थे या नहीं, इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। श्री रघुनाथ महारुद्र भुसारि उन्हें आन्ध्रका नहीं मानते। १६

२१४. सातवाहनोंके बादमें उनके अधीन रहनेवाले सामंत तथा राजा अपने अपने स्थानमें स्वतंत्र हो गये। जिस समय समुद्रगुप्तने दक्षिण भारतपर आक्रमण किया, उस समय उसकी विजय-यात्रा पूर्वी तटकी रही। पहले वह उड़ीसा पहुंचा और बादमें दक्षिणमें कृष्णा तथा कावेरीकी ओर बढ़ता गया। उसकी दक्षिण विजयकी यात्रा पूर्वी घाट तकही सीमित थी। पश्चिम की ओर वह बढ़ा नहीं। उस समयमें वाकाटक वंश विदर्भमें शक्तिशाली राज्य था। सातवाहनोंके बाद महाराष्ट्रमें वाकाटकोंका राज्य प्रबल था। समुद्रगुप्त का संघर्ष वाकाटकोंसे नहीं हुआ। समुद्रगुप्त जब वाकाटकोंकी ओर भी नहीं मुड़ा तो पश्चिममें सातवाहनोंके केन्द्रस्थलपर उसके मुड़नेका प्रश्न ही नहीं था। पूर्वी तटके राज्य निश्चितही इस समय स्वतंत्र थे। उनपर

१५. आद्य महाराष्ट्र आणि सातवाहन काल—रघुनाथ महारुद्र भुसारि (मराठी पुस्तक), मराठी साहित्य परिषद् आन्ध्र प्रदेश, हैदराबाद द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण १९७६ ई., पृ. १६२ एवं १६३।

१६. वही, पृ. १८६-१८७।



वाकाटकोंका शासन नहीं था। आरम्भमें वे सातवाहनों के अधीन थे परन्तु बादमें सातवाहनोंके कमजोर होने पर स्वतंत्र होगये। वाकाटकोंके प्रबल हो जानेके कारण पूर्वी तटके राजा स्वतंत्र होगये और उन्हें परास्त करना समुद्रगुप्तके लिए कठिन काम नहीं था। वाकाटकोंके समयमें आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्रका अलगाव राजनीतिक रूपसे अनकहे होगया। वाकाटकोंकी सीमाओंमें महाराष्ट्रका भाग आता है। नर्मदासे लेकर हैदराबादतक का महाराष्ट्रका पश्चिमी भाग (जिसे विदर्भ कहा गया है) वाकाटकोंका क्षेत्र रहा है। सातवाहनोंके समयमें यह अलगाव नहीं था। पश्चिमी तटसे पूर्वी तक एकही बात थी। भाषाएं भिन्न रहीभी हों तो उनमें राजनीतिक अलगाव नहीं था। सभी जगह प्राकृत भाषा रही है।

२१५. पूर्वी तटके राज्य एवं वाकाटक राज्यकी सीमाएं प्रथम बार इतिहासमें भाषागत सीमाओंको—मराठी और तेलुगुकी सीमाओंको—आर्य और द्रविड़ परिवारकी सीमाओंको व्यक्त करते हैं।

२१६. वाकाटकोंका सम्बन्ध उत्तरमें हिन्दी भाषा की सीमाओंको छूता है। एक अर्थमें वाकाटकोंका राज्य भारतके मध्य भागमें रहा है। भंडारा-चंद्रपुरसे लेकर बम्बई तक सीधे चले आये तो महाराष्ट्रके उत्तरी भाग की सीमा लम्बीही लम्बी है। महाराष्ट्रकी सीमाएं जहाँ समाप्त हो जाती हैं उसके बाद घना जंगल है और बाद में तो शीघ्रही पूर्वी तटतक पहुंच जाते हैं। उत्तरमें महाराष्ट्रकी इस विस्तृत सीमाका कारण वाकाटकोंका राज्य है।

२१७. महाराष्ट्रकी उत्तरी सीमाओंकी विस्तृत रेखा उत्तर भारतकी सीमाओंसे मिलती हैं। यह भी एक कारण है, जिसके कारण मराठी भाषाको आर्यभाषा परिवारमें रखा गया है। उत्तर भारतकी भाषाओंसे मराठीका साधा सम्पर्क बहुत दूरीतक बना हुआ है। इसलिए उत्तर भारतकी भाषाओंके साथ मराठी भाषा सम्पर्क बलके कारण जुड़ी हुई है—

२१८. चन्द्रपुर-भंडारासे पूर्वी तट बहुत दूर नहीं है। और फिर जंगलोंको पार करके पहुंच भी जायें तो आन्ध्रप्रदेशका वह भाग आदिवासियोंका क्षेत्र है, छत्तीसगढ़का क्षेत्र है और आगे उड़ीसा है। प्राकृतिक रूपमें अलगाव होनेके कारण आन्ध्रप्रदेशकी भाषा—तेलुगु भाषा—उत्तरकी भाषाओंके अधिक सम्पर्कमें

नहीं आसकी है।

२१९. सातवाहनोंके समयमें राजधानी पश्चिममें थी और उनका शासन पूर्वमें था। आन्ध्रप्रदेशमें—पूर्वी तटके राज्योंमें—श्रीकाकुलम्से नेल्लूर-गुडूर तक प्राकृत भाषा सातवाहनोंके कारण पहुंची। प्राकृत भाषा वहांकी भाषा न थी। आन्ध्रप्रदेशमें सातवाहनोंके कालके अभिलेख प्राकृतमें मिलते हैं। प्राकृत आन्ध्रप्रदेशमें शासकीय भाषाके रूपमें रही और बादमें—सातवाहनोंकी अधीनतासे मुक्त होनेपर—उनका ध्यान संस्कृत की ओर गया। गुप्त राजा—समुद्रगुप्त-चन्द्रगुप्त आदि—की विजयके कारण संस्कृत भाषाको आन्ध्रप्रदेशमें प्रोत्साहन मिला। आन्ध्रप्रदेशमें संस्कृत भाषा सीधे पहुंची है। प्राकृतका माध्यम आन्ध्रप्रदेशमें नहीं है। तेलुगु भाषाका सम्बन्ध प्राकृतसे नहीं जोड़ा जाता। इस तुलनामें मराठी भाषाका सम्बन्ध प्राकृतसे जोड़ा जाता है। इसके कारण ऐतिहासिक हैं।

२२०. सातवाहनोंके समयमें और वाकाटकों के समयमें हमें मराठी भाषाकी एकभी पंक्ति [अभिलेखों तकमें] नहीं मिलती। सब कुछ अंधकारमें है। इतनी बात सच है कि इस पूरी अवधिमें प्राकृत भाषा प्रबल रही है। सातवाहनोंके समयमें प्राकृत और वाकाटकोंके समयमें प्राकृत भाषाका स्थान संस्कृत भाषा लेने लगी थी। वाकाटकोंके तुरन्त बाद वातापिके चालुक्य प्रबल हुए। वे कर्नाटकमें थे और वहींसे वे उत्तरकी ओर बढ़े और समस्त महाराष्ट्रमें शक्तिशाली होगये। सातवाहनोंके बादमें वातापिके चालुक्य प्रबल शासक हुए जिनके राज्यकी सीमाएं तमिल प्रदेशोंकी छूती थीं और समस्त महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश उनके साम्राज्यका भाग हो गया था। कई छोटे-छोटे राज्य थे। चालुक्योंकी ही एक शाखा बादमें वेंगीमें [आन्ध्र प्रदेशमें—पूर्वी तटपर गोदावरीके निकट] प्रबल हुई। बादामीके चालुक्योंके कमजोर होतेही राष्ट्रकूट राजा प्रबल होगये। ये राष्ट्रकूट राजा महाराष्ट्रमें शासन करने लगे। पहले इनकी राजधानी महाराष्ट्रमें एलापुर [एलोराने निकट] रही। इनकी सेना मयूरखण्डी [नाशिकके पास] में रहती थी और यहींसे ये राजा दूर-दूर तक नर्मदा नदी तक आक्रमण करते रहे। राष्ट्रकूट राजाओंका क्षेत्र वातापिके चालुक्योंसे विस्तृत था किन्तु चालुक्य राजा सभी सीमाओंपर [राष्ट्रकूटों की सीमाओंपर] अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। पूर्वमें



वेंगीमें उनकी शाखा थी। दक्षिणमें उनका अलग शाखा ही और उत्तरमें लाट देशमें उनकी अलग शाखा हुई। राष्ट्रकूटोंके कमजोर होतेही चालुक्य पुनः प्रबल होगये। दक्षिणके अधिक दबावके कारण राष्ट्रकूटोंने महाराष्ट्रका उत्तरी भाग छोड़ दिया और वे मान्यखेट जले आवे [बीदर जिलेमें है] यहींसे वे शासन करते रहे।

२२१. राष्ट्रकूटोंमें अमोघवर्षका शासनकाल दीर्घ रहा है और वह मान्यखेटसे ही शासन कर रहा था। उसकी राजधानी तीनों भाषाओंका भौगोलिक केन्द्र है—तेलुगु-कन्नड़ और मराठी। राष्ट्रकूटोंका पतन होतेही चालुक्य पुनः प्रबल होगये। उन्होंने कल्याणी को राजधानी बनाया। कल्याणी बीदर जिलेमें ही है। कल्याणीके चालुक्योंके समयमें वेंगीके चालुक्य तथा ताटके चालुक्य अपनी-अपनी सत्ताको दृढ़ कर रहेथे। एक प्रकारसे महाराष्ट्र आन्ध्रप्रदेश तथा कर्नाटकका प्राक्-रूप इसी समयमें बन रहा था।

२२२. मराठी भाषाका भौगोलिक क्षेत्र राष्ट्रकूटों के समयसे अधिक स्पष्ट होने लगता है। उनके राज्यकी सीमाओंमें समस्त महाराष्ट्र रहा है। महाराष्ट्रसे उत्तर में वे गुजरात तक और दक्षिणमें वे चोलोंकी सीमाओं को [तमिल प्रदेशको] छूतेथे। राष्ट्रकूटोंके समयमें सीमावर्ती प्रदेशोंपर चालुक्य अपना अस्तित्व किसी-न-किसी रूपमें बनाये हुएथे। विशेष रूपसे वेंगीके चालुक्यों का अस्तित्व—स्वतंत्र अस्तित्व कहना चाहिये—राष्ट्रकूटों के समस्त कालमें रहा है। सातवाहनोंके बादमें पूर्वी तटसे पश्चिमी तटका सम्पर्क टूट गया था। बादमें वाकाटकोंने भी उत्तर-दक्षिणमें ही विस्तार किया। पूर्वी तटकी ओर वे गये नहीं और इसके बाद तो यह अलगाव—पश्चिमी तट और पूर्वी तटके राज्योंका अलगाव—इतिहासमें निरन्तर बना रहा। प्राकृतिक रूपमें ही आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार अलग होगये। राजनीतिक कारण तो हैंही—इससे अधिक भौगोलिक कारण हैं।

२२३. वाकाटकोंके समयमें राज्यकी सीमाएं निश्चितही पूर्वमें वहांतक पहुंची है, जहांतक आज भी महाराष्ट्रकी सीमाएं हैं। उत्तरमें वे पूर्वी तटसे कुछ ही दूर रहती हैं। उड़ीसा तक ठीकसे सम्पर्क न होनेपर भी—छत्तीसगढ़का वन्य प्रदेश आ जाता है। यह वन्य प्रदेश अपने आपमें आदिवासियोंका क्षेत्र है और

विस्तारकी रेखासे दक्षिणकी ओर बढ़ते जायें तो सीमा रेखा महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेशकी बनती जाती है। दक्षिणकी ओर बढ़ते समय हम पश्चिमकी ओर बढ़ते जाते हैं, और यह बढ़ना बीदर जिलेतक [आजका नाम है] अर्थात् राष्ट्रकूटोंकी राजधानी और बाद चालुक्यों की राजधानी तक जारी रहता है। यहांसे आगे महाराष्ट्र की सीमा रेखा पश्चिमकी ओर मुड़ते समय कर्नाटकसे जुड़ जाती है।

२२४. आन्ध्र-प्रदेश और महाराष्ट्रकी सीमाओंको ध्यानसे देखें तो इन सीमाओंमें भौगोलिक कारण प्रधान है। इन सीमारेखाओंमें घना जंगल है। ऊंची पहाड़ियां हैं। सहज प्रवेश संभव नहीं है और आवागमनकी कठिनाइयां हैं। स्वयं प्रकृतिने ही भाषाओंके भेदकी सीमाएं बना दी हैं। पश्चिमी तट और पूर्वी तट सीधे-सीधे आपसमें राजनीतिक स्तरपर ठीकसे जुड़ नहीं पाये हैं।

२२५. जहांतक मराठी भाषाके भौगोलिक क्षेत्रका सम्बन्ध है, उसकी पूर्वी सीमाका निर्धारण वाकाटकोंके समयमें होगया और बादमें दक्षिणी सीमाका निर्धारण यादव राजाओंके समयमें हुआ। कल्याणीके चालुक्योंके पतनके समयमें पहले केन्द्रपर कुछ कालके लिए कलचुरियोंका अधिकार हो गया था किन्तु यादवोंने बादमें उनका स्थान ले लिया। दक्षिणमें होयसल राजा प्रबल होगये। होयसलोंका क्षेत्र कन्नड़ भाषाका है और यादवोंका क्षेत्र मराठी भाषाका है। पूर्वमें इस समय काकतीयोंका उदय हुआ। उनकी राजधानी वरंगल हुई। इसी प्रकार होयसलोंकी राजधानी द्वार समुद्र (मैसूरके निकट) हुई। यादवोंकी राजधानी देवगिरि हुई। कल्याणीके चालुक्योंके पतनके बाद तीनों भाषाओं के क्षेत्र अपने आप राजनीतिक रूपमें अलग-अलग हो गये।

२२६. ऐसी मान्यता रही है कि महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंशका उद्भव हुआ और उसीसे मराठी भाषाका उद्भव हुआ है। किन्तु जिन विद्वानोंने मराठी भाषाका इतिहास लिखा है, वे महाराष्ट्री प्राकृत के बादकी स्थिति महाराष्ट्री अपभ्रंशके सम्बन्धमें कहते हैं कि मराठी ग्रन्थकारोंको अपभ्रंश ज्ञात हो किन्तु महाराष्ट्री अपभ्रंशकी एकभी रचना उपलब्ध नहीं है। और यदि हम मराठीके उद्भवका काल १००० शक संवत्के आसपास मान लें तो तदनुसार महाराष्ट्री अप-



२२७. ग्रंथोंमें या रचनाओंमें मराठी भाषाका स्वरूप बहुत बादमें दिखायी देता है। उसका आरम्भ हमें अभिलेखोंमें मिलता है। मराठीके अभिलेखोंपर एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तकका नाम है—‘प्राचीन मराठी कोरीव लेख’, इसका सम्पादन शं. गो. तुळपुळे ने किया है। इसका प्रकाशन पुणे विश्वविद्यालयसे १९६३ ई. में हुआ। इसमें संपादित अभिलेखोंके संबंध में संपादकका कहना है :

“एकत्रित ७६ अभिलेखोंमें ६६ शिलालेख हैं और १० ताम्रलेख । सामान्य रूपमें ६ शिलालेखोंके साथ १ ताम्रलेख मिलता है। इन १० ताम्रलेखोंमें ४ संदिग्ध हैं। अर्थात् महाराष्ट्रमें शिलालेखोंकी तुलनामें ताम्रलेखोंका प्रमाण बहुत कम है। इस संग्रहके एकत्रित ७६ अभिलेखोंमें ५६ अभिलेख ऐसे हैं, जिनमें तिथियोंका उल्लेख है। अन्य अभिलेखोंमें चार संदिग्ध हैं। ६ ऐसे हैं जिनका काल अनुमानसे निश्चित करना पड़ता है और ७ ऐसे हैं जिनके सम्बन्धमें कुछ कहना कठिन है। ५६ अभिलेखोंका कालनिर्देश निम्न रूपमें मिलता है :—

काल	अभिलेखोंकी संख्या
शक संवत् ६३४ से १०००	२
" १००१ ११००	११
" ११०१ १२००	२२
" १२०१ १३००	२०
" १३०१ १३३५	४
	५६

ऊपरकी तालिकामें आरम्भमें और अंतमें अभिलेखोंकी संख्या बहुत कम है। प्रायः ११०० शक संवत्से १३०० शक संवत्के बीच अभिलेख अधिक लिखे गये।” १८

२२८. मराठी अभिलेखोंमें प्रथम अभिलेख ६३४ शक संवत् अर्थात् १०१२ ई. का है। दूसरा अभिलेख शक संवत् ६८२ अर्थात् १०६० ई. का है। इसाकी

१७. महाराष्ट्र सारस्वत-विनायक लक्ष्मण भावे (मराठी पुस्तक), पाप्युलर प्रकाशन, ३५, ताडदेव रोड, मुम्बई-३४, आवृत्ति पाचवी, १९६३ ई., पृ. ८।

१८. प्राचीन मराठी कोरीव लेख—संपादन. शं. गो. तुळपुळे, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे द्वारा प्रकाशित (मराठी पुस्तक) प्रथम संस्करण १९६३, पृ. ४२ तथा ४३.

‘प्रकर’—अगस्त ६०—२०

ग्यारहवीं शतीमें पूर्व मराठी भाषाकी एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है। इस तुलनामें तेलुगु भाषामें प्रथम अभिलेख छठी शतीके अन्तिम दशकोंके मिलते हैं। मराठीके उपलब्ध अभिलेखोंमें और तेलुगुके उपलब्ध अभिलेखोंमें लगभग ५०० वर्षोंका अंतर है।

२२९. श्री के. महोदय शास्त्रीने छठी शतीसे दसवीं शतीके बीचके १०० अभिलेखोंके आधारपर प्राचीन तेलुगु भाषाका ऐतिहासिक विवेचन अपनी पुस्तक ‘हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु’ में किया है। छठी शतीसे भी पहले वे तेलुगु भाषाका अस्तित्व ई. पू. दूसरी शती तक पीछे ले जाते हैं। कुछ प्राकृतके तथा कुछ संस्कृतके अभिलेखोंपर एक स्वतन्त्र अध्याय उन्होंने लिखा है। वे अभिलेख प्रायः सातवाहन राजाओंके काल के हैं। प्राकृत तथा संस्कृतके अभिलेखोंमें तेलुगु भाषाके प्राचीन संस्कारोंकी पहचान श्री के. महादेव शास्त्रीने की है। १९

२३०. तेलुगु भाषाका इतिहास लिखनेवाले विद्वान् तेलुगु भाषाके अस्तित्वको ई. पू. की दूसरी शती तक पीछे ले जाते हैं। इस तुलनामें मराठीका अस्तित्व स्वयं मराठीके विद्वान् इतना पीछे तक नहीं बतलाते। ई. पू. की शताब्दियोंमें तमिल भाषाका अस्तित्व मिलता है। तमिलभाषी क्षेत्र सुदूर दक्षिणमें हैं और इसा पूर्वकी शताब्दियोंमें नन्द तथा मौर्योंके समय वह क्षेत्र एक प्रकारसे स्वतंत्र रहा है। सातवाहनोंके शासनकालमें भी तमिल क्षेत्र प्राकृत भाषा या संस्कृत भाषासे प्रायः मुक्त ही रहा है। इस तुलनामें आन्ध्रप्रदेशका क्षेत्र, कर्नाटकका क्षेत्र तथा महाराष्ट्र—इन तीनों प्रदेशोंका क्षेत्र—सातवाहनोंके समय प्राकृत भाषासे अधिक प्रभावित था। और इन तीनोंमें भी महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषा का अस्तित्व अधिक काल तक रहा है। सातवाहनोंके बादमें वाकाटकों और राष्ट्रकूटोंके समयमें भी प्राकृत भाषा और बादमें संस्कृत भाषा महाराष्ट्रमें रही है। वस्तुतः इस तथ्यको लेकर विचार होना चाहिये कि प्राकृत भाषाका सम्बन्ध मराठी, तेलुगु और कन्नड़ तीनों भाषाओंके साथ किस रूपमें है। कारण यह है कि इसी आधारपर आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारके

१९. हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु—के. महादेव शास्त्री। प्रका. श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति। १९६६, पृ. २३ से ३६ तक (अध्याय ३)।



अलगवके ऐतिहासिक कारणोंका विवेचन किया जा सकता है।

२३१. क्या प्राकृत भाषाके अस्तित्वको महाराष्ट्रमें ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भतक—मराठीका प्रथम अभिलेख मिलनेतक—स्वीकार करलें ? और ठीक इसके विपरीत यह मानलें कि तेलुगुके अभिलेख छठी शतीके अन्तिम दशकोंमें मिलतेहैं। तेलुगुके अभिलेखोंसे ५०० वर्ष पीछे जाकर सातवाहनोंके समयमें तेलुगुके अस्तित्वको स्वीकार करना—एक अर्थमें उसी समयमें मराठीके अस्तित्वको स्वीकार करनेके समान है। ग्यारहवीं शताब्दीमें मराठीका प्रथम अभिलेख मिलताहै, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उससे पूर्व मराठी भाषाका अस्तित्व नहीं था। वस्तुतः हमें सातवाहनोंके कालमें मराठी भाषाके अस्तित्वको स्वीकार कर लेना चाहिये। इसके प्रमाणमें [दोहराते हुएही कह रहाहूँ] पुनः कहना चाहूंगा कि महाराष्ट्री प्राकृत—प्राकृत भाषाका मानक और साहित्यिक रूप है और वह भाषा महाराष्ट्र की भौगोलिक भाषा हो नहीं सकती। चूंकि महाराष्ट्रमें सातवाहनोंकी राजधानी थी और उसे महाराष्ट्र में राजभाषाके रूपमें मान्यता मिली। अतः वह भाषा अधिक काल तक महाराष्ट्रमें बनी रही और उसने स्थानीय भाषाको स्वतन्त्र अभिव्यक्तिका श्रवसर नहीं दिया। आंध्रप्रदेशका भाग सातवाहनोंके बाद कुछ स्वतन्त्र होगया इसलिए उस प्रदेशमें—पूर्वी तटका प्रदेश—तेलुगु भाषामें अभिलेख पहले मिलने लगतेहैं।

२३२. उत्तर भारतको दक्षिण भारतसे जोड़नेवाले दो पथ प्रधान रहेहैं। एक है दक्षिणापथ और दूसरा आन्ध्र पथ। दक्षिणापथ इन दोनोंमें प्रधान है और इस पथका उपयोग अधिक हुआ है। इस पथका सम्बन्ध महाराष्ट्रसे है। यह पथ पश्चिमी तटका है। दूसरा पथ पूर्वी तटका है। वह आन्ध्र पथका है। पश्चिमी तटके दक्षिणापथसे प्राकृत भाषाका विस्तार हुआ और वह भाषा फिर कर्नाटक और आन्ध्रतक पहुंची। आंध्र पथसे समुद्रगुप्त दक्षिणमें आया और उसके बाद संस्कृत भाषाका महत्त्व आन्ध्रमें बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि तेलुगु भाषा अपने मूल रूपमें ही संस्कृतसे सीधे प्रभावित हुई। मराठी भाषाको संस्कृतके साथ-साथ प्राकृत भाषाका संस्कार अधिक प्राप्त हुआ है। प्राकृत भाषाके अधिक संस्कारके कारण मराठी भाषा दक्षिणकी भाषाओंसे अलग हो गयी है।

२३३. सातवाहनोंके कालसे यादवों तकका काल मराठी भाषाके इतिहासकी दृष्टिसे अंधकारमें है। महाराष्ट्रके पूर्वमें और दक्षिणमें तेलुगु और कन्नड़ भाषाएं मराठीसे पहले मुखरित होगयीं। ऐसा क्यों हुआ ? केवल मराठीका बात नहीं है। उत्तर भारतकी प्रायः आर्य परिवारकी आधुनिक भाषाओंका इतिहास मराठी भाषाके इतिहाससे मिलता-जुलताहै। आर्य परिवारकी आधुनिक भाषाओं और संस्कृत भाषाके बीचमें प्राकृत-अपभ्रंशकी कड़ी है। ऐसी बीचकी कड़ी दक्षिण भारतकी भाषाओंमें नहीं मिलती। इस बीचकी कड़ीके कारण आधुनिक आर्य भाषाओंका इतिहासका काल कुछ आगे बढ़ गयाहै ! इस नाते मराठी आर्य परिवारके अधिक निकट है।

२३४. महाराष्ट्रमें प्राकृत भाषाका काल इतिहास में और स्थानोंकी अपेक्षा अधिक है। सातवाहनोंके समयसे [ई. पू. तीसरी शतीसे] यादवोंके काल तक [१०१२ ई. तक पहला मराठी अभिलेख मिलने तक] लगभग बारह शताब्दियोंसे कुछ ऊपरका काल है। इस लम्बी अवधिमें प्राकृत भाषाकी साहित्यिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियोंका भी [विशेष रूपसे महाराष्ट्रमें] पूरा विवेचन एक स्थानपर नहीं मिलता। क्रम जोड़ना पड़ताहै और अनुमानसे ही काम चलाना पड़ताहै।

२३५. श्री शं. गो. तुळपुळेने प्राचीन अभिलेखों की—मराठी भाषामें उपलब्ध अभिलेखोंसे पहलेके अभिलेखोंकी—भाषापर अलगसे विचार कियाहै महाराष्ट्रमें प्रचलित भाषा रूपोंको पहचाननेमें उनके कथन महत्त्वपूर्ण हैं। मराठी भाषाके प्राथमिक स्वरूपको जाननेमें इससे सहायता मिलतीहै। वे लिखतेहैं—

“लिपिके सम्बन्धमें जिस प्रकार उत्तरकी ओरसे आयी नागरीने दक्षिणका बहुत बड़ा क्षेत्र घेर लिया, उसी प्रकार भाषाके सम्बन्धमें भी ऐसाही कुछ हुआहै। इस दृष्टिसे प्राचीन कालके गुफाओंके शिलालेखोंपर विचार करें तो उनमें भाषाओंके तीन प्रकार दिखायी देतेहैं—(१) प्राकृत (२) प्राकृत-संस्कृत एवं (३) संस्कृत। जिस काल-क्रममें भाषाओंके तीन प्रकार रूढ़ हुए वह क्रम स्थूल रूपमें वही रहाहै। अर्थात् प्रथम प्राकृत, अनंतर संमिश्र और अन्तमें संस्कृत है। सातवाहनोंके प्रायः सभी अभिलेख प्राकृतमें है। क्षहरातोंके अभिलेख प्राकृतमें होनेपर भी वे संस्कृतकी ओर झुकते प्रतीत होतेहैं। इसका कारण यह है कि क्षहरातों के सभी प्राकृत अभिलेखोंपर संस्कृतकी छाया स्पष्ट रूप

‘प्रकर’—भाद्रपद २०४७—२१



में दिखायी देती है। इसके बाद धीरे-धीरे प्राकृत का स्थान संस्कृतने लिया और इससे वाकाटकोंके आरम्भ-आरम्भके अभिलेखोंमें भाषाओंका यह संस्कृतीकरण साफ दिखायी देता है। वाकाटकोंका पहला उपलब्ध ताम्रपट वाशिमका है। इस ताम्रपटकी भाषाका अध्ययन इसी दृष्टिसे किया जा सकता है। इस ताम्रपटकी आरम्भकी वंशावलीसे संबंधित पांच पंक्तियां और अंतकी आशीर्वचनात्मक सामग्री शुद्ध संस्कृतमें है। बीच का भाग केवल प्राकृतमें है। यही प्रथा आगेभी कुछ काल तक चलती रही है। बादामीके चालुक्योंके अभिलेखभी इसी प्रकारके मिलते हैं। भाषाकी दृष्टिसे इन अभिलेखोंको तीन भागोंमें विभाजित करना पड़ेगा। पहला विभाग विजयादित्य चालुक्य तक होगा अर्थात् ६६ ई. तक होगा। इस समय तकके प्रायः अभिलेख संस्कृत भाषामें है। विजयादित्यके समयसे बादामीके चालुक्योंका शासन महाराष्ट्र और कर्नाटक दो भागोंमें विभाजित हुआ और इससे भाषाओंका विभाजन भी हो गया। अर्थात् उत्तरमें संस्कृत और कर्नाटकमें कन्नड़—इस प्रकार भाषिक विभाजन होगया। ऐसा लगता है कि चालुक्योंकी भाषा संबंधी नीति द्विभाषिक रही है। महाराष्ट्रमें [उत्तर-दक्षिणमें] संस्कृत और कर्नाटकमें कन्नड़। अभिलेखका प्रस्तावना सम्बन्धी भाग और समापनपरक पंक्तियां संस्कृतमें लिखी जाती रहीं और बीचकी पंक्तियां कन्नड़में लिखी जाने लगी। इन अभिलेखोंमें कन्नड़को 'प्राकृत भाषा' कहा गया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। इसका एक अर्थ यह भी होता है कि एक ही अभिलेखमें संस्कृत तथा प्राकृत दो भाषाओंका उपयोगकर अभिलेखोंका संमिश्र स्वरूप बनाये रखनेकी रूढ़ परम्पराका पालन उन्होंने किया है। इसके बाद राष्ट्रकूटोंके शासन कालपर विचार करें तो प्रतीत होगा कि वे भी चालुक्योंकी प्रायः इस नीतिका पालन करते रहे हैं। उनकी भाषिक योजनाभी प्रांतोंके अनुसार रही है। दक्षिण [अर्थात् महाराष्ट्र] एवं गुजरातके अभिलेखोंमें संस्कृत, कर्नाटकके अभिलेखोंमें कन्नड़ एवं तमिलनाडुके अभिलेखोंमें तमिल भाषाका उपयोग राष्ट्रकूट नरेश करते रहे हैं। उनकी नीति यही थी। इसी तरह अभिलेखोंका स्वरूप द्विभाषिक रहा है। इसके बाद कल्याणीके चालुक्योंका काल आता है। उनके अभिलेख प्रधान रूपसे कन्नड़में है, कुछ केवल संस्कृतमें और कुछ संस्कृत-कन्नड़ संमिश्र स्वरूपके हैं। कल्याणीके चालुक्यों

'प्रकर'—अगस्त १०—२२

के तीन वाक्योंमें मराठी भाषाका आभास मिल जाता है। इनपर आगे विस्तारसे लिखा गया है। इसके बाद यादवोंके अभिलेखोंपर विचार करें। उनका स्वरूप भी प्रायः संमिश्र ही है। महाराष्ट्रमें अभिलेखोंका स्वरूप संस्कृत अथवा मराठी भाषाका है और कर्नाटकमें वही संस्कृत-कन्नड़को अपनाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त पूर्ण रूपसे संस्कृतमें या मराठीमें या कन्नड़में लिखे हुए अभिलेख भी मिलते हैं। यादवोंके उपलब्ध अभिलेखोंमें कन्नड़ भाषाके अभिलेख लगभग आधे हैं। कलचुरियों और शिलाहारोंके लेखनका स्वरूप भी प्रायः ऐसा ही है। कलचुरियोंके कर्नाटकके समस्त अभिलेख कन्नड़ भाषामें हैं। कोल्हापुरके शिलाहारोंके अभिलेख भाषा की दृष्टिसे (१) संस्कृत (२) संस्कृत-कन्नड़ एवं (३) कन्नड़—तीन प्रकारके हैं। उनमें भी कन्नड़ अभिलेखोंकी संख्या सबसे अधिक है। ठीक इसी प्रकार कोंकणके शिलाहारोंके अभिलेख (१) संस्कृत (२) संस्कृत-मराठी एवं (३) मराठी—तीन प्रकारके हैं। १२०

२३६. शं. गो. तुळपुळे अभिलेखोंकी भाषाओंपर विस्तारसे लिखनेके बाद निष्कर्ष रूपमें लिखते हैं:

१. "दक्षिणके प्राचीनतम अभिलेख प्राकृत भाषा के हैं।

२. प्राकृत भाषाका स्थान धीरे-धीरे संस्कृत भाषा ने लिया है।

३. अभिलेख अधिक संख्यामें संमिश्र स्वरूपके हैं। उनका औपचारिक भाग संस्कृत एवं मुख्य भाग प्राकृत भाषाका रहा है।

४. सातवाहनोंके समयसे कोंकणके शिलाहारोंके दक्षिणमें कई वंशोंने शासन किया किन्तु भाषाओंके संबंधमें उनकी नीति प्रायः व्यावहारिक रही है। किसीने भी किसी भाषा विशेषके लिए आग्रह नहीं किया।

५. भाषाके सम्बन्धमें उदार नीति अपनानेके कारण एक ही राज्यमें दो, तीन और चार अलग-अलग भाषाओंमें अभिलेख लिखे गये हैं।

६. अभिलेखोंमें प्राकृत भाषाका स्थान प्रथम संस्कृत भाषाने लिया और अनंतर मराठी-कन्नड़ने उनका स्थान लिया।

२०. प्राचीन मराठी कोरीव लेख—संपादक : शं. गो. तुळपुळे, (मराठी पुस्तक) प्रथम संस्करण १९६३, पृ. ६७ तथा ६८.



७. यह सब होते हुए भी दक्षिण के अभिलेखों में उसका उपयोग हो रहा था; ठीक उसी समयमें मराठी भाषा मुखरित क्यों नहीं हुई और इस विलम्बमें प्राकृत भाषा अंतरालमें नहीं थी। उसका स्थान संस्कृतने ले लिया था। ऐतिहासिक तथ्य यही कह रहे हैं।

६. प्राकृतको विकासके बीचकी कड़ी मानें तो इतिहासमें विपरीत तथ्य मिलते हैं। प्राकृतके बादमें सीधी देशभाषाएं नहीं मिलतीं। मराठीकी स्थिति यही है।

१. दक्षिणमें प्राकृत भाषाके अभिलेख प्राचीनतम हैं। ये सातवाहनोंके कालके हैं। वह प्राकृत भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है या अन्य [प्राकृतका कोई दूसरा रूप]—इसकी जाँच आवश्यक है।

२. कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेशके क्षेत्रोंमें प्रचलित प्राकृतोंके अभिलेखोंकी भाषाओंको क्या महाराष्ट्री प्राकृत भाषा कहा जा सकेगा ?

३. पीछे अनुच्छेद संख्या २३५ में [शं. गो. तुळपुळे की उद्धृत पंक्तियोंमें] कहा गया है कि कन्नड़को भी प्रारंभमें प्राकृत कहा जाता रहा है। इसका तात्पर्य यह भी होगया कि [एक अर्थमें] भारतकी प्रायः सभी भाषाओंको [संस्कृतको छोड़कर] प्राकृतके नामसे अभिहित किया गया है। प्राकृतके फिर अलग-अलग नाम देशभेद और जातिभेदसे हुए हैं। मार्कण्डेयकी पुस्तक 'प्राकृत-सर्वस्वम्' इस तथ्यकी पुष्टिमें सहायक है। उसने दक्षिणकी भाषाओंको भी प्राकृतोंके अन्तर्गत रखा है।

४. महाराष्ट्री प्राकृत—को भौगोलिक स्वरूपकी भाषा न मानकर, उसे प्राकृत भाषाका देशव्यापी मानक रूप कहना चाहिये। वह काव्यकी भाषा है।

५. प्राकृत भाषाका स्थान संस्कृतने लिया और फिर बादमें देशी भाषाओंने—मराठी, कन्नड़ और तेलुगु आदिने—लिया है। इनमें भी आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारकी भाषाओंकी दृष्टिसे विचार करें तो कन्नड़ और तेलुगु दोनोंही भाषाएं पहले मुखरित हुईं। महाराष्ट्रमें संस्कृत भाषा चलती रही। ऐसा क्यों? क्या संस्कृत भाषाके अधिक काल तक प्रचलित रहनेके कारण मराठी आर्य परिवारकी होगयी? और फिर प्राकृतकी बात करें तो जिस समयमें कर्नाटक और आन्ध्रमें कन्नड़ और तेलुगु मुखरित हो रही थीं—अभि-

२१. वही, पृ. ६८.

७. मराठी भाषाकी ऐतिहासिक स्थिति द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके सदृश होनेपर भी संस्कृत भाषा अंतरालमें [बीचके कालमें—५ शताब्दियों तक कहना चाहिये] होनेके कारण और उसका बादमें स्वरूप उत्तर भारतकी भाषाओंसे अधिक जुड़नेके कारण—मराठी भाषा आर्य परिवारकी ओर झुक गयी है। □

[लेखमालाका अगला लेख : तमिल, मलयालम, कन्नड़ एवं तेलुगु—द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप]

## सेन्चुरी के अनुपम वस्त्र



१०० % सूती कपडों के लिए  
सेन्चुरी काउन्स सूती वस्त्रों में बेजोड़

सेन्चुरी टेक्सटाइल्स  
एण्ड इंडस्ट्रीज लिमिटेड

'सेन्चुरी भवन', डॉ. एनी बेजुण्ट रोड, वरली,  
बम्बई ४०० ०२५.

'प्रकर'—माद्रपद'२०४७—२३



# बोली-अध्ययन

## [भाषा विज्ञान]

### मण्डियालीका भाषाशास्त्रीय अध्ययन?

लेखक : डॉ. जगतपाल शर्मा

समीक्षक : प्रो. कैलाशचन्द्र भाटिया

भारतीय भाषाओं और बोलियोंके सर्वेक्षण तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययनका जो क्रम एक शताब्दी पूर्व ग्रियर्सनने प्रारम्भ कियाथा उसमें ही और अधिक जानकारी विश्वविद्यालयोंमें हुए शोधकार्यसे हो रही है। हिमाचल प्रदेशकी इस महत्वपूर्ण बोली 'मण्डियाली'पर यह कार्य प्रस्तुत है। शोधार्थीकी मातृभाषा 'विलासपुरी' है जो मण्डियालीकी पड़ोसी बोली है। इस प्रकार अपनी मातृभाषासे पृथक् बोलीका अधुनातन भाषाशास्त्रके सिद्धांतोंके आधारपर यह अध्ययन बड़ी निष्ठा व लगन से सम्पन्न किया गया है जो अब प्रकाशित रूपमें उपलब्ध हुआ है।

मैदानी भागकी अपेक्षा पहाड़ी प्रदेशका भाषा-सर्वेक्षण दुरूह होता है। भाषा और संस्कृतिकी प्राचीनताकी दृष्टिसे हिमाचलप्रदेश विलक्षण है। मण्डियाली हिमाचलके 'मंडी' जिलेमें बोली जाती है। इससे पूर्व उसकी समीपवर्ती दो अन्य क्षेत्रीय बोलियों—कांगड़ी तथा कुल्लईका अध्ययन कियाजा चुका है। शोधार्थीने बड़ी नम्रतासे मौलिकताका दावा नहीं किया है पर इसमें सन्देह नहीं कि संरचनात्मक भाषाविज्ञानके सिद्धान्तोंपर आधारित यह पहला अध्ययन है जिसका अनुकरण आगे अन्य बोलियोंके अध्ययनमें कियाजा सकता है।

प्रारम्भमें मण्डी जिलेका मानचित्र है। मण्डियाली

१. प्रकाशक : शब्द और शब्द, डी-११८, अशोक विहार, दिल्ली-५२ । पृष्ठ : ३३६; डिमा.; मूल्य : २००.०० रु।

'प्रकर'—अगस्त'६०—२४

का प्रस्तुत भाषावैज्ञानिक अध्ययन निम्नलिखित भागों में विभक्त है :

१. स्वन प्रक्रिया (पृ. १०६ तक)
२. रूपस्वन प्रक्रिया (पृ. १०७-११६)
३. रूपप्रक्रिया (पृ. ११७-२६०) आरंभमें उसे 'संज्ञापद' मात्र कहा गया है।
४. वाक्यविन्यास (पृ. २६१-३०३)

परिशिष्टकी 'सामग्री'में पंचतन्त्रकी कथाका मण्डियाली रूप प्रस्तुत किया गया है। जिसका हिंदी अनुवादभी दिया गया है। पचपन वाक्य संरचनाएं भी मण्डियालीमें हिन्दी रूपान्तरणके साथ दी गयी हैं। मण्डियालीकी उपयोगी शब्दावलीका लघुकोश (परिशिष्ट ५-१-३) पृ. ३१५-३३१ पर भी दिया गया है। यह उल्लेखनीय उपलब्धि है जिसमें लगभग एक हजार शब्द दिये गये हैं। अन्तमें हिन्दी तथा अंग्रेजी पुस्तकोंकी सूची दी गयी है जिनका उपयोग शोधप्रबंधमें किया गया है।

प्रथम अध्याय 'स्वन प्रक्रिया'के अन्तर्गत स्वनिम, स्वनिम वितरण, द्वित्व व्यंजन (व्यंजन दीर्घता), स्वरानुक्रम, व्यंजन गुच्छ, अक्षर व्यवस्था आदिका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नागरी लिपिमें ही मण्डियाली भाषाका लिप्यंकन किया गया है, कुछ अतिरिक्त ध्वनियोंकी व्यवस्थाभी लिप्यंकन में की गयी है। खण्डात्मक स्वनित्रोंमें स्वर तथा व्यंजनों का विवरण/वितरण प्रस्तुत किया गया है। अधिखंडात्मक स्वनिमोंमें निम्नलिखित विषयोंपर पहली बार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है :

१. दीर्घता—स्वर-व्यंजन दीर्घता
२. आघात—बलात्मक स्वराघात  
संगीतात्मक स्वराघात/सुर
३. संगम—आंतरिक संगम  
वाक्य सीमांतिक संगम



५. अनुतासिकता  
यह अध्ययनही शोधकी उपलब्धि है। १.२.२. के अन्तर्गत (पृ. ४६-६०) उक्त सर्भापर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस बोलीमें तान (टोन) का विशेष महत्व है जिसपर संक्षेपमें (मध्य, उच्च, निम्न तान) लिखा गया है। शोधार्थीने स्वीकार किया है कि—“तान को लेकर विस्तारसे विचार नहीं किया गया है क्योंकि ‘तान’ तथा ‘प्राणत्व’ मुक्त वितरकमें है। यहांपर तान को ‘प्राणत्व’ के रूपमें स्वीकार किया गया है।” (पृ. ५२)।

मण्डियालीपर ‘पंजाबी’ के प्रभावको लेकर यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि शब्द स्तरपर मण्डियालीमें ‘प्राणत्व’ तथा ‘तान’ मुक्त-वितरकमें प्राप्त होते हैं।” अपने इस तथ्यकी पुष्टिमें पर्याप्त उदाहरण पृ. ५७-५८ में प्रस्तुत किये गये हैं। ‘संगम’ पर पहली बार सम्यक् विवेचन किया गया है। वाक्य सीमान्तिक विरामको (एजो रोक्को नी, जाणे देवा/एजो रोक्को, नीं जाणे देवा) डॉ. भोलानाथ तिवारीके अनुसार अल्प विराम-संगम या ‘कामा संगम’ कहा गया है।

‘अक्षर व्यवस्था’ पर भी बड़े विस्तारसे (पृ. ६०-७३) विवेचन प्रस्तुत किया गया है। व्यंजन-गुच्छ तथा व्यंजनानुक्रममें भेद नहीं किया गया है फलतः व्यंजनानुक्रमके भी सभी उदाहरण (पृ. ८३-१०२) गुच्छके अन्तर्गत ही दे दिये गये हैं। अन्तमें दो उपयोगी चार्टों (पृ. १०४-१०५) से उसका महत्त्व बढ़ गया है।

‘रूपस्वन प्रक्रिया’ सर्वाधिक लघु अध्याय (मात्र दस पृष्ठोंमें) है जिसमें से भी प्रथम चार पृष्ठोंमें सैद्धांतिक चर्चा की गयी है। रूप-स्वनिमित्त परिवर्तनका विश्लेषण अत्यन्त संक्षेपमें दे दिया गया है।

तृतीय ‘अध्याय ‘रूप-प्रक्रिया’ शीर्षकसे दिया गया है जिसमें मण्डियालीके संज्ञापद—सामान्य तथा व्युत्पन्न, लिग-विधान, वचन-विधान, सर्वनाम पद, विशेषण पद, क्रिया-पद, क्रिया विशेषण, युक्त-पदपर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संज्ञापदको अनेक भेदोपभेदके साथ विश्लेषित किया गया है। व्युत्पन्न संज्ञापद को चेतन तथा अचेतन तथा चेतनको पुनः मानवीय व अमानवीय वर्गोंमें बांटा गया है। भाववाचक संज्ञापदों को व्युत्पत्ति संज्ञा, विशेषण तथा क्रियापदोंके आधार पर भी गयी है और उसको तीन वर्गोंमें बांटा गया है।

लिग विधान तथा वचनविधान सामान्यतः हिन्दीकी तरह हैं। बोलियोंमें सर्वनाम महत्त्व रखते हैं। ३.५ के अन्तर्गत सर्वनाम-पदको छह वर्गोंमें विभाजित किया गया है (पृ. १४६-१६६)। मध्यम पुरुष एकवचन तू—तूँ के जो विकारी रूप निर्मित होते हैं उनके मूलमें ००त—, ००तुज—, ००तुह—, ००ते—, ००तुद्ध—, ००तू—तूँ। रूप विभिन्न कारकोंमें होता है। इसी प्रकार अन्य सर्वनाम रूपोंके मूलरूप निर्धारित किये गये हैं। ३.६ के अन्तर्गत विशेष पद (पृ. १६६) [शुद्ध विशेषण पद] का विवेचन (पृ. १६६-१८५) किया गया है। विशेषण पदके उपवर्गोंकी तालिका (पृ. १६७) दी गयी है। विकारीको तीन उपवर्गोंमें तथा अविकारीको मात्र एक उपवर्गमें रखा गया है। हिन्दीके संख्यावाचक विशेषण पद तत्सम रूपोंसे विकसित हुए हैं। बोलियोंमें ये रूप और भी अपनी पहचान लिये हुए होते हैं। यह अध्ययन प्रशंसनीय रूपमें प्रस्तुत किया गया है। इस आधारपर कम-से-कम हिमाचलकी अन्य बोलियोंके विशेषण (संख्यावाचक) विश्लेषित कर तुलनात्मक चार्टके रूपमें प्रस्तुत किये जा सकते हैं फिर एकरूपताकी दिशामें पग उठाया जा सकता है। आज अंग्रेजीके संख्यावाचक जिस तेजीसे भारतीय भाषाओंमें घुसपैठ करते जा रहे हैं उसके पीछे कारणोंकी खोज होनी चाहिये।

इस अध्यायका महत्त्वपूर्ण अंश ‘क्रियापद’ (पृ. १८५-२३६) विवेचन है। रूपस्वनिमित्त आधारपर सकर्मक-अकर्मक धातुओंके रूप दिये गये हैं। यौगिक धातुएं भेद-उपभेदोंके साथ दी गयी हैं। ३.८ के अन्तर्गत ‘पक्ष’ को भली प्रकार विश्लेषित किया गया है। ३-९ में ‘मूडज’ प्रकारको प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतः ‘अर्थ’ का प्रयोग किया जाता है, पता नहीं क्यों शोधार्थी ने सर्वथा नवीन शब्दका प्रयोग कर दिया है। जब कोई पारिभाषिक शब्द प्रयोगमें रूढ़ होजाये तो उसको बार-बार बदलना ठीक नहीं है फिर उसके वर्गोंमें सर्वत्र अर्थ—निश्चयार्थक, वर्तमान, अपूर्ण वर्तमान, अभ्यासित आदि, अनिश्चयार्थका प्रयोग किया गया है। ‘प्रकार’के उपवर्ग चार्ट रूपमें पृ. २१२ पर प्रस्तुत किये गये हैं। ‘क्रियापद’का विवेचन वैज्ञानिक आधारपर किया गया है। आधार रूपमें गुरुजीकी ‘व्याकरण’, डॉ. आर्येन्द्र शर्माकी ‘बेसिक व्याकरण’ तथा डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तवका इस दिशामें व्यापक चिन्तन लिया गया है।



धातु रूपसे भावार्थके मंजा तथा कृदन्त विशेषण किन-  
किन प्रत्ययोंके योगसे निर्मित होते हैं उनका विश्लेषण-  
विवेचन (पृ. २३६-२४४) प्रस्तुत किया गया है।

संयुक्त क्रियाओंके विवेचनमें और अधिक गहराई  
अपेक्षित थी। हिन्दीकी संयुक्त क्रियाओंपर इधर देश-  
विदेशमें आठ-दस शोध-कार्य सम्पन्न हो चुके हैं। सर्वा-  
धिक नूतन मांडलपर डॉ. शिवेन्द्रकिशोर वर्माका प्रका-  
शित है। पता नहीं कैसे शोधार्थीसे ये कार्य ओझल  
रहे। भविष्यमें इस दिशामें कार्यको आगे बढ़ाया जा  
सकता है।

३-१५ में युक्त-पद (क्लीटिक्स) पर विवेचन है  
जिसको तीन वर्गों—पूर्वा-श्रयी, मध्य-श्रयी पश्चा-श्रयी  
(पृ. २५३) में विभाजित किया गया है। पता नहीं किस  
प्रकार शोधार्थीने '—श्रयी' को निकाल लिया। यही  
शब्द 'मध्यश्रयी' (पृ. २५५) भी लिख दिया गया है। डॉ.  
शर्माको अंग्रेजीके पारिभाषिक शब्दोंसे विशेष लगाव  
है और सर्वत्र पूरे ग्रन्थमें उनको महत्त्व दिया गया है  
और हिन्दीकी शब्दावली गढ़कर लिख दी गयी है। जब  
इतना महत्त्व दिया गया तो इस शब्दावलीकी सूची  
प्रारम्भमें अथवा परिशिष्टमें प्रस्तुत करनी थी। 'मध्या-  
श्रयी'को दो उपवर्गों—अवधारक तथा संयोजक—में  
बांटा गया है। जो यहाँ 'अवधारक' है (पृ. २५५-५६)  
वही वाक्य विन्यासमें ४.१.४ में 'परिबाधक' (पृ. २७३)  
है जबकि अधिकांश भाषाविद् 'निपात' स्वीकार करते हैं।  
लेखकने इससे अन्तर भी पृ. २७५ पर स्पष्ट किया है।  
जबतक नितान्त आवश्यकता न हो पूर्वस्वीकृत शब्द  
को इस प्रकार अस्वीकार नहीं करना चाहिये। हिन्दी  
के प्रयोगमें यह प्रवृत्ति अत्यधिक बाधक सिद्ध हो रही  
है। वाक्य विन्यासके अन्तर्गत निर्धारित, अनिर्धारित  
आदि नियमोंको लेकर विचार किया गया है। 'निर्धा-  
रित'में निर्धारित, संकेतक, निर्देशक, समुदायवाचक,  
परिबाधक, परिमाणकके घटकोंके वाक्य प्रयोगके नियमों  
को लेकर विचार किया गया है। यह अध्याय (पृ. २६१-  
३०३) और अधिक विस्तारमें लिखना था पर शोधार्थी  
की सीमा थी अतएव संक्षेपमें प्रस्तुत किया गया।

आशा है, भविष्यमें डॉ. शर्मा जहाँ 'तान' (टोन  
पर विस्तारसे विचार करेंगे, वहाँ वाक्य-विन्यासको  
और अधिक गहराईमें विश्लेषित करेंगे, ऐसे आदर्श  
शोधकार्यके लिए डॉ. शर्मा बधाईके पात्र हैं। ऐसे जटिल  
तथा वैज्ञानिक शोधकार्यको प्रकाशित रूपमें उपलब्ध

'प्रकर'—अगस्त १०—२६

करानेके लिए प्रकाशक 'शब्द और शब्द' को भी हार्दिक  
बधाइयाँ, अन्यथा ऐसे शोधकार्य विश्वविद्यालयोंकी  
अलमारीमें ही बन्द रह जाते हैं। □

## छत्तीसगढ़ी और पश्चिमी उड़ीसाकी उड़ियाका रूपग्राहिक अध्ययन?

लेखक : डॉ. लक्ष्मणप्रसाद नायक

समीक्षक : डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल

हिन्दीकी प्रायः सभी बोलियोंपर संरचनात्मक  
भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे कार्य हो चुका है। इस प्रकारके  
कार्यकी प्रवृत्ति अब समाप्तप्राय है। परन्तु बोलियोंका  
तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययनका प्रयास अद्यावधि  
अत्यल्प ही हुआ है। तुलनात्मक भाषाविज्ञानकी परिधि  
में आनेवाले समीक्ष्य प्रबन्धका महत्त्वार्थ यहीसे हो  
जाता है कि इसमें दो उपभाषाओंकी रूप-संरचनाका  
तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। समीक्ष्य प्रबन्ध  
की परिधिमें आनेवाला मात्र एक शोधकार्य अबतक  
देवनेमें आया है वह है—“छत्तीसगढ़ी और उड़ियामें  
साम्य और वैषम्य तथा छत्तीसगढ़ीमें उड़िया तत्त्व  
(अप्रकाशित शोध प्रबन्ध—ध्रुवकुमार वर्मा, रविशंकर  
वि. वि. रायपुर, १९७७, पृष्ठ १९७ पर उद्धृत)।  
इस प्रकार प्रकृत प्रबन्ध इस दिशामें किया गया एक  
अभिनव एवं सफल प्रयास कहा जायेगा।

संपूर्ण ग्रंथ एक संक्षिप्त भूमिका (ix—xii) के  
साथ कुल पांच अध्यायोंमें विभक्त है।

प्रथम अध्याय “अध्ययन क्षेत्र” के अंतर्गत भौगो-  
लिक परिसीमा, प्राकृतिक विशेषता, जनजीवन, धार्मिक  
आस्था और विश्वास, राजनीतिक इतिहास, भाषा  
साहित्य और साहित्यकार। यह विवेचन वर्णनात्मक  
होते हुए भी प्रमाण-पुष्ट एवं सुव्यवस्थित है। भाषिक  
अध्ययनसे यद्यपि इस प्रकारकी सूचनाओंका सीधे  
संबंध नहीं होता फिर भी पीठिकाके रूपमें इन सबको  
देनेकी परम्परा रही है; जिसका पालन यहां भी किया गया  
है। अब जो शोधकी वैज्ञानिक दृष्टि है उसके अनुसार  
विवेचन सीधे विषयसे प्रारंभ होना उचित माना जाता  
है।

१. प्रका. : अनु प्रकाशन, शिवाजी मार्ग, मेरठ (उ. प्र.)  
पृष्ठ : २०४; डिमा. ८६; मूल्य : ८०.०० रु।



दूसरा अध्याय—“अध्ययन क्षेत्रकी प्रमुख उप-  
बोलियाँ एवं उनका तुलनात्मक विवेचन” में शोधगत  
सीमाओंमें आगत आर्यसमुदाय एवं आदिम जनजाति  
समुदायकी पांच उपबोलियोंका व्याकरणिक दृष्टिसे तुल-  
नात्मक विवेचन किया गया है। ये तुलनीय बोलियाँ हैं—  
हलवी, भतरी, भूलिया, आगरिया एवं सदरी। यह  
तुलनात्मक विवेचन व्याकरणिक स्तरपर किया गया है,  
लिग, वचन, कारक, क्रियापद, काल, क्रिया-विशेषण  
अव्यय आदिके आधारपर। इन्हीं आधारभूमियोंपर शेष  
चार उपबोलियोंकी भी तुलना की गयी है। यह विवेचन  
स्पष्ट होते हुएभी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कारण कि  
इसमें तुलनाका कोई स्पष्ट आधार नहीं ग्रहण किया  
गया। या तो तुलना वाग्भाग (आठों शब्द भेदों) के  
आधारपर की जाती या व्याकरणिक कोटियों—लिग,  
वचन, कारक, पुरुष, काल, वृत्ति, पक्ष और वाच्यके  
आधारपर। हिंदीमें कारकके दो भेद मूल (सरल)  
विकृत (तिर्यक्) माने गये हैं। कुछ विद्वानोंने संशोधनको  
भी कारक स्वीकार किया है। किन्तु, हिन्दीकी कारकीय  
संरचनाके साथ लेखकका मूलरूप, विकृत रूप तो ठीक  
है परन्तु संबंध कारकको जोड़ना समीचीन नहीं है।  
यहाँ ‘संशोधन’ कारकका प्रयोग किया जाना चाहिये  
नहीं तो संस्कृतके आठों कारकीय रूपोंके आधारपर  
विवेचन किया जाता तो संबंध कारकका औचित्य रहता।  
हमारे यहाँ इस प्रकारके लेखनमें भ्रमवश संस्कृत और  
हिन्दी दोनोंको मिलाकर विवेचन करनेकी गतानुगति-  
कता चल पड़ी है, हिन्दी और संस्कृत दो भिन्न  
भाषाएँ हैं, दोनोंकी संरचना पृथक्-पृथक् है। इसलिए  
किसीभी एक आधारको स्पष्ट रूपसे मानकर विवे-  
चन करना चाहिये। अध्यायके अंतमें संज्ञा एवं सर्व-  
नामों एवं क्रियापदोंकी तालिकाके रूपमें प्रस्तुति सराह-  
नीय एवं वैज्ञानिक है। कुल मिलाकर विवेचन अदोष  
है। मात्र प्रक्रिया दोषपूर्ण, अस्पष्ट एवं संदिग्ध है।

तीसरे अध्याय “छत्तीसगढ़ीका रूपग्रामिक अध्य-  
यन” के अंतर्गत लेखकने रूपग्रामिक विश्लेषणके पूर्व  
छत्तीसगढ़ीकी उत्पत्ति और विकास, अर्धमागधी एवं  
छत्तीसगढ़ी एवं छत्तीसगढ़ी साहित्यका विवेचन किया  
है। छत्तीसगढ़ीका रूपग्रामिक विश्लेषणवाले अध्यायके  
साथ इतनी अनपेक्षित पीठिका देनेका कोई औचित्य  
प्रतीत नहीं होता। ये सब तथ्य अध्याय एक और दोमें  
समाहित किये जाते तो अधिक उचित होता। कुछ तथ्य

तो पूर्वके अध्यायोंमें दिये भी हैं। जैसे साहित्य और  
साहित्यकारका विवेचन अध्याय एक (च) के अंतर्गत  
किया जा चुका है।

हिंदीमें रूपग्रामिक विश्लेषणपर तीन महत्त्वपूर्ण कार्य  
हुए हैं। एक है डॉ. महावीरसरन जैनका—परिनिष्ठित  
हिंदीका रूपग्रामिक विश्लेषण, दूसरा है डॉ. लक्ष्मण  
प्रसाद सिन्हाका—हिन्दी एवं मगहीका रूपग्रामिक  
विश्लेषण। तीसरा है—डॉ. महेशचन्द्र गर्गका हिंदीका  
रूपग्रामिक विश्लेषण। तीनों कार्य एक सुनियोजित  
माडलके आधारपर हुए हैं। अच्छा होता कि लेखक इनमें  
से किसी एक प्रकारसे अपने कार्यको संपन्न करता।  
फिरभी संस्कृतकी कारकीय संरचनाके आधारपर छत्तीस-  
गढ़ीका जो रूपग्रामिक अध्ययन किया गया है वह सराह-  
नीय है।

चौथे अध्याय “पश्चिम उड़ीसाकी उड़ियाका रूप-  
ग्रामिक अध्ययन” में पूर्वके अध्यायकी भांति उड़ियाके  
रूपग्रामिक विश्लेषणके पूर्व १०-१२ पृष्ठोंकी पूर्व-  
पीठिका दी गयी है। इसका भी समायोजन प्रारंभिक  
दो अध्यायोंमें हो जाना चाहिये था। शेष विवेचन अपे-  
क्षित विस्तारके साथ संस्कृतकी कारकीय प्रणालीके  
आधारपर किया गया है। यह विवेचन उड़ियाकी रूप  
ग्रामिक विशेषताओंको स्पष्ट करनेमें पूर्ण सक्षम सिद्ध  
हुआ है।

पांचवां अध्याय “छत्तीसगढ़ी और पश्चिम उड़ीसा  
की उड़ियाका तुलनात्मक अध्ययन” के अंतर्गत छत्तीसगढ़ी  
और पश्चिम उड़ीसाकी उड़ियाकी पीठिका और दोनों  
का रूपग्रामिक स्तरपर तुलनात्मक विश्लेषण किया  
गया है। यहाँभी पीठिका अनपेक्षित ही थी। फिरभी  
दोनोंके तुलनात्मक विवेचनका प्रयास स्पष्ट एवं प्रभावी  
है। वस्तुतः यह पुस्तकका केन्द्रीय अध्याय है। अतः  
इसके तुलनीय संदर्भोंको अधिक विस्तारके साथ विवे-  
चित करना अपेक्षित था।

अंतमें परिशिष्ट एकके अंतर्गत विवेच्य बोलियोंके  
मूल संदर्भों एवं उद्धरणोंको प्रस्तुत किया गया है।  
परिशिष्टमें दी गयी सामग्री अनुसंधानकी दृष्टिसे बहुत  
महत्त्वपूर्ण है। इसीके साथ संदर्भ-ग्रंथोंकी अपेक्षित  
विस्तारके साथ सूची दी गयी है।

कुल मिलाकर समीक्ष्य ग्रंथ अत्यन्त अध्यवसाय एवं  
सूक्ष्मज्ञसे लिखा गया है। इसमें संकल्पित एवं विधिवत्  
सामग्री अतिशय महत्त्वकी है। इस रूपमें ग्रंथ पठनीय  
एवं संग्रहणीय बन पड़ा है। □



## रूपसाहि और उनका 'रूपविलास'

—डॉ. रामानन्द शर्मा

रीतिकालीन काव्य-रत्नाकरमें ऐसे अनेक ग्रन्थ-रत्न हैं जो आजभी काव्य-शिक्षाके लिए उपादेय हो सकते हैं, किन्तु अध्ययन और मुद्रणके अभावमें उनका अस्तित्वही संकटमें पड़ गया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में एक है : रूपसाहि कृत 'रूपविलास'। डॉ. भगीरथ मिश्रके अनुसार 'सम्पूर्ण काव्यांगोंका अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट शैलीमें निरूपण' करनेवाला यह ग्रन्थ 'काव्यशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक' है, किन्तु साधारण आलोचनात्मक पुस्तकों की तो बातही क्या है, 'हिन्दी साहित्यका बृहत् इतिहास' (षष्ठ भाग) तक में इसका विवरण नहीं मिलता, जबकि समस्त हिन्दीभाषी क्षेत्रमें इसके अनेक हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। काव्यशास्त्रके छात्रोंके लिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है, विशेषतः 'चन्द्रालोक' के समान संक्षिप्त शैलीमें काव्यशास्त्रकी सर्वमान्य जानकारी देनेके कारण।

### कवि परिचय :

रूपसाहिका वास्तविक नाम फौजदार था, रूपसाहि साहित्यिक नाम है। यों उन्होंने अपने काव्य — कवित्त और सर्वयोंमें भी—अपना नाम कहीं नहीं दिया है, किन्तु लक्षणोंमें यत्र-तत्र पादपूत्र्यर्थ इसका उपयोग अवश्य किया है यथा 'उपपत्ति तासौ कहत कवि, रूपसाह कविनाह।' यहाँ इसका उपयोग पादपूत्र्यर्थही है। अन्तिम चरणको कवि इस रूपमें भी रख सकता था : 'जे प्रबुद्ध कविनाह।' रूपसाहि पन्नाके बागमहल नामक स्थानके रहनेवाले और श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके पिताका नाम कमलनयन, पितामहका शिवाराम तथा प्रपितामहका नारायणदास था।<sup>२</sup> इन्होंने अपने परिवारके गुणी एवं कुलीन होनेका गर्वपूर्वक उल्लेख किया है।

रूपसाहि महाराज छत्रसाल बुन्देलाके प्रपौत्र तथा

'प्रकर'—अगस्त' ६० — २८

सभासाहिके पुत्र हिन्दूपति सिंहके आश्रित कवि थे। यों तो छत्रसाल बुन्देला और उनके सभी वंशधर कवि-कलाकारोंका आश्रय देते रहे हैं किन्तु हिन्दूपति सिंह का नाम विशेषोत्प्रेक्षनीय है। 'रसकल्लोल'के रचयिता करण भट्ट तथा 'अलंकारदर्पण' के रचयिता रतन कवि भी इन्हींके आश्रयमें रहकर काव्यसाधना कर रहे थे। रूपसाहिने इन्हींके आश्रयमें रहकर सम्बत् १८१३ में 'रूपविलास' की रचना की जिसका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है।

### कृति परिचय :

'रूपविलास' चौदह विलासोंमें विभक्त लगभग ७२० छन्दोंकी रचना है जिसमें १५ सवैया, ६ कवित्त तथा १-१ छप्पय-मोहिनीके अतिरिक्त प्रायः दोहे हैं। छन्दोविवेचन के छन्दोंको इस गणनासे पृथक्ही मानना चाहिये क्योंकि वहाँ प्रायः तत्तद् छन्दोंमें ही लक्षणोदाहरण दिया गया है। आ. रामचन्द्र शुक्ल और उनके अनुकरणपर कुछ अन्य विद्वानोंने केवल दोहा छन्दके प्रयोगकी बात कही है,<sup>३</sup> जो यथार्थ नहीं है। 'रूपविलास' के अतिरिक्त उनका न कोई ग्रन्थही उपलब्ध होता है और न स्फुट छन्दही। खोजमें 'नवरस और वृत्ति' नामक हस्तलेख अवश्य मिला है जो 'रूपविलास' का ही एक अंशमात्र है।<sup>४</sup>

आचार्य-कविने ध्वनिविवेचनको छोड़कर प्रायः

### संदर्भ ग्रन्थ :

१. डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्रका इतिहास, पृ. १४५।
२. रूपसाहि : रूपविलास, १/३-५।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ३२३।
४. डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज सर्वेक्षण, पृष्ठ ६५३।



सभी काव्यांगोंका विवेचन किया है। उसने ग्रन्थारम्भमें विषयवस्तुको स्वयंही स्पष्ट कर दिया है :

कविता-लच्छन प्रथम कहि, बहुरि छन्द-गन ज्ञान ।  
पीछे नायक-नायिका, पुन नवरस परवान ॥  
अलंकार दरसन बहुरि, षट्तरितु बरनत वेस ।  
पढ़ते गुनत जाके सुनत, सुख सरसात सुदेस ॥

१/६-७

प्रथम विलासमें मंगलाचरण, राजवंश और कविवंश वर्णन के पश्चात् काव्यके लक्षण, हेतु, प्रयोजन और भेद विवेचित हैं। शब्दविवेचनको भी यहां स्थान दिया गया है। यद्यपि ध्वनिविवेचनको कृतिमें स्थान नहीं दिया गया और ग्रन्थका अधिकांश भाग रस और उसके अंगों—नायिका-भेद एवं ऋतु वर्णन—को समर्पित है, लेकिन काव्यभेद ध्वनिके आधारपर किये गये हैं। द्वितीयसे चतुर्थ विलास तक छन्दो-विवेचन है जिसमें क्रमशः मात्रा छन्द, वर्ण-वृत्त और षट्प्रत्ययोंका विवेचन है। पंचमसे दशम विलास तक नायक-नायिका भेद, एकादशमें नवरस एवं वृत्ति तथा द्वादश एवं त्रयोदश विलासमें अलंकारोंका विवेचन किया गया है। चतुर्दश तथा अन्तिम विलासमें कविने ऋतुवर्णनसे सम्बद्ध छन्दोंका संकलन किया है। इन छन्दोंमें राम और कृष्ण दोनों का नामोलेख यथावसर मिल जाता है। इस प्रकार कविने काव्यरीति ही नहीं, 'कविता केसव कामिनी' तीनोंके एकत्र विवेचनका प्रयास किया है।

आचार्यत्व :

रूपसाहिके आचार्यत्वकी प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण काव्यांगोंका संक्षिप्त किन्तु निष्प्रान्त शैलीमें विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने छन्दोऽलंकार विवेचनमें तो पूर्णतः चन्द्रालोककी श्लोक-बद्ध लक्षणोदाहरण शैलीका अनुकरण किया है किन्तु रस एवं नायक-नायिका भेदमें लक्षण एवं उदाहरण स्वतन्त्र रखे हैं, तथापि संक्षिप्तता और स्पष्टता उनकी यहां उल्लेखनीय विशेषताएं रही हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थमें ऋतुवर्णनको स्वतन्त्र विलास दिया है। यद्यपि इनसे पूर्वभी ऋतुवर्णन रसनिरूपणमें उद्दी-पनके अन्तर्गत उपलब्ध होता है किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थमें स्वतन्त्र विलास मिलना मौलिक अवश्य है। काव्यशास्त्रोत्तर ग्रन्थोंमें सेनापति कृत 'कवित्त रत्नाकर' से एक तरंग ऋतुवर्णनको प्राप्त हुई है। बहुत सम्भव

है, रूपसाहि सेनापतिसे प्रेरित एवं प्रभावित रहे हों। 'रूपविलास'में मौलिकता या नवीनता खोजनेका प्रयास निरर्थक ही होगा क्योंकि सर्वमान्य तथ्योंकी सरस एवं प्रेषणीय अभिव्यक्तिही कविको इष्ट रही है और उसे इसमें सफलताभी मिली है।

(क) काव्यशास्त्रीय प्रारम्भिका : रूपसाहिने मंगलाचरण, राज एवं कविवंश वर्णन, वस्तुनिर्देश तथा रचनाकालके पश्चात् काव्यशास्त्रके प्रारम्भिक विषयों—काव्यके लक्षण, प्रयोजन, हेतु, शब्द विवेचन और काव्यभेद—पर प्रकाश डाला है। उन्होंने काव्यके तीन लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम लक्षण आचार्य मम्मटका है जिसमें दोषरहित, गुण सहित और अनलंकृत शब्दार्थ को काव्य कहा गया है। द्वितीय लक्षणको नवीन कवि-मत कहा गया है जो स्पष्टतः हिन्दी आचार्य कवियों—विशेषतः सूरति मिश्र और सोमनाथके—निकट है। इसमें सरस, अलंकृत, गुणसम्पन्न, दोष-रहित, रीतिमय और सुवृत्त सम्पन्न शब्दार्थको काव्य कहा गया है। तृतीय लक्षण स्वयं रूपसाहिका है जो न केवल उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न, बल्कि चमत्कार संपन्न एवं विलक्षण शब्दार्थको काव्य कहते हैं। उन्होंने काव्यके छः प्रयोजन स्वीकारे हैं जिनमें अनिष्ट निवारण, व्यवहारज्ञान, धनप्राप्ति और यश प्रमुख तथा काव्यानन्द एवं कान्तासम्मितोपदेश गौण हैं। उन्होंने पूर्व संस्कार (शक्ति), विद्या (निपुणता) और अभ्यासको काव्य हेतु माना है। वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्दोंके संक्षिप्त विवेचनके पश्चात् उन्होंने ध्वनिके आधारपर काव्यभेद दिखाये हैं। उक्त सम्पूर्ण विवेचन मम्मटके आधारपर है, केवल काव्यलक्षण अपवाद है जहां रूपसाहिने न केवल रीतिकालीन आचार्य कवियोंके अध्ययनको प्रमाणित किया है, बल्कि मौलिकताका प्रयासभी किया है। ध्वनिविवेचन न करते हुए भी ध्वनिके आधारपर काव्यभेद प्रस्तुत करना संस्कृत काव्यशास्त्रका अविवेकपूर्ण अनुकरणही कहा जायेगा जिससे रूपसाहिही नहीं, कई आचार्य कवि अपनेको नहीं बचा सके हैं।

(ख) छन्दोविवेचन : काव्यशास्त्रीय कृतियोंमें छन्दो-विवेचन रीतिकालीन आचार्यत्वकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। संस्कृत या प्राकृतके किसीभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थमें छन्दोविवेचन उपलब्ध नहीं होता। रूपसाहिसे पूर्व देव ने 'शब्दरसायन' और सोमनाथने 'रसपीयूषनिधि' में छन्दोविवेचन प्रस्तुत किया है। परवर्ती कवियोंमें ग्वाल



और भानुने इस परम्पराका परिपालन किया है।

रूपसाहिने तीन विलासोंमें छन्दोविवेचन प्रस्तुत किया है। द्वितीय विलासमें लघु-गुरु-निर्देशके पश्चात् ४१ मात्रा छन्दोंका विवेचन किया गया है जिनमें दोहा, सोरठा, चौपाई, रोला, बरनै, गाथा, छप्पय, अरिल्ल, कुण्डली, आभीर, त्रिभंगी, मदनहरा, हरिगीतिका, पद्धरी आदि सभी प्रमुख छन्द आ गये हैं। तृतीय विलास में गण-विवेचनके उपरान्त एक सौ वर्णवृत्तोंका विवेचन किया गया है। यहाँ तीन वर्णोंवाले छन्दोंसे प्रारम्भकर बाईस वर्णोंवाले स्रग्धरा तकका विवेचन किया गया है। इनके पश्चात् सवैया, दण्डक और घनाक्षरीका विवेचन है। जिससे स्पष्ट है कि आचार्य-कविने हिन्दीके छन्दोंकी प्रकृतिको पहचाननेका प्रयास किया है। चतुर्थ विलासमें नष्ट, उद्दिष्ट, मेरु, पताका और मर्कटीका विवेचन किया गया है जिसे छन्दःशास्त्रीय गणित कहा जाता है। प्रस्तारका विवेचन मात्राछन्दोंके साथ आ गया है।

संक्षिप्त छन्दःशास्त्रीय ज्ञानकी दृष्टिसे यह विवेचन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आचार्य कविने न केवल सभी प्रमुख छन्दोंका विवेचन प्रस्तुत कर दिया है, बल्कि छन्दःशास्त्रीय गणितका भी भावपूर्ण विवेचन किया है लेकिन इसे रूपसाहि अधिक सुन्दरभी बना सकते थे। विवेचनगत कुछ ऐसी दुर्बलताएँ भी हैं जो केवल रूपसाहिमें ही नहीं बल्कि अन्य रीतिकालीन छन्दोविवेचक ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती हैं, यथा वर्णवृत्तोंमें मात्रिक गणोंका प्रयोग, सर्वमान्य गण प्रणालीसे भिन्न स्वरूपकी स्वीकृति आदि। रूपसाहिने एकही छन्दमें लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है जो छन्दोविवेचनमें सफल नहीं रहा है। कमसे कम उदाहरणरूप काव्यसे तो साहित्य वंचित ही हो गया है। बड़े-बड़े छन्दोंके तो दो ही चरण दे दिये गये हैं जो स्वरूप निर्धारणमें सहायक नहीं होते। घनाक्षरीके नामसे वर्णित रूपघनाक्षरीका उनका लक्षणोदाहरण इस प्रकार है :

आठ आठ आठपर तीन विसराम वर,  
कहत कवित्त कर आठ पर फेर होय ।  
जानियै घनाक्षरीह बीस बारा अक्षरह  
बरनत साक्षरह कवि-कुल सब कोय ॥

३/१२२

रूपघनाक्षरीका, घनाक्षरी नामसे विवेचन तो अन्य छन्द-शास्त्रीय ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध हो जाता है किन्तु रूपसाहिके उदाहरणमें तो दो ही चरण हैं, चार नहीं।

‘प्रकर’—अगस्त’६०—३०

लक्षण मात्रकी विवेचना होनेसे नवशिक्षित व्यक्ति यह कैसे जान सकेगा कि घनाक्षरीमें चार चरण होते हैं। वह तो दो चरणोंकी चार पंक्तियोंको ही पूर्ण छन्द समझेगा। षट्प्रत्ययमें केवल पांचका विवेचन किया गया है। प्रस्तारका विवेचन, षट्प्रत्ययका अंग होनेके कारण, वहीं होना चाहिये था, मात्रा-छन्दोंमें नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि छन्दःशास्त्रीय गणित पहले विवेचित हो।

(ग) नायक नायिका भेद : ‘रूपविलास’ का प्रमुख विषय नायिका भेद ही है। इसे रूपसाहिने छः विलास—पंचमसे दशम तक—प्रदान किये हैं। इनमें पंचममें नायक और दशमसे सखिदूतिकाओंका विवेचन है, शेष विलास नायिका-भेदके लिए समर्पित हैं।

रूपसाहिने नायकके तीन भेद—पति, उपपति और वैशिक—करके प्रत्येकका चतुर्धा विभाजन स्वीकारा है : अनुकूल, दक्षिण शठ और धृष्ट। वे शठके दो भेद—चतुर और मानी—भी मानते हैं। उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम भेद केवल वैशिकके ही माने हैं और पत्यादि के प्रोषितपति रूपभी स्वीकारे हैं—यही उनकी नवीनता कड़ी जा सकती है। सहायकोंका संक्षिप्त उल्लेख है।

रूपसाहिका नायिका भेद संक्षिप्त किन्तु भावपूर्ण है। वे दर्शन मात्रसे रतिभाव जागृत करनेमें समर्थ नारी को नायिका कहते हैं। वे सर्वप्रथम पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनीका उल्लेख करते हैं। तत्पश्चात् धर्मानुसार स्वकीया, परकीया और सामान्याका विवेचन करते हैं, मुग्धाके अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा और विश्रब्धनवोढा तथा प्रौढाके रतिप्रीता और आनन्द रस सम्मोहिता भेदोंका विवेचन करते हैं। इसके पश्चात् घीरादि तथा ज्येष्ठा-कनिष्ठाका उल्लेख करते हुए वे परकीयाके ऊढ़ा-अनूढ़ाके अतिरिक्त गुप्ता, विदग्धा, अनुशयाता, लक्षिता, कुलटा और मुदिताका विवेचन करते हैं। सामान्याके पश्चात् अन्यसुरति दुःखिता, मानवती और गविताका विवेचन किया गया है। अवस्थानुसार नायिकाओंकी विवेचना सम नाम से की गयी है जो नवीन अवश्य है। गुणानुसार नायिकाओंका उल्लेख करते हुए सखिदूतिकाओंका संक्षिप्त विवेचन कर यह प्रकरण पूर्ण किया गया है।

यद्यपि रूपसाहिका नायिका भेद अत्यन्त व्यवस्थित एवं भावपूर्ण है लेकिन उसमें कुछ न्यूनताएँ रह गयी हैं। उन्होंने इस प्रकरणको छः विलास दिये हैं लेकिन विषय-विभाजन तोषप्रद नहीं हुआ है। पंचम विलासमें



नायक और उसके सहायक तथा पृष्ठ विलासमें जात्य-  
नुसार नायिकाओंको लिया गया है। सप्तम विलासमें  
वयसके अन्तर्गत स्वकीया तथा अष्टममें धीरादि  
ज्येष्ठ-कनिष्ठा, परकीया सामान्य तथा गर्वितादिको।  
इनमें धीरादि तथा ज्येष्ठा कनिष्ठा तो स्वकीयाके  
ही अन्तर्गत आने चाहिये थे। अवस्थानुसार नायिकाओं  
को स्वतन्त्र विलास देना तो युक्तिसंगत है लेकिन  
गुणानुसार नायिकाओंको सखिदूतिका में डाल देना  
युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। विभाजन व्यवस्थित  
न होनेसे विलासोंका नामकरण भी गड़बड़ा गया है।  
नायिका भेदमें संक्षिप्त लक्षणोदाहरण शैलीका भी  
परित्याग दिखायी देता है। यहां कविने लक्षण और  
उदाहरण दोनोंको स्वतन्त्र छन्द प्रदान किये हैं, फलतः  
लक्षणवाले दोहोंमें पादपूर्त्यर्थ भरतीके शब्द रखने पड़े  
हैं। यथा :

अपने पति सौं केलि को, सकल कलान प्रवीन ।  
प्रौढा मुकिया कहत कवि, जे रसग्रन्थन लीन ॥ ७/१६  
स्पष्टतः दोहेके द्वितीय दलमें भरतीके शब्द हैं। नवम  
विलासमें तो रूपसाहिने विस्तारके लिए कमर कस ली  
है। वहाँ पहले आठ दोहोंमें अवस्थानुसार नायिकाओं  
के लक्षण देकर ५८ दोहोंमें उनके मात्र उदाहरण  
प्रस्तुत किये हैं जो श्लोकबद्ध लक्षणोदाहरण शैलीके एक-  
दम विरुद्ध हैं। इन कुछ न्यूनताओंके उपरान्तभी रूप-  
साहिका यह विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित एवं सारपूर्ण  
है। इसका आधार भानुदत्त मिश्रही रहा है लेकिन  
रूपसाहिने विषयको जिस संक्षिप्त, निभ्रान्त एवं सरस  
रूपमें प्रस्तुत किया है, वह प्रशंसनीय अवश्य है।  
कदाचित् सरसता-वृद्धिके लिए ही उन्होंने संक्षिप्त  
शैलीका त्यागकर विस्तार—उदाहरण बाहुल्य—स्वी-  
कारा है।

(घ) रसविवेचन : 'रूपविलास' का एकादश  
विलास नवरस एवं वृत्ति विवेचनको समर्पित है। रूप-  
साहिने रसको परिभाषित करते हुए भानुदत्तकृत भेदों  
—स्वात्मिक, मातोरर्थक और औपनायिक—का  
उल्लेख किया है। तदुपरान्त नवरसोंका संक्षिप्त स्वरूप  
—स्थायी, विभाव, अनुभाव, संचारी, वर्ण एवं देवता  
—स्पष्ट करते हुए उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।  
उन्होंने संयोग शृंगारके अन्तर्गत दम हावों तथा वियोग  
के अन्तर्गत दश कामदशाओंका भी विवेचन किया है।  
अन्तमें रसोंका कैशिकी आदि वृत्तियोंसे सम्बन्ध

दिखाया गया है।

रूपसाहिका रसनिर्माण संक्षिप्त एवं स्वच्छ है  
किन्तु उसमें कुछ आवश्यक बातें छूट गयी हैं। आचार्य  
कविने रसकी परिभाषा और भेदोंपर तो प्रकाश डाला  
है किन्तु रसावयवोंको विस्मृत कर दिया है। सर्वांग-  
विवेचक ग्रन्थमें तो भावशबलता आदिका भी विवेचन  
अपेक्षित है। उनके रसविवेचनपर भानुदत्तका  
प्रभाव है। हास्य भेद केशवसे लिये गये हैं जिससे स्पष्ट  
है कि उन्होंने पूर्ववर्ती रीति कवियोंका भी अध्ययन  
किया है।

(ङ) अलंकारविवेचन : 'रूपविलास' के द्वादश  
एवं त्रयोदश विलास अलंकारविवेचनसे सम्बद्ध हैं।  
यहांभी अनेक रीतिकालीन आलंकारिकोंके समान  
पहले 'अर्थालंकारोंका विवेचन मिलता है, तदुपरान्त  
शब्दालंकारोंका, जिन्हें रूपसाहिने वर्णालंकार कहा है।

शब्दालंकारोंके अन्तर्गत रूपसाहिने केवल अनुप्रास  
और चित्रका विवेचन किया है। अनुप्रासके चार भेदों के  
ही लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये हैं : वृत्ति, छेक, अस्फुट  
और लाट। चित्रका विवेचन अत्यन्त विस्तृत है। भिन्नार्थ  
गतागत, अभिन्नार्थ गतागत, व्यस्तसमस्त, अन्तर्लापिका,  
बहिर्लापिका, मन्त्रीगति, अश्वगति, चरणगुप्त, पर्वत-  
हार-सर्वतोमुख-धनुष-कमल-छत्र-खड्गादि बन्धोंका  
सचित्र विवेचन यहाँ उपलब्ध होता है। वस्तुतः चित्र-  
चमत्कार रीतियुगीन प्रवृत्तिके अनुकूल पड़ता है,  
अतएव उसका सविस्तर विश्लेषण स्वाभाविक है।  
शब्दालंकारोंमें यमकका अभाव अवश्य खटकता है,  
श्लेष और वक्रोक्ति तो अर्थालंकारोंमें स्थान पा गये हैं।

अर्थालंकारोंमें ६६ प्रमुख अलंकारोंका विवेचन  
किया गया है। उन्होंने अर्थान्तरन्यास, प्रतिवस्तूपमा,  
निदर्शना, असंगति, परिसंख्या और काव्य-लिंग जैसे  
प्रमुख अलंकारोंको तो पूर्णतः छोड़ दिया है, शेषके भेदों  
में भी काफी कटौती कर दी है। रूपक, श्लेष, तुल्य-  
योगिता, आक्षेप, पूर्वरूप आदिके भेदोंका उल्लेख ही  
नहीं किया है। अर्थालंकारोंका चयन और क्रम किसी  
सुविचारित आधारपर नहीं पड़ता। उभयालंकारोंका  
रूपसाहिने न वहीं उल्लेख किया है और न विवेचन ही।  
शास्त्रीय दृष्टिसे इसे त्रुटिपूर्ण ही कहा जायेगा।

रूपसाहिके अलंकार विवेचनमें वैज्ञानिकता एवं  
पूर्णताका अभाव अवश्य है किन्तु उनके विवेचनकी  
सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है शैली। यहां उन्होंने जय-



देवकी श्लोकवद्ध लक्षणोदाहरण शैलीका पूर्णतः अनुकरण किया है, परिणामतः काव्यशास्त्रके अध्येताओंके लिए यह अंश महत्त्वपूर्ण बन गया है। उनकी शैलीके दर्शन यथासंख्यके लक्षणोदाहरणसे हो जाते हैं :

क्रम कन सौ क्रम कौं कहौ, जथासंख्य सो आय ।

बैन नैन मुख लपि लजत, पिक पंकज दुजराय ॥

१२/६२

(च) ऋतुवर्णन : चतुर्दश एवं अन्तिम विलास में ऋतुवर्णनके अन्तर्गत बारह महीनोंपर कवित्त-सवैयाओं में १५ छन्द प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि ऋतुवर्णन स्वतन्त्र रूपसे काव्यशास्त्रका अंग नहीं है, वह उद्दीपन विभावके ही अन्तर्गत आ सकता है और चूंकि रूपसाहि ने रसावयवोंका विवेचन ही नहीं किया है तो उसके अस्तित्वकी सम्भावना भी समाप्त हो जाती है, तथापि आलम्बनका अंग होकर भी नखशिख और उद्दीपनका अंग होकर ऋतुवर्णन, रीतिकालीन काव्यमें, स्वतन्त्रसे हो चले थे और उनपर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। 'नखशिख' की रीतिकालमें समृद्ध परम्परा प्राप्त होती है। ऋतुवर्णनको स्वतन्त्र विलासमें स्थान देना भी ऐसा ही प्रयास कहा जा सकता है। उनके ऋतुवर्णनकी प्रमुख विशेषता है कि यहां ऋतुमूलक विलासिताही चित्रित नहीं की गयी है, बल्कि परिवर्तित प्रकृतिके चित्रों एवं तज्जन्य उल्लासोंको भी व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है। यही कारण है कि उनके प्रकृति-चित्र रम्य एवं भव्य बन पड़े हैं। चैत्र मासकी वासन्ती प्रकृतिका उल्लास-मय चित्र दर्शनीय है :

वृक्षन बेली चढ़ी कर चोप अली-अलिनी मधु पी  
मुदकारी ।

कोकिल-सारिका-कीर-कपोत करैं धुनि माधुरी  
काननचारी ।

फूले सबै बन-बाग-तड़ाग भरे अनुराग पिया अरु  
प्यारी ।

चैत्रमें चार बिहार करैं दसरथ-कुमार विदेह-  
कुमारी ॥ १४/१

कवित्व :

कवित्वकी दृष्टिसे रूपसाहि सफल रहे हैं। रीति-युगीन चमत्कार-प्रदर्शन उनके काव्यमें नहीं मिलता। उनमें न कल्पना-वैभवकी अतिशयता है और न आलंकारिताका मिथ्या व्यामोह, बल्कि वे कथ्यको सीधी-सरल भाषामें सहजतासे व्यक्त करनेके पक्षधर रहे हैं।

'प्रकर'—अगस्त'६०—३२

यही कारण है कि बहुत उच्चकोटिके छन्द उनमें भले ही न मिलते हो लेकिन रीतिकवियों जैसी असफलता भी कहीं नहीं मिलती। वस्तुतः वे वस्तु या कथ्यकी नैसर्गिक अभिव्यक्तिमें विश्वास करते हैं, अलंकारादिको भी अभिव्यंजनाका सहायक मात्र मानते हैं।

रूपसाहि की भाषा संस्कृतगमित ब्रजभाषा है। उन्होंने शब्दावली संस्कृत या उससे उससे उत्पन्न शब्दों से ही ली है। उनके काव्यमें बहुश्रुत, निचोल, निशीथ, मृगमद, श्रमबिन्दु, कुवलयबंध, कुसुमेश, श्यामा-श्याम जैसे शब्द स्थल-स्थलपर मिल जाते हैं। उनकी भाषामें बुन्देलखण्डीका पुट होना तो स्वाभाविक ही है। जहना (छोड़ना), मचना (कैलना या प्रारम्भ होना), मरु (कठिनतासे) जैसे शब्द बुन्देलखण्डी संस्पर्शको स्पष्ट कर देते हैं। उनकी भाषाकी एक विशेषता यह है कि विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीमें होनेपर भी उनकी भाषा में अरबी-फारसीके शब्दोंका प्रायः अभाव है। हां, कुछ शब्दोंमें अत्यधिक तोड़-मरोड़ अवश्य दिखायी देती है और कुछ स्थलोंपर तो यह विकृति शब्दोंको अपरिचित-सा बना देती है यथा परिक्रिया (परकीया), बहुत (विहृत), कलतरन (कलत्र) आदि।

रूपसाहिने अलंकारोंका विवेचन अवश्य किया है, फिर भी अपनी कविताको उनके दुर्बल भागसे आक्रान्त नहीं होने दिया है। अलंकारोंका अल्प संस्पर्श उनकी कविता-कागिनीकी सहज शोभाको द्विगुणित अवश्य करता है, बोझिल नहीं बनाता। उनके यमकभी सायास नहीं, सहज एवं सरस दिखायी देते हैं :

१. पगन महाउर देनकी, करै महा उर आस ।
२. वासर विधि वा सरज्यौ, छंदन कौ प्रस्तार ।
३. पलकन सौं पल झार तिय, तिहि पल ये मुसकाय ।
४. मोहन जूके उर बसी, प्रिया उरबसी सोय ।

अनुप्रासके प्रयोग भी उद्बेजक नहीं लगते :

१. लजत लाज कौं और सब, तुमकौं लाज लजाय ।
२. मार-मारुन सौं मरत, करिये परस निहाल ।

रूपककी सहज शोभा भी देखते ही बनती है :

हरि-मुख-ससि के दरस कौं, राधा करत उमाह ।  
लपि चकोर तलफत फिरै, लाज-पीजरा माह ॥

छन्दोविधानमें कवि सफल रहा है। दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय, मोहिनी आदि सभी छन्द निर्दोष रहे हैं कहीं भी गति-वृत्ति दोष दिखायी नहीं देता। उनकी



कविताकी रसवत्ताको समझनेके लिए कुछ दोहे उदाहरण रूपमें प्रस्तुत हैं :  
 कुछ मधुरी मुसकान मुख, कुछ मनोज रसाल ।  
 कुछ राधा डग चपलता, लषि निहाल नंदलाल ॥  
 नैन श्रवन परसन लगे, भरे लाज मुसकान ।  
 मुरि-मुरि हंसि चितवत तिया, सुनि रीझति सुपदान ॥

वात बनावत है कहा, समुझौ सकल सयान ।  
 कुच फरकत कचुकि दरक, कंपत कढ़त जुवान ॥  
 अंतमें, साररूपमें कहाजा सकताहै कि रूपसाहि कृत 'रूपविलास' आचार्यत्व और कवित्व दोनोंही दृष्टि से स्पृहणीय कृति है । उनके आचार्यत्वमें मौलिकता या नवीनता खोजनेका प्रयास तो निरर्थक होगा क्योंकि उन्होंने कविशिक्षाको ध्यानमें रखकर काव्यशास्त्रके सर्वमान्य सिद्धांतोंकी सरल एवं सरस भाषामें, संक्षिप्त

किन्तु निश्चित ज्ञानकारी दी है । किन्तु कविशिक्षार्थी दृष्टिसे वे सफल भी रहेहैं । कवित्वकी दृष्टिसे भी वे सफल रहेहैं । उनका काव्य आलंकारिक-चमत्कार, दुरारूढ़ कल्पना या अनावश्यक शब्दाडम्बरसे सर्वथा दूर है । वे सहजानुभूतिकी सरस एवं प्रेषणीय अभिव्यक्ति के विश्वासी हैं । यही कारण है कि केशव सदृश जटिल कलात्मक वैभववाले छन्द उनमें भलेही न मिलें, लेकिन रीतिकवियों जैसी असफलताभी उनमें नहीं मिलती । आचार्यत्व और कवित्व दोनों दृष्टिसे वे सफल एवं सिद्ध रहेहैं । आवश्यकता केवल इस बातकी है कि उनकी कृति प्रकाशित हो जिससे उनका न केवल सम्यक् परीक्षण एवं मूल्यांकन होसके, बल्कि रीतिकवियोंके मध्य उन्हें उपयुक्त स्थानपर प्रतिष्ठितभी कियाजा सके जिसके भी वे अधिकारी हैं । □

## निबन्ध

### स्मृतिके नये छन्द रचनेका आग्रह?

कृति : स्मृतिच्छन्दा

लेखक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

समीक्षक : नन्दकिशोर आचार्य

"आजाद देशमें भी औपनिवेशिक मानसिकता अभी बनी हुई है । उसने जान लिया है कि भाषाको भी अपना साधन बनायाजा सकता है और भारतकी भाषायों स्थितिमें तो उसके लिए यह काम बहुतही आसान हो जाता है । जबतक हम भारतीय मानसको उपनिवेशवादके इस शिकंजेसे मुक्त नहीं करते, तबतक स्वाधीनता विशेष फलवती होनेवाली नहीं है और सांस्कृतिक क्षेत्रमें तो वह लगातार परतीको ऊसर, ऊसरको बंजर और बंजरको विस्तीर्ण मरुस्थलमें ही परिवर्तित करती जायेगी ।" (स्मृतिच्छन्दा, पृ. ५६) ।

'भाषा कला और औपनिवेशिक मानस' पर  
 १. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, नयी दिल्ली-२ पृष्ठ : १४०; डिमा ८६ ; मूल्य : ५०.०० रु. ।

विचार करते हुए लिखी गयीये पंक्तियाँ स्पष्ट कर देती हैं कि अपने कृती साहित्यकी भांति चिन्तनपरक लेखोंमें भी अज्ञेयकी केन्द्रीय चिन्ता स्वाधीनताका बोध है । 'स्मृतिच्छन्दा' के निबन्ध अज्ञेयकी स्वाधीन भारतीय मनीषा द्वारा उस औपनिवेशिक बौद्धिकतासे सार्थक टकराहटकी चरम परिणति हैं जिसके शिकंजेका जिक्र ऊपरके उद्धरणमें किया गया है । इस औपनिवेशिक मानसिकताका फलही यह है कि राजनीतिक स्वाधीनता के बावजूद हमारे सोचनेके तरीके और विषय साम्राज्यवादी बौद्धिकताके पिछलगू हैं और जाने अनजाने हम उसी मानसिकता द्वारा दीगयी भाषामें सोचनेके अभ्यस्त हो गयेहैं । अज्ञेय इस मानसिकताके उदाहरण के रूपमें 'तीसरी दुनियां पदपर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि इसके पीछे विकास और उन्नतिकी एक कसौटी

'प्रकर'—भाद्रपद २०४७—३३



काम कर रही है जो यूरोप का अतीत का ही साक्षात्कृत है। जबकि नैतिक या सांस्कृतिक दृष्टिसे उन्हें उन देशोंसे अधिक उन्नत या विकसित माननेका कोई आधार नहीं है जिन्हें वे 'तीसरी दुनियां' कहते हैं। अज्ञेय कहते हैं कि "असल सवाल सम्बन्धोंको नयी रोशनीमें देखनेका है और एक समग्र व्यापक परस्पर निर्भरता में देखनेका है। दुनियां पहली, दूसरी और तीसरी नहीं हैं, दुनियां एक है और उसका कोई हिस्सा दूसरे हिस्सों के सहारेके बिना नहीं जी सकता। और यह बात अकेले एक आर्थिक स्तरकी नहीं है। रिश्तोंमें हमें यह भी पहचानना होगा कि आर्थिक सन्तुलनभी प्राकृतिक, जैविक और सांस्कृतिक सन्तुलनोंसे अलग या उनके बिना नहीं है—कोई सन्तुलनही नहीं है जबतक कि मानवके समग्र विकास, समग्र आकांक्षा, समग्र उपलब्धि को ध्यानमें न रखा जाये।" (पृ. ४६)।

समग्रताका यह आग्रहही अज्ञेयको विकासकी एक-रेखीय अवधारणा और उसके पीछे कार्यरत इतिहास या कालके इकहरे बोधपर प्रश्नचिह्न लगानेके लिए प्रेरित करता है। और यह सवाल केवल कालबोधपर ही नहीं उससे प्रसूत जीवन दृष्टिपर भी लगता है। इतिहासकी एकरेखीय धारणामें न तो मानवेंतर प्रकृतिका मानवके उपभोग्य होनेसे अधिक कोई सम्बन्ध है और न स्वयं मानवकी ही कोई प्रासंगिकता है यदि वह इतिहासकी इस प्रेरणासे परिचालित नहीं है क्योंकि वह प्रगतिकी बजाय ह्रासकी और जानेवाला मान लिया जायेगा। लेकिन क्या कालका यह इकहरा प्रत्यय औपनिवेशिक बौद्धिकताका ही एक परिणाम नहीं है क्योंकि ऐसीभी संस्कृतियां रही हैं—और हमारा अपना समाजभी उन्हींमें से एक रहा है—जहां सब कुछ इतिहास केन्द्रित तो क्या मानव-केन्द्रित भी नहीं है। जो संस्कृति जीव-दयाका आदर्श सामने रखती है, और जिसकी जीवकी परिभाषा पशु-पक्षी, कृमि-कीटही नहीं, जीवाणुओंतक को अपने घेरेमें ले आना चाहती है, उसका भाव-जगत् और उसके रागबन्ध उस संस्कृति के व्यक्तिसे बिल्कुल भिन्न होंगे जिसके लिए मानव-जगत् शेष जीव-जगत्से बिल्कुल अलग है बल्कि इस अर्थमें उसका विरोधीभी है कि मानवेंतर सारी प्रकृति मानवकी भोग्य है, उसकी सुख-सुविधाके लिए बनायी गयी है। इसी प्रकार जो सृष्टि-विधा कृत अथवा सत-युगसे आरम्भ करती है और कल तक आती है तथा-

'प्रकर'—अगस्त '६०—३४

जो कालकी अवधारणा करती है, उसके लिए मानव-जीवन, विकास, इतिहास और स्वयं कालका ही वह अर्थ नहीं होगा जो ऐतिहासिक मनुष्यसे आरम्भ करनेवाली सृष्टि-विधाके लिए होगा।... सृष्टिकीये दो अवधारणाएं कालका ही अलग-अलग अर्थ नहीं लगाती, विकास और ह्रासकी दिशाएं भी अलग-अलग देखती हैं और इसलिए प्रगतिका भी अलग-अलग अर्थ लगाती हैं।" (पृ. २६)।

इकहरे कालबोध और मान-वेंतर प्रकृति को अलग माननेवाली मानव-केन्द्रित दृष्टि का ही एक परिणाम पश्चिमका वह वैज्ञानिक चिन्तन है जिसने एक ओर पर्यावरणके विनाश और दूसरी ओर आणाविक शस्त्रोंके रूपमें सम्पूर्ण सृष्टिको विनाश के कगारपर ला खड़ा किया है। अज्ञेयकी मान्यता है कि भारतीय चिन्तन मानव-केन्द्रित नहीं बल्कि सम-ग्रताके बोधसे सम्पूरित रहनेके कारण 'अनेक-केन्द्रीय' रहा है हमारी सभ्यता या संस्कृतिही अनेक-केन्द्रित नहीं रही है, हमारा चिन्तन अनिवार्यतया अनेक केन्द्रीत आधार लेकर चलता है। हम मनुष्यकी ओरसे सोच सकते हैं तो बन्दर या पेड़की ओरसे भी सोच सकते हैं—और ऐसा केवल विनोदके लिए नहीं, अवस्थितिको उसकी समग्रतामें पहचाननेके लिए अनिवार्य मानते हुए।" (पृ. २८) और यह बहु-केन्द्रिता देशगत ही नहीं बल्कि कालगत भी है और इसलिए यहाँ इस तरहके ऐतिहासिकतावाद का विकास नहीं हुआ जैसा पश्चिममें ईसाइयत जिस प्रकारकी 'ऐतिहासिकता' का दावा करती है, वैसा दावा भारतीय संदर्भमें कोई अर्थ नहीं रखता रहा। यहाँ धर्मकी परिधि के भीतर अनेक सम्प्रदायोंके अनेक प्रवर्तक हुए और इसलिए एक विशेष अर्थमें यह कहा जा सकता है कि यहाँ एकाधिक ऐतिहासिक परम्पराएं भी बनीं जिनके अपने-अपने आरम्भ बिन्दु भी हैं। लेकिन ऐसे प्रवर्तन-बिन्दुओंको काल-गणनाका आरम्भ-बिन्दु नहीं बनाया गया—इन प्रवर्तकोंके नामसे सम्बन्ध नहीं चले, भलेही कुछ सम्प्रदायोंमें वैसाभी एक सम्बन्ध साथ-साथ लिख देनेकी परम्परा चली। यह भी लक्ष्य किया जा सकता है कि इस स्थितिके कारण भारतीय सभ्यतामें एक बहु-केन्द्रिकता रही जिसे उसकी शक्तिभी माना जा सकता है। इस बहु-केन्द्रिकताके कारणही यह संस्कृति ऐतिहासिकतावादसे आक्रान्त होकर भी अपनी अस्मिता को टूटनेसे बचाये रख सकी।" (पृ. ११०)

सांस्कृतिक अस्मिताका सुरक्षा-कवच जातीय



स्मृति होती है और जातीय स्मृतिकी संरचनाका आधार कालबोध। कालकी एकरेखीय अवधारणा और चक्रावर्ती कालकी अवधारणामें विश्वास रखनेवाले समाजों की जातीय स्मृतिकी संरचनाभी भिन्न होनी स्वाभाविक है। एकरेखीय कालबोधमें इतिहासकी अवधारणा तो होती है, लेकिन पुराणकी नहीं क्योंकि वहां सनातन कुछ नहीं है। इस अर्थमें विज्ञानभी इतिहासके साथ जुड़ जाता है। वहांभी इतिहास और भविष्यका बोध तो है पर सनातनताका नहीं क्योंकि उसके सिद्धान्तोंमें भी परिवर्तनकी गुंजाइश सदैव बनी रहती है जबकि पुराण ऐसे 'अर्थ-पिटक' होते हैं जिनके माध्यम से भिन्न-भिन्न युगोंमें भी हम अपनी अवस्थिति और नियतिकी पहचान करते रह सकते हैं। 'वैज्ञानिक सत्ता, मिथकीय सत्ता और कवि' शीर्षक निबन्धमें इसी बात पर विचार करते हुए अज्ञेय पुराणकी सनातनताको पहचाननेका आग्रह करते हैं : इसके विपरीत पुराण सनातन तत्त्वकी खोजमें रहता है। बदलाव उसमें भी आता है, वही स्वीकार करता है, लेकिन इस आग्रहके साथ कि वह परिवर्तन केवल सनातन तत्त्वके साथ अपने नये सम्बन्धके कारण है, उस तत्त्वमें किसी परिवर्तनके कारण नहीं। पुराण पुरानेको झूठा नहीं करता उसे नया करता है (पुरा नवं करोति)।" (पृ. ६६)।

विज्ञानकी वजाय पुराण और ऐतिहासिक विकास की वजाय सनातनतापर आग्रह, अज्ञेयका यह आग्रह क्या 'प्रगति' की अवधारणाका निषेध नहीं है? क्या पौराणिक चिन्तनको वैज्ञानिक चिन्तनपर प्राथमिकता देना वांछनीय है। इन आपत्तियोंपर विचार करते समय स्त्रोतोंके इस कथनको स्मरण रखना उपयोगी होगा कि हम क्या उत्तर प्राप्त करते हैं, यह इसपर निर्भर करता है कि हम सवाल क्या पूछते हैं। क्या वैज्ञानिक सवालोंको सांस्कृतिक दृष्टिसे निरपेक्ष रखा जा सकता सम्भव है। प्रकृतिको मनुष्यका उपभोग्य माननेवाली दृष्टि और प्रकृतिकी स्वतंत्र इयत्ताको स्वीकार करने वाली दृष्टि द्वारा पूछे गये सवालों और पाये जानेवाले उत्तरोंमें भेद स्वाभाविक है—बल्कि स्वयं एकरेखीय ऐतिहासिकताके प्रत्ययमें विश्वास करनेवाली दृष्टिसे प्रसूत विज्ञानमें भी अपनी सीमाकी पहचानके साथही मिथकीय परिकल्पनाओंकी ओर झुकावके चिह्न दिखायी देने लगे हैं। अज्ञेयका तर्क है कि विज्ञानकी प्रतिज्ञाएं भी भाषामें की जाती हैं, इसलिए वैज्ञानिकके चिन्तनपर

भी सांस्कृतिक प्रभाव रहते हैं—साथही वे इस तथ्यकी ओरभी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि विज्ञानकी अद्यतन अवधारणाएं एकरेखीय कालबोधमें विश्वास रखनेवाले इतिहासकार और वैज्ञानिकके लिए असमंजस उपस्थित कर रही हैं क्योंकि "एकरेखीय और एक दिगोन्मुख काल सान्त कैसे हो सकता है? विज्ञान दिग्विस्तारकी सीमा मानता है और वही कालकी सीमा भी है : उससे परे कुछ नहीं होसकता और उस सीमा पर पहुंचकर दिक्भी मुड़कर लौट आता है और इस लिए वहीं कालकोभी मुड़कर लौट आना चाहिये।" (पृ. १०२)। दिक्कालका मुड़कर लौट आना—यह भाषा वैज्ञानिक है या मिथकीय? क्या मिथकीय भाषा में वैज्ञानिक अवधारणाकी अभिव्यक्ति सम्भव है और क्या भाषा और उसमें अन्तर्निहित सन्देश विरोधी हो सकते हैं। अज्ञेय वैज्ञानिकके इस असमंजसका स्पष्टीकरण देते हैं : ब्रह्माण्ड सीमित है, तदनुसार दिक्-काल की भी एक सीमा है, प्रकाशकी किरणेंभी उस सीमा से लौट आती हैं और कालकी पहुंच वहींतक है जहां तक प्रकाशकी—काल प्रकाश सापेक्ष है। ये सब अवधारणाएं विज्ञानको स्वीकार हैं, लेकिन इन सबसे परिणाम क्या निकला यह वह नहीं बता सकता। यह स्थिति लगभग वही है जो मिथकीय चिन्तनकी स्थिति थी, यह स्वीकार करनेमें वैज्ञानिकको असमंजस तो होता है, लेकिन इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं है। इतना अवश्य है कि मिथकीय अवधारणाओंके प्रति एक नया खुलापन वैज्ञानिक चिन्तनमें आया है। मन, चेतना और कल्पनाके बारेमें भी एक नये परिदृश्यके लिए क्षेत्र खुला है और पिछली शतीकी निश्चयात्मकताने जिस असहिष्णुताका रूप ले लिया था, वह अब लक्षित नहीं होती।" (पृ. १०२)।

यह मानना गलत होगा कि अज्ञेय विज्ञानको नकारना चाहते हैं— वे एक ओर वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति की सीमाओंको रेखांकितकर देना चाहते हैं तो, दूसरी ओर, उसके विपरीत मिथकीय चिन्तन-पद्धतिके महत्त्वको भी—लेकिन इसमें वैज्ञानिक चिन्तन-प्रक्रियाको खारिज कर देनेका भाव बिलकुल नहीं है क्योंकि ऐसा करना वे स्वयं अनुचित मानते हैं : वैज्ञानिक चिन्तन-प्रक्रियाका नकार निगतिका कारण बनता है, क्योंकि वह परिवर्तनशीलता और विकासगति को नकारता है। दूसरी ओर, मिथकीय पद्धतिका नकारभी निगतिका कारण बनता है



मृत्युमें होती है—मनुष्य तक यन्त्रमें परिणत हो जाता है ।” (पृ. १०३) ।

तब रास्ता क्या है ? क्या वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति और मिथकीय चिन्तन-पद्धतिका मेल सम्भव है ? लेकिन जबभी विज्ञानके साथ किसीभी चीजके समन्वयकी बात होती है तो उसकी कसौटी विज्ञानही बना रहता है—ऐसी स्थितिमें कोई ‘समन्वय’ हो ही कैसे सकता है ? और यहीं अज्ञेय साहित्यकी महत्ताको रेखांकित करते हैं क्योंकि वे दोनोंही पद्धतियोंको प्रयोजनीय पाते हैं और अज्ञेय द्वारा साहित्यके धर्मकी यह पहचानही कविको मनीषी और स्रष्टा मानेजानेका ठोस आधार प्रस्तुत करती है क्योंकि उसकी पद्धति परोक्ष और प्रत्यक्षको एक कर देनेकी है । कविका प्रयोजन न तो केवल विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठापित तथ्योंसे होता है, न केवल पुराणमें संपुजित कथाओं, विश्वासों अथवा अभिप्रायोंसे । कवि के लिए वे पद्धतियाँही प्रयोजनीय हैं जिनसे विज्ञान और पुराण सृष्टिको समझनेकी ओर अग्रसर होते हैं । एकका आग्रह प्रत्यक्ष सृष्टिपर है, दूसरेका परोक्ष सत्ता पर, कवि वह दृष्टि चाहता है जो इन दोनोंको एक इकाईमें जोड़ दे सके ।” (पृ. १०३) ।

अज्ञेय यह मानते प्रतीत होते हैं कि साहित्यकी यह पद्धति स्मृति है, वही वह ‘गतिशील सर्जनात्मक तत्त्व’ है जो हमारे ‘ऐतिहासिक’ और ‘पौराणिक’ अनुभवों तथा वर्तमानके बोधके भी नये परिदृश्योंकी रचना सम्भव करती है क्योंकि ‘हमारी स्मृतिके परिदृश्य उस बिन्दुसे बनते हैं । जिसपर हम खड़े होते हैं ।’ (पृ. ११५) । क्या यह बिन्दु दिक्कालका बिन्दु है जिससे हम अतीत और भविष्य तथा आगे और पीछेको, ऊपर और नीचेको पहचानते हैं ? या यह बिन्दु स्वयं हमारी चेतना है जिससे दिक्काल आरम्भ होते और जिसतक लौट आते हैं ? क्या चक्रावर्ती काल और ऐतिहासिक को एकसाथ रखाजा सकता है ? क्या यह सम्भव है कि और हम स्वयं दिक्कालके एक बिन्दुपर खड़े भी हों और दूसरी ओर दिक्काल हमीसे निस्सृत होता हुआ हमीतक लौट आये ? काल हममें जीता है कि हम काल में जीते हैं ? और इसीसे जुड़ा हुआ एक प्रश्न यहभी है कितना क्या भाषा स्वयंमें एक ‘दिक्-काल’ नहीं है क्योंकि स्मृतिका विस्तार दिक्कालमें है और स्मृति भाषाके

‘प्रकर’—अगस्त’६०—३६

विमानसम्भव नहीं है ? और यदि इस तर्कको मानें तो यहभी माने बिना नहीं रह सकते कि जो कुछ मेरी स्मृति में है, वह सब कुछ ‘मैं’ ही हूँ क्योंकि वह मेरे द्वारा रचा गया परिदृश्य है ! और तब क्या ये सभी प्रश्न इस एक सवालमें ही नहीं समाहित होजाते कि ‘मैं’ कौन हूँ ?—क्योंकि अन्ततः ज्ञाता और ज्ञेयको आत्यन्तिक रूपसे अलग मानकर ज्ञान सम्भव नहीं है और इस प्रकार ‘सृष्टिकी धुरी’ और उसे पहचाननेवाली ‘चेतनाकी धुरी’ अन्ततः एक हो जाती है । स्मृति अन्ततः अपनी ही स्मृति है ।

लेकिन इस चक्रावर्ती कालके अन्तर्गत एकरेखीय कालका जो दबाव है, वह निरन्तर इस स्मृतिको क्षीण करता जाता है और उसका प्रभाव हमारी भाषापर और रचनेके हमारे सामर्थ्यपर भी पड़ता है । आधुनिक जीवनकी प्रवृत्तियाँ और उसके संचार-साधन हमारी स्मृतिको, अनुभवको और भाषाको निरन्तर दबि करते जाते हैं । सार्वजनिक स्मृतिका व्यास औरभी छोटा होता जाये, इसकी व्यवस्थामें सभी आधुनिक संस्थान पूरी तरह लगे रहते हैं” (पृ. ११३), लेकिन साथही अज्ञेय यहभी पहचानते हैं कि ‘निश्चयही हमारेही देशमें भी हैं जो अपनी बेटियोंको अवधमें नहीं व्याहना चाहते क्योंकि अयोध्यापति रामने सीता मैयाके साथ इतना अन्याय कियाथा । यहाँभी स्मृतिका एक परिदृश्य काम कर रहा है—यद्यपि बहुत लम्बा परिदृश्य ।” (पृ. ११४) ।

कालकी एकरेखीय या ऐतिहासिक अवधारणाकी उपयोगिताको स्वीकार करना एक बात है और उसके दबावमें स्मृतिका दमनकर देना बिल्कुल अलग बात । स्मृतिकी सर्जनात्मकता मुक्तिकी ओर ले जाती है लेकिन उसका दमन विध्वंसकी ओर । अज्ञेयका निष्कर्ष है कि ‘आज जिस संसारमें हम रहते हैं उसके अनेक क्षत्रोंमें फैली हुई अशांतिके कारणभी ऐसीही दमित स्मृतियोंमें मिलेंगे । दमित न हुई होतीं तो वे सहज क्रममें मिट गयी होतीं—अनावश्यक बहुत कुछ भूलते या भुलाते जाना मस्तिष्ककी एक अनिवार्य आवश्यकता है । जैविक इकाई बहुत कुछ भुलाती है, जातीय समूह भी बहुत कुछ भुलाते हैं—उस सामूहिक रूपमें ही वे एक ‘जैविक इकाई’ होते हैं जिसका एक जातिगत मस्तिष्क होता है । लेकिन दमितहो जानेसे ये स्मृतियाँ प्राकृतिक क्रममें विलीन नहीं होपातीं, उनमें ऊर्जाका ऐसा संचय होने लगता है जिसके परिणाम अपूर्वानुमेय होजाते हैं ।”



(पृ. १११)।

अज्ञेय साहित्यके लिए इसी कारण स्मृतिका महत्व रेखांकित करते हैं। 'साहित्य मुक्त करता है' का तात्पर्य यही है कि वह हमारे 'स्व' के संकीर्ण घेरेको विस्तार देता है क्योंकि स्मृति केवल वैयक्तिक नहीं होती—उसका एक रूप सामूहिकभी होता है। साहित्य अनिवार्यतया सम्प्रेषणभी है इसलिए हम जिसतक सम्प्रेषित होना चाहते हैं, उसकी स्मृतिके परिदृश्यसे हमारी स्मृतिके परिदृश्यकी टकराहट स्वाभाविक है। साहित्य भाषामें होता है और भाषा सामूहिक स्मृति है। इसलिए साहित्यमें हमारे वैयक्तिक अनुभवभी सामूहिक स्मृतिके परिदृश्योंमें से गुजरते हैं और इस गुजरने में वे सामूहिक स्मृतिकाभी एक नया परिदृश्य रच देते हैं। निर्मल वर्माजी 'शब्द और स्मृति' में क्या इसी बात को नहीं पहचान रहे थे—जब उन्होंने लिखा था 'महत्त्वपूर्ण' में लिए अनुभव नहीं, स्मृतिका वह झरोखा है जिसमें से गुजरकर वे कहानियां बनते हैं।' (शब्द और स्मृति, पृ. १६)। अज्ञेय भी साहित्यकारकी प्रामाणिकताकी कसौटी उस टकराहटमें तलाशते हैं जो लेखक और गृहीताकी स्मृतियोंके परिदृश्योंमें होती है। हम जो कुछ लिखते हैं, वह जिसतक पहुंचाना चाहते हैं, उसपर इस बातका प्रभाव अनिवार्यतया पड़ेगा कि हम कहाँ बड़े होकर, किस प्रकाशमें रचना कर रहे हैं, वहाँसे स्मृतिका कैसा परिदृश्य बनता है। स्मृतियां उसकीभी होंगी क्योंकि भाषा उसकीभी है। उसका एक परिदृश्य भी पहले से होगा, जिसे हम अपने द्वारा प्रस्तुत परिदृश्यसे प्रभावित करेंगे। हमारी प्रामाणिकताकी कसौटी का क्षेत्र यही है जहाँ ये परिदृश्य टकराते हैं—प्रामाणिकता उसके लिए भी और स्वयं हमारे अपने लिए भी।' (पृ. ११५)।

'स्मृतिच्छन्दा' के निबन्ध अलग-अलग अवसरोंपर और भिन्न-भिन्न विषयोंपर लिखे जाकर भी समग्रतः स्मृतिके भारतीय परिदृश्य और उसपर पड़नेवाले आधुनिक दबावोंकी चुनौतियोंकी पहचानका एक ऐसा प्रयास है जिसकी अनदेखी करना स्मृतिके दरिद्रीकरणकी प्रक्रियामें भागीदार होना होगा। साहित्यको व्यापक ऐतिहासिक-ऐतिहासिक सन्दर्भोंमें समझनेका यह प्रयत्न कोई समाजशास्त्रीय प्रयत्न नहीं है—यद्यपि इसकी समाजशास्त्रीय प्रामाणिकताभी असन्दिग्ध है—बल्कि एक सजक मनीषा द्वारा अपने समय और समाजके

संकेत भी इसमें बिखरे पड़ें हैं जिनका आलोक अपनी स्मृतिके नये परिदृश्योंको उद्घाटित करनेमें हमारी सहायता करता है और तब 'मैं क्यों पढ़ता हूँ' प्रश्नका उत्तर एक लेखककी ओरसे ही नहीं बल्कि एक पाठककी ओरसे दिया गया उत्तरभी हो जाता है क्योंकि वह कहीं-न-कहीं साहित्यसे एक पाठककी अपेक्षाकोभी व्यक्त करता है और साथही साहित्य सत्यको जाननेतक के स्वायत्त प्रयत्नके रूपमें प्रतिष्ठित होता है—ऐसे सत्य को जाननेकी जिसे जाननेके बाद हम अपनेको भी एक नये रूपमें भी पाते हैं और 'निर्विशेष' भी हो जाते हैं हम फिर-फिरकर इसी परिणामपर पहुंचेंगे कि साहित्य सत्यको जाननेका एक रास्ता है और साहित्यही उस रास्तेकी पहचान हमें कराता है—कि वह पहचान स्वयं हमारी अपनी पहचान है। हम यहाँ पायेंगे कि आविष्कार और उन्मेषका भाव एकाएक हमें अकेला करता है तो साथही साथ उस पहचानके कारण हम अकेलेपन से बचे भी रहते हैं, निर्विशेष होते हैं, मानवसमाजके ही नहीं, 'लोक'के साथ जुड़े रहते हैं और जुड़कर 'साहित्य' शब्दको सार्थक करते हैं।' (पृ. २४)। इन निबन्धोंमें कथाभाषा, समकालीन कवितामें 'छन्द आदि प्रश्नोंपर भी गहराईसे विचार किया गया है और इन सभी बातों पर अज्ञेयकी देहशान्तिके बाद प्रकाशित उनके निबन्धों की इस पुस्तकमें उनके विचारोंका अद्यतन रूप हमें मिलता है—लेकिन 'स्मृतिच्छन्दा'की सर्वाधिक महत्ता इस बातमें है कि वह निरन्तर प्रभावी होती जा रही औपनिवेशिक मानसिकताके विपरीत हमें अपनी 'स्मृति' के लिए प्रेरित करनेमें सफल होती है—और यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसा करते हुए वह औपनिवेशिक बौद्धिकताको स्वयं उसकीही शर्तोंपर खारिज कर देती है—किसी 'शॉविनिज्म' के भावसे नहीं बल्कि स्वयं वैज्ञानिक चिन्तनकी कसौटीपर। इसलिए अज्ञेयका यह चिन्तन केवल भारतीयोंके लिए ही नहीं, उन सबके लिए उपयोगी है जो एकरेखीय ऐतिहासिकतावाद और उससे प्रसूत 'वैज्ञानिकता'के आत्मकमें अपनी 'स्मृति'की अनदेखी करते रहे हैं। 'स्मृतिच्छन्द'का आग्रह इसीलिए किसी पुराने छन्दमें लौटनेका नहीं, स्मृतिके नये छन्द रचनेका आग्रह है। □



# सो... फिर, भादों गरजी?

[काव्यात्मक ललित निबन्ध]

लेखिका : मालती शर्मा

समीक्षिका : डॉ. विद्या केशव चिटको

“सो... फिर, भादों गरजी...” लोक सांस्कृतिक चिन्तनपरक ग्यारह ललित निबन्धोंका संग्रह है। ये निबन्ध जीवनाभिव्यक्ति और जीवनके गहरे भावरूपको उजागर करते हैं। आजके युगमें हमारे विचार तर्काधिष्ठित हो गये हैं, “जीवनके सारे आदर्श और मापदण्ड बदल गये हैं... जीवनमूल्यभी भिन्न हो गये हैं तब फिर हमारी परम्परागत सनातन लोक-संस्कृतिकी रक्षा कैसे हो?” मालती शर्मा इन निबन्धों द्वारा प्राचीन लोक संस्कृति, पूर्वजों द्वारा प्राप्त विरासतमें आस्था, विश्वास और कर्मके व्यापक रूपकी उपादेयताका स्मरण अपनी कवित्वमय शैलीमें किया है। भारतभूमिमें लोक संस्कृति रचीपची है—इस धरतीकी माटीमें उसकी सुगन्ध समाहित है। उसका रूप दुग्धशर्करायोगवत् है। आज विस्मृत कीजानेवाली लोक-संस्कृति, जो जीवनको अपार आनन्द देनेवाली है, माधुर्य सम्पन्न है, ऊर्जाका स्रोत है, उसे बचाये रखनेके लिए लोक-संस्कृतिकी रक्षा आवश्यक है। उसके स्वरूपपर विचार करते हुए आधुनिक संदर्भोंके साथ उसे जोड़ा गया है।

“इन्दर बरसै तून जरै...” यह पहला निबन्ध है, जिसमें वृक्षकी अवधारणाके संबंधमें जो जीवनकी भाषा रही है, व्यापक रूपसे विचार प्रस्तुत किये गये हैं। वृक्षमें जीवनका अजरामर भाव है इसी कारण पेड़ लगानेको, वृक्षकी पूजाको, जीवन-रक्षा और आराधना अभ्यर्थना माना, अक्षय पुण्य माना और वृक्ष उच्छेदनको मानव हत्याके बराबर पाप माना... बट, पीपल और आंवले का अनुच्छेद तो इतना बड़ा पाप है कि उसका दंड परिवारमें भरी जवानीमें किसी युवा पुत्रकी मृत्युसे मिलता है...”

आजकी सभ्यतामें शहरोंके विस्तारीकरणमें सड़क पर खड़े बड़े पीपल काटे जा रहे हैं। डबल डेकर चलाने के लिए रास्ते चौड़े किये जा रहे हैं... बरगद नहीं

१. प्रका. : नीरज प्रकाशन, २५/२ पाखर, मुम्बई-  
पुणे मार्ग, पुणे-४११००३। पृष्ठ : १२६ ; डिमा.  
८६; मूल्य ४५.०० रु.।

‘प्रकर’—अगस्त’६०—३८

हजारों सालकी गहरी छायादार आत्मदानों संस्कृति कट रही है, भाषा मिट रही है उसकी जगह उग रही है कैक्टस संस्कृति और गमलोंकी संस्कृति, तात्कालिक उपयोगकी सर्वभक्षी संस्कृति। अतः आवश्यकता है कि आजके मानवको उसकी पहचान करादी जाये।

“गेहूं ठाकुर जौ दीवान” में शब्दकी सत्ताको सराहा गया है।... शब्द उगाये किसानने, उन्हें अर्थ दिया लोकने, उनका प्रयोग किया लोककविने। इतनी लम्बी विरासतमें मिले शब्दोंसे हमतो इतनाभी अभी तक नहीं कर सके कि जीवनमें नागफनीकी भांति फैली सामन्ती और महाजनी मूल्योंको उखाड़कर फेंक दें और उन जगहोंपर मानवीय मूल्य रोप दें।”

हमारे ऋषि-मनीषियोंने हमें एक संस्कृति प्रदान कीथी श्रमके विभाजन, पारस्परिक सहयोग और बांट कर खानेकी। जीवनदायिनी प्रकृति और प्रकृतिपुत्रों के प्रति नमन और कृतज्ञता ज्ञापन करनेकी। उपयोगसे पूर्व “सिलहरा उत्सव” इसी संस्कृतिका द्योतक है। “बिखरी बालें लिपटे मनोरथ” निबन्धमें इसका वर्णन है। “लोकमें कोई चीज बन्द और खत्म नहीं होती बुझाई नहीं जाती। दूकानहो या दिया हो, या फिर सिला वह हमेशा बढ़ाया जाता है।

इस दुनियांमें जोभी है वर्षासे हो है, वर्षा तो है दरकती धरती और फटे मन “जो भूखा सो रुखा” इतने कम शब्दोंमें साकार हुआ यह शाश्वत सत्य हमारी सारी वैज्ञानिक प्रगतिके बादभी अपनी जगह अटल चुनौती देता खड़ा है.....” (पृ. ३७)।

‘सो... फिर भादों गरजी’ निबन्धमें लेखिकाके विचार बड़े सार्थक हैं कि बिना बिजलीके मेघ बेजान लगते हैं। क्रांतिधर्मी वज्ररूपी गाज अलोकधर्मी शक्ति और गति है। कुछ मिटानेवाली तो कुछ बनाने वालीभी... भादों गरजती है यह संकेत है—विशिष्टने विशिष्ट रहनेमें सामान्यकी उपेक्षा की संपूर्णको नकारा, दबाया, कुचला, उनके मेघाच्छन्न जीवनपर गाजें टूटी... जब सामान्य साधारण कुचला गया उपेक्षित हुआ और उठा तो क्रान्तियां हुई गाज गिरी। लेखिका यहां कहती है जबभी जहां यह साधारण तत्त्व उपेक्षित होता है कुचला जाता है तो भादों गरजती है, दबी जनशक्ति घायल सर्पिणीके समान फुफकार उठती है, विनाश छा जाता है तब किसी बांदीके शुभकर्मकी चिदियां आड़े आती हैं... गाज लौटती है फिर संवत् होता है नया संवत्



आता है। नया संवत् तब वही गरजती गरजती आती है।  
गिरती बूंद-बूंद सोना बरसाती है सुख-समृद्धि जीवन  
साती है।

“कहाँ है वह लोक लक्ष्मी” में आजकी अर्थ  
केन्द्रित जीवन-पद्धतिपर करारी चोट है। आज व्यक्ति  
भटक गया है युवा लक्ष्मी और पुरुषार्थ लक्ष्मी चौर्यमें  
बदल गयी है, विक गयी है, विद्यालक्ष्मी सत्ताके हाथों  
प्रभुत्व या व्यापारके घरमें बंधक बन गयी है रखैल हो  
गयी है..... अतः आज प्रबुद्ध समाजको संकेत है कि  
वह पुनः उसी लक्ष्मीको अपनाये जो प्रयत्नोंकी पूर्णता  
है। लक्ष्मी जो किसी व्यक्ति, गुण, तत्त्व, प्रयत्नके  
“स्व” का पूर्ण विकास है उसका सौष्ठव है—शोभा है,  
क्रांति है उसे संवर्द्धित करे। उन्हें दुःख इस बातका है  
कि आज लक्ष्मीके मानसपुत्र बल और उन्मादका ही  
राज्य फैला है जैसे लक्ष्मी निरुपाय है। अतः इसकी इस  
स्थितिको समाप्त करनेके लिए प्रयत्न आवश्यक हैं।

कभी गोधन वस्तुओंका मूल्यमान था। पर आज  
सबकुछ बदल गया है। भैंसकी खाल-सी पसरी है नैरा-  
श्र्यतम परमुखापेक्षिता। गोवर्द्धन पूजामें आजकी बढ़ती  
मानसिकतापर व्यंग्य है..... डेयरी टेक्नॉलाजीका  
परधर्म..... विशालकाय मशीनोंकी आकाशचारी  
संस्कृति। डिब्बों, ढक्कनों, स्वीच, खटकोंकी सुविधा,  
सरलता, परमुखापेक्षिताकी संस्कृति डिब्बोंमें बन्द  
संस्कृति आरामदेह है... आज जीवनरस फट रहा है कुजन  
हो रहा है, विरस हो रहा है; न गायें चरती हैं और न  
चरते हैं... महत्त्वाकांक्षाओंके ट्रैक्टर छाती चीर  
रहे हैं। हमारी संस्कृति अब माखन खानेकी नहीं, मक्खन  
लगानेकी हो गयी है। आत्मविकासका आत्मविश्वास  
बाज रिस गया है। अतः आज फिरसे आवश्यक हो गया है  
विश्वधर्मका दोहनमंथन। कामधेनु खड़ी है लेकिन कोई  
उसे दुहनेवाला नहीं, कौन दूधे? अंगूठोंमें दमखम  
नहीं, मुट्ठियोंमें पकड़ नहीं, दुहनेकी बैठक नहीं और  
पात्रभी नहीं, बिना विनियोग ज्ञानके सबकुछ योंही व्यर्थ  
बहाजा रहा है... पर उन्हें दृढ़ विश्वास है कि फिर कोई  
वृष्ण आयेगा किशोर धूमरी धौरी दूहने, युगधर्म युग-  
व्यक्तित्वसे निजधर्मका नवनीत निकालने। पिटी लकीर  
का यह गोवर्द्धन मिटाकर एक गोवर्द्धन उठाने, जन-  
तन्त्रके आत्मविश्वासका गोवर्द्धन स्वनिर्भरताका गोवर्द्धन  
उठानेके लिए।

निक्राम भावसे कर्म करनेवाले कर्मव्रतीका प्रतीक

प्रयासका प्रतीक रूप है। दीपक सृष्टिके आदिसे चलती  
आरही मनुष्यकी अंधेरेसे लड़ाईमें खड़े होनेवाला पहला  
सिपाही है जिसने धर्म, दर्शन, योग, भोग, कला, संस्कृति  
में अनेक अर्थरूपक प्रतीक मिथक रचे और पाये हैं।  
“खुली आंखोंकी जागृत नींद रतजगे” निबन्धमें रतजगी  
के गीत पुकारकर कहते हैं “दियावत्तिको अलग मत  
करो, अंधेरेसे घिर जाओगे।”

“अकेलेपनका फैलाता मरुस्थल, प्यासा पनघट” में  
आजकी मनुष्यकी रसहीन स्थितिपर दुःख व्यक्त किया  
है। पहले पनघटपर पानीकी प्यासके साथ-साथ न जाने  
कितनी प्यासों बुझती थी। पानी पीने, गगरी ऊंचवानेके  
बहाने न जाने कितने रसिक अलबेले कुंएपर मंडराया  
करते थे, रास्ता छेक लेते थे इसी पनघटपर प्यासी अंजुरी  
में पानी ढालते-ढालते हृदयभी ढाल दिया जाता था...  
पर आज नगरों महानगरोंसे कुंआ गायब हो गया है।  
आज मनुष्योंकी प्यास अब पराये हाथ खुलती टोटियोंके  
भरोसे है और मनुष्यका मन अपने-अपने वाटर टैंकोंमें  
बन्द हो गया है।

“कायेके कारन जौ बये, काये कुं हरे हरे बांस” में  
बांसपर गहन चिंतन प्रस्तुत है। बांस हमारे लोक-  
संस्कारोंका मण्डप है। बांसमें आकाश तत्त्व शब्द और  
जलका निवास है। बांसमें मनुष्यकी प्यास, कृषिकी उर्व-  
रता, अच्छा संवत् और सृष्टिका जल समाया हुआ है।  
वंशकी अवधारणा बांससे है। मनुष्यका शरीर ही तो  
बांस है उसकी सांसही बांसुरी है वेणु है पवन प्राण  
और स्वर है। जीवनका प्रतीक बांस है। और वेणु वह  
तो प्राणोंके स्वरसे भरा अनवरत अविकल अनुगूँजित  
सृष्टिके अहर्निश बजनेवाली बांसुरी वनश्रीकी काल  
काकली पायलोंकी रुनझुन तो बांसही है।

लेखिकाने बांसपर अनेक संदर्भ प्रस्तुत करते हुए  
लोक संस्कृतिमें मनुष्यके जीवन आचरण व्यवहारमें  
बांसकी महत्ताको प्रतिपादित किया है। बांस आस है  
बुढ़ापेकी। लाठी लोकका संबल लोकका अस्त्र और  
शस्त्र है। लोककी इस लाठीको बड़े सहज रूपसे अपने  
हाथमें ले लिया था राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने। बांसपर  
विविधांगी और विस्तृत व्यापक विचार प्रस्तुत करनेमें  
अनुभवोंकी पिटारीसे अनेक बातें उघाड़कर लोकके  
सामने प्रस्तुत की हैं।

ब्रजभूमिकी समृद्धि लेखिकाके विचारोंमें है लोक-



खोजनेका प्रयास किया है। भाषाकी सहजता और सरलता उनकी अपनी विशेषता है सीधे-सीधे शब्दोंमें गीत की लयात्मकता है, जिसके कारण विचार और विषय अपने आपमें अनूठे हो गये हैं। “वर्गगत मूल्य चेतनाका साराका चितन पेड़की भाषामें उगा, सरसोंके फूलोंमें उजलाया, कपासके फूलोंमें धवलाया और पलाश गुच्छों में अरुणिम हुआ है।”—इस प्रकारकी वाक्यावलीमें लेखिकाका कविरूप मुखर है। “स्थितियां अतीत होती हैं परन्तु व्यतीत नहीं होती” जैसी शब्दावलीका प्रयोग कर निबन्धोंमें बहुत कुछ प्रकट और मुखरकर दिया है। आज बढ़ती हुई पाश्चात्य विचार और सभ्यतापर भी व्यंग्य करती है परन्तु “सो... फिर भादों गरजी” के निबन्ध ठोस धरातलपर खड़े लोक-संस्कृतिके गहरे रंगमें रंगे विचारोंकी गहरी नींवपर खड़े चिन्तनको नयी दिशा प्रदान करनेवाले हैं। □

## चलते चलते?

लेखक : गिरधारीलाल सराफ,

उमादेवी सराफ

समीक्षक : डॉ. रजनीकान्त जोशी

यह कहना सार्थक होगा कि लेखक दम्पतीने अपने जीवनके विभिन्न अनुभवोंके अन्तर्गत जो कुछ भी देखा जाना, समझा व परखा सभीको केन्द्रमें रखकर कलम उठायी और अपनी हार्दिक अभिव्यक्तियां अत्यंत सरल वाणीमें गंभीरसे गंभीर विषयोंपर अपना-अपना चिन्तन शब्दोंके माध्यमसे लयान्वित किया। जो विषय प्रस्तुत किये गये हैं वे सभी आजके निबन्ध-जगत्में अनोखेभी हैं और आकर्षकभी।

सराफ दम्पतीके निबन्ध पेशेवर निबन्धोंसे भिन्न प्रकारके हैं, जैसे—‘चलते-चलते,’ ‘श्रेष्ठि धर्म,’ ‘महा-जनकी महान् चेतना,’ ‘नीर-क्षीर विवेक,’ ‘मन,’ ‘हिमालय की गोदमें,’ ‘महाराजा अग्रसेन,’ ‘जैन धर्मका भारतीय विचारधारापर प्रभाव,’ ‘भारतकी आवादी समस्या,’ ‘काला बाजार,’ ‘सखि! मेंहदीकी प्यारी ललाई!’ ‘जीवनमें वन,’ ‘नारी समाज’। तुलनात्मक निबन्ध

१. प्रका. : हिन्दी साहित्य परिषद्, अहमदाबाद।

वितरक : अमृता प्रकाशन, सी / ५, ओजस

एपार्टमेंट, सु. सं. मार्ग; अहमदाबाद-१५। पृष्ठ :

१७० ; डिमा. ६० ; मूल्य : ६०.०० रु.।

‘प्रकर’—अनस्त ६०—४०

नता,’ और ‘राजस्थान-गुजरातकी व्यापारिक एवं मानसिक समा में ‘जी’ का महत्त्व, क्योंकि लेखक स्वयं कपड़ेके व्यापारी हैं अतः ‘महिलाओंसे कैसे निभाये ? कपड़ा व्यापारमें जैसे विषयपर भी लेखकने रोचक प्रस्तुति की है। वे लिखते हैं—“चलना और चलते-चलते आगे बढ़नाही जीवनकी सच्ची पृश्चान है। जीवनमें चलना सायास वहीं, अनायास होता है। व्यक्ति दावा करता है कि वह चलता है, परन्तु सच तो यह है कि वह चले बिना रह ही नहीं सकता। चलना सहज है—स्वाभाविक है। जबकि रुकना अस्वभाविक है। प्रायः पशु जन्मसे ही खड़ा हो जाता है। पाँव पटकने लगता है। मानव शिशु भी शीघ्र ही चलने लगते हैं—पहले घुटनोंके बल, फिर पैरों द्वारा। यह बिना सिखाये ही होता है। तभी तो कहा गया है कि—‘पंगु लंघयते गिरिम्।’ और फिर लेखकने कहा है, “जीवन में चलना ही उद्देश्य है—सोद्देश्य चलना।”

‘श्रेष्ठि धर्म’ शीर्षक निबन्धमें समाजके परिप्रेक्ष्यमें सच्चा श्रेष्ठि कौन है व कौन हो सकता है, इसपर अच्छी टिप्पणी है “यदि हमें अच्छे समाजकी रचना करनी है, तो चाहिये कि हम लोगोंकी अच्छाईको ढंडोरें, जगायें, उभारें, प्रेरित करें, प्रशंसित करें।” श्रेष्ठि धर्मकी चर्चा गांधीजीके ट्रस्टीशिप सिद्धान्तपर अर्थशास्त्र एवं नीति व धर्मशास्त्रको केन्द्रमें रखकर हुई है : “पूजि-पतिमें ट्रस्टीशिपकी भावना पैदा करना कानूनके ढण्डे से नहीं अपितु प्रचार समझाव और हृदय-परिवर्तनमे हो, इसपर गांधीजीने जोर दिया।”

‘लोटा-डोरी’ में मारवाड़ी शब्दोंकी व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे छानबीन की गयी है। ‘महाराज अग्रसेन’ में अग्र-वाल समाजकी विषद चर्चा है, तथा ‘भारतकी आवादी समस्या’ में प्रमाण व आंकड़ों सहित चिन्तनात्मक चर्चा है। ‘काला बाजार निबन्धमें लेखकने विचार प्रकट किया है कि युद्धकालसे ‘काला बाजार’ रोगका फैलाव शुरू हुआ। कुल मिलाकर १७० पृष्ठोंमें २६ निबन्धों का समावेश किया गया है, जिनमें २० निबन्ध तो श्री गिरधारीलाल सराफने और केवल छः निबन्ध श्रीमती उमादेवी सराफने प्रस्तुत किये हैं। सम्भवतः हमारी पुरुषबहुल समाजव्यवस्थाका रूप निबन्धोंमें भी परिलक्षित हुआ है। फिर भी श्रीमती सराफने जो निबन्ध प्रस्तुत किये हैं वे सभी प्रशंसनीय और ध्यानाकर्षक हैं।



लेखिका श्रीमती सराफका उद्देश्य अपने छः निबन्धोंमें महिलाओंके लिए विशेषतः मार्गदर्शन ही रहा है उनके छः मेंसे पांच निबन्ध 'सखि मेंहदीकी प्यारी ललाई।' 'उनके छः मेंसे पांच निबन्ध 'सखि मेंहदीकी प्यारी ललाई।' 'राजस्थान-गुजरातका नारी-जीवन,' 'नारी और सामाजिक चेतना,' 'नारी समाज' और 'संयुक्त कुटुम्बही सहकारकी भावनाका केन्द्र है,' यही संकेत करते हैं कि लेखिकाकी विशेष रुचि नारी समाजकी जागृतिके प्रति अधिक रही है। 'सखि मेंहदीकी प्यारी ललाई' निबन्ध तो लगभग कहानी शैलीमें ही लिखा गया है। मेंहदीका रोचक इतिहास भी विशेष छानबीनके साथ लेखिका ने प्रस्तुत किया है।

लेखिकाके निबन्धोंकी ध्यानाकर्षक विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि इन्होंने अपने निबन्धोंमें शोध कर्मका धर्म, समीचीन उद्धरण तथा प्राचीन-अर्वाचीन का सोदाहरण समन्वयभी प्रस्तुत किया है, जैसे— 'पांच महावरी देनको, नाइन बैठी आय, फिर-बानि फिर महावरी एडी गोडली जाय।' (पृ. १३७)

भोगाः न भुक्ताः वयमेव भूक्ताः।

तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

कालो न यातो वयमेव याताः।" (पृ. १४४)

स्त्रीके रूप-परिप्रेक्ष्यमें लेखिकाने जो उदाहरण दिया है—

“परामर्शमें है मन्त्री-सी,

सेवामें नित दासी है,

भोजनमें माताके सम है,

शयन समय रम्भा-सी है”। (पृ. १५६)

परिवारके बारेमें मनु भगवानका मन्तव्य लेखिकाने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“वृद्धौ पितरौ शीला भार्या शिशु सुतः

अप्यकार्यं शतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत ॥

(पृ. १६७)

अतः यहां यह कहना समीचीन होगा कि 'चलते-चलते' की संगी लेखिकाने अपने निबन्धों द्वारा समाज, समाज जीवन व भारतीय संस्कृतिका नारी-समाजको केन्द्रमें रखकर जो विश्लेषण किया है वह अपने प्रथम निबन्ध संग्रहकी दृष्टिसे सराहनीय है। □

## शिक्षा और जीवन

### आधुनिक विचार और शिक्षा?

लेखक : नन्दकिशोर आचार्य

समीक्षक : डॉ. रामदेव शुक्ल

प्रसिद्ध कवि, आलोचक नन्दकिशोर आचार्य द्वारा राजस्थानकी महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं 'शिविरा' और 'नया शिविर' में शिक्षाके चिन्तनपर समय-समयपर और नियमित रूपसे प्रकाशित लेखोंका उपयोगी संग्रह है।

१. प्रका. : कविता प्रकाशन, तेलीबाड़ा, बीकानेर (राजस्थान)। पृष्ठ : १३४; १डमा. ८६; मूल्य : १०.०० रु.।

'आधुनिक विचार और शिक्षा'। पुस्तकमें दो खण्ड हैं। पहले खण्ड 'दृष्टि : आधारभूमि' में आधुनिक चिन्तन को प्रभावित करनेवाले विश्वके प्रमुख विचारकोंके अवदानका संक्षिप्त सार्थक प्रस्तुतीकरण हुआ है। 'आधुनिक दार्शनिकता', 'वैज्ञानिकताकी आधारभूमिमें आधुनिकता' दार्शनिकता वैज्ञानिकता आदिपर सूत्ररूपमें विचार करते हुए स्थापित किया गया है कि मानवीय स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक प्रवृत्तिही आधुनिक दार्शनिकताकी सही पहचान हो सकती है। इसके बाद देकार्तसे लेकर गांधी तक के विचारोंको इसी शैलीमें प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक दार्शनिकके लिए कवि नन्दकिशोर आचार्य एक ऐसे



बिम्बात्मक विशेषणका चयन करतेहैं कि उसके कथ्यका स्पष्ट संकेत पहलेही मिल जाताहै। वैज्ञानिकता-वाद और संशयवादका आरम्भ देकार्तसे स्वीकार करते हुए नन्दकिशोर आचार्य बतातेहैं कि किस बिन्दुपर देकार्तका चिन्तन भारतके ज्ञानमार्गके निकट पड़ताहै और किस प्रकार अगली तीन शताब्दियों तक वैज्ञानिकता और धर्मका द्वन्द्व विचारकोंको प्रभावित करता रहा। बुद्धिवादी परम्परामें 'अनुभव' को उसका प्राप्य दिलवानेका कार्य जॉन लॉकने किया। आचार्य इस बातको रेखांकित करतेहैं कि कैसे लॉकने मानवीय अनुभव और ज्ञानको महत्त्व देकर मानवीय स्वतंत्रता और लोकतन्त्रकी स्वीकार्यताकी ओर संकेत किया। दार्शनिक प्रणालियों, आर्थिक राजनीतिक चिन्तन और शिक्षाके क्षेत्रमें रूसोके विचारों तकके लिए लॉकको स्मरण किया जा सकताहै। बर्कले और ह्यूमके विचारोंमें लाककी स्थापनाके दो तत्त्वोंका अलग-अलग विकास हुआहै। बर्कलेका प्रत्ययवाद और ह्यूमकी विचार प्रणाली 'अनुभववादी प्रत्यक्षवादी भी है और संशयवादी अज्ञेयवादी भी।

वाल्तेयरके चिन्तनपर लिखते हुए आचार्य अठारहवीं शताब्दीको 'प्रबुद्धताका युग' कहे जानेकी व्याख्या करते हुए बतातेहैं कि धर्मशास्त्रकी जगह विज्ञानके आ जानेसे अतिप्राकृतिकके स्थानपर प्राकृतिकका महत्त्व बढ़ गया। यह विचार प्रबल हुआ कि जड़ चेतन सब प्राकृतिक विधि द्वारा संचालित हैं। वाल्टेयरको 'प्रबुद्धताके युगकी आत्मा' के रूपमें स्वीकृति मिली। उसके 'तटस्थ ईश्वरवाद' में चर्च और धर्मकी परम्परागत महत्ताको धक्का लगा। यही 'तटस्थ ईश्वरवाद' प्रबुद्धताके युगका प्रमुख विश्वास होगया। इस लेखमें वाल्टेयरके साथ होल्बाख, दलांमेत्तरी और दिदरोके विचारों की भी समीक्षा कीगयीहै। रूसोके चिन्तनका सार 'प्रकृतिकी ओर' बताते हुए 'व्यक्तिकी अभिव्यंजना' के रूपमें उसे प्रतिफलित देखा गयाहै। व्यक्तिकी स्वतंत्रता और व्यक्तित्वका अबाध भावात्मक विकास उसके विचारोंके मूलमें है। राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला सबपर रूसोके विचारोंके प्रभावका संकेत किया गयाहै। काण्टको 'आलोचनात्मक दर्शनके विकास'के साथ जोड़ते हुए लेखकने उसके महत्त्वका अंकन कियाहै। बताया

गयाहै कि कैसे काण्टने यूरोपीय देशों द्वारा पूर्वी देशोंमें असभ्य वर्बर आचरणका विरोध किया। वे इतने अधिक जनतांत्रिक थे कि युद्धका निर्णय तक जनमत संग्रहसे कराना चाहतेथे। विज्ञान और नैतिक प्रशिक्षण द्वारा मनुष्यके आचरणको सबके लिए शुभ बनानेका उनका आग्रह था। हेगेलकी 'आदर्शवादकी द्वन्द्वात्मक व्याख्या' अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दीके वैज्ञानिक निष्कर्षोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। बासवीं शताब्दीके दर्शन तक पर उसका प्रभाव स्पष्ट है। आचार्यने हेगेलकी सीमा भी बतायीहै।

कार्ल मार्क्सने वैज्ञानिक निष्कर्षोंके आधारपर एक सम्पूर्ण दर्शन विकसित किया और इतिहासकी आर्थिक व्याख्या की। द्वन्द्वात्मकता, भौतिकवाद और विकासवाद मार्क्ससे पहले प्रतिष्ठित हो चुकेथे। मार्क्सकी देन इतिहासकी आर्थिक व्याख्याही है जिससे पूरा विश्व प्रभावित हुआ। उनकी आलोचना इस आधारपर की जातीहै कि चेतनाके विकासको आर्थिक आधारोंपर नहीं समझाजा सकता और सर्वहाराके अधिनायकत्वमें व्यक्ति स्वातंत्र्यकी हत्या होतीहै। आचार्य याद दिलातेहैं कि मार्क्स प्रत्येक व्यक्तिकी स्वतंत्रताको सबकी स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त मानतेथे।

विकासवादसे प्रभावित चिन्तनकी यांत्रिकताके विरोधमें हेनरी वर्गसांका 'सृजनात्मक विकासवाद' स्थापित हुआ। भारतीय वेदान्तकी तरह वर्गसां भी 'अपरोक्ष अनुभव'को वरीयता देतेहैं। वे मानतेहैं कि प्राणशक्ति स्वयं सृजनशील है। यही सृजनशीलता स्वतः विकास प्रक्रियाको संचालित करती चलतीहै। आचार्य की अच्छी टिप्पणी है कि 'जिस विकासवादका उपयोग मनुष्यके अवमूल्यनमें किया जा रहाथा, वर्गसांने उसीके माध्यमसे मानवीय स्वतंत्रता, गरिमा और सर्जनशीलता को पुनः स्थापित किया।' कीर्केगार्डका माननाहै कि वास्तविक ज्ञान हमारे अस्तित्वमें निहित है, इसलिए वह व्यक्तिसापेक्ष (सब्जेक्टिव) है। अस्तित्व और उसकी अनुभूति व्यक्तिगत है। मनुष्यके 'वरणकी स्वतंत्रता' में ही वे जीवनकी प्रामाणिकता देखतेहैं और मनुष्यके अकेलेपनको स्वीकार करतेहैं। 'व्यक्ति' की पूर्ण उपेक्षाके समयमें कीर्केगार्ड 'व्यक्तिके प्रामाणिक जीवन' पर सबसे अधिक जोर देतेहैं। अस्तित्ववादकी ईश्वरोन्मुख धाराका सम्बन्ध इनके विचारोंसे जुड़ाहै।



ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसाकी बाढ़में भी कुछ विचारक ऐसे निकले जिन्होंने मनुष्यके जीवन, उसके उत्थान और परिवेशपर ध्यान केन्द्रित किया। विलियम जेम्स और जॉन हर्बर्टने परिवेशकी व्यावहारिक समझ और उसके नियंत्रणकी आवश्यकताको प्राथमिकता दी। जॉन हर्बर्ट विकासवादको इस रूपमें लेतेहैं कि मनुष्य परिवेशके साथ निरन्तर संघर्षरत है। इस संघर्षमें सफल होनेमें मनुष्यकी तैयारीकी ही वे शिक्षाका उद्देश्य मानतेहैं। क्रोचे ज्ञानमीमांसामें अनुभूतिको विशेष महत्त्व देतेहैं। इनके अनुसार ज्ञानका मुख्य स्रोत विशुद्ध संवेदन-इन्प्रेसिंस—की रचनात्मक प्रक्रिया है। संवेदन-तंत्र के माध्यमसे मन जो कुछ ग्रहण करताहै, उसीकी प्रक्रिया में ग्राह्यको विम्बमें रूपान्तरित करताहै। यह विम्बरचना ज्ञानमीमांसा-प्रक्रियामें प्राथमिक महत्त्व प्राप्तकर लेतीहै। विम्बरचनाकी अनुभूतिको ही क्रोचे वास्तविक अनुभूति और सौन्दर्यानुभूति कहतेहैं। आचार्यने स्पष्ट रूपमें समझाया है कि क्रोचेका मूल मंतव्य क्या है और उसे समझनेमें लोग कैसी भूलकर बैठतेहैं।

अस्तित्ववादियोंमें सर्वाधिक चर्चित और अनेक विधाओंमें विश्वप्रसिद्ध रचनाकार ज्याँ पाल सार्त्रके विचारोंको 'प्रामाणिक जीवनका आग्रह' के रूपमें रखा गयाहै। मनुष्यकी परिभाषासे बचकर उसकी स्थितिका विशेषण मात्र करनेवाले सार्त्र अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनोंके विरुद्ध 'व्यक्तिके महत्त्व' की घोषणा करतेहैं। तत्त्वसे पहले अस्तित्वका होना मानतेहैं। आचार्य यहभी बतातेहैं कि क्यों लोग सार्त्रके दर्शनको मूल्यहीनताका दर्शन मान लेतेहैं, जबकि सार्त्र मूल्योंका विरोध नहीं करता केवल 'पूर्व निर्धारित मूल्यों' का विरोध करताहै। सार्त्रके चिन्तनपर आधारित शिक्षा-दर्शनकी सम्भावनाका संकेत करते हुए लिखतेहैं कि 'तब शिक्षाका उद्देश्य यही हो सकताहै कि वह किन्हीं विशेष मूल्योंकी ओर बालकको प्रवृत्त करनेकी बजाय उसमें स्वतंत्र व्यक्तित्वकी भावनाका विकास करे ताकि वह व्यथदासे बचता हुआ अपने वरण-स्वातंत्र्यमें अपने 'होने' का प्रामाणिक अनुभव कर सके।' सार्त्र संबंधी लेखके दूसरे खण्डमें सार्त्रके विचारोंको मार्क्सके साथ रखकर देखा गयाहै। 'अदर इज् हेल' जैसी धारणाके मूल कारणकी तलाशकी गयीहै और 'सहयोग' के मूलमें 'मन' की स्थितिपर सटीक टिप्पणी की गयीहै। 'जहां

भय है, वहां स्वतंत्रता कहाँ ? भयोत्पन्न सहयोगकी अन्तिम परिणति सामूहिक स्वतंत्रताकी सिद्धि हो ही नहीं सकती। लेकिन यह कभी शायद अकेले सार्त्रके विचारोंकी नहीं, बल्कि सारी भौतिकवादी चिन्तनशैली की कमी है, जिसके पास समग्र अस्तित्वकी बुनियादी एकताका कोई दार्शनिक आधार नहीं है।"

'पूर्वाग्रहोंसे मुक्ति' के रूपमें बर्ट्रेंडर रसेलको रखते हुए आचार्य बतातेहैं कि दर्शनके स्तरपर 'समूचे विश्व में असम्बद्धता' को मानना कठिन है किन्तु 'मानवीय स्वतंत्रता' को गरिमा देनेके कारण इनका महत्त्व है। मार्क्सवादकी राजनीतिक प्रक्रिया और ईसाइयत दोनों की अधिकांश बातोंका विरोध करनेवाले रसेल सम्पत्ति के सम्बन्धमें कहतेहैं कि इसका उत्स हिंसा और चोरी में है। रसेलके शिक्षा सम्बन्धी विचारोंका सारांश यह है कि 'आदतों और पूर्वाग्रहोंसे मुक्ति आवश्यक है और उसका सर्वश्रेष्ठ माध्यम शिक्षाही हो सकतीहै। दूसरोंको नियंत्रित करनेके स्थानपर अपनेको नियंत्रित करनेकी शिक्षा मनुष्यके लिए सबसे अधिक उपयोगी है। यह केवल पाठ्यक्रमोंमें परिवर्तनसे नहीं होगा। पारिवारिक और सामाजिक जीवनमें इस संकल्पको वरीयता देनेसे ही ऐसा हो सकताहै। श्रीअरविन्दके 'स्वर्णिम भविष्यमें विश्वास' को उनके चिन्तन-केन्द्रमें रखते हुए आचार्य बतातेहैं कि श्रीअरविन्दकी आध्यात्मिकतामें पार्थिवताका अस्वीकार नहीं है। उनका विश्वास है कि अन्तःप्रज्ञाके माध्यमसे ही सम्पूर्ण अस्तित्वकी एकता और समग्रताका बोध प्राप्त किया जा सकताहै। यही बोध अन्तर्विरोधों, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों और शोषणको मिटा सकताहै। श्रीअरविन्दका शिक्षा-दर्शन बालकके सर्वांगीण विकासको महत्त्व देताहै। सुप्त सर्जनात्मक चेतना, प्राणशक्ति, कर्म, तर्कणा, अनुभूति, स्वैच्छिक श्रम, परिवेशकी समझ और प्रज्ञाके विकासके लिए ही शिक्षाका उपयोग है। 'डिस्कूलिंग सोसाइटी' और 'आफ्टर डिस्कूलिंग व्हाट?' के विश्वप्रसिद्ध लेखक इवान इलिच पूरी व्यवस्थापर आक्रमण करतेहैं किन्तु उनका पहला लक्ष्य है शिक्षा, जिसमें ज्ञानभी एक जिस(कमोडिटी), सामान्य सामग्री बनकर रह गयाहै। ज्ञानके आदान-प्रदानकी प्रणाली यांत्रिक हो गयीहै और परिणाम औद्योगिक। ज्ञान व्यक्तिको औद्योगिक समाजका एक जटिल पुर्जा बना देताहै। ज्ञान स्वयं इतना जटिल होताजा रहा है कि सबके लिए



न रहकर विशिष्ट वर्गकी सम्पत्ति बनता जा रहा है। स्कूली प्रक्रियाको इलिच 'गुप्त पाठ्यक्रम' कहते हैं, जिससे गुजर जानेपर विद्यार्थीका अपने ऊपरसे विश्वास उठ जाता है। यह प्रक्रिया शिक्षार्थीको उसी तरह अजनबी बना देती है जैसे वर्तमान औद्योगिक प्रणाली श्रमिकको बना देती है। इलिच द्वारा प्रस्तुत विकल्पसे बहुत लोग असहमत हैं किन्तु कुछ बातें बुनियादी महत्त्वकी हैं। आचार्य इलिचको मौलिक कविके रूपमें स्वीकार्य मानते हैं, राजनीतिक क्रान्तिकारीके रूपमें नहीं।

डाविन और फ्रॉयडने वैज्ञानिकताका दावा करते हुए भी मनुष्यको 'पशु'से भिन्न नहीं माना। नवफ्रॉयडवादीके रूपमें विख्यात एरिक फ्रॉम जैसे विचारकोंने मानवीय आचरणको प्रभावित करनेवाला प्रबल तत्त्व उस ऐतिहासिक सामाजिक स्थितिमें देखा जिसमें आज मनुष्य है। शिक्षाका उद्देश्य एक ऐसे सुखी और स्वस्थ समाजकी रचना करना है जिसमें स्वतंत्रता, सृजनशीलता, प्रेम, कर्म आदिका सहज विकास हो। प्रत्येक विचारक शिक्षाका उद्देश्य बालकमें सुप्त सृजनशीलता का विकास मानता है। मार्टिन बूबर इस सृजनशीलता को अनस्तित्वमें छिपे जीवनको साकार करनेके लिए एक दैवी पुकार कहते हैं और मानते हैं कि यह पुकार प्रत्येक बालकमें है। बालक कुछ सृजन करना चाहता है। वह प्रत्येक वस्तुके 'होने' और 'हो रहे होने' में अपनी सक्रिय सहभागिता चाहता है। शिक्षा इसी प्रवृत्ति की सक्रिय अभिव्यक्तिमें सहायक होकर सार्थक हो सकती है। 'सिसृक्षा' और 'स्वतंत्रता' की धारणा बूबर की अपनी है। प्रकृति, समाज या नियतिसे 'मुक्ति' के स्थानपर बूबर इन सबके साथ मनुष्यके कम्प्यूनियन (सहभागिता या सम्वादात्मकता)को आवश्यक मानते हैं। वे शिक्षामें पूर्व निश्चित आप्तवाक्य जैसा कुछ स्वीकार नहीं करते। 'होनेके आनन्द' को ही सर्वोपरि माननेवाले जिट्टू कृष्णमूर्ति सभी प्रकारके पूर्वाग्रहोंसे मुक्तिको वरेण्य मानते हैं। सभी समस्याओंका मूल वे 'स्व' की पहचानका अभाव मानते हैं। वे 'स्व' की भी कोई परिभाषा नहीं करते। उसके बोधके लिए सभी बौद्धिक भावानात्मक और सामाजिक आदतों-पूर्वाग्रहोंसे परे होना अनिवार्य मानते हैं। शिक्षा-व्यवस्थाकी सबसे बड़ी कमजोरी वे यह मानते हैं कि वह हमें सम्पूर्ण मनुष्य बनानेके बदले मूलतः एक व्यवसायी, डॉक्टर, इंजीनियर वैज्ञानिक, प्रबन्धक या अन्य कोई विशेषज्ञ मात्र बनाती

है। कृष्णमूर्ति शिक्षाका पहला कार्य यह मानते हैं कि वह व्यक्तिको अपनी मानसिक प्रक्रियाको समझनेमें मदद करे। वे कहते हैं, "शिक्षाका उद्देश्य है सही रिश्तोंकी स्थापना, केवल व्यक्तियोंके बीचही नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाजके बीचभी और इसीलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा सबसे पहले अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाको समझनेमें व्यक्तिकी सहायक हो। शिक्षा यह भूमिका तभी निभा सकती है जब पूरा सामाजिक संगठन भी व्यक्तिको स्वतंत्रता और समग्रताके बोधकी ओर ले जानेवाला हो। नन्दकिशोर आचार्य इसमें इतना और जोड़ते हैं कि सरकारी और गैरसरकारी मीडिया इतना शक्तिशाली है कि यदि अनदेखी की गयी तो वह घर-स्कूल दोनोंको पराजित कर सकती है।

पहले खण्डका अन्तिम लेख महात्मा गांधीपर है जिनका सबसे बड़ा आग्रह 'अहिंसा' है। 'आधुनिकता' के विषयमें जब गांधीजीसे पूछा गया तो उन्होंने व्यंग्य पूर्ण मुस्करानेके साथ कहाया, "इट इज एन इंटरेस्टिंग आइडिया।" नन्दकिशोरजी आधुनिक विचारकोंकी पांति में गांधीको रखते हुए उनके उपर्युक्त वाक्यका स्मरण करते हुए सार्थक टिप्पणी करते हैं कि "(गांधीके विचार) आधुनिकताके सम्मुख सनातनताका सत्याग्रह है।" सत्य, प्रेम, अहिंसा—ये सब गांधीके लिए एक हैं। वे कहते हैं, "जब आप सत्यको ईश्वरके रूपमें पाना चाहते हैं, तो एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम अर्थात् अहिंसा है। और क्योंकि मैं मानता हूँ कि साधन और साध्य पर्यायवाची हैं, अतः मुझे यह कहनेमें कोई हिचक नहीं है कि ईश्वर प्रेम है।" किसीभी प्रकारके राजनीतिक दमन, सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण को गांधीजी हिंसा मानते हैं और उसके विरुद्ध अहिंसा अर्थात् सत्याग्रह करते हैं। केन्द्रीकृत आर्थिक व्यवस्था और आधुनिक प्रौद्योगिकीको वे हिंसक मानते हैं क्योंकि ये मनुष्य और प्रकृतिके अन्यायपूर्ण दोहनपर आधारित हैं। नागरिकको राजतंत्रके सामने असहाय और पराधीन बनानेवाली केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्थाको भी वे हिंसक मानते हैं। गांधीका शिक्षा दर्शन अहिंसक समाजके लिए अहिंसक व्यक्तिके निर्माणको प्रमुखता देता है। उनकी बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य चिन्तन अनुभूति और कर्ममें पूर्ण अहिंसक व्यक्तिका निर्माण करना है। आत्मनिर्भर व्यक्तिका निर्माण 'करो और सीखो' के माध्यमसे ही हो सकता है। गांधीकी शिक्षा



पद्धतिको आधुनिक विशेषज्ञोंने तो छोड़ ही दिया है, गांधीवादी संस्थानोंमें भी उसे कर्मकाण्ड बनाकर ही चलाया जा रहा है। इस विडम्बनापर तीखी टिप्पणी करते हुए नन्दकिशोर आचार्य लिखते हैं कि हम वस्तुतः एक हिंसक मनोवृत्तिवाले समाजका ढांचा अपनाये हुए हैं। गांधीके शिक्षा-चिन्तनकी सार्थकता तब समझमें आयेगी जब अहिंसक और आत्मनिर्भर समाजके निर्माण का लक्ष्य सामने रखकर चला जायेगा। प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री शुभाकरका कहना है कि “हम दरअसल एक तत्त्वमीमांसीय रोगके शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्त्वमीमांसीय ही होना चाहिये। आचार्य मानते हैं कि गांधीका चिन्तनही इस रोगका सही निदान और उपचार बताता है।

पुस्तकका दूसरा खण्ड है ‘प्रक्रिया और स्वरूप’ इसमें सात निबन्ध हैं। पहला है ‘प्रौढ़ शिक्षा सार्थकताकी तलाश’। प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरताको लेकर नेताओं अधिकारियोंमें जो उत्साह है, उसके पीछे सुविचारित संकल्पका पूर्ण अभाव है। बुनियादी समस्याको समझे बिना, विचार और संकल्पके बिना, केवल वोटका शिकार करनेके हथकण्डेके रूपमें भारतमें प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चलाया जा रहा है। गांवके लोगोंको पता ही नहीं है कि उनके गांवमें एक रात्रि पाठशाला चलती है। किसी प्रधान, नवसामन्त या नवधनिकके घरकी किसी परदानशील औरतके नामसे हर महीने कुछ रुपये वसूल हो जाते हैं। सरकारी कागजमें नवसाक्षरोंकी संख्या बढ़ जाती है। नन्दकिशोर आचार्य तो यह मान कर प्रश्न करते हैं कि कार्यक्रम सचमुच हो रहा है, वे पूछते हैं प्रौढ़ शिक्षाका उद्देश्य क्या है? नवसाक्षरोंको अक्षरज्ञानसे क्या मिल रहा है? क्या फर्क पड़ रहा है? इन बुनियादी सवालोंके साथ सच्चाई यह है कि “सामाजिक भेदभाव, शोषण, दमन और भ्रष्टाचारको पनपानेवाला वर्ग मुख्यतः शिक्षित वर्ग है।” मूल्यबोध और सामाजिकताकी भावनाको छोड़ देनेके कारण आधुनिक शिक्षित व्यक्ति अकेला, स्वार्थी और सहा-भूतिविहीन हो चला है। निरक्षरोंको साक्षर करके ऐसा ही बना देना किसके हितमें होगा? आचार्यका कहना है कि “भारतीय सन्दर्भमें प्रौढ़ शिक्षा या साक्षरता कार्यक्रमकी सार्थकता यही हो सकती है कि वह सदियोंसे दलित, शोषित, और उत्पीड़ित व्यक्ति और समाजकी मुक्तिकी प्रक्रिया बने।” तंजानियाके राष्ट्र-

पति ज्यूलियस न्येरेरेके शिक्षा सम्बन्धी स्मरणीय विचारोंका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि “प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमको बाजारू संस्कृतिके सामाजिक मनोवैज्ञानिक परिणामों और हर प्रकारके शोषण, दमन, और उत्पीड़नके विरुद्ध एक प्रत्याक्रमणकी भूमिका अदा करना होगी—शिक्षाके नये मोर्चेपर एक प्रत्याक्रमणकी भूमिका।” इस प्रक्रियाकी जोखिमको भी वे अनदेखा नहीं करते। उसकी ओर भी स्पष्ट संकेत करनेवाला यह लेख नीति-नियमकोंके लिए और उन सबके दिशा-निर्देशकर सकता है जो शिक्षाके प्रश्नपर सचमुच कुछ सोचते हैं। बुनियादी शिक्षाका प्रयोजन शिक्षार्थीकी अन्तर्निहित सृजनशीलताकी अभिव्यक्तिको प्रेरित करना और मानसिक स्तरपर इसके लिए अपेक्षित गुणोंका विकास करना ही हो सकता है। व्यवसायिक दक्षता और जानकारीके अतिरिक्त शिक्षाका महत्त्वपूर्ण प्रयोजन मानवीय मूल्यों और संवेदनाका विकास भी है। अनुशासन शिक्षाके लिए आवश्यक है किन्तु व्यवस्थाके ‘गुप्त’ उद्देश्योंके लिए लादे गये अनुशासनके प्रति विद्रोही बनाना भी सच्ची शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिये। सामाजिक आचरणके सन्दर्भमें शिक्षापर विचार करते हुए आचार्य लिखते हैं कि “आधुनिक समाजोंमें शिक्षा शिक्षक या संरक्षकसे कहीं अधिक उन अमूर्त शक्तियोंपर निर्भर करती है जिनकी प्रक्रिया किन्हीं मानवीय भावनाओंसे अनुप्रेरित होनेकी बजाय पूर्णतया यांत्रिक है। मुद्रण और प्रसार माध्यम अधिक व्ययसाध्य होनेके कारण व्यावसायिक दृष्टिकोणसे निर्देशित एवं नियंत्रित होते हैं। उनका उद्देश्य शिक्षापरक नहीं होता, इसलिए उनमें मानवीय उत्तरदायित्वकी भावनाओंका अभाव होता है। सामाजिक वातावरण अध्यापक, अभिभावक, शिक्षक और परिवारकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली शिक्षा-माध्यम हो जाता है। इसलिए औपचारिक रूपसे घोषित विचारोंके बदले वास्तविक सामाजिक आचरणको सुधारनेकी आवश्यकता है। पाठ्यक्रमोंको भी आधुनिक उपकरणोंके मानवविरोधी स्वरूपको पहचानकर एक ओर मानवीय बनाना होगा तो दूसरी ओर शिक्षार्थीकी विशिष्ट सृजनशीलताकी पहचान और उसके विकासमें सहायक बनाना होगा। ‘आधुनिक मूल्य और शिक्षा’ में रेखांकित किया गया है कि हमें उन बातोंको स्वीकार करना होगा जिनमें आजका समाज अपनी निष्ठा घोषित करता है—चाहे उसका यथार्थ



आचरण कुछ हद तक घोषित निष्ठाके विरुद्ध जाता हो। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्वके आधुनिक मूल्य शिक्षामें कहांतक विकसित हो रहे हैं, यह देखना आवश्यक है। साथही प्रत्येक मनुष्यकी विशिष्टता-अद्वितीयताकी अभिव्यक्तिका माध्यम भी शिक्षाको ही बनना होगा। लेखक इसके लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव देते हैं। 'मानव अधिकार : शिक्षाशास्त्रीय सन्दर्भ' दूसरे खंड का अन्तिम निबन्ध है। इसमें स्मरण कराया गया है कि शिक्षा प्राप्त करना बुनियादी मानवाधिकार है। आधुनिक समाजोंमें राजसत्ता और अर्थसत्ताकी मुखापेक्षी रहकर शिक्षा अपने मूल उद्देश्यसे ही भटक जाती है। सामाजिक वातावरणकी सर्वाधिक शक्तिशाली भूमिकाका यहांभी उल्लेख किया गया है। तत्त्वमीमांसीय रोगका स्मरण यहांभी है।

इस पुस्तककी कुछ असाधारण विशेषताएं हैं जो इसे प्रत्येक सावधान व्यक्तिके लिए पठनीय-संग्रहणीय

बना देती हैं। सूत्रशैलीवाले सार्थक विश्लेषणोंके साथ दार्शनिक विचारोंका क्रमिक विकास यह पुस्तक दिखा देती है। इन दार्शनिक और वैज्ञानिक विचारोंको मानव और शिक्षासे जोड़कर देखना इसकी अन्य उपलब्धि है। किसी एक विचार या विचारधाराके प्रति अन्ध समर्पणके स्थानपर पूर्ण सजग दृष्टिसे इतिहास और वर्तमानको ध्यानमें रखते हुए मानवीय गरिमाकी प्रतिष्ठा लेखककी मूल चिन्ता है। यथार्थके अनेक स्तरों और आयामोंके साथ गहरा परिचय लेखककी दृष्टिको प्रत्येक प्रकारकी संकीर्णतासे ऊपर उठा देता है। बिना सोचे समझे शिक्षाकी समस्यापर धारा प्रवाह बोलने-लिखने वाले देशके नीतिनियमकों और प्रबुद्ध व्यक्तियोंको इस पुस्तकमें बहुत कुछ सीखनेको मिल सकता है। ऐसी पुस्तकको इतनी सस्ती होना चाहिये कि यह सभी लोगोंतक पहुंच सके। □

## शोध : आलोचना

**प्रसाद एवं रवीन्द्रके काव्यमें सौन्दर्य-बोध?**

लेखिका : डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र

समीक्षक : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

दो भिन्न भाषाओंके कवियोंका तुलनात्मक अध्ययन बड़ा कठिन कार्य होता है। यह तभी आधिकारिक एवं विश्वसनीय माना जा सकता है, जब दूसरी भाषापर भी लेखकका समान अधिकार हो। शोध-प्रबन्ध यदि ऐसे विषयपर लिखे जाते हैं, तो उनमें एक कमी सदा अखरती है—सन्तुलनकी। हिन्दीके कविके सम्बन्धमें ढेर सारे उद्धरण जुटाये जाते हैं तथा हिन्दीसे इतर भाषाके तुलनीय कविकी विवेचनाको चलता

कर दिया जाता है। यह लेखककी सीमा होती है, दुर्बलता भी। परन्तु समीक्ष्य कृति एक महान् संकल्पको लेकर चली है तथा लेखिकाकी अनवरत साधना शोध-प्रज्ञा एवं नीरक्षीर विवेककी दृष्टिका पग-पगपर परिचय देती है।

कहना नहीं होगा कि प्रसाद एवं रवीन्द्र दोनों अपनी-अपनी भाषाओंके प्रख्यात कवि हैं। उनकी सौन्दर्य-चेतनाका सम्यक् उद्घाटन इस कृतिका अभीष्ट है। कृतिसे गुजरते हुए यह अनुभव होता है कि हिन्दी के साथ बंगला भाषापर न केवल लेखिकाका समान अधिकार है, वरन् उसने संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट, अंग्रेजी, पाली आदि भाषाओंसे समुचित साक्ष्य एवं प्रमाण जुटाकर कृतिको प्रामाणिकता प्रदान की है। अपने शोधके औचित्य एवं उद्देश्यपर लेखिकाकी

१. प्रका. : वाणी वाटिका प्रकाशन, पटना-८००००४।

पृष्ठ : ५७१; डिमा. ६०; मूल्य : १८०.०० रु।

'प्रकर'—अगस्त'६०—४६



टिप्पणी है: "दोनों महाकवि एकही युगकी देनाहैं। दोनोंका काव्य नव्य चेतनाके आलोकमें और अधिक निखरता चलाहै। दोनोंकी चिन्तनधारा व्यष्टिसे समष्टि और स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर प्रवाहित होती हुई मानवता एवं राष्ट्रीयताको अपने संस्पर्श द्वारा जीवन प्रदान करती रहीहै।...सौन्दर्य संबंधी सैद्धान्तिक विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकोंके विचारोंके आधार पर प्रस्तुत किया गयाहै। इसीमें सौन्दर्य संबंधी सभी बिन्दुओं (यथा: सौन्दर्य-बोधका स्वरूप निर्धारण, सौन्दर्य-बोध और काव्य, सौन्दर्य-बोध रस-बोध इत्यादि) पर विचार कर काव्यात्मक सौन्दर्य बोधके साधक तत्त्वोंका निर्धारण किया गयाहै।" (प्राक्कथन)।

कृति चौदह अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्याय में ही लेखिकाने दोनों कवियोंके तुलनात्मक अध्ययनकी पृष्ठभूमि तैयार कर दीहै। सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन न कर सौन्दर्य-बोधपर बल दिया गयाहै। उसका तर्क है—“सौन्दर्यको शास्त्र न मानकर बोधकी संज्ञा दी गयीहै। क्योंकि वस्तुतः सौन्दर्यबोध कल्पनाका प्रथम सोपान है। यह पहली अनिवार्यता है जिसके अभावमें न साहित्यकार साहित्यकी सृष्टिकर सकताहै और न साहित्य-प्रेमी उसका आस्वादन। सौन्दर्य उभयपक्षीय होताहै। वस्तुकी सत्ता होते हुएभी वह बोध रूपमें विषयगत होकर उपस्थित होताहै। वस्तुकी सत्ता का व्यक्ति-सत्तासे अद्वयगोपन सौन्दर्य बोधकी स्थिति है तथा वहीसे कलाके सृजनका सूत्रपात होताहै। अतएव सौन्दर्य-बोध काव्यधाराकी कोई वृत्तिविशेष नहीं, अपितु सभी प्रकारकी अभिव्यक्तियोंसे संबद्ध है।” (पृ. ४)। इस प्रकार लेखिकाने सौन्दर्य-बोधकी अवधारणा एवं व्यापकताका निरूपण कर शोधके औचित्यकी सीमासा कीहै।

द्वितीय अध्याय सौन्दर्य संबंधी सैद्धान्तिक विवेचना से संबंधित है। इस अध्यायमें सौन्दर्यकी परिभाषा, अवधारणा, अभिव्यक्ति एवं उसके स्वरूपका विशद विवेचन हुआहै। डॉ. कुमार विमलके “सौन्दर्य शास्त्रके तत्त्व” से उद्धरण देकर लेखिकाने सिद्ध कियाहै कि सौन्दर्य चिंतनके प्रारम्भसे ही सौन्दर्यका रूपके साथ संबंध तथा उसकी सृष्टिमें कलाकारकी प्रतिमा, कल्पना, कौशल आदिका महत्त्व स्वीकार किया गयाहै। अरस्तो-तल प्लूटार्क आदिके विचारानुसार कलाकार अपने कौशल द्वारा कुरूपता आदि अपने सौन्दर्यकी समस्या

को सुलझाताहै।” (पृष्ठ १६)। उसने सौन्दर्यके सन्दर्भानुसार अनेक अर्थोंमें प्रयोगको आठ बिन्दुओंमें बांटकर अध्ययन कियाहै—

१. वस्तुके रूपकी विशेषता २. प्राणीके रूपकी विशेषता ३. सौन्दर्य वस्तुके विशिष्ट मूल्यके अर्थमें ४. रूप-सौन्दर्यकी विशिष्ट सौन्दर्यानुभूतिके रूपमें ५. कला या साहित्यमें भाव और कर्मकी संवेद्य अभिव्यक्तिसे प्राप्त अनुभूतिके रूपमें ६. साहित्य और कलाओंमें निहित अभिव्यक्तिकी मार्मिकताके रूपमें ८. दर्शनके क्षेत्रमें ईश्वरकी परिकल्पनाके रूपमें। इसका विवेचन, निरूपण आगेके अध्यायोंमें होता रहाहै।

प्रसाद एवं रवीन्द्रकी सौन्दर्य संबंधी मान्यताओंकी विवेचना करते हुए लेखिका इस निष्कर्षपर पहुंचीहै—“प्रसादजी प्रवृत्तिवादी, रसवादी तथा आनन्दवादी हैं। रवीन्द्रनाथने काव्य, सौन्दर्य एवं सौन्दर्य-बोधको और भी स्पष्ट रूपसे अपनी अध्यापन शैलीमें समझायाहै। वे सत्य, सुन्दर, मंगल एवं आनन्दके मिश्रण तथा भाव-विनिमयका स्पष्टतापर बल देतेहैं।” (पृ. ७३)। सौन्दर्य बोधका अध्ययन लेखिकाने बिम्ब, प्रतीक, कल्पना, अलंकार, छन्द, ध्वनि, वक्रोक्ति रस भाव आदिकी दृष्टिसे कियाहै। उसका माननाहै कि सौन्दर्यके समग्र-अनुशीलनके लिए इन दृष्टिकोणोंका सहारा लेना आवश्यक है। उसने भारतीय सौन्दर्य-बोधके सिद्धान्तको वरीयता दीहै, भलेही पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रका गहन अवगाहन किया गयाहो।

अध्ययन एवं उससे प्राप्त निष्कर्षकी प्रामाणिकता का पता इससे चलताहै कि लेखिकाने एक-एक विचार बिन्दुके विवेचनमें अपनी बहुश्रुतताका परिचय देते हुए दोनों भाषाओंसे सटीक उदाहरण प्रस्तुत कियेहैं। ध्वनिबिम्बका एक उदाहरण जयशंकर प्रसादका देखा जाये :

हाहाकार हुआ क्रंदनमय,  
कठिन कुलिश होते ये चूर।  
हुए दिगंत वधिर भीषण रव  
बार-बार होताथा, क्रूर।  
दिग्दाहोंसे घूम उठे या  
जलधर उठे क्षितिज तटके।  
सघन गगनमें भीम प्रकंपन  
झंझा से चलते झटके।

प्रसाद ग्रंथावली, भाग, पृ. ४२३।



इस उद्धरणमें 'दिगंतकी बधिरता' सांद्रताको बढ़ाती है । हाहाकारका क्रंदनमय होना भीषणता और संत्रासकी अनुभूतियोंको अपेक्षाकृत गहन बनाता है । रवीन्द्रका एक कोमल ध्वनिबिम्ब प्रस्तुत है—

कालि मधुयामिनी ते ज्योत्स्ना निशीथे  
कुञ्ज कानने सुखे  
फनिलोच्छल यौवन सुरा धरेछि तोमार मुखे ।  
संचयिता, पृ. ५०

स्पर्श बिम्बका एक उदाहरण ध्यातव्य है—  
है स्पर्श मलयके झिलमिल-सा संज्ञाको और सुलाता है ।  
पुलकित हो आंखें बंद किये तंद्राको पास बुलाता है ।

—प्रसाद ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृष्ठ ४७७ ।  
त्वक् संबंधी संवेदनाको जगानेवाले बिम्ब स्पर्श बिम्ब कहलाते हैं । ऊपर स्पर्श-संवेदनाका तरल और सूक्ष्म बिम्ब है । यहां स्पर्शके तीन, प्रभाव अंकित हैं—संज्ञाको सुलाना, पुलकित हो आंखें बंदकर देना और तंद्राको पास बुलाना । रवीन्द्रनाथ द्वारा व्यक्त प्रकृत-चित्रणका एक स्पर्श बिम्ब तुलनार्थ ध्यातव्य है—

धरा हते  
माझे माझे उच्छ्वसि आसित वायु स्रोते  
धरणीर सुदीर्घ निश्वास-खसि झरि  
पड़ित नंदन वने कुसुम मंजरि ।

—संचयिता, पृ. २५४ ।  
पृथ्वीका दीर्घ निःश्वास वायुके स्रोतमें बहकर बीच-बीच में ऊपर आना इस स्पर्श-बिम्बकी विशेषता है । ऐसे बिम्ब प्रतीक ध्वनि, अलंकार, कल्पनासे संबंधित सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं । ये प्रमाण यह पुष्ट करते हैं कि दोनोंकी कृतियोंका गहन अध्ययन लेखिकाने किया है, (एक अध्यायमें दोनोंकी कृतियोंका विवेचन भी हुआ है) साथही तुलनीय पक्षको साधिकार उभारा है ।

रसको काव्यकी आत्मा माना गया है । फलतः दोनों कवियोंकी रस-योजनापर विचार किया गया है । विस्तारमें न जाकर संयोग-शृंगारका एक-एक उदाहरण देखा जाये—

कुचल उठा आनन्द, यही है बाधा दूर हटाओ,  
अपने ही अनुकूल सुखोंको मिलने दो मिल जाओ ।  
और एक व्याकुल चुम्बन रक्त खोलता जिससे,  
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्तिके मिससे ।  
—प्रसाद ग्रंथावली, प्रथम खंड—पृ. ६१५ ।

शारीरिक मिलनमें बाधा न सह सकनेवाला प्रेमी प्रिया का चुम्बन लेतेही आवेशकी चरम सीमा चूम लेता है । रवीन्द्रनाथके 'कडिओ कोमल' तथा 'छवि ओ गान' आदि किशोरावस्थाकी रचनाओंमें ऐसे चित्र मिलते हैं—

अधरेर कानेन जेन अधरेर भाषा,  
दोहाँर हृदय जेन दोहे पान करे—  
गृह छेड़े निरुद्देश्य भालो वासा,  
तीर्थयात्रा करियाछे अधर संगमें ।  
दुइति तरंग उठि प्रेमेर नियमे,  
भंगिया मिलिया जाय दुइरि अधट ॥

—संचयिता, पृ. ४८ ।

लेखिका इस निष्कर्षपर पहुंची है—“जयशंकर प्रसाद और रवीन्द्रनाथके काव्यमें व्यापक अनुभव, तीव्र अनुभूति विशुद्ध कल्पना और समर्थ अभिव्यंजनाके कारण समस्त काव्य-सौन्दर्यके साधक तत्त्वोंके पूर्ण वैभवके साथ वैविध्यपूर्ण भावोंकी अभिव्यक्ति हुई है । सर्वत्र भारतीय दर्शन और मानवतावादी दृष्टिकोण संवेदनशील एवं स्पंदनशील रूपमें रूपायित हुआ है ।” (पृ. ५४१) । यह निष्कर्ष उसके गहन अध्ययनका परिणाम है । मेरी जानकारीमें इन महान् कवियोंके सौंदर्य-बोधके तुलनात्मक अध्ययनका यह प्रथम और सफल प्रयास कहा जा सकता है । कृतिके वर्ण-वर्णसे लेखिकाके पांडित्यका पता चलता है ।

कृतिकी कुछ सीमाएं भी हैं (दुर्बलता कहना उचित नहीं) । प्रत्येक अध्यायमें सिद्धांत पक्ष (सौंदर्य-बोधका सिद्धान्त छोड़कर) को इतना विस्तार देनेकी अपेक्षा नहीं थी । उदाहरणके साथही सिद्धान्त लक्षणका संकेत भर कर दिया जाता, तो अवांछित विस्तारसे बचा जा सकता था । ‘उपसंहार’ वाला अध्याय पूरे प्रबन्ध का सार होता है ।

अनुसंधित्सु अपनी मौलिक स्थापनाका उल्लेख करता है । किसी मूल्य, निष्कर्षपर पहुंचता है । इस अध्यायमें विभिन्न विद्वानोंके साक्ष्यकी कतई अपेक्षा नहीं है, जबकि पूरी कृति साक्ष्योंसे भरी पड़ी है । इसके दीर्घ-काय आकारको अपेक्षाकृत छोटा बनाया जाता, तो वह अधिक उपादेय होती । प्रेसकी कई भूलें हैं, जो लाख सावधानीके बाद भी रह गयी हैं । □



## नरेश मेहताका साहित्य : एक अनुशीलन ?

लेखिका : डॉ. विद्या सिंह

समीक्षक : डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

नरेश मेहताको कुछ समय पूर्व साहित्य अकादमी पुरस्कारसे सम्मानित किया गया है। हालांकि इस प्रकार के पुरस्कार कोई विशेष अर्थ नहीं रखते लेकिन प्रतिभा की स्वीकृतिके प्रमाण तो वे होतेही हैं। इससे यह भी पता चलता है कि अभी रचनाकार एकदम अप्रासंगिक नहीं हो गया है। नरेश मेहता आज भी लिख रहे हैं और उनके लिखे हुए पर आज भी ध्यान जाता है, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। श्री मेहताके साहित्यके विभिन्न पक्षोंपर अलग अलग कई समीक्षात्मक कृतियोंका उपलब्ध होना यही प्रमाणित करता है। लेकिन उनकी समग्र रचनाशीलता पर किसी कृतिके अभावकी पूर्ति पहली बार हुई है। छह अध्यायोंमें विभक्त यह प्रबन्ध श्री मेहताके काव्य, कथासाहित्य नाटकों और स्फुट रचनाओंका एक साथ किन्तु सजग एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करनेके उद्देश्यसे रचित है। 'अपनी बात' से स्पष्ट है कि शोध लेखिका विद्यासिंह नरेश मेहताके साहित्यको एक 'पवित्र आत्मिक अनुष्ठान' मानकर इस शोधकार्यमें प्रवृत्त हुई हैं।

पहले अध्याय 'विषय प्रवेश' में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे उल्लेखनीय कहा जाये। कुछ सूचनाएं अवश्य ध्यान आकर्षित करती हैं। जैसे कि नरेश मेहताके अनुसार त्यागपत्र गोदानसे कहीं प्रभावकारी रचना है (पृष्ठ १९)। वे महात्मा गांधीको भारतीयताका श्रेष्ठतम रूप मानते हैं। पटेल, सुभाष या नेहरूको वे भारतीय स्वाधीनताका पर्याय नहीं समझते (पृ. २८)। द्वितीय अध्यायमें समस्त कृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। शोध प्रबन्धके उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण अध्याय—तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्याय ही हैं। तृतीय अध्यायमें काव्यकृतियोंका विवेचनात्मक अध्ययन हुआ है। इस अध्यायमें कविके जीवन दर्शनकी मीमांसा में उसके वेदना भावकी चर्चा हुई है। लेखिकाने कविके वेदना भावको दूसरोंके वेदना भावसे अलगाते हुए बहुत

सही लिखा है—“सामान्यतः नये कवियोंमें जो वेदना भाव है, वह जीवनको निष्क्रियतासे जोड़ता है किन्तु नरेश जीकी वेदना-निर्माणकी पृष्ठभूमि निर्मित करती है। उसमें सबकुछ सहकर भी कुछकर गुजरनेकी बलवती भावना है” (पृ. ५२)। इसी अध्यायमें डॉ. सिंहने डॉ. हरिचरण शर्माकी इस स्थापनासे सहमति व्यक्त की है कि श्री मेहता व्यक्तिवादी नहीं हैं और उनकी सामाजिकतापर संदेहकी गुंजाइश नहीं है (पृ. ६२)। कई प्रसंगोंपर पर्याप्त विवेचनके बाद किसी निष्कर्ष पर पहुंचना वस्तुनिष्ठ शोध-प्रक्रियाकी गवाही देता है। उदाहरणके लिए, 'संशयकी एक रात' में छाया और पक्षी प्रसंगसे संबद्ध विवेचन द्रष्टव्य है (पृ. ८२-८३)।

चतुर्थ अध्यायमें नाट्य साहित्यपर—विचार करते हुए पाया गया है कि नाट्य संबंधी आधुनिक दृष्टि ग्रहणकर नाटक लिखनेमें नरेश मेहताका योगदान उल्लेखनीय है। (पृ. १०५) किन्तु 'नाटक' उनकी मूल विधा नहीं है। पंचम अध्यायका शीर्षक है—'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और नरेश मेहता'। इसमें उनके 'यह पथ बंधु था', 'डूबते मस्तूल', 'धूमकेतु : एक श्रुति', 'नदी यज्ञस्वी है' आदि उपन्यासोंका अनुशीलन करते हुए डॉ. विद्या सिंह इस निष्कर्षपर पहुंची हैं कि नरेशजी मूलतः कवि हैं अतः उनके उपन्यासोंका काव्योपन्यास होजाना अस्वाभाविक नहीं है (पृष्ठ १६५)। उन्होंने नरेश मेहताके उपन्यासोंकी सीमाको अनदेखा नहीं किया है। 'उत्तरकथा' के सम्बन्धमें उनकी निर्भ्रांत मान्यता है कि इसमें जहां एक ओर उपन्यासकारकी विपुल जानकारी है, वहीं मूल कथाको क्षति भी पहुंची है (पृ. १६४)। श्री मेहताकी कहानियोंका अनुशीलन करके डॉ. विद्या सिंहने पाया है कि उनकी अधिकतर कहानियोंमें कथानकका अभाव है, किन्तु उन्होंने इस अभावकी क्षतिपूर्ति पात्रोंके चरित्र-उद्घाटन तथा व्यक्तिको उभारकर की है (पृ. १७०)। छठे अध्याय 'स्फुट साहित्य' में नरेश मेहताके निबंधों, संग्रहोंकी भूमिकाओं और उनके सम्पादन-कार्यपर विहंगम दृष्टिपात है। इस अध्यायमें उनकी भूमिकाओं से लिये गये एक विचारकी चर्चा ध्यान खींचनेवाली है, वे हिन्दीकी मानक भाषा और बोलियोंके मध्य विन्यासगत आदान-प्रदानके समर्थक हैं (पृ. १८३)। प्रबंधके अन्तमें नरेश मेहतासे बातचीत दी गयी है, जिसका उपयोग इस प्रबन्धमें यथास्थान होता रहा है।

१. प्रका. : ग्रन्थायन, सर्वोदय नगर, सासनी द्वार, अयोध्या-२०२००१। पृष्ठ : १६६; डिमा. ६०; मूल्य : ६०.०० रु.।



समग्रतः यह प्रबन्ध आजके औसत शोध प्रबन्धोंका प्रतिनिधित्व करता है। शोध प्रविधिकी दृष्टिसे यह एकदम चुस्त दुरुस्त है, हालांकि इसमें नरेश मेहताके साहित्यके किसी सर्वथा नये अथवा अज्ञात पक्षका उद्घाटन नहीं हुआ है। प्रायः डॉ. विद्या सिंहने ज्ञात स्थानाओंके पक्ष या विपक्षको अपनी सहमति प्रदान की है। अतः इस प्रबन्धमें अनुसंधानकी अपेक्षा 'समीक्षा' का

स्वर अधिक मुखर है। इस 'समीक्षा' में निष्कर्षोंको प्रमाणोंसे पुष्ट करनेकी प्रवृत्ति सर्वत्र विद्यमान है, अतः यह न केवल आश्वस्त करती है अपितु लेखिकाकी तर्कशक्ति और विषय-प्रतिपादन-शक्तिको प्रमाणित भी करती है। निश्चयही यह कृति नरेश मेहताके साहित्यके मर्मको समझने-समझानेमें सफल है। □

## उपन्यास

### धम्मं शरणम्?

लेखक : सुरेशकान्त

ममीक्षक : मधुरेश

साहित्यके क्षेत्रमें अपने वर्तमानकी चिन्तासे प्रेरित होकर इतिहासकी ओर जानेके अनेक उदाहरण सहजता से उपलब्ध हैं। यशपालने 'दिव्या' की भूमिकामें स्पष्ट रूपसे घोषणा की कि इतिहास विश्वासकी नहीं, तर्क और विश्लेषणकी वस्तु है। वर्तमानकी चिन्तासे इतिहास का अन्वेषण जराभी आपत्तिजनक नहीं है क्योंकि इसकी सम्भावनाओंको समाप्त कर देनेका अभिप्राय है इतिहासको एक मृत और जड़वस्तु मान लेना—जो वह नहीं है। शायद इसी अर्थमें, जैसा कि एक यूरोपीय इतिहासकारने कहा है, हर इतिहास समकालीन इतिहास ही होता है। लेकिन जब कोई लेखक किसी ऐतिहासिक कालखंडको अपनी रचनावस्तुके लिए चुनता है तो वर्तमानके प्रति उसकी सारी आत्मीय चिन्ता और सजगता के बावजूद, रचनामें अतीतही मुखर होना चाहिये, वर्तमान नहीं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर लिखी गयी सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण रचनाएं ऐसे प्रसंगों, घटनाओं और पात्रोंका चुनाव और पुनर्सर्जन करती हैं कि रच-

नाओंका अतीतही वर्तमान बन जाता है। लेखक जितनी सफलतापूर्वक इस अनुशासनको साध पाता है, उसी अनुपातमें उसकी रचना प्राणवान् और कला-मूल्योंकी संरक्षिका होती है। सुरेशकान्तका उपन्यास 'धम्मं शरणम्' ऐसीही वैचारिक दृष्टिका अच्छा उदाहरण है।

लेखक रूपमें सुरेशकान्तकी मूल चिन्ता धर्म और राजनीतिके गठजोड़से, धर्मके वर्चस्वके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय विघटनकी अनिवार्य प्रक्रियाको रेखांकित करना है। उनकी इस रचनात्मक चिन्ताके पीछे, स्पष्टही, अपने समयकी विघटनकारी शक्तियां हैं जो धर्मके नामपर विद्वेष और घृणा फैलाकर देशको खण्डित करना चाहती हैं। पिछले एक दशकसे भी अधिकसे पंजाबमें जो कुछ हो रहा है, अन्य लोगोंकी भांति वह लेखकको भी क्षुब्ध एवं आलोड़ित करता रहा है। धर्मके नामपर हिंसा और साम्प्रदायिक विद्वेषका सहारा लेकर अपने तात्कालिक लाभके लिए विदेशी तत्त्वोंकी सहायतासे राष्ट्रकी स्वाधीनता और प्रभु सत्ताको ही चुनौती देना कैसे अनिष्टकारी एवं दूरगामी परिणामोंकी ओर लेजाता है, यह चिन्ताही इस उपन्यासकी मुख्य और मूल चिन्ता है। इसके लिए लेखक मौर्य साम्राज्यके अन्तिम कुछ वर्षों में बौद्धधर्मकी पतनशील और राष्ट्रविरोधी भूमिकाके माध्यमसे सेनानी पुष्यमित्रके रूपमें राष्ट्रीय अस्मिता और प्रभुसत्ताके लिए किये गये जीवनव्यापी संघर्षकी पृष्ठभूमि चुनता है। पूरी रचना लेखककी लक्ष्य सिद्धिकी

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२ । पृष्ठ : २३५; डिमा. ८६; मूल्य : १२५.०० रु. ।

'प्रकर'—अगस्त '९०—५०



इस आकुलतासे प्रभावित और आक्रान्त है। पुण्यमित्र बौद्धधर्मके राष्ट्रघाती षड्यन्त्रोंके विरुद्ध संगठित संघर्ष द्वारा तथाकथित धर्मकी इस मानवविरोधी भूमिकाको स्पष्ट करता है और विखण्डितप्राय राष्ट्रके पुनर्गठनके लिए आचार्य दण्डपाणिके संरक्षणमें एक बार फिर वैसा ही प्रयास करता है जैसा उससे दो शताब्दी पूर्व आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्यके निर्देशनमें स्वयं मौर्य साम्राज्यके संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्तने किया था। लेखकने बौद्धधर्मके षड्यन्त्रोंके उद्घाटन और राष्ट्रीय स्तरपर उसकी विघटनकारी भूमिकाको अंकित कर पुण्यमित्रके मनमें बौद्धधर्मके प्रति गहरी जमी घृणाके वास्तविक कारणों की ओर संकेत किया है जो उसे बौद्धधर्मके प्रति इतना असहिष्णु और कटु बना देती है कि, जैसा कि इतिहासमें ज़ल्लेख मिलता है, न केवल वह बोधि गयाका वह वृक्ष कटवाकर उसकी जड़में अंगार भरवा देता है जिसके नीचे बैठकर गौतमने बुद्धत्व प्राप्त किया था बल्कि वह यह घोषणाभी कर सकता है कि जो किसी मुण्डी—बौद्ध धर्मके लिए घृणास्पद शब्द—का सिर काटकर लायेगा उसे स्वर्ण मुद्राओं—दीनारों—से पुरस्कृत किया जायेगा।

श्रावस्तीका जेतवन विहार और पाटलिपुत्रका कुक्कुटविहार—ये दोनोंही स्थल—राजसत्ताके धार्मिक संरक्षणके फलस्वरूप अनेकविध षड्यन्त्रोंकी प्रमुख कार्यस्थलीके रूपमें अंकित हैं। कुक्कुटविहार को लेखकने पूरी तरहसे अमृतसरके स्वर्ण मन्दिरका मॉडल बनाकर प्रस्तुत किया है जो धर्मके नामपर अपराधियों और कुटिल षड्यन्त्रकारियोंकी स्थायी शरण्य बनकर रह गया है। श्रावस्तीके जेतवन विहारके स्थविर बुद्धघोष द्वारा उच्चरित शब्द 'हत्या' से उपन्यास नाटकीय ढंगसे शुरू होता है और यह उच्चार जेतवन विहारके अभ्यन्तर कक्षमें ही नहीं गूंजा—पूरे उपन्यासमें आरम्भसे अन्ततक गूंजा रहता है। धर्मचक्र प्रवर्तन करते हुए जब गौतम बुद्ध या श्रावस्ती आयेथे तो उन्होंने इसी जेतवनमें विश्राम किया और आज वही जेतवन राष्ट्रविरोधी षड्यन्त्रोंका प्रमुख केन्द्र है। बौद्धधर्मके सारे स्थविरोंकी चिन्ता सम्राट् सम्प्रतिने बौद्धधर्म छोड़कर जैनधर्म स्वीकार कर लिया है। यहां बौद्ध और जैन धर्मोंकी मूल स्थापनाओं की समानता और उनके मानवीय संदेशकी चिन्ता न

होकर राज्याश्रय एवं संरक्षणकी चिन्ताही प्रमुख है। सम्राट् सम्प्रति द्वारा जैनधर्म ग्रहण कर लेनेका सीधा अर्थ इन स्थविरों द्वारा यह लगाया जाता है कि जो राज्याश्रय अबतक बौद्धधर्मको प्राप्त था वह अब जैनधर्मको प्राप्त होगा जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध स्थविरों की सहज सुलभ सुविधाएं और निर्बाध वर्चस्व समाप्त हो जायेंगे। इसीलिए वे सब एकत्रित होकर एकमतसे सम्राट् सम्प्रतिकी हत्याका प्रस्ताव परित करते हैं और अपनी इस योजनाको सफल बनानेकी दिशामें सक्रिय हो उठते हैं। उसके स्थानपर राजकुमार शालिशुक या भववर्माको राजा बनाकर वे अपना वर्चस्व यथावत् बनाये रखना चाहते हैं।

किसी धर्मको राज्याश्रय प्राप्त होनेके परिणाम राष्ट्रीय विकास और अखण्डताके लिए कितने घातक हो सकते हैं, बौद्धधर्मके संदर्भमें इस तथ्यका रेखांकन इससे पूर्वभी अनेक लेखकोंने अपनी कृतियोंमें किया है। वर्ण व्यवस्थापर निर्णायक चोट करके जातिगत दंभके उच्छेदमें बौद्धधर्मकी भूमिका निस्संदेह क्रांतिकारी थी। उसमें करुणा और अहिंसाका मानवीय संस्पर्श व्यक्तिके नैतिक उत्थानकी महती संभावनाएं लिये था। अपनी इन मूल प्रतिज्ञाओंका लाभभी उसे मिला। लेकिन सम्राट् अशोक द्वारा उसे राज्यधर्म घोषित कर दिये जानेके बाद उसके दूरगामी परिणाम हुए। आधुनिक युगमें गौतम बुद्धके समताके अनेक सूत्रोंकी ओर संकेत किया है। अपने विकास-क्रममें बौद्धधर्म अनेक जनविरोधी असामाजिक गतिविधियोंमें लिप्त होता गया। अशोकके कालमें, सद्धर्मके प्रचार-प्रसारके नाम पर जो सुविधाएं बौद्ध स्थविरों और श्रावकोंको उपलब्ध थीं उनके कारण अनेक वे लोगभी उसमें शामिल होते गये जिनकी बौद्धधर्म या बुद्धके सिद्धान्तोंमें कोई आस्था न थी। धर्म और राजनीतिका गठजोड़, धर्मके मूल स्वरूपको विस्मृतकरके कैसे असामाजिक और आपराधिक तत्त्वोंको संरक्षण देता है—कांग्रेस और सिख आतंकवादियोंसे भी बहुत पहले बौद्धधर्ममें इस कथ्यको देखा जा सकता है। यदि अनेक साम्प्रदायिक इतिहास लेखकोंकी बात छोड़ भी दी जाये, तो यशपाल ने 'अमिता' में कदाचित् सबसे पहले राज्याश्रयके परिणाम-स्वरूप बौद्धधर्मके षड्यन्त्रकारी और हिंसक स्वरूप को उद्घाटित किया था। धर्म-विजयकी आकांक्षाके कारण सम्राट् अशोकने ही सैन्य संगठनकी उपेक्षा की



जिससे अनेक क्षेत्रोंमें राष्ट्रीय अखंडताको चुनौती मिलने लगी। अशोककी मृत्युके दो वर्ष बादही आन्ध्रमें विद्रोह हुआ और सीमुकके नेतृत्वमें नया स्वतंत्र राज्य स्थापित होगया। बादमें उस कलिंगमें भी यही सब दोहराया गया जिसमें हुए भयंकर रक्तपातके परिणामस्वरूप वह सद्धर्ममें दीक्षित हुआथा।

सुरेशकांतने 'धम्मं शरणम्'में जिस कालके भारत का चित्र अंकित कियाहै वह वस्तुतः अशोक के शताब्दियों बादका भारत है। यह घोर राजनीतिक अस्थिरता और विदेशी आक्रमण के सम्भावित संकटसे आच्छन्न भारत है। सम्प्रतिके बाद शालिशुक, देववर्मा और शतधनुष थोड़े-थोड़े समय के लिए मगधके राजसिंहासनपर बैठतेहैं और सद्धर्मके संरक्षकों एवं संचालकोंके राष्ट्रघाती षड्यन्त्रोंके परिणामस्वरूप बढ़ती हुई अस्थिरताके कारण राष्ट्रकी अखण्डता एवं प्रभुसत्ताका निरन्तर संकट बढ़ता जाता है। उत्तर पश्चिम सीमान्तपर सेल्यूकसके ग्रीक क्षत्रप अब स्वतंत्र राज्य स्थापित कर चुकेहैं और भारतकी जैसी स्थिति है उससे किसीको भी लाभ उठानेका लोभ जाग सकताहै। ऐसेही समयमें पुष्यमित्र, जो मूलतः मौर्य साम्राज्यकी एक सैन्य टुकड़ीका अधिपति था, अपने अप्रतिम साहस और राष्ट्रीय चिन्तासे प्रेरित होकर स्थितिके विरोधमें उठ खड़ा होताहै। वाह्लीकमें ग्रीक आक्रमणका न केवल वह सफल प्रतिरोध करताहै, बादमें अंबुलिमके घाटपर सिन्धुपार करनेके यवनोंके प्रयासको विफल मनोरथ करनेके उपलक्ष्यमें उसे 'सेनानी' की गौरवपूर्ण उपाधिभी प्राप्त होतीहै। यवनोंके प्रतिरोधके लिए पश्चिमोत्तर सीमान्तपर गणराज्योंको पुनर्गठित करनेके प्रयासमें विफल होकर वह मौर्यकुलमें से ही किसीके माध्यमसे लुप्तप्राय शक्ति और राष्ट्रीय अस्मिताको पुनर्जीवित करनेका प्रयास करताहै। बौद्ध स्थविरोंके षड्यन्त्रोंको औशनस नीतिसे विफल करने की बातभी वह आचार्य दण्डपाणिसे कहताहै क्योंकि आचार्य चाणक्यसे उसने 'विषस्य विषमौषधम्' एवं 'शठे शाठ्यम् समाचरेत्'का नीतिमंत्र लियाहै। शालिशुकके बाद वह देववर्माको इसलिए सम्राट बनानेके पक्ष में है क्योंकि न तो वह शालिशुककी तरह विलासी है और न ही स्थविरोंके प्रभावमें। अपनी मां देवयानीके प्रभाव-वृत्तमें होनेके कारण वह लुप्तप्राय पर आर्य पर-

म्पराके प्रति गौरव अनुभव करताहै। यवनोंके विरुद्ध पुष्यमित्रकी युद्धनीति यह है कि गणराज्य भलेही संगठित होकर युद्ध न कर सकें, लेकिन अकेले-अकेले यवनोंसे उनके युद्ध करनेपर भी यवन-शक्ति क्षीण होगी और तब उसपर विजय पाना सरल होगा। समूची राजनीति का संचालन करनेवाले स्थविरोंके प्रभावमें, देववर्माकी हत्याके बाद जब शतधनुष सत्ता संभालताहै तो वह पुनः सैन्य विघटनका आदेश देते हुए पुष्यमित्रको 'सेनानी' के पदसे च्युत करनेका भी आदेश देताहै। इसीका प्रतिरोध करते हुए वह सैनिकोंको एकत्र करके उनके समक्ष अपनी नीति घोषित करता हुआ कहताहै: 'मैंभी मौर्य सम्राटकी प्रजा हूं। उनके राज-शासनके सम्मुख सिर झुका देना मेराभी कर्तव्य है। पर मैंने राजद्रोह करनेका निर्णय लियाहै। जानतेहो, किसलिए? इसलिए कि सम्राटकी तुलनामें भी एक उच्चतर सत्ता है, और वह है जन्मभूमि या स्वदेश। जब किसी राज-कुमारको सम्राटके पदपर अभिषिक्त किया जाताहै तो उसे प्रजापालन और देश-रक्षाकी शपथ दिलायी जातहै। आर्योंकी यही परम्परा है। पर यदि सम्राट इस पवित्र प्रतिज्ञाका पालन न करे तो क्या उसे राजसिंहासनपर आरुढ़ रहनेका अधिकार रह जाताहै... (पृ. १६३)।

पुष्यमित्र एक ओर यदि वाह्लीकके यवन शासक एवुथिदिम और उसके युवापुत्र दिमित्रके सैन्य विस्तार और पुनर्गठनसे चिन्तित है तो दूसरी ओर वह देशमें ही बौद्ध स्थविरोंकी भूमिकासे भी क्षुब्ध है। भारतपर आक्रमण और शासनकी आकांक्षासे यदि वाह्लीक-सीरिया आदिके यवन शासक परस्पर कूटनीतिक संधि करतेहैं तो भारतके बौद्ध स्थविर बिना लड़े और बिना प्रतिरोधके ही समर्पणकर देनेकी नीतिको धार्मिक रंगमें रंगकर प्रस्तुत करतेहैं। उनके लिए युद्ध हिंसा है। यवनों का प्रतिरोध उस हिंसाको बढ़ायेगा। अतः उनके मते शान्तिपूर्ण समर्पणही इस हिंसाको रोकनेका एकमात्र उपाय है। कुक्कुट विहारके स्थविर मोगलानके विषयमें देवगुप्तकी टिप्पणी है... 'मोगलान बड़ा धूर्त कूटनीतिज्ञ है...' (पृ. ८६)। पुष्यमित्र उसके चरित्रपर अभिमत है... 'वह न केवल धूर्त, अपितु क्रूरभी हैं...' (पृ. १६५)। वह राष्ट्र विरोधी षड्यन्त्रोंका प्रमुख सूत्रधार है। सारे कुचक्रका स्रष्टा और और व्यापक हिंसामें लिप्त होनेपर भी शालिशुकके राज्याभिषेकके अवसरपर वह सद्धर्मके उत्कर्ष, प्रजाहित,



राजाके कर्तव्य और अहिंसाके महत्त्व आदिपर जो धाराप्रवाह प्रवचन देता है, उससे उसकी और समूचे सद्धर्मकी वास्तविकता सामने आ जाती है। धार्मिक उन्माद में वह उचित-अनुचितका विवेक पूरी तरह खो चुका है। जो मोगलानके षड्यन्त्रमें उसकी सहायता करते हैं, शालिशुकके सम्राट् बन जानेपर उन्हें ही प्रशासनमें ऊँचे और विश्वसनीय पद सौंपे जाते हैं। नये राज-शासन और आदेश पारित किये जाते हैं। स्कन्धावारों और सैन्य संगठनको विघटित करनेकी प्रक्रिया फिर शुरू हो जाती है क्योंकि सद्धर्मके धर्मविजयमें इनके लिए कोई स्थान नहीं है। सम्प्रतिके कालमें जो लोग जैनधर्मके प्रति आस्थावान् होनेके कारण महत्त्वपूर्ण पदोंपर थे, उन सबको अपदस्थ करके अपने विश्वसनीय व्यक्तियोंको लाया जाता है। शासकीय आदेश पारित करके जनताके लिए सद्धर्मका उपदेश अनिवार्य कर दिया जाता है।

मोगलानके ही निर्देशपर उसकी कूट योजनानुसार निपुणक और उसके सहयोगियों द्वारा भववर्मा और देवभूतिकी हत्याकर दी जाती है। शालिशुकको विहारमें ही मुरामुन्दरीके कल्मषमें डुबोकर मरनेके लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। देवगुप्त और चन्द्रकीर्तिको बन्दी बनाकर कुक्कुटविहारमें एक पंक्तिमें खड़ा करके, उनकी गर्दनकी नसें काटकर उनकी निर्मम हत्या की जाती है। आचार्य दण्डपाणिको बन्दी बनाकर बन्दीगृहके द्वार और झरोखोंपर शिलाएं जड़दी जाती हैं। स्थविर अंगुल द्वारा पुष्यमित्रकी पत्नी दिव्याका अपहरण कर चैत्यगिरि विहारमें बन्दी बनाकर रखा जाता है। स्थविर कसपको यवन दिमित्रके शासनमें सम्राट् अशोकका युग लौट आनेकी संभावना दिखायी देती है। वह नागसेन को पुष्यमित्रके विरुद्ध दिमित्रकी सहायता प्राप्त करने का आदेश देता है। जेतवन विहारके स्थविर बुधगुप्त और मज्झिम पाटलिपुत्रके कुक्कुटविहारसे सम्पर्क बनाये रखकर इसी प्रकार सद्धर्मके विकासमें सक्रिय हैं। पाटलिपुत्रसे लेकर कपिश-गाँधारतक सब कहीं बौद्ध-विहारोंकी यही भूमिका है। इसीके विरोधमें आचार्य दण्डपाणि और पुष्यमित्र देशकी अखण्डता और अस्मिता के लिए संघर्ष करते हैं। वे पाटलिपुत्रसे लेकर बाह्यलीक तककी यात्राएं करते हैं और 'सद्धर्मकी राष्ट्रघाती सक्रियताके विरुद्ध जन-जागरण और सैन्य-संगठनका अभियान चलाते हैं। आचार्य दण्डपाणि दण्डनीतिके प्रवक्ता ही नहीं, प्रयोक्ता भी हैं। उनका स्पष्ट मत है :

‘राजाओंका काम काषाय वस्त्र पहन और सिर मुँडाकर परलोककी चिन्ता करना या निर्वाणके लिए प्रयत्न करना नहीं है। उनका कार्य तो खड्ग हाथमें ले दस्युओंका संहार करना और शत्रुओंसे देशकी रक्षा करना है।’ (पृ. १२३)।

‘धम्मं शरणम्’ की रचना-वस्तुके इस विश्लेषण से उसके उद्देश्यको सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। लेखक अपने समयकी एक जटिल समस्यापर इतिहासके एक विशिष्ट काल-खण्डकी पृष्ठभूमिमें टिप्पणी करके समाधानको आतुर है। उसके द्वारा चुने गये कालखण्डमें बौद्धधर्मके इस एकांगी स्वरूपको स्वीकारभी कर लिया जाये तो भी रचनात्मक अनुशासनके अभावमें व्यक्तियों एवं घटनाओंपर लेखककी अपनी टिप्पणियां वस्तुपरकताके तर्कको झुठलाती हैं। अपनी अन्तिम परिणतिमें घटनाएं और पात्र विश्वसनीयताके तर्कसे संचालित न होकर लेखककी अपनी इच्छाको ही सर्वोपरि मानकर चलते दिखायी देते हैं। लेखक चित्रणसे अधिक विवरण और इतिवृत्तपर बल देता है जिसके कारण घटनाएं घटित कम होती हैं, सूचनाके स्तरपर वे अधिक सम्प्रेषित होती हैं। बौद्धधर्म और स्थविरोंके विरुद्ध लेखक की व्यंग्योक्तियां स्वतःस्फूर्त कम, आरोपित अधिक हैं। जिसके परिणामस्वरूप रचनात्मक स्खलनसे बच पाना कठिन होता है। इसी प्रकार अतीतपर वर्तमानका बहुत स्थूल आरोपण रचनाके प्रति उस संवेदनहीनताका परिणाम है जिससे ऐतिहासिक उपन्यासकी सार्थकताही संदिग्ध होजाती है। शालिशुककी रक्षा-व्यवस्थामें राजीव गांधीकी रक्षा व्यवस्थाकी झलक बहुत स्पष्ट है। उसके राज्याभिषेकके बाद महत्त्वपूर्ण पदोंपर विश्वसनीय व्यक्तियोंकी नियुक्तिका प्रसंग—जिसमें गणिका चंद्रलेखाका भाई मृदंगवादक मयूरध्वज समाहर्ता और निपुणक रसोइया से अन्तर्वांशिक बना दिये जाते हैं—एक बार फिर राजीव गांधीके मन्त्रीमण्डलपर अतिरंजनापूर्ण टिप्पणी जैसा लगता है। पाटलिपुत्रके कुक्कुटविहारको तो लेखक अमृतसरके स्वर्णमन्दिरका प्रतिरूप बना देता है और वहाँ आचार्य दण्डपाणिकी क्रूर हत्याकी प्रतिक्रियामें पुष्यमित्रकी प्रतिक्रियामें पुष्यमित्रकी प्रतिहिंसात्मक कार्यवाही आपरेशन-ब्लू स्टारका उत्साहपूर्ण समर्थन जैसा लगता है। पश्चिमोत्तर सीमांतपर अग्निमित्र और धारिणीका समूचा प्रचार-अभियान भगवती चरण वर्माके ‘चाणक्य’की भांति ही इतिहासके प्रति अराजक आचरण



का उदाहरण बन जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यास अपनी प्रकृतिमें दोहरे अनुशासनकी अपेक्षा रखता है। उसमें लेखक अपने वर्तमान की उपेक्षाभी नहीं कर सकता और अतीतपर वर्तमान को वरीयताभी नहीं दे सकता। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यासको उस काल-खण्डकी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयताको बनाये रखना आवश्यक है जिसे इसके लिए चुना गया है। वर्तमान उसमें प्रच्छन्न संकेतों और प्रसुप्त ध्वनियों द्वाराही सम्प्रेषित होता है। इसी-लिए ऐतिहासिक उपन्यासमें भाषिक संरचनाभी उसकी सफलताका एक निर्णायक घटक होती है। 'गुब्बारे-सी फटती पौ' (पृ. ६२), बातचीतकी शूर्पणखाका चक्कर काटने लगना (पृ. १०३), शालिशुकके प्रसंगमें 'दिलके दौरे' उल्लेख और 'कुत्तेके गू' जैसे शब्द-प्रयोग (पृ. २०८) 'धम्म' शरणम्'की असफलताके यहाँ-वहाँसे उठाये गये केवल उदाहरण मात्र है। ऐतिहासिक उपन्यास अपने विशिष्ट सर्जनात्मक अनुशासनके कारण ही अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है। उसके अभाव में कितनाही महत्त्वपूर्ण लक्ष्य लेकर लिखा जानेपर भी, एक रचनारूपकी दृष्टिसे उसकी सार्थकता संदिग्ध ही बनी रहेगी। □

## रेखाकृति?

लेखिका : कुसुम अंसल

समीक्षक : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

प्रेम, स्त्री-पुरुषके संबंध, जीवनका यथार्थ आदिको रेखांकित करता हुआ यह उपन्यास मानव-मनकी नाना गुत्थियां खोलता जाता है। उपन्यासकी नायिका 'मैं' मनोविज्ञानमें शोधकर चुकी है और उसने प्रेम, घृणा, सेक्स, स्त्रीके शारीरिक भूगोलको नजदीकसे देखा है। उसने पाया है कि विवाह कोई पूर्ण संस्था नहीं। जीवन को ठीकसे जी लेनाही पूर्णता है। उसका कहना है— 'प्रेम मात्र अपने भीतरकी एक अकेली अनुभूति है। उसकी उत्कटता उसकी निजी है। प्रेमका बहाव उसकी तरलता अपने स्रोतसे उपजकर दूसरे व्यक्ति तक जाती

अवश्य है, परन्तु वह उत्कटता, वह बहाव, वह व्यक्ति कितने प्रतिशत महसूस करता है इसकी तो कोई गारंटी नहीं है।' (पृ. १०६)।

पुरुषका प्रेम स्त्रीके शरीरपर टिका रहता है, वह अपनी व्याहता पत्नी विभाको भोगे या जौहरबाई नाचने वालीको—अन्तर कुछ नहीं पड़ता। नैना स्वयं सबकुछ भोग चुकी है। कैसे उसका पति उसे नोचता, खसोड़ता था। परपीड़नके साथ रति-सुख पाता था। फिर पुरानी जूती-सा फेंक दिया। जावनके अवसान कालमें (हारेको हरि नाम') नैनासे क्षमा मांगली है। नैनाने उसे क्षमा कर दिया है।

यह नैनाकी विवशता है या नियति, यह पुरुषकी प्रधानता है या समझौताकी स्थिति—इसे लेखिकाने सूक्ष्मताके साथ दिखाया है। स्वयं नैना पुरुष-प्रेमकी वास्तविकताका उद्घाटन करती है—“प्रेम बड़ी पसंनल-सी वस्तु है। उसे बहुत कम लोग समझते हैं विशेष रूपसे पुरुष कम समझते हैं। सोचकर देखो तो दया, उपासना, सेवा परायणता, कष्टना जोभी प्रेमके गुण हैं, स्त्रियोंमें ही अधिक होते हैं। पुरुषका प्रेम एक युद्धस्थल का-सा प्रेम है जहां वह स्त्रीके शरीरको झकझोरकर पुरुष विजेता-सा मात्र अपनी परितृप्तिकी बात सोचता है। अपने सुखके लिए स्त्रीको पालता-पोसता है, प्रेमके लिए नहीं। मैंने तो अक्सर यहभी महसूस किया है कि कोईभी पुरुष शरीरके सुखसे जुड़े 'औरगेज्म' (कामोत्ताप) को भी देनेके काबिल नहीं है। वह स्थितिभी एक विशेष मानसिकतासे ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं... अगर वह 'औरगेज्म' देनेके काबिल होता, तो 'रेप' की स्थिति दुःखदाई न होती...।” (पृ. १०६)।

पढ़ी-लिखी नैना हो या गंवार जानकी-विभा हो या सविता, सबका एकही रवैया है। वे शोषण सहती हैं और 'उफ' तक नहीं करतीं। एक-एक पैसेके लिए तरसकर मर गया नैनाका बच्चा ग्लूकोमियामें, पतिकी निष्ठुरताके कारण वह लाँछन, अपमानका गरल पीकर शरीर बेचती रही, शरीरको नये साँचेमें ढालती रही। कारण शरीरही है नारीके महत्त्वका केन्द्र। फिर पति को क्षमाकर दिया। अपना लिया। विभा अपने सामने पतिको रखल जौहरबाईके साथ गुलछरें उड़ते देखती रही। जानकीका पति किशनलाल उसे लूटता रहा, नोचता रहा पर वह सहती रही कि वह उसका 'मरद' है, विभा फ्रेंच कलाकार पिअरेके साथ फ्रांस चली गयी विधवा-

१. प्रका. : राजपाल एंड संस, कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : १११; डिमा. ८६; मूल्य : ३५.०० रु.।



वस्त्रा में विवाहिता होकर। पिअरेने मालविका ('मैं' नायिका) को उसकी माँके बारेमें लिखा है, जिससे विवाह और नारी-जातिके एक कठोर सत्यका उद्घाटन होता है— "मैंने समूचे चित्रको प्यार किया था। विशेष रूपसे उसके समूचेपनको और उसकी टोटैलिटीको। परन्तु हाथ लगा मात्र एक शरीर। रेखाकृति रंगविहीन थी। इंटरलैक्ट या बुद्धिको अलग करके मात्र शरीरके साथ कम-से-कम मैं तो जिन्दा नहीं रह सकता। तुम नहीं मानती पर एक शरीरमें एक साथ सभी गुण नहीं रह सकते। गुण तुम्हारे पास 'छूट' गये और शरीर विनीता... शी कैननॉट होल्ड मी। मैं तबभी कहता था अब भी कहता हूँ... विवाह बड़ी अपूर्ण संस्था है। एक वेबकूफी जो दुबारा कर बैठा।" (पृ. ११०)। भूपेनभी कहता है— "संसारके विवाह सुख नहीं हैं। जो आज सुन्दर लगता है कल कुरूप लगने लगता है क्योंकि शायदही कोई सौ प्रतिशत स्त्री एक शरीरमें निवास करती है।" (पृ. ६६)।

जिस प्रकार स्त्री शत-प्रतिशत पूर्ण नहीं है, वैसे पुरुष भी कहां है। "पुरुष बस पुरुष है। उसका पुरुष होनाही सच है। जैसे स्त्री होनाभी एक सच है, चाहे वह कलकी माँ हो, पापाकी चहेती या फिर आजकी 'विन्नो' पिअरे में घुलती हुई या नैना हो शरीरको ढाल बनाकर जीवन-संगाममें लड़ती हुई विजयी होती हुई या फिर मविता हो, भूपेनके साथ विवाहकी वेदीपर बैठी हुई, शायद स्त्री होनाही उसकी वास्तविकता है उसका सच है।" (पृ. ६६)।

मालविका अनुभव करती है 'सेक्स' घृणा जैसी कोई भावना नहीं है जबकि उसे दबा-छुपाकर रहस्यात्मक बना दिया जाता है। वह स्वयं अतीतमें लौट जाती है— "मेरे भीतर अतीतका एक चुम्बन मधु-सा बिखेर रहा था। फूल-सा खिलकर महक रहा था। वह जो भूपेनकी धरोहर था, शारीरिक कहां था, उत्तेजित कहां था। उसे मेरी स्मृतिने ऐसे सहेज लिया था जैसे पूजाकी कोई माला हो, पवित्र जापके मनकोंसे पुरी हुई। मंत्रोंके साथ उंगलियोंमें फिसलती हुई।" (पृष्ठ ४६)।

मालविकाके प्रोफेसर शरत कहते हैं— "जिस धरती पर मैं खड़ा हूँ, वहां जीवन और बौद्धिकता या कला एक दूसरेको बहिष्कृत करते हैं... उस स्थितिसे मुझे घबराहट होती है। कभी-कभी डरभी लगता है। एक डर प्रसन्नताके सुखको पिघलाता हुआ। अपने आपको गंवारू जीवनके प्रतिरूप बनानेकी असमर्थताका डर मुझे पत्नीके पास जाने नहीं देता।" (पृ. ५१)। ऐसे मनो-वैज्ञानिक सत्यके उद्घाटनमें लेखिकाको विशेष रुचि है। मालविका माँ, ताऊजी और रोशन— इन तीनों विकल्पों से मुक्ति चाहती है। यही उसका मोक्ष है तो फिर वह कौन-सी अवस्था है जिसके सत्यमें तीनों विकल्प समाहित हैं, कौन-सी रेखाकृति जिसको सचको सभी रंगोंसे भरा जा सकता है— इसकी अनवरत तलाश उपन्यासका लक्ष्य है। भाषा बहाये चलती है। बिम्बों-रूपकोंके प्रयोग वर्ण्यको मोहक बनाते हैं। □

## सद्यः प्रकाशित उपयोगी पुस्तकें

अनालोचित साहित्यिक निबन्ध	डॉ. श्रीनिवास शर्मा	105.00
रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान	डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया	70.00
डॉ. सलीम (पुरस्कृत उपन्यास)	रजिया नूर मुहम्मद	
	अनु. कान्ता आनन्द	35.00
रंगशिल्पी मोहन राकेश	डॉ. नरनारायण राय	50.00

सम्पूर्ण सूचीपत्र के लिए सम्पर्क-सूत्र

# कादम्बरी प्रकाशन

ए-55/1, सुदर्शनपार्क, नयी दिल्ली-110015

'प्रकर'— भाद्रपद २०४७—५५



# काव्य

## लौटते समय?

[उड़ियासे अनुदित]

कवि : जगन्नाथप्रसाद दास

अनुवादक : राजेन्द्रप्रसाद मिश्र

समीक्षक : डॉ. रणजीत साहा

समकालीन ओड़िया कविता पिछले बीस-पच्चीस वर्षोंमें अपनी यात्रा तय करती हुई भारतीय भाषाओंके अगणित पाठकोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुकी है। आज लिखी जा रही ओड़िया कविताएं समकालीन भारतीय कविताके परिदृश्यको प्रभावित कर रही हैं। यही एक रोचक पहलू है कि अन्य भारतीय भाषाओंकी तुलनामें समकालीन ओड़िया कवियोंके सर्वाधिक संकलन हिन्दी पाठकोंके लिए प्रकाशित हुए हैं और उन्हें व्यापक पाठक वर्ग द्वारा पढ़ा और सराहा गया है। सर्वश्री रमाकान्त रथ, शची राउत राय, बैकुण्ठनाथ पटनायक, गोदावरीश पटनायक, विनोदचन्द्र नायक, सीताकांत महापात्र, जयकान्त महापात्र, अनंत पटनायक, राजेन्द्र पण्डा, सौरीन्द्र वारांक और सौभाग्यकुमार मिश्र आदिकी रचनाओंसे हिन्दी भाषा-भाषी पाठक अच्छी तरह परिचित हैं।

कवियोंकी इसी महत्त्वपूर्ण कड़ीमें अगला नाम है जगन्नाथप्रसाद दासका। वे पिछले बीस-पच्चीस वर्षोंमें साहित्यकी लगभग सभी केन्द्रीय और अनुषंगी विधाओं में लिख चुके हैं और अपनी कृतियोंके लिए विशेष रूपसे चर्चित रहे हैं। 'प्रथम पुरुष', 'कई तरहके दिन' और 'अपना अपना एकान्त' जैसी काव्य कृतियोंसे उन्होंने अपनी पहचान बनायी है। अभी हालमें उनकी काव्य-कृति 'लौटते समय' को भारतीय ज्ञानपीठने लोकोदय ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्रकाशित किया है। भारतीय

भाषाओंके परस्पर आदान-प्रदानमें अनुवाद कम और अनुवादकोंकी भूमिकाने इस शृंखलाको विशेष गौरव प्रदान किया है। इसमें कविकी लगभग सौ बड़ी छोटी कविताएं संकलित हैं। अनुवादक राजेन्द्रप्रसाद मिश्रने, कविताके कथ्य, संवेदना और स्वभावको यथासंभव अक्षुण्ण रखा है।

'लौटते समय' की कविताएं कालातीत स्मृति-बोध की कविताएं हैं। ये कविताएं अपनी स्मृतियोंके दर्पणमें अपने ताप-तनाव, आनन्द-अवसाद, द्वन्द्व और दंशको रेखांकित करती हैं। लेकिन ऐसा करते हुए कवि अन्यथा मुखर या वाचाल नहीं होते, आत्मकरुणा या आत्मदया से कातर नहीं होते या कि उन्हें बट्टे खातेमें डाल निसपूह, निसंग या अकारण निर्मम होनेका दावा भी नहीं करते। कविकी भूमिका स्पष्ट है और वह कविको एक विशिष्ट इकाईका दर्जा नहीं देती बल्कि जातीय स्मृति समुच्चयके व्याख्याकारके रूपमें उसकी भूमिका निर्धारित करती है। लेकिन यहांभी यही प्रयत्न है कि ऐसे सभी प्रतीक, मिथक, बिम्ब या अर्थच्छटाएं किसी विशेष वर्ग या मानसिकताकी द्योतक नहीं। इस दृष्टिसे कवि जगन्नाथप्रसाद दास अपने समकालीन उड़िया कवियोंसे अलग हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने निसर्ग और उसके उपादानोंका तथा उड़ीसाकी सांस्कृतिक धरोहरों को अभिप्राय या रूढ़िके तौरपर प्रयोग किये जानेसे अपने को बचाया है। वे इन उपादानोंका उल्लेख अवश्य करते हैं लेकिन युक्तिके रूपमें इन्हें बार-बार दोहराते नहीं बल्कि संकेतों द्वारा इनका इस प्रकार सकारात्मक विनियोग करते हैं कि वहाँ कुछभी समाप्त होता प्रतीत नहीं होता। अतीतका बीज क्षण वर्तमानके द्वारपर दस्तक देता हुआ भविष्यके झरोखे खोलता है। यहां यह ध्यान में रखनेकी बात है कि अतीत, वर्तमान और भविष्यके काल-क्रमको निश्चित, निर्धारित या विभाजित काल खंडोंमें नहीं रखा गया है। कविकी ओरसे इस तथ्यकी कोई औपचारिक घोषणा नहीं की गयी है, फिर भी

१. प्रका. : भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इन्स्टीच्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३।

पृष्ठ : १२०; मूल्य : ४५.०० रु.।

'प्रकर'—अगस्त '९०—५६



सोमाबद्ध समयके अतिक्रमणका प्रस्ताव, इस संकलनकी साक्षी (पृ. ८०) शीर्षक कविताकी पंक्तियोंमें सहज ही देखा जा सकता है, जिसमें 'अमृतस्य पुत्र' की उदात्त भवन्विकी आजकी शब्दावलीमें दोहराया गया है :

"हम समयके वंशज हैं / हमें पहचान सकतेहो केवल उत्तराधिकारके माध्यमसे,  
हम वर्तमानके अवास्तविक चेहरे हैं  
हम ऐसे अतीत हैं / जो घटित होने जा रहा है  
हम ऐसे भविष्य हैं / जो भोगा जा चुका है  
हम निर्वाक साक्षी बनकर रह जायेंगे  
हमारे भीतरसे होकर  
समयके सारे प्रश्न गुजर जायेंगे ।"

'अस्वीकार' (पृ. ८५) शीर्षक कविताके अन्तमें कवि इस अवांछित या अयाचित निष्कर्षपर पहुंचता है अपने युगकी विडम्बनाके साथ,

"हमने आंखोंसे वार्तालापको स्वीकार नहीं किया  
हाथोंके समन्वितको हमने अस्वीकार कर दिया  
हम नहीं ले पाये समर्पणकी चाह रखनेवाले  
गंभीर आस्था और विश्वास....

हमने अतीतको स्वीकार नहीं किया  
किन्तु वर्तमानके साथ दुराव करके  
भविष्यको पीछे छोड़ आये ।"

गहन आत्मबोधसे दीप्त ये कविताएं सुधी पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ हैं । गहरे आत्म-साक्षात्कारके अजित क्षणोंको पानेके लिए जैसी कविताएं लिखी या पढ़ी जाती रही हैं—उसे 'नव्य सत्यवाद' ने औरभी समृद्ध किया है । 'स्तुति' शीर्षक कविता इसी अनुभव और अनुबंधका अभिनव विस्तार है जिसमें परम सत्ताके प्रति अपने निवेदनको इन पंक्तियोंमें गूंथा गया है :

"जहां तुम्हारी केशराशि समाप्त होती है  
वहींसे आकाश शुरू होता है....

तुम तक पहुंचनेके लिए मेरी महायात्राएं  
अपवित्र पुण्यके मध्याह्न से  
पवित्र पापकी मध्य रात्रि तक

सच और कपटके महारे  
देवत्व और कुकर्माके माध्यमसे  
मैं तुमसे गुजर कर मृत्युको छू

पुनः लौट आया हूं....." (पृ. ७०-७१)

संग्रहकी एक और कविता 'तुम्हें जाननेके बाद', (पृ. ५६) कौं कविकी जीत या कम-से-कम आत्म-विश्वासकी जीतके रूपमें, देखा जाना चाहिये । इसका पूर्ण रंग इस प्रकार व्यक्त है :

"मेरे तुम्हें जाननेके बाद

तुम एकाकी कैसे रह जाओगी.....

मेरे हाथोंको रोक लेगा

तुम्हारे चेहरेका सनातन निषेध

मैं किर्कटव्यविमूढ़ रह जाऊंगा,

एक अपरिचित क्षोभसे

पर पुण्य कैसे हैं पापका अर्थ समझनेसे पहले...

तुम कैसे चली जाओगी,

मेरे ताकते रहनेकी उपेक्षाकर

सारे रास्ते चुक जायेंगे, मेरी आंखोंकी देहरीपर ।"

इस संकलनकी कविताओंको कविके धारावाहिक वक्तव्य या आत्मालापके रूपमें भी देखा जा सकता है । इसलिए अपने विषय-वैविध्यमें न सही, लेकिन अपनी इयत्ताके सम्मुख स्वयं रखे गये प्रश्नोंके ज्ञात-अज्ञात संदर्भोंके बहाने कवि अपने मौनको स्वर देता है । इस आत्म-संवादको किसी निश्चित उत्तरके रूपमें देखा या परखा नहीं जाना चाहिये । स्वयं कविभी उन्हीं शब्दोंको समझ पाता है, "जो कुछ लिखा होता है / आदि मध्य या अन्त रहित / आत्मनिरीक्षणकी सजल शून्यतामें... धूपमें जले हुए युग/बादलमें ढंके देवत्व/कोहरेमें लौटते पुण्य... / विकलांग पश्चात्ताप/स्थिर होकर रह जाते हैं । निष्फल प्रतिध्वनिकी अद्भुत मुद्राओंमें ।" (पृ. ११३) । कविने पाप और पुण्यको न तो पारिभाषिक और शास्त्रीय कसीटीपर कसा है और न ही नैतिकता या स्वीकृत मर्यादाके घेरेमें रखकर, कोई फतवा दिया है । उन्होंने निरपेक्ष और निरंजन काल-देवताके प्रति अपने समर्पण, प्रेम (निसर्ग प्रेयसीके प्रति) और निवेदनको काल-कारासे मुक्त करनेका प्रयास किया है, अपनी भाव यात्रा को निर्मम काल-क्रमसे बाहर रखकर 'इदं मम' की व्याख्यासे अंतरंग बनाया है, आत्मचिंतनसे संपुष्ट किया है और आत्म-स्वीकारसे प्रामाणिक । कालके अंतरालमें बुनी जानेवाली खामोशी, चुप्पी, सन्नाटे और मौम मुखर संवादको कविने पढ़ने और गुननेकी सफल और असफल कोशिश की है —

"इसीलिए आत्म निरीक्षणकी घड़ीमें



मैं सन्नाटेको चीरकर रख दूंगा  
 प्रेमपत्रकी तरह सूर्यास्तसे मैं चुन लूंगा  
 इन्द्रधनुषके सातों स्वर  
 सारी रात तुम्हारी हंसी ढूँढनेके बाद  
 मैं तुम्हारी खामोशीको साफ कर दूंगा...  
 जो सन्नाटे समझमें नहीं आते  
 वे तुम्हारे संवाद हैं।" (पृ. ५१)

ये संवाद आकस्मिक या अप्रासंगिक प्रतीत नहीं होते। कवि मनमें चलनेवाले शताब्दियोंके संस्कार, संकल्प और संघर्षकी गूँज इन कविताओंमें सहजही सुनी जा सकती है। इन कविताओंमें संबोधित काल,

अंकित निसर्ग और उपस्थित व्यक्तिको सुविधाके लिए, तीन महत्त्वपूर्ण घटकोंमें विभाजित किया जा सकता है। वस्तुतः ये तीनों एकही चरम परम सत्ताके अलग-अलग रूपाकार या हस्ताक्षर हैं और जिनके परस्पर संवादसे ही काल और कविताका भाव-वृत्त पूरा होता है।

ज्ञानपीठने भारतीय कविताके विशिष्ट अनुभव को हिन्दीमें प्रस्तुत करनेका जो संकल्प लिया है, प्रस्तुत कविता संकलन उसे यशस्वी बनायेगा। वर्तनी संबंधी कुछ प्रयोग चिन्त्य हैं। कृतिका शीर्षक 'लौटते समयसे' रखा गया होता तो वह अधिक सार्थक जान पड़ता। □

## नाटक

### अर्थ दोष

[फ्रांसीसीसे अनुदित]

नाटककार : अल्बेर कामू

अनुवादिका : शरद चन्द्रा

समीक्षक : डॉ. भानुदेव शुक्ल

जीवनकी अर्थहीनता, ऊलजलूलपन और उसमें छटपटाते असहाय मानवकी स्थितियोंको प्रस्तुत करने वाले साहित्यमें, विशेषकर नाटकमें, कामूका योगदान बहुत उल्लेखनीय है। कामूने जीवनमें विषम स्थितियों को अनेक रूपोंमें देखा और भोगा था। एक वर्षका भी नहीं हो पाया था कि पिता एक युद्धमें मारे गये। माँ ने मेहनत मजदूरी करके कामू और उसके बड़े भाई को पाला। माँ कैथरीनके कठोर संघर्षको कामूने अनुभव किया था। बचपन अलजीरियामें कटा जहाँ गरीबी भरपूर थी। वयस्क होकर मातृभूमि फ्रांस आया। फ्रांस नाजी सत्ताके बूटों तले

रौंदा जारहा था। कामूने अनुभव किया कि मानवके भाग्यमें सिसिफसकी भाँति निरर्थक प्रयासही लिखे हैं। उसका निबंध 'ला मिथ द सिसिफस' 'विसंगतियोंके नाटक' (प्रायः ही 'असंगत नाटक' कहे जाते हैं) के सन्दर्भमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'अर्थदोष' (मूल शीर्षक 'ला मलेण्टेण्डु') में भी इसी विडम्बनाकी झलक मिलती है। स्वयं कामूने इस नाटकके सम्बन्धमें प्रकट किया था कि इसमें उसने रूमानी स्वप्नलोकके बचनेकी चेतावनी दी है। तथापि, नाटकका स्वर चेतावनीसे अधिक गहन निराशावादका है। उल्लेखनीय बात है कि कामू साम्यवादी दलका सदस्य था। साम्यवादी समूहकी शक्तमें विश्वास तथा सर्वहाराकी पूर्ण विजयमें आस्था रखता है। कामू (तथा अनेक साम्यवादकी ओर झुके फ्रांसीसी चिन्तक) आम साम्यवादियोंसे सोच-विचारमें क्यों भिन्न था यह जानना हमारा इस समयका विषय नहीं है इसलिए इस तथ्यको प्रकट करके हम बात समाप्त करना चाहेंगे। हम केवल इतनाही कह सकते हैं कि कामू पूरी तरह निराशावादी और आतंकित मनोवृत्तिके बैकेट, हैरोल्ड पिण्टर, यूजीन आएनेस्को, जॉ

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-२। पृष्ठ : ७२; डिमा. ८६; मूल्य : ४०.०० रु.।

'प्रकर'—अगस्त'६०—५८



जने आदिसे भिन्न है क्योंकि वह विषमताओंकी भया-  
वहताको स्वीकार करते हुए भी कहींपर निस्संग चिन्तक  
है जो भविष्यके प्रति भी सावधान है। गहन निराशा  
में भी कहींपर वह विवेककी दृष्टिको खुली रख पाया  
है। नाटकका रचनाकाल १९४२-४३ फ्रांसके लिए  
निश्चयही विकट निराशाका समय था। कामूके उस  
समयके लेखनको समझनेके लिए इस तथ्यको स्मरण  
रखना होगा।

‘ला मलेष्टेण्डु’ (फ्रांसीसी उच्चारण यदि भिन्न हो  
तो हम क्षमाप्रार्थी हैं) का अंग्रेजीमें स्टुअर्ट गिलवर्टने  
१९४७ में अनुवाद किया था। पुस्तकके ‘निवेदन’ से  
अस्पष्ट संकेत यही मिलता है कि अनुवादिकाने अनुवाद  
अंग्रेजीमें बजाय मूल फ्रांसीसी नाटकसे किया है।  
अनुवादका भी अनुवाद मूलसे भिन्न हो जाता। इसलिए  
हम अनुवादका स्वागत करते हुए अनुवादिकाको धन्य-  
वाद देना आवश्यक समझते हैं।

‘ला मलेष्टेण्डु’ का कथानक कामूने अपने उपन्यास  
‘ला एट्रेंजर’ से ही लिया था। उपन्यासमें कैदी म्यूसाल्ट  
को विस्तरमें छिपी अखबारी कतरन मिलती है। उसमें  
वर्णित घटना नाटकका आधार बनी है। अच्छा होता  
यह बात अनुवादिका स्पष्ट कर देती।

तीस वर्षीया मार्था अपनी बूढ़ी माँकी सहायतासे  
होटल चलाती है। पिता मर चुके हैं और बड़ा भाई जान  
किशोरावस्थामें, लगभग बीस वर्ष पूर्व, धन कमानेके  
लिए चुपचाप निकल गया था। अभावोंसे संघर्षरत  
अविवाहिता मार्था इस जड़ स्थान तथा ऊबानेवाली  
जिन्दगीसे वचकर निकल जाना चाहती हैं। वह सुखद  
जीवनके समुद्र तथा ऊष्मा देनेवाली धूपके स्वप्न देखती  
है। इसके लिए आवश्यक धन जुटानेके लिए माँ-बेटी  
अपराधका मार्ग अपनाती हैं। ठहरे हुए मुसाफिरोँको  
बेहोशीकी दवा खिलाकर बांधके पानीमें डाल आती  
हैं। इस आपराधिक क्रियाका अंतिम शिकार जान  
बनता है जो अफ्रीकासे काफी धन कमाकर अपनी पत्नी  
सहित घर लौटा है कि अपनी माँ और बहिनके अभावों  
को दूर कर सके। यह देखनेके लिए कि माँ अपने पुत्र  
को पहचान पाती हैं कि नहीं वह पत्नी मरियाको अन्यत्र  
बहकाकर होटलमें मुसाफिरकी तरह ठहरता है। वह भी  
माँ और बहिनके लालचका शिकार होता है। बांधमें  
उसके मूर्च्छित शरीरको डालनेके बाद माँ उसका पास-  
पास देखती है तो उसे सत्यका ज्ञान होता है। संताप

और ग्लानिसे ग्रस्त माँभी बांधमें कुद जाती है। रह  
जाती है मार्था अपने अभिशप्त जीवनसे जकड़ी  
और पापके बोझसे दबी। या रह जाती है पतिको  
खोकर लुटी हुई मारिया जो ईश्वरको इस विपदामें  
सहायताके लिए निरर्थक पुकारती है। नाटकमें बूढ़ा  
नौकर है जो सब कुछ मौन रहकर देखता है। अंतमें  
मारिया द्वारा ईश्वरको पुकारनेपर वह उत्तर देता है  
और निष्ठुर भावसे इस निर्दोष औरतकी प्रार्थनाको  
ठुकरा देता है। अस्तित्ववादियोंकी दृष्टिमें ईश्वरका  
स्वरूप कुछ ऐसा ही है।

कामू साम्यवादी दलका सदस्य होते हुए भी सत्या-  
सत्यसे निरपेक्ष निष्ठुर ईश्वरको स्वीकार करता है।  
यह ईश्वर यूनानी ट्रैजेडीकी नियतिसे भिन्न है।  
ट्रैजेडीमें भाग्य व्यक्तिको किसी कमीके कारण रौंद  
डालता है। बैकेटका ईश्वर (गोडो) उस मर्सीहाकी  
तरह है जिसे मानव जाति न जाने कितनी शताब्दियों  
से पाना चाहती रही है, कुछने ईसामें तो किसी औरने  
किसी औरमें पानेकी कल्पना की, किन्तु बैकेटका गोडो  
कभी नहीं आता। शायद उसका अस्तित्व ही नहीं  
है। कामूके ईश्वरका अस्तित्व है और उसके बावजूद  
मानव जातिका अस्तित्व भी बना हुआ है। कामूका  
ईश्वर फ्रांसके ही उपन्यासकार जोलाके अनेक  
उपन्यासोंके कई पात्रोंके लगभग समान है—सब कुछ  
देखते जानेवाला किन्तु सहानुभूति-शून्य।

जानकी विडम्बनामें कहींपर हमें स्वयं कामूकी  
विडम्बनाके आभासभी होते हैं। जान माँके पास आता  
है कि वह उसे पहचाने किन्तु पाता है मौत। शायद  
कामूको प्रारम्भमें अपनी मातृभूमि लौटनेपर अवहेलना  
के अनुभव हुए होंगे। या हो सकता है कि कामूने दूसरों  
की विडम्बनाकी ही अभिव्यक्ति की हो क्योंकि उसके  
अपने फ्रांस आनेके समय तो सारी परिस्थितियाँ ही  
असामान्य थीं।

कामूके नाटकमें विडम्बनाका तीखापन विसंगतियों  
के नाटकोंसे बहुत अधिक है। बैकेटका नाटक हमें  
अन्दर तक इस तरह चीर नहीं जाता है। यही बात  
आएनेस्को, आल्बी, आदामोव आदिके नाटकोंमें है  
जिनमें विसंगतियोंके स्वरूप हमें चिन्तित कर सकते हैं,  
इससे अधिककी अनुभूति नहीं दे पाते। अपनी माँ  
कैथरीनको सबसे अधिक माननेवाले कामूने क्यों अपने  
नाटकमें भिन्न प्रकारकी माँका चित्रण किया, क्यों भाई



को मारनेके बादभी बहिन पाप-बोधसे दबी हुई नहीं है आदि अनेक प्रश्न परेशानकर सकते हैं। ऐमेन हमें मानना होता है कि बिडम्बना सारे मानव समाज तक व्याप्त हो गयी है, कामूने केवल अपनी या अपने थोड़ेसे पहचान वालोंकी बिडम्बनाको ही अंकित नहीं किया है। तब 'अर्थदोष' शीर्षकका अर्थ स्पष्ट होने लगता है। इस समय कामू द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके चिन्तनसे भी ऊपर उठकर भौतिक लालसाओंके दीवानेपनकी निरर्थकताके प्रति चेतावनी देते दिखायी देते हैं। नाटक का कथ्य मार्क्सवादी भौतिकवादसे ऊपर उठकर आधि-भौतिक-नैतिकतासे जुड़ता-सा लगता है किन्तु शिल्प नाटककी विधागत प्रकृतिके प्रतिकूल बौद्धिक, निस्संग विवेचन और चिन्तनके कारण वैयक्तिक हो गया है। हमारी अधूरी जानकारीके अनुसार कामू यूरोपके भी लोकप्रिय नाटककार नहीं थे। 'रस' के संस्कार लिये हुए भारतीय दर्शक (अथवा पाठकभी) इस नाटकका स्वागत बहुत कम ही कर पायें तो आश्चर्य नहीं। अंतिम अंकके दृश्य दो तथा दृश्य तीनके साथ साथ चलनेमें पाठकको भी परेशानी होगी। शेष नाटक, विशेषकर तीसरे अंकका चौथा दृश्य, प्रभावशाली हैं जिनको दर्शकभी और पाठकभी पसन्द कर सकेंगे। सम्पूर्ण रूपमें यह एक शिथिल नाट्य-कृति है।

अनुवादिकाके परिश्रमको हम अनुभव करते हैं। प्रत्येक भाषाकी अपनी प्रकृति होती है, अपना अलग मुहावरा होता है। एकके मुहावरेको दूसरी भाषाकी प्रकृतिके अनुकूल तथा उसके मुहावरेमें परिवर्तित करना

बहुत ही कठिन कार्य है। इस जटिल कार्यको अनुवादिकाने काफी अच्छी तरह निभाया है। कुछेक स्थलों पर अनुवादपन झलक गया है—

“इस तरहके आवेगको मैं समझता हूँ। इससे मुझे तो डरनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि मैं आपके रास्तेमें कोई रुकावट नहीं डाल रहा। न मुझे कोई चीज आपकी इच्छाको अवरुद्ध करनेको बाध्य कर सकती है।” (पृ. ४३)

“इस दुनियासे उसके संबंध खत्म हो चुके हैं। आगे उसके लिए सब कुछ आसान होगा। वह एक प्रति-बिम्ब-भरी नींदसे एक बहुत गहरी स्वप्न-शून्य नींदमें पदार्पण कर लेगा।” (पृ. ५२)

“मैं उन्हें उनके नये-नये प्राप्त हुए प्रेममें तथा एक उदास-साथमें रहने दूंगी।” (पृ. ६८)

“इस मूर्खताको उसकी मजदूरी मिल गयी।” (पृ. ७१)

“इच्छाको अवरुद्ध करना”, ‘प्रतिबिम्बभरी नींद’, ‘एक उदास साथ’ अथवा ‘मूर्खताको अपनी मजदूरी मिल गयी’ आदि उक्तियां बड़ी अटपटी तथा हिन्दीके लिए असहज हैं। तबभी, अनुवादिकाका कार्य कम महत्त्वका नहीं है। फ्रांसीसी साहित्यसे सीधे अनुवादोंका हम स्वागत करते हैं। अनुवादिकासे हम आग्रह करेंगे कि सर्वत्र शब्दशः अनुवादके बन्धन ढीले कर यथा-आवश्यकता कुछ वाक्योंके रूपान्तरणभी करे। इससे अनुवादको लाभ ही होगा। □

## व्यंग्य हास्य

### ग्रन्थमेधः

लेखक : लक्ष्मीकान्त वैष्णव

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

जीवन और साहित्यमें व्यंग्यकी परंपरा सुदीर्घ है।

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : १३५; का. ८६; मूल्य : ४०.०० रु.।

‘प्रकर’—अगस्त’६०—६०

वैचारिक परिवेशकी वृद्धिने इसे अधिकाधिक पुष्ट किया है। हिन्दी साहित्यमें प्रारंभसे ही व्यंग्यका यथोचित समावेश होता रहा है। आधुनिक युग, विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर युगमें व्यंग्यने हर विधाको अपनी अभिव्यक्ति का इतना सशक्त माध्यम बना लिया कि आज अनेकानेक सुधीजन व्यंग्यको ही विधा मान बैठे हैं। किन्तु व्यंग्यके साथ सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि इसमें अनुभूति तो त्रास और कण्ठकी होती है और इसके विद्रोही



स्वरूप धारणकर लेनेपर कथन शैली को एक विशेष प्रकार की वक्रताका समावेश होता है, वहाँ अभिव्यक्ति-रूपमें व्यंग्य बनकर निखरता है। कहनेका तात्पर्य यही है कि व्यंग्यकी सत्ता उसकी अभिव्यक्तिकी विशेषताओंमें निहित है, जो इतनी प्रबल होती है कि व्यक्तिको सोचने और विद्वानोंको आमूल बदलनेके लिए अधिकांशतः विवशकर देती है।

स्व. श्री लक्ष्मीकांत वैष्णव स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ीके एक चर्चित व्यंग्यकार हैं। निबन्ध, कहानी, नाटक आदि अन्यान्य विधाओंमें श्री वैष्णवने सतत व्यंग्य रचनाएं की हैं और प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओंमें निरंतर प्रकाशित होकर अपनी शक्ति-सामर्थ्यकी पहचान प्रदर्शित की है। ऐसे अर्थशास्त्रके प्राध्यापक होकर भी हिन्दी व्यंग्य साहित्यकी अभिव्यक्तिमें उन्होंने यथोचित सहयोग दिया है। वैसे तो उनसे बहुत कुछ आशा थी, किन्तु उत्कर्ष की ऊंचाइयोंके करीब पहुंचते-पहुंचते राजनीतिक वात्स्या-चक्रोंमें घिरकर श्री वैष्णवको अंततः विवश होकर विष-पात करना पड़ा। उनका इस प्रकारका असामयिक निधन एक ओर आज प्रबल होती राजनीतिक-सामा-जिक विसंगतियोंके स्वरूपको उद्घाटित करता है, तो दूसरी ओर यह भी बताता है कि अपनी लेखनीसे अच्छे-बच्छे ठेकेदारोंको हिला देनेवाला यह व्यक्ति भीतरसे कितना भावुक है, कितना दुर्बल है और कितनी करुणा संजोये स्वस्थ मानवीयताका पक्षधर है।

‘अश्वमेध’ श्री लक्ष्मीकांत वैष्णवका नवीनतम व्यंग्य-संग्रह है, जिसमें कुल मिलाकर २४ रचनाएं संक-लित हैं। इन सभी रचनाओंमें आजके भारतीय जीवनके बदलते स्वरूप, निहित विसंगतियों और व्या-वहारिक जीवनमें उपलब्ध संत्रास और अंतर्द्वन्द्वको बेनकाब करनेकी लेखकके प्रभावशाली तथा सार्थक प्रयासका लेखा-जोखा है। शालीनता और आदर्शवादके मुद्योतोंके पीछे छिपी वास्तविकताको खुले-आम प्रदर्शित करने, उसके शोषण चक्रपर प्रबल प्रहार करनेमें श्री लक्ष्मीकांत वैष्णवने बुद्धिसंगत और अंतर-अनुरूप प्रयत्न किया है। साराही लेखन विश्वसनीयताके धरातलसे संबद्ध है। अतः अपने आसपास दिन-प्रति-दिन घटित होनेवाली इन असह्य स्थितियोंको देखकर पाठक सचमुच सोचने और कुछ कर गुजरनेको विवश हो जाता है।

ये रचनाएं आजके जीवनके विविध पक्षोंपर प्रहार करती हैं। सर्वाधिक व्यंग्य प्रहार आजकी सामाजिक-

जगतकी विसंगतियोंकी ओर लेखकका ध्यान गया है। साहित्यिक क्षेत्रकी ओर लेखकने कम दृष्टिपात किया है, किन्तु प्रशासनके वेमेल रवैयेको लेखक भूला नहीं है। इसीके साथ उसने कुछ स्वतंत्र विषयोंपर वैचारिक चिंतन किया है और उसे व्यंग्यात्मक रूपमें प्रस्तुत किया है। इस प्रकार श्री वैष्णवकी लेखनी जीवनकी विविध क्षेत्रोंको आयत्त करती हुई चली है। अनेक लेखोंमें यह बात भी बड़ी स्पष्टतासे दिखायी देती है कि उसका जो मूल विषय है, उसपर तो लेखकने अपनी एकाग्रता बनाये रखी है, साथही प्रसंग छिड़नेपर कभी दृष्टांतों, कभी उपमाओंके जरिये, कभी प्रतीकों और संकेतोंके माध्यम से वह अन्य संदर्भोंमें विसंगतियोंपर प्रहार करनेमें चुका नहीं है।

‘अश्वमेध’ के लेखोंका अधिकांश सामाजिक संदर्भों में फैली विषमताओं और विसंगतियोंको आधार बना-कर समर्थतासे प्रस्तुत हुआ है। राजनीतिक संदर्भ इससे घुले मिले हैं। ‘राणा सांगाका बयान’ में युगीन सच्चा-इयोंको अभिव्यक्त किया गया है। लेखक व्यक्त करता है कि जबभी युगीन विसंगतियोंके विरुद्ध आवाज उठायी गयी है, स्वयंका ही बिगाड़ हुआ है; जबकि व्यवस्थाका कुछ नहीं बिगड़ा, जो इन्हें पालती-पोसती रहती है। व्यवस्थासे जुड़े लोगोंके पैरोंके जूते ज्यादा मजबूत, टिकाऊ और मोटे तल्लेवाले हैं। अतः सही प्रयत्न असफल सिद्ध हुआ है। इसीलिए लेखकको कहना पड़ा— ‘हुजूर, व्यभिचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार और अनाचार से लड़ लेना आसान है, है, पर इन साहबों, काकाजियों, सरों और सेठजियोंसे लड़ना आसान नहीं है।’

‘इन्टरव्यू’ थानेकी कार्यप्रणालीको प्रकट करती है, जहां जेब काटना और झूठको प्रथय देनाही प्रमुख माना गया है। ‘तीक्ष्ण डंक मच्छरकी कथा’ अपनी विशिष्ट परम्परागत कथन शैलीमें इस तथ्यको प्रकट करती है कि ‘भ्रष्टाचारीपर आक्रमण मच्छरोंके बूतेकी बात नहीं। भ्रष्टाचारकी कमाईसे हिस्सा वसूलते समय अतिरिक्त सावधानी आवश्यक है।’ ग्राम्य भाषाके समर्थ प्रयोगसे युक्त ‘कल्लूकी चिट्ठी’ में राजनीतिसे जुड़े लोगोंको समर्थ व्यंग्य प्रहारसे बेनकाब किया गया है। अत्यन्त रोचक रूपमें यह बताया गया है कि किस प्रकार कोई जब राजनेता बन जाता है, तब अपनी



जीवन शैलीको एक विशिष्ट अंजाम देता है। कुर्सी मिलतेही तबादले और बदलेकी भावनासे कैसे कोई अपने कर्तव्य सुनिश्चित करता है और किस प्रकार वैभव की जिंदगी जीनेके अधिकार पाना अपनी बपौती समझता है—इसका यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत चिट्ठीमें हुआ है। ऐसे लोगोंका यही उद्देश्य होता है कि 'काम तो अफसर-मातहत करेंगे, अपनेको पांच सालतक रोटी खाना और डटे रहना है।'

'बैल, बैलगाड़ी और सांड' रचनाके माध्यमसे आधुनिक युगमें सच्चे मनुष्यकी नियतिका करुण आख्यान प्रस्तुत हुआ है। आजकी निरुत्साहित करनेवाली स्थितियोंको देखकर ही लेखक व्यंग्यात्मक तेवरमें अभिव्यक्त करता है कि सार्वजनिक जीवनमें गुण्डोंका बड़ा महत्व है। वे समाजके लिए जरूरी हैं और समाज उनके लिए; अतः दोनों एक दूसरेपर निर्भर हैं। इस सम्बन्धको व्यवस्था ही पनपाती है। क्योंकि गुण्डेही आगे चलकर नेता बनते हैं और सत्तामें आतेही पाप-मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए सांड (बेपढ़े गुण्डे) की वकालत करते हुए लेखकका मत है कि—'बैल और सांडमें, सांडका करियर ज्यादा अच्छा है। सांड बनने में जीवनके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनोंमें मजा रड़ता है, बैलके पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों कष्टकर होते हैं।' ऐसेमें आम आदमीकी क्या अहमियत? उसे या तो इस व्यवस्थाके अत्याचार नतमस्तक होकर स्वीकारना है अथवा कतारोंमें लगकर निरन्तर धक्के खाना है, अपने प्राण गंवाना है। यही उसकी नियति है। 'कतार कथा' रचना इसी तथ्यको उद्घाटित करती है तथा बताती है कि इससे मुक्तिका एकमात्र उपाय है पैसे अथवा परिचयका उपयोग, अर्थात् भ्रष्टाचारको शक्तिशाली बनाना। 'मेरी चिट्ठियाँ' में लेखकने पोस्टऑफिसकी कार्यप्रणाली और पोस्टमेनोंके रवैयोंपर प्रबल व्यंग्य-प्रहार किया है, जो गंतव्यपर पत्र न पहुंचाते हुए या तो कहीं और भेज देते हैं अथवा कूड़ेदान-नाली आदिमें डालकर कर्तव्य-मुक्त हो जाते हैं। देशके तमाम प्रशासनिक कार्यालयोंकी हालत यह है कि शिकायत करनेपर या तो कोई कार्यवाही नहीं होती और यदि होती है तो वह शिकायत करनेवालेके विरुद्ध ही होती है। इस संदर्भमें लेखकका कथन द्रष्टव्य है—'किसीकी भी शिकायत किसीको भी कर दो—लिखित करो या मौखिक करो—कुछ होता नहीं है। नीचेके कर्मचारीकी शिकायत ऊपर 'प्रकर'—अगस्त '६०—६२

के अफसरोंसे करो, ऊपरके अफसरोंकी शिकायत उसके ऊपरवालेको—इस तरह ऊपर-ऊपर करके आसमान तक चले जाओ; किसीका कुछभी नहीं विगड़ता। उल्टे शिकायत करनेवाले का ही समय, शक्ति और मानसिक संतुलन विगड़ता है।'

'बीमारी' तथा 'पथ और महाजन लोग' रचनाओंमें चिकित्सा क्षेत्रमें व्याप्त विसंगतियोंको उकेरा गया है। चिकित्सकोंकी हालत यह है कि मनुष्यके जीवनके प्रति अपनी जिम्मेदारीका अहसास न करते हुए वे किसीभी बीमारीका कुछभी इलाज करते रहते हैं। उन्हें मरीजसे नहीं, उसके पैसोंसे मतलब है ताकि वे अपने लिए भव्य निवास बनवा सकें तथा विकासकी अन्य आवश्यक वस्तुएं खरीद सकें। इसी प्रकार लोक निर्माण विभाग के हालचाल हैं, जो अपनी धीमी गति और भ्रष्टाचार के लिए विख्यात है। अन्य विभागोंकी भी यही स्थिति है, जो काम करनेकी अपेक्षा दीवारोंपर नारे अंकितकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं। इसी क्रममें जब लेखक एक व्यक्तिको 'रास्ता बन्द' का बोर्ड दिखाता है तो वह व्यक्ति 'टका-सा जवाब देकर उसी रास्ते निकल जाता है कि बोर्ड और नारे पढ़े-लिखोंके लिए नहीं होते।' इन पंक्तियोंमें निहित व्यंग्य गहरा, तीखा, विस्तृत और सार्थक है। इसी संदर्भमें एक कटु सत्य उद्घाटित करते हुए लेखककी मान्यता है कि—'हमारे यहां समस्याओंको सुलझानेके बजाय उन्हें स्वीकार कर लेनेका परम्परा ज्यादा लोकप्रिय है। दीवारोंपर नारे लिख देना हमारे यहांकी बहुत पुरानी परम्परा है तथा समस्याओंका स्थायी हल है।'

भारतीय फिल्मोंपर प्रस्तुत संग्रहमें दो रचनाएं हैं—'फिल्मका निर्माण फिर-फिर' तथा 'वह कौन था'। इनमें फार्मूलाबद्ध तथा ऊलजलूल दृश्योंसे युक्त फिल्मोंकी हंसी उड़ायी है। भारतीय मसाला फिल्मोंपर लिखे गये ये दो लेख हास्यको ही इष्ट बनाकर लिखे गये हैं। इसी प्रकार मंचीय कवियोंकी प्रवृत्तियोंपर लिखा गया लेख 'कवियोंके बारेमें' भी हास्यका सृष्टिके लिए ही लिखा गया है। हास्यकी सृष्टिके उद्देश्यसे ही श्री वैष्णवने 'प्रेममें जोखिम तत्त्व' रचना लिखी है। प्रेम और प्रेमिका के विविध रूपोंकी अलग अलग दृष्टियोंसे चर्चा करते हुए अंततः लेखक यही कहता है कि 'मामला प्रेमका हो या प्रतिष्ठाका, आदमीको अपनी औकात नहीं भूलनी चाहिये।' इसीलिए साहित्यिक किस्मके व्यक्ति प्रेमके



कायकारी पहलू की अपेक्षा सैद्धांतिक पहलू की ही अपेक्षा अधिक होती है। क्योंकि इसमें जोखिम नहीं के बराबर है। महत्व देते हैं, क्योंकि इसमें जोखिम नहीं के बराबर है। 'वसंत और घोषा वसंत' लेखमें भी कवि हास्यके पुट को प्रबल बनाते हुए हल्का व्यंग्यात्मक प्रहार करता है। जो हर स्थितिके साथ तालमेल न बैठा सके, उसे बिल्कुल ठीक तरहसे न समझ सके, हर बातमें भौंड़ सिद्ध हो, वही घोषा वसंत है और समाजमें ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है। इस रचनामें कहीं-कहीं व्यंग्यकी तीखा मार भी है यथा — 'आजकल मास्टरीकी नौकरीमें भी दो प्रकारके लोग पाये जाते हैं—कोटवाले और पेटी कोटवाले !' इसी प्रकार एक अन्य स्थानपर—'अगर आपकी कहीं सुनवाई नहीं है तो आपको आपने सुरक्षा कवच खुद पहनें होंगे।' इस प्रकारकी पंक्तियां—लेखकके अन्तर्मनमें समाये विद्रोहको अभिव्यक्त करती हैं।

चूंकि श्री वैष्णव स्वयं शिक्षा जगत्के अंग बने रहें, अतः शैक्षिक जगत्में व्याप्त विसंगतियोंसे भली-भांति परिचित हैं। प्रस्तुत संग्रहमें चार-पांच लेख इसी परिवेशको दृष्टिमें रखकर लिखे गये हैं। 'तीन अदद मास्टर' लेखमें तीन झलकियोंके माध्यमसे अध्यापकोंके चरित्रको उद्घाटित किया गया है। कथोपकथनकी नाटकीय शैलीका प्रयोग करते हुए लेखक बताता है कि अध्यापकोंकी एक किस्म दयनीय और करुणाकी पात्र हैं जो सबसे पिछटे रहते हैं। दूसरे चित्रमें उनकी आर्थिक दुरवस्थाको मनोरंजक तरीकेसे उद्घाटित किया गया है। तीसरे चित्रमें मूल्यांकन-मग्न शिक्षक किस तरह लोगों द्वारा साम-दाम-दण्ड-भेदकी नीतिसे प्रताड़ित होता रहता है। इसमें उन शिक्षकोंपर भी व्यंग्य है जो दूसरे अयोग्योंसे उत्तर पुस्तिकाओंका मूल्यांकन करवाते हैं तथा किसीभी युक्तिसे किसीभी विषयकी पुस्तिकाएं हथियाकर उनका मूल्यांकन करते रहते हैं। मूल्यांकनकी विद्रूप परम्परा तथा उसमें निहित भ्रष्टाचारको 'मांगीलाल मास्टर तथा उसका सहयोगी' में भी बेतकाव किया गया है। मास्टर स्पष्टतासे कहता है कि वह अनैतिक काम नहीं करेगा, इसपर उसका सहयोगी पैसोंकी महिमा और ट्रांसफरके भयका हवाला देते हुए सीख देता है कि यदि वह अनैतिक कार्य करेगा, तो उसकी दुर्गति नहीं होगी, अन्यथा नैतिकताका पल्लू पकड़नेपर दुष्परिणाम भोगने पड़ेंगे। 'अश्वमेध' रचना आधुनिक युगमें छात्रोंकी उद्दण्ड-स्थितिको प्रकट करती है। शिक्षा-

क्षेत्रमें छात्र अराजकताके आगे हर किसीको झुकनाही पड़ता है। 'वरगद और वोंसाई' शीर्षक लेखमें बताया गया है कि कैसे प्रतिभाशाली और उत्साही शिक्षकोंको आजकी व्यवस्था प्रतिकूल जगह भेजकर उनका सबकुछ अनुपयोगी बना डालती है, फिरभी उनके पढ़ाये छात्रोंमें ऊर्जाका संचार शहरके छात्रोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना रहता है। पुरानी शिक्षा-प्रणालीकी वकालत करते हुए लेखकका कथन द्रष्टव्य है—'अपने उन गुरुओं को विनम्र प्रणाम, जिन्होंने वचनमें ही हम लोगोंमें वे संस्कार डाले कि हम गोबरही सही, आज जो कुछ हैं, उन्हींकी बदौलत हैं। उन्होंने पैंतीस चालीस साल पहले हम लोगोंको गोबर कह दिया था और हममें ऊर्जा है—यह हमें आज जाकर मालूम हुआ।' परम्परागत शिक्षा-संस्कारोंपर लेखकका इस तरहका चिन्तन गहरा, व्यापक और वर्तमानके लिए उपयोगी है।

'दो तिहाई सफेद बालोंवाला आदमी' रचना मिलावटकी समस्याको, आज प्रसारित उसकी विभीषिकाओंको सामने रखती है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें प्रत्येक चीजमें मिलावट है और हम उसके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि अब असलपर शक होने लगता है। लेखक ने इस बहाने निष्कर्ष यही निकाला कि सार्वजनिक जीवनमें पब्लिकको धोखा दिये बिना काम चलही नहीं सकता। 'मेरा घर', 'चंदा', और दाढ़ी' में व्यक्त वैचारिक चिन्तन आधुनिक युगके तौर-तरीकोंका सटीक परिचय है। अपने घरकी हौंस किसे नहीं होती, पर इस बीच अनेक समस्याओंसे जूझना पड़ता है, परिणामतः अपना घर बनानेका सपना धुंधला होता जाता है। इसमें व्यंग्यके साथ हास्यका प्रबल पुट है। 'दाढ़ी' को लेकर किया गया चिन्तनभी बहुआयामी है। कहावत-भुहावरो के सहज प्रयोगसे लेखकने जीवनके बहुमुखी पक्षोंपर प्रहार किये हैं। दाढ़ी रखनेके अनेक कारण हैं और उससे अनेकानेक अर्थभी द्योतित होते हैं। कहीं यह फैशनकी प्रतीक, तो कहीं उमर छिपानेका साधन। कहीं यह ऐब छिपाती है तो कहीं पूरा चेहराही छिपा देती है और असलियत गायब हो जाती है। इसी प्रकार 'चंदा' रचनामें पहले तो लेखकने अन्यान्य लोगोंकी समझके आधारपर भांतिभांतिकी व्याख्या की है, पर इसीके साथ-साथ लोगों द्वारा कीगयी अलग-अलग व्याख्याओंकी ही आधार बनाकर लेखकने जीवनके विविध पक्षोंपर जोरदार व्यंग्य-प्रहार किये हैं, जो हास्यके घोलमें सम्पूकत



हैं और इस प्रकार आजके जीवनकी विसंगतियोंपर चोट करते हैं। 'डिल स्टेशन' में लेखकने बताया है कि जमाना जुगाड़का है, योग्यताका नहीं। सफलता असफलता इसीपर निर्भर है। पैसा और परिचय इस सारी जुगाड़को अंजाम देते हैं और इसीसे सामर्थ्यका अंदाजा लगाया जाता है। 'सामर्थ्यवाले अपना सम्मान ठीक सीजनमें करवा लेते हैं और सामर्थ्यहीन सीजन निकल जानेपर। इस सामर्थ्यके संदर्भमें अपने मूल्य दर्शाते हुए लेखकका कथन है—'सम्मान करानेके लिए पैसा, पद, प्रतिष्ठा, प्रयत्न और प्रतिभा आवश्यक होते हैं और इन पंचरत्नोंसे मेरा दूर-दूर तक सरोकर नहीं था।' वास्तवमें लेखककी आधुनिक युगके खोखले मूल्य स्वीकार नहीं हैं। उसकी ईमानदार कोशिश स्वस्थ मूल्यों को महत्त्व देती है।

वस्तुतः लेखककी आस्था परम्परागत स्वस्थ मूल्यों के प्रति समर्पित है। 'साइकिल युग' रचनाभी इस तथ्यको बखूबी उद्घाटित करती है। इसमें जहां एक ओर आधुनिक युगकी विसंगतियोंपर व्यंग्य प्रहार किये गये हैं, दूसरी ओर प्राचीन युगकी अप्रत्यक्ष प्रशंसाकी गयी है। साइकिल-चर्चाके बहाने सामाजिक जीवनके इतर पक्षोंकी भी लेखकने अच्छी खबर ली है। आधुनिक युगकी विसंगतियोंको उधेड़ते हुए लेखक कहता है—'यह हमारी सामाजिक व्यवस्थाका दोष है कि यहाँ अधिकांश आदमी गलत जगहपर फिट हैं। हम अपने आदमियोंका सही इस्तेमाल करनाही नहीं जानते। चोरी और गिरहकटीकी प्रतिभावाले राजनीतिमें चले जाते हैं और अच्छी राजनीतिक प्रतिभावाले शिक्षा-संस्थानोंमें या सरकारी नौकरियोंमें। परिणाम यह होता है कि सार्वजनिक धन चोरोंकी जेबोंमें जाने लगता है और शिक्षा-संस्थानों तथा सरकारी नौकरियोंमें राजनीति चलने लगती है।' वस्तुतः यह स्थिति आधुनिक युगका कटु सत्य है। इसके अतिरिक्त इसी रचना में शिक्षा संस्थानों, प्रेम संदर्भों तथा प्रकाशन व्यवसाय आदि क्षेत्रोंकी विसंगतियोंको भी लेखकने सहजतासे उकेरा है।

इस प्रकार प्रस्तुत चौबीस रचनाओंके माध्यमसे स्व. लक्ष्मीकांत वैष्णवने अपनी सशक्त व्यंग्य-शक्तिकी पहचान प्रदर्शित की है। जीवनके बहुमुखी आयामोंतक फैले हुए इन सभी व्यंग्योंकी भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है तथा ठीक जगह पहुंचकर ठीक वार करनेमें सक्षम

'प्रकर'—अगस्त '६०—६४

है। स्थान-स्थानपर हास्यके सहयोगने इन रचनाओंको वस्तुतः रसमय बना दिया है। ऐसे प्रकाशनके सामने आनेपर प्रकाशकको भी साधुवाद देना उचितही होगा, जिसने मरणोपरांतभी एक अच्छे लेखककी अच्छी खनाओंको किसी अंधेरेमें गुम नहीं होने दिया। □

## 'प्रकर'के पूर्व प्रकाशित विशेषांक

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८२	
प्रकाशन : नवम्बर '८३	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८३	
प्रकाशन : नवम्बर '८४	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८४	
प्रकाशन : अगस्त '८५	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८५	
प्रकाशन : नवम्बर '८६	२५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६	
प्रकाशन : नवम्बर '८७	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८७	
प्रकाशन : नवम्बर '८८	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८८	
प्रकाशन : नवम्बर '८९	३५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८९	
प्रकाश्य : नवम्बर '९०	सम्पादनमें

## अन्य विशेषांक

भारतीय साहित्य २५ वर्ष ३०.०० रु.

(सभी भारतीय भाषाओंके स्वाधीनोत्तर कालके २५ वर्षोंका सिंहावलोकन तथा हिन्दीकी विभिन्न विधाओंपर आलेख । प्रकाशन : १९७३)

## अहिन्दीभाषियोंका हिन्दी साहित्य

प्रकाशन : १९७१ ३०.०० रु.

- विशेषांकोंका पूरा सेट एक साथ मंगाने पर मूल्य : २००.०० रु.।
- कोई एक अंक मंगानेपर डाक-व्यय पृथक्।
- तीन अंक या अधिक मंगाने पर डाकव्यय की छूट।

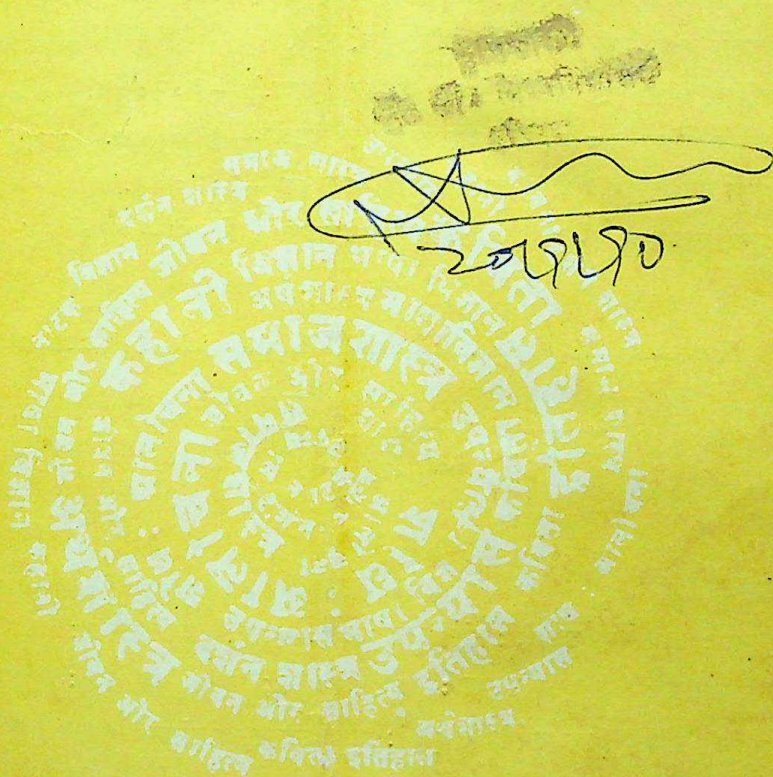
'प्रकर', ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,

दिल्ली-११०००७.



# प्रकर

आश्विन : २०४७ [विक्रमाब्द] :: सितम्बर : १९६० (ईस्वी)





# प्रस्तुत अकक लेखक-समीक्षक

- ☐ डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त, बी-८४, प्रशान्त विहार, दिल्ली—११००८५.
- ☐ डॉ. तालकेश्वर सिंह, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)—८२४२३४.
- ☐ डॉ. तेजपाल चौधरी, ५६ रामदास कालोनी, जलगांव (महाराष्ट्र)—४२५००२.
- ☐ डॉ. प्रयाग जोशी, बी-३/१३, जेल गार्डन रोड, राय बरेली—२२६००१.
- ☐ डॉ. प्रेमशंकर, ब-१६ सागर विश्वविद्यालय, सागर—४७०००३.
- ☐ डॉ. भगीरथ बड़ोले, सी-२८६ विवेकानन्द कालोनी, फ्रीगंज, उज्जैन—४५६००१.
- ☐ डॉ. मूलचन्द सेठिया, २७६ विद्याधर नगर, जयपुर (राज.)—३०२०१२.
- ☐ डॉ. रमाकान्त शर्मा, ४० शान्तिनगर, सिरोही (राज.).
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषानगर, केसरसिंह पुरा, औरंगाबाद—४३१००५.
- ☐ डॉ. रामस्वरूप आर्य, नयी बस्ती, विजनौर (उ. प्र.).
- ☐ डॉ. वीरेन्द्रसिंह, ५ झ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज.)—३०२००४.
- ☐ डॉ. वीरेन्द्रसिंह पमार, २८ यू. बी. जवाहरनगर, दिल्ली—११०००७.
- ☐ डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, १४/५, द्वारिकापुरी, अलीगढ़—२०२००१.
- ☐ डॉ. इन्दयाल, एच-५०, पश्चिमी ज्योतिनगर, गोकुलपुरी, दिल्ली—११००६४.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

- |   |            |
|---|------------|
| <input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)                             | ६.०० रु.   |
| <input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :          | ५०.०० रु.  |
| <input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता : संस्था :                           | ५०१.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) :         | १२०.०० रु. |
| अन्य देश :  | १८५.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्षके लिए) :          | ३१०.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके बैंकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें. |            |

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.

‘प्रकर’—सितम्बर '६०



**प्रकाश**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षा का मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ६

आश्विन : २०४७ [विक्रमाब्द]

सितम्बर : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां****स्वर-विसंवादी**

हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि अर्पित कीजिये	२	वि. सा. विद्यालंकार
आर्य द्रविड़ भाषा परिवार		
द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप	५	डॉ. राजमल वोरा
क्रान्तदर्शी क्रान्तिकारी व्यक्तित्व		
युग पुरुष वीर सावरकर — अशोक कौशिक	१७	वीरेन्द्रसिंह पमार
साहित्यकार : साहित्य एवं व्यक्ति		
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : समकालीनोंकी दृष्टिमें — सम्पादक :		
डॉ. मारुतिनन्दन पाठक	२०	डॉ. तालकेश्वर सिंह
रचनाकार रामदरश मिश्र — सम्पा. डॉ. नित्यानंद तिवारी, ज्ञानचंद्र गुप्त	२२	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ
मेरी जीवनधारा — यशपाल जैन	२५	रामस्वरूप आर्य
भारतीय अन्तश्चेतना		
राजस्थान : बंगीय दृष्टिसे — सम्पा. पं. अक्षयचन्द्र शर्मा	२६	डॉ. मूलचन्द्र सेठिया
काव्य		
यह जो हरा है — प्रयाग शुक्ल	३१	डॉ. प्रेमशंकर
विद्वम्भरा — सी. नारायण रेड्डी	३२	डॉ. हरदयाल
नींदमें मोहनजोदड़ो — हेमन्त शेष	३४	डॉ. वीरेन्द्रसिंह
निराजना — कविराज रत्नाकर शास्त्री	३७	डॉ. रमाकान्त शर्मा
परित्यक्ता — श्रीनिवास द्विवेदी	३८	डॉ. प्रयाग जोशी
हंस-कलाधर — शम्भूनारायण सिंह	३८	"
उपन्यास		
विकल्प — रामदेव शुक्ल	३९	डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त
उग्र एक गलियारेकी — शशिप्रभा शास्त्री	४१	डॉ. तेजपाल चौधरी
कहानी		
अतिथि देवो भव — अब्दुल विस्मिल्लाह	४३	डॉ. भगीरथ बड़ोले

'प्रकर' — आश्विन २०४७ — १



## स्वर : विसंवादी

# हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि अर्पित कीजिये

जोहां, हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि अर्पित करनेका अनुरोध हम कर रहे हैं। उस दिवसको, जिसदिन संविधानने हिन्दीको राजभाषा घोषित कियाथा, जिसका स्मरण हम गत इकतालीस वर्षसे निरंतर करते चले आ रहे हैं; उस राजभाषा हिन्दीको, जिसे बादमें सम्पर्क भाषा कहा जाने लगा, जिसकी प्रसार वृद्धि करने और उसका विकास करनेका प्रावधान संविधानके अनुच्छेद ३५१में किया गयाथा; जिसकी प्रसार-वृद्धि और विकास करनेका संकल्प संसद्के दोनों सदनोंने १९६८ में लिया था। यद्यपि हिन्दीको राजभाषा बनानेका संविधान सभामें प्रस्ताव करते हुए गोपालस्वामी अयंगरने हिन्दीके कभी राजभाषा बन पानेकी संभावनापर प्रश्नचिह्न लगाया था, फिरभी संविधान सभाने इसे सर्वसम्मतिसे स्वीकार किया। गोपालस्वामी अयंगरने पूरी निष्ठाके साथ ब्रिटिश शासनकी सेवा कीथी, फिरभी यदि वे जनाब नेहरू साहब और उनके दलके साथ जुड़ गये तो उसका कारण ब्रिटिश शासकोंकी शिक्षा-दीक्षासे निर्मित और उन्हीं द्वारा उत्तराधिकारी रूपमें नियुक्त व्यक्तियोंमें से वे अपने-आपको एक समझतेथे, इसलिए अपने पूर्व शासकोंकी भाषाको इस देशसे विदा न होने देनेके संकल्प कोही हिन्दीको राजभाषा घोषित करनेका प्रस्ताव प्रस्तुत करते समय दोहरा दियाथा। श्री अयंगरका यह संकल्प उनका व्यक्तिगत नहीं था, परन्तु उस व्यक्ति-समूहका था जिसका नेतृत्व जनाब नेहरू साहब कर रहेथे और जो 'भारत अर्थात् इण्डिया'के सर्वोच्च कार्यकारी शासक थे। अर्थात् हिन्दी दिवसको संविधान सभा ने जिस प्रस्ताव-शिशुको जन्म दिया, वह अवाञ्छनीय था, इसलिए जन्मसे ही अभिशप्त था।

'भारत अर्थात् इण्डिया'के शासक-मण्डलको इस अभिशप्त प्रस्ताव-शिशुके प्रति चाहे जो अरुचि रहीहो, परन्तु स्वतन्त्रताके प्रारंभिक दिनोंमें सामान्य रूपसे

'प्रकर'—सितम्बर'६०—२

इसका स्वागत किया गया। जनसाधारणकी इस स्वागत-वृत्तिको अरुचि और विरोधमें परिवर्तित करनेके सुनियोजित कार्यक्रम बनाये गये, स्वागत वृत्तिको इस धारा को विपरीत दिशामें प्रत्यावर्तित करनेका कार्य और उसका नेतृत्व स्वनामधन्य कूटनीतिज्ञ 'राजाजी' नामसे सुविख्यात राजगोपालाचार्यको सौंपा गया। राजनीति का यह चमत्कारी व्यक्ति यद्यपि उत्तर भारतमें सफल नहीं रहा, परन्तु दक्षिणमें हिन्दी-विरोधी वशीकरण मन्त्रोंके प्रयोगमें सफल रहा। इसका प्रभाव पूर्वी भारतमें हुआ। इसके उतापसे पश्चिम भारतमें (विशेषतः बुद्धिजीवी वर्गमें) भी वातावरण पर्याप्त उत्पन्न होगया। धीमे-धीमे यह उताप बुद्धिजीवी वर्गका अतिक्रमण कर धार्मिक वर्गोंको भी आक्रान्त करने लगा।

इसी नियोजित कार्यक्रमका परिणाम यह हुआ कि राजकीय प्रयोजनोंके लिए हिन्दी भाषाके उत्तरोत्तर अधिक प्रयोगके लिए संविधानके अनुच्छेद ३४४ में संसदीय आयोग और समिति नियुक्त करनेका जो प्रावधान किया गयाथा, उसके अनुसार संविधान लागू होने के पांच वर्षकी समाप्तिपर तो आयोग गठित किया गया, परन्तु दस वर्षकी समाप्तिपर आयोग गठित करने की उपेक्षा कर दी गयी। यद्यपि "नियत दिन"—२३ जनवरी १९६५—से राजकीय और शासकीय, प्रयोजनोंकी दृष्टिसे राजभाषा हिन्दीको अपना स्थान ग्रहण कर लेना चाहियेथा, परन्तु इससे पूर्वही जनाब नेहरू साहबकी पहलपर, उनकी कार्यनीतिके अनुसार "संविधानके प्रारम्भसे पन्द्रह वर्षकी कालावधिकी समाप्ति हो जानेपर भी, हिन्दीके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा, नियत दिनसे ही, राजकीय प्रयोजनों और संसद् कार्यके लिए प्रयोगमें लायी जाती रहेगी" की व्यवस्था राजभाषा अधिनियम १९६३ के अन्तर्गत कर दी गयी। प्रस्ताव-शिशु को सदा बीना ही बनाये रखनेकी व्यवस्था कर



दी गयी। इस बौने शिशुका रूप विकृत बनाये रखनेके लिए भी जनाव नेहरू साहबने विशेष आग्रहके साथ संविधानके अनुच्छेद ३५१ में "अष्टम अनुसूचीमें उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओंके रूप, शैली और पदान्वितों आत्मसात् करते हुए जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भण्डारके लिए मुख्यतः संस्कृत तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओंसे शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघका कर्तव्य होगा" पदमें 'अष्टम अनुसूची' से पूर्व 'हिन्दुस्तानी और...' शब्द जड़वा दिये।

स्पष्टतः हिन्दुस्तानी (उर्दू को भारतीय नाम देकर लोकप्रिय बनानेकी राजनीतिक एवं कूटयुक्ति) और अष्टम अनुसूचीमें उल्लिखित अधिकांश अन्य भारतीय भाषाओंमें सहज निकटता नहीं है। अरबी-फारसी शब्दों की असाधारण प्रधानताके कारण उर्दू से सभी भारतीय भाषाएं दूर हैं जबकि संस्कृत प्रधान हिन्दी भारतीय भाषाओंके सहज निकट है क्योंकि इन सभीकी संस्कृत प्रधान हिन्दीकी निकटताही अन्य भारतीय भाषाओंके बोलनेवालोंके अनुकूल होती है, क्योंकि अधिकांशतः संस्कृत शब्द सभी भारतीय भाषाओंमें समान अर्थ देते हैं, यद्यपि व्यपवादभी हैं। इससे भी बढ़कर भारतीय साहित्यने देशका जो सांस्कृतिक आधार तैयार किया है, उसका भी मूल संस्कृतमें है। इसलिए हिन्दीका संस्कृतनिष्ठ होना भारतीय भाषाओंकी अनिवार्यता है। परन्तु हिन्दुस्तानी का उर्दूपन न केवल भाषिक बाधा बनकर आ खड़ा होता है, अपितु सांस्कृतिक आधारको अस्तव्यस्त करता है, अन्य भारतीय भाषाओंकी सहज निकटताके कारण एकता-अखण्डताकी भावनाको भी संकटग्रस्त कर देता है। राजनीतिक स्तरपर भी यह विचारणीय है कि विजेताओंकी शब्दावली अथवा भाषाको इस प्रकार वैधानिक रूपसे थोपकर विघटनके बीज तो नहीं बोये जा रहे! सांस्कृतिक दृष्टिसे जनसाधारणमें न्यूनतम विघटनकी प्रवृत्ति उत्पन्न करनेपर, उस प्रक्रियाको निरन्तर गतिशील बनाये रखनेपर राजनीतिक स्तरपर वह किस प्रकार विस्फोटके साथ विखण्डनमें परिवर्तित हो जाती है, इसका यह देश भुक्तभोगी है। इस समय विघटनकी जो नयी प्रवृत्ति उत्पन्न होगयी है, उसका विकासभी इसी प्रकारके विभिन्न रूपोंके विघटनोंसे हुआ है। यहां हम केवल भाषिक विघटनकी चर्चा कर रहे हैं, इसे रोकनेसे अन्य रूपोंके विघटनोंको रोकनेमें

भी सहायता मिलेगी। दुर्भाग्यसे हिन्दीके लिए राजनीतिज्ञोंने प्रारम्भसे ही संघर्षकी ऐसी स्थिति बनाये रखी है कि उसे न केवल अपने आन्तरिक रूप, शैली-शिल्प एवं प्रसार-विकासके लिए संघर्ष करना पड़ रहा है अपितु सर्वदेशीय दृष्टिसे भी उसकी स्थिति संकटपूर्ण बना दी गयी है।

उपर्युक्त स्थितिको ध्यानमें रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तानी रूपको स्वीकार करनेपर एकतो हिन्दीका रूप अन्य भारतीय भाषाओंसे अलग होजानेके कारण वह देशके अन्य भाषाभाषियोंके लिए निकटताके अभावमें सहज-स्वीकार्य नहीं रहेगी, दूसरा अन्य भारतीय भाषाओंसे सम्पर्क कट जानेसे अपने शब्द-भाव-स्रोतोंके लिए आधुनिक दृष्टिसे अविकसित अरबी-फारसीपर निर्भर होजानेसे वह कुपोषणसे आक्रान्त हो जायेगी। सदियोंतक पराजित रूपमें यातनाएं पीड़ाएं-आतंक सहते हुए इस देशकी भाषाओंकी विकसित और स्वतंत्र चिन्तन द्वारा उन्हें समृद्ध करनेका अवसर प्राप्त होनेका तो प्रश्नही नहीं उठता, प्रत्युत आक्रमणकारी शासकोंसे जुड़े देशवासियोंने ही आक्रमणकारियोंकी भाषा शब्दोंको अपनी भाषाओंपर लादनेकी चेष्टा की। इसे हम आज और अधिक कटुताके साथ अनुभव करते हैं क्योंकि इन शब्दोंने भाषाकी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य और भाव-समृद्धिके स्रोतोंको कुण्ठित किया है और भारतीय भाषाओंका रूप मात्र अनुवादी और विकृत होगया है। संविधानके अनुच्छेद ३५१ में 'हिन्दुस्तानी और...' शब्द जोड़कर हिन्दीको सदा विकृत बनाये रखनेकी यही व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार बौनी और विकृत आधुनिक राजभाषा हिन्दी सभी भारतीय भाषाओंके लिए हास्यास्पद बनी हुई है जबकि अन्य भारतीय भाषाएं अपने रूप निर्धारण और अपनी आन्तरिक भावाभिवृद्धि के लिए स्वतंत्र हैं।

स्वाधीनताके प्रारम्भिक दिनोंमें राजभाषा हिन्दीके प्रसार और विकासके लिए प्रयास किये गये। ऐसा न करना शासक-मण्डलके लिए घातक सिद्ध होता। साथ ही प्रारम्भिक दिनोंमें जनप्रतिनिधियों और विभिन्न वर्गोंमें राजभाषाको समृद्ध बनानेका प्रचुर उत्साह था। उन्हींके उत्साहके कारण प्रसार-विकासके ये प्रयास करने आवश्यक हो गये थे। उदाहरणके लिए प्रशासनसे जुड़े कर्मचारियों और अधिकारियोंके हिन्दी प्रशिक्षण की व्यवस्थाएं की गयीं, आधुनिक वैज्ञानिक और प्रौद्यो-



गिक वाङ्मयकी रचनाके लिए पारिभाषिक शब्दोंका निर्माण किया गया, समाचारोंको मूल रूपसे हिन्दीमें संकलित करने और उन्हें सम्पादित रूपमें सभी भारतीय भाषाओंमें प्रचारित करनेकी व्यवस्था कीगयी, हिन्दी समाचार एजेंसियोंके गठनको प्रोत्साहित किया गया, स्वयं प्रशासनने हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं एवं साहित्य तथा वाङ्मयका प्रकाशन आरम्भ किया, परन्तु शासक मण्डलकी नीतियों और कार्योंके कारण हिन्दी प्रशिक्षण व्यवस्थाएं समाप्त कर दीगयीं, पारिभाषिक शब्दोंका निर्माण और उनका पुनरीक्षण समाप्त होगया, मूल रूपसे समाचार हिन्दीमें संकलित और सम्पादित करने की योजना शीत-मण्डारको अर्पित कर दीगयी, हिन्दी समाचार एजेंसियोंकी सहायता बन्दकर उन्हें जीवन्मरणके लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया, प्रकाशन कार्यका स्तर गिराया गया, जिससे संसद्ही इन प्रकाशनोंको बन्द करनेका आदेश दे।

इनमेंसे अधिकांश कार्य दुर्दमनीय प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधीके युगमें हुए। हिन्दीके राजकीय प्रयोगको रोकनेके लिए १९६३ के राजभाषा अधिनियममें १९६८ में संशोधन किये गये। इन्हींमें यह व्यवस्थाकी गयी कि "अंग्रेजी भाषाका प्रयोग समाप्त कर देनेके लिए ऐसे सभी राज्योंके विधान मण्डलोंद्वारा, जिन्होंने हिन्दीको अपनी राजभाषाके रूपमें नहीं अपनाया है, संकल्प पारित नहीं कर दिये जाते और जबतक पूर्वोक्त संकल्पोंपर विचार कर लेनेके पश्चात् ऐसी समाप्तिके लिए संसद्के हर एक सदन द्वारा संकल्प पारित नहीं कर दिया जाता" तबतक अंग्रेजी यथावत् चालू रहेगी। अब इस अधिनियमके अन्तर्गत अंग्रेजी देशपर लदी हुई है, संविधानके प्रावधान अन्यथासिद्ध हो गये हैं, क्योंकि अब लोकतन्त्रके निर्वाचनका रूप परिवर्तित होगया है। ऐसा विश्वास है कि प्रारम्भमें निर्वाचन मतदाता करते थे, परन्तु अब निर्वाचन लाठी-बन्दूक बैलटवाक्स बदलके रूपमें होता है। स्वाभाविक है कि लाठी-बन्दूक-बैलट वाक्स बदलसे आये प्रतिनिधि हिन्दी भाषाके चक्करमें न पड़ें क्योंकि उनकी भाषाही 'लाठी-बन्दूक-बैलटवाक्स बदल' है, यह नयी भाषा अंग्रेजीकी सहयोगी है क्योंकि दोनों शक्ति और बलप्रयोगपर टिकी हैं जनबलपर नहीं। इसलिए संसद् में राजभाषाका प्रश्न नहीं उठता, यदि कभी उठता है तो 'शक्ति-धन बल'को नमस्कारकर उस प्रश्नको टाल दिया जाता है। अपने इस शक्ति और बलका उद्घोष भूतपूर्व प्रधानमन्त्री राजीव गांधी संसद्में और संसद्से बाहर निरन्तर करते रहे कि "हिन्दी किसीपर लादी नहीं

जायेगी।" जो स्थिति १९६८ के संशोधनमें निर्मित की गयी थी, उसे नग्न रूपमें राजीव गांधी सार्वजनिक रूपसे घोषित करते रहे और उसीकी उनके मन्त्रीमण्डलके हिन्दीभाषी सहयोगी तोतारटन्त करते रहे।

भाषाके प्रश्नको लेकर इंडिश (इंडियन इमिग्रेशन) समाचार पत्र आजकल बहुत उद्विग्न है। चाहे किसी राज्यका मुख्यमन्त्री अपने ही राज्यके विधान मण्डल द्वारा पारित और स्वीकृत भाषाको लागू करनेकी घोषणा करे, अथवा कुछ उत्साही, विवेकी, साथही जन भावनासे जुड़े लोग 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलन छेड़ें, अथवा प्रशासनिक नौकरियोंके लिए अंग्रेजीकी अनिवार्यताको समाप्त करनेके लिए भूख हड़तालपर बैठें, ये इंडिश समाचारपत्र तत्काल हिन्दी-विरोध करते हुए हिन्दीकी हीनता और अंग्रेजीके महात्म्यके सामूहिक गीत गायन शुरूकर देते हैं। जिस प्रकार ये पत्र सामान्यतः देशके भूखों-नंगोंकी समस्याओंसे दूर रहते हैं, परन्तु पूंजीपतियों-अर्थपतियोंको होनेवाली कांटा चुभने जैसी कठिनाईयोंके लिए कालमपर कालम रंग देते हैं, उसी अभ्यास और ब्रिटिश शिक्षा-दीक्षासे प्राप्त संस्कारोंके कारण लोकभाषाओं द्वारा जनसाधारणकी उदररुति की सुविधा जुटानेके लिए कुछ शब्द प्रकाशित करनेके स्थानपर उनकी भाषाको अपमानित करनेकी मुसलाधार वर्षा करने लगते हैं। ये इंडियन ब्रिटेन और अमरीकासे पुरस्कृत होनेके अधिकारी हैं।

वस्तुतः पूरे देशमें ऐसा वातावरण तैयार कर दिया गया है कि संवैधानिक प्रावधान अर्थहीन होगये हैं। स्वयं भारत सरकारके कार्यालयोंमें यह व्यवस्था थी कि हिन्दी में भेजे जानेवाले पत्रोंका उत्तर हिन्दीमें दिया जाये, हिन्दीमें उत्तर प्राप्त करना तो अब कल्पना जगत्की बात होगयी है, पत्रका उत्तरही नहीं आता। आधुनिकीकरण और कम्प्यूटरीकरणके नामपर भारत सरकारके विज्ञापन एवं दृश्य प्रचार निदेशालयसे सभी पत्र आदेश केवल अंग्रेजीमें आते हैं जबकि दो वर्ष पूर्वतक यहीसे हिन्दी पत्रोंको सभी प्रकारकी सूचनाएं, पत्र आदेश हिन्दीमें भेजे जाते थे।

प्रतीत होता है इन सब स्थितियोंका निदान और उपचार अब हिन्दीभाषियों, उनकी संस्थाओं और प्रतिनिधियोंकी शक्ति-सीमासे बाहर हो गया है। क्योंकि कभी उत्साहके साथ देशकी राजभाषाके रूपमें हिन्दीका प्रावधान किया गया था, इसलिए अब केवल कृतज्ञता व्रण बोनी और विकृत हिन्दीसे जुड़े हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं; जी हां, श्रद्धांजलि ! □



# द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप [६. १]

## तमिल : प्रारम्भिक परिचय

—डॉ. राजमल बोरा

२३८. द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें तमिल भाषा सबसे प्राचीन है। तमिलका पौराणिक इतिहास उपलब्ध है। ज्ञात इतिहाससे पूर्व तमिलका प्राक्-इतिहास है।

२३९. श्री वी. कनकसभैने अंग्रेजीमें एक पुस्तक "दि तमिल एटीन हंड्रेड थोअर्स एगो" लिखी है। इसका प्रकाशन प्रथमतः १९०४ ई. में हुआ। इसका दूसरा संस्करण १९७९ ई. में छपा है। इस पुस्तकमें ईसाकी प्रथम शताब्दीके तमिलनाडुका सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विवरण है। इस पुस्तकको पढ़कर तमिल भाषा का ऐतिहासिक ज्ञान मिलता है।

२४०. श्री कनकसभैकी पुस्तकमें ईसाके ५० वर्ष बादसे ईसासे १५० वर्ष बाद तक [लगभग १०० वर्ष] का ऐतिहासिक विवरण, पौराणिक आधारपर लिखा गया है। पौराणिक इसलिए कह रहा हूँ कि यह सब उस कालके उपलब्ध वाङ्मयको आधार मानकर लिखा गया है। पुस्तकमें चोल राजाओं (५० ई.—१५० ई.) पांड्य राजाओं (५० ई.—१५० ई.) तथा चेर राजाओं (४० ई. से १५० ई.) का राजनीतिक विवरण तीन अलग-अलग अध्यायोंमें दिया गया है। यह वह काल है जिसमें सातवाहन राजा प्रतिष्ठानमें [पैठण में] राज कर रहे थे। उनका साम्राज्य पश्चिमी तटसे पूर्वी तटतक विस्तृत रूपमें फैला हुआ था। उनके साम्राज्यका विस्तार संभवतः उस क्षेत्रतक व्याप्त हो गया था, जहांतक मौर्यों का [अशोकके कालमें] विस्तार हुआ था।

२४१. प्रोफेसर के. ए. नीलकंठ शास्त्री लिखते हैं कि चोल राजा अशोककी प्रजा नहीं थे। लिखा है :

"इन अभिलेखोंमें [अशोकके] चोलोंका उल्लेख उन राज्योंके साथ हुआ है जो अशोककी प्रजा नहीं थे बल्कि उसके मित्र थे। अशोकके शिलालेखोंकी सभी

वाचनाओंमें चोलोंका पांड्योंकी भांति बहुवचनमें उल्लेख हुआ है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि अशोक के समयमें चोलों और पांड्योंके कई राजा थे।... कोशुर तुलु प्रदेशके थे। वे संभवतः दक्षिणमें मौर्य सीमाओंके रक्षक थे। जब उन्होंने देखा होगा कि मोहूर राजा उपद्रव कर रहा है और वे उसे संभाल नहीं पा रहे हैं तो उनकी सहायताके लिए मौर्य आये होंगे जिनके हरावलमें बडुग रहे होंगे। मोहूर दक्षिण अर्काट जिलेमें रहते हैं। संभवतः इनके पूर्वजही वे मोहूर रहे होंगे। जिन्हें जीतनेके लिए मौर्योंने आक्रमण किया था।"

२४२. इतिहासके ज्ञात कालमें तमिलभाषी क्षेत्र स्वतंत्र रहा है। मौर्योंका शासन वहांपर प्रत्यक्ष रूपमें नहीं था। उस समय तमिल भाषाका विस्तार पूर्वी तटसे पश्चिमी तटतक व्याप्त था। मलयालम भाषासे सम्बन्धित क्षेत्र तमिल भाषाके अंतर्गत ही [उस समय] रहा है।

२४३. कनकसभैकी जिस पुस्तकका उल्लेख ऊपर किया गया है, उसमें ईसाकी प्रथम शताब्दीके तमिल प्रदेशका विवरण है किन्तु उस विवरणके आधारपर ईसा पूर्वकी कम-से-कम पांच-छः शताब्दियों पीछेतक का अनुमान किया जा सकता है। कनकसभैने पुस्तक लिखते समय तमिल प्रदेशका संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रभावसे मुक्त रूप पहचाननेका प्रयत्न किया है। कनकसभैकी पुस्तकके सम्बन्धमें स्वयं श्री के. ए. नीलकंठ शास्त्रीकी टिप्पणी है :

१. चोलवंश—के. ए. नीलकंठ शास्त्री, अनुवाद: मंगल-नारायणसिंह, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण १९७९, पृ. १६.



“कनकसंभकी पुस्तक “दि तमिल्स एटीन हंड्रेड यीअर्स एगो” अभी तक अनेक अर्थोंमें महत्त्वपूर्ण कृति है किन्तु उसमें जिन पाण्डुलिपियोंके आधारपर अपनी रचना लिखी है, उनमें से अधिकांशमें, उस समय पूरा अर्थ स्पष्ट न था, इसलिए उसे उस सामग्रीका उपयोग करना पड़ा जिसकी पूरी तरह समीक्षा नहीं हो पायी थी।”२

२४४. कनकसंभ द्वारा प्रस्तुत तथ्योंपर बादके विद्वानोंने विचार किया है और उन विचारोंका विवरण श्री के. ए. नीलकंठ शास्त्रीने राजनीतिक घटनाओंपर विचार करते हुए लिखा है। यह सब होनेपर भी कनकसंभकी पुस्तकका सांस्कृतिक महत्त्व कम नहीं होता। उस पुस्तकमें तमिल-संस्कृतिकी पहचान है और यह पहचान तमिलमें उपलब्ध तत्कालीन वाङ्मयको सामने रखकर की गयी है। कनकसंभ तमिल प्रदेशका परिचय ‘स्वतंत्र तमिल भाषी क्षेत्र’ के रूपमें देता है। वह उसी कालमें घटित उत्तर भारतकी राजनीतिक घटनाओं और विदेशी राजनीतिक घटनाओंका उल्लेख भी करता है। किन्तु ये सब उल्लेख इस बातके द्योतक हैं कि तमिल प्रदेशके लोग और प्रदेशोंसे सम्बन्ध रखते थे। तमिल प्रदेशके राजनीतिक अस्तित्वको स्वतंत्र मान्यता प्राप्त थी।

२४५. कनकसंभने इस बातपर खेद व्यक्त किया कि विदेशी विद्वान् तमिलके प्राचीन अभिजात (classical) वाङ्मयको नहीं जानते। इन विद्वानोंमें वह डॉ. बर्नल और डॉ. काल्डवेल दोनोंका नाम लेते हैं।<sup>३</sup> उसका कहना ठीक भी है। कारण यह है कि पादरी काल्डवेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकमें ‘तोल्काप्पियम्’ का उल्लेख नहीं किया और न वह अन्य प्राचीन वाङ्मयके प्रधान काव्य-ग्रंथोंका [जिनमें प्रधान रूपसे मणि-मेकलै भी है] उल्लेख करता है। कम-से-कम उसे ‘तोल्का-प्पियम्’ का उल्लेख तो अवश्य करना चाहिये था, क्योंकि वह तमिलका व्याकरण ग्रंथ है।

२४६. ‘तोल्काप्पियम्’ संगम युगके पहलेका व्याकरण ग्रंथ है। तमिल भाषाका वह आदि व्याकरण

ग्रन्थ है। श्री वी. कनकसंभ बतलाते हैं कि इस व्याकरण के लेखकका नाम ‘तोल्काप्पियन्’ था। वह ब्राह्मण था। उसका समय उन्होंने ई. पू. की प्रथम या द्वितीय शताब्दी बतलाया है।<sup>४</sup> व्यक्तिके नामसे ही व्याकरण-ग्रंथ पहचाना गया है। श्री टी. पी. मीनाक्षीमुन्दरन् बतलाते हैं :

“कुछ सूत्रोंके बीच कुछ मात्रामें असंगति मिलती है। इससे यह अनुमान किया जासकता है कि कुछ सूत्रों को संभवतः ऐसे विद्यार्थियोंने जोड़ दिया होगा, जो कार्यमें रिकित अनुभव करते थे, या यह कि तोल्काप्पियम् किसी एक लेखककी कृति न होकर समय-समयपर अपने विचारोंको विकसित करनेवाली किसी व्याकरणिक शाखाकी रचना थी।”<sup>५</sup>

२४७. श्री के. ए. नीलकंठ शास्त्रीने तोल्काप्पियन्के सम्बन्धमें प्रचलित विश्वासोंका विवरण दिया है। लिखा है :

“अगस्त्यने तमिल व्याकरणपर कोई निबन्ध लिखा अथवा नहीं, और यदि उन्होंने लिखा तो इस विषयपर विद्यमान सबसे प्राचीन ग्रंथ ‘तोल्काप्पियम्’ के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्नपर तमिल देशके सभी महान् भाष्यकारोंने विचार किया है। पेराल् शिरीयार [१३०० ई.] ने लिखा है कि उसके समयके विद्वानोंका मत था कि लेखक ‘तोल्काप्पियन्’ ने जिसने अपने नामपर अपने द्वारा रचित व्याकरणका नाम रखा—अपनी पुस्तककी रचना अन्य व्याकरणों—जो अब उपलब्ध नहीं है—का अनुसरण करते हुए ‘अगस्तियम्’ से भिन्न सिद्धान्तोंके आधारपर की। वह परम्परा तथा प्रमाण, जिसमें ‘ईडईय नार अगप्पोरल्ल उर्ई’ मुख्य है, का हवाला देते हुए इस सिद्धान्तका खण्डन करता है। अधिक प्राचीन लेखोंके आधारपर उसका मत है कि अगस्त्य तमिल भाषा तथा व्याकरणका संस्थापक था, महर्षिके बारह शिष्योंमें ‘तोल्काप्पियन्’ ने अवश्यही इस मूल व्याकरणके सिद्धान्तोंका अनुसरण किया होगा तथा अगस्त्यकी रचना, समुद्र द्वारा जलप्लावनके फल-स्वरूप तमिल देशका क्षेत्र धटकर पनम्बारनार द्वारा

४. वही, पृ. ११६.

५. तमिल भाषाका इतिहास—टी. पी. मीनाक्षी मुन्दरन्, अनु : डॉ. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा। मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी : भोपाल, प्रथम संस्करण १९७४ ई., पृ. ५६.

२. वही, पृ. ४६ [संदर्भ : संख्या ६० देखिये]

३. ‘दि तमिल्स एटीन हंड्रेड यीअर्स एगो’—वी. कनकसंभ। प्रकाशक : एशियन एजुकेशनल सर्विसेज, नयी दिल्ली, १ पृ. : ३.



‘तोलकाप्पियन्’ की भूमिकामें संकेत की गयी सीमा—  
अर्थात् बेंगलम पहाड़ीसे कन्याकुमारी—तक आनेसे  
अवश्यही पहले हुई होगी। विरोधी पक्ष जो अगस्त्यके  
प्रति ‘तोलकाप्पियन्’ के आधारको अस्वीकार करता था,  
उसने अपना विचार छोड़ा नहीं। .....” ६

२४८. श्री पी. टी. मीनाक्षीसुन्दरन्ने अपनी  
पुस्तक ‘तमिल भाषाका इतिहास’ में ‘तोलकाप्पियम्’  
के आधारपर दो अध्याय लिखे हैं। पांचवें अध्यायमें  
‘स्वनिप्रक्रिया’ का विवेचन है और छठे अध्यायमें ‘रूप  
प्रक्रिया’ है। संगम युगकी भाषा—सातवां अध्याय है।  
‘तोलकाप्पियम्’ से पहलेकी गुफाओंमें उपलब्ध तमिलके  
अभिलेखोंकी भाषाका अध्ययन है। अध्यायका नाम  
ई. पू. ‘गुफा अभिलेखोंकी भाषा’ है। गुफा अभिलेखोंकी  
भाषाका समय ई. पू. तीसरीसे दूसरी शती है।

२४९. तमिलको दक्षिण द्रविड़ कहा गया है। मध्य  
द्रविड़ और उत्तर द्रविड़—इन सबके सम्बन्धमें पी.  
टी. मीनाक्षीसुन्दरन्ने बहुत विस्तारसे कुछ बताया  
नहीं है। वे लिखते हैं :

“जहांतक दक्षिण द्रविड़का सम्बन्ध है, इससे केवल  
यह अन्तर पड़ेगा कि संस्कृतज्ञों द्वारा सामान्य तथा  
झोकार की गयी धातुओंकी तुलनामें अधिक देशज और  
जन्मजात द्रविड़ धातुएं बतायी जा सकेंगी। यदि दक्षिण  
धातुओंको उत्तरी रूपोंसे सम्बन्धित दिखाया जा सके, तो  
इसका अर्थ यह होगा कि दक्षिणी रूप, विशेषकर तमिल  
रूप सदा आद्य-द्रविड़ निरूपित करें, यह आवश्यक नहीं  
है। ७

२५०. ज्यूल ब्लाख ऐसे लेखक हैं जिन्होंने ‘द्रविड़  
भाषाओंकी व्याकरणिक संरचना’ पुस्तकमें द्रविड़ परि-  
वारकी भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसकी  
अपनी सीमाएं हैं। उन्होंने आद्य-द्रविड़ जैसी कोई  
कल्पना नहीं की है। वे उपलब्ध भाषाओंका तुलनात्मक  
अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। अपना प्रयोजन बतलाते हुए

६. दक्षिण भारतका इतिहास—श्री के. ए. नीलकंठ  
शास्त्री, अनुवादक : डॉ. वीरेन्द्र वर्मा। बिहार  
ग्रन्थ अकादमी, पटना। तृतीय संस्करण, जून  
१९८६, पृ. ६४.

७. तमिल भाषाका इतिहास—पी. टी. मीनाक्षी  
सुन्दरन्, अनु : डॉ. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा। मध्य-  
प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल। प्रथम  
संस्करण १९७४ ई., पृ. २६.

वे लिखते हैं :

“मेरी योजना, अतः काल्डवेलसे अधिक संतुलित है  
क्योंकि यह सम्पूर्ण भाषाको नहीं समेटती तथा इसमें  
द्रविड़ परिवारकी अन्य परिवारोंके साथ तुलना नहीं  
की गयी है। दूसरी ओर मैंने असंस्कृत बोलियोंके संबंध  
में अबतक प्राप्त तथ्योंका उपयोगही नहीं किया है  
अपितु इन बोलियोंको अधिक महत्त्व भी दिया है—काल्ड-  
वेलका कार्य तमिलपर आधारित है। अवसरकी दृष्टिसे  
ही नहीं, भाषाकी प्राचीनता तथा प्राचीन शुद्ध रूपकी  
दृष्टिसे भी इसका औचित्य था, उसीका अनुकरण तब  
से किया जा रहा है।

मैंने दृष्टिकोणको पुनः व्यवस्थित करनेका प्रयत्न  
किया है, इसमें मेरा उद्देश्य—अन्य कुछ नहीं केवल  
भविष्यके द्रविड़ भाषाओंके अध्येताओंके लिए गंभीर  
अध्ययन हेतु प्रारम्भिक ढांचा प्रस्तुत करना, और उन  
भाषा तत्त्वविदोंके लिए जो विविध भाषाओंकी तुलना  
करनेके लिए उत्सुक हैं—चित्रके उन तत्त्वोंको प्रस्तुत  
करना है—जो इस परिवारकी भाषाओंके विकासकी  
असमान एवं वैविध्यपूर्ण परिस्थितियोंमें भी विशिष्ट  
रहे हैं।” ८

२५१. द्रविड़ परिवारके भाषा-भूगोलपर व्यवस्थित  
रूपमें बहुत कम लिखा गया है। उपलब्ध जानकारी,  
सर्वेक्षण मात्रको प्रस्तुत करनेवाली है और वह सर्वेक्षण  
भी स्थिति सम्बन्धी है। सर्वेक्षणका ऐतिहासिक विश्ले-  
षण मिलता नहीं है।

२५२. ‘तोलकाप्पियम्’ के आधारपर श्री पी. टी.  
मीनाक्षीसुन्दरन् द्वारा लिखे गए दो अध्यायों [स्वनिम्  
और रूपिम पर] को देखकर पाणिनिका स्मरण होता है।  
तोलकाप्पियन् पाणिनिसे परिचित था या नहीं, यह हमें  
मालूम नहीं है। कनकसभ तो अपनी पुस्तकमें साफ  
लिखते हैं—

“तमिलभाषी रामायण और महाभारतकी कथाओं  
को जानते थे। वे बौद्धोंके पिटकोंसे परिचित थे और  
निर्ग्रन्थोंके आगमोंकी जातकारीभी उन्हें थी। .....  
विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि वे पाणिनिके व्याकरणसे  
परिचित नहीं थे और त पल्लजलिके योगका उन्हें ज्ञान

८. द्रविड़ भाषाओंकी व्याकरणिक संरचना—ज्यूल  
ब्लाख, अनुवाद : डॉ. कृष्णकुमार शर्मा। राज-  
स्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर। प्रथम  
संस्करण, १९७३ ई., पृ. १०.



था। दक्षिण भारतमें इन दोनोंकी जानकारी नहीं मिलती। लगताहै उस समयके उत्तर भारतमें भी लोक-प्रिय न हुएहों।<sup>१६</sup>

कनकसभै ईसाकी प्रथम शताब्दीकी बात कहते हैं। इसे हम ठीक मान लेतेहैं। फिरभी इच्छा होतीहै कि पाणिनिकी तुलना तोल्काप्पियन्के व्याकरण ग्रंथ से की जानी चाहिये। बहुतसे रहस्य ज्ञात हो सकते हैं और भाषाओंके इतिहासपर नया प्रकाश पड़ सकता है।

२५३. 'तोल्काप्पियम्' व्याकरण ग्रंथमें वर्णाश्रम-व्यवस्थाके संकेत मिलतेहैं। कनकसभैने इस सम्बन्धमें विस्तारसे लिखाहै।<sup>१०</sup> इसी प्रकार मणिमैकलेमें बौद्धों का प्रभाव दिखायी देताहै। कनकसभैने मणिमैकलेपर स्वतंत्र अध्याय लिखाहै।<sup>११</sup> पूरी कहानी पढ़ जायें तो उस कालकी संस्कृतिका दर्शन होताहै। बौद्धोंके बिहार और जैनियोंके स्थानोंका उल्लेख मिल जाताहै। यह सब देखकर प्रतीत होताहै कि हिंदू धर्म बौद्धधर्म और जैनधर्म तमिल प्रदेशमें ईसाकी प्रथम शताब्दीमें व्याप्त थे और उनका प्रभाव जनजीवनपर था।

२५४. हमारे सामने प्रश्न है कि तमिल भाषाका प्राकृत भाषासे क्या सम्बन्ध रहा होगा? 'संगम-युगके साहित्य' का काल प्राकृत भाषाका उत्कर्ष काल रहा है। जैनधर्म और बौद्धधर्म तमिल प्रदेशमें जब व्याप्त हो गयेथे तो ये धर्म तमिल प्रदेशमें प्राकृत भाषाको लिये हुएही पहुंचे होंगे। बौद्धधर्म लंकामें तमिल प्रदेश के मार्गसे पहुंचा या सीधे समुद्रके मार्गसे? और फिर तमिल भाषा स्वयं लंकामें पहुंचीहै। सिंहली भाषा आर्य परिवारकी भाषा है। प्राकृतका प्रभाव सिंहली भाषापर है। कनकसभैकी पुस्तकमें प्राकृत भाषाके संबंधमें कुछ नहीं कहा गयाहै। संस्कृतके सम्बन्धमें अपेक्षाकृत अधिक लिखा है। कनकसभै वस्तुतः भाषाओं पर अधिक विचार नहीं करते। श्री पी. टी. मीनाक्षी सुन्दरन्ने इस सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे—('तमिलका बाह्य इतिहास' अध्याय में) लिखा है:

“बौद्धधर्म और जैनधर्मके प्रचारक तमिल-भूमि

९. 'दि तमिल्स एटोन हंड्रेड थीअर्स एगो'—वी. कनकसभै । पृ. : २११.

१०. वही, पृ. : ११६.

११. वही, बारहवां अध्याय : 'दि स्टोरी ऑफ मणिमैकले, पृ १६२ से १६०.

'प्रकर'—सितम्बर'९०—५

और दूरवर्ती श्रीलंका तक पहुंचेथे। गुफा अभिलेखोंमें हमें बहुतसे शब्द और व्यक्तिवाचक नाम प्राप्त हुएहैं। अतः उस आरम्भिक युगमें उच्चरित भाषाओंमें प्राकृत और पालिसे शब्द आये होंगे।<sup>१२</sup>

इसके आगे 'तोल्काप्पियम्' का आधार देते हुए वे लिखतेहैं:

“तोल्काप्पियन्ने सामान्य रूपमें उत्तरकी भाषाका संकेत कियाहै। शब्दकी व्याख्या संस्कृतका संदर्भ देकर की जातीहै, पर उसमें प्राकृत और पालिका समावेश होना चाहिये। इस संदर्भका महत्त्व यह है कि संस्कृत के शब्द साहित्यिक रचनाओंमें प्रयुक्त चार प्रकारके शब्द, हैं, जो नामशः इस प्रकार है :—साधारण सरल शब्द, पर्यायों और समनाम शब्दों सहित साहित्यिक शब्द, और उत्तरी शब्द। इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृत और अन्य उत्तरी भाषाओंके साथ सम्पर्क उस समय तक बहुत प्रगाढ़ हो चुकाथा।<sup>१३</sup>

२५५. संगम युगके कुछ तमिल शब्द उक्त लेखक ने आगे दियेहैं, जिनमें संस्कृत तथा प्राकृत रूपोंके तमिलीकरणके रूपमें जाना जासकताहै।

कंकै < गंगा / इमयम् < हिमालय / वारणवाचि < वाराणसी / चोणै < सोन (नदी) / पाटलि < पाटलिपुत्र / कण्णन् < कृष्ण / चावकर < श्रावक / चारणर < चारण / इयक्कि < यक्षी / इन्तिरन् < इन्द्र / जानम् < ज्ञान / अन्ति < सन्धि / .<sup>१४</sup>

२५६. पी. टी. मीनाक्षीसुन्दरन् तमिल प्रदेशके अभिलेखोंकी भाषाका विवेचन करतेहैं। इन अभिलेखों का काल वे ई. पू. तीसरी शतीसे दूसरी शती तक मानतेहैं। उनका कहनाहै कि श्रीलंकाकी गुफाओंके अभिलेखोंसे इनका पारिवारिक साम्य है और गुफा अभिलेख ब्राह्मी लिपिके दक्षिणी भेदसे सम्बन्धित हैं। इन अभिलेखोंकी भाषाके संबंधमें वे कहतेहैं:

“यह भाषा कुछ तमिल या आद्य-दक्षिण-द्रविड़ जैसी है। पर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ये अभिलेख ऐसी संकर भाषामें हैं, जिसमें तमिलके साथ

१२. तमिल भाषाका इतिहास—श्री पी. टी. मीनाक्षी सुन्दरन्, अनु : डॉ. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा। मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल। प्रथम संस्करण, १९७४, पृ. १६२.

१३. वही, पृ. १६२.

१४. वही, पृ. १६३.



प्राकृत शब्दभी प्रयुक्त हैं। इसका कारण यह है कि बौद्ध लोगोंने, जो प्राकृतके महान् पण्डित थे, पर स्वयं तमिल मातृभाषी नहीं थे, इन अभिलेखोंको चट्टानोंमें इसलिए खुदवाया कि उस क्षेत्रकी जनता उन्हें समझ सके।<sup>११५</sup>

२५७. सुदूर दक्षिणमें—तमिल प्रदेशमें—बौद्धधर्म और जैनधर्म प्राकृत भाषाके माध्यमसे पहुंचा और वहां की भाषा तमिलमें उसकी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक तथा केरलमें क्यों नहीं हुआ? मराठी, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम भाषाओंका अस्तित्व उन दिनोंमें [ईसा पूर्वकी शताब्दियोंमें] था या नहीं? क्या तमिल प्रदेशको छोड़कर समस्त दक्षिण भारतमें प्राकृत भाषा रही है? ऐसा नहीं होसकता। ई. पू. की शताब्दियोंका दक्षिण भारतका इतिहास अभीभी अंधकारमें है। तमिल भाषामें लिखित साहित्यके आधार पर ही तमिल देशका सांस्कृतिक परिचय मिलता है और उसी आधारपर हम वहांके राजनीतिक स्वरूपका अनुमान करते हैं। चोल राजा, पांड्य राजा तथा चेर राजाओंका—प्रथम शताब्दीका इतिहास—विवरण तमिल वाङ्मयपर आधारित है। उत्तर भारतमें इतिहास पूर्वसे आरम्भ होता है—पाटलिपुत्रसे—और दक्षिण भारतमें इतिहास तमिल प्रदेशसे आरम्भ होता है। किंतु पूर्वसे आरम्भ होनेवाले इतिहासको अधिक ख्याति मिली है। इस रूपमें तमिल प्रदेशका इतिहास अभीतक पूरी तरह उजागर नहीं है। पूर्वसे प्राकृत भाषा दक्षिण में तमिल प्रदेशतक [आगे श्रीलंका तक भी] पहुंची है। प्राकृत और तमिल भाषाएं दोनों आपसमें सांस्कृतिक रूपमें सम्बद्ध हुई हैं।

२५८. भारतवर्षकी आधुनिक भाषाओंमें द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका इतिहास अपेक्षाकृत प्राचीन है। और उनमें भी तमिलका इतिहास और प्राचीन है। इसपर भी तमिलको आद्य-द्रविड़ नहीं कहा जाता। यदि हम भाषाके मूल व्यंजक-तत्त्वों [ध्वनियों] पर ही विचार करें तो तमिलसे तेलुगुमें अन्तर मिलता है। दक्षिणसे उत्तरकी ओर बढ़ते जायें तो यह अन्तर ज्ञात हो जायेगा। तमिलमें महाप्राण ध्वनियां नहीं हैं। इसी तरह सघोष अल्पप्राण ध्वनियां [ग/ ज/ ड/ द/ ब] भी नहीं मिलती। 'तोल्काप्पियम्' की भाषामें ये

१५. वही, पृ. ४४, ४५ तथा ४६।

ध्वनियां नहीं मिलती।<sup>१६</sup> इसी प्रकार यदि तेलुगुके प्राचीन गुफा अभिलेखोंकी ध्वनियोंपर विचार करें तो उनमें तमिलकी ध्वनियोंकी अपेक्षा अधिक ध्वनियां मिलती हैं। प्राचीन तेलुगुमें सघोष अल्पप्राण ध्वनियां (ग/ ज/ ड/ द/ ब) मिलती हैं। महाप्राण ध्वनियां प्राचीन तेलुगुमें भी नहीं मिलती।<sup>१७</sup> कहना यह है कि ऐतिहासिक कालमें इन ध्वनि समूहोंमें अन्तर हुआ है। किन्तु जहांसे इतिहास आरम्भ होता है उस समयमें भी तेलुगु और तमिलके ध्वनि समूहोंमें अन्तर दिखायी देता है। भाषाएं एक परिवारकी हैं किन्तु ध्वनि समूह एक नहीं है। आद्य-द्रविड़का ध्वनि समूह एक होना चाहिये। यह अनुमानका विषय है।

२५९. यह सत्य है कि इतिहासमें द्रविड़ परिवार की भाषाओंमें तमिल प्राचीन है और उसका भौगोलिक स्थान सुदूर दक्षिणमें है। द्रविड़ परिवारकी यात्रा दक्षिणसे उत्तरकी ओर होती है। ठीक-ठीक कहें तो दक्षिण-पूर्वसे उत्तर-पश्चिमकी ओर कहना चाहिये। और आर्य परिवारकी भाषाओंकी यात्रा (वैदिक संस्कृत) उत्तर-पश्चिमसे आरम्भ होती है और उसका विस्तार पूर्व और दक्षिणकी ओर होते हुए द्रविड़ परिवारकी भाषाओंकी सीमा रेखाओं तक पहुंचता है। मराठीको आर्य परिवारकी भाषा माननेके नाते महाराष्ट्रकी सीमाएं (पश्चिमी तटके समुद्रवाले भागको—पश्चिमी घाटको छोड़ें तो) द्रविड़ परिवार की भाषाओंकी सीमारेखा—तेलुगु और कन्नड़ भाषासे सम्बंधित प्रदेशोंकी सीमारेखा—में परिणत होती हैं और इस सम्बन्धमें इससे पूर्वके अध्यायमें विस्तारसे लिखा गया है।

२६०. द्रविड़ परिवारकी भाषाएं परिवर्तनके उस चक्रमें से नहीं गुजरी, जिससे आर्य परिवारकी भाषाओं

१६. तमिल भाषाका इतिहास—श्री पी. टी. मीनाक्षी-सुन्दरन्, अनुवादक : डॉ. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा। प्रथम संस्करण १९७४, पृ. ६१ पर तोल्काप्पियम् में प्रयुक्त ध्वनियोंका विवरण देखें।

१७. हिस्टारिकल ग्रामर आफ तेलुगु—कोरडा महादेव शास्त्री। श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति। प्रथम संस्करण १९६९; अध्याय ४, के आरम्भमें पृ. ३७, पर प्राचीन तेलुगु (अभिलेखों) की ध्वनियां देखें।



को गुजरना पड़ा है। दक्षिण भारतका राजनीतिक इतिहास, उत्तर भारतके राजनीतिक इतिहाससे अलग है। दक्षिण भारतमें परिवर्तनकी गति, उत्तर भारतमें हुए परिवर्तनकी गतिसे क्षीण है। भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही प्रवृत्ति मिलती है। तमिल भाषाका इतिहास इसका प्रमाण है।

२६१. तमिल भाषा प्राचीन होते हुए भी आधुनिक है और यही बात तेलुगु, कन्नड़ और मलयालमके सम्बन्धमें कही जा सकती है।

२६२. उत्तर भारतकी भाषाओंमें हम परिवर्तनकी बात प्राकृतमें ही देख सकते हैं। लौकिक संस्कृतमें शैली भेद है किन्तु उसे भाषा-परिवर्तनके रूपमें नहीं बतलाया जा सकता। इस नाते भाषा-परिवर्तनके रूपमें ब्रह्मिष्ठ परिवारकी भाषाओंकी तुलना करनी हो तो हम प्राकृत भाषाके साथ ही उसकी तुलना कर सकते हैं।

२६३. भाषाओंकी अपनी मौखिक परम्परा भी है। भगवान् महावीर या भगवान् गौतम बुद्ध जब अपनी देशना (प्रबोधन) दे रहे थे तो उनकी भाषा उस समय—(जीवित भाषाका रूप)—भौगोलिक रूपको अपनाये हुए थी। उन सबको उनकी शिष्य परम्पराने स्मरण कर सुरक्षित रखा और उनके शिष्योंमें मौखिक परम्परा जारी रही। मौखिक परम्परामें भाषामें कालक्रममें (पीढ़ियोंके अन्तरके कारण) और भौगोलिक भेदके कारण परिवर्तन हुआ है। महावीरकी वाणीको अर्धमागधी और गौतम बुद्धकी वाणीको पालि कहा गया है। ये दोनों ही शताब्दियों बाद लिपिबद्ध की गयी भाषाएँ हैं। और इस अन्तरालमें भाषाका सामयिक भौगोलिक स्वरूप बदला हुआ था। जैनोके आगम ग्रन्थोंकी भाषाके सम्बन्धमें श्री दलसुख मालवणिया ने विस्तारसे लिखा है। वे लिखते हैं :

“जिस भाषामें भगवान् (महावीर) द्वारा उपदिष्ट अर्थ शब्दबद्ध किया गया वह भाषा प्राकृत होनेसे, लोकभाषा होनेसे वैदिक भाषाकी भांति उसका एक रूप सतत सुरक्षित नहीं रह सकता था। अतएव परम्पराके अनुसार भगवान् महावीरका उपदेश अर्धमागधी भाषामें होता था ऐसा मानकर भी स्वैताम्बर जैनोके आगम अर्धमागधीमें सुरक्षित न रहकर महाराष्ट्री प्राकृत प्रधान हो गये हैं और प्राकृत भाषाकी प्रकृतिके अनुसार शब्दोंके रूपोंमें भी संस्कृतके समान

एकरूपता नहीं देखी जाती, दिगम्बरोंके साधु सिद्धान्त भी अर्धमागधीमें न होकर शौरसेनी प्रधान हो गये हैं।” १८

आगमोंकी सुरक्षामें एक और बाधाका उल्लेख करते हुए श्री दलसुख मालवणिया लिखते हैं :

“ब्राह्मणोंमें वेदकी सुरक्षा पिता-पुत्रकी परम्परामें होती थी और जैनोमें गुरु शिष्यकी परम्परामें। यह आवश्यक नहीं कि पिताको जैसे योग्य पुत्र मिलता है वैसे ही योग्य शिष्य गुरुको मिले। ऐसी स्थितिमें आगमकी सुरक्षा कठिन थी। आगमकी सुरक्षा श्रमणोंके अधीन थी और श्रमणोंमें प्रायः विद्याग्रहणकी योग्य आयुवाले शिष्य श्रमणाचार्यको मिलें यह संभव नहीं होता था। ..... यह भी कारण है कि आगमोंकी शब्द परम्परा और अर्थ परम्परा भी खंडित रूपमें ही प्राप्त होती है।” १९

२६४. दक्षिण भारतमें ईसा पूर्वकी शताब्दियों में ही बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म पहुंच गया था। तमिल प्रदेशमें भी श्रमण और भिक्षु विचरण करते थे और उनके विहार स्थल वहाँपर थे। तमिल साहित्यमें ये सब उल्लेख मिलते हैं। लगता है ये दोनों ही धर्म प्राकृत भाषाकी मौखिक परम्पराको लिये हुए ही आरम्भमें वहाँ पहुंचे हैं। प्राकृत भाषाकी भौगोलिक यात्राके कारण उसके स्वरूपमें परिवर्तन हुआ होगा, और फिर भिक्षु तथा श्रमण दोनों ही अपनी प्रचार यात्रा में दक्षिणकी भाषाएँ सीख गये हैं। भाषाएँ सीखे बिना प्रचार संभव नहीं होता। यद्यपि इस प्रकारके भाषा रूप हमें उपलब्ध नहीं हैं तथापि अनुमानके लिए पुष्ट आधार हमें प्राप्त हैं। तमिल वाङ्मयमें ही इसके त्रयान विद्यमान हैं।

२६५. जैनोके आगम ग्रन्थोंकी प्रथम वाचना भगवान् महावीरके निर्वाणके बाद १६० वर्षके बाद हुई (ई. पू. ३६७)। यह वाचना पाटलिपुत्रमें चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें हुई है। दूसरी वाचना ई. स. ३०० से ३१३ के बीच सथुरामें हुई। इसी तरह बलभी

१८. जैन दर्शनका आदिकाल—श्री दलसुख मालवणिया। लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-६। प्रथम संस्करण १९८०, पृ. १.

१९. वही, पृ. २.



में भी ई. स. ३०० के आसपास एक और वाचना हुई जिसे बलमी (गुजरात) की प्रथम वाचना कहते हैं। बलमी में ही दूसरी वाचना बाद में ४५३ ई. स. अथवा ४६६ ई. हुई। २० इन वाचनाओंका अन्तराल शताब्दियों में है और इससे मूल पाठके मूल बने रहनेमें कठिनाई हुई है। पाटलिपुत्रकी वाचनामें अर्धमागधी का रूप अधिक सुरक्षित है। मथुराकी वाचनापर जोरसेनी प्रभाव है और बलमीकी वाचना महाराष्ट्री है। ई. पू. की शताब्दियोंमें तो श्रमणोंके माध्यमसे मौलिक परम्पराके रूपमें ही सारा कार्य हुआ है। जैनधर्म की तरह बौद्ध-धर्मके मूल ग्रंथोंका भी इतिहास है। उनको लेखन भी संगीतियोंमें बादमें हुआ है। वह धर्म भी भिक्षुओंके माध्यमसे सब जगह विस्तार पा सका है।

२६६. श्री पी. टी. श्रीनिवास आयंगरने 'हिस्ट्री ऑफ तमिल्स' (फ्राम दि ऑलिग्ट टाइम्स टू ६०० ए. सी.) पुस्तक लिखी है। इसका प्रकाशन, श्री कुमार स्वामी नायडू एण्ड सन्ज, मद्राससे १९२९ ई. में हुआ है। मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रासकी सिडिकेट द्वारा इस पुस्तकको मान्यता मिली है और उन्हींके अनुरोध पर इसका प्रकाशन भी हुआ है। पुस्तक बड़े श्रमसे लिखी गयी है। श्री कनकसभैकी पुस्तककी अपेक्षा इसमें प्राचीन तमिल प्रदेशका सांस्कृतिक एवं राजनीतिक इतिहास अधिक है। संस्कृत वाङ्मय एवं प्राकृत वाङ्मयको आधार मानकर और तमिल वाङ्मयके साथ उनका सम्बन्ध बताते हुए दक्षिण भारतका परिचय पुस्तकमें दिया गया है। पुस्तकमें अगस्त्य मुनि, आपस्तम्ब, जगद्गिन, परशुराम, रामायण, महाभारत—आदिका परिचय दक्षिण भारतके संदर्भमें दिया गया है। आर्योंकी संस्कृतिको भिन्न मानते हुए (अंग्रेजोंने यह सब प्रचा-रित किया है, उसीका अनुसरण करते हुए) दक्षिण पर उसका जो प्रभाव रहा है, उस सबका विश्लेषण विद्वान् व्यक्तित्वने किया है। दक्षिणकी महान् सांस्कृतिक धरोहरको उजागर करनेका प्रयत्न

२०. सिरी उत्तरज्जयणा सुत्तं (पठमो भाग) — मूल प्राकृत, संस्कृत छाया व मराठी अनुवाद—प्रो. भा. श्री रणदिवे, प्राकृत भाषा प्रचार समिति, नाशिक। प्रथम संस्करण; १९६७। प्रस्तावना, पृ. २ से ५ तक।

लेखकने किया है। प्राक-इतिहासके स्वरूपको जाननेमें पुस्तक बहुत उपयोगी है। इसमें संस्कृतियोंकी पृथक्ता को पहचाननेका प्रयास है। इस प्रयासमें जोड़नेवाले तत्त्व भी आ गये हैं। हमारा प्रयोजन जोड़नेवाले तत्त्वों को उजागर करनेवाले तथ्योंपर रहना चाहिये। इस प्रकारके तथ्यभी पुस्तकमें विद्यमान हैं।

२६७. संस्कृत और प्राकृत तथा तमिल साहित्य आपसमें जुड़ते रहे। संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओंने तो भौगोलिक यात्रा की है और ये भाषाएं मौखिक परम्परा में ही मुनियों, भिक्षुओं और श्रमणोंके माध्यमसे पहुंची हैं। इसके प्रमाण श्री पी. टी. श्रीनिवास आयंगरकी पुस्तकमें मिलते हैं।

२६८. द्रविड़ परिवारकी 'भाषाओंमें 'कुई' बोली सबसे प्राचीन रही होगी। श्री रामदास पंतुलुने इस सम्बन्धमें टिप्पणी लिखकर श्री पी. टी. आयंगरके पास भेजी थी। उसी टिप्पणीको उद्धृतकर अपनी पुस्तकमें श्री आयंगर स्वीकार करते हैं कि 'कुई' बोली द्रविड़ परिवारमें सबसे प्राचीन मानी जा सकती है। 'कुई' का भौगोलिक क्षेत्र आन्ध्रप्रदेशके पूर्वी तटके उत्तरी जिले और मध्यप्रदेशका दक्षिणी भाग है। यह सारा प्रदेश आज भी वन्य प्रदेश है। श्री रामदास पंतुलुने उक्त प्रदेशका सर्वेक्षण किया और अनुभव किया कि बाल्मीकि रामायणमें जो राक्षसों आदिका वर्णन मिलता है या जिस प्रकारकी संस्कृतिका चित्र है, वैसे चित्र आज भी उस प्रदेशमें हैं। २१ यह विवादका विषय होनेपर भी इस बातको तो हम स्वीकार कर सकते हैं कि द्रविड़ परिवारकी 'कुई' बोली बहुत प्राचीन है। और वह बोली आज भी वन्य प्रदेशकी बोली ही है।

२६९. श्री पी. टी. आयंगरने तमिलके साथ अन्य द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका उल्लेख नहीं किया है। भाषाओंका नामकरण हो या न हो—भाषाएं तो रही हैं और उनमें भौगोलिक भेद भी रहा है। तमिल भाषा द्रविड़ परिवारकी समृद्ध और प्राचीन भाषा होनेपर भी उसके भौगोलिक प्रसार के रूपमें—द्रविड़ परिवार की अन्य भाषाओंके क्षेत्रमें भी कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती—कुछ ज्ञात नहीं है। भाषाओंका ज्ञान हमें राजनीतिक चेतनाके फलस्वरूप ही मिलता है। दक्षिण में तमिल प्रदेशमें राजनीतिक चेतना—ऐतिहासिक

२१. उपर्युक्त पुस्तक हिस्ट्री ऑफ तमिल्स—श्री पी. टी. आयंगर। पृ. ५८ से ६२ तक।



रूपमें सर्वप्रथम मिलती है और इसीका परिणाम—तमिल भाषा और साहित्य है।

२७०. टाइम्स ऑफ इंडिया (बम्बई संस्करण) के २० अप्रैल १९६० के पृ. ३ पर समाचार इस शीर्षकके साथ छपा है : 'आर्यन्स ओरिजिनिटेड इन इंडिया,—लेखक हैं धारवाड़के डॉ. के. आर. अलूर, जो पशु-सर्जन एवं पुरातत्त्ववीय जीवविज्ञानी हैं, ने कहा है :

“भगवान राम और कृष्ण जैसे आर्य देवता विशुद्ध रूपमें भारतीय देवता थे, मध्य एशियाके नहीं। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया है कि आर्योंके बाहरसे आने और भारत में आ बसनेकी परिकल्पना साम्राज्यवादी और राजनीति प्रेरित है... उनके अनुसार आर्यों और हड़प्पाकालके लोगों में आकृतिय असमानताएं परिवेश, भोजन और जलवायुके कारण उत्पन्न हुई और उसका जाति-वंशके मूल प्राकृतिक आवाससे कोई संबंध नहीं जैसा कि सामान्य रूप से माना जाता है।” २२

२७१. डॉ. अलूरने तुंगभद्रा नदीके किनारे धारवाड़ जिलेके हुलूर गांवमें हुई खुदाईमें उगलबध घोड़ोंकी हड्डियोंको देखकर बतलाया कि इसका समय आर्योंके आगमनसे पूर्व है और यह मानना कि आर्योंके साथ छोड़े भारतमें आये हैं—ठीक नहीं है। अन्य स्थानोंपर भी ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनके आधारसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। २३ डॉ. अलूर ८३ वर्षके हैं।

२७२. यों डॉ. अलूर जो कह रहे हैं, वही श्री भगवान-सिंहने कहा है। इस मान्यताका प्रचार हो और भाषाओं का भौगोलिक सर्गक्षण ठीक-ठीक हो तो भाषाओंका इतिहास नये सिरेसे लिखा जा सकेगा। श्री कनकसभे हो या श्री पी. टी. आर्यंगर, उनपर विदेशी विद्वानोंके प्रभाव हैं और वे आर्य और द्रविड़को अलग मानकर चलते हैं। इसीलिए तथ्योंको गलत ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। पुनर्विचारकी आवश्यकता है।

२७३. दक्षिण भारतका बहुत-सा इतिहास अभी अन्धकारमें है। तमिल प्रदेशमें जिस समय 'तोल्का-प्पियम्' व्याकरण रचा गया या मणिमैकले जैसी रचना लिखी गयी ठीक उसी समय आन्ध्रप्रदेश या कर्नाटक या केरल प्रदेशोंमें क्या हो रहा था—हम नहीं जानते। इन प्रदेशोंका राजनीतिक इतिहास ठीकसे उजागर नहीं है।

२२. टाइम्स ऑफ इंडिया, बम्बई, २० अप्रैल ६०, शुक्रवार, पृष्ठ ३.

२३. वही, पृष्ठ ३।

सातवाहनोंका इतिहास पूरी तरह ज्ञात नहीं है। सात-वाहन राजा तमिल प्रदेशों तक पहुंचे थे और उनका शासन समस्त महाराष्ट्र—उत्तरमें नर्मदा तक और दक्षिणमें तमिल प्रदेश तक रहा है। कर्नाटक और आन्ध्र का समस्त प्रदेश सातवाहनोंके राज्यका भाग था। सात-वाहनोंके सम्बन्धमें आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र के इतिहासकारोंके विचार अलग-अलग हैं। सच तो यह है कि सातवाहनोंका इतिहास स्पष्ट हो तो मराठी, कन्नड़ तथा तेलुगु भाषाओंके इतिहासको जाननेमें सहायता मिलेगी। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार दोनोंका सम्मिलित रूप सातवाहनोंके कालमें रहा है। सात-वाहनोंके राज्य-क्षेत्रमें प्राकृत भाषा प्रधान रही है। किन्तु परम्परासे संस्कृत भाषा भी प्रचलनमें थी। प्राकृत भाषाके उत्कर्षके कारण—मराठी, कन्नड़ और तेलुगु भाषाएं प्रचलित नहीं हो पायीं। कन्नड़ भाषाका प्रथम अभिलेख पांचवीं शतीका (४५० ई. का) मिलता है। २४ इसी प्रकार तेलुगु भाषाका प्रथम अभिलेख छठी शतीका मिलता है। २५ पांचवीं और छठी शतीमें सातवाहनोंका शासन नहीं था।

२७४. सातवाहनोंके पतनके बाद दक्षिण भारतकी स्थिति बदल रही थी। इस परिवर्तनके सम्बन्धमें डॉ. के. ए. नीलकंठ शास्त्री लिखते हैं :

“सातवाहन साम्राज्यके पतनके बाद वह उत्तर-पश्चिममें आभीरों, दक्षिणमें चुतुओं और आन्ध्रप्रदेशमें इक्ष्वाकुओंके बीच बंट गया। मध्यप्रदेशमें सातवाहनोंके वंशज राज्य करते रहे और दक्षिण पूर्वमें पल्लवोंका अभ्युदय हुआ। इस प्रकार दक्कनकी वह राजनीतिक एकता नष्ट होगयी जो नन्दोंके समयसे करीब छः शताब्दियों तक कायम रही थी।”...

### आभीर

आभीर निश्चय ही विदेशी थे और महाभाष्यमें उनका उल्लेख आता है। द्वितीय शताब्दीमें वे पश्चिमी भारतके अधीन सेनापतियोंके रूपमें रहे। पुराणोंमें कहा गया है कि वे सातवाहनोंके बाद दस आभीर शासना-

२४. सोसिस ऑफ कर्नाटक हिस्ट्री (भाग १)—एस. श्रीकान्त शास्त्री। मैसूर विश्वविद्यालय—१९४०।

पृष्ठ २०, १०वां अभिलेख।

२५. हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु—के. महादेव शास्त्री। पृष्ठ : २८२।



रुद्ध हुए और उन्होंने ६७ वर्षों तक शासन किया...

महाराष्ट्र और कुन्तलमें शासन करनेवाले चुतुओं के बारेमें बहुत कम जानकारी है। मसूर जिलेमें उत्तरी कुनारा और चितलदुर्गमें प्राप्त मुद्राओं और कन्हरी बनवासी और मलबल्लिके शिलालेखोंसे इस वंशके कुछ राजाओंके नाम ज्ञात होतेहैं। अनन्तपुर और कड्डप्पा जिलोंसे कुछ शशिकी मुद्राएं प्राप्त हुईहैं जिनपर बोड़ेके चित्र और हरितिके (चुतुओंके नामका एक अंश) खुदे हुए हैं। कुछ इतिहासकारोंका मत है कि चुतु सातवाहन वंश की ही एक शाखा है जबकि अन्य मूलतः नागा जातिका मानतेहैं। कदम्बोंने उन्हें सिंहासनसे हटाकर खुद सत्ता प्राप्त की। १२६

२७५. इसी समयमें (सातवाहनोंके बाद) कृष्णा-

गुंतुरमें इक्ष्वाकुओंने शासन किया। इन्हें भी सातवाहनोंके वंशवर्ती माना गयाहै। कहतेहैं कि इस वंश के सात राजाओं कुल मिलाकर ५७ वर्ष तक शासन किया। इस वंशके राजाओंपर बौद्धोंका विशेष प्रभाव था और वे सातवाहनोंकी परम्पराको अपनाये हुए थे। २७

(श्रागामी लेख : द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप : (६-२.) तमिल-मलयालम-कन्नड़-तेलुगु)।

२६. दक्षिण भारतका इतिहास—डॉ. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री (ऊपर चर्चित)। पृष्ठ : ८३।

२७. वही, पृ. ८३-८४।

## स्वतन्त्र भारतमें विस्मृत क्रान्तदर्शी क्रान्तिकारी

### युग पुरुष वीर सावरकर<sup>१</sup>

लेखक : अशोक कोशिक

समीक्षक : वीरेन्द्रसिंह पमार

किसी महान् व्यक्तिकी जीवनी लिखना कोई सरल कार्य नहीं है। इस गुरुतर कार्यको पूरा करनेके लिए महापुरुषके जीवनके सभी पक्षोंको प्रकाशमें लाना पड़ताहै। उस व्यक्तिके प्रति श्रद्धा उसकी दुर्बलताओं को प्रकाशमें लानेमें बाधा डालतीहै, परन्तु लेखकको उसपर विजय पाना आवश्यक होताहै, इसी प्रकार उसके प्रति अश्रद्धाके कारण उसके सभी कार्योंमें दोष देखने और उसकी निन्दा करनेसे लेखक सदा बचताहै। वह अपना पवित्र कर्त्तव्य इसीमें मानताहै कि महापुरुष के सभी कार्यकलाप यथातथ्य रूपमें प्रस्तुत किये जायें और अच्छाई बुराईका निर्णय पाठकपर छोड़ दिया जाये। समालोच्य पुस्तकके लेखकने अपना कर्त्तव्य पूरीभांति निभायाहै, पुस्तकको आद्योपान्त पढ़नेपर

पाठक यह समझ सकतेहैं। जीवन चरित लेखकके लिए घटनाओंका वर्णन करते समय भाषाको रोचक बनाना सरल नहीं है। परन्तु इस पुस्तककी वर्णन शैली इतनी रोचक है कि पाठक उसमें उपन्यासका आनन्द लेताहै।

विनायक दामोदर सावरकरका जन्म उस काल में हुआ जब भारतके विशेषतः महाराष्ट्र तथा बंगाल के नवयुवक अंग्रेजी शासनके विरुद्ध संगठित हो रहेथे और अपना विरोध प्रकट करनेके लिए उन अंग्रेजोंकी हत्या भी कर देतेथे, जिनके कुकृत्योंके कारण जनताको अनेक प्रकारके कष्ट सहने पड़तेथे। बंगालमें इन युवकों ने संघर्ष समिति बनायीथी और राष्ट्रको क्रूर अंग्रेजोंके शासनसे मुक्त करानेके लिए सशस्त्र क्रान्ति करनेका व्रत लियाथा। इसी प्रकार महाराष्ट्रमें चाफेकर बन्धु, तिलक, परांजपे आदिने भी युवकोंको सशस्त्र क्रान्तिके लिए संगठित किया। चाफेकर बन्धुओंको एक अंग्रेजकी

१. प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : ३१६; डिमा. ६०; मूल्य : १००.०० रु.।



हत्याके अभियोगमें फांसी दीगयी। इस घटनासे सावरकरने अपने जीवनको मातृभूमिको अर्पित करनेका संकल्प कर लिया और इस कार्यके लिए नवयुवकोंको संगठित करनेका दुष्कर कार्य प्रारम्भ कर दिया। अपने लेखों द्वारा युवकोंमें क्रान्ति भावना भरना प्रारम्भ कर दिया और साथही 'अभिनव भारत सोसाइटी' नामक संस्था गठित कर उसके माध्यमसे संगठन कार्य आरम्भ कर दिया। परन्तु सावरकरको ऐसा अनुभव हुआ कि भारतको स्वतन्त्र करनेके लिए विदेशोंसे सहायता लेना आवश्यक है और इस विचारको क्रियात्मक रूप देनेके लिए वे अध्ययन करनेके निमित्त लन्दन चले गये। स्वामी दयानन्दके पट्ट शिष्य श्री श्यामजी

कृष्ण वर्मा इसमें उनके सहायक बने और उनके माध्यम से सावरकर अन्य युवकोंके सम्पर्कमें आये। श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि पहलेसे ही भारतको स्वाधीन करनेके लिए क्रान्तिकारी दलका संगठन कर रहे थे। 'इंडिया हाउस' इनका सम्मिलन स्थल था। इसी प्रकार 'फ्री इंडिया सोसाइटी' के माध्यमसे क्रान्तिकार्य बढ़ाया जा रहा था। सावरकरने विदेशी पत्रोंमें लेख लिखकर फ्रांस और जर्मनीमें भी भारतकी स्वतन्त्रताके लिए आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

कालान्तरमें 'इंडिया हाउस' तथा 'फ्री इंडिया सोसाइटी' पर ब्रिटिश सरकारकी ऐसी कुदृष्टि पड़ी कि

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन दो विरोधी रूपोंमें चलता रहा है। पहला रूप—जो अधिक पुराना है और दमन-उत्पीड़नकी सहज प्रतिक्रिया है—सशस्त्र संघर्ष है, ब्रिटिश कालमें ही १८५७ से भी पहले शुरू होगया था, और फरवरी १९४६ के नौ सेना विद्रोह तक चलता रहा; दूसरा रूप अहिंसक आन्दोलनका रहा, जो अधिक व्यापक रूपसे चला क्योंकि भीत और आतंकित जनसाधारण सशस्त्र संघर्षकी भीषण कठिनाईयों-कष्टों-संकटोंका सामना करनेमें असमर्थ रहा, यह केवल शासन और सत्ताके प्रति विरोध और असहमति का प्रतीक था। अहिंसक आन्दोलनकी एक प्रमुख दुर्बलता थी, जिसपर इतिहासकारों और सामाजिक स्थितियोंका विश्लेषण करनेवालोंने ध्यान नहीं दिया, वह थी अहिंसक आन्दोलनके सूत्रधार थे ब्रिटिश अवमाननाओंसे पीड़ित, ब्रिटिश कृपादृष्टि प्राप्त करनेमें असमर्थ अथवा उससे वंचित। प्रथम रूपमें उग्रता थी, और थी बलिदान और सर्वस्व होमकी भावना, जबकि दूसरा रूप पग-पगपर समझौता करनेको उत्सुक; प्रसाद पानेके लिए प्रथम रूपके अनुयायियोंको प्रताड़ित और लांछित करनेमें उत्साही। इसी कारण प्रथम रूप से जुड़े बलिदानी लोगोंको सामूहिक रूपसे न केवल ब्रिटिश कोपका भाजन बनना पड़ा, अपितु सपरिवार उन्मूलन का दण्ड भोगना पड़ा। इसके विपरीत अहिंसक आन्दोलनसे जुड़े नेतावर्गको देशकी सत्ता उपहार रूपमें मिली और इस कृतज्ञ वर्गने उत्तराधिकारमें प्राप्त राजनीतिक सत्ताका उपयोग समग्र भारतीय सांस्कृतिक जीवनको ब्रिटिश और यूरोपीय पद्धतिके औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी एवं भाषिक पद्धतिके सांचेमें अविरोध ढालना शुरू कर दिया।

युग पुरुष विनायक राव सावरकरने इस स्थितिको जीवनके आरम्भमें ही लक्षित कर लिया था, इसलिए वे जीवनभर न केवल अपने जीवन कालमें सशस्त्र संघर्षका नेतृत्व करते रहे बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरपर सुविधावादी पदप्रार्थी लोगोंके हितोंके विरुद्ध सक्रिय रहे। परिणामतः उन्हें ब्रिटिश कोप का उत्ताप तो सहना ही पड़ा, अहिंसक आन्दोलनके सूत्रधारोंसे भी निरन्तर क्रूर रूपमें लांछित और अपमानित होना पड़ा। जिस युग पुरुषको ब्रिटिश साम्राज्यने मिटानेका प्रयत्न किया, उसीको इतिहाससे बहिष्कृत करनेके लिए अहिंसक सम्प्रदायने सभी उपाय किये। फिरभी बहू मृत्युंजयीके रूपमें, सर्वस्व होमकर्ता और क्रान्तदर्शी चिन्तकके रूपमें, अखंड भारत राष्ट्रके निर्माणके आधारभूत मूल राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक सूत्रोंको प्रस्तुत करनेके कारण, भारतीय इतिहासमें विद्यमान है अपनी इसी असाधारण शक्तिके कारण। उसी महापुरुष की जीवन-कथाकी समीक्षा यहाँ प्रस्तुत है।



श्यामजी कृष्ण वर्मा का इंग्लैंड में रहना दूभर हो गया। वे लंदन छोड़कर पेरिस चले गये। इंडिया हाउस और फ्री इंडिया सोसाइटी का कार्यभार पूर्णतया सावरकर के कंधे पर आ गया। पेरिस में मादाम कामा आदि भारतीय क्रांतिकारियों का एक समूह था। मादाम कामाने भारतीय युवकों की भांति ही स्वतन्त्रता संग्राम में बड़ चढ़कर भाग लिया और यातनाएं सहें। लाला हरदयाल, भाई परमानन्द, वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, जोगेशचन्द्र चटर्जी, ज्ञानचन्द वर्मा, सरदार सिंह राणा और एम. पी. टी. आचार्य आदि सभी सावरकर की लेखनी पर न्योछावर थे और सभी प्रकार से सावरकर की सहायता कर रहे थे। 'दादा' नाम से ख्यात जोगेशचन्द्र चटर्जी पहले महात्मा गांधी के अन्ध-अनुयायी थे, किन्तु सावरकर के सम्पर्क में आते ही वे सशस्त्र क्रान्ति के पक्ष-पोषक बन गये। कालान्तर में बंगाल की प्रसिद्ध संस्था 'अनुशीलन समिति' का इन्होंने ही संचालन किया।

भारत की स्वतन्त्रता के लिए विदेशों में भारतीय तथा विदेशी जनों में जनमत बनाते हुए भी सावरकर ने भारत में आन्दोलन जारी रखा। पत्रों तथा जनसम्पर्क द्वारा वे अपने साथियों का उद्बोधन करते रहते थे और उन्हें शस्त्रास्त्र भी भेजते रहते थे। लन्दन के आपा-धपी के जीवन में भी उन्होंने '१८५७ : प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम' नाम से एक बृहदाकार ग्रन्थ भी लिख डाला था। अंग्रेजों को जब इसकी भनक लगी तो उन्होंने उसकी पाण्डुलिपि को हस्तगत करने के लिए जी तोड़ परिश्रम और प्रयत्न किया, किन्तु 'जिस राज्य का सूर्य कभी अस्त न होने वाला था' वह सरकार इस कार्य में पूर्णतया असफल रही। उसका प्रथम प्रकाशन हालैंड में हुआ, शेष प्रकाशन भी अमरीका, पेरिस आदि स्थानों पर ही हुए, भारत में उसके प्रकाशन पर प्रतिबन्ध था। अब वह प्रतिबन्ध उठा लिया गया है।

भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि सावरकर को राजद्रोह में बन्दी बनाकर भारत भेज दे जिससे उन पर भारत में अभियोग चलाया जा सके। इसके लिए बहुत प्रयत्न किया गया और अन्त में उनको बन्दी बनाकर भारत के लिए रवाना कर दिया। सावरकर के साथियों ने और उन्होंने स्वयं भी यात्रा के बीच से ही भाग निकलने का प्रबन्ध किया किन्तु दैव-विवेका से न सावरकर का स्वयं का जहाज से कूदकर

निकल भागने का प्रयत्न सफल हुआ और न ही मादाम कामा आदिकी योजना ही सफल हो पायी। रेलवे क्रासिंग बन्द होने से वे समय पर सावरकर के समीप नहीं पहुँच पाये। जीवन में क्षणों का कितना महत्त्व होता है, यह इसी से पता चलता है।

अन्त में सावरकर को भारत लाया गया। उन पर अभियोग चला और उनको दो आजन्म कारावासों का दण्ड दिया गया। एक जीवन में दो आजीवन कारावास? क्या विडम्बना है। लेखक ने उस समय की सावरकर की मनोदशा का वर्णन करते हुए लिखा है 'गिरफ्तार होने के बाद भी यातनाओं से तंग आकर प्राणत्याग करने का विचार उनके मन में आया, परन्तु तुरंत ही उनका ध्यान अपने दृढ़ संकल्प और अपना जीवन समर्पण करके भारत को स्वाधीन बनाने के निश्चय की ओर गया। वे तत्काल ही एक योद्धा की भांति साहस जुटाकर सभी यन्त्रणाओं को झेलने को तत्पर हो गये।' इस प्रकार के दृढ़व्रती थे सावरकर और उनके इन्हीं गुणों के कारण तत्कालीन क्रान्तिकारी उन्हें आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और क्रान्तिका अग्रदूत मानते थे। कुछ दिन भारत की इधर-उधर की काराओं में रखने के उपरान्त उन्हें अन्त में अण्डमान की 'सेल्युलर' कारा में भेज दिया गया। अण्डमान में रहते हुए उन्होंने जहाँ बन्दियों के प्रति किये जाने वाले असभ्य व्यवहार के लिए कारागार के अधिकारियों और सरकार से लिखा-पढ़ी और वाद-विवाद किया वहाँ उन्होंने अनेक सुधार कार्य भी किये।

समालोच्य पुस्तक के लेखक ने सावरकर के जीवन का याथातथ्य चित्रण करते हुए कुछ बातें ऐसी लिखी हैं जिनसे अधिकांश व्यक्ति परिचित नहीं हैं। सावरकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी बहिष्कार का आन्दोलन चलाया था, लोकमान्य तिलक ने उनके इस आन्दोलन का समर्थन किया था। किन्तु अफ्रीकावासियों की भलाई के लिए सत्याग्रह करने वाले गांधी और भारत में उनके राजनीतिक गुरु गोखले ने इस आन्दोलन की निन्दा की थी। यह विरोध होते हुए भी ७ अक्टूबर १९०५ को पूना में विदेशी वस्तुओं और वस्त्रों की होली जलाई गयी। इस अपराध में सावरकर को काबेज से निष्कासित किया गया। आश्चर्य की बात है कि विदेशी बहिष्कार को घृणा फैलाने वाला कार्य मानने वाले गांधी ने १९२१ में अहयोग आन्दोलन में इसी बहिष्कार को अपनाया



और भारतभरमें विदेशी वस्त्रोंकी होली जलाई।

परिस्थितियोंसे समझौता करना सावरकरके रक्तमें नहीं था। उनका निश्चित मत था कि आत-तायीपर विजय पानेके लिए सशस्त्र संघर्ष करनाही श्रेयस्कर है। जीवनभर उन्होंने इसी मार्गको अपनाया और भारतको स्वाधीनता मिलनेके बाद गांधी-नेहरूके अहिंसावादके प्रचारके होते हुएभी सावरकरने गोआ सत्याग्रहमें भाग लेनेवाले सत्याग्रहियोंको यही उद्बोधन किया कि निहत्थे होकर सत्याग्रह करके मरनेकी अपेक्षा सशस्त्र होकर आततायीको मारते हुए प्राणविसर्जन करना वीरता है। अहिंसक सत्याग्रह आततायीके सम्मुख आत्मसमर्पण करना कायरता है। इस प्रकार सावरकरके विचार गांधीजीके विचारोंके बिल्कुल विपरीत थे। मुस्लिम सन्तुष्टीकरण नीतिका उन्होंने घोर विरोध किया। उनका कहनाथा कि मुस्लिम नेता स्वयंको भारतीय नहीं मानते, अतः उनसे यह अपेक्षा करना कि वे भारतके स्वातन्त्र्य संग्राममें हिन्दुओंका साथ देंगे, आकाशसे फूल तोड़नेके समान है। उनकी बात १९४७ में स्पष्टतः सामने आगयी जब गांधी-नेहरूने भारत विभाजन स्वीकार करके भारत माताके टुकड़े करा दिये और उसके बादभी उस सन्तुष्टीकरण नीतिको अपनायेही रहे।

भारतकी जेल हो अथवा अण्डमानका कालापानी, वहां रहते हुए अन्य राष्ट्रीय नेताओंकी भांति वे केवल अपने ही सम्बन्धमें नहीं सोचतेथे अपितु अपने सह-बन्धियोंके दुःख-सुखके सम्बन्धमें वे सतत चिन्तित रहे

## साहित्यकार

### साहित्य एवं व्यक्ति

#### आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री :

#### समकालीनोंकी दृष्टिमें?

सम्पादक : मारुतिनन्दन पाठक

समीक्षक : डॉ. तालकेश्वर सिंह

रचनाकार अनुभूति और विचारको व्यञ्जित

१. प्रका. . पारमिता प्रकाशन, अनुग्रहपुरी कालोनी, गया (बिहार)-८२३००१। पृष्ठ : ४२८; डिमा. ८६; मूल्य : २००.०० रु.।

‘प्रकर’—सितम्बर’९०—६६

और यथासम्भव उनकी सहायता करते रहेथे। कोल्हू और गाड़ीमें जोते जानेके विरुद्ध सावरकरने अण्डमानमें प्रबल आन्दोलन चलायाथा, अन्तमें वे विजयी रहे। इसी प्रकार बन्धियोंको शिक्षित करनेका गुप्ततर कार्य भी हाथमें लिया, इसमें उन्हें आरम्भमें अनेक कठिना-इयोंका सामना करना पड़ा किन्तु अन्तमें वे सफल हुए। अण्डमानमें उन्होंने शुद्धि कार्य आरम्भ किया तो उसमें भी उनको यथासमय आशातीत सफलता प्राप्त हुई। अण्डमानसे रिहा होते समय सावरकरने जो पद गाया, उसका भाव था—

एक देव, एक देश, एक आशा।

एक जाति, एक जीव, एक भाषा ॥

इस प्रकार वे सर्वात्मना हिन्दी, और हिन्दुस्थान के लिए समर्पित थे।

विडम्बना यह है कि महान् क्रान्तिकारी, दूधवती और राष्ट्रके लिए समर्पित जीवनवाला व्यक्ति भारत की स्वाधीनताके बादभी उपेक्षित ही रहा। कांग्रेसके नेताओंने अपना प्रभाव बनाये रखनेके लिए सावरकर और सुभाष जैसे स्वतन्त्रता सेनानियोंकी सेवाओंको कभी नहीं सराहा। प्रत्युत सावरकरको तो गांधी हत्याकाण्डमें अभियुक्त बनाकर नेहरू सरकारने जो जघन्य अपराध किया वह इतिहासमें काले पृष्ठोंपर अंकित रहेगा। यदि सुभाषको जीवित पकड़ पते तो उनके साथ क्या करते, यह भवितव्यताही जानती होगी। □

करताहै। व्यञ्जित अनुभूतिको चिन्तनकी शाश्वत धार से जोड़नेके हेतु विचारका रसायन डालताहै। विचार को सहज संप्रेष्य होनेके लिए भाव-शक्तिसे ऊर्जस्वित करताहै। और, संपादक रचना और आलोचनाकी विविध सरणियोंको अपनी अन्तर्दृष्टिसे अन्वित कर संपादनके उत्कर्षका एक नया परिदृश्य रचताहै। रचना, भावन और संपादनकी त्रिधाराका संगमही संपादनकला की वास्तविक पहचान होताहै। निरसंदेह आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : समकालीनोंकी दृष्टिमें डॉ.



भारतनन्दन पाठकर्ता कल्पना संपादन तथा भावनकी जगज्ज्वली बन गयी है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्रीके तटस्थ विवेचनका डॉ. पाठकका 'आलोकवर्त्म' एक प्रामाणिक आलेख है। विस्तृत फलकपर उनके रचना-संसारका अनुशीलन है। शास्त्रीजीके साहित्यकी विशिष्ट पहचानका रेखांकन है। विविध विधाओंमें प्राप्य शास्त्रीजीके साहित्यके प्रसंगमें डॉ. पाठक लिखतेहैं, "कथ्यकी सामग्री, संवेदनसे जुड़ी अनुभूति और अभिव्यक्तिकी तीव्रता इतनी अधिक रही है उसमें कि उपयुक्तता और अपेक्षानुसार उसे कई विधाओंको अपनाता पड़ा।" (आलोकवर्त्म, पृ. ६)। कविकी प्रयोगधर्मिता संगणनात्मक स्थिति तक तो नहीं ठहरी है, अपितु जिस-जिस शिल्पमें ढली है उसीको नयी सज्जधसे संवारती चली गयी है। विधाके वैविध्य का या वैविध्यकी विधाका नया संसार बन गया है। वस्तु और रूप दोनोंही दृष्टियोंसे यह संसार विचारणीय है। शास्त्रीजीका प्रयोग-मन संस्कृतसे शुरू होकर हिन्दी तक प्रतिभाके सृजनशील क्षणोंसे जुड़ता चला गया है। 'निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्' का वाणी प्रकाश 'श्यामासंगीत' की 'बरसे वह तेरी सुधाधार' की लयमें अकल्पनीय उत्कर्ष हो गया है। अतः शास्त्री जी 'अहमस्मि ललित किरणो नवः' के साकार भावोच्छ्वास हैं। इसलिए कि प्रतिभाकी ललित तथा नवल किरणें सदैव फूटती रही हैं, प्रयोगका नया संसार रचता रहा है।

हिन्दीकी ओर निरालासे प्रेरणा पाकर आये। उनके इस प्रत्यावर्तनको डॉ. पाठकने औपन्यासिक मुद्रा में प्रस्तुत किया है। शास्त्रीजी व्यक्ति न रहकर चरित्र बन जाते हैं। वैयक्तिकता मिटने लगती है। डॉ. पाठकने शास्त्रीजीकी कविताकी वास्तविक पहचान बनायी है। छायावादके अन्तर्मुखी दौरसे अलग शास्त्री जीकी कविता संसारमुखी तथा पलायनवृत्तिसे उपरत है।

पुनर्जागरणके बिन्दु शास्त्रीजीकी कवितामें स्पष्ट हैं। सन् १८९७ पुनर्जागरणका प्रारंभ है। भारतेन्दु-युग उसका विकास है तथा द्विवेदी युग उसके उत्कर्षका उषाकाल है। छायावादमें उत्कर्षका प्रकाश प्रखर होता है। प्रखर से प्रखरतर होता जाता है। पुनर्जागरणके इन्हीं क्षणोंमें शास्त्रीजी काव्यकी स्वर साधना करते हैं। उनकी विकासशील काव्य-कला बिखरती चली जाती है। भार-

तीय संस्कृतिकी संवेदनासे काव्य समृद्ध होता रहा है।

शास्त्रीजीका यह काव्य-विकास ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से संवलित है। रचनाक्रमका तिथिवार विवेचन मात्र न होकर भावन-व्यापारसे संपृक्त है। एक ओर परम्परा का निर्वाह है तो दूसरी ओर नवीनताका आग्रह और आधुनिक चेतनासे जोड़नेका प्रयास। 'बन्दी मन्दिरम्' इसका उदाहरण है। 'मुनिनामपिमनः' रचना-शिल्पकी दृष्टिसे समस्यापूर्ति होकरभी उत्तम काव्य है। शास्त्री जीके संस्कृत-काव्यकी प्रयोगधर्मिता द्रष्टव्य है। डॉ. पाठक ठीक कहते हैं, "उनकी कविता एकही भाव-बिन्दुपर नहीं रुकी है, बल्कि विस्तीर्ण फलक पर उतरा है, और जहाँ एक भाव-बिन्दुपर ठहरती है सघनता कम नहीं है ..." (वही, पृ. ३४)। संस्कृत काव्यको शास्त्रीजीने आधुनिक संवेदना दी है। 'निस्वं निरात्मविश्वमिदं पाति भारतम्' गजल होनेभरसे उल्लेख्य नहीं हैं; अपितु यह भारतका संवेदनशील चित्रभी है। एक-एक मात्राके भीतरसे भारत झांकता है। शास्त्रीजीकी यह गजल मुशायरेकी वाहवाहीको पीछे छोड़कर भारतकी संवेदना बन गयी है। श्लोक जोड़कर पीछे संतुष्ट होनेवालोंके लिए तो यह चुनौती है। शार्दूलके साथ क्रीड़ा तो बहुत पुरानी पड़ चुकी है। इसलिए गजलकी ओर भी तो देखिये।

'गद्यं कविनां निकषं बदन्ति' की गूँज आजभी सुनायी पड़ती है। आलोचनाका मुहावरा तो यह है ही पद्यमें निपुणताका वास्तविक निकषभी है। यही उक्ति 'वाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' की विचार-भूमि रही होगी। शास्त्रीजीका गद्य विशेषतः संस्कृत गद्य सुबन्धु, दण्डी एवं वाणके गद्यके निकट होकरभी वर्तमान शतीका मानक गद्य है। कथा-साहित्यभी उन्होंने लिखा और आलोचनाभी लिखी। संस्कृतमें हिन्दी कवियोंकी समीक्षाभी लिखी। कविताके मूल भावकी रक्षा करते हुए निरालाकी कुछेक कविताओंका अनुवादभी किया। लेकिन हिन्दी जगत्का दुर्भाग्य 'यह पुस्तक अप्रकाशितही पड़ी है।' (वही, पृ. ३६)। स्पष्ट है कि प्रकाशनसे लाभ की तुलनामें अप्रकाशनसे होनेवाली क्षति अपूरणीय है।

सामयिक धाराके प्रतिनिधि कविके रूपमें शास्त्रीजी का मूल्यांकन सन् १९३८से शुरू हो गया था। पहल करनेवाले थे आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी। सन् ३८की पृष्ठभूमिसे शुरू होकर डॉ. पाठकने सन् ८८ तक मूल्यांकनकी परिधिको उपबृंहितकर आदर्श प्रस्तुत किया है।



कवि पीड़ा ही लिखता है और, वह भी मौन। मौन-काव्य शब्दशः कथित भावसे अधिक अभिव्यंग्य होता है। वियोगी तो पहला कवि भी था और उसकी पहली कवितासे 'मा निषाद' के रूपमें पीड़ा की अभिशप्त धार ही बही थी। यहां शास्त्रीजी वस्तुतः लिख नहीं रहे हैं, बल्कि उनके भीतरका दर्द ही गा रहा है।

ददं यह चुप लिख रहा मैं

गदमें क्या दीख रहा मैं' (वही, पृ. ३८ से उद्धृत) इसी प्रसंगमें डॉ. पाठकने काल-क्रमानुसार शास्त्रीजी की काव्य-कृतियोंका विवरण प्रस्तुत किया है। १५०० गीत लिखे हैं शास्त्रीजीने। संख्या और कला की दृष्टिसे ये गीत हिन्दीके गौरव हैं। शास्त्रीजीके गीत व्यष्टिमें समष्टिके अन्तर्लयन हैं। यही उन गीतोंका निर्व्यक्तिक चरित्र है।

विश्वकाव्यका प्रारंभ पीड़ासे हुआ है। पीड़ा ही काव्य-रूपमें ढली है। अभिव्यक्तिका प्रथम माध्यम पद्य था। गेयता उसकी सर्वोपरि शक्ति थी। कवि-परम्पराको यह गेयता संप्रेषित होती गयी। ऋग्वैदिक गेयतासे आज के गीति-काव्यका सम्बन्ध डॉ. पाठकने जोड़ दिया। ऋग्वेदसे लेकर आज तक एक सातत्य रच गया है। अभिव्यक्तिकी सांस्कृतिक ऊंचाई, लोकभाषाकी सरसता कवि-कंठमें भरने लगी। समष्टिके भाव व्यष्टिमें उतरते रहे तथा व्यष्टिके अनुभूत क्षण अपनी तीव्रताके साथ लोकापित होते रहे। काव्यधारामें पुराना मिटता रहा और नया बनता रहा। पर इस नये और पुरानेके बनने तथा मिटनेमें सातत्यमें टूट नहीं आयी। डॉ. पाठकने लिखा "उनके सारे गीत जीवनसे सीधे जुड़े हुए हैं।" (वही, पृ. ४३) शास्त्रीजी जीवन-राग छेड़ते हैं। यही कारण है कि 'बरसाऊं तेरी सुधाधार' का अहम्-भाव गलकर 'बरसे वह तेरी सुधाधार' की स्तुति बन गया। 'बरसाऊं' का अहम्-बोध ही 'बरसे मैं विनय बन गया' है। शास्त्रीजीका यह ऊर्ध्वमुखी चैतन्यबोध उन्हें वैदिक ऋषियोंसे सीधे जोड़ देता है। डॉ. मारुतिनन्दन पाठक, श्री बालकृष्ण उपाध्याय तथा डॉ. रामविनोद सिंहने शास्त्रीजीको छायावादके कुहरसे अलग किया। उनकी काव्य-भूमिकी अलग पहचान बनायी। फिर भी, डॉ. मदनमोहन तरुण जैसे अनेक लोग उन्हें 'छायावादी संस्कारोंके कवि' के रूपमें देखते हैं।

शास्त्रीजीका 'राधा' चर्चित महाकाव्य है। 'अनया 55 राघवत नूनम' राधा-भावनाकी कल्पनाका आधार-वाक्य

है। इस सूत्रको पकड़कर सूरने वृषभानुजा राधा, श्री कृष्ण-प्रिया एवं ह्लादिनी शक्ति राधाको स्वीयाचरित्र देकर काव्य-क्षेत्र एवं भक्तिके भाव-जगत्की अनुपम निधि बना दिया। भारतीय वाङ्मयमें श्री राधा-तत्त्व भावके विविध आयामोंको सहेजता हुआ आधुनिक कवियोंकी प्रेरणाका संवल बना। प्रासंगिकता बनी रही। प्रासंगिकताके इसी बिन्दुपर शास्त्रीजीकी 'राधा' का 'मूल्यांकन' अपेक्षित है। सूरका सब कुछ श्री राधा-कृष्णको निष्काम भावसे अर्पित हो चुका था। और, "शास्त्रीजीका जीवन, चिन्तन, मानसिकता सब 'राधा' में उतर आये हैं।" (वही, पृ. ५०)। गोचरणके मध्य-कालीन संस्कारका नव संस्करण हो गया है।

झोंके खाकर सहमे, ठिठके,

बांते पल सिमटे पांवोंमें,

उद्गार हुए अनुभव सारे

बस गये अबोले गांवोंमें !

(बेला, फरवरी ६०, पृ. ७४)

'राधा' के 'उत्सर्ग पर्व' की इन पंक्तियोंमें अबोल गांवभी बोल उठे हैं। अबोल रहकर भी ये गांव बहुत कुछ बोल जाते हैं। अनकहाभी कह जाते हैं। शास्त्रीजीकी राधाको केसरीजी 'मनगाथाका वैरागी उपसंहार' कहते हैं। धर्मवीर भारतीकी राधाकी तरह 'देहगाथाका मोहक रूमानी प्रतिवाद नहीं है। सूरकी राधा स्वीया भी है और ह्लादिनी शक्ति भी। प्रसंगानुकूल ब्रजभाषा प्रयोगसे उत्पन्न प्रसंग-गर्भत्वको न समझनेके कारण उसे भाषाका 'घालमेल' कह दिया गया।" डॉ. पाठकने लिखा है, "इस ब्रजभाषा-प्रयोगसे काव्य-सौंदर्यमें कुछ वृद्धि ही हुई है, भाषिक संस्कृतिको कोई घाटा नहीं हुआ है।" (वही, पृ. ५४)। कालिदासकी शकुन्तला प्राकृत बोलती है। लेकिन दुष्यन्तके संस्कृत-मनकी सम्प्रेषणके रिक्तसे कहीं भी टकराहट नहीं होती। प्रकृत सौंदर्य और प्राकृत-प्रयोग ही शकुन्तलाको ऋषि-आश्रम से हटाकर राजवंशमें प्रतिष्ठित करते हैं। और, उसी की कोखसे भरत-वंशका प्रथम विरवा फूटता है। यानी न तो इतिहासबोधको धक्का लगता है और न काव्य-सौंदर्यमें कोई दरार पड़ती है।

कविके रचना-संसारमें राधा-तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह व्याप्ति प्रत्यक्ष भी है और अप्रत्यक्ष भी। 'किसने बांसुरी बजायी' तो एक प्रश्न है। लेकिन इसके मर्ममें एक प्रश्न और जुड़ा है, बांसुरी बजी किसके लिए?



सूरके कृष्णके वेणुनादपर तो गृहस्थीको लात मारकर गोपियां घरसे निकल जाती हैं, किन्तु केन्द्रीयतत्त्व राधाके साथ जानकीवल्लभ शास्त्रीके रचना-संसारमें भी बांसुरी कबसे बज रही थी, इसी राधाके लिए। 'राधा' के उत्सर्ग पर्वमें शास्त्रीजी लिखते हैं,

तुमसे स्वतन्त्र होकर टूटी,  
असत्ता अपना दुःख दीन हुई;  
जब थी समग्रतामें मैं ही—  
उन ओठोंकी थी बीन हुई !

(बेला पृ. ७६, फरवरी, १९६०)

राधा और कृष्ण तो समग्रतामें ही पूर्ण हैं। एक शक्ति है तो दूसरा शक्तिधर। समग्रतामें राधाही कृष्णकी बीन थी। यहाँ सूरके सापत्न्य भावसे आगे कृष्ण, राधा और 'बीन' का सुन्दर समवेत रचा गया है।

गीति-नाट्यभी शास्त्रीजीने लिखे हैं—'पाषाणी', 'तमसा' और 'इरावती'। शास्त्रीजी इन्हें संगीतिका कहते हैं, शब्द और अर्थको स्वर तथा 'लय' से जोड़कर इनमें वर्तमान संदर्भको मनोवैज्ञानिक आधार दिया गया है। उनके गीतिनाट्यपर विशेषतः 'पाषाणी' पर दो महत्त्वपूर्ण समीक्षाएं इस पुस्तकमें हैं।

भारतेन्दु, हरिऔध, प्रसाद, निराला, जानकीवल्लभ शास्त्री, त्रिलोचन, दृष्यन्तकुमार, गुलाब खण्डेलवाल तथा कुंवर बेचैन आदिने गज़लें लिखकर सिद्धकर दिया है कि 'हिन्दीमें गज़लकी जमीन पुख्ता है। शास्त्रीजीकी गज़लें जीवनके क्षणसे जुड़ी हैं।

वाकपन पहचान है, मेरी सिफारिश हो न हो।  
सब होनेसे रहा, बंजरमें बारिश हो न हो।  
भीड़ होगी, लोग मारे फिर रहे सड़कों पे हैं,  
बनमें मयमें उनकी शिरकतकी गुजारिश हो न हो।  
टीसता नासूर-सा है, पहले छोटा-सा था जखम,  
वक्तका नशतर, खुला सर्जनका आफिस हो न हो।  
उनकी गज़लोंपर डॉ. कुंवर बेचैनका निबन्ध सिद्धान्त और व्यवहारकी दृष्टिसे मूल्यांकनका प्रतिमान है।

शिल्पकी दृष्टिसे शास्त्रीजीके काव्यके मूल्यांकनमें पहल करनेवाले मनीषियोंमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, नलिन त्रिलोचन शर्मा, 'दिनकर' और प्रो. केसरीकुमार उल्लेख्य हैं। इनके निबन्ध भावनके इतिहासभी नहीं हैं, अपितु वर्तमान पीढ़ीकी आलोचनाको भी नयी दृष्टि मिलती है। डॉ. मदनमोहन 'तरुण' एवं श्री केदारनाथ

मिश्र 'सोम' शास्त्रीजीके साहित्यमें निहित समग्रको पकड़ते हैं। प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' तथा इन पंक्तियों के लेखकने शास्त्रीजीके काव्य 'श्यामा संगीत' के सामाजिक पक्ष तथा मर्मके उद्घाटनका प्रयास किया है। 'श्यामा संगीत' शक्ति-वन्दना भी है और भक्ति-गीत भी।

हिन्दी गद्यको शास्त्रीजीसे समृद्धि मिली है। रचना और आलोचना दोनोंमें उनकी देन अपूर्व है। कथा-साहित्य, संस्मरण, आलोचना, तथा आत्मकथाके क्षेत्रमें हिन्दीको शास्त्रीजीने विकासकी एक दिशा दी है। 'मन की बात' ललित निबन्धोंका संकलन है। समीक्षाकी कतिपय दृष्टियां इस संकलनको और गौरव देती हैं। पुस्तकाकार नाटक तो शास्त्रीजीकानहीं छपा है, पर पत्र-पत्रिकाओंमें देखनेमें अवश्य आया है। उनकी कहानियोंमें जीवितानुभूतिके क्षण व्यंजित हैं। आस-पासका परिवेश मुखर हो उठा है। संवेदनाभी है और यथार्थभी है। इन बिन्दुओंको श्रीपाल भसीनने अपने निबन्धमें प्रभावी ढंगसे प्रस्तुत किया है। उपन्यासोंमें 'एक किरण : सौ झाइयां', 'दो तिनकेका घोंसला' एवं 'कालिदास' उल्लेख्य हैं। कालिदासकी जो पीड़ा उपन्यासकार लिख गया है, वह अद्भुत है "वह तो चिलचिलाती धूपमें चटक चांदनी ढूढ़ने निकले थे। ऐश्वर्यके कमल दलपर प्यारके ओस-कण" (बेला, पृ. १७, फरवरी, १९६०) 'कालिदास' की कुछ किस्ते 'बेला' में छपी हैं। निश्चित निष्कर्ष देना तो कठिन है पर समाज और मनोविज्ञान उनके उपन्यासोंमें विद्यमान है।

आलोचनाको शास्त्रीजीकी महती देन है। साहित्य दर्शन, 'चिन्ताधारा', 'प्राच्य साहित्य', 'अयी', और 'मनकी बात' उनकी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकें हैं। 'महा-कवि निराला' एवं 'मानस-चिन्तन' उनका संपादित आलोचना-साहित्य है। डॉ. पाठकके अनुसार उनकी आलोचना 'संस्कृत और हिन्दी दोनोंके लिए महत्त्वपूर्ण है।' श्री नरेश, बिहारीलाल मिश्र, डॉ. शान्तिकुमारी 'सुमन' तथा इन पंक्तियोंके लेखकने शास्त्रीजीकी आलोचनाकी आलोचना प्रस्तुत की है।

अब थोड़ा संस्मरण एवं आत्मकथापर। डॉ. पाठक ने 'आलोकवर्त्म' में इनका तिथि क्रमानुसार विवरण तो दिया ही है, उनके भीतरकी बारीकियोंका भी उद्घाटन किया है। समीक्ष्य पुस्तकमें 'हंसबलाका' पर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठीका एक निबन्ध है। डॉ. त्रिपाठीकी



कलमसे एक सधी हुई बात मनसे टकरा जाती है, “आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी जातिके संस्कृत-पुरुष हैं।” (वही, पृ. २८७)। अतः न केवल रचना-कारके रूपमें अपितु भारतीय संस्कृतिके शलाका पुरुषों के संग शास्त्रीजीका मूल्यांकन होना चाहिये। निस्संदेह डॉ. त्रिपाठी ‘हंसबलाका’ के लेखकको जातीय जीवन और साहित्यसे जोड़ देते हैं।

‘आलोकवर्त्म’ का अब वह अंश सामने है जो संस्मरण एवं उपन्यासके किनारोंके स्पर्शसे उत्पन्न पुलक और संवेदनाको उजागर करता है। डॉ. पाठककी भावन-दृष्टिसे कम महत्वपूर्ण उनकी रचना-शक्ति नहीं है। क्योंकि, यहाँ शास्त्रीजीका व्यक्तित्व व्यक्ति और टाइप दोनों रूपोंमें उभरा है। व्यक्ति और उसके समाजसे पाठक आमने-सामने हो लेता है। मध्यवर्गकी मानसिकता की अपनी शक्ति और सीमा है। “वस्तुतः यह वर्ग मनोवैज्ञानिक रूपसे डरा हुआ वर्ग है। इसलिए सब प्रकारका भार इसे ही ढोना पड़ता है।” (वही, पृ. ६६)। उन संस्थाओंका ओरभी लेखककी दृष्टि है जिनमें व्यक्ति जीनेके लिए विवश है। समाजके भीतर व्यक्ति भी है और छोटी-बड़ी संस्थाएँ भी। संस्थाओंका नैतिक आग्रह एक हल्का धक्काभी सहन नहीं करता, चरम-मराने लगता है। इसलिए ‘शास्त्रीजीके जीवनकी भीतरी कहानी सघर्षोंकी है, वेदना और दुःखकी है। निरन्तर प्रसन्नतापूर्वक क्रियाशील रहे इसलिए उपलब्धियाँ सामने आयीं।” (वही, पृ. ८४)। इस प्रकार शास्त्री जीका साहित्य अभावके कुहासेको भेदकर भावका आलोक-दान है। ऋषियोंकी पंक्तिमें रखनेसे मन्त्र-द्रष्टाके रूपमें शास्त्रीजीकी विवेक-शक्ति तो श्लाघ्य हो जाती है, पर कलाकारके हृदय-गह्वरसे छनकर आयी संवेदना अनास्राव्यही रह जाती है। शास्त्रीजीके कला-कारका मूल्यांकन ऋषि परम्परासे पृथक् मनुष्यके रूप में होना चाहिये जो एकही साथ मानव भी हैं और संवेदनाशील रचनाकार भी।

एक दृष्टि संकलित एवं संपादित निबन्धोंपर। ये निबन्ध शास्त्रीजीके व्यक्तित्व एवं कृतित्वके सुन्दर आलेख हैं। आकारकी भिन्नता होते हुएभी दृष्टिकोण एवं स्थापनाएँ स्पष्ट हैं। कवि, आलोचक, कथाकार, संस्मरण एवं आत्मकथा लेखक जानकीवल्लभ शास्त्रीके भावुक-मनके अनुशीलन हैं। मूल्यांकन भर नहीं हैं। संवेदनाका संरचनात्मक विकास दिखानेके कारण आलो-

चना-धर्मका निर्वाहभी करते हैं। विविध होकरभी संरचनाकी लयात्मक स्थितिके कारण एक हैं। परिधि भी हैं और केन्द्रभी।

‘जानकीवल्लभ’ शीर्षकसे रामवृक्ष वेनीपुरीने शास्त्रीजीका एक सुन्दर शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है। कविका व्यक्तित्व यहाँ शब्दकी रेखाओंमें उतर आया है। कोई घोंसला नहीं अर्थात् साहित्यिकवादके घेरेके बाहर, उन्मुक्त और सम्प्रति रचना तथा आलोचनामें मस्तीसे बढ़ते चल रहे हैं। रचना-शक्तिमें तेजभी है और कोमलताभी।

शान्तिप्रिय द्विवेदी ‘रूप-अरूप’ के कविके अन्तस् और बहिर्जगत्को तो पकड़ते हैं, पर छायावादी कलामें उनकी रचनाओंको डाल देते हैं। छायावादी काव्यादर्शको शास्त्रीके मूल्यांकनका आधार मान लेना उचित नहीं है। क्योंकि उनकी कविताकी जमीन भी अपनी है और कथा तो सर्वथा निजी तथा मौलिक है। हिन्दीकी विकास-यात्रा उनसे आगे बढ़ी है। वाजपेयीजी कहते हैं, “आशा है, वे आधुनिक काव्यका विकास अक्षुण्ण रखनेमें सब प्रकारसे शक्तिभर योग देंगे।” (वही, पृ. ६८)। हिन्दी समीक्षा शास्त्रीजीमें परिष्कृत हुई है। नये मानदण्ड तथा विभावन उन्होंने गढ़े हैं। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदीने शास्त्रीजीके संस्कृति-बोधको स्पष्ट किया है। कालिदास और निरालामें तो वे रस-वस गये हैं, रम गये हैं। शास्त्रीजीके निबन्धोंमें अनुभूति और अभिव्यक्तिका विरल सामंजस्य रच गया है। सामंजस्यके इन बिन्दुओंपर आचार्य शिवपूजन सहायकी दृष्टि गयी है। व्यावहारिक समीक्षाके क्षेत्रमें ‘निराला की काव्यकला।’ विस्तार तथा गहराईकी दृष्टिसे शास्त्रीजीका निरालाके मूल्यांकनका पहला प्रयास है। दिनकरजी तो यहाँतक कह जाते हैं, “इस निबन्धको पढ़कर तो सहसा मुखसे निकलता है कि धन्य है वह कवि जिसे जानकीवल्लभके समान आलोचक मिला है।” (वही, पृ. ११२)। उनकी दृष्टिमें ‘शिप्रा’ का कवि तो कोमल भावनाओंका कवि है। गद्य और पद्यमें समाभ्यस्त लेखक है।

वादसे थोड़ा दूर हटकर लोगोंके लिए आलोचना करना कठिन हो जाता है। समर्थ आलोचक यानी प्रौढ़िके शिखरपर अभिषिक्त आलोचकभी कभी छायावाद तो कभी समाजवादी विचारधाराको ही शास्त्रीजीके मूल्यांकनकी कसौटी मान लेते हैं। वस्तुतः शास्त्रीजी युग-सत्य



के कलाकार हैं। सत्यकी यही धार कभी छायावादी लगती है तो कभी समाजवादी। और, साहित्यका साहित्यके रूपमें भावन पीछे रह जाता है। या तो वादों की चासनी लग जाती है या पूर्वाग्रहकी कुदृष्टि।

शास्त्रीजी वैदुष्य और प्रतिभाके विरल संयोग हैं। आचार्य नलिन विलोचन शर्माके अनुसार वैदुष्य प्रतिभा को जकड़नेके बजाय पीछे रह गया है। शास्त्रीजीको आदमीसे प्रेम है। उसकी पीड़ाको वे जानते हैं। दुर्बलता से परिचित हैं। इसीलिए आदमीसे उनकी सहानुभूति आन्तरिक है। आचार्य प्रवर लिखते हैं, “जानकीवल्लभ की लेखनीके स्पर्शसे कविताके लिए त्याज्य विषयही नहीं कितनेही अभिशप्त शब्द उद्धार पा गये हैं।” (वही, पृ. ११९)। शास्त्रीजीने हिन्दीके ‘पद्य-कौशल’ को प्रौढ़ता दी है। और, “समासतः ‘गाथा’ हिन्दी काव्यके सर्वांगीण और अविच्छिन्न विकासका प्रतीक है।” (वही, पृ. १२०)। ‘अवन्तिका’ हिन्दी कविताकी ‘सदानीरा धारा’ है। ‘समन्वित संवेदनशीलता’ की ‘परिपूर्णता’ है। (वही, पृ. १२१-२२)। त्रिलोचन शास्त्रीका उद्घोष इसी प्रसंगमें द्रष्टव्य है :

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन ।

(वही, पृ. १२३)

शास्त्रीजीका प्रयोगधर्मी कवि प्रयोगकी दृष्टिसे ‘गाथा’ में प्रौढ़ता पा गया है। ‘गाथा’ में चित्रित सामाजिक समस्या प्रफुल्लचन्द्र ओझा मुक्तके अनुसार, काल्पनिक न होकर जीवनके निकट है। लोकगीत तथा लोकधर्मी नाट्य परम्पराके प्रतीक पुरुष भिखारी नाईको शास्त्री जीने ‘शाँ’ के जवाबी प्रतिरोधमें रखा है :

नमक-मिली मुरियां वहां, क्या यहाँ न नान  
खताई ?

‘शाँ’ हाँकेंगे डींग, दिखा जवतक न भिखारी  
नाई !

गुनसीदास यहाँ स्मरण हो आते हैं। परशुरामके रिससे फूटनेवाली घोर धारको श्रीरामके श्रेष्ठ वचन सुबद्ध घात बनकर रोक देते हैं : घोर धार भृगुनाथ रिसानी/  
घोर सुबद्ध राम वर वानी ।

नाटकोंमें समस्याके साथ ‘शाँ’ बौद्धिकताको भी पकड़े रहते हैं। पर समाजको खोखला करनेवाले मुद्दोंको अपने नाटकोंमें उठाकर भिखारी ठाकुर विचारसे अधिक भाव में हलचल भर देते हैं। वैचारिक हलचलसे भावकी हलचल तेज एवं तरार होती है।

भाव और भाषामें प्राचीन तथा नवीनके सेतु शास्त्रीजी, केसरीजीके अनुसार ‘सान्ध्य ताराकी भांति अपनी डगरपर अकेला हूँ।’ (वही, पृ. ३०)। ‘कोमल-कांत पदावलीमें अध्यात्म मुखर हो गया है। केसरीजीने शास्त्रीजीके भीतरसे ठीकही लक्षित किया है—“कैसे इतनी कठिन रागिनी कोमल सुरसे गायी।” (वही, पृ. १३१)। राधा-भावनाके विकासको शास्त्रीजीकी ‘राधा’ एक विलक्षण कड़ी है। केसरीजी कहते हैं, “यह राधा मैं-शैलीकी राधा है। सूरकी राधा जितनी चुप हैं यह उतनी ही मुखर।” (वही, पृ. १३३-३४)। प्रौढ़ लेखक की सारी संभावनाएं शास्त्रीजीमें पहलेही से विद्यमान थीं। चेतना आजभी बनी हुई है। चेतना तथा शास्त्र का कविके रचना-मानसमें समन्वय हो गया है। भाव-सत्ता तथा सांगीतिक सचकी परिधिमें डॉ. रामखेलान-वन पांडेय ‘शिप्रा’ का विवेचन करते हैं। मूलतः शास्त्री जी कवि हैं। उनका व्यक्ति और कवि दोनों भाव जगत् के प्राणी हैं। शास्त्र और विचार भी है और वे भी पूर्ण प्रौढ़तापर, संवेदनाके धरातलपर दोनों टकराते नहीं। यही कारण है कि वे ‘सुमित्राकी शेष स्मृति’ जैसा शोकगीत हिन्दीको दे सके। सरल शब्दोंमें अनुभूति की गहराईही उतरती चली गयी है। परमानन्द शर्मा उनके मर्मस्पर्शी रचनाकारकी इस विशेषताको प्रस्तुत करते हैं। डॉ. प्रेमशंकर, प्राचार्य कपिल, कामेश्वरप्रसाद, लक्ष्मीनारायण शर्मा मुकुर तथा ब्रजमोहन प्रसाद वर्मा ‘शिप्रा’ का विविध कोणोंसे विश्लेषण करते हैं। ‘अवन्तिका’ के प्रसंगमें विनोदानन्द ठाकुर फिर शास्त्रीजीके संस्कृति-बोधका विचार करते हैं।

वर्ण-परिज्ञान कलाकारकी दूसरी विशेषता होती है। शास्त्रीजीके रंग-तत्त्वपर दो व्यक्ति लिखते हैं, डॉ. कृष्ण नारायण मागध एवं डॉ. प्रभाकर माचवे। दोनोंने अपने ढंगसे सीमा तथा शक्तिकी तलाश की है। डॉ. माचवे लिखते हैं, “जानकीवल्लभकी ‘राधा’ में रंग कम संगीत अधिक है” (वही, पृ. ३००)। ऐसे कथनोंसे चौकनेके बजाय सहजतापूर्वक इनपर विचार होना चाहिये। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दीको शास्त्री जी उपहारस्वरूप मिले हैं, “निरालाने हिन्दीको अनेक उपहार दिये, जानकीवल्लभकी प्रतिभाका प्रस्फुरणभी उनका एक अनमोल उपहार ही है।” (वही, पृ. १५५)। ‘सोम’ जी उन्हें सत्यान्वेषी कहते हैं। शास्त्रीजीके काव्यका सत्य जीवनके अन्तर्दर्शनसे छनकर आता है।



श्री रंजन सुरिदेवने शास्त्रीजीके भावलोकमें सार्व-भौमता देखी है। नन्दकिशोरने उनमें कला और जीवन का समन्वय पाया है। लेकिन रत्नाकुमारी शर्मा एवं रमेशचन्द्र झा वैयक्तिक उद्गार तक ही सीमित रह गये हैं 'जानकीवल्लभ शास्त्रीकी कविता' शीर्षक निबन्ध शास्त्रीजीके काव्य-विकासकी दृष्टिसे उल्लेख्य है।

आनन्दनारायण शर्मा पुनः शास्त्रीजीको छायावादी 'तरंगोंसे फेंकी मणि एक' कहते हैं। कवि आलोचक और पत्रकार श्री बालकृष्ण उपाध्यायकी स्थापना भिन्न भी है और विचारणीय भी। वे कहते हैं, "गुजरे जमानेके छायावादी या उत्तर-छायावादी कवियोंके खातेमें जानकीवल्लभ शास्त्रीका नाम भर इन्दुराज करके उनके विशाल और विशिष्ट कृतित्वके वस्तुगत मूल्यांकनसे पिंड नहीं छुड़ाया जा सकता।" "छायावादी कविताके भाव-जगत्से शास्त्रीजीका संसार सर्वथा अलग है।" (वही, पृ. २७६ और २८१)।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठीके अनुसार 'राधा' परम प्रेम रूपा है। डॉ. नन्दकिशोर 'नन्दन' ने 'राधा' के उन चित्रोंको विवेच्य समझा है जिनमें वर्तमान जीवनका कटु यथार्थ अंकित है। 'राधा' संपूर्ण मानवीय रूपकी खोजका प्रयास है। डॉ. राजेन्द्र गौतम 'राधा' को जीवनके समग्रकी प्रस्तुति मानते हैं। 'धूप-तरीका किनारा' में डॉ. रामविनोद सिंहने शास्त्रीजीको सौन्दर्यका कवि कहा है।

कुल मिलाकर "आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : समकालीनोंकी दृष्टिमें" विवेच्य लेखकके रचना-संसार का समग्रतामें विचार किया गया है। शास्त्रीजीके प्रसंगमें अनेक विचार-बिन्दु उठे हैं। प्रस्तुति और विवेचनमें यह पुस्तक विलक्षण है। आशा है, हिन्दी जगत् इस पुस्तकको रुढ़ि-मुक्त मनसे स्वीकार करेगा तथा अन्य कलाकारोंके मूल्यांकनमें संपादकके अन्तरसे फूटनेवाली मरीचिके प्रकाशमें संपादन तथा भावनका और निकष प्रस्तुत करेगा। □

## रचनाकार रामदरश मिश्र ?

सम्पादक : नित्यानन्द तिवारी, ज्ञानचंदगुप्त  
समीक्षक : वेदप्रकाश अमिताभ

रामदरश मिश्रने अपनी सरकंडेकी कलमसे खूब लिखा है, खूबसूरत लिखा है और सही लिखा है। कविता, कथा-साहित्य, आलोचना, निबंध, आत्मवृत्त आदि अनेक विधाओंमें बिखरे हुए उनके समस्त रचनाकर्मका मूल्यांकन किसी एक जिल्दमें संभव नहीं है। इस असंभवको संभव बनानेकी कोशिश नित्यानन्द तिवारी और ज्ञानचंद गुप्तके संपादनमें तैयार आलोच्य कृतिमें हुई है और इसमें संकलित लेखों-टिप्पणियोंको पढ़े जानेके बाद निस्संकोच कहा जा सकता है कि इससे मिश्रजीके रचनाकार व्यक्तित्वको एक साथ पूरा देखना, जानना संभव हो सकता है। साक्षात्कार सहित चार्ल्स आलेखों-टिप्पणियोंवाली इस कृतिमें मिश्रजीके कथाकार रूपका मूल्यांकन सर्वाधिक स्थान घेरता है, तत्पश्चात् 'कविता' संबंधी आलेख आते हैं। उनके निबंधकार, आत्मकथा लेखक और यात्रावृत्तकार रूपपर एक-एक आलेख संकलित हैं।

इस कृतिमें मिश्रजीकी कविताओंपर दो प्रकारके आलेख हैं। चन्द्रकला त्रिपाठी, नित्यानन्द तिवारी, विमलकुमार, महेश आलोक और हरिमोहनके आलेख सभी कविता-संग्रहों और गीतसंग्रहोंपर आधारित हैं। जबकि गोविन्द उपाध्याय, प्रेमशंकर, जगदीशनारायण श्रीवास्तव, ललित शुक्ल, कृपाशंकर सिंह, हरदयाल और प्रताप सहगलने किसी एक कृति या कविताको विवेचनका विषय बनाया है। इनमें नित्यानन्द तिवारी, प्रेमशंकर, हरदयाल, ललित शुक्ल आदि प्रतिष्ठित समीक्षक हैं और पर्याप्त समयसे अच्छी समीक्षाएं लिख रहे हैं परंतु चन्द्रकला त्रिपाठी, महेश आलोक आदि समीक्षक अपेक्षाकृत नये हैं और उनका आलोचनात्मक विवेक, आलोचना की भाषा, विश्लेषण-क्षमता गहरा प्रभाव डालती है।

१. प्रका. : राधा पब्लिकेशंस, ४३७८/४ बी गली मुरारीलाल, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली ११०००२। पृष्ठ : ३२५; डिमाई ६०; मूल्य : २००.०० रु.।



चंद्रकला त्रिपाठी ('समय लिख रही हैं कविताएं') का प्रस्थान बिन्दु यह है कि रामदश मिश्र नयी कविताके प्रतिविरोधी शिविरमें शामिल नहीं हैं (पृ. ३७)। विमलकुमार ('संवेदनाका सहज एवं गहरा सरोकार') भी मानते हैं कि मिश्रजीके भीतर बह रही नयी कविता की धारा सामाजिक अनुभवोंकी कहानी अधिक थी (पृ. २६)। चन्द्रकला त्रिपाठीकी कई स्थापनाएं महत्वपूर्ण और ध्यान खींचनेवाली हैं। वे मिश्रजीकी कविताओंमें जीवनानुभवोंकी गहराईको 'रेखांकित' करते हुए पाती हैं कि कविकी दृष्टि समकालीन वस्तु सत्त्व पर रही है न कि शब्दोंके चमकीलेपनपर। रामदश मिश्र, भविष्य और निरालाकी कवितामें आये 'शिशु' को वे भविष्यका सूचक मानती हैं। परन्तु 'शिशु' की उपस्थिति उन्हें कविकी 'भविष्यके प्रति अतिरंजित मुग्धता' नहीं लगती (पृ. ८)। डॉ. त्रिपाठीने जहां कविके अपनी जमीनसे जुड़ावकी चर्चा की है वहाँ कविमें गहरे धंसे मूल स्थानके लगाव (नास्टेलिज्या) को रेखांकित करना वे नहीं भूलती हैं। नित्यानन्द तिवारी ('संबंध' और 'सही' का पक्षधर काव्य-विवेक) ने मिश्रजीकी कविता में 'अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु और बौद्धिकताके प्रति असमंजस' के प्रश्नको उठाया है। उन्हें लगता है, मिश्रजीकी कविता में मानवीय वस्तुका निर्माण परिस्थिति और ऐतिहासिक चेतनाके द्वन्द्वसे हुआ होगा (पृ. १८), अतः उनकी कविता में राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्यको भुलाकर 'अन्तर्राष्ट्रीय' बननेकी कोशिश नहीं मिलती। किन्तु राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से जुड़े रहनेको विमलकुमारने एक असमंजस और अनिर्णयकी स्थितिका सूचक माना है (पृ. ३५)। अच्छा होता कि विमलकुमार मिश्रजीकी कविताओंसे अनिर्णय और अनिश्चयके उदाहरण देकर अपनी बात पुष्ट करते। वस्तुतः कविताओंमें निर्णयशीलता इतनी मुखर होती भी नहीं, जितनी वह 'कथासाहित्य' में दिखायी देती है।

महेश आलोक (प्रगतिशील अन्तर्दृष्टि एवं रागात्मक निष्ठा) ने मिश्रजीकी कविताओंमें उस संघर्ष-चेतनाको उपस्थिति पाया है, जिसके बलपर वे शोषक व्यवस्थासे समझौता नहीं कर पाते। इन कविताओंसे गुजरते हुए महेश आलोक इस निष्कर्षपर पहुंचे हैं : 'एकदम चुपकेसे हमारी संवेदनाका जरूरी हिस्सा बनती ये कविताएं मानसिक यथार्थ और वस्तुजगतके यथार्थ को ऐसे बिन्दुपर संगठित करती हैं, जहां मानवीय मूल्यों

का एक जीवित संसार पूरी सर्जनात्मक आस्थासे प्रकाशित हो उठता है' (पृ. ४६)। महेश आलोकके विवेचन में सरलीकरण नहीं है, वे कविताओंके 'पाठ'का विश्लेषण करते हुए अपनी मान्यताओंके लिए प्रमाण जुटाते हैं। वे कविताकी असामर्थ्यको अनदेखा नहीं करते। 'औरत' कवितापर उनकी टिप्पणी है कि बोलचालकी भाषाका सृजनात्मक इस्तेमाल होते-होते रह गया है। डॉ. हरिमोहनके आलेख ('अनुभवोंके छंद : गीत') में मिश्रजीके गीतोंमें हुई विम्ब-सृष्टिका मूल्यांकन विशेष रूपसे हुआ है। गोविन्द उपाध्याय ('बातें कुछ अपनी कुछ आपकी : गजल') ने 'बाजारको निकले हैं लोग' पर अपने विचार व्यक्त किये हैं परन्तु उनके आलेखमें उद्धरण अधिक, विवेचन कम है, 'फिर वही लोग' कवितापर लिखते प्रेमशंकरने मिश्रजीके व्यंग्यको शब्दोंपर उतना आधारित नहीं माना है, जितना संवेदनोंपर (पृ. ६५)। 'समय देवता' के संदर्भमें जगदीशनारायण श्रीवास्तवने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि 'पूरी कवितामें कुर यथार्थके लिए घटाटोप अंधेरेका वर्णन किया गया है, उससे निकलनेका कोई दरवाजा नहीं दिखता' (पृ. ७४)। 'वसंत' कविताकी परख डॉ. पाण्डेय शशि-भूषण शीतांशुने शैलीवैज्ञानिक प्रतिमानोंके आधारपर की है। 'साक्षात्कार' कविता डॉ. ललित शुक्लको ऐसी दृश्यधर्मी रचना लगती है, जिसमें यह विडम्बना उभरी है कि मनुष्य अपने द्वारा ही छला गया है (पृ. ८४)। कृपाशंकर सिंहने मिश्रजीकी एक छोटी कविता 'खो गई सब यात्राएं साथकी' की संरचनाका विस्तृत अनुशीलन किया है। 'राजधानी एक्सप्रेस' पर हरदयालका विचार है कि ऊपरसे सरल एवं सामान्य दिखनेवाली यह कविता वर्तमान भारतकी विडम्बनात्मक स्थिति को गहरी अन्तर्दृष्टिके साथ व्यक्त करती है (पृ. ९७)। प्रताप सहगलने 'औरत' कवितामें नारीके अश्रु विगलित चेहरेके बजाय औरतकी मुख्य भूमिकाके रेखांकन को महत्वपूर्ण माना है।

मिश्रजीके उपन्यासोंपर लिखते हुए सभी समीक्षक एक बातपर एकमत हैं कि उनकी शक्ति अपने परिवेश और जमीनसे गहरे जुड़ावमें है। यदि महावीरसिंह चौहान ('प्रतिबद्धताका सर्जनात्मक रूप') के विचारमें रामदश मिश्रके पैर हमेशा अपने अनुभवकी जमीन-गांवपर टिके रहते हैं (पृ. १०७), तो विवेकीराय ('अनुभव और पुरुषके बीच के संबंध') इसी टिकाव



को 'गहरी लोक संपृक्त' (पृ. १२३) के रूपमें आंकते हैं। रामदेव शुक्लने उनकी अक्षय समृद्धिका कारण उनका अपने परिवेशसे गहरे जुड़े रहना माना है (पृ. १४२)। 'पानीके प्राचीर' पर लिखते हुए प्रभाकर माचवेने भी इसी सत्यको पकड़ा है : "लेखकका परिचय इस भूभागके चपे-चप्पेसे, खेत-खलिहानसे, झोंपड़ी-झोंपड़ीसे है। उसने वहाँके जन-जनके सुख-दुःखको अपनी अनुभव संवेदनासे ग्रहण किया है, उसमें हाथ बंटाया है" (पृ. १५१)। माचवेके अतिरिक्त वीर भारत तलवार, प्रेमकुमार, ज्ञानचन्द्र गुप्त, विश्वनाथ त्रिपाठी, अंजलि तिवारी, हरजेन्द्र चौधरी, गंगाप्रसाद विमल आदि लेखकोंने मिश्रजीके उपन्यासोंपर साधिकार लिखा है। वीर भारत तलवारने हिन्दी आलोचना पर दलीय राजनीतिक दबावका जिक्र करते हुए साफ-साफ कहा है कि मार्क्सवादी समीक्षक मिश्रजीके उपन्यासोंके साथ न्याय न कर सके (पृ. १५७)। प्रेमकुमारने 'कथ्य' के साथ-साथ 'बीचका समय' के शिल्प पर भी विचार किया है और इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'भाषिक संरचना और शैलिक गठनके कारण उपन्यासमें एक लय, एक संगीत अपनी अनुगूँज प्रत्येक स्थलपर सुनाते नजर आते हैं (पृ. १७५)। ज्ञानचन्द्र गुप्तभी 'सूखता हुआ तालाब' के कथ्य और शिल्पको संश्लिष्ट रूपमें परखते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठीने मिश्रजी को शाश्वतवादी कथाकारोंसे अलगाते हुए 'अपने लोग' में पाया है कि उनकी प्रगतिशील दृष्टि राजनीतिक समस्याओंपर रचना करते समय नहीं, सामाजिक स्थितियोंका चित्रण करते समय उभरती है (पृ. १८६)। श्री त्रिपाठीका यह मंतव्य पढ़कर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या इसका द्वैत संभव है कि कोई राजनीतिक मुद्दोंपर लिखे तो अप्रगतिशील और सामाजिक समस्याओंपर लिखे तो प्रगतिशील बना रहे? अंजलि तिवारीके अनुसार 'रातका सफर' की विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तिगत संवेदनाके चरित्रमें भी सामाजिक संवेदना विद्यमान है (पृ. १९३)। हरजेन्द्र चौधरीको 'बिना दरवाजेका मकान' सामाजिक संबंधों और सामाजिक परिवर्तनका विश्वसनीय आलेख लगा है (पृ. २०७) जबकि गंगाप्रसाद विमल 'दूसरा घर' को 'अपनी सहजतामें हमारी जटिल दुनियाँकी तस्वीर' मानते हैं (पृ. २११)।

कहानी-केन्द्रित आलेखोंमें 'संवेदना और निर्णयके द्वन्द्वकी कहानियाँ' (नरेन्द्रमोहन), 'रामदरश मिश्रकी प्रकर'—सितम्बर'९०—२४

कथायात्रा' (गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव), 'सामाजिक परिवर्तनमें पात्रोंकी भूमिका' (धर्मेन्द्र गुप्त), 'रामदरश मिश्रकी लंबी कहानियाँ' (अश्विनी पाराशर) शीर्षक आलेख मिश्रजीके समग्र कहानी-संसार या कुछ कहानियोंपर केन्द्रित हैं। रघुवीर चौधरी, किरनचन्द्र शर्मा, ओम्प्रकाश गुप्त, चारुमित्र, गोविन्द रजनीश, सुरेन्द्र तिवारी और गुरुचरण सिंहकी टिप्पणियाँ क्रमशः एक 'भटकी हुई मुलाकात', 'सीमा', 'सड़क', 'मिसफिट', 'मुर्दा-मैदान', 'सर्पदंश', शीर्षक कहानियोंका विवेचन विश्लेषण करती हैं। कहानियोंपर लिखे आलेख उन स्थापनाओंकी पुष्टिसे करते हैं, जो उपन्यास संबंधी आलेखोंमें रेखांकित हुई हैं। गिरीशचन्द्र श्रीवास्तवने बलपूर्वक कहा है कि मिश्रजीकी कोई कहानी अनुभवके दायरेके बाहर नहीं है (पृ. २३५)। परन्तु डॉ. श्रीवास्तवका यह कथन कि 'नयी कहानी' आन्दोलनकी अधिकतर कहानियाँ जीवनसे कटी हुई थी (पृ. २२५) पुनर्विचारकी अपेक्षा रखता है। डॉ. नरेन्द्रमोहनका यह मंतव्य भी ध्यान देने योग्य है कि मिश्रजीकी कहानियोंका अंत 'स्तब्धता' में हुआ है (पृ. २२३)। उनकी इधरकी कहानियोंमें एक स्पष्ट निर्णयशीलता इस कथनपर प्रश्नचिह्न लगाती है। धर्मेन्द्र गुप्तको ये कहानियाँ इसलिए सुखद आश्चर्य देती हैं कि एकभी पात्र उदास या अजनबीपनका मुँहोटा लगाये हुए नहीं है (पृ. २४४)। अश्विनी पाराशरको उनकी लम्बी कहानियाँ कहानी और उपन्यासके बीच पुल बनाती दिखायी देती हैं (पृ. २४५)।

विष्णु प्रभाकर, मधुरेश और स्मिता मिश्रने क्रमशः मिश्रजीके निबंधों, आत्मवृत्त और यात्रा वर्णनकी उपलब्धि और सीमापर प्रकाश डाला है। मिश्रजीके 'आलोचक' रूपपर इस पुस्तकमें कोई आलेख नहीं है। कमसे कम उनकी काव्य-दृष्टि और 'कथालोचन' पर विचार जरूरी था।

कृतिके अधिकतर आलेख श्रमपूर्वक लिखे गये हैं, वे मात्र उत्सवधर्मी या औपचारिक नहीं हैं। यही कारण है कि विश्वनाथ त्रिपाठी, गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव आदिने उनकी कमियों या अन्तर्विरोधोंकी ओर भी इंगित किया है। अधिकतर आलेखोंकी दृष्टि साफ है और वे 'किन्तु-परन्तु' शैलीसे यथासंभव मुक्त हैं। एक बात अवश्य अखरती है कि जब आज मिश्रजीका 'आत्मवृत्त' हमारे सामने है, फिरभी समीक्षकोंने उसका उपयोग क्यों नहीं किया है। यदि कविता-कहानी उपन्यास



को आत्मवृत्त के आमने-सामने रखकर देखा जाता तो ज्ञात होता कि मिश्रजीके अपने अनुभव और जीवन-प्रसंग किस प्रकार और किस मात्रामें उनकी सृजनात्मक कृतियोंमें समाहित हुए हैं। समग्रतः यह पुस्तक मिश्रजी के 'रचनाकार' का विस्तृत एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करनेमें सक्षम है। इसके संपादकोंने इसकी परिकल्पना बहुत सूक्ष्म-वृक्षके साथ की है और उसे 'वास्तविकता' में परिणत करनेमें उन्हें निश्चयही परिश्रम करना पड़ा है। वे इसके लिए साधुवादके पात्र हैं। □

## मेरी जीवन-धारा?

लेखक : यशपाल जैन

समीक्षक : डॉ. रामस्वरूप आर्य

'मेरी जीवन-धारा' हिन्दीके साधक साहित्यकार यशपाल जैनकी आत्मकथा है, जिसमें नवीन जीवन-मूल्योंकी उपासनाके साथ-साथ उन महान् आदर्शोंकी भी स्थापना की गयी है, जिन्हें अपना कर मानव ऊंचा-इयोंकी सीढ़ीपर पहुंच सकता है। 'पुस्तकमें कोई बड़ा दावा नहीं किया गया है। केवल यह दिखाया गया है कि समाजमें प्रत्येक प्राणीको, चाहे वह सत्ताधारी हो या धनपति, प्रभावशाली नेता है या सामान्य जन, नीतिके मार्गको किसीभी हालतमें नहीं छोड़ना चाहिये।' (दो शब्द)।

पुस्तकका शुभारंभ बचपनकी स्मृतियोंसे हुआ है। श्री यशपाल जैनका जन्म १ सितम्बर १९१२ ई. को बलीगढ़के विजयगढ़ नामक कस्बेके समीपवर्ती ग्राम बीजलेपुरमें हुआ था। बचपनकी स्मृतियोंके माध्यमसे लेखकने तत्कालीन सामाजिक जीवनपर अच्छा प्रकाश डाला है। बाल्यकालके संस्कारही आगामी जीवनमें सुदृढ़ होते हैं। लेखकका बचपन गांवके हरे-भरे खेतोंके बीच, मुक्त आकाशके नीचे, बरगद और नीमकी छायामें बीता। अतः प्रकृतिसे उसका आजन्म संबंध स्थापित होगया। इसी प्रेरणावश उसने हिमालय से हिन्द महासागर तक फैली भारतकी प्राकृतिक घटाके दर्शन किये तथा देश-देशांतरकी यात्राओंमें प्रकृतिके प्रति

उसका आकर्षण बना रहा। बाल्यकालकी छोटी-छोटी बातें, यथा—चोरी न करनेकी माताकी सीख, पिताका मनोवैज्ञानिक उपदेश तथा मास्टरजीका उपालंभ, सभी लेखकके महान् भावी जीवनके निर्माणमें सहायक सिद्ध हुए।

लेखककी आरंभिक शिक्षा गांवकी पाठशालामें तथा उच्च शिक्षा अलीगढ़ तथा इलाहाबादमें हुई। उन दिनोंकी दृष्टिसे यह शिक्षा उच्च सरकारी नौकरी के लिए पर्याप्त थी पर यशपालजीने उसे न चुनकर समाज-सेवा, लेखन तथा पत्रकारिताके क्षेत्रको अपनाया।

इलाहाबादमें अपना अध्ययन पूर्णकर यशपाल जी श्री जैनेन्द्रकुमार (जिन्हें अपने बहनोईके मामाके नाते वे स्वयंभी मामाजी कहने लगे) के पास दिल्ली आये और उनके परामर्शसे दिल्लीमें 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना की तथा जोर-शोरसे हिन्दी प्रचारका कार्य आरंभ किया। उन्हीं दिनों वे सस्ता साहित्य मंडलसे संबद्ध हुए। बादमें इस संस्थाके माध्यमसे उन्होंने गांधीवादी तथा सत्साहित्यके प्रकाशन एवं प्रसारमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

गांधीवादी विचारधारके प्रबल समर्थक होते हुए भी यशपालजी सक्रिय तथा आपाधापीकी राजनीतिसे दूर रहे और यह शुभ ही रहा। इस संबंधमें उनकी स्वीकारोक्ति है—“मुझे लगता है कि यदि मैं उस समयसे राजनीतिमें सक्रिय भाग लेता रहता तो स्वराज्य मिलनेके उपरान्त शायद राजसत्तामें मेरी अपनी कोई जगह होती, लेकिन मैं यह भी अनुभव करता हूं कि तब मेरा जीवन कुछ दूसरीही तरहका होता। जिन मानवीय मूल्योंमें आस्था रखकर मैं आरंभ से चला और आजतक चलता रहा हूं, वे तिरोहित हो गये होते।”

इसी भावनावश यशपालजी दिल्ली छोड़कर पं. बनारसीदाम चतुर्वेदीके निमंत्रणपर कुंडेश्वर पहुंच गये, जहां उन्होंने अपने जीवनके छह बहुमूल्य वर्ष व्यतीत किये। वहांसे चतुर्वेदीजीने जो जनपदीय तथा प्रान्त-निर्माण विषयक आंदोलन चलाये उनमें यशपालजीका पूर्ण सह-योग रहा। वहां रहते हुए उन्हें जीवनकी नवीन दिशा मिली। उन्हींके शब्दोंमें—“कुंडेश्वर मेरे लिए एक बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ। मेरी आत्माको सुख मिला। मेरे जीवनकी बुनियाद और पक्की हुई। स्वतं-

१. प्रका. : सस्ता साहित्य मंडल, एन-७, कनाँट सर्फस, नयी दिल्ली-११०००१। पृष्ठ : १०४; का. ५७; मूल्य : १५.०० रु.।



त्रताका वास्तविक मूल्य समझा। मानवीय मूल्योंमें मेरी आस्था और गहरी हुई।”

श्री जैनेन्द्रकुमारके निमंत्रणपर उनके साहित्यिक कार्योंमें सहयोग हेतु १९४६ ई. में यशपालजी पुनः दिल्ली आगये। जैनेन्द्रजी दिल्लीमें भारतीय परिषद्का आयोजन करना चाहतेथे पर भारत-विभाजनके परिणामस्वरूप १९४७ में भड़के दंगोंके कारण यह योजना पूर्ण न होसकी। दिल्ली आनेपर यशपालजी पुनः सस्ता साहित्य मंडलसे जुड़ गये तथा विनोवार्जाके भूदान यज्ञ में सहयोगी बने। मंडल द्वारा गांधी डायरीके प्रकाशन तथा गांधी साहित्य (१० खंडों में) प्रकाशनकी योजना भी उन्होंने बनायीथी। मंडल द्वारा प्रकाशित ‘जीवन साहित्य’ (मासिक) का सम्पादन भार उन्होंने १९४६ में ग्रहण कियाथा तबसे अबतक वे कुशलतापूर्वक इसका सम्पादन कर रहेहैं। उनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से मंडलने सत्साहित्यके प्रकाशनमें कीर्तिमान स्थापित कियाहै। इस संदर्भमें वे कहतेहैं—“मेरी मान्यता है कि चिरंजीवी साहित्य वही होताहै, जो अंतस्से उपजताहै और जिसके सृजनमें लेखककी अपनी प्रेरणा होतीहै। बाहरी डंडेके जोरपर जो साहित्य लिखा जाताहै, वह बड़ा निष्प्राण होताहै, अधिक दिन नहीं टिकता। ‘मंडल’ के द्वारा केवल वही साहित्य निकला है, जो किसीके आदेशपर नहीं रचा गयाहै।”

लेखकने जहां भारतका व्यापक भ्रमण किया, वहां भारतके बाहरके अनेक देशोंकी भी साहित्यिक सांस्कृतिक यात्राएं कीं। इन यात्राओंके विवरण यथासमय समाचार पत्रोंमें छपते रहे तथा पुस्तक रूपमें (जय अमरनाथ, उत्तराखंडके पथपर, यूरोपकी परिक्रमा, पड़ोसी देशोंमें आदि) भी प्रकाशित हुए। लेखकके शब्दोंमें “प्राचीनताके कारण मैंने चेकोस्लोवाकिया, प्राकृतिक सौन्दर्यके लिए स्विट्जरलैण्डकी, कलाके लिए इटलीकी, संस्कृतिके लिए फ्रांसकी, लोकतंत्रके उद्यमके लिए इंगलैण्डकी, विनाशमें निर्माणके पुरुषार्थ को देखनेके लिए जर्मनीकी और छोटे होनेपर भी किस प्रकार स्वावलम्बी हो सकतेहैं, इसके मूल्यांकनके लिए डेनमार्क और फिनलैण्डकी यात्राएं मैंने की। सब देशों में एक-एक विशेषता है, लेकिन यदि इन सारी विशेषताओंका समन्वित रूप देखना हो तो वह भारत है। उसमें ये सारी बातें विद्यमान हैं, लेकिन दुर्भाग्यसे हम अपने देशको जानते नहीं।”

भारत-भ्रमणके अनन्तर लेखक भाव-विभोर होकर कहताहै— जिसने हिमालय नहीं देखा, वह भारतके प्राकृतिक सौन्दर्यकी कल्पना नहीं कर सकता। जिसने गंगा, यमुना आदिके किनारे-किनारे पैदल यात्रा नहीं की, वह नदियोंके महत्त्वको क्या जाने ! जिसने सागर नहीं देखा, वह अनंत जल-राशिकी महिमाका अनुभव नहीं कर सकता। जिसने अजंता-एलोराकी गुफाएं नहीं देखीं, वह अपनी महान् कलाका अनुभव नहीं लगा सकता। जिसने तीर्थोंके दर्शन नहीं किये, वह भारतीय धर्मकी महिमाको क्या समझे।”

दिल्लीमें रहते हुए लेखकने हिंदी विद्यापीठ, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति तथा हिंदी भवनके माध्यमसे हिंदी के प्रचार प्रसारमें जो महान् योगदान किया, इसका संक्षिप्त विवरण ‘संस्थाओंमें सहयोग’ शीर्षकके अंतर्गत किया गयाहै।

पुस्तकके अंतिम भागमें लेखकने अपने पूज्य माता-पिता तथा अन्य इष्ट जनोंका पावन स्मरण कियाहै, जिनके प्रति वह कृतज्ञताका अनुभव करताहै।

अंतके छः अध्यायोंमें लेखकने अपनी जीवन-दृष्टि तथा वर्तमान युगकी विसंगतियोंपर प्रकाश डालते हुए जीवनके प्रति अपने स्वस्थ दृष्टिकोण तथा मान्यताओं की स्थापना कीहै, इनमेंसे कुछका उल्लेख यहां अप्रासंगिक न होगा—

“मेरा पक्का विचार है कि निजी और सार्वजनिक जीवनमें जबतक ऊपरी दिखावट, तड़क-भड़क रहेगी और उसपर पानीकी तरह पैसा बहाया जाता रहेगा, तबतक हमारा देश भलेही विज्ञान और तकनीकके क्षेत्रमें कितना ही विकास क्यों न कर ले, चरित्रकी दृष्टिसे दिवालिया बना रहेगा।”

“वे दिन लद गये जब आदमीका काम बोलताथा। अब शब्द बोलताहै।”

“एकान्त साधनाका भी अपना महत्त्व और आनन्द है। कसकर काम करनेके बाद जिस संतोष और आनन्दकी अनुभूति होतीहै, उसे वही जान सकतेहैं, जिन्होंने वह प्राप्त किया है।”

“जिस प्रकार किसीभी सुन्दर चित्रके लिए छाया और प्रकाश दोनोंका मेल आवश्यक है, उसी प्रकार जीवनके सौंदर्यके लिए सुख और दुःख दोनों अनिवार्य हैं।”

पुस्तकके बीच-बीचमें कुछ ऐसे प्रसंगभी हैं, जो



ऊपरसे लघु होते हुएभी महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ दादाजी पं. बनारसीदास चतुर्वेदीका उपदेश कि 'दोपहरको भोजन करनेके बाद कमसे कम एक घंटा आराम करो,' लेखकके मनमें अबभी कौंध जाता है। इसी प्रकार विनोबाजीके साथ वार्त्ता-प्रसंगमें एक दिन मैंने पूछा, "आप इतनी मौलिक बातें रोज कैसे कहते हैं।"

विनोबाते मुस्कराकर कहा, "पैदल जो चलता हूँ। मनुष्य जितना धरती और प्रकृतिके निकट रहता है, उतनाही उसे नयी नयी बातें सूझती है।"

कुल मिलाकर 'मेरी जीवन-धारा' एक उच्चकोटि की आत्मकथा है, जिसमें लेखकभी जीवन-धाराके साथ-साथ लोक-कल्याणी भागीरथीकी वह पावन धाराभी प्रवहमान है, जिससे युवक प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। अपने जीवनमें घटित घटनाओंका वर्णन लेखकने इस रूपमें किया है कि उसमें कहानी, रेखाचित्र तथा संस्मरण सबका रस घुल-मिल गया है। मंडल द्वारा प्रकाशित अन्य आत्मकथाओंकी भांति इसकी शैलीभी सहज, सरल, सरस, आकर्षक तथा मनोरंजक है। आत्मकथाके क्षेत्रमें इस कृतिका अपना विशिष्ट स्थान रहेगा। □

## भारतीय अन्तश्चेतना

# राजस्थान और बंगालके बीच एक चिन्मय अमर सेतु

कृति : राजस्थान : बंगीय दृष्टिसे?

सम्पादक : पं. अक्षयचन्द्र शर्मा

समीक्षक : डॉ. मूलचन्द सेठिया

अनेतिहासिक कालसे भारत जननी एक हृदय रही है। इसकी हृत्तंत्रीके विविध तारोंसे एकही सुर गूँजता रहा है। समस्त बाह्य विभेदों और अनेकताओंके बावजूद भारतकी अन्तश्चेतनामें एकता और अखण्डताका भाव सदा विद्यमान रहा है। आजके युगमें जब विघटनकारी वृत्तियाँ साम्प्रदायिक विभेद और क्षेत्रीय अलगाव को उभारकर राष्ट्रमूर्तिको खण्डित करनेके प्रयासमें लगी हुई हैं, एकताके अन्तःसूत्रोंको खोजकर उन्हें पुरस्सर करना वक्तका तकाजा बन गया है। पं. अक्षयचन्द्र शर्मा द्वारा सम्पादित 'राजस्थान : बंगीय दृष्टि' के सामयिक प्रकाशनके माध्यमसे इस युग-धर्मके निर्वाहका सफल और सार्थक प्रयास किया गया है। राजस्थान और बंगाल—दो सुदूरवर्ती प्रदेश, एक जल-संकुल और शस्य-श्यामल तो दूसरा धूलि-धूसर, निर्जल और अनुर्वर। बंगाल यदि युग-युगसे प्रकृतिका क्रीड़ा-क्रोड़ रहा

है तो राजस्थानके रेतीले टीलोंपर जहां दूर-दूरतक झाड़ियोंके अतिरिक्त और कुछभी दृष्टिगोचर नहीं होता अकालकी छाया एक शाश्वत अभिशापकी तरह सदा मंडराती रहती है। फिरभी विधि-विधानने इन दो बाह्य दृष्टिसे विषम प्रदेशोंको अद्भुत अन्तःसाम्य प्रदान किया है। मरुधरामें अभावकी ठोकरें खाकर राजस्थान के लक्ष-लक्ष व्यापार बंगालके दूर-देहातमें धूनी रमाये बैठे हैं। यह सिलसिला आमेरके राजा मानसिंहके समय से ही चल रहा है, जो बंगालके सूबेमें मुगल राजलक्ष्मी को अविचलित बनाये रखनेके लिए वहां अकबरके सूबेदार बनकर गये थे। वे राजस्थानके प्रथम सांस्कृतिक दूत भी थे। उनके दलके साथ असंख्य राजस्थानी सैनिकोंके साथ सहस्रों व्यापारीभी गये थे, जिनमें से अधिकांश सैन्य अभियानके बाद वहीं रस-बस गये थे।

'राजस्थान : बंगीय दृष्टि' में बंगाली साहित्य, कला धर्म, दर्शन, स्थापत्य और लोक-संस्कृतिपर राजस्थानके बहुविध प्रभावका आकलन प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण प्रादेशिकता और राजनीतिक स्वार्थ भावनासे प्रभावित

१. प्रका. : कायां चेरिटेबल ट्रस्ट, ७ लायंस रेंज, कलकत्ता-७००००१। पृष्ठ : २२६; डिमा. ८६; मूल्य : ८०.०० रु.।



होकर जो बंगालमें राजस्थानियोंकी भूमिकापर प्रश्न-चिह्न लगाते नहीं थकते, उनके लिए इस ग्रंथमें विस्तार से वर्णित यह तथ्य आख खोल देनेवाला है कि बंगाली साहित्यकी कविता, नाटक, उपन्यास, लघुकथा, यात्रा-वृत्त आदि विविध विधाओंका कथ्य प्रभूत रूपसे राजस्थानके मध्ययुगीन इतिहासके आलोकमय पृष्ठोंपर अंकित शौर्य गाथाओंसे ही संकलित किया गया है। स्वतंत्रतासे पहलेकी पूरी एक शताब्दी, जिसकी बंगाल ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्रके इतिहासमें एक भाग्य-निर्णायक भूमिका रही है, राजस्थानमें तलवारकी नोकको खूनमें डुबोकर लिखी हुई जीवन्त एवं स्फूर्तिप्रद कथाओंसे ही अपना प्राण सम्बल प्राप्त करती रही है।

समस्त भारतीय भाषाओंमें आधुनिकताकी सुग-बुगाहट सबसे पहले बंगाली साहित्यमें ही प्रकट हुई थी। पाश्चात्य प्रभावकी लहरें सबसे पहले बंगालके तटसे ही आकर टकरायी थीं। भारतमें आधुनिकताके जनक राजा राममोहन राय और उनके सहयोगी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन जैसे प्रबुद्ध विचारकोंने युग-युगकी जड़ताको तोड़कर नयी युग-चेतनाका प्रवर्तन किया था। ऐसे नये भावों और विचारोंसे आन्दोलित बंगालके कवियों, नाटककारों और कथाकारोंपर राजस्थानी इतिहास और संस्कृतिके विराट् और व्यापक प्रभावको देखकर हमें आश्चर्यसे अभिभूत हो जाना पड़ता है। राजस्थानी शौर्यगाथाओंको उपजीव्य बनाकर सर्वप्रथम साहित्य-रचनाका श्रेय कवि रंगलाल वन्द्योपाध्यायको जाता है। उनकी 'पद्मिनी उपाख्यान' का इस दृष्टिसे ऐतिहासिक महत्त्व है। 'कर्म देवी' और 'शूर सुन्दरी' नामक दो अन्य उपाख्यान भी कवि रंगलाल द्वारा लिखे गये, जो राजस्थानी गौरव गाथाओंपर आधारित हैं। इसके बाद तो यह प्रवाह अधिकाधिक वेगवन्त होता चला गया। कवि रवीन्द्र-नाथकी बहिन स्वर्णकुमारी देवीने 'खड्ग-परिणये' राजेन्द्रनारायण मुखोपाध्यायने 'राजमंगल' और विपिन-बिहारी नन्दीने 'सचित्र सप्तकाण्ड राजस्थान' की रचना की। नन्दीने तो एकही काव्यमें राजस्थानके राणा हमीर, कुम्भा, सांगा, प्रताप और रानी पद्मिनी, पन्ना धाय, कर्मवती कृष्णाकुमारी जैसे अगणित नायक-नायिकाओंकी चरित्र-रेखाएं एकही काव्यमें अंकित करने का प्रयास किया। स्वयं रवीन्द्रनाथने अपनी प्रसिद्ध रचना 'कथा ओ काहिनीमें' नवलगढ़, होरी खेला जैसी तीन-

चार कविताओंका कथ्य राजस्थानी वीराख्यानोंसे संकलित किया है।

बंगाली कविताही नहीं, नाटक, उपन्यास और कहानी-साहित्यपर भी प्रायः एक शताब्दी राजस्थानी शौर्य कथाओंका प्रचुर प्रभाव रहा है। माइकेल मधुसूदन दत्तके 'कृष्णकुमारी' नाटकसे यह क्रम आरम्भ होता है। बंगीय नाटक और रंगमंचके प्रतिभा पुरुष गिरीशचन्द्र घोषने 'आनन्द रहो', 'चण्ड', और 'महाराणा प्रताप' (अपूर्ण) नामक तीन नाटकोंकी रचना राजस्थानकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर की थी। इनमें 'चण्ड' को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई। रवीन्द्रनाथके अग्रज ज्योति-रीन्द्र ठाकुरके 'अश्रुमति' और 'सरोजिनी' भी इसी धारा के नाटक हैं। इस क्षेत्रमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान द्विजेन्द्रलाल रायका है, जिन्होंने राजस्थानके शौर्य, त्याग और आत्म-बलिदानके उदात्त आदर्शोंसे अनुप्राणित होकर 'तारावाई', 'प्रतापसिंह', 'दुर्गादास' और 'मेवाड़ पतन' आदि कालजयी नाटकोंका सृजन किया, जो साहित्यिक उपलब्धि होनेके साथही कई दशान्दियों तक बंगाली रंगमंचपर असीम लोकप्रियताके साथ अभिनीत होते रहे। द्विजेन्द्रलालपर इतिहासकी अवहेलनाका आरोपभी लगाया गया है, परन्तु उन्होंने राष्ट्रीय भावनाका उद्बोधन करनेकी दृष्टिसे इतिहास के अंधेरे कोनोंको अपनी कल्पना और प्रतिभाके प्रकाश से आलोकित करनेका ही प्रयास किया है।

भारतीय भाषाओंमें उपन्यास विधाका प्रथम अङ्कुरण बंगाली साहित्यमें ही हुआ था। उपन्यास साहित्य पर राजस्थानी शौर्य गाथाओंके प्रभावका यह एक प्रमाण ही कहा जा सकता है कि बंगाली उपन्यासके उन्नायक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायने स्वयं राजस्थानके इतिहासपर आधारित 'राजसिंह' उपन्यासकी रचना की, जो उनके परवर्ती कालकी एक प्रौढ़ कलाकृति है। इसमें बंकिमने इतिहास और कल्पनाका मणिकाञ्चन संयोग किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार रमेशचन्द्र दत्तने राजस्थानी पृष्ठभूमिपर आधारित तीन ऐतिहासिक उपन्यासोंका प्रणयन किया था—'माधवी कंकण', 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' और 'राजपूत जीवन संध्या'। दत्तके उपन्यासकारपर उनका इतिहासकार हावी हो गया है अतः सृजनात्मक स्फूर्तिके अभावमें उनके उपन्यास कहीं-कहीं इतिहासके आलेखसे प्रतीत होने लगते हैं। रवीन्द्रनाथकी बहिन स्वर्णकुमारीके तीन उपन्यास 'दीपनिर्वाण', 'मिवार-



राज' और 'विद्रोह' राजस्थान पृष्ठभूमिपर आधारित है। आजभी यह क्रम भंग नहीं हुआ है। विमल मित्र जैसे आजके अति लोकप्रिय उपन्यासकारने 'रजपूतानी' उपन्यासके द्वारा इस परम्पराको आगे बढ़ाया है। लघु कहानियोंके क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके चित्रकार अवनीन्द्र ठाकुरने अपने 'राजकाहिनी' नामक कथा-संग्रह में राजस्थानी इतिहासके अनेक पृष्ठोंको जो सजीव मूर्तिमत्ता प्रदान की है, उसकी लोकप्रियता आजभी अक्षुण्ण बनी हुई है। यात्रावृत्तके क्षेत्रमें भी शंकु महा-राजकी 'राजभूमि राजस्थान' शतदल भट्टाचार्यकी 'रम्याणि वीक्ष्य' और देवेशदासकी 'रजवाड़ा' आदि कृतियोंमें राजस्थानकी वीरभूमि, जयपुर-उदयपुर जैसे नगरों, चित्तौड़ और रणथम्भौर जैसे दुर्गों, अरावली जैसे पहाड़ों और पुष्कर जैसे तीर्थोंके प्रति बंगाली चित्र का अचिन्त्य आकर्षण उच्छलित रूपमें प्रकट हुआ है।

बंगाली साहित्यकी इन विविध विधाओंके पर्यव-  
शोकसे यह स्पष्ट है कि राजस्थानी इतिहासकी वीरता  
लाग और समर्पणकी उदात्त भावनाओंको व्यक्त करने  
वाली गौरव गाथाओंके प्रति बंगालके सृजनधर्मी साहि-  
त्यकारोंके मनमें दुर्निवार आकर्षण रहा है। इन राज-  
स्थानोन्मुखी साहित्यकारोंमें माइकेल मधुसूदन दत्त,  
बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रलाल राय और अवनीन्द्र  
नाथ ठाकुर जैसे बंग सरस्वतीके शीर्ष स्थानीय वरद  
पुत्रोंके नाम सम्मिलित हैं। यह एक सर्वविदित सत्य  
है कि बंगालमें राजस्थानी वीरोपाख्यानोंके प्रति इस  
उत्सव आकर्षणके मूलमें सन् १८२६ में कर्नल जेम्स  
टॉडकी विख्यात पुस्तक 'एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ  
राजस्थान' का प्रकाशन है। विमल मित्रने माना है कि  
इस ग्रंथके प्रकाशनके पूर्व बंगालमें राजस्थानके सम्बन्ध  
में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। टॉड उदयपुरमें पश्चिमी  
भारतकी रियासतोंमें वायसरायके पोलिटिकल एजेण्टके  
पदपर नियुक्त था। राजपूत जातिके प्रति उसके मनमें  
अगाध अनुरक्ति और राजपूत इतिहासके प्रति अदम्य  
जिज्ञासाका भाव था। प्रकाशित होतेही टॉडका ग्रन्थ  
हार्थ-हाथ विक्रयमें लगा। पराधीन देशकी पराभूत जनता  
को अपनी खेदखिन्न मनःस्थितिमें यह 'ग्रन्थ अपने अंतरके  
शानोंपर मरहमकी तरह प्रतीत हुआ, हमारा भी एक  
गौरवपूर्ण इतिहास है, आज पतनके गर्तमें गिर गये  
तो क्या हुआ, कल हमभी समुद्रिके शिखरपर  
हैं' इस आश्वासनकारी भावनासे हमारे चोट

खाये हुए अहंको सहलाया। उस युगमें उठ खड़े  
होनेका जोरदार उपक्रम करते हुए बंगालको ऐसेही  
मानसिक सम्बलकी आवश्यकता थी। मुनि जिनविजय  
का यह कथन युक्तियुक्त है 'बंगालके उपन्यासकार,  
नाटककार और कथाकार लेखकोंके लिए यह राष्ट्रप्रेम  
धर्मप्रेम और वीर शौर्यके भावोंसे भरा हुआ एक महान्  
निधि रूप ग्रंथ है।' सत्य तो यह है कि इसमें वर्णित  
वीरतापूर्ण गाथाओंको उपजीव्य बनाकर केवल बंगाली  
ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओंमें अनेकानेक साहि-  
त्यिक कृतियोंका सृजन हुआ है। हां, अपनी भावुक,  
संवेदनशील एवं कल्पनाप्रवण प्रकृतिके कारण बंगीय  
साहित्यकारोंने अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव ग्रहण किया।  
टॉडके ग्रंथकी असीम लोकप्रियताके बावजूद इसकी  
ऐतिहासिक यथातथ्यतापर बार-बार प्रश्नचिह्न लगाये  
गये हैं। कुछ आलोचक इसे 'भट्ट भणन्त' पर आधारित  
मानते हैं, जिसमें तथ्यसे अधिक कल्पनाको महत्त्व दिया  
गया है। इस 'ग्रन्थके ऐतिहासिक मूल्यका अवमूल्यन न  
करते हुएभी प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रघुवीरसिंहने  
स्वीकार किया है "टॉडने जिस कालमें यह सारी सामग्री  
एकत्र की तथा उसको समझने-बूझनेका प्रयत्नकर अपने  
ग्रंथोंकी रचना की वह भारतीय पुरातत्त्व तथा ऐतिहासिक  
शोधका सर्वथा आरंभिक काल था। अतः टॉडके इन  
ग्रन्थोंमें अनेकानेक भूलों, एकांगिता और अपूर्णताका  
होना सर्वथा अनिवार्य था।" इन सारी अपूर्णताओं  
और अशुद्धियोंके होते हुएभी आखिर क्या कारण थे  
कि टॉडका जादू इस कदर बंगालके सिरपर चढ़कर  
बोल सका था ?

आलोच्य ग्रंथके सम्पादक पं. अक्षयचन्द्र शर्माभी  
यह प्रश्न उठाया है "बंगालको राजस्थानने इतनी गह-  
राईसे आकृष्ट किन कारणोंसे किया ?" विद्वान् सम्पा-  
दकने स्थितियोंका विशद विश्लेषण करनेसे विरत रह-  
कर केवल पांच कारण गिना दिये हैं। इनमेंसे अंतिम  
कारण है इतस्ततः बंगालके पास कोई गौरवपूर्ण इति-  
हास नहीं था, जिसके बलपर जातीय अभिमान-स्वाभि-  
मानको जागृत किया जाये।" इस कारणकी परिपुष्टि  
स्वयं रवीन्द्रनाथके इस उद्धरणसे होती है "बचपनमें  
भारतका इतिहास पढ़ना आरम्भ किया था। मुझे प्रतिदिन  
राजनीतिक युद्धोंमें सिकन्दरसे लेकर क्लाइव तक लगा-  
तार भारतकी पराजय तथा अपमानकी कथाओंके नाम  
तथा तिथियां याद करनी पड़ती थी। राष्ट्रीय लज्जाके इस



ऐतिहासिक रेगिस्तानमें यदि कोई ओएसिस, कोई हरियाली थी तो वे राजपूतोंके कार्य...।" रवीन्द्रनाथकी इस उक्तिसे यह स्पष्ट आभासित होता है कि राजपूती शौर्य गाथाएं हमारे स्वर्णिम अतीतका गरिमामय चित्र उपस्थित कर हमें वर्तमान पराभवके हीनताभावसे मुक्त होनेमें सहायता प्रदान करती थीं। हम अपनी जिस खोयी हुई राष्ट्रीय पहचानको खोज रहे थे, वह हमें इन गौरव गाथाओंमें मिली और इसीलिए ये सारे देश के हृदयका हार बन गयी। एक और भी कारण है। इन कथाओंका एक छद्म एक आवरणके रूपमें भी प्रयोग किया गया था। जब हम यह कहते कि देवकी कंसके कारागारमें पड़ी हुई है तो उसका लाक्षणिक अर्थ यह होता था कि भारतमाता अंग्रेजोंकी दासताके बंधन में जकड़ी हुई है। अंग्रेजोंके विरुद्ध सीधे तौरपर कुछ लिखना अपने आपपर साम्राज्यवादी दमन-चक्रको निमंत्रण देना था। परन्तु, मुगलोंके विरुद्ध राणा सांगा, राणा प्रताप और वीर दुर्गादासके संघर्षको चित्रित कर अंग्रेजोंको प्रकुपित किये बिनाही वांछित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। भारतके पूर्व शिक्षामन्त्री प्रतापचंद्र चन्दरने अपने 'साक्षात्कार' में कहा है : "प्रहारका लक्ष्य अंग्रेज अत्यचारी ही थे। मुगल तो प्रतीक थे। सीधे-सीधे बात कहनेमें कठिनाई थी। कानूनी अड़चन थी। किताबें गैरकानूनी करार दी जाती थी, जब्त कर ली जाती थी।" जो आलोचक बंकिम या द्विजेन्द्रलाल रायपर हिन्दू पुनरुत्थानवादी होनेका आरोप लगाते हैं, उन्हें भी स्थितिकी इस गम्भीरताको आंखोंसे ओझल नहीं करना चाहिये। उन्नीसवीं शताब्दीके अंतिम और बीसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें भारतीय राष्ट्रवादका मोती हिन्दू पुनरुत्थानवादकी सीपीमें ही पल रहा था।

बंगाल और राजस्थानके बीचमें सांस्कृतिक आदान-प्रदान मुख्य रूपसे साहित्यकी विविध विधाओंमें ही प्रकट हुआ है, परन्तु धर्म, दर्शन, कला, स्थापत्य आदि जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें भी इसकी अन्तर्व्याप्तिको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य क्षितिमोहन सेनने अपने शोधपूर्ण निबन्धमें धर्म-साधनाके क्षेत्रमें दोनों प्रदेशोंके बीच सहकारिताके सम्बन्धको आधिकारिक रूपसे प्रकट किया है। इतिहास प्रसिद्ध फैजी और अबुलफजलके पिता मुबारक नागोरीके नव अफलातूनी मतका प्रभाव बंगालके आउल-बाउलोंमें देखा जा सकता है। बंगालके

बाउल संत दादूको 'दाउद' के नामसे श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। आचार्य सेनके शब्दोंमें 'मीराबाई तो उनके घर की है; उनकी जीवनी, उनका गान तो बंगाली भक्तोंके अपने अंतरकी वस्तु है।" इसी प्रकार राजस्थानमें धार्मिक साधनाकी स्वतंत्रताको रेखांकित करते हुए आचार्य सेनने यह महत्त्वपूर्ण मत प्रकट किया है "जो राजस्थान चिरकाल अपनी स्वाधीनताकी रक्षाके लिए युद्ध करता आया था, वही स्वाधीनताके साधकोंका आश्रय स्थान था और था स्वाधीन चिन्ताका उपयुक्त साधना-पीठ।" बंगालके गौड़ीय भक्ति सम्प्रदायका राजस्थानमें धर्म-साधनापर जो प्रभाव पड़ा है, उसके सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते। चित्र-कलाके क्षेत्रमें डा. निशीथरंजन राय बंगाल स्कूल ऑफ पेन्टिंग पर राजस्थानी चित्र-शैलियोंका प्रभाव स्वीकार करते हैं। विमल मित्र और डा. निशीथकुमार मुखर्जी अवनीन्द्र नाथके चित्रोंपर राजस्थानका प्रभाव बताते हैं पर डॉ. प्रतापचन्द्र चन्दर इससे सहमत नहीं है। एशियाटिक सोसाइटीके पुस्तकाध्यक्ष सुनीलबिहारी घोषको बेलूर मठमें राजस्थानी स्थापत्यकी छवि दिखायी पड़ती है। विशद विवेचनके अभावमें ये सब संकेत मात्र प्रतीत होते हैं।

'राजस्थान बंगीय दृष्टिसे' के सम्पादकने ग्रंथकी रूपरेखा-निर्धारणमें राजस्थान-बंग सम्बन्धोंके विविध आयामोंको एक साथ समाविष्ट करनेका प्रयास किया है, परन्तु इसमें विशद विवेचन बंगाली साहित्यकी विविध विधाओंका ही हो सका है। केसरीकान्त शर्मा 'केसरी'ने अधिकांश लेखन-कार्य काफी सूझ-बूझके साथ किया है। 'साक्षात्कार' के लिए उन्हें काफी दौड़धूप करनी पड़ी होगी, परन्तु ग्रन्थका यह अंश कुछ अपुष्ट और अपर्याप्त-सा प्रतीत होता है। अन्तर्प्रान्तीय सौहार्द एवं एकताकी भावनाको संपुष्ट करनेके लिए यह आवश्यक है कि इस पुस्तकका बंगाली अनुवादभी शीघ्र ही प्रस्तुत किया जाये ताकि बंगभाषियोंको भी अनुभव हो सके कि इन दोनों प्रदेशोंकी भाव-चेतनामें कौसी अपूर्व एकतानता है। कायां चेरिटेबल ट्रस्टने इस ग्रन्थका प्रकाशन कर राष्ट्रीय जीवनके सकारात्मक पहलुओंको जो उभार दिया है, उससे विभेद और विघटनकी नकारात्मक शक्तियां निश्चय ही निरुत्साहित होंगी। □



## काव्य

यह जो हरा है?

कवि : प्रयाग शुक्ल

समीक्षक : डॉ. प्रेमशंकर

‘कविता समय’, ‘यह एक दिन’, ‘रातका पेड़’, ‘अधूरी चीजें तमाम’ के क्रममें ‘यह जो हरा है’ प्रयाग शुक्ल का नया कविता-संकलन है। यदि प्रयागके कविता-संसारसे गुजरें तो पायेंगे कि उन्होंने स्वयं ‘कविता’ की काफी चर्चा की है जिससे उनके आन्तरिक संघर्षका आभास मिलता है। ‘यह एक दिन है’ (१९८०) में ‘कविता’ को लेकर कई कविताएँ हैं जहाँ हम कविकी इस रचना-यातना को देख सकते हैं : हाँ उठती नहीं है कविताएँ उफनती हुई/उठता है दर्द छातीमें, पीठमें, उन कविताओं का/ जिन्हें लिख नहीं सका मैं (वही)। ‘रातका पेड़’ में तीन पंक्तियों की कविता है : ‘सारा जीवनही/ कविता है/ बोली कोयल’ (सारा जीवन)। प्रयागके लिए कविता जैसे एक अनिवार्य विषय स्थिति है जहाँ इस संवेदन-प्रयत्न के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता : “बहुत मन हुआ/ लिखूँ एक कविता/ शहरसे दूर अपने/ एक दूसरे शहरमें” (यह जो हरा है— पृ. २६)।

‘यह जो हरा है’ की कविताएँ कई बार वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं जैसे लगती हैं। सामने फैला संसार है, जिसमें कवि की विदेश यात्राएँ भी सम्मिलित हैं, पर प्रयाग इसे अपनी संवेदन-दृष्टिसे देखना समझना चाहते हैं। यह रुमानी रंग नहीं है क्योंकि समयके यथार्थकी अनदेखी नहीं की गयी है : देर रात कुत्तोंका भूँकना, ठंडे अलावमें लकड़ियोंका सुलगना, थके हुए पैर, मवेशियोंके गलेमें बंधी घंटी, ट्रेनकी सीटी आदि (आवाजें)। पर कविताओंकी रुचि तथ्य, विवरणमें नहीं है, वे जीवनके भीतर संचित निहितार्थको पकड़ना चाहती हैं। दृश्योंके

१. प्रका. : वाग्देवी प्रकाशन, सुगन निवास, चन्दन सागर, बीकानेर-३३४००१। पृष्ठ : ८०; डिमा. ६०; मूल्य : ४०.०० रु.।

भीतरसे कुछ पा लेना जिस ईमानदार संवेदनकी मांग करता है, उसे अजित करनेका काम सहज नहीं। पर ‘यह जो हरा है’ की कविताएँ एक प्रतिसंसारका संकेत देती हुई जैसे अपना मार्ग निकलना चाहती हैं। इसीलिए इन कविताओंमें प्रकृतिकी उल्लेखनीय उपस्थिति है : पेड़, आकाश, शाम, पत्ते, चिड़ियाँ, सूरज आदि आदि। प्रकृति प्रयागको वैकल्पिक संसार बनानेमें सहायता करती है, पर वे वस्तुव्योसे वच जाते हैं। हाँ, यह सब इतने सूक्ष्म संकेतात्मक ढंगसे होता है कि कविताओंके सही आशय तक न पहुँच सकनेपर, इनसे अमूर्तताकी शिकायत तक कीजा सकती है : “मैं था जिसके शरीर/ पर नहीं थे नये निशान/ सिवा कुछ सफेद बालोंके/ और जेबोंमें भरे/ दुःखोंके / जो बजते थे रह-रहकर / सन्नाटे में/ आकाश उन्हें सुनता होगा/ इसकी उम्मीद न थी” (एक पहाड़ी रास्तेपर अकेले, पृ. ४३)। यहाँ अकेले-पनके बावजूद कविके साथ बहुत कुछ है। ऊबड़-खाबड़ रास्ता, झाड़ियाँ—और इन सबके बीच पिताकी बरसों पहले सुनी आवाज। प्रकृति और मनुष्यमें संगति स्थापित करनेकी कोशिश प्रयाग करते हैं, और जहाँ वे सफल हुए हैं, वहाँ कविता नयी उड़ान लेती है। शमशेर जीके लिए लिखी गयी कविता इसका उदाहरण है : “कुछ न जानता हुआ-सा/ उठा सुबह/ सुने न जानती हुई/ उड़ी चिड़िया चीर आकाशको (सुबह, पृ. ६७)।

प्रयाग शुक्लकी कविताओंमें स्मृतिकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है, पर यह कविके लिए रुमानी अवसाद या पीछेकी ओर लौटने जैसा भाव नहीं है। ऐसी स्थिति में कविता इतनी अन्तर्मुखी और एकालापी हो जाती है कि समयसे उसका ताता-रिश्ताही टूट जाता है। इस स्मृतिका स्वरूप समझमें आ जानेपर प्रयागकी कविता अपना अर्थ खोलती दिखायी देती है। जो लोग कविताको तात्कालिक त्वरित प्रतिक्रियाका माध्यम माननेकी भूल करते हैं, उन्हें यहाँ निराशा हो सकती है। ऐसा लगता है कि प्रयागके संवेदनमें कुछ चीजें पड़ी रहती हैं और



उनके विलयित होनेमें समय लगता है। पर जब वे लौटती हैं तो नये रूपाकारके साथ : “जहां जब इच्छा हो/ बुला सकूं बीती स्मृतियोंको/ हंसे नहीं कोई ठठा-कर/ उनपर” (जगह वही, पृ. १३)

जो समय है, जैसा भी है, उसे बस पाना संभव नहीं क्योंकि स्थितिसे पलायन करना रचनाकी संवेदन-ऊर्जा को कमजोर करना है। पर पूरी स्वीकृतिमें यह खतरा भी कि कविता अखबारी कतरन बन जाये। मेरा विचार है कि प्रकृति और स्मृति संसारके सहारे प्रयाग अपने संवेदनके सर्वोत्तमको किसी भी मूल्यपर बनाये रखना चाहते हैं। ये दोनों उपादान उनकी कविताको वह मानवीयता देते हैं जिसे रचनाकी अभीप्सा कहा जाता है। कविताओंमें कई चीजें स्मृतिके रूपमें लौटती हैं, पर संवेदनको विस्तार देती हुई : “एक बहुत पुराने काले/ संदूकपर बंठी / हुई स्त्री वह/ मां थी मेरी/... दूरसे देखता था मैं/ संदूकको / रहते होंगे / कभी मेरे भी कपड़े/ इसमें, बचपन” (कई बरस पहले, पृ. ४०)। मांके माध्यमसे बचपनकी स्मृति क्या यह संकेत नहीं करती कि समय कितना बदल गया है। इसी क्रममें दूसरी कविता है : “कितने दिन कौंध गये / बंद पड़ी संदूकसे/ निकली/ कमीजमें”, (पुरानी कमीज, पृ. ४१)।

प्रयाग शुक्लकी स्मृति उनकी मूल्य-चिन्ताका एक हिस्सा बन सकनेका कवि-प्रयत्न भी है। पीछे लौट पाना संभव नहीं, पर आगे जो हो वह तो स्पष्ट दिखायी देता हो, और बेहतर भी हो। यही प्रयागकी कविताएं स्मरणका सार्थक उपयोग करती हैं, और निश्चयही उनके अवचेतनका वह अमानुषीकरण आन्दोलित करता है, जिससे हम घिर गये हैं। “अन्यायी दुनियांमें/ प्रेमकी तलाश” (रात तीन बजे, पृ. २०) के मूलमें सांस्कृतिक चिन्ता है और यहां भी स्मृतिके माध्यमसे इसे व्यक्त किया गया है : बैठा नहीं हूं मैं/ नावपर किसी/ बहुत दिनोंसे (वही, पृ. २०-२१)। ‘रातका पेड़’ कविता-संकलनकी कविता “जब शाम छायाएं बहुत लंबी हो जाती हैं, मैं प्रयागने समय-यथार्थ के कुछ विवरण दिये हैं : सड़कें, प्लेटफार्म, बस, छोटे स्टेशन, पुलोंके नीचे गृहस्थियां, बर्तन मांजकर लौटती स्त्रियां, चायकी दूकानें, उठता हुआ धृआं आदि। पर कविताका समापन है : घरतीके मनको छूती हुई घास/ करती हुई कविता/ गुमशुदाकी तलाश।

“यह जो हरा है” की कविताएं किसी चौकानेवाले ‘प्रकर’—सितम्बर’ ८६—३२

मुहावरेका दावा नहीं करतीं, सबकुछ परिचित-सा दिखायी देता है। फिर भी इन सबके भीतरसे जो कविता उभरती है, वह हमें कुछ सोचने-विचारनेके लिए उकसाती है। कई बार ये कविताएं कुछ प्रश्न छोड़ जाती हैं, जैसे कविके पास भी उत्तर नहीं है। ‘हां या नहीं’ शीर्षक कविता प्रश्नवाचक चिह्नोंसे ही बनी है। वस्तुतः चिरपरिचित भाषासे कविता रच लेना एक चुनौती भी है क्योंकि यहां संवेदन अतिरिक्त ईमान और ऊर्जाकी मांग करता है। प्रयाग संवेदन और सोच की मंत्रीसे अपना कविता-संसार रचते हैं, कई बार उनमें रंग नहीं होते, होती हैं—रेखाचित्र जैसी रेखाएं जिनकी समझके लिए हमें स्वयंको एकाग्र करना होता है। □

## विश्वम्भरा?

लेखक : डॉ. सी. नारायण रेड्डी

श्रुतवादक : डॉ. भीमसेन निर्मल

समीक्षक : डॉ. हरदयाल

डॉ. सी. नारायण रेड्डीको वर्ष १९८४ का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया है। डॉ. रेड्डी के परिचयसे स्पष्ट होता है कि वे तेलुगुके अत्यन्त प्रतिष्ठित, बहुमुखी प्रतिभाके धनी और बहुपुरस्कृत साहित्यकार हैं। उन्हें भारतीय ज्ञानपीठका पुरस्कार उनके संपूर्ण कृतित्वको दृष्टिमें रखकर दिया गया है; किन्तु प्रशस्ति-पत्रमें ‘विश्वम्भरा’ को उनकी सर्वोत्तम रचना घोषित किया गया है। ज्ञानपीठकी पुरानी परम्पराको ध्यान में रखा जाये तो कहा जा सकता है कि पुरस्कार ‘विश्वम्भरा’ पर दिया गया है और उसे वर्ष १९६८-८२ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओंके साहित्यकी श्रेष्ठ रचना घोषित किया गया है। स्वाभाविक है कि इस रचनाके प्रति भारतीय पाठकोंमें उत्प्रेरणा और सम्प्रेम उत्पन्न हो। अथवा मूलपाठकनपरक टिप्पणीसे इसका परिचय देना उचित होगा।

अपनी इस रचनाका परिचय डॉ. रेड्डीने इन शब्दोंमें प्रस्तुत किया है—“इस काव्यका नायक है

१. प्रकाशक : भारतीय भाषा परिषद्, ३६-ए, शेक्स-  
पीसयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७। पृष्ठ :  
६१; डिमा. ८४; मूल्य : ३०.०० रु।



मानव । रंगमंच है विशाल विश्वम्भरा । इतिवृत्त है मानवकी कथा, जिसे तिथियों एवं अभिधानोंकी आवश्यकता नहीं है । इस कथाका नेपथ्य है प्रकृति । मानव द्वारा धारण की गयी विविध भूमिकाओंकी मूल धातुएं हैं मनश्शक्तियां । मिकन्दर, ईसा, अशोक, सुकरात, बुद्ध, लिंकन, लेनिन, मार्क्स, गांधी—इस प्रकार कितने-कितने रूप मानवके । काम, क्रोध, लोभ, मद, आत्म-शोध प्रकृति शक्तियोंका वशीकरण—इस प्रकार कितनी-कितनी प्रवृत्तियां मानवकी । आदिम दशासे आधुनिक दशा तक मानवके प्रस्थानही इस काव्यके प्रकरण हैं । मानवकी साधना त्रिमुखी है—कलात्मक, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक । इस साधनामें पग-पगपर ठेकें । फिरभी मानव कभी तिरोगामी नहीं हुआ । 'विश्वम्भरा' काव्य-रचनाके पूर्व मनमें बना रेखाचित्र है यह ।" कविके मनमें मानव-विकासकी जो परिकल्पना उभरी है, उसीको उसने 'विश्वम्भरा' में प्रस्तुत किया है । इस परिकल्पनाको उसने पांच सर्गों या खण्डोंमें विभाजित करके प्रस्तुत किया है । सर्गोंमें वस्तु-विभाजन, इस काव्यके अनुवादक और भूमिका-लेखक डॉ. भीमसेन निर्मलके शब्दोंमें, इस प्रकार है—“प्रथम खण्ड (सर्ग) में मानव-सृष्टिके पूर्वकी प्रकृतिका वर्णन है । उसके बाद आदि-मिश्रणके प्रणयका तथा आश्चर्यप्रद प्रकृतिके प्रति आदि मानवकी प्रतिक्रियाओंका तथा प्रकृतिकी विभीषिकाओंसे अपने आपको बचानेके प्रयासोंका चित्रण है । द्वितीय सर्गमें मानवकी कलात्मक साधना का—संगीत, नृत्य, कवित्व, चित्रलेखन, शिल्पकला आदि ललित कलाओंमें उसकी अपार विद्वत्ताका तथा अनन्त प्रतिभाका काव्यमय प्रतीकात्मक चित्रण है । तीसरे सर्गमें मानवके विविध मनस्तत्त्वोंको, उसकी अगाध मनःशक्तिको अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है । काम, क्रोध, लोभ आदि प्रवृत्तियोंके वश होनेपर मानव को पतनावस्थाका, सत्य, सत्व, दया, करुणा आदि गुणों के कारण मानवके औन्नत्यका प्रतीकात्मक वर्णन है । चतुर्थ सर्गमें आध्यात्मिक क्षेत्रमें मानवकी तात्त्विक चिन्तन शक्तिका, विज्ञानके क्षेत्रमें प्राप्त प्रगति शिखरों का और मानवकी निरन्तरकी उद्योग-प्रवृत्तिका चित्रण है । पंचम सर्गमें विश्व-मानव-कल्याणके लिए महापुरुषों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक सिद्धान्त, उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए चलाये गये आन्दोलनोंका वर्णन है । साथी मानव की स्वतंत्रताको, सर्व-मानव-समताको प्रबोधित करने

वाले लिंकन, पूंजीपतियोंके अत्याचारोंका खंडन कर श्रमजीवियोंके उद्धारको उद्घोषित करनेवाले मार्क्स, शान्ति और अहिंसा द्वारा भारतको मुक्त करनेवाले महात्मा गान्धी आदि महापुरुष इस सर्गमें प्रतीकोंके रूपमें उभरकर आते हैं ।”

मानवका विकास प्रस्तुत करनेके लिए कविने किसी कथाको आधार नहीं बनाया है बल्कि अपनी बात संकेतों और प्रतीकोंके माध्यमसे कही है । इससे काव्यके प्रभाव को हानि पहुंची है । पाठकके लिए अनेक बार संकेतोंको पकड़नेमें कठिनाई होती है । उदाहरणके लिए नीचेकी पंक्तियोंमें अशोकके अंतर्द्वन्द्वका चित्रण किया गया है, लेकिन अशोक या कलिङ्गका कहीं नाम नहीं आया है—

“क्या उजाला बनेगा यह अन्धकार ?

क्या विजय बनेगी यह हिंसा ?

क्या मनको जगायेगा

मस्तीके घूँट पिलानेवाला यह लोभ ?

गलोंको काटना नहीं

दिलोंको जोड़ना है जीत ।

विनाशका हुलसना नहीं

विवेकका बढ़ना है जीत ।

समर सुलगाता है भीति

क्षमा बरसाती है प्रीति

अनुरागका हो शासन

है यही सच्ची राजनीति ।”

समरका निरसन करनेवाला सम्राट्

शान्ति-शिखरका प्रथम सोपान । (पृ. ५६-५७)

कथाधारके अभावने 'विश्वम्भरा' के प्रबन्धकाव्यत्वको भी हानि पहुंचायी है ।

पूरा काव्य वक्तृतावेगमें लिखा गया है । इसलिए उसमें प्रवाह है । वैचारिक स्तरपर कविने कोई नयी देन नहीं दी है । अतिवादी मनोवैज्ञानिकोंके समान कवि ने हर चीजका मूल मनको माना है । काव्यके अन्तमें कविका निष्कर्ष है—

ऋषिताका, पशुताका

संस्कृतिका, दुष्कृतिका

स्वच्छन्दताका, निर्बन्धताका

समाद्रताका, रौद्रताका

पहला बीज है, मन

तुला रूप है मन !

मनका आवरण मानव



मानवका आच्छादन जगत् ।

यही है विश्वम्भरा तत्त्व

यही है अनन्त जीवन सत्य । (पृ. ६०-६१)

मूल तेलुगुमें 'विश्वम्भरा' की कलात्मक विशेषताओंके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं कह सकते, लेकिन अनुवादमें शिल्पके स्तरपर जो चीज ध्यान आकर्षित है वह है कहीं-कहीं लगनेवाली उपमाओंकी झड़ी । जैसे—

रागात्मा बोल उठी भरी चांदनी-सी

उमड़ आयी चांदनी नाद-निर्झरी-सी ।

निनादित वह चांदनी

सूझी नन्हींको

चमेलीकी पंखुड़ियों-सी

दूधकी धाराओं-सी

नीहार-यवनिकाओं-सी

शारद-नीरद-मालाओं-सी

कलहंस-पक्षों-सी

पिछले नक्षत्रों-सी । (पृ. ३४-३५)

प्रतीकोंकी बात करना व्यर्थ है; क्योंकि पूरा काव्य ही प्रतीकात्मक है । कहीं-कहीं मानवीकरणके द्वारा सुन्दर बिम्बोंकी रचना कीगयी है । जैसे इन पंक्तियोंमें—

तलवार हाथमें आयी कि

शत-शत शीर्ष गिर जाते ।

धनु सन्धान हुआ कि

सहस्र वक्ष विदीर्ण होजाते ।

अश्वकी पीठ थपकायी कि

वह उमगकर छः पुरसे उछल जाता ।

रथपर चरण रखा कि

प्रभंजन पीछे रह जाता ।

स्वर साधा कि

गान्धर्व गंगाके सिर झूम उठते ।

कल्पना विस्फारित हुई कि

ललित कविताएं लास्य कर उठतीं । (पृ. ५०)

कुल मिलाकर 'विश्वम्भरा' ऐसा काव्य नहीं है कि हिन्दी पाठकोंको अभिभूत कर सके ।

## नींदमें मोहनजोदड़ो?

कवि : हेमन्त शेष

ममीक्षक : वीरेन्द्रसिंह

हेमन्त शेष एक ऐसे कवि हैं, जो मानवीय संवेदनाओं और जीवन स्थितियोंके द्वन्द्वके द्वारा एक ऐसी रचनाको जन्म देते हैं, जिसमें प्रकृति, इतिहास, तत्त्व-बोध, समाज और काल-बोधके भिन्न-भिन्न रूप, अपनी जीवन्तताके साथ सामने आते हैं । हेमन्तको मैं पिछले कई वर्षोंसे पढ़ रहा हूँ और उनकी कविताओंके क्रमिक विकाससे गुजरते हुए जब "नींदमें मोहनजोदड़ो" की कविताओं तक आता हूँ तो निश्चित रूपसे पाता हूँ कि कविका विचार-संवेदन अपने वृत्तको लगातार व्यापक बना रहा है और इस व्यापक "वृत्त" में कविताके सरोकारोंके प्रति कवि एक निश्चित भावभूमिका परिचय दे रहा है ।

कविके लिए कविताका रूप "मैं" और प्रकृति (विश्व) की द्वन्द्वात्मक विराटतामें है, जिसमें कविताएं "भाषाके उत्सर्गमें आत्माका होम हैं" तो दूसरी ओर वे अंतरिक्ष और पातालका आचमन करनेमें समर्थ ।

"क्षण भरमें कविताएं

अंतरिक्षतक जा पहुंचती हैं

कर आती हैं पलभर में

पातालके पानीका आचमन (पृ. १७) ।

कविताके उपर्युक्त व्यापक संदर्भको ध्यानमें रखकर इन कविताओंके कथ्यकी अनेक दिशाएं हैं जैसे, परिवार, समाज, आदमीका बिम्ब, प्रकृति काल-संदर्भ तथा चीजों, वस्तुओंका अर्थ—रूपांतरण । ये सभी संदर्भ हेमन्त शेषकी कविताओंमें एन्द्रिय संवेदनाओं और विचारके महीन रेशोंसे अनुस्यूत होकर रचनात्मक संदर्भ प्राप्त करती हैं ।

यही कारण है कि हेमन्त शेषकी संवेदनाकी बनावट संश्लिष्ट होते हुएभी जटिल नहीं है । वह तरल एवं सघन दोनों स्वरोंको आवश्यकतानुसार अपनी रचनामें स्थान देते हुए प्रतीत होते हैं । आजकी जीवन स्थितियोंकी विडम्बना और अर्थहीनताके प्रसंग

१. प्रका. : पंचशील प्रकाशन, जयपुर । पृष्ठ : ६६

मूल्य : ३५.०० रु. ।



यदा-कदा उनकी कवितामें सांकेतिक रूपसे आते हैं, वे प्रहार एवं आक्रमणकी मुद्रामें प्रकट नहीं होते, जो आज की संघर्षशील एवं जनवादी कवितामें द्रष्टव्य हैं। चीजों के अर्थ-रूपांतरण का यह रूप लेकर, जो आजके भौतिक जीवनकी अतिशयताके प्रति एक व्यंग्यात्मक संकेत है :

“... चीजों पर

लोगोंको, पूरा भरसा है

भलेही, धो रहीहों,

वे

लोगोंको, कपड़ों जैसे । (पृ. ७६)

आजकी कविताका रूप कविके अनुसार अलौकिक षटनाओं और दिव्य चरित्रों (मिथक) में केन्द्रित न होकर, आम घटनाओंकी द्वन्द्वात्मक गतिशीलतामें निहित है, तभीतो कविको यह कहना पड़ा कि “ऐसी तीरस और मामूली बातें तो सिर्फ, हम मनुष्योंकी कविता में मिलेंगी, प्रिय पाठक” (पृ. २५-२६)। कविके रचना-संसारमें एक ऐसाही मामूली एवं आम रूपाकारोंका संसार मिलेगा, जिसे कवि अपने विचार संवेदनके संस्पर्शसे व्यापक अर्थ-संदर्भोंसे जोड़नेका प्रयत्न करता है। यहां कवि आजकी कविताकी प्रमुख जनवादी/संवेदनासे जुड़ जाता है। यह दूसरी बात है कि उसकी कथन भंगिमामें वह आक्रोश, बैचैनी, संघर्ष और आक्रामकताकी मुद्राएं नहीं हैं, जो हमें समकालीन कविताकी मुख्य धारामें प्राप्त होती हैं। सच बात तो यह है कि आजकी कविताके अनेक तेवर हैं, जो किसी-न-किसी रूपसे जनकी आकांक्षाओं और संवेदनाओंको उजागर करते हैं। “नींदमें मोहनजोदड़ों” की ये कविताएं निश्चित रूपसे उस आकांक्षाको अपने ढंगसे पूरा करती हैं। हेमंत शेषकी कविताओंमें उस आकांक्षाको व्यक्त करनेवाला “मुहावरा” एक तीव्र ठंडेपनके साथ संकेतित होता है, और यही कारण है कि कविके रचना संसारमें जो बिम्ब और रूपाकार प्रयुक्त होते हैं, वे सभी हुई तूलिकाकी आकृतियों एवं रेखाओंके समान सामने आते हैं, चाहे वह नदीकी स्मृतिका बिम्ब हो, या घर एक पर्वके रूपमें या रेतका असमाप्त दृश्य” हो, ये सभी दृश्य हेमंतकी पूरी सृजनात्मकताको गतिही नहीं देते अपितु उनके द्वारा वह व्यापक अर्थ-संदर्भोंकी भी संवेदित करते हैं। कुछ उदाहरण लें :

१. पर वह आखिर थी कहां  
नदी

जिसे मैं नदीकी स्मृतिकी तरह  
जानताथा बहुत वर्षोंसे । (पृ. २१) ।

२. हर सुबह खुल जाता है, घर एक छातेकी तरह निःशब्द/रसोईसे उठती हैं पकते हुए अन्न की पदचापें/वस्त्रोंमें छिपी रहती हैं वादें...

(पृ. ३६)

हेमंत शेषकी कविताओंकी संरचनामें तीन तत्त्वोंका एक सापेक्ष सम्बंध है। और ये सम्बंध कविकी सृजनात्मकताके अभिन्न घटक हैं। ये तत्त्व हैं—स्मृति दृश्य और काल। हेमंत शेषकी कविताओंमें स्मृति, काल के परिदृश्यको पकड़नेका एक माध्यम है क्योंकि ‘स्मृति, कालके अतीतको वर्तमानके प्रतीति बिंदुपर रूपांतरित करती है। दृश्योंका संयोजन प्रकृति और वनस्पति संसार के फलकको सघनीकृत करता है। यहां मैं स्वयं एक दृश्य है जो कवितामें घट रहा है और कविताको निरन्तर पारिभाषित कर रहा है।

“... पृथ्वीपर सूर्यकी तरह

मैं एक दृश्य हूं

क्या मैं घट रहा हूं

या उनमें गुणा हो रहा हूं

कवितामें निरन्तर

मैं खुदको

पारिभाषित कर रहा हूं

कि मैं क्या हूं, कहां-कहां हूं और कैसा हूं ?

(पृ. ११) ।

हेमंत शेषकी कविताओंमें काल-बोधका रूप पनो-वैज्ञानिक कालकी सापेक्षतामें घटित होता है क्योंकि कवि के अनुसार ‘हम काटते हैं आजन्म, अपनाही बोया हुआ वक्त’ (पृष्ठ ४३) और ‘नींदमें मोहनजोदड़ों’ कविता में अतीतकी स्मृतियोंकी सापेक्षतामें ‘मैं’ ही सभ्यताओं का स्थितप्रज्ञ गवाह क्यों नहीं होपाता ? इसका कारण है ‘मैं’ का गतिशील रूप,—जो इतिहासको संवेदनाके धरातलपर लेता है। “नींदमें मोहनजोदड़ों” हेमंत शेष की एक ऐसी कविता है जो “मैं” और इतिहासके गत्यात्मक संबंधको पकड़नेका सुंदर व्यंजनात्मक रूप है।

“किन्तु हर बार नींद खुलनेपर पूरी पृथ्वीपर / सिर्फ मैं ही क्यों होता हूं शोकग्रस्त और व्यथित ? / क्यों नहीं होपाता काल जैसा अगम्य, अनादि, अचल/नहीं बत पाता क्यों शानदार सभ्यताओंकी/ दारुण पराजयका स्थितप्रज्ञ गवाह ? (पृ. ४५)



# जन्म या मृत्यु

जब आपके परिवार में हो तो अपने  
स्थानीय रजिस्ट्रार के यहां रजिस्टर कराएं

— क्योंकि —

जन्म प्रमाण-पत्र

उम्र का सबूत है :

- \* स्कूल में प्रवेश के लिए
- \* रोजगार के लिए
- \* मताधिकार प्राप्त करने के लिए
- \* डाईविंग लाइसेंस प्राप्त करने के लिए
- \* पासपोर्ट प्राप्त करने के लिए
- \* बीमा पालिसी प्राप्त करने के लिए

मृत्यु प्रमाण-पत्र

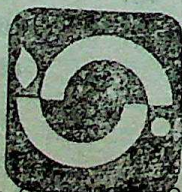
आवश्यक है :

- \* सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिये
- \* बीमा राशि वसूल करने के लिए
- \* सम्पत्ति के दावे निपटाने के लिए

समय पर रजिस्टर कराएं और  
प्रमाण-पत्र निःशुल्क प्राप्त करें

जन्म और मृत्यु रजिस्ट्रीकरण कानूनन जरूरी है ।

विलम्ब रजिस्ट्रीकरण की भी अनुमति है ।





उपर्युक्त विवेचनके बाद जो बात मैं समग्र रूपसे कहना चाहता हूँ वह यह है कि हेमंत शेषकी ये कविताएँ विचार और संवेदनके धरातलपर अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक और अर्थगर्भित हैं। इसका कारण कविका वह विचार मंथन है जो लगातार उसकी रचना-दृष्टिको व्यापक बना रहा है और मुझे आशा है कि उनका यह वैचारिक संवेदनात्मक मंथन हिन्दीकी समकालीन कविताके अनुभव एवं राग-तत्त्वको अधिक गहरानेमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगा। □

## नीराजना ?

कवि : कविराज रत्नाकर शास्त्री

समीक्षक : डॉ. रमाकान्त शर्मा

प्रस्तुत सतसईमें कुल ७६० दोहे संगृहीत हैं। नीराजनाको पढ़ना एक सुखद अनुभव है, क्योंकि परम्परागत सतसईसे यह कई अर्थोंमें अलग और विशिष्ट है। उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस सतसईमें श्रृंगार, भक्ति, नीति और वैराग्य चौहद्दीको पार करते हुए व्यापक जीवन संदर्भोंको कविताका विषय बनाया गया है। यह अनुमान विभिन्न खण्डोंके शीर्षकोंसे लगाया जा सकता है, वे हैं अन्तर्दर्शन, उपालम्भ, कवि, महा-कवि, शैशव, यौवन, बुढ़ापा, चन्द्रमा, अभियान, वसन्त, पक्षि, किसान, जन्मभूमि, रक्षाबन्धन, शरद, होली, विप्रलम्भ, संभोग, माता, नारी-नर, बेटी, जीवन आदि।

‘नीराजना’ का अर्थ होता है : देवताकी आरती उतारना या दीपदान या पूजाके फूल। कविराज रत्नाकर शास्त्रीने ७६० दोहोंके भावदीपोंसे सरस्वतीकी आरती उतारनेका कलात्मक अनुष्ठान ‘नीराजना’में पूरा किया है। दोहे जैसे छोटे छंदमें कसे हुए राशि-राशि भाव हमें मध्यकालीन कवियोंकी याद ताजा करते हैं। अध्यात्म और दर्शनकी जमीनपर मध्यकालीन बोधके साथ-साथ आधुनिक चेतनाका समावेश पाठकको आकर्षित किये बिना नहीं रहता। और यही विशेषता

१. प्रका. : आत्माराम एंड संस, कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : ११६; डिमा. ; मूल्य : ३०.०० रु.।

“नीराजना” को अन्य सतसईयोंसे सर्वथा भिन्न पहचान प्रदान कराती है। नीराजनाको पढ़ते हुए पाठकके मनमें दो नाम बराबर गूँजते रहते हैं—कविवर बिहारी और जगन्नाथदास रत्नाकर। रत्नाकर शास्त्री इन दोनों कवियोंसे बेहद प्रभावित हैं। जगन्नाथदास रत्नाकरकी भांति रत्नाकर शास्त्रीमें भक्तिकालीन, रीतिकालीन और आधुनिक संस्कारोंकी त्रिवेणी बहती है।

इस दृष्टिसे सहृदय पाठकोंके लिए नीराजना पठनीय और संग्रहणीय है।

संभव है कुछ आलोचकोंको ब्रजभाषा और खड़ी बोलीकी खिचड़ी रुचिकर न लगे, परन्तु मुझे नीराजना की काव्य-भाषाके सहज प्रवाहने प्रभावित किया है। सरल-सरस शब्दोंमें अपनी बातको अनूठे ढंगसे कहनेकी कला रत्नाकर शास्त्रीके पास है। मैं कविकी इस स्थापनासे सहमत हूँ कि—

भाषा, भाव, कवित्वका, सरल चाहिये योग।

पढ़ते ही रसलीन हों, पढ़नेवाले लोग ॥

(दोहा ७५६)

कहना यह नहीं है कि नीराजना सरलीकरणकी शिकार हुई है। उक्तिका चमत्कार वहाँभी खूब मिलेगा। लेकिन बिलकुल सहज और अनायास। कुछ दोहे उल्लेखनीय हैं :

आखिर दोनों योग हैं विप्रलम्भ सम्भोग।

बाहर मिलना योग है, भीतर मिलें वियोग ॥

(दोहा ४८५)

केवल ऐसी बात है, लोगन लई बढ़ाय।

उनकी भूली बांसुरी, मैंने लई लुकाय ॥

(दोहा ३२)

व्याकुल मानवने कहा, दुःख मेरो सुखधाम।

मैं ही कब सुखसे रहा, हंसकर बोले राम ॥

(दोहा : ३६)

हावभावकी दृष्टिसे भी कुछ दोहे बिहारीके समकक्ष रखे जा सकते हैं :—जहाँ भावपंचामृतकी अनुभूति होती है। बानगीके लिए केवल एक दोहा प्रस्तुत है—

हंसी, रिसी, रोई, उठी, बैठी आये जान।

भोर भये लौं मानिनी, मन्द मन्द मुसक्यान ॥

(दोहा ६२७)

इस दोहेकी सप्रसंग व्याख्या की जाये तो कई पृष्ठ चाहिये होंगे।

कविकी लोक चेतना वहाँ प्रकट होती है। जब वह



हरिको विधवा, हरिजन और दीनोंमें छिपा बताता है, किसानको वसुधाका सगा घोषित करता है, भगवान्को उपालम्भ देते हुए कहता है कि—माखनके संग हर लई सूखी रोटी दाल । रत्नाकर शास्त्रीने तथाकथित राज-नेताओंकी भी एक दोहेमें जमकर खबर ली है :—

पिये और पीने न दे, खाये देय न खान ।

जिये और जीने न दे, नेताकी पहचान ॥

एक बात है, नीराजनाके सारे दोहे उतने कसे हुए और जीवन्त नहीं है :— जिसके लिए भाई जोधसिंह वमनि यह लिखा है कि—“यह पुस्तक साहित्यिक विद्वानोंके हाथमें जायेगी तो निश्चयही साहित्यिक जगत्में हल-चल होगी।” कुछ दोहे, खासकर ‘प्रकीर्ण’ खण्डके बहुत चलताऊ है—एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

पुस्तक रखिये प्यारसे, पुस्तक देना पाप ।

पत्नी मानों दे रहे, पुस्तक देकर आप ॥

(दोहा : ७२८)

यदि नीराजनाके ढीले और अनगल दोहोंको हटाकर सतसईको ७६० दोहोंकी बजाय ७००, या उससे भी कम संख्यामें सीमित रख दिया जाता तो यह पुस्तक और अधिक चुस्त-दुरुस्त होपाती । □

## परित्यक्ता?

कवि : श्री निवास द्विवेदी

## हंस-कलाधर?

कवि : शम्भूनारायण सिंह

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

विदर्भ देशके राजा, भीमराजकी कन्या दमयन्ती और निषधदेशके राजा वीरसेनके पुत्र नलकी प्रेम कहानी भारतीय साहित्यकी एक बेजोड़ पुराकथा है । यह कथा मनुष्यकी सौन्दर्यवृत्तिका विकास और मार्जन तो करतीही है; यथार्थका नैतिक, मानसिक और मूल्य-

परक पहलूभी उजागर करती है । यह और इस जैसे सभी भारतीय ‘क्लैसिक्स’ हमारी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान हैं । वे साहित्यका सर्वश्रेष्ठ हिस्सा होने के साथ-साथ हमारी संस्कृतिका शिक्षण भी करती हैं ।

एकदम ‘नये’ के गढ़नकी सामर्थ्य और कालजयी कृतियों व साहित्यकी सनातनताके बीच सम्बन्ध बनाये रखना, आजके सृजन कर्मके लिए चुनौती बने हुए हैं । परित्यक्ता और हंसकलाधर जैसी कृतियोंको देखकर आश्चर्य होती है कि हमारे साहित्यमें काल-जयी कृतियोंके नये-नये रचना-संस्करण प्रस्तुत करनेकी परिपाटी बनी हुई है ।

‘परित्यक्ता’ और ‘हंस कलाधर’ दोनोंने ‘नल-दमयन्ती’ की विश्व-विश्रुत कथाको उपजीव्य बनाया है । दोनों कृतियां प्रबन्ध-काव्यकी कोटिकी हैं ।

परित्यक्तामें बारह सर्ग हैं । इसकी रचनाकी प्रेरणाका स्रोत मध्यकालीन कवि सबलसिंह चौहान द्वारा लिखित महाभारतमें आया नल-दमयन्तीका कथानक है । कृतिके ‘कथ्य’ का सारा ढाँचा भी वही है । कविताकारीमें ही निजता है, उबाती नहीं । कवि-शिक्षणके लिए, द्विवेदीके इस प्रयासको सराहा जायेगा । विशेष करके किशोर वयके पाठकोंके लिए सरल और शुद्ध भाषामें ऐसे आख्यानोंका पुनः पुनः सृजन होते रहनेकी आवश्यकता है । कथानक पूर्णताकी दृष्टिसे भी कृति ठीक है । उसमें गति और प्रवाह होनेसे पढ़ते जाने की उत्सुकता बनी रहती है ।

अच्छे मजबूत कागज, रैक्सोनकी जिल्द, उसके ऊपर चढ़ाये गये लाल, मोटे और मजबूत कवरके साथ चार सौ तिरासी पृष्ठोंका ‘हंस-कलाधर’ एक भव्य ग्रंथ है । उसमें संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीके भूतपूर्व कुलपति और उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमीके अध्यक्ष करुणापति त्रिपाठीका संस्तवन (संस्तुति ?) है ।

भूमिकामें कवि महोदयने पाठकोंसे ‘श्रद्धापूर्वक’ अध्ययनकी विनय की है । पुष्पमालासे सुशोभित, पद्म-सतपर विराजमान, कविश्रीके श्रीमुखके चारों ओर भगवानोंका सा प्रभामंडल बिखरा हुआ है । यह ग्रंथ पढ़नेके साथही देखने लायक भी है ।

ग्रंथमें नल-दमयन्तीकी कथा ‘विवाह’ प्रकरण तक ही है । ग्रंथके उत्तरार्द्धका हंस-प्रदीप, प्रथम कलासे पंचम कला पर्यान्तिका हिस्सा ‘परमार्थ’ से सम्बन्धित

१. प्रका : मोनाक्षी प्रकाशन, ‘दमोह सन्देश’ कार्यालय, दमोह (म. प्र.) । पृष्ठ : ६५; डिमा. ८७; मूल्य : १५.०० रु. । (पेपरबैक) ।

२. प्रका. : लेखक, ग्राम : भादवां (अमौली), पत्रालय : अम्बा, परगना-जालूपुर, जनपद : वाराणसी (उ. प्र.) । पृष्ठ : ४८३; डिमा. २०४४ (वि. सं.); मूल्य : ५१.०० रु. ।



मालूम पड़ता है। परमार्थका निर्वचन 'हंस' करता है।  
ध्वन्यात्मक दृष्टिसे एक नव्य काक-भुशुण्डकी-सी है।  
धर्मके सनातन स्वरूपका उसमें समाहार है।

दोनों कृतियोंमें प्रच्छन्न और अप्रत्यक्ष रूपसे  
मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद युगकी कविता-शैलीका  
प्रभाव है । □

## उपन्यास

विकल्पः

लेखक : रामदेव शुक्ल

समीक्षक : डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त

‘विकल्प’ के कथा क्षेत्रकी धरती पूर्वी अंचलके दो गांव हैं—राजापुर और डोमपुरवा । इन दो गांवोंकी वास्तविकता यह है कि यहां १९४७ में पहली आजादी भी नहीं आयी और सन् १९७७ की दूसरी आजादी भी यहांसे दूरही रही । यहांकी झोंपड़ियों और यहांके लोगों के चेहरोंपर सवालही सवाल लिखे हैं । ये सवाल हैं—बख्शा, बेरोजगारी, मंहगाई, शोषण, असुरक्षा, गरीबी, बेटका दुरुपयोग आदिकी यंत्रणाओंके । इन सब सवालों की यंत्रणा झेलनेवालोंको मूर्ख, चालाक, चंटा, भावुक, क्रूर, जाहिल, स्वार्थी एवं काइयां कुछभी विशेषण दिये जा सकते हैं । परिस्थितियोंकी मार झेलनेवाले ये लोग इन गांवोंमें बसते हैं—इनकी अपनी मजबूरियां, बेचैनियां और परेशानियां हैं जिनसे ये लोग पीड़ित हैं । शासन-तंत्रको इन लोगोंकी सुध केवल चुनावके अवसरपर आती है । पार्टियां बहला-फुसलाकर, इनकी भावनाओंसे खेलकर लोभ लालच देकर इनको हरबार उल्लू बनाती हैं और ये अभिषिक्त हैं बननेके लिए ।

इस उपन्यासका आरम्भ अकालू प्रधानके स्वतंत्रता  
दिवसपर ध्वजारोहणकी सूचनासे होता है और अंत  
ध्वजारोहणसे। अकालू प्रधान भीतरही भीतर बहुत  
प्रश्न है कि आज वह झंडा फहरायेगा। प्रसन्नताका

प्रका. : ग्रन्थ अकावमी, १६८६ पुराना दरियागंज,  
नयी दिल्ली-११०००३ । पृष्ठ : २६३; का. दम;  
मूल्य : ६५.०० रु. ।

कारणभी है। प्रधान तो वह वर्षोंसे था। लेकिन स्वतंत्रता दिवसपर हर वर्ष चौबेजी ही तो झण्डा फहराते थे। वह तो पीछे खड़ा हाथ मलताथा या चौबेजीकी हजुरी करताथा। जन सामान्यके लिए तो नहीं, अकालू के लिए तो निश्चितही दूसरी आजादी थी। चौबेजी गांवके धनाढ्य वर्गके प्रतीक थे। अकालू उनके हाथकी मुहर भर था। एक पाव ठर्रा पिलाकर कहींभी उससे हस्ताक्षर करा लेते। गांवका सारा बंजर चौबेका नाम इसी प्रकार हुआ। अकालूको याद भी नहीं रहता उसने कब, कहाँ अपना नाम लिखा और कब कहाँ मुहर लगायी। गांवपर बड़े चौबे और रुदलकी ज्यादातियोंके केन्द्रमें अकालू प्रधाननहीं तो था जिसके नामसे वे पैसा वसूलतेथे, मूसूरकी पत्नी हलीमा, मंगरू चमार और कितने ही लोग इनके शिकार बने। छोटी जातियोंके चरनू ईसू, कालू, भोलू आदिको तो चौबे मात्र खिलाता-पिलाताथा, अकालूको हिस्साभी देताथा। ऐसे भ्रष्ट अकालू प्रधानकी प्रसन्नता स्वभाविक है, चौबेसे पिण्ड छूटा और किशुनदेव भले आदमी हैंही। अतः उसकी चांदी हो गयी। झण्डा फहरानेसे कुछ घण्टे पहलेही तो वह खेदू चमारके लड़केसे प्रधानका पहचान पत्र देनेकी एवजमें दो सौ रुपये रिश्वत लेताहै। खेदू चमारका लड़का मजबूर है, इस सार्टीफिकेटके बिना उसे नौकरी कैसे मिलती? किमुनदेव भलेही अकालूको अपनी चेतना की परिणति या उपलब्धि कहें लेकिन वास्तविक अर्थों में यह दूसरी गुलामी है। कैसी अजीब राजनीतिक विडम्बना है कि गांवके माथे अकालू प्रधानही लिखाहै, अकालू गांवमें जेबना गोमेतद फूके या हरिजन सुख या

'प्रकर'—आश्विन'२०४७—३६



स्वयं किमुनदेव ।

‘विकल्प’ के राजापुर गांवमें सुरती चौबेका आगमन ही एक अनिष्टकारी घटना है । सुरतीका इतिहास कलंकित है । विवाहित पत्नीको छोड़ गांवकी सुन्दर विधवा ठकुराइनको लेकर भागना, गांववालों द्वारा गुस्से में घर फूंकना, पत्नीका वापस नैहर लौटना, वर्षों बाद विदेशमें खूब धन कमाकर अपने गांव न लौटकर समुद्राल लौटना, वहां घर बनाना, गृह प्रवेशके अवसरपर गांववालोंको दावत देना, जातिसे बाहर रहकर उपेक्षा और अपमान जीना सुरती चौबेके जीवनकी कुछ घटनाएं हैं । सुरती राजापुरमें ठाटसे रहने लगे, दिनरात शराब पीते और जब लड़के न पढ़ पाये तो उन्हें खूब खिला-पिलाकर पहलवान बना दिया और उन्हें मंत्र दे दिया कि गांवके ब्राह्मणोंसे, उन्हें हर तरहसे, तंगकर भरे अपमानका बदला लेना । बड़े चौबे और रुदल दोनोंने हर हथकण्डा अपनाकर अपना रौब गालिब कर लिया । उन्होंने एक गिरोह तैयार किया । हथगोलों और कारतूसोंका इन्तजाम किया । कांग्रेसी नेतासे मिलकर बन्दूकका लाइसेंस लिया । गांवकी छोटी जातियोंके चरनू ईसू, कालू, भोलू जैसे युवकोंको साथ मिलाया । रातदिन शराबवाजीके लोभ लालचमें गांवके निरीह लोगोंको अपना शिकार बनाया । इतनाही नहीं पैसेके बलपर ये लोग कांग्रेसकी राजनीति करते और कहीं द्वार सज्जाके चक्करसे तो कहीं बांध बांधनेके चक्करमें ठेके लेकर शासनतन्त्रका खूब लाभ लेते । नरैनी नदीके ऊपर बांधके सिलसिलेमें रुदल चौबे और भीष्मसिंहने कागजोंमें ही कटावपर लाखों रु. कमाये । इस कमाई में कौन-कौन लोग हिस्सेदार हैं इसका व्योरा इस प्रकार है, “भीष्मको तीन-चार लाख रुपयेका फायदा हुआ । डी. एम. साहब पी. सी. एस. से आई. ए. एस. बना दिये गये और लखनऊ बुला लिये गये । बड़े बाबूका नया मकान बन गया । ओवरसियर साहबने नयी प्राइवेट बस खरीद ली । इन्जीनियर साहबकी लड़कीकी शादी एक लाख रुपया दहेज देकर आई. ए. एस. लड़केके साथ होगयी । विधायकोंको भी योंही रकमें मिलीं । सब प्रसन्न थे ।” सरकारी योजनाओंकी भी गांवोंमें यही परिणति है । चाहे बाढ़ हो, चाहे अकाल में कुआं खुदवानेकी योजना हो, या बैंकसे कर्ज दिलवानेकी योजना हो, सबोंके ऊपर सुभग शुक्ल, गरजू शुक्ल, रुदल चौबे जैसे सफेदपोश सांप कुण्डली मार-

कर बैठे हैं । सरकारी फायदा गरीबोंको नहीं इन जैसे धूर्तों और कर्मियोंको ही मिलता है ।

इस उपन्यासका प्रमुख पात्र किमुनदेव यूनीवर्सिटी के अन्य प्रोफेसरोंकी भाँति न होकर गांवका सच्चा सपूत है जो अपनी पूरी बौद्धिक शक्तसे गांवको देखता है, समझता है, बिखरते गांवको जोड़कर लोगोंमें अपने आपको पहचाननेकी चेतना जगाता है । उसमें मानवीय अन्तर्द्वन्द्व हताशा, निराशा, टूटन सभी कुछ है, लेकिन गांवकी अशिक्षा, बेरोजगारी, शोषण भ्रष्टाचारके खिलाफ जिस प्रकार एकके बाद एक योजना बनाता है । कहीं सफल होता है कहीं असफल, लेकिन क्रियान्वयनमें उसकी लगन और निष्ठा देखते बनती है । विचारोंका धनी किमुनदेव ठीकही तो सोचता है कि इस देशके लिए यदि कुछ बड़ा काम करना है, तो उसकी शुरुआत गांवसे करनी होगी । गांवके लोगोंको उनकी शक्तसे परिचित कराना होगा । ग्राम विकासके लिए वह स्वावलम्बन विद्यालयकी योजना बनाता है, ग्रामोद्योगोंको विकसित करना चाहता है, लूट खसोटका संगठित प्रतिरोध करता है, चुनावोंमें वोटकी कीमत समझाना चाहता है । वह चाहता है कि मजदूरोंकी मजदूरी बढ़े तथा देशमें ‘एक व्यक्ति एक काम’ का सिद्धान्त लागू हो । पिताके मुंहसे शिकायती लहजेमें जब यह बात उसे पता चलती है कि सुखू नेता किमुनदेवको लेकर आलोचना कर रहा है कि उसके पास जमीन भी है और नौकरीभी तो वह गुस्सेके स्थानपर एक गहरे संतोषका अनुभव करता है ।

राजापुर और डोमपुरवा किमुनदेवके प्रयत्न और संघर्षसे बदलता है । गांवमें वामनों और धर्मका डर समाप्त हो जाता है । किमुनदेवमें सनक, अंतर्विरोध अनिर्णयभी है जिसके कारण वह अपनी योजनाओंमें सफल नहीं हो पाता । न तो यूनीवर्सिटीही छोड़ पाता है और न गांव । गांववाले पूरा-पूरा साथ नहीं देते । अकेला कुछ करना चाहता है तो चौबे और उसके गिरोहके लोग करने नहीं देते । कई बार तो समाजवादी योगेन्द्रकी बातही सही लगती है, “आप लोग डाक्टर साहब एक फैशनके रूपमें सरकारको कोस रहे हैं । दुःखी हो रहे हैं निराश हो रहे हैं ।” नहीं तो क्या बात थी कि किमुनदेव एक नहीं दो-दो चुनावोंमें वोटोंमें गड़बड़ीको देख दिल धामकर रह जाते हैं, या अपनी असहायतामें दो चार वाक्य कह लेते हैं । न भाईको डाटते हैं न



सरकारी व्यवस्थाको और न ही कुछ और करते हैं। क्या यह उदासीनता इसलिए है कि इसका लाभ उनकी अपनी पार्टीको हो रहा है। यह उनके राजनीतिक चिन्तनकी विसंगति है।

‘विकल्प’ उपन्यासके मंत्रीजीका चरित्र भी बड़ा रहस्यात्मक है। एस. डी. एम. पंकज उनके रहस्योंको, उनकी मिठासको, उनके सम्बन्धोंको जीवन-बोधको सदा संदेहसे देखता है। अफसरोंके कामकाजमें हस्तक्षेप न करनेवाले ये मंत्रीजी कितने कृपि विशेषज्ञ हैं, इनकी आयके क्या स्रोत हैं? इन सब अप्रत्यक्ष सवालोंने जवाब हमें उनके चुनावमें हारनेके बावजूद उनके रातों-रात विजयी होनेमें मिल जाते हैं। समाजवादी प्रत्याशी जीतकर भी हार जाता है। यह अफसरोंके साथ पारस्परिकताका लाभ है। नेताजी बड़े दूरदर्शी घाव हैं। इन्हीं मंत्रीजीकी कृपाके कारण चारों ओर भ्रष्टाचार है।

‘विकल्प’ उपन्यास संरचनाकी दृष्टिसे अपनी बुनावटमें उलझा हुआ एक कमजोर उपन्यास है। चार-पांच घण्टेके कालफलकको लेकर चलनेवाले उपन्यासमें जो कसावट और सुसम्बद्धता होती है वह इस उपन्यासमें नहीं। इस उपन्यासमें घटनाएं कम घटती हैं और सुनायी ज्यादा पड़ती हैं। भूमिकाके तौरपर चौबे परिवारकी दो पीढ़ियोंका वर्णन और पंकजकी जन्मकथा का इतिवृत्त, शादी प्रसंग तथा स्वतंत्रता दिवसके बार-बार आनेकी रटका तबू सारे उपन्यासमें कई बार तना है। कथावस्तुसे लेखकका आत्मीय संबंध तो है लेकिन किस्सागोईके ढंगसे जब वह कथावस्तु सूचित करता है तो उसमें प्रभावात्मकता नहीं आती, जो स्थितियोंकी संघिलष्टता, संकेतात्मकता और बिम्बात्मकतासे आती है। घटनाक्रममें सुसम्बद्धता भी नहीं है। पंकज, कमला और किशुनदेवके मिलन प्रसंगोंमें कई गड़बड़ियाँ हैं। पंकज और कमला परिणय सूत्रमें बादमें बंधते हैं और दिखायी पहले पड़ते हैं। इसी तरह पंकज और किशुनदेव की पहली भेंट सड़क प्रसंगमें होती है जबकि यहाँ पहले दिखा दी गयी है। जहाँतक पात्र निर्मितिका प्रश्न है वह घटनाओंके गर्भसे कम लेखकीय अभिप्रायसे ज्यादा होती है। गरजू शुक्ल, सुभग शुक्ल, ठग कुर्मी, घुरहू किसानके चरित्र घटनाओंके अभावमें अपनी गहरी पहचान नहीं बना पाते। अग्निपुत्र पंकजमें जो संभावनाएं पहले-पहले प्रतीत होती हैं। वे अन्ततक आते-आते वृक्ष जाती हैं, और वह सारे उपन्यासमें एकाध बारही

अपनी निर्णायक भूमिका निभा पाता है, जैसे सड़क निर्माणके प्रसंगमें। अन्य स्थलोंपर तो कहीं ऊपरी दबावोंकी विवशता, असहायतामें जीता एक सामान्य सा अफसर जो चाहकर भी वह नहीं कर पाता जिसके लिए वह किशुनदेवके साथ रात-दिन सिर धुनता है। समाजवादी योगेन्द्रकी उपस्थिति कम है लेकिन भूमिका प्रभावशाली। हरिजन युवक सुखू इस उपन्यासकी उपलब्धि है, जिसमें खतरोंसे खेलकर नेतृत्व करनेकी शक्ति है उसने भलेही माक्स और लेनिन नहीं पढ़ा लेकिन उसके भीतर हजारों सालसे कुचले हुए खूनकी आवाज है और यह उसी आवाजका चमत्कार है कि वह रुदल चौबेको अपने घरपर पीटकर नशा उतारता है तथा उसके मुँहमें अपने घड़ेका पानी डालकर उसका तथाकथित धर्म तोड़ता है और इसके बाद सारे गांवके मजदूरोंको संगठित कर मजबूरी बढ़ानेकी घोषणा करता है। यह उसीकी आवाजका फल है कि सभी मजदूर एक स्वरसे तय करते हैं कि हम पांच रुपये से कम किसीके खेतपर नहीं जायेंगे।

अंतमें कहा जा सकता है कि ‘विकल्प’ के लेखकने अपने समयकी चिन्ताओंको खूब जिया है और जीकर उसे अपनी संवेदनाओंका लक्ष्य बनाया है, जिसमें लेखकीय अभिप्रायकी संलग्नता निरन्तर सक्रिय ही नहीं रही अपितु हावी रही है। उपन्यासमें प्रेम-प्रसंग न होने पर भी पठनीयता है। □

## उम्र एक गलियारेकी?

लेखिका : शशिप्रभा शास्त्री

समीक्षक : तेजपाल चौधरी

‘उम्र एक गलियारेकी’ शशिप्रभा शास्त्रीका नवीन उपन्यास है, जिसे पढ़कर एकबार फिर यह प्रश्न उभरता है कि क्या हमारी महिला लेखिकाएं नारी संवेदनाओंके घेरेसे कभी बाहर नहीं आपायेंगी। विवेच्य उपन्यास भी नारीके संत्रास और घुटनकी एक और व्यथा कथा है। कथाफलक भी वही है—त्रिकोणपर आधारित जिसमें एक बिन्दुपर नारी खड़ी रहती है, संस्कारों और

१. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाऊस. २३, दरिया-गंज, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : २६४; डिमा. ८६; मूल्य : ७५.०० रु.।



मूल्योंसे संघर्ष करती हुई, पति और प्रेमीके बीच झूलती हुई और दोनोंमें से किसीके भी प्रति ईमानदार न बने रहनेका परिताप ढोती हुई ।

इस त्रिकोणीय कहानीमें पाठक पहलेसे ही अनुमान कर लेता है कि पति बेचारा हृदयहीन, शुष्क और संवेदनशून्य होगा और प्रेमी सहृदय, सरस और भावुक । फिर इस उपन्यासमें तो वह कविभी है । परन्तु इस रुढ़िबद्धताके बावजूद 'उम्र एक गलियारेकी' में ऐसा भी बहुत कुछ है, जो इसे नवीनता प्रदान करता है । परम्परागत त्रिकोणीय सम्बन्धोंमें प्रायः पतिका पलड़ा भारी रहता है और नायिका 'सुबहकी भूली शामको घर लौट आती है ।' परन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ, अपितु सनातन नारी संस्कार हार गये हैं और उन्मुक्त सम्बन्धोंको लेकर नयी मान्यताएं जीत गयी हैं । कमसे कम मानसिक स्तरपर तो ऐसा हुआ ही है ।

आवरण पृष्ठपर किये गये दावेके अनुसार, जो सही भी है, यह उपन्यास दाम्पत्य जीवनके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न उठाता है । उदाहरणतः—व्यक्ति 'उस सुख' का उपभोग करनेसे क्यों कतराता है ? उसकी प्राप्तिमें स्वयं बाधक क्यों बनता है ? 'वर्जित फल' का उपभोग क्या हर स्थितिमें वर्जित ही माना जाना चाहिये ? ... आदि । उपन्यास इन प्रश्नोंका जो उत्तर देता है, वह उसी नयी मानसिकतासे प्रेरित है, जो विवाहको एक समझौता मात्र मानती है और विशेष परिस्थितियोंमें विवाहेतर यौन सम्बन्धोंकी छूट देती है ।

विवेच्य उपन्यासमें भी वे विशेष परिस्थितियां विद्यमान हैं । उपन्यासकी सुनन्दा नवलमोहनमें वह कुछ भी नहीं पाती, जिसकी अपेक्षा पतिसे की जाती है । वह एक संवेदनशून्य व्यक्ति है, स्वार्थी और उपयोगितावादी, जो दाम्पत्य सम्बन्धोंको भी फर्ज, 'कर्त्तव्य' समझकर निभाता है । उसके पूरे व्यवहारमें असह्य अनुष्णता है, जिससे ऊबकर सुनन्दा मायके लौट आती है । देवेश उसका स्वप्न पुरुष है । वह उसकी ओर उन्मुख होती है, किन्तु भारतीय नारीके संस्कार उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं । लम्बे समयतक वह अपनी आकांक्षाओं और संस्कारोंके बीच भटकती रहती है और अन्तमें देवेशकी बाहोंमें पहुंचकर चैन पाती है । समर्पणके बाद सनातन संस्कार फिर हावी होने लगते हैं और एक अपराध बोध उसे डसने लगता है । तब देवेश उसे समझाता है—“क्या है यह पाप-पुण्य, पवित्रता-अपवित्रता ? जो

बात पुरुषके साथ लागू नहीं होती - नारी उसे अपने साथ चिपटाये फिरती है, क्यों ? यूँ कहो कि पुरुष उसे वह, उस प्रकारका विचार चिपटानेके लिए मजबूर करता है । पर क्यों स्वीकार करती है नारी ? उसे क्यों करना चाहिये ?” (पृ. २६३) ।

उन्मुक्त पुरुष नारी सम्बन्धोंको लेकर इधरके साहित्यमें बहुत लिखा गया है । उन सब मान्यताओं से सदैव सहमत नहीं हुआ जा सकता । परन्तु इतना अवश्य है कि हमारे यहां पुरुषों और स्त्रियोंके लिए पवित्रताके जो अलग-अलग मानदण्ड हैं, वे पुनर्विचार की अपेक्षा रखते हैं । शशिप्रभा शास्त्रीने इस प्रश्नको भी अजयके माध्यमसे उठाया है । अजय सुनन्दाका वह-नोई है । वह सुनन्दाकी स्थितियोंका फायदा उठाकर उसे अपनी लिप्साका शिकार बनाना चाहता है और एक रात उसके विस्तर तक पहुंच जाता है । सुनन्दा दृढ़तासे उसके प्रयत्नको असफल कर देती है, परन्तु इस घृणित दुःसाहसकी शिकायत अपनी दीदी तकसे नहीं कर सकती । वह नारीकी सीमाओंको जानती है ।

अवान्तर प्रसंगोंमें उपन्यासकारने और भी कई मूल्य विषयक प्रश्न उठाये हैं । ऐसा ही एक प्रश्न है अंतर्जातीय विवाहका । सुनन्दाकी बहन देवकी सारे विरोधों और दवावोंकी परवाह न कर डाक्टर सुधीर पाटनसे विवाह कर लेती है । पिता उसे 'हमारे लिए मर गयी' घोषित कर देते हैं । परन्तु सुधीर पाटनका व्यवहार और चरित्र अन्तमें उन्हें यह माननेके लिए विवश कर देता है कि उसके तीनों दामादोंमें वही हर दृष्टिसे श्रेष्ठ है । यों भी सुधीरका चरित्र मानवतावादी आदर्शोंका प्रतिरूप है और कटु यथार्थके इस युगमें एक सुखद अनुभूति प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त बेटे और बेटीकी समानता जैसी मान्यताओंको भी विवेच्य उपन्यासमें समर्थन मिला है ।

उपन्यासमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं । मध्यवर्गीय दिनचर्या, विशेष रूपसे खाना और चाय बनानेके प्रसंगोंका उपन्यासमें 'अति' की सीमा तक वर्णन हुआ है । ऐसी ही खटकनेवाली बात मोन्टूकी उपेक्षा है । सुनन्दा का यह बेटा ननिहालमें जन्म लेता है । पिता उसे देखने तक नहीं आता । सुनन्दाभी उसे नानाके पास छोड़कर मसूरी और मुजफ्फरनगरमें रहती है । यह सब तो क्षम्य है, परन्तु पति-पत्नीमें समझौता हो जानेपर भी वे बच्चेकी सुध नहीं लेते । इसका क्या औचित्य है ?



शैली रोचक है। पिकनिकके समय "जाजमपर लेटी-लेटी ही सुनन्दाकी उंगलियोंने पास उगी ढेर सारी घासको यों ही तोंच डालाथा, अपने मनके कबाड़की तरह" (पृ. ६४) जैसी अभिव्यक्तियां संप्रेषणको तीव्र

बनातीहैं। किन्तु 'कुत्तेकी जब मौत आतीहै, तो वह शहरकी ओर भागताहै। (पृ. ११८) जैसे गलत प्रयोगोंकी एक स्थापित उपन्यासकारसे आशा नहीं की जासकती। □

## कहानी

### प्रतिथि देवो भव?

लेखक : अब्दुल बिस्मिल्लाह

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

हिन्दी कथा साहित्यकी सुदीर्घ परंपराके निर्माणमें जिन विचारधाराओंका महत्त्वपूर्ण योगदान रहाहै, उनमें प्रगतिशीलताकी प्रतिबद्ध मानवीय दृष्टि विशिष्ट कही जा सकतीहै। परम्परावादी और प्रयोगवादी—दोनोंही दृष्टियोंसे भिन्न साहित्यकी प्रगतिवादी दृष्टिने यद्यपि एक विशिष्ट विचारधाराको आत्मसात् अवश्य किया, तथापि इस माध्यमने हिन्दी कथा-साहित्यको निश्चित ही सम्पन्नता प्रदान कीहै।

प्रेमचंद्र-युगसे आजतक अपने नैरंतर्यको जीवंतताके साथ बनाये रखना तथा इस अवधिमें स्वयंकी सीमाओं को विस्तारित करते रहना इस विचारधाराकी महत्त्वपूर्ण विशेषता या कि उपलब्धि कही जा सकतीहै। श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहका लेखन साहित्यकी इसी विचारधारासे संबद्ध लेखन है। अपनी विभिन्न कथा-कृतियों के माध्यमसे श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहने आजके ज्वलंत सामाजिक प्रश्नोंको सहजता और समर्थताके साथ उकेरा है, इसीलिए नयी पीढ़ीके बहुचर्चित कथाकारके रूपमें जाने जातेहैं।

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १ बी नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : १४७; का. ६०; मूल्य : ५०.०० रु.।

'अतिथि देवो भव' श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहका नवीनतम कहानी संग्रह है, जो मानवीयताकी प्रगतिशील यथार्थ दृष्टिको अभिव्यक्ति प्रदान करता हुआ हिन्दी कहानीको पुष्ट आकार देनेकी दिशामें कृत संकल्प हैं। प्रस्तुत संग्रहमें श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहकी चौदह कहानियां संकलित हैं, जिनके माध्यमसे एक ओर शोषणके दुश्चक्रका साक्षात्कार कराया गयाहै तो दूसरी ओर परंपरागत तथा प्रदर्शन-प्रिय दृष्टिपर व्यंग्यात्मक प्रहार किये गयेहैं, तीसरी ओर साम्प्रदायिक संकीर्णताकी प्रवृत्तिको बेतकाब किया गयाहै, तो चौथी ओर संघर्ष के उद्गारोंको अभिव्यंजित करते हुए सशक्त विद्रोह को अभिव्यक्ति प्रदानकी गयीहै। इस प्रकार अपनी चतुर्मुखी दृष्टिसे श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहने क्रान्तिके प्रतीकोंको समर्थ आकार देनेका सफल प्रयास कियाहै। इन सभी कहानियोंका विषय सामाजिकतासे सम्बद्ध है तथा आजके ज्वलंत प्रश्नोंके समाधानकी दिशामें अपना महत्पूर्ण योगदान देताहै।

प्रस्तुत संग्रहकी कहानियोंके अन्तर्गत 'सिद्दीकी साहब', 'अतिथि देवो भव' तथा 'नरलीला' शीर्षक कहानियां परंपरागत दृष्टि और मनुष्यके बदलते स्वरूपपर प्रबल प्रहार करतीहैं। 'सिद्दीकी साहब' एक चरित्र प्रधान कहानीही नहीं, आजके जमानेमें प्राचीन मूल्योंके मरे बच्चे की बंदरियोंकी तरह चिपकाये रखने वाले व्यक्तित्वके खोखलेपनको भी प्रदर्शित करतीहै। सिद्दीकी साहबके द्वारा सुनाये गये अपने जमानेके किस्से



प्राचीन मूल्योंके प्रति उनको अटूट आस्थाही प्रदर्शित करते हैं, जो वर्तमानमें किसी कामके नहीं। उन्हीं मूल्यों को वर्तमानमें जीनेकी उनकी कोशिश अंततः असफल सिद्ध होती है और वे 'हम अपनी नस्लको खराब नहीं करना चाहते' वाली जिदको अपनेसे चिपकाये नितान्त एकाकी रह जाते हैं। इस प्रकार इस कहानीमें लेखकने परंपरावादियोंके आभिजात्य गर्वपर व्यंग्यात्मक प्रहार किये हैं। बेहद पुराना मकान, ईंटें पुरानी तथा हर चीज पर जमी गर्द पुरानेपनके प्रतीक बनकर अभिव्यंजित हुए हैं। इनकी समर्थ अभिव्यक्तिसे लेखकने अपने अभिव्यक्ति-कौशलका परिचय दिया है। 'नरलीला' शीर्षक कहानी भी व्यंग्यके इसी तेवरसे युक्त है। इसमें नारी के प्रति पुरुषके संकीर्ण सोचको अभिव्यक्त किया गया है, जिसके अन्तर्गत उसे मानवी न मान, मात्र 'वस्तु' की संज्ञा दी गयी है, जिसकी खरीद-फरोख्त संभव है। इस प्रकार सर्वहाराका शोषण प्रभावी तरीकेसे अभिव्यक्त किया गया है। 'अतिथि देवो भव' भी आधुनिक युगमें परम्परावादी परिवेशपर व्यंग्यात्मक प्रहार करती है। सलमान साहब अपने शिष्य मिश्रीलालसे मिलने शहर आते हैं। मिश्रीलालके परिचित होनेके कारण उसकी अनुपस्थितिमें सलमान साहबका स्वागत पड़ौसी करते हैं। पर जब उन पड़ौसियोंको पता चलता है कि आया हुआ व्यक्ति मुसलमान है, तो उनका रवैया एका-एक बदल जाता है। स्टीलके गिलासकी जगह कांचका गिलास पेश करना परम्परावादी संकीर्ण मनोवृत्तिका ही परिणाम है। इस प्रकार इस कहानीमें सामाजिक संकीर्णतापर करारा व्यंग्य प्रहार किया गया है। भाषामें जगह-जगह व्यंग्यका तेवर कथ्यको बेहद रोचक, सहज और व्यापक बना देता है। इन तीनों कहानियोंमें निहित व्यंग्यके पीछे कण्ठाकी गहरी कसक विद्यमान है, जो मन-प्राणको झकझोरनेमें सक्षम है।

सांप्रदायिक संकीर्णताकी मनोवृत्तिको द्योतित करने वाली कहानियोंमें 'आधा फूल, आधा शव' शीर्षक कहानी महत्वपूर्ण है। जिसमें लेखकने प्रकट किया है कि सांप्रदायिक समस्याओंके मूलमें व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक सक्रिय होते हैं। ये व्यक्तिगत स्वार्थ ही अपने वास्तविक चेहरे छिपाकर हर बातको सामाजिक-रंग देनेका दुश्चक्र रचते हैं, तब मनुष्य मात्रका जीवन संकटग्रस्त हो जाता है। हाफिजजी और राय साहब वस्तुतः एक-दूसरेके प्रति-योगी हैं। एक दूसरेको परास्त करनेके क्रममें कब्रिस्तान

की जमीनपर हिन्दुओंका अतिक्रमण एक बहाना बन जाता है और दोनों अपने अपने धर्मके लोगोंको उकसा कर आतंककी स्थिति पैदाकर देते हैं। किन्तु इस कहानी में लेखकने समस्याके नग्न यथार्थको ही प्रस्तुत नहीं किया है, उसका हल भी प्रस्तुत किया है तथा बताया है कि ऐसी तनावग्रस्त समस्याओंका हल संकीर्णता और स्वार्थसे परे मनुष्यका सहज चरित्रही प्रस्तुत कर सकता है। कस्बा पड़ौनाकी स्कूलके प्रधानाचार्य कवि व्यक्तित्व बाबू साहब ऐसे उदार चरित्रके ही प्रतीक हैं, जिन्हें समस्याके हलके लिये दोनोंही वर्ग अपना प्रधान मान लेते हैं और हाफिजजी तथा राय साहब जैसे चरित्र एक ओर खड़े इस निर्णयको देखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमानमें सांप्रदायिक तनावको जन्म देनेवाली विवादास्पद-भूमि-समस्या इस कहानीकी रचनामें मूल प्रेरणा बनी है।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्षको अभिव्यंजित करनेवाली अन्य कहानियोंमें 'ग्राम सुधार' और 'दूसरा सद्मा' शीर्षक कहानियाँ परिगणित हो सकती हैं। 'दूसरा सद्मा' के गुलाम चचा एक सरल निष्कपट व्यक्ति हैं। रहमत चाय वालेकी दूकानमें खड़े लड़के इन्हें नित्य चिढ़ाते रहते हैं और गुलामू चचा उन्हें फटकार बताते हुए आगे बढ़ जाते हैं। किन्तु जगह-जगह सांप्रदायिक दंगोंके भड़कनेके बाद जब गुलामू चचाको चिढ़ाकर मजे लेनेवाली मनोवृत्ति सामने आती है तो गांवमें संप्रदायके आधार पर दो दल बन जाते हैं। परिणामतः गुलामू चचाको चिढ़ाना बंद हो जाता है। एक कब्रिस्तानी सन्नाटा गांव भरमें पसर जाता है, जो चचाको भाता नहीं। इस सन्नाटेमें जीनेसे अच्छा तो यही था कि लोग उनका मजाक उड़ाकर थोड़ी देर हंस लिया करें। इस प्रकार सांप्रदायिक दंगोंपर लिखी इस सशक्त रचनाके माध्यम से जातिभेदकी उस संकीर्ण मनोवृत्तिपर लेखकने प्रहार किया है, जो परस्पर आत्मीयताकी सहज लहरको, जीवनके आनन्दको, मनुष्य और मनुष्यके स्वाभाविक रिश्तेको तहस नहसकर देती है। इसी प्रकार 'ग्राम-सुधार' शीर्षक कहानीमें भी लेखकने सांप्रदायिक संकीर्णताकी प्रवृत्तिको मूल प्रतिपाद्य बनाकर अपनी प्रति-क्रिया व्यक्त की है। इसलिया—विकाससे अछूता, तथा-कथित सभ्यतासे दूर, परस्पर मेलजोलको महत्व देनेवाला एक छोटा-सा गांव। शहरसे आये हुए लोग इसी धर्मके नामपर दो भागोंमें बांटनेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब



गयासू कहता है कि 'लो पढ़ो तुम लोग नमाज, हम तो हल पे जा रहे हैं'—तब लगता है कि निहित व्यंग्यके माध्यमसे लेखक यह बताना चाहता है कि सरल निष्कपट हृदयवाले गांवके लोगोंमें संकीर्णताकी प्रवृत्तियाँ अधिक समयतक टिक नहीं सकती और यही स्थिति सांप्रदायिकताकी राक्षसी समस्याको नष्ट करनेका एकमात्र साधन है।

धार्मिक संकीर्णता और परम्परावादी दृष्टिकोणके साथही प्रगतिवादी विचारधारा प्रदर्शनकी प्रवृत्तिपर भी प्रबल प्रहार करती है। 'अभिनेता' शीर्षक कहानीमें रहमानका चरित्र इसी प्रकारका है जो बड़ी-बड़ी बातों से लोगोंको बेवकूफ बनाता रहता है। मात्र अपनी तारीफही चाहनेवाले रहमानकी दृष्टिमें पैसे कमाकर ऐश करनाही जिदगी है। ऐसे प्रदर्शनप्रिय ढोंगी व्यक्तित्वकी अंतमें जब पील खुलती है, तब सारा बड़प्पन धराका धरा रहा जाता है। व्यंग्यके प्रहार प्रस्तुत कहानीमें आद्यन्त हैं। व्यंग्यकी यही दृष्टि 'पूँजी, माल और मुनाफा' शीर्षकमें भी अवस्थित है। बिना पूँजी के मुफ्तखोर बाबूजी अवसरका फायदा उठाकर जिस प्रकार सरल हृदय लोगोंसे पैसे झटकते हैं—कभी धौस-बाजीसे, तो कभी दूसरोंकी भावनाएं उभारकर, तो कभी सहयोगके झूठे आश्वासन देकर—तो ये तरीके शोषणके रास्तेकी सच्चाइयोंको बेनकाब करते हैं। यद्यपि बाबूजीकी इस प्रवृत्तिसे उनकी पत्नी दुःखी है, तथापि उन्हें किसीके दुःख-दर्दकी कोई चिंता नहीं, बल्कि वे पत्नीसे कहते हैं—'खुदा जो देता है, उसे कबूल करो और मस्त रहो।' इस प्रकार यह कहानी पूँजीवादी बुजुर्ग मनोवृत्ति और उनकी शोषण-पद्धतियोंको अत्यन्त रोचक रीतिसे अभिव्यक्त करती है।

शोषणके इस दुश्चक्रको बेनकाब करनेवाली दूसरी प्रमुख कहानी—'खाल खींचनेवाले' है। गरीब भुनेसर मरे जानवरोंकी खाल उतारकर और उसे बेचकर किसी तरह अपना जीवन-यापन करता था, किन्तु जब उसका सामना बड़े मियाँ जैसे संपन्न ठेकेदारसे होता है, तब यह स्पष्ट रूपसे अनुभव होता है कि बड़े मियाँ किसीकी भी खाल खींचनेमें भुनेसरसे अधिक कुशल हैं। ऊपरसे गरीबोंके प्रति हमदर्दी, उनकी गरीबी दूर हटानेके उपायोंपर चर्चा करना और वास्तविक जीवनमें गरीबोंके गाँव पसीनेकी कमाईको संस्तेमें झटक लेनाही शोषण-

रत इन ठेकेदारोंकी असली प्रवृत्ति है। भुनेसरका यह कथन—'हम तो मुर्दा जानवरोंकी खाल उतारते हैं, लेकिन इस दुनियाँमें कुछ ऐसेभी लोग हैं जो जिंदा आदमियोंकी खाल खींचते हैं और उन्हें दर्द तो दूर, धिनभी नहीं होती'—कहानीके मूल प्रतिपाद्यको सामने उपस्थित कर देता है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ऐसे कथन कहानीकी सहजताके क्रमको तोड़ते हैं तथा अनायासही लेखककी रचना प्रक्रियापर प्रेमचंद के प्रत्यक्ष प्रभावका दावाभी प्रस्तुत कर देते हैं। क्योंकि घटनाओंकी सहज धाराके बीच ऐसी पैवंद-सी उक्तियाँ प्रेमचंदही अपनी कहानियोंमें प्रस्तुत करते थे।

प्रस्तुत संग्रहके अंतर्गत 'यह कोई अंत नहीं' शीर्षक यथार्थका यथातथ्य साक्षात्कार करानेवाली एक महत्त्वपूर्ण कहानी कही जा सकती है। करुणाकी अंतःसलिलासे युक्त इस कहानीमें क्रांति-संघर्षकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सहज और यथार्थ दृष्टिसे की गयी है। कटराके मास्टर गुलाम सरवर मजदूरोंको बेहतर जिदगी जीनेका अवसर देने और उनपर होनेवाले जुल्मका विरोध करनेके लिए जब क्रांति-संघर्षका नेतृत्व करने लगते हैं तब छोटे-बड़े सभी प्रकारके शोषक वर्गके प्रतीक उनको परास्त करनेके लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। एक छोटेसे गांवसे शुरू हुई क्रांतिकी लहर शहरको भी आकर्षित कर लेती है और दोनों एकजुट होकर संघर्षके रास्तेपर चलने लगते हैं। यद्यपि अंतमें हाजी गफूर साहब मजदूरोंकी मांगें विवश होकर स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु एक षडयंत्रके द्वारा मास्टर गुलाम सरवरकी हत्या कर देनेवाली घटना इस सारी विजयको करुण त्रासदीमें बदल देती है और सिद्ध करती है कि शोषणरत लोगोंके पंजे बहुत सख्त हैं तथा अमानुषिक कठोर इरादे बहुत छद्म। इन्हें अहिंसक तरीकेसे तोड़ना संभव नहीं है। यह एक कड़वा सच ही है कि शोषणके विरुद्ध जन-जन में चेतना भरनेवाले व्यक्ति को अधिकतर यहाँ कीमत चुकानी पड़ती है। उसका उत्सर्ग उसे औरभी महान् व्यक्तित्व सिद्ध कर देता है।

क्रांति-संघर्षका सीधे सीधे साक्षात्कार करानेवाली कहानियोंमें 'टिल्लूका टेलीफोन' शीर्षक कहानीकी गणना भी कर सकते हैं। शहरोंमें फसाद होनेपर पासही झुग्गी-झोपड़ीमें रहनेवाले अपने बच्चोंको शहर लूटने भेजते हैं, तो ऐसा लगता है जैसे सर्वहारा वर्ग अभीसे अपने बच्चोंमें शोषक वर्गके विरुद्ध सशक्त संघर्ष करने का प्रशिक्षण दे रहे हों। टेलीफोन दूसरों तक बात पहुँचानेका माध्यम है, किन्तु टिल्लू जब लूटकर लाये टेली-



फोनके जरिये दूसरोंसे संबंध जोड़नेका प्रयत्न करता है, तब उसके हाथ निराशाही लगती है। वस्तुतः दूसरे सिरे पर गरीबोंके सुख-दुःखकी बात सुननेवाला कोई नहीं है, ऐसेमें उन्हें स्वयंही अपने साथ हुए अन्यायके प्रतिकारका प्रयत्न करना पड़ता है।

क्रांति-संघर्षका निश्चित परिणाम देनेवाली कहानियोंमें अति महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं—‘अलिया धोबी और पावभर गोश्त’, ‘पुण्य-भोज’ तथा ‘सुलह’। इनमें स्वाभिमानकी आंचमें तपाकर संघर्षको रूपाकार प्रदान किया गया है तथा होनेवाले अन्याय और अपमानका सीधे-सीधे प्रतिकार किया गया है।

‘अलिया धोबी और पावभर गोश्त’ शीर्षक कहानी में लईक आलम खाँ साहबके बड़े बेटेकी मंगनीके अवसरपर नसीम नामक युवकने कहा था कि इस्लाम सबको बराबर मानता है, पर हम उसकी शिक्षाके अनुसार नहीं चलते। इसीलिए सामाजिक जिन्दगीमें पनपी ऊँच नीच की भावना एक प्रकारसे बहुत बड़ा जुलूम है। इस बात का असर अलीअहमद उर्फ अलियाके मनपर बड़ा गहरा पड़ता है। इसका मन इस बातसे बेचैन हो जाता है कि उच्च वर्गमें परिगणित होनेवाले शेख-पठान, धोबियोंको निम्न समझते हैं। उनके यहां आते-जाते नहीं, न दावत कबूल करते हैं। दावतके बदले पावभर गोश्त और पाव-पाव दाल चावल लेकर रस्म अदा करते हैं। अलियाको यह स्थिति विरोधभरी प्रतीत होती है कि धोबी तो उन बड़े लोगोंके यहां खाना खाने जायें, पर वे बड़े लोग इसके लिए उनके घर आनेकी अपेक्षा कच्चा सामान अपने घर मंगवा लें। इस्लामके सिद्धांतके अनुसार भी यह न्याय नहीं है। अतः बराबरीका हक पानेके लिए वह अपने लोगोंको इकट्ठा करता है और कहता है कि हम भी मनुष्य हैं और इसलिए सिर्फ अपनी इज्जत चाहते हैं। इसे पानेके लिए सबमें ‘एका’ आवश्यक है। लोगोंमें चेतना जगानेके साथ-साथ अलिया उच्च वर्गके लोगों का काम करना बंद कर देता है और मजदूरोंका धंधा अपनाकर कहता है कि इससे ‘किसीके दबैल तो नहीं रहेंगे’। धीरे-धीरे क्रांतिकी लहर आकार पाने लगती है। अलिया अपनी जातिका प्रधान बना दिया जाता है। लईक सा. के लड़केके विवाहके अवसरपर जब नाई भोजनका निमंत्रण देने आता है तो अलिया स्पष्ट शब्दोंमें बता देता है कि कोई भी उनके यहां भोजन करने नहीं जायेगा। इसकी एवजमें खाँ साहब सब धोबियोंके घर

पाव पाव भर गोश्त, आटा और चावल भिजवा दें। यहाँ आकर अन्ततः विद्रोह विस्फोट बनकर उभर आता है। निम्न वर्गमें विद्रोहके लिए जागी यह चेतना ही वास्तविक जनवादी चेतना है जो मानवताको प्रगतिके सही आयामोंसे संबद्ध करती है।

‘पुण्य-भोज’ शीर्षक कहानीमें भी अन्याय और अपमानके विरोधमें विद्रोहको यही आकार मिला है। खुदाबकसको लोग तभी याद करते थे, जब गरीबोंको खिलाकर पुण्य कमानेका उद्देश्य हो। चूँकि वह गरीब है, अतः उसकी इस स्थितिका लाभ उठाकर उच्च वर्ग के तथाकथित लोग उसे अपमानित करनेमें भी चूकते नहीं। ऐसेही एक मौकेपर जब खुदाबकसकी खुराकका मजाक उड़ाया जाता है तब वह प्रतिकार स्वरूप कह देता है—‘मुझे आप समझते क्या हैं? मैं क्या हैवान हूँ?’ लोग नाराज खुदाबकसको किसी तरह मना लेते हैं। ऐसे अवसर पर खुदाबकस विचार करता है—‘जो कम खाते हैं, वे नहीं जानते कि भूख क्या है। भूख उनके लिए एक सांस्कृतिक चिह्न है, जिसके खिलाफ वे बयान दे सकते हैं; बैठे-बैठे, लेटे-लेटे या खड़े-खड़े लड़ाई लड़ सकते हैं, लेकिन खुदाबकसके लिए भूख एक धरोहर है जिसे वे ढो रहे हैं।’ खुदाबकस सोचता है कि ये बड़े लोग जिंदगीभर चोरी-बेईमानी करते रहते हैं और सालमें एक बार गरीबोंको खूब खिलाकर अपने गुनाह माफ करवा लेते हैं। क्या बढ़िया कानून है? ये लोग धर्मको नशेकी हदतक सम्मान देते हैं तथा धरती पर आराम फरमानेके बाद अवकाशमें भी आरामकी इच्छा रखते हैं। इन विचारोंके उपरांत भी वह लोगों की बात मानकर पुनः भोजन करना शुरू कर देता है। पर जब उसे पुनः अपमानित किया जाता है तब उसके मनमें विद्रोह एक निश्चित आकार लेने लगता है—‘हम खायें और सवाब इन्हें मिलें!... इनकी हरामकी दौलत हमारे खानेसे हलालकी होती है। हमें खाना खिलाकर ये अपने गुनाहोंपर पर्दा डालना चाहते हैं।... यह भी खूब रही—हम खायें भी, खाकर इनको सवाब भी दिलाएँ, इनके गुनाहोंपर परदा भी डालें और अपना मजाक भी उड़वायें, गालियाँ भी खायें।’ तो फिर ऐसी स्थितिमें—‘हम क्यों किसीको सवाब दिलायें?’ का निर्णय लेकर खुदाबकस बाहर जाकर कै कर देता है या तो सवाब दिलानेवाले खानेको अस्वीकार कर उन्हें सवाब से वंचित कर अपना विद्रोही रूप प्रकट कर देता है।



यह अमीरोंके विरुद्ध जागी गरीबोंकी चेतनाका प्रकट रूप था।

विद्रोहकी ऐसीही सुस्पष्ट स्थिति 'सुलह' शीर्षक कहानीमें भी अभिव्यंजित हुई है। इसमें पंडित रामदीन शुक्ल अभिजात्य प्रवृत्तिवाले, संपन्नताका प्रदर्शन करने वाले तथा गुनाहोंको जायज माननेवाले थक्कड़ स्वभाव के पूंजीवादी वर्गके प्रतीक हैं जबकि हलवाहेका पुत्र महादेव विपिन्त वर्गका प्रतीक पात्र है। शुक्लजी द्वारा पीटे जानेपर वह थानेकी शरण लेता है, पर वहां उसे लगता है कि पंडित रामदीन और दरोगाकी नस्लमें कोई अंतर नहीं है। ये दोनोंही एक दूसरेके पूरक हैं। वह सोचता है कि अगर अन्यायके प्रतिकारमें निष्क्रिय रहा, तो आज वह पिटा, कल दूसरा पिटेगा। इसीलिए सही न्याय न पानेकी स्थितिमें पंडित रामदीनके थानेसे लौटते वक्त वह स्वयं ही उन्हें जमकर पीट देता है तथा अपने साथ हुए अन्याय और अपमानका बदला लेता है। महादेवका यह क्रांतिकारी कदम वर्तमानकी पूंजीवादी व्यवस्थाके अत्याचारोंको कुचलनेका एक सही कदमही कहा जायेगा।

इस प्रकार 'अतिथि देवो भव' की कहानियोंके माध्यमसे श्री अब्दुल बिस्मिल्लाहने एक ओर पूंजीवादी व्यवस्थाकी अभिजात्य प्रकृतिका खुलकर परिचय दिया है, तो दूसरी ओर ऐसी व्यवस्थाको नष्ट करनेके लिए क्रांतिकी जनवादी शैलीका पुरजोर समर्थन भी किया है। सर्वत्र ही लेखककी दृष्टि मानवतावादी प्रगतिशील मूल्यों से संबद्ध रही है। लगभग सभी कहानियोंमें घटनाओंकी नाटकीय संरचनासे वे बेहद रोचक बन गयी हैं, कोरी नारेबाजी बनकर उबाऊ नहीं रहीं। पात्र और परिवेश प्रतीकात्मक है, कथाओंका प्रवाह सहज है, उत्सुकता बाधित विद्यमान है तथा सबसे समर्थ पक्ष हैं—व्यंजना-पूरा भाषाका व्यंग्यात्मक तेवर, जिसने इन कहानियोंको बेहद शक्तिशाली आधार प्रदान किया है। अनुकूल वातावरणके प्रभावी चित्रणमें भी भाषागत व्यंजना एक दृढ़ आधार सिद्ध हुई है तथा विपरीत परिस्थितियों एवं असाध्य प्रवृत्तियोंपर व्यंग्यात्मक प्रहार करती हुई लेखक के सन्नतात्मक कौशलको उद्घाटित करती है। वस्तुतः ऐसे महत्वपूर्ण संकलनका स्वागत करना प्रसन्नता और गौरवकी बात है। □

## 'प्रकर'के पूर्व प्रकाशित विशेषांक

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८२	प्रकाशन : नवम्बर '८३	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८३	प्रकाशन : नवम्बर '८४	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८४	प्रकाशन : अगस्त '८५	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८५	प्रकाशन : नवम्बर '८६	२५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६	प्रकाशन : नवम्बर '८७	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८७	प्रकाशन : नवम्बर '८८	३०.००
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८८	प्रकाशन : नवम्बर '८९	३५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८९	प्रकाशन : नवम्बर '९०	सम्पादनमें

## अन्य विशेषांक

भारतीय साहित्य २५ वर्ष ३०.००

(सभी भारतीय भाषाओंके स्वाधीनोत्तर कालके २५ वर्षोंका सिंहावलोकन तथा हिन्दीकी विभिन्न विधाओंपर आलेख । प्रकाशन : १९७३

अहिन्दीभाषियोंका हिन्दी साहित्य

प्रकाशन : १९७१ ३०.०० रु.

१. विशेषांकोंका पूरा सेट एक साथ मंगाने पर मूल्य : २००.०० रु.।

२. कोई एक अंक मंगानेपर डाक-व्यय पृथक्।

३. तीन अंक या अधिक मंगानेपर डाकव्यय की छूट।

'प्रकर' ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.



## नए प्रकाशन

### □ पीढ़ियाँ : अमृतलाल नागर

‘पीढ़ियाँ’ अमृतलाल नागर का अन्तिम उपन्यास है जो उन्होंने अपने निधन से कुछ दिन पहले ही समाप्त किया था। यह उपन्यास एक बड़े कैनवास पर अनेकानेक पात्रों और वास्तविक घटनाओं पर आधारित है। इसमें एक पूरी सदी के समाज का सजीव चित्रण है और भारत की स्वतंत्रता के उतार-चढ़ाव की मर्मस्पर्शी कहानी भी।

मूल्य : 125.00

### □ एक गांव की कहानी : रामसरूप अणखी

साहित्य अकादमी पुरस्कार और अन्य अनेक पुरस्कारों से सम्मानित यह उपन्यास पंजाब के जन-जीवन का सही चित्रण करता है। इसमें पंजाब की धरती को 1940 से लेकर 1980-81 तक की बदलती हुई परिस्थितियों के सभी रूपों का स्वाभाविक और मनमोहक रस है। यह एक विशाल उपन्यास है जिसे महाकाव्य के समकक्ष माना जा रहा है। अत्यन्त रोचक और यथार्थपूर्ण उपन्यास।

मूल्य : 125.00

### □ पुरुषोत्तम : डॉ. भगवतीशरण मिश्र

‘पुरुषोत्तम’ श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित बृहद उपन्यास है। इसके अनेक अंश विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपकर लोकप्रिय हो चुके हैं। भगवान श्रीकृष्ण के जीवन के अनेकानेक पक्षों को उजागर करने वाला यह उपन्यास बहुत ही रोचक और सरस भाषा में लिखा गया है।

मूल्य : 150.00

### □ अनौपचारिक शिक्षा का सही स्वरूप : दयालचंद सोनी

हमारा सारा शिक्षा-तंत्र अभी तक विदेशी धारणाओं और आयातित शिक्षा-सिद्धान्तों पर आधारित है। जब तक हम इसे देश की मिट्टी और संस्कृति से नहीं जोड़ेंगे, तबतक हमारे देश की शिक्षा की आवश्यकताएं और अपेक्षाएं पूरी नहीं हो पाएंगी। इस पुस्तक में अनौपचारिक शिक्षा का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जो भारत के शिक्षा-क्षेत्र की वर्तमान आवश्यकता है। विचारोत्तेजक मौलिक पुस्तक। मूल्य : 100/-

### □ जयशंकर प्रसाद : डा. प्रभाकर माचवे

‘हिन्दी के साहित्य निर्माता’ पुस्तकमाला में यह पुस्तक इसी वर्ष प्रकाशित हुई है। प्रसादजी के जीवन और कृतित्व के विभिन्न आयामों पर खोजपूर्ण और तथ्यात्मक सामग्री, अनेक उपयोगी परिशिष्ट, मानों ‘गागर में सागर’ भरा हो।

मूल्य : 30.00

### □ अनुभूति के क्षण : हरिशंकर पाठक

इस पुस्तक में कवि ने जो जिया है वही लिखा है और जो लिखा है, वही जिया है। इस संकलन की प्रत्येक कविता अनुभूति का क्षण है।

मूल्य : 35.00

### □ हिन्दू राज्य : बलराज मधोक

हिन्दुओं में नई चेतना, धर्म के प्रति आस्था और राजनैतिक मुद्दों को सही दृष्टिकोण से समझने वाली अत्यन्त सामयिक पुस्तक।

मूल्य : 20.00

### □ शिक्षार्थी हिन्दी शब्दकोष : डा. हरदेव बाहरी

इस कोश का प्रथम संस्करण जुलाई, 1990 में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी का नवीनतम, आधुनिक, प्रामाणिक शब्दकोश। इस कोश में शब्दों के विस्तारपूर्वक अर्थ, तथा शब्दों का व्याकरण, तथा उस शब्द-परिवार के अन्य सभी शब्दों के अर्थ दिये हैं। साथ ही, शब्दों के साथ भाषा-स्रोत का संकेत भी। जिन शब्दों के अनेक अर्थ हैं उन्हें स्पष्टता के लिए क्रमानुसार 1, 2, 3, 4 देकर दिया है। बैकिंग, रेलवे आदि प्रचलित पारिभाषिक तकनीकी तथा सरकारी कार्यालयों में प्रयोग आने वाले हिन्दी शब्द विशेष रूप से सम्मिलित हैं। इसमें अनेक उपयोगी परिशिष्ट तथा (क) हिन्दी में अंग्रेजी से आये 3000 शब्द क्रमा- (नुसार, ख) उपसर्ग परिशिष्ट, (ग) प्रत्यय परिशिष्ट तथा (घ) नाप-तोल की सारणियां 1 कोश में 1000 से अधिक ऐसे शब्दों का समावेश जो अन्य कोश में अब तक नहीं आए।

मूल्य : 150.00

राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar



[illegible]



# प्रस्तुत अंकक लेखक-समीक्षक

- ☐ श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, ६० चित्र विहार, दिल्ली—११००६२.
- ☐ डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य, हिन्दी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ. प्र.).
- ☐ डॉ. भगीरथ बड़ोले, सी-२८६ विवेकानन्द कालोनी, फ्रीगंज, उज्जैन—४५६००१.
- ☐ डॉ. भैरुलाल गर्ग, २ए/१८, विकासनगर, वृन्दी (राज.)—३२३००१.
- ☐ प्रा. मधुरेश, ब्रह्मानन्द पाण्डेयका मकान, भांजी टोला, बदायूँ—२४३६०१.
- ☐ डॉ. मनोज सोनकर, ५६६/३, शर्मा निवास, जामे जमशेद रोड़, मुम्बई—४०००१६.
- ☐ डॉ. राजमल बोरा, ५ मनीषानगर, केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद—४३१००५.
- ☐ डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, पाठक भवन, बैल्वेडियर कम्पाउंड, नैनीताल—२६३००१.
- ☐ डॉ. विमलाकुमारी मुंशा, २८/२८६ ब्राह्मण गली, गोकुलपुरा, आगरा—२८२००२.
- ☐ डॉ. विवेकानन्द शर्मा (भूतपूर्व मन्त्री, सीनेटर, फ्रिजी द्वीप समूह), ऐशडिल, परिसर, सूखा ताल, नैन ताल—२६३००१.
- ☐ डॉ. विश्वभावन देवलिया, स-१ सरस्वती विहार, पचपेढी, जबलपुर—४८२००१.
- ☐ डॉ. श्यामसुन्दर घोष, ऋतबरा, गोड्डा—८१४१३३.
- ☐ डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पी. एन. सिन्हा कालोनी, मिखना पहाड़ी, पटना—८००००६.
- ☐ डॉ. सुंदरलाल कथूगिया, बी ३/७६ जनकपुरी, नयी दिल्ली—११००५८.
- ☐ डॉ. सुशचन्द्र गुप्त, सी-८८, इन्द्रपुरी, नयी दिल्ली—११००१२.
- ☐ डॉ. हरिश्चन्द्र एडकोकेट, संस्मृति, बी-११४६, इन्दिरानगर, लखनऊ—२२६०१६.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

- |   |            |
|---|------------|
| <input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)   | ६.०० रु.   |
| <input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत : ६५.०० रु.; व्यक्तिगत : | ५०.०० रु.  |
| <input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता : संस्था : ७५१.०० रु.; व्यक्ति :                   | ५०१.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) : पाकिस्तान, श्रीलंका   | १२०.०० रु. |
| अन्य देश :  | १८५.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्षके लिए) :                        | ३१०.०० रु. |
| <input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें.                |            |

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’ ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



**प्रकाश**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार,  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : १०

कार्तिक : २०४७ [विक्रमाब्द]

अक्तूबर : १९६० (ईस्वी)

**लेख एवं समीक्षित कृतियां****स्वर-विसंवादी**

भारक्षण द्वारा जाति-युद्धोंका आवाहन २ वि. सा. विद्यालंकार

आर्य द्रविड़ भाषा परिवार

द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप ५ डॉ. राजमल बोरा

कृतिकार : कृति

हिन्दीके वैज्ञानिक-कथा साहित्यके रचनाकार :

यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' १३ डॉ. विवेकानन्द शर्मा

द्रविड़ संस्कृति और विश्व मानवता—यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' १६ डॉ. राजमल बोरा

**लोक साहित्य**

कश्मीरी लोक-साहित्यके मूल-स्रोतोंका संक्षिप्त परिचय १८ डॉ. विमलाकुमारी मुंशी

**विधि-प्रसंग**

हिन्दू-विधि—डॉ. योगेन्द्रकुमार तिवाड़ी, कैलाशचन्द्र शर्मा २१ डॉ. हरिश्चन्द्र

**आलोचना**

कविताका व्योम और व्योमकी कविता—मदन सोनी २५ डॉ. श्यामसुन्दर घोष

सौन्दर्यशास्त्र : स्वरूप और समस्याएं—डॉ. लक्ष्मणप्रसाद शर्मा २८ डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

साहित्य समीक्षाके सोपान—डॉ. नारायणस्वरूप शर्मा २९ डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य

**उपन्यास**

समर शेष है—विवेकी राय ३१ प्रा. मधुरेश

बदलता जीवन—गो. प. नेने ३६ डॉ. भगीरथ बड़ोले

**कहानी**

निर्वासन और आधिपत्य—अल्बर्ट कामू ३७ डॉ. विश्वभावन देवलिया

पानीकी लकीर—सुभाषचन्द्र 'सत्य' ३८ डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया

तिनके-तिनके—डॉ. रामकुमार घोटड ४१ डॉ. भैरूलाल गर्ग

**काव्य**

रेतपर नंगे पाँव—सम्पा. नन्द भारद्वाज ४२ डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

एकलव्य - डॉ. रामकुमार वर्मा ४४ " "

मैं अभी मौजूद हूँ—अशोक वर्मा ४६ डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त

तलाश - डॉ. प्रभाशंकर प्रेमी ४६ डॉ. मनोज सोनकर

**व्यंग्य-विनोद**

पब्लिक सैक्रेटरका सांड—सुदर्शन मजीठिया ४७ गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

'प्रकर'—कार्तिक २०४७—१



## स्वर-विसंवादी

# आरक्षण द्वारा जाति-युद्धोंका आवाहन

संविधानके अनुच्छेद ३४० में "भारत-राज्य क्षेत्रमें सामाजिक और शिक्षाकी दृष्टिसे पिछड़े हुए वर्गों की दशा" और स्थिति सुधारनेके लिए निर्देश हैं। इसी प्रयोजनसे इसी अनुच्छेदमें इन वर्गोंकी कठिनाईयोंका पता लगाने, उन्हें दूर करनेके उपायोंका सुझाव देनेके लिए आयोग नियुक्त करनेकी व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद ३४१ और ३४२ में अनुसूचित जातियों और जनजातियोंके संबंधमें आवश्यक निर्देश हैं। स्पष्ट रूपसे ये संवैधानिक व्यवस्थाएं अनुसूचित जातियों जनजातियों (शिड्यूल्ड कास्ट और ट्राइब) और पिछड़े वर्गों (क्लासिस) को ध्यानमें रखकर की गयी हैं न कि समाजकी सामान्य जाति-व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर। 'वर्ग' (क्लास) शब्दके साथभी 'पिछड़ा' विशेषण जोड़ दिया गया है जिसका अभिप्राय जाति अथवा पिछड़ी जातियाँ न होकर जाति व्यवस्थावाले समाजका प्रत्येक वह समुदाय है जो सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिसे पिछड़ा हुआ है। परन्तु मण्डल आयोगने वर्ग (क्लास) शब्दको जाति (कास्ट) का समानार्थक मानकर अपने सम्पूर्ण प्रतिवेदनमें 'पिछड़ी जाति' शब्दका प्रयोग किया है और उसीको आधार मानकर जातिगत आधारपर आरक्षण की संस्तुति की है। इस प्रकार पहलेसे जो समाज असमानतासे पीड़ित था, उसे स्थायी रूपसे, सदाके लिए, असमान बनाये रखनेकी एवं उग्र जाति-विद्वेषका नया असंवैधानिक उपहार राष्ट्रको प्रस्तुत किया है।

इस प्रसंगमें यह उल्लेखनीय है कि जाति-प्रथाको मिटानेके प्रयत्न बहुत लम्बे समयसे हमारे समाजमें होते रहे हैं। बुद्ध-महावीरसे लेकर मध्य युगके साधु-संत-संन्यासी संघत और उग्र रूपमें जाति व्यवस्थाका विरोध करते रहे हैं और समाजमें 'समता'का प्रचार करते रहे हैं। मध्ययुगमें तो साधु-संत 'जाति न पूछो साधुकी' प्रचारित करते रहे हैं, हरिभक्तजन गा-गाकर "जाति-पात पूछे नहि कोई, हरिको भजे हरिका होई" की जोत

जगाते रहे। गत शतीमें तो महर्षि दयानन्दने जाति-पाति विरोधी आन्दोलनकी नींव रखी थी। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद उपहार रूपमें देशकी शासन-सत्ता प्राप्त करनेवाले मैकालेपंथियोंने अबतकके पूरे प्रचार और आन्दोलनोंको ताकपर रखकर जातिवादकी नींव और गहरी करनेके घातक प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये हैं। अब तो भारतीय प्रशासकोंने जातिवादके उन्मादमें 'जाति न पूछो साधुकी' गीत गानेवाले साधु-संन्यासी, जोगी, वैरागीको ही पिछड़ी जातियोंमें सम्मिलितकर जाति-मण्डित कर दिया है।

मण्डल आयोगके प्रतिवेदनके अनुसार सरकारी और सरकार द्वारा नियंत्रित संस्थानोंकी नौकरियोंमें २७ प्रतिशत पिछड़ी जातियोंके लिए आरक्षित करनेकी प्रधानमन्त्रीकी घोषणाके बाद यह निरन्तर दोहराया जाता रहा है कि पूरे दक्षिण भारतमें पिछड़ी जातियोंको आरक्षण दिया जा चुका है और वे राज्य प्रगतिकर रहे हैं, किसी प्रकारका कोई तनाव नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। दक्षिणके अधिकांश राज्योंमें जातियों ने अपनेको पिछड़ी जाति घोषितकर उसीमें अपना नाम पंजीकृत करा लिया। मुख्य रूपसे वहाँकी ब्राह्मण विरोधकी नीतियोंके कारण लगभग सभी ब्राह्मण जातियाँ पिछड़ी जातियोंमें सम्मिलित करली गयीं और परिणाम यह हुआ कि सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओंमें इन्हें बहुलताके स्थान मिलने लगे, जबकि ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग आजीविकाके लिए उत्तर भारतकी ओर प्रव्रजन करने लगे।

यह सत्य है कि दक्षिणमें आरक्षणकी मांग ब्राह्मण-विरोधके रूपमें इस कारण उठी कि वहाँ सरकारी नौकरियोंमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था। सर्वप्रथम १९१९में मैसूर रियासतमें नौकरियोंके लिए ही ब्राह्मण विरोधके साथ आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और पूरे मद्रास महाप्रदेश में फैल गया। परन्तु उत्तर भारतमें यह स्थिति नहीं है, यहाँ नौकरियोंमें विभिन्न जातियों, विभिन्न क्षेत्रोंके



विभिन्न वर्गोंका प्रतिनिधित्व है। यहाँ तो यह समस्या कृत्रिम रूपसे अब पैदा की जा रहा है, जानते-बूझते तनाव-विशेष पैदा किया जा रहा है जिसके व्यापक हिंसक संघर्षमें बदलनेकी संभावनाएं प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं।

दक्षिणके विभिन्न राज्योंमें आरक्षणके प्रभावकी भी ध्यानमें रखना चाहिये। तमिलनाडुमें आरक्षणवाली सेवाओंकी क्षमताओंका जिन विशेषज्ञोंने अध्ययन किया है उनका मानना है कि इन सेवाओंमें क्षमता और योग्यताका स्तर गिर जानेसे भ्रष्टाचार और क्रूरता बढ़ गयी है, इससे कुशासन उग्र होता जा रहा है। तमिल नाडुमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और उनके संकेतपर निर्मित साहित्यके प्रभावके कारण एक काल्पनिक द्रविड़ सभ्यता संस्कृतिकी श्रेष्ठताकी भावना उत्पन्न होगयी है जिससे यहाँका पूरा सामाजिक जीवन और उसकी संरचना विकृत हो उठी है, विभिन्न वर्गोंमें विद्वेषकी भावना उत्पन्न हो गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि तमिल संस्कृतिका मूल आधार विद्वेष है और वह यहाँके जन-जीवनमें भक्षक उठा है। इसे हम उन्मादभी कह सकते हैं, जिसके कारण दक्षिण और उत्तर भारतमें विभिन्न प्रकारकी राजनीतिक सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं। इस क्षेत्रमें आरक्षणसे वंचित वर्गोंका जीवन दूभर हो गया है, वे तमिलनाडु छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं। शिक्षण संस्थाओंमें आरक्षण लागू होनेसे वहाँ शिक्षाका स्तर गिर गया है।

कर्नाटकमें देवराज अर्सेके शासन कालमें आरक्षण ८० प्रतिशतसे भी ऊपर चला गया। मण्डल आयोगकी विशेषज्ञ समितिके अध्यक्ष प्रो. एम. एन. श्रीनिवासका मानना है कि आरक्षण व्यवस्था और आरक्षण नीतिके कारण भ्रष्टाचार, शिक्षा स्तरमें गिरावट, ब्रेन ड्रेन, कार्यकुशलतामें कमी, सामाजिक तनावकी जो स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, कर्नाटक राज्य उसका प्रमुख उदाहरण है। आंध्र प्रदेशमें भी यही स्थिति है। केरलमें दलीय संघटन जातियोंके आधारपर होने लगे हैं। इससे वहाँका सामाजिक वातावरण निरन्तर क्षुब्ध होता रहता है।

समग्र रूपसे पूरे दक्षिण भारतपर दृष्टि डाली जाये तो स्पष्ट होजायेगा कि पूरे दक्षिण भारतमें जाति-गत आधारपर गठित सामाजिक और राजनीतिक संस्थानोंके कारण स्तरीय प्रगति और विकासके कार्याम

जो बाधाएं आयी हैं उनकी गहराईसे अध्ययनकी आवश्यकता है।

उत्तर भारतमें आरक्षणके जो प्रयोग किये गये, उनके परिणामोंपर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है। १९७७-७८ में बिहारके तत्कालीन मुख्यमंत्री कपूर्री ठाकुरने पिछड़ी जातियोंके लिए ३० प्रतिशत आरक्षण लागू करनेका प्रयत्न किया, तो प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और उसमें ११८ से अधिक व्यक्तियोंके मारे जानेकी सूचनाएं आयीं। अन्ततः आरक्षण वापिस लेना पड़ा। १९८५ में मध्य प्रदेशमें आरक्षण २८ से ८२ प्रतिशत कर दिया गया, जिससे भयंकर दंगे हुए और लूटपाट हुई, आरक्षण वापस लेना पड़ा। १९८५ में ही गुजरातमें माधवसिंह सोलंकीने भी आरक्षण नीति लागू करनेका प्रयत्न किया, जिसका प्रबल विरोध हुआ, आन्दोलन हुआ, आरक्षण रद्द करना पड़ा, स्वयं मुख्य-मन्त्रीको पदत्याग करना पड़ा। सम्भवतः इन विफलताओंके कारणही प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह आरक्षण विरोधमें आन्दोलनोंकी उपेक्षाकर रहे हैं, आत्मदाहोंको क्रूर निरपेक्ष भावसे देख रहे हैं। बल्कि ऐसे संकेत प्रचारित किये हैं कि ये आत्मदाह आरक्षणके विरोधके कारण नहीं, किन्हीं अन्य कारणोंसे हो रहे हैं। इस संवेदन-शून्यताका क्या फल होगा, इस संबंधमें भविष्य-वाणी नहीं की जा सकती।

मण्डल आयोगकी विशेषज्ञ समितिके एक अन्य सदस्य प्रो. वी. के. राय बर्मनने आयोगके प्रतिवेदनको अवैज्ञानिक और अवैधानिक बतानेके साथ इसे झूठा और गलतभी बताया है। अपने पक्षमें प्रो. बर्मनने अनेक उदाहरण दिये हैं। इसके रूपको गलत बताते हुए उन्होंने ध्यान दिलाया है कि ऐसी बहुत-सी उच्च जातियाँ हैं जिन्हें आरक्षणके लिए सूचीमें ले लिया गया है, जैसे मध्यप्रदेशमें बंगाली, तमिलनाडुमें गढ़वाली और मारवाड़ी, त्रिपुरामें नेपाली आदि। बहुत-सी समृद्ध जातियों को पिछड़ा मानकर आरक्षित कर दिया गया है। बहुत-सी अनुसूचित जातियों और जनजातियोंको फिरसे पिछड़ा जातियोंमें गिन लिया गया है।

ग्रामीण क्षेत्रोंमें जुड़े शिक्षित वर्गोंके लोग जानते हैं कि १९५० तक अहीरों, जाटों, गूजरो और राजपूतों (अजगर) का ग्रामीणी क्षेत्रोंमें प्रभाव और प्रभुता थी। हरित क्रान्तिके कारण इन्हीं जातियोंकी सम्पत्ति और शक्तिमें वृद्धि हुई। इसका लाभ कुमियों आदि



अनेक जातियोंको भी मिला। इन जातियोंमें आर्थिक क्षमता, सामाजिक और शैक्षिक गतिशीलता भी है। क्योंकि इनमें प्रत्येक जातिमें आर्थिक और सामाजिक विषमता भी विद्यमान है, इसलिए मण्डल आयोगने पूरी की पूरी जातियोंको पिछड़ी जातियोंमें जोड़ दिया है। यह एक बड़ी सामाजिक असंगति है। परन्तु समस्या यह है कि पिछड़ी जातियोंके नामपर बटोरे जानेवाले लाभ इन्हीं जातियोंके प्रभावशाली और सम्पन्न लोग हड़प लेंगे जबकि इन्हीं जातियोंके निर्धन और वस्तुतः पिछड़े लोग मुंह ताकते रह जायेंगे। यह स्थिति गांवोंमें अब भी देखी जा सकती है कि किसी जातिके निर्धन लोगोंको उन्हींकी जातिके सम्पन्न लोग अपने यहाँ बंधुआ रूपमें काममें जोते रखते हैं। अर्थात् मण्डल आयोगने कुछ अल्पसंख्यक लोगोंको अपनी ही जातिमें प्रभुता स्थापित करनेका जो लाइसेंस दिया है, विश्वनाथ प्रतापसिंहका प्रशासन उसेही वैधानिक रूप दे रहा है। इस स्थितिको ध्यानमें रखते हुए कहा जा सकता है कि आर्थिक आधारपर भी आरक्षण बहुत सहायक नहीं होगा, अपितु समृद्ध वर्गको विधिसम्मत आधार प्रदान कर देगा। स्थितिकी भयावहतापर केन्द्रीय मन्त्रियों—रामविलास पासवान और शरद यादव, बिहारके मुख्यमन्त्री लालूप्रसाद यादव और उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री मुलायमसिंहको केन्द्र-बिन्दु बनाकर विचार करें तो अनुभव किया जा सकता है कि जातिवादके भीतर भी निहित स्वार्थोंके लोग ही अपनी प्रभुताके लिए अधिक प्रयत्नशील हैं।

नृवैज्ञानिक सर्वेक्षणका जो प्रतिवेदन अभी प्रकाशित हुआ है, इसके अनुसार किसीभी जनसमुदायके आकृति-विज्ञान, आनुवंशिक विशिष्टताओं, भाषा और साहित्य, भौतिक संस्कृति, भोजनादि संबंधी स्वभाव, अनुष्ठानों, लोक साहित्य, स्थानीय धार्मिक रूप, उत्सवों-समारोहों आदिकी दृष्टिसे प्रागैतिहासिक कालसे चली आरही शक्तिशाली क्षेत्रीय एकात्मता अधिक प्रबल रूपमें सामने आती है। विभिन्न समुदाय, उनका चाहे जो वर्गीकरण किया जाये, समान क्षेत्रीय आवाश-पृथ्वी एवं लोकाचारके भागीदार हैं। परन्तु अब जातिवाद की धारणा बढमूल होजाने, उनकी समाजमें स्थिति और योगदान संबंधी विशिष्ट अपेक्षाओंकी मनोवृत्ति उत्पन्न होजाने तथा अन्य जातियों-वर्गोंसे संबंधोंकी दृष्टिसे पूरे वातावरणका रचनात्मक होना है।

इसी राजनीतीकरणके कारण भारतीय समाजमें निरन्तर विभाजनकी रेखाएं खींची जाती रही हैं। ब्रिटिश युगमें धार्मिक विभाजनोंको प्रोत्साहित किया गया, इसमें ब्रिटिश नीतियोंको कांग्रेसका प्रतियोगितापूर्ण सहयोग मिला, यह हिन्दू-मुस्लिम विभाजन, पाकिस्तान निर्माणका कारण बना। मैकालेवादसे प्रभावित और उसीमें शिक्षित वर्गके प्रभावके कारण अंग्रेजी और भारतीय भाषाओंमें जो वैमनस्यका वातावरण बन गया है, अब वह धीमे-धीमे राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के माध्यमसे विभाजनका वातावरण बना रहा है। भारतीय भाषाओंमें अन्तःगृह-कलह और संघर्षका वातावरण मैकालेपंथी ही तैयार कर रहे हैं। क्षेत्रीय विवाद और सीमा-संघर्ष यदा कदा उत्तेजनात्मक वातावरण बनाते रहते हैं। अब सबसे अधिक उग्र विवाद जातिवाद पैदा कर रहा है। लार्ड मैकालेने जिन उद्देश्योंको लेकर देशको ब्रिटिश उपनिवेश बनाये रखनेका जो स्वप्न लिया था, उसे इंडियन मैकालेपंथी मूर्त रूप प्रदान करनेमें प्राणपनसे जुटे हैं। इसी कारण हमें निरन्तर विभिन्न प्रकारके दंगों, संघर्षोंका निरन्तरताके साथ सामना करना पड़ रहा है, इस प्रक्रियामें जातिवादी संघर्ष कहीं अधिक भयावह होते जायेंगे। जातिवादकी इस भयावहताके कारण ध्यान बंटानेके लिए उत्तर प्रदेशके मुख्यमन्त्रीने शंखलाबद्ध भाषणों द्वारा साम्प्रदायिक संघर्ष शुरू करा दिये हैं।

हम अनुभव करते हैं कि मण्डल आयोगके कारण उत्पन्न स्थिति और उसके प्रतिवेदनको लागू करनेके संबंधमें उच्चतम न्यायालयके निर्णयकी प्रतीक्षा किये बिना आरक्षण संबंधी अवतकके निर्णयोंको वापस ले लेना चाहिये। इसके स्थानपर संविधानकी मूल धारणा के अनुसार सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिसे पिछड़े सभी वर्गोंके लिए अनिवार्य शिक्षाकी मूल संस्थाएं—विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय—सुदूरवर्ती क्षेत्रोंमें खोलकर पिछड़े, अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के सामान्य, औद्योगिक और उच्च शिक्षणकी पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे वे शिक्षित होकर समान स्तर पर देशके सभी नागरिकोंको उपलब्ध समान अवसरोंका लाभ उठाकर और प्रतियोगिताओंमें योग्यताके आधारपर सम्मिलित हों और पूरे सम्मानके साथ अपनी योग्यता का प्रतिफल प्राप्त करें। आन्दोलनों-संघर्षों-दंगोंमें नष्ट होनेवाली सम्पत्तिके विनाशको रोककर साहसपूर्वक आर्थिक साधन जुटानेकी प्रशासनकी व्यवस्था करनी चाहिये। अन्यथा सामाजिक विभाजनके मार्गसे देश-विशेष के लिए तत्पर रहना चाहिये। □



## द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका ऐतिहासिक स्वरूप [६. २]

## तमिल-मलयालम-कन्नड-तेलुगु

—डॉ. राजमल बोरा

२७६. सातवाहनोंके उत्तराधिकारी छोटे-छोटे राज्योंमें बंट गये और वे अपने-अपने स्थानोंपर स्वतंत्र होगये। चूंकि हमें सातवाहनोंके राज्योंका ही पूरा विवरण [नर्मदासे लेकर कावेरी तक प्रदेशपर शासन करनेवाले रूपमें] नहीं मिलता अतः इन उत्तराधिकारियोंके स्फुट उल्लेखोंको क्रम देना बहुत कठिन है। इतनी बात तो सच है कि सातवाहनोंके समयमें प्राकृत भाषा प्रधान थी और उसके कारण तेलुगु, मराठी तथा कन्नडको मुखरित होनेका अवसर नहीं मिला और वह स्थिति सातवाहनोंके पतनके बाद [तीसरी शतीके बाद] भी लगभग दो शताब्दी तक बनी रही। कन्नडका प्रथम अभिलेख पांचवीं शताब्दीका है और तेलुगुका प्रथम अभिलेख छठी शताब्दीका है। अभिलेखों के विलम्बसे मिलनेके कारण यह मानना भूल होगी कि इससे पूर्व भाषाएं अस्तित्वमें नहीं थीं।

२७७. तीसरी शतीसे छठी शताब्दीका काल ऐसा है जिसका इतिहास आज भी पौराणिक स्वरूपका है। तमिल प्रदेशका भी इस समयका इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। डॉ. नीलकण्ठ शास्त्री लिखते हैं—

“हम देखते हैं कि तीसरी या चौथी शताब्दीसे ६वीं शताब्दी तकका समय चोलोंके इतिहासमें, अर्थात् राजा का काल है। इस कालमें उनकी सारी स्फूर्ति स्थगित थी। वे बच-बचकर चलते रहे और येनकेन प्रकारेण रेनाण्डु नामक प्रदेशमें जाकर बस गये थे। ...कुछ समय तक यहां बौद्ध और जैन मतका बोलवाला रहा। कलभ्र राजा अच्युत बौद्ध था। पांड्य और पल्लव राजाओंमें कई जैन मतावलम्बी थे। ‘गुरु परम्परा’ के अनुसार तिरुमंगी आलवारने नेगपतमके समृद्ध विहारको लूट

लिया था। इस विहारमें ठोस सोनेकी बनी बुद्धकी एक बड़ी सुन्दर प्रतिमा थी। इससे पूर्वके कालमें चोल प्रदेशमें दो विशाल बौद्ध विहारोंके निर्माणकी पुष्टि बुद्धदत्त करता है। किन्तु आलवार और नायनार संतोंके प्रयत्नसे, जो हिंदू पुनरुत्थानके नेता थे, बौद्ध और जैन-मतोंका प्रचार रुक गया। इन संतोंने जनभाषामें भक्ति का प्रचार किया। इनके प्रयत्नोंसे हिन्दू धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसने प्रमुखता प्राप्त की। चोलोंने बिना दिग्बावेके वैष्णव और शैव दोनों मतोंका समान रूपसे समर्थन किया।” २८

२७८. चोलोंका ठीक-ठीक इतिहास वास्तवमें विजयालयके उदयसे, [जिसे आदित्य प्रथम कहा गया है] आरम्भ होता है। उसका समय ८५० ई. से ९०७ ई. माना गया है। कनकसमैकी पुस्तकमें जिन चोल राजाओं का इतिहास मिलता है, वह पौराणिक स्वरूपका है और प्रधान रूपसे तमिल वाङ्मयको आधार मानकर लिखा गया है। बीचकी शताब्दियोंके सम्बन्धमें इतिहास मौन है। ८५० ई. में चोल राजाओंके इतिहासके मंचपर उभरनेसे पूर्व तमिल प्रदेशके उत्तरमें प्रधान रूपसे कर्नाटकमें नये राजवंशका उदय हो गया था। प्रधान रूप से वातापीके चालुक्योंका उदय हो गया था। सातवाहनों के बाद समस्त दक्षिण भारतमें अपने राज्यका विस्तार करनेवाले वातापीके चालुक्य राजा हुए। पुलकेशिन प्रथम (५४३/४४—५६६ ई.) से कीर्तिवर्मन द्वितीय

२८. चोलवंश, डॉ. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री, अनुवादक : भंगलनाथसिंह, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नयी दिल्ली। प्रथम हिन्दी संस्करण १९-७९ ई. पृ. ८४।



(७४४/४५—७५५ ई.) तक इस वंशने लगभग २१२ वर्ष तक राज्य किया और इन राजाओंमें पुलकेशिन द्वितीय (६०६/१०—६४२ ई.) सबसे प्रसिद्ध हुआ। वह हर्षका समकालीन था।

२७६. चालुक्योंके समयसे कर्नाटक दक्षिण भारत का राजनीतिक केन्द्र हो जाता है और सत्रहवीं शतीके मध्यतक—मुगलोंके समय तक—विजयनगरके राजाओं के बने रहने तक दक्षिण भारतका प्रधान केन्द्र बना रहता है। यों तो दक्षिण भारतमें कई छोटे-छोटे राज्य थे किन्तु जिन राज्योंका विस्तार साम्राज्यके रूपमें हुआ उनमें सातवाहनोंके बाद वातापी (बादामी) के चालुक्यों का राज्य प्रधान है।

२८०. चालुक्योंके पूर्वका कर्नाटक एवं आन्ध्रप्रदेश का इतिहास प्राक्-इतिहास है। यही स्थिति केरलकी भी है। मलयायम भाषाका इतिहास कन्नड़-तेलुगु भाषाओंके इतिहासके बादमें आरम्भ होता है। संस्कृत तथा प्राकृत वाङ्मयके आधार, केरल, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेशका पौराणिक इतिहास विद्वानोंने लिखा है। विदेशी लोग इन क्षेत्रोंमें व्यापार हेतु आयेथे। उन्होंने जो विवरण लिखा है, उसको आधार मानकर भी इन प्रदेशोंके प्राक्-इतिहासको समझनेका प्रयत्न किया गया है।

२८१. यहींपर मैं पुनः स्पष्ट करना चाहूंगा कि भाषाओंके नाम प्रायः भौगोलिक होते हैं और इस दृष्टि से दक्षिणकी द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके नामकरणोंपर विचार करें तो द्रविड़ शब्दका प्रयोग संस्कृत भाषामें भौगोलिक रूपमें देशसूचक रूपमें ही प्रयुक्त हुआ है। द्रविड़ शब्दका अर्थ तमिल प्रदेश तक ही सीमित रहा है। द्रविड़ शब्द संस्कृत भाषाका शब्द है। आन्ध्र शब्दभी संस्कृत है और देशवाची है। इसी तरह कर्नाटक शब्द का प्रयोगभी संस्कृत वाङ्मयमें देशवाची रूपमें ही प्रयोगमें आया है और महाराष्ट्र तथा केरल शब्दोंके प्रयोगभी भौगोलिक रूपमें प्रयुक्त होते रहे हैं। द्रविड़ शब्दका अर्थ भौगोलिक रूपमें समस्त दक्षिण भारतके लिए किसी भी समय प्रयुक्त नहीं हुआ। संस्कृत वाङ्मयमें ये सभी शब्द देशवाची रूपमें मिलते हैं।

२८२. तमिल प्रदेशमें चोल राजाओंका तथा पांड्य राजाओंका शासन प्रधान रूपसे रहा है। इन राजाओंका पौराणिक इतिहासभी है। ज्ञात इतिहासमें [मौर्योंके इतिहासके कालसे] चोल राजाओंका शासन तमिल

प्रदेशतक सीमित रहा। आगे बढ़कर उन्होंने अपने साम्राज्यका विस्तार आन्ध्र देशमें या कर्नाटकमें नहीं किया। तमिल भाषाका विस्तार इन प्रदेशोंमें नहीं मिलता। इस बातको स्वीकार करना चाहिये कि तमिल देशका इतिहास आरम्भसे उत्तर भारतके किसी राजाके साम्राज्यका भाग नहीं बन सका, मौर्योंके बाद वह सातवाहनोंके साम्राज्यका भागभी नहीं बना और बाद में वातापीके चालुक्योंके समयमें पुलकेशिन द्वितीय दक्षिणसे बढ़कर उत्तरमें नर्मदा तक पहुंच गया और उसने हर्षवर्द्धनके राज्यकी सीमाओंतक अपनी सीमाएं भी बढ़ा ली। किन्तु वह अपने निकटके—दक्षिणके ही—तमिल प्रदेशपर अधिकार नहीं कर सका। परलव राजाओंसे—संघर्ष होता रहा किन्तु पूरे तमिल प्रदेश पर उसका शासन नहीं रहा। बादमें चोल राजाओंने आगे बढ़कर आन्ध्र देशके वेंगीके चालुक्योंको अपने साम्राज्यका भाग बनाया और वे उड़ीसातक भी गये हैं किन्तु इसमें पर्याप्त विलम्ब हो गया था और उनका शासन तमिल प्रदेशसे बाहर स्थायी स्वरूपका नहीं हो सका है। तमिल प्रदेशके भूगोल और इतिहासको जानें तो तमिल भाषाकी विशेषताओंका बोध होगा। अपने ऐतिहासिक कालमें तमिल प्रदेशपर बाह्य आक्रमण हुए हैं किन्तु वे अल्पकालीन रहे हैं। इससे उनके स्थायी ऐतिहासिक स्वरूपमें अंतर नहीं आया है। तमिल भाषा का ऐतिहासिक स्वरूप इसीलिए दक्षिणकी अन्य भाषाओं के इतिहाससे भिन्न है। मलिक काफूर मदुराई तक पहुंचा था फिरभी उसका पहुंचना और लौटनाही हुआ। तमिल प्रदेश साम्राज्यका अंग नहीं हुआ।

२८३. तमिल प्रदेशके उत्तर-पश्चिममें कर्नाटक है। सातवाहनोंके पतनके बाद दक्षिण भारतका प्रधान राजनीतिक केन्द्र कर्नाटक रहा है। महाराष्ट्रमें यादव राजाओं के उदय होनेसे पूर्व और सातवाहनोंके पतनके बादका काल ऐतिहासिक रूपमें कर्नाटकके राजाओंका रहा है। यादव राजाओंके समयमें महाराष्ट्र स्वतन्त्र हो गया, किन्तु उसके बाद [यादव राजाओंके पतनके बाद] दक्षिणमें—कर्नाटकमें ही नये राज्यका उदय हुआ। विजयनगरके राजाओंका राज्य कर्नाटकमें ही था। विजयनगरके राजाओंका राज्य इस्लामी प्रभावसे मुक्त था। मुगल बादशाहोंके शासनका भाग वह नहीं बना। औरंगजेबकी सीमा गोलकुण्डा तक रही है। कर्नाटकने दक्षिण भारतको ऐतिहासिक कालमें हिन्दू संस्कृति, बौद्ध



संस्कृति तथा जैन संस्कृति—संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषाओं को भी - प्रथम दिया है और राजनीतिक रूपमें उन्हें सुरक्षा प्रदान की है।

२८४. कर्नाटकमें जिन राजाओंका शासन रहा, वे हैं—वातापी (वादामी) के चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटोंके बाद कल्याणीके चालुक्य। कल्याणीके चालुक्योंके बाद साम्राज्यवाली बात नहीं रही। उत्तर महाराष्ट्र (यादव राजा) स्वतंत्र होगया। पूर्वमें आन्ध्र (काकतीय राजा) स्वतंत्र हुआ और स्वयं कर्नाटकमें होयसल राजा हुए। किन्तु यादवोंके पतनके बाद पुनः विजयनगरका साम्राज्य स्थापित हुआ और उसका विस्तार आन्ध्रप्रदेशमें और सुदूर दक्षिणमें भी हुआ।

२८५. वातापीके चालुक्योंके समयसे विजयनगरके साम्राज्यके समयतक कर्नाटकके राजाओंने उत्तर भारतके इस्लामी प्रभावको रोकनेमें दीवारका काम किया है। विदेशी [डच-पुर्तगाल-फ्रेच-अंग्रेज] लोगोंके आगमन तक दक्षिण भारतको स्वतंत्र बनाये रखनेमें इन राजाओंका विशेष योगदान है।

२८६. सातवाहनोंके समय तक प्राकृत भाषाको महत्त्व प्राप्त था किन्तु चालुक्योंका शासन आरम्भ होतेही संस्कृत भाषाका महत्त्व बढ़ता गया। तमिलको छोड़कर दक्षिणकी अन्य भाषाएं—मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु—आरम्भसे ही संस्कृत भाषासे सम्बद्ध रही हैं। उन भाषाओंका इतिहास यहीं कहता है।

२८७. भाषाओंके अलगावके भौगोलिक कारण भी हैं। पश्चिमी तट और पूर्वी तटके प्रदेशोंकी इस आधार पर तुलना कीजानी चाहिये। इन तटीय प्रदेशोंकी भौगोलिक स्थितियोंका प्रभाव वहांकी भाषाओंपर भी रहा है। केरल प्रदेशका तमिल प्रदेशसे अलग होनेका कारण प्रधान रूपसे भौगोलिक भी है। इतिहासमें केरल को उजागर होनेमें समय लगा है। केरलमें पहले चेर राजाओंका शासन रहा है। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें पांड्य और चोल राजाओंके साथ चेर राजाओंका शासन था। उस समयमें केरलका अलग अस्तित्व नहीं था। संभव है चेर राजाओंके कारण चेरल देशका नामकरण हुआ हो और बादमें चेरलका केरल रूप बना हो। यों कहते हैं कि 'केरल' शब्द कन्नड़ है और उसका तमिलीकरण चेरल होता है। चेरलका अर्थ पहलियों और लकड़ों

घिरा हुआ प्रदेश होता है। २९

२८८. पौराणिक रूपमें बतलाया जाता है कि कर्नाटकमें और केरलमें परशुरामका प्रभाव रहा है। केरलके निर्माणका श्रेय परशुरामको दिया जाता है। कहा है—

“अनुश्रुतियोंके अनुसार केरलको प्रकाशमें लानेका श्रेय विष्णुके अवतार परशुरामको है और उन्होंने क्षत्रियोंके मूलोच्छेदनके प्रायश्चित्त स्वरूप यह भूमि ब्राह्मणोंको दानमें दे दी। ३०

२८९. यह तो सत्य है कि केरलमें ब्राह्मणोंको विशेष अधिकार प्राप्त हुए हैं। केरलमें शंकराचार्य हुए। डॉ. बलदेव उपाध्यायने उनका समय निश्चित करते हुए लिखा है—

‘शंकरका जन्म ६८४ ई. में तथा तिरोधान ७१६ ई. में सम्पन्न होना सिद्ध होता है।’ ३१ शंकराचार्य केरलके निवासी थे। हमें शंकरके कालका—केरलका राजनीतिक इतिहास ठीकसे मालूम नहीं है। किन्तु स्वयं शंकराचार्यका जीवन और उनका कार्य अखिल भारतीय स्तरका है, यह हम जानते हैं। केरलमें उस समय ब्राह्मणोंको विशेष अधिकार प्राप्त थे। इनमें नम्बूद्रियोंको प्रधान मानना चाहिये। उनके बाद नायर रहे हैं। चेर राजाओंके शासनके बाद तमिल प्रदेशके पांड्य राजा और चोल राजा, पल्लव राजा—इन सब राजाओंका प्रभाव केरल प्रदेशपर रहा, किन्तु बादमें ब्राह्मण-वर्ग (नम्बूद्रि-ब्राह्मण) अपने-अपने स्थानोंपर स्वतंत्र होगये। इनकी स्वतंत्रतामें भौगोलिक कारण सहायक हुए हैं। केरल प्रदेश योंभी समुद्रके किनारेका पहाड़ी भाग है। ब्राह्मणोंके प्रभावके कारण संस्कृत भाषाका यह प्रधान केन्द्र भी रहा है।

२९०. श्रीशंकराचार्यको हम आर्य कहें या द्रविड़ कहें? हम तो उन्हें इस प्रकार अलग नहीं कर सकते। भाषा भेदके कारण धर्म और संस्कृतिमें भेद नहीं होता। विदे-

२९. केरल एंड हर कल्चर : एन इंस्ट्रुक्शन (इंडियन हिस्टारिकल रिकार्ड्स कमीशन, इकतालीसवां अधिवेशन, तिरुवनन्तपुरम्, १९७१), केरल राज्य द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १।

३०. वही, पृ. १.

३१. श्री शंकराचार्य—बलदेव उपाध्याय। हिन्दुस्तानी एक्केडमी, इलाहाबाद। द्वितीय संस्करण १९६३,



शियोंकी बात मानें तो शंकराचार्यको द्रविड़ कहना होगा। इस रूपमें शंकराचार्यका उल्लेख कहीं नहीं होता। जो लोग विदेशियोंके ऐतिहासिक कथनोंको स्वीकार करतेहैं और उत्तर-दक्षिणका भेद भाषा-परिवारोंके रूपमें करतेहैं तथा संस्कृत भाषाको इन परिवारोंके अलगावका कारण मानतेहैं, उन्हें शंकराचार्यके जीवन और उनके अखिल भारतीय कार्यका स्वरूप जानने का प्रयत्न करना चाहिये। शंकराचार्यने आर्य संस्कृति और द्रविड़ संस्कृतिमें अलगाव नहीं माना। वह संस्कृति एक है और वह है भारतीय संस्कृति। न वह आर्य है न वह द्रविड़ है। वह दोनों है और एक है।

२६१. शंकराचार्यको ही प्रमाण रूपमें प्रस्तुत करते कहना होगा कि संस्कृत भाषाका सम्बन्ध द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके साथ उसी प्रकार है, जैसा आर्य परिवारकी भाषाओंके साथ है। शंकराचार्यकी अपनी भाषा मलयालम है। शंकरके समयमें—सातवीं शती में—मलयालम भाषाकी स्वतंत्र पहचान नहीं हो पायी थी। राजनीतिक कारणोंसे इसमें समय लगा।

२६२. पश्चिमी घाटकी पर्वतोंकी श्रेणीके कारण पश्चिमी घाटकी भाषाओंका स्वरूप पूर्वी घाटकी भाषाओंसे भिन्न है। पूर्वी घाटमें पर्वतोंकी शृंखला उत्तरसे दक्षिण तक फैली हुई नहीं है। सारी नदियां महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी—पूर्वी घाटमें समुद्र से मिलती है। पश्चिमसे नदियां पूर्वकी ओर बहतीहैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पर्वतीय और ऊंचा प्रदेश पश्चिममें है। यह शृंखला नर्मदा और ताप्ती नदीको छोड़ दें [क्योंकि ये नदियां अरब सागरमें मिलतीहैं] तो उसके बाद आरम्भ होतीहैं और सुदूर केरल तक पहुंचतीहैं। कोंकण, गोवा, मलाबार और सारा केरल प्रदेश इसीके अन्तर्गत है।

२६३. श्री साले तोरने “एंशियेंट कनार्टक, भाग १ : हिस्ट्री ऑफ तुलुव” पुस्तक लिखी है। लेखक पुणे के परशुराम भाऊ कालेजमें इतिहास विभागमें प्रोफेसर थे। पुस्तकका प्रकाशन ओरियण्टल एजेंसी, पुणे द्वारा १९३६ ई. में हुआ। पुस्तकमें पौराणिक आख्यान हैं। संस्कृत वाङ्मयके आधारपर पश्चिमी घाटका विवरण विस्तारसे दिया गया है। लाट देशसे (गुजरातसे) कन्या कुमारी तक सप्त कोंकणकी जानकारी लेखकने विस्तार से दी है। लेखकका कहना है कि जैसे पश्चिमी घाटमें सप्त कोंकण हैं, वैसेही पूर्वी घाटमें सप्त कर्लिग रहेहैं।

चोल राजाओंने सप्त कर्लिग तक (समस्त पूर्वी घाटपर) अपना विस्तार करनेका प्रयत्न किया था। इसी प्रकार कर्नाटकके राजाओंने पश्चिमी घाटके सप्त कोंकण पर अधिकार किया था। परशुरामका सम्बन्ध सप्त कोंकणसे बतलाया जाता है। इन पौराणिक आख्यानोंपर बहुत विश्वास नहीं किया जाता। किन्तु इनमें मिथकीय सत्य है और यहाँके जनजीवनके इतिहासमें इस सत्यका आभास मिलता है। परशुरामके आख्यानको मानें या न मानें—इतना तो मानना पड़ेगा कि समस्त पश्चिमी घाट (प्राचीन नाम सप्त कोंकण) पर ब्राह्मण संस्कृति का प्रभुत्व प्राचीन कालसे रहा है और वे अंग्रेजोंके आगमनतक राजनीतिमें अग्रणी रहेहैं। ब्राह्मण संस्कृतिका—संस्कृत भाषाका—इसी पर्वतीय शृंखलाके जनजीवनपर जो प्रभाव रहा है, उसके प्रमाणमें कहना होगा कि भारतवर्षमें शिक्षाके क्षेत्रमें इस क्षेत्रका क्रमांक ऊंचा आयेगा। केरल तो साक्षरोंमें प्रथम प्रदेश है ही।

२६४. पश्चिमी घाटकी—सप्त कोंकणकी भाषाओं में लाट देशसे आरम्भ करें तो गुजराती है। उसके बाद ठाणा कुलाबा, रत्नागिरि, गोवा, उत्तर कनारा, दक्षिण कनारा, मलाबार तथा कोचीन और त्रावणकोर हैं। आगे हम कन्याकुमारी तक पहुंचतेहैं। गुजरातीके बाद क्रमशः कोंकणी [रत्नागिरि और गोवा तक], बाद में तुलु प्रदेश (उत्तर कनारा और दक्षिण कनारा) में तुलु भाषा है। तुलुमें भी उत्तर कनारामें हव्यक भाषा है। दक्षिण कनारामें तुलु है। उसके बाद कोचीन त्रावणकोर और समस्त केरलमें (मलाबार सहित) मलयालम भाषा है।

२६५. परशुरामका केन्द्र कहाँ रहा, यह कहना कठिन है किन्तु हव्यक बोलीके सम्बन्धमें कुछ कहना उपयुक्त होगा। यों तो समस्त सप्त कोंकण संस्कृत भाषाके प्रभावसे युक्त रहा है। उसमें भी मध्य भाग कर्नाटकमें आता है और उसमें दो जिले प्रधान हैं। उत्तर कनारा और दक्षिण कनारा। यह सारा प्रदेश तुलुवोंका है। उत्तर कनारामें हव्यक बोली है। मूल बोलीका नाम हैना है। इसका संस्कृतीकरण हव्यक है। इस बोलीपर पुस्तक लिखनेवाले विद्वान् श्री के. जी. शास्त्रीने (१२ जनवरी १९८५ को) उनके अपने निवास स्थानपर (धारवाड़में) बतलाया कि पकारका परिवर्तन हकार में और पुनः हकारका परिवर्तन गकारमें हुआ है—



५७८९। हव्यक बोलीमें इस परिवर्तनके लक्षण मिलते हैं। उदाहरण दिया—कलिपु > कलिहु > कलिगु। ३२ मूल बोलीमें स्त्रीलिंग बाले रूप नहीं हैं। उसके स्थानपर नपुंसक लिंगका प्रयोग होता है। किन्तु कम्प्यूनिटीसे बाहरकी स्त्रियोंको स्त्रीलिंगके रूपमें सम्बोधनकी व्यवस्था है। यहां ध्यान देनेकी विशेष बात यह है कि द्रविड़ परिवारकी भाषाओंमें महाप्राण ध्वनियां कन्नड़में ही अधिक मिलती हैं। और महाप्राणवाले रूपोंपर निश्चितही आर्य परिवारकी भाषाओंका प्रभाव है। तेलुगुके 'पालु' को कन्नड़में 'हालु' कहेंगे। [द्वयके लिए प्रयुक्त शब्द है] औरभी कई उदाहरण हैं। तमिलमें तो महाप्राण ध्वनियां नहीं हैं और कन्नड़से सम्बन्धित इस बोलीके नामकरणमें 'हकार' है। श्री के. जी. शास्त्रीने अपनी पुस्तकमें लिखा है—

“हविका शब्द स्पष्ट रूपसे हव्यकका विकृत रूप है जिसका अर्थ है देवताओंको बलि (हव्य) अर्पित करनेवाले, जो ब्राह्मणोंका एक वर्ग था, ... अनुश्रुति परम्पराके अनुसार कन्नड़भाषी खेतिहरोंकी हलक्की गोंड जातिकी स्त्रियोंसे उत्पन्न ब्राह्मणोंकी सन्तान हव्यक थे। अधिकांश हविकोंका यह विश्वास है कि बनवासी कदम्बोंके दूसरे राजवंशके संस्थापक मयूर वर्मा (६८०-७०० ई.) उन्हें अहिच्छत्रसे यहां लाये थे क्योंकि इन क्षेत्रोंमें पुरोहित नहीं थे। उत्तर कनारामें इन्हें बसानेका कार्य लगभग आठवीं शतीके प्रारम्भमें शुरू हुआ बताया जाता है। इन लोगोंके मूल स्थानके बारे में चाहे जो स्थिति हो, वे अब कन्नड़की एक बोली बोलते हैं जो भाषिक अध्ययनकी दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण और रोचक है।” ३३

२६६. 'हव्यक' के प्रसंगको विस्तार देनेका कारण यह है कि प्रधान रूपसे प्रदेश तुलु बोलीका है। विभाजन प्रधान रूपसे दो जिलोंमें 'उत्तर कनारा' और 'दक्षिण कनारा' हैं। महाराष्ट्रमें जैसे कोंकण-पट्टी अलग है वैसेही कर्नाटकमें यह कनारा पट्टी है। ब्राह्मणों और जनों भी पुरोहितोंकी यह बोली है। प्रधान रूपसे होम-हवन करनेवाला वर्ग है और यह संस्कृत भाषा

३२. कलिगुका अर्थ 'भोजना', 'प्रेषित करना' है।

३३. दि. हव्यक डायलैक्ट ऑफ नार्थ कनारा—के. जी. शास्त्री। प्रकाशक : कर्नाटक यूनिवर्सिटी, धारवाड़, १९७१; पृष्ठ १, २.

जाननेवाला है। इस प्रदेशमें बसकर यहांकी भाषा अपना लेनेके कारण कन्नड़ भाषाको संस्कृत ध्वनियोंके संस्कार प्राप्त हुए हैं और वे संस्कार केवल हैगा या हव्यक बोली तक सीमित नहीं रहे अपितु उसका प्रभाव कन्नड़ भाषाके भौगोलिक विस्तारवाली सभी बोलियों पर है और हकार वाली और गकारवाली प्रवृत्ति कन्नड़ भाषाकी खास प्रवृत्ति भी है।

२६७. पश्चिमी तटमें और पूर्वी तटमें भौगोलिक भेद है और इसका प्रभाव तटवर्ती भाषा समूहोंसे है। पश्चिमी तटपर पर्वतोंकी शृंखला है और इस शृंखला के कारण मैदानवाले भागसे यह भाग कुछ अलग है। पहाड़ी क्षेत्रकी भाषाओंमें और मैदानवाले क्षेत्रकी भाषाओंमें जो अन्तर होता है वह साफ दिखायी देता है। केरल और तमिलनाडुकी भौगोलिक सीमाएं प्राकृतिक कारणोंसे बनी हुई हैं। पहाड़ी शृंखला है और घना जंगल है। इससे अपने आप अलगाव बना हुआ है। तमिलसे मलयालम भाषाके अलग होनेका प्रधान कारण भौगोलिक है।

२६८. पश्चिम तट को जैसे सप्त कोंकणके रूपमें विभाजित किया गया वैसेही पूर्वी तटको सप्त कलिगके रूपमें सम्बोधित किया गया है। पुराणोंकी यह कल्पना है। कोंकणको पहले अररान्त (सातवाहनोंके समय) कहा जाता था। 'कोंकण' नामकरण बादका है। कलिग नामकरण अशोकके समयका है। बादमें उसे 'औड़' कहा गया। आज उसे उड़ोसा कहते हैं। पश्चिमी घाट कोंकणसे केरल तक है और पूर्वी घाट उड़ोसासे तमिलनाडु तक है। पूर्वी घाटकी भाषाओंमें इतना अलगाव नहीं है जितना पश्चिमी घाटकी भाषाओंमें हैं। दोनोंही घाटोंमें जो राज्य रहे हैं, इतिहासमें उनकी स्थिति विशेष रही है। मैदानी इलाकोंसे आकर यहांपर कोई शासन नहीं कर सका है। एक प्रकारसे ये राज्य स्वतंत्र राज्य के समान ही रहे हैं। इसलिए इनका इतिहास विशेष है। अलाउद्दीन खिलजी हो या औरंगजेब—पश्चिमी घाटपर, समुद्र तटके प्रांतपर अधिकार नहीं कर पाये हैं। पूर्वी तटवाले प्रदेशकी भी लगभग यही स्थिति रही है। वहांपर भी तमिल प्रदेशको हम स्वतंत्र-सा मान सकते हैं। पूर्वी तटकी अपेक्षा पश्चिमी तट अधिक सुरक्षित रहा है। समुद्रके मार्गसे आनेवाले विदेशी यहांपर बसे हैं।

२६९. कोंकणी, हव्यक (हैगा) तुलु, मलयालम पश्चिमी तटकी भाषाएं हैं। कोंकणी भाषाका क्षेत्र महाराष्ट्रसे



लगा हुआ समुद्र तट है। हव्यक, तुलू क्षेत्र कर्नाटकसे लगा हुआ समुद्र तट है और मलयालम केरलका समुद्र तट है। समस्त केरल प्रदेश समुद्र तटही है।

३००. समुद्रके तटवर्ती प्रदेशोंमें (पश्चिमी घाट) गणराज्य रहे हैं। इन गणराज्योंका स्वतंत्र इतिहास अब तक ठीक ठीक लिखा नहीं गया है। कारण यह है कि ये राज्य अपने-आपमें स्वतंत्र रहे हैं। निकटके राज्योंमें इनका संघर्ष हुआ है किन्तु ये राज्य किसीभी साम्राज्य का भाग पूरे रूपमें नहीं हुए हैं। इनके स्वतंत्र बने रहने में भूगोलने इनकी सहायता की है। परशुरामके आख्यान को ठीक मानें तो ब्राह्मणोंके लिए यह सुरक्षित स्थान था। पश्चिमी घाटके प्रदेशपर कोंकणसे लेकर केरल तक—कन्याकुमारी तक—ब्राह्मण लोग बस गये थे। केरलकी व्यवस्था राजनीतिक रूपमें कुछ अलग रही है। वहाँपर ग्राम अपने-आपमें स्वतंत्र राजनीतिक इकाईका काम करते रहे हैं और उनके मुखिया ब्राह्मण रहे हैं। समुद्र तटके शासकोंने—स्थानीय रूपमें प्रबल होनेपर भी—अपने राज्यका विस्तार साम्राज्यके रूपमें करने का प्रयत्न नहीं किया। अपनी रक्षाके लिए ये संघर्ष करते रहे हैं।

३०१. पूर्वी तटपर बसने वाले राज्योंका भी विशेष विस्तार नहीं हुआ। हाँ, अपेक्षाकृत पूर्वी तटके राज्य पश्चिमी तटके गणराज्योंसे भिन्न थे। पूर्वी तटको अपेक्षाकृत भौगोलिक क्षेत्र अधिक मिला। तमिल प्रदेश का विस्तार, केरलसे अधिक है और आन्ध्रका विस्तार पश्चिमी तटकी कोंकण पट्टीसे अधिक है। इन दोनों घाटोंके बीचमें ही—बीचवाले प्रदेशमें ही—साम्राज्य स्थापित हुए हैं और उनका इतिहास हम अधिक जानते हैं। सातवाहन राजा बीचके प्रदेशमें थे (महाराष्ट्रमें), पश्चिमी घाटके पड़ोसमें। वाकाटक राजा और भी मध्यमें थे। बातापी (बादामी) के चालुक्य राजा कर्नाटकमें [दोनों घाटोंके मध्यभागमें] थे। कर्नाटक एक प्रकारसे दक्षिण भारतका मध्य भाग है। यहींपर चालुक्य, तथा राष्ट्रकूट राजाओंने अपने साम्राज्यका विस्तार किया। बादमें विजयनगरका साम्राज्य भी इसी प्रदेशमें रहा है।

३०२. इतिहास और भूगोल दोनोंको मिलाकर, दोनोंका आपसमें सम्बन्ध देखते हुए यदि हम भाषाओं पर विचार करें तो वस्तुस्थितिको ठीकसे समझा जा सकेगा।

३०३. तमिल प्रदेशका इतिहास, दक्षिणमें अन्य प्रदेशोंसे भिन्न है। इसीलिए तमिल भाषाका इतिहास दक्षिणकी अन्य भाषाओंसे विलग है। तमिल भाषाका प्राचीन ऐतिहासिक रूप—द्रविड़ परिवारकी अन्य भाषाओंकी तुलनामें अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है।

३०४. पश्चिमी तटपर कोंकणी भाषा मराठीसे सम्बद्ध है। मराठीका ही वह रूप है किन्तु भौगोलिक कारणोंसे अलगाव है। इसी प्रकार कन्नड़से तुलू और हव्यक अलग है और तमिलसे मलयालम अलग है। ऐसा अलगाव पूर्वी तटकी भाषाओंमें नहीं है।

३०५. कन्नड़-तेलुगु दोनोंही भाषाएं दक्षिण भारत के केन्द्रकी भाषाएं हैं। साम्राज्यके अन्तर्गत (चालुक्य एवं राष्ट्रकूट) ये दोनोंही भाषाएं रही हैं। कन्नड़से तेलुगु के अलगावका कारण पूर्वी समुद्रका तट है। कृष्णा और गोदावरी—जहां समुद्रसे मिलती हैं—उसके बीचका सारा समृद्ध भाग तेलुगु भाषाका है। यों राजनीतिका प्रधान केन्द्र कर्नाटक ही रहा है। कन्नड़ भाषा द्रविड़ परिवारकी अन्य तीनों भाषाओं [मलयालम, तमिल और तेलुगु] के सीमा प्रदेशोंसे घिरी है। उत्तरमें मराठी हैं। कर्नाटकके राजाओंने आन्ध्र-प्रदेशपर शासन किया है। राजनीतिक रूपमें तेलुगु भाषा और साहित्यकी श्री-वृद्धि कर्नाटकमें हुई है। विजयनगरके राजवंशने तेलुगु भाषाको प्रश्रय दिया था। इस नाते दोनों भाषाओंकी लिपि भी प्रायः समान रही है। वर्णमाला लगभग समान है। प्रत्येक वर्णपर ऊपरकी रेखा में [जिसे तलकट्टु कहते हैं] अन्तर है। तेलुगुमें तलकट्टु तिरछा लगाते हैं और कन्नड़में आड़ा लगाते हैं। इस अन्तरको दूर कर दें तो दोनों भाषाओंकी लिपि एक हो जाती है। चर्चा है कि दोनों प्रदेशोंमें [आन्ध्र-प्रदेश और कर्नाटकमें] लिपिके स्तरपर समझौता हो गया है और अब दोनोंकी लिपि एक कर दी गयी है। ठीक वैसेही जैसे मराठी और हिन्दी दोनोंकी लिपि नागरी है।

३०६. महाराष्ट्र दक्षिण भारतका भाग होते हुए भी [भौगोलिक रूपमें दक्षिणमें होनेपर भी] वह उत्तर भारतके सम्पर्कमें अधिक रहा है। मध्यप्रदेश और गुजरातसे भौगोलिक रूपमें दूरतक नर्मदाके किनारे तक जुड़ा रहनेके कारण महाराष्ट्रकी राजनीतिक स्थिति दक्षिण भारतसे कुछ भिन्न रही है। इसीलिए मराठी भाषाका इतिहास दक्षिण भारतकी अन्य भाषाओंके इतिहाससे भिन्न है। इसपर भी मराठी और कन्नड़ भाषाएं आपस



में जुड़ी हैं।  
३०७. काशीप्रसाद जायसवालने 'भारतवर्षका  
अन्धकारयुगीन इतिहास' (सन् १५० ई. से ३७० ई.)  
पुस्तक लिखी है। अनुवाद—रामचन्द्र वर्माने किया है।  
१९३२ ई. में यह नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसीसे  
प्रथम बार प्रकाशित हुई। इसका दूसरा संस्करण १९-  
५० ई. में छपा है। पुस्तकमें नागवंश और वाकाटक  
वंशके राजाओंका इतिहास है। पौराणिक सामाग्रीको  
बाधर मानकर पुस्तक लिखी गयी है। इसपर भी नाग-  
वंशके उपलब्ध सिक्कोंका उपयोग किया गया है। इससे पौरा-  
णिक सामग्रीको पुष्ट ऐतिहासिक आधार मिल गया है। मौर्यों  
के बादके गुप्त राजाओंके इतिहासको समझनेमें यह पुस्तक  
बहुत उपयोगी है। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार  
की भाषाओंकी सीमाओंसे जुड़ा यह भारतवर्षका मध्य  
भाग—वाकाटकोंके राज्यका क्षेत्र था। इस क्षेत्रकी  
भौगोलिक सीमाओंका परिचय देते हुए काशीप्रसाद  
जायसवालने लिखा है—

“उनका (वाकाटकोंका) राज्य बुन्देलखण्डकी  
पश्चिमी सीमासे, जहांसे बुन्देलखण्ड शुरू होता है अर्थात्  
अजयगढ़ और पन्नासे आरम्भ होता है और समस्त मध्य  
प्रदेश तथा बरारमें उनका राज्य था। त्रिकूट देशपर  
भी उन्हींका राज्य था जो उत्तरी कोंकणमें स्थित था  
और वे समुद्रतक मराठा देशके उत्तरी भागके स्वामी  
थे। वे कुंतल अर्थात् कर्नाटक और आन्ध्र देशके पड़ोसी  
थे। वे विन्ध्यकी सारी उपत्यका और विन्ध्य तथा सतपुड़ा  
के बीचकी तराईपर, जिसमें मैकल पर्वतमालाभी सम्मि-  
लित थी, प्रत्यक्ष रूपसे शासन करते थे। अजंता घाटीसे  
होकर दक्षिण जानेका जो मार्ग था, वह भी उन्हींके  
अधिकारमें था। उनके साम्राज्यमें दक्षिण कोशल, आंध्र,  
पश्चिमी मालवा और उत्तरी हैदराबाद सम्मिलित था।  
और भारविशेषे उत्तराधिकारमें उन्होंने जो कुछ पाया  
था वह उससे अलग था।” ३४

काशीप्रसाद जायसवालका कहना है कि (निष्कर्षात्मक  
रूपमें लिखा है) “वास्तवमें भारतका प्रायः अर्द्ध शताब्दीका  
इतिहास है जिसे हमें वाकाटक काल कहना पड़ता है। एक

तो कालके विचारसे इसका महत्त्व बहुत अधिक है और  
दूसरे इसलिए इसका महत्त्व है कि इससे परवर्ती साम्रा-  
ज्य काल अर्थात् गुप्त साम्राज्यके उदय और प्रगतिसे  
सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातोंका पता चलता है।  
सीमा तथा विस्तारकी दृष्टिसे भी और संस्कृतिकी  
दृष्टिसे भी गुप्तोंने न केवल उसी साम्राज्यपर अधिकार  
किया था जो प्रवरसेन प्रथम स्थापित कर चुका था। यदि  
पहलेसे वाकाटक साम्राज्य न होता तो फिर गुप्त साम्रा-  
ज्यभी न होता।” ३५

३०८. वाकाटकोंसे पूर्व नागवंशी राजा थे और  
बादमें गुप्त वंशके राजा हुए। मौर्यवंशके बादमें शुंग  
राजा हुए थे। ये सब राजा प्राकृतकी परम्पराके [मौर्यों  
के समयसे चली आती] अपनाये हुए थे। इसके साथ-  
साथ वे संस्कृतको भी महत्त्व देने लगे थे। गुप्त वंशके  
साम्राज्यका उदय होनेपर प्राकृतका स्थान संस्कृतने ले  
लिया। वाकाटकोंके बादमें वातापीमें (बीजापुर जिलेमें)  
चालुक्योंका उदय हुआ और तबसे दक्षिणकी राजनीति  
का केन्द्र कर्नाटक होगया। इस सम्बन्धमें ऊपर लिखा  
गया है। वाकाटकोंके कारण मराठी भाषा आर्य परिवार  
की भाषाओंमें सम्मिलित हुई क्या? इस तथ्यपर विचार  
करना चाहिये। मैं यह बात ऐतिहासिक संदर्भमें कह  
रहा हूँ।

३०९. प्रवरसेन (द्वितीय) कृत 'सेतुबन्ध' प्राकृत  
भाषाका महाकाव्य है जिसकी प्रशंसा दण्डीने की है और  
जो प्राकृत भाषाको गौरव प्रदान करनेवाला काव्य है।  
इस प्रवरसेनका समय लगभग ४१० ई. बताया गया है।  
अनन्त सदाशिव अल्तेकर लिखते हैं :—

“वह (प्रवरसेन) एक साहित्यिक अभिरुचिका  
पुरुष था और उसने 'सेतुबन्ध' नामक एक प्राकृत काव्य  
रचा था जिसमें राम द्वारा लंकाकी विजयका वर्णन किया  
गया है। उसके वंशमें रामटेकके रामस्वामीका बहुत  
सम्मान था, सो प्रवरसेनके लिए जो एक पुराणोंके  
उल्लेखानुसार वैष्णव था, स्वाभाविक ही था कि वह  
अपने काव्यकी कथावस्तुके लिए विष्णुके लिए अवतार  
रामके वीर-चरितोंकी ओर उन्मुख होता।” ३६

३५. वही, ११९।

३६. वाकाटक-गुप्त-युग—डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार, डॉ.  
अनन्त सदाशिव अल्तेकर; पुनरीक्षक: रायकृष्णदास।  
मोतीलाल बनारसीदास। प्रथम संस्करण १९६८,  
पृ. १११।

३४. अन्धकारयुगीन भारत—काशीप्रसाद जायसवाल,  
अनुवादक: रामचन्द्र वर्मा। नागरी प्रचारिणी  
सभा, वाराणसी। द्वितीय संस्करण संवत् २०१४,  
पृ. ११८-११९।



३१०. वस्तुतः हमें प्रवरसेनके द्वारा 'सेतुबन्ध' काव्य लिखे जानेके कारणोंपर विचार करना चाहिये। इस काव्यका सम्बन्ध कुन्तल देश (कर्नाटक) के राजासे भी बताया जाता है। कालिदासके साथभी इस काव्यका सम्बन्ध जोड़ा गया है। किन्तु इन कथनोंका खण्डन हुआ है।<sup>३७</sup> मूल बात यह है कि यह महत् महाकाव्य प्राकृत

## पठनीय और संग्रहणीय ग्रन्थ

### उपन्यास

अपराधी वैज्ञानिक—यमुनादत्त वैष्णव	५०.००
ये पहाड़ी लोग	२५.००
सुधा (मलयालमसे अनूदित) — टी. एन. गोपीनाथ	२५.००
शकुन्तला (अभिज्ञान शाकुन्तलम् का औपन्यासिक रूपान्तर)	३०.००
प्रवासी—श्यामचरण मिश्र	३०.००

### जीवन दर्शन

शंकराचार्य : जीवन और दर्शन —वैद्य नारायणदत्त	२०.००
महर्षि दयानन्द : जीवन और दर्शन —वैद्य नारायणदत्त	२५.००
गुरुनानक : जीवन और दर्शन —वैद्य नारायणदत्त	३०.००
श्री अरविन्द : जीवन और दर्शन—रवीन्द्र	२०.००

### समसामयिक साहित्य

रूपयेका अवमूल्यन और उसका प्रभाव —सम्पा. डॉ. लक्ष्मीमल सिधवी	४०.००
समाजवादी बर्मा—श्यामाचरण मिश्र	३०.००
विस्तारवादी चीन— जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी (जेबी आकार)	६.००
एवरेस्ट अभियान —डॉ. हरिदत्त भट्ट शैलेश	६.००

**‘प्रकर’ कार्यालय, ए-८/४२, राणा**

**प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.**

३७. प्रवरसेनसे सेतुबन्ध, अनुवाद : के. के. हण्डिकी।  
प्रका. प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद, १९७६,  
पृ. १६ से २२ (भूमिका).

‘प्रकर’—अक्टूबर ६०—१२

भाषामें उस समय लिखा गया, जबकि प्राकृतके लिए अनुकूल वातावरण कम होने लगा था। इस काव्यके आधारपर यह बातभी कही जा सकती है कि प्राकृत-भाषाको साहित्यिक क्षेत्रमें प्रतिष्ठा मिली। भलेही यह कुन्तल (कर्नाटक) के राजासे सम्बद्ध न हो तब भी कुन्तल देशमें इस काव्यको और तदनुसार दक्षिणमें इसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। सातवाहनोंके बादमें और वाका-टकोंके समयमें भी प्राकृत भाषाको महत्त्व प्राप्त था और इसका प्रभाव संस्कृतके आचार्यों और कवियोंपर था। प्राकृत भाषाके काव्य क्षेत्रमें बने रहनेके कारण देशी भाषाओंको साहित्यिक क्षेत्रमें शीघ्र प्रवेश नहीं मिला। इसके विपरीत द्रविड़ परिवारकी भाषाएं पहले प्रकाशमें आ गयीं।

३११. द्रविड़ परिवारके भौगोलिक क्षेत्रमें बोलोगत तथा भाषागत अलगावको दूर करनेके लिए और उन्हें एक सूत्रमें जोड़नेके लिए किसी सामान्य भाषाका (आद्य द्रविड़का) कोई रूप हमें नहीं मिलता। तमिलको (प्राचीनतम भाषा होते हुएभी) आद्य-द्रविड़ नहीं कहा जाता। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं—

“द्रविड़ भाषा क्षेत्रमें किसी एक मानक अन्तःजन-पदीय भाषाका प्रसार उस तरह नहीं हुआ जिस प्रकार आर्य-भाषा क्षेत्रमें संस्कृतका प्रसार हुआ। प्राचीन गण-भाषाओंकी विविधता द्रविड़ प्रदेशोंमें अधिक सुरक्षित है।”<sup>३८</sup>

इस कथनमें कुछ संशोधन करते हुए (डॉ. राम-विलासकी बातको स्वीकार करते हुए) मैं कुछ कहना चाहूंगा : कि संस्कृत भाषा जिस प्रकार आर्य परिवारकी भाषाओंमें (उत्तरमें) अन्तःजनपदीय मानक भाषाके रूपमें कार्य करती रही है, वैसे ही उसने (दक्षिणमें भी) द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके क्षेत्रमें भी अन्तःजनपदीय भाषाके रूपमें कार्य किया है। इस स्थितिपर प्रकाश डालनेवाली पुस्तकें नहीं मिलती और दूसरी बात यह है कि विदेशियोंने संस्कृत भाषाको पारिवारिक अलगावका प्रधान कारण माना है। इसी लिए डॉ. रामविलास शर्माको भी इस प्रकार लिखना पड़ा है। □

[लिखमालाका अगला लेख : ‘द्रविड़ परिवारकी भाषाएं और हिन्दी’ दिसम्बर ६० अंकसे]

३८. भारतके प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भाग ३), डॉ. रामविलास शर्मा। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८१, पृ. २३७.



## हिन्दी वैज्ञानिक-कथा साहित्यके रचनाकार यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'

—डॉ. विवेकानन्द शर्मा

वैष्णवजीके "अस्थिपिंजर" नामक प्रथम विज्ञान कथा संग्रहकी भूमिकामें, १९३७ की इलाहाबाद विश्वविद्यालयकी हिन्दी गल्प प्रतियोगितामें पुरस्कृत इस रचनाके विषयमें स्व. जैनेन्द्रजीने लिखाथा : "पुरस्कृत कहानी 'वैज्ञानिककी पत्नी' पर अबभी सोचताहूँ तो स्तब्ध रह जाना होताहूँ। उच्छ्वासका तनिक भी व्यय वहाँ नहीं है। कुल मिलाकर एक ऐसी गंभीर सप्रसन्नता और विह्वलता कथासे प्राप्त होतीहै कि उसके प्रभावमें व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, राग-द्वेष पाठकमें कुछ देके लिए लीन और मूर्च्छित हो जातेहैं।"

वैष्णवजी विद्यार्थी जीवनसे ही ऐसी प्रभावी शैलीमें पुरातत्त्व, भाषाविज्ञानके पूर्ण पाण्डित्य और व्यापक विदग्धताको लेकर मर्मस्पर्शी साहित्यका निर्माण करनेमें गत ५५ वर्षोंसे हिन्दी साहित्यका कोश भर रहेहैं। उनकी रचनाओंसे कथा-रसके साथ-साथ वैज्ञानिक जीवन-दर्शनकी भी उपलब्धि होतीहै। अन्ध-विश्वास खण्डित होते रहतेहैं, भ्रमोंका निवारण होता जाताहै और तर्क-शील जीवनदृष्टि प्राप्त होती जातीहै। स्वयं वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकोंके लिए भी उनकी विज्ञान कथाओंमें नयी दिशाओं, नूतन अवधारणों और अग्रसर होनेके लिए ठोस आधार रहतेहैं। यह गुणवत्ता अवतक दर्शनशास्त्रमें ही पायी जातीथी।

आख्यायिकाओंकी भांति किन्तु यथार्थके अत्यन्त निकट रहकर विज्ञानकी परीक्षित वास्तविकताको एक

खोजी संवाद "स्टोरी"का रूप देना उनकी विशेषता है। वे सीधे उपदेश न देकर किसी सच्ची घटनाके पात्रोंके ऐसे मनोवैज्ञानिक और सजीव चित्रण करतेहैं कि अपने विश्वास और पूर्वाग्रहके सत्य और असत्यसे पाठक सहज ही अवगत हो जाताहै। उसके व्यवहारमें भ्रान्तिका अवसर नहीं आने पाता।

आधुनिक खोजोंके आधारपर अब यह सर्वमान्य तथ्य है कि विश्वकी प्राचीनतम सभ्यता किसी एक समुदाय या वर्गकी नहीं होती अपितु देश और राष्ट्रकी सीमाओंसे आगे सार्वभौम सांस्कृतिक थाती है। इसी तथ्यके चाक्षुष अध्ययनको आधार बनाकर रचित 'द्रविड़ संस्कृति और मानवता' ग्रन्थ पांच खण्डों का सम्पूर्ण संस्करण है : "कुतः स्म जाताः (हमने किस हेतु जन्म लिया) कुतो इयं विसृष्टिः (सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हुई)।" यह प्रश्न अबतकके विभिन्न देशों के इतिहासकारों द्वारा अपने देश और राष्ट्रकी श्रेष्ठता के आधारपर लिखे इतिहासोंके सन्दर्भमें आज बड़ा प्रासंगिक है। द्वितीय विश्वयुद्धके महाविनाशका कारण थी सन् १९२६ में प्रकाशित आस्ट्रेलियन पुरातत्त्ववेत्ता बी. गार्डन चाइल्डकी पुस्तक "दि आर्यन्स"। जातीय श्रेष्ठताके उस मिद्धान्तको निराधार सिद्ध करते हुए लेखकने ऐतिहासिक भाषाविज्ञानसे संस्कृतियोंके इतिहास अध्ययनको एक नयी दिशा प्रदान कीहै। जातिवादके १९२० और १९३० के दशकोंके प्रतिपादकोंकी

श्री वैष्णव गत ५५ वर्षसे निरन्तर लेखन कार्य कर रहेहैं। हिन्दीकी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें उनके लेख, कहानियाँ प्रचुर मात्रामें प्रकाशित होती रहीहैं। पुस्तकाकार रूपमें उनकी ३४ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकीहैं, जिसमें १५ विज्ञान कथा-साहित्य और उपन्यास हैं, ७ कथा संग्रह, ८ हिन्दी विज्ञान साहित्य तथा ५ संस्कृति और इतिहास संबंधी। लेखन और इतिहास-संस्कृति अध्ययनके लिए विदेश यात्राएं कीहैं। उन्हें देश-विदेशमें सम्मान भी मिला है। आजकल वे कुमाऊं संस्कृति परिषद् नैनीतालके अध्यक्ष हैं।

श्री वैष्णवका जन्म २ अक्टूबर १९१५ को कौसानी (अल्मोड़ा) के निकट ग्राम घौलरामें हुआ। पञ्चहत्तर वर्षकी, पूर्तिपर हम उन्हें बधाई देतेहैं। आजभी वे हिन्दी लेखनमें प्रवृत्त हैं, वे दीर्घायु प्राप्तकर हिन्दी की अधिक सेवा करनेमें समर्थ हों, यही मंगलकामना है।



स्थापनाओंको सबसे बड़ी चुनौती उत्तरी यूनानके सिता-ग्रीई नामक प्राचीन स्थलपर १९६४-७० के एंग्लो-अमरीकी पुरातत्त्व उत्खनन अभियानोंके बाद मिली है। जीजस कॉलेज कैम्ब्रिजके डिज्नी प्रोफेसर ऑफ आर्कि-योलोजीकी "सभ्यतासे पहले" और "पुरातत्त्व और भाषा" पुस्तकोंके प्रकाशनसे दो सौ वर्ष पुराने रायल एशियाइटिक सोसाइटीके संस्थापक सर विलियम जोन्स के तुलनात्मक भाषाविज्ञानको हास्यास्पद और निरर्थक सिद्ध कर दिया है। साथही इण्डो-यूरोपियन भाषाओंके बोलनेवाले लोगोंके पूर्वज यूरोपके आर-पार अनातो-लियासे तिक्यांग और चीनमें किस प्रकार फैले इसपर नया प्रकाश डाला है। समीक्षाधीन पुस्तकमें सभी भाषाओंकी जननी सुमेरी भाषा और सभी धर्मोंके आदि देव यहूव है, इस तथ्यपर प्रकाश डाला गया है। भारतके उस विस्मृत अतीतकी गहराई तक जाकर लेखक सहज ढंगसे बिना किसी दुरुहताके अपनी विज्ञान कथा शैलीमें पाठकोंको हजारों वर्ष पहलेके दृश्य दिखा देता है।

सरकारी नौकरीकी ३६ वर्षकी अवधिमें आरम्भमें वे अपने उपनाम "अशोक" से ही साहित्य रचना करते थे। जब उनकी रचनाओंकी चोरी होने लगी तो उन्होंने अपने सही नामसे लिखनेकी सरकारी अनुमति कुछ विशेष प्रतिबन्धों सहित प्राप्त करली। सच्ची घटनाका भी वर्णन करनेके लिए उन्हें पात्रोंको कल्पित नाम देना आवश्यक था इसपर भी यथार्थको संवाद 'स्टोरी' के रूपमें प्रस्तुत करनेमें जोखिम रहता था। सेवा-निवृत्तिके उपरान्त साहित्य सेवाके सरकारी नियमोंके बन्धनसे मुक्त होतेही वैष्णवजीने पुरातत्त्वको अपने कथाशिल्पका आधार बनाया। वास्तवमें पुरातात्त्विक उत्खननोंसे प्राप्त जानकारी अपेक्षित, रोमांचक और सभी पूर्वाग्रहोंसे युक्त होती है। इस भाँति उन्होंने उस पूर्वतिहास कालसे जो सिन्धु सभ्यतासे भी ३००० वर्ष पुराना है, आधुनिक विज्ञान युगतक की मान्यताके इतिवृत्तकी महासमन्वयात्मक रूपसे विवेचना तथा विश्लेषण करने के लिए अपनी ओरसे कहीं कोई कसर नहीं रहनेदी।

स्वयं अपनी आँखोंसे देखे पुरातात्त्विक स्थलोंके दर्शन करके अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करनेमें शोधपरक वैज्ञानिक दृष्टिका परित्याग कहींभी नहीं होने दिया। अपने विज्ञान साहित्यको विश्वस्तरीय मानक रूप देनेके लिए अवकाश प्राप्तिके उपरान्त १९७४ में उन्होंने

हिमालयन स्टडीज सेमिनार (कुमाऊं विश्वविद्यालय) में "खस-मुण्डा परिवारकी पर्वतीय भाषामें सुमेरी और वैदिक शब्द" शोधपत्र प्रस्तुत किया। स्वयं शोध-छात्र बनकर वयोवृद्ध संस्कृत और जर्मन भाषाके प्रख्यात विद्वान् तथा फरग्युसन कालेज पुणेके अवकाशप्राप्त प्रोफेसर डॉ. बी. जी. परांजपेके निर्देशनमें अस्सीरियाके शामक असुर बाण पाल (६६८-६२६ ई. पू.) की ऐतिहासिकतापर "असूर्या नाम ते लोकाः" शोध ग्रन्थका प्रणयन किया।

प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलनके दिसम्बर १० और ११, १९८३ के इन्दौर अधिवेशनके उपरान्त दक्षिण भारतकी भाषिक मानसिकताका स्वयं अध्ययन करनेके लिए उन्होंने पाँचों द्रविड़ भाषाओंके पुरातात्त्विक क्षेत्रों की ३ मास तक यात्रा की। भारतमें तो आजभी असुर बाणपाल मिथकों और पुराण कथाओंका पात्र है। असुर बाणपाल (६६८-६२६ ई. पू.) इतिहासके दर्पणमें लेखमालाके प्रकाशनसे उनको विदेशमें असुर विद्याका विशेषज्ञ माना जाने लगा। मार्च १९८५ में वे यरुसलेम-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनमें आदि द्रविड़ (इण्डो-कैस्पियन) संस्कृतिपर व्याख्यान देने आमन्त्रित हुए। इसी विषयपर उन्हें बी. बी. सी. लन्दन, बी. बी. सी. नार्थ-वैस्ट मैनचेस्टर तथा बर्मिंघममें व्याख्यान देने आमन्त्रित किया गया। उन्होंने मिस्र देश जाकर प्राचीनतम मानव संस्कृतिका भाषिक और ऐतिहासिक अध्ययन किया। कलकत्तामें राष्ट्रभाषा परिषद् भवनमें १५ दिसम्बर, १९८५ को इस विषयपर लिखी उनकी 'द्रविड़ संस्कृति' शीर्षक कृतिका विमोचन हुआ।

अपनी इस शोधको विश्वस्तरीय मानक रूपमें देनेके लिए लेखकने मैनचेस्टर म्यूजियममें जाकर वहाँकी इजिप्ट गैलरीजकी प्रथम क्यूरेटर डॉ. मार्गरेट ए. मरेके उन मूल साक्ष्योंका संकलन किया जिनमें उन्होंने मिस्र देशके फराओं (राजाओं) की पितृ-भूमि, लैण्ड ऑफ पुण्टको भारतका दक्षिण-पश्चिमी समुद्र तटीय भू-भाग बताया है। अपनी शोधकी समीक्षाके लिए वैष्णवजीने लिवरपूल विश्वविद्यालयके कन्टीन्यूइंग स्टडीज विभागमें दिसम्बर, १९८६ में इजिप्टोलौजी विभागके प्रोफेसर ए. जे. शोरकी कक्षामें प्रवेश लिया। कनाडा जाकर ओटावा, मॉन्ट्रियल और टोरन्टो विश्वविद्यालयके इजिप्टोलौजिस्टोंसे विचार-विमर्श किया। वापस लिवरपूल जाकर ७ मार्च, १९८७ को शोध निबन्धके प्रत्येक



अध्यायी व्यापक समीक्षा प्रोफेसर ए. जे. शोरके सभा-  
पत्रिक में लगभग ६० मिस्रा-विद्याके सहपाठियोंके मध्य  
मदाग जेनीन बोरियो, डॉ. क्रिस्टोफर आयर तथा जॉन  
डो. रे. इन तीन प्रोफेसरोंके व्याख्यानोके मध्य हुई।  
विश्वविद्यालयोंके उच्चकोटिके विद्वानोंके विशद विवेचन  
से प्रोत्साहित होकर वैष्णवजीने मैनचेस्टर विश्वविद्या-  
लयके मानविकी संकायके एक्स्ट्रायूरल विभागमें प्रवेश  
लिया। प्रोफेसर डॉ. एन. जे. हाइम द्वारा निर्देशित  
वेशापरके टोन गांवमें मार्च-अप्रैल, १९८७ में पुरा-  
तात्विक उत्खनन कोर्स संख्या ०१३०१ में स्वयं फावड़ा-  
वेत्ता लेकर ब्रिटेनके आधुनिक उत्खनन विधियोंकी  
व्यावहारिक जानकारी प्राप्त की। आलोच्य ग्रन्थमें  
बिना विसाके मिस्र देशसे होकर इसराइल पहुंचनेमें  
काहिरा हवाई पत्तनमें अठारह घण्टे बन्दीकी भांति बिताने  
का रोमांचक विवरण पढ़कर लेखककी युवाओंको मात  
सेवाली जिन्दादिलीका परिचय मिलता है।

ब्रिटेनके प्रागैतिहासिक स्थलोंमें जाकर प्राचीन  
वस्तुओंको उनके यथार्थ कालमें पुनर्निर्मित करके उसी परि-  
वेशमें जीवंत और मुंहबोलता रूप देनेके चमत्कारका  
स्वयं आंखों देखा हाल प्रस्तुत किया। इसे देखने के योके,  
चेयर गये। इस ग्रंथमें वैष्णवजीने जेरिको (इसराइल)  
तथा मिस्रके पूर्व वंशावली कालसे प्तालमी वंशके ग्रीको  
रोमन शासनकाल तकके यहूव देवताके उपासकोंके  
धार्मिक विश्वासों और परम्पराओंका तुलनात्मक अध्य-  
यन देकर यह दिखातेका प्रयत्न किया है कि विश्वके पूरे  
जन समुदायका स्वभाव हमारे उन आदि पूर्वजोंसे  
लेकर आज तक साधारणतः एक जैसा रहा है। यहूव  
ऋग्वेद कालका इष्टदेव भी है। सभ्यताके उषोदयसे ईसा  
के जन्म तक मानवमात्रकी भली और बुरी प्रवृत्तियां  
सभी कालों और देशोंमें एक-सी रही हैं। जहाँतक आज  
का हिन्दू जन-समुदाय है, वह मिस्रके प्तालमी कालीन  
सार्वभौम सगुण उपासनाके उस धर्मका पालन करने  
वाला है जो ईसाकी सातवीं सदी तक ग्रेट-ब्रिटेनमें  
कैल्टिक समाजका लोक-धर्म था। यह वही अचार-  
विचार है जो यरुसलेमके रोमन करद राजा हैरोड  
महान् के द्वारा प्रचारित किये थे। ईसवी सन् के आरम्भ  
तक सगुण उपासना एक सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय सभ्यता  
का अंग बन गया था। राजा कैस्टर (सीजर) उपाधिसे  
ख्यात मानव देहमें पृथ्वीपर विद्यमान सूर्यपुत्र माना जाने  
लागा था। इसी सार्वभौम बहुदेववादपर आधारित  
संस्कृतिके प्रतीक हमारे महाकाव्य हैं जिनकी रचनाका  
यथेय कुशन राजा कनिष्कके राजकवि अश्वघोषको है।

इस पुस्तकका प्रकाशन चार चरणोंमें सम्पन्न हुआ  
है। प्रथम चरणका विमोचन, जैसाकि ऊपर बताया गया  
है, कलकत्तामें हुआ। उस संस्करणकी भूमिकामें स्व.  
राजेश्वरप्रसाद त्रिपाठीने लिखा था—आज पृथक् राष्ट्र,  
पृथक् देश, पृथक् जाति तथा पृथक् भाषाकी भ्रान्तिके  
फलस्वरूप मानव समाजमें जो संघर्ष रहे हैं उसीके एक  
विशेष पक्षको लेकर कीमती लेखककी यह शोध यात्रा  
बड़े ही ऐतिहासिक सांस्कृतिक महत्त्व की है।

सितम्बर १४, १९८६ को इस ग्रन्थके लिए उत्तर  
प्रदेश हिन्दी संस्थानने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी  
नामित पुरस्कार देकर समादृत करते हुए ग्रन्थके विषयमें  
लिखा है—“आज हमारा देश अपनी अखण्डताको लेकर  
अनवरत संघर्ष कर रहा है किन्तु उसीके समानान्तर नित-  
नयी समस्याएं भी पैदा हो रही हैं। श्री यमुनादत्त वैष्णव-  
“अशोक” पुस्तक विश्व मानवतामें इतिहासकी अनन्वेषित  
गुफाओंमें जाकर ऐसे विचारोंकी अग्नि ले आते हैं जिनकी  
रोशनीमें सामाजिक जीवनका अत्यधिक क्षुब्ध, दुःखी  
और असन्तुष्ट वर्ग आस्था स्वाभिमानकी निधि प्राप्त  
करता है। श्री “अशोक” की यह कृति इस अर्थमें बेहद  
प्रासंगिक और मूल्यवान् है कि देशकी एकता और  
अखण्डताको आन्तरिक धागोंसे बांधकर मजबूती और  
शक्ति प्रदान करती है।

लिवरपूल विश्वविद्यालयकी मार्च, १९८७ की  
बर्फीली-तूफानी यात्रा और सहपाठी गेनली द्वारा बस-  
स्टेशन तक गिरते-पड़ते जानेका वृत्तान्त तथा औरभी  
अनेक ऐसे ही घटनाओंके वर्णनोंमें लालित्य, सरलता,  
गाम्भीर्य और अर्थवत्ताके दर्शन सर्वत्र होते हैं।

ग्रन्थके आरम्भमें लेखकका समर्पण वक्तव्य जिस  
अध्ययनशीलता, भाषाओं और संस्कृतियोंके आदि मूल-  
तक पहुंचनेके अदम्य उत्साह, जीवनकी उत्तरावस्थामें  
भी ज्ञानकी पिपासाको शान्त करनेके लिए उठाये गये  
जिस जोखिमका परिचय देता है उसका दूसरा उदाहरण  
मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थके माध्यमसे मुझ जैसे  
भारतमूलक विदेशी नागरिकको यह पता चला कि  
विश्वके सभी धर्मोंके मूलमें ऋग्वेदमें वर्णित पृथ्वी और  
आकाशका स्वामी यहूव देव है और इण्डो-आर्य तथा  
सेमेटिक, हेमेटिक आदि विविध भाषाओंकी आदि  
प्रपितामही सुमेरी है तो मैं आत्मविभोर हो उठा।

निष्कर्षके रूपमें मेरी यह धारणा बनती है कि पुरा-  
तत्त्व, भाषा-विज्ञान और धर्मके मूल तक पहुंचनेकी यह  
एक ऐसी कृति है जिसका हिन्दी साहित्यमें तो क्या  
विश्व साहित्यमें भी अपना जोड़ नहीं है। मानव मात्र  
की संयुक्त सांस्कृतिक विरासतकी यह विज्ञान-कथा  
हिन्दी जगत्के लिए एक अमूल्य उपहार है।



## द्रविड़ संस्कृति और विश्व मानवता<sup>१</sup>

लेखक : यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'

समीक्षक : डॉ. राजमल बोरा

पुस्तकका शीर्षक पढ़कर इसके प्रति जो जिज्ञासा थी, वह दूसरे प्रकारकी थी। पुस्तक पढ़नेपर दूसराही अनुभव हुआ। पुस्तक प्रधान रूपसे यात्रा-साहित्यसे सम्बन्धित है। और इसका आभास शीर्षकमें नहीं है।

श्री यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' ने देश-विदेशकी यात्राएं की हैं। देशाटन अपने आपमें ज्ञान-वृद्धिमें सहायक होता है। इस रूपमें जो कुछ देखनेमें आता है, वह हमारी अपनी जानकारीका मूल आधार हो जाता है। उसे हम प्रामाणिक और व्यावहारिक मानते हैं। यात्रा-साहित्य पढ़नेका सबसे बड़ा लाभ है कि जिन स्थलोंकी यात्रा हमने नहीं की है, उन स्थलोंका वर्णन हम दूसरेके द्वारा लिखित पढ़कर स्वयंभी उस स्थानपर पहुंच जाते हैं और यात्राके आनन्दका अनुभव करते हैं। यात्राका वर्णन प्रधान रूपसे वैयक्तिक अधिक होता है। उसमें आत्मीयता होती है। इस रूपमें श्री वैष्णवकी यह पुस्तक वैयक्तिक अनुभवोंसे परिपूर्ण मिलेगी। पुस्तकको गंभीर बनानेका प्रयत्न लेखकने किया है, फिरभी पुस्तक अंततः वैयक्तिक अनुभवोंके वर्णनोंसे युक्त हो गयी है।

पुस्तक चार भागोंमें विभाजित है। प्रथम भागमें १६ शीर्षक हैं। क्रमशः प्रस्तावना/ प्राक्कथन/ इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन/ द्रविड़ भाषाकी प्राचीनता / मद्रास नगरमें हिन्दी / महाबलीपुरम् तथा कांचीपुरम् / तिरुपति और तिरुमलाई/ तिरुपतिसे वापसी : तेलुगु देशम्—हिन्दी उर्दूका जन्म-स्थल / मदुरा पुराण मथुरा/ सेतुबन्ध रामेश्वरम् या आदमका पुल / कन्याकुमारी—कन्निया कुमारी/ केरल और मलयालम/ पुण्ट स्तम्भावली (मिस्रमें)/ सबरीमाला-पत्तनमत्तिट्ट : पौराणिकता और वैदिक मिथक / केरलका यूहूदी राजवंश और कर्नाटक और कन्नड़ भाषा—सभी शीर्षक [पुण्ट स्तम्भावली [मिस्रमें] को छोड़ दें तो] दक्षिण भारतकी यात्राओंसे सम्बन्धित हैं। पुस्तकके शीर्षकमें द्रविड़-संस्कृति

१. प्रकाशक : अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा (उ. प्र.) । पृष्ठ : ४१५; डिमा. ८७; मूल्य : १५०.०० रु. ।

का कारण दक्षिण भारतकी यात्राओंके माध्यमसे द्रविड़ संस्कृतिको पहचानने, उसे निकटसे जाननेका प्रयत्न है। यात्रा वर्तमानमें होती है और उसका वर्णन साक्षात्कार [आंखों देखा वर्णन] के रूपमें होता है। इसमें अतीत के लिए बहुत जगह नहीं होती। यात्रामें हमारा लक्ष्य ऐतिहासिक स्थलोंको देखना होता है। इन्हें देखते समय यदि हमें इतिहासका ठीक-ठीक ज्ञान न हो तो हमारे मनमें जिज्ञासा जागृत तो होती है किन्तु समाधान नहीं होता। ऐसी जिज्ञासाएं पुस्तकमें हैं। निजी अनुभवभी हैं। यात्राओंके कष्टभी होते हैं, उन कष्टोंका विवरणभी लेखकने विस्तारसे दिया है। पुस्तक लिखनेमें—विवरणों को प्रस्तुत करनेमें लेखकके मनमें सद्भावना है। धरती का आकर्षण लेखकको खींचकर हर जगह ले जाता रहा है और कष्टोंमें भी लेखकने आनन्द माना है। अतीतका आकर्षण और उन्हें पहचाननेकी जिज्ञासाके कारण लेखक अपने कष्ट भूल जाता है। यात्राके उत्साहमें कोई कमी नहीं आयी। इसीमें लेखकने अपनेको धन्य माना है। इसीमें संस्कृतिकी पहचान हो गयी है।

यात्रामें हम नये लोगोंके सम्पर्कमें आते हैं। नये-नये शब्दोंको सुनते हैं। उन शब्दोंको सुनकर हम उनपर चिन्तन करते हैं। तुलनात्मक रूपमें सोचने लगते हैं। शब्दके माध्यमसे संस्कृतिको जाननेका प्रयत्न करते हैं। अनुमान करने लगते हैं। हमारा अनुमान कितना ठीक होगा, वह बादकी बात है किन्तु हमारा प्रयत्न तो रहता ही है। ऐसे कुछ उदाहरण पुस्तकसे उद्धृत कर रहा हूँ—

“चलनेके लिए एक क्रिया है /पो/ तो जिन अंगोंसे चलते हैं, उनके लिए/ पग/, जिसपर चलते हैं/ पथ/, जो वस्तुएं गतिशील है, वे/पवन/ कहलायीं। चलनेके लिए एक दूसरी क्रिया है/ गा/ इससे/ गात/शब्द बना/गात/ का प्रतिरूप/गाल/ और प्रथम वर्णके अघोष होनेपर काल, द्रविड़ भाषाओंमें पैरका अर्थ देता है, संस्कृतमें समय और मार्गका सूचक है। एक शब्द था/ घस्त/ इससे फारसीका रूप/ दस्त/, संस्कृत रूप/ हस्त/ बना और इसका करनेवाला क्रिया भाव / धन्धा/ शब्दमें है। इसीके अनुरूप एक शब्द है/ कर /, जिसका अर्थ है हाथ तथा क्रिया भावमें / करना / रूप है। कन्नड़में यही शब्द/ कई/ रूपमें प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ—है करना, उसका तमिल प्रतिरूप है/ चेंय/ हाथके लिए तमिल/ कई/ और कन्नड़/ कयि/ रूप मिलते हैं। तमिल क्रिया/ पण्ण/



का अर्थ है करना, /पण/माने कार्य या सेवा । संस्कृत/  
पाणि/पण्य/वणिक/आदि शब्द इससे सम्बद्ध है ।”

(पृ. १२)

“द्रविड़ भाषाओंके समान बास्क भाषामें /उर/  
शब्द गांवके लिए प्रयुक्त होता है । गांवके नामके साथ  
उर/, इर/ शब्द जुड़े रहते हैं । लहोबारीने बास्कके  
अलावा इटली तथा बल्कान प्रदेशोंके कुछ स्थानोंके नाम  
दिये हैं जिनके अन्तमें /उर/ शब्द आता है । यथा—/  
तिबुर/, अकसुर/ । उनका विचार है कि स्थानोंके ऐसे  
नाम रोमन सभ्यताके प्रसार पहलेके हैं । स्थानोंके कुछ  
लैटिन नाम भी अपने अंतमें यहीं /उर/ जोड़े हुए हैं ।  
इस /उर/को एत्रुस्कन भाषासे उधार लिया हुआ तत्त्व  
माना जाता है । लहोबारीका विचार है कि प्राचीन  
इंडोयूरोपियनमें नगरके लिए कोई शब्द नहीं है और  
लैटिन शब्द /उर्ब्स/ उधार लिया हुआ है ।” (पृ. १४) ।  
उसी पृष्ठपर आगे लिखा है :—

‘सन् १६०६-१२ में ह्यूगो विंगलरकोने बेगाजकोईके  
जखननसे प्राप्त अभिलेखोंमें आर्य देवताओंके नाम मिले ।  
उर/ शब्द पश्चिमी एशियामें उनसे ढाई दो हजार वर्ष  
पहलेसे प्रचलित था । हिन्दी शब्द ‘मौलिक’ का पर्याय  
अंग्रेजी भाषामें /ओरिजनल/ है अर्थात् /उर/ से पैदा  
हुआ । ठीक इसी भान्ति हिन्दी/ मौलिक/ का जर्मन  
पर्यायवाची/उर-स्प्रेक/या उरसे निकला है ।” (पृ. १४) ।  
ऐसे उदाहरण पुस्तकमें मिल जाते हैं । शब्दोंके माध्यमसे  
संस्कृति पहचाननेका प्रयत्न ऐसेही किया गया है ।

पुस्तकके अन्य तीन भागोंमें भी यात्राओंका प्रभाव  
है । भाग २ के शीर्षक—खस (कस्साइट) अथवा इंडो  
कैस्पियन/विश्वकी प्राचीन वर्णमालाएं/इसराइल म्यूजि-  
यम और जेरिको/सुमेरू; मेरू; मरू और मारि/मिस्रका  
वैदिक घर्माविलम्बी फराओ और जल प्रलय—इतिहास  
के दर्पणमें—प्राचीन सुमेर/ । भाग ३के शीर्षक—  
फराओ सेस भारतकी विजय/एशिया माइनरके प्राचीन  
इण्डो आर्य/ असुर, कनानी और पणि/ईसाकी मातृ-  
भूमि गैलिली/ पर्यटकोंका महान् आकर्षण इसराइल/  
मिस्रके स्फिक्स, नृसिंह, गक्ष/ और तीन महाद्वीपोंका  
प्रथम सार्वभौम सम्राट्, कुरुस/ । भाग ४ के शीर्षक—  
भारतमें यहूव प्रभावकी अंतर्धारा/ हिमालयके व्यापा-  
रियोंके परम्परागत सहयोगी यहूदी/ धार्मिक संकीर्णता  
का सिंहवलोकन /और यूरोपके हिन्दू केस्ट/ । परिशिष्ट

में—यहूदी बाइबलमें आये कुछ—भौगोलिक पारिभा-  
षिक शब्द/ कीलाक्षर तथा चित्रलिपिमें प्राचीन सुमेरी  
शब्द/ प्राचीन मिस्री चित्रलिपि तथा आर्यभाषाओंके  
कुछ समानार्थी शब्द /—इसके बादकी सामग्री अंग्रेजी  
भाषामें है । शीर्षक है—आदि द्रविड़ आवासकी शोध-  
यात्रा, पिल्ग्रिमेज टू दी ओरिजनल द्रविड़ियन होमलैण्ड ।  
पुस्तककी सामग्रीसे सम्बन्धित शीर्षक ऊपर दे  
दिये हैं । इन शीर्षकोंका विस्तार पुस्तकमें है । लेखककी  
मान्यता है—

“बृहत्तर भारतका उत्तराखण्ड वह भाग है जहां  
अनेक भाषा परिवार परस्पर मिलते, अपना स्वरूप  
निर्धारित करते रहे हैं । इसलिए फिनोउग्रियन परिवार  
और द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके अनेक शब्द सामान्य  
हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।...आदिकालीन  
द्रविड़ भाषाकी अनेक बोलियां यूराल-अल्ताई भाषाओंके  
घनिष्ट सम्पर्कमें आयीं । इस तरहकी धारणामें असंभव  
कुछ भी नहीं है ” (पृ. १३) ।

बात यह है कि लेखकने इसी मान्यताको ध्यानमें रखते  
हुए यात्रा की और अपनी मान्यताको प्रमाणित करने  
के लिए तथ्योंको मान्यताके अनुरूप प्रस्तुत किया ।  
द्रविड़ बाहरसे आयेथे या वे यहाँसे बाहर गयेथे और  
उनका ठीक काल क्या हो सकता है—इस विस्तारमें  
लेखक गया ही नहीं । विदेशी भाषाविदोंकी भाषा परि-  
वारके सम्बन्धमें जो मान्यता रही है, उसीको स्वीकार  
कर लेखकने उपलब्ध तथ्योंको प्रस्तुत किया है । पुस्तक  
ऐतिहासिक क्रममें नहीं लिखी गयी है । पुस्तकका क्रम  
यात्राओंका है और यात्राओंमें जो ऐतिहासिक स्थल  
देखनेमें आये या जो प्रधान शब्द सुननेमें आये—उनपर  
लेखकने गंभीरतापूर्वक विचार करनेका प्रयत्न बीच-बीच  
में किया है । पुस्तकमें एकरूपता नहीं है । इसलिए विषय  
को ठीकसे पकड़नेमें कठिनाई होती है । शब्दोंसे संस्कृति  
पहचाननेमें—जहां आवश्यक हुआ, वहां पौराणिक  
कथाएं भी बीच-बीचमें लिख दी हैं । लोक साहित्यके  
लिए उपयुक्त सामग्री पुस्तकमें विपुल है । ऐसी सामग्री  
जुटानेमें काफी श्रम करना पड़ता है । ऐसा श्रम लेखकने  
किया है । द्रविड़ भाषा परिवारके स्थलोंकी यात्राके  
विवरणमें लोक प्रचलित मान्यताओंका विवेचन लेखकने  
किया है । प्राचीन इतिहास और ज्ञात इतिहाससे पहले  
का इतिहास, ई. पू. से पहलेकी शताब्दियों पूर्वका  
इतिहास पहचाननेकी जिज्ञासा लेखकमें रही है । जो



कुछ देखनेमें आया और सम्पर्कमें आये लोगोंसे जो जानकारी मिली, उस सबको लेखकने अपनी रोचक शैलीमें लिखा है। पुस्तकमें ३० चित्र और मानचित्र है। इनके कारण पुस्तककी सामग्रीको प्रामाणिक बनानेका प्रयत्न हुआ है।

लेखकने दक्षिण भारत, प्राचीन सुमेर, मिस्र और भूमध्यसागरके देशोंकी यात्रा की है। इस यात्रामें स्थलों के माध्यमसे शब्द और शब्दोंके माध्यमसे प्राक् इतिहास जाननेका प्रयत्न लेखकने किया है। संस्कृतिको पहचानने का यह भी एक व्यावहारिक मार्ग है। लेखकने अनुभव किया कि इन देशोंमें संस्कृतिका समान स्रोत प्रवाहित

होता रहा है। आपसमें सम्पर्कके स्रोतके कुछ संकेत पुस्तकमें मिल जायेंगे।

भाषाविदोंके लिए पुस्तकका उपयोग अपनी जगह है। इसके माध्यमसे भाषाके विविध रूपोंका बोध होगा। अनुमान तो अनुमानही होता है और प्राक् इतिहासकी सामग्री जुटानेमें वस्तुसे व्यक्ति और व्यक्तिसे व्यक्ति की भाषा तक पहुंचनेका प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसा प्रयत्न पुस्तकमें किया गया है। और इस सारे श्रमको पुस्तक रूपमें प्रकाशित कर लेखकने इस विषयपर अध्ययन करनेवालोंके लिए मार्ग खोल दिया है। जो लोग लेखकके विचारोंसे सहमत नहीं होंगे वे भी लेखककी सद्भावनाका उसके सत्प्रयत्नोंका आदर करेंगे। □

## लोक साहित्य

# कश्मीरी लोक-साहित्यके मूल स्रोतोंका संक्षिप्त परिचय

— डा०. विमलाकुमारी मुंशी

कश्मीरका भारतीय संस्कृतिमें अति महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक कालमें ही कश्मीर घाटीमें आर्यों, नागों, चौपानो, यक्षों, पिशाचों, डोमों, गन्धर्वों, निषाधों तथा दमरों (आदिम जातियां तथा जनजातियां) आदिकी उपस्थितिके संकेत मिलते हैं। अधुनातम उत्खननोंसे तो यह संकेत भी मिलते हैं कि वैदिक कालसे पूर्वभी वहाँ गुफाओं तथा गतों-गड्ढों (अंग्रेजीमें 'पिट') में आदिम मनुष्य निवास करते थे। इन आर्यों, नागों यक्षों-गन्धर्वोंके संकेत कश्मीर घाटीकी जल-हिम-प्रधान-संस्कृति तथा उसके लोक-साहित्यमें पाये जाते हैं। कालान्तरमें बौद्ध, इस्लामी, ईसाई (अंग्रेज) सिख तथा डोगरी शासनके कारण इनका समावेश भी वहाँके लोक-साहित्यमें होगया। अंग्रेज 'साहब' का चित्रण आज भी वहाँके लोक-नाटकों (भाड़-जश्न) में बड़े मजेदार ढंगसे किया जाता है। इस्लामके आगमनके बादसे फारसी गाथाओंका समावेश भी वहाँके लोक-साहित्यमें

होगया। मुसलमानोंके अनेक वर्ग कश्मीरमें पाये जाते हैं, जैसे शिया, सुन्नी, अहमदिया (कादियानी) आदि। कुछ 'वहाई' सम्प्रदायके अनुयायी भी घाटीमें हैं<sup>१</sup>। लोक-साहित्यमें इन सबका संकेत तो नहीं है, परन्तु शियाओंके विशिष्ट पेशों सम्बन्धी तथा मुहर्रम सम्बन्धी विशेष साहित्यके संकेत मिलते हैं। कश्मीरमें सूफियोंके अनेकानेक 'तकिये' थे और आज भी सूफिसंगीत (सूफियाना मौसीकी) एक विलग संगीत-विधाके रूपमें कश्मीर घाटीमें प्रचलित है तथा पल्लवित हो रही है। ये सब कश्मीरीके लोक-साहित्यके आधार एवं स्रोत हैं।

प्राचीन कालमें कश्मीर घाटीको यहाँके निवासियों ने तीन भागोंमें विभाजित किया था। इस विभाजन

१. कश्मीर घाटीमें गूजरी, बलती, गुरेजी-शिन्या, पहाड़ी आदि अनेक बोलियां बोली जाती हैं, परन्तु हमारा अध्ययन कश्मीरी भाषा तक ही सीमित है।



का आधार पूर्णरूपेण सामाजिक तथा सांस्कृतिक था। वारामूला-सोपुर एक भाग था तथा दूसरा अनन्तनाग था। इन्हें 'कामराज' तथा 'मराज' नाम दिये गये थे। श्रीनगरके आस-पासके भागको 'यमराज' कहते थे। मान्यता यह थी कि कामराज तथा मराज (ग्रामीण क्षेत्रों के) जो कुछ उत्पन्न करते थे उसे नगरके (शासक वर्ग आदि) लोग खा जाते थे। आज भी इन तीनों क्षेत्रोंके निवासियोंकी प्रवृत्ति भिन्न-सी है। सोपुरवालोंके लिए प्रसिद्ध है कि आतिथ्य करनेमें वे भयंकर कृपण हैं। इन बातोंके संकेत कश्मीरीके मुहावरों तथा कहावतोंमें पाये जाते हैं। प्राचीन कालमें कश्मीर का द्वार रावलपिण्डकी ओरसे वारामूला होता हुआ था, तथा उस क्षेत्रके लोगोंकी वृत्ति-प्रवृत्ति इस निरन्तर आवागमनके कारण एक विशेष प्रकारकी बन गयी थी। इसी प्रकार वुलर झीलके क्षेत्रकी कश्मीरी भाषा तथा संस्कृति किंचित् विचित्र हैं, और वहांकी संस्कृति वहां के नौका-निवासियोंके लोक-गीतोंमें चित्रित होती पायी जाती है।

कहावतों तथा मुहावरोंके अतिरिक्त कश्मीरीका शब्द-भण्डार अपनेमें एक विलग लोक-संस्कृतिका स्रोत है—विशेषतः यहांके नामोंके अन्तकी 'चिड़ें' या निक-नेम्स'। बंसीलाल फ्रांस गये तो उनका नाम 'बन फ्रेंच' होगया—बंसीलालका छोटा रूप 'बन' है। डॉ. माधव कोलने पैथोलीजीकी रसायनशाला खोली तो सारा नगर उन्हें 'माधव मुथुर' कहने लगा। 'मुथुर' का अर्थ है 'मूत्र'। एक सज्जनने श्रीनगरमें पहली बार 'अचकन बनवायी तो उनका 'सरनेम' अचकन होगया उनकी दुकानके बोर्डतक पर 'अचकन' लिखा है। इसी प्रकार 'टेढ़ी गर्दन' वाले व्यक्तिका पीढ़ी-दर-पीढ़ी नाम 'कार हलू' (टेढ़ी गर्दनवाला) चला आ रहा है—इस प्रकार के असंख्य नाम हैं—चरबच्चा (चिड़ियाका बच्चा), खर (गदहा), थालचूर (थालीचोर) आदि। यहाँ तक कि अनेक अश्लील तथा गन्दे अर्थवाले नाम हैं और लोग उन्हें लिखते हैं, उनका प्रयोग करते हैं। 'कौल' शब्दका अर्थ है शाक्त, 'कुल' का अर्थ है शक्ति! प्राचीन कालमें शैव शक्ति तथा वैष्णव आदि मतोंके अनुयायियोंमें परस्पर विरोध था। शाक्त चालाकीके लिए मशहूर थे, कहा जाता था कि "भीतरसे शाक्त हैं, बाहरसे समाजमें अपनेको शैव कहते हैं क्योंकि जनता अधिकतर शैव है, परन्तु चूंकि राजा वैष्णव है, इस

लिए राज-सभामें वैष्णव बनते हैं, ये 'कौल' नाना रूप धारण करके घूमते हैं।" लोक-संस्कृति तथा साहित्यके स्रोतोंकी दृष्टिसे कश्मीरी भाषाके ये नाम तथा अनेक शब्द महत्वपूर्ण हैं। 'नाग' शब्द जलके स्रोत या झरने के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे गढ़वालमें किसीभी झरने को 'गंगा' कहते हैं, वैसे ही कश्मीरीमें 'नाग' से पानी लाना कहा जाता है। इसी प्रकार यहां, वहाँ, इधर-उधरके लिए 'यपरि, तपरि,' 'हुपरि' आदि शब्द हैं जिनका अर्थ है, इस पार, उस पार आदि। ये इस बातके द्योतक हैं कि प्राचीन तथा मध्य कालमें जल-बहुला संस्कृति वाले कश्मीरमें (वेनिस नगरकी भांति) नौका, ही सबसे बड़ा यातायातका साधन था। कश्मीरी भाषाका शब्द-भण्डार उसके नाम, कहावतों-मुहावरों आदि लोक-साहित्य एवं संस्कृतिक महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

मन्दिरों, मस्जिदों तथा स्थानोंके नाम (अनन्त-नाग, बेरीनाग नागबल आदि) भी उस दृष्टिसे महत्वपूर्ण हैं। हिन्दू तथा मुसलमान धर्मस्थानों (पवित्र स्थानों) को 'अस्थापन' या 'अस्थान' कहते हैं। इनके नाम भी लोक-साहित्य एवं प्राचीन संस्कृतिके अमूल्य स्रोत हैं। इनमेंसे अनेक ऐसे हैं, जो प्रथमतः हिन्दुओं या बौद्धोंके थे और आज मुसलमानोंके अधिकारमें हैं। इसीकरण हिन्दुओं और मुसलमानोंके अनेकानेक धर्म-स्थान पास-पास हैं जैसे हरीपर्वतपर 'मखदूम साहिब' और 'शारिका मन्दिर', खानकाह मुहल्लेमें काली मन्दिर तथा मस्जिद।

कश्मीरके हिन्दुओं और मुसलमानोंमें सन्तों, ऋषियों, फकीरों, पीरों, औलियाओं, यहांतक कि लाल बुझक्कड़-पागलोंतक का अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न समझे जानेके कारण बड़ाही आदर-सम्मान होता है, और उन्हें नुन्द ऋषि या लल्लेश्वरीकी परम्परामें समझा जाता है। इस प्रकारके सन्त या फकीरभी लोक-साहित्यके स्रोत माने जा सकते हैं।

महिलाओं, विशेषकर वृद्धाओंको लोक-साहित्यका मूलधार कहा जा सकता है। यह बात हिन्दुओं तथा मुसलमानों—दोनोंके सम्बन्धमें सत्य है। केवल सूफियाना मौसीकी ही एक ऐसा गायन है जिसमें स्त्रियों को औपचारिक रूपसे भाग नहीं लेने दिया जाता। मुसलमानोंके 'रुफ' तथा छकरी गायक लोक-गीतोंके



मूल स्रोतोंमें गिने जा सकते हैं। इसके साथ-साथ ईद तथा खतनेके समय गाये जानेवाले मुसलमानोंके संस्कार-गीत भी महत्वपूर्ण हैं। कश्मीरमें लोक-गीत गायकोंका एक विलग वर्ग है जोकि लोक साहित्यका महत्वपूर्ण स्रोत है। हिन्दुओंके संस्कार गीतोंकी एक समृद्ध लोक साहित्य परम्परा है जिसमें जन्मसे मृत्यु तक के (शोक गीत) लोक-गीत आते हैं। इनके अतिरिक्त पुरोहितों तथा वृद्धाओंमें प्रचलित भक्ति-गीत (लीलाएं) भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। छकरी, भांडपथर, रोफ और वनतुन कश्मीरी जनताके प्रिय संगीतके रूप हैं। 'छकरी' में स्त्रियोंका मनोराग आभासित होता है। कश्मीरी वाद्ययन्त्रोंमें 'तुम्बकनारी', मटका, शहनाई, ढोल, नगाड़ा, सारंगी, सन्तूर तथा रबाबका प्रयोग होता है। सन्तूरका प्रयोग सूफियाना संगीतमें विशेष रूपसे होता है। ध्यान देनेका बात यह है कि सूफियाना संगीत अधिकतर फारसी भाषामें होता है और 'रबाब' वाद्ययन्त्रभी ईरानसे कश्मीरमें आया है। कश्मीरमें आरम्भिक-इस्लामकी कट्टरवादिताके कारण संगीत (औरंगजेबके शासनकालमें विशेष रूपसे) तथा नृत्य आदिका स्वाभाविक विकास न हो सका, फलतः यहांका लोकनृत्य एकदम अविकसित तथा जड़वत्-सा बन गया है। 'भांडपथर' संस्कृतके शब्दों 'भाण्ड' तथा 'पात्र' से बना है। संस्कृत नाट्य-शास्त्रमें 'भाण्ड' का जो शास्त्रीय मंचन निर्देशित है, ठीक वैसा है आजभी 'भांडपथर' में पाया जाता है। अफगान तथा मुगलकालमें 'भांडपथर' तथा अन्य लोक-संगीत-नृत्य विधाओंका सर्वनाश हो गया था। पठानोंके कालमें किशोर बालकोंका प्रयोग मनोरंजनके लिए किया जाने लगा था।

नाविक, मांझी, मछुआरे (मछली तथा सिंघाड़ेवाले) कृषक आदि लोकगीतों, लोक-कथाओंके आदि स्रोत हैं। धान रोपनेसे लेकर निराने, काटने आदिके गीत कृषकोंमें मिलते हैं। केसरकी खेती करनेवाले एक विलग प्रकारके लोक-साहित्यके स्रोत हैं।

जम्मू-कश्मीरकी कल्चरल अकादमीके पास लोक-साहित्यका बड़ा भण्डार है, जिसमें विभिन्न संग्रह तथा पाण्डुलिपियां सम्मिलित हैं। हिन्दी उर्दू तथा कश्मीरी में प्रकाशित 'शीराजा' नामक पत्रिका इस अकादमीसे प्रकाशित की जाती है, और जम्मू में भी तत्कालीन समय

उपलब्ध है।

मजदूर, नाई, बुनकर (कालीनबाफ्) पच्चीकार, कुम्हार आदि विभिन्न पेशोंके लोगोंसे भी लोक-साहित्य उपलब्ध किया जा सकता है। लोक-साहित्यके असली रूपको पानेके लिए कश्मीरके ग्रामों तथा पहाड़ियोंमें भटकना आवश्यक है, मन्दिरों तथा मस्जिदोंमें घूमना भी हितकर है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न पुस्तकालयों तथा विद्वानों (विशेषकर पुरोहितों तथा पीरों) से भी सहायता मिल सकती है। कश्मीरीके लोक-साहित्यके सही आकलनके लिए शारदा तथा फारसी लिपिका ज्ञान भी आवश्यक है। कश्मीरके मुसलमानोंमें अनेक लोक-कथाएं तथा गाथाएं ऐसी प्रचलित हैं, जिनपर ईरान आदि मध्यपूर्वके देशोंके लोक-साहित्यका पर्याप्त प्रभाव है। इस प्रकार के स्रोतोंसे पूर्ण लाभ उठानेके लिए यह आवश्यक है कि उन देशोंकी संस्कृतिका न्यूनाधिक ज्ञान शोधकर्ताको हो ?

प्राचीन पाण्डुलिपियोंके साथ-साथ कब्रों, मन्दिरों तथा शिलालेखोंपर अंकित सूचनाएं भी महत्वकी सिद्ध हो सकती हैं। पुरानी जन्म-पत्रियां, हकीमों तथा वैद्योंके पुराने नुस्खेभी इस दिशामें सहायक स्रोत बन सकते हैं। कश्मीरके अधिकांश मुसलमान पहले हिन्दू थे और उनके अनेक नाम अब भी इसका संकेत करते हैं, जैसे अब्दुल रशीद कौल, गुलाम रसूल पण्डित, गुलाम जीलानी भट्ट तथा बशीर अहमद राठौर आदि। आश्चर्यकी बात यह है कि इनमें अनेक ऐसे परिवार हैं जिनमें आजभी पुरानी जन्म-पत्रियां सुरक्षित हैं। अनेक मुसलमान ज्योतिषमें विश्वास करते हैं और वर्षफल बनवाते हैं, तथा भविष्य जाननेको हाथ दिखाते हैं। पुरानी जंत्रियां तथा पंचांगभी इस कारण लोक-साहित्यके अमूल्य स्रोत हैं। इसी कारण कुछ सरनेम (उपाधियां) ऐसे हैं जो कि हिन्दुओं और मुसलमानों दोनोंमें प्रयुक्त होते हैं, जैसे—रैणा, कार, डार, शाह, काजी, मुल्ला, पीर, मीर, मुंशी कौल, भट्ट आदि। सिख-शासनकालमें सिख धर्म स्वीकार करनेवाले सिखोंके सरनेम भी रैणा आदि हैं।

किसीभी भाषाके लोक-साहित्यके सभी स्रोतोंकी पूरी-पूरी सूची बनाना असंभव है। यहां मैंने कश्मीरीके लोक-साहित्यके कुछ मुख्य-मुख्य स्रोतोंका संकेत मात्र किया है।



# विधि-प्रसंग

## हिन्दू विधि?

लेखक-द्वय : डॉ. योगेन्द्रकुमार तिवाड़ी,  
कैलाशचन्द्र शर्मा

समीक्षक : डॉ. हरिश्चन्द्र एडवोकेट

हमी विधिके एक सूत्र “इग्नोरेन्टिया फैंक्टा इ एक्सक्यूसेट, इग्नोरेन्टिया ज्यूरिस नान एक्सक्यूसेट” के अनुसार तथ्यका ज्ञान न होना क्षम्य है, विधिका ज्ञान न होना अक्षम्य है। इस उक्तिके परवर्ती भागको ही अंग्रेजीमें “इग्नोरेन्स आफ ला इज नो एक्सक्यूज” कहा जाता है। सभी सभ्य समुदायोंमें अपेक्षा की जाती है उनके सदस्य विधि-सम्मत व्यवहारमें प्रवृत्त होंगे। भारतीय समाजभी इस आकांक्षाका अपवाद नहीं है। किन्तु जैसे अतीतकी मयूरा तीन लोकसे न्यारी ठहरायी गयी थी वैसेही आधुनिक भारतको विचित्र माननेमें कोई कठिनाई नहीं दीखती। “इण्डिया दैट इज भारत” में विधि-विनिर्माणसे लेकर विधिक-विनिर्णयतक का समस्त कार्य प्रायः अंग्रेजी माध्यमसे ही निष्पादित होता है। संविधान के अनुच्छेद ३४८ में इस निमित्त स्पष्ट व्यवस्था कर दी गयी है। तमाशा यह है कि जिन राज्योंके विधान-मण्डलोंने अपने काम-काजमें किसी अंग्रेजीतर भाषाका प्रयोग स्वीकार कर लिया है उनमें भी विधेयकों, संशोधनों तथा अध्यादेशोंका प्रालेखन अंग्रेजीमें होता है और विधान-मण्डल द्वारा अंगीकृत भाषामें उनके अन्यमनस्क एवं दुर्बोध अनुवादको मूलसे अभिहित कर पुरःस्थापित प्रस्थापित किया जाता रहा है। ऐसी अद्भुत स्थितिमें ६८ प्रतिशतसे अधिक अंग्रेजीन-जाननेवाले नागरिकसे यह आशा करना कि वे राष्ट्र अथवा राज्यमें प्रभावी

कानूनोंका कार्य-साधक ज्ञान रखें, उनके साथ घोर अन्याय करनेके अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है? जहां विधि-क्षेत्रमें अंग्रेजीका एकाधिपत्य स्थापित हो चुका हो वहां उसके शक्तिशाली दुर्गको भेदकर हिन्दी सहित भारतीय भाषाओंमें किसी विधि-ग्रन्थका प्रकट होना निस्संदेह एक क्रान्तिकारी कदम है।

विचाराधीन पुस्तक उसी मुक्ति अभियानकी एक प्रस्तुति है। देशकी अधिसंख्य जनता हिन्दू है उसपर उप-योज्य विधिका यथेष्ट परिचय देनेवाला यह ग्रन्थ स्वागत करने योग्य है। विद्वान् लेखक-द्वयने वर्षों विषयको १७ अध्यायोंमें विभक्त कर तथा प्रत्येक अध्यायकी सामग्री को और खण्डित कर उसे सुग्राह्य बना दिया है। भाषा सरल और शैली सुबोध, प्रयुक्त की है, जिससे तत्त्व-ग्रहण तथा अभिप्राय-आकलन सुगम होगया है। “शब्दोंका निर्वचन विषय-वस्तुके अनुसार होना चाहिये” “शब्द इस प्रकार ग्रहण किये जायें कि वे प्रभावयुक्त हो सकें,” जैसे मान्य विधि-शास्त्रीय सिद्धान्तोंका बहुधा अनुपालन हुआ देखनेको मिलता है। व्याख्या करते समय अभीष्ट संतुलनसे काम लिया गया है। जिससे पाठकको ऊबकी अनुभूति नहीं होती। रचनामें वांछित प्रवाह है।

पहले दो अध्याय मुख्यतया प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्मशास्त्रकी मान्यताओंपर आधारित हैं। जहां मूलभूत स्थापनाओंकी चर्चा उचित ढंगसे की गयी है वहीं कुंछेक स्थलोंपर सावधानीका अभाव परिलक्षित होता है। यथा—

“ग्रीक और रोमवासी सिन्धु नदीके इस पार रहने वाले व्यक्तियोंको इन्दोई नामसे पुकारते थे। पारसी ‘स’ को ‘ह’ बोलते हैं। इसलिए सिन्धु नदीके इस पार रहने वाले लोग हिन्दू कहलाने लगे। इन व्यक्तियोंपर लागू होनेवाली विधि हिन्दू-विधि कहलायी। बाहरी आक्रमण से पूर्व सिन्धु नदीके इस पार रहनेवाले आर्य या द्रविड़ सभीपर हिन्दू-विधि लागू होती थी।” (पृ. ७)

१. प्रकाशक : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलकनगर, जयपुर-३०२००४। पृष्ठ : ४४७; रायल, ६०; मूल्य : ६४.०० रु.।



पारसके सखामनीष सम्राट् धारयद्रस-प्रथम (५२२-४८६ ई. पू.) एवं खपयार्श (४८६-४६५ ई. पू.) द्वारा उत्कीर्ण कराये गये शिलालेखोंमें सिन्धु महानदीके दोनों पाशवर्षपर स्थित उस भूभागका नाम, जो इन-नरेशोंके अधिकार-क्षेत्रमें आ गयाथा, हिन्दु अथवा हिन्दु मिलता है। प्राचीन भारतकी सीमा मध्य एशियाके मेरु पर्वत या पामीर पठार तक जातीथी। इस विस्तृत भूभागमें कम्बोज, वाह्लीक, कपिश और गान्धारके जनपद स्थित थे। तक्षशिलासे काबुल नदी-तकका प्रदेश गान्धार था। काबुल नदी और सिन्धु नदीके संगमपर उद्भाण्डपुर (वर्तमान ओहिन्द) स्थित था। वहांसे ४ मीलकी दूरी पर लहुर गाँव है, जिसे अष्टाध्यायीके प्रणेता पाणिनिके जन्मस्थल शलातुरसे समीकृत किया जाताहै। १०६३ ई. में भीमपालके निर्धनके साथ काबुलमें ब्राह्मणशाही वंशका अंत हुआ। इस प्रकार हिन्दुओंकी व्याप्तिको सिन्धु नदीके इस पार रहनेवालों तक सीमित कर देनेका कोई औचित्य नहीं है। हिन्दू सिन्धु-नदके पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बसे हुएथे और निश्चितरूपेण वे हिन्दू-विधिसे शासित रहे होंगे।

४८८ ई. में प्रभु ईशुके पट्ट-शिष्य संत थामस पारस से तक्षशिला आये और वहांसे कच्छ होकर केरल गये। केरल पहुँचकर उन्होंने अनेक नृपूत-ब्राह्मण-परिवारों को ईसाई बनाया, गिरजाघर स्थापित किये और एक भक्त-मण्डलकी सृष्टि की। ७१२ ई. में मुहम्मद-इबन-अल-कासिमकी सिन्धु विजयसे पूर्व अलाफीके नेतृत्वमें बहुत-से मुसलमान सिन्धुमें आकर बस गयेथे। सिन्धुके तत्कालीन शासक दाहिरने उन्हें देशकी नागरिकता प्रदान कर दीथी। स्पष्ट है ये ईसाई और मुस्लिम (जन्मसे अथवा धर्मान्तरित होकर) भारतवासी हिन्दु विधिसे अनुशासित नहीं होते होंगे।

हिन्दूकी परिभाषा देते समय यह लिखना 'वेद, जिनमें सबसे प्राचीन ऋग्वेद है, के अनुसार वे व्यक्ति हिन्दू हैं जो इन्द्र, वरुण, वायु और अग्निकी पूजा करें, हवन द्वारा अपनी प्रियसे प्रिय वस्तु (दूध, दही, घी आदि) की आहुति देकर अपने कर्मोंको शुद्ध करें और यज्ञ तथा ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयास करें।' (पृ. ८), इसलिए संगत नहीं कहाजा सकता क्योंकि वेदमें हिन्दू शब्द कहीं नहीं आयाहै। इसके अतिरिक्त बाह्य-स्पष्ट दर्शन (प्रकारान्तरसे चार्वाक मत)

यावज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य

पुनरागमनं

कृतं ॥

के अनुयायी हिन्दुओंमें ही परिगणित होते आयेहैं।

अभी १२ वर्ष पूर्व मुम्बई उच्च न्यायालयके प्रसिद्ध मुख्य न्यायाधिपति एवं दि-हेग-स्थित अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयके स्वनामधन्य न्यायाधीश, मुहम्मद करीम छागला ने भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित 'भवन्स जर्नल' के २७ अगस्त १९७८ के अंकमें लिखाथा "फ्रांसवासी अपने तर्क एवं यथायिता-बोधसे समस्त भारतीयोंको, चाहे, वे किसी जाति-बिरादरीके हों, हिन्दू कहतेहैं। मैं समझताहूँ यह उन सबका सही परिचय है, जो इस देशमें रहतेहैं और इसे अपना घर मानतेहैं। भिन्न-भिन्न मतावलम्बी होकर भी वास्तविक अर्थमें हम सब हिन्दू हैं। मैं अपनी वंश-परम्परा अपने आर्य-पूर्वजोंसे जोड़ताहूँ और उस तत्त्व-ज्ञान तथा संस्कृतिकी कद्र करता हूँ जो वे आगामी पीढ़ियोंके लिए उत्तरोत्तर छोड़ते गये।" श्री छागलाके उदात्त विचारोंसे भारतके कट्टरपंथी कदाचित् सहमत न हों किन्तु इनके द्वारा एक उदारमना मुस्लिम न्याय-विदने हिन्दू शब्दका युक्तियुक्त अर्थ-विस्तार अवश्य कियाहै।

श्रुतिके विषयमें लेखकोंका कथन है 'ये चार वेद और मूलतः ऋग्वेद दो भागोंमें विभक्त हैं—पहला संहिता और दूसरा ब्राह्मण संहिता जो पद्यमें है तथा उसमें ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए मंत्र और स्तुतिका उल्लेख है। ब्राह्मण गद्यमें है तथा इसमें मंत्रों का धर्मज्ञान है। ब्राह्मणके अन्तमें आरण्यक है जिसमें बताया गयाहै कि संन्यास धारण करके जंगलमें जाकर किस प्रकार प्रार्थना एवं स्तुति कीजाये। प्रत्येक आरण्यक में एक या एकसे अधिक उपनिषद् हैं जो वेदोंका दर्शन है।' (पृ. १७-१८)।

इस व्याख्यासे न तो स्थिति स्पष्ट होतीहै और न यह आधारिक कहीजा सकतीहै। वेद एक ही है किन्तु यह आधारिक कहीजा सकतीहै। वेद एक ही है किन्तु बहुत बड़ा और पढ़नेमें बहुत कठिन है। अतएव महर्षि व्यासने इसे अनेक शाखाओंमें विभक्त किया जिससे सुब-पूर्वक लोग इसे पढ़ सकें और समझ सकें। (निरुक्त १, २०, २)। तत्त्व-जिज्ञासु ऋषियों द्वारा आत्मके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करनेके लिए तपश्चर्यासे जो तेजोमय बिम्ब प्रकट हुआ उसकी उन्होंने स्तुति की। ये स्तुतियां मंत्र कहलायीं। इनमें जो मंत्र छंदोबद्ध हैं और उच्च स्वरसे पढ़े जातेहैं वे ऋच् कहलाये और उनका संकलन ऋग्वेद है। कुछ मंत्र मुख्य रूपसे गद्यमें हैं और धीरे-धीरे पढ़े जातेहैं। उनका नाम यजुस् है



और उनके संकलनकी संज्ञा यजुर्वेद हुई। जो मंत्र छंदो-बद्ध होकर गाये जाते हैं, वे साम हैं और उनके संकलन को सामवेदसे अभिहित किया जाता है। साधकोंने अनेक मंत्रोंका प्रयोग सांसारिक सुख-भोगके लिए भी किया। ऐसे मंत्र, जिनमें पदार्थ-जगत्का ज्ञान-भण्डार निहित है, अथर्ववेदमें संकलित किये गये हैं। मन्त्रोंके ये पृथक्-पृथक् संकलन संहिता कहलाते हैं।

वेदका दूसरा भाग ब्राह्मण, तीसरा आरण्यक और चौथा उपनिषद् है। प्रत्येक संहिताके अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्की रचना कीगयी। ब्राह्मणोंमें गृहस्थोंके कर्मकाण्डकी व्याख्या कीगयी है। आरण्यक ब्राह्मणोंके सहायकके रूपमें वानप्रस्थियोंके कल्याणार्थ यज्ञोंके रहस्यको उद्घाटित करते हैं। उपनिषदोंमें तर्कका आश्रय लेकर किस प्रकार परम-ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है तथा दुःखकी चरम निवृत्ति एवं आनन्दकी प्राप्ति सम्भव है, जैसे ध्येय विषयोंकी चर्चा कीगयी है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् को सम्मिलित रूपसे श्रुति कहा जाता है। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक दार्शनिक ग्रन्थ न होकर प्रधान-तथा उपासनाके ग्रन्थ हैं।

हिन्दू-विधिके स्रोतान्तर्गत कहा गया है “कौटिल्य जो विष्णुगुप्तका प्रधानमंत्री था, जिसे चाणक्यके नामसे नामसे भी जाना जाता है, ने करीब ३२० ईसासे पूर्वमें अपने ग्रंथकी रचना की।” (पृ. २२)। यह बात तथ्य-हीन और भ्रामक है। अर्थशास्त्रके प्रणेता “कौटिल्य” (कुटिलसे व्युत्पन्न) न होकर ‘कौटल्य’ (कुटल ऋषि के गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण) थे। जातक-संस्कारके अवसरपर उनका नामकरण विष्णुगुप्त हुआ था। चाणक्य वे जन्म-स्थानके आधारपर कहलाये। वे विष्णुगुप्त नामक किसी नरेशके प्रधानमन्त्री नहीं थे। संभव है लेखकोंका आशय चन्द्रगुप्त मौर्यसे रहा हो। अर्थशास्त्रका रचना-काल अभीतक निर्णीत नहीं हो सका है।

हिन्दू-विधिकी शाखाओंका उल्लेख करते हुए “विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृतिपर लिखित मिताक्षरा एक भाष्य है जो प्रो. काणेके अनुसार १६५० ई. में व अन्य विधि-शास्त्रियोंके अनुसार ११०० ई. के करीब लिखा गया है” (पृ. ३३), ठीक ढंगसे उद्धृत नहीं किया गया है।

भारतरत्न महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणेने लिखा है “लक्ष्मीधरके कल्पतरुमें विज्ञानेश्वरका नाम

आया है। लक्ष्मीधर १२वीं शताब्दीके दूसरे चरणमें हुए थे। अतः मिताक्षराका प्रणयन ११२० ई. के पूर्व हुआ था। अन्य सूत्रोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि मिताक्षराका रचनाकाल १०७०-११०० ई. के बीचमें कहीं है। (धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग-१, पृ. ७३)।

विवाह-प्रकारपर प्रकाश डालते हुए ब्रह्म, प्रजापत्य, गान्धर्व पद्धति, राक्षस पद्धति, पैशाचिक पद्धति जैसे उपशीर्षकोंका प्रयोग किया गया है। (पृ. ४८-४९) यह शुद्ध स्थिति नहीं है। आठ प्रकारके विवाहों की संज्ञाएं थीं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच। विवाहोंका भेदभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। आर्यमें वरकी ओरसे हुई पशु-प्राप्ति को एवज अथवा प्रतिफल नहीं कहा जा सकता। वैसा मर्यादाकी रक्षार्थ होता था। साफ लिखना चाहिये था कि विवाहकी उस पद्धतिमें कन्या-शुल्कके विचारकी छाया तक नहीं पड़ती थी। प्राजापत्यमें वरको मधुपर्क आदिसे सम्मानित कर कन्याका दान किया जाता था। यह कथन “इसमें कन्याको पिता दान-दहेज आदि देनेमें असमर्थ रहता था” (पृ. ४८), भ्रमोत्पादक है।

पत्नीकी नपुंसकता (पृ. ८७) जैसा प्रयोग भाषिक दृष्टिसे अनुपयुक्त है। ‘पुं’ के पुरुषवाची होनेके कारण उसके योगसे बने किसी शब्दमें स्त्रीत्वका भाव आरोपित नहीं किया जा सकता। अंग्रेजीका ‘पोटेन्स’ लेटिन के ‘पोटन्स-पाटिस’ का रूप है, जिसका अर्थ होता है ‘समर्थ’। पुरुषकी मैथुन-अक्षमताको नपुंसकतासे व्यक्त किया जा सकता है किन्तु स्त्रीकी ‘इम्पोटेन्स’ को उसकी सम्भोग-असमर्थता कहना ठीक होगा।

महेन्द्र बनाम सुशीलाके मामलोंको संदर्भित कर कहा गया है “इस वादमें सुशीलासे विवाहके केवल १६७ दिन बादही एक लड़कीका जन्म हुआ, जोकि चिकित्सा-विज्ञानके हिसाबसे विवाहके बादके गर्भाधानसे संभव नहीं था।” (पृष्ठ ६४) उच्चतम न्यायालयकी इस व्यवस्थाके बाद दुखतरजहां बनाम मुहम्मद फारूकमें उच्चतम न्यायालय द्वारा ही संधारित किया गया कि जैविक दृष्टिसे गर्भाधानके २८ सप्ताहके अनन्तर सामान्य रूपसे स्वस्थ मानव शिशुका जन्म सम्भव है।

पृ. १६० पर उद्धृत ओम्प्रकाश बनाम नलिनी (ए. आई. आर. १६८६ ए. पी. १६७) में आंध्रप्रदेश उच्च न्यायालयकी खण्डपीठ द्वारा व्यक्त अभिमतका गुजरात उच्च न्यायालयने गरसिया बनाम सूदनमें



निर्णयदेते समय आश्रय लिया। (ए.आई. आर. १६८८ गुजरात १५६).

'एडाप्शन' के लिए 'दत्तक' के स्थानपर 'गोद' का प्रयोग वांछनीय रहता क्योंकि 'दत्तक' का तात्पर्य 'एडाप्टेड' या 'एडाप्टिव' से होता है न कि 'एडाप्शन' से। गोदके सिलसिलेमें लेखक-द्वयने मार्ककी बात यह कही है "एक हिन्दू स्त्री जो अवयस्क नहीं है तथा स्वस्थचित की है अपने लिए पुत्र या पुत्री गोद ले सकती है; हिन्दुओं में पैतृकतापर नाम और वंशावली आधारित है और किसीभी संतान (पुत्र या पुत्री) को पिताका नामसे जाना जाता है, माताके नामसे नहीं। इसलिए एक अविवाहित हिन्दू स्त्री द्वारा आजीवन विवाह न करने तथा पुत्र या पुत्री गोद लेनेकी स्थितिमें यह समस्या होगी कि उसका पिता कौन हो?" (पृ. २२७-२२८)।

गोद लिये बालकका पिता तो होगा किन्तु दत्तक बन जानेपर उसके जनकका नाम उससे सम्बद्ध नहीं किया जा सकेगा। चूंकि दत्तक-ग्रहीता अविवाहित महिला है अतएव गोदमें गये बालकको दत्तक-माता तो मिल जायेगी किन्तु दत्तक-पिता उपलब्ध नहीं होगा। इससे मिलती-जुलती स्थिति उन अवसरोंपर भी उत्पन्न हो सकती है जब कोई विच्छिन्न-विवाह निस्संतान-स्त्री किसी बालकको गोद लेकर मृत्युपर्यन्त पुनर्विवाह न करे। इस प्रकारकी परिस्थितियोंसे जूझनेके लिए छान्दोग्य उपनिषद्में वर्णित सत्यकाम-जावालका प्रसंग सहायक सिद्ध हो सकता है। वैसे भी अब पिताका नाम नहीं पूछा जाता बल्कि जनकताके अधीन किसी एक 'पेरेंट'के नाम के उल्लेखमात्रसे काम चल जाता है। यह बात और है पिताका नाम उद्घाटित न करनेपर जातकको सामाजिक अवहेलनासे संव्रस्त होना पड़ जाये। सच पूछा जाये तो हिन्दू गोद एवं भरण-पोषण अधिनियम १९५६, जो बाल-कल्याण-सापेक्ष न होकर जनकाभिमुखी है, के पृथक् अस्तित्वका कोई उचित आधार नहीं रह गया है। हिन्दू समाज अपनी प्राचीन मर्यादाओं और परम्पराओंसे इतना विमुक्त हो गया है कि मुस्लिम, ईसाई, यहूदी और पारसियोंकी भांति वह भी संरक्षक एवं प्रतिपाल्य अधिनियमके उपबन्धोंसे अपना काम चला सकता है। या फिर कोई ऐसा कानून बने जो समस्त भारतीयोंपर समान रूपसे प्रभावी हो, जैसा कि विद्वान् लेखकोंने (पृ. २-३) संकेत किया है।

भरण-पोषण जैसे व्यापक विषयकी विवेचना करते

समय भग्न-विवाहके उस पक्षकारकी दुर्दशापर विचार करनेसे रह गया है जिसे दम्पती-गृहमें वास करनेकी सुविधा उपलब्ध नहीं है। एक बार विवाहिताहो जाने पर स्त्री पीहरमें आवास करनेके अधिकारसे वंचित हो जाती है। एस. पी. जैन बनाम नयना जैनके मामलेमें अवर न्यायालयने इस दारुण स्थितिका अनुभव करके पतिको अपनी तलाकशुदा पत्नीको घरसे निकाल देनेके लिए अवरुद्ध कर दिया था, किन्तु मुम्बई उच्च न्यायालय ने उस आदेशको लोकहितमें उलट दिया। अलवत्ता हालमें दिये गये एक निर्णयमें उच्चतम न्यायालयने इतना अवश्य कहा है कि विषमताओंके इस युगमें अब वह समय आ गया है जब अयुक्त हो जानेपर भी विवाह के कमजोर पक्षकारको वैवाहिक सदनके एक भागमें रहनेके अधिकारकी व्यवस्था की जाये।

दहेज प्रथाका विधीक्षण करते समय लेखक-द्वयने भावुकताका परिचय अधिक दिया है। यौतकके कारण वधुओंकी निर्मम हत्याएं निस्संदेह निन्दनीय हैं और उनके दोषी व्यक्तियोंको कठोरसे कठोर दण्ड मिलना चाहिये किन्तु साथही यह देखनाभी जरूरी है कि विवाह तय होते समय वधू-पक्षकी ओरसे वर-पक्षको झूठे आश्वासन देने अथवा उन विकृतियोंको छिपानेका प्रयास न किया जाये जो विवाहोपरान्त प्रकट होनेमें विलम्ब नहीं करतीं। प्रायः दहेजके कारण मौतें वहीं अधिक होती हैं जहां कपटसे काम लिया जाता है अथवा मखमल में टाटका पैबन्द लगानेकी कोशिश की जाती है। जब सारा समाज ही धनका लोभी बन गया हो और मात्र द्रव्यही प्रतिष्ठा-सूचक होगया हो तब दहेजके लेन-देन पर अंकुश लगाना उतना सरल नहीं रह गया है जितना समझा जाता है। कानूनको कठोरतम बनाना उतना महत्त्व नहीं रखता जितना उसका कड़ाईसे प्रवर्तन। यह नहीं भूलना चाहिये कि मुद्राके अनियंत्रित प्रसार और मानव-मूल्योंके विघटनसे कार्यपालिकाकी ही नहीं न्यायपालिकाकी ईमानदारीपर भी प्रश्न-चिह्न लगता जा रहा है।

अंतमें निस्संकोच होकर कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर 'हिन्दू-विधि' नामक ग्रन्थ सारस्वत निष्ठा एवं सार्थक परिश्रमके साथ प्रणीत किया गया है। इसकी उपादेयतामें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। हिन्दू विधि सम्बन्धी प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी महत्त्वपूर्ण विषयों/स्थापनाओंपर सम्यक् रूपसे प्रकाश डाला गया है।



और उनके गुणावगुणकी तटस्थ होकर विवेचना की गयी है। इतने बड़े ग्रंथमें, विशेषकर जब उसका सम्बन्ध विधिशास्त्रसे हो, यत्र-तत्र छोटी-मोटी भूलोंका होजाना अथवा कमियोंका आजाना स्वाभाविक है। उनकी अनदेखी कीजा सकती है। लेखकोंने संविधानके अनुच्छेद ४४ का हवाला देकर एकीकृत व्यवहार विधिकी उत्पत्ति पर सही बल दिया है। जार्डन डींगडेह बनाम एस. एस. चौपड़ाके मामलेमें उच्चतम न्यायालयने यह टिप्पणी की

भी है कि अब वह समय आ गया है जब धर्म और जाति का विचार त्यागकर राष्ट्रमें एक सर्वव्यापी सिविल कोड की रचना कीजाये, विशेषकर विवाह संबंधी कानूनोंमें एकरूपता लानेके उद्देश्यसे। (१९८५-३१ एस. ए. सी. ६२)।

ऐसे उपयोगी ग्रन्थके प्रकाशनके लिए राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर सार्वजनिक बधाईकी पात्र है। □

## आलोचना

### कविताका व्योम और व्योमकी कविता?

लेखक : मदन सोनी

समीक्षक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

पहले तो नामकरणको लें। लेखकके अनुसार उन्होंने १९८६ में मुक्तिबोध सृजनपीठ द्वारा आयोजित एक विचार गोष्ठीके लिए, पीठके अध्यक्ष त्रिलोचन शास्त्रीके आग्रहपर 'काव्य पुरुषकी खोज' शीर्षकसे एक आलेख तैयार कियाथा जो कालान्तरमें बढ़ते-बढ़ते 'कविताका व्योम और व्योमकी कविता' हो गया। वैसे कविताका व्योम और व्योमकी कविताका हिन्दीके पारम्परिक पाठक और अध्येता कुछ और अर्थ लेंगे। लेकिन यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मदन सोनी शब्दोंको उसके प्रचलित अर्थमें नहीं लेते। उदाहरणके लिए 'पूर्वग्रह'के संबंधमें उनका कहना है "पूर्वग्रह को मैं 'अव्वेशन' के अर्थमें प्रयुक्त कर रहा हूँ जो शायद इस शब्दका लाक्षणिक अर्थ है, उस अर्थमें नहीं जिसमें यह शब्द समकालीन आलोचनामें प्रचलित है।" (प्राक्कथन)। इससे स्पष्ट है कि मदन सोनीके चिन्तनमें हिन्दी

और अंग्रेजीका ऐसा तालमेल है जो उनके लेखनको दुरुह असहज और कुछ हदतक रहस्यमय बनाता है। वैसे तो वे अपने लेखनमें गीता, महाभारत, अग्नि-पुराण, काव्यप्रकाश सभीका हवाला देते हैं लेकिन उनके सोचने और कहनेका ढंग खांटी आधुनिकतावादी है जो कभी-कभी सिरके ऊपरसे गुजर जाता है। लेखकमें चिन्तनकी मौलिकता, अध्ययनका विस्तार, शब्द गढ़न की उत्सुकता आदि तो हैं, पर लगता है सब कुछ इतना बेमेल है कि पाठक हैरान-परेशान हो जाता है। यदि नयी आलोचनाकी भाषा यही है जिसे मदन सोनी गढ़ रहे हैं तो मानना होगा कि हिन्दी आलोचनाके बुरे दिन आनेवाले हैं। मुक्तिबोधकी कविता 'अंधेरेमें' का मूल्यांकन वे इस प्रकारकी भाषामें करते हैं—“यह कविता जाल और दिक्के साथ मानवीय चेतनाके संबंधमें आये (ऐतिहासिक अर्थमें) एक अभूतपूर्व परिवर्तनका आख्यान है—एक ऐसा आख्यान जिसकी दिलचस्पी उस परिवर्तनको मात्र आख्यायित करने और इस प्रकार उसे मात्र एक 'आख्यान घटना' के रूपमें चित्रित करनेसे अधिक उसे अपने आख्यान देशसे बाहर 'लोकेंट' कर उसकी व्याख्या करनेमें है।... वह हिन्दीके (और स्वयं मुक्तिबोधके) कालबद्ध काव्य-मंडलसे एक दिक् स्फुलिंगकी तरह छिटककर अलग हो जाती है, कवितासे अधिक एक काव्य सम्भावनाके रूपमें,

१. प्रका. : भारत भवन, शामला हिल्स रोड, भोपाल-४६२००२। पृष्ठ : १७०; डिमा. ८०; मूल्य : २०.०० रु. (पेपर बैक)।



अपने लिए एक अनुकूल कक्षा-दिक्की कक्षा-की खोज में।" (प्राक्कथन)। आलोचनाकी ऐसी भाषा कुछ थोड़े-से लोगोंके लिए आकर्षक तो हो सकती है, पर हिन्दीके अधिकांश पाठकोंके लिए खासा सिरदर्द भी हो सकती है। वैसे यदि लेखकका उद्देश्य कुछ थोड़े-से लोगोंपर रोब गालिव करना ही हो तो इसमें वह खूब सफल हुआ है।

वैसे मदन सोनीमें विश्लेषणकी मौलिकता और समझ, और साथही अपनी बातको स्पष्ट रूपसे कहने और बतानेकी क्षमता नहीं है, ऐसाभी नहीं है जैसे मैथिलीशरण गुप्तके संबंधमें उनका कहना है कि वे "भारतीय साहित्य और भारतीय मनुष्यकी स्मृतिमें बसे मिथकीय और पौराणिक चरित्रोंका अन्यथाकरण कर उन्हें ऐतिहासिक चरित्रोंमें बदलते हैं। यह मिथकों और पुराणोंकी कर्मकाण्डी और तर्कातीत भाषामें रचे गये मनुष्यसे विच्छिन्न, उस मनुष्यको साहित्य-केन्द्रीकृत करनेकी कोशिश थी जो समाज-वैज्ञानिक, नीति-वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तर्कोंके धागोंसे बुना गया था।" (पृ. १३६)। यहांतक तो पाठक होशमें है, परन्तु इस सिलसिलेको आगे इस प्रकार बढ़ाते हैं कि यह मनुष्य भारतीय परिस्थितिकी सन्तान नहीं, उसका दत्तक पुत्र था जिसे गुप्तजीने परिस्थितिकी वेषभूषा (पैकेज) से इस प्रकार संवारनेका यत्न किया था कि वह दत्तक न लगे। यह और बात है कि वह अन्ततः कितना 'कॉमिक' कितना 'एब्सर्ड' दिखायी दिया..." तो पाठक बेहोश होने लगता है। किसीभी लेखकका, जब वह पाठकोंकी भौंहोंपर बार-बार बल डाले, संदिग्ध हो उठना स्वभाविक है। जो समीक्षक इतने सुन्दर रूपकका सहारा लेकर अपनी बात स्पष्ट कर सकता हो कि "कविताकी रचना-प्रक्रियामें अर्थ समूहका अमूमन वही संघर्ष है जो रेलके डिब्बेके भीतर और बाहरके लोगोंके संघर्षका है। जो अर्थ एक बार शब्दमें जगह पा लेता है वह दूसरे अर्थके प्रवेशपर सबसे पहला निषेध लगाता है। और तबतक वह अर्थ स्थगित रहा आता है जबतक अपनी तमाम सामर्थ्योंका प्रयोगकर जगह न पा ले।" (पृ. १४)। वही जब नयी कविताको 'कालकी कविता' मानकर इस प्रकार निरूपित करता है—"दिक् भुक्त या दिक् निरपेक्ष न होते हुएभी उसका बल प्रायः उन रूपकोंपर है जो अपने अर्थमें अपेक्षाकृत कालकी ओर झुके हुए होते हैं। दिक्

को भी वह अमूमन इन्हीं रूपकोंमें ग्रहण करती है। यही बात हम कालकी जगह 'अपार्थिव' और दिक्की जगह 'पार्थिव' शब्द रखकर भी कह सकते हैं।" (पृ. ६) तो पाठकोंका चक्करमें पड़ना स्वाभाविक है।

लेखकने कविता, नयी कविता, युवा कविता आदि की विवेचना तो कीही है, कई कवियोंके व्याजसे भी साम्प्रतिक कविताका स्वरूप और स्वभाव विश्लेषण किया है जैसे वे युवा कविताके तीन विभिन्न स्वरूपोंको तीन कवियों धूमिल, कमलेश और विनोदकमार शुक्ल की कविताओंके आधारपर भी समझनेकी कोशिश करते हैं। इससे अलावा श्रीकांत वर्मा, असद जैदी आदि कई नये पुराने कवियोंका भी यथा स्थान प्रासंगिक उल्लेख हुआ है और उनके संबंधमें विशिष्ट मंतव्य दिये गये हैं, जैसे बताया गया है कि श्रीकांत वर्माने बहुत सचेतन ढंगसे अपनी कविताओंके लिए 'वास्तुशिल्पीय रूपकरण विधि' अपनायी है (पृ. १२६)। मदन सोनी 'जलसागर' की कविताको 'एक आर्थी नियुद्धकी कविता' कहते हैं। 'मगध' की कविता उनकी दृष्टिमें 'उन्मादकी कविता' है। 'मगध' वाक्योंसे बना हुआ वह अतल है जिसमें वे ही वाक्य तिरोहित हो जाते हैं जिनसे वह बना है [पृ. १४७]। धूमिलकी कविताके बारेमें मदन सोनीका मन्तव्य है—वह 'इतिहासके बीचकी—उसके प्रबल वेगके बीचकी कविता' है। इस कविताकी ऊर्जाकी सबसे ज्यादा खपत स्थितिके रख रखावपर होती है। धूमिलकी कविताके 'तुकनिनाद'के रहस्यको वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—"वह अपनी जटिल रूपसे वध्यस्थितिकी सचेत प्रतिक्रियामें की गयी भाषिक किलेबन्दी है।" (पृ. ४५)। कहीं-कहीं मदन सोनीके मन्तव्य बड़े मौलिक और जंचनेवाले हैं जैसे "गौरतलब है कि जिस वक्त प्रकृति और पर्यावरणके विनाशकी तैयारियां अपने चरमपर थीं जिस वक्त धारा-प्रवाह जंगलकाटे जा रहे थे और वन-वासी सभ्यताएं उजड़ रही थीं उस वक्त धूमिल और उनके अनेक समकालीन न सिर्फ प्रकृतिका निषेध कर रहे थे बल्कि उसके 'रहे-सहे' रूप—मसलन 'जंगल' को बर्बर और अमानवीय शक्तितंत्रके प्रतीकोंमें रूढ़कर रहे थे।" (पृ. ४५)।

मदन सोनी कवियोंको उनकी पारस्परिकतामें भी जांचते परखते हैं जैसे धूमिल उनके विचारसे "श्रीकांत वर्माकी आरम्भिक आक्रामकताकी नये सिरसे विस्तार देते हैं जबकि मंगलेश डबराल, असद जैदी और विष्णु



नगरकी कविताओंमें जिस पूर्ववर्तीकी सबसे अधिक प्रच्छन्न स्मृतियां हैं वह रघुवीर सहाय हैं।" (पृ. ५६) असद जूंदीकी कविताके बारेमें सोनीका एक अद्भुत कम्पलीमेंठ है—“यह उसी देशमें लिखी गयी कविता है जहां दो शताब्दी पहलेभी ‘असद’ नामका एक कवि हुआ।” विनोदकुमार शुक्लको वे एक क्रांतिकारी दृष्टिका कवि बतातेहैं जिनकी कवितामें विघटन और संघटन इस तरह एकसाथ है कि किसी एकका लक्षण दूसरेका लक्षणभी है (पृ. ६४)।

यदि लेखकके ही शब्द उधार लें तो कहा जा सकताहै कि मदन सोनीकी समीक्षामें ‘एक नये किस्मकी साहित्येतर वाचालता’ भी है और वे जहां-तहां न केवल अपने पूर्वाग्रहको अपितु पूर्ववर्ती पूर्वाग्रहोंको भी विवरण करनेकी कोशिश करतेहैं। वे कहीं कवितामें ताराचन्द बढ़जाया आदिके फिल्मोंके नायकोंकी तरहका एक बुरागा नायक ढूँढ़ निकालतेहैं, तो कहीं युवा कविता के नायकको ऐंग्री यंगमैनका हमशक्ल बतातेहैं। वे कविताकी वापसीको ज्यादा विशद और स्वाभाविक रूपमें इस प्रकार देखतेहैं कि—“एक पीढ़ीके हाथों जो चीज रूढ़ हो जातीहै, अगली पीढ़ी उन्हें नेपथ्यमें ले जातीहै और उन चीजोंको नये रूपमें दृश्यमें लातीहै जिन्हें पिछली पीढ़ीने निर्वासित कर दियाथा। इस तरह हर पीढ़ीमें वापसीका एक उपक्रम देखा जा सकता है।” (पृ. २०)। कहीं वे वापसीके मूलमें ‘वापसी’ नहीं वापसीकी भूमिका बतातेहैं। (पृ. २६)। यह सब कहीं गहरी और कहीं चौकानेवाली दृष्टिका परिणाम है।

कहीं-कहीं मदन सोनी बड़े व्यंग्यात्मक अन्दाजमें बातें शुरू करतेहैं, जैसे वे मोहभंगको हमारी समीक्षा का इतना कमाऊ और लाड़ला शब्द बतातेहैं कि इससे उसका मोहभंग कभी नहीं होता (पृ. ६) लेकिन आगे विशेषणको ऐतिहासिक सन्दर्भ देकर रुचिकर और ग्राह्य बना देतेहैं—जैसे इस मोहभंगसे मोहभंग तभी सम्भव है जब हम इस शब्दको इसके सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भोंसे थोड़ी देरको युक्तकर उन क्लासिक सन्दर्भोंमें रखकर देखें जहांसे यह शब्द आयाहै। चाहे अन्तका मोह हो या सतीका, चाहे नारदका, वह

तभी भंग हुआहै जब मोहित करनेवाली और मोहयुक्त करनेवाली सत्ताओंका सम्यक् ज्ञान उन्हें प्राप्त होगया। वहां एक वस्तुके मोहभंगका कारण दूसरी वस्तुसे मोहा-सक्त हो जाना नहीं है।” इसीलिए वे मोहभंगको मोह के स्थानान्तरणसे भिन्न मानतेहैं। यह एक मोहका प्रतिक्रियामें जन्मा दूसरा मोह नहीं होता। ऐसे स्थल लेखककी पैनी दृष्टिक पता देतेहैं।

मदन सोनीकी समीक्षा दृष्टि पाठकोंके मनमें प्रशंसा और झुंझलाहटका मिलाजुला भाव उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। वे एकसाथ रिझाते और खिझातेहैं। वे ‘अतीतके शीशेके पारदर्शी होचुकनेकी तुमुल ध्वनि करती कविता’, ‘एकसाथ एक प्रतिक्रियात्मक हेतुज सचेतता’, ‘काव्यभाषाकी बहु संश्लेषकता’, ‘राजनीतिके प्रति भय-ग्रंथिसे जकड़ी हुई ‘कविता’, ‘गूंगे शब्दोंकी ओटसे बोलते कविकी आवाज’, ‘कवितामें होता नामकरण-संस्कार’, कविताका रूपक तजना’, कविताके भीतर कविका लोप’, ‘कविताके बिम्बों प्रतीकोंको टटोलकर लौट आयीं ‘समीक्षा’, ‘कविताके अलंकारोंसे आतंकित समीक्षा’, ‘कविताके संग्रहालयमें रखी दर्शनीय वस्तुएं’ आदि अनेक पद प्रत्यय रचतेहैं जो कहीं तो उनके उत्साहके परिचायक हैं और कहीं अतिरेकके। पुस्तक का प्रारम्भ ‘शब्दार्थी विद्विनी काव्यम्’से होकर समापन अंग्रेजीकी इन पंक्तियोंसे होता है Every text on pleasure will be nothing but an introduction to what will never be written. अलग-अलग खंडोंके जो शीर्षक हैं वे भी चौकानेवालेहैं। खोजता हूं पठार, पहाड़, समन्दर... एक समूचा और सही बांध टूटकर बिखर... लगताहै यहभी एक कविता ही हो। विश्वास है मदन सोनी अपनी समीक्षाकी इस प्रदर्शनप्रियतासे ऊपर उठेंगे और हिन्दी समीक्षाको एक ज्यादा सरल सहज भाषा देंगे। जिस दिन वे ऐसा कर सकेंगे उस दिन हिन्दी समीक्षाके मान्य हस्ताक्षर बन जायेंगे। उनमें सम्भावनाएं हैं पर उनकी यह पहली पुस्तकही स्पष्ट करनेमें समर्थ है। □



## सौन्दर्यशास्त्र : स्वरूप एवं समस्याएं?

लेखक : डॉ. लक्ष्मणप्रसाद शर्मा

समीक्षक : डॉ. श्रोरंजन सुरिदेव

प्रस्तुत कृति अपने नामके अनुरूप सौन्दर्य शास्त्रके स्वरूप-निर्धारणके साथही उसकी समस्याओंके समाधान की गवेषणा-दृष्टिका उन्मूलन करती है। ललित कला-शास्त्रमें प्रतिष्ठित सौन्दर्यको प्राचीन भारतीय साहित्याचार्योंने भी परिलक्षित किया है। फिरभी, एक स्वतन्त्र शास्त्र ('एस्थेटिक्स') के रूपमें सौन्दर्यके अध्ययनका सूत्रपात पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों द्वारा हुआ जिनमें काण्ट, क्रोनो, बोसांके, थॉमस मुनरो आदिके नामसे उंगलीपर आते हैं। बादमें उक्त पाश्चात्य साहित्य चिन्तकोंसे अनुप्राणित होकर आधुनिक भारतीय साहित्य-शास्त्रियोंने भी उस अध्ययनको सौन्दर्यवादी साहित्य चिन्तन-पद्धतिके परिप्रेक्ष्यमें, स्वतन्त्र रूपसे आगे बढ़ाया जिनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ. कुमार विमल, डॉ. रमेश कुन्तलमेघ, डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा, डॉ. सुरेन्द्रबाराहगो, डॉ. निर्मला जैन आदिके नाम सन्दर्भित करने योग्य हैं।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियोंने प्रकृतिगत सौन्दर्यके साथ विभिन्न कलाओंकी कृतिगत भव्यताको विशेष रूपसे परिलक्षित किया है। इस प्रकार, उनकी दृष्टिमें दस्तुनिष्ठ सौन्दर्यही अधिक मूल्यवान् है। परन्तु, भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियोंने आत्मनिष्ठ सौन्दर्य और उसकी द्रष्टागत अनुभूतिको अधिक मूल्य दिया है। साथही, कला तत्त्वकी वरेण्यता एवं देहात्मबोधसे विमुक्ति या निर्वैयक्तिकताको साहित्यिक सौन्दर्यका मूलकारण माना है।

सर्माक्ष्य कृतिमें विद्वान् लेखकने सौन्दर्यशास्त्रके सिद्धान्तका, पौरस्त्य और पाश्चात्य, दोनों दृष्टियोंसे समेकित अध्ययन उपस्थापित किया है। किन्तु यह बात और है— कि इस क्रममें लेखकने पूर्वपक्षको जितनी सबलताके साथ रखा है, उस अनुपातमें उत्तरपक्षकी सब-

लता अपेक्षित रह गयी है। उत्तरपक्षका प्रायः समर्थक बनकर रह गया है। सहृदय लेखककी, खण्डन-मण्डनकी पद्धतिसे अपने सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तनको ततोधिक जायकेदार और उत्तेजक बनानेमें विशेष अभिरुचि नहीं दिखायी पड़ती। उसका स्वमत, परमतके परलवनमें ही विसर्जित हो गया है। फिरभी, सौन्दर्यशास्त्रको स्वयं समझने तथा उसे साधिकार शास्त्रोक्त दिशासे समझने का लेखकीय प्रयास अवश्यही श्लाघ्य है।

सौन्दर्यशास्त्रके विभिन्न आयामोंको नौ प्रकरणोंमें उपन्यस्त किया गया है, जिनमें सौन्दर्यशास्त्रकी परिभाषाके साथ उसका स्वरूप निरूपित हुआ है, उसकी सीमाओं और विषय-विस्तारको सुव्यवस्थित रीतिसे दर्साया गया है, पुनः भारतीय काव्यशास्त्र एवं पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्रपर तुलनामूलक प्रकाश-निक्षेप हुआ है। फिर, सौन्दर्य और कलाके सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचनके क्रममें सौन्दर्यकी आस्वाद-प्रक्रिया तथा सौन्दर्यकी भारतीय अवधारणाको भी रेखांकित किया गया है। एक सिक्केके दो पहलूकी भांति रसानुभूतिकी सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की गयी है, तो सौन्दर्यानुभूतिका रसशास्त्रीय विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है, जिसमें रस और सौन्दर्यके अभेदभावकी उद्भावना आकर्षक बन पड़ी है। अन्तमें औदात्त्यको आनन्दमयी चेतना मानकर, उसकी अनुभूतिके परिवेशमें, सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा की गयी है। इस प्रकार, सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तोंके बहुआयामी अध्ययनसे संवलित यह कृति अपने-आपमें सौन्दर्यशास्त्रके एक सम्पूर्ण ग्रन्थकी महत्तासे मण्डित है।

कहना न होगा कि सौन्दर्यशास्त्रके मौलिक, प्रामाणिक और व्यापक शास्त्रीय परिज्ञानके आकांक्षियोंके लिए यह कृति अधिक उपादेय होगी; क्योंकि डॉ. शर्मा के स्वीकृत विषयका, स्पष्ट चिन्तन और स्पष्ट शैलीमें पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन सौन्दर्यशास्त्रके पूर्वसूरियों द्वारा निर्दिष्ट पद्धतिपर हुआ है, इसलिए इसमें अमूल और अनपेक्षित कुछभी नहीं है, अपितु जो कुछभी है, वह साधार और सापेक्ष होनेके साथही शोध और सूचनाकी दृष्टिसे भी मूल्यवान् है। डॉ. शर्माने विभिन्न सौन्दर्यशास्त्रीय मनीषियोंके मतों और सिद्धान्तोंके आलोडन-विलोडन एवं सौन्दर्यशास्त्रविषयक बहुकोणीय चिन्तन-अनुचिन्तनके बाद सौन्दर्यशास्त्रकी जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमें प्राच्य और पाश्चात्य, दोनों अवधारणाओं

१. प्रका. : के. एल. पचौरी प्रकाशन, डी ब्लाक एक्स-टेशन इन्द्रपुरी (लोनी) गाजियाबाद (उ. प्र.)।

पृष्ठ : ११०; डिमा. ८६; मूल्य : ७५.०० रु.।



का समन्वयात्मक विनियोग हुआ है : “सौन्दर्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसासे सम्बन्धित सौन्दर्य-विषयक सिद्धान्तों एवं समस्याओंकी निर्णायक-निर्धारक एक ऐसी अभिनव समीक्षा-पद्धति अथवा स्वतन्त्र विधा है, जिसके अन्तर्गत कला, मानव-जीवन एवं प्रकृति आदिमें अभिव्यक्त सौन्दर्यके मानव-संवेदित रूपोंका तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण किया जाता है तथा जिसके प्रतिपाद्य विषयोंमें सौन्दर्योद्भूत आनन्दकी रसात्मक चेतनाका बहुविधात्मक अध्ययनभी सम्मिलित है।” (पृ. ७)।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र यद्यपि भारतीय अलंकार शास्त्रका ही पुनराख्यान प्रतीत होता है, तथापि उसकी व्यापक विशेषता यह है कि वह अलंकारशास्त्रकी हृदयस्त परम्पराके निर्वाहकी अपेक्षा, उसका सौन्दर्य-शास्त्रके रूपमें पुनराख्यान-करते हुए उसे समाज और जीवनकी चेतनासे जोड़ता है। जीवनका सामीप्य और संश्लेषण, व्यापक और गहरी दृष्टि एवं अनुभवोंके नियोजित रूपके कारण पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियोंका तद्विषयक उपस्थापन अवश्यही मौलिकता और नवीनता से वेष्टित हुआ है। भारतीय अलंकारवाद तथा पाश्चात्य सौन्दर्यवादका समन्वित दृष्टिसे या व्यतिरेकी रूपमें सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अभी अधूरा ही है। डॉ. शर्मा प्रस्तुत कृतिके ‘सौन्दर्यकी भारतीय अवधारणा’ एवं पश्चिमी ‘सौन्दर्यशास्त्र’ शीर्षक प्रकरणोंको और अधिक विस्तृत करके उक्त दृष्टिका पुंखानुपुंख भावसे उजागर करते, तो उनकी यह चिन्तन-प्रक्रिया अवश्य ही मौलिक होती। फिर भी, डॉ. शर्माका, स्वीकृत विषयकी उद्भावनाके अनुकूल भाषिक गम्भीरताके साथ उपस्थापित यह सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन विश्वसनीय होनेके कारण उन्हें सौन्दर्यशास्त्रियोंमें पांक्तेय बनाता है। □

### साहित्य समीक्षाके सोपान?

लेखक : डॉ. नारायणस्वरूप शर्मा ‘सुमित्र’

समीक्षक : डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य

यह कृति सत्ताईस शोधपरक समीक्षात्मक निबंधों

१. प्रका. : अणिमा प्रकाशन, नयी मण्डी, बड़ौत (वेरठ)-२५०६११ । पृष्ठ : २४३; डिमा. ८६; मूल्य : ६०.०० रु. ।

का संग्रह है। निबंध तीन भागोंमें विभक्त हैं—काव्य और काव्यशास्त्र, नाटक-साहित्य तथा उपन्यास-साहित्य। निबंधोंमें प्रायः व्यावहारिक समीक्षाके दर्शन होते हैं। ‘काव्यका प्राण-तत्त्व’ शीर्षक निबंध इसका अपवाद है; जो सैद्धांतिक समीक्षाके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आलोच्य कृतिके प्रथम भाग ‘काव्य और काव्य-शास्त्रके’ अन्तर्गत सात निबंध हैं, जिसमें अन्तिम निबंध ‘काव्यका प्राण-तत्त्व’ ही काव्यशास्त्रसे संबद्ध है। ‘कामायनीके सम्प्रेष्यकी प्रासंगिकता’ शीर्षक निबंधमें डॉ. शर्माने मानव योनिकी श्रेष्ठता, सारस्वत प्रदेशके व्यंग्यार्थ, काम-दर्शन, समरसता और नारी-जीवनकी प्रतिष्ठा, इच्छा, ज्ञान और क्रियाका सामंजस्य, जीवन में दुःख और कर्मठताका महत्त्व तथा विश्वबंधुत्व और मानवताके संदेशके माध्यमसे ‘कामायनी’के प्रतिपाद्यकी प्रासंगिकतापर विचार किया है। लेखकका यह निष्कर्ष है, “दिनों-दिन अधिकाधिक गहराते हुए मूल्य-संकटके इस दौरमें ‘कामायनी’ का अध्ययन-अनुशीलन और भी वांछनीय तथा प्रासंगिक हो गया है।” “आचार्य शुक्ल : अपनी ही कविताओंके निकषपर’ निबंधमें आचार्य रामचंद्र शुक्लके काव्य-संग्रह ‘मधुस्रोत’ की कविताओंके आधारपर उनके काव्य-कृतित्वका मूल्यांकन किया गया है। प्रकृति-प्रेम, छायावाद और रहस्यवादका विरोध तथा स्वदेश-प्रेम उनकी कविताओंकी विशेषताएं हैं। लेखकके अनुसार इन कविताओंमें लोक-मंगलका वह आदर्श खोजे नहीं मिलता, जिसके निकषपर शुक्लजीने भारतही नहीं, विश्वके अनेक मुख्यात कवियोंके काव्य को कसा है। यद्यपि ‘मधुस्रोत’की रचनाएं आचार्य शुक्ल के काव्य-चिन्तन और काव्य-रचनाके मध्य अन्तर्विरोध की साक्षी है तथापि उनका काव्य लोक-जीवनसे विमुख नहीं है।

‘दिनकर : भारतकी विकस्वर काव्य-चेतना’ निबंधके आरम्भमें डा. शर्माका मत है, “दिनकर मूलतः रोमांटिक कवि हैं।” निबंधके अन्तमें उनका विचार है; “दिनकरका काव्य जागृत पौरुषका निदान है।” वस्तुतः दिनकरकी आत्मा भलेही ‘रसवंती’ और ‘उर्वशी’में बसती रही हो किन्तु जिसका असंख्य भारतीयोंके हृदयपर आसन था, वह ‘हुंकार’ ‘कुरुक्षेत्र’ और ‘परशुरामकी प्रतीक्षा’ का रचयिता ही था। आगत युग दिनकरको राष्ट्रीय चेतनाके ओजस्वी कविके रूपमें



स्मरण करेगा। 'सूर और तुलसी : सगुणोपासनाके दो भिन्न आयाम' निबंधमें लेखकने सूर और तुलसीके सगुणोपासना विषयक भिन्न दृष्टिकोणोंपर विचार किया है। सूर पुष्टिभार्गके पक्षधर थे और तुलसी विशिष्टाद्वैत-दर्शनके प्रतिष्ठापक। 'मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यादर्श' और 'तुलसीका काव्यादर्श' नामक निबंधोंमें क्रमशः गुप्तजी तथा तुलसीकी काव्यविषयक मान्यताओंको स्पष्ट किया गया है। गुप्तजी आदर्शवाद, मानवतावाद तथा कला जीवनके लिए सिद्धांतके प्रबल पक्षधर थे। उनके काव्यमें समन्वयकी विराट् चेष्टा है तुलसीका काव्य आद्यन्त लोकहितकी भावनासे संश्लिष्ट है। उन्होंने श्रेष्ठ काव्यके लिए हृदय-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्वके समन्वय तथा सत्य-शिव-सुन्दरम्की प्रतिष्ठापना को आवश्यक माना है।

'काव्यका प्राण-तत्त्व' निबंधमें डॉ. शर्माने रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रस संप्रदायोंपर विचार करते हुए इनमें से किसीको भी काव्यका प्राण या केन्द्रीय तत्त्व नहीं माना है। उन्होंने औचित्य संप्रदायपर विचार नहीं किया है। उनका मत है, "काव्यका प्राण-तत्त्व उसकी उस मूल संवेदना या प्रेरणाको कहा जा सकता है, जो स्रष्टा कविकी अन्तश्चेतनामें काव्य-रचनाके पूर्व मूल या बीज रूपमें अथवा प्रेरक रूपमें निहित है।" इस संदर्भमें ध्यातव्य है कि प्रेरणा कवि को काव्य-विशेषकी रचनामें प्रवृत्त करती है। व्यक्तिगत रुचि तथा देश एवं कालके अनुसार कवियोंके प्रेरणा-स्रोतमें अन्तर आ जाता है। लेखक द्वारा उल्लिखित "रसो वै सः" उक्ति मूलतः अध्यात्मके क्षेत्रसे संबद्ध है। रसको काव्यात्मा माननेके परिप्रेक्ष्यमें हम उसके पारिभाषिक अर्थको ग्रहण नहीं कर सकते। वह केवल स्थायी भावका चरम परिपाक नहीं है अपितु लोकोत्तर अनुभूति है। अनुभूतिके अभावमें काव्य-सृजन असंभव है।

समीक्ष्य कृतिके द्वितीय भागके 'ध्रुवस्वामिनी' और 'जय वर्द्धमान'से संबद्ध निबंधोंमें डा. शर्माने दोनों नाटकोंमें चरित्रांकन, भाषा और शिल्प, अभिनेयता तथा प्रतिपाद्यपर सविस्तार अपने विचार व्यक्त किये हैं।

आलोच्य पुस्तकके तृतीय भागके 'प्रेमचंद-पूर्व हिन्दी-उपन्यास' निबंधमें डॉ. शर्माने १९१८ ई. से पूर्व प्रकाशित कुछ उल्लेखनीय सामाजिक उप-

न्यासोंके आधारपर उस युगके उपन्यासोंका मूल्यांकन किया है। उनका आधार भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयागसे प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य'का तृतीय खंड है, जिसमें १०० से अधिक उपन्यासोंका उल्लेख है। इस सन्दर्भमें उल्लेखनीय है कि डॉ. गोपाल राय द्वारा संपादित 'हिन्दी उपन्यास कोश'के भाग १ में १८७०-१९१७ ई. के मध्य प्रकाशित १३८ मौलिक उपन्यासों का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। 'गांधीवाद और प्रेमचंद' निबंधमें लेखकने प्रेमचंदके उपन्यासोंमें गांधी-वादी चेतनाका दर्शन कराया है। डॉ. शर्माने 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' उपन्यासोंपर विचार नहीं किया है। 'निर्मला'में कृष्णाके भावी पतिका खदूर बेचना, 'गवन' में वेश्या जोहराका हृदय-परिवर्तन, 'कर्मभूमि'में अछूतों-द्वारा तथा खादी-प्रचार, अमरकांत द्वारा लगानबंदी आन्दोलनका समर्थन और स्त्री-पात्रोंका आन्दोलनमें भाग लेना, 'गोदान'में पं. मातादीनका सिलिया चमारिनके आत्मत्यागसे प्रभावित होकर पश्चात्ताप करना और अपने आचरणके लिए क्षमा मांगना आदि गांधी-वादसे प्रभावित ऐसी घटनाएं हैं, जो प्रस्तुत निबंधमें अनुल्लिखित हैं।

'हिन्दी उपन्यास और वर्गवादी चेतना' निबंधमें डॉ. शर्माने हिन्दी उपन्यासमें आर्थिक वैषम्यसे उत्पन्न सामाजिक वर्गवादी चेतनाका चित्रण किया है। 'ग्रामा-चलकी क्रांति-चेतना' निबंधमें नागार्जुनके उपन्यासोंमें सर्वहारा वर्गके जीवनव्यापी संघर्षका अंकन है। डॉ. शर्माका यह कथन उचितही है, 'नागार्जुनके उपन्यासोंको भारतीय ग्रामांचलकी क्रांति-चेतनाके विकास का प्रामाणिक आलेख कहा जा सकता है।' 'परिवार संस्थाकी अवहेलना' तथा 'माता-पिताका निरादर' निबंधोंमें लेखकने उपन्यासोंमें क्रमशः पारिवारिक संस्था के विघटन तथा माता-पिताके प्रति पनपती समाज-विद्रोही चेतनाका निरूपण किया है। 'अगम्याओंके प्रति यौनाकर्षण' 'विवाह-संस्थासे विद्रोह' तथा 'समाजपर पूर्ण अनास्था' शीर्षक निबंधोंमें उपन्यासोंमें नवीनताके नामपर यौन विकृतिथोंके चित्रणको प्रस्तुत किया गया है। 'नये मानवीय मूल्योंकी खोज' निबंधमें डॉ. शर्माने उपन्यासोंमें ऐसे जाँवन मूल्योंको खोजा है, जो युगीन आवश्यकताओंके अनुरूप उत्पन्न हुए हैं। 'उपन्यासकार जनेन्द्र' और 'अज्ञेयकी समाज-विद्रोही-चेतना' शीर्षक



निबंधोंमें 'क्रमशः जेनेन्द्र और अज्ञेयकी व्यक्तिवादी  
चेतनापर प्रकाश डाला गया है।  
समीक्ष्य कृतिका वैशिष्ट्य यह है कि डॉ. शमनि

मत(ग्रहसे परे रहकर विषयोंपर तटस्थ भावसे प्रकाश  
डाला है। ग्रंथमें उनकी अन्वेषी प्रवृत्ति परिलक्षित होती  
है। □

## उपन्यास

### समर शेष है?

लेखक : विवेकी राय

समीक्षक : मधुरेश

एक ग्राम कथाकारके रूपमें विवेकी रायकी मूल  
चिन्ता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-जीवनके नैतिक,  
सांस्कृतिक ह्रासके साथही उसकी आत्माके पुनरा-  
विकारकी है। विभिन्न सरकारी योजनाओंके अन्तर्गत  
गांवोंका जो थोड़ा-बहुत बाह्यरूप बदलता दिखायी देता  
है वह अपनी वास्तविकतामें कितना खोखला और  
मात्र ऊपरी सतहको ही छूनेवाला है, कि उसे सही  
अर्थमें विकास मान पानाभी कठिन है। अपने पिछले  
उपन्यास 'सोना-माटी' की भांति 'समर शेष है' में  
विवेकी राय भारतीय ग्रामजीवनके इस प्रदूषणको समेट-  
केटोरकर एक जगह इकट्ठा करनेकी कोशिश करतेहैं  
जिससे फिर संगठित ढंगसे उसकी मुक्तिके अभियानमें  
लगा जा सके।

'समर शेष है' का घटना-क्षेत्रभी पूर्वी उत्तरप्रदेश  
का अविकसित भू-भाग है जहां आजभी सबसे बड़ी  
समस्या बाढ़, महामारी और सरकारी प्रचार-तंत्रको  
मुंह चिढ़ाते हुए 'सड़क' का महारोदन है। यह अका-  
रण नहीं है कि उपन्यासमें उझंगा सड़ककी मांग बाका-  
यदा सुराजके विवाहकी शर्त बन जातीहै जो बादमें,  
लक्ष्य विस्तार द्वारा, समूचे देशकी सड़क-दशासे जुड़  
जातीहै।

१. प्रका. : प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार,  
दिल्ली-११०००६ । पृष्ठ : ५१४; डिमा. ८८;  
मूल्य : १५०.०० रु.।

देशकी कथित स्वाधीनताके बाद भोली-भाली  
सामान्य जनता कैसे छली जाती रहीहै—इस तथ्यको  
गहरे अवसादके साथ संप्रेषित कर पानाही विवेकी  
रायकी मूल रचनात्मक संलग्नता है। स्वाधीनताके  
पश्चात् भारतीय ग्रामजीवन एक दोहरी मारसे टूटा  
और जर्जर हुआहै। एक ओर यदि हर वर्ष नदियोंकी  
बाढ़ने उसे महाविनाशके गर्तमें ढकेलाहै तो दूसरी ओर  
अपसंस्कृति और नैतिक-स्खलनकी औरभी प्लावनकारी  
बाढ़ उसकी आत्माको खा रहीहै। परिणाम यह है  
कि गांव जितना बाहरसे टूटाहै, उतना ही अन्दरसे  
भी। सरकारी विकास-योजनाओंका लाभ मुट्ठीभर  
लोगोंको ही मिल पाताहै। इन विकास-योजनाओंने  
आन्तरिक और बाह्य रूपसे गांवको समृद्ध करनेके स्थान  
पर जिस राजनीतिक प्रपंच और अवसरवादको जन्म  
दियाहै उसका समाधान बाढ़ रोक पानेके उपायों और  
सड़क-निर्माणसे भी दुष्कर है। वस्तुतः अपसंस्कृतिकी  
इस महाविनाशकारी बाढ़ और मूल्यविहीन राजनीतिके  
रेलेमें अपने पैरों खड़े होनेका संघर्षही 'समर शेष है'  
का मूल कथ्य है।

उपन्यासके केन्द्रमें पंडित संतोषकुमार त्रिवेदी  
अर्थात् संतोषी पंडित नामक एक प्रौढ़ वयः अध्यापक है  
जो अपने घर-परिवार और खेत-जमीनकी समस्याओंके  
द्वारा समूचे देशकी विसातपर फैलता जाताहै वह एक  
निष्ठावान् और कर्मशील व्यक्ति है जो आजभी, शिक्षा  
की बहुविध और व्यापक दुर्गतिके बावजूद, पूरी पीढ़ी  
को बनाने-संवारनेकी ललक रखताहै। स्कूल, जो  
वस्तुतः इण्टर कालेज है, में पड़े मिले एक बेकारसे कागज  
के फेरमें जिसपर किसी छात्रने अपने पढ़नेका टाईम-



टेबिल और कुछ अन्य बातें लिख रखी हैं, वह गहरी छान-बीन करता है और अन्ततः रामराज नामक उस छात्रका पता लगाकर ही छोड़ता है। पासके गांव दशरथपुरमें वह उसके घर तक पहुंचता है और गर्मीकी रात में, देर रात तक, गहरी तन्मयताके साथ उसे अपनी पढ़ाईमें डूबे देखकर उसे अपार संतोष और सुख मिलता है।

संतोषी पंडितके संघर्षके मुद्दे अनेक हैं। वस्तुतः संघर्षके इन मुद्दों और उनकी आन्तरिक प्रकृति द्वारा ही लेखक हमारी सामाजिक संरचनाको उद्घाटित करता चलता है। अपने संघर्षकी इसी लंबी और अन्तहीन प्रक्रियामें ही विवाह, शिक्षा, राजनीति, नौकरशाही, प्रायोजित राष्ट्रीय विकास योजनाओं आदिकी वास्तविकता उसके सामने आती जाती है। संतोषी पंडितकी एक विवाह योग्य कन्या है—कालिन्दी और उसके विवाहके लिए सत्पात्रकी खोजमें उनकी अन्तहीन भटकनसे यह पीड़ा पूर्ण अनुभव उन्हें भीतरतक चीरकर रख देनेवाली उग्रताके साथ होता है कि वर्तमान समाज-रचनामें बेटी व्याहनेवाले बापकी स्थिति चक्रव्यूहमें अकेले फंसे अभिमन्युसे किसी तरह कम नहीं है..... लेकिन वह तो छह फाटक तोड़कर मरा। इधर यह पंडितका पहला कठिन फाटक, बेटीका ब्याह ही ऐसा लग रहा है कि वज्रका फाटक है !' (समर शेष है, पृ. ६४) सजातीय और प्रतिष्ठित घर-परिवारके कारण ही वह रामराजकी ओर आकृष्ट होता है परन्तु कुछ तो उसके विकासकी अप्रत्याशित दिशा और कुछ उसके पिता तथा बड़े भाईकी ओरसे लटकाये जानेकी प्रवृत्ति उसे हताश करती है और बादमें तो अनेक ऐसीही घटनाएं घट जाती हैं कि पूरे उपन्यासमें सत्पात्रकी उसकी खोज वस्तुतः खोजही बनी रहती है। वह तभी समाप्त होती है जब विजातीय धनेसरके असमसे लौटनेपर कालिन्दी और उसके पारस्परिक आकर्षणको स्वीकृति देकर अपने संस्कारोंसे लंबी तनावपूर्ण लड़ाईके बाद, वह इस सम्बन्धको अपनी सहमति देनेका मत बना लेता है।

शिक्षा और उसके संस्थानोंकी दशा संतोषी पंडित की सबसे अधिक दुखती रग है। एक ओर यदि प्रभुनाथ, वृन्दावन और अमरेश जैसे विद्या-विरोधी युवक हैं तो दूसरी ओर रामराज जैसे छात्र, जो स्कूलसे निकलते ही उच्च शिक्षाके नामपर बड़े शहरोंमें जाकर अपना

लक्ष्य भूलकर भटक जाते हैं और अपनी सारी चमक खोकर कुंठित और दिशाहारा हो जाते हैं। उसका पूर्व छात्र इंजीनियर विराज अपने साले प्रभुनाथको परीक्षाकी बैठक पर करनेका दायित्व संतोषी पंडित पर ही डाल देता है और उसी प्रभुनाथ तथा उसके साथियों द्वारा दबाव डाले जानेपर पहले तो प्राचार्य उसे ड्यूटीसे अलगकर देता है और फिर बादमें वाक्यदा पिटाईके बाद वह महीनों विद्यालय आने लायक ही नहीं रहता। फिरभी हठ और पागलपनकी हद तक जाकर पंडित इस स्थितिका विरोध करता है। विद्यालयमें परीक्षाके दौरान, रिकशापर लाउडस्पीकर रखकर सामूहिक नकलके अभिभावकीय आयोजनको वह स्थिति के विरोधमें काममें लाते हुए टांग तुड़वा बैठता है। अंत में प्रभुनाथ, बड़े नाटकीय ढंगसे, अपनी बड़ी बहन जयन्तीके साथ क्रान्तिकारी गतिविधियोंकी राह चला जाता है और अमरेश अपने पिताकी सामाजिक-राजनीतिक स्थितिका लाभ लेकर मादक पदार्थोंकी तस्करी से जुड़ जाता है और स्वयं भी उसका शौक पाल लेता है। अपनी सक्रियता और जिन गतिविधियोंके कारण पंडित को विद्यालयसे निकाला जाता है, प्रायः उन्हीं कारणोंसे उसके लिए समरेश बहादुर सिंह द्वारा एक नये विद्यालय—नेतानगर इंटर कालेज—की स्थापना करके उसे विधिवत् प्राचार्य बना दिया जाता है। उसकी ह्याति, निष्ठा और पूर्व पृष्ठभूमिके कारण पुराना विद्यालय छोड़-छोड़कर छात्र इस नये विद्यालयमें आते-जाते हैं। परन्तु जल्दीही यह संतोषभी उससे छिन जाता है क्योंकि उसे यह अनुभव होनेमें देर नहीं लगती कि उसका उपयोग हो रहा है। समरेश बहादुर सिंहको न शिक्षासे कुछ लेना-देना है, न संतोषी पंडितसे। आगामी चुनावके लिए वह कांग्रेस (आई) के टिकटपर आखिरी गड़बड़े है और विद्यालय उसके लिए मंच और आर्थिक लाभसे अधिक कोई महत्त्व नहीं रखता। जिलाधिकारी सहित पूरी नौकरशाही बिकी हुई है। ग्राम-सभापतिकें रूपमें समरेश बहादुर और इस पूरे सरकारी तंत्रमें प्रायः अप्रगट ऐसे गुप्त समझौते हो चुके हैं उससे जो समर्थन बनता है वह गांवके प्रायोजित विकासके लिए आवश्यक होनेपरभी उसकी मूल आत्मा और चरित्रको नष्ट करनेवाला है। जिलाधिकारीकी सारी सत्ताईका दायित्वका समरेशपर ही है और इन लोगोंके समर्थन प्राप्त करनेवाला है। गांवका विकास अपनी दिशा तब



करता है। वर्षों पूर्व घर छोड़कर चले गये संतोषी पंडित के चचासे, एक दिन अचानक प्रगट हो जानेपर, सुखदेव सिंह उनकी डेढ़ बीघा जमीन अपने नाम लिखवाकर बड़े रहस्यमय ढंगसे उनकी हत्या कर देता है। उसमें वह संतोषी पंडितको भी फंसा देता है।

इस तरह कथाके केन्द्रमें खड़े संतोषी पंडितकी लड़ाई अनेक दिशाओंमें जारी है। वह 'अस्वीकार' को अपनी लड़ाईका हथियार बनाकर प्रायः हर मुद्देपर लड़ता है। किसीभी गलत चीजसे समझौता न करनेका उसका हठ उसे ऊर्जा देता है। जब सुराज, रामराज और जयन्तीके हवालेसे, आश्रमके लिए शमशेरवाली जमीन लेनेको अपनी सहमति दिखाता है तो वह प्रायः चीखभरी उत्तेजनामें कहता है—'हरगिज नहीं। किसी शर्तपर नहीं। पापीके वितसे चित्त बिगड़ जायेगा...' (पृ. १७७)। मैनेजरके यहां रहनेपर उसके द्वारा भिजवाये गये सुस्वादु व्यंजनोंका तिरस्कार भी वह इसी तर्कसे करता है। वस्तुतः वहां रहनेके दौरानही यह बोध उसमें जागता है कि निर्भय होकर रहना है। उसके संकोच को ही लोग अपने ढंगसे, अपने पक्षमें, व्याख्या करके उसके इरादोंको ध्वस्त कर देते हैं।—'अब किसी चीजसे डरना नहीं है। गलतके प्रति न समझौता करता है और न समर्पण।' (पृ. १७५)। वस्तुतः इस बोधके सहारे चलकर ही वह इस निर्णयतक पहुंचता है—'उन्हें अब लगता है, गलतके प्रति घुटने टेक देनेका ही परिणाम है कि हम हवामें एक आतंक-महल बनाकर और फिर उससे डर-डरकर सिकुड़ते और नष्ट होते चले जाते हैं' (पृ. १७८)। पर्याप्त नाटकीय ढंगसे, एक भिन्न प्रसंगमें, उसके अन्दर शेष बचे भयको उसका पूर्व छात्र रसगुल्ला बाबा निकालता है जो सारी गतिविधियोंसे परिचित होकर, इस परिवेशकी जड़ताके विरुद्ध, गुप्त क्रान्तिकारी संगठनसे जुड़कर जन-जागृतिके अभियानमें लगा है। संतोषी पंडितका आत्मबोध उसकी रीढ़ सीधी करके अपने लिये गये निर्णयोंके प्रति उसे अडिग बनाये रखता है। विद्यालयके प्रबन्धकका कपट-जाल वह छिन्न-भिन्न कर देता है। समरेश बहादुरके प्रतिद्वन्द्वी विद्यालयसे वह अपनेको एक झटकेसे मुक्तकर लेता है। सुखदेव सिंहकी लौटायी गयी जमीन वह अस्वीकार कर देता है क्योंकि उसे पता चल चुका है कि सीलिगमें अपनी दस बीघा जमीन बचानेके लिए उसने झूठे बयान

दिये हैं और उसकी अपनी जमीनकी यह वापसी सुखदेव सिंहकी सदाशयताका परिणाम न होकर, उसी भय और दुर्बलताका परिणाम है। सीधे तौरपर दस बीघा बचाने के लिए यह डेढ़ बीघाकी घूस है। प्रभुनाथकी घटनाके बाद विराजकी स्वीकृतिका मोहभी वह छोड़ देता है—बेटाके विवाहके लिए झूठ और असत्यसे कोई समझौता उसे स्वीकार्य नहीं है।

संतोषी पंडितकी लड़ाईका एक सांस्कृतिक मोर्चा भी है। विनोदके विवाहके अवसरपर कंगन-सिराईका जुलूस ग्राम-संस्कृतिके वेमेल और भ्रष्ट शहरीकरणका उदाहरण बनकर, उनकी प्रमुख चिन्ताके रूपमें सामने आता है। ग्राम-संस्कृतिकी प्रतीक उस भोली-भाली ग्राम-कन्या से तस्करी और दूसरे काले धंधोंमें लिप्त विनोदका यह कथित विवाह पंडितको स्वीकार्य नहीं है। विनोद जैसे विकृत शहरी रुचियोंके युवकसे उस ग्राम-कन्याका यह वेमेल गठजोड़ उन्हें ग्राम-संस्कृतिसे बलात्कार जैसा लगता है—'पंडितको मूल्यहीन विवाह-व्यवसाय अस्वीकार है, सड़ी-गली परम्पराएं अस्वीकार हैं और संस्कृतिके नाम पर विकृतियोंके आगे आत्म-समर्पण अस्वीकार है... यह सामनेवाला दुलहा एक व्यामोह है, यह कंगन छोरनेवाला जुलूस एक व्यामोह है और चलता हुआ गीत—(जिसमें बधू मास्टर द्वारा पतिको फेल कर देनेपरभी चिन्ता न करनेकी बात कहती है क्योंकि वह अपनी झुलनी बेचकर उसे पढ़ायेगी और दरोगा बनायेगी फिर बहुतेरी हंमुली-हुमेल बन जायेंगी...)—तो महामोह है।...' (पृ. ४२३)।

विवेकी राय 'समर शेष है' में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम जीवनमें नैतिक-सांस्कृतिक ह्रास और अप-संस्कृतिके दुर्निवार आक्रमणको, उससे उपजी हताशा और मोहभंगको पर्याप्त संवेदनशील ढंगसे अंकित करनेमें सफल हुए हैं। इसके लिए जिन पात्रोंकी सृष्टि उन्होंने की है वे मात्र अवधारणात्मक न होकर, हाड़-मांसके वास्तविक व्यक्ति हैं। ऊपर संतोषी पंडितकी चर्चा किंचित् विस्तारसे हुई है। उसकी पत्नी-पंडितानी—बहुत कम बोलनेवाली स्त्री है लेकिन स्त्री परिवार की रीढ़ कैसे होती है, इसे वह कम बोलकर भी प्रमाणित करती है। कालिन्दीके विवाहकी चिन्तामें, पंडित के टालनेके बावजूद, वह रसगुल्ला बाबाके आश्रममें जाकर विधिवत् 'उतजोग' करना चाहती है। पतिके आना-कानी करनेपर वह उसे बड़े शिष्ट ढंगसे फटकारने



में भी नहीं चूकती । भ्रष्टाचार और अपसंस्कृतिकी बाढ़में जब पतिको अपने पैर टिकाना मुश्किल देखती है, तो आगा-पीछा सोचे बिना वह उनसे नौकरी छोड़कर मुक्त हो जानेका आग्रह करती है । बाप-दादों का पंडिताईका काम कहाँ गया है । सतोषी पंडित इतनी निर्विद्वताके साथ जो सारे निर्णय ले लेता है उसके पीछे पत्नीके सहयोगका विश्वास उसे नहीं होता तो कदाचित् वह वैसा नहीं कर पाता । बोली-ठिठोली से रस-सिक्त उनका दाम्पत्य जीवन इधरके कथा-साहित्यमें विरल होता गया है ।

विवेकी राय प्रतीक पद्धतिसे भी अपने पात्रोंकी रचना करते हैं—परन्तु वे प्रतीक अमूर्त न होकर, जीवन के स्पन्दनसे पूर्ण हैं । सुराज और विराज जुड़वां भाई हैं और रामराज उनका छोटा भाई है । विराज इंजीनियर है और शहरमें अपना घर-परिवार जोड़े उसी भ्रष्टाचार और अपसंस्कृतिका एक पुर्जा है जिसकी बाढ़के नीचे सीधे-सादे, दंद-फंदसे मुक्त आदमीके पैर टिक नहीं पाते । सुराज अपने नामके अनुरूपही इस हाहाकारी बाढ़के विरुद्ध खड़ा होता है । होनेवाले समुद्र से उसके गाँव उखंगा तक सड़कका सवाल उसके लिए राष्ट्रीय महत्त्वका सवाल बन जाता है जिसके बिना वह अपनी प्रिया—जयन्ती—जिसे वह प्यारमें 'जनता' कहता है, को तबतक स्वीकार करनेकी स्थितिमें नहीं है जब तक वह अपने प्रतिरोधमें सफल नहीं हो जाता । अपनी लक्ष्य-सिद्धिके लिए वह जन-संपर्कके उद्देश्यसे जनता तक पहुंचना चाहता है ताकि सही दिशाका संकेत उसे मिल सके । अपने एक पत्रमें वह जयन्तीको लिखता है—'आज सही मायनेमें जीवन जीनेका अर्थ है लड़ना संघर्ष करना । हमारा अस्त्र अस्वीकार है । हमें यह पूरी व्यवस्था अस्वीकार है । वह हमारे नामपर होकर भी हमारी नहीं है' (पृ. २४४) । वह वैषम्य, शोषण और भ्रष्टाचारकी सड़कोंको ध्वस्त करना चाहता है क्योंकि वे जिस मंजिलकी ओर जाती हैं, वह हमारी अभीष्ट मंजिल नहीं है । उखंगा तकके लिए सड़कका उसका संघर्ष वस्तुतः उस अभीष्ट मंजिलका ही प्रतीक है जो गाँवोंको साधारण जनताके लिए सामान्य सुविधाओंकी सुरक्षाका आश्वासन देती है ।

रामराज शिक्षाको हार्दिकता और संवेदनासे वंचित करके, व्यवसायमें बदल दिये जानेसे क्षुब्ध है । गाँवसे बनारस तककी उसकी यात्रा उच्च शिक्षाके 'प्रकर'—अक्तूबर'९०—३४

नामपर, एक पूरी पीढ़ीके भटकाव और मोहभंगको गहरी व्यथा और अवसादके साथ अंकित करती है । अपनेको लगभग नष्ट करके यह बोध उसे हुआ है कि ये कथित शिक्षा-संस्थान अपने वास्तविक रूपमें अंधेरे के केंद्र हैं । अपनी पीढ़ीकी हताशाके कारणोंको वह गहराईसे बूझता दिखायी देता है—'मुझे लगता है कि देशके नेता कहलानेवाले अगुआ लोगोंने इस देशको बहुत धोखा दिया है । उन्होंने देशके साथ, अपने साथ भी छल किया है । उन्होंने सेवाके नामपर स्वार्थसिद्धि की है, त्यागके नामपर विभिन्न प्रकारके संग्रह किये हैं और शिक्षाके नामपर अपने भीतरका विषला छल घोल-घोलकर जनताको पिलाया है । खेरियत है कि इस विषके असरके बावजूद कुछ बेहोशी जैसी वरपा होनेसे रामराज अभी पूरी तरह मरा नहीं है । वह अपने बचे-बुचे होशके साथ जीनेकी राह ढूँढ रहा है'... (पृ. ३७७) । रामराज स्वाधीन भारतकी सामान्य जन-आकांक्षाका प्रतीक है, गहरी हताशा और मोहभंगके बावजूद जिसकी संघर्ष-शक्ति अभी निःशेष नहीं हुई है । जीनेकी राहकी इस खोजमें वह अकेला नहीं है, संतोषी पंडित, सुराज, जयन्ती, जानकीनाथ, धनेसर और विरजू जैसे अनेक लोग हैं—भिन्न जाति और वर्गके ये लोग मिलकर उस भारतको मूर्त करनेमें सक्रिय हैं जिसपर स्वाधीनताके बादसे ही सुखदेव सिंह और समरेश बहादुर जैसे लोग अधिकार किये हैं और जिनके उत्तराधिकारके रूपमें अमरेश और विनोद जैसे युवकोंकी पीढ़ी अपसंस्कृतिके प्रसार और समाज विरोधी गतिविधियोंमें आकंठ डूबी है ।

सामूहिक संघर्षको अंकित करनेवाले उपन्यासोंमें प्रतिपक्षके रूपमें अंकित पात्र प्रायः ही इकहरे और कृत्रिम होते हैं । उनका यह इकहरापन और कृत्रिमता अन्य सकारात्मक पात्रोंको भी प्रभावित करती है क्योंकि वह पूरे संघर्षको एक अवास्तविक और यांत्रिक संघर्षमें बदल देती है । 'समर शेष है' के सुखदेव सिंह और समर-बहादुर इस दृष्टिसे हाड़-मांसके जीते-जागते मनुष्य हैं जो अपने स्वार्थके लिए असाधारण धैर्यको अपनी सफलताका मूल मंत्र मानते हैं । वे दोनोंही ऊपरी तौरपर संतोषी पंडितको सम्मान देते हैं, उसके पैर छूते हैं और अवसरके अनुकूल अपनी चाल बदल देनेमें दक्ष हैं । इसमें वे हेठी अनुभव नहीं करते । सगुन-बो की बकरीके प्रसंगमें जब दीपक बहुत लाल-पीला होकर आंय-बांय-शांय बकने



लगता है तो पंडितही उसके विरोधको तत्पर होता है। पंडितको प्रतिवादकी मुद्रामें खड़ा देखकर सुखदेव सिंह अपनी चाल बदलकर दीपकको 'कुलबोरन' कहकर सगुन-बोको सन्तुष्ट करनेका प्रयास करता है। ब्राह्मण और गुरु होनेके नाते उसके प्रति सम्मानका अहेतुक प्रदर्शन उसके लिए एक छद्म है। पंडितकी डेढ़ बीघा जमीनके लिए वह महाभारतका उदाहरण देता है जहाँ लोग न्यायकी लड़ाई लड़तेथे और परस्पर आदर-सम्मानभी बनाये रखतेथे। सबकुछ मुकद्दमेके फैसले पर छोड़कर वह बेहद निर्लिप्त दिखायी देनेकी कोशिश करता है, लेकिन सीलिंगवाला रहस्य पंडितकी मुट्ठीमें अतेही उसें साँप सूँघ जाता है और पैतरा बदलनेमें उसे जराभी समय नहीं लगता। समरेशवहादुर सिंह मुराज द्वारा कीगयी पिटाईको भी 'स्वामी बाबाका आशीर्वाद मानकर ग्रहण करता है। जिस जमीनको वह जनता-आश्रमके लिए देता है, वह वस्तुतः उसकी है ही नहीं! चकवन्दीके कागजोंमें उसका नाम न चढ़ानेपर भी उसपर अधिकार उसीका बना है। एक बार उसपर किसी मंत्री द्वारा 'पं. जवाहरलाल नेहरू जनता समिति' का शिलान्यास हो चुका है, एक बार कमिश्नर द्वारा 'जनता चिकित्सालय' का और अब तीसरी बार स्वामी मुराज साहब द्वारा 'जनता आश्रम' की बारी है। लेकिन न कहीं 'जनता' है और न ही 'आश्रम'। वह उसकी अपनी राजधानी है। पुलिसकी गोलीसे मरी युवतीको जयन्ती समझकर वह उसी जमीनपर स्मारककी घोषणा कर देता है और उस अवसरपर उसका भाषण उसे उसके वास्तविक रूपमें सामने लाता है। स्वार्थ, सत्ता और छद्मका जो गठजोड़ स्वाधीनता परवर्ती राजनीतिमें सामने आया है, बड़े जीवन्त रूपमें वह उसे मूर्त करता है।

विवेकी रायके पिछले उपन्यास 'सोना-माटी' में लिखते हुए, उसमें वैकल्पिक शक्तियोंके अभावकी ओर संकेत करके मैंने उसे विकट-वास्तवसे काठकी तलवार भाँजकर लड़ी गयी लड़ाई कहा था। 'समर शेष है में पंडित दामोदर शर्मा रामराजसे 'देशधुन' नामक किसी उपन्यासकी चर्चा करते हैं जिसका पात्र समर प्रारम्भसे अन्ततक लड़ता है—पुलिस अत्याचारके विरोधमें, जाति-विकास अधिकारियोंके भ्रष्टाचारके विरोधमें, जातिवाद और रूढ़ियोंके विरोधमें। वह काफी पढ़ा-लिखा है और ऊँची डिग्रियाँ लेकर भी ग्राम-सेवाके प्रति सम-

पित होनेकी बात करता है। शर्माजी स्वयंही अपनी टिप्पणीमें इसे 'झूठी' बात कहते हैं। रामराज इसे 'झूठी' न कहकर हवाके रुंखसे थोड़ा हटी हुई बात कहता है। लेकिन वहभी समरको कायर बताता है—समर लड़ता है परन्तु उसके हाथमें काठकी तलवार होती है। समर के संघर्षकी यांत्रिकताकी ओर संकेत करते हुए ही कदाचित् उसकी लड़ाईको काठकी तलवार भाँजना कहा गया है जिसमें संघर्षका भ्रम तो बना रहता है लेकिन संघर्ष होता नहीं है। रामराज पहले तो उत्साहित होकर स्वयं अपनेको ही समर बताने लगता है लेकिन फिर सम्भवतः अकेले इस लड़ाईकी व्यर्थताको समझकर वह सबसे पहले उन्हें समर बननेको कहता है जो बड़े-बड़े आदर्श बखानते हैं। इस प्रकार समरकी लड़ाईको वह एक सामूहिक संघर्षमें बदल देनेपर जोर देता है।

'आलोचना' में 'सोना-माटी' पर जब मेरी समीक्षा छपी थी तो उसपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विवेकी रायने लिखा था—तलवार भाँजना न जानने वाले लोगोंके हाथमें लोहेकी तलवार कैसे पकड़ा दी जाये? यहाँ अपनी प्रतिक्रियामें वे समीक्षाके शीर्षकमें निहित व्यंजनाको उसके स्थूल अर्थमें ग्रहण करते दिखायी देते हैं। 'सोना-माटी' का रामरूपभी संतोषी पंडितकी भाँति अध्यापक और किसान एक साथ है। उसकी मुख्य चिन्ता है... 'इन खेतोंके स्वर्गके बीच गांवको नरक बनानेवालोंकी पहचान होनी चाहिये। अपने बीच होकर भी वे अपने नहीं हैं...' (सोना-माटी, पृ. २६६)। रामरूप इन शक्तियोंको पहचानकर भी सिर्फ उस पहचान तकही सीमित रह जाता है। संतोषी पंडित उन्हें पहचानकर और एक कदम आगे बढ़ता है। एक ओर तो वह स्वयं भ्रष्टाचार और नैतिक अपक्षयसे असहयोग और अस्वीकारको अपना जीवन-दर्शन बना लेता है, दूसरी ओर वह उन शक्तियों और कारकोंको पहचानने और संगठित करनेका प्रयास करता है जो समवेत रूपमें इस संघर्षको आगे बढ़ा सकें। इसबीच वैकल्पिक शक्तियोंके अन्वेषणके उत्साहमें लेखक जयन्तीको बाकायदा क्रान्तिकारी संगठनसे जोड़ देता है। माता-मइया और सात-बहनोके रूपमें उससे अनेक चमत्कारी प्रसंग जन-जागृतिकी धुरी बनकर सामने आते हैं। संतोषी पंडितका ही एक पूर्व छात्र रसगुल्ला बाबाके रूपमें इस गुप्त संगठनका प्रमुख सूत्रधार है। आधुनिक बाबा और भगवानोंकी संदिग्ध भूमिकाको देखते हुए विवेकी राय



दो प्रकारके बाबाओंको सामने लाते हैं—स्वामी गगनानंद समाज सुधार और दहेजहीन सामूहिक विवाहके नाम पर विवाहके लिए इकट्ठी कीगयी लड़कियोंको लेकर भाग जाता है जबकि रसगुल्ला बाबा गुप्त रूपसे गांवको नरक बनानेवाली शक्तियोंके विरुद्ध सक्रिय है। उसका बाबा होना उसकी क्रान्तिकारी गतिविधियोंके लिए एक आवरण जैसा है। भलेही इस संगठनकी भूमिका और स्वरूप स्पष्ट होकर सामने नहीं आता, अपनी गतिविधियोंकी दृष्टिसे वह बहुत विश्वसनीयभी नहीं है, लेकिन लेखकके वैचारिक विकासको रेखांकित करनेमें उससे अवश्य सहायता मिलती है। विरजू जैसे सर्वहारा पात्रोंकी इस आंदोलनमें सक्रिय भागीदारी है। वह एक ऐसे कम्युनिस्टके रूपमें परिकल्पित है जो अपने गांवकी मिट्टीसे बना है। उसकी झोपड़ीमें यदि हंसिए-हथौड़ा वाला झण्डा है तो 'रामचरित मानस' का गुटकाभी है—खाली समयमें, अपने अज्ञातवासके दौरमें, रामराजभी जिसे बांचता है। लेकिन विरजू किसी रूढ़ अर्थमें धार्मिक व्यक्ति नहीं है। तुलसी सागर गांवका सुद्ध कोहरी वस्तुतः वैसा ही व्यक्ति है जैसा 'देश धुन' नामक किसी कल्पित उपन्यासका समरूप है—जो इलाहाबाद विश्व-विद्यालयसे संस्कृत साहित्यमें शोधकी डिग्री लेकर भी अपना अध्यापन कार्य छोड़कर गांवमें स्वयं हल पकड़कर अपनी छह बीघा जमीन संभालता है। आवश्यकता पड़नेपर वह जयन्ती और उसके साथियोंको संरक्षण देता है और इस प्रकार थोड़ा अव्यावहारिक होते हुए भी ग्राम विकासके नये विकल्पकी संभावनाओंको रेखांकित करता है। क्रान्तिकारी संगठनसे जुड़ने और उसकी सारी गतिविधियोंका संचालन करनेपर भी जयन्तीका चरित्र स्पष्ट नहीं है। कालिन्दीके रूपमें एक संस्कारशील ग्राम-युवतीके विकासकी अनेक संभावनाओंके प्रति भी लेखक उदासीन दिखायी देता है।

आंचलिक उपन्यासके प्रति उसके लेखकोंके शीघ्रही मोहभंगका कारण एक ओर यदि उसकी सीमित क्षेत्रीयतामें था तो दूसरी ओर उसके संप्रेषणकी सीमाओंमें। आंचलिकताके नामपर रीति-रिवाजों, बोलीवानी और पर्वोत्सवोंका अतिरेक और लोक तत्त्वोंका असंतुलित उपयोग उपन्यासको अनिवार्य बिखरावसे बचा नहीं सकता था। विवेकी रायके उपन्यास अपनी प्रकृतिमें आंचलिक होनेपरभी उसके अतिरेकोंसे बचाव के उदाहरण हैं। उनकी भाषामें भोजपुरी शब्दों, कहा-

वतों और मुहावरोंका भरपूर उपयोग होनेपर भी संप्रेषणीयताकी समस्या पैदा नहीं होती। चमर चिट्ठ, जुड़ासी, चिपरजाना, उतजोग (उद्योग) सनेरु, क्लेस, बेराम और गव्वर घाँख आदि शब्दोंसे वे उस मिट्टीकी वृ-वास बनाये रखते हैं। लोकगीतों और कहावतोंमें भी इसी संतुलित दृष्टिसे काम लिया गया है। बाढ़में सड़कों की दुर्दशा और भ्रष्टाचारकी बाढ़की समरूपताके तौर पर समरेशबहादुरके जनता-आश्रम और विद्यालयके नये भवनकी दुर्दशा और उसपर रास्ता चलती मजदूर-टोलीकी टिप्पणियाँ एक प्राणवान् और ऊर्जा सम्पन्न गद्यका उदाहरण है। उसकी इस जीवन्तताका मूल कारण लेखककी इस समझमें निहित है कि जनताही भाषाका स्रोत है। उसकी टिप्पणियोंमें निहित व्यंजना और उल्लासकी गमक प्रकारान्तरसे उन वैकल्पिक शक्तियों काही रेखांकन है जिसका अभाव 'सोना-माटी'की एक उल्लेखनीय सीमा थी। विवेकी रायने अपनीही बनायी उस सीमाको 'समर शेष है' में जोड़ा है और इस गतिरोध से बाहर आकर वे अनेक नयी संभावनाओंकी ओर अपनी सजगतासे आश्वस्त करते हैं। □

## बदलता जीवन?

लेखक : गोपाल परशुराम नेने

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

राष्ट्रभाषा हिन्दीके विकासके लिए जिन लोगोंने एक लम्बे समयसे अथक परिश्रम किया है, उनमें श्री गोपाल परशुराम नेनेभी एक महनीय व्यक्तित्व हैं। अहिन्दीभाषी होते हुएभी हिन्दीको सम्पन्न बनानेका जो कार्य उन्होंने किया, वह निश्चयही स्तुत्य है। राष्ट्रीय और सामाजिक संदर्भोंमें जहाँ एक ओर उन्होंने क्षेत्रीय कार्योंमें दायित्वके साथ महत्त्वपूर्ण भागीदारी निभायी है, दूसरी ओर लेखनके सशक्त माध्यमसे भी उन्होंने जीवनके स्वस्थ सिद्धांतोंके अनुरूप विचारोंको रूपाकार प्रदान किया है। उनकी रचना-धर्मिताभी उतनीही महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत उपन्यास 'बदलता जीवन' उनके व्यापक

१. प्रका. : हिन्दी प्रचारक संस्थान, पो. बा. ११०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१। पृष्ठ : १६४.

का. ८८; मूल्य : १०.०० रु.।



एवं उदार सामाजिक विचारोंको हमारे सम्मुख रखता है। अपने युग और युगके महनीय व्यक्तित्वोंसे प्रभावित डॉ. नेनेने प्रस्तुत उपन्यासमें गांधीदर्शनको कथा का प्रमुख आधार बनाया है और इस प्रकार गांधीके सिद्धांतोंकी जीवनके विविध पक्षोंके प्रति प्रासंगिकता को सिद्ध किया है।

बीस अध्यायोंमें विभाजित इस उपन्यासकी मूल कथा सदानंदके जीवनसे जुड़ी है और उसके व्यक्तित्व तथा विचारोंमें आये परिवर्तनको अभिव्यंजित करती है। सदानंदका चरित्र भावनाओं और आदर्शोंसे संपूर्णतः आवेष्टित चरित्र है। एक आदर्श शिक्षकके रूपमें वह जहां विद्यार्थियोंके चरित्रको उदात्त मूल्योंसे संपृक्त करनेकी प्राणपनसे कोशिश करता है, दूसरी ओर पर-त्न्यताके समय छिड़े स्वातंत्र्य आन्दोलनसे भी जुड़कर देशकी स्वतन्त्रताके लिए जनमानसको प्रेरणा देता है। इसीलिए कभी वह विदेशी कपड़ोंकी होली जलानेकी घटना लोगोंको सुनाता है, तो कभी बड़े प्रभावशाली तरीकेसे मराठोंकी साहसिक राजनीतिक परंपरासे भी लोगोंको परिचित कराता है।

अपने इसी जीवन-क्रमको बनाये रखनेके अन्तराल में उसका संबंध बाबा देवेश्वरानंद, घोष बाबू आदिसे हो जाता है। सशस्त्र क्रान्तिके इस रास्तेपर चलते हुए उसका परिचय सावित्रीसे होता है, जिसके पिता कभी क्रान्तिकारी विचारधाराके संपर्कमें थे, किन्तु अब गांधीकी

विचारधाराके प्रति उनके मनमें अटूट विश्वास जागृत हो चुका था। वे सदानंदको भी सशस्त्र क्रान्तिके रास्तेसे हटा कर गांधीके अहिंसात्मक रास्तेपर लानेकी कोशिश करने लगते हैं। अध्याय क्रमांक १३ तथा १४ गांधीवादी दर्शन को स्पष्ट करनेवाले महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं, जिनमें गांधी के सिद्धांतोंकी विवेचना की गयी है। पंद्रहवें अध्यायमें सदानंदके विचारोंमें आया परिवर्तन बड़ी ही स्पष्टतासे दिखायी देता है और वे गांधीवादी मूल्योंके प्रति जीवन-समर्पणका संकल्प ले लेता है। इस नये रास्तेपर अपने बदले हुए जीवनको लेकर चलते हुए सदानंदकी यह कथा स्वतन्त्र भारतमें आयोजित प्रथम चुनावके संपन्न होनेके साथ समाप्त होती है।

इस प्रकार जहां एक ओर इस उपन्यासकी कथाके माध्यमसे लेखकने स्वतन्त्रताके पूर्व और पश्चात्के स्वातंत्र्य-आन्दोलनकी गतिविधियोंको साकार करनेका प्रयत्न किया है, दूसरी ओर सदानंद जैसे चरित्रके माध्यम से राष्ट्रीय चरित्रके मूल्योंको उद्घाटित करनेके साथही क्रान्तिसे अहिंसाकी ओर गतिशील विचारधाराको मुखर करनेका प्रयत्न करते हुए सिद्ध किया है कि गांधीका जीवन दर्शनही वर्तमानके लिए उपादेय जीवन-दर्शन है। अस्तु, प्रस्तुत कृति जनसामान्यके योग्य सोद्देश्य एवं स्वस्थ विचारधारासे संबद्ध कृति है, जिसकी प्रासंगिकता स्वयंमेव सिद्ध है। □

## कहानी

### निर्गसन और आधिपत्य?

मूल लेखक : अल्बेर् कामू

हिन्दी अनुवाद : श्रीमती शरद चंद्रा

समीक्षक—डॉ. विश्वभावन देवलिया

विश्व कथा साहित्यमें महान् फ्रैंच लेखक अल्बेर्

१. प्रका. : राजकमल प्रकाशन, १-बी, नेताजी सुभाष

मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : १४६;

का. ५५; मूल्य : ४५.०० रु.।

कामूका स्थान निर्विवाद रूपसे सर्वोपरि है। कामू ने बहुत कम लिखा और जितना यश उन्हें मिला उसका कारण उनकी विशिष्ट और प्रमाणित रचना शक्ति है। कथाकारके साथही कामू नाटककारभी थे। उन्होंने मात्र छैः कहानियां लिखीं जिनका मनोविज्ञान अनुभूति और कथ्यमें गहरी निरन्तरता और मूल्याभि-सक्तिके दर्शन कराता है। भाषा और शिल्पकी दृष्टिसे उनकी ये कहानियां उनके संपूर्ण लेखनसे मेल नहीं



खातीं। ये छै: कथाएं हैं: 'व्यभिचारिणी पत्नी,' 'धर्म-परिवर्तक या विह्वल आत्मा,' 'मौन रोष' 'अतिथि,' 'जोनास या कलालीन चित्रकारकी दिनचर्या' तथा 'वर्द्धमान पत्थर'।

अपनी समय रचनाओंमें महत्त्वपूर्ण इन कथाओंमें कामूकी विचारधाराका मूलभूत तत्त्व स्पष्ट हुआ है। कामूकी कहानी-कलाका अभिप्राय ही यही है कि कथ्य की गति सीधी सरल किंतु तीव्रतासे विकसित होती हुई चरमसीमाका स्पर्श करती है। सभी कहानियोंकी कथा-वस्तु अपने उद्देश्यमें सार्थक है और वह यह है कि (जैसा कि अनुवादिकाने स्पष्ट भी किया है) "मनुष्यका किसी भी कारणवश अपनी सामंजस्यपूर्ण स्थितिसे निर्वासन और ज्ञानप्रदाय अनुभवके बाद उसीमें पुनः संगठन।" कामूकी कथाका पात्र मुक्त होकर भी मुक्त नहीं हो पाता। कामू स्पष्ट करना चाहता है कि मानवीय-ऐक्य भावही मुक्तिका परमभाव है। 'वर्द्धमान-पत्थर' के अतिरिक्त सभी कहानियोंका कथानक रूढ़ि-गत है। "धर्म-परिवर्तन" कहानी शैली और कथा-विस्तारके कारण औपन्यासिक आयामको समेटे हुए है। "जोनास या कलालीन चित्रकारकी दिनचर्या" में कलाजगत्के जीवोंपर सूक्ष्म व्यंग्य है। शेष कहानियोंमें कटु आक्षेप संतुलितप्राय है किन्तु प्रत्येक कहानी किसी-न-किसी तथ्यका उद्घाटन अवश्य करती है। जैसे—"जानीन" रात्रिके रहस्यमय वैभवमें लीन होकर स्वतः को मुक्त पाती है और ईवाटीस, मानवीय-ऐक्य-भावमें शांतिका अनुभव करती है। धर्म परिवर्तन दारुण पतनका शिकार है। "धर्मपरिवर्तन" कहानी सम्पूर्ण रूपमें नायकका एक लम्बा वयान है जो अपनी मनो-वैज्ञानिकतामें बेजोड़ है। कामूने, अपनी लेखन परम्परा में जिस अधर्म, नास्तिकता, मृत्यु और मानवीय कष्टों का चित्रण किया है इन कहानियोंमें भी उसकी स्पष्ट झलक दीप्त होती है।

इन कहानियोंकी अनुवादिका शरद चंद्राने रचि और श्रद्धासे इन फ्रेंच कथाओंका हिन्दीमें अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व भी वे कामू साहित्यका अनुवाद कर चुकी हैं। इस अनुवाद कर्ममें अनुवादिका को कामूकी पुत्री कैथरीन कामू और पेरिसके गॉलीमार प्रकाशनसे पर्याप्त सहयोग मिला है जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी भूमिकामें की है। इसे कामूकी कहानियों का शब्दशः अनुवाद कहा जा सकता है इसलिए कुछ ऐसे

शब्द ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं जिनके हिन्दी अर्थ फुट-नोटमें अलगसे दिये गये हैं। जहां तक वस्तुओंके नामों और उनके आशय फुट नोटमें समझानेका प्रश्न है वह उचित है किन्तु कुछ अंग्रेजीके शब्दोंके अनुवाद अर्थ रूपमें न रखकर फुटनोटमें रखा जाना अनावश्यक-सा प्रतीत होता है जैसे—"आर्किटेक्ट" (पृष्ठ-८०) "किचिन" (पृष्ठ ८७) 'विण्डशील्ड' (पृष्ठ ११७) शीस्त (पृष्ठ १२७) ट्रान्स (१३६) आदि। इन शब्दोंके अर्थ फुटनोटमें दिये हैं यथा क्रमशः "वास्तुकार, जो भवन निर्माणके लिए नक्शे बनवाता है।" "रसोई घरके लिए प्रचलित शब्द", "कारमें सामनेका बड़ा शीशा जिसे हवारोक शीशा कहते हैं", "पर्तदार चट्टान जिसमें भिन्न प्रकारके खनिजोंकी पत्तें होती हैं", वह अचेतावस्था या उपसमाधि जिससे आत्माके शरीरसे अलग हो जाने के आनन्दका आभास होता है।" स्पष्ट है कि यदि आर्किटेक्ट, किचिन, विण्डशील्ड, शीस्त, ट्रान्स शब्दोंके लम्बे-लम्बे फुटनोट न देकर अनुवादिका वास्तुकार, रसोईघर, हवारोक शीशा, पर्तदार चट्टान, या उप-समाधिका प्रयोग करतीं तो इसी तरहके अनेक स्थलों पर अनुवादकी भाषागत गहराई लक्षित होती और प्रवाहरोक शब्दावलीका विघ्न भी न होता। कुछ स्थलों पर प्लेट, फर्नीचर, पार्टिशन मशीन, आर्डर, ड्राइवर, चीफ, लैम्प केबिल जैसे शब्द ज्योंके त्यों प्रयुक्त, कर लिये गये हैं यद्यपि इनके हिन्दीमें शब्द उपलब्ध हैं। कुछ स्थलोंपर हिन्दीके वे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ सामान्य पाठकको समझने होंगे। कुल मिलाकर अनुवादिकाका श्रम सार्थक कहा जा सकता है यद्यपि अनुवाद पाठकको लेखकके कथ्यकी आत्मा तक पहुंचानेका एक सुलभ रास्ता प्रतीत नहीं होता। एक दो स्थलोंपर प्रूफकी त्रुटियोंकी उपेक्षाकी जा सकती है। □

## पानीकी लकीर?

लेखक : सुभाषचन्द्र 'सत्य'

समीक्षक : डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया

'पानीकी लकीर, श्री सुभाषचन्द्र 'सत्य'का पहला

१. प्रका. : सुनील साहित्य सदन, ए-१०१, उत्तरी

घोण्डा, दिल्ली-११००५३। पृष्ठ : १२४; का.

मूल्य : ४०.०० रु.।



कहानी-संग्रह है। इसमें तेरह कहानियां संकलित हैं। इनमें से अधिकतर कहानियां उत्पीड़ित नारियों के इर्द-गिर्द बुनी गयी हैं। कहानियों में जिन नारियों को केन्द्र में रखा गया है वे या तो विधवाएं हैं या परित्यक्ताएं और और या फिर किसीकी कामवासनाका शिकार बनी उत्पीड़िताएं। उदाहरण के लिए 'अब कुछ नहीं कहना' की शालिनी (शालू), 'आखिरी पर्दा' की ऊषा, सुवह से शमतक की इन्दिरा (इन्द्रो) तथा 'अन्तिम आवरण' की रमा विधवाएं हैं। 'सच्चा झूठ' की शान्ति (दीदी) बाल विधवा है। 'फिरसे' की बुद्धो पति द्वारा घरसे निकाली गयी है तो 'सौदा' की छाया दीदी पतिसे परेशान होकर घर छोड़ आयी है तथा 'पानीकी लकीर' की प्रीति व्यपमान, उपेक्षा एवं तिरस्कारकी ठोकरोंसे आहत है। संकलनकी जिन कहानियोंका संबंध पति-पत्नीसे है, उनमें किसी अन्य स्त्री या किसी अन्य पुरुषको अवश्य झटा गया है। अधिकतर कहानियोंकी बुनावट स्त्री-पुरुष-संबंधोंके आधारपर की गयी है। ये संबंध ऋजु या सपाट न होकर अत्यन्त जटिल, उलझे और अकल्पनीय हैं। कहानियोंमें शंका और संदेहका भी प्रमुख योगदान है और यह संदेह कहीं पुरुषने किया है तो कहीं नारीने। 'पानीकी लकीर' में बीनाको शक्की मिजाजका, दिखाया गया है, 'फिरसे', 'सौदा' आदिमें पुरुषोंको।

जटिल स्त्री-पुरुष-संबंधोंकी कहानियोंमें 'फिरसे' 'सच्चा झूठ', 'सौदा', 'आखिरी पर्दा' आदिकी गणना की जा सकती है। 'फिरसे' में बुद्धोकी त्रासदी चित्रित है। वह विवाहिता है पर उसका जीवन उसे मन-ही-मन चाहनेवाले जुम्मान पहलवान नामक नरपिशाचकी हवस से तवाह हो जाता है। उसका पति उसे घरसे निकाल देता है, फिर भी वह हिम्मत नहीं हारती और अपने बेटे दीपूको पढ़ाती है। उसीपर उसकी आशाएं केन्द्रित हैं, पर एक दीवारके गिरनेसे वह दबकर मर जाता है। तो भी बुद्धोको अपनी बेटी रानीके लिए फिर से कमर कसनी पड़ती है। कहानीकी टूटी कड़ियां जोड़ने के लिए कहानीके मध्यमें कहानीकारने पूर्वदीप्ति पद्धति का सहारा लिया है।

धर्मकी आड़में सती साध्वी नारियोंकी अस्मिता-व्यपनसे खेलनेवाले स्वामियों-संन्यासियोंकी कामुकता का कच्चा-चिट्ठा तो 'सच्चा झूठ' में खोला ही गया है, उसके परिणाम-स्वरूप भोलीभाली स्त्रियोंकी परिणति का चित्रण भी किया गया है। स्वामीकी कामुकताके

कारण विधवा शान्तिके गर्भवती बननेकी बात तो समझ में आती है, पर उसके बाद कहानीकी जो बुनावट है, वह यथार्थके बहुत निकट दिखायी नहीं पड़ती। इस कहानीकी परिणति जिस रूपमें हुई है, मेरी दृष्टिमें, वह एक अत्यन्त विरल एवं दुष्कर स्थिति है।

नारीके अकल्पनीय शोषण और पुरुषकी दानवीय हवसको 'सत्य' ने अपनी कई कहानियोंमें उकेरा है। इस श्रेणीकी कहानियोंमें 'सौदा' सर्वोपरि है। छाया दीदीकी दुःखभरी कथा अपनी चरम-सीमापर है। गोपाल अपनी रखैल छायाको ही नहीं भोगता, पुत्री समान लीला (छायाकी पुत्री) पर भी उसकी कुदृष्टि है। ऊपरसे देवता-समान दिखलायी पड़नेवाला गोपाल दानवोंसे भी गया बीता है, यह इस कहानीमें देखते ही बनता है। अपनी विवशतासे बंधी छाया संतानके भावी सुखके लिए लीलाको गोपालको समर्पित कर देनेके लिए अभिशप्त है। न चाहते हुए भी उसे यह 'सौदा' करना ही पड़ता है, इस चरम बिन्दुपर इस कहानीका शीर्षक सार्थकता प्राप्त कर लेता है।

'आखिरी पर्दा' में एक विवाहित पुरुष अपनी सह-कर्मिणीसे शारीरिक संबंध स्थापित करनेके उपरांत निराशाकी स्थितिमें आत्महत्या कर लेता है। उसके स्थानपर उसकी विधवा ऊषाको नौकरी दे दी जाती है जहाँ उसकी सरितासे घनिष्ठता हो जाती है। कालान्तर में उसके कानोंमें यह भनक पड़ती है कि सरिताके ही कारण उसके पतिने आत्महत्या की है। और अन्तमें यह 'आखिरी पर्दा' हटाया गया है कि आखिर महेश शर्माकी आत्महत्याका दोष है किसपर? इसके लिए उसकी प्रेमिका सरिता दोषी है या स्वयं महेश शर्मा?

विवेच्य संकलनकी अन्य अनेक कहानियोंकी बुनावट और बुनावटमें भी नर-नारी संबंधोंके अन्य अनेक कोणोंकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उदाहरण के लिए 'चिगारी' में छोटी-छोटी बातोंको लेकर पति-पत्नीके बीच बढ़ते तनाव और पारस्परिक कहा-सुनीका यथार्थ हुआ है तो 'अब कुछ नहीं कहना' तथा 'गिरती दीवार' में युवा नर-नारियोंके पारस्परिक आकर्षणका। 'पानीकी लकीर' में भी व्यंजित रूपमें यही स्थिति है, पर इसमें नारीकी शंकालु वृत्तिको भी उद्घाटित किया गया है। इन कहानियोंके माध्यमसे कहानीकारने प्रकारान्तरसे सच्चे प्रेमके महत्वको प्रतिपादित किया है। वैधव्य या जाति-पातके बंधनको स्वीकार करनेके पक्षमें वह नहीं।



‘सुबहसे शामतक’में भी इन्दिराके माध्यमसे विधवाओं की विडंबित स्थितिका चित्रण करनेके उपरांत कहानीकारने विधवा-विवाहका ही पक्ष-समर्थन किया है। कहानीकारने जिस कथ्यकी व्यंजना की है वह न सिर्फ आधुनिक दृष्टि सम्पन्न है वरन् विवेक-सम्पन्न एवं लोकमंगलकारी भी है। कहानीकार नारी शोषणकी विभिन्न स्थितियोंकी केवल पहचानही नहीं कराता, वरन् उनसे दो-चार होनेका मार्ग भी सुझाता है।

संकलनकी एक और कहानी है ‘और प्याला टूट गया’ यह भी काम-संबंधोंके भयावह यथार्थके आधारपर ही लिखी गयी है। इसमें अधीनस्थ नारी कर्मचारियोंका ‘बॉस’के द्वारा जो ‘एक्सप्लायटेशन’ किया जाता है, उसी का चित्रण किया गया है—साथही ‘बॉस’की लार टपकानेकी वृत्तिपर व्यंग्य भी।

‘पानीकी लकीर’ शीर्षक संकलनमें काम-संबंधोंके उक्त विभिन्न रूपोंसे अलग हटकर भिन्न मानसिकताकी भी कुछ कहानियां हैं। इस कोटिकी कहानियोंमें ‘सबका बेटा’, ‘बेबस’ एवं ‘अन्तिम आवरण’को रखा जा सकता है। एक दृष्टिसे इन्हें इस संकलनकी श्रेष्ठ कहानियां भी माना जा सकता है। ‘सबका बेटा’ सुखदेव नामक ऐसे आदर्श युवककी कहानी है जिसे उसकी निःस्वार्थ समाजसेवाके कारण सारा नगर सम्मानकी दृष्टिसे देखता है पर उसके अपने परिवारके सदस्य घृणा और अपमानकी दृष्टिसे, क्योंकि वे उसे निखटू और आवारा मानते हैं। रातमें उसके लौटनेपर घरका दरवाजा तक नहीं खोलते। अन्तमें सेवक बाबू (सुखदेव)के सन्तान-पुरस्कारके समाचारसे कहानीकारने इस कहानीकी सुखद-आदर्शात्मक परिणति की है। इस प्रकार की कहानियां नवयुवकोंके लिए निश्चयही प्रेरणास्पद हो सकती हैं। यह कहानी संकलनकी अन्य कहानियोंसे न सिर्फ हटकर है वरन् एक भिन्न आस्वादसे पाठकको तृप्त भी करती है।

‘बेबस’में आजकी बढ़ती महंगाईने मेहनतकश इंसान को कितना बेबस बना दिया है, यह तो दर्शाया ही गया है, कई अन्य कोणोंसे भी इन्सानकी विवशताको व्यक्त किया गया है। संतानके प्रति, उसकी शिक्षाके प्रति व्यक्तिकी कर्तव्यनिष्ठा और अर्थाभाव उसे कितना बेबस कर देते हैं, यह इस कहानीमें देखते ही बनता है। रिक्शा-चालक रामकिशन अपनी भावनाओंको दबाकर अपने बचपनके मित्र परमेश बाबूसे इसलिए अपना मुंह

छिपाता है कि कहीं उसे रिक्शाका किराया छोड़ना न पड़ जाये और कहीं इस किरायेके बिना उसकी बेटीको फीसके पैसे अधूरे न रह जायें ! यह कहानी एक प्रकार से इन्सानकी नियतिपर करारा व्यंग्य तो करती ही है, एक कड़वे सचको भी उजागर कर जाती है।

‘अंतिम आवरण’ इस संकलनकी अंतिम किन्तु बहुत सशक्त और संभवतः सर्वश्रेष्ठ कहानी है। प्रेमकी असफलता जहां कृष्णकुमार शर्माको स्वामी कृष्णानंद बना देती है वहां रमाका स्वस्थ चिन्तन और तर्क उसे पुनः कृष्णकुमार शर्मा बनकर समाजकी सच्ची सेवाके लिये विवश कर देते हैं। रेल-यात्राके दौरान एक अपरिचित नारी उसके जीवनकी दिशा बदल देगी, इसकी स्वामी कृष्णानंदने स्वप्नमें भी कल्पना न की थी, पर यात्राके अंतमें वह संन्यासके अंतिम आवरण—कमंडल या थों कहिये कि अपने स्वामी कृष्णानंद शीर्षक अभिधानको वहीं छोड़ आया और विकलांग बच्चोंकी सेवाके लिए रमाके साथ हो लिया।

यदि विवेच्य संकलनको समग्र प्रभावकी दृष्टिसे देखें तो कह सकते हैं कि कहानीकार सत्यने नारियोंके अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार, शोषण, प्रपीड़न, विवशता, दैन्य आदिका कंपा देनेवाला चित्रण किया है। नारी जीवनकी विवशताओं, विडंबनाओं और उसके साथ होनेवाले अकल्पनीय दुराचारोंको उसने गहरे पैठकर देखा है। समाजके इस दलित वर्गके साथ उसकी सच्ची सहानुभूति है। इसके साथ, उसने अपने पाठकोंको उन स्थितियों—परिस्थितियोंसे भी अवगत कराया है जिनमें नारीका शोषण संभव है तथा जिनसे बच निकलना यदि नारीके लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

कहानी कलाकी दृष्टिसे ‘पानीकी लकीर’की कहानियां अत्यन्त सशक्त हैं। एक बार शुरू कर देनेके बाद कहानी को बीचमें छोड़ना संभव नहीं। ये पाठकको न सिर्फ बांध रखती हैं, वरन् उसके मर्मको भी वेधती हैं। भाषापर कहानीकारका अच्छा अधिकार है—भाषा संयत, सघी हुई तथा जहाँ-तहाँ अलंकृत है। कहानी बुननेमें लेखक को दक्षता प्राप्त है। □



## तिनके-तिनके?

लेखक : डॉ. रामकुमार घोटड़

समीक्षक : डॉ. भैरुलाल गर्ग

यह ७७ लघु कथाओंका संग्रह है। इधर लघुकथा एक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित साहित्यिक विधा बन गयी है। बातको संक्षेपमें कहनेका यह एक सशक्त माध्यम है। लघुकथाकारके लिए यह बहुत आवश्यक है कि जब वह अपनी बातको संक्षेपमें कह रहा है तो जब तक वह इसे तत्खीके साथ प्रस्तुत न करे तबतक उसका वांछित प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि व्यंग्यका चुटीलापन लघुकथाके लिए आवश्यक है।

लेखकने अपनी इन लघुकथाओंमें समाजके विविध परिवेशोंकी विसंगतियोंपर सूक्ष्म दृष्टि डालनेका एक सफल प्रयास किया है। विसंगतियाँ ही लघुकथाका आधार बनती हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ विसंगति है वहाँ-वहाँ इस विधाके विषय बिखरे पड़े हैं। बस बटोरकर प्रस्तुत करने की क्षमता चाहिये। डॉ. घोटड़ पेशेसे चिकित्साधिकारी हैं लेकिन अपनी मजबूत पकड़ और प्रस्तुतिकी दक्षताके बलपर उन्होंने इन विसंगतियोंको एक सार्थक प्रस्तुति दी है।

आज आदमी अपनी परिभाषासे दूर होता जा रहा है। वह स्वार्थवश करणाय और अकरणायमें कोई भेद नहीं कर रहा। यह मानवताके लिए बहुत बड़ा खतरा है। पतित होते चले जाते आदमीपर लेखकने अपनी कई कथाओंमें पक्षियों तकसे व्यंग्य करवाया है। अर्थात् जानवर अभीभी अपने मूल्योंका निर्वाह कर रहे हैं लेकिन मानव समाज मूल्यविहीन होता जा रहा है। 'पशुधर्म', रोटी, संतोषी जीव, जाति-भाई, उस्ताद आदि कथाएं इसी संवेदनापर आधारित हैं।

राजनीति और शासन व्यवस्था ये दो विषय लघुकथाके विस्तृत फलकपर आधार बने हैं। आजकी राजनीति और व्यवस्थासे कोईभी संतुष्ट नहीं है, क्योंकि वह आपाधापी और स्वार्थकी बू वाली हो गयी है। भाई-

१. प्रका. : तारिका प्रकाशन, कहानी-लेखन महा-विद्यालय, ए-४७/२, शास्त्री कॉलोनी, शम्बाला छावनी-१३३००१। पृष्ठ : १०४; क्रा. ८६; मूल्य : २०.०० रु.।

भतीजावादने राजनीतिको सर्वाधिक कलंकित किया है। अफसरशाही और पुलिसके कारनामे संतोषप्रद नहीं हैं। यही कारण है कि इधर लिखी गयी लघुकथाओंमें से १० प्रतिशत कथाएं इन्हीं विसंगतियोंपर मिलेंगी। सबसिडी, तरीका, मूर्तिके बहाने, योग्यता प्रमाणपत्र, पापी पेटका सवाल आदि लघुकथाओंमें जहाँ लेखकने रिश्तवतखोरी और भ्रष्टाचारकी विडम्बनाको उजागर किया है वहीं फुटपाथके राजा, आतंक, ताशके तीन गुलाम आदि कथाओंमें पुलिस भ्रष्टाचारका पर्दाफाश किया है। प्रकोप, मनोवृत्ति, एक और साध्वी, भविष्यका डर जैसी कथाओंमें नारी-उत्पीड़न मुखरित हुआ है। कुछ कथाएं लोककथाओं और लोकोक्तिओंपर आधारित हैं।

कथा हो या लघुकथा जीवन यथार्थसे जुड़ी होती है। लेखकने लघुकथाके नामपर बोधकथा और प्रेरककथाओं जैसी शैलीको भी कहीं-कहीं अपना लिया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। शिल्पकी दृष्टिसे जहाँ कुछ लघुकथाएं खरी उतरती हैं वहीं कुछ लघुकथाके मानदण्डोंसे भटक-सी गयी लगती हैं। 'मूर्तिके बहाने' लघुकथा, लघुकथा न होकर फैंटेसी शिल्पकी एक कहानी ही हो गयी है, दो पृष्ठोंकी यह कथा गांधीजीकी मूर्तिकी उपेक्षाको व्यंजित करती है। इसी तरह कुछ कथाएं सायास रची गयीं प्रतीत होती हैं जैसे 'मर्दानगीकी बू' में मर्दसे वेश्या का प्रश्न अविश्वसनीय लगता है। 'कमजोरी' दुनियांकी सबसे छोटी कहानीका विस्तृत रूप लगती है।

भाषिक स्तरपर कुछ त्रुटियां अखरनेवाली हैं। लेखकने हर जगह वहुके स्थानपर 'वो' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'पाँच दिनों' यह पाँच दिन होना चाहिये (पृ. १२), 'बीट' बीठ हो गया है (पृ. ३२) आदि। फिरभी कहना न होगा कि डॉ. घोटड़ने अपनी लघुकथाओंके माध्यमसे कई विविध असंगत पहलुओंको उजागर किया है। लेखकका आगामी प्रयास और विविधता लिये और परिष्कृत रूपमें पाठकोंके समक्ष आयेगा, यही आशा है। □



# काव्य

## रेतपर नंगे पांव?

सम्पादक : नन्दन भारद्वाज

समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

आलोच्य ग्रंथसे पूर्व राजस्थान साहित्य अकादमी राजस्थानके कवियोंकी चयनित रचनाओंके दो भाग प्रकाशित कर चुकी है— 'राजस्थानके कवि' नामसे (भाग १ व २) जिनमें कुल ६७ कवियोंकी रचनाएं आधुनिक हिन्दी कविताके सन्दर्भके साथ संकलित एवं मूल्यांकित की गयी थीं। इसी परम्परामें राजस्थानके कवि भाग-३ का प्रस्तुत संकलन श्रीनन्द भारद्वाजके सम्पादनमें ऐसे इकत्तीस कवियोंकी रचनाओंसे सम्पन्न है जो पूर्व प्रकाशित दो संकलनोंमें नहीं रहे हैं। आधुनिक हिन्दी काव्यकी समसामयिक सम्बेदना और अपनी विशिष्ट पहचान रेखांकित किये जानेमें आलोच्य ग्रंथ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानेमें सफल है। सम्पादक श्री भारद्वाज ने इक्कीस पृष्ठीय भूमिकामें पूर्व दो संकलनोंके सम्पादकों में विद्यमान इतिहास बोध-निरपेक्षता तथा काव्यात्मक विश्लेषणके अभावका संकेत किया है तथा यह रेखांकित करनेका यत्न किया है कि—'राजस्थानमें आज जो हिन्दी कविता लिखी जा रही है' उसके स्वरूप और स्वभावको आधुनिक हिन्दी काव्य लेखनकी बृहत्तर काव्य सम्बेदना और उसके विकासक्रमसे अलग रखकर नहीं देखा जा सकता (पृ. १५)।

श्री भारद्वाजने उन विधायी तत्त्वोंका संकेत भूमिका में किया है जो किसी प्रान्त विशेषकी काव्य रचनाकी अपनी निजी पहचान बनाते हैं तथा समकालीन राजस्थान की हिन्दी कवितामें आकलित सामाजिक विसंगतियों तथा बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों, भाव-बोध तथा कवियोंके रचना-संसारको झांका है और हिन्दी काव्य

सर्जनामें राजस्थानके हिन्दी कवियोंके रचनात्मक योगदानका उल्लेख भी किया है। परन्तु राजस्थानके हिन्दी काव्येतिहासके समकालीन परिवेशकी इतिहास-बोधकी चिन्तनासे बचते रहे हैं। यदि वे ऐसा कर पाते तो यह अच्छा प्रयास होता और वर्तमानमें आधुनिक कालकी एक दशककी राजस्थानकी हिन्दी काव्यधाराकी ऐतिहासिक विवेचनाका लाभ पाठकोंको भी मिल पाता। श्री भारद्वाजने हिन्दी काव्यकी सम्बेदनाके धरातलपर राजस्थानके हिन्दी कवियोंके तद्युगीन सरोकार और संचेतनाकी चर्चा अवश्य की है तथा यह भी दिखाया है कि राजस्थान प्रदेशके कवि केन्द्रीय हिन्दी काव्य-धारामें सक्रिय राजस्थान प्रदेशके कवि केन्द्रीय हिन्दी काव्य-धारामें सक्रिय रूपसे जुड़े हुए हैं।

श्री भारद्वाजने आलोच्य ग्रंथमें संकलित इकत्तीस कवियोंके चयनकी सीमा और सम्पादकीय सक्षमता रेखांकित करते हुए कहा है कि—'सिर्फ उन्हीं रचनाकारोंके बीचसे समर्थ और सम्भावनाशील कवियों और उनकी कविताओंके चयनका कार्य सम्पन्न करना होता, जो सन् १९७७के बादसे कविताके क्षेत्रमें उभरकर सामने आये हैं... पिछले दो-तीन दशकोंमें समकालीन कविके रूपमें... प्रकाशित और चर्चित उन नये कवियोंको... शामिल जो... अपनी रचनात्मक ऊर्जा और अलग पहचानके बावजूद इस चयन-प्रक्रियाके दायरेमें नहीं आ पाये हैं।। (पृ. २०)। सम्पादकने इन चयनित कवियोंके माध्यमसे राजस्थानकी समकालीन हिन्दी कविताके प्रतिनिधि संकलनका दावा न करते हुए भी समकालीन कविताकी केन्द्रीय सम्बेदना और विशिष्ट पहचान रेखांकित अवश्य ही की है।

आलोच्य ग्रंथमें डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय जैसे वरिष्ठ कवि-आलोचक-उपन्यासकारसे लेकर सावित्री परमार, ताराप्रकाश जोशी, ऋतुराज, भगवती लाल व्यास, विजेन्द्र, कृष्ण कल्पित, अरविन्द ओझा, देवदीप, सुशील पुरोहित आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ.

१. प्रका. : राजस्थान साहित्य अकादमी, संक्टर ४, हिरणमगरी, उदयपुर-३१३००१। पृष्ठ : २७२; डिमा. ५६; मूल्य : ७५-०० रु.।

'प्रकर'—अक्तूबर'६०—४२



उपाध्यायका विशोभ इसलिए उभरता है क्योंकि—‘सब कुछ पिस-सा रहा है/सत्य बचे दाणे सा, छिटककर/अपनेको बचा लेता है’ [पृ. २४]। इसीलिए उनकी कविता व्यवस्थाकी—‘शैतानियोंपर श्वेत-पत्र/तुम्हारे विद्वद् एक अभियोग’ (पृ. २६) हो गया है। आज सत्ताधारीका दर्पण में ‘नरभक्षक’ बिम्ब उभरनेकी और उसके वनैलेपन तथा इस्तानको भोजन करनेकी बात रेखांकित कर यथार्थ राजनीतिक चिन्तनाका उल्लेख करते हैं (पृ. २५-२६)। सुश्री सावित्री परमार पर्यावरणका गीत रचती हैं कि—मत तराशो हमें/हम हैं वृक्ष/सदियोंके’ (पृ. ३०) तो उनकी दृष्टि ‘वर्तमानको बहलाते/ और भविष्यके सोच में/ झुलसते हुए’ (पृ. ३३) जीवनकी बिम्बें राजस्थानी माटीकी गंधसे पोषित होती दिखायी देती हैं तो लोकोत्सवी चेतनाके ह्रासकी चिन्ताभी उभरती है (पृ. १७) और ‘बाँह भर/आकाश/पानेके लिए/एक सपना/ उमर भर बुनते रहे/ (पृ. ३६) के दर्दको उभारती हैं।

श्री ताराप्रकाश जोशी गहरी सामाजिक एवं परिवेशगत सजगताके नवगीतकार हैं जिनमें दैनिक जीवन की विसंगतियां उभरती हैं। नौकरीपेशा व्यक्तिकी विवशताका चित्र—‘दफ्तरसे घरतक फैले हैं/ ऋणदाताके गर्म तकजे/ओछी फटी हुई चादरमें/एक ढकू’ तो दूजी लाजे (पृ. ४२) और ऐसी स्थितिमें—खानेको कोरी उवासियां/पीनेको आँखोंका पानी/ (पृ. ४३) की कहानी ही जीवन दुहरानेके लिए बाध्य है। हारे-थके मनुष्यकी सीमित चिन्तनामें जीवनही श्लथ हो गया है क्योंकि—‘जैसे धनसे धन जुड़ता है/ दुःखसे दुःखकी हुई कमाई... धूप यहां तापे सो तापे/ छाहें और जलन दे जाती (पृ. ४५-४६)। समाजकी विवशताका उल्लेखभी यथार्थ है—वस्ती-वस्ती भयके साये... कुछ हिस्से हैं बटमारों के/कुछ हिस्से हैं अय्यारोंके/ कुछ नीलामी कुछ ठेकेपर/ कुछ हिस्से पहरेदारोंके/ जिसके पास स्वप्नकी गठरी/ वह किस कोने पीठ टिकाये (पृ. ४७)। लेकिन कवि हताश नहीं भारतीय प्रशासनिक सेवामें रहकर भी राजनीतिक आशवासनोंकी प्रवृत्तिपर प्रहार करता है—जनताको कुछ झूठे सुखका/ जबभी कोई वादा करदे/ ऐसा लगे बाँधके घरमें/ कोई एक खिलौना हार दे/ (पृ. ४६) इसलिए वह सौगन्ध उठाता है कि परिवर्तन लाया जाना आवश्यक है।

विजेन्द्रका रचना संसार प्राकृतिक परिवेश है। तभी ‘लगा चेहरा’ में बड़ कहते हैं—‘तुमने/पानी फसलोंकी

तरफ/ अपनी बाँह उठायी/और समयको पहचाना/वहाँ एकसाथ बहुत-सी वालें वजनसे/ एक तरफ झुकी हैं (पृ. ५५) और उन्हें परिश्रमरत हाथकी अनुभूति अछूती लगती है—लगा दूब-सा ताजा मुझको/जब लिया हाथमें अपने/उसको/जीवनकी तड़प ऊष्मासे/ भरा हुआ ही पाया/ऊपर तक (पृ. ६१) जबकि प्रमा वाजपेयी यह मानती है कि अनुभूतिसे विपन्न कोई स्थिति भावोद्वेग रेखांकित नहीं होने देती क्योंकि—कोई ठण्डी बयार अपने आँचलसे/हवा नहीं देती,/ अनुभूतिका कोई कोमल झोंका/ धीरेसे राखको समेट नहीं लेता (पृ. ६५)।

ऋतुराज वर्तमान युग-बोधकी विचित्र मानसिकता का उल्लेख करते हैं तभी थैला भरनेके विचारसे निकलने पर—लेकिन लौटते-लौटते जेब बिलकुल खाली/और थैलेका पेट तो क्या/ पेंदाभी नहीं छुआ...क्या खरीदा था ऐसा (पृ. ७३-७४)। वे लोक-प्रवृत्तिसे निरपेक्ष नहीं रह सके हैं—आज भरा हुआ है घाट स्त्रियोंसे/जहूर कोई मरा है इस गांवमें (पृ. ७७)।

भगवतीलाल व्यास राजस्थानी हिन्दीके चिन्तन-शील कविके रूपमें अपना स्थान बना चुके हैं तथा उनका चिन्तन गहनता एवं सघनताका विशेष पुट लिये रहता है इसीलिए वे कहते हैं—एक महाकाल-खण्ड/किसी दुर्घटनाग्रस्त मण्डप-सा/चटखकर रह जायेगा अभी-अभी (पृ. ८६)। अपने अहं पर्वतकी अनुभूतिका संकेतभी कवि करता है—यह पहाड़ सूखा और नुकीला लावा उगलने वाला/ बात-बेबात क्रोधसे हिलनेवाला/मुझेही सहना है (पृ. ९२) क्योंकि उसे—दया नहीं आती/ ममत्व नहीं उपजता/ कभी-कभी सोचता हूँ /...मैं ही क्यों सम्भालता रहूँ (पृ. ८४)।

संकलनके सम्पादक नन्द भारद्वाज अपने सरोकारों को स्पष्ट करते हैं—ब्लैक बोर्डपर अटके रहतेथे/ कुछ टूटेफूटे शब्द/ धुंधले पड़ते रंगोंके बीच/वे अक्सर याद किया करतेथे/एक पूरे देशका सपना (पृ. १२२) तो उन्हें निश्चय करना पड़ता है—यह दुनियाँ/जैसी और जिस रूपमें/ हमें जीनेको मिली है/ उसपर अफसोस करना बेमानी है (पृ. १२४), क्योंकि—पूछ उन्हींकी होती है/ जिनके पास होती है इफरात पूजा/खरे पसीने की कमाई तो महज एक मुहावरा है/बीते जमानेका/ मैं चिन्तित और हैरान हूँ/(पृ. १२६)। इसका कारण बतलाते हैं रमाकान्त शर्मा जब खत्म होने लगते हैं/ आत्मीय रिश्ते/वक्त मिटिया भूख जाती है/ अपना घर (पृ. १३३)।



इसीलिये आग्रह है कि—बहुत जरूरी है सही शब्दोंकी तलाश/जो व्यक्त कर सकें/बूढ़े पेड़की/ टूटी डालियोंके/ पीले पत्तोंका दर्द (पृ. १३५)। अपनी रचनात्मक असमर्थता और अशक्तताका परिचायक स्वर देते हुए कैलाश जोशी कहते हैं—विश्वास करो पृथ्वी-पुत्र मेरे शब्द/इलास्टिक ढीले हुए जुराबोंसे ही आते हैं/...पर फिर भी मेरे शब्दोंमें देरतक झरता है तुम्हारा दर्द (पृ. १४१) क्योंकि—हम ईमानदारी और वायदोंकी/ राइ-फलों लेकर/ अन्यायसे जेहाद नहीं ठानते /केवल अपने स्वार्थका शिकार करते हैं (पृ. १४२)।

वर्तमान विसंगतियोंके तादात्म्य भावके साथ रचनाकारकी सहज आत्मीयताका चित्रण हितेश व्यासके शब्दोंमें व्यंजित होता है—एक पंगतकी पंगत मंचपर विराजी है/ शोभायमान श्रीमानोंकी /विद्वानोंकी/चेहरों पर चुपड़ा हुआ तेल/चतुराईका चमके है/जानलेवा मुस्क-राहटसे मुख उनका दमके हैं (पृ. १४६-५०)। लेकिन इन चेहरोंको हमारे उस देशकी चिन्ता कभी व्यापती नहीं है जो—फुटपाथोंपर बसता है.../ चंद लोग पहुंच जाते हैं सड़कसे संसदनक/ वाकी लोग/सड़कके नियमोंका पालन करते हुए।...गुजार देते हैं.../ गांधी हाशियेपर रहा/ पेजपर फैल गयी राजनीति (पृ. १५)। इसलिए मंगत बादल तेवरोंमें बदलावकी बात कहते हैं—खतरेसे बाहर नहीं है/ ऐसेमें तुम्हारी निष्क्रियता /जब आंध्रियां भी आन्दोलित नहीं कर सकतीं.../तो तुम्हारी टहनियां ही/अपनी रगड़से/ उस आगको बेबाक कर देगी (पृ. १५८)। मीठे श निमोंहीकी रचनाओंमें माटीकी गंध और परिवेशका यथार्थ ज्ञांकता है। सुशील पुरोहितकी रचनाओंमें परिवेशका स्पर्श गहराता-गहराता आधुनिक विसंगतियोंको रेखांकित करनेमें पीछे नहीं रहता। ऐसी ही अभिव्यक्तिसे सम्पन्न स्वर हैं शशिकान्त गोस्वामी, अरविंद ओझा, कैलाश मनहर, अनिल गंगल, अनिल लोढ़ाके।

राजस्थानकी समसामयिक हिन्दी कविताके विकसित आयामोंको चरितार्थ करनेमें यह संकलन अपना महत्त्वपूर्ण योग देता है। सम्पादककी और अकादमी अपनी सीमाओंके साथ यह संकलन समग्र कहा जा सकता है लेकिन इन कवियोंकी सूचीमें कई नाम छूट गये प्रतीत होते हैं या सम्पर्कसूत्रोंके अभावके कारण उन्तक इस महत् कार्यकी तपिशका अभाव रहा है जिसमें से कुछ नाम

गिनाये जा सकते हैं—आर. इमरोज, विजय कुलश्रेष्ठ, डॉ. अरविन्द वशिष्ठ, रवि पालीवाल, सुरेश शर्मा, गोरधन सिंह शेखावत। अच्छा होता कि अकादमीके माध्यमसे इनसे सम्पर्क किया गया होता। इसके लिए किसी एकाको दोष दिया नहीं जा सकता।

राजस्थानकी माटीकी गंध, संवेदना और भाषिक ऊर्जाकी अभिव्यक्तिकी दृष्टि यह संकलन अपनी समग्रता लिये हुए है। संकलन स्वागतयोग्य और समसामयिक हिन्दी कविताके अध्ययन और राजस्थानके हिन्दी कवियोंका केन्द्रीय काव्य धाराके सन्दर्भमें पठनीय है। तीनों संकलनोंसे आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा विषयक शोध सामग्री उपलब्ध हो सकती है। □

## एकलव्य ?

कवि : डॉ. रामकुमार वर्मा (स्व.)

समीक्षक : डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ

सतत साहित्य-साधनामें संलग्न छायावादीके प्रतिष्ठित डॉ. रामकुमार वर्माकी आलोच्य कृति 'एकलव्य' युग-बोध और अनुभवसे सम्पृक्त प्राचीन संस्कृतिके ऐतिहासिक आकलनके रूपमें देखी जा सकती है। एकलव्यपर पहले भी लिखा गया है लेकिन डॉ. वर्माकी प्रौढ़-लेखनीसे महाभारतके तीस श्लोकोंमें वर्णित इस कथाके मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक और गुरुद्रोणके आर्थिक संकटापन्न परिवेशके लोकोत्तर अनुष्ठानमें संघर्ष-कथाका चित्रण महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि वर्तमान राष्ट्रीय चारित्र्य विघटनके कालमें पुराणाधिक चित्रोंके माध्यमसे डॉ. वर्माने 'राजनीति और समाजके अन्तरालमें आचार्य द्रोण और शिष्य एकलव्यके चरित्रकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है (पृ. VIII)। इस कृतिका यह तीसरा संस्करण है। जिसके सम्बन्धमें डॉ. वर्माका स्वकथन द्रष्टव्य है—'एकलव्यको मैं युग-बोधकी दृष्टिसे छायावादी अभिव्यंजनाका एक श्रेष्ठतम महाकाव्य मानता हूँ। (पृ. ६)।

१. प्रका. : साहित्य भवन प्रा. लि., ६३ के. पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद। पृष्ठ : १६५; डिमा.

८६; मूल्य : ४०.०० रु.।



आलोच्य महाकाव्य परम्परागत महाकाव्यत्व पर आधारित अधुनातन बोधके परिप्रेक्ष्यमें चौदह सगों में विभाजित है। आरम्भमें कविने सरस्वतीकी वन्दना करनेके पश्चात् आदि कवि वाल्मीकिके स्मरण-प्रमाणके साथ विषय निर्देश किया है। दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन, आत्म-निवेदन, धारणा, ममता, संकल्प, साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व एवं दक्षिणा सगों में सुपरिचित कथाके नवोन्मेषी आयाम दिये हैं जिसमें एकलव्यकी साधना, निष्ठा, संकल्प श्रद्धाका परिचय तो व्यापक रूपसे मिलताही है। गुरु द्रोणाचार्यकी प्रति-शोधात्मक स्थितिमें राजधर्म और प्रतिज्ञाका भी चरित्रोद्घाटन किया गया है। अर्जुनकी द्रोषिता और महत्वाकांक्षाका भी संकेत महाकाव्यकारने यथोचित रूप में किया है।

डॉ. वर्माने काव्योचित भाषा और शब्दचयन वैशिष्ट्यपर विशेष ध्यान दिया है तथा समस्त काव्य विशेषताओं एवं रस सम्पृक्त कर ओज एवं प्रसाद गुणोंमें इस रचनाको सोद्देश्य बनाया है। □

**मैं प्रमी मौजूद हूँ ?**

(गज़ल-संग्रह)

शायर : अशोक वर्मा

समीक्षक : डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त

गज़लका उर्दू-शायरीमें तो खास स्थान है ही, हिंदी के अनेक कवियोंने भी उसे निहायत सहज भावसे अपनाया है। इसका मुख्य कारण उसकी विषयानुवर्तिनी लयात्मकता है जिसका अपना एक खास अंदाज होता है। इसीलिए गज़ल प्रायः इतिवृत्तात्मक नहीं होती, किसी रचनाकारके आरम्भिक प्रयासोंकी बात दूसरी है। गज़ल के अश्रार चाहे इश्कमिजाजी लिये हों अथवा दुनियाँके तमाम अन्य भावोंसे संप्रेषित होनेकी ललक उनमें विद्यमान हो, एक बात निश्चित है कि पाठकको अपनी ओर खींच लेनेकी एक निराली जुम्बिश उनमें रहती है।

गज़लके मूलमें प्रायः गम्भीर जीवन-दर्शन होता है, किन्तु वह विचार-बोज़िल नहीं होती। अनुभूतिकी

१. प्रका. : मेघ प्रकाशन, बी-५/२६३; यमुना बिहार, दिल्ली-११००५३। पृष्ठ : ६६; डिमा. ८६; मूल्य : २५.०० रु.।

वादियोंसे गुजरना और वहाँकी गन्धको खुदमें समो लेना उसकी अनिवार्य विशेषता है। पांडित्यके बोझसे लदकर और गम्भीरताका लबादा ओढ़कर यदि कोई गज़ल कहना चाहे, तो नाकाम होगा। वस्तुतः गज़लमें प्राण-प्रतिष्ठा तभी हो पाती है जब गज़लगीमें सीना चाक करनेकी तड़प हो, जिन्दगीके हर रंगकी तरफ वह एक जैसी तल्लीनताके साथ मुखातिब हो। 'मैं अभी मौजूद हूँ' में संकलित अशोक वर्माकी गज़लोंमें यह गुण है, जैसाकि इस कथनसे स्पष्ट है :

मिलते रहेंगे उम्र-भर नगमे नये-नये

देखे तो कोई दर्दकी चिड़ियाको पालकर

प्रस्तुत संकलनका शीर्षक बेहद मौजू है। गज़लके एक-दो मिस्रोंमें ही चूक जानेवाले शायरका दीवान नहीं है यह, बल्कि एक ऐसे शायरका कलाम है जो इस बारेमें वखूबी मुतमइन है कि—

औरोंसे जो अलग चला

वो ही शख्स खबरमें है

यह आत्मदीप्ति ही इस गज़ल-संग्रहकी विशिष्टता है और यह महत्वाकांक्षाही इसकी सीमा है। 'गोताखोर नहीं बन पाये सबके सब मछुआरे लोग' कहनेवाला यह शख्स अपनी पहचान बनानेको समुत्सुक है और संकलन की बहुसंख्यक गज़लोंमें यह पहचान उभरीभी है। वह सिर्फ 'चेहरा मैं भीड़का हूँ' नहीं है, अपितु कुछ शेर उसके ऐसे हैं जो कद्रदानोंकी महफिलें जुटा सकनेमें समर्थ हैं। इसका अहसास खुद अशोक वर्माको भी है :

धूम फिरके मेरा चर्चा बज्ममें होताही है

बहुतही बदनाम हूँ मैं इन दिनों फ़नके लिए

गज़लका शिल्प बेहद धारदार होता है। उसकी सम्प्रेषणीयताका मूलाधार यही है। फिरभी, अच्छी-भली गज़लभी समग्र प्रभावकी दृष्टिसे कभी-कभी भोथरा जाती है। रचनाकी तरलता और तरन्नुममें खोया रचनाकार भलेही इससे अनजान रहे, किन्तु पाठक श्रोता और समीक्षकको ऐसे संदर्भोंकी पहचान करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। अशोक वर्माकी गज़लोंमें भी कुछ ऐसे स्थल हैं—ग़ालिबन् सबमें होते हैं। गज़लकी केन्द्रीय भावधारासे उनका सिलसिला तो मेल खाता है, किन्तु शिल्पकी मुकम्मल हिस्सेदारी लक्षित नहीं होती। फिर यह भी जरूरी नहीं कि ऐसे अश्रार किसीको प्रभावित ही न करें—शिल्पकी तुलनामें भावनाकी रौ को अधिक महत्त्व देनेवालोंकी प्रतिक्रिया निश्चयही अनुकूल



होगी। रेखांकन-योग्य तथ्य यह है कि बतौर शायर अशोक वर्माकी शक्तियतसे तआरूप करानेवाली ऐसी अनेक हसीन और ताजातरनीन अभिव्यक्तियां इस संकलनमें हैं जो अपनी फनकारी, नाजुकखयाली और जहा-नतसे मनको बांध लेती हैं। यह शेर इसका सुबूत है :

एक बुत मैंने तराशा हो गयी सबको खबर  
शहरके पत्थर सभी अपना पता देने लगे

हिन्दी-गजलकी जो रवानी दुष्यन्तकुमार, बाल-स्वरूप राही, शेरजंग गर्ग, कुंअर बेचैन आदिने दी है, उसी तक पहुंचनेका उपाक्रम अशोक वर्माका भी है, इसमें सन्देह नहीं। □

### तलाश ?

कवि : डॉ. प्रभाशंकर प्रेमी

समीक्षक : डॉ. मनोज सौनकर

“तलाश” काव्य संग्रहमें कवि ‘प्रेमी’ आन्तरिक और बाह्य दोनों धरातलोंपर गतिशील हुए हैं। बाह्य परिवेशसे संबंधित कविताएं कविकी परि-वेशगत सजगताकी परिचायक हैं। देश भ्रष्टाचार, गरीबी, शोषण, मूल्यहीनतासे ग्रस्त हैं; देश गौरवहीन हो गया है, भारतमाता अपवित्र हो गयी हैं; ऐसी स्थितिमें देशका गौरव-गान बेमानी है (पृ. १२)। सच तो यह है, कि गौरव-गान कल्पना और भावुकतासे लदे होते हैं। अहिंसक देशमें हर दिन हिंसा हो रही है, ‘सत्यमेव’ की आड़में झूठ पतप रहा है, भ्रष्टाचारका तांडव मचा हुआ है, सीताके देशमें शीलहरण हो रहा है, धार्मिक साहिष्णुताके नामपर जंगली धर्मांधता नजर आ रही है और कथनी तथा करनीमें बड़ा अंतर है (पृ. १३)। कविका निरीक्षण बहुत सही है। कविने सही फरमसया है, कि यह सभ्यता व्यापारियोंकी सभ्यता है और सबकुछ बिक रहा है (पृ. १६)। कविका यह कथन भी गलत नहीं है देशकी आजादी, भूख, बेकारी, गरीबी, अशिक्षा और भ्रष्टाचारसे ग्रस्त है (पृ. ३२)। यह परीक्षण भी बहुत सही है; इस आजादीमें ‘बोफोर्स’ भी विद्यमान है ! भूखे-नंगे लोग नेताओंके झंझासे आकर उन्हें वोट

दे रहे हैं और नेता उन्हें स्वर्ग दे रहे हैं (पृ. २१) ! इस अशिक्षित देशमें चुनाव किस हदतक सार्थक हैं ? यह विचारणीय प्रश्न है, गंभीर प्रश्न है। लोग बढ़ते जा रहे हैं, लेकिन उनका मूल्य घटता जा रहा है (पृ. २७)। बेलगाम बढ़ती हुई आबादी चिंताका विषय है। लोग अंधविश्वास और चिपचिपी भावुकताके शिकार हैं; स्वार्थप्रेरित होकर परिवार नियोजनका विरोध भी हो रहा है।

धर्म संबंधी कविताएं कविकी सही पकड़की परिचायक हैं। ईश्वर मानव निर्मित है, उसकी सत्ता संदिग्ध है, फिर भी उसको लेकर लोग लड़ रहे हैं, मर रहे हैं !

पता नहीं / तुम

मुझमें हो / भी नहीं

×

×

×

मगर

हमने तुम्हें बनाया है

पत्थरमें खुदवाया है

कहानियां गढ़वायी हैं

और

तुम्हारे नामपर

आपसमें भिड़े लड़े हैं। (पृ. २३)

“तुम” नामक कविता धार्मिक उन्मादपर गंभीर व्यंग्य है। धर्मके नामपर आज भी लड़ रहे हैं, खून बहा रहे हैं; अभी-अभी गोंडामें सैकड़ों मारे गये हैं। ईश्वर (पत्थर) मूक प्रेक्षक है (पृ. २४)। फिर भी सबकुछ उसकी लीला है ! धर्मकी आड़में नारियोंको सती किया जा रहा है, उन्हें देवदासियां बनाया जा रहा है (पृ. १७)। सचमुच ये सभी गंभीर समस्याएं हैं; देवदासियोंकी समस्या अत्यन्त गंभीर रूप लेती जा रही है। धर्मका पुनर्मूल्यांकन होना चाहिये।

“तलाश” भावना-प्रधान कविता है, कविका दित जंगल है; भावनाओंके फूल गुंथनेके लिए, उसे धोनेकी तलाश है (पृ. २२)। पर भाव बिब पुरातनतासे ग्रस्त है। आन्तरिक धरातलसे संबंधित कविताओंमें बासीपन है, ताजगी नहीं है। कुछ कविताओंमें चुटकुलेबाजी और नकल भी नजर आती है। कन्नड़भाषी ‘प्रेमी’ जी का भाषापर अधिकार है; भविष्यमें उनसे अच्छी और परिपक्व कविताओंकी आशा की जा सकती है। □

१. प्रका. : शरण प्रकाशन, ३६१, छठा मेन, तीसरा

स्टेज, बसवेश्वर नगर, बेंगलूर-५६००७६।

पृष्ठ : ५६; डिमा. ८८; मूल्य : २०.०० रु.।

‘प्रकर’—अक्टूबर’९०—४६०. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar



## पब्लिक सेक्टरका सांड?

लेखक : सुदर्शन मजीठिया

समीक्षक : गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

हिन्दी व्यंग्यलेखकोंमें सुदर्शन मजीठियाका नाम जाना माना है। अबतक उनकी नौ कृतियां प्रकाशमें आ चुकी हैं। गत दो वर्षोंमें ही दो संग्रह, 'इक्कीसवीं सदी' और 'छोटे' हमारे सामने आये हैं। लगभग बीस वर्षोंसे वे लेखन क्षेत्रमें सक्रिय हैं। प्रस्तुत संकलन 'पब्लिक सेक्टरका सांड' में उनकी छब्बीस रचनाएं हैं। इन रचनाओंके मिजाज और तेवरको देखते हुए भूमिका-स्वरूप 'वात दीवाने खासकी' में कहे ये शब्द प्रासंगिक हैं : दुनियां तो गोल है पर पूर्ण रूपसे गोलभी नहीं है। इसी प्रकार हर किसीकी अपनी एक दुनियां होती है। जिसके आसपास वह व्यक्ति घूमता रहता है या वह दुनियां उस व्यक्तिके आसपास घूमती रहती है। मकड़ीकी तरह आदमी अपने वातावरणका जाला बुनकर उसमें जल्ला लटक जाना पसन्द करता है। मेरीभी एक दुनियां है जिसका आधार है आदमी और उसका जीवन। हकीकत यह है कि आदमीको जीना नहीं आया, जीते जीते उसे जीना सीखना होगा और मेरा विश्वास है कि एक दिन वह जीनाभी सीख जायेगा। मजीठियाके लेखकका हर कहीं यही अन्दाज है। वह अपनी इसी द्वैध धारणाके बलपर समाजकी विसंगतियों और अवरूपताओंसे जूझता हुआ मनुष्यको कहीं इनके उज्ज्वल रूपोंके दर्शन करा देता है और कभी उनके पार होजाने का मार्ग दिखाकर स्वयं अपने जालेमें उल्टा लुढ़क जाता है। व्यंग्यकारकी यही नियति होती है। वह कथित सत्यकी संधियोंमें से निहित सत्यको ऊपर लाकर स्थापित करता और इन दोनों पाटोंके बीच पड़े मनुष्यको

१. प्रका. : शान्ति प्रकाशन, आसन (रोहतक, हरियाणा)। पृष्ठ : १०४; डिमा. ८६; मूल्य : ५०.०० रु।

उनके खतरोंसे आगाह करता चलता है। भाषण शैलीमें लिखित लेखों जैसे 'हे मेरे देशके लोगो' अथवा 'भारत किसका देश' में यही कुछ हुआ है।

संकलनमें एक गायकी मौत, पब्लिक सेक्टरका सांड, कालेज बनाम कारखाना, भूसाखोर अफसर, अमृतपुत्र, हिन्दू मुसलिम खाई खाई जैसे व्यंग्य लेखभी हैं। इनमें सत्य अथवा तथ्यका वही द्वैध रूप प्रस्फुटित अवश्य हुआ है पर सन्निहित यातना या पीड़ाका स्वरभी है जो व्यंग्यकारके उल्टे लटकनेके दर्दके माध्यम से पाठकतक पहुंचता है। यही दर्द अपने समाजमें सतत चल रहे संघर्ष और द्विधाके टकरावका प्रतीकभी है। व्यंग्य रचनाओंकी जान यही दर्द होता है जो इन लेखों में कमोवेश है। कहीं कहीं उद्भावनाएं प्रेरक भी हैं, और मनोरंजकभी जैसे 'मैं विचारी अंडे खाऊं सैया खाएं डंडे' में। भूसाखोर अफसर, अमृतपुत्र आदिमें वही द्विधा परिस्थितियोंकी विलक्षणता वर्णितनासे समन्वित होकर उजागर हुआ है। पब्लिक सेक्टरका सांड प्रशासन तंत्रमें व्याप्त मक्कारी, अर्थलिप्सा, तथा उद्देश्य विमुखताका अच्छा उदाहरण है। 'एक गायकी' मौत लेख हमारी संस्कृतिमें गायके सम्मान और वास्तविक जीवन में उनकी अवहेलनासे उत्पन्न विरोधभासको उद्घाटित करता है।

ऐसेही तीन व्यक्तित्वपरक लेखभी हैं। 'दौड़नेवालो दौड़ते ही रहो' सुप्रसिद्ध क्रिकेट खिलाड़ी श्री गावस्कर के प्रति सम्मानके विरुद्ध राष्ट्रीय धावक पी. टी. ऊषा के प्रति उपेक्षापर करारी चोट है। 'लूट सके तो लूट' युवक कांग्रेसके नागपुर सम्मेलनमें युवक कांग्रेसियों द्वारा किये गये अभद्र व्यवहारपर और नेताके नाम दौड़ो और प्रजाके नाम सो जाओ राजीव गांधीके संकेतपर आयोजित दौड़ोंपर अच्छा व्यंग्य है।

इसी संकलनमें संवाद शैलीमें लिखित आठ रचनाएं हैं। यहां शैलीको वर्गीकरणका आधार बनानेका प्रमुख लक्ष्य यही है कि लेखक थोड़ा-सा श्रम और करता तो



प्रायः इनमें से प्रत्येक व्यंग्य नाटक बन सकता था जो शायद और बड़ी उपलब्धि होती। परन्तु ऐसा लगता है लेखक सम्पूर्ण रूपसे रसकी सिद्धिके स्थानपर व्यंग्यके मात्र दो एक झपाटे लगाकर संतुष्ट हो जाना अधिक पसन्द करता है। इन रचनाओंमें भी लेखककी तकनीक वही है एक शब्द जैसे भूख या कानको लेकर उसके विभिन्न अर्थों और आयामोंके संदर्भमें उपलब्ध विसंगतियों और भेदभावोंको उद्घाटित करना। 'तेरा देश मेरा देश' और 'अब तो हृद हो गयी' में पहली रचना अपनी अभिधात्मकता और दूसरी अपनी लाक्षणिकताके लिए उल्लेख्य हैं। दूसरी रचना उस मानसिकताके खोखलेपनकी साक्षी है जिससे ग्रस्त लोग भ्रष्टाचार, उसके निदान और उपचारकी बात केवल फँशनके तौर पर करते हैं। इन सभी रचनाओंमें लेखकके संघर्षशील तथा विवेकपूर्ण व्यक्तित्वकी अपनेपर उपहास करती भंगिमाओंकी अभिव्यक्ति हुई है और मामूलीरामके कदमोंसे कदम मिलाती जिन्दगीके दर्शन होते हैं।

साहित्यिक लेखनमें मान्य दोनों प्रकारकी संकेन्द्रीयता—अन्तःकेन्द्रीयता और बहिर्केन्द्रीयता, लेखनमें उपलब्ध हैं। लेखकमें दूसरी प्रकारकी संकेन्द्रीयता अर्थात् बहिर्केन्द्रीयताका भी उपयोग किया गया है। 'तेरा देश मेरा देश', भारत किसका देश, उछलने-उछालनेकी कला आदि हंसीके उदाहरण हैं। बहिर्केन्द्रीयताके साथ अक्सर जुड़ जानेवाले असम्बद्धता तथा प्रयोजन विमुखता जैसे खतरेभी इस लेखनमें हैं जो इसे कहीं-कहीं कमजोरभी बनाते हैं। इन बातोंके साथ लतीफेबाजीके लटकेका उपयोग भी रचनाओंमें यदाकदा उपलब्ध है। मैं विचारी अंडे खाऊँ सैया खाएँ डंडे, टेलीफोनके दुश्मन हाय-हाय, इत्यादि।

इसमें कुछ लेख मूलतः हास्यपरक हैं। हास्यकी उद्भावना कभी जरूर व्यंग्यकी अपेक्षा अच्छी समझी जाती थी पर अब स्थिति बदल गयी है। वैचारिकताका समावेशके साथ मनोरंजन प्रधान हास्यका पलड़ा नीचे आना ही था। वैसे 'छींटे' और 'इक्कीसवीं सदी'की अपेक्षा इस संकलनमें राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही चिन्तन दृष्टियोंसे लेखक अधिक प्रौढ़ हो चुका है। वैचारिकतामें गहराई भी आयी है। इस दृष्टिसे तेरा देश मेरा देश, भारत किसका देश, हिन्दू मुसलिम खाई खाई, वजीरे आजमकी लाइनमें इत्यादि काफी अच्छे बन पड़े हैं। अपनी इन रचनाओंमें लेखक अपने मामूलीरामके काफी निकट है और सामाजिक अभिसंधियों तथा दरारोंको उजागर करनेमें पर्याप्त सफल हुआ है।

ऐसा भी लगता है कि अब समय आ गया है जब इन फुटकल रचनाओंमें बिखरी अनुभूतियों विद्वपताओं तथा विसंगतियोंको एक बृहत् कैनवसमें रखकर अधिक गहराई तथा व्यापकताके साथ लम्बी रचनाओं में समेटा जाये। लेखकके लिए कदाचित् वही अधिक श्रेयस्कर हो। □

## 'प्रकर' विज्ञापनका

## उत्कृष्ट साधन है

### सद्यः प्रकाशित उपयोगी पुस्तकें

प्रनालोचित साहित्यिक निबन्ध

रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान

डॉ. सलीम (पुरस्कृत उपन्यास)

रंगशिल्पी मोहन राकेश

प्रवसान (उपन्यास)

डॉ. श्रीनिवास शर्मा

डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया

रजिया नूर मुहम्मद अनु. कान्ता आनन्द

डॉ. नरनारायण राय

रामशरण गौड़

105.00

70.00

35.00

50.00

30.00

**कादम्बरी प्रकाशन**  
5451 शिव मार्केट, न्यू चंडावन  
जवाहर नगर, दिल्ली-110007 (भारत)



# प्रकर

मार्गशीर्ष : २०४७ [विक्रमाब्द] :: नवम्बर : १९६० (ईस्वी)

११/१२/९०

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६



# मन के तीन पहलू : तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें

श्री दयानंद रचित दो महत्वपूर्ण पुस्तकें :

## कामभाव की नयी व्याख्या

यह पुस्तक सैक्स के मानसिक तथा शरीर संबंधी ओं पर नयी जानकारी देती है। इस जानकारी आधार पर स्त्री-पुरुषों की सैक्स संबंधी बहुत-सी समस्याएं हल की जा सकती हैं।

साहित्य, चिकित्सा, यौन-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों के विद्वानों ने इस पुस्तक की अत्यन्त राहना की है।

चार्ट, रेखाचित्रों तथा फोटोग्राफ्स द्वारा इस पुस्तक विषय को भली-भांति समझाया गया है। पुस्तक के रिशिष्ट में कामसुख बढ़ाने वाले प्राचीन योग तथा पाय संकलित करके पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया गया है।  
मूल्य : ७५ रुपये

## ध्यान योग : कुछ सरल विधियां

आज के तनाव भरे वातावरण में 'ध्यान' एक अनमोल औषधि है।

ध्यान योग की अनेक प्रकार की साधना विधियां हैं, किंतु इस पुस्तक में केवल वे ही विधियां बताई गई हैं जिन्हें हर आयु के स्त्री-पुरुष घर-संसार चलाते हुए अनुभव में ला सकते हैं।

ध्यान की सरल विधियों के साथ महर्षि पंतजनित कृत कुछ योगसूत्रों की आज के युग के अनुसार व्याख्या देकर पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया गया है।

मूल्य : ४५ रुपये

इंस्टीच्यूट आफ पामिस्ट्री (रजिस्टर्ड)  
की ओर से गौरवशाली पुस्तक

## पामिस्ट्री के गूढ़ रहस्य

यह आजमाई हुई सच्चाई है कि हस्तरेखाओं द्वारा व्यक्ति के भूत और भविष्य का ज्ञान हो सकता है किंतु पामिस्ट्री अर्थात् हस्तरेखाएं पढ़ने की विद्या सिखाने वाली ऐसी कोई पुस्तक अब तक नहीं छपी थी जिसमें इस विद्या के सभी रहस्य खोलकर समझाए गए हों। इस आवश्यकता को देखते हुए इस इंस्टीच्यूट की ओर से यह पुस्तक तैयार करायी गयी है।

'इंस्टीच्यूट आफ पामिस्ट्री' लम्बे समय से हस्त-रेखाओं के विषय में अनुसंधान करता रहा है और इस विद्या को वैज्ञानिक विधि से सिखाने का कार्य भी करता है। अब इस पुस्तक द्वारा यह 'इंस्टीच्यूट' इस विद्या को देश के कोने-कोने तक पहुंचा रहा है।

पुस्तक 'पामिस्ट्री के गूढ़ रहस्य' के लेखक इस इंस्टीच्यूट के मुख्य प्रशिक्षक श्री दयानन्द हैं। उनकी यह पुस्तक उनके तीस वर्ष से अधिक समय के अनुभव और अध्ययन का निचोड़ है और इस पुस्तक में हस्त-रेखाएं बनने का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए हाथ की रेखाएं पढ़ने की व्यावहारिक विधियां भी बतायी गयी हैं।

इस पुस्तक में सैकड़ों चित्र देकर इस विद्या को पूरी तरह समझाया गया है। कोई भी सामान्य पढ़ा-लिखा व्यक्ति इस पुस्तक द्वारा यह विद्या सीखकर अपना कैरियर बना सकता है अथवा अपने मित्रों, संबंधियों की हस्तरेखाएं पढ़कर लोकप्रियता प्राप्त कर सकता है।  
मूल्य : १३५ रुपये

प्राप्ति स्थान

माईण्ड एण्ड बॉडी रिसर्च सेंटर, W-२१, ग्रेटर कैलाश पार्ट-1,  
नयी दिल्ली-४८.



**प्रकाश**

[आलोचना और पुस्तक समीक्षाका मासिक]

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार  
सम्पर्क : ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

वर्ष : २२

अंक : ११

मार्गशीर्ष : २०४७ [विक्रमाब्द]

नवम्बर : १९६० (ईस्वी)

**समीक्षित पुरस्कृत ग्रन्थ एवं लेख****[भाषाश्रोंका अकारादि क्रम]**पुस्तकालय  
के. बी. विद्यालंकार  
प्रिन्टिंग

सम्पादकीय		
भारतीय साहित्यकी भावधाराको सम्पूर्णतासे		
आत्मसात् करनेके लिए आदान-प्रदान	३	वि. सा. विद्यालंकार
असमिया : सामाजिक अध्ययन		
असमिया जातीय जीवनत महापुरुषीया परम्परा --- डॉ. हीरेन गोहांड	६	चित्र महन्त
उड़िया : काव्य		
नई श्रार पारि—भानुजी राव	१२	डॉ. तारिणीचरण दास 'चिदानन्द'
कन्नड़ : निबन्ध		
सम्प्रति—हा. मा. नायक	१४	डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ
कोंकणी : काव्य		
सोश्याचे कान—चार्ल्स फ्रांसिस दिकोश्ता	१८	मोहनदास सो. सुर्लकर
गुजराती : उपन्यास		
आंग्लियात—जोसेफ मेकवान	२३	डॉ. रजनीकान्त जोशी
डोगरी : काव्य		
सोध समुदरें दी—मोहनलाल सपोलिया	२६	डॉ. ओम्प्रकाश गुप्त
तमिल : संस्मरण		
चिन्ता नदी—ला. स. रामामृतम्	२८	डॉ. एम. शेषन्
तेलुगु : निबन्ध		
मणिप्रवालमु—यस्वी जोगाराव	२९	डॉ. टी. राजेश्वरानन्द शर्मा
नेपाली : खण्ड काव्य		
कर्ण-कुन्ती—तुलसी 'अपतन'	३६	डॉ. चन्द्रेश्वर दुबे
पंजाबी : काव्य		
कहकशां—तारारिह	४०	डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी
पंजाबी : नाटक		
बड़डा घलूधारा—सन्तसिंह सेखों	४३	डॉ. शमीर सिंह
मणिपुरी : कहानी		
तत्त्ववा पुन्सि लोपुल—सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री	४५	देवराज, डॉ. इबोहलसिंह काङ्गजम
मराठी : आत्म-निवेदन		
हरवलेले दिवस—प्रभाकर वामन ऊर्ध्वरेषे	४९	डॉ. गजानन चव्हाण



मलयालम : काव्य

निषलान - ओळप्पमण्ण

५४

मैथिली : महाकाव्य

पराशर—डॉ. काञ्चीनाथ झा 'किरण' (स्व.)

५७

राजस्थानी : काव्य

गांगेय—सत्यप्रकाश जोशी

६३

संस्कृत : काव्य

सन्ध्या—डॉ. रामकरण शर्मा

६६

सिन्धी-गुजल

बाहि जा वारिसा—एम. कमल

६६

हिन्दी : उपन्यास

सूखा बरगद—मंजूर एहतेशाम

७२

लेख—कृतिकारः कृतित्व

[१] महाश्वेता देवीका कथा-साहित्य

७६

[२] कुरंतुल-ऐन-हैदरका कथा-साहित्य

८७

डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

डॉ. विपिनबिहारी ठाकुर

डॉ. नागरमल सहज

डॉ. राजेन्द्र मिश्र

प्रो. जगदीश लछाणी

पं. सन्ध्यालाल ओझा

डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

माधव पण्डित

## डॉ. कुमुद का यात्रा-साहित्य

### आधी रात का सूरज : स्वीडन

सजिल्द, चार रंगा आफसेट डस्ट कवर—५५/-

कल का दरिद्र स्वीडन आज विश्व की आर्थिक महाशक्ति कैसे बना ? ६६,००० प्राकृतिक झीलों वाले देश का नागरिक प्रसन्नतापूर्वक विश्व के किसी देश से अधिक आयकर चुकाता है। जहाँ धर्म की बात देश के पश्चात् की जाती है। मध्यरात्रि के सूर्योदय का रोचक विवरण। १६० पृष्ठों में उपन्यास की भांति रोचक विवरण।

### बदरी केदार के पथ पर

नवीन संस्करण, सजिल्द, १६० पृष्ठ—५५/-

बदरी-केदार, फूलों की घाटी, हेमकुण्ड साहिब, दुर्गम एवं सुरम्य गढ़वाल अंचल के प्राकृतिक सौंदर्य की यात्रा कथा देश की मिट्टी से प्यार जगाती है।

स्थानों की दूरी, आवश्यक सामान सूची, मानचित्र के साथ यात्रा निर्देशिका।

दोनों पुस्तकों में लेखक के साथ पाठक स्वयं यात्रा का रोमांचक अनुभव करता है।

### कुछ अन्य विशिष्ट प्रकाशन :

संस्कृत साहित्य की अमर कृतियों का उपन्यासीकरण—

कालिदास कृत—अभिज्ञान शाकुन्तलम्

रूपान्तरकार—डा. रागिनी भूषण

—२५/-

शूद्रक रचित—मृच्छकटिकम्

रूपान्तरकार—डा. कुमुद

—३५/-

कालिदास कृत—उर्वशी

रूपान्तरकार—डा. कुमुद

—४०/-

तीनों पुस्तकों एक जिल्द में : तीन संस्कृत क्लासिक्स

रूपान्तरकार—डा. कुमुद

—७५/-

## शील-प्रकाशन

ए/३५, सोनारी पश्चिमी, जमशेदपुर—८३१०११

फोन—२७१४०.



# भारतीय साहित्यकी भावधाराको सम्पूर्णतासे आत्मसात् करनेके लिए आदान-प्रदान

हिन्दीभाषियों तथा हिन्दीतर हिन्दी-पाठकोंको पुरस्कृत भारतीय साहित्यका परिचय देनेके उद्देश्यसे 'प्रकर' की एक वार्षिक शृंखला दीपावली महोत्सवोंपर १९८३ में प्रारम्भ की गयी थी, यह उसी शृंखलाका आठवाँ अंक है। यह शृंखला प्रारम्भ करने का मुख्य कारण यह था कि हम अनुभव करते रहे हैं कि संविधान द्वारा ५० में हिन्दीके राजभाषा घोषित हो जानेपर भी प्रशासनिक स्तरपर और इंडिगभाषी तत्त्वों के प्रबल प्रचारके प्रभावमें हिन्दीको अपदस्थ करनेका सुगठित प्रयास चल रहा है जबकि हिन्दीकी पक्षधर शक्तियाँ निरन्तर निर्वलसे निर्वलतर होती जा रही हैं। हमारे इस अनुभवका आधार प्रशासनिक रूपसे कीगयी वैधानिक प्रत्यक्ष कार्यवाहियाँ और अत्यप्रक्ष अवैधानिक षड्यन्त्र रहे हैं जिनकी सहायतासे हिन्दीको राष्ट्रीय मंचसे हटाकर उसे केवल उत्तर भारतके हिन्दीभाषी रहे जानेवाले क्षेत्रोंतक सीमित किया जा सके। इस प्रयासका सीधा लक्ष्य था अंग्रेजी (भारतीय प्रसंगमें इंडिग) को सर्वदेशीय भाषाके रूपमें स्थापित करना। क्योंकि शृंखलाका आयोजन करनेसे पूर्वही हमें यह प्रतीत होने लगा था कि हिन्दी-अहिन्दी क्षेत्रोंकी जो शक्तियाँ हिन्दीको राष्ट्रभाषाके पदसे अपदस्थ करने और उसे मात्र राजभाषाके रूपमें स्वीकार करनेको प्रयत्न हो गयी हैं, वे देशकी सम्पूर्ण भाषाओंके समान सांस्कृतिक और सामाजिक मूल-आधार, उससे निमित्त देशकी ऐक्य भावनाको लक्षित करनेमें असमर्थ रही हैं और इसी कारण हिन्दीके प्रश्नपर इंडिगभाषियोंसे निरन्तर समझौता करते हुए अंग्रेजीको सर्वदेशीय भाषा के रूपमें स्वीकार करने लगी हैं।

इस स्थितिमें हमें युगोंसे पालित-पोषित देशकी सांस्कृतिक और सामाजिक एकताभी संकटमें प्रतीत होने लगी। भारत-विभाजनसे पूर्व देशके कर्णधारोंकी सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि नकारात्मक थी और वे सामाजिक स्तरपर विदेशोंमें पाले-पोसे गये थे, सांस्कृतिक और वैचारिक स्तरपर यूरोपीयतासे ओत-प्रोत थे, इन कर्णधारोंकी अपनी भाषा अंग्रेजी थी, देशके प्रति उनकी संलग्नताका आधार सत्ता-लिप्सा थी, इसलिए देशके पूरे इतिहासकी उपेक्षाकर उस समय सिरपर मंडराते संकटका शक्तिके साथ सामना करनेके स्थानपर विभाजन स्वीकार कर

लिया। अपनी इसी विदेशी सांस्कृतिक निष्ठाके कारण वे कभी भारतीय भाषाओंको, न अपने जीवनमें न देश के जीवनमें, स्वीकार कर सके। इसी कारण प्रथम तो भारतीय भाषाओंको सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरपर विच्छिन्न करनेके लिए प्रयत्नशील रहे, जिससे सांस्कृतिक-सामाजिक स्तरपर विच्छिन्न देशपर अंग्रेजी लादनेमें उन्हें सुविधा हो। हमारी धारणा है कि यह सांस्कृतिक-सामाजिक विच्छिन्नता देशमें राजनीतिक विच्छिन्नताकी भूमि तैयार कर रही है जो राजनीतिक और भौगोलिक विघटन और विखण्डन-विभाजनकी ओर देशको अग्रसर कर रही है। यह स्थिति किसीभी विचारशीलको आतंकित करनेके लिए पर्याप्त है।

इसी स्थितिने हमें भारतीय भाषाओंकी उस अन्तर्निहित सामाजिक-सांस्कृतिक एकताके रूपका भी परिचय देनेकी प्रेरणा प्रदान की। निस्सन्देह आधुनिकताके सर्वग्रासी अभियानके परिणामस्वरूप देशकी सभी भाषाएं यूरोपीय चिन्तन और वैचारिकतासे आक्रान्त हैं, देशकी कोई भाषा इसका अपवाद नहीं है; पर आज भी भारतीय साहित्यमें यूरोपीय चिन्तन-विचार ओढ़न ही हैं, उसकी अन्तर्निहित संस्कृति नहीं। इसी अन्तर्निहित संस्कृतिका दर्शन करानेकी दृष्टिसे देशके सम्पूर्ण भारतीय साहित्यकी मात्र झांकी रूपमें 'पुरस्कृत भारतीय साहित्य' शृंखलाका आयोजन किया गया और कमरतोड़ आर्थिक संकट झेलते हुए और किसी प्रकार का सहयोग उपलब्ध न होते हुएभी इस आयोजनको जारी रखे हुए हैं।

इस आयोजनके प्रसंगमें पिछले वार्षिक अंकोंमें भारतीय साहित्यकी अन्तर्निहित सांस्कृतिक-एकताके सूत्रोंको भी हमने रेखांकित किया है और यूरोपीय चिन्तनको ओढ़कर भारतीय साहित्यके ऐतिहासिक पक्ष को विकृत करनेवाले प्रसंगों-प्रकरणोंका भी संकेत करते रहे हैं। यदि यूरोपीय चिन्तनको ओढ़नेके स्थान पर मूल प्राचीन भारतीय साहित्यका अध्ययन करनेका श्रम किया जाता, शोध और अनुसन्धानका आश्रय लिया जाता तो इन विकृतियोंसे बचते हुए साहित्यिक अवमूल्यनसे भी बचा जा सकता था और भारतीय मान-



सिकताको उसके सही परिप्रेक्ष्यमें प्रस्तुत किया जा सकता था। इसलिए हमारी मान्यता रही है कि सभी भारतीय भाषाओंके साहित्यके आदान-प्रदानकी सुनियोजित व्यवस्था होनी चाहिये और उसकी प्रवृत्तियों और विकासके चरणोंका परिचय प्रदान करनेका एक केन्द्र होना चाहिये। परन्तु विभिन्न भारतीय भाषाओंके साहित्यमें एक अन्य ऐकान्तिक प्रवृत्ति देखनेमें आती है कि अपने क्षेत्रकी सीमाओंमें आवद्ध रहने और अन्तर्राष्ट्रीयताके नारेसे प्रभावित होकर केवल अंग्रेजीसे जुड़कर अंग्रेजीकी खिड़कीसे ही सम्पूर्ण विश्व और भारतको देखना। इस दृष्टिकोणसे चिपकनेके कारण न केवल अंग्रेजीभाषी क्षेत्रसे बाहरका पूरा परिप्रेक्ष्य अदृश्य रहता है अपितु रचनाकारके अपने ही क्षेत्रसे बाहर का पूरा देश ओझल हो जाता है। यह भी लक्षित किया जा सकता है कि केन्द्रीय स्तरपर राजनीतिक दृष्टिसे होनेवाली विभिन्न सांस्कृतिक-सामाजिक एवं भाषिक गतिविधियाँ संकीर्णता और विद्वेषके कारण होनेवाली उपेक्षित रह जाती हैं। यदि उनकी चर्चा होती भी है तो सीमित क्षेत्रीय संलग्नता अथवा अपूर्ण जानकारी के कारण समस्याका वास्तविक चित्र सामने नहीं आता, कभी-कभी पूरा चित्रही वास्तविकताके विपरीत होता है।

इस प्रसंगमें कन्नड़की पुरस्कृत निबन्ध कृति 'सम्प्रति' में उठायी गयी भारतीय साहित्यके आदान-प्रदान और पारस्परिक सम्पर्क संबंधी समस्यापर निबन्धकारकी यह टिप्पणी उल्लेखनीय है कि देशकी विभिन्न भाषाओंके साहित्यसे परिचित हुए बिना भारतीय साहित्यकी भावधारा उसकी सम्पूर्णतामें आत्मसात् नहीं की जा सकती और क्षेत्रीय अथवा राज्यभाषाओं और साहित्यको विकसित नहीं किया जा सकता। परन्तु विभिन्न भाषाओंके साहित्यकी भावधाराको उसकी सम्पूर्णतामें आत्मसात् करनेके लिए सर्वदेशीय माध्यम की आवश्यकता है। भारतीय संविधानमें इस प्रयोजनसे हिन्दीको उसके स्वतन्त्रता प्राप्तसे पूर्व प्राप्त राष्ट्रभाषा के पदके नीचे लाकर सर्वसम्मतिसे 'राजभाषा' का पद प्रदान किया गया था, परन्तु विद्वान् निबन्धकारको हिन्दीका 'राजभाषा' पदपर रहना भी स्वीकार नहीं है, वह उसे मात्र 'सम्पर्क भाषा' का स्थान देना चाहता है, उसने सम्पर्कके इस भाषायी रूपको स्पष्ट नहीं किया। निबन्धकारकी यह भी मान्यता है : "हमारे देशके लिए अनेक भाषाओंकी आवश्यकता नहीं, दो या तीन भाषाओंसे काम चल सकता है।" उसकी यह भी धारणा है : 'जबतक हमारी सभी भाषाएं लोक-सभामें

प्रवेश नहीं करेंगी तबतक लोकसभाके कार्यकलापोंकी अधूराही समझना चाहिये। लोकसभामें हमारी सभी भाषाओंकी अनुगूँज सुनायी देनी चाहिये।' (कृतिका लेख : 'लोकसभा-लोकभाषा')।

'लोकसभा-लोकभाषा' का प्रश्न उठाये जानेपर वास्तविकता और प्रचारके बीच अन्तर करना आवश्यक है। वास्तविकता यह है कि वर्षों पूर्व सांसदोंकी मांग परही लोकसभामें प्रत्येक सांसदको उसकी अपनी रुचिकी भाषामें भाषण देनेका अवसर प्रदान करने के लिए प्रत्येक भाषाके हिन्दी और अंग्रेजीमें युगपद् अनुवादकी व्यवस्थाकी गयी थी, कुछ थोड़े-से समयके लिए यह व्यवस्था चली भी, परन्तु कुछही दिनों में अनुभव किया जाने लगा कि यह 'एक अप्रयुक्त सेवा' है। अब स्थिति यह है कि सामान्यतः यदि कोई सांसद अपनी रुचिकी भाषाके प्रयोगसे लोकसभाको 'अनुगूँजित' करता भी है तो सांसदोंको उसका शास्त्रीय संगीत जैसा आनन्द लेनेको ही बाध्य किया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि इसपर विवाद हो कि शास्त्रीय संगीत हिन्दुस्तानी हो अथवा कर्नाटकी। अनुगूँजका प्रचार इस प्रकारके शास्त्रीय संगीतका ही आनन्द दे सकता है, न वक्ताके साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है न कोई बौद्धिक प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है। तादात्म्यके लिए तो 'लोकसभा और लोकभाषा' के साथ 'लोक-चेतना' का जागृत करना भी आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि यह लोक-चेतना संवादी हो विवादी नहीं, साथही उसे पाश्चात्य संगीत की हारमोनिक पद्धतिसे दूर रखा जाये। यदि देशके सांसदोंकी लोक-चेतना जागृत होती तो यह संवादी अनुगूँज लोकसभासे लुप्त न होजाती।

लोक-चेतनाका संवाद जितना लोकसभा-लोकभाषा के लिए आवश्यक है उतना ही साहित्यमें भी, साहित्यके आदान-प्रदानमें भी और भारतीय साहित्यकी भावधारा को उसकी सम्पूर्णतामें आत्मसात् करनेके लिए भी। इस प्रक्रियामें अवरोध उत्पन्न होनेपर किस प्रकार लोक-चेतना प्रसुप्त होजाती है, इसका उदाहरण भी उस भारत सरकारकी प्रवृत्तिसे स्पष्ट हो जाती है जिसे उत्तराधिकारमें देशपर 'अंग्रेजी-लादना' मिला है और जो किसी भारतीय भाषाको उन्हें बोलनेवालों तथा देशके अन्य लोगोंपर न लादनेके अपने उत्तराधिकारसे प्रतिबद्ध है, फिर चाहे मात्र अपनीही भाषा जाननेवाले अगणित लोग रोजी-रोटीसे वंचित क्यों न रहें। स्वतंत्रता प्राप्तिके बाद भारतीय भाषाओंके तेजस्वी-मनस्वी वयोवृद्धों के प्रबल आग्रहके कारण गणतन्त्र दिवसकी पूर्व संध्या



को आकाशवाणीसे संपूर्ण देशके काव्यका आस्वादन करानेकी व्यवस्था कीगयी थी, जिसमें देशकी प्रत्येक अनुसूचित भाषाका कवि स्वयं उपस्थित होकर अपनी भाषामें काव्यपाठ करताथा, उसके तत्काल बाद उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत होताथा जिससे देशका प्रत्येक साहित्यप्रेमी नागरिक अपने देशके भाषा-प्रवाह, शब्द लहरी और भावधारासे परिचित हो और सहृदय जन काव्यका रसास्वादन कर सकें। आज संवैधानिक भाषा हिन्दी न लादने और 'अंग्रेजीही लादे रखने'के इस युगमें न किसी अनुसूचित भाषाका न राजभाषाका स्वर अखिल भारतीय स्तरपर आकाशवाणीसे गूंजता है। अभीतक देशके किसी राज्यमें इसके विरोधमें कोई लोक-चेतना जागृत हुईहो, हमें ज्ञात नहीं है। इस मनोवृत्तिमें हमें अपनी 'निजी भाषा' के संरक्षणकी चिन्ता का भी आभास नहीं मिलता। हम समझतेहैं कि क्षेत्र की 'निजी भाषाका संरक्षण' तभी व्यापक रूपका ग्रहण कर सकता है जब उसकी ध्वनि देशके प्रत्येक क्षेत्रमें गूंजती सुनायी दे और किसीभी माध्यमसे उसका रसास्वादनभी कराया जा सके। हिन्दी-विरोध और अंग्रेजी मोहसे यह रसास्वादन करना संभाव नहीं है।

इसी मनोवृत्तिके कारण देश-विभाजनसे पूर्व देशके विभिन्न क्षेत्रोंमें जो निकटता थी, उसे क्षेत्रीय संकीर्णता, इस देशके बारेमें प्रचारित विघटनमूलक यूरोपीय चिन्तनको आत्मसात् करनेवाले बुद्धिजीवियोंकी बहुलता और आधुनिकताकी मिथ्या धारणाओंके कारण प्रत्येक क्षेत्र दूसरे क्षेत्रके लिए 'परदेस' बनता जा रहा है। देशके सामाजिक जीवनमें ये धारणाएं किस प्रकार अपना स्थान बनाती जा रहीहैं, इसे हम इस रूपमें अनुभव कर सकतेहैं कि रूस जैसे दूरस्थ देशमें तो प्रेमचन्दके 'गोदान' पर पन्द्रह शोधग्रन्थ प्रस्तुत हुएहैं, परन्तु हिन्दीभाषियोंको छोड़ 'गोदान' से परिचित अन्य भारतीय जन विरलाही मिलता है। यहभी हम अनुभव से जानतेहैं कि यदि भारतीय भाषाओंकी किसी कृतिका परिचय या समीक्षा हम उसी भाषाके बोलनेवाले किसी हिन्दीतर भाषीसे लिखाना चाहें तो प्रतिप्रस्तावयह प्राप्त होता है कि वे हिन्दीतर भाषी महानुभाव अंग्रेजीमें लिखा देंगे, उसका अनुवाद हिन्दीमें करानेकी व्यवस्था करा ली जाये।

यह प्रवृत्ति केवल किसी एक भाषा तक सीमित नहीं है। यह देशव्यापी है। यह प्रवृत्ति इस सीमातक पहुंच गयी है कि जिस मूल साहित्यकी भाव-सम्पदा, विचार-वैभव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे वस्तु अथवा मंतव्य-धारणाको परखनेकी जो परम्परा उत्तराधिकारमें सम्पूर्ण भारतीय

साहित्यको प्राप्त हुईहै, उसे पुरस्कृत तेलुगु कृति 'मणि-प्रवालमु' के यशस्वी रचनाकारने तेलुगु साहित्यमें उसकी अवतारणाको अनुकरण माना है और संस्कृत साहित्यका पिछलग्गू बन माना है। इस अनुकरण और पिछलग्गू बन की घोषणाका आधार ब्रिटिश लेखक काल्डवेलका यह प्रचार है कि इस देशमें मुख्य रूपसे दो प्रतिद्वन्द्वी भाषा परिवार हैं : आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार। इस साम्राज्यवादी प्रचारात्मक धारणाको विद्वान् कृतिकारने अन्तिम 'सत्य' के रूपमें ग्रहण किया है और इस समय भारतीय धाराके अन्तर्गत जो शोध और अनुसंधान कार्य चल रहा है, उसपर ध्यान देनेका कष्ट नहीं किया। क्या यह अपने आपमें अनुकरण नहीं है ? आधुनिक भारतीय साहित्यमें पाश्चात्य चिन्तन और विचारधाराका चर्वण इतनी प्रचुर मात्रामें हो रहा है कि मैकाले-माक्स पंथियोंकी चर्वण शक्तिकी ही सराहना करनी पड़ती है, प्रतिभाकी नहीं। यदि वैचारिक स्तरपर इस सम्पूर्ण स्थिति पर पुनर्विवेचन होता और आधार प्रस्तुत करते हुए परंपरासे प्राप्त विचारों, मन्तव्यों और धारणाओंका परिमार्जन किया गया होता तो स्थिति दूसरी होती। हम अपने सामाजिक-सांस्कृतिक और दार्शनिक चिन्तनसे मैकाले-माक्सपंथी चिन्तनकी आकाशीय दूरी और देशकी अथक चर्वण-शक्तिसे परिचित हैं, फिरभी हमें सम्पूर्ण यूरोपीय चिन्तनधाराकी इसलिए पुनः परीक्षाकी आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि नयी पीढ़ीके शोधार्थी कुछ नयी सामग्री और तथ्य प्रस्तुत करने लगेहैं।

यह भी एक कारण है कि हम 'मूल भारतीय साहित्य' के अनुशीलनपर बल देतेहैं, अनुवादोंपर नहीं। उपलब्ध अनुवादोंमें तथ्यों और मूल अभिप्रायोंको प्रायः विकृत और दूषित किया गया है एवं व्यक्तिगत, संस्कारगत तथा धार्मिक रुचियोंके अनुकूल व्याख्याएं की गयीहैं। मूल भारतीय साहित्यका अध्ययन देशकी विभिन्न भाषाओं के विद्वानोंको अपने हाथमें लेना चाहिये और उस अध्ययनका देशकी सभी भाषाओंमें आदान-प्रदान होना चाहिये। इसका प्रारम्भ भारतीय भाषाओंके पारस्परिक आदान-प्रदानकी गतिको सुनियोजित रूप देना चाहिये। यह केवल भारतीय साहित्यके विभिन्न रूपोंको समग्र रूपसे आत्मसात् करनेमें ही सहायक नहीं होगा, अपितु देशकी सम्पूर्ण लोकशक्तिका एकीकरण करनेमें भी सहायक होगा।

अन्तमें, इस अंकके लिए देशके विभिन्न भाषा-भाषियोंने अपनी-अपनी मातृभाषाकी पुरस्कृत कृतियों की समीक्षा और उनका परिचय 'प्रकर' के लिए प्रस्तुत किया है, उनका हम आभार मानतेहैं और कृतज्ञ हैं। □



# सेन्चुरी के अनुपम वस्त्र



१०० % सूती कपड़ों के लिए  
सेन्चुरी काउन्स सूती वस्त्रों में बेजोड़

सेन्चुरी टेक्सटाइल्स एण्ड इंडस्ट्रीज लिमिटेड

‘सेन्चुरी भवन’ डॉ. एनी बेज़ण्ट रोड, वरली,  
बम्बई ४०० ०२५.



शिक्षा जगत् में एक और नवीन प्रकाशन

# सतत् शिक्षा

लेखक

डा० ब्रजकिशोर शर्मा

उपाचार्य—शिक्षा विभाग

गोरखपुर, विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डा० महेन्द्रकुमार शर्मा

डा० मार्कण्डेय प्रसाद द्विवेदी

प्रवक्ता—शिक्षा विभाग

प्रवक्ता—शिक्षा विभाग

लालबहादुर शास्त्री स्मारक महाविद्यालय

दिग्विजय नाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय

आनन्द नगर (उ० प्र०)

गोरखपुर (उ० प्र०)

[आज का मानव अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। उसकी बुद्धि ने विकास की परकाष्ठा पर पहुंचने का प्रयास किया है। सभी उपलब्धियों के रहते भी यह देखा जा रहा है कि व्यक्ति को स्वस्थ दिशा नहीं मिल पा रही है और दिग्भ्रमित-सा लगता है। इसका प्रमुख कारण है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसकी चेतना शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो पा रही है। सम्प्रति, आज चल रही शिक्षा-व्यवस्था मानव के सम्यक् विकास के लिए उपयुक्त नहीं समझी जा रही है।]

- वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था से न तो व्यक्ति का संतुलित विकास हो रहा है और न ही समाज के लिए अपेक्षित भूमिका प्रस्तुत की जा रही है। अतः आवश्यकता है कि ऐसी औपचारिक प्रधान शिक्षण व्यवस्था में वांछित परिवर्तन लाया जाये और इसके साथ-साथ अनौपचारिक एवं गैर-औपचारिक शिक्षाको प्रोत्साहन दिया जाये। इस दिशामें सतत् शिक्षा एक विशिष्ट स्थान रखती है। अन्य गैर-औपचारिक शिक्षण व्यवस्था की तुलना में सतत् शिक्षा ही ऐसी भूमिका प्रस्तुत कर सकती है जिससे व्यक्ति का संतुलित विकास हो सकता है।
- यह पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों एवं शैक्षणिक संस्थाओं के शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी है ही, साथ ही ऐसे अनेक प्रबुद्ध कार्यकर्त्ताओं के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है, जो स्वयं के साथ-साथ समाज में एक नयी चेतना का विकास करने के लिए प्रयत्नशील हैं।
- पुस्तक सरल एवं शुद्ध हिन्दी में लिखी गयी है। इसमें निम्न ११ अध्यायों के अन्तर्गत पाठ्यक्रम सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री यथास्थान नियोजित कर छात्रोपयोगी बनाने की चेष्टा की है।

## अध्याय-क्रम

- |   |   |
|---|---|
| 1. शिक्षा की भूमिका एवं आधुनिक प्रवृत्तियां | 7. विद्यालय—सामुदायिक केन्द्र के रूप में                |
| 2. सतत् शिक्षा की संकल्पना एवं विकास        | 8. सतत् शिक्षा में राज्य, व स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका |
| 3. सतत् शिक्षा : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि         | 9. विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में प्रसार-कार्य     |
| 4. सतत् शिक्षा के पक्ष                      | 10. सतत् शिक्षा के अभिकरण एवं माध्यम                    |
| 5. प्रमुख कार्यक्रम                         | 11. मानव मूल्य एवं सतत् शिक्षा                          |
| 6. सतत् शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन          |   |

आकार : डिमाई

पृष्ठ संख्या : 320

मूल्य : 25.00

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा



# गुरुकुल

कांगड़ी फार्मसी की

आयुर्वेदिक औषधियां सेवन कर स्वास्थ्य लाभ करें

गुरुकुल

**च्यवनप्राश**

पूरे परिवार के लिए शक्तिवर्धक  
एवं स्फूर्तिदायक रसायन।  
खांसी, ठंड व शारीरिक एवं  
फेफड़ों की दुर्बलता में  
उपयोगी आयुर्वेदिक  
औषधीय टानिक



गुरुकुल

**पायोकिंल**

दांतों व मसूड़ों के समस्त रोगों  
में विशेषतः पायोरिया  
के लिए उपयोगी  
आयुर्वेदिक औषधि



गुरुकुल

**चाय**

जुकाम व इन्फ्लूएंजा, थकान  
आदि में जड़ी बूटियों  
से बनी लाभकारी  
आयुर्वेदिक औषधि



गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी हरिद्वार (उ० प्र०)

शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ

चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३५



## महापुरुष शंकरदेव और उनके अनुयायियों द्वारा प्रवर्तित परिवर्तनोंकी माक्सवादी व्याख्या

### असमिया जातीय जीवनत महापुरुषीया परम्परा

लेखक : डॉ. हीरेन गोहाँइ

समीक्षक : चित्र महन्त

डॉ. हीरेन गोहाँइ असमिया साहित्यके वर्तमान कालके अन्यतम श्रेष्ठ निबंधकार हैं। उन्होंने असमिया निबंध तथा समालोचना साहित्यको एक नया आयाम दिया। डॉ. गोहाँइका पाश्चात्य साहित्यके साथ एक प्रगाढ़ सम्पर्क है। हाँ, उसकी तुलनामें भारतीय साहित्य के साथ उनका सम्पर्क अत्यन्त दुर्बल है। वास्तवमें यह भारतीय साहित्यके लिए एक अभिशाप है कि संस्कृत को छोड़कर अन्य भारतीय साहित्योंके मध्य पारम्परिक सम्पर्क नहीं के बराबर है। अथच ऐसे भारतीय साहित्य का विदेशोंमें गंभीर रूपसे चिन्तन-मनन होता आया है। प्रेमचन्द्रके श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का रूस देशमें इतना आदर है कि उसपर अबतक १५ शोधग्रन्थ प्रस्तुत हुए हैं। किंतु हिन्दीभाषियोंको छोड़ अन्य भारतीय लोगोंका गोदानके साथ परिचय अत्यंत कम है।

चर्चित ग्रन्थ असमके राष्ट्रीय जीवनमें महापुरुषीया परम्पराका स्थान शीर्षके ग्रन्थमें इस अंचलके जन-जीवन में महापुरुष (महापुरुष द्वारा प्रचलित परम्पराको 'महापुरुषीया' कहा गया है) शंकरदेव द्वारा अनुसृत मतके प्रभावकी विस्तृत रूपसे चर्चा की गयी है। यह सबको ध्यान में रखते हुए यह दूसरी बात है। किन्तु असममें आर्य-अनार्यका जैसा मिलन हुआ वैसा भारतमें अत्यन्त दुर्लभ है। इस मिलनको त्वरान्वित किया महापुरुष शंकरदेवने। शंकरदेवने यहां पहलेसे प्रचलित अनार्य मतोंके प्रति आदर दिखाया और आर्य मतोंको अपने समा दिया। इस प्रकार दोनोंकी भाषा-संस्कृति तथा सम्पत्तिका मिश्रणसे एक नया महाभारतीय समाज

अंचलमें पनप उठा। एक प्रसिद्ध विद्वान्ने कहाथा कि शंकरदेवने असमको भारतमें समाया और वे भारतको असमतक लाये। शंकरदेवसे पहले यहाँ भारतीयताकी चर्चाही नहीं हुईथी, ऐसी बात नहीं है। यहाँ संस्कृत भाषाका आदर ईसाकी दूसरी-तीसरी सदीसे था। यहाँके शासकों द्वारा प्राप्त ताम्र तथा शिला-लिपियोंकी भाषा असमिया मिश्रित संस्कृत थी। शंकरदेवसे पहले हरिहर विप्र तथा माधव कन्दली आदि कवियोंने महाभारतीय कथा-कहानीके आश्रित ग्रन्थोंका प्रणयन कियाथा।

डॉ. गोहाँइके ग्रन्थने इस भारतीय परम्पराको ही उजागर किया है और भारतीय और किरातीय परम्परा के मिलनके फलस्वरूप यहां ऐसे एक समाजकी स्थापना की जा सकी, जिसकी तुलना भारतमें अत्यन्त दुर्लभ है। डॉ. गोहाँइने 'कथा गुरु चरित' (शंकर-माधवके जीवन चरित) का एक कथन उद्धृत किया है। वह ऐसा समय था जब शंकरदेव-माधवदेवके प्रबल-प्रभावके कारण लोग उनसे दीक्षा लेने यानी शरणमें आने लगे। एक बार १८ चैतन्य-पंथी भक्त माधवदेवके पास उनसे दीक्षा लेने आये। माधवदेवने जमीनपर एक लकीर खींचकर कहा कि यह चैतन्य-लकीर है। यदि तुम लोग उनकी दीक्षा छोड़ना चाहते हो तो इस लकीरको पैरसे पोंछ डालो। एक को छोड़कर प्रायः सभीने ऐसा किया। केवल मथुरादासने कहा —“उन्होंने भी तो अपने ढंगसे मनुष्यको मुक्तिका मार्ग ही दिखायाथा—मैं पांवसे नहीं हाथसे लकीरको पोंछ डालता हूँ।”—माधवदेवने हंसते हुए उनको साधुवाद दिया और अपने शिष्योंमें सम्मिलित करके एक नया समाजके निर्माण



में इनका अतुल प्रभाव स्पष्ट है।

डॉ. गोर्हाइ प्रगतिवादी समालोचक हैं। मार्क्सिय दृष्टिसे वे समालोचना या विचार आगे बढ़ाते हैं। इसी कारण शंकरदेवकालीन या उनके पारम्परिक समाजके संगठनमें पूँजीवादी व्यवस्थाके प्रभावका भी उल्लेख इस ग्रन्थमें हुआ है। उन्होंने संस्कृतिके संबंधमें एक उल्लेखनीय बात कही है। उन्होंने कहा—“संस्कृतिका बचाव राजनीतिक क्षमता द्वारा ही संभव है। राजनीतिक क्षमता अर्थनीतिक तथा सैनिक क्षमतापर निर्भर है।” यहाँ असममें एक भिन्न संस्कृतिका विकास इसी कारणसे हो पाया था कि यह अंचल राजनीतिक दृष्टिसे भारतके केन्द्रीय अथवा आंचलिक राजनीतिसे विच्छिन्न था। परन्तु इस अंचलको बार-बार विदेशी शत्रुका सामना करना पड़ा था। दिल्लीके बादशाहोंने इसपर सत्रह बार आक्रमण किया था जिसके परिणाम-स्वरूप यहाँ एक भिन्न अर्थनीतिक तथा सांस्कृतिक इकाई गठित हुई थी। इस इकाईको प्रतिष्ठित रूप देनेमें इस परिस्थितिने तो सहायता की ही थी—साथ-साथ महापुरुषपीया संस्कृतिके स्तुत्य प्रयासने इसे मूर्धन्य स्तर तक पहुँचा दिया था।

यहाँ शंकरदेवसे पूर्वही कामाख्या तथा हयग्रीव माधव जैसे जन-जातीय मन्दिरोंको भी सभीके ग्रहण-योग्य बना लिया गया था। शंकरदेवके लिए यह एक पृष्ठभूमि थी।

डॉ. गोर्हाइके इस ग्रन्थमें कुल पृष्ठ हैं ११३। इनमें से प्रथम ८९ पृष्ठ केवल इस समन्वयकी पृष्ठभूमिकी व्याख्या हैं। प्रथम अध्यायकी प्रासंगिक बातोंके बाद असममें वैष्णव आन्दोलनकी पृष्ठभूमि, प्राचीन कामरूप का परिचय तथा कामरूप शासनावली नामक अध्याय है। इन अध्यायोंमें शंकरदेवके वैष्णव मत यानी महा-पुरुषपीया परम्पराने यानी शंकरदेवके सन्देशोंने किस प्रकार पूर्वांचलकी विभिन्न जातियों-उपजातियोंको एकत्रित किया, उनके वैष्णव मतका द्वार सबके लिए खोल दिया, इसका विशद वर्णन है। यहाँके किरातीय तथा आहोम राजाओं द्वारा भारतीय नाम तथा धर्मके ग्रहणके बाद एक नया समाज तथा संस्कृतिका विकास हुआ। शाक्त-शैवसे किस प्रकार असमका समाज तांत्रिक वैष्णव मतके मार्गसे वैष्णव मतमें परिवर्तित हुआ इसका वर्णन स्पष्ट रूपसे किया गया है।

इन चर्चाओंके पश्चात् भक्तिका इतिहास तथा उसका प्रसार, समाज संगठनमें इसका हाथ, ब्राह्मण

आडम्बरपूर्ण धार्मिक मतवादके विपरीत सहज-सरल नाम धर्मकी प्रतिष्ठा जातिभेद प्रथाके विपरीत सर्व-जाति समन्वय भावनाका सांगोपांग वर्णन इसमें हुआ है। समग्र भारतमें अछूत माने जानेवाले लोगों द्वारा समाज सुधार तथा मतवादके प्रचारमें इनका सहयोग आदिका वर्णन विस्तारसे किया गया है।

भागवत अर्थात् वैष्णव मतका विकास तथा प्रचार ब्राह्मणवाद या यज्ञ आदिमें भ्रष्टाचारके फलस्वरूप हुआ था। तथापि आलवर आदिके समय इसमें कुछ तो रक्षणशीलता थी, परन्तु आगे चलकर रामानन्दके समय भक्तिका द्वार सबके लिए खोल दिया—

हरिका भजे  
हरिका होई।

आगे चलकर इसमें सूफी-सन्तोंका प्रभाव भी पड़ा। इस कालमें धार्मिक या सामाजिक दृष्टिसे पीड़ित गोष्ठियोंके उत्थानके लिए काम हुआ। भाग्यका बंधन या निम्न योनिमें जन्म-जन्य जो अभिशाप था वह टूट गया। संभवतः भारतीय इतिहासमें यह पहला जनकाल था—जब छोटेसे छोटे वर्गके लोगोंने भी वाक्-स्वा-तन्त्र्य प्राप्त किया। कबीर, दादू, नानक आदिने खुल्ल-खुला सामाजिक भ्रष्टाचार और ढोंगके विरुद्ध अपनी आवाज उठायी, दक्षिणके आलवरोंमें भी अधिकतर भक्त दलित गोष्ठियोंके थे। दक्षिणके रामानन्द आदिने इस दिशामें बहुत काम किया, परन्तु इसका प्रभाव दक्षिण-भारतमें अत्यन्त कम पड़ा। वहाँ वर्ण-भेदका प्रचण्ड-प्रहार आज तक होता रहा। ब्राह्मण-धर्म द्वारा पुरोहितवर्ग संख्यातीत आचार-विचार तथा संस्कारोंके समाजको एक कर्मकाण्डमें फँसा दिया था। क्रिया काण्ड के प्राणहीन आडम्बरके कारण मानवीय आवेगिक आवश्यकताको रौंद दिया जाता रहा था। इन उत्पीड़ित सम्प्रदायोंके लोगोंने जो आवाज उठायी, वह ब्राह्मण-वादके विरुद्ध एक ललकार थी।

डॉ. गोर्हाइने स्पष्ट किया है कि उच्च वर्णने सनातनपंथी भक्तिको स्वीकार किया परन्तु भूमि और कृषि के साथ जुड़े लोग उदार तथा आमूल परिवर्तन वाले भक्ति धर्मके प्रति आकर्षित हुए, किंतु शंकरदेवके असम में भक्तिधर्म चूँकि विकसित हुआ ही नहीं था, इसीसे इनके सामने ऐसी समस्या नहीं थी। शंकरदेवके सामने समस्या थी शाक्त-शैव-तंत्र-मंत्रके कारण समाजमें फैले भ्रष्टाचारको दूर करनेकी। फिर यहाँ भावनात्मक



मिलनकी आवश्यकता ही अधिक थी और वही समस्या के रूपमें खड़ी थी। यहां चार वर्णोंवाली समस्या भी नहीं थी—वह आज भी नहीं है। समाजके छोटे-छोटे तथा जनजातीय लोगोंको एकत्रित कर भारतीयताका पट पढ़ाना ही उनका सबसे बड़ा ध्येय था। 'आहोम-कोच-कछारी-गारो-मिरि-नगा-रजक - तुरुक सभीको, श्रीकृष्णके माध्यमके रूपमें लेकर एक कर दिया था।

मुसलमानोंके भारत आगमनके पश्चात् नयी नयी वृत्तिके नये-नये सम्प्रदायोंका उद्भव भारतमें हुआ। ऐसी वृत्तिवाले सम्प्रदायोंको समाजमें उच्च स्थान नहीं मिलता, किन्तु भक्तिके विकासके बाद इनके लिए भी भक्तिका द्वार खोल दिया गया था।

ग्रन्थमें प्रख्यात मराठी पण्डित महादेव गोविन्द रानडेके कथनको उद्धृत करते हुए भक्ति आन्दोलनका प्रभाव इस रूपमें प्रस्तुत हुआ है :

१. आंचलिक भाषाका विकास
२. जात-पातकी भेदभावनामें आयी कमी
३. शूद्रोंको भी ब्राह्मणकी पंक्तिमें स्थान
४. नारीको सामाजिक मर्यादा प्रदान
५. मानवीय गुणोंका विकास
६. हिन्दु-मुसलमानोंमें निकटता
७. तीर्थ-व्रत उपवासके महत्त्वमें कमी
८. देव-देवी पूजा-बाहुल्यमें ह्रास
९. चिन्तन और मनन तथा कर्मके प्रति आग्रह।

शंकरदेवने इन्हीं मान्यताओंको अपनाया था। इस कालकी पूर्वाचलीय समाजकी आर्थिक-सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितिका प्रभाव भी इनपर पड़ा था। पर्यटन द्वारा ज्ञान प्राप्ति का मार्ग भी उन्होंने खोल दिया था।

शंकरदेवका आदर्श ग्रंथ था श्रीमद्भागवत। उसके अनुवादमें उन्होंने स्वतन्त्रता ली। कुछ जटिल तथा तात्त्विक बातोंको उन्होंने छोड़ दिया या संक्षेपन किया। परन्तु कहीं-कहीं नयी सामग्री भी जोड़ी। अपने मतानुसार ऐसे परिवर्तन बहुत स्थानपर दिखायी पड़ते हैं :

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इये तिनि जाति,  
नुशुन्निवे हरि भक्तिक कान पाति  
शूद्र सब अनेक कैवर्त आदि करि  
अन्त्यज पर्यन्त भाषिवेक महाहरि।  
अप्रयासे लभिन ईश्वर महाज्ञान।  
एतेके कलित शूद्र कैवर्त प्रधान॥

मूल भागवतके विपरीत छोटी-छोटी जातियोंकी गरिमा ही इसमें गायी गयी है। शंकरदेवके अनुसार कलि कालमें ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य हरिभक्तिके विपरीत आचरण करेंगे और शूद्र-कैवर्त आदिही ईश्वर-भक्ति का महाज्ञान प्राप्त कर उच्च स्थान प्राप्त करेंगे। जहां भागवतमें इनके इस कर्मको कलि-कालका अधर्म कहा है—वहां शंकरदेवने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। असमकी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिका भी चित्र इस अवसरपर खींचकर शंकरदेवने कहा है कि उच्च कुलके लोग धर्मके नामपर नीच काम करते हैं, भगवान्‌के नाम हंस-छाग बलि देते हैं।

डॉ. गोहांइने जनजातीय रीति-रिवाजको किस प्रकार एक शृंखलित समाजके गठनके रूपमें शंकरदेवने ग्रहण किया उसका भी वर्णन किया है। इस प्रकार शंकरदेवीय यानी महापुरुषीया समाज-जीवनके गठनमें कितन-कितन समाजोंसे सामग्री इकट्ठी की है, उसका यथातथ्य वर्णन इसमें किया गया है।

उल्लेख करना उचित होगा कि सूर-तुलसी-कबीर की भांति शंकरदेव केवल एक भक्त या कवि नहीं थे। वे समाजको आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे आगे ले जाना चाहते थे। शंकरदेवके समाज संगठनके प्रयत्नों को देखकर उस कालके सत्ताधिकारी भी डर गये थे, कारण राजाके शासनमें प्रजा विपन्न थी—किन्तु शंकर के शासनके प्रजा निरापद थी। इसी कारण किन्हीं राजाओंने शंकरदेव तथा उनके अनुयायियोंका उत्पीड़न किया तो किन्हीं राजाओंने अपनेको वैष्णव मतका पोषक घोषित किया था।

शंकरदेव या माधवदेवने कभी-कभी राज्याश्रय लिया अवश्य था किन्तु राजानुग्रह कभी नहीं लिया था। महाराज नरनारायण द्वारा दिया हुआ तीर्थ-यात्रा खर्च या महाराज द्वारा सौंपा गया सोनेका 'दंगला' प्रत्याख्यान कर दिया था। माधवदेवने इस प्रकार आया हुआ धन यह कहकर ठुकरा दिया था कि प्रजाके शोषण द्वारा यह सामग्री प्राप्त की गयी है। माधवदेवने जात-पातके भेदकी कड़ी निन्दा करते हुए कहा था कि जिन लोगों को हम अछूत जीवन जीता देखते हैं वह परिवेश—धन्य है—जन्मतः सभी मनुष्य हैं।

डॉ. गोहांइने अत्यन्त खेद प्रकट किया है कि महापुरुषोंने जो आदर्श यहां प्रस्तुत किया था उसे आगेके संतों



तथा सन्तों (मन्दिरों) ने भ्रष्ट कर दिया। ब्राह्मणधर्म द्वारा अनुमोदित जातिभेद तथा सन्तोंके नाम शोषण पुनः प्रवर्तित हुए।

वास्तवमें इस ग्रंथने एक ओर तो महापुरुषीया सामाजिक परम्पराके फलस्वरूप इस आदिवासी प्रधान समाजमें आये परिवर्तनको दर्शाया तो दूसरी ओर उसका

भावी रूपभी स्पष्ट किया। ग्रंथकी सबसे बड़ी विशेषता है भारतीय आध्यात्मिक तथा आर्थिक समाजके साथ असमके समाजके समीकरणको स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित करना। राष्ट्रीय एकताकी दृष्टिसे भी ग्रंथका महत्त्व स्पष्ट है। □

## उड़िया : काव्य

### संवेदनशीलता और बिम्ब-प्रस्तुतिका संकलन

#### नई आर पारि

कवि : भानुजी राव

समीक्षक : तारिणीचरणदास 'सच्चिदानन्द'

नई आर पारि (नदीके आर पार) कवि भानुजी रावकी ३४ कविताओंका एक लघु संकलन है। संकलनकी अन्तिम कविताके नामसे यह नामित है। श्री रावसे पूर्व गत वर्षोंके पुरस्कृत कवि भी बिम्बवादी ही थे। आद्य बिम्ब (आर्किटाइप), मिथक, रूपक तथा बिम्ब या रूप-कल्प पर उनकी कविताएं आधारित थीं। आधुनिक भारतीय कविताका यह दुर्भाग्य है कि वह अपनी परम्परापर अवलम्बित नये प्रयोगों द्वारा विश्व-साहित्यके क्षेत्रमें अपनेको प्रतिष्ठित नहीं कर पाती, पिष्टपेषण तथा अनुकरणपर जीती है। मौलिक प्रयोगों के बावजूद उड़िया कविताभी इससे मुक्त नहीं है।

१९५५ ई. में सर्वप्रथम "नूतन कविता" नामक जो संकलन निकला उसमें गुरुप्रसाद महान्ति तथा भानुजी रावकी कविताएं सामने आयीं। यह दोनोंका सम्मिलित संकलन था। आज तारसप्तक-सा इसका एक ऐतिहासिक मूल्य बन गया है। दोनों कवियोंने सच्चिदानन्द राउतरायके घेरेको तोड़कर उड़िया कविताको आगे बढ़ानेका प्रयत्न किया था एवं वे पाश्चात्य बिम्बवादियों द्वारा प्रभावित थे। जहां गुरुप्रसाद

महान्ति 'दि वेस्ट लैण्ड' की छाया लेकर "काल पुरुष" नामक दीर्घ कविताकी रचनाकर प्रसिद्ध होगये, वहां भानुजी राव देरसे सामने आये। गुरुप्रसाद महान्तिके बाद आद्यबिम्ब, मिथक तथा बिम्बके प्रयोक्ताके रूपमें सीताकांत महापात्र एवं वैयक्तिक प्रतीक तथा मिथकके नवीनीकरणके लिए रमाकांत रथ सुप्रसिद्ध हैं। यों देखा जाये तो भानुजी रावकी काव्य साधना व्यापक नहीं है, परन्तु उनकी अपनी विशिष्ट कथन-भंगिमा अवश्य है। इसके प्रमाण उनकी 'विषाद एक ऋतु' तथा 'नई आरपारि' रचनाएं हैं।

'नई आर पारि' कविताओंको सामान्यतः, हम पांच भागोंमें बांट सकते हैं। यथा :—(१) परिवारिक स्मृतिकी कविताएं (२) प्राकृतिक संवेदनाकी कविताएं (३) सामाजिक अनुभूतिकी कविताएं, (४) दार्शनिक कविताएं तथा (५) अस्तित्ववादी कविताएं। इनमें से मां और दादाकी स्मृति संबंधी कविताएं सुन्दर बन पड़ी हैं। जिन कविताओंमें ग्राम्य तथा शहरी रूपकल्पोंका प्रयोग किया गया है वे ससार न होते हुए भी सुन्दर लगती हैं। जैसे—

'प्रकर'—नवम्बर '९०—१२



ठीक उसी समय केवटके जालमें  
स्वप्नकी मछलियाँ चमचमातीं  
और पेटमें सीपियोंके  
बंध जातेहैं मोती ! (पृष्ठ-२)  
बाहर चमगादड़के डैने-सा

लटकाहै अंधेरा...

मौलसिरीके फूल बिखरेहैं घासपर  
बनकर पीले, टीससे—  
(पृष्ठ-५)

अगर मर गई रात तो  
उसे ले चलूंगा हाथ खींचे रिक्शेपर लाद  
दुखके हरिश्चन्द्री घाट तक,  
(पृष्ठ-३२)

आलोच्य संकलनकी कुछ कविताओंमें समसाम-  
यिकता तथा दार्शनिकताकी भी झलक मिलतीहै।  
बामेसबु (हम सब) कवितामें कविने स्वतंत्रता  
बान्दोलनकी झांकी प्रस्तुत कीहै और आधुनिक भारत  
की दुर्दशापर व्यंग्य कियाहै। 'महापृथ्वी' कवितामें  
परमाणु सम्बन्धी भयके संकेत हैं। "फूल" तथा "नदी  
के शर पार" जैसी कविताओंमें दार्शनिकताके स्वर  
सुनायी पड़तेहैं। अंतिम कवितामें कवि एक ईसाईका  
सा सपना देखतेहैं कि एक दिन वे ईश्वरके बगीचेमें  
अवश्य पहुंच जायेंगे।

अधिकांश कविताओंमें कविकी अवदमित कुण्ठा,

यौन अभिव्यंजना, बेफिक्री तथा असंयत भावनाएं ही  
सामने आतीहैं, जो उन्हें अस्तित्ववादी दर्शनके  
निकटतर बना देतीहैं। "ठीक खराबेले" (दुपहरमें)  
"शब्दर चढ़ेई" (शब्दकी चिड़िया) इसके उदाहरण  
हैं। कवि शब्दोंमें भी रतिक्रिया देखतेहैं—वेश्यागामी  
कविके झोलमें सृजनशील कविताका संदर्शन  
करतेहैं (जो कि अस्तित्ववादी लक्षणोंसे मुक्त नहीं है)  
दुपहरवाली कवितामें अमीरखाँकी दुपहरमें सड़कपर  
लुंगी उठाकर पेशाब करनेकी चाह लापरवाही अथवा  
मुक्तता अवश्य हो सकतीहै, पर कविता नहीं।

इस प्रकार देखा जाये तो इस संकलनमें कोई भी  
स्वर बुलंद नहीं है, इसमें न तो आद्य बिम्बकी परा-  
काष्ठा है न मिथककी प्रचुरता, न रूपक अथवा प्रतीक  
का प्राधान्य—केवल है कुछ बिम्बोंकी प्रमुखता। पुनः  
न इसकी अनेकतामें कोई बलिष्ठ एकता है न कोई एकाध  
कविता ही सर्वश्रेष्ठ हैं। परन्तु भिन्न कथन-रीतिका  
प्रयास अवश्य है। अतः यह कहाजा सकता है कि यह  
कृति पुरस्कृत बिम्बवादी संकलनोंमें सबसे कमजोर  
कड़ी है जिससे कि पाश्चात्य बिम्बवादको प्राधान्य देने  
वाली प्रवर समितिकी अपनी कमजोरी ही दिखायी  
देतीहै। अंतमें यह सोचनेकी बात है कि पाश्चात्य  
कविताके ढहते बिम्बवाद तथा रुग्ण अस्तित्ववादके  
घेरेमें आवद्ध भारतीय कविता कबतक जीवित रह  
सकेगी ? □



**कन्नड़ : निबन्ध-संकलन**

# साहित्य-कला-संस्कृति एवं समसामयिक घटनाओंसे सम्बद्ध पत्रकारितापरक निबन्ध सम्प्रति

**लेखक : डॉ. हा. या. नायक****समीक्षक : डॉ. शरेशचन्द्र चुलकोमठ**

‘सम्प्रति’ डॉ. हा. या. नायकके, प्रसिद्ध कन्नड़ पत्रिका ‘प्रजावाणी’ में लिखे स्तम्भ-लेखोंका संकलन है जिसका प्रकाशन सन् १९८८ में हुआ। केन्द्र साहित्य अकादमीने इसे पुरस्कृतकर स्तम्भ-लेखनको साहित्यिक मान्यता दी है। यह लेखक श्री नायकके लिए ही नहीं कन्नड़ साहित्यके लिए भी गौरवकी बात है। पाश्चात्य देशोंमें स्तम्भ-लेखक साहित्यिक क्षेत्रमें ही नहीं सामाजिक-राजनीतिक जीवनमें भी प्रमुख भूमिका निभाता है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याओंपर उसकी दृष्टिका सम्मान किया जाता है। किन्तु भारतमें तथाकथित लोकतंत्रीय व्यवस्थामें अभिव्यक्तिकी स्वतंत्रता किन्हीं राजनीतिक दबावोंके कारण कुण्ठित होते हुए भी इधर कुछ वर्षोंसे निर्भीक वक्तव्य प्रकाशित होते रहे हैं। पत्रकारिताके विकासकी दृष्टिसे इनका महत्त्व है। आलोच्य ग्रन्थकी उपादेयताको भारतीय पत्रकारिता और कन्नड़ साहित्यकी परम्पराके संदर्भमें रेखांकित करते हुए कन्नड़के प्रख्यात लेखक डॉ. शंकर मोकाशी पुणेकरने लिखा है कि “आजका समय बड़ा उद्वेगकारी रहा है। डॉ. हा. या. नायकजी जैसे सुसंस्कृत, संवेदनशील चिन्तक द्वारा ओजस्वी शैलीमें लिखे स्तम्भ-लेख लोकप्रिय हुए हैं, तो यह स्वाभाविकही है। आजके इस कोलाहलभरे युगमें भी उन्होंने लेखनमें जो संयम बरता है वह उनकी एक अपूर्व सांस्कृतिक देन है। कन्नड़ की पत्रिकाओंकी परम्परामें संयम और निष्पक्षता बरतनेकी प्रवृत्ति पहलेसे ही बनी रही है। मास्ति, डी.वि. जी., ति. ता. शर्मा आदिने इस परम्पराकी रक्षा की। इसे आजके संक्रमण कालमें आगे ले जानेका श्रेय नायकजी

को मिलना चाहिये। ..... अंग्रेजी और मुझे ज्ञात भारतीय भाषाओंकी पत्रकारितामें सांस्कृतिक महत्त्व और साहित्यिक सौंदर्यसे युक्त नायकजीके स्तम्भ-लेख जैसे स्तम्भ विरलेही हैं। विषय-चयन, निरूपण और उसके प्रतिपादनमें वे अद्वितीय हैं।” (‘संप्रति’—फलपत्र)

डॉ. नायक कन्नड़के एक विद्वान् प्राध्यापक, वस्तुनिष्ठ आलोचक, निष्ठावान् अनुसंधित्सु, प्रबुद्ध शिक्षाविद् और इस सबसे बढ़कर एक बहुश्रुत चिन्तक हैं। कन्नड़की प्रमुख दैनिक पत्रिका ‘प्रजावाणी’ के रविवारीय अंकमें प्रति सप्ताह नायकजी नियमित रूपसे एक स्तम्भ लिखते थे जिसमें समकालीन परिवेशके संदर्भमें उभरी समस्या, चर्चित व्यक्ति या कृति, महत्त्वपूर्ण घटना, उल्लेखनीय समारोह आदिसे संबंधित व्योरेदार आलोचनात्मक टिप्पणियाँ होती थीं। प्रस्तुत ग्रंथ ‘सम्प्रति’ में सन् १९८५-८६के बीच प्रकाशित स्तम्भ-लेखोंको संकलित किया गया है। इसमें कुल १०३ लेख हैं। इनमें ४८ लेख साहित्यकार और कलाकारके व्यक्तित्व एवं कृतित्वसे संबंधित हैं तो ५ लेखोंमें उनसे संबंधित व ज्वलंत समस्याओंका विश्लेषण है, १४ लेख पुरस्कार, अकादमी और दूसरी संस्थाओंसे संबंधित हैं, तो ९ लेख भाषा और भाषा समस्याके बारेमें, १० लेखोंमें शिक्षा समस्याओंका अंकन है तो ५ लेख पत्रकार और पत्रकारितासे संबंधित हैं तथा १२ लेख विविध सामाजिक राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय विषयोंको लेकर लिखे गये हैं। स्पष्ट है कि अधिकांश लेख साहित्य और साहित्यकार, कला और कलाकार तथा इनसे संबंधित किसी समस्या पर लिखे गये हैं। फिर भी मात्र साहित्य या कला



संबंधी आलोचना इनकी सीमा नहीं है। अर्थात् लेखकने इनकी चर्चाके माध्यमसे मनुष्यकी प्रवृत्तियों और उनके परिवेशको विस्लेषित किया है, मनुष्यकी शक्ति एवं सीमाओंका रेखांकन किया है, उसकी आस्थाओं और विश्वासोंको उजागर करते हुए मानवीय मूल्यों, आदर्शों तथा जीवन-यथार्थको अंकित किया है। इस प्रकार इन लेखोंके केन्द्रमें मानवीय मूल्य हैं।

तबोंके केन्द्रम मानवीय धर्म के लिए।

साहित्य और कलासे संबंधित लेखोंमें लेखकने ज्ञान-पीठ और अकादमी द्वारा पुरस्कृत कई कृतियोंकी मूल-संवेदनाको पहचाननेका प्रयास किया है और किन्हीं साहित्यकारों तथा कलाकारोंके रेखाचित्रभी प्रस्तुत किये हैं। इनमें कई संस्मरण हैं और कुछ श्रद्धांजलियां। इनका कथ्य कुछभी हो, कला और साहित्य संबंधी कुछ मौलिक बातें इनमें अवश्य होती हैं और अन्तमें मानवीय मूल्योंपर बल दिया जाता है। लेखकने इन्हें परम्परा और परिवेशके परिप्रेक्ष्यमें रखकर सार्थक विदुओंका आकलन किया है, तथा उनकी उपादेयता स्थापित की है। कृतियोंके चयनमें और व्यक्तियोंके चुनावमें भाषा, प्रदेश आदिका बंधन तोड़ दिया है। कन्नड़के अलावा गुजराती, बंगला, मलयालम, तमिल, तेलुगु आदि भाषाओंके साहित्यकारों और उनकी कृतियोंकी महत्ता अंकित करते हुए यह विचार प्रकट किया गया है कि विभिन्न भाषाओं के साहित्यसे परिचित हुए बिना भारतीय साहित्यकी भावधाराको उसकी संपूर्णतामें आत्मसात् नहीं कर सकते और अपनी निजी भाषा और साहित्यको विकसित नहीं कर सकते। जिन साहित्यकारों, कलाकारों और उनकी कृतियोंकी चर्चा की गयी है उनमें प्रमुख हैं—कन्नड़के लेखक मास्ति, त. रा. सु., कारंत, गोकक, गोपाल कृष्ण अडिग, रावबहादुर, गुंडप्पा, निरंजन, व्यास राय बल्लाल, गुरुनाथ जोशी, गुजरातीके उमाशंकर जोशी, पन्नालाल पटेल, बंगलाके श्रीरेन्द्र भट्टाचार्य, तमिलके जयकांतन, मलयालमके शिवशंकर पिल्लै आदि। लेखक ने रक्मिणीदेवी अरुंडेल, कन्नड़के फिल्म कलाकार उदयकुमार आदि कलाकारोंकी देनको रेखांकित करते हुए उनके प्रति आदर भाव प्रकट किया है। कमलादास की जीवनी, शिवाचार्य स्वामीजीकी डायरी 'आत्म-निवेदन' आदि रचनाओंके विशेष महत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। लेखकने इन कलाकारों और लेखकों और कृतियोंको महान् सिद्ध करनेका प्रयास नहीं किया अपितु वे जिस धरतीकी उपज हैं उसकी विशेषताओंको महत्त्व

चानने और उनकी जड़ें कितने गहरेमें उतरीहैं उसकी नाप-तोल करनेका प्रयत्न कियाहै। एक लेखमें कन्नड़की एक मुस्लिम लेखिका सारा अबूबकरके संदर्भमें लेखकने साम्प्रदायिक शक्तियोंकी मूढ़ता एवं अमानवीयताका खंडन करते हुए टिप्पणी कीहै कि “परमात्मा, धर्म, जाति आदि विषयोंके संबंधमें लोग क्षुब्ध हो उठतेहैं वे अपने (तथाकथित) ‘पवित्र’ विश्वासोंकी ‘मलिन’ देखनेके लिए तैयार नहीं होते। उनका अपना विश्वास पवित्र है। कोई उसका स्पर्श तक न करे।” (पृ. १४)। यही सामाजिक विघटनका कारण बन जाताहै। ‘एक योगीकी आत्मकथा’ का उल्लेख करते हुए लेखकने कहा है—“‘योगीकी आत्मकथा’ एक हृदयका शिलालेख है। आज जिन्हें योगी माना जाताहै। वे सड़कोंपर घूमनेवाले जादूगर बने हुएहैं। ऐसी स्थितिमें परमहंस योगानन्द जैसोंको मान मिलना कठिन है। किन्तु अनुभवोंकी कोई सीमा नहीं है।” (पृ. ६३)। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके प्रति नायकजीका विशेष आदर रहाहै। रवीन्द्रपर बहुत कुछ लिखा गयाहै। रवीन्द्रको देखनेकी नायकजीकी अपनीही एक दृष्टि है। उनका विचार है—“दिल तोड़नेवालोंसे भरे इस युगमें दिलों को जोड़नेवाली चमत्कारिक शक्ति ठाकुरजीकी रचनाओंमें है। आज प्रतिदिन दीवारोंको खड़ाकर देनेवाली प्रवृत्ति बढ़ती जा रहीहै ऐसेमें विश्वमानवताका घोष करनेवाले विचार उनमें हैं। विश्व विनाशके कगारपर खड़ा हो गयाहै। ऐसे संदर्भमें भी ठाकुरका काव्य आस्था जगाताहै। ‘हम अकेले हुए तो क्या सिर उठाकर जीना सीखनाहै’ यह कविका संदेश है। नायकजीने बहुत कम शब्दोंमें रवीन्द्रके समूचे काव्यका निचोड़ सामने रख दियाहै। और एक लेखमें नोबेल पुरस्कार विजेता नाईजीरियाके ओलो सोइंकाके व्यक्तित्व और कृतित्व का रेखाचित्र खींचाहै।

अकादमी, साहित्यिक संस्था, पुरस्कार आदिसे संबंधित लेखोंमें नायकजीने किन्हीं महत्त्वपूर्ण समस्याओं को खोलकर रखनेका प्रयास किया है, साथही उन्हें सुल-ज्ञानमें विभिन्न संस्थाओंकी जो भूमिका रही है उसपर भी प्रकाश डाला है। अंतर्राष्ट्रीय लेखक संघ 'पेन्' (पी. इ. एन.) को उन्होंने एकताका मंच माना है। राष्ट्रके सर्वोच्च पद ग्रहण करनेवाली मार्गरेट थ्याचार जैसी महिलाको मानद डाक्टरेट उपाधि देनेसे मना करने वाली आक्सफोर्ड शैलीकी भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए



लेखकने वहाँके बुद्धिजीवियोंकी निर्भीक स्वतंत्र मनो-वृत्ति एवं साहसिकताकी सराहना की है। अकादमीकी पुरस्कार योजनाकी महत्ता अंकित करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि मात्र पुरस्कार योग्यताका मानदंड नहीं है। 'पेंग्विन' पुस्तक प्रकाशनकी उपादेयताको बड़ी सुन्दर शब्दावलीमें प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—“ज्ञान का सागर बड़ा विशाल है। सागरका पंछी पेंग्विन पंखों को खोलते हुए हमारी तरफ भी कुछही छोटे छिटका रहा है—यह हमारा सौभाग्य है।” (पृ. १३७)। ऐसे उद्गारोंसे इनके लेख अत्यन्त सरस बन पड़े हैं। और एक लेखमें विश्वविद्यालयोंकी बढ़ती संख्या और शिक्षा के घटते स्तरपर चिंता प्रकट करते हुए नायकजीने शिक्षा-पद्धतिमें आमूल परिवर्तन करने और उसे 'जीवन शिक्षण' का रूप देनेकी बातपर बल दिया है। राष्ट्रीय पुस्तक-नीतिपर विचार करते हुए उन्होंने ऐसी योजनाओंका उल्लेख किया है जिनके अनुष्ठानसे भारतीय भाषाएं समृद्ध हो सकती हैं और उनमें उच्च शिक्षा प्रदान करनेकी सामर्थ्य आ सकती है। फलतः एक नयी संस्कृति का उदय होगा, वह है 'पुस्तक-संस्कृति'।

भाषा और भाषा-समस्याको लेकर लिखे गये लेखों में 'लोकसभा'—'लोकभाषा' उल्लेखनीय है। इसमें वर्तमान संसदीय व्यवस्थाके कार्य-विधानकी आलोचना की गयी है। लेखकका यह निष्कर्ष सही है कि—“जबतक हमारी सभी भाषाएं लोकसभामें प्रवेश नहीं करेंगी तबतक लोकसभाके कार्यकलापोंको अधूरा ही समझना चाहिये। लोकसभामें हमारी सभी भाषाओंकी अनुगूँज सुनायी देनी चाहिये। उसे संभव बनाना हमारे सांसदोंका कर्तव्य है। कर्नाटकके सदस्य कन्नड़में बोलते समय उसे इतर चौदह भाषाओंके सदस्य अपनी-अपनी भाषा में सुननेमें समर्थ हों, ऐसी व्यवस्था करना भारत जैसे राष्ट्रके लिए बीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणकी इस घड़ीमें कठिन नहीं है।” (पृ. २३)। 'कन्नड़: अंग्रेजों की शासन-भाषाके रूपमें' शीर्षक लेखमें लेखकने इस भ्रमका निवारण किया है कि अंग्रेजोंने भारतीयोंपर अंग्रेजी भाषा थोपी है। इसके लिए उन्होंने कर्नाटकका उदाहरण दिया है। “हमारे देशके लिए अनेक भाषाओं की आवश्यकता नहीं है। दो या तीन भाषाओंसे काम चल सकता है”—तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधीके इस वक्तव्यका खंडन करते हुए अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया है कि—“भारतके राष्ट्रीय जीवनकी महा-

नता और सांस्कृतिक गरिमा प्रादेशिक गरिमा प्रादेशिक विविधता और देश-भाषाओंकी संपदाके कारण है। इसके बिना भारतका अस्तित्व नहीं है। इस सत्यको आत्मसात् किये बिना सशक्त भारतका निर्माण असंभव है।” (पृ. १६५)। भाषा संबंधी इन लेखोंमें हिन्दीको हिन्दीतर भाषाभाषियोंपर थोपे जानेवाली नीतिका डटकर विरोध करते हुए कहीं-कहीं तमिलवालोंकी भाँति हिन्दीका खंडन करते हैं। फिरभी उसके पीछे भाषान्धता नहीं है और न ही प्रादेशिकताकी संकीर्ण मनोवृत्ति, बल्कि अपनी निजी भाषाके संरक्षणकी गहरी चिन्ता है। वे पूर्वाग्रह पीड़ित नहीं हैं, यह कथन इस बातका प्रमाण है कि—“प्रत्येक राज्यमें वहाँकी भाषा ही प्रथम स्थानपर रहनी चाहिये। संपर्क भाषाके रूपमें मात्र हिन्दी होनी चाहिये—यह सूत्र कितना सरल और सहज ! हिन्दीवाले इसे क्यों नहीं मानते ? अहिन्दी प्रदेशमें भी हिन्दी प्रधान भाषाके रूपमें क्यों रहनी चाहिये ?” जिस संदर्भमें यह प्रश्न उठाया गया है उसे देखते हुए इस प्रश्नको अनुचित नहीं कहा जा सकता।

कुछ लेखोंमें लेखकने शिक्षा-पद्धति और शिक्षा-समस्याओंपर प्रकाश डालते हुए हमारी रोगग्रस्त शिक्षा-व्यवस्थाके घृणित रूपको दर्शाया है। आज भारतमें शिक्षा बिकाऊ चीज बनी हुई है। मेडिकल और इन्जीनियरिंगकी सीटें तो बिकती ही हैं; किंतु शिशु विहारमें बच्चोंको प्रवेश दिलानेके लिए शुल्क देना पड़ता है। लेखकने अभिशप्त शिक्षा पद्धतिको उखाड़ फेंकने और एक स्वस्थ शिक्षा-पद्धतिकी स्थापना करनेपर बल दिया है। किस प्रकार जाली डिग्रियां बांटी जाती हैं, इसका एक उदाहरण 'पी-एच. डी. ईष्ट जाँजिया' शीर्षक लेख में दिया गया है। काँग्रेस (आई) की महिला सांसद ममता बनर्जीने तथाकथित ईष्ट जाँजियाकी पी-एच. डी. उपाधि जो हासिल की है इस संबंधमें पर्याप्त गरमा-गरम चर्चा हुई थी कि उस नामका कोई विश्वविद्यालय है ही नहीं। अन्य कई लेखोंमें कुछ आदर्श संस्थाओं की सेवाओंका विवरण भी दिया गया है। लेखकने 'गुजरात विद्यापीठ' को एक आदर्श संस्था माना है। जहाँ कन्नड़ और अन्य भाषाओं और उनके साहित्यका अध्ययन-अध्यापन हिन्दीके माध्यमसे किया जाता रहा है। हाँ, यह सही है कि भारतकी एकताको स्थायित्व प्रदान करनेकी दिशामें ऐसी संस्थाएं क्रियात्मक भूमिका निभा



पत्रिका और पत्रकारों के संबंध में लिखे पांच लेखों में लेखकने भारतीय पत्रकारिता के परिदृश्य को प्रस्तुत करते हुए अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है। विश्व भर की पत्रकारिता की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह आशंका व्यक्त की है कि अमरीका जैसे विकसित देशों में भी पत्र-पत्रिकाएं सरकार के शिकंजे में जकड़ती जा रही हैं। पूर्व यूरोप और विकास-शील देशों में तो पत्रकारिता पूर्ण रूप से सरकार के वश में है। भारत के संदर्भ में पत्रकारिता की विफलता रेखांकित करते हुए उसके कारणों की खोज भी की गयी है। उन्होंने बड़े सटीक ढंग से पत्रकारों की प्रवृत्तिका विश्लेषण किया है कि—“विरोध को प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करने में ही नहीं अपने कर्तव्य-पालन में भी पत्रिकाएं विफल रही हैं। इसका कारण यह है कि वे केवल आग को देखती हैं, प्रकाश को नहीं। पत्रकारों को यह जान लेना है कि पीला ही एकमात्र रंग नहीं है। गॉसिप में दिलचस्पी लेना, किसी के व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं का उल्लंघन करना, समाचारों का रहोवदल करना, सत्तारूढ़ पक्ष का खर बन जाना, कोलाहलों को मात्र महत्त्व देना, छोटे-छोटे स्वार्थों का शिकार हो जाना, ये बातें अधिकारों के छिन जाने में सहायता करती हैं। कर्तव्य पालन के बिना अधिकारों पर बल नहीं दिया जा सकता। पत्रकारिता भी इसका अपवाद नहीं है” (पृ. ३८)। भगवानदास गोयनका पुरस्कार से सम्मानित पत्रकार राजकुमार केशवानी की दूरदर्शिता एवं जनवादी प्रवृत्तिका विशेष उल्लेख करते हुए लेखकने उनकी कार्य-प्रणाली को अनुकरणीय माना है। केशवानी ने भोपाल गैस दुर्घटना घटित होने के बहुत पहले ही उसकी संभवनीयता पर सरकार को सावधान किया था। देश की अन्य प्रसिद्ध पत्रिकाओं ने उनकी इस चेतावनी की उपेक्षा कर दी थी। नायकजीने लिखा है कि पत्र-पत्रिकाएं मानवीय अधिकारों को सुरक्षित रखने वाली प्रहरी हैं।

अन्य विविध विषयों से संबंधित लेखों में ‘बात की मलिनता’ शीर्षक रचना लेखक के चिन्तन की दिशा को दर्शाती है। आधुनिक परिवेश में शब्द अपने अर्थ खो बैठे हैं। विशेषतः लोकतंत्रीय व्यवस्था में शब्दों का जो अवमूल्यन हुआ है वह पतनशील संस्कृतिका द्योतक है। भाषण, घोषणाएं, नारेबाजी, विधानसभाओं और लोकसभामें जिस प्रकार का खूब अपनाया जाता रहा है—वे सब इस बात के प्रमाण हैं। लेखक को ऐसा प्रतीत

होता है “आज शब्द-मालिन्य को मिटाना ही सबका लक्ष्य होना चाहिये। वही वातावरण को दूषित होने से बचा सकता है। उससे भी महत्त्वपूर्ण बात है इस देश के लोकतंत्र का मानवीय मूल्यों से संपृक्त होना। जब तक भ्रष्टाचार के फल-फूलों से स्वार्थों के धूप-दीप-नैवेद्य से बातों की आरती उतारकर लोकतंत्र की पूजा करते रहेंगे तब तक परिवर्तन एक स्वप्न है।” (पृ. ३) एक लेख में बीसवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक जिड्डु कृष्णमूर्ति की चिन्तनधारा के आधारभूत धरातल को उजागर करते हुए उन्हें मानव के नव-उद्धारक के रूप में चित्रित किया गया है। कृष्णमूर्ति ने मनुष्य को समस्त बंधनों से मुक्त हो जाने का संदेश देते हुए कहा है कि—“सत्य तक पहुंचने के लिए तैयार पथ नहीं मिलेंगे। किसी भी पथ से वहां तक पहुंचना संभव नहीं है। कोई पंथ और धर्म आपको वहां तक नहीं ले जायेगा... सभी पिंजरों से, भय से मुक्त करना ही मेरी अपेक्षा है, नये धर्म की स्थापना करना नहीं। मेरी एक ही चिन्ता है—मनुष्य को संपूर्ण रूप से बिना शर्त मुक्त करना।” (पृ. २४८)। कृष्णमूर्ति ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—कि ‘उनके हिस्से में बीता हुआ कल नहीं है’। नायकजीने इस कथन पर मार्मिक टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—“हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बीते हुए कल के बिना आने वाले कल का अस्तित्व नहीं है।” (पृ. २४८)। लेखकने ध्यान खींचने वाली बात कही है जो उनके निभ्रान्त वस्तुनिष्ठ चिन्तन का प्रमाण है। यूनेस्को के बारे में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि यह संस्था मानव-कुल के भविष्य के सपनों का आधार है। उसका सही सलामत बने रहना आवश्यक है। उन्होंने अन्य लेखों में पुलिस और जनता, पुरातन शिल्प-कृतियों आदिका संरक्षण, डाक की दुनियां इत्यादि विषयों को लेकर आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखी हैं।

इस प्रकार हा. या. नायकने अपने १०३ लेखों में, जो ४४६ पृष्ठों में फैले हुए हैं, जीवन के हर क्षेत्र से संबंधित समस्याओं पर अपना मौलिक चिंतन व्यक्त किया है। वे किसी विषय की पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद ही उसके पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। वे जिस व्यक्ति, संस्था, कृति या सिद्धांत की बात करते हैं—पहले उस सबसे संबंधित सारे तथ्यों का आकलन करते हैं, फिर विश्लेषण करते हैं और अंत में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए अपना निष्चित अभिमत अंकित करते हैं। युक्तियुक्त विचार



सबल तकं, निजी चिन्तन, मानवीय अनुकंपा, सरस, सहज और सुबोध अभिव्यंजना—ये उनके लेखनकी विशेषताएं हैं। इन लेखोंमें उनका जीवनके प्रति आस्था-वादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। मूल्योंके विघटनके इस घोर निराशावादी युगमें निःस्वार्थ सेवा, प्रामाणिकता, कर्तव्य-पालन, समर्पण, परदुःख कातरता आदि मानवीय मूल्य खंडित होतेसे दीख पड़ते हैं। परंतु नायकजीने इन लेखोंमें ठोस प्रमाणोंके साथ यह सिद्ध किया है कि मूल्योंके विघटनके घने काले बादलोंके बीचभी मूल्य बिजलीकी भांति कौंधकर आलोक विकीर्ण कर रहे हैं। प्रकाशकी हल्की-सी किरणभी मूल्यवान् होती है। आलोच्य ग्रंथमें संकलित लेखोंको पढ़नेपर मनपर यही प्रभाव पड़ता है। ये लेख चर्चित ही नहीं विवादास्पद भी रहे। कथ्य और शिल्पको लेकर कई आपत्तियां उठायी गयीं कि इन्हें साहित्यकी किस विधाके अन्तर्गत रखा जाये? वास्तवमें ये ऐसी रचनाएं हैं जिनमें निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, डायरी आदि सभी विधाओंके लक्षण पाये जाते हैं। नायकजीने इन्हें

एक विलक्षण आकर्षक स्वरूप प्रदान किया है। निस्संदेह ये लेख उनके बहुश्रुत होनेके प्रमाण हैं। कन्तड़के एक आलोचक डॉ. आमूरका यह कथन सटीक है कि “विषय के सभी विषयोंके बारेमें राजनीतिज्ञही पूरे अधिकारके साथ भाषण देनेका अधिकार रखनेवाले इस विपर्यस्त सांस्कृतिक संदर्भमें, भाषा, सत्यको सोनेके ढक्कनसे ढकनेवाला पात्र बनकर रह गयी है। इस स्थितिसे ऊपर उठकर जब एक चिन्तक समकालीन व्यक्ति और विषयों के बारेमें बड़े परिश्रम और चिन्तनसे अर्जित ज्ञानको जनसाधारणके साथ बांट लेता है तो वह विशेष महत्त्व का अधिकारी होता है। कुछ लोगोंके पास ऐसा ज्ञान संचित होनेपर भी उनमें उसे दूसरोंको देनेकी न ललक होती है और न ही अभिव्यक्ति कला” (फलैपर), नायकजीके व्यक्तित्वमें दोनों गुणोंका अपूर्व संगम हुआ है। ‘संप्रति’ एनसाइक्लोपीडियाकी तरह अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। अतः यह निजी पुस्तकालयका एक अनिवार्य अंग बन गया है। यही इसकी उपादेयता है। □

## कोंकणी काव्य

प्रवाहशील, भावावेश-नादसौन्दर्य-अर्थ-लयका एकरसात्मक काव्य

## सोश्याचे कान

कवि : चार्ल्स फ्रांसिस दिकोश्ता

समीक्षक : मोहनदास सो. सुलंकर

‘सोश्याचे कान’ श्री. चा. फ्र. दिकोश्ताकी प्रतिनिधि कविताओंका संकलन है। इस कोंकणी काव्यके पुरस्कृत होनेसे न केवल दिकोश्ता गौरवान्वित हुए हैं अपितु सारा कोंकणी साहित्य गौरवान्वित हुआ है। दिकोश्ता कोंकणी हृदयको मधुर रसानुभूतिसे विभोर करनेवाला एक प्रतिभासंपन्न कवि है। कोंकणी साहित्याकाशमें अपने अपूर्व तेजसे चमकनेवाला एक

नक्षत्र है।

दिकोश्ताके शब्दोंमें कहें तो कहना होगा—कोंकणी क्षेत्रको रस-विभोर करनेवाले हम कोंकणी बच्चे हैं।

‘सोश्याचे कान’ (खरगोशके कान) की कविताओं में मंगळूरी कोंकणी भाषाका पुट है; मंगळूरके लोगों के रहन-सहनका प्रभाव, वहाँकी प्रकृतिके सौन्दर्यकी छवि



उत्तर पर छाये हैं। कोंकणीके प्रसिद्ध कवि श्री मनोहर राय सर देसाईने दिकोशताकी काव्य भाषाका सही विश्लेषण करते हुए कहा है—

मंगळूरकी कोंकणी रूपी “कवये” (नारियल का छोटा पेड़) को अलग प्रकारकी खाद मिला है, अलग हवा मिली है और इसके कारण उसके फलोंका स्वाद भिन्न-सा हो गया है। यह भिन्नता होनेपर भी कोंकणी साहित्यमें अमूल्य वृद्धि करनेवाला यह कोंकणी काव्य है।

#### क्रांतिवादी विचार

श्री. चा. फा. दिकोशता क्रांतिकारी कवि हैं। सामाजिक परम्परा, धार्मिक रुढ़ियोंकी हर दीवारको तोड़कर नवसृजनकी ओर अग्रसर होनेवाला वह कवि नहीं चाहता कि वह बंधे हुए मार्गपर चले। अपितु नवसमाज निर्माण करनेवाली नयी राहपर चलनेके लिए प्रयत्नशील हैं।

“हाड चेडवा बुडकुलो” कवितामें धार्मिक तथा सामाजिक चौखटको तोड़नेका प्रयास दिखायी देता है। प्रेमी-प्रेमिका काजूके बागमें विवाहके लिए वचनबद्ध हैं। विवाहके रीति-रिवाजोंके झमेलेमें पड़कर कवि अपने प्रेमकी अवमानना करना नहीं चाहता। कविका कहना है कि हमारा प्रेम अमर होजाये।

“रिवाजों ची तकली तिणें भेंतू गो” में वह नहीं चाहता कि ‘पादरी’ चिट्ठी पढ़े माता-पिता मंडप बनायें। यह भी नहीं चाहता कि विवाहके लिए सगे-सम्बन्धियोंकी भीड़ जुटे, वह पत्नीको मंगलसूत्र बंधवाना नहीं चाहता, वह अलंकार-शृंगार कुछ नहीं चाहता।

“करिमभणी बांदीना, भांगर शिगार घालीना,

पेपा भाचो सादना, आपल्या पेल्या वाद ना”

एक और कविता है—“काळजांत दवर” आदमी के मरनेके बाद अनेक रीतियां संपन्न की जाती हैं, मृत देह को फूलोंसे सजाना, मोमबत्तियां जलाना, स्थितिके अनुसार कीमती पेटियां बनवाना वाजे बजाना आदि। कवि पूछता है—वाती कित्याक ? वाजपां कित्याक ? कित्याक भांगरा पेटों ?

बोंदर कित्याक, वादपां कित्याक ?

कित्याक लोका खेटी ?

कवि कहता है कि यह मिट्टीसे बना शरीर मिट्टीमें ही मिल जायेगा।

“क्रिस्तांव” कवितामें दिकोशता एक यथार्थका चित्र खींचते हैं और क्रांतिकी भावना पैदा करते हैं। परिवारमें माँ सभीके लिए मरती-खपती है, परंतु अनेक प्रकारके अभावोंसे त्रस्त रहती है। पिता रातदिन कष्ट उठाता है पर परिवारकी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाता। बच्चा दुःखी है कि पेट भर खाना नहीं मिलता।

चारों ओर दुःखोंसे घिरा होनेके कारण ख्रिश्चन-धर्मी दुःखियोंके दुःखकी ओर ध्यान नहीं दे पाता। वह हाथमें मोमबत्तियां लेता है, मुरझाए हुए चार फूल लेता है और राह भर यही कहता चलता है “जल्दी मर जाओ, मैं तुम्हारा दफन करूंगा।” दिकोशता ख्रिश्चनधर्मी व्यक्तिपर इस प्रकारका व्यंग्य करनेसे चूकता नहीं।

#### दर्शन

दिकोशताकी कविताओंमें दार्शनिक विचारों की झांकी मिलती है। सरल छोटे प्रसंगोंका वर्णन करते करते कवि जीवनकी गहराईमें जाता है दार्शनिक विचारोंको व्यक्त करने लगता है। अनजानेही कवि जीवनके अपरोक्ष सत्यकी ओर इंगित करता है।

“थेंबे, दोन बुडबुडे, मिठाकण, एका भात्याक तुप्यालागी, सर्गावियली पिरंगण” आदि कविताएं कविके चिन्तनका निचोड़ हैं। “थेंबे” (बूंद) कवितामें यह बताया गया है कि ज्ञान और विद्वत्ताही सब कुछ नहीं है। किसी विद्वान् व्यक्तिको लक्ष्यकर कवि कहता है—“तू ज्ञानका भण्डार है, बहुत विद्वान् है, पढ़ा-लिखा है परंतु इससे संसार आगे नहीं बढ़ा है; संसार जहाँका तहाँ है। “पोथी पढ़ी पढ़ी जग मुआ” कबीर की इस उक्तिके अनुसार पालनेसे निकलकर श्मशानतक पहुंच गया है। ज्ञान प्राप्त करनेपर भी इस जीवन को कविने भीतरसे रिक्त कहा है। प्रेम धाराकी एक बूंद या आत्माका बूंद जीवनको बनाती है। “दोन बुडबुडे (दो बुदबुदे) कविता जीवनकी नश्वरताकी ओर संकेत करती है।

इस कविताका आशय है—साबुनके फेनसे दो बुदबुदे उठे—एक स्त्री थी और एक पुरुष। दोनोंमें आत्मीयता हुई। वे निकट आये। गले मिले, परंतु गले लगतेही फूट गये।

कविकी कविताओंमें दार्शनिक पुट हो या वे प्रेम भाव से भरी हों, कविने इनमें प्रतीकोंका उपयोग किया है।



प्रतीकोंके कारण दिकोशताकी कविताओंमें अनुपम सौंदर्य आ गया है, कविकी भाषाभी प्रभावशाली हो गयी है।

‘दोन बुडबुडे’ कवितामें बुडबुडे नश्वरताके प्रतीक हो गये हैं।

‘एकाभाताक तुप्यालागी’ कवितामें चींटी और जुगनूको प्रतीक बनाकर अपनी बात कहता है। ‘ऊर्जा’ कवितामें प्रेमकी उत्कटता आगको प्रतीक बनाकर व्यक्त हुई है।

### प्रकृति वर्णन

दिकोशताकी कई कविताओंमें प्रकृतिका मार्मिक वर्णन है। स्पष्ट है कि कविने प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। साथही कविको प्रकृतिके प्रति अनुराग है। वैसे तो कोंकण प्रदेश प्रकृतिकी गोदमें ही पला है, फूला है। फिर कोंकणका कवि प्रकृतिसे कैसे दूर भाग सकता है? एक स्थानपर कवि कहता है—

“निरास नाका उधड़ दोळे सैमा सोभाय पळे।”

इस पंक्तिमें कविका प्रकृतिके प्रति उत्कट प्रेम अभिव्यक्त होता है। कवि आंखें खोलकर प्रकृतिकी शोभा देखनेको कहता है।

जहां कहीं प्रकृति-वर्णन हुआ है वह प्रकृति-वर्णन के लिए प्रकृति-वर्णन भावसे नहीं हुआ है। अधिकतर वर्णन आलंबनके रूपमें आया है। उदाहरण है :

“हांमा हाशांक फुला फुलतीत  
रडण्याक मळबा रडटीत”

इन पंक्तियोंमें मनुष्यके सुख-दुःख भावको प्रकृतिके साथ जोड़ दिया है। जैसे यहांकी हंसी-खुशीमें फूल बरसेंगे, रोनेमें आकाश टपटपायेगा।

वैसे तो उनकी प्रत्येक कवितामें प्रकृति झांकती रहती है। परन्तु उनकी कुछ कविताएं प्रकृति-वर्णनके सुंदर उदाहरण हैं। ‘उमो’ कवितामें प्रकृतिका अप्रत्यक्ष रूप से आकर्षक वर्णन किया गया है—

“पुन वेच्या चांदण्यात चावकांच्यो सावळ्यो चोय-ल्यांत केदी

कैसांच्यो राशी पिसुडटात जश्यो डगोवंच्या  
आदीं।”

“थंडे सृत्या मळबाचे उबेले पोले”, “तरनाटे सांजेर दयचे वेळेर” जैसे प्रयोगसे प्रकृतिको मानव रूपमें चित्रित किया है।

इन कविताओंमें खेत, मैदान, पहाड़-पर्वत, नदियां-

‘प्रकर’—नवम्बर’९०—२०

सागर, जंगल वन, बगीचे, फल फूल, भोर-प्रभात, सांझ-रात आदि सभीका समावेश है।

“रानां, बना खडवां, झिरयो विशेव दिवंचे मळे”  
दिकोशताकी कविताओंमें जीवनके अनेक रूपों विविध अनुभूतियोंको अभिव्यक्ति दी गयी है। कवि ने उनमें अनुभवोंका, अपने राग-अनुरागका, अपने विचारोंका पुट दिया है। श्री मनोहररायके शब्दोंमें दिकोशताके काव्यमें जीवनके अनुभवोंके रत्न चमकते हैं, प्रेमके फूलकी सुगंध मिलती है और अपमानकी वेदनाकी टीस उठती है।

मंगळूरके कोडियाळ गांवके बस प्रवासके विचित्र अनुभवोंका सरल भाषामें परंतु प्रभावी शैलीमें वर्णन हुआ है। “कोडियाळच्या बशीनी” कवितामें कवि कहता है—मैं जब कोडियाळकी बसमें प्रवेश करता हूँ तब मैं अपने बीबी-बच्चोंकी आशा छोड़ देता हूँ।

“हांव जेन्ना

कोडिया कच्या बशीनी चडटां

मृज्या भुर ग्यांचो

मृज्या बायलांची

मृज्या वालांची—

सगळ्यांची आशा सोडटां

कंडक्टरके व्यवहारका भी यथोचित वर्णन किया गया है। चढते समय जल्दी, जल्दी-जल्दी, चढ़नेके बाद पीछे, पीछे, पीछे—उतरनेके वक्त आगे, आगे, आगे इस तरह यात्रियोंको कंडक्टरका तकादा चलता रहता है। ‘किसीको तू कहाँ स्वर्गकी ओर देख रहा है? फटी हुई लुंगीवाले, किसे देख रहा है। हे हरी कमीजवाला पीछेकी ओर जा’ कंडक्टरकी इस प्रकारकी टिप्पणियाँ चलती रहती हैं। पीछेसे और एक बस आती है तो दोनों बसोंमें स्पर्धा शुरू होती है। कंडक्टर-ड्राइवर यात्रियोंको खचाखच भरते हैं, कि लोगोंको सांस लेना भी कठिन हो जाता है। भीड़में कौन कहां बैठा है, किसपर बैठा है, किसीकी एक पांवकी चप्पल गायब है तो किसीका और कुछ।

इस स्थितिका कविने जो शब्द-चित्र खींचा है वह देखने योग्य है।

कुल्याचो कुटो

हाडांचो पिटो

भाटी खाडकी

दांत हल कंदून

फुसफुसून गेले



काळगाच्या वियावरी !  
बीचमें बस जहाँ रुकतीहै, रुक ही जातीहै । कवि  
बसवालेसे पूछताहै, इतनी देर क्यों ? ऑफिस पहुंचना  
है। तो बसवालेका लड़का पास आकर टूट पड़ताहै—  
देर होतीहै, तो विमानसे जाओ, टैक्सी करो, जाओ  
निकल जाओ । सुनकर सब हंसतेहैं, हिजड़ोंकी तरह ।  
‘शेंडो’ कविताभी वर्णनपरक कविता है । महा-  
राष्ट्रीयपद्धतिसे स्त्रियां जो चोटी (केश रचना) बनातीहैं  
उसे शेंडो कहा गयाहै । कवि उसको दुधीके आकारका  
शेंडो कहताहै । वह पूछताहै उसमें क्या भराहै—नारि-  
यल ? रेती ? शराव ? अंतमें एक हलका-फुलका  
व्यंग्य करताहै—“ही बायल—ह्या शेडया जडाय  
कशी सोसता ?” (शेंडोका भार वह स्त्री कैसे वहन  
करतीहै ?)

जीवनमें चित्र-विचित्र अनुभव होतेहैं ।  
ऐसेही कुछ अनुभवोंका वर्णन, “कष्ट काळ” “आजूच  
तर्श” कविताओंमें कविने विशिष्ट काव्य शैलीमें किया  
है । कष्ट काळ कविताका भाव है कि हम किसी दुःखी  
या अभावग्रस्त व्यक्तिकी सहायता करनेका प्रयत्न  
करतेहैं परंतु उस दानका दुरुपयोग होताहै । किसीको  
प्यास लगी इसलिए पानी दिया परंतु उसने पानीका  
उपयोग मुंह धोनेके लिए किया । भूख लगी इसलिए  
बनाज दिया तो अनाजका उपयोग मुर्गियोंके लिए  
किया गया । इस प्रकारके अनेक उदाहरण कविने  
दियेहैं ।

“आजूच तर्श” में एक ऐसे स्वभावका दर्शन  
करायाहै जो वहाना बनाकर किसीको कुछ देना नहीं  
चाहता ।

घर आयी हुई मौसीसे वह व्यक्ति कहताहै तुम्हारे  
लिए मैंने तरह-तरहकी सब्जियां लगायीं पर खेतमें  
मियारोंके घुसनेके कारण कोई सब्जी हाथ नहीं लगी ।  
घर आये मित्रसे वह कहताहै मैं तुम्हें कितना  
कितना देता, मुर्गी, बियर, फेणी, पर अब क्या करूं  
बैब खाली है ।

घर आयी हुई प्रियासे कहताहै, मैं तुम्हें कितना  
प्यार करता, मैं तुम्हें छातीसे लगाता, चूम लेता, पर  
आज मेरी दाढ़ी बढ़ी हुईहै ।

“आडकुलो गो बुडकुलो” लोकगीतके आधारपर  
लिखी कविता है ।

आडकुलो गो बुडकुलो  
तेला तुपाचो

बायेगेर बाब जालां

फिरंगी रूपाचो

कसो ? कसो ? कसो ?

एक स्त्रीके यहां बच्चा हुआ । परंतु उसका रूप  
फिरंगीका था । यह कैसे हुआ ?

प्याज बोया तो प्याज होताहै ।

आलू बोया तो आलू होताहै ।

वहनोई अगर हमारा है, तो वहनके यहां फिरंगी  
बच्चा कैसे पैदा हुआ ?

इस प्रकारका विनोद करते हुए कवि इन कवि-  
ताओंके द्वारा जीवनके शाश्वत सत्यकी ओर निर्देश  
करताहै ।

दिकोशताकी कुछ कविताएं तो अत्यंत भावपूर्ण  
हो गयीहैं । ऐसा प्रतीत होताहै कि दिकोशता हमें  
अपनी कविताओंके माध्यमसे अथाह भावसागरमें डुबो-  
कर रसमग्न करतेहैं ।

‘बालाचो हांसो’ “काल जाक वेची वाट”, ‘आबो-  
ल्याचो रंग’ ‘मोगाळ म्हजें जिता’ ये कविताएं हृदय  
को भावविभोर करनेवाली हैं । बच्चेके  
मुखपर हंसी नहीं थी, लेकिन मांको देखते ही बच्चे  
का चेहरा प्रसन्नतासे खिल उठा । बच्चेकी प्रसन्नता  
की यह गंभीर बात कविने अलंकारपूर्ण शैलीसे व्यक्त  
कीहै ।

“तुजो हासो तिचो बाळा हासोन फटय नाकां”

उसी प्रकार “मोग करूं लिपोनसो” यहभी शृंगार  
प्रधान भावपूर्ण कविता है । चांदनी रातमें कवि बगीचे  
में बैठा नक्षत्रों और चंद्रमाकी शोभा देखताहै तो  
उसके मनमें छिप छिपकर प्यार करनेकी खुमारी क्या  
होतीहै इसकी कल्पना उभर आतीहै । कवि प्रकृतिके  
उस वातावरणका वर्णन करताहै जो रति भावको  
जगाताहै ।

**मनोभाव :**

आशा, भय, प्रेम, थकान, जैसे मनोभावोंको  
चित्रितकर कविने मानव जीवनके अनेक पहलुओंको  
स्पष्ट कियाहै ।

विशेषकर ‘भिरांत’ (भय) कवितामें मनुष्य  
जीवनके विविध, प्रसंगोंका वर्णनकर कवि यह बताने  
का प्रयत्न करताहै : ‘हे मानव, धैर्यसे काम लो । घरमें  
बैठे न रहो, बाहरी जगत्में आओ ।’ दीपका उदाहरण  
देकर कहताहै कि वह अंधेरा होते हुएभी जलताहै ।



बाहर ओसमें “मोगरा” की कलियां हंसती हैं, दोपहर के समय बाहर धूप होती है, तो धूपमें तालाब मानो आकाशसे मित्रता करता है। तो तू डरता है किसलिए ?

इसी प्रकारकी एक और कविता है “खरस”।

कविकी ‘सोदना’ नामक कविताओंमें रहस्य-भावना दृष्टिगोचर होती है। कवि अपनी अज्ञात प्रियतमाको ढूँढता है। कहता है ‘वह’ पहाड़ोंमें से गुजरने वाली पगडंडीसे गयी थी। उस समय पूर्णिमाकी रात्रि थी, वह नाचते-नाचते गयी थी। मुर्गा बांग उठा, प्रभात हुआ, सूरज निकल आया लेकिन वह नहीं आयी। अपनी मनोभावना व्यक्त करते-करते कविने चांदनी रात तथा प्रभातके वातावरणका अच्छा समां बाँध दिया है।

‘मिठाकण’ (नमकका दाना) और “पोपायो” (पपड़ियाँ) उल्लेखनीय कविताएँ हैं। नमकका दाना सागरसे मिलना चाहता है। वह सागरमें कूद पड़ता है और सागरमय हो जाता है। परंतु कोई उस नमकके दानेकी प्रतीक्षा करता है।

“पोपायो” कवितामें कवि एक सत्य प्रकट करता है कि कविके मनमें अनेक बीज रूप भाव निर्मित होते हैं परंतु सभी भाव कविताका रूप धारणकर साकार नहीं होते। जिस प्रकार पपड़ीमें असंख्य बीज होते हैं पर सभीके पौधे नहीं बनते। सभी भाव कवितामें उतर आते तो संसारमें हाहाकार मच जाता।

“आंग पांग पेहलें

फिरंगी पिशें सुटलें

अंतराळाच्या शिरां शिरां

शिमटी नेकेव झडलें

पोर्ने गुमट फुलें

आळशी रगत कडव लें”

#### भ। षाकी विशेषता

दिकोशताकी कविता उपमा, प्रतीक, रूपक, उत्प्रेक्षाएँ, अनुप्रास आदि अलंकारोंसे लदी हुई है।

भावानुकूल भाषा, कल्पनाकी उड़ान, अनुप्रासयुक्त शब्दोंकी योजना, लयकारी शब्द, माधुर्य भाव आदि, काव्यकी विशेषताएँ हैं। कहीं-कहीं तो दिकोशताने अपने निजी शब्दोंकी सृष्टि की है जिससे कोंकणी शब्द भण्डारमें और शब्द धन कोशमें वृद्धि हुई है।

बिरी-बिरी पावस; जिगी बिगी रात; चिदी-पिटी चाळोत; किणी किणी दाद पत्यजणाचो” जैसे नाद मधुर शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

अनुप्रासयुक्त शब्दोंका प्रयोग तो कविका स्थायी भाव है। इस प्रकारके प्रयोग कविकी प्रत्येक कवितामें मिलते हैं।

आंबो, लिबो, नाल्ला वळें ?

“बस खर शेली, धुर केली, उस लळी”

“रडणे, कडणे, पडणे, दोडणे,

सोसत ल्याचें सोसणे”

“पडलांत पालवूंक, दर्यांत दुष्टूंक

फुटून फासलूंक, फासलूनन जळून

धावंली-धांवता धांवता रावली”

इस प्रकारके प्रयोग देखकर ऐसा लगता है जैसे उनकी कवितामें शब्दोंमें से शब्दोंकी सृष्टि निर्मित हो रही है। “बात-बातमें बात पात पातमें पात।” यही कारण है कि दिकोशताकी बहुतेरी कविताओंमें लय विद्यमान है, परिणाम-स्वरूप उसमें गीतात्मकता आ गयी है।

दिकोशताकी कविता कोंकणी काव्य साहित्यपर एक अपनी छाप छोड़ती है। वह पंडितोंका एवं सामान्य पाठकों, दोनोंका रंजन करती है। इस संसारमें सुन्दरता है, कुरूपता है, सुख है, दुःख भी है। चा. फा. दिकोशता सुरूपताके साथ कुरूपताको भी अपने काव्य में समा लेता है। सुखके साथ दुःखको भी अभिव्यक्ति देता है। □



## दलित वर्गके परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों, उनकी आकांक्षों और व्यथाओंका आलेख

### आंगळियात

उपन्यासकार : जोसेफ मेकवान

समीक्षक : डॉ. रजनीकान्त जोशी

‘आंगळियात’ के संबंधमें उपन्यासकार श्री जोसेफ मेकवानने स्वयं यह स्पष्टीकरण दिया है कि ‘आंगळियात’ मेरी अपनी धरतीकी महक है। इसमें दलितों द्वारा अन्यायके विरोधमें करारी तीखी संघर्ष-कथा चित्रित की गयी है। कथावस्तु चाहे भिन्न हो किन्तु ‘गोदान’ का होरी सदा टूटनकी ओरही घिसटता जाता परिलक्षित होता है, उसी प्रकार ‘आंगळियात’ का नायक ‘टीहा’ अपने जीवनके अन्ततक प्रेममें डूबा, आदर्श और मूल्यगत सिद्धान्तोंके बीच झूलता रहता है। उसके अपने सभी उससे हार्दिक प्रेम तो करते हैं किन्तु अन्ततः टीहाको क्या मिलता है? न घर, न मेठी (नायिका) जीवन जीनेको पलभर के लिए शान्तिपूर्वक साँस लेना भी उसके भाग्यमें नहीं था। अन्ततः टीहाको धोखेसे मौतके घाट उतारही दिया जाता है। उच्च वर्णीय समाजके ठेकेदार गोहदावाली अपनी सामंती व्यवस्थाको और अधिक सशक्त बनानेका प्रयास जारी रखते दिखायी देते हैं।

‘आंगळियात’ उपन्यासको गुजराती उपन्यास-साहित्यके क्षेत्रमें श्रीपन्नालाल पटेल तथा ईश्वर पेटलीकरके बाद एक जीवन-लक्षी यथार्थवादी ऐतिहासिक घटनाही कहा जा सकता है। ‘असूर्यलोक’ के लेखक श्री भगवतीकुमार शर्मा तो यहांतक कहा है कि, “जोसेफ भाईका साहित्य-सृजन समसंवेदन, समभाव व समझ-दारीसे कहीं आगे बढ़कर कथ्य-विषय तथा चरित्रोंके साथ पूर्णतः अभिन्नता चरितार्थ करता है, बल्कि वे स्वयं विषय तथा चरित्रोंमें सेही एक अंग रूपमें परिलक्षित होते हैं। जीवन और साहित्यकी सीमाओंको पूर्णरूपेण तदाकार करनेका अपूर्व साहित्य सृजन गुज-

राती भाषामें इन्होंने कर दिखाया है और उसे जीकर अभिव्यक्तभी किया है।” श्री मेकवानने गुजरातके देशज लोकजीवनको यथार्थ रूपमें अपनी भाषामें देशज शब्द-साधनोंसे अनावृत्तकर उजागर किया है। वस्तुतः उन्होंने जो कुछ देखा-जाना, अनुभव किया, जिया, सहा उस सबको एक सच्चे कलाकारके रूपमें अभिव्यक्त करते हैं।

‘आंगळियात’ उपन्यास तीन सौ चालीस पृष्ठोंमें फैला हुआ है। अत्यन्त कठिन दुष्कर गुजराती देशज भाषा-शैलीमें लिखा यह उपन्यास भाषायी कठिनाईके कारण ऊब पैदाकर सकता है परन्तु यदि नैतिकता तथा मानवीय सौन्दर्यको पकड़नेका प्रयास पाठक कर सकता है तो वह कह उठता है कि ‘वाह भाई वाह! क्या कथा है। और क्या यही सत्य है सांप्रत सभ्यताका? और वहभी स्वतंत्रताके बाद?’

‘आंगळियात’ का अर्थ है ‘पहले पतिसे सन्तान’। उपन्यासके प्रमुख चरित्रोंमें टीहा (नायक) मेठी नायिका, वालजी, कंकु, भगतकाका, डेलावाले शेठ हैं एवं अन्य अनेक छोटे-बड़े चरित्र भी। टीहा मोटी चादरें नीलामीसे बेचनेके लिए अपने साथी मित्र वालजी, दाना आदिके साथ पड़ौसके शीलापुर गांवमें जाता है। वहां बड़े बाजार में लगे मेलेसे लौटते हुए रास्तेमें उसी गांवका सभ्य दिखनेवाला व्यक्ति एक परायी युवतीसे छेड़छाड़ करता है और टीहा उस युवकको पीट देता है। वह युवक था मेघा पटेल मुखियाका बेटा नानिया। वह लंपटभरे काम करनेका अभ्यस्त था पर था, तो बड़े आदमीका बेटा। और टीहा, था तो सच्चाईका देवता किन्तु जातिसे बुनकर, इसीसे न्यायका झुकाव नानियाके पक्षमें ही जाता है। यहींसे कथा-संघर्षका श्रीगणेश होता है।



दूसरी ओर मेठी पराई ब्याहता है पर अभी ससुराल नहीं गयी है। टीहा व मेठी दोनों एक दूसरे को चाहने लगते हैं पर उपन्यासके अन्ततक उच्च वर्गीय समाज व्यवस्थाके पहरेदार तथा कुछेक काँग्रेसी शोहदे इन दोनोंको चैनसे बैठने ही नहीं देते। डेली-वाला शेठ शोहदोंकी सहायतासे जबरदस्ती मेठीको उसकी ससुराल भिजवा देता है। मेठीकी तथा उसके पिताकी भी इच्छा नहीं थी कि वह टीहासे अलग हो जाये। मेठीका पति लफंगा व शराबी है फिरभी जब वह उसकी पत्नी है तो पतिके घर तो जानाही होगा और अपना सबकुछ सर्वस्व अर्पित करना होगा। एक दिन वह अपनी जान बचानेके लिए पतिकी अच्छी पिटाईकर अपने दूधमुएं बच्चेको लेकर टीहाके पास चली जाती है। वस्तुतः वह टीहाके गांवमें कंकुके घरके पास आश्रय लेकर रहती तो है पर स्वयं ब्याहता होनेसे टीहासे ब्याह नहीं रचाती। इससे पहलेभी जबभी दोनोंके ब्याह रचानेकी स्थिति आती, कहीं-न-कहींसे व्यवधान आ ही जाता और इसी बीच उसके घनिष्ठ मित्र व कंकुके पति वालजीकी हत्या हो जाती है। कंकु चाहती रही कि मेठी-टीहा दोनोंका विवाह हो जाये, परन्तु दोनों जीवनके नैतिक मूल्योंसे इतने जकड़े हुए थे कि परस्पर एक दूसरेको चाहते रहे, पर प्रेमका शरीरी संबंध तो वे स्थापित करनाही नहीं चाहते थे। समाजने भी दोनोंको एक नहीं होने दिया। स्वयं मेठीने भी अपनी संतानके लिए टीहासे विवाह न रचाकर एकाकी जीवनही पसंद किया।

‘आंगळियात’की कथा उस समयकी है जब स्वतन्त्रताकी प्रतीक्षा थी। काँग्रेसी दल कपटदांव लगानेमें सदा व्यस्त रहता था। ‘जिसके हाथमें लाठी उसके हाथमें भैंस’ जैसी स्थिति उन दिनों गांवोंमें थी। गांव का मुखिया, सरपंच, शेठ-साहूकार आदि बड़े नेता बन गये थे। वे मानते थे कि स्वतन्त्रता मिलतेही सत्ता उनके हाथमें होगी। सत्ताकी यह निकटता उनके सामंती रूप शोहदेपन-गुण्डागर्दीको प्रश्रय प्रदान करती थी। अपढ़ और दलित वर्ग चिन्तित था यदि अभीसे यह स्थिति है तो स्वराज्य आनेके बाद क्या होगा? एकके मुंहसे निकलही जाता है : ऐसे दिन न आयें तो कितना अच्छा हो।” (पृ. १४५)। वे कहते हैं फिर तो वे सब गांवके मालिक हो जायेंगे और हमारी हालत तो औरभी बिगड़ जायेगी।” (पृ. १४५)। वे देख रहे

हैं कि जो शोहदे हैं उनको शरीफ माना जाता है और डेलावाले शेठ जैसे लोगोंकी प्रशंसाभी कीजा रही है। पुलिस भी उन्हींकी चमचा बनी हुई है। पूरी समाज व्यवस्था पीड़ितोंकी रक्षाके लिए नहीं पर उन शोषित लोगोंपर अधिकसे अधिक दबाव डाला जाता है। इस सारे चित्रणमें उपन्यासकार हरिजननोंको हिन्दुओंसे पृथक् वर्ग रूपमें प्रस्तुत कर रहा है। कलाके क्षेत्रमें भी लेखककी धार्मिक-साम्प्रदायिक मान्यता उभरनेसे चूकी नहीं। (देखें पृष्ठ १४६का वर्णन)।

प्रेमकी अभिव्यक्ति एवं सार्थकता-पर्याप्तकी अपेक्षा त्याग तथा विरक्तिकी विशिष्टता है। यह उपन्यासकार ने ‘आंगळियात’में सुन्दर ढंगसे टीहा व मेठीके चरित्रों के माध्यमसे इंगित किया है। इन दोनोंको एक करनेके असफल प्रयत्नमें ही वाला (वालजी) की हत्या हो जाती है तब संभावना रहते हुएभी टीहा कहता है कि “अब विवाहकी आवश्यकता ही क्या है? मेरे लिए मेरा मित्र जब अपनी जान दे सकता है तो मैं क्या अकेला नहीं रह सकता? हमारे कारण कंकु विधवा होगयी और मैं अपनेही बारेमें सोचूं यह कितना अनुचित होगा? और उपन्यासकारने टीहाकी नैतिकताको विशेष सशक्त बनानेके लिए आद्यन्त ऐसी स्थिति निर्मित करता गया है कि वह विवाह तो करता ही नहीं, पर मेठीके बच्चेको अपनी सन्तानही मानकर पालनपोषण करता है। उपन्यासके अंतमें तथा स्वराज्यके बाद गांवमें स्कूल बनानेके लिए जब धन-संग्रह किया जाता है तब मेठीका लड़का गोकुल सात हजार एक रुपये नकद तो देताही है और साथ-साथ जब दाताका नाम पूछा जाता है तब वह कहता है कि लिखिये :

‘टीसाभाई गोपालभाई परमार’

अतः स्पष्ट है कि वह भी टीहाको ही सामाजिक सतहसे ऊंचा स्थान देता है और अपनी मां मेठी तथा पालक पिता (विवाहित न होते हुएभी) टीहाकी नैतिकताको सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। वह टीहाका बेटा नहीं है न मेठीने टीहे के साथ ब्याह रचाया है, तथापि उसे पितासा या पिता से बढ़कर जो स्नेह टीहासे प्राप्त हुआ था, इसी कारण वह दाताके रूपमें टीसाभाईका नाम लिखवाता है और अपने जीवनमें मिले संस्कारको सार्थकता देनेका साधु प्रयास समाजके सम्मुख व्यक्त करता है। प्रच्छन्न रूपसे लेखकने कहना चाहा है कि स्वाभिमान तथा नैतिकताका अधिकार सभीका है, केवल जाति विशेषकी वह बपीती



नहीं है।

‘आंगळियात’ की प्रधानतः दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, (१) कथा-शिल्प, और (२) भाषा-शिल्प। कथा-शिल्प की दृष्टिसे और विशेष रूपसे दलितवर्गके परिप्रेक्ष्यमें उल्लिखित लोगोंकी इतनी गहराईसे कही गयी कथा पन्नालाल के बाद पहला सफल प्रयास है। यह कहना भी सार्थक होगा कि आलोच्य उपन्यासकार दलित-पीड़ितगत, जातिगत गहराईसे सूक्ष्म यथार्थ चित्रण सफल रीतिसे प्रस्तुत करता है तथा जहाँ-जहाँ उन्हें उच्च वर्गपर फटकार बरसानेका अवसर मिला है, वह चूका नहीं है। रोहा-मेठी, वाला-कंकु आदिकी दयनीय तथा अकथनीय सीमा तकका अन्याय उच्चवर्गीय समाज व्यवस्थाके क्रूरतापूर्ण कारनामोंके कारणही अवांछनीय परिणामों की स्थिति परिलक्षित होती दिखायी दी है। फिर भी उन लोगोंमें भी अच्छे लोग तो हैं ही ! वैसा एकभी चित्र या चरित्र उपन्यासमें क्यों नहीं दिखायी देता ? यथार्थ यह है कि ‘आंगळियात’के कथा-शिल्पका प्रस्तुतीकरण लेखक ने गुजरातके खेड़ा जिलेके वातावरणके परिप्रेक्ष्यमें किया है। इससे कथा-सौन्दर्यमें निखार आया है, तथा यथार्थ चरित्रांकनमें लेखक सफल भी हुआ है, परन्तु ‘आंगळियात’का तात्पर्य तो यही प्रकट करता है कि ब्राह्मण-पटेल जाति तो सदासे दलितोंका शोषणही करती आयी है। इसीलिए उपन्यासकार उनके प्रति एकभी शब्द स्वस्थ मनसे नहीं लिख पाये। अपितु वह किसी सीमा तक संभवतः मानसिक अवरोधके कारण कथा-शिल्प बुनता है।

भाषा-शिल्पकी दृष्टिसे ‘आंगळियात’को गुजराती उपन्यास साहित्यमें शीर्षस्थ स्थान देना आवश्यक होगा। लेखक एक अध्यापक हैं, अतः नागरिक भाषाका प्रयोग कर सकता था। पर उसने जिस यथार्थकी मनोभूमि देखी है, परखी है, जिसे जिया है उसीके अनुकूल, जो शब्द या प्रयोग गुजरातके खेड़ा जिलेके हरिजन-ख्रिस्ती बोलचालमें प्रचलित हैं उसीको वे ‘आंगळियात’में ले आये हैं। वस्तुतः लेखकका यह प्रयास सफल ही रहा है, ऐसा प्रयोग असाधारण लेखकही कर सकता है। इसीलिए भाषायी शोधके परिप्रेक्ष्यमें ‘आंगळियात’ एक ऐतिहासिक आलेखके रूपमें स्थापित हो गया है।

उत्तर गुजरात तथा दक्षिण गुजरातमें ‘स’ का ‘ह’ तथा ‘क’ का ‘च’ के रूपमें प्रयोग होता है, जैसे—सूरत-हूरत, महेशाणा-मेहोणा’ केम छो, —चेमस’ आदि-आदि। किन्तु यहां तो लेखकने भाषाके ऐसे-ऐसे रूपोंका प्रयोग

शोधपूर्ण ढंगसे किया है कि पढ़े-लिखे पाठकके लिए भी ‘आंगळियात’ दुष्कर-सा उपन्यास बन गया है। परन्तु यथार्थ चित्रणकी दृष्टिसे भाषायी परिप्रेक्ष्यमें इसे बहुत बड़ी सिद्धिही कहना चाहिये। यह कहना समीचीन होगा कि इस प्रकारके अनेक भाषा-प्रयोग गुजरातीमें लिखित रूपमें कभी नहीं आ पाये थे। गुजरातीके कथा लेखक श्री पन्नालाल पटेल, ईश्वर पेटलीकर और रघुवीर चौधरी जैसे क्या सभी लेखकोंने देशज-शैलीमें भाषा प्रयोग किये हैं किन्तु ‘आंगळियात’को इन सबसे अग्रस्थान देना उपयुक्त होगा। इस प्रकारके प्रयोगोंमें उपन्यासकारने संगीत-लय आदिका भी पूरा ध्यान रखा है।

‘आंगळियात’में दलित समाजकी पीड़ाकी यथार्थ-वादी भूमिकी सार्थक अभिव्यक्ति है साथही यह समर-कथाभी है। उपन्यासकारने जहांतहां उन लोगोंमें प्रचलित गीतभी प्रस्तुत किये हैं। वे सभी आध्यात्मिकताकी गहरी बातें करनेवाले भजनही हैं जैसे हमारे मध्यकालके सन्तोंने गाये थे। दलित बुनकरोंकी कथाके प्रसंगमें उनके गीत उद्धृत हुए हैं, उनमेंभी कबीरके पदोंके समान तानेबाने व आत्मा-परमात्मा तथा भरनी (शटल) आदिका निर्देश झलकता है।

कथा साहित्यकी दृष्टिसे ‘दलित-साहित्य’ जैसा शीर्षक देना सम्भवतः उपयुक्त न हो। श्री जोसेफ मेकवान गुजरातीके सशक्त उपन्यासकार हैं, उन्हें ‘दलित साहित्य-कार’ जैसा एक संप्रदायसे जुड़ा शीर्षक देना भी उचित नहीं। वस्तुतः श्री मेकवानने अपने अन्य ग्रन्थोंमें भी मनुष्यको अपनी मनुष्यताके साथ रहना चाहिये और सभीको समान रीतिसे जीनेका अधिकार है, यह बात कही है, जो सही है। दलितोंके वातावरणमें वे जिये हैं इसीलिए स्वाभाविक है कि ‘आंगळियात’ तथा उनके अन्य ग्रन्थोंमें भी ‘विद्रोह’की बातें आयें। लेखकने यथार्थका चित्रण अपनी अनोखी भाषायी शैलीमें ही किया है। दलितोंसे स्वतन्त्रतासे पहले जो व्यवहार होता रहा है वह बादमें भी होता रहे और उसकी मात्रा बढ़ती ही जाये तो कोईभी संवेदनशील व्यक्ति—यदि उसमें मनुष्यता है, चेतना है—वह भड़क ही उठेगा। ‘आंगळियात’का लेखक इसी कारण विद्रोही दिखायी देता है।

इस प्रकार ‘आंगळियात’में शोषित लोगोंके स्वाभिमान की जड़ोंकी तथा नैतिकतासे जीवन जीनेको उत्सुक



चरित्रोंकी कथा प्रस्तुत की गयी है। गांधीका देश और गांधीका गुजरात, तथापि संप्रान्त लोगों द्वारा अमानवीय अनाचार और वह भी स्वतन्त्रताके बाद तो और भी बढ़ता जा रहा है। उपन्यासकारने इस स्थिति को पात्रोंके माध्यमसे और स्थितियोंसे चित्रित किया है। जो रोंगटे खड़ा कर देनेवाला है। सबसे महत्वकी बात यह है कि जो नैतिकताका दावा करते हैं वहां अनैकता अपनी सीमा पार करती परिलक्षित हुई है। इसके विपरीत जो शोषित किसी प्रकार अपना जीवन ढोते हुए जी रहे हैं वे सभीके सभी नैतिक आचारको ही श्रेयस्कर समझते हैं, टीहा, मेटी, वालजी, कंकु, दानो, भगत-काका, गोपाल आदि पात्र जीवनके मूल्योंका प्रतिनिधित्व करते हैं। अभावकी स्थितिमें जीवन जीनेवाले

पात्रोंके पक्षमें रहकर लेखकने जो साधु कार्य किया है इसलिए वे अभिनंदनके अधिकारी तो हैं ही और 'आंग-ळियात'में नैतिकतासे जिस प्रकार कथा-मोड़ वे देते रहे हैं इस कारण लेखकको पुरस्कार उपरान्त हादिक अभिनन्दन भी।

सन् सैंतालीसके बादकी देशकी सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि मूल्योंके पहरेदार या ठेकेदारोंसे या गांधीवादी ट्रस्टियोंसे यह सच कहना दोष या गर्हित अपराध माना गया है। श्री जोसेफ मेकदानने 'आंगळियात'में सच कहनेका यही बहुत बड़ा गर्हित अपराध किया है इसीलिए वे सचमुच बधाईके अधिकारी हैं। □

## डोगरी : काव्य

# मधु-तिक्त अनुभूतियोंका चिन्तन और भावसे अद्भुत मिलन सोध समुन्दरें दी

कवि : मोहनलाल सपोलिया

समीक्षक : डॉ. ओम्प्रकाश गुप्त

'सोध समुन्दरें दी' डोगरी कवि मोहनलाल सपोलियाका तीसरा काव्य-संग्रह है। इससे पूर्व उनके दो काव्य-संग्रह 'सजरे फुल्ल' तथा 'राष्ट्रीय भाखा' प्रकाशित हो चुके हैं। 'भाखा' डोगरी लोकगाथाकी विशिष्ट गायन-शैली है।

सपोलियाकी कविताका आरम्भ लोक-धरातलपर ही हुआ। मैं स्वयं उनकी स्वर-लहरीमें वीर-भावोंका प्राधान्य देखता रहा हूं। ऊंचे-लम्बे कदका यह कवि अपने स्वरके ओजके सहारे श्रोताओंको मंत्रमुग्ध कर लेता है।

'सोध समुन्दरें दी' 'चमुखों' (चौमुखों) का संग्रह 'प्रकर'—नवम्बर'९०—२६

है। हिन्दी कवितामें इस प्रकारकी रचनाओंके लिए 'चौपदा' शब्द प्रयुक्त होता रहा है। सपोलियाकी प्रस्तुत कृतिमें इस प्रकारके चार सौ पद हैं। इनका विषय वैविध्य किसी भी प्रकारके वर्गीकरणको चुनौती देता है। संभवतः यही कारण है कि लेखकने इन पदोंको किसी विषयगत वर्गीकरणके साथ सम्पादित नहीं किया है। प्रत्येक पदको कथ्यके अनुसार एक शीर्षक दे दिया गया है। सम्पादन न करनेका एक परिणाम यह हुआ कि कुछ पद दो बार छप गये हैं—अलग-अलग शीर्षकों के अंतर्गत।

'सोध समुन्दरें दी' शीर्षकका हिन्दीकरण होगा :



‘शोध समुद्रोंकी’। डोगरीमें ‘सोध’ सुधिके साथ जुड़कर चिन्तनका अर्थभी देने लगता है। कुछभी हो, भारतके सुदूर उत्तरके इस कविको किस प्रकारके सागरकी चिन्ता है अथवा वह कौन-से सागरसे पहचान स्थापित करना चाहता है, यह विचारणीय है।

सपोलियाके काव्य-जगत्का सागर भावोंका गहन और विस्तृत सागर है। हृदयकी अतल गहराइयोंमें जो सौन्दर्य और विद्रूपता भरी पड़ी है उसीका अवगाहन करके कवि अपनी कविताकी संरचना कर पाता है—

दिल दे गदले ते डूँहगे सागर चा  
गल्ल कड्ढनी बी इक करतब से । (पृ. ५३)  
(दिलके गँदले और गहरे सागरसे बात  
निकाल लानाभी एक करतब है ।)

कविका अपने भाव-जगत्से जुड़ाव किस सीमा तक है, इस चौपदेसे स्पष्ट होता है—

फट्टिएं लीरेंगी जोड़दे रेह् आँ ।  
रोज बुनदे-दरोह् डदे रेह् आँ ॥  
अपने भावें दा चीरिए सीन्ना,  
मुँह जमाने दा मोड़दे रेह् आँ ॥

(फटे चिथड़ोंको जोड़ते आये/ रोज बुनते-उधेड़ते  
बाये/ अपने भावोंका चीरकर सीना/ मुँह जमानेका  
मोड़ते आये ।)

ध्यान रखना होगा कि कविके भाव नितान्त आत्म-  
निष्ठ व्यक्तिके भाव नहीं हैं। सपोलियाका कवि-हृदय  
बनुभूतोंके जगत्का सचेत भोक्ता रहा है। मधु-तिक्त  
बनुभूतियोंको, चिन्तन और भावके अद्भुत मिलान  
द्वारा भाषायी अभिव्यक्ति देना उसका कौशल है।

सामाजिक विषमताओंके बीच रहकर स्वयं उन्हें  
भोगकर और दूसरोंको इन विषम परिस्थितियोंके बीच  
पिसता देखकर कविकी वेदना कभी व्यष्टि तक सीमित  
रहनेका आभास देती है तो कभी समष्टितक विस्फारित  
हूई जान पड़ती है। प्रत्येक स्थितिमें वेदनाकी अभि-  
व्यक्ति बहुत पैनी है। एक व्यष्टि-केन्द्रित अभिव्यक्ति  
देखिये :

रोज् औन्दे न रोज् जन्दे न ।  
रत पोंदे न मास खन्दे न ॥  
मेरे जीवन दे दिन बो कैसे न,  
जियाँ आरी दे तेज् दन्दे न ॥

(रोज् आतेहैं, रोज् जातेहैं/ रक्त पीतेहैं, मांस खाते  
हैं/ मेरे जीवनके दिनभी कैसेहैं / ज्यों आरीके तेज् तदां  
हैं ये ।)

साथही, कवि किसी वेदना-भरे स्वरको सुनकर  
निश्चल नहीं बैठ पाता। गतिशीलता और अदम्य  
संघर्ष चेतना सपोलियाके काव्यकी विशेषता है—

घुट्टै करदे न कई साह् ! बाज् आई ।  
मरै करदे न कुतै चास ! बाज् आई ॥  
सोचना के ऐ मना तूँ उट्ठ चल,  
मिगी रोने दी कुतूँ दा बाज् आई ॥

(घुट रहे हैं कई श्वास, आवाज आयी / मर रहेहैं  
कहीं चाव, आवाज आयी/ सोचता क्या है मन रे तू उठ  
चल/ मुझे किसीके रोनेकी आवाज आयी है ।)

कवियोंके यहां वेदनाके मुख्यतः दो विषय रहेहैं—  
प्रणय तथा समाजमें व्याप्त विषमता एवं तज्जन्य निर्ध-  
नता ! सपोलियाके चौपदोंमें इन दोनोंको मर्मस्पर्शी  
अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

श्रमिकके पसीनेकी बूंदोंमें ईश्वरकी मुस्कान बहुत-  
से कवियोंने देखी है। किन्तु सपोलियाकी भावव्यंजनाका  
अनूठापन देखिये :

बटटेंगी ढोंदा असें दिक्खे दा ऐ ।  
दुक्खें च प्हाँदा असें दिक्खें दा ऐ ॥  
भागें दी लीरें दै बिच्चा झांकिए,  
परमात्मा रोन्दा असें दिक्खे दा ऐ ॥

(हमने पत्थर ढोते मनुज देखा है/ दुःखोंमें पिसता  
मनुज देखा है/ भाग्यके चिथड़ोंसे झांकता हमने/ रुदनरत  
परमात्माभी देखा है ।)

नये जीवनके प्रति आस्था, राजनीतिक पतनके  
कारण उपजी खीझ, क्रांतिकी अभिलाषा, राष्ट्रके  
प्रति अगाध प्रेम, आधुनिक जीवनकी शोखियोंपर व्यंग्य  
इन चौपदोंके मुख्य विषय हैं।

मोहनलाल सपोलिया, डोगरी-साहित्यको फुटकर  
कविताएं और मुक्तक दे चुकेहैं। कवि स्वयं जानता है  
कि यही उसकी मंजिल नहीं है। उसे साहित्य-देवता  
को औरभी बहुत-से सुन्दर सुमन अर्पित करतेहैं। कवि  
के भाव गहन हैं, अनुभूतियाँ तीव्र तथा सूक्ष्म हैं, उसकी  
अभिव्यक्ति मर्मस्पर्शी है। भविष्यने सपोलिया तथा  
उनके साहित्य-प्रेमियोंके लिए जो भेद छुपा रखेहैं; वे  
निश्चित रूपसे शूभ होंगे । □



## तमिल : संस्मरण

# अनुभूतियों तथा तीव्र संवेदनाओंकी व्यापक एवं गहरी स्मृति-रेखाएं चिन्तानदी

लेखक : ला. स. रामामृतम्

समीक्षक : डॉ. एम. शेषन्

मानव चित्तन एक सतत प्रवहमान नदीकी धाराके सदृश है। मानव चिन्तनकी इस धाराकी गहराईको आज तक न कोई माप सका है और न उसकी थाह ले सका है। मानव जीवनके विस्तृत अनुभव, गहन अनुभूतियां तथा तीव्र संवेदनाएं जितनी व्यापक और गहरी होती हैं, उतनाही व्यक्ति मानवके चिन्तनकी गतिमें तीव्रता और प्रवाहमें गहनता दोनों अपने आप आ जाती हैं। पांच दशकोंसे अधिक लेखनके क्षेत्रमें सक्रिय, तमिलके प्रसिद्ध कथाकार ला. स. रामामृतम् अपने इस पुरस्कृत ग्रंथमें अपने बचपनसे लेकर युवावस्थातक के जीवनकी स्मृतियोंकी रेखाएं खींचते हैं और इस ढलती उम्रमें पुनः स्मृति पटलपर लाते हुए, उन स्मृतियोंके माध्यमसे मानवीय संबंधोंमें आये खट्टे-मीठे अनुभवों एवं अपनी संवेदनाओंको लिपिबद्ध करते हैं। इस प्रकार जीवन-यात्राकी कई पगडण्डियां पार करनेके बहाने मानव जीवन और मानव-मूल्योंको सही तौरपर समझने, परखने एवं समझानेका, अपनी दृष्टिसे प्रयास करते हैं।

जीवनानुभवोंसे अनुस्यूत ये संस्मरणात्मक स्मृति-लेख केवल अपने अमूर्त संवेगके स्तरपरही सीमित हैं अथवा आत्मानुभवोंसे अनुशासित होकर जीवनके प्रति-मानका आकार भी लेते हैं, यह भी विचारणीय है। मानव पर लेखककी आस्था अटूट है। अपनी स्मृति-रेखाओंमें वे अपनी वैचारिकताको भी गूँथते हुए चलते हैं जिसके कारणसे स्मृति रेखाएं गंभीर रूप लेती हैं तथा पाठकों की रुचि और आकर्षणका विषय बन जाती हैं।

ला. स. रामामृतम्के गद्यका साध्य 'मानव' है, 'मनुष्य' है। मनुष्यकी मुक्तिके लिए जो साधन-मूल्य उन्हें उपयुक्त लगते हैं, उन्हें उनकी सहज स्वीकृति मिली

है। परहित, बड़ोंके प्रति श्रद्धा, नारी-सम्मान, पारिवारिक स्नेह-संबंधोंको सुदृढ़ करनेकी आवश्यकता, मातृ-प्रेम, मानव-मानवके बीच स्नेह और आस्थासे युक्त पारस्परिक सहयोग, अशोषण आदि कई मानवीय मूल्यों को अपनी आत्मीयता प्रदान करते हुए उन्होंने 'चेतना-त्मक' स्वरूपको वरीयता दी है। रामामृतम्के मूल्यबोध में जैविक, सामाजिक और आध्यात्मिक ये तीनों आयाम उपलब्ध हैं। यह कहना समीचीन होगा कि आध्यात्मिक आयाम अधिक विस्तृत रूपसे तथा प्रखरतासे व्यंजित है।

उनकी स्मृति-रेखाओंमें 'मनुष्य' को 'मनुष्य' के रूपमें समझने और पारस्परिक कटुता, घृणा, ऊंच-नीच आदि भावनाओंको दूर करनेका बोध स्पष्ट है। इस प्रकार स्वस्थ वैचारिकता एवं धर्मितासे युक्त उनका लेखन, स्मृति-रेखाएं—कहीं-कहीं गद्यसे काव्यात्मक रूपभी ग्रहण कर लेती हैं। इस कारण उनका लेखन भारी पड़नेके साथ दुरुहताकी रेखातक खिंच जाती है। यह आरोप लेखककी कथा-कृतियोंपर भी प्रायः लगाया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथकी स्मृति-रेखाओंमें भावुकतासे अधिक उनकी संवेदना और मानवीयता मुखरित है। उनमें लगाव, संक्षिप्तता और संलग्नता प्राप्त है। रामामृतम् की ये स्मृति-रेखाएं यादोंमें डूबे मनका स्वाभाविक उल्लास और उछाह है, स्मृतियोंकी लहरें हैं। इन स्मृति-रेखाओंमें एक सरलता और स्वाभाविकता है। इनमें लेखक अपने हृदयकी प्रक्रियाको बुद्धिकी प्रक्रियासे बिलकुल मिला देते हैं, उन्हें अलग कर नहीं चलते। उनके इन लेखोंमें उनका व्यक्तित्व उभरकर आता है। वे एक विशाल समाजसे घुलमिल जाते हैं। उनकी



रचनाकी आत्मा है, करुणासे ओतप्रोत पीड़ा जिसने लेखकके जीवनमें सार्वभौम रूप लिया है। ये लेख समाज-सापेक्ष हैं और अपनी स्मृति-रेखाओंमें रामामृतम्ने मानव-मनके मर्मको सूक्ष्मतासे स्पर्श किया है, छुआ है और उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति सरल शैलीमें की है। अपने गंभीर एवं स्वस्थ चिन्तन द्वारा मानव-मात्रके उत्थान का प्रयास इन स्मृति-रेखाओंमें हुआ है। लेखकने इनमें विविध प्रसंगोंकी चर्चा की है। कहीं पारिवारिक, कहीं सामाजिक और कहीं लेखक-समाजसे संबंधित उनकी संवेदनाएं प्रभावी बनी हैं। शब्द-चित्रों एवं बिम्ब-विधानोंके माध्यमसे अपनी संवेदनाओंको मूर्तरूप देनेकी प्रभावशाली गद्य शैलीको अपनाते हैं। आरंभिक कालके 'मणिक्कोडि'के कथाकारोंके संबन्धमें व्यक्त उनकी संवेदनाएं मार्मिक और सूक्ष्म हैं। उनके प्रति लेखककी श्रद्धा और सम्मानका भाव गुरु-शिष्यके बीच की मनःस्थितिको पाठकोंके मनमें उपस्थित करते हैं। समसामयिक लेखकोंकी मनोवृत्ति और दृष्टिकोणको

अपने भावोंसे मेल न खाते देख उनसे अलग रहनेकी स्थितिको उत्पन्न करते हैं।

कुल मिलाकर रामामृतम्का यह संस्मरणात्मक गद्य वैचारिक ऊर्जासे संपन्न तथा स्थायी भाव हैं। प्रासंगिकतासे युक्त ये लेख पाठकोंके लिए आकर्षण बनें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। इनमें सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियोंकी ओर ध्यान खींचा गया है। समाजके खण्डात्मक विभाजन, खान-पान, सामाजिक सहजीवन और व्यवस्थामें नारीकी दयनीय स्थिति आदि कई मुद्दोंपर लेखक रामामृतम्ने विशेष रूपसे विचार किया है।

इस प्रकार उनके प्रस्तुत स्मृति-लेखोंमें सामान्य पाठकोंको भी रमानेकी क्षमता है। उन्होंने अपनी स्मृति-रेखाओंमें जो चित्र अंकित किये हैं वे साधारण और लघु होते हुए भी असाधारणता और महत्ताको व्यक्त करते हैं। इनका धरातल ठोस यथार्थवादी और पार्थिव है। □

## तेलुगु : निबन्ध

### तेलुगु भाषा साहित्य जीवन और साहित्यकी मनोहारी व्याख्या

#### मणिप्रवालम्

लेखक : यस्वो जोगाराव

समीक्षक : डा. टी. राजेश्वरानन्द शर्मा

"मणिप्रवाल" दक्षिणात्य भाषाओंके साहित्यमें प्रचलित एक विशिष्ट भाषा-शैली है। संस्कृतके प्रभावसे आधुनिक दक्षिणी भाषाएं साहित्यमें प्रयुक्त होने योग्य रूपका अन्वेषण कर रही थीं। तब, संस्कृत एवं देशज भाषाके मिश्रणकी विलक्षण शैली रूपायित हुई, जिसे 'मणिप्रवालम्'की संज्ञा मिली थी। संस्कृतके क्रिया-रूपों को, संस्कृतके विभक्ति सहित संज्ञा पदोंको तेलुगु, तमिल, मलयालम आदि भाषाओंमें उस समय प्रयुक्त

करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। इस प्रकारके मिश्रणसे युक्त शिलालेखभी प्राप्त हुए हैं। मलयालम भाषामें इस शैलीमें मौलिक काव्यही नहीं प्रत्युत 'लीला-तिलकम्' नामक व्याकरण भी बनाया। मलयालममें दृष्टिगत मणिप्रवाल शैलीकी प्रमुख विशेषता संस्कृतके परसर्गों तथा विभक्तियोंसे युक्त संस्कृत शब्दोंका प्रयोग और संस्कृत विभक्तियों और परसर्गोंको जोड़कर मलयालम शब्दोंका प्रयोग। तमिलमें वेदांतदेशिक आदि



महात्माओं ने मणिप्रवाल शैली में आलूवार संतों के भक्ति गीतों के भाष्य लिखे थे। तेलुगु साहित्य में इस शैली का प्रचुर प्रयोग तो नहीं हुआ, किन्तु १३वीं शताब्दी के पालकुटिक सोमनाथ से लेकर अर्वाचीन काल के कुछ कवियों से लिखित छुट-पुट छंदों के रूप में इस शैली का प्रयोग कवियों की अपनी विनोदी प्रवृत्ति और बहुज्ञता-प्रदर्शन के परिणामस्वरूप किया गया। आधुनिक युग में मानिकोंड रामायण की भूमिका लिखते हुए आचार्य पिंगलि लक्ष्मीकांत ने मणिप्रवाल शैली का उल्लेख किया है, यद्यपि मणिप्रवाल मूकी संज्ञा नहीं दी गयी थी। हिन्दी में भी रहीम के काव्य में भाषाओं के इस ढंग के मिश्रण का रूप लक्षित होता है, जैसे—

“एकस्मिन्दिवसावसानसमये, मैं था गया बाग में।  
काचित्तत्र कुरंगबालनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी।  
तां दृष्टवा नवयौवनां शशिमुखीं, मैं मोह में जा पड़ा।”

नो जीवामि त्वया बिना शृणु प्रिये, तू यार कैसे मिले ॥

(रहीम काल से)

“शरद् निशि निशीथे चांदकी रोशनाई।

सघन वन निकुंजे, कान्ह वंशी बजाई ॥

रति पति सुत निद्रां, साइयां छोड़ भागी।

मदन शिरसि भूषः, क्या बला आन लागी। (मदना. षट्कसे)।

—डॉ. जगदीश गुप्त द्वारा संपादित ‘रीति काव्य संग्रह’, पृष्ठ १४७)।

आचार्य कवि अथवा शास्त्र कवि केशवदास की कृति रामचन्द्रिकामें भी संस्कृत हिंदी के मिश्रण के कुछ रूप प्राप्त होते हैं।

आलोच्य निबन्ध-कृतिको ‘मणिप्रवाल’ नाम विभिन्न विषयों के मिश्रण वाले सामान्यार्थ में ही दिया गया है, दक्षिणी भाषाओं के साहित्य में रूढ़, मिश्रित भाषा-शैली के विशेष अर्थ में नहीं। यहां मणियों और प्रवालों का प्रतीकात्मक अथवा रूपकपरक अर्थ लेकर समझा जा सकता है कि इस निबन्ध संकलन में तेलुगु साहित्य के कतिपय मूल्यवान् विषयों पर निबन्ध हैं और सब निबन्ध एक ही विषय से सम्बन्धित न होकर अपने में वैविध्य संजोये हुए हैं। यह वैविध्य इस कृति में संकलित २१ निबन्धों के शीर्षकों से स्पष्ट हो जाता है। इन सभी निबन्धों को पांच वर्गों के अन्तर्गत समेटा जा सकता है, यथा—

१. कवियों; विद्वानों तथा कलाकारों के व्यक्तित्व-

‘प्रकर’—नवम्बर-१०—३०

कृतित्व से सम्बन्धित निबन्ध,

२. समीक्षात्मक निबन्ध—प्रसिद्ध रचनाओं एवं कृतिकारों की समीक्षा।

३. साहित्य रूपों तथा तेलुगु भाषा और साहित्य इतिहास के विशिष्ट युगों से सम्बन्धित निबन्ध।

४. कविता, कला और सौंदर्य के प्रति भावात्मक ढंग की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले निबन्ध।

५. लोकसाहित्य की विवेचना से संबंधित निबन्ध।

अब क्रमशः इन वर्गों के अन्तर्गत आलोच्य कृतिके निबन्धों का विवेचन प्रस्तुत है :

**व्यक्तित्व तथा कृतित्व से संबंधित निबन्ध :**

इस वर्ग के निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के कारण आत्मीयतापूर्ण माधुर्य है। आचार्य जोगाराव ने प्रख्यात स्वच्छन्दतावादी कवि (भावकवि) देवुल पल्लि कृष्णशास्त्री, युगप्रवर्तक प्रगतिवादी कवि श्री. श्री., संगीत तथा साहित्य के सरस संगम एवं गणमान्य समीक्षक राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा तथा तेलुगु विश्वकोश के निर्माता और यशस्वी इतिहासकार मल्लमपल्लि सोमशेखर शर्मा के व्यक्तित्व-कृतित्व की आरती उतारते हुए, उक्त महानुभावों के साथ अपने वैयक्तिक संबंधों के आधार पर संस्मरणात्मक ढंग अपनाया है। इस हेतु ये सब निबन्ध तटस्थ दृष्टि और शोध दृष्टि से भिन्न होने के कारण पाठकों के हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं। वस्तुतः निबन्ध का निकष रचनाकार के व्यक्तित्व की झलक है। कृष्णशास्त्री के विषय में लेखक की यह उक्ति “संगीत से प्रेम करने वाली कविता, विरहानुभूतिका वरण करने वाली प्रणय भावना, सौन्दर्य संलग्न रमिकता, भक्तिके समीप में वास करने वाली स्वेच्छा-रक्ति तथा सुहृदों के हृदयों के बीच मैत्री सेतु बनाने में सक्षम हृदय-मादव—इन सबका समन्वित मूर्त रूप कृष्णशास्त्री है”—अक्षरशः सत्य है। (मणिप्रवाल मु पृष्ठ २५)। यह निबन्ध भाव-कविता के महत्त्व तथा कृष्णशास्त्री के काव्य में महकने वाले कविता-सौरभ को शब्दबद्ध करने का सफल प्रयास है। श्री. श्री. के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए एक निबन्ध में जोगाराव ने इस प्रगतिवादी कवि की प्रतिभा, भावकता तथा प्रगतिवादी पथ के नेतृत्व को रेखांकित किया है। साथ ही श्री. श्री. जैसी प्रतिभा के अभाव में केवल अनुकरण करने वाले अन्य कवियों की प्रवृत्ति पर भी अपना मत व्यक्त किया है। अनन्तकृष्ण शर्मा के कृतित्व



के तीन प्रमुख आयामों—कविरूप, समीक्षक रूप, संगीत-कलानिधि रूपको व्याख्यायित करते हुए भावात्मक शैलीमें श्रद्धा निवेदन किया है। प्रमुख इतिहासकार सोमशेखर शर्मापर निबन्धसे अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक प्रसंगोंको स्थान मिला है, जिनका उद्देश्य शर्मा जीकी सहृदयता कर्मठता, विद्वत्ता और विश्वकोश-निर्माण क्षमतापर प्रकाश डालना है।

#### समीक्षात्मक निबन्ध

इसके अन्तर्गत विश्वनाथ सत्यनारायणके 'श्रीमदनारायण कल्पवृक्ष'में विश्वामित्र और मेनका पात्रोंकी परिकल्पना, रायप्रोलु सुब्बारावकी आलोचना-दृष्टि, कवि जक्कनकी काव्यगत विशेषताएं, पिंगलि सूरनार्यकी प्रतिभा तथा अर्वाचीन कवियोंपर प्रभाव, श्री मेकारंगय्यपारावकी कृतियोंकी समीक्षा शीर्षक पांच निबन्ध विचारणीय हैं। विश्वनाथ सत्यनारायणके रामकाव्यपर लेखकी यह टिप्पणी—“एक-एक स्थानपर विश्वनाथ-कृत रामायण वाल्मीकीय रामायणका भावपरक महाभाष्य प्रतीत होता है।” (मणिप्रवालमु पृ. ११) वाल्मीकिने दस अनुष्टुप श्लोकोंमें जिस प्रसंगका निर्वाह किया है, उसीको विश्वनाथ सत्यनारायणने तीस पदों का विस्तार दिया है। मूल कृति और भाष्य-कृतिसे उदाहरण देते हुए आचार्य जोगारावने विश्वनाथकी प्रतिभा की समीक्षा की है, कथाकथन कौशलकी सराहनाभी की है। रायप्रोलु सुब्बारावकी आलोचना-दृष्टिपर निबन्धमें 'रम्यालोकम्' नामक काव्य-ग्रन्थको मुख्य आधार बनाकर उसमें अभिव्यक्त सिद्धान्तोंका समीक्षण किया गया है। 'रम्यालोकम्'के आरंभमें कविवर सुब्बारावने एक छन्दकी योजना की है, जो परम्परासे भिन्न नव्य चेतनाकी ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस छन्दकी व्याख्या करते हुए रायप्रोलुकी अभिनव-दृष्टिका परिचय निबन्धकारने दिया है। इस निबन्धमें लेखकने अंग्रेजी रोमांटिक भावधाराके विचारक कॉलरिड्जसे रायप्रोलु को उपमित करते हुए आधुनिक आन्ध्र साहित्यके इतिहासमें इस कविवरके महत्वपूर्ण स्थानका निर्धारण किया है।

जक्कनकी काव्यगत विशेषताओंका विवेचन, इस मध्यकालीन कविकी कृति 'विक्रमार्कचरित्र'की वस्तु-योजना, चरित्र चित्रण, रस परिपाक, शैली, वर्णन तथा अन्य विशेषताओंकी समीक्षाके रूपमें उदाहरणोंके साथ की गयी है। यह निबन्ध अथवा लेखकीय वैय-

क्तकतासे रहित लेख, विषयकी पर्याप्त जानकारी अवश्य देता है। इसको अध्यापकीय शैली या छात्रोपयोगी शैली माना जा सकता है। इसी क्रममें लिखित एक और निबन्ध मध्यकालके प्रमुख कवि पिंगलि सूरनार्यकी प्रतिभा तथा अर्वाचीन कवियोंपर उनके प्रभाव की मीमांसा करता है। सूरनाकी प्रतिष्ठाके मुख्य कारणों में नव्य कथा-सृष्टि, कथा प्रसंगोंके अनुरूप किये गये वस्तुवर्णन, शृंगाररसके विविध रूपोंकी अभिव्यञ्जना काव्यगत पात्रोंके माध्यमसे करना और श्लेष पद्धतिसे द्विसंधान काव्य-रचनाको स्थान दिया गया है। सूरना के काव्यगुणोंके अनुकर्ता कवियों तथा परवर्ती कवियों द्वारा इन काव्योंको नाटक, यक्षगान, उपन्यास आदि अन्य विधाओंमें परिवर्तित किये जानेपर जोगारावजीने प्रकाश डालकर सूरनाकी प्रतिभाका महत्त्वांकन किया है। इस निबन्धमें सूरनाकी काव्यपरक तथा कलापरक मान्यताओंका भी विवेचन हो सकता था, किन्तु समयाभावके कारण लेखकने ऐसे कतिपय अंश छोड़ दिये हैं।

आन्ध्र विश्वविद्यालयके पूर्व कुलपति श्री रंगय्यप्परावके गुणोंका परिचय देनेके पश्चात्, उनकी 'रुबाइया' 'ग्रीक रूपक', 'ब्रह्मपि वेंकटरत्नम् नायुडु', 'संस्कृति', 'आन्ध्र जाति संस्कृतिचरित्र' 'यांटिगनि' 'भारतीय चित्रकला' नामक सात कृतियोंकी समीक्षा स्थालीपुलाक न्यायसे की गयी है। अनूदित कृतियोंमें भारतीय परिवेश के अनुसार विदेशी सन्दर्भोंका जो अनुकूलन अप्पारावजी ने किया है, उसकी सोदाहरण प्रशंसा इस निबन्धकी विशेषता है।

#### काव्य रूपों, भाषा और साहित्यके

#### विशिष्ट युगोंपर रचित निबन्ध

इस वर्गके निबन्धोंमें ऐतिहासिक विकास-क्रमपर लेखकका ध्यान मुख्य रूपसे केन्द्रित रहा है। इस प्रकार के निबन्धोंके शीर्षक हैं—पच्चीस वर्षोंकी तेलुगु कविता, तेलुगु उपन्यासका प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण, कई पीढ़ियोंसे चली आरही तेलुगु भाषा, विधा-वैविध्य तथा प्रौढ़तासे पूर्ण दक्षिणान्ध्र साहित्य आधुनिक कविताकी प्रवृत्तियां, आन्ध्र साहित्यमें यक्षगान विधाका वैशिष्ट्य।

'पच्चीस वर्षकी तेलुगु कविता, शीर्षक देकर लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यिक पत्रिका 'भारती' में रोमाण्टिक भावधाराके कवि श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्रीने, अपने रोचक अनुभवोंको प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति-व्यञ्जकतासे

'प्रकर'—मार्गशीर्ष २०४७—३१



परिपूर्ण निबन्ध वर्षों पूर्व लिखा था, जिसमें भाव-काव्ययुग (हिन्दीमें छायावाद काव्यसे तुलनीय) साकार रूपमें प्रस्तुत हुआ। अब वही शीर्षक देकर जोगाराव जीने स्वातंत्र्योत्तर कविताकी प्रवृत्तियों—प्रमुख रूपमें संप्रदाय कविता (क्लासिकल प्रवृत्ति), अभ्युदय कविता (प्रगतिवादी प्रवृत्ति) तथा दिगंबर कविता (सामाजिक विसंगतियोंपर आक्रोश अनावृत रूपमें व्यक्त करनेवाली प्रवृत्ति)—का सर्वेक्षण किया है। इसमें निबन्धकारने समन्वयवादी ढंग अपनाते हुए परम्परा एवं प्रगतिको सामाजिक श्रेयके गम्यतक पहुंचनेके लिए स्पर्धाशील दो भिन्न मार्गोंके रूपमें देखा है।

जोगारावजीने तेलुगु उपन्यास विधाकी प्रवृत्तियोंके विश्लेषणके अवसरपर भूमिका बांधते हुए अपनी गहरी चिन्ता इस बातपर व्यक्त की है कि आन्ध्र लोग अनुकरण-शील हैं, इनमें भाव स्वातंत्र्य नहीं है, संस्कृत साहित्य के पिछलग्गू बने हुए और उपन्यास-विधाको नाम सहित (तेलुगुमें नवलका अर्थ उपन्यास है) आंग्ल साहित्यसे ग्रहण किया है। भिन्न मानक-समुदायोंके बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान ऐतिहासिक तथ्य है और अनिवार्य भी। पूरे भारतीय साहित्यमें आधुनिक कालसे पहले 'उपन्यास' नामक साहित्य-रूप था ही नहीं। पाश्चात्योंके संपर्कके परिणामस्वरूप हमारी भाषाओंमें इस विधाका उद्भव और विकास हुआ। अतः जोगारावजीकी यह चिन्ता अनावश्यक है। निबन्धमें लेखकने उपन्यासमें आख्यान-कथनकी प्रवृत्तिको प्रमुख मानते हुए यह मत प्रकट किया है कि पिंगलि सूरनार्यका प्रबन्धकाव्य 'कलापूर्णोदयम्' को स्यूडो माइथॉलजिकल फिक्शन कहा जा सकता है। केवल कथा-कथनको महत्त्व देते हुए मध्यकालमें रचे गये आख्यान प्रधान प्रबन्ध काव्योंको उपन्यास कहना संगत नहीं है। समकालीन समाजकी व्याख्या उपन्यासमें गद्यके माध्यम से संभव होती है, किन्तु कथाकाव्योंमें यह सुविधा कवि को नहीं मिलती। कुछ प्रमुख उपन्यासों एवं उपन्यास-कारोंके माध्यमसे प्रवृत्तियोंका विश्लेषण निबन्धकारने अवश्य किया है। किन्तु प्रगतिवादी दृष्टिकोणसे लिखित ख्यातिप्राप्त उपन्यासों, आध्यात्मिक सांस्कृतिक दृष्टि से परिचालित ऐतिहासिक उपन्यासों और आंचलिक प्रयोगों आदि अद्यतन प्रवृत्तियोंका स्पर्श तक नहीं किया गया। अन्तमें जोगारावजीने यह निष्कर्ष निकाला है कि गर्व योग्य उपन्यास-साहित्यकी समृद्धि तेलुगुमें

अभी नहीं है और इस दिशामें मौलिक ढंग एवं नया शिल्प विधान प्रकट करनेवाले उपन्यास रचनेकी चेष्टा होनी चाहिये।

तेलुगु भाषाके इतिहासको निबन्धकारने निम्न-युगोंमें विभक्त किया है—

१. अज्ञातयुग या प्राचीनयुग—आरंभसे छठी शताब्दी तक (ईस्वी)।
२. चालुक्य युग या प्राकृतनययुग—६ ठी सदीसे ११वीं सदीतक।
३. नन्नययुग—११वीं शताब्दी
४. अर्वाचीन युग—१२वीं शताब्दीसे १६वीं शताब्दी तक।

५. आधुनिक युग—१६वीं शताब्दीसे अबतक

यह विषय सामग्री विविध ग्रन्थोंमें विकीर्ण रूपमें उपलब्ध होती है। लेखकने इसे एकत्र करके जिज्ञासुओं का उपकार किया है। स्थूल रूपमें, ऐतिहासिक-साहित्यिक दृष्टिसे सम्पन्न लेखकके द्वारा किया गया यह विभाजन है।

इसी संकलनमें 'सर्वाध्र' शीर्षक एक निबन्ध है, जिसमें तेलुगु भाषाकी प्राचीनता, मधुरता, अन्य भाषा-शब्दोंको स्वीकार करनेकी क्षमता और आन्ध्रभाषियोंके कर्तव्यपर प्रकाश डाला गया है। इसमें भोजपुरी भाषा से तेलुगुके संबंधपर भी लिखा गया है। लेखकके वाक्य इस प्रकार—“हिन्दीके उपरान्त द्वितीय स्थानपर तेलुगु भाषा है। हिन्दीकी बोलियोंमें से एक, भोजपुरीको इसने बहुधा प्रभावित किया है। इस विषयको इलाहाबादके भोजपुरीभाषी अधिवक्ता, तथा वहांके स्थानीय आन्ध्र संघके अध्यक्ष श्री सूर्यनाथ उपाध्यायने मद्रासमें सम्पन्न अखिल भारतीय तेलुगु सम्मेलनमें सप्रमाण निरूपित किया है।” (मणिप्रवालमु पृ. ६३)। स्मरणीय है कि श्री सूर्यनाथ उपाध्याय बलियाके मूल-निवासी हैं, इनकी मातृभाषा भोजपुरी है। उन्होंने तेलुगु सीखकर प्रख्यात तेलुगु उपन्यासोंका अनुवाद हिन्दीमें किया है। उपाध्यायजीने भोजपुरी तथा तेलुगु के शब्द-साम्य और व्याकरणिक साम्यपर कुछ लेख प्रकाशित किये हैं।

जिस प्रकार हिन्दीभाषी क्षेत्रोंके दक्षिणमें बीजापुर, गोलकोंडा आदि स्थानोंके नरेशोंके संरक्षणमें प्रणीत हिन्दी साहित्यको दक्खिनी हिन्दीका साहित्य कहा जाता है, उसी प्रकार तेलुगु भाषा प्रान्तके दक्षिणमें



स्थित तंजावूर, मदुरै, मैसूर, पुदुकोट आदि केन्द्रोंमें गुणग्राहक भूपालोंके संरक्षणमें रचित तेलुगु साहित्यको दक्षिणान्ध्र साहित्य कहा जाता है। तेलुगु साहित्यके इतिहासमें यह युग ई. सन् १६००-१८५० तक ढाई सौ वर्षों तक परिव्याप्त है। इस साहित्यमें विधाओंका अपार वैविध्य दृष्टिगत होता है। जोगारावजीने दक्षिणान्ध्रके कवियोंकी भावना संबंधी विलक्षणता, अपनेसे पहलेके कवियोंसे बढ़कर विविध विषयोंको प्रश्रय देना, शृंगार तथा हास्य रसकी अतिशयता आदि विशेषताओं को सहज स्वाभाविक ढंगसे व्याख्यायित किया है।

‘आधुनिक कविताकी प्रवृत्तियाँ’ शीर्षक निबन्धमें अत्यन्त संक्षेपमें भाव-कविता, अभ्युदय-कविता तथा दिगंबर कवितापर अपने मत निबन्धकारने व्यक्त किये हैं। किसी बाद तक सीमित कविताको जोगारावजी सच्ची कविता नहीं मानते। पूर्ववर्ती कवितासे भाव कविताके अन्तरको स्पष्ट करते हुए लेखकने इस प्रकार लिखा—“पहलेके युगोंमें कवियोंके प्रबन्ध कौशलके कारण साहित्यको यद्यपि मान प्राप्त हुआ तोभी वे सभी काव्य वस्तु-प्रधान हैं, गृहीत कथावस्तु पुराण सम्बन्धी है और प्राचीन काव्य-रूढ़ियोंका पालन सबमें किया गया है। किन्तु भाव-कवितामें कथावस्तुका एक प्रकारसे अभावही है। अन्तरंगको अपने आलिंगनमें रसनेवाला कोईभी मृदुल भाव कविता वस्तुके स्थान पर प्रतिष्ठित हुआ है।” (मणिप्रवालमु, पृष्ठ १६८)। प्रयागमें संपन्न कई साहित्यिक सभाओंमें छायावादी कवितापर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय श्रीमती महादेवी वर्मा मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध आदि को गायकालके कवि कहा करती थीं। यहांपर गायसे तात्पर्य कथावस्तुको प्रधानता देनेवाली कविता बंधवा इतिवृत्तात्मकता लेना चाहिये। इसी निबन्धमें आचार्य जोगारावने दिगंबर कवियोंकी विशृंखलित प्रकृतिपर प्रश्नचिह्न लगाया है।

जोगारावजीने यक्षगान विधाका विशेष अध्ययन किया है। इसी विषयपर उनका शोध-प्रबन्ध ‘आन्ध्र यक्षगान वाङ्मयचरित्र’के नामसे प्रकाशित हुआ था। इस शोध प्रबन्धमें इस विशिष्ट काव्य-रूपपर समग्र रूपसे शोधके सभी परिणाम समाविष्ट हुए हैं। वास्तवमें यक्षगान एक समाहार कला है या मिश्रित कला है। इसमें

संगीत, साहित्य, नृत्य तथा अभिनय कलाओंका समाहार हो जाता है। हिन्दीमें प्रचलित गीत नृत्यपरक रास काव्य-परंपरा और दाक्षिणात्य साहित्यकी यक्षगान-परंपरामें कुछ साम्य दृष्टिगत होता है—यह मत डॉ. मुटनूर संगमेशमका है जो हिन्दी और तेलुगु साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनकी दिशामें कार्य करते आ रहे हैं। उनके अनुसार भक्ति आंदोलनके पूरे देशमें परिव्याप्त होनेके कारण भाव-विचारों और कला-रूपोंका आदान-प्रदान बिल्कुल स्वाभाविक है। डॉ. जोगारावने अपने अनुसंधानके परिणामोंको एक निबन्धका रूप दिया। इसमें विधाकी निम्न विशेषताएं स्पष्टकी गयी हैं—(१) अभिजात वर्गों के लिए रचित साहित्यका केवल पाठ्य प्रयोजन है तो यक्षगान पाठ्य, गेय, नाट्य आदि कई प्रयोजनोंसे संयुक्त है। (२) हरिकथा, कठपुतली खेल, मार्ग पद्धति का नाटक, आधुनिक रंगमंचीय नाटक आदि अन्य कई विधाओंसे यक्षगानका सम्बन्ध है। इस संबंधका अन्वेषण साहित्येतिहासको उसकी संपूर्णतामें समझनेमें उपयोगी होगा। (३) पद कविताके कई भेदोंको अपनेमें समेटकर यक्षगानने उनको सुरक्षित रखा है। (४) इसमें इतिवृत्त सम्बन्धी विविधता पायी जाती है जैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, लोककथा परक आदि। (५) शृंगारके साथ-साथ हास्य रसको भी यक्षगानोंमें स्थान मिला है। (६) यक्षगान साहित्य में कई प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है। यदि तेलुगुके छंदोंका विश्वकोष कभी बनेगा तो प्रभूत सामग्री यक्षगानोंसे मिल सकती है। (७) जन-व्यवहारकी तेलुगुभाषाके बोलीगत विविध रूपों, बिशिष्ट प्रयोगों, मुहावरों आदि का एक कोश यक्षगान साहित्यमें बिखरा पड़ा है। (८) तेलुगुभाषियोंके सामाजिक इतिहासके लेखनके लिए आवश्यक कई सामाजिक विशेषताएं यक्षगानसे प्राप्त होती हैं। (९) समूचे देशी वाङ्मयका प्रतिनिधित्व यक्षगान विधा करती है। (१०) तेलुगु साहित्यमें कई काव्यरूप संस्कृत, अंग्रेजी आदि अन्य स्रोतोंसे गृहीत हुए हैं, किन्तु यक्षगान विधा तेलुगु साहित्यकी अपनी स्वतंत्र विधा है। इसमें सर्वत्र शब्द प्रयोग सम्बन्धी प्रौढ़ता भलेही दिखायी न देती हो, किन्तु भावाश्रित प्रौढ़ता अवश्य मिल जाती है।



## सौन्दर्य तथा कलापर भावात्मक प्रतिक्रिया प्रकट करनेवाले निबन्ध :

इस वर्गके दो निबन्ध प्रस्तुत निबन्ध संग्रहमें संकलित हैं। एकका शीर्षक है 'देवुनि दस्तूरी' (भगवानकी लिखावट) और दूसरेका शीर्षक 'कवि-सम्मान' है। प्रथममें लेखकने सौन्दर्य तथा कलापर अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए मुक्त विचरण किया है। प्रख्यात विचारक एमर्सनकी सूक्ति इस निबन्धमें उद्धृत की गयी है, कि—*"Beauty is The Handwritting of God"*, इसी सूक्तिके आधारपर लेखकने निबन्धको उक्त शीर्षक दिया है। आचार्य जोगारावने समूचे जगत्में अभिव्यक्त दैवीय अंशको सौन्दर्य कहकर सौन्दर्य तृष्णा के फलस्वरूप मनुष्यमें उत्पन्न सात्विक आवेशको कलाओं का उद्भव-स्थान बताया है। पाश्चात्योंके द्वारा किया गया फाइन आर्ट्सका यादृच्छिक शब्द रूप हमारे यहां ललित कला है। निबन्धकारने कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्यके अष्टम सर्गके ६७वें श्लोककी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेखकके अनुसार सौन्दर्य, माधुर्य तथा सौकुमार्यका समाहार ही लालित्य है। सौन्दर्यकी ओर अपनी प्रगाढ़ अनुरक्तिके कारण लेखकने गद्यमें काव्यात्मक शैलीकी योजना इस निबन्धमें की है। ऐसे स्थानोंपर वाक्य योजना लम्बी तथा आलंकारिक हो गयी है।

इस वर्गके एक और निबन्धका शीर्षक है 'कवि-सम्मान'। इसमें लेखकने वेद वाक्यका हवाला देकर स्वच्छन्दवादी आंग्ल कवि शैलीकी पंक्ति उद्धृत करके कवियोंके महत्त्वको उनकी सार्वकालिकता और सार्व-देशिकताको वाणी दी है। अपने स्वरचित पांच तेलुगु छन्दोंकी भी योजना इस निबन्धके अंतर्गत जोगारावजी ने की है। रूस, इंग्लैंड आदि विदेशोंमें भव्य प्रस्तर मूर्तियाँ बनाकर पुश्किन और शेक्सपियर प्रभृति महा-कवियोंके प्रति जनता अपनी अपार भक्ति प्रकट करती है। लेखक इसलिए तेलुगुभाषियोंसे निवेदन करते हैं वे अपने हितमें कवियोंके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए भव्य रीतिसे उनका सम्मान करें।

**लोक-साहित्यकी विवेचनासे संबंधित निबन्ध :—**  
लोक साहित्यके यशस्वी सेवक, इस साहित्यके संकलन में अनवरत रूपसे समर्पित श्री नेदुनूरि गंगाधरम्मी प्रकृति "सेलयेरू" (निर्झरिणी) की भूमिकाके रूपमें रचित एक मात्र निबन्ध इस वर्गमें ध्यान खींचनेवाला है।

'प्रकर'—नवम्बर'९०—३४ In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

लेखकने लोकगीतके प्रणेता कविके हृदयको मधुर सद्दृश बताकर उस साहित्यमें सहज स्वाभाविक रूपमें अवस्थित आपात मधुर गीति धर्म तथा आडंबरहीन साहित्यिक शक्तिकी समृद्धिको महत्त्वपूर्ण बताया है। लेखकके अनुसार लोकगीतोंका संकलन तथा वर्गीकरण उल्लेखपूर्ण कार्य है, इन समस्याओंसे जूझते हुए कुछ महानुभावोंने इस दिशामें महान् कार्य किया है। इन साहित्य-सेवियोंमें श्री नेदुनूरि गंगाधरम्मी स्थान अन्यतम है। केवल संकलनका कार्यही नहीं प्रत्युत इस क्षेत्रमें उपस्थित होनेवाली समस्याओं तथा लोक गीतोंमें छिपे हुए रहस्यों आदिका विवेचन करते हुए विविध पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेखोंको एक पुस्तकका रूप दिया गया है। इस निबन्धमें जोगारावजीके द्वारा दी गयी निम्नोक्त सूचना लोक-साहित्यके अध्ययनमें रुचि रखनेवालोंके लिए महत्त्वपूर्ण है। "१९३६ में पंजाबसे देवेन्द्र सत्यार्थी, १९४० में पेरिससे श्री. ए. वी. मुर्ति, १९४२ में कलकत्तासे रामानंद चटर्जी आदि विख्यात विद्वान् आन्ध्र प्रांतमें आकर श्री गंगाधरम् से मिले और दुभाषियोंकी सहायतासे तेलुगुके लोकगीतों तथा लोक-परंपराओंको ग्रहण करके मार्टन रिव्यू, ब्रुल इंडिया, मार्च ऑफ इंडिया नामक पत्रिकाओंमें तथा मीट मई पीपल, 'गायेगा हिन्दुस्तान', 'घरती गाती है, नामक ग्रंथोंमें गंगाधरम्जीकी सराहना की है" (मणि प्रवालमु, पृष्ठ ७७)।

साहित्यके क्षेत्रमें, चाहे वह संस्कृत, तेलुगु हिन्दी, अंग्रेजी कुछभी हो, दो प्रकारकी प्रतिभा परिलक्षित होती है। एक प्रकार सृजनात्मक साहित्यकी परिचालक शक्ति है तो दूसरा प्रकार व्याख्या-विश्लेषणपरक तथा आलोचनात्मक होता है। एकही व्यक्तिमें दोनों प्रकारों का संगम सर्वत्र दिखायी नहीं देता। प्राचीन मनीषियों में रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ जैसी विशुद्धियों ने काव्य शास्त्रकी सूक्ष्म मीमांसामें तथा काव्य-रचना की सरस प्रवृत्तिमें समान प्रतिभा दिखायी है। आन्ध्र विश्वविद्यालयके प्रसिद्ध कुलपति डॉ. सी. आर. रेड्डीमें काव्य सृजन तथा काव्यालोचनकी दोनों प्रतिभाएँ दृष्टिगत होती हैं। यद्यपि सृजनात्मक व्यापार तथा उसकी समालोचना परस्पर संबंधित हैं, तोभी एकका दूसरेको पीछे ढकेलकर स्वयं आगे बढ़ना साधारण-तया देखा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पहले कहानियाँ, 'बुद्धचरित' आदि काव्य लिखते थे किन्तु



उनकी प्रतिष्ठा साहित्यालोचकके रूपमें ही है। विश्व-विद्यालयोंमें प्रवेश करनेके बाद कविता करना छोड़कर अध्यापक लोग समालोचना एवं अनुसंधान तक सीमित हो जाते हैं। आचार्य जोगारावने इस सत्यके लिए उदाहरणस्वरूप पिंगलि लक्ष्मीकांतम्, राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा आदिको प्रस्तुत करते हुए इसके अपवाद रूपमें श्री नारायण रेड्डी, सुप्रसन्न एवं मादिराज रंगारावकी स्थिति मानी है। (मणिप्रवालमु, पृष्ठ ८४)। आचार्य जोगारावको उक्त अपवादोंकी सूचीमें शामिल कर सकते हैं, क्योंकि लगभग ३० वर्षके अध्यापन व्यवसाय कालकी उनकी कई सृजनात्मक रचनाएं हैं। प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह यद्यपि गद्य-कृति है फिर भी इसमें कृति समर्पणके संदर्भमें १८, 'कवि-सम्मान' शीर्षक निबंधमें ५, 'रायप्रोलुकी आलोचना दृष्टि' निबंधमें एक तथा अनंतकृष्ण शर्माके व्यक्तित्वपर निबन्धमें एक, आधुनिक काव्य प्रवृत्तियोंवाले निबन्धके समापन में एक, कुल मिलाकर २६ स्वरचित छंदोंकी योजना है।

'मणिप्रवालमु' में प्राचीन कवियोंके द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा काव्य पंक्तियोंको ग्रहण करके मूल संदर्भों से भिन्न नवीन संदर्भोंमें उनको प्रयुक्त करनेकी प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। उन शब्दों एवं काव्य पंक्तियोंके प्रति लेखकके अनुरागके अलावा इन साहित्यिक ग्रंथोंसे कविके नित्य परिचयका भी द्योतन इससे होता है। निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं, जो प्रस्तुत आलोच्य कृति 'मणिप्रवालमु' से ही लिये गये हैं।

१. तन्महनीय स्थिति मूलमें निलिचिन कुंडली द्रु (पृष्ठ ११३)
२. चिन्तारि पोन्नारि रचनल जीवनाडि (पृष्ठ १६८)
३. दरहासमु मीसमु दीर्प (पृष्ठ ७०)
४. प्राग्विपश्चिन्मतमुन नव कथा द्रुतिनि सिचि रगुवेयि रेदनु गोप्पदि (पृष्ठ १५२)

अप्प कवि नामक तेलुगुके एक लक्षण ग्रंथाकारने कविके लिए आवश्यक गुणोंमें "पूर्वकवीश्वर वाक्प्रयोग दक्षता" को भी परिगणित किया है। कवि तथा कविता शब्दोंको साहित्य स्रष्टा तथा सृजनात्मक साहित्यके विस्तृत अर्थमें ग्रहण किया जाये तो जोगारावकी गद्य शैलीमें योग देनेवाले गुणके रूपमें पूर्वकवीश्वर वाक्प्रयोग दक्षताको समझा जा सकता है।

आचार्य जोगारावके प्रस्तुत निबन्ध-संग्रहमें संकलित सभी निबन्ध एक ही स्तरके नहीं हैं। कुछ निबन्धोंमें लेखककी वैयक्तिकता प्रतिफलित होकर रचना को आस्वादनीय बनाती है तो कहीं-कहीं विषय-पुष्टिके बावजूद अध्यापकीय अथवा छात्रोपयोगी शैली दिखायी देती है। व्यक्ति व्यंजक निबन्धही वस्तुतः श्रेष्ठ निबन्ध होता है। अपनी छात्रावस्थासे लेकर अबतक विविध अवसरोंपर लिखे गये निबन्धोंको इस पुस्तकमें स्थान देनेके कारणही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। निबन्धका उत्कर्षपूर्ण रूप हम तेलुगुमें काटूरि वेंकटेश्वर-राव द्वारा प्रणीत 'साहित्य दर्शन' में देख सकते हैं और हिन्दीमें हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं पंडित विद्यानिवास मिश्रके निबन्ध-संकलनोंमें देख सकते हैं।

आलोच्य निबन्ध कृतिके आधारपर समझ सकते हैं कि आचार्य जोगारावने संस्कृत, तेलुगु एवं अंग्रेजी साहित्यका रस चर्चण किया है, उनका नित्य चिन्तन और मनन किया है। अपने अनुभवोंको तथा अनुभूति-मूलक चिन्तनको प्रभावी ढंगसे अभिव्यक्त करनेकी कार्यित्री प्रतिभाके भी वे धनी हैं। इस कारण प्रायः उनके भाव विचार व्यक्ति रसमें पगकर आस्वादनीय बन सके। इन निबन्धोंको पढ़नेका यही प्रयोजन है कि पाठक तेलुगु साहित्यके कुछ मार्मिक प्रसंगों, काव्यगत पात्र परिकल्पना, कवि मनीषियोंकी प्रतिभा और विशिष्ट साहित्यिक विद्याओंसे परिचित होकर यह अनुभव करें कि आन्ध्र साहित्यमें मणियों और प्रवालोंकी भांति अमूल्य और संग्रहणीय बहुत कुछ संपत्ति है। □



## नेपाली खण्ड-काव्य

# मार्मिकतापूर्ण, अन्तर्व्यथा, मानवीय सहज प्रवृत्ति और उदात्त साहित्यिक ध्येयकी कृति

## कर्ण-कुन्ती

कवि : तुलसी 'अपतन'

समीक्षक : डॉ. चन्द्रेश्वर दुवे

'कर्ण-कुन्ती' साहित्यजगत्में तुलसी 'अपतन' के नाम से प्रसिद्ध डॉ. तुलसी बहादुर छेत्रीकी नवीनतम काव्य-कृति है। कर्ण और कुन्ती दोनों महाभारतके प्रसिद्ध पात्र हैं। 'कर्ण-कुन्ती' में महाभारतकी मूल-कथा प्रायः सुरक्षित है। किन्तु यह रचना महाभारतपर आधारित नहीं है। प्रस्तुत कृति वास्तवमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी 'कर्ण-कुन्ती संवाद' नामक रचनापर आधारित है। डॉ. छेत्रीने पुस्तकके आमुखमें अपनी इस रचनाकी पृष्ठभूमि और प्रेरणा-स्रोतका विस्तृत उल्लेख किया है। उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवनमें 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकके रूपमें, मूल बंगला भाषामें किया था। तभी कर्ण के प्रति वे आकृष्ट और सहानुभूतिशील हुए और उनके मन-मस्तिष्कमें कर्णकी एक छवि बनी। एक आदर्श वीर, धर्म-बुद्धि, कर्तव्य-परायण, दृढ़-प्रतिज्ञ, विवेकी साहसी और दानी पुरुषके रूपमें कर्णकी यह छवि उनकी कल्पना और भावनामें विकसित होती रही। रवीन्द्र-शतवार्षिकी-समारोहके अवसरपर उन्हें 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' का अनुवाद प्रस्तुत करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ और इसके लिए उन्हें इस रचनाका गहरा अध्ययन करनेका सुयोग मिला। किन्तु रवीन्द्रने कर्णको जिस रूपमें प्रस्तुत किया था, डॉ. छेत्री उससे संतुष्ट नहीं थे। अतः 'कर्ण-कुन्ती' के माध्यमसे कविने अपनी भावनाओं के अनुरूप कर्ण और कुन्तीको चित्रित करनेका प्रयास किया। प्रस्तुत रचना इसी दिशामें विनम्र प्रयास है। यही प्रयास इस रचनाकी पृष्ठभूमि है। कविने यह स्पष्ट नहीं किया कि उनका कर्ण और

कुन्ती, रवीन्द्रनाथके कर्ण और कुन्तीसे किस प्रकार भिन्न है। डॉ. छेत्रीने भी महाभारतपर आधारित कर्ण और कुन्तीकी लोक-प्रसिद्ध छविको अक्षुण्ण रखा है। हां, उन्होंने कर्ण और कुन्तीको आधुनिक संदर्भमें चित्रित कर कुछ नवीनता लानेका प्रयास किया है और यही नवीनता या समसामयिकता इस रचनाकी प्रमुख विशेषता है। संक्षेपमें, 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' पर आधारित डॉ. छेत्रीकी यह कृति महाभारत-कथाका अत्यन्त उत्कृष्ट नेपाली प्रस्तुतीकरण है, जो देश और विश्वकी समसामयिक समस्याओंके संदर्भमें बहुत उपयोगी, मार्मिक और प्रासंगिक है।

'कर्ण-कुन्ती' गद्य-काव्य है। सम्पूर्ण रचना तीन खंडोंमें विभाजित है। वैसे हम इन तीन खंडोंको अध्याय या सर्ग कह सकते हैं। किन्तु लेखकने इन तीन खंडोंको क्रमशः एक, दो और तीन, संख्याओंसे रेखांकित किया है। कथा-सूत्रको देखते हुए पारिभाषिक दृष्टिमें इसे खंड-काव्य कहा जा सकता है। किन्तु 'कर्ण-कुन्ती' का अधिकांश भाग कर्ण और कुन्तीके कथोपथनपर आधारित है जो इसे गीति-नाट्यके अत्यन्त निकट ले जाते हैं। छः पृष्ठोंमें फैला प्रथम सर्ग कुन्तीका एकालाप है। किन्तु बावन पृष्ठोंमें फैला दूसरा सम्पूर्ण सर्ग कर्ण और कुन्ती का वार्त्तालाप है। इस सर्गपर रवीन्द्रनाथ ठाकुरका गहरा प्रभाव है। इसलिए दूसरा सर्ग वास्तवमें शिल्पके स्तरपर 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' का नेपाली रूपान्तर हो गया है। बत्तीस पृष्ठोंमें फैला तीसरा सर्ग भी कथोप-कथन-प्रधान है। डॉ. छेत्री कविताके साथ नाटक



और एकांकी भी लिखते रहे हैं और उनका नाटककार इस काव्य-रचना में भी मुखरित हुआ है।

प्रथम सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त है। पांडव-शिविर में विशेष हलचल है और सब लोग युद्ध की योजना बनाने में व्यस्त हैं। किन्तु कुन्ती की निरीह आत्मा अत्यन्त पीड़ित, अशान्त और व्यग्र है। इसका एक विशेष कारण है। कल इस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, पांडवों का युद्ध कर्ण से होने वाला है और कुन्ती को छोड़ कोई नहीं जानता कि कर्ण भी उसका ही अपना पुत्र है। अपने ही भाइयों के बीच इस अवश्यंभावी भीषण युद्ध और उसके विनाशकारी परिणाम की कल्पना कर कुन्ती की आत्मा कांप उठती है और वह अपने मातृत्व के आवेग को संभाल नहीं पाती। कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाकर उसके मुंह पर ताला लगा दिया गया था। लेकिन माता के शाश्वत और वास्तविक कर्त्तव्य ने उस ताले को खोल दिया है। कुन्ती सर्व-प्रथम एक माता है। उसका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है सृष्टि, पालन-पोषण और रक्षण। पुत्र की रक्षा से बड़ा मां का कोई कर्त्तव्य नहीं। वह अपनी ही आँखों अपनी संतानों का विनाश नहीं देख सकती। धर्म-युद्ध के नाम पर वह यह अधर्म, कुर्म और पाप नहीं देख सकती। शांति, बहिष्कार, प्रेम, माया, ममता और स्नेह का सर्वनाश वह नहीं देख सकती। अब तक वह चुपचाप युद्ध देखती रही है और उसका कुपरिणाम भी। वह अब तक चुप थी। पर अब चुप नहीं रह सकती। कुन्ती अब लोकलाज और अन्धे समाज के सारे भय को भूलकर कर्ण के यहां जाने का निश्चय करती है और उसे सब कुछ बताने का निर्णय करती है। यहाँ कुन्ती की भूमिका भारत-माता की भूमिका बन जाती है। वह युद्ध को रोकना चाहती है। कुन्ती को विश्वास है कि कर्ण भ्रातृ-हत्या का पाप लेना नहीं चाहेगा। वह महादानी है। तो क्या कर्ण अपनी माँ को 'युद्ध-विराम' का वचन नहीं दे सकता? कुन्ती इसी विश्वास के साथ कर्ण के शिविर की ओर प्रस्थान करती है।

दूसरे सर्ग में कुन्ती कर्ण के शिविर में पहुँचती है। कर्ण एक स्त्री को अपने शिविर में देखकर आश्चर्यचकित है। वह पूछता है—'माँ तुम कौन हो और मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ।' कुन्ती 'माँ' का सम्बोधन सुनकर आत्म-विमोह हो जाती है। वह स्तब्ध और मौन है। वह अपना परिचय किस प्रकार दे। बहुत प्रयास करने पर वह केवल 'मैं कुन्ती हूँ' इतना भर कह पाती है।

पांडव-जननी? कर्ण अनुमान लगाता है, वह अवश्य कोई संधि-पत्र लायी होगी। अथवा अपने प्रिय पुत्र अर्जुन के लिए प्राण-भिक्षा मांगने आयी होगी। 'पांडव-जननी!' मैं आपके आगमन से गौरवान्वित और पवित्र हुआ।—कर्ण कहता है। 'मैं पहले कर्ण-जननी हूँ और तब पांडव-जननी—इसी सत्य का उद्घाटन करने तुम्हारे पास आयी हूँ।'—कुन्ती की इस बात को सुनकर कर्ण उल्लसित, आनंदित और रोमांचित होता है। पर उसे सहसा विश्वास नहीं होता और फिर किसी कुचक्र की उसे आशंका होती है। कर्ण तो सूत-पुत्र राधेय है—संसार तो यही जानता है। कर्ण अत्यन्त उद्विग्न होकर भाव-विह्वल स्वर में पूछता है—'माते! यदि यही सत्य है तो तुम अब तक कहाँ थी? तुम्हारा मातृस्नेह अब तक कहाँ था? तुम उस दिन कहाँ थी जिस दिन हस्तिनापुर में धनुर्विद्या की प्रतियोगिता हुई थी? जब मेरा परिचय पूछा गया तब तुम चुप क्यों रही? मुझे अधिरथ और राधाने पुत्र-स्नेह दिया और दुर्योधन ने मुझे अंगदेश का राजा बनाया। इस प्रतियोगिता में केवल राजकुमार ही सम्मिलित हो सकता है। कर्ण, जाओ रथ हाँको। गदहे को धो देने से वह गाय नहीं बन सकता'—कहकर जब सारी राजसभा मुझे अपमानित और तिरस्कृत कर रही थी, तब तुम कहाँ थीं माते? जन्म से कोई राजा या राजकुमार नहीं होता। फिर भी मैं अकुलीन अधम और अज्ञात कुलशील राधेय आजीवन कलंकित, लांछित और अपमानित होता रहा। पर आज मैं न तो लज्जित हूँ न तो किसी प्रकार की हीन-भावना से ग्रस्त। क्योंकि अपने जन्म पर किसी का अधिकार नहीं—'जन्ममा छैन मेरो अधिकार/आमा मेरो अधिकार छ कर्ममा सगौरव/व्यसको निति छैन दायी म/छैन म किंचित पनि लज्जित/आउँदैन दीन-हीन भावना ममा/अपराधी सम्झन्न म आफैलाई।' कर्ण को अपने कानों पर विश्वास नहीं होता। 'मैं तुम्हारा आत्मज राजपुत्र पांडव हूँ, सो भी ज्येष्ठ पांडव? माते! क्या मैं सच-मुच तुम्हारा पुत्र हूँ?' कुन्ती पूर्वकथा सुनाकर कर्ण की शंका का समाधान करती है। किस प्रकार दुर्वासने कुन्ती की सेवा से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया था और सूर्य के वरदान स्वरूप कवच-कुण्डल युक्त पुत्र को उसने जन्म दिया था। किन्तु अबला और धर्मभीरु कुमारी कुन्ती लोकापवाद और समाज के भय से अपने मातृ-कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकी। कर्ण आश्वस्त हो जाता है—



‘माते ! आप निराश नहीं लौटेंगी । आज्ञा कीजिये, पौरुष और धर्मके अलावा आप जो चाहें माँग लें ।’ किन्तु कुन्ती तो कर्णसे कर्णकी ही भिक्षा मांगने आयी है ।

माँकी गोद पानेका कर्णका सपना आज साकार हुआ है । किन्तु उसका विवेक उसे रोकता है । वह स्वार्थी नहीं हो सकता । सूतमाताको छोड़ अब वह राजमाता को माता कैसे मान ले ? सिंहासन और मुकुटके लोभमें वह अकृतज्ञ बनकर कौरव-शिविरका त्याग नहीं कर सकता । उसकी कुलीनता, राजत्व और मुकुट जन्मके साथही नदीकी धारामें प्रवाहित होगया । फिरभी वह अपनी माता कुन्तीको आश्वस्त करता है—‘मैं सूर्यको साक्षी रखकर शपथ लेता हूँ कि अर्जुनको छोड़ किसी पांडवके विरुद्ध अस्त्र-शस्त्र नहीं चलाऊंगा । अर्जुनके साथ भी छल-कपट-रहित धर्म-युद्ध करूंगा । माते ! तुम पाँच पुत्रोंकी माँ बनी रहोगी और मैं भी अपना मातृकृण चुका सकूंगा :—‘साक्षी राखी सूर्यलाई भन्छु म/ उठने छैन अस्त्र-शस्त्र यो मेरो/ पांडवमाथि सिवाय अर्जुन...प्रशर गर्ने छैन म पछिल्लतिरबाट/शस्त्रास्त्र छल-कपट ले कुनै/युद्ध-विजय निम्ति मात्र धर्म त्यागी/ लिने छैन म सहारा अधर्मको ।’

कर्ण कुन्तीको कहता है कि सत्यको तुमने छिपाया । पर उसका दंड मैं भोगता रहा । यदि इस सत्यका उद्घाटन समुचित समयपर हुआ होता तो कर्ण और महाभारतका इतिहास भिन्न होता । ‘माते ! यदि तुमने यह रहस्य पहले खोला होता तो शायद युद्ध हुआही न होता ।’ कुन्ती अपनी भूल स्वीकार करती है । साथ ही अपनी विवशताभी प्रकट करती है । परिस्थितियोंने उसे भाग्यवादी और नियतिवादी बना दिया है—‘लेखल भावी मेटल को ?’ युद्ध तो हमारी नियति थी । युद्ध तो अवश्यम्भावी बन गयाथा, अनिवार्य होगयाथा, क्योंकि हम सभी उस महाशक्तिकी कठपुतली हैं ।’

किन्तु कर्ण भाग्यवादी नहीं है । वह अपने कर्म और पौरुषमें विश्वास करता है । वह युद्धकी अनिवार्यताको भी नहीं मानता । उसके विचारसे युद्ध रोका जा सकता है, टाला जा सकता है । जीवन एक कठोर संघर्ष है, संग्राम है । हमें उसका सामना करना चाहिये, उससे भागना नहीं चाहिये । वह कुन्तीको भी इसी सत्यका सामना करनेकी सलाह देता है—‘तुमने जिस भयसे मुझे पानीमें बहा दिया, तुम्हारा वह भय निरा-

धार और व्यर्थ था—‘कस्तो उल्टो बुद्धि जाग्यो आमा/ आशीर्वादलाई पाप सम्झ्यौ, वरदानलाई कालो कलंक त्यो/...डरायौ ? डरायौ तिमी कोसित ? वीर माता डरायौ समाजसित ? यो समाजसित ? यो नक्साको बाधसित ? यसको निर्जीव धाकसित ? यो हाथ सृष्टि हो आमा ! मूषिक-व्याघ्रको कथा/ समाज, यो हामीले नै लाएको बन्धन हो आमा...तिमी नै भाग्य-विधाता हौ आमा/ आपनो भाग्य र कर्मको, देश जाति समाज को/ अंत के को डर तिमीलाई ?’—‘माते, तुम्हें सत्यका सामना करना चाहियेथा । सत्यसे डरना नहीं चाहिये था । क्योंकि समाज हमारी सृष्टि है । इसके नियम बदलते रहतेहैं और कलका धर्म आज पाप बन जाता है । इस स्थलपर डॉ. छेत्रीने कर्णके माध्यमसे युद्ध-विरोधी भावनाका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण और विश्लेषण किया है । इस दूसरे सर्गके अन्तमें आदर्श विवेक और पौरुषका प्रतीक कर्ण माताको खाली हाथ नहीं लौटाता । किन्तु वह यहभी कहता है कि दुर्योधनने उसे सब कुछ दिया है । वह उसे धोखा नहीं दे सकता, उसके साथ कपट नहीं कर सकता । कथाके इसी मोड़पर सर्ग समाप्त होता है ।

यह दूसरा सर्ग विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । क्योंकि डॉ. छेत्रीकी रचना कर्ण-कुन्तीकी यह ‘रीढ़की हड्डी’ है, उसका हृदय-स्थल है । यही वह सर्ग है जहाँ डॉ. छेत्री कर्ण और कुन्तीको वह छवि प्रदान करना चाहतेहैं जो छवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके ‘कर्ण-कुन्ती-संवाद’ में उन्हें दिखायी नहीं देती । रवीन्द्रके कर्ण और कुन्तीकी छवि सुधारना ही ‘कर्ण-कुन्ती’ में डॉ. छेत्रीका एक मात्र उद्देश्य था । बिना रवीन्द्रका अध्ययन किये इस सुधार को देखना-परखना सामान्य पाठकके लिए संभव नहीं है । फिरभी इतना तो कहा जा सकता है कि लेखकने महाभारतमें वर्णित कर्ण और कुन्तीके व्यक्तित्वको बनाये रखा है और मातृत्व सह-अस्तित्व, शान्ति और युद्ध-विरोधी-भावनापर बल देकर अपनी रचनाको परिपुष्ट किया है ।

जिस प्रकार प्रथम सर्ग पृष्ठभूमिके रूपमें आया है और अत्यन्त संक्षिप्त है, उसी प्रकार तीसरा सर्गभी छोटा है और उपसंहारके रूपमें है । लेखक जो कुछ कहना चाहताथा, दूसरे सर्गमें कह चुका है । अतः तीसरे सर्गमें एक प्रकारकी शीघ्रता बरती गयी है । किन्तु जब तक कर्णकी कहानी पूरी नहीं होती, तबतक ‘कर्ण-कुन्ती’ की समाप्ति कैसे होगी ? महाभारत-



युद्ध अब अत्यन्त भीषण और भयंकर रूप ले चुका है। भीष्म द्वारा निर्धारित युद्धके सारे नियम टूट चुके हैं। धर्म-युद्ध कूट-युद्ध या अधर्म-युद्धमें बदल गया है। युद्ध का एकमात्र लक्ष्य है विजय, चाहे यह विजय छल-कपट और झूठकी सहायतासे ही क्यों न प्राप्त हो। नियम-नीति और नैतिकता समाप्त हो गयी है। दस दिनोंके घनघोर युद्धके बाद शर-शैय्यापर लेटे महारथी भीष्म अत्यन्त क्षुब्ध और दुःखी हैं। लेकिन वे विवश हैं। युद्ध और प्रेममें सबकुछ उचित मान लिया गया है। जिसकी लाठी उसकी भैंस हो रही है। गेहूं और गोबर सब एक हो चुका है। भीष्म अत्यन्त चिन्ता-ग्रस्त हैं।

कर्ण घायल भीष्मको देखते युद्ध-भूमिमें आता है और पितामहको प्रणाम करता है। भीष्म उसे आशीर्वाद और युद्धमें सम्मिलित होनेकी अनुमति देते हैं। अपनी वीरता और युद्ध-कौशल दिखानेके लिए कर्णका मार्ग अब प्रशस्त हो जाता है। भीष्म उसे धर्मयुद्ध और कूट-युद्धका अंतर समझाते हुए, धर्मयुद्ध करनेका परामर्श देते हैं। कर्ण प्रसन्न होकर वहाँसे लौटता है। युद्धके पन्द्रहवें दिन द्रोणाचार्यकी मृत्यु होती है और सोलहवें दिन कर्णको प्रधान सेनापति बनाया जाता है।

युद्धकी विकरालता अपनी चरम-सीमापर है। कर्ण माता कुन्तीको दिये अपने वचनका पालन करते हुए क्रमशः नकुल, सहदेव, भीष्म और युधिष्ठिरको प्राण-दान देता है। उसका लक्ष्य तो है अर्जुन, जिसे कृष्ण दूर रखकर कर्णको थका रहे हैं। इसी बीच घटोत्कच का भयानक आक्रमण होता है और आसुरी युद्ध-कलाके भीषण संहारको देखकर कौरव सेना ब्राहि-ब्राहि करने लगती है। दुर्योधनकी आर्त-पुकार और दुर्निवार दृष्टिके कारण कर्णको इन्द्र-प्रदत्त अमोघ अस्त्रका प्रयोग करना पड़ता है और घटोत्कचकी मृत्युके साथ उस दिनका युद्ध

समाप्त होता है। कर्ण अपने शिविरमें लौट जाता है।

कर्णकी रात बड़ी व्यग्रतासे बीतती है। कल अर्जुनसे उसका युद्ध अवश्यम्भावी है। उसे भीष्मके उपदेशोंका स्मरण होता है। उसे सपनेमें कुन्तीका दर्शन होता है। अगले दिन युद्ध-भूमिमें अर्जुनसे उसका सामना होता है। उसे कुन्तीका स्मरण होता है। अपने सगे भाई अर्जुनके प्रति वह अत्यन्त स्नेहशील हो उठता है। विचारोंमें खोये कर्णके रथका पहिया फंस जाता है, कर्ण युद्ध-स्थगनका संकेत देकर पहिया निकालनेमें व्यस्त है। 'यही अवसर है'—कहकर कृष्ण अर्जुनको प्रेरित करते हैं और बड़े भारी मनसे अर्जुन बाण चला देता है। कर्ण वीर-गतिको प्राप्त करता है। डॉ. छेत्री, इसी विन्दुपर 'कर्ण-कुन्ती' को समाप्त करते हैं।

'कर्ण-कुन्ती' को कुछ समीक्षक या पाठक महाभारत कथाका पुनर्लेखन कह सकते हैं। किन्तु यह केवल आंशिक सत्य होगा। 'कर्ण-कुन्ती' डॉ. छेत्री और नेपाली साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट उपलब्धि है। इस रचनामें कुन्तीकी मातृत्व-भावनाके आवेग और उद्वेगका अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है इसी प्रकार कुन्ती और कर्ण दोनोंका समाजके प्रति जो दृष्टिकोण है, उसके वर्णन-विश्लेषणमें कविको सफलता मिली है। भाग्य और पौरुषमें पौरुषकी श्रेष्ठता लेखकका अभिप्रेत है। युद्धकी समस्यापर कर्णके विचार सामयिक और प्रासंगिक हैं। स्वप्न और मनोविज्ञानके योगसे कर्णका अत्यन्त प्रभावशाली और सजीव चित्रण करनेमें लेखक सफल हुआ है। कर्ण दानशीलताकी कसौटी है। साथही माता और मित्र दोनोंके प्रति समुचित कर्तव्यका पालन कर कर्णने अद्भुत विवेकका परिचय दिया है। कर्णकी ही भाँति, 'कर्ण-कुन्ती' पढ़कर सब प्रकारके पाठकोंको कुछ-न-कुछ मिलेगा ही। □



## पंजाबी : काव्य

# रूपाकारकी तरलता और विचारों तथा भावनाओंकी गहराईके लिए उल्लेखनीय काव्य

## कहकशां

कवि : तारासिंह

समीक्षक : डा. हरमहेन्द्र सिंह

तारासिंह नयी पंजाबी कविताके स्थापित कवि हैं। उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'सिमदे पत्थर' १९५६ में प्रकाशित हुआ था। 'कहकशां' १९८८ में प्रकाशित हुआ। तारासिंहने जब कविता लिखनी शुरू कीथी उस समय पंजाबी कविता रोमांटिक यथार्थसे गुजर रहीथी। पंजाबी कवि जीवनके कटु यथार्थोंको रोमांसके माध्यम से अभिव्यक्त कर रहेथे। वास्तवमें यह प्रभाव अमृता प्रीतम और प्रो. मोहनसिंहका था। १९६० के आते-आते जहां भारतीय समाज बदला, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी तथा भारतीय सभ्यताका सीधा प्रभाव पंजाबी कवितापर पड़ने लगा। इस परिवर्तनके पीछे नगरीय कवि तथा आधुनिकीकरणका गहरा प्रभाव था। नयी पंजाबी कविता समकालीन होने लगी।

तारासिंहने अपने काव्य-अनुभवको नये और ताजा बिम्बोंके द्वारा प्रस्तुत किया। ये बिम्ब महानगरके भी थे और अतीतमें भोगे हुए उस जीवनके भी थे जिसे वह अपनी चेतनामें आत्मसात् कर रहाथा। ऐसे बिम्ब उसके कविता-संग्रह 'असी-तुसी' तथा 'सुरज दा लेटर बाक्स' में देखे जा सकतेहैं। उसने सरेआम यह घोषणा अपनी कवितामें की—'तुसी तां समझ लीता सी कि तारासिंह कवि हुन मर गयाहै। जदों वी ओड़ लगदी है, जदों धरती दा पिंडा सुक के अखरोट हुंदा है, तरेड़ा चों जदों भय हूंगदा है, हवा जद अग दे बस्तर पहन के नाच करदी है।'—कविका यह आत्म-कथन उसकी काव्य संभावनाओंको नये रूपमें प्रस्तुत करताहै। धीरे-धीरे साहित्यके सामयिक प्रश्नोंसे कवि जुड़ता गया। उसकी प्रतिबद्धता साहित्य और जीवनके प्रति गहराती गयी। रचनाधर्मिता नयी चुनौतियोंको

स्वीकार करनेके लिए गतिशील बन गयी।

तारासिंह मानवीय संवेदनाका कवि है। यह संवेदना 'कहकशां' से पहलेके काव्य-संग्रहोंमें भी विद्यमान थी। अपनी एक कवितामें वह इस संवेदनाको इस प्रकार व्यक्त करताहै :

हे मेरी सरधी-मुख चंणीऐ,  
याद तेरी मैं सांभ सांभ के—  
इंज दिल अंदर रखी—  
ज्यों सियाली रुते  
टूटे होए छप्पर दे उत्त  
मीहं गड़े दा वसदा,  
छप्पर चोवे,  
थल्ले इक मुसाफिर बैठा अग बाल के,  
त्रिप त्रिप चौंदे यींह दे टेपयों—  
निद्य बचावन खातिर,  
रोक पिठ ते गंदला पानी,  
अग ते झुकिया होवे।

ऐसे सुन्दर बिम्ब पंजाबी कविताको तारासिंहने ही दिये। मुझेतो यहभी लगताहै कि सोहनसिंह 'मीशा' अपनी आरम्भिक कविताओंसे तारासिंहसे बहुत प्रभावित रहाहै। कभी ऐसे प्रयास देवेन्द्र सत्यार्थीने १९५२ के आस-पास अपनी कविताओंमें कियेथे, परन्तु अमूर्त होनेके कारण सत्यार्थीके ये बिम्ब सरल और सुबोधन बन सके। तारासिंहकी कवितामें ये बिम्ब इतने कमनीय और स्पर्शनीय हैं कि नयी पंजाबी कविता नये सौन्दर्य बोधसे जुड़ जातीहै।

तारासिंहकी रचनात्मक संवेदना नये काव्य-बोधको उद्भासित करतीहै। 'कहकशां' कविता संग्रहमें वह सामाजिक जीवनके विभिन्न दृश्य प्रस्तुत करताहै। ये



इस राजनीतिके भी हैं और व्यवस्थाके भ्रष्टाचारके भी। कवि समाजकी बुराइयोंकी अच्छी जांच पड़ताल करता है। इस जांच पड़तालमें वह अपनी कविताका हथियारके तौरपर प्रयोग करनाभी चाहता है। 'कहकशां' में एक स्थानपर वह लिखता है :

बूहे उते शर्मींदीगि दे दाग रहन दे  
बदनाम राजनीति दे सुराग रहन दे  
आकृत बालियां ने अज दा कसूर लयना  
इहां घरां विच बुझे होए चिराग रहन दे,  
कित्थे जायेगा ? दिशावाँ सभ लहू रीतियां  
काहनू बालदैं बनेरेआं ते मोमवत्तियां

भ्रष्ट राजनीतिने हजारों घरोंके चिरागोंको अपनी धिनीनी चालसे गुल किया है। कवि कहता है कि आने वाली पीढ़ियां अंधेरेके इस दर्दको महसूस कर सकें। अंधेरेका यह दर्द कई सुबहोंको जन्म देगा। ऐसी प्रभातों की तलाशमें कवि काफिला होना चाहता है।

तारासिंह भले किसी राजनीतिक विचारधारासे सीधे रूपमें जुड़ा हुआ नहीं है परन्तु उसकी कवितामें सामाजिक न्यायका स्वर प्रखर है। वह बीते युगकी परम्पराओंका हमसफर नहीं होना चाहता। मानवीय दुःख-दर्दके लिए उसकी कविताका आंचल सदा फैला रहता है। तारासिंह स्वयंको प्रेमका कवि मानता है परन्तु उसका मानना है कि प्रेम कविताएं ही शाश्वत होती हैं। वह आदमीको पूरे दुःख-सुखके साथ अपना महंगापी बनाना चाहता है। 'कहकशां' में वह एक जगह कहता है कि 'मेरे सूरजको धुंधला मत करो/ मेरे चन्द्रमापर कालिख मत पोतो / मेरे रास्ते को उज्ज्वल बनाओ / मैंने सहज और सरल मनके साथ हजारों मील लम्बा सफर तय करना है। तारासिंहकी कियतोंमें व्यंग्य भी प्रधान है। तारासिंह की बातें और लतीफे पंजाबीकी साहित्यिक दुनियांमें लोकप्रिय हैं। वह बातोंका जादूगर है। बहुत-से लतीफे पंजाबी साहित्यकारोंको तारासिंहकी काव्य प्रतिभाका रोश माननेके लिए मजबूर करते हैं। मेरी दृष्टिमें तारासिंहकी हाजिरजवाबी भूषण ध्यानपुरीसे भी चार कदम आगे है। तारासिंहकी काव्य-यात्रामें एक समय ऐसाभी आया जब वह केवल व्यंग्यकी ही कविताएं लिखा करता था। 'आरसी', 'प्रीतलड़ी', 'फतह', 'प्रीतम' यदि पत्रिकाओंमें उसकी अनेक व्यंग्य कविताएं छपीं। बादमें ये कविताएं नाथवाणीके रूपमें संगृहीत हुईं।

नाथवाणीकी कविताएं अधिकतर समकालीन राजनीति से प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। तारासिंहको इसी-लिए पंजाबी आलोचकोंने मानववादी कवि माना है। उसकी मानवीय संवेदना व्यंग्यात्मक कविताओंमें अधिक प्रखर है। तारासिंहको प्रसिद्ध पंजाबी आलोचक सतिन्दरसिंह नूर सहृदय काव्यका कवि कहता है। उसका कहना है कि तारासिंहकी काव्य-संवेदना पाठकको मोह लेती है। कविताके सीधे-सपाट बिम्ब पाठकीय संवेदनाको प्रभावित करते हैं। तारासिंहने मानवीय संवेदन सीमाको स्वीकार करते हुए एक स्थानपर लिखा है :

लघु मनुख जे अपना आप पहचाने  
इस जिड्डी वडियाई होर नहीं है।

तारासिंह गहरी मानवीय अनुभूतिका कवि है। 'कहकशां' समकालीन समाजका एक ऐसा आलेख है, जिसमें सामाजिक तनाव कई स्तरोंपर रेखांकित हुआ है। अपनी समूची संवेदनाका वर्णन करते हुए कवि कहता है :

साडे इस कारज विच  
कुल प्रकृति  
कुल मानवता सहयोगी है  
बिना ऐस दे  
सच्ची मोहब्बत की हुंदी है।

तारासिंहकी रचना-प्रक्रिया भी अनेक दौरोंमें से होकर गुजरी है। अपनी पहली पुस्तक 'सिमदे पत्थर' के साथही वह आधुनिक जीवन-चिन्तनके साथ जुड़ गया था। तारासिंहकी कवितामें परम्परा अखंड रूपसे विद्यमान रही। 'सिमदे पत्थर' से लेकर 'कहकशां' तक तारासिंहकी यह यात्रा प्रेम और घृणाके बुनियादी महाभावोंको लेकर गतिशील होती रही है शायद यही कारण है कि वह आजतक प्रेम कविता लिख रहा है। प्रारम्भमें ही उसने कहा था कि मैं पिकासोके मार्गपर नहीं चलना चाहता। मुझे तो नये रंगों और कनवासकी तलाश है। यह तलाश 'कहकशां' तक जारी है। नयी पंजाबी कविताकी सीमा और सम्भावना दोनों तारासिंह की कविताके काव्य-गुण हैं। तारासिंहने नये काव्य-रूपोंको भी अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम बनाया।

नयी पंजाबी कवितामें तारासिंहका अपना स्थान है। परम्पराके बोझसे तारासिंहकी कविता बोझिल नहीं। तारासिंहकी काव्य-चेतनाने पंजाबी काव्य-परम्पराको स्वीकार तो अवश्य किया, परन्तु उसे अन्तिम



नहीं माना । 'असी-तुसी' काव्य-संग्रहकी भूमिकामें तारा-सिंहने कहाथा कि — "मुझे नयी कविता लिखनेकी कोई लालसा नहीं, मुझे तो केवल कविता लिखकर संतुष्टि प्राप्त होतीहै । यह संतुष्टि लौकिक भी है और अलौकिक भी ।" अपनी एक कवितामें यह संतुष्टि इस प्रकार व्यक्त कीहै :

मेरे साहित-गगन दे सूरजो, समकालियों—

मेरी एह आदत है

तुहाडे वांग हर पल, छिन

सिरजदा मैं वी रहंदा हूँ

तुसीं लिखदे बी रहन्दे हो,

मगर, मैं हर घड़ी, हर पल नहीं लिखदा !

रता मैंनूँ एह आदत है...

कि ऊद वी जगमगाऊण है

तां सूरज वांग जगना है ।

तां मिहरां वांग वसना है ।

समुन्दर वांग उठना है ।

जदों वी फैलना है, फैलना है वांग धरती दे,

जदों वी मौलना है, मौलना है वांग बिरछां दे ।

तारासिंहकी कविताको हम आधुनिक चिन्तनकी कविता कह सकतेहैं । वास्तवमें तारासिंहकी कविताके साथ पंजाबी एक मुहावरा अर्जित करताहै । तारासिंह की कविता प्रथम और अन्तिम पड़ावतक कविता ही

रहतीहै । यह तारासिंहके काव्यकी सबसे बड़ी खूबी है । 'कहकशां' कविता-संग्रह अपने काव्य मूल्यके कारण सर्वोत्तम कहलानेका अधिकारी है । अन्तमें हम तारासिंहकी काव्य-प्रतिभाको उसकी इस नज़्मके साथ सलाम कहतेहैं :

मसीहा

दोस्त !

संगीन सी एक गाली दो मुझे

कि मुद्दत-से चली आ रही

नीरस दोस्ती का अन्त हो जाये ।

जब तू और मैं,

कभी मिलतेहैं,

एक दूसरेसे डरतेहैं !

मालूम होताहै—

एक-दूसरेसे कुशल पूछनी है दोनोंने !

स्वाद विहुने

स्वाँगसे बोलो, नातोंकी

समूची 'मैं' म

मेरे वक्तोंने

अर्थी रोज उठायीहै !

मेरी... 'मैं' मर गयीहै

ओ मसीहा !

जिन्दगी दे दे ! □



# पंजाबके सामाजिक इतिहासका पुनर्लेखन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें त्रासद विश्लेषण

## वड्डा घलूधारा

नाटककार : सन्तसिंह सेखों

समीक्षक : डॉ. शमीरसिंह

‘वड्डा घलूधारा’ वयोवृद्ध नाटककार संतसिंह सेखोंके द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटकों—मोइआं सार ना कई तथा वेड़ावन्न ना सके—की शृंखलामें तीसरा नाटक है। ये दोनों नाटक सिख-इतिहासको आधार बनाकर लिखे गये वे आलेख हैं, जिनमें महाराजा रणवीरसिंहके राज्य तथा उनकी मृत्युके उपरान्त उनके पुत्र महाराजा दलीपसिंहके जीवनसे सम्बन्धित इतिहास को नाटकीय रूपमें प्रस्तुत किया गया है। आलोच्य नाटकमें नाटककारने सिख-इतिहासकी गरिमा तथा दसम गुरु गोविन्दसिंहके द्वारा स्थापित खालसा-पंथके मानवकल्याणार्थ उद्देश्य ‘धर्म चलावन सन्त उबारन/दुष्ट सभनको मूल उपारन’—को इस ढंगसे पेश किया है कि यह मात्र हिन्दू-धर्मके साथ संबंधित न रहकर समस्त मानव मात्रके उत्थानका नियोजक बन जाता है।

‘वड्डा घलूधारा’ नाटकमें संतसिंह सेखोंने सिख-इतिहासमें १७६३ ई. के अहमदशाह अब्दाली तथा खालसा-सेनाके मध्य हुए युद्धको नाटकीय रूप दिया है—‘इस नाटकमें इस युद्धका जिसे सिख-इतिहासमें वड्डा घलूधारा कहा जाता है, नाटकीय वर्णन किया है। [भूमिका]। भारतीय संस्कृतिमें जहां, गौ और ब्राह्मणको आदरकी दृष्टिसे देखा गया है, वहां नारीभी सदा वन्दनीय बनी रही है। प्रस्तुत नाटकमें भी खालसा-पंथके अनुयायियोंके द्वारा नारीके प्रति, भलेही वह हिन्दू, मुस्लिम अथवा सिख धर्मसे सम्बन्ध रखती हो, सम्मान दिखाकर भारतीय-संस्कृतिकी गरिमाको उद्दीप्त किया है—‘देखो, बहिनो, हम आपको कुछ नहीं कहते। आपके जनानखानेमें हम किसी बुरे इरादेसे नहीं आये।’

[वड्डा घलूधारा पृ. १६]\* पुनः इस नाटकके प्रथम अंकके पांचवें दृश्यमें हरदितके पुत्र चौधरी धरमाके चढ़तसिंहके लिए अभिवादन शब्द तत्कालीन धार्मिक ऐक्यको प्रदर्शित करके मानव-धर्मका भी संदेश देते हैं—‘सारे हिन्दू, मुसलमान मिलकर चढ़तसिंहके आगे आ खड़े होते हैं और उसे अभिवादन, खुशा-आमदीद, सलमा-लैकम कहते हैं।’ [वही : पृ. १६]।

इस नाटकका प्रारम्भ पंजाब-प्रान्तको सांस्कृतिक-परम्पराके रूपमें प्रदत्त ‘त्रिजन’ से होता है। त्रिजनमें उपस्थित नंगल गांवकी स्त्रियों और कन्याओंको तत्कालीन इतिहास-बोधभी है। वे आतंकित होते हुए भी भागोके चढ़तसिंहके प्रति रोमांचकारी मनोभावकी सराहना करके आनन्द लेती हैं—‘(रोकर) न नी पुत्री, ऐसे मत कहो, यदि तुम्हारा इतनाही निश्चय है, तो वाहिगुरु स्वयं कोई ढंग बना देगा। [वही : पृ. ८]। इसी प्रकार चढ़तसिंहकी बारात-आगमनके समय मीरासियोंके द्वारा नकलें उतारी जाना तथा अपने मनोविनोद के द्वारा बारातियोंका मनोरंजन करना भी पंजाबी-संस्कृतिमें लोकप्रिय परम्परा रही है, जिसका निर्वाह नाटककारने कुशलतासे किया है। उल्लेखनीय है कि जहां भी उसने नारीके प्रति सम्मान तथा आदरभाव दिखाकर भारतीय-संस्कृतिका गौरवगान किया है—‘यह सिंह नहीं मुगल तथा पठान स्त्रियोंको उठाकर ले जानेवाले’ यह तो हमारी उठाई हुईको छुड़ाकर लानेवाले हैं। [वही : पृ. २३]।

\* प्रस्तुत नाटकमें से सभी उद्धृत संदर्भोंको हिन्दी पाठकोंकी सुविधाके लिए अनूदित कर दिया गया है।



अहमदशाहकी सेना खालसा-सेनाके शूरवीरोंसे इतनी भयभीत तथा प्रभावित है कि वे अपने सेना नायकोंको उनके शौर्य तथा पराक्रमका उल्लेख संकोचमय शब्दोंमें ही करतेहैं—‘पहले कहा करतेथे, भादों महीनेकी गुड़ाई से डरकर जाटका पुत्र साधु बन जाताहै, अब वह सिंह बन जाताहै । [वही : पृ. ३७] । पुनः अहमदशाह अब्दालीके सम्मुख एक जाट चौधरीकी शिकायत भी खालसा-सेनाके साहस, सैन्यशक्ति तथा पराक्रमकी ओर संकेत करतीहै—‘हज़ूर ये लोग तो इतने बिगड़ गयेहैं कि मीर मुहीयुद्दीनको मीर मन्नू कहतेहैं ।’ [वही : पृ. ३५] ।

वास्तवमें अहमदशाह अब्दालीके काल विशेषमें अफगान सेनाकी लगातार लूट-खसोट, मार-काट, नारी-अनादर, बलात्-पराधीनता, आगजनी, बर्बरता, अनाचार, आदिसे तंग आकर खालसा-सेनाके जुझारु जत्थेदार शस्त्रबद्ध हुएथे । वे अनैतिकताके प्रति कटिबद्ध होकर मानवीयताके पुनः संस्थापनके लिए बलिदान दे रहेथे । उनका संघर्ष बाहरी आक्रमणकारियोंकी पाशविकताके विरुद्ध था । वे जंगलोंमें रहते/समय तथा स्थान देखकर अफगान सेनापर धावा बोलते । उनका हथियाया हुआ धन-दौलत छीनते व गुलाम बनाये गये निःसहाय हिन्दुओं और उनकी बहू-बेटियोंको उनसे मुक्त कराते-अपने प्राणोंका बलिदान देकर देशकी बहू-बेटियों को छुड़ाते और उन गरीबोंको भी जिन्हें वे गुलाम बनाकर ले जा रहे होते ।” [वही : पृ. ५३] । शत्रु-सेनासे छीना गया धन-धान्य खालसा-सेना मानवमात्र कल्याणके लिए अपित कर देती—“यह धन गुरु व देशके हितमें लगाया जाता ।” [वही : पृ. ५३] । इन ऐतिहासिक तथ्योंसे राष्ट्रीयता व मानवीयताकी जो सुगन्धि आतीहै, वह इस नाटककी शीर्षस्थ विशेषता है ।

संतसिंह सेखोंने तद्युगीन इतिहासकी परत-दर-परत अनावृत करके ऐसा वातावरण चित्रित कियाहै कि तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व ऐतिहासिक परिस्थितियां सांस्कृतिक-बोधके रूपमें दृश्यमान होने लगतीहैं । हिन्दू, मुस्लिम तथा सिख (खालसा) धर्मोंके अनुयायी साम्प्रदायिक वैषम्यको छोड़कर भ्रातृत्व के नातेमें बंधे हुए दिखाया देने लगतेहैं । वे सब मिलकर अफगान सेनाके विरुद्ध लड़ने तथा उन्हें मार-भगाने की योजनाएं बनाने लगतेहैं । एक मुसलमान अपने

ग्रामीण हिन्दू-सिख भाइयोंको समझाता हुआ कहताहै—कोई नहीं चौधरी, हमारा दुःख सुख सांझाही है...परन्तु हमारे गाँवमें से इस बातकी भिनक नहीं निकलेगी ।” [वही : पृ. ६५] । संतसिंह सेखों मूलतः मार्क्सवादी दृष्टिकोणका पोषक है । प्रस्तुत नाटकके अन्तमें भी बरनाला निवासी आलासिंह अफगान सेनासे मुक्त कराये गये ग्रामीण भाइयोंके पुनर्वासकी योजना बनाता है और उन्हें रोटी, कपड़ा तथा मकान उपलब्ध कराने का आश्वासन भी देताहै—“आपके सभी परिवारोंको छः-छः महीनेका अनाज मिल जायेगा, मिलना क्या है, ये अनाजके कमरे आपके ही हैं, आप अपना हिस्सा ले लो...आप जहाँ भी जाकर टिकोगे, जमीन खुला पड़ीहै, जौ बो लेना, और कोई खण्डा-मेथे बो लेना ।” [वही : पृ. ८३] ।

देखा जाये तो आलोच्य नाटक एक ओर पाठकोंके सम्मुख ऐतिहासिक बोधकी प्रस्तुति करताहै, तो दूसरी ओर अपनी नाटकीय अभिव्यक्तिके लिएभी सफल है । इस नाटकके पात्र चढ़तसिंह, भागो, जानकी, चौधरी हरदित, अहमदशाह अब्दाली, अमीर काबुल, धरमा, आलासिंह, हरनाम कौर, जस्सासिंह अहलूवालिया आदि अपनी-अपनी भूमिका नाटककारकी मूल चेतनाके अनुरूप निभातेहैं । भलेही पात्रोंके कथोपकथन कहीं-कहीं लम्बे व दुरुह है, फिरभी ये प्रभावमय व पात्रोंकी मानसिक परतोंको अनावृत करते रहतेहैं । इस नाटकके कथोपकथनोंकी पात्रानुकूलता और तत्कालीन सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक, परिवेशको ओजमय तथा संप्रेषणीय भाषामें व्यक्त करनेकी क्षमता अन्य विलक्षणता है । नाटककी भाषा भलेही पंजाबी है, परन्तु मालवा प्रदेशकी क्षेत्रीय शब्दावली इसे लोकलनुमा बना देतीहै । उदाहरणके लिए प्रस्तुत हैं—“लओ, भैणे, अज्जदीआं कुड़ीआं तों ताँ रब वी डरिआ । लं आह साडी छिलक जिही नहीं किसे तरहाँ रास आऊंदी कहिंदी ए, मैं विआह कराउणा एं ताँ शुकरचक्कीए जौधरी बच्चे दे पुत्त नाल कराउणा, ओस चढ़ते नाल जिहड़ा खसमाँ नूँ खाणा निहंग वण के डके मारदा फिरदै, ना दिन चैन, ना रात चैन; ना घर ना दर ।” [वही : पृ. ६] ।

मुस्लिम पात्रोंकी शब्दावली उर्दू / फारसीनुमा है, जो तत्कालीन मुगल वातावरणको चित्रित करनेमें सहायक है । इस संदर्भमें—‘कुमक, मलऊन, शोरिश,



पुआवन, तलकीन, दरोमदार, गोशगुजार, मंहिम, संर-  
कोबी, माकूल, पैगाम, खुशखबरी, तौफीक, इकबाल,  
इजाफा, गरदनजनी, रईअंत, कतलोगारत आदि शब्द  
विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार पंजाबी  
भाषाके—“कुड़े, नींगर, निखत्ते, लीडा—लत्ता, वारां,  
कोहां, धोतिआं ते पतेतिआं, वहीरां, ढिड, लहू-लुहान,  
बाटा-कोटा, बाहुडी, मंजे, हिकके आदि ठेठ ग्रामीण  
शब्द नाटककारकी सहज अभिव्यंजना कौशलकी  
साक्षी देते हैं। नाटकमें मुहावरोंका भी सहज प्रयोग  
हुआ है। जैसे—“वारा” कोहां च वध्धी छुटदीए, ढिड  
विच तौ हुण लड्डू भुरदे होणगे, चवर चवर गल्लां  
नाकर, वहीरां घत्तरपीआं, गोशगुजार करना, नहुंमास  
दा रिशता, इकबाल करना, धौण तों पकड़ना आदि।  
नाटककार द्वारा किये गये ये भाषागत प्रयोग पात्रोंके  
वार्तालापको प्रभावशाली तथा जीवंत बनाते हैं।

प्रस्तुत नाटककी मूल चेतना समकालीन पंजाब  
तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रोंमें व्याप्त धार्मिक व सामा-

जिक वैषम्य, आतंक, संशय, भय, लूट-खसूट आदिकी  
सृष्टि करके अपनी प्रासंगिकता बनाये हुए हैं। अतः  
राजनीतिक व सामाजिक अधोगतिकी भी निर्णनीत है।  
अन्तर केवल इतना है कि तद्युगीन काल विशेषमें  
यह आतंक व संशय बाहरी आक्रमणकारियोंके कारण  
बना हुआ था, जबकि समकालीन परिस्थितियोंमें यह  
देशव्यापी आन्तरिक अस्थिरता व अधोगतिका परि-  
णाम है। कुछ ऐसीही संवेदनशीलता अथवा यथार्थ  
बोधको नाटककारने व्यक्त किया है—“शोककी बात है  
कि समकालीन पंजाबमें छोटे स्तरपर राजनीतिक  
समाचार इस प्रकार बिगड़ गये हैं कि उस समयके  
इतिहासको दुहराया जा रहा प्रतीत हो रहा है।” [वही :  
भूमिका]।

अन्तमें पंजाबी-साहित्यमें प्रतिष्ठित साहित्यकार  
‘बाबा बोहड़ अपनी इस सफल साहित्यिक रचनाके लिए  
बधाईके पात्र हैं। □

## मणिपुरी : कहानी

समकालीन रोमानियतके बीच उभरी यथार्थकी रेखाएं

तत्खबा पुन्सि लैपुल

लेखक : सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री

समीक्षक : देवराज, डॉ. इबोहलसिंह काङ्जम

सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री मणिपुरी भाषाकी  
स्वच्छन्दतावादी कहानी-धाराके शलाका-पुरुष हैं।  
आधुनिक मणिपुरी साहित्यके पितामह लमाबम कमल-  
सिंहने, “ब्रजेन्द्रगी लुहोङ्वा” (ब्रजेन्द्रका विवाह)  
कहानीके माध्यमसे सन् १९३३ में जिस विद्रोहोन्मुख  
आदर्शवादकी स्थापना कीथी, वह सही अर्थोंमें शास्त्री-  
जीकी कहानियोंमें पल्लवित हुआ। इससे थोड़ा आगे  
बढ़कर उन्होंने कमलके आदर्शको यथार्थके धरातलपर

चलानेका प्रयत्न किया और कहीं-कहीं आधुनिकता-बोध  
को भी अपनाया। इन सब विशेषताओंके कारण उनकी  
कहानियां, समकालीन समाजके सन्दर्भमें बराबर प्रासं-  
गिक बनी हुई हैं।

नीलवीर शास्त्रीका कहानी संग्रह, “तत्खबा पुन्सि  
लैपुल (टूटा हुआ जीवन-बन्धन) ऊपर संकेतित उनकी  
कहानियोंकी विशेषताओंके साथ-साथ एक अति महत्त्व-  
पूर्ण विशेषतासे युक्त है; वह यह कि इस संग्रहकी

‘प्रकर’—मार्गशीर्ष २०४७—४४



शीर्षक कहानी (जो संग्रहकी प्रथम कहानी है) मणिपुरी भाषाकी प्रथम, और अबतककी एकमात्र “ऐतिहासिक रोमांस-कथा है।” मणिपुरमें “मेरा” मास (अक्तूबर-नवम्बर) की पूर्णिमासे हियाड गै (नवम्बर-दिसम्बर) की पूर्णिमा तक एक ‘आकाशदीप-पर्व’ मनाया जाता है। प्रारम्भके दिनको “मेरा वाखिन्वा” कहते हैं। इस दिन आकाशदीप जलानेके लिए बांस गाड़ा जाता है और रास-नृत्य किया जाता है। इस पर्वके समापन दिनको “मेरा वाफुक्पा” कहते हैं। इस दिन आकाशदीप लटकानेवाला बांस उखाड़ा जाता है और महारास किया जाता है। प्रस्तुत कहानी “मेरा वाफुक्पा” के दिन से सम्बन्धित है। समय है, महाराजा चन्द्रकीर्तिका शासनकाल। महाराजाकी पुत्री थादोइसनाकी सेविका, कबोकलै बरामदेकी सीढ़ियोंपर चिन्तित मुद्रामें बैठी है। उसकी चिन्ताका कारण यह है कि महाराजकुमारी द्वारा खरीदकर दिया हुआ नया फनेक (स्त्रियोंका अधो-वस्त्र) वह अपनी मांको दे चुकी है और आज उसे थादोइसनाके साथ महारास देखने जाना है। अब, जब थादोइसना उसे तैयार होनेके लिए कहेगी, तो वह नया फनेक कहाँसे लायेगी। उधर थादोइसनाको भी महारास देखने अवश्यही जाना है, क्योंकि आज उसकी मंजली दीदी “मकोकचिङ् बी” (प्रधान गोपी) का अभिनय करेगी। कबोकलै चिन्ता-मग्न ही थी, कि थादोइसना उसे आवाज लगाकर तैयार होनेका आदेश देती है। बचनेका कोई रास्ता न देख वह अपनी स्वामिनीसे सच बता देती है। तब थादोइसना उसे अपने लिए खरीदा, नया फनेक पहननेका आदेश देती है। सेविका एकदम नया वस्त्र लेनेमें संकोच करती है और “फीमन” फनेक (पुराना, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय एक बार पहना हुआ है) देनेको कहती है। यहीसे कहानी त्रासदी प्रधान हो जाती है। थादोइसनाके डांटनेके कारण कबोकलै नया फनेक पहनने लगती है और कल्पना करने लगती है, कि उसे कभी-कभी देखनेवाला राजमहलका सेवक आज तो देखता रह जायेगा, किन्तु जब वह तैयार होकर कमरेसे बाहर आती है, तो देखती है कि थादोइसना पीड़ासे व्याकुल लेटी है। कबोकलै बार-बार स्वामिनीसे अपनी पीड़ाका कारण बतानेका निवेदन करती है। बहुत देर बाद थादोइसना बताती है, कि आजकेही दिन फीमनके कारण ही उसका जीवन-बन्धन टूट गया था। उसका विवाह नोङ्माइथेम खानदानमें

हुआ था। महारास देखकर रातको देरसे लौटनेके कारण पति, नोङ्माइथेम्वाने उसके साथ मारपीट की। इसकी शिकायत थादोइसनाने अपने पिता महाराज चन्द्रकीर्तिसे की। उसने सोचा कि पिता उसके पतिको डाँट देंगे, जिससे फिर कभी उसे पतिकी मार नहीं झेलनी पड़ेगी। किन्तु शिकायतका परिणाम एकदम उल्टा होगया। महाराज चन्द्रकीर्तिने अपनी पुत्रीके साथ मारपीटकी घटनाको इतनी गम्भीरतासे लिया, कि उन्होंने पहले तो थादोइसनाके पतिको खूब पिटाया और बाद में उसे जंजीरोंसे जकड़कर सुगनू (एक स्थानका नाम) में बहिष्कृत कर दिया। इस अप्रत्याशित अनहोनीसे थादोइसना बहुत घबरा गयी। उसकी बहनोंने भी महाराजको समझाया। बहुत विनय करनेपर महाराजने कहा, कि यदि नोङ्माइथेम्वाने, थादोइसनाका फीमन कन्धेपर रखे, तो उसे क्षमादान दिया जा सकता है। यह कहकर महाराजने सेवकोंको आदेश दिया कि फीमन के साथ थादोइसनाको भी ससुरालसे राजमहल ले आया जाये। बस उसी दिनसे थादोइसना अपने पतिसे अलग रहनेको अभिशप्त है।

प्रचलित ‘सिद्ध समीक्षा परम्परा’ के आधारपर इस कहानीका सारांश देना आवश्यक नहीं था। फिर भी कहानीके मूल कथ्यको बताया गया है। इसका कारण यह है कि कुछ विस्तारसे बताये बिना पाठकों तक मणिपुरी समाजकी उन प्राचीन परम्पराओंकी जानकारी पहुंचाना मुश्किल था, जो इस कहानीमें है। पाठक अब स्वयं, लोक और राजमहलकी रीति-नीतिका अनुमान लगा सकते हैं। कहानीके साधारणसे प्रतीत होनेवाले अन्तकी असाधारणताको समझनेके लिए यह बताना भी आवश्यक है, कि मणिपुरमें आज भी स्त्रियोंके फनेकका पुरुषों द्वारा सार्वजनिक स्पर्श, डूब मरनेवाली बात मानी जाती है।

इस संग्रहकी कमसे कम तीन कहानियां प्रेमके आदर्श, भावुक और ललित रूपका चित्रण करती हैं। पुन्सि लमशाङ् दा (जीवन-यात्रामें) कहानी अर्थशास्त्र के विकलांग प्रोफेसर और नर्स लताकी प्रेमकथा है। प्रोफेसर अस्पतालमें भर्ती होता है और नर्स लता उसकी सेवा करती है। बादमें दोनोंका विवाह हो जाता है। खुमलमूद्रव मागी वाहङ् (उसका अनुत्तरित प्रश्न) कहानीमें, नायक रमेश, बीस वर्ष बाद अपनी प्रेमिका, सनाहनबीसे मिलकर भी उसे पहचान



नहीं पाता। कछार जिलेके जाफिरबनमें उसे नायिका बार-बार देखती है, किन्तु वह अन्ततक उसके देखनेके अवसर नहीं पकड़ पाता। सनाहनवी १० मई १९४२के दिन द्वितीय विश्वयुद्धमें इम्फालपर बम गिराये जानेके कारण नायकसे बिछुड़ गयी थी। ऐ खड्गदेको (मैं नहीं जानती) एक बी. एस. सी. पास बेरोजगार युवक और एक मन्त्रीकी साली, चित्राकी प्रेमकथा है। बेरोजगार युवक नौकरी न मिलनेपर पानकी दूकान करने लगता है। चित्रा उससे प्रतिदिन पान खरीदने आती है। यही सिलसिला परिचयसे बढ़कर प्रेममें परिणत होजाता है और चित्रा मिनिस्टर जीजासे आग्रह करके अपने प्रेमी को स्थायी नौकरी दिलवाती है। नियुक्ति-पत्र मिलनेके दिन, दोनों रातका फिल्म-शो देखते हैं। जब बाहर निकलकर नायक, चित्रासे पूछता है कि वह उसे कहां पहुंचाये, तो वह कहती है—‘पता नहीं’ और हारकर जब वह उसे साइकिलके कैरियरपर बैठाकर अपने घर की ओर ले जाते समय पूछता है, कि वे जो कर रहे हैं, वह क्या है, तब भी चित्राका उत्तर है—‘नहीं जानती।’

शास्त्रीजीकी इन प्रेमपरक कहानियोंको बिना किसी विशेष बहसके मणिपुरी कहानीके इतिहासके दूसरे चरण (सन् १९६० से ८० का काल) की रचनाओंके निकट रखा जा सकता है। उस कालमें महाराज कुमारी विनोदिनी देवी, हिजम गुणसिंह, खुमनथेप प्रकाश, इवोहलसिंह काङ्जम, एन. कुंजमोहन सिंह, रजनीकान्त एलाङ्बम, प्रियोकुमार कैशाम और चित्रेश्वर शर्मा जैसे कहानीकार प्रेमके आकर्षक तथा आदर्श रूपकी कहानियां लिखते रहे हैं। प्रकृतिकी दृष्टिसे सन् १९८६ की इन प्रेम कथाओंको पिछली परम्परा से आगे बढ़ा हुआ नहीं कहा जा सकता, अतः इन्हें किसी बड़ी उपलब्धिके अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। फिर भी ये कहानियां नवें दशककी प्रेम सम्बन्धी रचनाओंका एक आवश्यक हिस्सा तो हैं ही।

वाक्चिङ्गी उत्सव (वाक्चिङ माहका भोजोत्सव) निश्चय ही इस संग्रहकी दो-तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओंमें से एक है। रचनाकी बुनावट बड़ी सीधी-सादी है। शास्त्रीय गायक, गोपाल, (कलावती गोपाल) और तबलावादक तोलमू (तबला तोलमू) गहरे दोस्त हैं। एक दिन जब तोलमूका सम्बन्धी चाओनू गोपालके गायनमें संगत नहीं कर पाता, तो अस्वस्थ तोलमू संगत

करना शुरू करता है। अपने-अपने फनके दोनों महारथियोंके बीच कड़ा मुकाबला होता है। गायन समाप्त होते ही अशक्त तोलमू बेहोश हो जाता है और कुछ दिन बाद परलोक सिंघार जाता है। गोपाल तबसे प्रतिवर्ष उसी तिथिको अपने प्रिय मित्रकी स्मृतिमें भोज करता था। मरते समय वह अपने परिवारको वाक्चिङ्गा उत्सव मनाते रहनेका निर्देश दे जाता है। इसी परंपराको गोपालका निर्धन संगीतकार पुत्र निभानेका प्रयास करता है। यह सरल-सी प्रतीत होनेवाली कहानी अपनी वर्णन-कुशलता और गत्यात्मक चित्रण-सामर्थ्यके बलपर पाठकको आदिसे अन्ततक रोमांचित करती है। पढ़ते समय प्रतिस्पर्धी कलाकारोंकी मनोभावनाएं मूर्तिमान होने लगती हैं और संगीत-सभाका वातावरण सजीव हो उठता है। इतना ही नहीं, जब गोपालका पुत्र अपने पिताके मित्रके स्मृति-भोजके लिए संगीत-मण्डलके सचिवसे पैसा उधार मांगने जाता है तो कहानी सच्ची एवं निश्छल मैत्रीके अथाह सागरमें बदल जाती है। है। एक ही रचनामें इतनी सारी बातोंका निर्वाह कहानीकारकी रचनात्मक-प्रतिभाको दर्शाता है।

तामचा (छोटा भाई) मानसिक रूपसे अविकसित व्यक्तिके मनोविज्ञान और बच्चोंके साथ उसके भावनात्मक रिश्तोंपर आधारित कहानी है। तामचा (मूल नाम—इबोतोम्बी) अविकसित मस्तिष्कका एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने भाईयोंके बच्चोंके साथ एकदम बच्चा बनकर रहता है। भाभियों द्वारा दुत्कारा जाकर और घरसे बाहर, बुआके पास रहकर भी वह स्कूलमें बच्चोंको चने खिलाने जाता है। देहरादून पढ़नेवाला भतीजा नरेन्द्र उसे सामान्य रूपसे लिख देता है कि बड़ा होकर वह एक घर बनायेगा, जिसमें तामचा उसके साथ रहेगा। बस, तामचा हर समय उस पत्रको जेबमें रखता है। बीच-बीचमें उसे पढ़वाकर सुनता है। उन बच्चोंकी सूची बनाता है, जो नये घरमें उसके साथ रहेंगे। वह हर क्षण ताशका महल बनाता रहता है। अचानक एक दुर्घटनामें तामचा मर जाता है। श्मशान में उसकी एक जेबसे नरेन्द्रका पत्र मिलता है और दूसरी से चनेकी पुड़िया। बच्चे पुड़िया देखते ही तामचा कहकर सिसकने लगते हैं। अविकसित बुद्धि और बाल मनोविज्ञानकी जुगलबन्दीकी इतनी समर्थ कहानियां मणिपुरी भाषामें न के बराबर हैं।

आर्थिक-भ्रष्टाचारको केन्द्रमें रखकर लिखी गयी



इस संग्रहकी एक मात्र कहानी है—ऐखोइ तामोगी बिल फड्ले (हमारे भैयाके बिलका भुगतान होगया)। कथा-नायक नवकान्तको स्नातक होनेपर भी जब नौकरी नहीं मिलती, तो वह एक मित्रकी सलाहपर ठेकेदारी शुरू करता है। इसके लिए वह कर्ज लेकर व जेवर गिरवी रखकर धन जमा करता है। फिर सम्बन्धित विभागके एस. ओ. को पाँच सौ रुपये व ए. ई. को एक हजार रुपये रिश्वत देकर एक छोटा-सा ठेका लेता है। कामके दौरान सीमेंटके बीस बोरोमें से आधे, एस. ओ. अपने निजी कामके लिए मंगा लेता है। जब बिलके भुगतानका अवसर आता है तो फिरसे, बिल-क्लर्कको दो सौ रुपये, कैशियरको तीन सौ रुपये, ए. ई. को पाँच सौ रुपये और एस. ओ. को विदेशी शराबकी बोतल (सूट सिलवानेका वादा अलगसे) देता है। तबभी पेमेंट डेढ़ वर्षके बाद मिलता है। इस मशक्कतके बाद जो पैसा बचता है, उससे वह केवल गिरवी रखे गहनेही छुड़ा पाता है। न तो कर्ज उतरता है और न भाई-बहिनोंकी फरमाइशें पूरी हो पाती हैं। एक आदर्शवादी लेखककी यह यथार्थवादी रचना सरकारी विभागोंमें फैले भ्रष्टाचारका अति नग्न और तलस्पर्शी चित्रण करती है। इसमें, अपनी सांस्कृतिक पहचानके लिए संघर्ष कर रहे समाजमें फैली आर्थिक बुराईकी सड़ांध भरी दल-दलका प्रामाणिक व अनुभूत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

नीलवीर शास्त्रीके इस संग्रहकी शेष कहानियां हैं—ओझागी इमुड् (अध्यापकका परिवार) निडोल चाक्कोवा नूमित्ता (निडोन चाक्कोवाके दिन), अहाड् बा अतियागी मखादा (खुले आकाशके नीचे) और सेवाश्रम। ये रचनाएं, वर्तमान समाजमें शिक्षाकी समस्या, मीतै स्त्रीकी त्याग भावना, भावनात्मक सम्बन्ध, असहाय नारीकी दुर्दशा और समाज

सेवाके आदर्शका वर्णन करती हैं। इन चारों रचनाओंमें सेवाश्रम कहानी इसलिए अलगसे उल्लेख योग्य है, कि वह कल्पनाके सम्पूर्ण सौन्दर्यकी सीमातक आदर्श प्रधान होनेके कारण अन्य सभी रचनाओंसे अलग है। न केवल इस संग्रहकी कहानियोंसे बल्कि यह, उनकी १९६७ में “वासन्ती चरोड्” संग्रहमें छपी कहानियोंसे भी अलग है। सत्तरके दशकमें निड्-शिड्, मैरि (स्मृति ज्योति) के माध्यमसे उन्होंने मानवतावादी आदर्शकी अद्भुत कल्पना कीथी। नब्बेके दशकमें वह मानवतावाद एक गाँवसे निकलकर व्यापक सीमाओं वाला बन गया है और उसे व्यापकत्व दिया है एक विधवा स्त्री, शान्ति तथा एक डाक्टर इन्दुभूषणने। इस कहानीके बहाने शास्त्रीजीने राष्ट्र-भाषा-आन्दोलन पर सवालिया निशान लगानेवालोंको भी उत्तर दिया है। शान्तिमें सेवा-भावनाका विकास राष्ट्र-भाषा-आन्दोलनके सम्पर्कसे ही हुआ दिखाया गया है। हिन्दी-तर क्षेत्रोंमें हिन्दीकी यह भूमिका सचमुच आश्चर्य-चकित कर देनेवाली है। जहाँ तक इस रचनाके यथार्थ से दूर होनेका सन्दर्भ है, वह निश्चयही वहसकी मांग करता है।

कुल मिलाकर, ‘तत्त्वावा पुन्सि लैपुल’ संग्रह नील-वीर शास्त्रीकी रचना यात्राके महत्त्वपूर्ण पड़ावका संकेत देता है। इससे पता चलता है, कि वे लगातार, प्राचीन आदर्श, ऐतिहासिक परम्परा, विश्व-कल्याण, सामाजिक यथार्थ और मानवीय सम्बन्धोंकी चिन्तामें कहानियां लिख रहे हैं। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, उनकी लेखनी नये ढंगसे आदर्श और यथार्थके प्रकाश में जीवनकी व्याख्या कर रही है। यह कम सन्तोषकी बात नहीं है, कि प्रत्येक अगला कदम उनकी कहानियों में आदर्श और यथार्थकी दूरीको कम कर रहा है। □



# भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलनकी वस्तुनिष्ठ मीमांसा

## हरवलेले दिवस

लेखक : प्रभाकर वामन ऊर्ध्वरेषे

समीक्षक : डॉ. गजानन चव्हाण

‘हरवलेले दिवस’ (यूँही खोये दिन ! ) एक ऐसी रचना है जिसे रूढ़ अर्थमें आत्मचरित्र नहीं कहा जा सकता। स्पष्टीकरणात्मक तथा वैकल्पिक उपशीर्षक ‘एक भूतपूर्व कम्युनिस्टका आत्म-निवेदन’ द्वारा स्वयं लेखकने ही इसकी सीमाको स्पष्ट कर दिया है। ‘सन् १९३५-३६ में मैं जब इन्दौरमें था तब मेरे मनमें पार्टी (कम्युनिस्ट) के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। मैंने फुलटाइमरकी हैसियत से सन् १९४४ से १९५१ के बीच साढ़े सात वर्ष मुंबई में पार्टीके केंद्रीय कार्यालयमें बिताये। मैंने इस रचनामें इस कालखंडके संबंधमें अपने अनुभवोंको शब्दांकित किया है। अर्थात् मेरी दृष्टिमें इसका स्वरूप ‘आत्म-निवेदन’ का है।” (पृ. सात-भूमिका)। कम्युनिस्ट पार्टी के समय इतिहासका विवेचन प्रस्तुत करना लेखकका उद्देश्य नहीं रहा है। एक विशेष कालखंडमें (सन् १९४४-१९५१) प्राप्त अनुभवोंके आधारपर कम्युनिस्ट पार्टीकी राजनीतिकी वस्तुनिष्ठ मीमांसा करनेका यह एक प्रामाणिक प्रयास है।

इतिहाससे स्पष्ट होता है कि सन् १९४० से १९५१ का कालखंड राजनीतिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध, भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन, स्वातंत्र्य प्राप्ति, संविधानका निर्माण और उसकी स्वीकृति आदि इस कालखंडकी कुछ प्रमुख घटनाएं हैं। ऊर्ध्वरेषेकी मान्यता है कि यह कालखंड कम्युनिस्ट पार्टीकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है। यह वह समय है जब भारतमें हजारों युवा कार्यकर्त्ता कम्युनिस्ट विचारधारासे प्रभावित हो उसके सदस्य बने। विडंबना है कि अपनेको क्रांतिकारी कहनेवाली इस पार्टीने इसी कालखंडमें भयंकर भूलें कीं। इन भूलोंके परिणामभी भयंकर हुए। जो पार्टी सन्

१९४० में आशाकी किरण प्रतीत हो रही थी वह सन् १९५१ तक आते-आते आकारमें बढ़ तो गयी परन्तु उसके छिन्न-विछिन्न होनेमें देर नहीं लगी। इससे पार्टी के हजारों कार्यकर्त्ताओंके जीवनपर बुरा असर पड़ा, वांमपंथी विचारधाराके प्रभावपर भी आघात हुआ। इससे स्वातंत्र्योत्तर कालखंडकी राजनीति प्रभावित हुई। जनजीवनको भी अवांछनीय मोड़ मिला। दुर्भाग्य की बात है कि पार्टीकी इन भयंकर भूलोंका कच्चा चिट्ठा ईमानदारीके साथ किसीने प्रस्तुत नहीं किया। सन् १९४२ के आन्दोलनमें और बादमें सन् १९५०-५१ में भी कई कार्यकर्त्ता कम्युनिस्ट पार्टीसे अलग हुए। उनमें से किसीने पार्टीकी भूलोंकी वस्तुनिष्ठ मीमांसा नहीं की। दूसरे, पार्टीकी विचारधारा तथा राजनीतिके संबंधमें भलेही विपुल साहित्य उपलब्ध हो, वह साहित्य उन व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है जिनकी निष्ठा कम्युनिस्ट विचारधाराके साथ बराबर बनी रही है। उन्होंने पार्टीकी कुछ भूलोंका विवेचन अवश्य किया है परन्तु उसमें आत्म-समर्थनका स्वर प्रधान रहा है। श्रीमती ऊषा डांगे लिखित ‘पण ऐकनं कोण?’ (कोई नहीं सुनता) और कॉमरेड मिरजकर-लिखित ‘अंधारातून प्रकाशाकडे’ (अंधकारसे प्रकाशकी ओर) में सच्चा आत्म-परीक्षण, वस्तुनिष्ठ मीमांसाका अभाव है। यही स्थिति अन्य कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं द्वारा लिखित आत्मकथाओंकी है। लेखकके मतानुसार उनमें सर्वत्र आत्म समर्थन, आत्म-स्तुति, सत्यका विपर्यास और अर्ध-सत्योंकी भरमार है। इस पृष्ठभूमिपर यह आवश्यक था कि पार्टीसे अंतरंग सम्बन्ध रखनेवाला कोई सदस्य पार्टीकी भूलोंका कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करे। प्रभाकर ऊर्ध्वरेषेकी रचना ‘हरवलेले दिवस’ (यूँही खोये दिन ! )

‘प्रकर’—मार्गशीर्ष २०४७—४९



इस अभावकी पूर्तिकर देती है।

‘हरवलेले दिवस’ में कुल छह अध्याय हैं जिन्हें संख्यासूचक शीर्षक दिये गये हैं। अध्यायोंका विभाजन कालखंडके आधारपर किया गया है। प्रत्येक अध्यायमें उपविभाग बनाकर लेखकने अपने अनुभव अंकित किये हैं। ये अनुभव कम्युनिस्ट पार्टीके प्रति लेखकके बढ़ते आकर्षणसे लेकर उससे अलग होनेके प्रसंगतक विविध प्रकारके हैं। प्रथम अध्यायमें सात उपविभाग हैं जिनमें लेखकने अपने पारिवारिक संस्कारों, क्रांति-विषयक आकर्षण, व्यक्तिगत जीवन कुछ दिक्कतों, नौकरियोंके दौर, पार्टीकी ‘साम्राज्यवादी युद्ध’ से ‘लोकयुद्ध’ की यात्रा, ‘लोकयुद्ध’ के समर्थनार्थ ‘चले जाओ’ आंदोलनकी उपेक्षा आदिके संबंधमें निवेदन किया है। द्वितीय अध्याय के ग्यारह उपविभागोंमें मुख्यतः पार्टी कम्यूनका अन्तरंग परिचय दिया है। मुंबईमें राजभवन स्थित पार्टी कम्यूनमें आ जानेपर लेखकको पार्टीकी पत्रिका—‘लोकयुद्ध’—का कार्य सौंपा गया। कम्युनिस्ट विचारधारामें निर्मल निष्ठाके कारण लेखक यथाशक्ति यह कार्य करता रहा। इस कालखंडमें लेखकका परिचय कम्युनिस्ट पार्टीके पॉलिट ब्यूरो तथा केन्द्रीय समितिके वरिष्ठ नेताओंके साथ हुआ। अतः इस अध्यायमें लेखक ने डांगे, पी. सी. जोशी, बी. टी. रणदिवे, श्रीनिवास सरदेसाई, अ. भा. खर्डिकर आदि कॉमरेडोंके व्यक्तित्व, विचारधारा, कार्यपद्धतिके संबंधमें अपने अनुभव निर्भीकता एवं स्पष्टताके साथ व्यक्त किये हैं।

भारतके संदर्भमें कम्युनिस्ट पार्टीकी असफलताकी वस्तुनिष्ठ सीमांसामें ऊर्ध्वरेषेको जो बातें उल्लेखनीय लगीं उनमें मध्यवर्गीय वर्चस्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि ‘भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन : मध्यवर्गीय वर्चस्व’ शीर्षक उपविभागमें उन्होंने इस तथ्यको बार-बार सप्रमाण दोहराया है। (पृ. १२२, १२३, १२४, १२५)। इस संबंधमें लेखकका तथ्यगत निष्कर्ष है कि “मुंबईमें निवास करनेवाले और अन्यत्र पार्टीके सभी वरिष्ठ नेता मध्यवर्गसे आये हुए थे, साथही केंद्रीय समितिके कार्यालय पार्टीकी पांच भाषाओंमें निकलनेवाली पत्रिका, लोकप्रकाशन गृह तथा पार्टीके केंद्रीय कला-मंडल आदिमें कार्य करनेवाले सभी युवा कार्यकर्त्ता मध्यवर्गीय थे।” (पृ. १२४-१२५)। लेखकने जोर देकर कहा है कि ‘कम्युनिस्ट आंदोलनमें मध्यवर्गीयों की भरमार थी और मिलों तथा कारखानोंमें प्रत्यक्ष ‘प्रकर’—नवम्बर’ ६०—५०

काय करनेवाले मजदूरोंकी कमी थी।” (पृ. १२५)। हासका एक कारण रहा है। संभव है कि लेखकने कम्युनिस्ट पार्टीके विविध गुटों और अन्तर्गत संघर्षोंका बहुत ही विस्तृत विवेचन कर दिया हो। इस प्रसंगमें लेखकने पार्टी-नेताओंके व्यक्तित्वका निष्पक्ष विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यही नहीं काँ. डांगे जैसे प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेताके व्यक्तित्वकी कतिपय त्रुटियोंका सप्रमाण विवेचनकर लेखकने अपनी निर्भयताका भी परिचय दिया है। इस प्रकारके तटस्थ एवं निर्भय विश्लेषणके कारण कम्युनिस्ट पार्टीके वरिष्ठ नेताओंकी अप-प्रवृत्तियोंका रहस्य खुल गया है। ‘काँ. डांगे यांची शोकांतिका’ (काँ. डांगे की त्रासदी) में लेखकने स्पष्ट किया है कि डांगेने कभी स्पष्ट नीतिका अवलंबन नहीं किया। उनमें सदा नीतिगत दोरंगापन रहा। ठीक अवसरपर संघर्षसे पलायन, अथवा स्वार्थपर दृष्टिपर रखते हुए अपनी आवश्यकतानुसार शासनसे सांठ-गांठ कर लेना काँ. डांगेकी विशेषताएँ रही हैं। लेखकने यह भी नक्षित किया है कि डांगेमें संगठन कौशलका अभाव रहा तथा उनकी देशनिष्ठा भी संदिग्ध रही। चीन द्वारा भारत पर आक्रमणके दिनोंमें काँ. डांगे द्वारा अपनाये गये रुखके सम्बन्धमें लेखकने लिखा है—“चीन द्वारा भारत पर आक्रमणके प्रश्नपर पार्टीमें बड़ाही विवाद हुआ। तब रणदिवे गुटने चीनका पक्ष लेकर कई दिनों तक माँस्कोके स्थानपर चीनके माओ त्से तुंगका नेतृत्व स्वीकार किया। काँ. डांगेने भी इस प्रश्नपर दोरंगी नीति अपनायी। ‘यद्यपि भारत हमारा मित्र है, तथापि चीन हमारा भाई है’ कहकर माँस्कोने चीनको ही आत्मीय माना। काँ. डांगेने माँस्कोकी नीतिका समर्थन किया।” (पृ. १४५)। लेखककी यह मान्यता है कि ये ही कुछ कारण हैं जिनसे आज काँ. डांगे भारतीय राजनीतिमें अलग-थलग पड़े हुए हैं।

मध्यवर्गीय नेतृत्वकी भरमार, नेताओंकी गुटबन्दी तथा पद-मोहकी भूलोंके अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टीकी सबसे बड़ी भूल हुई कि उसने सन् १९४२ के स्वातंत्र्य आंदोलनको समर्थन नहीं दिया। प्रस्तुत आत्म-निवेदन के तृतीय अध्यायमें लेखकने पार्टीकी इस गंभीर भूलके परिणामोंकी विशद चर्चा की है। ‘लोक क्षोभाची प्रचिती’ (जनक्षोभकी प्रतीति) शीर्षक उपविभागमें लेखकने लिखा है—“पार्टीने न केवल ’४२ के आंदोलन



का विरोध किया बल्कि युद्ध प्रयासोंमें अंग्रेजोंका साथ भी दिया। परिणामतः पार्टीको जनताका क्षोभ झेलना पड़ा और 'देशद्रोही' 'रूसके दलाल' जैसे अपशब्दभी सुनने पड़े।" (पृ. १९५)। लेखकने आत्म-निवेदनमें इस बातपर भी बार-बार खेद व्यक्त किया है कि भारतीय कम्युनिस्ट नेता हमेशा सोवियत रूसके इशारोंपर चलते रहे। (पृ. ८३, १४० ३२६, ३३२, ३३३)। सोवियत रूसके प्रति अत्यधिक प्रेमसे अन्धे बने भारतीय कम्युनिस्टोंने सुभाष बाबूके स्वातंत्र्य-प्राप्ति विषयक प्रयासोंको भी दोषपूर्ण कहा। लेखकने आत्म-परीक्षण करते हुए लिखा है—“सुभाष बाबूकी देशभक्तिके संबंध में संदेह व्यक्तकर पार्टीने उनको जापानका दलाल घोषित किया। यह लांछन लगाते समय पार्टीने संयमसे काम नहीं लिया। इस प्रकारका अंस्टांट और गाली-गलौज भरा प्रचार यहांतक बढ़ गयाथा कि पार्टीके पत्रमें एक बार बहुतही भद्दा व्यंग्य चित्र प्रकाशित हुआ। सुभाष बाबूको टोजोके हाथकी कठपुतली घोषित करनेके उद्देश्यसे उस चित्रमें यह दिखाया गयाथा कि जापानके सेना प्रमुख जनरल टोजोने सुभाष बाबूको चूहेकी तरह पकड़ रखा है। इस व्यंग्य चित्रके कारण भी जनता कम्युनिस्ट पार्टीपर क्रुद्ध हो गयीथी।” (पृ. १९५)। विमान-दुर्घटनामें सुभाष बाबूकी मृत्युके बाद पड़नेवाली उनकी प्रथम जयन्ती (२३ जनवरी १९४६) के उपलक्ष्यमें मुंबईमें गिरगांव चौपाटीपर अभूतपूर्व समारंभ हुआ। जनताकी भीड़ने कम्युनिस्ट पार्टीके राजभवन स्थित कम्यूनपर ही धावा बोल दिया। इस प्रसंगका विवरण देकर उसपर टिप्पणी करते हुए लेखकने आत्मपरीक्षणके रूपमें लिखा है—“बयालीसके आंदोलनके प्रति विरोध और सुभाष बाबूके विरुद्ध किये गये उछुंखल प्रचारका ही परिणाम था कि हमें जनताके प्रचंड क्षोभका सामना करना पड़ा। यह प्रतीति हमें—कमसे कम मुझ जैसे कुछ लोगोंको—दीर्घ समयतक चुभती रही।” (पृ. २०२)।

भारतमें कम्युनिस्ट पार्टीके अपयशकी मीमांसा करते हुए ऊर्ध्वरेषेने संबंधित कालखंडमें हुए आंदोलनों तथा घटनाओंके प्रति पार्टीके रुखका भी उल्लेख किया है। तृतीय अध्यायके तृतीय उपविभाग—“पार्टीच्या आणखी दोन घोड चुका’ (पार्टीकी दो अन्य बड़ी भूलें)—में उन्होंने लिखा है कि मुस्लिम लीगकी स्वतंत्र पाकिस्तान विषयक मांगका पार्टी द्वारा समर्थन पार्टीकी

बड़ी भूल थी। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर और उनके शेड्यूलड कास्ट्स फेडरेशनके संबंधमें भी कम्युनिस्ट पार्टीने गलत नीति अपनायी। लेखककी मान्यता है कि इस विषयको लेकर भी भारतीय कम्युनिस्टोंकी नीति सोवियत रूसकी लकीर पीटनेवाली ही रही। (पृ. २११-२१२)।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीकी कतिपय भूलोंको आत्म-परीक्षात्मक विवेचनाके उपरान्त ऊर्ध्वरेषेने स्वातंत्र्य-आंदोलनकी दृष्टिसे पार्टीकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धिकी भी चर्चा की है। सन् १९४६ की फरवरी में नौसेनाके भारतीय सैनिकोंने अंग्रेज अधिकारियोंसे विद्रोह किया। यह विद्रोह नौसैनिकोंको दिये जानेवाले खराब भोजन तथा अपमानकारक व्यवहारके विरुद्ध उठ खड़ा हुआथा। कम्युनिस्ट पार्टीने इस अवसरसे लाभ उठाया और विद्रोही नौसैनिकोंका साथ दिया। विद्रोहके समर्थनार्थ मुंबईमें किये गये प्रदर्शनपर निष्ठुर अंग्रेज सैनिकोंने गोलियां चलायीं जिसमें 'दो सौ से अधिक स्त्री-पुरुष मारे गये और सैकड़ों लोग आहत हुए।...संपूर्ण मुंबई शहरको खूनसे नहलानेनाले इस भीषण-संग्राममें हमारे पार्टी काँमरेडोंने पहल की।” (पृ. २२४)। इस बारकी संघर्षशील नीतिके कारण जनताने पार्टीकी भूरी-भूरी प्रशंसा की। कुछ लोगोंने पार्टीका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि—“सन् १९४२ में युद्धके कारण अंग्रेजोंकी शक्ति मंद पड़ रही थी, तब आपने उनको कैचीमें नहीं पकड़ा उलटे उनकी सहायता की। यदि आप वैसा न करते तो आज आपकी प्रतिष्ठा काँग्रेससे भी अधिक होती।” (पृ. २२५)।

सन् १९५१ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी एक प्रकारसे फूटके कगारपर खड़ीथी, परन्तु इस फूटके बीज पार्टीके नेताओंमें आपसी संघर्षके रूपमें पहलेसे ही पड़े हुएथे। सन् १९४८में यह संघर्ष अधिक तीव्र होगया था। फरवरी-मार्च १९४८में हुई कलकत्ता पार्टी-काँग्रेस में सबने इसे लक्षित कियाथा। श्री पी. सी. जोशी पार्टीके महासचिव थे। प्रस्तुत आत्म-निवेदनके लेखक ऊर्ध्वरेषे इस काँग्रेसमें पी. एच. क्यू. (पार्टी हेड क्वार्टर) के प्रतिनिधिके रूपमें उपस्थित थे। अतः श्री जोशीके कथित सुधारवादके विरुद्ध उपवादी बी. टी. रणदिवे द्वारा उठायी गयी आवाज और उसके परिणामोंको निकटसे देखा। 'कलकत्ता पार्टी काँग्रेस' शीर्षक उप-विभागमें लेखकने इस तथ्यपर प्रकाश डाला है कि सन् १९४१ से १९४७ तक पार्टीने जोभी भूलें कीथीं उन



सबका दायित्व उनके विरोधियों तथा अन्य नेताओं ने श्री पी. सी. जोशी पर थोप दिया। वास्तवमें पार्टीने 'लोकयुद्ध' की जोभी नीति अपनायी थी उसमें बी. टी. रणदिवे, डांगे, अजय घोष, नंबूद्रीपाद, सुन्दरय्या, सज्जाद जहीर जैसे वरिष्ठ नेता स्वेच्छासे सहभागी हुए थे परन्तु कलकत्ता पार्टी कांग्रेसमें इनमेंसे प्रत्येक नेताने श्री जोशीको ही उत्तरदायी ठहराया। परिणाम-स्वरूप श्री जोशीके स्थानपर बी. टी. रणदिवेको पार्टी के महासचिव पदपर नियुक्त किया गया।

प्रस्तुत आत्मनिवेदनके चौथे अध्यायमें मुख्यतः पार्टी द्वारा अपनायी गयी आंदोलनकी नीति, उसके स्वरूप और कारणों तथा उस कालखंडमें पार्टीके प्रकाशनों—'मशाल', 'क्रॉस रोड्स' तथा 'नवे जग'—की गति-विधियोंपर प्रकाश डाला गया है। लेखकने इस अध्याय में बी. टी. रणदिवेकी एकाधिकार कार्यपद्धतिका भी उल्लेख किया है।

आत्म-निवेदनके पाँचवें अध्यायमें पार्टीके आंतरिक संघर्षका पूरा विवरण देकर लेखकने पार्टी नेताओंके प्रति अपने मतभेदको स्पष्ट किया है। श्री बी. टी. रणदिवेने पार्टी महासचिव बन जानेपर उग्रवादी नीति अपनायी। यद्यपि कलकत्ता-पार्टी कांग्रेसमें उनकी उग्रवादी नीतिका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ था तथापि आगे चलकर रणदिवेने अतिउग्रवादी नीति अपनायी, उसके अत्यंत गम्भीर परिणाम हुए। वे चाहते थे कि कांग्रेस सरकार तथा शोषक-मालिकोंके विरुद्ध देशभरमें सार्वजनिक क्रांति हो जाये। इसलिए उन्होंने मजदूर हड़तालका आदेश दिया। उनकी योजना थी कि यह हड़ताल सभी रेल कर्मचारियोंकी हड़तालसे आरंभ हो। उन्हें आशा थी कि बादमें उसमें देशके सभी मजदूर उतर पड़ेंगे और भारतमें शीघ्रही सार्वजनिक विद्रोह फैल जायेगा। प्रत्यक्षतः ऐसा हुआ नहीं, रेल कर्मचारियोंकी हड़ताल असफल हुई। इसमें सफल न रहनेपर भी पार्टीके महासचिव श्री बी. टी. रणदिवेने 'जेल आंदोलनका' आदेश दिया। वे चाहते थे कि जितने भी कम्युनिस्ट नेता जेलमें बंद हैं वे राजबंदियोंकी सुविधाओंके लिए जेल अधिकारियों एवं पुलिसके विरुद्ध उग्र आंदोलन छोड़ दें। बी. टी. रणदिवेके आदेशानुसार कलकत्ता, अहमदाबाद, मुम्बई, पुणेके जेलोंमें कुछ उग्र आंदोलन हुए परन्तु असफल रेल-आंदोलनके कारण बहुत सारे कम्युनिस्ट नेता सावधान हो गये थे। उन्होंने रणदिवेको

धैर्य रखने और अति उग्रनीति न अपनानेके लिए कहा। रणदिवेने इन नेताओंको डरपोक कहकर उनकी भत्सना की। लेखकने अनुभव किया कि अति उग्रवादके नाम पर रणदिवे पार्टीमें अपनी सत्ताको ही चलाना चाहते हैं। लेखकने यह भी अनुभव किया कि न केवल रणदिवे अपितु अन्य वरिष्ठ कम्युनिस्ट नेता भी रूसी नेताओंके अंधभक्त बने हुए हैं। इन सब बातोंसे ऊबकर ऊर्ध्वरेषे ने अपना एक निवेदन तैयार किया जिसमें यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि काँ. अजय घोष, काँ. डांगे आदि वरिष्ठ नेताओंसे लेकर प्रांतीय स्तरके छोटे-छोटे नेताओंकी प्रतिदिन आलोचना करनेवाले पार्टीके महासचिव बी. टी. रणदिवे कभी आत्मपरीक्षणभी करेंगे या नहीं? पार्टी नेताओंके हाथों यह निवेदन प्रस्तुत कर ऊर्ध्वरेषेने शुरूमें बड़ी निर्भीकता अवश्य दिखायी परन्तु काँ. डी. पी. सिन्हा और काँ. मोहनकुमार मंगलम्के कहनेपर इस निवेदनको वापस भी ले लिया। लेखकने अपने निर्णयके विवरणको बहुत ही योग्य शीर्षक—'माँजी बंडखोरी व शरणागती'—(मेरा विद्रोह एवं शरण) दिया है। गुटबंदी, एकाधिपत्य अन्धविश्वास से पूर्ण वातावरणमें एक निष्ठावान् और स्वतंत्रचेता कार्यकर्त्ताको तनावपूर्ण परिस्थितियोंसे गुजरना पड़ता है। ऊर्ध्वरेषेने अपनी तनावपूर्ण मानसिक स्थितियों, उसके परिणामों तथा उनसे मुक्ति पाने हेतु किये गये निर्णयोंका ब्यौरेवार विवेचन प्रस्तुत आत्मनिवेदनके पाँचवें भागमें किया है।

'हरवलेले दिवस'के छठे अध्यायमें पार्टीसे मुक्त होने के उपरांत ऊर्ध्वरेषे द्वारा बिताये गये मध्यवर्गीय जीवन का परिचय है। इस अध्यायकी विशेषता है कि इसके एक उपविभाग 'माझा भ्रम-निरास-आणि आशावाद (भ्रमभंग और आशावाद)—में लेखकने स्तालिन के निधनके बाद रूसमें हुए सत्ता संघर्षके संबंधमें अपने आकलनको विस्तारसे स्पष्ट किया है। स्तालिन, मलेनकोव, ख्रुश्चेव, ब्रेझ्नेव आदिके कृष्ण कृत्योंका संकेत भी इसी उपविभागमें मिलता है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीकी नीतियों, सत्ताके लिए नेताओं द्वारा की गयी गुटबंदियों और रूसी नेताओं के कृष्ण कृत्योंपर गंभीरतापूर्वक विचार करनेके उपरांत लेखकने कम्युनिस्ट आंदोलनके सम्बन्धमें अपना निष्कर्ष इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'समाजवादी देश में सत्ताधारी पक्षके नेताओंको अपने नेतृत्वकी चिन्ता



होती है। वे अपने हितोंकी रक्षा हेतु मार्क्सवाद-  
तेनिनवादकी पोथी-निष्ठाको सुरक्षित रखनेका जीजानसे  
प्रयास करते हैं। यही नहीं, वे परस्पर संघर्ष में उस पोथीमें  
प्राप्त गाली गलौजपूर्ण शब्दों—प्रतिक्रियावादी, सुधार-  
वादी, उग्र अपप्रवृत्तिवादी, विश्वासघाती, ट्रॉट्स्कीवादी  
—की माला जपते रहते हैं। एकही धर्मके कई पंथ-  
उपपंथ कभी-कभी एक-दूसरेको फूटी आंखभी नहीं  
बुझते। वे एक दूसरेको पाखंडी घोषित करते हैं।  
मार्क्सवादी पंथों-उपपंथोंकी पद्धति इससे कुछ भिन्न नहीं  
है—मेरे अनुभवोंका यही निष्कर्ष है। फिर भी मेरा  
भाषावाद (भोलाही सही!) है कि कई मोड़ोंसे  
गुजरकर, चढ़ाव-उतारोंको पारकर समाजवादसे ही  
तक्ष्य पूरा होगा। देरसे क्यों न हो परन्तु समाजवादके  
बलपर ही विषमता, अन्याय, अत्याचार, अनाचार,  
प्रभुवादा आदिसे मानवताकी मुक्ति होगी।” (पृ.  
३७०)।

‘हरवलेले दिवस’में एक परिशिष्टभी है। इसमें  
रूसी नेता गोर्बाचोव्ह-प्रणीत ‘ग्लासनोस्त’ और ‘पेरे-  
स्त्रोइका’का स्वरूप विशद किया है। ग्लासनोस्त  
(मुक्तता) और पेरेस्त्रोइका (पुनर्रचना)के माध्यमसे  
गोर्बाचोवने छद्मशेवसे लेकर चेर्नोकोतक के तीस सालोंके  
कालखंडका राजकीय दृष्टिसे आलोचन-विश्लेषण  
प्रारंभ किया है। इस घटनाके आधारपर ऊर्ध्वरेखेने  
भाषा व्यक्त की है कि कम्युनिस्ट दलों, उनको गुटों,  
द्वारा किया गया यह निर्भय आत्म-परीक्षण कम्युनिस्ट  
आंदोलनके लिए बड़ाही हितकारी सिद्ध होगा और  
इससे कम्युनिज्ममें निश्चयही परिवर्तन होगा।

‘हरवलेले दिवस’ के विवेच्य विषयका परिचय देने  
के उपरान्त इस कृतिकी विधागत विशेषताओंके संबंधमें  
वता देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह आत्मकथा नहीं  
है। परिवेशगत, विशेषताओं, संपर्कमें आये हुए व्यक्तियोंके  
परिचयके साथ आत्मकथामें लेखकका जीवनही केन्द्रमें  
रहा है। आत्म-कथामें लेखक जो कुछभी कहता है अपने  
संबंधमें कहता है या उन व्यक्तियों, परिस्थितियोंके  
संबंधमें कहता है जो लेखकके व्यक्तित्व आदिको आलोकित

करनेमें समर्थ होती हैं। विवेच्य कृतिमें लेखकने अपने  
संबंधमें कम कहा है, कम्युनिस्ट पार्टीके संबंधमें अधिक।  
ऐसा लगता है कि लेखकके मनमें एक प्रश्न निरन्तर  
विद्यमान रहा है—लम्बे कालतक पार्टीसे जुड़े रहकर भी  
उसने कम्युनिस्ट पार्टीको क्यों त्याग दिया? ‘हरवलेले  
दिवस’ प्रकारान्तरसे इसी प्रश्नका विस्तृत उत्तर है।  
इसमें पार्टीसे संबद्ध उन कई तथ्योंको उजागर किया है जो  
किसीभी सत्यप्रिय, स्वतंत्रचेता व्यक्तिको सोचनेके लिए  
मजबूर कर देते हैं। इन्हीं तथ्योंके कारण लेखकने अनु-  
भव किया कि उसने सन् १९४४ से १९५१ तक जीवन  
के महत्वपूर्ण वर्ष गंवा दिये। प्रस्तुत कृतिका शीर्षक  
इस प्रतीतिको अच्छी प्रकारसे उजागर करता है।

‘हरवलेले दिवस’ को पढ़ते हुए पुनः पुनः अनुभव  
होता है कि लेखकके पास विश्लेषकका पैनी दृष्टि हा  
नहीं अपितु आत्मपरीक्षणके लिए आवश्यक निष्पक्षता,  
दोष दिग्दर्शनहेतु आवश्यक निर्भीकता, आत्मनिन्दाके लिए  
वांछित मनका खुलापन है। प्रस्तुत आत्मनिवेदन जब  
प्रकाशित हुआ तब बी. टी. रणदिवे जीवित थे,  
काँ. डांगे भी जीवित थे। इन वरिष्ठ नेताओंके जीवित  
रहते उनकी कई अपप्रवृत्तियोंका उद्घाटन निश्चयही  
निर्भय वृत्तिका द्योतक है। दूसरी बात यह है कि लेखक  
ने अपने परिवारके व्यक्तियोंके दोष दिखानेमें भी संकोच  
नहीं किया है। उसने अपने पिताजीकी तानाशाही  
नीतिपर भी खुलकर लिखा है। निर्भीकता तथा निर्लिप्त  
सत्यकथन इस आत्मनिवेदनके महत्वपूर्ण गुण हैं। लेखकके  
इन्हीं गुणोंके कारण इस कृतिमें कम्युनिस्ट पार्टीसे संबंधित  
कतिपय अविवेचित पहलू पहली बार खुलकर सामने आये  
हैं। इस विषयगत नूतनताका ही परिणाम है कि लेखकको  
प्रस्तुत आत्मनिवेदनकी भाषाको सज्जित तथा शैलीको  
विभूषित करनेके लिए किन्हीं कृत्रिम उपायों अथवा  
वाग्जालको फैलानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। उपमा,  
रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारोंसे रहित सरल भाषामें  
अभिव्यक्त तथ्योंसे अवगत होकर राजनीतिक क्षेत्रके  
व्यक्ति नेता, कार्यकर्त्ता तथा राजनीतिक इतिहासके  
अध्येता निश्चयही लाभान्वित होंगे। □



# केरलीय संस्कृति, सौन्दर्य, यथार्थ और प्रेम-वासनाका काव्य निष्प्लान

**कवि : ओळप्पमण्ण सुब्रह्मण्यन् नम्पूतिरिप्पाड**

**समीक्षक : डॉ. एन. ई.  
विश्वनाथ अय्यर**

देश-विदेशके महानगरोंसे अनेक पर्यटक केरल आतेहैं। वे सभी इस प्रदेशकी प्राकृतिक हरियालीपर मुग्ध हो जातेहैं। वस्तुतः अब जो हरियाली है वह पुरानी हरीतिमाका शतांशभी नहीं है। बड़ी नदियोंमें बाँध बनाकर और बहते नदी-जलमें किनारेके कारखानों की रासायनिक तलछट बहाकर उन्हें प्रदूषित किया जाताहै। इसके बावजूद करुणामय प्रकृतिकी कृपासे केरलकी हरीतिमा पूर्णतः नष्ट नहीं हुईहै।

केरलीय सामाजिक जीवनमें कई प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। राजनीतिक क्षेत्रमें साम्यवाद, वैज्ञानिक क्षेत्रमें कंप्यूटर प्रयोग और सभ्यतामें होटलीय संस्कृतिका जोर बढ़ रहाहै। दूसरी ओर प्राचीन परंपरागत जीवनका पक्ष लेते हुए नादस्वरम्, पंचवाद्यम् और कथकळिकी कलाओंका आनन्द लेनेवाले लोगभी हैं। इनकी संख्या कम होती जा रहीहै। तीसरी ओर किसी रुढ़िवादी परंपराकी दासता स्वीकार किये बिना मानवतावादपर मुग्ध होनेवाले प्रत्येक आघातसे दुःखित व क्षुब्ध होने वाले कलाकारभी हैं। इस तीसरी कोटिके व्यक्तियोंमें श्री ओळप्पमण्ण प्रमुख माने जा सकतेहैं।

श्री 'ओळप्पमण्ण' संक्षिप्त नाम है। पूरा नाम ओळप्पमण्ण सुब्रह्मण्यन् नम्पूतिरिप्पाड है। 'ओळप्पमण्ण' इल्लम (केरलीय ब्राह्मण-परिवार) का नाम है। 'नंपूतिरि' केरलीय ब्राह्मणको सूचित करताहै। 'पाड' प्रत्यय नंपूतिरियोंमें श्रेष्ठ वर्गका बोधक है। अर्थात् ओळप्पमण्ण एक प्राचीन अभिजात केरलीय ब्राह्मण परिवारके सदस्य हैं। यह केरलका प्रसिद्ध परिवार है जो प्राचीन युगमें बड़ा सम्पन्न भूस्वामी था, 'प्रकर'—नवम्बर'९०—५४

इसके अपने हाथी होतेथे। इसके अभिभावकत्वमें कथकळि जैसी केरलीय कलाओंका पोषण होताथा। नंपूतिरि लोग परम्परागत रूपसे संस्कृतके विद्वान्, कवि आदि होते आयेहैं। वर्तमान मलयालम काव्यजगत् में सर्वश्री अक्कित्तम, कक्काट, विष्णु-नारायणन् नम्पूतिरि और ओळप्पमण्ण नंपूतिरि कवियोंके प्रतिनिधि हैं। ओळप्पमण्णके छोटे भाई डॉ. ओ. एम. अनुजन भी अच्छे कवि हैं, जो दिल्ली विश्वविद्यालयके भारतीय भाषा विभागमें मलयालमके प्राध्यापक हैं।

ओळप्पमण्ण सुब्रह्मण्यन् नंपूतिरिप्पाडकी शिक्षा-दीक्षा केरलमें ही हुई। प्रारंभमें परम्परागत वेदशिक्षा संस्कृत शिक्षा और उसके बाद स्कूली शिक्षा। इन्टर तक पढ़नेके बाद स्वतन्त्रता संग्राममें भाग लिया और पढ़ाई छोड़दी। बादमें उन्होंने स्वतंत्र रूपसे कई आर्थिक प्रयोग किये। बड़े पैमानेपर रबड़की खेती, लकड़ीका व्यापार आदिसे वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्कृतिका परिचय पानेके बाद वे छोटे पैमानेकी खेती-बाड़ीसे संतुष्ट होगये। १९६४ से पालघाटके 'जैनमेड' मुहल्लेमें "हरि श्री" भवनमें रहतेहैं। वे केरलके सांस्कृतिक क्षेत्र और सामाजिक कार्यक्रमोंमें रुचि लेतेहैं। कथकळिके विशेषज्ञ व कविके रूपमें केरल कला मंडलम्, केरल संगीत नाटक अकादमी, साहित्य प्रवर्तक सहकरण संघम् आदि संस्थाओंसे जुड़ेहैं।

श्री ओळप्पमण्णकी सृजनशील प्रतिभा कविता-क्षेत्र मेंही मुख्यतः मुखर हुई। उनकी पहली कविता १९४२ में स्कूलकी पत्रिकामें छपी। १९४५ से उनकी कवि-



ताएँ नियमित रूपसे पत्रिकाओंमें विषयगत: मातृभूमि  
साप्ताहिकमें छपती रही हैं। आर्थिक दृष्टिसे सम्पन्न  
होनेके कारण उन्हें काव्यसृजनको जीविकाका साधन  
बनानेकी आवश्यकता नहीं हुई। फिरभी हृत्तंत्री जब  
किसी सशक्त संवेदनासे झंकार कर उठती तब उसकी  
प्रतिक्रिया कविता बनकर लिपिवद्ध होती। उनका  
काव्यसंसार—१९४५ से अब तकका चार दशाब्दियोंसे  
भी लम्बी अवधिका है। 'वीणा' (१९४७) उनका  
प्रथम प्रकाशित काव्य-संकलन है। कल्पना' (१९४८)  
किलुङ्गन कैयामम (१९४९) कुळपति (१९५०)  
खड्गकुं मदु कवितकळुं (१९५१) (एहि सूनरि  
(१९६५) ओलिचु पोलुन्न ज्ञान (१९६५) आनमुचु  
(१९७३) सुफला (१९७४) दुःखमाण्डला सुखं (१९८०)  
निप्लान (१९८७) और जालकपक्षी (१९८८)  
उनके कविता संग्रह हैं। अशरीरकळ (१९४९)  
सीतेळ (१९५१) पाँचाली (१९५७) और नंडेम-  
कुट्टि (१९६७) उनके खंडकाव्य हैं। नंडेमकुट्टि  
छोटा, पर सशक्त खंडकाव्य है। लघुछन्दमें नंपूतिरि  
समाजकी एक अभागिनी युवतीकी दुःखांत कथाका  
यह खंडकाव्य मैंने कई बार पढ़ा है। जितनी बार पढ़ा  
उतनीही बार आँखें गीली हुईं।

'निप्लान' केंद्रीय साहित्य अकादमी द्वारा १९८९  
वर्षका पुरस्कृत कविता-संग्रह है। 'निप्लान' का  
शब्दार्थ है 'छाया गज', इसी शीर्षककी एक कविता उक्त  
संग्रहमें है। प्रस्तुत संकलनमें ४१ कविताएँ हैं। अधिकांश  
छोटी हैं और कुछ बड़ी। इस संकलनकी पहली कविता  
'भिक्षा देहि' पहले 'रामनाथन्' शीर्षकसे प्रकाशित हुई  
थी। ओळप्पमण्णने अपनी कविताओंमें कई व्यक्तियोंके  
शब्दचित्र खींचे हैं। इन्हें कविने अपनेही जीवन संसारमें  
देखा था। ये व्यक्ति सामाजिक जीवनके अनेक पहलू  
अनेक तथ्य व्यंजित करते हैं। कविने उनका चित्रण  
ऊपरी निःसंगतासे तो किया है, किन्तु उस निःसंगता  
के नीचे व्यंग्य है और व्यंग्यकी अन्तर्धारा करुणा है।

'भिक्षा देहि' में अत्यन्त दरिद्र, मन्दबुद्धि पेटू राम-  
नाथन्का व्यंग्य-चित्र है। यह नंपूतिरि परिवारोंके  
प्रत्येक भोजमें—चाहे वह विवाह-यज्ञोपवीतका हो,  
चाहे अपरक्रियासे जुड़ा—पहली पंक्तिमें उपस्थित होता  
था। उसका संक्षिप्त परिचय है—“भोजनही राम-  
नाथन्का जीवन” है। नंपूतिरि परिवार भूव्यवस्था-  
नियमसे चौपट होगये और भोज आदिकी व्यवस्था न

हानिस रामनाथन्, पती नहीं कहाँ गया। इस कवितामें  
अभागे नम्पूतिरि समाजपर भूव्यवस्था-नियमके कठोर  
प्रहारपर व्यंग्य है, कविताके अन्तमें भौतिक सुखके  
पीछे पागल हम सबपर भी—‘हम सब ‘रामनाथन्’ हैं।’

युवावस्थामें प्रत्येक कविका मन दो भावोंसे ओत-  
प्रोत रहता है। अन्तस्में प्रेम और वासना तथा सामा-  
जिक चिन्तनमें क्रान्ति। युवा कवियोंकी प्रारंभिक कवि-  
ताओंमें इन दोनोंका अतिरेक मिलता है। ओळप्पमण्ण  
इसका अपवाद नहीं रहे। ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होते गये त्यों-  
त्यों कवितामें प्रौढ़ता, विचारोंमें पक्वता और संवेदनामें  
गहराई आयी। वर्तमान चिन्तन गरीबी और मानव-  
शोषणकी कठोर आलोचना करता है। अतः ओळप्पमण्ण  
की अनेक सामाजिक कविताओंमें भी यह भाव मिलता  
है। मेषुकुतिरि (मोमवत्ती) इसका उदाहरण है। यह  
कविता निरालाकी “वह तोड़ती पत्थर” का स्मरण  
कराती है। अन्तर यह है कि मलयालम कवितामें  
मजदूरिनकी मातृत्व भावनापर अधिक बल है। मटक्क-  
यात्रा (वापसी यात्रा) पाट्टकळ (पतिंगे) आदि और  
कविताएँ भी इसी प्रकारकी हैं। जालक पक्षी (खिड़की  
की चिड़िया) इस विधाकी कविताओंमें बड़ी सशक्त  
है।

कविको एक आपरेशनके प्रसंगमें अस्पतालमें कुछ  
दिन बिताने पड़े। उन दिनोंका एक दृश्य 'जालक  
पक्षी' में चित्रित है। अस्पतालकी चारदीवारीमें  
कांक्रीटका एक बड़ा हौज या नांद है। आपरेशन कक्ष  
से खूनसे तर कपास, कपड़ा, कटे अंग आदि इसी  
नांदमें डाल दिये जाते हैं। अस्पतालकी मजदूरिन  
रोगियोंके कमरे बुहारकर उनसे मिली रोटीके टुकड़े  
आदिभी इसी नांदमें डालती है। गरीब लड़के उस  
नांदसे खानेकी चीजें निकाल-निकालकर खाते हैं और  
छीनाझपटीमें आपसमें लड़ते हैं। यह दृश्य कविके मनको  
अत्यन्त व्यथित और क्षुब्ध कर देता है।

कविकी संवेदनशीलता और करुणाकी भावना  
उसकी कविताका महत्त्व बढ़ाती है। मरणकुुरिमानम्  
(मृत्यु-पत्र) इसका उदाहरण है। कविकी मोटर-  
गाड़ी एक बार सड़कपर चलते जानवर-झुंडके एक  
भैंसेसे टकराती है। कवि देखता है कि यह तमिलनाडुसे  
केरलके बूचड़खानोंको ले जाये जानेवाला चौपायोंका  
झुंड है। भैंसा उसीका अंग है। इस कविताकी अंतिम  
पंक्तियाँ बड़ी भावपूर्ण हैं। उस अंशका हिन्दी अनुवाद



है :

“पता नहीं, मेरी मृत्यु कब होगी;

मृत्युकी भविष्य-तिथि मुझपर स्पष्ट अंकित नहीं है।

भैसेके बदनपर बूचड़खानेके लिए स्वीकार्य होनेकी मुहर दागी गयी है।

मृत्युकी अनुमति मुझे शायद

इसलिए नहीं दी है कि

मनुष्यका मांस खाने लायक नहीं।

ऐ भैसे ! तेरे सींग, मांस, चमड़ा

प्रत्येक अंगका मूल्य मिलता है,

जा कोचिन जा ! तेरी सुखमृत्यु हो।”

नम्पूतिरि समाजके लिए प्रिय वस्तुओंमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं (१) हाथी और (२) कथकळि। इस आलेखके प्रारम्भमें बताया गया है कि नम्पूतिरि परिवारों में प्रतिष्ठाके प्रतीक रूपमें हाथी पाले जाते थे। वे हाथियोंके लक्षण जानते थे उन्हें प्रायः हाथियोंकी सनक (आनकंप) होती थी। यों नम्पूतिरि कथकळिके अधिकारी आस्वादक रहे हैं। रातभर कथकळि देखना उनका प्रिय मनोविनाद रहा है। सम्पन्न नम्पूतिरि गृहस्थ अपने यहाँ “कथकळि” का आयोजन करते थे। “कथकळि” का आयोजन करते थे। शतरंज खेलना भी उनका प्रिय विनोद था। नम्पूतिरि समाजके सदस्य ओळप्पमण्णके काव्यपर हाथी और कथकळिका प्रभाव है। उन्होंने स्वयं ‘अम्बा’ नामक “कथकळि” लिखा है। “हाथी” उनका बड़ा प्रिय है। इस संग्रहकी शीर्षक कविता ‘निषलान’ एक गज-कविता है। इस मनोरंजक कविताका हास्य संयत तथा सूक्ष्म रूपसे व्यंजित है। इस कविताका सार :—

“गाँवके मन्दिरका उत्सव था। रातकी परिक्रमामें कई सजे हाथियोंने भाग लिया था। नियमानुसार बीच के हाथीपर ही देवताकी मूर्ति रखी गयी। यह हाथीके के लिए वरिष्ठता व सम्मानका प्रतीक था। परिक्रमा के बीच कुछ शरारती लोगोंने जानबूझकर हल्ला मचाया कि हाथी बिगड़ गया और बड़े हाथीको छोटे हाथीने दांत मारा। जैसा कि ऐसी परिस्थितिमें होता है, भग-दड़ मच गयी। भागनेवालोंमें एक वयोवृद्ध पुजारीभी

थे। भागते-भागते उन्होंने एक पेड़की छायामें हाथीको खड़ा पाया। वह हिल नहीं रहा था। घना अंधेरा था। वयोवृद्ध भयभीत हो वहीं खड़े हो गये और हाथीको मनाने के लिए झोलेके मालपुए उसकी तरफ फेंकने लगे। इसी प्रक्रियामें सूर्यकी प्रथम किरणें फूटीं तो उन्होंने देखा कि सामने हाथी नहीं, घने पेड़की छाया थी। पुजारीके फेंके मालपुएभी थे। पेड़के तोते-कौए पुजारीको हंसी उड़ा रहे थे।” निश्छल हास्यकी यह कविता सचमुच अनूठी है।

कविने अपने व्यक्तित्वके सबल एवं कमजोर पहलुओंपर भी निःसंग रूपसे प्रकाश डाला है। अपने व्यक्तित्वका संक्षिप्त परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है—: “मैं मण्णाकटि (केरलका छोटा नगर) का निवासी हूं, पर मेरा मण्णाकटि लद्दाख तक लंबा है।” ‘चरराशि’ नामक कवितामें कविने अपने प्रयोगोंकी कथा सुनायी है।

ओळप्पमण्णकी कवितामें वेदाध्ययनसे कई संस्कृत छंदोंका विशेषतः अनुष्टुप और गायत्रीका सशक्त प्रयोग मिलता है। प्राचीन मलयालम काव्यके अनुशीलन से उन्होंने द्राविडी छंदोंका भी सुन्दर प्रयोग किया। स्थान स्थानपर कथकळिके दंडक-प्रयोगका अनुरणन भी मिलता है। उनकी कवितामें नम्पूतिरि जीवनसे संबंधित शब्द प्रतीक, मुहावरे आदि सुलभ हैं। इनका विशिष्ट भाव व लक्ष्यार्थ समझनेके लिए विशेष परिचय आवश्यक है। यह स्थानीयता सभी कविताओंमें नहीं है।

ओळप्पमण्णकी काव्य-कलाकी चर्चा करते हुए मलयालमके महाकवि पी. कुंजुरामन् नायरका स्मरण आता है। वे शुद्ध केरलीय कविताके अनन्य उदाहरण थे। उनके उपमान, प्रतीक आदि सब केरलीय प्रकृति पर आधारित थे। ओळप्पमण्णकी काव्यकला केरलीय संस्कृतिसे रंजित है। इसलिए इसका अनुवाद कविके अंतरंगका बोधक नहीं हो पाता। जैसे ईखकी मिठास भाषा या देशका अन्तर नहीं जानती वैसे ही सन्ची कविता देश-कालके भेदसे परे है। फिर भी प्रत्येक भाषाकी कविताका अपनी मिठास होता है। अतएव केरलीय कविताके माधुर्यके आस्वादके लिए ओळप्पमण्ण की कविता पढ़ें। □



# मानव-जीवनके प्रति प्रतिबद्धता, नवीनताके आग्रहका प्रभावोत्पादक महाकाव्य

पराशर

कवि : काञ्चीनाथ झा 'किरण' (स्व).

समोक्षक : डॉ. विपिनबिहारी ठाकुर

डॉ. काञ्चीनाथ झा 'किरण' आधुनिक मैथिली साहित्यके मूर्धन्य एवं क्रान्तदर्शी रचनाकार माने जाते हैं। उनका साहित्य व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने काव्य, नाटक व उपन्यास, कहानी और निबन्धकी विधाओं में अपनी सृजनात्मक प्रतिभाका परिचय दिया।

डॉ. 'किरण' बहुमुखी प्रतिभाके रचनाकार होनेके साथही मैथिली भाषाके विकास एवं प्रसारके लिए संघर्षरत योद्धाभी थे। उन्होंने मैथिलीके अस्तित्वके लिए लड़े जानेवाले संघर्षमें जमकर हिस्सा लिया था। उनके व्यक्तित्वकी बहुत बड़ी विशेषता यहभी मानी जाती है कि आर्थिक अभावग्रस्तताके बावजूद अपनी साहित्यिक रचनाधर्मितामें उन्होंने कभी कोई शिथिलता अथवा कमी नहीं आनेदी। वे आजीवन साहित्य-सृजन के प्रति समर्पित रहे।

उनकी साहित्य-साधनाका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह माना जा सकता है कि वे सतत् मानव-जीवनके यथार्थ-बोधके प्रति आग्रही बने रहे। अपनी रचनाओंमें उन्होंने एक ओर तो मानवीय यथार्थोंके चित्रणपर बल दिया और दूसरी ओर नवीन मानव समाजके निर्माणके सन्दर्भमें अपनी स्पष्ट वैचारिकता प्रस्तुत की। इस प्रकार मानव जीवनके परिप्रेक्ष्यमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय उनके साहित्य-सृजनका मूल्यवर्ती तत्त्व माना जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें, मानव-जीवनके प्रति प्रतिबद्धता उनके कृती व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी पहचान रही है और इसी गुण विशेषके कारण उन्हें अधुनातन मैथिली साहित्यके प्रखर और विशिष्ट रचनाकारोंमें प्रमुखता प्राप्त हुई है।

'किरण' जी अपनी कविताओंमें मौलिकताके आग्रही रहे हैं। उनकी यह विशेषता है कि परम्पराका निर्वाह करते हुएभी वे कथ्यकी नवीनताके प्रति विशेष रूपसे आग्रही बने रहे हैं। इस संदर्भमें यहभी उल्लेखनीय है कि नवीनताके प्रति उनका यह आग्रह किसी भी प्रकारसे उनके काव्यको दुर्बल नहीं बनाता। इतनाही नहीं कथ्यके अनुकूलही उनका शिल्प प्रयोग भी सक्षम और प्रभावोत्पादक माना जा सकता है।

'पराशर' डॉ. काञ्चीनाथ झा 'किरण' की एक अद्यतन महाकाव्यात्मक कृति है। इसमें कविने पराशर ऋषिको नायकके रूपमें चित्रित किया है। इसकी कथा-वस्तु सोलह सर्गोंमें व्याप्त है। प्रथम सर्ग 'सत्यक ज्ञान' में पूजाके निमित्त फूल तोड़ते हुए पराशरके पैरसे एक गेहुंअन सर्प लिपट जाता है जिसे तत्काल एक अन्त्यज बालक अपने धनुषसे तीर चलाकर मार देता है। अपनी प्राणरक्षा करनेवाले उक्त बालकके प्रति पराशर कृतज्ञताका भाव व्यक्त करते हैं। ऋचा पाठ नामक द्वितीय सर्गमें पराशर ऋषिके आश्रममें उनके कुछ शिष्योंके द्वारा ऋचा पाठ किया जाता है जिसके माध्यम से मानव-जीवनसे सम्बद्ध कतिपय गंभीर समस्याओंपर कविकी मौलिक धारणाओंका बोध हो पाता है। तृतीय सर्ग 'बनक बाट' में वन मार्गसे गुजरते हुए नायक पराशर प्रकृतिकी नैसर्गिक छटाका अवलोकन करते हैं और इसी क्रममें निम्न जातिकी एक वृद्धासे उनकी भेंट होती है और वे उसकी मानवतावादी जीवन-दृष्टिसे बहुतही प्रभावित होते हैं।

'पराशरक नव अनुभूति' नामक चतुर्थ सर्गमें परा-



शरके व्यक्तित्वका एक सर्वथा नया रूप इस रूपमें उभरकर प्रकट होता है। इसमें वे जीवछ नामक मल्लाह की युवा पुत्री गाडोके रूप सौन्दर्यपर आकर्षित और मुग्ध हो जाते हैं। 'जीवछक जीवन', 'जीवछ-गाडो' और 'पराशर ओ जीवछक नीतिक खेल' शीर्षक तीन सर्गोंमें पराशर और गाडोके विवाहकी पूर्ववर्ती स्थितियों का अंकन किया गया है। इन सर्गोंमें कथा-विकाससे यह ज्ञात होता है कि गाडो अपने पुत्रको पराशरकी ही भाँति ज्ञानी पंडितके रूपमें देखना चाहती है और अपनी ओरसे इसी आशयका प्रस्ताव पराशरके समक्ष रखती है जिसको पराशरका समर्थन प्राप्त होता है। 'पराशर-गाडोक परिणय', 'व्यासक उत्पत्ति', 'पराशर गाडोक विवाह कथाक व्याहार' तथा 'व्यासक पैतृक गमन' नामक चार सर्गोंमें पराशर और गाडोके वैवाहिक संबंधका बहुरंगी चित्रण मिलता है और पराशरके द्वारा अपने पुत्र व्यासको अपने साथ ले जानेका मार्मिक प्रसंग भी उपस्थित होता है।

इसके बादके कथा विकासमें गाडोके प्रति शान्तनुके प्रणय और परिणयकी स्थितियाँ उभरकर प्रकट होती हैं। 'गाडोक प्रति शान्तनुक प्रेम प्रस्ताव' और 'शान्तनुक विरह' नामक दो सर्गोंमें गाडोके प्रति हस्तिनापुर के सम्राट् शान्तनुकी आसक्ति और विरह-व्यथा जैसी स्थितियोंका अंकन हुआ है। 'बूढ़ा मंत्री ओ भीष्म' नामक सर्गमें गाडोके प्रति पिता शान्तनुकी आसक्तिसे अवगत होनेके उपरान्त राजकुमार देवव्रतके अविवाहित रहने और राज्य सिंहासनका अधिकार छोड़नेके महान् त्यागका प्रभावोत्पादक चित्रण हुआ है। 'गाडोक हस्तिनापुर गमन' नामक सर्गमें हस्तिनापुरकी रानी बननेके पूर्व गाडोको उसकी माँ यमुनाके द्वारा नारीत्वके आदर्शोंकी सीख प्रदान की जाती है। 'सिंहासनपर सत्यवती' नामक अंतिम सर्गमें गाडो (सत्यवती) राजा शान्तनुके साथ सिंहासनपर बैठती है, इसी समय पराशर ऋषि वहाँ पधारकर इन दोनोंको शासकके जनकल्याणकारी दायित्वोंको उजागर करनेवाले संदेश प्रदान करते हैं। उनके कथनमें शासकके नैतिक दायित्वबोध की विवेचनाका भाव निहित मिलता है। इस प्रकार इस कृतिके अंतिम सर्गमें पराशर ऋषिकी उपस्थितिसे प्रस्तुत कृतिको वैचारिक पक्षकी उत्कृष्टता प्राप्त होती है।

'पराशर' की पात्र-योजना भी बहुत सफल मानी  
'प्रकर'—नवम्बर'९०—५६

जा सकती है। कविने बड़ी वारीकीके साथ इस महाकाव्यके प्रमुख और गौण चरित्रोंकी विशेषताओंको उजागर करनेका प्रयास किया है। हर पात्रकी अपनी अलग पहचान उभरकर प्रकट होती है। कविने नायकके रूपमें पराशरके सम्पूर्ण व्यक्तित्वको विविध परिस्थितियोंके बीच रखकर प्रभावपूर्ण ढंगसे चित्रित करनेमें सफलता प्राप्त की है। पराशर सर्वप्रथम उदात्त जीवनदर्शनके प्रतिपादक ऋषिके रूपमें उपस्थित होते हैं। प्रथम सर्गमें ही ऐसा प्रसंग आया है कि वाटिकामें फूल तोड़ते हुए उनके पैरोंसे एक सर्प लिपट जाता है जिसे तत्क्षण एक अन्त्यज बालक अपने बाणसे मार देता है और तब वे अपने उस प्राणरक्षक बालकके प्रति बड़े आत्मीय भावसे कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। इसी क्रममें उनके मनमें यह अनुभूतिभी जागती है कि अन्त्यज जातिके लोगोंके शरीरमें प्रवाहित होनेवाले रक्तमें अहंकारशून्यताके कारण उदात्तताकी चेतना कहीं अधिक मात्रामें विद्यमान रहा करती है। इस स्थलपर पराशरकी व्यापक मानवीय चेतना अन्त्यज वर्गके सदस्योंके प्रति निम्नलिखित पंक्तियोंमें व्यक्त हुई है।

'की कोनो धर्म विशेष हमर ओकर शोणित में अछि विद्यमान ?

अहंकारवस हमर शोणितक ओ धर्म अछि मरि गेल ?

अहंकार रहित ओकर सबहक शोणित मे छै जीवन्त ?

खोजव अछि ओ धर्म ।' (पृ. ५)

पराशरके मनकी व्यापक मानवतावादी चेतनाका परिचय 'वनक बाट' नामक सर्गके उस प्रसंगमें भी मिलता है जब दिनभरकी यात्राके उपरान्त थक जानेपर उन्हें अछूत जातिकी एक वृद्धा नारियलका पानी पिलाती है और उनके सो जानेपर वह पंखा झलनी रहती है। अछूत बुढ़ियाके स्नेहिल व्यवहारमें उन्हें अपनी वात्सल्यमयी माँकी याद हो आती है। उस वृद्धाके व्यक्तित्व में अपनी माँकी छाया देखनेकी इस मानसिकतामें प्रकाशान्तरसे उनके उदार मानवतावादी भाव-बोधकी ही अभिव्यंजना होती है।

पराशरके व्यक्तित्वका एक सर्वथा नया रूप गाडोके प्रणय-भावके सन्दर्भमें परिलक्षित होता है। वे जीवछ मल्लाहकी युवा पुत्री गाडोकी सुन्दरतापर रीझ जाते हैं और उससे दैहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते



हैं। इस स्थलपर आकर उनके व्यक्तित्वमें गाडोके प्रति जो अनुरागका भाव उत्पन्न होता है उससे उनके अनु-रागपूर्ण पुरुष व्यक्तिकी एक अनूठी पहचान उभरती है। वे अपने भावी पुत्रको ज्ञानी पंडित बनानेका वचन गाडोको देते हुए उससे विवाह कर लेते हैं। विवाहोप-रान्त गाडो एक पुत्रको जन्म देती है और वे उसका संस्कार करनेके उद्देश्यसे उसे हमेशाके लिए अपने साथ लेकर चले जाते हैं। अपने पुत्र व्यासको ले जानेके पूर्व पराशर गाडोको हस्तिनापुरके सम्राट् शान्तनुसे विवाह कर लेनेका परामर्श भी दे देते हैं। इसी क्रममें वे बन्धुजोंके नायक जीवछको निर्भयताका पाठ भी पढ़ा देते हैं। जहां गाडोके प्रति उनके अनुरागसे उनके प्रणयी व्यक्तित्वकी पहचान उभरती है वहीं जीवछको निर्भीकता का पाठ पढ़ानेके कारण वे उपेक्षित एवं दलित लोगोंके अधिकारोंके पक्षधर भी प्रतीत होने लगते हैं।

पराशरके आचार्य व्यक्तित्वकी महानताका बोध हमें तबभी होता है जब राजा शान्तनु और रानी सत्यवतीके सिंहासनारूढ़ होनेके अवसरपर वे उन दोनों को शासकके लोक-कल्याणकारी दायित्वों और आदर्शों की सीख देते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत काव्यकृतिके सम्पूर्ण कथा-विकासमें नायक पराशरके व्यक्तित्वकी महत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है।

प्रस्तुत महाकाव्यमें नायिका गाडो (सत्यवती) का व्यक्तित्वभी विलक्षण माना जा सकता है जिसमें सौन्दर्य और प्रखरता जैसी विशेषताओंका समाहार मिलता है। कविने उसके रूप-सौन्दर्यकी मोहकताका वर्णन उन दो स्थलोंपर बड़ी कमनीयताके साथ किया है जब क्रमशः पराशर ऋषि और राजा शान्तनु उसपर मुग्ध होकर अपनी पत्नी बनानेको आकुल हो जाते हैं। दो अलग-अलग अवसरोंपर वह अपने स्वत्व और अधिकारके प्रति जागरूकताका परिचय देती है। जब गाडो के रूप सौन्दर्यपर लुब्ध होकर पराशर ऋषि उसे अपनी वासना-पूर्त्तिका साधन बनाना चाहते हैं तब वह उनके समक्ष यह शर्त रखती है कि विवाहोपरान्त उसके गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पुत्रको वे पढ़ा-लिखाकर ज्ञानी पंडित बना देंगे—

‘जं हमर कोखि सं जनमल पूत के  
बनाविअइ अपन जइत बिरहामन  
पढ़ा लिखा पंडित मुनि बना लियइ  
तं अहां सन बिचार दरेगाबला लोकक चरन,

गाडो पकड़ि गहत अरपत तन प्राण अपनैं।

(पृ. ४८)

जब पराशर ऋषि उसके इस प्रस्तावके प्रति अपनी सहमति प्रदान कर देते हैं तब वह उनके साथ परिणय सूत्रमें बंध जाती है। इसके बाद पराशर ऋषि के प्रति वह एक आदर्श पत्नीकी समर्पण भावनाका उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसके साथही इस विवाहके कारण पास-पड़ोसकी स्त्रियोंके बीच गाडोका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है क्योंकि उसने पराशर ऋषिको अपने प्रेमके बन्धनमें बाँधकर अपनी जातिके लोगोंको मनुष्य होनेका गौरव प्रदान किया है—

‘गाडो पराशर के प्रेम में बान्हि,

अपन जातिए कें दिऔलक मनुखक मान, मोल ।’

(पृ. ५४)

गाडोके व्यक्तित्वमें पत्नीके अतिरिक्त माताके रूपका भी बड़ा ही सुन्दर विकास हुआ है। अपने गर्भसे उत्पन्न शिशु व्यासका वह बड़ेही लाड़-प्यारसे पालन-पोषण करती है और चार-पाँच वर्ष गुजरनेके उपरान्तही जब पराशर उस बालकको सुशिक्षित बनानेके लिए अपने साथ ले जानेको विदा होते हैं तो प्रस्थानकी बेलामें उसके हृदयमें प्रेम, गौरव और विरह जैसी कई भावनाओंका एक साथही उदय होता है। इस स्थल पर उसके व्यक्तित्वकी कमनीयता बहुतही गहरा प्रभाव छोड़ती प्रतीत होती है।

गाडोके जीवनका एक पक्ष यदि पराशर ऋषिके साथ जुड़ा हुआ है तो दूसरा पक्ष हस्तिनापुरके राजा शान्तनुसे सम्बद्ध है। पराशर ऋषिने अपने पुत्र व्यास के साथ प्रस्थान करनेके पूर्वही गाडोको यह निर्देश दे दिया था कि वह उनके जानेके बाद राजा शान्तनुसे विवाह कर लेगी। जब आखेटके क्रममें शान्तनुकी दृष्टि गाडोपर पड़ती है तो वे उसपर बेतरह रीझ जाते हैं और उसे अपनी पत्नी बनानेके लिए आतुर हो उठते हैं। अपने निवास-स्थानपर राजा शान्तनुके आनेपर जीवछ मल्लाह बड़ेही शिष्ट रूपमें उनका स्वागत करता है किन्तु साथही बड़ी निर्भीकतासे यह भी निवेदन कर देता है कि पराशर ऋषिके द्वारा उसकी पुत्री गाडो को यह आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है कि उसका पुत्र राजगद्दीका अधिकारी बनेगा। अतः यदि आप गाडोके पुत्रको युवराज बनानेका वचन दें तो उसके साथ आपका विवाह सम्भव हो सकता है। अंतिम सर्गमें



जिस प्रकार राजा शान्तनुके साथ वह रानी (सत्यवती) के रूपमें राज सिंहासनपर बैठती है उससे उसके व्यक्तित्वकी भव्यता बहुतही निखरकर प्रकट होती है। वस्तुतः नायिकाके रूपमें गाडोके व्यक्तित्वमें प्रखरता और गत्यात्मकताकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएं निहित हैं।

प्रस्तुत काव्यकृतिमें राजा शान्तनुका चरित्र भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। जब जंगलमें शिकार खेलनेके प्रसंगमें राजा शान्तनुकी दृष्टि गाडो पर पड़ती है तो उनका मन उसके रूप-सौन्दर्यको देखकर लालायित हो उठता है। उनके मनमें गाडोके माध्यमसे सबल सन्तानकी प्राप्तिकी कामना तीव्रतासे जग जाती है और वे उसे प्राप्त करनेको विवश हो उठते हैं। गाडोके प्रति शान्तनुके मनकी यह आसक्ति उन्हें एक कामी पुरुषके रूपमें ही प्रस्तुत करती है। जीवछ मल्लाहकी ओरसे जब गाडोके पुत्रको ही राजगद्दी प्रदान करनेका प्रस्ताव आता है तब वे बिल्कुल ही विवश हो जाते हैं। इस क्रममें उनके व्यक्तित्वका आन्तरिक संघर्ष बहुतही तीव्रतासे उभरकर प्रकट हुआ है। जब देवव्रतकी भीष्म प्रतिज्ञाके उपरान्त उनकी विवशता दूर हो जाती है तब वे गाडोको अपनी पत्नी बनानेमें सफल हो जाते हैं। सत्यवतीको रानी बना लेने के उपरान्त उन्हें एक प्रकारका संतोष प्राप्त होता है, किन्तु इसके साथ उन्हें लज्जाकी भी हल्की अनुभूति होती है।

वस्तुतः गाडो (सत्यवती) के प्रति शान्तनुकी आसक्ति जितनी तीव्रताके साथ उभरकर प्रकट हुई है उससे इस काव्य-कृतिमें संवेदनशीलताका गुण समाहित हो गया है।

पराशरके पुरुष पात्रोंके बीच देवव्रतका चरित्रभी अत्यधिक विशिष्ट माना जा सकता है। देवव्रतके चरित्र में पितृभक्तिका आदर्श बड़ी ऊंचाईपर निहित है। जब उसे बूढ़े मंत्रीसे अपने पिताकी उदासीका वास्तविक कारण ज्ञात होता है तब वह स्वयं अविवाहित रहकर राजगद्दीके अधिकारसे अपनेको विरत करनेकी घोषणा करता है और वह स्वयं रथ लेकर माताके रूपमें सत्यवतीको हस्तिनापुर ले जानेके लिए जीवछके घर पहुंच जाता है। देवव्रतके व्यक्तित्वकी यह त्याग-भावना बड़ी प्रमुखताके साथ उजागर हुई है जिसकी प्रशंसा करते हुए पराशर ऋषिने यह धारणा व्यक्त की है कि उसके जैसे महामना व्यक्तियोंके त्यागसे ही कोईभी देश

सुदृढ़ और सुखी हो पाता है—

‘हमर मन नहि अछि अघाइत, अहांक प्रशंसा नहि, स्तुति करवा सं।

अहींक समान महामनाक त्याग सं।

कोनो देश सुदृढ़ ओ सुखी हैत।’ (पृ. ५२)

‘पराशर’ की पात्र-योजनामें जीवछ मल्लाह और उसकी पत्नी यमुनाभी विशेष स्थान रखते हैं। ये दोनों गाडोके माता-पिता हैं। जीवछ गार्हस्थ्य जीवनके दायित्वोंका सफलतापूर्वक निर्वाह करता है। उसके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी पुत्री गाडोके विवाहके सन्दर्भमें उसके अधिकारको सुरक्षित रख पानेकी दिशामें मजग और सक्रिय बना रहता है। पराशरके साथ जब गाडोके विवाहका प्रश्न उपस्थित होता है तब वह अपनी ओरसे उसे सतर्क रहने की सलाह देते हुए कहता है—

‘तोहर बेटा कँ पढ़ा लिखा

पंडित मुनि बना लेथि

से सतं करा जँ करितें विवाह

तँ तोहर जिनकी जैतोंक बदलि।’ (पृ. ३६)

जीवछको पराशर ऋषिके माध्यमसे निर्भीकताका जो मंत्र प्राप्त होता है उसके परिणामस्वरूप उसमें विलक्षण आत्मबल पैदा हो जाता है। इसी आत्मबलका परिचय देते हुए वह राजा शान्तनुके समक्ष गाडोके होनेवाले पुत्रको महाराज बनानेका प्रस्ताव रखता है। इस प्रकार जीवछके व्यक्तित्वमें एक कर्मठ गृहस्थके साथही जागरूक पिता-रूपका समन्वय मिलता है। अपने व्यक्तित्व की दृढ़ताके कारण वह निम्न जातिके लोगोंके साहस, संगठन और आत्मबलका प्रतीक माना जा सकता है।

यमुना जीवछकी पत्नी है। उसके व्यक्तित्वमें भी दायित्वयुक्त पत्नी और वात्सल्यमयी माताके गुणोंका समाहार परिलक्षित होता है। जीवछ यमुनाको अपने जीवन पथपर छाँह प्रदान करनेवाले वट वृक्षके रूपमें देखता है। इस क्रममें उसकी स्पष्ट धारणा है—

“जामुन ! तों छिकी हमर

जीवन पथ-पांतर केर अपरूप पाकड़ि।

बाटक पाकड़ि ठामहि रहि जाइ छै

बटोही’ छहरा जिरा अछि बड़ि जाइत

मुदा हमर पाकड़ि तों छह

सदिखन संग रहैत छाहरि-दैत।” (पृ. ३१)

जहां एक ओर यमुनाके व्यक्तित्वमें पति भक्तिका भाव



कूट-कूटकर भरा मिलता है, वहीं दूसरी ओर उसके मन में अपनी पुत्री गाड़ोके प्रतिभी असीम स्नेह और ममत्व की भावना प्रचुरतासे उपलब्ध होती है। जब गाड़ोको हस्तिनापुरकी रानी बननेका सुअवसर प्राप्त होता है तब यमुना उसे नारीत्वके ऊँचे आदर्शोंकी सीख देती है।

‘पराशर’ के गौण पात्रोंके बीच अछूत जातिकी वृद्ध स्त्रीको महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है जो भूखे-प्यासे और थके-माँदे लोगोंकी सेवाको ही अपने जीवन का एकमात्र धर्म मानती है। उसके व्यक्तित्वकी इसी सेवा भावनाको लक्ष्य करके पराशर ऋषिने उसके प्रति आदरका भाव व्यक्त करते हुए कहा था कि आज मेरी माँ मानो तुम्हारे तनमें आ गयी है—

“आइ हमर माय तोहर तन मे  
जनि छलि आबिगेलि।” (पृ. २०)

इसी प्रकार हस्तिनापुर राज्यके वृद्ध मंत्रीके व्यक्तित्वमें भी गम्भीरता, शालीनता और मर्यादाप्रियता आदि गुणोंका समाहार मिलता है। प्रस्तुत कृतिके कथा-विकासमें वृद्ध मंत्रीकी भूमिका भी उल्लेखनीय है क्योंकि उसके ही द्वारा देवव्रतको अपने पिताके मानसिक क्लेशका वास्तविक कारण ज्ञात हो पाता है।

कविने प्रस्तुत काव्य-कृतिमें मानवतावादी जीवन-दृष्टिके प्रतिपादन हेतु कुछ सर्वथा नवीन एवं मौलिक प्रसंगोंकी भी सृष्टि की है। इस सन्दर्भमें रामका अश्वमेध यज्ञ प्रसंग और विश्वामित्र-मेनका प्रसंग—दोनोंकी विशेष महत्ता सिद्ध होती है। ‘ऋचा पाठ’ नामक सर्गमें पराशर ऋषिके आश्रममें एक शिष्यके ऋचा पाठमें रामके द्वारा किये जानेवाले अश्वमेध यज्ञका प्रसंग मिलता है। इसमें यह प्रदर्शित किया है कि गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे राजा रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ करनेका संकल्प लेते हैं और बड़े हर्षके साथ अपने इस निर्णयसे सीताको अवगत कराते हैं किन्तु वे अपनी ओरसे इस यज्ञके लिए सहमति प्रदान नहीं कर पातीं, क्योंकि इस क्रममें यह धारणा बनती है कि अश्वमेध यज्ञके द्वारा दूसरे देशोंके जनसमूहकी स्वतंत्रताका अपहरण होता है, अतः दूसरों को दुःखमय बनानेका यह कार्य कभीभी पुण्यप्रद नहीं हो सकता। सीताके इस कथनमें रामको अपने गुरुकी आज्ञा और धर्मके प्रति विरोधका भाव मिलता है और वे क्रोध होकर सीताको राज्य-निर्वासनका दण्ड देते हैं। इस क्रममें एक विशेष स्थितिभी उत्पन्न होती है जब

सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रममें पहुँचा देनेका दायित्व रामके द्वारा भरतको सौंपा जाता है, तब वे अग्रज रामके आदेशका पालन करनेको तत्पर नहीं होते। इस स्थलपर भरतका यह उत्तर होता है कि वस्तुतः भाभी सीताके कथनमें मानवताका सहज रूप दिखायी पड़ रहा है। इसके साथही इस अवसरपर राम की संवेदनहीनताकी ओरभी हल्का संकेत किया गया है। इस प्रकार कि जब लक्ष्मण सीताको रथपर चढ़ाकर प्रस्थान कर रहे होते हैं तब राम हृदयहीन प्रस्तर प्रतिमाकी भाँति खड़े रहते हैं। इस प्रसंगका विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके माध्यमसे जहाँ एक ओर सीता और भरतको मानवतावादी आदर्शोंके प्रतीक पात्रके रूपमें प्रस्तुत किया गया है वहीं राजा रामका चित्रण अहंकारमें डूबे व्यक्तिके रूपमें किया गया है। यह कविकी मौलिक उद्भावना है। इसी प्रकार कविने अपनी कल्पनासे विश्वामित्र और मेनकाके प्रणय प्रसंगको भी एक नया अर्थ देनेका प्रयास किया है। ‘पराशरक नव अनुभूति’ शीर्षक सर्गमें आये प्रसंगके अनुसार एक गायक अपने गानमें बड़े विस्तारके साथ विश्वामित्रके व्यक्तित्वपर प्रकाश डालता है। गायकने अपने गानमें इस तथ्यका विवरण दिया है कि विश्वामित्र राजा होने के बादभी युद्धके प्रति उन्मुख नहीं हैं और अपने हर प्रयासमें जनकल्याणके लिए तत्पर हैं। एक दिन मेनका नामक अप्सरा उनके समक्ष आकर अपने अधूरे नारीत्व की व्यथाका परिचय देती हुई उनसे प्रणय-निवेदन करती है। वह माँ बननेकी अपनी चिर-संचित अभिलाषा विश्वामित्रके समक्ष इन शब्दोंमें प्रस्तुत करती है—

“महामुनि ! क्षत-विक्षत होइत रहल कौमार हमर  
मुदा सुनि नहि सकलहुं मधुर “माय”  
नामे सम्बोधन !

पत्नी, माताक आदरास्पद पद रहौ दूर  
परंच आत्माक प्रवाह जीवन्त रहितै हमरो  
जं एकोटा सन्तान होइत ।

ईश्वरक देल हमर देहमें कोखि, दूध  
व्यर्थ नहि जाइत ।” (पृ. २६)

विश्वामित्र उसके अधूरे नारीत्वका अनुभव कर द्रवित होते हैं और मात्र एक संतानके जन्मके लिए उसे अपनी धर्मसंनिगीके रूपमें स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रसंग द्वारा विश्वामित्रके व्यक्तित्वकी मानवतावादी



संवेदनशीलताको उभारा गया है। निश्चयही उपर्युक्त दोनोंही प्रसंग कविकी मौलिक कल्पना शक्ति और मानवतावादी दृष्टिका परिचय देनेमें सफल सिद्ध होते हैं।

प्रस्तुत काव्य-कृतिकी यह महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है कि इसमें विविध पात्रोंके माध्यमसे कविकी प्रगतिवादी जीवन-दृष्टिको अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। प्रस्तुत काव्य कृतिका शिल्प पक्षभी सबल है। इस कृतिकी रचनामें महाकाव्यके विविध तत्त्वोंका निर्वाह हुआ है। इसमें विविध रसोंकी सफल नियोजना हुई है। जहां पराशर की रति पिपासामें संयोग शृंगारका रूप उभरा है, वहीं शान्तनुके पूर्वानुरागमें विप्रलम्भ शृंगारकी स्थिति पायी जाती है। देवव्रतके दृढ़ संकल्पमें वीरत्वका आभास मिलता है तथा जीवछ और यमुनाके पारस्परिक वार्तालाप में हास्य रसके छीटे मिलते हैं। इसी प्रकार शान्तनु और सत्यवतीको पराशरके द्वारा दिये गये संदेशमें शान्त रसका आभास मिलता है। इस प्रकार इस काव्यकृतिमें पाठकोंको विविध रसोंकी अनुभूति प्राप्त हो पाती है। इसके साथही विविध स्थलोंपर प्रकृतिके मनोहर रूपों का भी अंकन किया गया है।

छन्द विधानकी दृष्टिसे भी इस कृतिमें नवीनता पायी जाती है। कविने सर्वत्र मुक्त छन्दका प्रयोग किया है। मुक्त छन्दकी रचनामें सर्वत्र गतिशीलताका गुण

उपलब्ध होता है। इसी प्रकार कविकी भाषा संरचना भी सक्षम कही जा सकती है। यह उल्लेखनीय हो सकता है कि कविने सर्वत्र अपने भाषा-प्रयोग द्वारा ठेठ मैथिली की भाषा-भंगिमाको निखारनेका प्रयास किया है। इसकी भाषा भावानुकूल होनेके साथही प्रवाहमयी भी है। कविने विविध स्थलोंपर नये-नये अलंकारोंके प्रयोग किये हैं। इस क्रममें विशेष रूपसे उसकी उपमान योजना में नवीनता और मौलिकताके गुण समाहित मिलते हैं।

निष्कर्षतः डॉ. काञ्चीनाथ झा 'किरण' की प्रस्तुत काव्यकृति एक सफल महाकाव्यके गुणोंसे समाहित है। इसमें पराशर ऋषिके जीवन और युगीन सन्दर्भोंको बड़ी सूक्ष्मताके साथ उभारा गया है। इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इसमें अर्थात्की पृष्ठ-भूमिमें दलितोंके प्रति प्रेम और सहानुभूतिकी भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है जिससे कविकी प्रगतिवादी जीवन-दृष्टिका बोध हमें सहज ही हो जाता है। कथ्यके धरातलपर प्रगतिशील जीवन-दृष्टिको अभिव्यंजना करनेके साथही प्रस्तुत काव्य-कृति अपने समृद्ध स्थापत्य विधानका भी परिचय देती है। इस प्रकार मूल्यांकनके क्रममें यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत काव्यकृतिके माध्यमसे वर्तमान मैथिली काव्यकी ऊंचाई और शक्तिमत्ताका बोध हमें सहजही मिल जाता है। □



# महाभारतकालीन जीवन-दर्शनका मनोज्ञ वर्णन और विश्लेषण

## गांगेय

कवि : सत्यप्रकाश जोशी (स्व.)

समीक्षक : डा. नागरमल सहल

श्री सत्यनारायण गंगादास व्यासकी प्रेरणासे 'गांगेय' की रचना हुई; मराठी लेखिका दुर्गा भागवतसे विशेषतः उनके व्यास-पर्वसे कविका उत्साह-वर्धन हुआ। साम्यवादी नेता श्रीपाद अमृत डांगेकी कृति 'भारत' ने कविके विचारोंको समृद्ध बनाया। श्री नंदकिशोर मित्तलने भीष्मका भक्ति-रूप कविको समझाया। श्री जोशी राजस्थानीके समर्थ कवि हैं। उनकी भाषा आज की प्रांजल और भाव बिना किसी कठिनाईके संप्रेषणीय हैं। युद्धकी विभीषिका उनको संतुष्ट करती है, क्योंकि वे शान्तिप्रिय हैं जैसा उनकी 'राधा'से भी स्पष्ट है।

राजस्थानी कवियोंमें नारीके महत्त्वको सबसे अधिक उन्होंने समझा है। नारी 'न स्वातंत्र्यमर्हति' जैसे स्मृति-वाक्यके वे विरोधी हैं। शृंगारके संयोग पक्षके उद्घाटनमें उनका मन सविशेष रमता है, पर शालीनताके साथ। 'तो थे नट रह्या हो/अक नारी रै हकानै/जलमरी साधन वणन संतान री/पड़ती धरण ज्यू!' नारीको केवल प्रजनन-यंत्र मानकर पुरुष-समाजने जैसे उसके व्यक्तित्वको नकार दिया। 'द्रोपदीको 'घोंस लाया, एकड़ कुंतल/राज-मिनखां सूं भरी पूरी सभामें।' प्रेम जाति, वर्णके बंधन नहीं मानता 'घणी ऊंची अरजा है/कांम रा कांमण अनल री।' ऐसी पंक्तियां फायडकी याद दिलाती हैं। नारी 'वण चुकी अरधांगणा, चौथांगणा/दासीं वर्णी, आपो गंवायो/पण कियो सिर-जण जगतमें/पुरुष-बहुल समाज री नारी।' क्या कोई निर्जीव संपत्ति है जिसको जब चाहा बांट दिया। राजाओं में बहुव्रतीप्रथा तो हुआ करती थी, पर-द्रौपदीके हुए पंचपरमेश्वर, फिर भी धर्मराज युधिष्ठिर तक उन पांचों

ने भी अलग-अलग विवाह कर परिवारको वृद्धिगत किया। नखक्षतका नमूना देखिये : 'ज्यूं नखां रा उध-ड़्या अहनाणरातां रमण करता कांमणी सूं।'।

गांगेयके जन्मे आया सबके विवाह करवाना। पौत्र-प्रपौत्रोंको कहांतक संभालें? 'भीष्म तो हूणनै उठावै गोदमें/उणनै उतारै! सै सरीसा!' भूमिकामें श्री आलोकने लिखा है कि 'गांगेय' में पहली बार भीष्मका एक भक्तके रूपमें निरूपण हुआ है पर कृष्णका भगवद्-रूप समझने मात्रसे ही कोई भक्त नहीं बन जाता। कवि एक पंक्तिमें लिखदे कि भीष्म भक्त था या भक्त हो गया—यह अकाव्यात्मक होगा, इसलिए बात बैठती नहीं। कोई भक्त दुर्योधनादिके कुकृत्योंकी भत्सना क्यों करता। कवि भीष्मको भक्तरूपमें देखना भले ही चाहता हो पर भक्तिको न कवि, न भीष्म आत्मसात् कर सके। श्री आलोकने यह भी लिखा है कि यह एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है। कविता अध्ययन नहीं, रससिक्त करनेवाली होती है।

विवाहोंकी इसमें चर्चा अवश्य है। विवाह आठ प्रकारके माने गये हैं : ब्राह्म, दैव, आर्य, प्राजापत्य, असुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। श्री आलोकने संकल्प, संस्पर्श, मैथुन और द्वन्द्व विवाहोंकी भी चर्चा की है। ये क्रमशः सत, त्रेता, द्वापर और कलिके प्रतिनिधि बताये गये हैं, पर यह विभाजन न तार्किक है, न वैज्ञानिक क्योंकि वे एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं किये जा सकते। 'गांगेय' में स्वयंवर, हरण और नियोग आदिकी प्रसंगोपात्त अन्विति हुई है। विचित्रवीर्यकी पत्नियां थीं अंबिका और अंबालिका पर उनके कोई संतान नहीं हुई। विवाह पूर्वका सत्यवतीका पुत्र था व्यास। व्यास था



तपस्वी । नियोगकी क्रिया उसीके द्वारा करवानी थी । परिणामस्वरूप पैदा हुए पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर । विचित्रवीर्यके लिए अंबा, अंबिका तथा अंबालिका तीनों को ले आयेथे भीष्म अपने बाहुबल द्वारा । पैसेके बलपर विवाह हुआ अंधे धृतराष्ट्रका गांधारीसे । प्रसंगोपात्त ऐसे विविध प्रकारके विवाह 'गांगेय'में संपन्न हुएहैं । महाभारतमें भी कई प्रकारके विवाहोंका प्रसंग आताहै, पर इसका अभिप्राय यही है कि ऐसे विवाहभी यदा-कदा होकर मान्यभी हो जातेथे । इनका निष्कर्ष यह कदापि नहीं कि ऐसेही विवाह होतेथे । विशेष घटनाओं से सामान्य निष्कर्ष निकालना भ्रामक होताहै । द्रौपदी के पांच पति थे, इसका यह अर्थ नहीं कि कभी बहुपति-प्रथा रही होगी ।

'गांगेय' आठ सर्गोंमें विभक्त है जिनमें महाभारत की पूरी कथाको समेटा गयाहै । अंतिम दो सर्ग भीष्मको समर्पित माने जा सकतेहैं । महाभारतके लिए कहा गयाहै 'यन्नेहास्ति तन्न क्वचित्', उसको थोड़ेसे पृष्ठोंमें समाहित करना कथा कहना मात्र हुआ । युधिष्ठिर, नकुल और सहदेवकी पत्तियों तथा उनके पुत्रोंतकके नाम दिये गयेहैं जिनकी काव्योपयोगिता संदिग्ध है । पुस्तकको महाकाव्य बताया गयाहै पर नायक भीष्म इसीलिए है क्या कि कथा उनके इर्द-गिर्द घूमतीहै, यद्यपि वे सर्वत्र उपस्थित नहीं हैं और नहीं हो सकते थे । 'मेषनाद वध' खंडकाव्य है, महाकाव्य नहीं, क्योंकि महाकाव्यमें कथाका नैरन्तर्य आवश्यक है, कथा चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, जैसे 'कामायनी' में । उर्मिलाकी प्रधानता होते हुएभी गुप्तजीका महाकाव्य 'उर्मिला' नहीं 'साकेत' है, जिसके नवम् सर्गके अन्तमें 'अवधि शिलाका उरपर था गुरु भार/तिलतिल काट रड़ीथी दृग्जलधार' यही सूचित करताहै कि विरहका पारा-वार नहीं । काव्यका नाम जब 'यशोधरा' रखा तो वह महाकाव्य नहीं, चम्पू मात्र रह गया । जगविश्रुत व्यक्तियों के चरित्रोंको उलटा-सुलटा करके दिखानेमें कोई कौशल या श्रेय नहीं, मनमानापन या हठधर्मिता है । भीष्मका जो चित्र भारत और अन्यत्र प्रख्यात है उसको यहाँ विकृत किया गयाहै । उसका यह सोचना कि मैं पत्नीविहीन मातृविहीन, भगिनीविहीन आदि हूं, इसलिए 'म्हे टूटियोड़ो हूं / किणी खंडित हुयोड़ी देव प्रतिमा ज्यू/ अपूज्या देवरां में' असमीचीन है । उसकी इच्छा-मृत्यु को आत्महत्या बताना अर्थका अनर्थ करनाहै । अर्जुनका

विषाद-योग गीताके प्रारम्भमें हुआहै, वही यहाँ गांगेय को युद्धके अंतमें, जो न मनोवैज्ञानिक है, न काव्योत्कर्ष विधायक । भीष्मको इतना निर्बल दिखाया गयाहै कि उसके साथ पाठकका तादात्म्य हो ही नहीं सकता है । वह कहताहै, "हेत है म्हारो हियामें नारियों सू/ परस करतां पिंड कंवला/रोम म्हारा श्वश्रवावै/नाड़ियां तणती म्हनै परबस बणावै" । यह महाभारतका भीष्म नहीं कह सकता । कविने अपनी भावनाको भीष्मपर आरोपित कर दियाहै । इस कारण मार्क्स तो क्या, फ्रायड या स्वानुभव ही हो सकताहै । जीवन-समरमें वह अपनेको पराजित समझताहै, यद्यपि पाण्डवोंकी विजयसे आह्लादित भी । शिखंडीके बाणोंसे 'भीष्म सिसकारै / कठै ई मांयनै की टूट जावै ।' आत्महत्या खुद करीही भीष्म/मौत फूलां सू/ वरी, वै कामगी रा' । यह भीष्मके प्रथित गौरवमें बड़ा लगाताहै ।

सामान्य मानव दुर्बल होताहै पर विशेष पुरुष वैशिष्ट्यसंपन्न अपवाद होताहै जो भीष्म था । पर कविका भीष्म दुर्योधनको कहताहै और वहभी तथा-कथित भक्त भीष्म कि 'काल थारी वार आयां थूं झड़ैला' । कवि इतिहास प्रसिद्ध भीष्मको भूल नहीं सका पर साथही उसको विकृत रूप देकर कविने भीष्मके साथ अन्याय भी कियाहै । काल्पनिक पात्र लेकर कवि को कल्पनाके घोड़े दौड़ानेकी छूट थी, पर कविका भक्त भीष्म कृष्णको कहताहै, 'ओ मिनख है, जिनरै गुणां री नींव माथै/राजकी सत्ता खड़ी ह्वै ।' मनुष्यका चरित्र सबसे महान् है; उसीके बलपर सुख-शान्ति संभव है, महाकाव्यके लिए मार्मिक स्थलोंकी पहचान आवश्यक है । उसका एक अंगी रस होताहै, पर 'गांगेय' में तो वीर, शृंगार और शान्त प्रतिद्वन्द्वी बने हुएहैं । महाभारतकी कथाही वैविध्यपूर्ण है । उसीमें कविने नारी-स्वातंत्र्य, वैवाहिक प्रथाएं, स्थायी शान्तिकी कामना आदिको संजोयाहै । सौ पृष्ठोंमें भीष्मको प्रधान बनाकर महाभारतकी संबद्ध कथा (संपूर्णको नहीं) को अनुषांगिक कर कवि कल्पनासे रिक्त स्थानोंको भरता तो 'गांगेय' में इष्ट ओजास्वित्ता आ पाती । भीष्मके दो रूपोंके समायोजनसे काव्यकी क्षति पहुंचीहै । पाठकको प्रश्न करना पड़ताहै : यह कौन-सा भीष्म है ? इसीलिए विविध अतिप्राकृत तत्त्व भी पूरे विश्वसनीय नहीं होपाते जबतक हम मूल महाभारतका स्मरण न करलें ।



गांधारीके गर्भपात हुआ। उसी पिण्डसे व्यासने अपने तपोबलसे सौ बेटे प्रकट कर दिये। बिना वैसे पूरे वातावरणके यह कष्ट-कल्पना ही लगेगी। कुरुराजकी सेवामें एक वैश्य कन्या रहतीथी। धृतराष्ट्रके उससे पुत्र हुआ युयुत्सु। यह सौ पुत्रोंसे कहीं अधिक संभाव्य है।

महाकाव्यका पटल विशाल होताहै जिसमें जीवनके विविध पक्षोंका तारतम्यके साथ समाहार होताहै। उन सबका प्रकृतिसे सुसंयोजन होताहै। महाकाव्यसे ही कोई महाकवि नहीं होता। रवीन्द्र बिना कोई महाकाव्य लिखे कवीन्द्र होगये। श्री जोशीका फलक खण्डकाव्य का है। जिसपर महाकाव्य सौध टिकानेका प्रयास कियाहै। महाकाव्यमें औपन्यासिकताका-सा सहज प्रवाह होताहै। 'गांगेय' में तो कविने सारी घटनाएं ठूंस-ठूंसकर भरदीं। अपनी रुचिकी बातोंका यत्किंचित् विस्तार कर दियाहै। श्री जोशीने कतिपय घटनाओंका वर्णन भीष्मकी स्मृतियोंमें करा दियाहै, जो अच्छा नाटकीय बन पड़ाहै, यद्यपि इनमें पूर्वापरताका थोड़ा व्यतिक्रम अवश्य हुआहै। मार्क्सवादी विचारधाराका कोई पुट इसमें नहीं लगा, चाहे मार्क्ससे कवि प्रभावित हुएहों, पर अपनी रचना-प्रक्रियामें उसका प्रवेश नहीं होने दियाहै, जैसे डॉ. नामवरसिंहकी कृतियोंमें भी वैसे विचारोंका गुम्फन निविद्ध नहीं, पर स्वागताहूँ भी नहीं।

उत्पादन जैसे शब्दोंके प्रयोगसे कहीं-कहीं मार्क्सवादकी गंध आ जातीहै जैसे 'मिनख रै सिरज्या समाजां री व्यवस्था/राजकरणों/ जुद्ध करणों सीखती वी/ न्यावरी अन्यावरी री आंटां/नयां उत्पादनां सूं बदलती परिवार री रचना/ मिनख री धारणा धनकी धरण री, जगारी आहुतियां रो मरम/पसुवां रा करम/ सोधतो हो नये कुदरत रै धरम रो' /किन्तु महाभारतकी या भीष्मकी कथामें ऐसी बातें दालभातमें मूसलचंद-सी लगतीहैं। भीष्मका उत्तरायणमें देह-त्याग और गंगामें विसर्जन जैसे मां-बेटेका मिलन हुआहो।

भीष्मका वंश, उसका कार्य-कलाप, उसका चरित्र सब इतने उदात्त हैं कि गांगेयपर एक महाकाव्य लिखा जा सकताथा, पर लिखा नहीं गया क्योंकि श्री जोशी सशक्त कवि होते हुएभी महाकाव्योपयुक्त कल्पना-प्रवणताके इतने धनी नहीं थे। गांगेयपर महाकाव्य लिखने के लिए अनेकानेक रिक्त स्थानोंकी पूर्ति करनी पड़ती। भीष्मसे एकाकार होकर ही भीष्मही अपनी अनकही, अनचीन्ही बातें कविको निःशब्द बताते तभी उसकी सुष्ठु अवतारणा होती। पर विधाकी बात छोड़ें तो 'गांगेय' गौरवमय काव्य है। जिसमें गुणाधिक्य है और दोष कम जैसे चांदमें धब्बा। 'एकोहि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्वाङ्कः'। □



संस्कृत : काव्य

## नवीन और आधुनिक भावबोध, सामाजिक चेतना और युग प्रवृत्तियोंका काव्य

### सन्ध्या

कवि : रामकरण शर्मा

समीक्षक : अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र

ब्रिटिश शासनकालमें, भूले-विसरे संस्कृत-वाङ्मय के पुनरध्ययन-अध्यापन तथा शास्त्रचिन्तन-काव्यसर्जन का जो अभियान प्रारंभ हुआ—उसने समूचे विश्व को एक बार पुनः भारतके प्रति अत्यन्त श्रद्धालु एवं आस्थावान् बना दिया। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना (कलकत्ता १७८७) तथा सर विलियम जोन्स द्वारा किये गये अभिज्ञानशाकुन्तलके अंग्रेजी अनुवादके साथही संस्कृत सम्पूर्ण यूरोपके बौद्धिक क्षितिज पर छा गयी। गेटे, मैक्समूलर, बैलेण्टाइन, सिल्वां लेवी, स्टेनकोनो, वेबर, विण्डिश, पिशेल, गिल्डेनर, रॉथ, विल्सन, मेक्डानेल, कीथ तथा कार्न जैसे सैकड़ों विदेशी विद्यानुरागियोंने संस्कृतकी जीवन्तता सिद्ध करनेमें सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया।

शास्त्रमंथनके परिणामस्वरूप काव्यामृत प्रकट हुआ। संस्कृतकी प्रसुप्त, अवरुद्ध एवं शिथिल काव्य-रचना-धारा पुनः पूरे वेगसे बह निकली। हरिदास सिद्धान्तवागीश, जीवानन्द विद्यासागर, पं. अम्बिकादत्त व्यास, वाई महालिंग शास्त्री, मूलशंकर याज्ञिक, म. म. रामावतार शर्मा, म.म.गिरिधरशर्म चतुर्वेद एवं भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जैसे रचनाकारोंने अपनी कविताओं से जनताको आकृष्ट किया। यह सर्जनाभिधान इतना प्रेरक था कि स्टेनकोनो तथा एस. कार्न सरीखे विदेशी विद्वानभी शैलकण्व तथा भट्ट कर्णके नामसे श्लोक-रचना करने लगे।

वर्तमान शतीका पांचवां दशक भारतके लिए आत्म-प्रत्यभिज्ञानका समय था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम अपने निर्णायक मोड़पर पहुँच चुका था। फलतः

अन्य भारतीय भाषाओंकी ही भांति संस्कृतकी काव्य-धाराभी क्रान्तिका उद्घोष करने लगी थी। पण्डिता क्षमाराव, पं. जानकीवल्लभ शास्त्री तथा पं. प्रभात शास्त्री जैसे कवि गीत विधामें, नूतन भावभूमिकी कविता लिख रहे थे।

साहित्य अकादमी नयी दिल्ली द्वारा अपने काव्य-संग्रह 'सन्ध्या'के लिए पुरस्कृत (१९८९) डॉ. राम-करण शर्माके काव्योदयका भी यही युग था। 'तुलसी-स्तवः', उनकी प्रथम प्रकाशित कविता (वैशाली, १९४३) है, यद्यपि १९४२की अगस्त क्रान्तिसे पूर्वभी कविने अनेक कविताएं लिखी थीं—मा भैषीः संसृष्टिकारण करुणाकर! तथा यानं कालस्य आदि। अबतक डॉ. शर्माके तीन काव्यसंग्रह (शिवशुकीयम्, सन्ध्या, वीणा) एक शतक-काव्य (पाथेय-शतकम्) तथा एक कथाकृति (सीमा) प्रकाशमें आ चुके हैं।

डॉ. रामकरण शर्माके व्यक्तित्वमें सुकुमार कविता एवं प्रखर शास्त्रचिन्तनके संस्कार युगपत् अनुस्यूत हैं। आचार्य राजशेखरके शब्दोंके उन्हें 'शास्त्रकवि' कहा जा सकता है। उनकी अधिकांश कविताएं स्फुटोद्गारके रूपमें हैं। कविके निर्मल मनोदर्पणपर जो कोई भी भाव अथवा चित्र प्रतिबिम्बित हुआ, वही कविता बन गया। ऐसे भावोद्गार सर्वथा आकस्मिक होते हैं, पूर्वनियोजित अथवा सुचिन्तित नहीं। फलतः इनकी सम्प्रेषणीयता अत्यन्त प्रभावी एवं तीखी होती है।

'कवि और राजा—दोनों स्वतंत्र हैं। दोनों अपनी अर्थसिद्धि स्वयं करते हैं। परन्तु जो सतत परतंत्र है वह अर्थसिद्धि क्या करेगा? वन्यतरु बेचारा, कभी तो



देवराज इन्द्रका दिया जल पीता है और कभी अचानक  
तगी दवानिमें जलभुनकर राख हो जाता है !'  
कविरपि भूपालोऽपि स्वयं समं स्वमर्थमुपसि

साधयति

यस्तु सदा परतंत्र : कथं स्वसमर्थं स साधयतु !!  
स तु वन्यस्तररेव पिवति सलिलानि कदापि

शक्रस्य

कदाचिदाग्निः सहसा दहति तदीयानि पत्राणि !!  
—सन्ध्या; परतंत्र: पृ. ६२.

सन्ध्या, ३६५ शीर्षकोंमें संकलित कविप्रणीत प्रायः  
नौ सौ श्लोकोंका संग्रह है। शीर्षकोंके विषय स्वयंही  
कविकी भावसंवेदनाओंका वैविध्य एवं विस्तार प्रकट  
कर देते हैं। कवि स्वयं अपनी कृतिको विविध भावोंकी  
सन्ध्या (सम्मिश्रण) स्वीकार करता है—कहीं दिव्य-  
अदिव्य भावचित्र हैं तो कहीं सौहार्दमय आलाप !!  
कहीं जगन्नाथ, गणपति, विश्वनाथ एवं कामाख्या हैं  
तो कहीं काशीपुरीका कोई कूपमण्डूकभी ! कहीं  
शिशुओंका विलास है तो कहीं कृषकोंकी ममतामयी मां  
—देवी गंगा! वस्तुतः पूराका पूरा काव्यसंग्रह परम्परा-  
श्रित-परस्परविरुद्ध, सत्-असत् तथा मूर्त-अमूर्त भावों  
का संकलन है।

विषय-वस्तुकी दृष्टिसे सन्ध्याकी कविताओंमें वैवि-  
ध्य है। स्तोत्र, अन्यापदेश एवं धीर-गम्भीर अर्थप्रकाशक  
छन्द एक ही संकलनमें स्थानापन्न हैं। शास्त्रीय दृष्टि  
से ऐसी कविता (काव्यसंकलन) को 'कोशकाव्य' कहा  
जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि संकलनकी पृष्ठभूमि  
में कविका कोई पूर्वाग्रह अथवा पूर्वनियोजित लक्ष्य नहीं  
रहा है। वस, एक विशेष कालखण्डमें जो कुछ लिखा  
—उनका किसी नाम या शीर्षकसे प्रकाशन होगया।  
परन्तु संकलनका नामकरण 'सन्ध्या' उसकी 'कोश-  
काव्यता' (विविधविषयक पद्यसंग्रह)का ही अनुमोदन  
करता है। इस तथ्यको ग्रंथ-परिचयमें भी उजागर किया  
गया है, परन्तु थोड़े परिवर्तनके साथ—'सन्ध्या नाम  
संस्कृतकाव्यसंग्रहोऽस्ति वस्तुतो विविधदिव्यादिव्य  
भावचित्राणां सन्ध्याभूतः।'।

सन्ध्याका अर्थही है—सम्मिश्रण ! पूर्वसन्ध्या  
(सायम्) में प्रकाश एवं तमसका मिश्रण ही तो होता  
है। इस दृष्टिसे संकलनकी संज्ञा सर्वथा सार्थक एवं  
साकूत प्रतीत होती है। डॉ. शर्माके अनुसार यह संकलन  
दिव्य-अदिव्य भावचित्रोंका समन्वयही तो है।

संकलनकी एक और विशेषता यह है कि इसमें  
'सर्वथा प्राचीन अथवा नवीन' बननेका यत्न परिलक्षित  
नहीं होता। इधर आधुनिकताके मोहसे ग्रस्त अनेक  
संस्कृत कवि गीत शैलीमें लिखने लगे हैं—व्याकरण एवं  
छन्दको ताकपर रखकर ! मुक्तगीतोंका भी एक निश्चित  
संविधानिक होना चाहिये। गेयताही गीतका सबकुछ  
नहीं है। परन्तु लोग इस गहराईतक नहीं जाते।

डॉ. रामकरण शर्माजी प्राचीन एवं नवीन संस्कृत  
काव्यधाराके समन्वय-बिन्दु हैं। उनके व्यक्तित्वकी यही  
विशेषता सन्ध्यामें भी रूपायित हुई है। कविने नवीन-  
तम तथ्योंको, आधुनिकतम भावबोधको सामाजिक  
चेतना एवं युगप्रवृत्तियोंको पारम्परिक संस्कृत छन्दोंमें  
अभिव्यक्त किया है। फलतः यह काव्य-संग्रह संस्कृतकी  
प्राचीन एवं नवीन—दोनों पीढ़ियोंका समान रूपसे  
मनोरंजन कर पानेमें समर्थ है।

सन्ध्याकी कतिपय कविताओंकी सोदाहरण समीक्षा  
करनेसे पूर्व सहृदयोंका ध्यान इस ओरभी आकृष्ट  
करना चाहूंगा कि ये कविताएँ 'सहज चिन्तन'के अत्यन्त  
समीप हैं। सहजचिन्तनको मैं व्यक्तिगत रूपसे कविताका  
प्राण मानता हूँ। सहजताका तात्पर्य है जो स्वाभाविक  
हो, नैसर्गिक हो, अयत्नसिद्ध हो ! जब कवितामें  
विदेशोंसे आयातित चिन्तनोंका समावेश होने लगता है  
अथवा जब कवि पूर्वाग्रहोंसे ग्रस्त होकर, थोथी यशो-  
लिप्सा मात्रके लिए कोई कृत्रिम काव्यशैली अपना  
लेता है—तब कविता, चाहे वह किसी भाषाकी हो,  
असहज बन जाती है।

लोकमानसिकतासे ओतप्रोत सन्ध्याकी कविताएँ  
मेरी दृष्टिमें 'सहज' हैं। उनमें तिलभरभी बनावट  
नहीं—न शिल्पकी ओर न ही संवेदनाकी ! वस्तुतः  
कवि 'मुखस्फुट' (मुंहफट) है, जो बात मनमें आ  
गयी, निरातंक भावसे उगल दिया। उत्तरी भारतमें  
एक बहुप्रचलित कहावत है—'मुपवा बोलै त बोलै।  
चलनियाँ का बोलै जेहिमां बहत्तर छेद ?'

यह कहावत मामूली नहीं ! एक समूची जीवन-  
पद्धतिका पर्दाफाश है। सारा समाज इसी आभाणकमें  
समाया है। हम अपने 'बहत्तर छिद्रों', (दोषों) की  
चिन्ता कहां करते हैं ? परन्तु परायोंको उपदेश देते  
रहना हमारी कमजोरी है। कबीरने यही तो समझाया  
था—'जो दिल खोजू आपना मुझसा बुरा न होय !'  
यही आत्मशोध डा. शर्माके प्रस्तुत काव्यसंग्रहमें पदे-पदे



अनुस्यूत है। तितउ (चलनी) तथा पूर्णकुम्भके प्रतीकों से कविने दोमुँहे समाजपर करारी चोट की है—

तितउ सहस्रच्छिद्रं सावज्ञमसूयति पूर्णकुम्भाय ।

गतिशीलमहं सततं स्वयं जडो जडमयश्चैषः ॥

—सन्ध्या, तितउ सहस्रच्छिद्रम् पृ. ८४

सन्ध्यामें संकलित श्लोक जिजीविषासे सीधे जुड़े हैं। इनमें कहीं अन्यापदेशका सुकुमार संकेत है तो कहीं विपरीत लक्षणाकी तीखी चोट ! कृत्रिम जीवन जीनेवाले खोखले व्यक्तियोंकी समीक्षा करते हुए कवि कहता है—‘मार्जार ! सिंहकी आकृति तो निस्सन्देह मिल गयी है। फिरभी न तो गजमुक्ताका लोभ करना और न ही किसी गजसे युद्ध करनेका साहस करना ! (अन्यथा तुम्हारे पौरुषकी कलाई खुल जायेगी।’

सिंहस्य प्रतिरूपं धत्से मार्जार ! नात्र सन्देहः ।

किन्तु न गजेन्द्रमुक्तां स्पृह्य सुहृन्नापि युद्धस्व ॥

—सन्ध्या, मार्जारं प्रति पृ. ८

गाँव-गिराँवकी सोंधी माटीमें जनमा कवि अपने सहजात संस्कारोंको नहीं छोड़ पाता। वह अमराइयोंमें खेला-कूदा है जहाँ पेड़ोंकी डालियाँ दालभात पकानेके लिए प्रति शाम काटी जाती हैं। गाँवका अहीर उन्हीं आमोंकी जड़में अपनी भैंसेभी बाँधता है। ऐसे स्वार्थाधियोंको भला अमवारीमें कुहवते कोकिलकी कूक रास आयेगी ? उसे तो किन्हीं अन्य अमराइयोंमें ही चला जाना चाहिये ! परन्तु कवि एकदम निराश नहीं। वह यहभी आशा करता है कि शुष्क रसाल-वनभी कोयलकी कूकसे सरस बन सकता है। व्यर्थ एवं सार्थ कूजितके प्रति आश्वस्त डॉ. शर्माकी कविता हमें मनके द्वैध तक ले जाती है जिसे हम क्षण-प्रतिक्षण जीते हैं—

कश्चिद् भनक्ति शाखाः प्रतिसन्ध्यं भक्तसूपपा-  
कार्थम् ।

बध्नाति कोऽपि महिषीस्तन्मूले दुग्धविक्रता ॥

तस्मात्कोकिल ! नचिराद् वनान्तरं किमपि सेवितुं  
गच्छेः ।

मधुरं कूजितमेभ्यो न रोचते स्वार्थकटुकेभ्यः ॥

मा भूः क्वापि निराशो मा त्यज सहजं स्वकूजितं  
पिक हे !

शुष्कं रसालवनमपि मधुरं तव कूजितेन स्यात् ॥

—सन्ध्या, कूजितं व्यथम् पृ. ११

स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत कविता परम्परामुक्त वातावरणमें स्वच्छन्द विचरण कर रही है। अब उसे किसी ‘सर्गबन्धो महाकाव्यम्’ जैसी बैसाखीकी आवश्यकता नहीं। वह विचार, भाव, छन्द, शिल्प प्रत्येक दृष्टिसे नयी है। राष्ट्रकी दैनन्दिन समस्याओंसे जुड़ी वर्तमान संस्कृत कविता किसीभी अन्य भारतीय भाषाकी तुलना में प्रत्यग्र एवं शीर्षस्थ कही जा सकती है।

सन्ध्याके संकलनोंमें छन्द भले ही पारम्परिक हों, परन्तु अभिव्यक्तियाँ सर्वथा नवीन हैं। अरवी शुष्का, मत्तानां समवाये, राजाहं विपिनस्य, सीमाऽसीमम्, प्रशासनम् वरं कूपमण्डूक एवाहमस्मि, पिपीलिके, वन्देऽधवलचरित्रान्, हालिकं वन्दे, नमामि तव महिमानम् जैसी अभिव्यक्तियाँ मनको कहीं गहरे छूती हैं।

डॉ. रामकरण शर्मा अपनी रसपेशल किन्तु मर्म-स्पर्शी सरल संस्कृत वक्तृताके लिए देश एवं विदेशमें प्रख्यात हैं। उनके प्रखर पाण्डित्यमें अन्तर्लीन सहृदयता का बोध क्षण-भरके साहचर्यमें भी हो जाता है। काव्य-संग्रह सन्ध्या कविके उसी व्यक्तित्वका प्रतिनिधित्व करता है। कविताओंके कथ्य-तथ्य जितने ही सूक्ष्म एवं मर्मस्पर्शी हैं, पदबन्ध एवं शैली उतनीही कोमल ! ये कविताएं केवल अर्थबोध नहीं करातीं, अपने पीछे कुछ सोचनेके लिए छोड़ जाती हैं। यही सच्ची कविता है।

सन्ध्याकी कविताएँ भी मात्र शब्दार्थमें पर्यवसित नहीं होती हैं। वे अपने पीछे एक सन्देशभी छोड़ती हैं। उनकी संवेदनाका विस्तार भी अनन्त है। विश्वविद्यालयके कुलपतिकी पीड़ासे लेकर आनन्दभवन गृह तक ! गृहः स एव गृहोऽस्ति यतोऽस्ति मातुः स्नेहः प्रिया-प्रेम ।

वात्सल्यं चापि शिशोर्यत्रैतन्नास्ति तत्कारा !!

सन्ध्याका कवि आमुलचूड कवि ही है, कुछ और नहीं। वह कवि-कुलपति, कवि-प्रशासक भी रहा। सेवासे निवृत्त होनेके बादभी वह कवि-सहृदयका ही वर्चस्वी जीवन जी रहा है। वह मन, वचन तथा कर्मसे संस्कृत-सेवामें निरत है। साहित्य-अकादमीने ऐसे उदार-चेता, रससिद्ध कविको सम्मानित कर अपनी गुण-ग्राहकतापर मुहर लगा दी है। □



# पारम्परिक रूप और समसामयिक नगर-जीवनका सामंजस्य

## बाहि जा वारिस

कवि : एम. कमल

समोक्षक : प्रो. जगदीश लछाणा

काव्य-पुस्तकों एवं शब्द-कोशमें गजलका अर्थ है— इश्कबाजी या स्त्रियोंसे प्रेमभरा वार्तालाप या महवूबासे मन बहलाना। गजलने जन्म अरविस्तानमें लिया, वहाँ से ईरान पहुंची; जहाँसे यात्रा करती हुई भारत आयी। सिन्धीमें गजल आयी उर्दू के माध्यमसे। ईरानके जीवन एवं परम्पराओंसे सम्बंधित होनेके कारण सिन्धी की प्रारंभिक गजलमें हुस्न और इश्कके साथ-साथ शमां-परवाना, गुल-बुलबुल, गुलशन-सहरा, बहार-खिजाँ, साकी-मैखाना, होश एवं अक्ल आदिका वर्णन बराबर आया है। लेकिन इस विदेशी परम्परासे सिन्धी गजलको मुक्ति सबसे पहले बेवसने ही दिलायी। बेवसने सिन्धी गजलको विदेशी वातावरणसे मुक्त किया। कवि बेवसने ही साकी-मैखाना, गुल-बुलबुल, शमां-परवाना, जुल्फ-अवरू आदिकी भूल-भूलैयासे सिन्धी गजलको बाहर निकाल, जीवनके निकट लानेका प्रयास किया। सिन्धी गजलमें पहली बार साधारण जनजीवनसे संबंधित विषय और बातें हमारे सामने आयीं। इसका यह अर्थ यह नहीं कि वर्तमान सिन्धी गजलसे इश्क-मुहब्बत आदिका भाव बिलकुल लुप्त हो गया है। यह भावतो विश्वव्यापी है और आजभी सिन्धी गजलमें प्राप्त होता है, परन्तु इसका प्रयोग आज परिवर्तित वातावरणमें परिवर्तित अर्थमें होने लगा है।

भारतके विभाजनोपरान्त जो नयी पीढ़ी साहित्य-क्षेत्रमें आयी, उसने अपनी साहित्यिक सम्पत्तिपर, जिसमें गजल भी शामिल थी, नये सिरेसे विचार करना शुरू किया। प्रारंभमें हमारे यहाँ प्रगतिवादी/माक्सवादी विचारधारा बलवती रही, अतः सिन्धी गजलमें भी इस प्रकारके भाव कुछ समय तक अभिव्यक्ति पाते रहे

और फिर कुछ समयोपरान्त सिन्धी गजल प्रत्येक विचार-धाराको तिलांजलि दे, समय और जीवनके सम्मुख आ खड़ी हुई और फिर उसमें नये-नये नागरिक प्रयोग होने लगे। सिन्धीकी इस गजलकी तुलना यदि हम 'कल' की गजलसे करेंगे तो दोनोंका अंतर स्पष्ट हो जायेगा।

भारतमें गत दशकमें सिन्धीमें अधिकसे अधिक गजलोंकी रचना करनेवाला जो कवि है, वह है एम. कमल। एम. कमल केवल मात्रामें ही गजलोंकी रचना करनेवाले नहीं हैं, बल्कि गजलको अत्यंत गंभीरता एवं बारीकीसे लेकर, उसमें सफल प्रयोगभी करते हैं।

एम. कमलके अबतक छः गजल संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—झुरियल जीउ (१९७५), रोशन राहें, धुन्धला माग (१९८१), पंजाह गजल (१९८३), बाहि जा वारिस (१९८६, साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत), मेरा झिड़ो थकु (८६) एवं उजायल लहर (८९)। इन संग्रहोंमें कविकी लगभग ४५० गजलें संगृहीत हैं।

एम. कमलकी गजलोंमें अनुभूतियोंका दायरा निरंतर फैलता और गहराता रहा है और इसीलिए उनकी अभिव्यक्तिभी क्रमशः पैनी होती गयी है। उनके विचारों में नवीनता, ताजगी एवं प्रभावोत्पादकता भी आ गयी है। उनके गजलोंके विषय भी नित नये हैं। उनकी गजलों में समयकी गूँज है। गजलोंका क्षेत्रभी विस्तृत है। कविने विविध विषयोंपर गजलें लिखी हैं साथही गजल की कलाका भी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

एम. कमलको प्रेमपूर्वक उनके मित्रगण 'गजलोंके सम्राट्' नामसे सम्बोधित करते हैं। परन्तु मूल रूपसे वे पीढ़ा एवं दर्दके कवि हैं। जब कविकी पीढ़ा सीमा



पार कर जाती है, समय और परिस्थितियों से जब वह व्याकुल हो उठता है—तब कविकी अभिव्यक्तिका ढंग बदल जाता है। उसकी अभिव्यक्ति में क्रोध एवं व्यंग्यका समावेश हो जाता है। उस क्रोध एवं व्यंग्यके भीतर कवि-हृदयकी पीड़ाका स्पष्ट दर्शन होने लगता है—

अइंटीना ते कांउलंवे थो

अजु को लीडर तकरीर कन्दो । (कोसी रख)  
(अइंटीना पर कौआ काँव-काँव करता है, लगता है आज कोई नेता भाषण करनेवाला है) । नेताओंके भाषणोंसे कुछ नहीं होनेवाला, यह सभी जानते हैं ।

दागु कोन्हें को तुं हिजे चेहरेते,

आरसी तू बत्ती विसाए दिसु । (बाह जा वारिस)  
एम. कमलकी गजलोंमें जीवनकी विभीषिका एवं वर्तमान राजनीतिपर तीखा व्यंग्य है । सिन्धीके सुप्रसिद्ध कवि एवं साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता श्री हरि दिलगीरके शब्दोंमें, कहीं वह डंक एक बिच्छूका डंक है, तो कहीं मधुमक्खीका । उस डंकमें ही कविकी शायरीका रंग है ।”

खोखली हमदर्दी पर कविका व्यंग्य देखिये—

सभु था अफसोस कनि किरियल घरते

किये रहन्दे, कोई पुँछे ई नथो । (बाह जा वारिस)  
(मेरे गिरे हुए मकानपर सभी अफसोस करते हैं, लेकिन कोई यह नहीं पूछता कि मैं रहंगा कहाँ)  
महंगाईपर कविका व्यंग्य देखिये—

लखनि जा ख्वाब था रुपये में मिलनि

अज्ज चओ था महंगाई आ । (बाह जा वारिस)  
(लाखोंके सपने विकते हैं रुपयेमें, फिरभी कहते हो महंगाई है ।) जीवनकी विभीषिकापर व्यंग्य है :

शरीफ हो, जेसीं गरीब हो,

हाणे हफता थो खाराए । (बाह जा वारिस)  
(जब वह गरीब था, तो शरीफ था । अब वह हफता खिलाता रहता है ।) इससे बड़ी जीवनकी विडम्बना और क्या हो सकती है ।

आजकी झूठी मित्रतापर कविने किस प्रकारका मजाक किया है :

आउत पंहिजो प्यार जतायूँ,

छुरी लिकाए, भाकुर पांयूँ ।

(मुंहमें राम और बगलमें छुरी वाली कहावतको कविने सुन्दर अभिव्यक्ति दी है ।)

मंजहबके नामपर किस प्रकार गोलियां चलती हैं नगरमें, उसका चित्र है :

“मंजहब नहीं सिखाता” जो रागु, आ नगरमें,  
गोलियूँ हलनि दमादम, सुर में छुरा लगनिथा ।

(बाह जा वारिस)

इन गजलोंकी एक और विशेषता है, जो उसे अन्य कवियोंसे अलगाती है, वह है उसकी शैलीका निरालापन । गजल चाहे व्यंग्यात्मक हो, चाहे दर्द-भरी या रोमांटिक—प्रत्येक विषयकी प्रत्येक गजलमें कविकी अपनी निजी पहचान है ।

एम. कमलकी गजलोंमें शुद्ध सिन्धी मुहावरोंका कुशलतापूर्वक एवं कलात्मक ढंगसे प्रयोग होनेसे वांछित प्रभाव उत्पन्न करनेमें सफल हैं । इससे पूर्व स्वर्गीय लेखराज ‘अजीज’ ने भी अपनी गजलोंमें सिन्धी मुहावरोंका बड़ाही सुन्दर प्रयोग किया था । एम. कमल श्री अजीजके शिष्य थे, हो सकता है यह उनका ही प्रभाव हो ।

निम्न गजलमें ‘ठिकरु भञ्जण’ सिन्धी मुहावरेका सुन्दर ढंगसे प्रयोग हुआ है—

वक्त खाँ अगु जे टुटनि था लोक

हे ठिकरु कंहि ते भञ्जनि था लोक ।

इन गजलोंमें निहायतही रोचक रदीफों का प्रयोग किया है और उनका प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनके विचारोंकी अभिव्यक्तिमें तीव्रता आयी है और उनका प्रभाव हृदयमें तीव्र चुभने जैसा होता है ।

पूजा जे जंगहते खून दिसंहें, त दके थोजीउ

भगवानके आदमखोर लिखंदे, त दके थोजीव ।

(बाह जा वारिस)

(पूजा स्थलपर खून देखकर हृदय कांपने लगता है, भगवानको आदमखोर लिखते समय चेतनाही कंपकंपाने लगती है) ।

निम्न गजल बहुत लोकप्रिय एवं अनूठी है, जिसमें रदीफ ‘पोइ अलाए छा थियो’ का प्रयोग कुशलतासे हुआ है—

शहर में गोली हली, पोइ अलाए छा थियो

खल्क हिकपासे डुकी, पोइ अलाए छा थियो ।

“तूँ छा तूँ छा” खाँ हली गारएँ पोइ निकता छुरा,

तकिड़ो आयुसि मां हली, पोइ अलारा छा थियो ।

(बाहि जा वारिस)

एम. कमलकी गजलमें हम शब्दोंका हेरफेर नहीं



कर सकते। उनका एक-एक शब्द कसा हुआ होता है। इसी विशेषताके कारण एम. कमलकी गजल 'अइंटीना ते काँउ लवे थो' प्रायः चर्चित होती है।

एम. कमल सिन्धीके प्रथम सशक्त कवि हैं, जिसने गैर-शाइराना शब्दका अपने गजलोंमें सुन्दर ढंगसे प्रयोग किया है—

फाटीत गंदु कयो आ दाडो

कजे छा, घर दे वजाण जो इहोई रास्तो आ।

या

सभु मुसाफिर धिकिन था पिया बसखे  
हिकु ड्राईवर आ, जो मजे में बैठो आ।

ये सब शब्द गैर-शाइराना हैं, जिनका कविने बड़े सार्थक ढंगसे प्रयोग किया है।

एम. कमल घर पड़ोस, शहर, देश और विश्वपर अपनी दृष्टि बराबर जमाये रखते हैं। अर्थात् वे न केवल अपने व्यक्तिगत जीवनमें व्यस्त हैं; अपितु विश्व स्तरपर भी अपनी दृष्टि खुली रखते हैं। कई स्थानोंपर वे अपनी बेवतनी, बेजमीनी और भावी अनिश्चिततापर दुःखा होते हैं। कविको पैरों तले अपनी जमीन नहीं, यह पीड़ा उसे खाये रहती है—

पाड़ाँपटिजी अ जाइ हंयल आहियूँ

सावा हून्दे बि जणु सुकल आहियूँ। (उज्जायल लहर)

(जइसे उखाड़कर, हम दूसरी जमीनपर लगाये गये हैं, हरेभरे होते हुए भी सूखे लगते हैं।)

कविकी गजलोंमें पशु-पक्षी भी प्रतीक पात्र हैं : गधे, कुत्ते, घोड़े और कौवेका कविने बड़े सुन्दर प्रतीकात्मक ढंगसे प्रयोग किया है :

बुलंदीअ ते रसीआ बेशऊरी

गदह जे हींग ते घोड़ो नचे थो।

या

कांव जे संग रंगु लातो नेदि

डुन्डते हंस भी हिरी वया सभु। (उज्जायल लहर)

(कौवेका संग रंग लाया और हंस भी पशुओंकी हड्डियाँ खाने लगे)

गजल मूल रूपमें गानेकी चीज है परन्तु आज वह

इस दृष्टिसे नहीं देखी जाती। फिरभी गजलमें रवानी, सलासत एवं संगीतात्मकताका होना आवश्यक है। कविभी इस बातको स्वीकार करते हैं। यद्यपि कुछ आलोचक एम. कमलकी गजलोंसे यह शिकायत करते हैं कि वे गेय नहीं हैं।

रोमानी गजल कविका क्षेत्र नहीं है। स्वयं कविने लिखा है, "मैं अपने काव्य-सृजनके प्रति ईमानदार रहा हूँ। जो मेरा निजी अनुभव और अहसास नहीं, उन्हें छोड़ उधारपर कुछ भाव या रवायतें लेना मुझे स्वीकार नहीं। मैंने रोमानी शायरी की है, अपने प्रारंभिक दौरमें पर अब शायद मेरी दृष्टि, मेरा हृदय, जीवनकी अन्य सरहदोंकी और अधिक झुक गया है।"

रोमांसके प्रसंगमें एक दो रोमानी गजलोंका उदाहरण देना अनुचित न होगा। कविको इस विश्वव्यापी भावने बेबस कर दिया है, पर यह बेबसी कविको प्रिय है...

इश्क जी बेवसी वणी वेई,

दिल खे कहिड़ी लगी, लगीवेई।

कविकी यह गजल भी उद्धृत करने योग्य है—

रखियो त यार खटते पेहू, पर उथां उथां कन्दो,

सदियुनि पुजाणां हूं गदियो, सोभी वजांवजां कन्दो।

यह गजल रोमानी है, ठीक है परन्तु इसका अन्दाजे-बयां खूब है। उथां उथां, वजां वजां, दिसां दिसां दुहरा काफिया कवि बड़ी चतुराई एवं कुशलतासे प्रयुक्त करता है।

आजके संघर्षमय युगमें साहित्यकारोंको भी समय की कमी खटकती है। बैठकर अभ्यास करने एवं शिल्प ज्ञान प्राप्त करनेका आजके साहित्यकारोंको समय नहीं है। अतः कलात्मकता एवं शिल्प-शऊर दिन प्रतिदिन घटता जा रहा है। आजके गजलगी कलाको नहीं, बल्कि भाव एवं विचारको ही सबकुछ समझने लगे हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। सुन्दर अभिव्यक्तिसे गजलमें नया जीवन आ जाता है। सिन्धीके जिन थोड़े-से कवियों ने इस बातका बराबर ध्यान रखा है, उनमें एम. कमल सबसे आगे हैं। □



**हिन्दी : उपन्यास**

# धार्मिक सीमाओंका अतिक्रमणकर हिन्दू-मुसलमानोंके मानवीय सम्बन्धोंकी निर्मम चीरफाड़

## सूखा बरगद

**उपन्यासकार : मंजूर एहतेशाम**

**समीक्षक : पं. सन्हैयालाल प्रोभा**

सामान्यतः भारतीय मुसलमान भारतमें एक समस्या बना हुआ है। यह आम शिकायत है कि वह अपने आपको राष्ट्रकी मुख्य धारामें सम्मिलित नहीं करता, इसलिए आये दिन कोईभी छोटीसे छोटी घटना कहीं भी साम्प्रदायिक संघर्षका उग्र रूप धारण कर लेती है। वह अपने आपको भारतसे जुड़ा क्यों नहीं मानता, यह समस्या स्वतंत्रता-प्राप्तिके समय धर्म (सम्प्रदाय) के आधारपर दो राष्ट्रोंके सिद्धान्तके अनुसार पाकिस्तानके निर्माणके फलस्वरूप पैदा हुई है, जिसने धर्म-निरपेक्ष भारतमें हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायोंमें एक दूसरेके प्रति संदेहके बीज बो दिये हैं।

इस पृष्ठभूमिमें समीक्ष्य उपन्यास 'सूखा बरगद' एक विशिष्ट रचना है। एक ऐसे सूखे बरगदकी कथा जिसकी छतरी आसमान-दर-आसमान फैली है, जिसका तना इतना मोटा है कि हजार लोग हाथमें हाथ डालकर घेरेमें लेना चाहें तोभी न ले पायें, और जो अपनी जड़ोंपर खड़े-खड़े ही सूख चुका है।' (पृ. १६६)। कहानी है एक मध्यवर्गीय पठान मुस्लिम परिवारकी, जो स्वाधीनता-पूर्व मुस्लिम संस्कृतिसे ओत-प्रोत नवाबी रियासतकी राजधानी भोपालमें आकर बस गया है। यदि लेखक हिन्दू होता तो संभव है उसपर पूर्वाग्रह या इच्छानुकूल विचार (विशफुल थिंकिंग) का आरोप लगाया जा सकता था, किंतु श्री मंजूर एहतेशाम समकालीन हिन्दी कथा-साहित्यमें प्रगतिशील विचारों और जीवन-मूल्योंके पक्षधरके रूपमें उभरे हैं। स्वस्थ, वस्तु-

निष्ठ-विवेचनकी ईमानदार कोशिश, अपने जातीय (मुस्लिम) और विजातीय (हिन्दू) पक्षोंकी तुलनात्मक समीक्षा, तथा समग्र भारतीय-दृष्टिसे एक साम्प्रदायिक जीवनभी किस प्रकार सम्मानपूर्वक राष्ट्रीय धारामें घुलमिलकर जिया जा सकता है, ये कुछ तत्त्व हैं जो इस कृतिको अन्य उपन्यासोंसे विशिष्ट बनाते हैं। लेखकने जहां हिन्दुओंके अन्धविश्वास, पाखण्ड, रुढ़िवादिता, पक्षधरता आदिकी आलोचनासे अपने आपको बड़ी सतर्कतापूर्वक बचाया है, वहीं उसने अपने समाज की बुराइयों, अभावों, कठमुल्लापन, अंधविश्वास, पूर्वाग्रह-दुराग्रह आदिकी स्पष्ट आलोचना करनेमें कहीं संकोच नहीं किया है। वह सर्वत्र मजहबी रिश्तोंकी अपेक्षा इंसानी रिश्तोंपर ही बल देता है, वस्तुतः यही इस उपन्यासकी थीम भी है। वह कहता है कि मजहबी जनूनमें हम सबसे साक्षात्कारकी कोशिश ही नहीं करते। हम यह भूल जाते हैं कि सबसे पहले हम इन्सान हैं, फिर भारतवासी और तब मुसलमान या हिन्दू हैं। इसीलिए यह जरूरी है कि हमारी तहजीब मिली-जुली, भाषा मिली-जुली और एक दूसरेके लिए गहरी समझ हो। एक पात्रके अनुसार उसका निश्चित मत है कि हम (मुसलमान) अपने कठमुल्लापनके कारण हिन्दुओंसे अनियंत्रित आशा लेकर क्यों उन्हें परीक्षामें डालें ?

मजहबकी सीमाओंसे परे, हिन्दू और मुसलमानोंके नाजुक इंसानी रिश्तोंकी निर्मम चीर-फाड़के लिए लेखकने कई परिस्थितियोंकी अवतारणा की है। एक



और मुस्लिम पुरुष सुहेल और हिन्दू लड़की गीता, तथा दूसरी ओर मुस्लिम लड़की रशीदा—जो स्वयं नायिका ही नहीं, कथाकी वाचिका भी है—और हिन्दू युवक विजयके बीच प्रेम सम्बन्ध। नितान्त जैविक और मनोवैज्ञानिक स्तरपर विकसित होते हैं। गीताका विवाह सुहेलसे न होकर जबरन किसी अन्य हिन्दू युवकसे कर दिया जाता है, इसे भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या नहीं माना जा सकता। माता-पिताकी इच्छाके विरुद्ध अपनेही धर्म में भी प्रेम-विवाह कई बार विवाहकी वेदी तक नहीं पहुंच पाते। किन्तु सुहेल द्वारा इसे हिन्दू-मुस्लिम समस्या समझ लेना कितना असंगत है यह रशीदाका विजयके प्रति समर्पण और अन्ततक उसके प्रति आसक्त रहना स्पष्ट करता है।

मुस्लिम समाजके चित्रणमें लेखक बड़ा निष्पक्ष अथवा प्रत्ययकारी रहा है। इस्लाममें औरतकी हैसियत यह है कि उसे मस्जिदमें जानेकी मनाई है। कोई औरत इमाम नहीं हो सकती। सुहेलका कथन है कि बीबी, यानी कानूनी तवायफ। उस समाजके पारिवारिक रिश्तों, रीति-रिवाजों आदिकी अच्छी जानकारी इस उपन्यास से मिलती है, संबंधियोंमें ताया-ताई, मामू-मामुनी, फूफी-बुआ-फुफा, और संबोधनके प्रकार जैसे अब्बू-अम्मी, आपा, बिया, आदिके अतिरिक्त शादीके मौकेपर वन्ना, उबटन, कोना-बिठाई, वलीमा जैसे रिवाजोंकी तफसील देकर परिवारोंका एक संश्लिष्ट चित्र देनेका सफल प्रयत्न किया गया है।

लेकिन यह तो इस कृतिका एक अधूरा पक्षही है, केवल मजहबी रिश्तोंकी जांच-पड़तालही। इसका बल-वत्तर पक्ष है आत्मबोधकी विश्लेषणात्मक एवं तथ्य-परक प्रेरणाओं, भावनात्मक सूत्रों, मानव-संबंधोंकी जटिल ऊहापोहों आदिकी एक सुगठित कथाके माध्यमसे संतुलित एवं सम्यक् प्रस्तुति। कथा प्रथम पुरुष, आत्म-चरित्रात्मक शैलीमें एक नारी पात्र, रशीदा द्वारा कही गयी है। रशीदाका परिवार तो चारही व्यक्तियोंका है, उसके पिता अब्दुलवहीद खाँ, माँ, एक छोटा भाई सुहेल और वह स्वयं, पर उसके नाते-रिश्तेका एक बड़ा कुत्ता है, जो अब्दुलवहीद खाँकी तरह तरक्की पसन्द नहीं, बल्कि रूढ़ अर्थोंमें मजहब-परस्त और दकिया-नूसी है। अब्दुलवहीद खाँके बड़े भाई अब्दुलहफीज खाँके परिवारसे परस्पर इसीलिए नहीं बनती, बल्कि उनमें रब्त-जब्त भी नहीं है। अब्दुलवहीद खाँ एक

वकील और अपने विचारोंमें मजहबसे काफी ऊँचा उठ चुका है, इसलिए वह अपने बच्चोंकी तालीम और उनकी पसन्दके अनुसार जीनेके हकको कबूल करता है। रशीदाका छोटा भाई सुहेल एक असामान्य चरित्र है, वह तुनुकमिजाज, भावुक और अस्थिरचित्त किंतु मेधावी युवक है। इस असामान्यताके लिए उसे सत-मासा, समस्या-प्रधान वचनवाला बताया गया है। वह एक ऐसी इमारत है, जिसकी नींवमें ही गुस्स हो। अब्दुलवहीद खाँकी बीबीभी पुराने ख्यालोंका दीनदार और खुदापरस्त औरत हैं, पर इसके बावजूद वह बहुत नेक, अपने शौहर और बच्चों तथा नाते-रिश्तेदारोंकी परवाह करनेवाली औरत है। उसके लिए अब्दुलवहीद खाँ अपने बच्चोंसे कहता है, “मैं न उसके खुदाको मानूँ, ना ही उसके रबकी इबादत करूँ। ... न जाने कितनी बार मेरे साथ वहभी भूखी रही, मेरी वजहसे आधे खानदानमें कहींभी आना-जाना छोड़ दिया। ... क्या वह सारी तकलीफें उन्होंने यूँ ही, औरत होनेके नाते बेच-कूफीमें सहीं? इस्लाम भी तो काफिर शौहरसे निकाह करनेसे मना करता है। फिर क्या था जिसने उन्हें मेरे साथ यूँ बांधे रखा, उनकी नजरमें मेरे तमाम कुफ्र और गुमराहीके बावजूद? — यकीन जानों, अगर यह ताल्लुक मुसलमानसे मुसलमान तक ही होता, तो कभी का खत्म हो चुका होता। तुम्हारी माँ अगर यह सब दुःख और तकलीफ सहनेके बादभी इस घरमें हैं, तो रिश्ता इन्सानका इन्सानसे है। उन्हें यह यकीन है कि मैं बहुत बेईमान या बुरा इन्सान हर्गिज नहीं हूँ। और मुझे अगर यकीन है तो इसी रिश्तेमें यकीन है कि एक इन्सानके लिए आप कैसे इन्सान हैं” (पृ. ७०)। यह उक्ति न केवल अब्दुलवहीद खाँकी बीबीके चरित्रपर, बल्कि खुद अब्दुलवहीद खाँके जीवन-दर्शनके आदर्शके माध्यमसे उनके परिवारकी प्रेरणाओंपर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है। अब्दुलवहीद खाँ उपन्यासका वह चरित्र है, जिसके माध्यमसे लेखक अपनी मानसिकता को अभिव्यक्ति दे रहा है। अब्दुलवहीद खाँ, मजहबी पाखण्डको ललकारने और रूढ़ियोंके प्रति अपनी अवज्ञा जाहिर करनेके लिए, इच्छा और प्रवृत्ति न होनेपर भी, सूअरका मांस तक खा लेनेमें नहीं हिचकिचाता और नहीं तो कमसे कम उसकी लड़की, कथाकी नायिका रशीदा तो इन्हीं विचारोंमें ढली है। अब्दुलवहीद खाँ कहता है, “जिन्दगीमें कोई रास्ता चुनते हुए, कमसे कम



मेरी बातोंपर एक बार गौर जरूर करो। कोई मजबूरी नहीं है। जिन्दगी तुम्हारी है और उसके लिए आखिरी फैसलाभी बहरहाल तुम्हाराही होगा। (पृ. ७१)। यही कारण है कि कैन्सरसे असमय मृत्युके बादभी उसका परिवार पटरीसे नहीं उतरता।

इसमें रजबअली जैसा तोताचश्म अवसरवादी चरित्र भी है जो कभी कांग्रेसी, कभी धर्मान्ध और कभी जन-संघी बनकर अपना उल्लू सीधा करता रहता है। अरब से लौटे नव-धनाढ्य कट्टरपंथी हनीफ चाचा, रेडियो स्टेशनके अली हुसैन—ऐसे कई चरित्र हैं जो देशकी मुख्य-धारासे कटे रहकर साम्प्रदायिकताका जहर उगलते रहते हैं।

कथा नायिका रशीदा अपनी कहानी बिलकुल बचपनसे प्रारंभ करती हुई बड़ेही संयत भावसे अपने दैहिक और बौद्धिक विकासकी चर्चा करती है। सैक्स की सबसे पहले उसकी जानकाराई सईदाकी बेटी शाहिदा के पास औरत-आदमीकी तस्वीर देखकर होती है। किस तरह कालेजमें कुसुम, सुहेल, जैनब आदिके प्रसंगोंसे यहांतक कि जुवेदाके साथ लोस्वियानिज्मका संकेत भी उसे मिलता है। इस चरित्रके मनोवैज्ञानिक विकासमें लेखक पूरी तरह सफल रहा है। सुखद आश्चर्य यह है कि यह सब एक नारीकी स्वीकृतिके रूपमें बड़ीही संयत भाषामें स्पष्ट हुआ है।

स्वाभाविक है कि मुस्लिम परिवारकी कहानी

होनेसे भाषा उर्दू-बहुल हो, पर इसके लिए लेखकका कहीं आग्रह नहीं दिखायी देता। वह आवश्यकतानुसार हिन्दीके अच्छे तत्सम शब्दोंका भी बराबर प्रयोग करता है। भाषामें रवानी है, वह कहीं बोझिल नहीं होती। लेखकने अंग्रेजीका भी बराबर प्रयोग किया है। कई बार बड़ी कोमल स्थितियोंमें जब अपनी भाषामें बात करना बड़ा कठिन हो जाता है तब अंग्रेजीका सहारा ऐसा लगता है मानो हम एकदम तटस्थ हों। उदाहरणके लिए विजय और रशीदाके भावावेशमें हुए शारीरिक संबंधके बाद उस विषयमें चिन्ता-उच्छ्वास आदिके बावजूद जब कुछ कहना कठिन हो जाता है तो विजयका रशीदाको यह कहना, “यू सीम टु बी वरीड।” कितना सहज और आश्वस्तदायक हो जाता है। लेकिन लेखक कहीं-कहीं अपने अंग्रेजी साहित्यके ज्ञानके प्रदर्शनसे अपने आपको बचा नहीं सका है।

भारतीय भाषा परिषद्ने अपने हिन्दीके १९८८ के नथमल भुवालका पुरस्कारके लिए हिन्दीमें १९८५ से १९८८ के बीच प्रकाशित इस सर्जनात्मक कृतिको पुरस्कृत किया है, जो योग्यही है। इसकी प्रशस्तिमें इसकी उपलब्धिके बारेमें कहा गया है कि—साम्प्रदायिक जीवन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण ऐसा वस्तुनिष्ठ भी हो सकता है, जहाँ कई विचारणीय प्रश्नोंको पक्षधरताकी विषमतासे परे उत्तरकी अपेक्षा रहती है।—यह कृति उन उत्तरोंको स्पष्ट करती है। □



## ‘प्रकर’के पूर्व प्रकाशित विशेषांक

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८२	
प्रकाशन : नवम्बर '८३	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८३	
प्रकाशन : नवम्बर '८४	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८४	
प्रकाशन : अगस्त '८५	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८५	
प्रकाशन : नवम्बर '८६	२५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६	
प्रकाशन : नवम्बर '८७	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८७	
प्रकाशन : नवम्बर '८८	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८८	
प्रकाशन : नवम्बर '८९	३५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८९	
प्रकाशन : नवम्बर '९०	३५.०० रु.

## ग्रन्थ विशेषांक

भारतीय साहित्य २५ वर्ष	३०.०० रु.
(सभी भारतीय भाषाओंके स्वाधीनोत्तर कालके २५ वर्षोंका सिंहावलोकन तथा हिन्दीकी विभिन्न विधाओंपर आलेख) प्रकाशन : १९७३	
हिन्दीभाषियोंका हिन्दी साहित्य	
प्रकाशन : १९७१	३०.०० रु.

- विशेषांकोंका पूरा सेट एक साथ मंगाने पर मूल्य : २२५.०० रु. ।
- कोई एक अंक मंगानेपर डाक-व्यय पृथक् ।
- तीन अंक या अधिक मंगानेपर डाकव्यय की छूट ।

‘प्रकर’, ए-८/४२, राणा प्रताप बाग,  
दिल्ली-११०००७.

## सुरुचिपूर्ण साहित्यिक प्रकाशन :

- शतदल (कविता संकलन) सम्पादक :  
डॉ. प्रभाकर माचवे पृ. १८०, मूल्य २०/- (अप्राप्य)
- वचनोद्यान (कविता) डॉ. सिद्धय पुराणिक (कन्नड़ मूल) हिन्दी रूपान्तर : भा. य. ललिताम्बा,  
पृ. ३२, मूल्य ४०/-
- हिन्दी भाषा की भूमिका : डॉ. उदयनाराण तिवारी  
पृ. ३२, मूल्य ५/-
- राजभाषा का स्वरूप और विकास :  
डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया पृ. ६५, मूल्य ५/-
- भोजपुरी धरती और लोक राग :  
डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र पृ. १५, मूल्य ३/-
- गीत-गोविन्द : सम्पादक : डॉ. (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन  
पृ. १७१, मूल्य ३०/-
- विश्वम्भरा (काव्य) : डॉ. सी. नारायण रेड्डी (तेलुगु मूल) हिन्दी रूपान्तर : डॉ. भीमसेन निर्मल (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत)  
पृ. ६१, मूल्य ३०/-
- भारतीय उपन्यास कथासार, खण्ड—१.  
पृ. ६१५, मूल्य ७०/-
- भारतीय उपन्यास कथासार, खण्ड—२.  
पृ. ६०२, मूल्य ६०/-
- नेपाली साहित्य : डॉ. (श्रीमती) कमला सांकृत्यायन  
पृ. १८०, मूल्य ४०/-
- राजा की भेरी (उपन्यास) : शाण्डिल्यन (तमिल मूल) हिन्दी रूपान्तर : आर. शौरिराजन  
पृ. २८७, मूल्य ४५/-
- हिन्दी निबन्ध : परम्परा और आत्मबोध :  
श्री रमेशचन्द्र शाह पृ. ५६, मूल्य ५/-
- भारतीय श्रेष्ठ कहानियाँ : खण्ड—१ : सम्पादक :  
श्री सन्हायलाल ओझा पृ. ५८२, मूल्य ६०/-
- भारतीय श्रेष्ठ कहानियाँ : खण्ड—२ : सम्पादक :  
श्री सन्हायलाल ओझा पृ. ७३६, मूल्य ७५/-
- भारतीय भाषा चिन्तन : कुछ नये आयाम  
पृ. ६६, मूल्य १०/-
- संस्कृत वाङ्मय कोश : सम्पादक—डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णकर दो खण्ड :  
प्रथम खण्ड : ग्रंथकार खण्ड, पृ. ५७३  
द्वितीय खण्ड : ग्रन्थ खण्ड, पृ. ६१६  
दोनों खण्डों का समेकित मूल्य ५००/-

## भारतीय भाषा परिषद्

३६—ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-७०००१७.



[१]

## महाश्वेता देवीका कथा साहित्य

आदिवासी जीवनके असह्य और अकल्पनीय अभिशाप :  
प्रतिरोध और संघर्षके आलेख

—लेखक : डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

महाश्वेता देवीका जो साहित्य हिन्दीमें अनूदित होकर आया है, उसने एक अभूतपूर्व, नितान्त अपरिचित क्षेत्र दिखाया है। बिहार-बंगालके संथालों, मुंडाओं आदि जनजातियोंके जीवनके अभिशापकी महा-त्रासदी इनमें बड़ी प्रामाणिकता और उतनीही जीवन्तताके साथ व्यक्त हुई है। महाश्वेता देवीने आदिवासी जीवनके पिछले नब्बे वर्षोंके संघर्षका जीवन्त इतिहास प्रस्तुत किया है अपनी कथाकृतियोंके माध्यमसे, वह समूचे भारतीय साहित्यमें अभूतपूर्वही नहीं बड़ा लोमहर्षक प्राणवंत और भावी क्रान्तिका बीज बोने वाला लगता है। राजनीतिक रूपमें वामपंथी-नक्सलवादी विचारधाराको मनसा-वाचा-कर्मणा समर्पित महाश्वेता देवीने आदिवासी अंचलोंमें वर्षोंतक कार्यकर्त्तिके रूपमें जिस अभिशाप, विडम्बना और विर्भाषिकाका साक्षात्कार किया, उसे अपनी प्रथम कथाकृति 'जंगलके दावेदार' से लेकर अधुनातन कृति 'चल रही लड़ाई' में व्यक्त किया है। इस साहित्यसे पहले इतना सूक्ष्म, तीखा, विस्तृत और व्यापक अंकन आदिवासी जीवनका, दुर्लभ ही था और आजभी अन्यत्र दुर्लभही है। इसकी विभीषिका शतांश भी लोग नहीं जानते। साहित्य लेखनके नामपर अधिकांशतः जो वाणी-विलास और बुद्धिभ्रम फैलाया जा रहा है उसकी निस्सारता और आदि-जीवन के लोमहर्षक तथा अमानवीय शोषणसे साहित्यिक जगत्को परिचित तो करायाही जाना चाहिये।

## मूल-प्रेरणा

यदि पाब्लो नेरुदाकी बात मानी जाये कि रोटी की तरह कवितामें भी सबका हिस्सा होना चाहिये तो महाश्वेता देवीने इसीलिए इन उपेक्षित लोगोंकी संघर्ष गाथाको लिखा है क्योंकि प्रसिद्ध मराठी लेखक लक्ष्मण मानेका यह आरोप न्यूनाधिक समस्त मानवीय भाषाओं के साहित्यपर लागू होता है कि "सारा मराठी साहित्य साढ़े तीन प्रतिशत लोगोंके विषयमें साढ़े तीन प्रतिशत लोगोंका है और साढ़े तीन प्रतिशत लोगोंके द्वाराही लिखा गया है।" 'अग्निगर्भ' उपन्यासकी भूमिकामें अपने लेखनकी मूल प्रेरणाको व्यक्त किया है लेखिकाने--"बंगला साहित्यमें बहुत दिनों तक विवेकहीन वास्तविकतासे विमुख साधनाकी प्रतिक्रियामें यह उपन्यास लिखा गया है।" (पृष्ठ १)। लोकप्रिय लेखनके नामपर हत्या और सैक्सका जो अकांड तांडव हो रहा है, उसे तो साहित्य कहते शर्म आती है। अपवादस्वरूप कुछ ऐसा भी लिखा जा रहा है जो शाश्वत-अध्यात्मकी साधना कहा जा सकता है और कुछ कोमल-कोमल गलदशु भावुकताका आस्फालन है। ले-देकर कुछ सार्थक लेखन है गिने-चुने लेखकोंका जो संघर्षशील जीवनकी झलक दिखा रहे हैं लेकिन राजनीतिक मतवादसे प्रायः मुक्त नहीं हैं।

स्वाधीनतासे पहले तो प्रत्येक समस्याका घड़ा पराधीनताके सरपर फटताथा लेकिन इकत्तीस वर्षोंके



आदिवासी जीवनको असह्य और अकल्पनीय अभिशापोंसे मुक्ति क्यों नहीं मिली ? जबकि इनके लिए अनेक आयोग बने, योजनाएं बनी लेकिन अधिकांशतः कागजी सिद्ध हुई। प्रशासकों और बिचौलियों की जेबमें यह राशि चली गयी, अधिकांशतः इसीलिए लेखिकाने इस आदिम मानवताके बीहड़ जंगलमें घुसकर इसकी भयावह विडम्बनाको उजागर करनाही अपने जीवन और साहित्यका भी लक्ष्य बना लिया : “स्वतन्त्रता के इकतीस वर्षोंमें मैंने अन्न जल जमीन कर्ज बेगार किसी से भी मनुष्यको मुक्ति पाते नहीं देखा, जिस व्यवस्थाने यह मुक्ति नहीं दी, उसके विरुद्ध शुभ्र शुद्ध सूर्यके समान क्रोधही मेरे समस्त लेखनकी प्रेरणा है” (वही पृष्ठ)।

किसी दलगत स्वार्थ या मतवादके दुराग्रहसे ग्रस्त होकर नहीं, अपितु वास्तवमें आदिवासी जीवनके घने जंगलमें घुसकर जो लेखिकाने देखा, उसकी सहज प्रतिक्रियास्वरूप यह तेजोज्ज्वल सात्विक क्रोध उसकी सहज लेखनीकी नोकपर उतर आया और कोमलता तथा गलदश्रु भावुकता, गम्भीर सूक्ष्म चिन्तन, पारलौकिक कल्पना और मननके लिए प्रख्यात बंगला कथा साहित्यके आकाशमें धूमकेतुके समान महाश्वेता देवीका यह कथा-साहित्य उदित हुआ। सुख सुविधाजन्य और साधनाक्षमें प्रसूत लेखनकी तुलनामें आदिवासी जीवन की भयावहता और मारकाटसे ओतप्रोत यह लेखन है, जो पाठकों को रसमग्न या आनन्दविभोर नहीं करता अपितु उसके सुखशान्तिसे पूर्ण और रसलोलुप मानसमें तूफान उठाता है, इस भीषण यथार्थसे आंख मिलानेको विवश करता है।

ऐसा लेखन बड़ा खतरनाक सिद्ध होता है शोषक व्यवस्थाके लिए, चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी। इसलिए इसे पथभ्रष्ट करनेके लिए अनेक परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रलोभन आते रहते हैं। महाश्वेता देवीके पासभी कई बार अमरीकी फोर्ड फाउन्डेशनका प्रस्ताव आया पच्चीस हजार डालरका, अमरीका घूमने-फिरनेके लिए और लेखनका प्रशिक्षण प्राप्त करनेके लिए, जिसे उन्होंने बड़ी दृढ़तासे ठुकरा दिया—“एक हाथसे शोषितोंके लिए लिखूँ और दूसरे हाथसे दो लाख रुपये स्वीकार करूँ, उस देशसे जो भारतका स्थूलतः और सूक्ष्मतः शोषणकर रहा है, इतना बड़ा पाखंड मुझसे नहीं हो सकेगा।” (चेट्टिमुंडा और उसके तीरकी भूमिका), क्योंकि आदिवासी शोषणको उधेड़नेका संकल्प लेकर

फिर यह बौद्धिक एय्याशी और लक्ष्यके प्रति विश्वास-घात सम्भव नहीं था। क्यों एक सांस्कृतिक-साम्राज्यवादी देश महाश्वेता देवीको पुरस्कृत करना चाहता है जबकि उनसे अधिक योग्य तथा सहायता सम्मानके अधिकारी लोग पूरी दुनियांमें भरे पड़े हैं। बुद्धिजीवियों और कलाकारोंको खरीदकर पालतू बनानेके इसी षडयन्त्रको लेकर ‘अक्लान्त कौरव’ लिखा महाश्वेता देवाने, जिसमें द्वैयायन जैसे आदिवासी जीवनके शोधक उनके जुझारूपनको नकारकर उन्हें न सुधरनेवाले हत्यारे सिद्ध करते हैं, उनमें काम करनेवाले निष्ठावान् व्यक्तियों के मनोबलको तोड़कर आदिवासियोंके जीवनमें क्रान्ति लानेका प्रयास करना निरर्थक सिद्ध किया जा सके। भारतीय मस्तिष्कमें अमरीकी उपनिवेश स्थापित करने के षडयन्त्रको उधेड़ते हुए लेखिकाने लिखा—“हे भारतीय मानव ! कभी अपना अधिकार मांगनेके लिए हथियार मत उठाना। कभीभी वर्णाश्रमपर आधारित प्राचीन व्यवस्थाको उलटनेकी चाह न करना। जोतदार के हाथमें वेनामी जमीन रहने दो, कृषिमें तुम पिछड़े हुए हो, उन्नत तरीकोंसे खेती नहीं कर रहे, इसलिए पिछड़े हो (पृष्ठ १५)।”

सत्य यह है कि उनका शोषण जिस प्रकारसे जितने घातक रूपमें हो रहा है उसका अनुमान बिना यह साहित्य पढ़े हो ही नहीं सकता। प्रतिद्वन्द्वी खेमेके ‘पीले’ रुपयेभी ऐसे बिके हुए बुद्धिजीवी लेते हैं और अमरीकाकी ओर दौड़ते हैं। स्वतन्त्र भारतकी अकल्पनीय परतन्त्रताका यह आलेख कथा रूपमें बड़ा सफल है। न तो पार्टी-साहित्य जैसी कला-हीनता इसमें है और न कलात्मक साहित्य जैसा शिल्पगत चमत्कारही। एक सीमित अंचलके जीवनका सशक्त चित्र है यह लेखन, यथार्थ होते हुए भी आकर्षक और विचारमूलक होते हुए भी साहित्यिक और कलात्मक।

‘ग्राम बाङ्ला’की भूमिकामें लेखिकाने इन संघर्षों का लोमहर्षक चित्रण करते हुए आदिम जीवनका जो संघर्षमय रूप देखा, उससे न केवल संतुष्ट है अपितु उज्ज्वल भविष्यकी स्वर्णिम रेखाका आभास पाकर अपना जीवन और लेखन सार्थक मानती है—“जिन्हें केवल करुणाका पात्र, भिखारी बनाकर रखा जा रहा था, वे आज पीने और सिंचाईके पानीके लिए खुद लड़ रहे हैं और अपने हाथों कुआं खोद रहे हैं, अपने हाथों अपना रास्ता बना रहे हैं, इतना देखकर जी रही हूँ, इसके



लिए अपनेको धन्य मानतीहूँ। पश्चिम दिगन्तकी ओर जाते-जातेभी अगर पूर्वांचलकी ओर देखा जाये तो, जागरणही दिखायी पड़ताहै, कभी सूर्यका तो कभी जीवनका।” अपने श्रमका यह फल लेखिकाको आश्वस्त करताहै और उसकी यह आशा आत्मसन्तोष देतीहै कि जीवनकी इस सन्ध्यामें पूर्व दिशाका यह आलोक उन्हें आश्वस्त कर रहाहै। भविष्यमें आलोकके अनिवार्यतः प्रकट होनेकी यह दृढ़ आस्था उनकी जिजीविषा को शक्ति प्रदान करतीहै। इसीलिए उनका लेखन कोरे यथार्थवादियोंकी तरह निराशाका आतंक नहीं फैलाता और न ही कोरे आदर्शवादियोंकी भाँति जादुई महल खड़ा करताहै। ‘चल रही लड़ाई’ शीर्षक लेख-संग्रहकी भूमिकामें उन्होंने यह सन्तोष व्यक्त किया है “जातिवर्ण, धर्मनिर्विशेष भारतके बहुतेसे दुःखी, उत्पीड़ित और संघर्षरत मनुष्यों द्वारा उनके दुःखको दूर करनेमें अक्षम मुझे अपना आदमी मानना मेरे जीवनका श्रेष्ठतम पुरस्कार है।” ऐसीही प्रतीति निरालाकी करायीथी उनकी इक्यावनवी वर्षगांठपर डॉ. प्रभाकर माचवेने सीगुर, बदलू, लुकुआ और महगूँ (निरालाके किसान पात्रोंकी ओरसे चिट्ठीलिखकर “हमारीभी दुआलो। हमारे लिए अब लिखो। सुनाहै इस लिखाईके पीछे ही तुम पागल हो। हमारेही लिए लिखो।” (नया साहित्य अंक छ, यशपाल आदि द्वारा सम्पादित, जन प्रकाशन गृह, राजभवन, सैंडहर्स्ट रोड, बम्बई-४ से प्रकाशित)।

महाश्वेता देवीको उक्त आश्वस्ति यथार्थ जीवनकी विभीषिकासे दूर उड़ाकर किसी आत्मप्रवंचनाके लोकमें नहीं लेजाती। उनका सूक्ष्म संवेदनशील विद्रोही मानस बड़ी आतुरतासे और बड़े तीखे ढंगसे पूछताहै “भारत के प्राणोंका स्पन्दन उसके गाँवोंमें ही है, शहरोंमें नहीं तो फिर चिरस्थायी अन्धेरा क्यों विराजता रहेगा।” (‘चल रही लड़ाई’की भूमिका)।

लगभग एक शताब्दी तक का जनजातियोंके विद्रोह का कथात्मक आलेख वीरसा मुंडाके १९००के विद्रोह से शुरू होकर आजतक चलनेवाले संघर्षकी जटिलता तक फैला हुआहै जो ‘जंगलके दावेदार’, ‘अग्निगर्भ’, ‘घहराती घटाए’, ‘भटकाव’, ‘अक्लान्त कौरव’, चेट्टि-मुंडा और उसका तीर’, ‘१०८४वें की माँ’, ‘शालगिरह की पुकारपर’, ‘मूर्ति’, ‘ईंटपर ईंट’, ‘श्री श्री गणेश महिमा’, ‘ग्राम बाड्ला और ‘भीषण युद्धके बाद’, के कथा साहित्य तथा भारतमें ‘बंधुआ मजदूर’ तथा ‘चल

रही लड़ाई’ नामक तथ्य शोधपरक निबन्ध संकलनमें व्यक्त हुआहै।

## महाश्वेता देवीका साहित्य

### जंगलके दावेदार (उपन्यास)

‘जंगलके दावेदार’में १९०० के इतिहास प्रसिद्ध नायक वीरसा मुंडाके नेतृत्वमें हुए मुंडा विद्रोहकी गाथा है। इसमें न केवल अंग्रेजोंके अपितु जमींदारों और महाजनोके शोषणके विरोधमें पूरी मुंडा जातिको मरने-मारनेके लिए खड़ा कर दिया गयाहै। शोषित मुंडाओंको भूत-प्रेत टोने-टोटकोंसे मुक्त करताहै, परंतु उनके सहज लोक-विश्वासका सहारा लेकर वीरसा उनका मुक्तिदाता और भगवान् बन गया। किसीभी दशामें कर्ज न लेकर दिक्क अर्थात् महाजनके पंजोंसे मुंडाओंको मुक्त रहनेके लिए कहता है। इतनाही नहीं, अपने जंगलोंको सरकार और सूदखोरोंके चंगुलसे निकाल, मुंडा राज्य स्थापित करनेका स्वप्न दिखाताहै। उसने प्रत्येक मुंडाको अपना अनुयायी अर्थात् ‘वीर साइट’ बनाकर मृत्युका भय उसके मनसे निकाल दिया। उलगुलान अर्थात् मुंडा विद्रोह की दो चरणोंवाली योजना उसने बनायीहै। पहलेमें, अंग्रेजोंको केवल भयभीत करनेके लिए तीर बरसाना, दूसरेमें उनको मारकर जंगलोंको मुक्त कराकर आदिवासियोंका उसपर अधिकार स्थापित करना। लेकिन अंग्रेजोंकी असीम शक्ति, प्रचण्ड धूर्तता एवं नृशंसता ने इस विद्रोहको कुचला। वीरसा तथा उसके अनुयायियोंका मनोबल तोड़नेके लिए ज्यों-ज्यों एकसे एक घिनौना षड़यन्त्र किया जाता, त्यों-त्यों वीरसामें और विद्रोहमें, मुंडाओंकी आस्था अटूट होती जाती। वीरसाको धोखेसे पकड़वाया अंग्रेज सरकारके पिट्टुओं ने। वीरसासे सहानुभूति रखताहै अमूल्य, जो अंग्रेज सरकारका कर्मचारी है। जैकब नामक अंग्रेज वकील वीरसाका मुकदमा बिना पैसे लिये लड़ताहै, परंतु दमनकारी अंग्रेजी अफसरोंके आगे सब निरुपाय है। जहर देनेसे वीरसाकी मृत्यु होतीहै जेलमें, बाकी मुंडाओं को फाँसी, आयु कैद और जुर्माना। कुछको छोड़भी दिया जाताहै। पर मुंडा विद्रोहकी यह लपट ऐसी सुलगीहै वीरसा मरकरभी उनके हृदयमें समा गयाहै। जीतेजी पुराण पुरुष बन गयाहै। पराजयसे संघर्षका अन्त नहीं होता, यह भावना स्थायी रूपसे प्रस्थेक



बुद्धात्के मनमें समा गयी। असभ्य, जंगली, केवल तंगोटी लगाकर बिना नमकका घाटो अर्थात् जंगली तागपात खाकर जिन्दा रहनेवाले इन मुंडा लोगोंमें, जो अदम्य उत्साह और अपने स्वत्वकी प्राप्तिके लिए भर मिटनेकी भावना वीरमाने भर दी है इसकी बड़ी रोमांचक गाथा लिखकर लेखिकाने स्वाधीनता संग्रामके एक उपेक्षित अध्यायको उजागर किया है। जन्म जन्मान्तर तक अनेक योनियोंमें वीरसा मुंडाओंके लिए प्रत्येक प्रकारके शोषणसे मुक्त जंगली धरती दिलवायेगा यह अटूट विश्वास प्रत्येक मुंडामें भर गया है। यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसके वैषम्यने अंग्रेजों की धूर्तता, अमानुषिकता और नृशंसताको एक दूसरे अंग्रेज वकील जैकबने उधेड़कर रख दिया है। न सभी अंग्रेज दुष्ट हैं और न सभी मुंडा या देसी लोग देश-भक्त। लेखिकाने उपेक्षा, अज्ञान और विस्मृतिके अन्धकारमें खोये स्वाधीनता संग्रामके इस अध्यायको उजागरकर आदिवासियोंके लोमहर्षक संघर्षके अग्नि-लेखको अपनी सूक्ष्म संवेदना और अप्रतिम शिल्पसे प्रस्तुत किया है।

### अग्निगर्भ (उपन्यास)

‘अग्निगर्भ’ दूसरा उपन्यास है, जिसमें इन्हीं आदिवासी लोगोंके जीवनकी विडम्बनाके लिए जिम्मेदार महाजन और प्रशासनके द्वारा होनेवाले जघन्य शोषणकी रोंगटे खड़े कर देनेवाली गाथा लिखी गयी है। रातमें सवणोंके कुंओंसे इन्हें पानी चुराना पड़ता है क्योंकि भात भिगोनेके लिए इन्हें पानीका मूल्य चुकाना पड़ता है।

कर्जमुक्ति आन्दोलनकी सरकारी धूम तो खूब मची, पर वास्तविकता यह है जिस खातेमें इन भोले-भाले आदिवासियोंका कर्ज लिखा जाता है, इन लोगों की हिमायती सरकार भी उसे नहीं देखसकती। इन्हींके बीचसे उभरनेवाला नेता बसाई टुडू ही इनका त्राता बन सकता है वीरसा मुंडाकी भाँति। यही विश्वास लेखिका और उन लोगोंका हो चला है। जात-पातका भयानक भूत यहाँभी इनका पीछा नहीं छोड़ता। नेताओंके यहाँ सवण लोग तो चाय पीते हैं प्यालोंमें, और बसाई टुडू को मिलती हैं मिट्टीके कुल्हड़में। प्रताप लश्कर जैसे नृशंस जमींदार और सन्तोष जैसे धूर्त सूदखोरोंने बड़ी चालाकीसे पूरी सरकारको खरीदकर मुंडाओंके शोषण के अधिकारको निष्कण्टक बना दिया है।

मुंडाओं और सन्थालोंका यह संघर्ष अपनेसे अधिक शक्तिशाली सरकार और जमींदारोंसे है, फिरभी ये लोग अपनी जानकी बाजी लगाकर जूझते हैं, मरते भी हैं और कभी-कभी मार भी देते हैं। पांच-पांच बार मृत घोषितकर दिया जानेवाला बसाई टुडू एक प्रतीक बन गया है उन लोगोंका, जो मार तो दिये जाते हैं लेकिन मरते-मरतेभी आततायियोंके मुंहपर कालिख पोत जाते हैं। पुलिस अफसरकी चमचमाती हुई सफेद शर्टपर मुंह तोड़ दिये जानेपर द्रौपदीका थूकना ऐसीही है। परिस्थितियोंकी जटिलता, भयावहता तथा वर्तमान जनमानसको यदि गहराईसे देखा जाये, तो शताब्दियोंसे चले आनेवाले अत्याचारोंके विरोधमें कुछ वातावरण बना है। इन अनपढ़ असभ्य लोगोंको वीरसा और बसाई टुडू जैसे नायकोंसे मालूम पड़ गया है निर्धनता और शोषण ईश्वर या भाग्यके कारण नहीं है, दुराचारी, धूर्तनृशंस राक्षस और अन्यायी शोषक शक्तियोंका ही यह षडयंत्र है। यह नष्टभी हो सकता है, यह विश्वास इन विद्रोहियोंका एकमात्र सम्बल है। यहां शोषकोंके हृदय परिवर्तनके जादुई चमत्कारकी आशा नहीं है किसी को। परिस्थितियोंमें परिवर्तनकी चेष्टा है प्राणोंकी बाजी लगाकर। सफलता अभी नहीं है, पर वह भविष्यमें निश्चितही है, ऐसा एक क्षीण-सा संकेत इसमें है। अग्निगर्भमें सुलग रही है, उसके तपनकी प्रतीति, बाहर कुछ हो रहा है। एकाघ चिनगारी कभी-कभी छिटक पड़ती है। वही ज्वालामुखी बन सकती है, ऐसा लगता है।

### घहराती घटाएं (कहानी संग्रह) :

इसमें जमींदारों और पुरोहितों पंडितोंके दानवीय आर्थिक एवं धार्मिक शोषण और प्रशासनकी नपुंसकता का रोमांचक विवरण है। जोभी जमींदार और पंडोंके कुचक्रसे भागना चाहता है, उसीकी हत्या करवा दी जाती है। पर कभी-कभी धार्मिक क्रियाओंके नामपर आदिवासियोंके द्वारा अत्याचारीकी बलि चढ़ा दी जाती है। शोषक और शोषित दोनोंही मारे जाते हैं। आदिवासी कौल स्त्री, झाली कुन्दन शाहूके चेहरेपर अपने और कुन्दनके बेटेकी चिताकी राख फेंककर बोली “यह तेरे बेटेकी राख है। बेटेको मारकर तंगा होकर दाईसे नहाकर गद्दीपर बैठा है। सर नहीं मुंडायेगा, अशौच नहीं करेगा, तो तुझे निर्वंश कर दूंगी।” इस बेटेका कसूर यह था कि पांचवीं कक्षामें पास हो जानेपर आंगो



पढ़ने चला गया। इसलिए उसे कुचलवा दिया गया कि आदिवासी लड़का बाहर जाकर पढ़े और सवणोंके सपूत फेल हो जायें। कितना दानवीय प्रतिशोध है। इस संकलनमें शोषणके विरोधमें आदिवासियोंका संकल्पबद्ध अभियानभी दिखाया गया है। आखिर कोई तो होगा जूझनेवाला लाखों करोड़ोंमें ?

जीवनके असह्य कष्टोंसे जूझते हुए भूखे अधभूखे रहनेके कारण बौने होते जानेवाले आदिवासियोंके दुःख दर्दकी कथाएं भी इसमें हैं। जो सहायताके लिए आये हुए सरकारी अनाजको चुरा ले जाते हैं, क्योंकि भ्रष्ट दुकानदार द्वारा वह बेच दिया जाता है। प्राकृतिक प्रकोप, भ्रष्ट व्यवस्था और अन्धविश्वासकी जकड़नमें इन्हें पशुओंसे भी खराब बना दिया — “यदि यह (इनका दारुण जीवन) सच है और यह सचही है तो बाकी सब झूठ है यह कोपर्निकसकी संसार रचना, विज्ञान, यह शताब्दी यह स्वाधीनता, यह प्लानोंके वाद प्लान।”

‘नमक’ कहानीमें आदिवासियोंके गांवमें नमक बेचना बन्दकर देनेपर नौना माटी खोद लानेसे, हाथी अपने स्वच्छन्द विहारमें बाधा पड़नेपर आदिवासियों को मार देता है। यह अविश्वसनीय भलेही हो, पर है सच — “प्रत्यक्ष सत्य था कि हाथीने पूर्ति आदि आदिवासियोंको मार डाला, जिसके परिणामस्वरूप हाथी मरा। परोक्ष सच मानो कुछ और था। नमकके लिए इतना कुछ। उन्हें नमक नहीं मिलता। नमक खरीद सकते तो तीन आदमी और एक हाथी न मरता। इसके लिए कोई और जिम्मेदार है कोई और ? जिसने नमक नहीं बेचा वह या कोई और नियम, कोई और व्यवस्था ? जिस नियम और व्यवस्थाके अन्तर्गत नमक न बेचनेपर उत्तमचन्दका कोई अपराध नहीं है।” (पृ. १३८)। केवल चौथाई मजदूरी मांगनेपर मजदूरोंको काटकर गड़वा दिया जाता है। बेटेकी लाशको बाप गाड़ने के लिए विवश है बंधुआ होनेके नाते। विवशता कितनी ही हो, कभी तो खूनमें उबाल आही जाता है। इसलिए प्राणोंकी चिन्ता न कर अगले-पिछले सभी अत्याचारों का बदला जमींदारकी हत्या करके दू लन जैसे लोग चुका लेते हैं — खेती नहीं करूंगा ? क्यों नहीं करूंगा ? तुम लाशें गाड़ोगे ? मैं बनूंगा लाशोंका जिम्मेदार ? क्यों बनू ? नहीं तो तुम गांव जला दोगे ? मुझे निर्वाण कर दोगे ? बहुत अच्छा है, लेकिन मालिक। सात-सात बेटे उनकी कब्रोंपर सिर्फ जंगली झाड़ियां और कांटेदार

पेड़। अब तुम्हें गोली चलाने, घर जलाने और आदिमियोंको न जलाने दूंगा। तुम्हारे आदमी हैं, वे भी शायद मारें। कब नहीं मारा है मालिक ? या पुलिसने ही कब नहीं मारा है ? फिर मारेंगे, तो इस बार मरना होगा तो मर जाऊंगा। तुम मजा लूटकर भाग निकले। उसके बाद मैंने सोचा कि मैं क्यों मरूँ ? तुम शादी करो, दूकान चलाओ, दुल्हनियां लेकर सिनेमा दिखाओ और मैं मरूँ क्यों ? क्यों ?? क्यों ???” (पृ. १६८)।

‘धौली’ कहानीमें धर्मके ठेकेदार धौलीको गांवमें रहकर वेश्यावृत्ति नहीं करने देते, “दुसाध मूज औरतों के पेटमें इस (पवित्र और उच्च) कुलके मदोंके वच्चे पहलेभी हुए हैं। इतनी खेती इतने बगीचे इतनी उर्वरा ? अछूत रमणियाँ, इतना सूदका साम्राज्य। सबकुछ संभालना होगा, इन धर्म-ध्वजधारियोंको। बड़े आदिमियोंकी मौतपर किरायेकी रोनेवाली स्त्रियाँको ‘रुदाली’ के रूपमें रोनेका सफल अभिनय करना पड़ता है, जिनसे चोरी छिपे जमींदारोंके कपूत वेश्यावृत्ति करते और कराते हैं। ‘डाइन’ कहानीमें भूत-प्रेत-अन्धविश्वासके कारण, जिसकी जमीन हड़पनी हो, उसे डाइन घोषित करवा दिया जाता है। शताब्दियोंके अन्धविश्वास इन्हें कुंठित, विकृत — और दूषित कर रहे हैं। इन जातियोंके भोलेभाले जीवनको त्रस्त करनेवाले शोषक, मक्कार, धूर्त, पंडे, ठेकेदार और इनसे जूझनेवाले जीवनके शूर-माओंकी ये कहानियां हैं, जो अपनी सीमामें और कभी कभी उससे बाहर जाकर जमींदार, महाजन, अफसर और पंडोंके चतुर्मुखी शोषणके चक्रव्यूहको कहीं-न-कहींसे तोड़ते हैं, भलेही थोड़ी देरके लिए ही सही। प्रतिशोधकी पतली-सी पगडण्डी शोषणके इस बीहड़ जंगलमें दिखायी पड़ती है। आदिवासियोंको लेकर इतनी सशक्त कहानियाँ शायदही किसीने लिखी हैं।

### भटकाव (उपन्यास)

‘भटकाव’ उपन्यासमें धीमान राय जैसे साहित्यकार केन्द्रमें हैं, जो सुरक्षित लेखनके पक्षधर हैं। अपनी बीभत्स और भयंकर समस्याओंको अनदेखाकर दूर-दराजकी समस्याओंपर गोलमटोल ढंगसे ये लोग लिखते हैं। वास्तविक समस्याओंके मूल कारणोंको छूते नहीं। क्योंकि इससे प्रतिष्ठा-पद-पैसा और सुविधाके नष्ट होनेका खतरा है। आदिवासी जीवनपर सच्चा लेखन इसीलिए नहीं के बराबर है, और जो कुछ है उसमेंसे अधिकांश विश्वसनीय और प्रभावशाली नहीं है।



### अनन्त कौरव (उपन्यास)

आदिवासियों के जुझारूपनको नकारकर उनके मनो-बलको तोड़नेका घृणित षडयंत्र किस प्रकार हो रहा है, इसका लेखाजोखा 'अक्लान्त कौरव' उपन्यासमें दिया गया है। सानि वज्रपाणि जैसे पार्टी के ठेकेदार जिनके घरपर आदिवासी शाम मनायी जाती है विदेशी शराब-कबाब और रंगीनी के साथ। द्वैपायन जैसे बुद्धिजीवी रिसर्च स्कालर हैं, जिन्हें सुविधाएं देकर खरीद लिया गया है और अब जिनका काम रह गया है सन्थाल आदिवासियों के बारे में गलत बातें सिद्धकर प्रचारित करने का। उनमें फूट डालकर वीरसा मुंडा के विद्रोहका प्रभाव मिटानेका, आदिवासियों में निष्ठा से काम करने वालों के मनोबलको तोड़ने के लिए यह भावना भरना कि सन्थाल लड़ाकू हैं ही नहीं। संघर्ष कर ही नहीं सकते। जो कुछ पहले संघर्ष हुआ है, उसका कोई प्रभाव है ही नहीं। अतः इनमें काम करना व्यर्थ है। रेत में नाव चलाने जैसा। यह षडयंत्र वैचारिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साम्राज्यवादी अमरीका के इशारे पर हो रहा है। आदिवासी सन्थालों का जीवन नरक हो रहा है। जेतदार, पुलिस, बिके हुए बुद्धिजीवियों, ऐश्वर्य सम्पन्न और व्यावहारिक नेताओं के कारण। बड़े से बड़ा जेतदार पार्टी फंड देकर अपनी बेनामी जमीन बचा लेता है। खूंखार अपराधी और बदमाश लोग स्थानीय या प्रदेशीय नेताओं के चुनाव में काम आने के कारण, भोले-भाले आदिवासियों का खून चूसते हैं। किराये के नेताओं के वन पर चलने वाली समानान्तर लेबर यूनियनों के लोग सीधे सच्चे जुझारू पार्टी कार्यकर्ताओं का विरोध करते हैं। उनका मनोबल तोड़कर, पार्टी बाँस सानि वज्रपाणि द्वैपायन जैसे रिसर्च स्कालर को पहले से ही निष्कर्ष निकट करा देते हैं, केवल इसके लिए प्रमाण जुटाने हैं और उनके मुंह और दिमाग में ये प्रमाण ठूसने हैं। फिर उन्हें उगलवाना है। टेप करने के लिए सन्थालों की एक शादी में द्वैपायन गया था उनके गुप्त जीवन पर शोध करने के लिए, तब एक बूढ़े ने कहा था—“जेतदारका फिर काटकर आया हूँ इसीलिए नाच-गाने में रौनक बढ़ी है।” (पृ. १३०)।

इन्द्र के साथ आदिवासियों में फंसा है द्वैपायन, जिसको गोशा दिखा दिया है इन असभ्य लोगों ने। पहले माधव उसके बाद पवन ने अपने गुस्सेल काले पंजे से उसके धर्मविश्वास के नकली आवरण की कैंचुली उतार फेंकी

है। ह्विस्की पीकर द्वैपायन इन्द्र से बोला—‘मैं प्रमाणित कर दूंगा कि सन्थाल लोग कतई लड़ाकू नहीं हैं, समझे छोकरे। सन्थालों को आसानी से लालच देकर फुसलाया जा सकता है। बदला जा सकता है। तुम समझा पा रहे हो, आदिवासी समाज की आदिम एकता है ही बहुत खतरनाक। वे बंटे रहें तो हम बने रहेंगे, वे एकजुट होगये तो हमारा खात्मा हो जायेगा।”

यह षडयंत्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रहा है। लेकिन दिलीप सोरेन द्वैपायन से कहता है—“बाबा तिलका मांझी का नाम भूल गये? सिन्धु कानू के हूलका पता है? सन्थालों ने लहू दिया। नक्सली गांव छोड़कर शहर नहीं गया। बसाई टुडू ने सन्थालों को लेकर लड़ाई चलायी। अब तुम लिखित प्रमाण रख जाओ कि सन्थाल हर प्रकार से डरपोक है। पर आदिवासियों के दोस्त बनकर आये तुम लोग कौन हो? शिक्षित सन्थाल और नंगे सन्थालों में फूट चाहते हो।” और आक्रोश में आकर दिलीप सोरेन ने द्वैपायन को नीचे खदान में गहरे पानी में उठाकर फेंक दिया। (पृ. १३५)।

इसी प्रकार रतन डोमने रौतोनी साहू के भाई का सिर काट लिया था। इन्द्र ने सानि वज्रपाणि को उठाकर हवामें घुमा दिया था। धरती पर पटकना चाहता था, पर ऊपर से ही छोड़ दिया। इसी इन्द्र पर प्राणघाती हमला हुआ। पुलिस मिलिट्री ने कई सन्थालों को भून डाला। काली साँतरा को मार दिया, उसकी हड्डी बटोरकर लाने वाले बैतूल को साफ करवा दिया।

इन सन्थालों में काम करने वाले कुछ निष्ठावान् सक्रिय युवक हैं, जिनकी टक्कर प्रत्येक मोड़ पर इन्हीं सबसे होती है। मरते ये युवक भी हैं शरीर और मन दोनों से। लेखिका की प्रत्येक कथाकृति में यह टकराहट है अधिकांशतः असफल, अपवादतः सफल। लेकिन असफल होने पर भी निरर्थक नहीं हैं क्योंकि शोषक सर्वव्यापी है और ऊपर से बड़े मधुर और कोमल। ईमानदार कार्यकर्ताओं को बरगलाये रखते हैं—‘नक्सली मत बनो / कानून अपने हाथ में मत लो। भड़काओ मत / शान्ति से काम लो / जनजागरण करो / लड़ो-भिड़ो मत / न ही उकसाओ।”

इन्हीं जुझारू कार्यकर्ताओं के कारण राजनीतिका यह धन्धा खतरनाक भी होता जा रहा है। अधिक हाय-तौबा करने पर किसी अपराधी का लाइसेंस जब्त हो जाता है। किसी को दोबारा ठेका नहीं मिलता। सरकारी



योजनाएं अधिकांशतः कागजोंपर है। उनसे उतरकर धन नेताओंकी जेबमें पहुंचता है, और कुछ बंटता भी है तिहाई चौथाई। इसमें जो बाधक होते हैं उन्हें कभी प्यारसे और कभी मारसे समझा दिया जाता है। यदि सन्थाल कुछ कर बैठें तो पूरेके पूरे गांवको भून डाला जाता है। अपराधीको पकड़कर फांसीभी देदी जाती है।

लेखिका शोषकके अत्याचारोंको देखती है और देखती है इनके विरोधको भी। प्रत्येक कृतिमें एक-न-एक हत्या। क्या इसे लेखिकाका समर्थन माना जाये? हत्या तो शोषितोंकी भी होती है। तो क्या यह भी समर्थन है? नहीं। दीनदलितोंके प्रति स्पष्टतः ही उसकी सहानुभूति है। बिके हुए बुद्धिजीवी बहुत चालाक होगये हैं और खरीदार तो चालाक हैं ही। ये बुद्धिजीवी प्रतिद्वन्द्वी खेमेके पीले रुपये भी ले लेते हैं और अमरीकाकी ओर भी दौड़ते हैं। इस आन्दोलनकी सफलतामें ऐसे बुद्धिजीवी बहुत खतरनाक हैं।

**१०८४वें की मां (उपन्यास) :**

उपर्युक्त शोषणके दानवीय दुष्चक्रको तोड़नेका स्वप्न देखनेवाले अति उत्साही युवकोंकी कथा इसमें है, जिन्हें व्यवस्था और कानूनके नामपर दबा सकनेमें असफल होनेपर सरकार गुंडईसे उन्हें मरवा देती है। नक्सलवादियोंके दमनपर यह उपन्यास लिखा गया है। इसमें अभिजात वर्गके दिव्यनाथ अपने नक्सली बेटेकी हत्याको छिपानेके लिए ऐड़ी चोटीका पसीना एक कर देते हैं। भले ही टाइपिस्ट लड़कीसे रंगरेलियां मनाते हैं। इनके बड़े लड़के-लड़कियां सब ऑरिस्टोक्रेट हैं नक्सली व्रतीकी लाशके सामने इनकी जिन्दा लाशें अधिक सड़ी गली लगती हैं। नक्सलीकी मां सुजाताका अन्तर्द्वन्द्व बड़ा ही तीखा दिखाया है जो संवेदनशील पाठकको झिझोड़ देता है।

**चेट्टिमुंडा और उसका तीर' (उपन्यास) :**

यह उपन्यास वीरसाकी परम्परामें उत्पन्न चेट्टिमुंडाके नेतृत्वमें लड़ी जानेवाली लड़ाईका साहित्यिक आलेख है। तीरथनाथ जैसे महाजन दस पाई कर्ज देकर दस जन्म भी बेकारीसे छुटकारा नहीं देते। सात रुपये के स्थानपर दो रुपये मजदूरी देकर भी वाहवाही लूटने वाले आधुनिक शोषक हरवंशचन्द्र हैं। आदिवासियोंके पक्षधर पत्रकारको ट्रकसे कुचलवा दिया जाता है। विधानसभामें हो-हल्ला मचनेपर, कमीशन बैठनेपर ट्रक ड्राइवरको दो सालकी सजा हो जाती है लेकिन

असली अपराधी इस ड्राइवर को दो ट्रकोंका मालिक बना देता है। विदेशसे लौटे भारतके पिछड़े अंचलमें काम करनेवाले अमलेश खुराना भी हैं, जो अत्याचारकी रिपोर्ट भेजना चाहते हैं, पर कथित समझदारोंके द्वारा उनका मनोबल तोड़ दिया जाता है। नायक चेट्टिमुंडा की बुद्धि दर्शनीय है। वह स्वरूपनाथसे कहता है—“तुमने जिस लड़ाईकी बात कही, वह अच्छी है। पर होनेवाली नहीं। पुलिसके बराबर हों तभी तो लड़ेंगे नहीं तो अंतमें पुलिसही जीतेगी।” (पृ. २१०)।

इसलिए संगठन चाहिये। संगठनमें बल प्राप्त करने के लिए नित नये किस्से लोकगीत बनते जाते हैं। —“ये लोग बहुत आवश्यकता पड़नेपर ही गीत लिखते हैं। सभी लोग पानीकी तरह अलग-अलग हाथ मारकर भाग रहे थे गीत बांधकर ये लोग सहारा ढूँढ़ते हैं।” (पृ. १७१)। वीरसाके जन्मकालमें ही उसके विलक्षण व्यक्तित्वके विषयमें मुंडा लोगोंकी आस्था लोकगीतोंमें प्रकट हुई थी। वीरसाकी ही तरह चेट्टिमुंडा भी न तो किसी अंधविश्वासको जन्म देता है और न ही किसी अंधविश्वासको पुष्ट करता है—“मन्तर नहीं, अभ्यास ! अभ्यास !! अभ्यास !!!” (पृ. १८२)। तीरथनाथ जैसे नराधम धर्मकी आड़में शोषण करते हैं—“यह धर्म नहीं है।” धरती रहती है मालिक महाजनकी। मुंडा-दुसाध धरतीके मालिक हों, यह परमात्माकी इच्छा नहीं है। इच्छा होता तो उनको धरती न मिलती !” (पृ. १८४)।

आदिवासियोंके लिए कल्याण योजना भी व्यर्थ है, क्योंकि कचहरी जानेपर वहां—उकील, पेशकार, मुंडा उराव, अछूतोंकी चमड़ी नहीं छीलते ? (पृ. २७७)। ‘जबतक दिक् (शोषक) लोगोंके हाथमें कानून बनाने की सामर्थ्य है, तबतक दिक्का ही हक देखेंगे।’ (पृ. २७८)। क्योंकि ‘एक टोकरी गेहूँके लिए आदमी जिनको जनम-जनम खरीदता है, वे एक कट्टा जमीन छोड़ेंगे ! महाराज ?’ (पृ. २८०)। हमारे लिए काम करना चाहो तो, हम लोगोंके बीचमें रहो, हम लोगोंको सिखाओ जिससे हम अपना हक खुद समझें।’ (पृ. २८१)। ..... ‘डरनेसे काम नहीं चलेगा लेकिन बलि के बकरेकी तरह मरनेसे भी फायदा नहीं।’ (पृ. २८२)। बुरा मत मानना, सांपसे जो न डरे, वह बेवकूफ होता है।’ (पृ. २८८)।

इस प्रकार शोषणका संगठित होकर विरोध करना



उत्तेजित होनेपर शोषकोंकी हत्या करना मारपीट लूट-मार भी दिखायी पड़ती है। पचास हजार चंदा देनेवाले तोरधनाथकी गद्दीपर भी डाका पड़ता है। शोषितभी मर रहे हैं और शोषकभी। पाठक यदि सन्तोषकी सांस नहीं ले पाता, तो निराशभी नहीं होता। जिसे नमक के पानीमें पकाया हुआ टाटो अर्थात् साग-पात मिल जाये, वह परम सुखी है। ऐसे लोगोंको मिलनेवाले चौथाई वेतनसे भी जब राजनेताओंकी शह पाये हुए गुंडे चौथाई भागका बट्टा मांगते हैं, जब उनसे बेगार लिये जानेपर जिन्दा रहने लायक भातभी नहीं मिलता तब ये क्या करें? शोषितको भी अब मालूम पड़ गया है कि यह व्यवस्था अटल नहीं है। अभी दस पांच साल में कुछ खास होनेवाला भी नहीं।

### शालीग्रहकी पुकारपर (उपन्यास)

इस उपन्यासमें सन्थाल और पहाड़ियोंके लोम-हृषिक विद्रोह-हूलकी गाथा है। दिनमणि भोलेभाले सन्थालोंको फुसलाकर जंगलका रास्ता मालूम करना चाहता है हालांकि भेद-खुल जानेपर उसका सिर काटकर फेंक दिया जाता है। अंग्रेज और उनके इतिहासकार बड़ी चालाकीसे अपनी करतूतों और असफलताओं को छिपाते हैं। प्रमाण है तिलका माझी द्वारा मारे गये स्लीवलैन्डकी समाधिपर, लार्ड कर्जन द्वारा, लिखवाया गया यह लेख—“तलवारसे नहीं, प्रेमसे उन्होंने जीता या राजमहल। जंगल सीमान्तके लॉ-लैस बर्बर आदिवासियोंको जीवनका मर्म समझाया था।” (पृष्ठ ६०)। पिछले सौ वर्षोंके लगातार संघर्षकी अनेक गाथाएं शान्त गम्भीर रसिक पाठकके मनमें भूचाल उठाती हैं। अधिकांशतः शोषित सर्वहारा खोजनेके स्थानपर बुद्धि-जीवी मार्क्सवादी लोग अपने पूर्वाग्रहों दुराग्रहोंको पोषते हैं, केवल सैद्धान्तिक बहस करके ‘दिग्विजय’ करना चाहते हैं। पर महाश्वेताजी अन्य कथित यथार्थवादी कलाकारोंकी भाँति निराशा-कुंठा नहीं फैलाती, अपितु शोषितों द्वारा लिया गया बदला भी दिखाती है। यद्यपि इस उपन्यासके नायक तिलका माझीकी भी हत्या होती है, फिर भी मरते-मरते उसके अधरोंपर हूल अर्थात् विद्रोहका स्वर गूँजता है।

### प्रेतात्मा (उपन्यासिका-संकलन)

‘प्रेतात्मा’ उपन्यासिकामें आदिवासियोंको सर-कारसे मिलनेवाली जमीनको हड़पनेका प्रयत्न दिखाया गया है। जिन लोगोंकी जमीन हड़पनेमें जमींदार अस-फल रहते हैं, उन सबको डाइन-भूतनी घोषित करवा

देनेकी एक नयी चाल राजा बाबूने अपनायी है। एक गंजोड़ीको पटाकर आदिवासी युवक नेताकी माँको डाइन घोषित करवा दिया जाता है। अपने घरकी पढ़ी-लिखी लड़कियोंके द्वारा बुखारमें बड़बड़ानेमें निकलते हैं इन डाइनोंके नाम। धूर्त नीचताकी चरम सीमा है यह। सोमराई अपनी माँको डाइन घोषित करनेका विरोध करता है। अमरीकी इशारोंपर नाचनेवाले ईसाई मिशनरियोंकोभी उधाड़ा गया है जो आदिवासियों को भूतप्रेतोंमें विश्वास करनेवाला सिद्ध करते हैं—“यह डाइन है कि नहीं, इसे लेकर तुम्हारे विलायती मालिकों को क्यों सरदर्द हो रहा है? डाइनमें ज्ञान-विज्ञान क्या है? बेटा! तुम्हीं लोग प्रचार करते हो कि हम जंगली हैं, डाइनमें विश्वास करते हैं, जबकि हमारा समाज आगे बढ़नेको आतुर है ये बात तुम-कभी नहीं लिखते।” (पृष्ठ ११८)। इन सन्थालोंमें ग्रामीण चेतना और अस्तित्व चेतनाभी आ रही है असंगठित और असमर्थ होनेके कारण विरोध, इस समय सफल नहीं हो रहा है, कोई-कोई युवक शोषणके इस चक्रको तोड़नेका प्रयत्न करता है। शताब्दियोंके शोषणकी परम्परा टूटनेवाली नहीं है, पर यह अटूटभी नहीं है।

लेखिकामें न तो अत्यधिक उत्साह है और न निराशाधिक्यही। शोषितोंमें अपनी दुर्बलतासे उबरने का प्रयासभी दिखायी पड़ता है। राजा बाबू अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए भूतप्रेतके प्रति अन्धविश्वासको हथियारके रूपमें प्रयोग करते हैं—“आप जिसपर खफा हों वही डाइन (१२२)। जहाँ डाक्टर नहीं, अस्पताल नहीं, बीमारीसे लोग मर रहे हो, वहाँ बीमारीही डाइन है। एक-दो लोग बात फैलाते हैं कि गाँवके लोगोंको डाइन मारती है। पर यह क्या सुन रहा हूँ कि समाजके प्रतिष्ठित और सभ्य तथा धनी लोगोंने डाइन देखी, विश्वासही नहीं होता।” (पृष्ठ १११)। शोषणकी धूर्तताका घिनौना हथकण्डा है यह। दिकू, सूदखोर, महाजनकी दो पीढ़ियाँ और उनके शिकार सन्थालकी तीन पीढ़ियोंके शोषण तथा उसके प्रतिकार करनेवालों के साहस बुद्धि और संगठन-कौशलकी गौरव गाथा है यह। शोषित लोग संकटमें एक-दूसरेका साथ देते हैं उनका एक मन धान दस सेरमें तुलता है और महाजन का दस सेर एक मनमें तुलता है। “जीवनमें दिकू घुस गया तो फिर जीवन जल जायेगा।” जैसी चेतावनी भी है इसमें, तभी तो सूदखोरसे मदन कहता है “तू बेईमान



साहब, बेईमान तेरे जमींदार पुलिस सब बेईमान।” (पृ. ११४) अंग्रेजीके राजनीतिक और भारतीय सूद-खोरोंके आर्थिक शोषणका प्रतिकार १८५०में सन्थालों ने किया। भूख क्या तेरी अकेली है। माझी पारानिक और जगमाझी जिसके पास जो कुछ था, उसने वह लुटा दिया। वे भी अब जंगलोंमें घूम रहेहैं।” (पृ. ११६)। इस प्रकार दीक्षित कियाहै अन्य सन्थालोंको। शोषण के सक्रिय विरोधका इतिहास लिखकर, लेखिकाने शोषण समाप्तिके लिए पाठकके मनमें एक पृष्ठभूमि तैयार कीहै। उस पाठकके मनमें जिसमें कुछ लेखक अपनी कुंठा, निराशा, विकृति, पूर्वाग्रह या दुराग्रहकी घिनौनी और अमानवीय सड़ांध भर रहेहैं, या अपराध या सैक्सके झूठे-सच्चे किस्से चटपटी भाषामें चटकारे लेकर लिख रहेहैं।

‘मूर्ति’ उपन्यासमें भी निकम्मे प्रशासकको जनसेवा के लिए, बाध्य होनेके लिए तैयार होता दिखायाहै।

#### ग्राम बाङ्ला (उपन्यासिका-संकलन)

‘ग्राम बाङ्ला’में सात उपन्यासिकाएं हैं। इसी नाम की उपन्यासिकामें आदिवासियोंमें फूट डालकर आपस में लड़वानेका षड्यन्त्र और इसे विफल करनेवाले सुकुमार जानाकी हत्याका प्रयास है। वामफ्रंटमें दरार का पड़ना और राजारामकी पत्नीको शोषकोंके एक वर्ग ओझाओंके द्वारा डाइन घोषित करवाना दिखाया गयाहै। ननी जैसे शोषकोंमें कुछ मानवता शेष है। सारे शोषितोंका संगठन होताहै। एक-दो उग्रवादियोंसे हत्याका प्रतिशोध तो सम्भव है, लेकिन समस्याका समाधान नहीं मिलता। इसलिए यहां प्रतिशोधमें हत्या नहीं है। अपितु शोषणका विरोध है। लगताहै हत्याके मार्गके संकटों और अव्यावहारिकताको देखकर शोषणके विरोधके मार्गकी ओर संकेतही कियाहै लेखिकाने।

दूसरी उपन्यासिका ‘सीमान्त’में एक भिन्न प्रकार का शोषण है, बापके द्वारा बेटीकी अपनी उम्रके बूढ़ेके साथ रुपये लेकर शादी करानेकी। माँका उदाहरण देने पर बेटी मयनावती कहतीहै—“यदि माने गूं खाया तो मैं क्यों खाऊं” (पृष्ठ १२२)। बापको भी उस कथित-पति अर्थात् बूढ़ेसे छुटकारा दिलातीहै बेटी। केवल बाहरी शोषक ही नहीं अपनोंके द्वारा शोषणभी कम खतरनाक नहीं है। आदर्शके लिए मर मिटतीहै मयनावती। दुविधा छोड़कर अपने प्रेमी छलांगके साथ भाग जातीहै। तीसरी उपन्यासिका ‘अंधेरेमें’ पुलिसके न्याय-

प्रिय जुझारू दरोगाकी गाथा है, जो अपराधियोंको दण्ड दिलानेका प्रयास करताहै। अपराधी उत्तेजित होनेपर अंधेरेकोही फाड़ डालनेके लिए उद्यत हो जातेहैं। लक्ष्य के प्रति अकेलेही बढ़ते चलनेकी जिजीविषा इसमें दिखायी गयीहै। चौथी उपन्यासिका ‘राजा’में आदि-वासियोंके पुराने स्वतन्त्रता-सेनानी गणपति मालकी गौरव गाथाहै, जिन्होंने सरकारी सहायता इसलिए ठुकरा दी कि सूची बनानेवाला वही व्यक्ति था जिसने स्वतन्त्रता-सेनानियोंको पकड़वायाथा। क्योंकि भूत लोग स्वतन्त्र भारतमें स्वतन्त्रता-सेनानीही नहीं उनके संरक्षक भी बन गये। गणपति मालने गांववालोंको झील खुदवाने के काममें लगाया, अपने पूर्वजोंको दिये गये पाँच गांव की राजाज्ञा खुदी पटियाको खोदनेके लिए। पटिया तो तो नहीं मिली, लेकिन झील खुद गयी अकालसे लड़ने के लिए, और मछली पालनके लिए। अन्धविश्वासों और लोक-विश्वासोंका सहारा लेकर गणपति मालने आदिवासियोंको निष्क्रिय और परोपजीवी न बनाकर उद्यमी बनायाहै। पर इन स्वतन्त्रता सेनानियोंमें भी जात-पातकी बीमारी है। पहले देशद्रोह किया परा-धीनताके समयमें और अब चालाकीसे स्वतन्त्रता सेनानी बनकर कोटा परमिट लाइसेंस झटककर स्वाधीनताका सुख भोग रहेहैं। एक तेजस्वी स्वाभिमानी योद्धाका चरित्र लिखकर डूबते हुए जीवन-मूल्योंको वचनेका प्रयास इसमें है। पार्टी दफ्तरमें बैठकर नहीं, आदि-वासियोंके साथ कीचड़में धंसकर झील खोदनेका निर्देशन कियाहै, जो व्यावहारिक आदर्शका रूप है।

पाँचवीं उपन्यासिका ‘स्वदेशकी धूलि’में आदिवा-सियोंमें निःस्वार्थ सेवा करनेवाले स्वदेश बाबूको अव-सरवादी, धूर्त, पैसा-परस्त, गुंडे, बदमाश, व्यर्थका समझकर भुला देनेका षड्यन्त्र करतेहैं। इस षड्यन्त्रमें वे लोगभी हैं, जिनके विरुद्ध स्वदेश बाबूने ‘तेभागा आन्दोलन’ छेड़ाथा। ये लोग स्वदेश बाबूकी स्मृतिमें होनेवाली सभामें अंडगा लगातेहैं। ये ही लोग निष्ठा-वान् लोगोंको स्वदेश बाबूको आतंकवादी बताकर हतो-त्साहित करतेहैं स्मृति सभा करनेके लिए। बलिदानी वीरोंकी लोमहर्षक गाथा कहने-सुननेवाले दुर्लभ होते जा रहेहैं। फिरभी ये दुर्लभ लोग अपने सीमित साधनों से ही स्वदेश बाबूको श्रद्धा सुमन अर्पित करतेहैं। प्रामा-णिकता और कलात्मकताका विचित्र समन्वय हुआहै इस प्राणवन्त साहित्यमें। रसिक ओ राँव जैसे सामान्य



जनोंके मनमें स्वदेश बावू जीवित हैं अतः यह कथा हताशाके धुंधलकेमें नहीं छोड़ती ।

छठी उपन्यासिका 'लाइफर' है, पत्नीको मार देनेवाले सन्ध्यालकी कहानी, जो स्वयं आत्मसमर्पणकर लाइफ 'अर्थात्' आजीवन कैद पाता है । पर अच्छे चाल-चलनके कारण जल्दीही छूट जानेपर बाहर निकलकर भी उसकी मानसिकता आजीवन कैदीकी ही होती है । दारोगाके यहाँ नौकरी करनेपर कहीं उसे नीमके तेल की गन्ध मिल जाती है, और उसके मनमें सोयी हुई पुराने साथियोंकी याद जग जाती है, और वह नौकरी छोड़कर अपने लोगोंमें मिल जाता है । आदिवासियोंको सुविधाएं नहीं रोक पातीं । अन्तिम उपन्यासिका है 'ते पान्तरा' निस्वार्थ सेवी दनुज बाबूकी पालित विधवा और असहाय पुत्री, खलनायक मति सांतराकी बीमार पत्नीकी सेवाके लिए रख ली जाती है, जो मति सांतरा के चंगुलसे निकल उसका भंडा फोड़कर एक युवकके प्रति आकृष्ट हो जाती है । इस प्रकार इन सातों उपन्यासिकाओंमें शोषितोंके जीवनमें विवशता और आक्रोश के चक्र और प्रतिरोध एवं समर्पणके द्वन्द्वको व्यक्त किया गया है । शोषणके विरुद्ध पनपती चेतनाको दिखाकर जागरूकता और विरोधका वातावरण बनाया है । अभी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल रही है । फिरभी छुट्ट प्रयास उपेक्षणीय नहीं हैं क्योंकि इन्हींसे महा-संघर्षकी चिनगारी फूटेगी । अपने पैरोंपर खड़े होकर अपने अधिकारोंका अनुभव करते हुए जूझना है । सफलतामें अड़ंगा स्थायी नहीं है । कभी-न-कभी तो टलेगा ही, ऐसा संकेत लेखिकाने दिया है ।

#### तैलति : तीन उपन्यासिकाएं

'तैलति' संकलनमें तीन उपन्यासिकाएं हैं । पहला 'तैलति' ही है, जिसमें आदिवासी स्त्रियोंको बंधुआ बनाकर वेश्या बनानेका राक्षसी कारोबार किया जा रहा है । एक औरतको तीन सौ रुपयेमें खरीदकर उसके गोन शोषणसे चालीस हजार रुपये कमाकर उसे भिखारी और मरणासन्न बनाकर सड़कपर खदेड़ दिया जाता है । बन्धुआ गनोरियाको हलमें जोत दिया जाता है, क्योंकि उसकी असावधानीसे जमींदारके बैलको बाध खा जाता है । शहरके ब्राह्मण देवता परमानन्द मिश्र तैलतिको साड़ी भिजवाते हैं । एक साधु राम नामका बाप, भजन-पूजन-भोजन भण्डारा करते हैं हृदय परिवर्तन

के लिए । भुवनेश्वर चाचा सहृदय हैं, लेकिन कुछभी करनेमें असमर्थ । वानो नागेशिया शहरमें जाकर कोयला खदानके ठेकेदारके गुंडे मस्तानकी हत्याकर देता है, उसके कुकर्मोंके कारण । ब्राह्मण परमानन्द मिश्र मजदूरोंकी बहन बेटियाँ खरीदकर ले जाते हैं, वेश्यालयके लिए और ठेकेदार लाठियाकी राक्षसी कामवासनाकी भट्टीमें दौलतिको झोंक दिया जाता है । लेकिन सौमिनी जैसी स्त्रियां भी हैं, जो निकल भागती हैं सड़क पर भिखमंगी बनकर, दुराचारसे उत्पन्न सन्तानके पास क्योंकि वेश्यालयमें बच्चोंसे मिलनेकी आज्ञा नहीं है । अत्याचारके विरुद्ध यहांभी चेतना सुगबुगा रही है । अत्याचारोंको रोकनेवाले अनेक व्यक्ति और संस्थाएं हैं, लेकिन सब असमर्थ । धरती और रोटी कपड़ा न रहने पर कर्जालेकर बन्धुआ मुक्ति आन्दोलनकी जटिलताओं-विषमताओंका पूरा लेखा-जोखा इसमें हैं । अभी निष्ठावान् और जुझारू लोग इसमें जुड़े हैं । दौलति की लाश चूनेसे बने भारतके नक्शेपर फैली हुई है, जो समस्याकी चिन्ताजनक विस्तारकी प्रतीक लगती है ।

दूसरी उपन्यासिका 'प्लामो' में वासमती दुराचारी सवर्णके हाथको हंसियेसे घायलकर देती है । माधो जैसे युवक उन अपराधोंके विरुद्ध संगठित होते हैं । वासमती के भ्रष्ट पति ननकूको भी सजा मिलती है; और वासमतीको उससे मुक्तभी कराते हैं । वासमतीका दुराचारी सवर्णके हाथको हंसियेसे घायल करनेका बदला नहीं लिया जाता क्योंकि इन्हीं बंधुआ लोगोंके कहनेपर ही जमींदार बंधुआ रखनेके जुर्मसे मुक्त हो सकते हैं । ये फिर बंधुआ हो जाते हैं । पानीमें रहकर मगरसे बैर कैसे हो ? क्योंकि नौकरशाही इन्हीं सवर्णोंपर आधारित है । फिरभी कानून बननेसे कुछ चेतना तो आयी ही है, व्यंग्य विद्रूपके द्वारा भी इस दुराचारका विरोध होता है । "अवैध सन्तानोंसे सबकी (निम्नवर्गीय स्त्रियोंकी) गोद भर देते हैं और चुनावके समय उन्हींको माता बहन कहकर सम्बोधित करते हैं । उनसे ऐसे सम्बोधन सुनकर घृणा होने लगती है । उच्च वर्णोंके मुंहपर थूकनेकी इच्छा होती है... जिन राजपूतोंने उस ब्राह्मणको मारा था वे उसे पूजाके दिनोंमें प्रणाम करने जाते हैं । दर्पचन्द्र उनसे न बातचीत करता न ही, उन्हें आशीर्वाद देता, जो हाथ उसे प्रणाम करनेको बढ़ते, उनपर लात मारने की इच्छा होती । किन्तु ऐसा वह नहीं कर पाता और मनही मन घुटकर रह जाता ।" (पृष्ठ १०३) ।



पन्द्रह रुपयेका कर्ज लेकर तीस साल तक बेगार करता रहा। उसका बेटा पंद्रह सालतक बेगारीके बाद मर गया। उसके बाद उसका बेटा पच्चीस सालसे बंधुआ बेगारी कर रहा है। पन्द्रह रुपयेका कर्ज साठ सालमें भी नहीं चुका। सरकारी सहायता प्रधानके मार्फतही आती है, बहुत कुछ बीचमें हड़प लिया जाता है। फिर भी विरोध तो होही रहा है। यथार्थ दृष्टिसे अंकन किया है परिस्थितियोंका। 'फजामौ'का अन्त निराश नहीं करता। प्रयासोंकी सफलताके प्रति आश्वस्त करता है। शोषणका चक्रव्यूह कहींसे तो टूटा। अत्याचारी निःशंक नहीं है। दलित वर्गसे ही उत्साही जुझारु सामने आ रहे हैं।

'झालो' दुराचारी तहसीलदारका हाथ काटकर गुराई—“मालिक लोगतो हमें मुफ्तकी रंडियां बनाये हुएही हैं और तुम्हारे ये सरकारी तहसीलदार तुम्हारी माँ-बहन, बेटीको इस प्रकार बेइज्जत करते तो, तुम जैसी सजा देते वैसे दे पाओगे इस तहसीलदारको... हम लोग अछूत हैं। हमारा छुआ पानीतक अछूत है। पर हमारी औरत अछूत नहीं है।” (पृष्ठ १८५)। बंधुआ औरतोंको पीटनेवाले नौनिहालका हाथ मरोड़ दियाथा तो अमीन साहब जैसे भले आदमीने कहाथा—“माँ सर्तात्वकी रक्षाके लिए आज तुमने जो किया वह तो अखबारोंमें छपेगाही, तुम्हें देखकर कलेजा बहुत बड़ा होगया। ये मक्कार तुम्हारी इज्जत लूटने आयेथे। तुमनेतो गेहूँअनकी तरह सिसकार उसे डस लिया।” (पृष्ठ १८५)। बलात्कारकी शिकार लड़की मुकदमा दायर करती है। वासनीभी उत्तेजित होती है। झाली द्वारा दुराचारीका हाथ काट लेनेसे—“रंडियोंको

पैसे मिलतेहैं, शरीर बेचकर, हमें तो बे भी नहीं मिलते।” (पृष्ठ १८७)। सहायतार्थ आये साढ़े इक्कीस हजार रुपयोंको अधिकांशतः सरपंच ही डकार गया। थोड़े-से मजदूरोंमें भी बाँट दिये। मृतक मजदूरोंकी क्षतिपूर्तिके लिए दीगयी रकमको डकार जानेवाले ओवरसीयरकी मरम्मत होती है। लैण्डरैवेन्यू अफसर रोहित वर्मा जैसे ईमानदार लोगभी हैं। झालो लक्ष्मणसिंहके बारेमें भी कहती है—“आये, अबकी बार आये तो। उसकी नरेटी (गर्दन) काटकर बच्चोंको लेकर भाग जाऊंगी।” (पृष्ठ १९७)। लक्ष्मणसिंह ठेकेदारको मारनेके लिए विशाल घेर लेता है—“हर व्यक्ति गेहूँअन लग रहा था; जिसकी फुंकारमें निश्चित मौत थी” (पृ. २०२)

इस प्रकार महाश्वेता देवीका यह लेखन यथार्थपर दृष्टि जमाये हुए सम्भावनाओंको टटोलता है। जिसका संकेत है कि भविष्य उज्ज्वल तो है, पर कदम-कदमपर संघर्ष है। लेखिका उत्साहाधिक्यसे भी मुक्त है और निराशाधिक्यसे भी।

कदाचित् ही किसी भारतीय भाषामें आदिवासियोंके ऐसे अज्ञात उपेक्षित जीवन संघर्षका इतना जीवन्त प्रामाणिक और साहित्यिक अंकन हुआहो। जो शोषित जनजीवनके प्रति अपना उत्तरदायित्व समझतेहैं, जो शोषित मानवतासे कहींभी जुड़े हुएहैं, उनके दिमागके जाले साफ करनेके लिए यह लेखन है। शाश्वत मूल्योंकी अमूर्तताके शब्दजालमें फंसे हुए या समय काटनेके लिए जो पढ़तेहैं, या पैसा बनानेके लिए जो चटपटा और बिकाऊ साहित्य लिखतेहैं उनके लिए राजनीतिसे प्रेरित या दूषित साहित्य है। लेकिन यह फतवाही इसका सही मूल्यांकन है। □



## कुरंतुल-ऐन-हैदरका कथा साहित्य

मनःस्थिति और परिस्थितिके प्रति अतिसंवेदनशील एवं  
चरित्र-चित्रणकी अद्भुत क्षमता-सम्पन्न लेखिका

—लेखक : माधव पण्डित

कुरंतुल-ऐन-हैदर उर्दूकी ऐसी ख्यात लेखिका हैं जिन्हें भारतीय साहित्यके सशक्त हस्ताक्षरोंकी श्रेणीमें ला बिठानेका श्रेय भारतीय ज्ञानपीठको है। निस्सन्देह वे उर्दूकी प्रख्यात लेखिका हैं, पारिवारिक परिवेश, शिक्षा-दीक्षा, पारम्परिक सूफी दार्शनिकता, गहन, चिन्तन ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके विश्लेषणकी क्षमता, उदार और सुलझी विचारधारा संवेदनशीलता तथा उसे कथा-सूत्रोंमें ग्रथित रूपमें प्रस्तुतिकी कलाने उर्दू साहित्यमें उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया है। अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमिके संबंधमें वे स्वयं कहती हैं कि उनका जन्म सुविधा-सम्पन्न परिवारमें हुआ, उन दिनों लड़कियोंकी शिक्षाका चलन नहीं था, परन्तु उनका परिवार अपवाद था। देश-विदेशकी यात्रा, पत्रकारिता के क्षेत्रसे जुड़ना आदि जीवनकी विभिन्न परिस्थितियों ने उनकी चिन्तन शक्ति और संवेदनशीलता दोनोंको तीव्रता प्रदान की और ऐसी मनःस्थितिका निर्माण किया कि लेखनकी पारिवारिक प्रवृत्तिने धीमे-धीमे अभिव्यक्तिको प्रौढ़ता-प्रदान की। इस पृष्ठभूमिके साथ १९३९ में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई और १९४७ में उनका प्रथम कहानी-संग्रह 'सितारोंसे आगे' प्रकाशित हुआ। उर्दू साहित्यमें उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिलानेका श्रेय 'मेरे भी सनम खाने' और 'सफीना-ए-गमे दिल' को है। इन दोनों आरम्भिक उपन्यासोंमें कलेजों और विश्वविद्यालयोंके पाश्चात्य वातावरणमें युवक-युवतियोंकी भावनाओंको मनोग्राही एवं रोचक अभिव्यक्ति मिली है।

उर्दूमें उन्हें ख्यातिके उच्चतम शिखरपर पहुंचाया

उनके उपन्यास 'आगका दरिया' ने और इसी उपन्यासने उन्हें विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व प्रदान किया। उर्दू उपन्यासके इतिहासका इसे एक नाक्षत्रिक आविर्भाव माना गया। यह उपन्यास १९५९ में प्रकाशित हुआ, जब वे पाकिस्तानकी नागरिक थी। लेखिकाका मानना है कि इस देशकी उलझनों, इस देशके जन-साधारणकी दूरियों ने उन्हें सोचनेको विवश किया। इस देशमें ऋषि-मुनि हुए, पीर-फकीर हुए, साधु-सन्त हुए फिरभी इतनी मारा-मारी क्यों? आपसमें इतना विद्वेष क्यों? देश का विभाजन क्यों? इसी चिन्तनका परिणाम है कि इसमें भारतकी सभ्यता-संस्कृति और चिन्तन-परम्परा तथा यहांके मानव-जीवनके सभी पक्षोंका पूरा इतिहास चित्रित होगया है, उसके फलकका विस्तार होगया है, सैकड़ों वर्षोंकी कथा इसमें सिमट आयी है। 'आगका दरिया' उपन्यासका दरिया (नदी) समयका प्रतीक बनकर आरम्भसे अन्ततक कलात्मक ढंगसे प्रवाहित हुआ है। उर्दूके एक आलोचकका मानना है कि 'आगका दरिया' में किसी एक वर्ग अथवा समूहकी जीवन-कथा अथवा किसी विशेष वातावरणमें रहनेवाले व्यक्तियोंकी कहानी नहीं कही गयी, अपितु मानव-कथा प्रस्तुत की गयी है, उस मानवकी जिसे प्रत्येक युगमें एक नयी कयामतका सामना करना पड़ा है... जिसपर प्रत्येक युगमें भयकी छाया मंडराती रहती है, जिसे सदा एकान्तकी अनुभूतिने सताया और रुलाया है, जो प्रतिक्षण समयके एक मायावी जालमें फंसा रहता है। यह अवश्य है कि उस कयामतका रूप, उस दुविधाकी ओर भयकी विशेषता, उस अनुभूतिकी ऐकान्तिक दशा दिशा परिवर्तित

'प्रकर' — मार्गशीर्ष २०४७ — ८७



होती रही है और समय नये रूपमें प्रकट होकर इनमेंसे प्रत्येकपर अपना विशेष रंग चढ़ाता रहा है।" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि 'आगका दरिया' उर्दू साहित्यकी प्रशंसनीय और सफलतम कृति स्वीकार की गयी।

सातवें दशकमें वे भारतमें आकर बस गयीं। १६-६५में उनका कहानी-संग्रह 'पतझड़की आवाज' प्रकाशित हुआ, जिसे बहुत अधिक लोकप्रियता मिली। यह कहानी-संग्रह जड़ोंसे उखाड़कर आंधी-तूफानमें झोंक दिये गये लोगोंकी दुःखती रगोंका अनुपम आलेख है। भारत विभाजनके पश्चात् होनेवाले साम्प्रदायिक दंगों से उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक, सामाजिक और भावनात्मक समस्याएं कुरंतुल-ऐन-हैदरके उपन्यासोंमें अपने समकालीनोंसे भिन्न किन्तु बड़े स्वाभाविक रूपमें मिलती हैं। इस संग्रहकी कहानियोंमें सांस्कृतिक अतीतके प्रति विशेष लगाव और वर्तमानके साथ उसके सम्बन्ध-निरूपणके स्वभावका अप्रतिम उदाहरण है।

कुरंतुल ऐन हैदरकी एक और चर्चित कृति है 'कारे जहां दराज', जो दो खण्डोंमें १९७६में प्रकाशित हुई। यह उपन्यास होकरभी लेखिकाकी पारिवारिक यायावरीका इतिहास है। इस रूपमें ऐतिहासिक विवरण होनेपरभी यह उपन्यास है। वे स्वयं इसे 'नॉन-फिक्शन नॉवल'—अकाल्पनिक उपन्यास—कहती हैं। इसकी शैली आत्मकथात्मक है और यह लेखिकाके पूर्वजों (जि. बिजनौर)के सैयदोंकी कहानी है जो १२वीं शतीसे आरंभ होती है और वर्तमान कालतक पहुंचती है। इस आत्मकथात्मक विवरणके अनुसार लेखिकाके पूर्वज सूफी सन्त थे और मध्य एशियाके किरमिस (वर्तमान सोवियत संघ) से पूर्व यहां आकर बसे थे। इन्हीं पूर्वजोंमें से एक सिलहटकी ओर गये, एक पूर्णियां विहारमें, एक गुजरात और एक दक्षिण भारत, एक झूसी, धर्म-प्रचारके लिए फैल गये। उन सबकी गदियां चल रही हैं। यह एक पूरा सूफी-जाल-सूत्र फैला हुआ है। एक प्रख्यात आलोचकके शब्दोंमें 'यह उपन्यास भावनात्मक सूत्रों, सामाजिक ऊहापोहों, आत्मबोधके आकस्मिक स्फुरण और मानव सम्बन्धोंके अद्भुत असीम रूपोंका वर्णन करता है जिन्हें हम, यदि हमारे पास लेखिकाकी प्रतिभा और कल्पना हो तो, अपने जीवनमें भी पहचान पाते हैं। वास्तवमें उस परिवारकी कहानी कहते हुए लेखिकाने भारतीय मुसलमानोंके सामान्य सांस्कृतिक आचार-व्य-

वहारकी संरचनाकी झांकीभी प्रस्तुत की है। इस उपन्यास के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा और अन्तिम भाग संभवतः अभी लिखा नहीं गया।

'आखिरे शवके हमसफर' (निशान्तके सहयात्री) भारतीय उपमहाद्वीपके इतिहासके एक सर्वाधिक निर्णायक चरणका चित्रण है जो द्वितीय महायुद्धके पहलेके बंगालकी उग्रवादी घटनाओं और देशव्यापी भारत-छोड़ो आन्दोलनसे लेकर देश विभाजन और फिर १९७१ की घटनाओंतक फैली है, जिसकी परिणति बंगला देशके उदयमें हुई। जो वस्तु ध्यान खींचती है वह यह है कि ऐतिहासिक घटनाओंके चित्रणसे अधिक लेखिकाकी रुचि यह रेखांकित करनेमें है कि उच्च आदर्शोंसे प्रेरित अपना सबकुछ त्यागकर क्रान्तिकी धुनमें निकले लोग किस प्रकार समय परिवर्तनके साथ आदिम प्रवृत्तियों और ईर्ष्याके वशीभूत होकर नितान्त सामान्य अपितु निम्न वृत्तिके व्यक्तियोंके स्तरपर उतर आते हैं, लोभ-लिप्सा में लिप्त हो जाते हैं, और निम्न स्तरीय भोग-विलासके चक्करमें पड़ जाते हैं।

वस्तुतः लेखिकाका चिन्तन विनाशक मानवीय संकटपर केन्द्रित है और उसके अन्तर्मनमें छटपटाहट व्याप्त है मूल कारणोंको पहचाननेकी। सम्भवतः इसी कारण उनका 'गर्दिशे रंग चमन' उपन्यास इसी उलझन को सुलझानेके प्रयासमें अपनेमें २०० वर्षकी अवधि समेटे है। अपने चिन्तनकी इस रूपरेखाको 'रोशनीकी रपतार' में अपने एक पात्रके मुंहसे सजगताके साथ उघाड़कर रख देती हैं : "हम अपने देशसे आगे या पीछे नहीं जा सकते। अपने कालचक्रके परीक्षणों-प्रयोगोंको सहना हमारे भाग्यमें है। हम इतिहास-क्रमको आगे या पीछे नहीं सरका सकते।"

ऊपर चर्चित कृतियोंके अतिरिक्त लेखिकाकी अन्य प्रकाशित कृतियां हैं : दिलरुबा, चायके बाग, सीता-हरण, अगले जनम मुझे बिठिया न कीजो, हाउसिंग सोसायटी, शीशेके घर। नवीनतम उपन्यास 'चांदनी देगम' प्रकाशनाधीन था, सम्भव है अबतक प्रकाशित हो गया हो।

कुरंतुल-ऐन-हैदरके कृतित्वकी सर्वप्रमुख विशेषता है काल और स्थान दोनोंमें ही परिव्याप्त विशालता और विस्तारकी गुणवत्ता। हमारे समयकी कुछ अमूल्य कथा-कृतियां उन्हींकी देन है। उनकी मनःस्थिति और परिस्थितिके प्रति अतिसंवेदनशीलता और चरित्र-चित्रण



की क्षमता अद्भुत हैं। उनकी पीड़ा है उनके देखते-देखते उन मूल्योंका अवमूल्यन, जो उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं। पीड़ाकी इस तीव्र और सघन अनुभूति होनेके कारण वे कालकी उस क्रूर शक्तिके प्रति सचेत हैं जिसकी छाया सर्वग्रासी है। वे निरन्तर स्मरण कराती हैं कि परिवर्तनकी अनिवार्यता वास्तविक है। इसीका एक पक्ष है आशा तथा दूसरा हताशा। परिवर्तन हर्षका संवाहक हो सकता है और विषादका भी। केवल बाह्य और भौतिक संसारही प्रासंगिक नहीं है, महत्त्वपूर्ण तो है मानव-चेतना और उसमें से प्रस्फुटित होनेवाले विभिन्न सम्बन्ध।

उनकी भाषामें सहज प्रवाह है। कुछही पंक्तियोंमें परिवर्तित सामाजिक, राजनीतिक परिवेशकी परत-दर-परत खुलती चलती जाती है। उनके पात्रोंका हर्ष, विषाद, पीड़ा, उल्लास स्वयं हमारा अपना सुख-दुःख बन जाता है। यह तभी यह सम्भव है जब ऐसे पात्रोंकी सृष्टि करनेवाला स्वयं उस यथार्थ जगत्का साक्षात्कार कर सका हो एक संवेदनशील सच्चे साक्षीके रूपमें। स्वयं लेखिकाका कहना है : "मैंने कभी किसी उद्देश्यको सामने रखकर नहीं लिखा, मैं इस प्रकार कुछ लिखभी नहीं सकती। मैं वही लिखती हूँ जो मेरी अन्तरात्मा

मुझे लिखनेके लिए कहती है। अच्छा साहित्य, मैं उसे मानती हूँ, जो आपको पढ़नेपर विवश करता है। आज, आपने नहीं पढ़ा तो वह आपको दस वर्ष बाद बाध्य करेगा।"

कुर्रतुल-एन-हैदर उर्दूके उन विरल साहित्यकारों की श्रेणीमें आती हैं जिनके योगदानसे उर्दू अपना मौलिक अस्तित्व बनानेमें समर्थ हुई है। उनका अपना अलगही साहित्यिक दवंग-अक्खड़ व्यक्तित्व रहा है, उनके कृतित्व को लेकर उर्दूके साहित्य पारखियोंमें भी तीव्र मत-भेद रहा है। किसीकी धारणा है कि वे अत्यधिक आधुनिक हैं, किसीने उन्हें प्रयोगशील कहा और किसीने बताया कि उनके साहित्यिक अहंकारने उनके लेखनको क्लिष्ट और अपठनीय बना दिया है। इसके विपरीत ऐसीही एक अनवरत चर्चा उनका पक्षभी पुष्ट करती चली गयी है।

हमारा विश्वास लेखिकाके इस मन्तव्यके अनुकूल है कि अच्छा साहित्य वही है जो आपको पढ़नेपर विवश करता है। आज, आपने नहीं पढ़ा तो वह आपको दस वर्ष बाद पढ़नेके लिए बाध्य करेगा। □

[संकलित सामग्रीके आधारपर पुनः लिखा गया लेख]



## परिशिष्ट

### □ ग्रन्थ विवरण

### □ कृतिकार विवरण

### □ समीक्षक विवरण

### [ भाषाओंका अकारादि क्रम ]

#### असमिया : सामाजिक अध्ययन

कृति : असमिया जातीय जीवनत महापुरुषीया परम्परा

पृष्ठ : ११३.

कृतिकार : डॉ. होरेन गोहांड

जन्म : १९३६; गोलाघाट, असम । शिक्षा : एम. ए. (अंग्रेजी, दिल्ली वि. वि.), पी-एच. डी. (विषय : मिल्टन, कैम्ब्रिज वि. वि.) । कार्यक्षेत्र : १९६२ में दिल्लीमें प्राध्यापक, १९८०से गुवाहाटी वि. वि. में अंग्रेजी विभागमें प्रोफेसर, भारत भवन (भोपाल) के न्यासियोंमें ।

साहित्यिक कृतित्व : (अ) मिल्टन और शेक्स-पियर अध्ययनमें योगदान; (आ) असममें विदेशी गतिविधियों (१९७६-८४) के संबंधमें लेखन; (इ) असमियामें १२ कृतियां, अधिकांश माक्स-वादी दृष्टिकोणसे सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास तथा साहित्य और राजनीतिपर लिखे निबन्धोंके संकलन; (ई) पत्र-पत्रिकाओंमें राज-नीतिक और साहित्यिक विषयोंपर प्रकाशित लेखन

तवीन और विशिष्ट व्याख्याओं और उद्भावनाओं के कारण साहित्य अकादमीसे उपर्युक्त कृतिके लिए पुरस्कृत ।

सम्पर्क : क्वा. सं. १०८, गुवाहाटी विश्वविश्व-विद्यालय परिसर, गुवाहाटी-७८१०१४.

समीक्षक : चित्र महन्त

जन्म : १९३६, वरदधि सत्र (हाजो) जिला काम-रूप, असम । शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी) । कार्यक्षेत्र : असम साहित्य सभाके कोषाध्यक्ष, असम राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद्के भूतपूर्व साहित्य सचिव तथा 'इस समय 'राष्ट्र सेवक' मासिक पत्रिकाके सम्पादक ।

मातृभाषा : असमिया ।

साहित्यिक कृतित्व : (अ) प्रकाशित कृतियां—असमिया साहित्य और साहित्यकार, अतीतके आंचल में, असमिया कविता, राष्ट्रभाषा : उद्भव-विकास-प्रचार और प्रसार, राष्ट्रभाषा प्रचार : एक झांकी । (आ) अनुवाद (हिन्दीसे असमियामें)—चित्रलेखा (भगवतीचरण वर्मा), मैला आंचल (फणीश्वरनाथ रेणु), त्यागपत्र (जैनेन्द्र) । कुल २२ ग्रन्थ प्रका-



सम्पर्क : रूपनगर, गुवाहाटी (असम)-७८१०२६.

## उड़िया : काव्य

कृति : नई आर पारि

प्रकाशक : ओडिशा लेखक समवाय समिति, भुव-  
नेश्वर । प्रकाशन वर्ष : १९८६ ।

कृतिकार : भानुजी राव

जन्म : १९२६; कटक (उड़ीसा) । आधुनिक  
उड़िया भाषा और साहित्यमें अपने योगदानके  
लिए विख्यात परिवारमें जन्म । कार्यक्षेत्र :  
उड़िया दैनिक 'मातृभूमि' में दो वर्ष तक और  
'कलिग' में नौ वर्ष तक उपसम्पादक (आ)  
बादमें लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक,  
अकादमी मसूरीमें बंगला और उड़ियाके अध्यापक ।  
साहित्यिक कृतित्व और रुचि : (अ) भारतीय  
शास्त्रीय संगीतसे अपना 'प्रथम परिणय' मानतेहैं  
(आ) चित्र-संग्रहमें गहरी रुचि (इ) गहन अध्य-  
यनशीलता । (ई) १९५५ में 'नूतन कविता'  
नामक प्रथम काव्य-संकलन प्रकाशित (उ) १९७३  
में 'विशद एक ऋतु' और १९८६में 'नई आर-  
पारि' प्रकाशित ।

साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत ।

सम्पर्क : काली गली, कटक-७५३००२.

समीक्षक : डॉ. तारिणीचरण दास 'सच्चिदानन्द'

मातृभाषा : उड़िया, अध्यापन भाषा : हिन्दी ।

सम्पर्क : सेवा निवृत्त हिन्दी प्रोफेसर, प्लाट नं०

७०३, शहीद नगर, भुवनेश्वर-७५१००७.

## कन्नड़ : निबन्ध संकलन

कृति : सम्प्रति

प्रकाशक : आई. बी. एच. प्रकाशन, ५ मेन रोड,  
गांधीनगर, बेंगलूर-५६०००६ । पृष्ठ : १२ + ४५२;

डिमा. ८८; मूल्य : १००.०० रु. ।

कृतिकार : डॉ. हा. मा. नायक

जन्म : ५ फरवरी १९३१; गाँव : हारोगछे, तालुका :

तीर्थहल्ली, जिला : शिवमोग्गा (कर्नाटक) ।

शिक्षा : मैसूर तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयमें,

इंडियाना विश्वविद्यालयसे वर्णनात्मक भाषा

विज्ञान और सांस्कृतिक मानवशास्त्रमें पी-एच.

डी. । कार्यक्षेत्र : १९५५में शासकीय महाविद्या-

लयमें प्रवक्ता, १९६८में मैसूर विश्वविद्यालयमें  
प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष (कन्नड़ तथा भाषा  
विज्ञान), कन्नड़ अध्ययन संस्थाके निदेशक  
(१९६९-१९८४), गुलबर्गा विश्वविद्यालयके कुल-  
पति (१९८४-८७), कर्नाटक साहित्य अकादमीके  
अध्यक्ष (१९७४-८४), कन्नड़ विश्वकोशके मुख्य  
सम्पादक (१९६९-८४) ।

साहित्यिक कृतित्व : कन्नड़ और अंग्रेजीकी सौसे  
अधिक पुस्तकोंके लेखक, सम्पादक, सहसम्पादक,  
अनुवादक । कर्नाटक राज्य पुरस्कार, कर्नाटक  
साहित्य अकादमी पुरस्कार, विद्यापतिकी पुन-  
र्रचनाके लिए वर्धमान पुरस्कार, सल्लापके लिए  
मैसूर विश्वविद्यालयका स्वर्ण जयन्ती पुरस्कार ।  
'सम्प्रति'के लिए साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत ।

सम्पर्क : 'गोधूलि', जयलक्ष्मीपुरम्, मैसूर-  
५७००१२.

समीक्षक : डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ

जन्म : ६ मार्च १९५०; धारवाड़ (कर्नाटक) ।

शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी., एम. ए. (रूसी भाषा  
एवं साहित्य) । कार्यक्षेत्र : गत १८ वर्षसे कर्नाटक  
वि. वि. में हिन्दी-अध्यापन; अध्यक्ष, हिन्दी  
विभाग । मातृभाषा : कन्नड़; अध्यापन भाषा :  
हिन्दी ।

साहित्यिक कृतित्व : कविता—टूटते पत्तों  
के बीच (१९७६), आलोचना—मोहन राकेश  
की कहानियाँ : नयी कहानीके संदर्भमें (१९८२)  
मोहन राकेशका साहित्य : समग्र मूल्यांकन  
(१९८९), प्रेमचन्द और गोर्की (प्रकाश्य) ।  
संस्कृति—कर्नाटक संस्कृति (१९७३) ।

सम्पादन—रेखाएं और चित्र, गद्य भारती, गद्य  
विविधा । पुरस्कार : 'कर्नाटक संस्कृत' शिक्षा  
मन्त्रालय केन्द्र सरकारसे पुरस्कृत, 'मोहन राकेश  
का साहित्य' लालबहादुर शास्त्री पुरस्कार  
(बेंगलूर) ।

सम्पर्क : 'नीलचन्द्र', फोर्ट, धारवाड़—५८०००८.

## कोंकणी काव्य

कृति : सोश्याचे कान

कृतिकार : चार्ल्स फ्रांसिस दिकोइता

जन्म : १९३१ । शिक्षा-दीक्षा मंगलौरमें । कार्य-  
क्षेत्र : साहित्यिक जीवनका आरम्भ मुम्बईकी

'प्रकर'—मार्गशीर्ष २०४७—६१



साप्ताहिक पत्रिका पॉइन्नरीमें रचनाओंके प्रकाशन के साथ १९५०में। बादमें आकाशवाणीके मुम्बई, पणजी और मंगलौर केन्द्रोंसे आपकी कविताएं प्रसारित। पॉइन्नरी, विशाल कोंकण, जागमोग और उदिवका सम्पादन। इस समय 'जीवित' मासिकके सम्पादक। १९८७में गोआमें आयोजित नवें अखिल भारतीय कोंकणी लेखक सम्मेलनके अध्यक्ष निर्वाचित।

**साहित्यिक कृतित्व :** पांच उपन्यास और विभिन्न पत्रिकाओंमें बड़ी संख्यामें प्रकाशित कहानियाँ। तेरह नाटक लिखे जिनमेंसे तीन प्रकाशित।

**सम्पर्क :** दूसरा पुल, जेपू, मंगलौर (कर्नाटक)-५७५००१।

**समीक्षक :** मोहनदास सो. सुर्लंकर

**सम्पर्क :** मन्त्री, गोमन्तक राष्ट्रभाषा विद्यापीठ, कोमुदिनाद बिल्डिंग, पो. बा. सं. ३२, मडगांव, गोवा-४०३६०१।

## गुजराती : उपन्यास

**कृति :** आंगळियात

**प्रकाशक :** भगतभाई भुरालाल शेठ, आर. आर. शेठकी कं., मुम्बई-४००००२; अहमदाबाद-३८०००१। पृष्ठ : ३७२; क्राउन ८८ (द्वितीय संस्करण); मूल्य : ४६.५० रु.।

**कृतिकार :** जोसेफ इग्नास मेकवान

**जन्म :** ६ अक्टूबर १९३६; त्रणोली (तालुका आणंद), गुजरात। शिक्षा : एम. ए., बी. एड. सीनियर एच. एस. एस. पी. टी. सी.। **कार्यक्षेत्र :** सेंट जेवियर्स हाईस्कूल, आणंद (गुजरात)में हिन्दी अध्यापक। **मातृभाषा :** गुजराती, अध्यापन-भाषा : हिन्दी।

**साहित्यिक कृतित्व :** प्रसंग चित्र—व्यथानां वीतक (१९८५), वहालना वलखां (१९८७), प्रीत प्रमाणी पगले पगले (१९८७)। उपन्यास—आंगळियात (१९८६), लक्ष्मणनी अग्नि परीक्षा (१९८६), मारी परणेतार (१९८६)। नव-लिका—साधनानी आराधना (१९८६)। बहुत-से लेख एवं सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनाओंके विवरण-विवरणिकाएं प्रकाशित।

**पुरस्कार :** साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत, आंगळियात, गुजरात राज्य और गुजराती साहित्य परिषद्, कुलपति के. एम. मुनशी जन्म शताब्दी समिति से सम्मानित।

**सम्पर्क :** चन्द्र निलय, जेवियर रोड, आणंद (गुजरात)-३८८००१।

**समीक्षक :** रजनीकांत जोशी

**जन्म :** १६ दिसम्बर १९३८; बड़नगर (गुजरात)। एम. ए. (प्राचीन भारतीय संस्कृति), एम. ए. (हिन्दी), पी-एच. डॉ. हिन्दी। **कार्यक्षेत्र :** गुजरात विद्यापीठमें हिन्दी विभागमें रीडर। **मातृभाषा :** गुजराती; अध्यापन भाषा : हिन्दी।

**साहित्यिक कृतित्व :** (गुजरातीमें) समीक्षाग्रन्थ विदित (१९८१), हिन्दी कवि धूमिल (१९८२) तमिल कवि सुब्रमण्य भारती (१९८५), अवलोकित (१९८६), एक आत्मनिवेदननी अभिव्यक्ति (१९८७), गांधी काव्य गंगाना हिन्दी कवि भवानीप्रसाद मिश्र (१९८७)। निबन्ध अवलोकन (१९८३), चरित्र—वत्सल मा कस्तूरबा (१९८३)। अनुवाद—धूमिल कृत 'पटकथा' (काव्यानुवाद-१९८४), कबीरकी झीनी चदरिया (१९८८), राजकुमार (नाट्यानुवाद—१९९०)। सम्पादन (हिन्दीमें) हिन्दी भाषा और साहित्यके विकासमें गुजरात का योगदान (१९८५), संस्कृति सेतु गुजराती कवि उमाशंकर जोशी (१९९०) (गुजरातीमें)—विजु गणात्रा—फूल मरें पै मरें न बासू (१९८७), प्रभा किरण (१९८७)। नाटक (हिन्दीमें)—पांचाली १९८६। दीर्घ गद्य-काव्य रचना (गुजरातीमें)—लाल कवूतर कथाचरित (१९९०)। शोध कार्य (हिन्दीमें)—हिन्दी-गुजराती समानस्रोतीय शब्दावली (१९८५)। **सम्पर्क :** सी-५, ओजस एपार्टमेंट, नेहव नगर, चार रास्ता, आंबावाडी, सु. मं. मार्ग, अहमदाबाद-३८००१५।

## डोगरी : काव्य

**कृति :** सोध समुन्दरें दी

**प्रकाशक :** तृप्ता प्रकाशन, ६१ गली खिलौनयां, जम्मू। पृष्ठ : १००; डिमा.; मूल्य : ५०.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar



**कृतिकार :** मोहनलाल सपोलिया

**जन्म :** १९३१; दियानी (तहसील-सम्बा) जम्मू प्रदेश। शिक्षा-दीक्षा सम्बामें। **कार्यक्षेत्र :** उर्दू दैनिक 'शंखधनु' के सम्पादक।

**साहित्यिक कृतित्व :** कविताको सामाजिक परिवर्तनकी सर्जनात्मक शक्ति मानकर १९५२-५३में साहित्यिक जीवनका शुभारम्भ। प्रारम्भिक कविताएं पैम्फलेट रूपमें प्रकाशित और उनका नुक्कड़ पाठ। प्रथम कृति 'सजरे फुल्ल' फिर 'राष्ट्रीय बखान' और 'रंग रूखें दी'।

**पुरस्कार :** प्रथम कृति जम्मू कश्मीर कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा पुरस्कृत, 'सोध समुन्दरें दी' साहित्य अकादमी द्वारा।

**सम्पर्क :** ६१ गली खिलौनयां, जम्मू; १९०००१.

**समीक्षक :** डॉ. ओम्प्रकाश गुप्त

**शिक्षा :** एम. ए., पी-एच. डी.। **कार्यक्षेत्र :** अध्यापन; उपाचार्य स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

**साहित्यिक कृतित्व :** बीससे अधिक कृतियां प्रमुख : हिन्दी डोगरी 'पर' प्रत्यय (भाषाशोध), थिरके पत्ता पीपलका (लोकगीत), कविता जो साक्षी है (आलोचना), सेतुओंकी खोज (कविता-संकलन), सुनो मार्कण्डेय (लम्बी कविताएं)।

**सम्पर्क :** ६४८, राजपुरा, शक्तिनगर, जम्मू (कश्मीर)।

## तमिल : संस्मरण

**कृति :** चिन्ता नदी

**प्रकाशक :** ऐन्दिणै पदिप्पकम्, २७९ भारती शाले, तिरुवल्लिकेणी, मद्रास-६००००५। पृष्ठ : २६०, डिमा. (दूसरा संस्करण) फरवरी ६०; मूल्य : २५.००।

**कृतिकार :** ला. स. रामामृतम्

**जन्म :** १९१६, लालगुडी (जि. तिरुचि), तमिलनाडु। शिक्षा—एस. एस. एल. सी. परीक्षा उत्तीर्ण। **कार्यक्षेत्र :** कुछ वर्ष प्रशासकीय सेवाके बाद १९४४ से बैंक-सेवा १९७६में पंजाब नेशनल बैंकके मैनेजर पदसे सेवा निवृत्त।

**साहित्यिक कृतित्व :** साहित्यिक जीवनका प्रारम्भ १९३६में अंग्रेजीमें कहानी लिखकर किया। बादमें

तमिलमें लिखने लगे। १९४६में 'लोक मान्यता, और मणिकोडि लेखक-समूहके रूपमें स्वीकार किये गये। १९४८में प्रकाशित आपकी कहानी 'जननी' अपनी कल्पनाशक्ति और प्रस्तुतिके शिल्प के कारण कहानी-विधाके विकासकी महत्वपूर्ण कड़ी मानी गयी। आपके १५ कहानी-संग्रह, ५ उपन्यास, एक जीवनी प्रकाशित। इसके अतिरिक्त 'पार्कडल' नामसे आत्मकथा और संस्मरण कृति 'चिन्ता नदी' प्रकाशित, अबभी लेखन कार्यमें सक्रिय।

**सम्पर्क :** प्लॉट २४२, कृष्णन् स्ट्रीट, ज्ञानमूर्तिनगर अम्बत्तूर, मद्रास-६०००५३।

**समीक्षक :** डॉ. एम. शेषन्

**जन्म :** मदुरै (तमिलनाडु)। शिक्षा: आगरा एवं वाराणसीमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें एम. ए., तथा मद्रास विश्वविद्यालयसे पी-एच. डी.।

**कार्यक्षेत्र :** लगभग ३५ वर्षसे प्राध्यापक-शिक्षक का कार्य—द्वारकादास गोवर्द्धनदास वैष्णव कॉलेज, मद्रासमें हिंदी विभागाध्यक्ष। **मातृभाषा :** तमिल।

**साहित्यिक कृतित्व :** १९५६से हिन्दी क्षेत्रमें सेवारत। तमिलके शैव सन्त (पुरस्कृत), तमिल साहित्य : एक झाँकी, कल्कि एवं वृन्दावनलाल वर्मा (शोध प्रबन्ध), सुब्रह्मण्य भारती : आलोचनात्मक अध्ययन, तमिल साहित्यका इतिहास (प्रकाश्य), भारतीय राष्ट्रीय संग्राम एवं तमिल कथा साहित्य (प्रकाश्य)। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में तमिल एवं हिन्दीके तुलनात्मक लेख।

**सम्पर्क :** 'गुरुकृपा', ११ डॉ. ए. रामस्वामी मुदलियार रोड, के. के. नगर (पश्चिम), मद्रास-६०००७८।

## तेलुगु : निबन्ध

**कृति :** मणिप्रवालमु

**प्रकाशक :** राष्ट्रीय आचार्य एस. वी. जोगाराव, तेलुगु विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय, विशाखा-पट्टणम् (आं. प्र.)। पृष्ठ : २०४; डिमा. ८८; मूल्य : २५.०० रु.।

**कृतिकार :** डॉ. एस. वी. जोगाराव

**जन्म :** २ अक्तूबर १९२८ : पार्वतीपुरम्

'प्रकर'—मार्गशीर्ष २०४७—६३



(जिला विजयनगरम्)—आंध्रप्रदेश । शिक्षा : एम. ए. (तेलुगु—आंध्र वि. वि.) १९५२में पी-एच. डी. । आंध्र और आरिजोना वि. वि.से मानद डी. लिट् उपाधियाँ । महाकवि, मधुर सरस्वती, साहिती रत्नाकर, शृंगार सर्वज्ञ, अभिनव कृष्ण-राय, परिशोधक परमेश्वर आदि उपाधियोंसे विभूषित । कार्यक्षेत्र : १९५६ से १९८८ तक देश-विदेशमें तेलुगु-अध्यापन । विभागाध्यक्ष, शोध निर्देशक, तथा विभिन्न विश्वविद्यालयोंकी विद्या-परिषदोंके सदस्य ।

साहित्यिक कृतित्व : कविता, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, गीतिनाट्य, कहानी-उपन्यास, समीक्षा, व्याकरण, अनुवादसे सम्बद्ध सत्ताइस ग्रन्थ प्रकाशित तेलुगु एवं अंग्रेजीमें ग्रन्थ रचना । सम्पादित ग्रन्थोंकी संख्या ५; १९८६ में पी-एच. डी. शोध प्रबन्ध प्रकाशित । आंध्र-यक्षगान-वाङ्मयका इतिहास १९५७ में प्रकाशित ।

सम्मान—यक्षगान संबंधी इतिहासपर स्वर्णपदकसे सम्मानित तथा आंध्रप्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा सम्मानित । मद्रास तेलुगु अकादमी तथा आंध्र-प्रदेश प्रशासन द्वारा सम्मानित । 'मणिप्रवालमु' पर साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत ।

सम्पर्क : ८८/२ सागर नगर, मुव्वलवानिपालम कालोनी सेक्टर-२, विशाखापट्टणम् (आं. प्र.)—५३००१७.

समीक्षक : डॉ. टी. राजेश्वरानन्द शर्मा

जन्म : १९४१; गुडिवाडा (आंध्रप्रदेश) । शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (तेलुगु), इलाहाबाद विश्वविद्यालयसे 'हिन्दी एवं तेलुगुमें महाकाव्य-स्वरूप विकास' पर डी. फिल. । कार्यक्षेत्र : इलाहाबाद विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागमें ११ वर्ष तेलुगु तथा हिन्दीका अध्यापन । १९८२से श्री गेंकटेश्वर वि. वि. तिरुपतिके हिन्दी विभागमें, सम्प्रति रीडर ।

साहित्यिक कृतित्व : १. पंचदशी (साहित्यिक निबन्ध)—हिन्दी एवं तेलुगुके गणमान्य साहित्य-कारों एवं कृतियोंपर निबन्ध । २. हिन्दी और तेलुगुमें महाकाव्यका स्वरूप विकास (शो. प्र.) । ३. तेलुगु एवं हिन्दीके कवियों, विशिष्ट कृतियों, विधाओं और साहित्य-धाराओंपर तेलुगु एवं हिन्दी पत्रिकाओंमें लेख । ४. हिन्दी और तेलुगुका तुलनात्मक अध्ययन एवं भारतीय साहित्यकी मूलभूत

एकताके अन्वेषणकी दिशामें कार्यरत ।  
सम्पर्क : ६-२-८७ मेटर्निटी हास्पिटल रोड, बाल-मन्दिरके सामने, तिरुपति (आं. प्र.)—५१७५०७.

## नेपाली खण्ड-काव्य

कृति : कर्ण कुन्ती

प्रकाशक : डॉ. तु. व. छेत्री, धीरधाम, दार्जिलिङ (प. बंगाल) । पृष्ठ : १२२; काउन्, १९८८; मूल्य : २५.०० रु. ।

कृतिकार : तुलसी 'अपतन' (डॉ. तुलसी बहादुर क्षेत्री)  
जन्म : १ फरवरी १९२० (वि. सं. १९७६); डिब्रूगढ़ (असम) । शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा बंगला माध्यमसे, त्रिभुवन वि. वि. काठमाण्डौ (नेपाल)से एम. ए. और पी-एच. डी. । कार्यक्षेत्र : सिविकममें नाम्ची और गान्तोक विद्यालय में अध्यापन कार्य; पाँच वर्ष पूर्व उत्तर बंगाल वि. वि. के नेपाली विभागमें रीडर तथा अध्यापक पदसे सेवा निवृत्त । गान्तोकमें स्थापित 'अपतन साहित्य परिषद्' के संस्थापक सदस्य; दस वर्षसे अधिक समयतक नेपाली साहित्य सम्मेलन, दार्जिलिङके अध्यक्ष ।

साहित्यिक कृतित्व : साहित्यिक जीवनका आरम्भ 'अपतन साहित्य परिषद्'के सदस्य कवियोंकी रचनाओंके संकलन 'इन्द्रकील पुष्पांजलि' (१९५०)के प्रकाशनसे । काव्य संकलन : संकल्प (१९५६) के होला (१९५९), न हेर मलाई (१९७६) । खण्ड काव्य : बापू वन्दना (१९५१), कर्णकुन्ती (१९८८) । नाटक : कमल (१९५३), विजय (१९५५), जमाना बदलियो (१९५७) । लेख, निबन्ध और आलोचनाके क्षेत्रमें गतिशील । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओंका नेपाली पद्यानुवाद । साहित्यिक उपलब्धियोंके मूलमें रूप-शैलीपर आपकी पकड़, आधार सामाजिक संलग्नता ।

सम्पर्क : मैरिगोल्ड विला, धीरधाम, दार्जिलिङ (प. बंगाल)—७३४१०१.

समीक्षक : चन्द्रेश्वर दुबे

जन्म : १९३९, डोली (सकरा) जि. मुजफ्फरपुर (बिहार) । शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी. । कार्यक्षेत्र : अध्यक्ष हिन्दी विभाग, डो. एम.



कालिज, इम्फाल (मणिपुर) ।

साहित्यिक कृतित्व : नेपाली भाषामें विभिन्न विद्याओंकी वारह और हिन्दीमें एक कृति प्रकाशित ।

सम्पर्क : प्रोफेसर्स क्वार्टर नं. ७, डी. एम. कालेज कालोनी, इम्फाल (मणिपुर)-७६५००१.

### पंजाबी : काव्य

कृति : कहकशां

कृतिकार : तारासिंह कामिल

जन्म : १९२८; हुकरण (जि. होशियारपुर-पंजाब)

कार्यक्षेत्र : पत्रकारिता ।

साहित्यिक कृतित्व : साहित्यिक जीवनका आरम्भ कविके रूपमें । प्रारम्भमें हास्य-विनोदपूर्ण कवि दरबारी लोकप्रिय गद्य रचनाएं, बादमें गम्भीर काव्य । छैः काव्य-संकलन प्रकाशित । अनुवाद : हिन्दी तथा उर्दूसे पंजाबीमें, तथा पंजाबी और उर्दूमें अठारह पुस्तकोंके अनुवाद । एक गद्य पुस्तक कविताएं सहज, उनमें अभिव्यक्ति क्षमता, लालित्य और प्रवाह ।

सम्पर्क : बी-२०, ओल्ड गोविन्दपुरा, परवाना रोड, दिल्ली-६२ ।

समीक्षक : डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी एवं पंजाबी), पी-एच. डी. डी. लिट्. कार्यक्षेत्र : रीडर हिन्दी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर—१४३००५ ।  
सम्पर्क : १२५, कबीर पार्क, डा. घ. खालसा कॉलेज, अमृतसर (पंजाब) ।

### पंजाबी : नाटक

कृति : वड्डा घलूधारा

कृतिकार : सन्तसिंह सेखों

जन्म : १९०८; जिला लायलपुर (पाकिस्तान) । उच्च शिक्षा । कार्यक्षेत्र : पंजाबके विभिन्न महा-विद्यालयोंमें अंग्रेजीके प्राध्यापक तथा प्राचार्य । वर्तमान आयु : ८२ वर्ष ।

साहित्यिक कृतित्व : १९४१से नाट्य कृतियोंका लेखन आरम्भ । अवतक चार एकांकी नाटक-संग्रह, ११ पूर्णांक नाटक, ५ कहानी संग्रह, दो उपन्यास, चार आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित । अनुवाद : शेक्सपीयर, सोफोकल्स और टॉलस्टायके

पांच प्रसिद्ध नाटकोंका पंजाबीमें तथा तीन पंजाबी नाटकोंका अंग्रेजीमें अनुवाद । पंजाबी साहित्य में वे वस्तुनिष्ठ आलोचनाके जनक माने जाते हैं ।

‘वड्डा घलूधारा’ भारतीय भाषा परिषद्के कायां ट्रस्ट पुरस्कारसे सम्मानित ।

समीक्षक : डॉ. शमीर सिंह

शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी. । कार्यक्षेत्र : हिन्दी, अध्ययन-अध्यापन । सम्प्रति हिन्दी विभाग खालसा कालेज अमृतसरमें प्राध्यापक । सम्पर्क : आवादी मोहिनी पार्क, अमृतसर (पंजाब)-१४३००२.

### मणिपुरी : कहानी

कृति : तत्खवा पुन्सि लैपुल

कृतिकार : सिजुगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री

जन्म : २८ अक्तूबर १९२७; ब्रह्मपुर भगवती लैकाड, इम्फाल । शिक्षा : व्याकरण शास्त्री (संस्कृत), राष्ट्रभाषा रत्न (हिन्दी) और एडमीशन (अंग्रेजी) । कार्यक्षेत्र : हिन्दी अध्यापन, इस क्षेत्रकी सेवाओंके लिए राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कारसे सम्मानित । सम्प्रति सेवा-निवृत्त, साहित्य व समाजसेवामें व्यस्त । संस्कृतके उन्नयनके लिए भी उल्लेखनीय कार्य ।

साहित्यिक कृतित्व : काव्य-संकलन—अहिङलिकला (१९५१), खोङ् जोम तीर्थ (१९६०), इथक-इपोम (१९७२); कहानी-संग्रह—वासन्ती चरोङ् (१९६७), तत्खवा लैपुल (१९८६) । ‘मीतैचनु’ में हिन्दी और ‘आधुनिक मणिपुरी कविताएं’ प्रकाशित । सम्मान : ‘इथक-इपोम’ मणिपुरी साहित्य परिषद्से और ‘तत्खवा पुन्सि लैपुल’ साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत ।

सम्पर्क : ब्रह्मपुर भगवती लैकाई, इम्फाल ७६५००१.

समीक्षक (१) : डॉ. इबोहलसिंह काङ्जम

जन्म : १९४६; नाओरेमथोङ्, इम्फाल । शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी. । कार्यक्षेत्र : मणिपुर वि. वि. हिन्दी विभागमें सहायक आचार्य ।

साहित्यिक कृतित्व : मणिपुरीमें ‘करिगी’ कहानी संग्रह, दर्जनों एकांकियोंकी रचना, एक काव्य-संकलनका सम्पादन । हिन्दीमें तुलनात्मक भाषा विज्ञानपर शोध प्रबन्ध सम्पादन : ‘मणिपुर : विविध संदर्भ’, ‘मणि-



पुर : भाषा और संस्कृति'। अनुवाद : 'मीतैचनु' व 'आधुनिक मणिपुरी कविताएं' का अनुवाद। मणिपुर हिन्दी परिषद् के साहित्य सचिव और संस्था की पत्रिका के सम्पादक-मण्डल के सदस्य। मणिपुर में हिन्दीतरभाषी हिन्दी-कवि-सम्मेलन परम्परा के प्रारम्भकर्ताओं में से एक। हिन्दी प्रचार आन्दोलन के समर्थ कार्यकर्ता।

सम्पर्क : हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, इम्फाल-७६५००३।

**समीक्षक (२) : देवराज**

जन्म : १९५५; नजीबाबाद (बिजनौर) उ. प्र.। कार्यक्षेत्र : मणिपुर वि. वि. के हिन्दी विभाग में उपाचार्य।

साहित्यिक कृतित्व—मूलतः कवि। 'तेवरी', 'पद-चिह्न बोलते हैं', 'विशुद्ध वर्तमान', 'मचान', 'कबीर जिन्दा हैं', 'बात युद्ध की'—प्रकाशित काव्य-संकलन। 'मणिपुर : विविध संदर्भ' और मणिपुर : भाषा और संस्कृति' के प्रधान सम्पादक। 'संगोष्ठी', 'उलझे शब्द', 'मीतैचनु' और 'आधुनिक मणिपुरी कविताएं' के सम्पादक। 'नयी कविता' और 'तेवरी चर्चा, समीक्षा पुस्तकें प्रकाशित।

सम्पर्क : हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, इम्फाल (मणिपुर)—७६५००३।

**मराठी : आत्मनिवेदन**

**कृति : हरवलेले दिवस**

प्रकाशक : मौज प्रकाशन गृह, खटाव वाडी, गिरगांव, मुम्बई-४००००४। पृष्ठ ३८०; प्रका. वर्ष १९८८; मूल्य : १००.०० रु.।

**कृतिकार : प्रभाकर वामन ऊर्ध्वरेषे (स्व.)**

जन्म : १९१८, निधन : १९८९; इन्दौर में पालन-पोषण। शिक्षा : एम. ए.। कार्यक्षेत्र : १९४४-१९५१ तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता। बाद में पार्टी छोड़कर नागपुर विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान तथा विदेशी भाषाओं के विभागाध्यक्ष, १९७९ में सेवा निवृत्त।

साहित्यिक कृतित्व : साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ मराठी की सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं में सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर लेख तथा कहानियां। राजनीतिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक विषयों पर दो

सौ से अधिक लेख। कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रमों के रूप में 'मशाल' तथा 'लोकयुद्ध' पत्रों का सम्पादन। कुछ रूसी गौरव ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद। गोर्की के उपन्यास 'मां' के मराठी अनुवाद के लिए 'सोवियतभूमि नेहरू पुरस्कार' से सम्मानित। अब मरणोपरान्त 'हरवलेले दिवस' के लिए साहित्य अकादमी से पुरस्कृत।

सम्पर्क : श्रीमती उषा प्रभाकर ऊर्ध्वरेषे, ५२ एक्स सर्विसमैन्स कालोनी, पुणे—४११०३८.

**समीक्षक : डॉ. गजानन चव्हाण**

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), पी.एच.डी. (शोध विषय : रामवृक्ष बेनीपुरी और उनका साहित्य)। कार्यक्षेत्र : विभिन्न महाविद्यालयों में हिन्दी विभाग में प्रवक्ता, सम्प्रति पुणे विश्वविद्यालय में। मातृ-भाषा : मराठी, अध्यापन : हिन्दी।

सम्पर्क : बी-१, प्राध्यापक निवास, पुणे विद्यापीठ, गणेशविड, पुणे—४११००७.

**मलयालम : काव्य**

**कृति : निषलान**

**कृतिकार : ओलप्पमण्ण सुब्रह्मण्यन् नम्पूतिरिप्पाड**

जन्म : १९२३; ओलप्पमण्ण मना, वेल्लिलेपि गांव (जि. पालघाट) केरल। कलाप्रेमी, स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय सहयोग। कार्यक्षेत्र—कृषि और रबर उत्पादन।

साहित्यिक कृतित्व : माध्यमिक कक्षाओं में ही साहित्यिक जीवन आरम्भ। उन्नीस काव्य कृतियां प्रकाशित। सम्मान : केरल साहित्य अकादमी से १९६६ में पुरस्कृत, १९८९ में 'निषलान' के लिए साहित्य अकादमी से पुरस्कृत। सांस्कृतिक जीवन : केरल कलामण्डलम् के अध्यक्ष, तथा साहित्य प्रवर्तक कोऑपरेटिव सोसायटी के उपाध्यक्ष रह चुके। केरल संगीत नाटक, साहित्य अकादमियों और भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषदों के कार्यों में योगदान।

सम्पर्क : 'हरिश्चा', जैनमेडु, पालघाट (केरल)—६७८०१२.

**समीक्षक : डॉ. एन. ई. विश्वनाथ ग्रय्यर**

प्रमुख मलयाली भाषी हिन्दी लेखक। केरल वि. वि. और कोच्चिन वि. वि. में हिन्दी विभाग के पूर्व



अध्यक्ष। हिन्दी पाठकोंके लिए मलयालम-भाषा और साहित्यका परिचय प्रदान करनेमें महत्त्वपूर्ण योगदान। तुलनात्मक अध्ययन, अनुवादमें विशेष रुचि। मौलिक लेखनमें ललित निबन्ध विशेष प्रिय विधा। कृतियां : शहर सो रहा है, उठता चांद डूबता सूरज, आधुनिक हिन्दी काव्य तथा मलयालम काव्य, राष्ट्र भारतीको केरलका योगदान। सम्पर्क : २६/२०३५ कालेज लेन, तिरुवनन्तपुरम्—६६५००१।

### मैथिली : महाकाव्य

कृति : पराशर

कृतिकार : काञ्चीनाथ झा 'किरण' (स्व.)

जन्म : १९०६, निधन—१९८८; धर्मपुर (उजान) जिला दरभंगा। शिक्षा : एम. ए. (मैथिली साहित्य), पी-एच. डी.। कार्यक्षेत्र : अध्यापन।

साहित्यिक कृतित्व : कविता, आलोचना, निबन्ध और कहानी विधाओंमें लेखन। काव्य : किरण कवितावली, कतेक दिनक बाद, पराशर; गद्य कृतियां : चन्द्रग्रहण (उपन्यास), जय जन्मभूमि (एकांकी), विजेता (नाटक) कथा किरण (कहानी)। दो मैथिली पत्रिकाओं—'मैथिली सुधाकर' और 'सत्यसंदेश' का सम्पादन। मैथिली साहित्य परिषद्के छः वर्ष तक महासचिव। सम्मान : कहानी-संकलनके लिए वैदेही पुरस्कारसे सम्मानित, 'पराशर' महाकाव्यके लिए साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत।

सम्पर्क : श्रीमती काञ्चीनाथ झा 'किरण', धर्मपुर उजान, डा. घ. लोहाना रोड (जि. दरभंगा)—बिहार।

समीक्षक : डॉ. विपिनबिहारी ठाकुर

जन्म : १९३६; रोसड़ा (समस्तीपुर) बिहार।

शिक्षा : स्नातकोत्तर उपाधि पी-एच. डी., विक्रम-शिला हिन्दी विद्यापीठ (भागलपुर) से विद्या-सागर (डी. लिट्) की मानद उपाधि। कार्यक्षेत्र : ललितनारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा की सेवाके अन्तर्गत यूनिवर्सिटी प्रोफेसर और शोध-निर्देशक तथा उदयनाचार्य रोसड़ा कालेज, रोसड़ा में हिन्दी विभागाध्यक्ष।

साहित्यिक कृतित्व : समीक्षा और कहानी विधाओं

में दो सौ से अधिक रचनाएं प्रकाशित। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओंमें तथा 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व और साहित्य', 'युग कवि निराला', 'तुलसी मानस सन्दर्भ', 'राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह अभिनन्दन ग्रन्थ', 'कृष्ण मोहन प्यारे अभिनन्दन ग्रन्थ', 'आरसी प्रसादसिंह अभिनन्दन ग्रन्थ', 'रेणु : सृष्टि और दृष्टि' आदि ग्रंथोंमें आलोचनात्मक रचनाएं प्रकाशित। 'हिन्दी साहित्य : एक मूल्यांकन', 'चेतना' और 'उदयन' का सम्पादन।

सम्पर्क : अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उदयनाचार्य रोसड़ा कालेज, रोसड़ा [समस्तीपुर] बिहार—८४८२१०।

### राजस्थानी : काव्य

कृति : गांगेय

कृतिकार : सत्यप्रकाश जोशी (स्व.)

जन्म : १९२६; निधन : १९६०; जोधपुर (राजस्थान)। शिक्षा : एम. ए.। कार्यक्षेत्र : अध्यापन एवं कालेज और स्कूलोंकी स्थापना। मुम्बई विश्वविद्यालय सीनेटके वर्षों तक सदस्य। सामाजिक संस्थाओंसे जुड़कर राजस्थानीका प्रचार।

साहित्यिक कृतित्व : १५ कृतियां प्रकाशित। 'बोल भारमली' काव्य साहित्य अकादमीसे पुरस्कृत, 'गांगेय' भारतीय भाषा परिषद्के रामेश्वर टांटिया पुरस्कारसे सम्मानित। दस वर्ष तक राजस्थानी मासिक पत्र 'हरावल' का सम्पादन-प्रकाशन।

समीक्षक : डॉ. नागरमल सहल

शिक्षा : एम. ए. (अंग्रेजी), पी-एच. डी. (विषय : आयरलैंडके यथार्थवादी नाटकोंके साठ वर्ष—अंग्रेजीमें)। कार्यक्षेत्र—जोधपुर वि. वि. से अंग्रेजी विभागाध्यक्ष पदसे सेवा निवृत्त।

साहित्यिक कृतित्व : कविता लेखन, पत्र-पत्रिकाओं में लेख समीक्षाएं। प्रकाशित कृति 'आयरलैंडके यथार्थवादी नाटकोंके साठ वर्ष' (अंग्रेजीमें)। राजस्थानी काव्य : 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' (१९६०)। बीसियों जैन पुस्तकोंका अंग्रेजी अनुवाद। 'मरुभूमि का वह मेघ', 'रस सिद्धान्तकी शास्त्रीय समीक्षा', का अंग्रेजी अनुवाद, 'अरस्तूका काव्यशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद।



## आपके पुस्तकालय के लिए आवश्यक पुस्तकें

### उपन्यास : कथा साहित्य

कमलेश्वर द्वारा सम्पादित भारतीय शिखर कथा कोश  
तीस खण्डों में प्रकाश्य

मराठी कहानियां I	सं. कमलेश्वर	१००.००
मराठी कहानियां II	"	१००.००
तेलुगु कहानियां	"	१००.००
पंजाबी कहानियां	"	१००.००
उर्दू कहानियां	"	प्रेस में

### अन्य खण्ड भी शीघ्र छपेंगे !

धूँध में गौरी जले	देवेन्द्र सत्यार्थी	६०.००
विदेशिया	डॉ. गौरीशंकर राजहंस	२५.००
दग्ध गुलाब (वैज्ञानिक)	डॉ. नृसिंहचरण पण्डा	३०.००
पायालू	पं. आनन्द कुमार	४०.००
दो सूतरी पोलिटिक	" "	२५.००
सिर्फ साईन बोर्ड	" "	४५.००
मास्टर सिलबिल (हास्य)	चिरंजीत	३०.००
सिलबिल नामा	" "	३०.००
महाश्वेता	" "	४५.००
सूली पर सूर्यास्त	ब्रजेश्वर मदान	४०.००
बाबजूद	" "	२५.००
लैटर बक्स	" "	२५.००
आक्रमण व अन्य कहानियां	राजकुमार गौतम	३०.००
आवागमन	बलराम	४०.००
सिर कटी नदी	मोहरसिंह यादव	३५.००
अपरा पुत्री	पुष्पा शोभा	३०.००
नवकै कई की पीडा	"	३०.००
कलंकिनी	"	३०.००
सफर	शरण	४०.००
पथ के दावेदार	शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय	६०.००
शेष प्रश्न	" "	४५.००
गृहदाह	" "	४५.००
अन्तिम परिचय	" "	६०.००

### समीक्षा

व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न	डॉ. शेरजंग गर्ग	६५.००
कालिदास और समकालीन	राजशेखर व्यास	४५.००

हिन्दी की भूमिकाएं  
लहरों के राजहंस: विविध आयाम

डॉ. गोपाल शर्मा ५०.००  
डॉ. जयदेव तनेजा ४०.००

कमलेश्वर : कहानी का संदर्भ  
डॉ. पुष्पपाल सिंह ६०.००

राष्ट्रीय नाटककार चिरंजीत  
आ. क्षेमचन्द्र 'सुमन' ५०.००

### विविध

भारतमें क्रान्तिकारी आंदोलन  
तथा सयाजी राव गायकवाड वंशीधर ५०.००

सिनेमा नया सिनेमा  
ब्रजेश्वर मदान ७०.००

सृष्टि विज्ञान और विकासवाद  
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ४०.००

प्राचीन भारत में रसायन का विकास  
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ३६५.००

प्राचीन भारतके वैज्ञानिक कर्णधार  
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ३२५.००

वैदिक धर्म  
स्वामी वेदानन्द सरस्वती २५.००

सहेलियों की वार्ता (अध्यात्म)  
सुरेशचन्द्र २०.००

जीवन वसंत (चरित्र निर्माण)  
रमेश गुप्त ४०.००

विदुर नीति  
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ६०.००

आत्म विकास की राहें  
नित्यानन्द पटेल ५०.००

किशोरियों का मानसिक विकास  
आशारानी व्होरा ३०.००

शतपथ ब्राह्मण (चार खण्ड)  
पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय २५००.००

जन्म कुण्डली कोश  
पं. सूर्यनारायण व्यास ६०.००

### सचित्र

बाल ज्ञान-विज्ञान एनसाइक्लोपीडिया

बारह खण्डों में प्रकाश्य

सम्पादक : राजेन्द्र कुमार 'राजीव'  
७५.००

१. पक्षी जगत् ७५.००

२. जल थल जीव ७५.००

३. कीट पतंगे ७५.००

४. खोज और खोजकर्ता ७५.००

५. संचार—परिवहन

अन्य खण्ड प्रकाश्य

अपने पुस्तक विक्रेता से खरीदें या हमसे सीधे मंगवायें !

### पुस्तकायन

२/४२४० ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-११०००२



## हमारे प्रकाशन

### संस्मरण, यात्रा संस्मरण

सफरनामा पाकिस्तान	देवेन्द्र सत्यार्थी ५०.००
इतिहास बनती यात्राएं	डॉ. श्यामसिंह शशि ४०.००
जाने अनजान	आ. क्षेमचन्द्र 'सुमन' ६०.००
चमकते जीवन महकते संस्मरण	" " ६०.००
सिर पर कफन बांधकर	मन्मथनाथ गुप्त ६५.००
घाट-घाट का पानी	कन्हैयालाल नन्दन ६०.००
इन्कलाब	राजशेखर व्यास ४०.००
कन्धों पर इन्द्रधनुष	सत्येन्द्र श्रीवास्तव ४०.००

### हास्य-व्यंग्य

स्विस बैंक में खाता हमारा	मुज्जवा हुसैन ४०.००
जापान चलो जापान चलो	" " ३०.००
किस्सा आराम कुर्सी का	" " ३०.००
मेरा मुख्य अतिथि हो जाना	लतीफ घोंघी ३०.००
ईमानदारी की गोलियां	" " ३५.००
बूथ बहादुर की जय	डॉ. गौरीशंकर राजहंस ३०.००
पाकीजा तेरी पालकी	मुशील कालरा २५.००
हंसी-हाजिर हो	" " ५०.००
मेरी मकान मालकिने	डॉ. मनोहरलाल ४०.००
मैकाले का भूत	कमल गुप्त ३५.००
तहलका	कुसुम गुप्ता ४०.००
भूतपूर्व होने की त्रासदी	रमेश गुप्ता ४०.००
बीरबल ही बीरबल	डॉ. शेरजंग गर्ग ३०.००
तेनालीराम	रत्नप्रकाश शील ४०.००

### कविता : गजलें । गीत : मुक्तक

मुघरित संकेदन	वीरेन्द्र मिश्र ३०.००
मधु की रात और जिन्दगी	चिरंजीत ३५.००
सीमा में असीम	गुणानन्द थपलियाल ३५.००
गाती आग के साथ	विजयकिशोर मानव ३५.००
रेत पर नाम	डॉ. आनन्द अस्थाना ३०.००
लहर-लहर गिनते हुए	आशाराणी व्होरा ३०.००
मुक्ति दिवस मुस्काया	चिरंजीत ३०.००

### गीत : गजलें : कविता : मुक्तक

गजलें रंगारंग	सं. शेरजंग गर्ग ४५.००
गजलें ही गजलें	" " ४०.००
मुक्तक और रुवाईयाँ	" " ४०.००
नया जमाना नई गजलें	" " ४०.००
शायरी ही शायरी	सं. सुनील शर्मा ४०.००

### नाटक : एकांकी

राजा हिरमा की अमर कहानी	हबीब तनवीर २५.००
चरनदास चोर	" " २०.००
आगरा बाजार	" " प्रेस में
समग्र नाटक	नरेन्द्र कोहली १००.००
तस्वीर उसकी	चिरंजीत २०.००
घेराव (किस्सा शान्ति का)	" ३०.००
हास्यमंच हम-तुम	" २०.००
हास्यमंच घर-दफ्तर	" २५.००
हास्य-मंच देश विदेश	" २५.००
पाँच प्रहसन	" ३०.००
मन्दिर की जोत	" १८.००
दादी माँ जागी	" २५.००
रतजगा	" २०.००
सात युवमंच नाटक	" ३०.००
जागे रेवा गाये रूप	वीरेन्द्र मिश्र ३०.००
बाजे अनहद नाद	" ३५.००
एकता की ज्योतिर्धारा	" ३०.००
कृष्ण का विद्रोह	डॉ. गोपाल शर्मा २०.००
त्रेता	डॉ. चन्द्रप्रकाश वर्मा २५.००
आदमी है नहीं है	डॉ. सिद्धनाथ कुमार २५.००
रावण	देवराज दिनेश २५.००
आस्थाएं अपनी-अपनी	सं. सत्येन्द्र शर्मा ३०.००
थीफ पुलिस	" " ३०.००
कमलाकान्त की गवाही	" " ३०.००
डाकू	मुद्राराक्षस २०.००
शेक्सपियर के नाटक (तीन भाग)	गंगाप्रसाद उपाध्याय १५०.००

## पुस्तकायन

२/४२४० ए अंसारी रोड, नई दिल्ली-११०००२

'प्रकर'—मार्गशीर्ष २०४७—६६



सम्पर्क : 'वासन्ती', हाईकोर्ट कालोनी, जोधपुर  
(राजस्थान) — ३४०००१ ।

## संस्कृत : काव्य

कृति : सन्ध्या

कृतिकार : डॉ. रामकरण शर्मा

जन्म : १९२७; शिवपुर (बिहार) । शिक्षा : मुजफ्फरपुर और पटना में संस्कृतका, डेकन कालेज पुणे तथा कैलिफोर्निया वि. वि. में भाषा विज्ञान का अध्ययन और वहींसे 'द एलिमेंट ऑफ पोएट्री इन द महाभारत' विषयपर पी-एच. डी. । कार्य-क्षेत्र : सात वर्ष तक राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानके संस्थापक-निदेशक । संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा और संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलपति । कोलम्बिया और शिकागो विश्वविद्यालयोंमें अतिथि प्रोफेसर ।

साहित्यिक कृतित्व : संस्कृतमें एक उपन्यास और पांच काव्य-कृतियां, अनेक समालोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक ग्रन्थोंका लेखन सम्मान : १९८६में साहित्य अकादमीसे काव्य कृति 'सन्ध्या' और इसी वर्ष भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ताके कार्या ट्रस्ट पुरस्कारसे उपन्यास 'सीमा' पुरस्कृत । संस्कृत क्षेत्रमें अपनी उपलब्धियोंके लिए राष्ट्र-पति सम्मानसे विभूषित, रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दनके फेलो ।

सम्पर्क : ६३, विज्ञान विहार, दिल्ली-११००६२ ।

समीक्षक : डॉ. राजेन्द्र मिश्र

जन्म : १९४३; द्रोणीपुर (उ. प्र.) । शिक्षा : इलाहाबाद वि. वि. से संस्कृतमें स्नातकोत्तर उपाधि, डी. फिल. । कार्यक्षेत्र : इलाहाबाद वि. वि. के संस्कृत विभागमें रीडर ।

साहित्यिक कृतित्व : संस्कृत और हिन्दीमें इकत्तीस कृतियां प्रकाशित, छैः आलोचनात्मक शोधपरक कृतियां । सम्मान : १९८८में साहित्य अकादमीसे कहानी संग्रह 'इक्षुगन्धा' (संस्कृत) के लिए पुर-स्कृत ।

सम्पर्क : ८ बाघम्बरी रोड, इलाहाबाद (उ. प्र.) ।

## सिन्धी : गुजल

कृति : बाहि जा वारिस (अग्निके उत्तराधिकारी)

कृतिकार : एम. कमल (मूलचन्द एम. बित्राणी)

'प्रकर'—नवम्बर'९०—१००

जन्म : १९२५; कनडियरो जिला (पाकिस्तान) । कार्यक्षेत्र : केन्द्रीय रेल सेवामें कार्य करते हुए सेवानिवृत्त, महरान कला रंगमंचके निदेशक, कमल किताब घरके संचालक ।

साहित्यिक कृतित्व : तेरह ग्रन्थ प्रकाशित, छैः गुजल संग्रह, तीन काव्य-संग्रह, चार एकांकी-संग्रह । सम्पर्क : ब्लाक सी-५४०/१०७६, उल्हासनगर (महाराष्ट्र) — ४२१००४.

समीक्षक : प्रो. जगदीश लछाणी

जन्म : १९३६; शिक्षा : एम. ए. । कार्यक्षेत्र : श्रीमती चांदोबाई हिम्मतमल सुखाणी कालेज, उल्हासनगरमें हिन्दी एवं सिन्धीके प्रवक्ता । कृतियां : समीक्षा एवं बाल साहित्यकी अनेक कृतियां प्रकाशित ।

सम्पर्क : ७०१, राजीव एपार्टमेंट, गोल मंदान, उल्हासनगर (ठाणें) — ४२१००१.

## हिन्दी : उपन्यास

कृति : सूखा बरगद

कृतिकार : मंजूर एहतेशाम

जन्म : १९४८; भोपाल (म. प्र.) । शिक्षा-कार्यक्षेत्र : इंजीनिरिंगकी शिक्षामें प्रयोगके बाद दवाईयां बेची और फिर फर्नीचर तथा डेकोर-साज-सज्जाका काम ।

साहित्यिक कृतित्व : हिन्दी कहानियोंसे लेखन प्रारम्भ । फिर एक उपन्यास 'कुछ दिन और' । 'एक था बादशाह' नाटक सत्येनकु मारके साथ मिलकर । 'रमजानमें मौत तथा अन्य कहानियां' प्रकाशित ।

सम्पर्क : द्वारा 'कहानियां' मासिक चयन, ४० पंजाब बैंक कालोनी, ईदगाह हिल, भोपाल — ४६२००१.

समीक्षक : सन्हयालाल श्रोभा

हिन्दीके चर्चित और प्रतिष्ठित उपन्यासकार । सम्प्रति भारतीय भाषा परिषद् कलकत्तासे सम्बद्ध ।

सम्पर्क : ८/ए, नन्दन रोड, भवानीपुर, कलकत्ता-७०००२५. □



[illegible]



# प्रस्तुत अंक के लेखक-समीक्षक

- ☐ डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य, हिन्दी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ. प्र.)
- ☐ डॉ. तेजपाल चौधरी, ५६ रामदास कालोनी, जलगाँव (महाराष्ट्र)—४२५००२.
- ☐ डॉ. प्रयाग जोशी, बी-३/१३ जेल गार्डन रोड, राय बरेली—२२६००१.
- ☐ डॉ. प्रेमशंकर, बी-१६, सागर विश्वविद्यालय, सागर—४७०००३.
- ☐ डॉ. भगीरथ बड़ोले, सी-२८६ विवेकानन्द कालोनी, फ्रीगंज उज्जैन—४५६००१.
- ☐ डॉ. भानुदेव शुक्ल, ४३ गौरनगर, सागर—४७०००३.
- ☐ डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद (बिहार)—८२६००१.
- ☐ डॉ. विश्वभावन देवलिया, स-१ सरस्वती विहार, पचपेढी, जबलपुर—४८२००१.
- ☐ डॉ. वीरेन्द्रसिंह, ५ झ १५ जवाहरनगर, जयपुर—३०२००४.
- ☐ डॉ. श्यामसुन्दर घोष, ऋतंभरा, गोड्डा—८१४१३३.
- ☐ पं. सन्ध्यालाल ओझा, ८/ए, नन्दन रोड, भवानीपुर, कलकत्ता—७०००२५.
- ☐ डॉ. सुमति अय्यर, ११२/२३६ स्वरूपनगर, कानपुर—२०८००२.
- ☐ डॉ. सुरेशचन्द्र त्यागी, रामजीवन नगर, चिलकाना रोड, सहारनपुर—२४७००१.
- ☐ डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, यू एच २, मौडकल इन्क्लेव, रोहतक—१२४००१.

## ‘प्रकर’ शुल्क विवरण

- |  |                        |
|--|------------------------|
| <input type="checkbox"/> प्रस्तुत अंक (भारतमें)                            | ६.०० रु.               |
| <input type="checkbox"/> वार्षिक शुल्क : साधारण डाकसे : संस्थागत :         | ६५.०० रु.; व्यक्तिगत : |
| <input type="checkbox"/> आजीवन सदस्यता :                                   | ५०.०० रु.              |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें समुद्री डाकसे (एक वर्षके लिए) :        | ५०१.०० रु.             |
| अन्य देश :   | १२०.०० रु.             |
| <input type="checkbox"/> विदेशोंमें विमान सेवासे (एक वर्षके लिए) :         | १८५.०० रु.             |
| <input type="checkbox"/> दिल्लीसे बाहरके चैकमें १०.०० रु. अतिरिक्त जोड़ें. | ३१०.०० रु.             |

व्यवस्थापक, ‘प्रकर’, ए-८/४२, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.

‘प्रकर’—दिसम्बर’६०



वर्ष : २२

अंक : १२

पौष : २०४७ [विक्रमाब्द]

दिसम्बर : १९६० (ईस्वी)

## लेख एवं समीक्षित कृतियां

मत-अभिमत	२	
आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार		
द्रविड़ परिवारकी भाषाएं और हिन्दी (१)	५	डॉ. राजमल बोरा
प्राकृत महाकाव्य		
गण्डवहो (गौडवध) — कवि : वाक्पति	१४	डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय
आलोचना		
माखनलाल चतुर्वेदी — डॉ. श्यामसुन्दर घोष	१५	डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
प्रतिबद्धता और मुक्तिबोधका काव्य — डॉ. प्रभात त्रिपाठी	१८	डॉ. प्रेमशंकर
समकालीन साहित्य और पाठक — डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त	२१	डॉ. विश्वभावन देवलिया
काव्य		
पीली चोंचवाली चिड़ियाके नाम — उपेन्द्रनाथ अश्व	२३	डॉ. श्यामसुन्दर घोष
उपलब्ध पत्रिका तथा अन्य कविताएं — डॉ. देवराज	२७	डॉ. वारेन्द्रसिंह
दशरथनन्दिनी — शान्तिस्वरूप कुसुम	२९	डॉ. प्रयाग जोशी
उपन्यास		
पुरुषोत्तम — डॉ. भगवतीशरण मिश्र	३१	डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय
अन्तर्ध्वंस — गिरिराज किशोर	३४	डॉ. सुमति अय्यर
अग्नि पर्व — ऋता शुक्ल	३६	पं. सन्देशलाल ओझा
कहानी		
क्षितिज — (कन्नड़से अनूदित) — शान्तिनाथ देसाई	३७	डॉ. भगीरथ बड़ोले
देखते देखते — चन्द्रशेखर दुबे	४१	डॉ. तेजपाल चौधरी
व्यंग्य विनोद		
अजगर करे न चाकरी — सूर्यबाला	४२	(१) डॉ. भानुदेव शुक्ल (२) डॉ. तेजपाल चौधरी
लोक संस्कृति		
जैसे उनके दिन बहुरे — डॉ. राधा दीक्षित, डॉ. दामोदर दीक्षित	४४	डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य
छत्तीसगढ़की लोकधारा — डॉ. दुर्गा पाठक	४५	डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल
पत्र-पत्रिकाएं		
ईसुरी-६ — सम्पा. डॉ. कान्तिकुमार जैन	४६	डॉ. श्यामसुन्दर घोष
ज्ञान तरंगिणी — सम्पा. डॉ. अनिलकुमार आंजनेय	४७	डॉ. सुरेशचन्द्र त्यागी



# मत-अभिमत

## □ आरक्षण नीति

अक्तूबर (६०) अंकमें सम्पादकीय पढ़कर प्रेरणा हुई कि आपको बधाई दूं। बहुत वैज्ञानिक ढंगसे आपने मौजूदा सरकारकी आरक्षण-नीतिकी आलोचना की है। राजनीतिज्ञोंकी संवेदनहीनता अब असह्य हो चली है। जिन्हें देशका कर्णधार कहते सार्वजनिक मंचोंपर राजनेता नहीं अघाते, उनपर युवकोंके आत्मदाहका कोई असर नहीं हो रहा है। ये लोग नीति और सिद्धान्त की बात करते हैं, योग्य प्रतिभाशाली युवकोंको अपराध कर्मकी ओर धकेलते हैं।

आपने दक्षिणमें आरक्षणकी जो जानकारी दी है, वह वस्तुगत है। समूचा विश्लेषण यथार्थवादी है। इससे विवेकवान मनुष्यको शक्ति मिलेगी और अन्य लोगोंको समझ मिलेगी।

— रेवतीरमण, हिन्दी विभाग,  
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर.

## □ स्वाधीनता दिवस : हिन्दी दिवस

अगस्त (६०) के अग्रलेखमें आतंक और अराजकताकी जिस अन्वितिकी अनावृत किया गया है वह येन-केन-प्रकारेण सत्ता हथियाने और उसे सातत्य प्रदान करनेके नियोजित प्रयासोंकी स्वाभाविक परिणति है। स्वाधीन भारतमें प्रायः अल्पमतकी राष्ट्रीय सरकारें गठित होती रहीं। १९६७ का वर्ष राजनीतिक तिथि-पत्रका कल्प-विभाजक कहा जा सकता है। उससे आपसी कलह और लतयावका जो सत्रारम्भ हुआ उसमें सार्वजनिक जीवन आदर्शकी धुरीको तोड़कर अनैतिकताके अक्षपर घूमने लगा। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओंकी पूर्ति वामन नेताओंकी एषणा हो गयी और देशको भाड़ से निकालकर भट्टीमें झोंकेका उपक्रम चल पड़ा। जनाधारहीन सरकार बनानेके लिए निहित स्वार्थोंके प्रोत्साहन द्वारा समाजको अनेक प्रतिस्पर्धी वर्गोंमें विखण्डित किया गया। अल्पसंख्यकोंका प्रतिनिधित्व करने वाली लघु इकाइयोंकी चढ़ बनी और बारी-बारीसे वे

‘प्रकर’—दिसम्बर’६०—२

अपने हितोंके रक्षार्थ आये दिन चुनौती देने लगी। अपने अस्तित्वके लिए सरकारको कामचलाऊ समर्थन चाहिये था। अतएव दूरदर्शी विवेकका परित्यागकर वह सदावर्त्तमें प्रवृत्त हुई। शुरूसे शान्तिप्रिय बहुसंख्यक उसकी उपेक्षाके पात्र रहे। उन्हें परिशयनकी स्थितिमें रखनेके लिए स्थायी राष्ट्रीय संकटका हौआ खड़ा करने की कुशल नीति प्रतिपादित की गयी। जनतंत्र अभि-जनतंत्रमें रूपांतरित होगया। १३ दिसम्बर १९५४को शासकोंकी ओर इंगित करते हुए आचार्य जीवतराम भगवानदास कृपलानीको लोकसभामें कहना पड़ा—“इस शिशु लोकतंत्रके शत्रु न प्रतिपक्षी हैं, न गुण्डे—यहाँतक कि कालाबाजारिएभी नहीं हैं, न कम्युनिस्ट हैं, बल्कि सबसे बड़े दुश्मन आप हैं। यदि कभी इस लोकतंत्रका अंत हुआ तो उसके लिए जिम्मेदार आप होंगे। आप एक दिनसे अनाधिक बादशाहत कर लें किन्तु इतिहास आपको सदा-सर्वदा कलंकित करता रहेगा।”

राष्ट्रके स्वरूप-विकासके लिए बड़े-बड़े हकीमोंने महीनों बैठकर जो संविधान-संज्ञक नुस्खा लिखा था, वह चतुर अत्तारोंके हाथोंमें पड़कर छिन्न-भिन्न हो गया। अपनी हित-साधनामें वे उसके संघटकोंसे खिलवाड़ कर, ऐसे अजीबो-गरीब काढ़े पिलाने लगे कि मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। संविधानके प्रारूपणकी समाप्तिपर तदर्थ सभाके अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसादको इस हेरा-फेरीकी आशंका हो गयी थी। तभी तो उन्होंने संविधानकी उत्कृष्टताका बखान न कर इतनाही कहा—“आज भारतको चंद ईमानदार आदमियोंकी जरूरत है जो खुदसे ज्यादा मुल्ककी फिक्क करें।”

इसलिए इसमें अचरजकी क्या बात है जो भारत का गौरवमय संविधान शिलालेखके स्तरसे शनैः शनैः च्युत होकर अभ्यास-पटलपर खड़ियासे घसीटे गये कक्षा-पाठकी दशाको पहुंचता जा रहा है? कैसी बिडम्बना है जिन लोगोंने राष्ट्रको विघटित करनेपर कमर कस ली हो वे ही देशकी एकता तथा अखण्डतामें



प्रकर-सितम्बर (६०) अंकमें स्वर:विसंवादीके अंतर्गत हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि देनेकी पहल समया-नुकूल है। वैसेभी हिन्दीके नामपर एक दिवसके आयोजनकी बात किसी बचकाने दिमागकी सूझ थी। संसार के कौनसे देशमें वहांकी राष्ट्रभाषाके निर्वाचनकी तिथि पर समारोह आयोजित किये जातेहैं। उत्तरप्रदेशकी नयी सरकारने हिन्दी-प्रयोगका संकल्प जिस निष्ठासे कियाहै उसका नवीनतम उदाहरण है राज्याश्रित डेरी-संघ द्वारा चिकनाई-रहित दूधका नामकरण 'फिट-मिल्क'। राज्याधीन-सेवा-भर्ती परीक्षाओंसे अंग्रेजीका बिस्तर जहां गोल किया जा रहाहै वहां सरकारी चयन-उपक्रमोंके जो विज्ञापन प्रकाशित हो रहेहैं उनमें अंग्रेजीकी तूती बोल रहीहै, 'पिकअप' जैसी सार्वजनिक वित्त-संस्थामें अध्यक्षीय भाषण अंग्रेजीमें होताहै। और तो और महानुभावोंको बधाई, विरोध और घटना जैसे सरल-सीधे शब्दोंको उच्चारित करते शर्म आने लगीहै। तभी तो वे मुबारकबाद, मुखालफत और हादसा बड़-बोलकर अपने हिन्दी-प्रेमको व्यक्त करतेहैं। सच पूछिये तो हिन्दी-प्रचारके नामपर देवनागरी-प्रसार हो रहाहै। वह भी इस धूमधामके साथ कि चाहे जलीलको जलील कर दीजिये और चाहे जलीलको जलीलके मर्तबेपर पहुंचा दीजिये। लिपि-परिवर्द्धनकी धुनमें देवनागरीपर जो अंत्याचार किया जा रहाहै वह कहते नहीं बनता। कश्मीरकी राजभाषा कश्मीरी नहीं हो सकती वह उर्दू रहेगी, किन्तु देवनागरीमें कश्मीरीके ध्वनि-संकेतोंकी व्यवस्थाकर इतनी उत्कृष्ट लिपिको क्षत-विक्षत अवश्य किया जायेगा। ठीकभी है गरीबकी जोरू सबकी भोजाई होतीहै।

—डॉ. हरिश्चन्द्र, 'संस्मृति', बी-११४६  
इन्दिरानगर, लखनऊ-२२६०१६.

सितम्बर (६०) में 'हिन्दी दिवसको श्रद्धांजलि अर्पित कीजिये' सम्पादकीय अच्छा लगा। आपकी भावनाएं और मेरे विचार लगभग एक-से हैं। मैकाले की आत्मा आज खुश है। अंग्रेजोंके अनुचर अपने आकाओंके भी उस्ताद निकले। अंग्रेजीका अधिकसे अधिक प्रचार कियाजा रहाहै और हिन्दीको उसके गौरवके नीचे खींचा जा रहाहै। यह शासकीय षड-यन्त्र है।

राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी, ब्रज जैसी भाषाएं उपेक्षित हैं। उन्हें मान्यता देनेसे हिन्दीकी पक्ष प्रबल होगा।

—केसरीकान्त शर्मा 'केसरी', लोहित भारती,  
जी. एल. पब्लिकेशंस, उलूबारी, गुवाहाटी-७८१००७.

## □ दीर्घ और विवृत उच्चारण

'निषलान' (देखें 'प्रकर' नव. ६० अंकके मलयाली काव्य निषलान' की समीक्षा) के उच्चारणका प्रश्न उठाया गयाहै कि इसे निषलाना' लिखा जाना चाहिये। परन्तु यह क्षेत्रीय उच्चारणका प्रश्न है। हिन्दी और देवनागरीमें जब अक्षरोंके साथ दीर्घ स्वर संयुक्त किया जाताहै तो हिन्दीमें देवनागरी व्याकरणके अनुसार उच्चारण भी दीर्घ हो जाताहै। संभवतः दक्षिणकी भाषाओंमें अकारान्त शब्दोंका उच्चारण दीर्घ न होकर 'विवृत' है। दीर्घ और विवृतमें अन्तर किया जाना चाहिये। देवनागरीमें दीर्घके लिए जिस प्रकार दीर्घ उच्चारणकी व्यवस्था है उसी प्रकार विवृतके लिए अक्षरके पीछे 'ऽ' लगानेकी प्रथा है। विवृत और दीर्घ में अन्तर आवश्यक है। इसलिए बोला और लिखा जाना चाहिये 'निषलानऽ' न कि 'निषलाना'। यही स्थिति केरल, कर्नाटक आदिके उच्चारणमें भी है। दोनोंमें 'अकार' का उच्चारण दक्षिणके प्रदेशोंमें विवृत है जबकि संस्कृत और हिन्दीमें उच्चारण और लेखन दोनोंमें ह्रस्व है। किसी संस्कृत या हिन्दी ग्रन्थमें 'केरला' या 'कर्नाटका' लिखा नहीं मिलेगा, केवल 'केरल' 'कर्नाटक' ही लिखा मिलेगा।

यह भी प्रश्न है कि एक क्षेत्रका उच्चारण दूसरे क्षेत्रपर क्यों आरोपित किया जाये? तमिलमें यदि भगवान्को पकवान् लिखने-बोलने वालोंकी कमी नहीं है तो अन्य भाषाओंमें तमिल उच्चारणको ही क्यों स्वीकार किया जाये। प्रत्येक भाषाकी अपनी प्रकृति है, उसीके अनुसार उसी भाषामें उच्चारण होना चाहिये और लिखा जाना चाहिये।

## □ आर्य द्रविड़ भाषा परिवार

उपर्युक्त लेखमाला प्रेरणादायक एवं सामयिक है। द्रविड़ परिवार और संस्कृत भाषा लेख तो विद्वत्तापूर्ण है। पूरी लेखमालापर मैं अपनी प्रतिक्रिया इसके पूरे प्रकाशनके बाद व्यक्त करूंगा। सामान्यतः तमिलके संबंधमें पूरी जानकारी जबतक नहीं होगी जबतक तमिल भाषाके मौलिक ग्रन्थोंका परिचय नहीं होगा।

(शेष पृष्ठ ४८)



# पठनीय और संग्रहणीय ग्रंथ

## प्रालोचना

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य—सम्पादक : डॉ. महेन्द्र भटनागर	सजिल्द	५०.००
अन्धायुग : एक विवेचन—डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा (पुरस्कृत)	"	३५.००
छायावाद : नया मूल्यांकन—प्रा. नित्यानन्द पटेल	विद्यार्थी संस्करण	२०.००
'प्रकर' : विशेषांक [पुरस्कृत भारतीय साहित्यके आठ अंक, भारतीय साहित्य : २५ वर्ष, अहिन्दीभाषियोंका हिन्दी साहित्य अन्य विशेषांक]	अजिल्द	३५.००
		२२५.००

## उपन्यास :

अपराधी वैज्ञानिक : (वैज्ञानिक उपन्यास)—यमुनादत्त वैष्णव अशोक	"	५०.००
ये पहाड़ी लोग—यमुनादत्त वैष्णव अशोक	"	२५.००
सुधा [मलयालमसे अनुदित]—टी. एन. गोपीनाथ नायर	"	२५.००
शकुन्तला ['अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का औपन्यासिक रूपान्तर]—विराज	"	२५.००
प्रवासी [वर्माके भारतीय प्रवासियोंकी कहानी]—श्यामाचरण मिश्र	"	३०.००

## नाटक :

देवयानी—डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर		१५.००
श्रेष्ठ एकांकी—डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद		१५.००

## जीवन दर्शन :

शंकराचार्य : जीवन और दर्शन—वेद्य नारायणदत्त		२०.००
महर्षि दयानन्द : " "		२५.००
गुरु नानक : " "		३०.००
श्री अरविन्द : " —रवीन्द्र		२०.००

## समसामयिक साहित्य :

रूपयेका उन्मूलन और उसका प्रभाव—सम्पा. डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी		४०.००
समाजवादी बर्मा—श्यामाचरण मिश्र		३०.००
विस्तारवादी चीन—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी (पुरस्कृत)	जेबी आकार	६.००
कच्छ—पद्मा अग्रवाल	"	६.००
एवरेस्ट अभियान—डॉ. हरिदत्त भट्ट शैलेश	"	६.००
अफ्रीकाके राष्ट्रीय नेता—जगमोहनलाल माथुर	"	८.००

## 'प्रकर' कार्यालय

ए-८/४२, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.



## द्रविड़ परिवारकी भाषाएं और हिन्दी [७. १]

— डॉ. राजमल बोरा

३१२. भारततर्षकी भाषाओंमें तीन भाषाएं ऐसी हैं जिनका भौगोलिक विस्तार अन्य भाषाओंकी तुलना में अधिक हुआ है और वे हैं—(१) संस्कृत (२) प्राकृत और (३) हिन्दी। इन तीनोंमें हिन्दी आधुनिक भाषा है।

३१३. हमारे देशकी आधुनिक भाषाओं—विशेष रूपसे आर्य परिवारकी भाषाओंका इतिहास प्रायः दसवीं शतीके बादसे आरम्भ होता है। हिन्दी उसका अपवाद नहीं है।

३१४. संस्कृत भाषाके भाषा-भूगोलसे हम परिचित नहीं। वैदिक संस्कृतका भाषा भूगोल बतलाया जाता है—[वेदोंके आधारपर]। किन्तु लौकिक संस्कृतका भाषा-भूगोल समस्त भारतवर्ष है। जब हम संस्कृत भाषाका नाम लेते हैं तो वह लौकिक संस्कृतके अर्थमें ही नाम लेना होता है या वह संस्कृत जिसका व्याकरण पाणिनिने अष्टाध्यायीके रूपमें लिखा है। जिस संस्कृतका भौगोलिक विस्तार हुआ है, वह लौकिक संस्कृतही है। इस लौकिक संस्कृतके बोली रूपसे [भाषा भूगोलकी दृष्टिसे] हम परिचित नहीं हैं।

३१५. अपने भौगोलिक विस्तारमें—समस्त भारत-वर्षके साथ अपनेको सम्बद्ध करनेमें संस्कृत भाषाका अपना बोली रूप रहा ही नहीं है, उसका भाषा रूपही है और इसी भाषा रूपकी विशेषताएं पाणिनिने बतलायी हैं।

३१६. प्राकृत भाषाका भाषा-भूगोल संस्कृतकी तुलनामें अधिक स्पष्ट है और इस विषयमें हमें काफी जानकारी उपलब्ध है। प्राकृतके भाषा भूगोलपर संस्कृतमें पुस्तकें लिखी गयी हैं—स्वयं प्राकृतमें नहीं लिखी गयीं।

३१७. हिन्दीका भाषा-भूगोल प्राकृतके भाषा-

भूगोलसे अधिक स्पष्ट है और इस विषयपर फुटकल रूपमें बहुत कुछ लिखा गया है। इस अध्यायमें हिन्दीके भाषा-भूगोलपर विचार करते हुए द्रविड़ परिवारकी भाषाओंके साथ हिन्दीका सम्बन्ध बतलाना इष्ट है।

३१८. हिन्दी भाषाके साथ द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका सम्बन्ध बताते समय हमें प्राथमिक रूपमें भाषा-भूगोलका विवेचन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होगा। भाषा-भूगोलकी सामान्य विशेषताओं को केन्द्रमें रखकर हमें इन भाषाओंका अध्ययन प्रस्तुत करना हितकर होगा।

३१९. भौगोलिक यात्राके रूपमें हिन्दी भाषाका इतिहास संस्कृत तथा प्राकृतकी तुलनामें अधिक ज्ञात है। भाषाके इतिहासको साहित्यके इतिहाससे [एक दूसरेके लिए पूरक होनेपर भी] भिन्न मानकर उसपर विचार करना चाहिये। किसी भाषाके इतिहासमें प्रधान तथ्य भौगोलिक स्वरूपके होते हैं। साहित्यके इतिहासमें हमारा ध्यान भूगोलपर बादमें जाता है। हम भूगोलसे हटकर भी साहित्यिक स्वरूपपर विचार करते हैं।

३२०. संस्कृत भाषामें प्राकृत भाषाके भाषा-भूगोल पर विचार करते समय भारतवर्षकी भाषाओंको आर्य परिवार और द्रविड़ परिवारके रूपमें विभाजित नहीं किया गया था। उन विद्वानोंने समस्त भारतवर्षको एक मानकर प्राकृत भाषाके भौगोलिक भेदोंपर विचार किया है। मैं केवल तीन पुस्तकोंके नाम नीचे लिख रहा—

१. प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय विरचित, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी अहमदाबाद द्वारा १९६८ ई. में प्रकाशित।

२. प्राकृताध्याय : क्रमदीश्वर कृत, प्राकृत ग्रन्थ परिषद अहमदाबाद द्वारा १९७० ई. में प्रकाशित।

३. प्राकृत व्याकरण : आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रणीत,



आचार्य श्री आत्माराम जैन मॉडल स्कूल २६ डी कमलानगर; दिल्ली-७, १९७४ ई. में प्रकाशित.

पुस्तकें इसी प्रकार और भी हैं और स्वयं इन पुस्तकों में ही अन्य पुस्तकों के उल्लेख हैं। प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् आर. पिशलने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' उपलब्ध प्राचीन सामग्री के आधार पर लिखा है।

३२१. प्राकृत भाषाओं पर विचार करने वाले विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा पर भी विस्तार से लिखा है यद्यपि सब संस्कृत में ही है। आचार्य हेमचंद्र ने अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, अलग से स्वतंत्र पुस्तकाकार रूप में उसका प्रकाशन अहमदाबाद के प्राकृत ग्रंथ प्रकाशन संस्थाने किया है। प्रथम संस्करण १९८२ ई. में प्रकाशित हुआ।

३२२. हिन्दी भाषा का इतिहास प्राकृत भाषा के भाषा-भूगोल को सामने रखकर लिखना हितकर होगा। प्राकृत भाषा का भाषा भूगोल आर्य परिवार की भाषाओं तक सीमित नहीं है, उसमें दक्षिण भारत की भाषाएं भी आ जाती हैं। उत्तर और दक्षिण की भाषाएं व्यावहारिक रूप में प्राकृतों के रूप में ही जुड़ी हैं। दक्षिण की भाषाओं को भी प्राकृतों के रूप में मानकर उनके भौगोलिक नामकरण प्राकृत के व्याकरणों में किये गये हैं। कालिदास के समय में प्राकृतों के विभिन्न रूप प्रचलन में थे। स्वयं कालिदास का वाङ्मय इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

३२३. प्राकृत भाषा के भाषा-भूगोल में समस्त दक्षिण भारत सम्मिलित है। दक्षिण भारत की भाषाओं के जिन नामों का प्रयोग प्राकृत तथा अपभ्रंश के भेदों के रूप में किया गया है, वे हैं—

पाण्ड्य, कौन्तल, सिंहल, कर्णाटक, द्राविड़, कांची देशीय, दक्षिणात्य, आदि।<sup>१</sup> ये नाम एक क्रम में नहीं अपितु उत्तर भारत की भाषाओं के साथ में आये हैं। 'द्रविड़' शब्द यहाँ देशसूचक है और उसका अर्थ तमिल प्रदेश तक ही सीमित है। प्रायः प्राकृत के नामकरणों में और अपभ्रंशों के नामकरणों में भौगोलिक भेद नहीं किया गया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों ही भाषा सूचक नाम हैं, जो संस्कृत भाषा को ध्यान में रखते हुए, तुलनात्मक रूप में विचार करते हुए रखे नाम हैं। प्राकृत

और अपभ्रंश दोनों में ऐतिहासिक (कालक्रम में) अन्तर है। सर्वसामान्य अवधारणा यह है कि प्राकृतों ने ही अपभ्रंशों का रूप लिया है। इनका भेद सूचित करने के लिए इनके पीछे भौगोलिक नाम जोड़े गये हैं और हम देखते हैं कि बाद में प्राकृत तथा अपभ्रंश नामकरण छूट गये और भौगोलिक नाम प्रधान हो गये। उदाहरण के लिए कर्णाटक भौगोलिक नाम है। इसके साथ प्राकृत और अपभ्रंश नाम बाद में नहीं जोड़ा गया। कर्णाटक से कन्नड़ भाषा नामकरण होगया और यह भौगोलिक नाम है।

३२४. दक्षिण भारत की सभी भाषाओं के नाम भौगोलिक नहीं हैं। तमिल नाम तथा कन्नड़ नाम तो भौगोलिक हैं किन्तु मलयालम और तेलुगु नाम भौगोलिक नाम नहीं हैं। भौगोलिक नाम केरल और आन्ध्र हैं। केरल की भाषा मलयालम है और आन्ध्र की भाषा तेलुगु है। प्रदेश के नाम से भाषा का नाम भिन्न है। इसके कारण ऐतिहासिक हैं।

३२५. प्राकृत भाषा की भौगोलिक यात्रा मगध से आरम्भ होती है और उसका विस्तार अशोक के ही काल में दक्षिण भारत से और सुदूर नीचे सिंहल देश तक में हो जाता है। और यह प्रभाव समस्त दक्षिण भारत पर उस समय तक बना रहता है जब तक कि वहाँ की स्थानीय भाषाएं अपने आप स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण नहीं कर लेतीं। एक अर्थ में दक्षिण भारत की सभी भाषाएं प्राकृत भाषा के ही भौगोलिक रूप हैं। वे संस्कृत भाषा का स्थान ग्रहण नहीं करतीं। उत्तर भारत में भी आधुनिक भाषाएं प्राकृत के ही रूप हैं और ठीक इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी आधुनिक भाषाएं प्राकृत के ही रूप हैं। ये बात सहज ही में स्वीकृत नहीं होगी और इस स्थितिको स्पष्ट करने के लिए इतिहास और और भूगोल दोनों को ठीक से प्रस्तुत करना आवश्यक है। कुछ पृष्ठों में इस स्थितिको स्पष्ट करना संभव नहीं है। यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है वह संकेत रूप में ही है।

३२६. 'प्राकृत' नामकरण भौगोलिक नहीं है। 'प्राकृत भाषा' संस्कृतेतर सभी भारतीय भाषाओं का नाम है जो लौकिक रूप में व्यवहार में (समस्त भारत-वर्ष में) प्रचलित रही हैं। वे किसी भी परिवार की हो सकती हैं। इस अर्थ में द्रविड़ भाषा (अर्थात् तमिल भाषा) भी प्राकृत है। जैसे मागधी प्राकृत है, वैसे

१. प्राकृत सर्वस्वम् मार्कण्डेय, पृ. ४ तथा ५।



द्रविड़ प्राकृत है क्योंकि प्राकृत नाम और अपने-आपमें भौगोलिक नहीं है इसलिए उसके साथ लगे हुए अन्य विशेषण (स्थानीय विशेषताएं बतानेवाले भौगोलिक विशेषण) उसके स्वतंत्र रूपको अन्य रूपोंसे अलगाते हैं और वे नाम भौगोलिक हैं।

३२७. प्राकृत भाषा किसी समय जीवित रही है। बोलचालमें उनका प्रचलन उसी प्रकार रहा है, जैसे आज की आधुनिक भाषाओंका प्रचलन है। संस्कृत इस अर्थमें ज्ञात इतिहासमें ही नहीं, सुदूर इतिहासके क्षितिज तक भी—कभी जीवित नहीं रही। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृतका भेद अपने आप बना हुआ है। प्राकृतके विविध रूप हैं, उस रूपमें संस्कृतके विविध रूप नहीं हैं। जो भाषा बोली रूपमें जीवित रहती है और उसका प्रचलन रहता है, वह ऐतिहासिक कालमें मृत हो जाती है और उसका स्थान नयी आधुनिक भाषाएं ले लेती हैं। हमारे देशकी आधुनिक भाषाओंने प्राकृतोंका स्थान लिया है और इसीलिए प्राकृतोंके अनेक भौगोलिक रूप आज मृत हैं। जिस समयमें वे जीवित रही हैं और प्रचलनमें (व्यवहारमें) रही हैं, उस समयमें उनका लिखा हुआ रूप तो सुरक्षित है और उन सुरक्षित रूपोंके साथ हम उनके स्वरूपकी कल्पना कर सकते हैं। आजभी आधुनिक भाषाएं प्राकृतकी परम्परासे अच्छी हैं। दक्षिण भारतकी भाषाओंको भी प्राकृत भाषाकी परम्परा प्राप्त है किन्तु इस रूपमें भाषाविदोंने विचार नहीं किया है।

३२८. यूरोपकी मृत भाषाओंके सम्बन्धमें काल्डवेल ने लिखा है कि वे किसी समयमें प्रचलित थीं और बाद में प्रचलनमें नहीं रहीं। उनका स्थान आधुनिक भाषाओंने लिया। यही स्थिति भारतमें प्राकृत भाषा की रही है। भारतवर्षकी आधुनिक भाषाओंने प्राकृतों

का स्थान लिया है। भाषाविदोंने इस ओर ऐतिहासिक विवेचन करते समय ठीकसे ध्यान नहीं दिया है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयीने हिन्दीका सम्बन्ध सीधे प्राकृतसे बताया है। उनका ग्रंथ 'हिन्दी शब्दानुशासन' इस तथ्य को प्रमाणित करनेके लिए लिखा गया कि हिन्दी भाषा का इतिहास प्राकृत भाषासे शुरू होता है, संस्कृतसे नहीं।

३२९. हिन्दी भाषाही नहीं अपितु भारतवर्षकी सभी आधुनिक भाषाएं—तेलुगु, तमिल, कन्नड़ तथा मलयालम भी—प्राकृतोंकी परम्परासे विकसित हुई हैं। बात कुछ अटपटी-सी लगती है कि आर्य परिवारकी भाषाओंका सम्बन्ध तो प्राकृतोंके साथ बताया जाता है किन्तु द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका सम्बन्ध इस रूप में बताया जाना कुछ विचित्र-सा लगेगा।

३३०. प्राकृतका अर्थ 'सहज और मूल भौगोलिक बोली भाषा'—के रूपमें ग्रहण करें तो ऐतिहासिक कालमें भारतवर्षकी सभी भाषाएं अपनी आरम्भिक अवस्थामें प्राकृत रही हैं। हम मान लेते हैं कि 'प्राकृत' भाषा नामकरण संस्कृत भाषाके अनुकरणपर और संस्कृत भाषाकी प्रवृत्तिके अनुसार रखा हुआ है। जो भाषाएं प्रचलनमें रहती हैं, व्यवहारमें रहती हैं (दूसरे शब्दोंमें जीवित स्वरूपकी होती हैं) उनकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। बोली-भाषामें ही परिवर्तन होता है और इस परिवर्तनको ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दोनों रूपोंमें समझनेकी आवश्यकता है।

३३१. भारतवर्षकी भाषाओंके विकासकी सारणी आचार्य किशोरीदास वाजपेयीने हिन्दी शब्दानुशासनमें दी है, वह इस प्रकार है—

### सद्यःप्रकाशित उपयोगी पुस्तकें

अनालोचित साहित्यिक निबन्ध	डॉ. श्रीनिवास शर्मा	१०५.००
रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान	डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया	७०.००
डॉ. सलीम (पुरस्कृत उपन्यास)	रजिया नूर मुहम्मद, अनु. कान्ता आनन्द	३५.००
रंग शिल्पी मोहन राकेश	डॉ. नरनारायण राय	५०.००
अवसान (उपन्यास)	रामशरण गोड़	३०.००

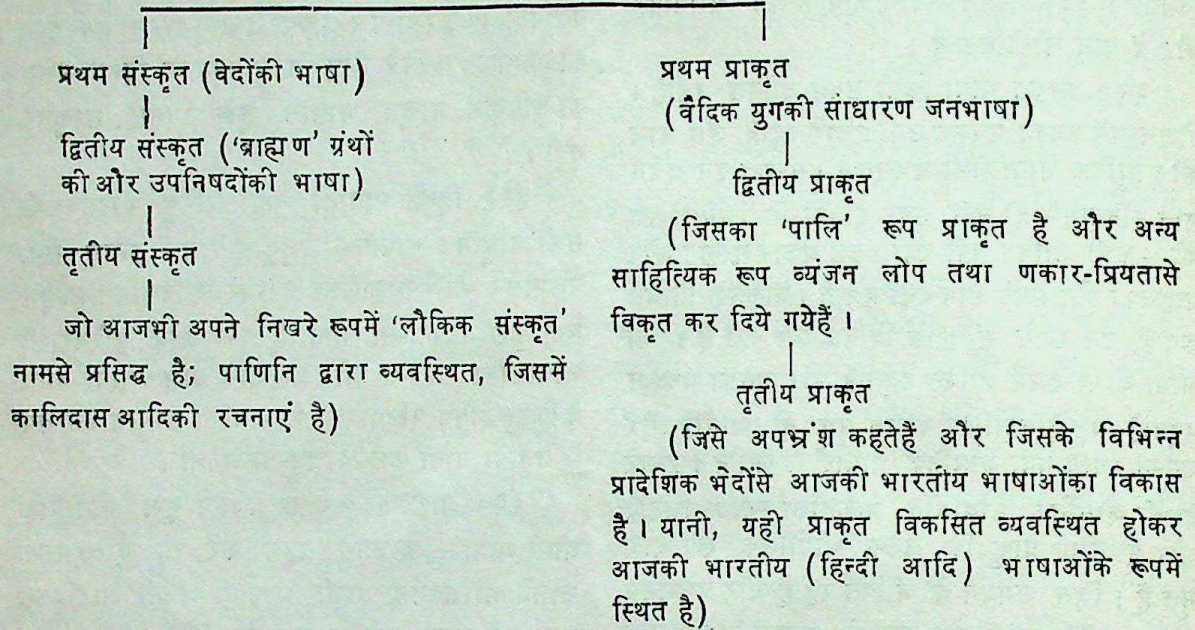
### कादम्बरी प्रकाशन

ए-५५/१, सुवर्शन पार्क, नयी दिल्ली-११००१५

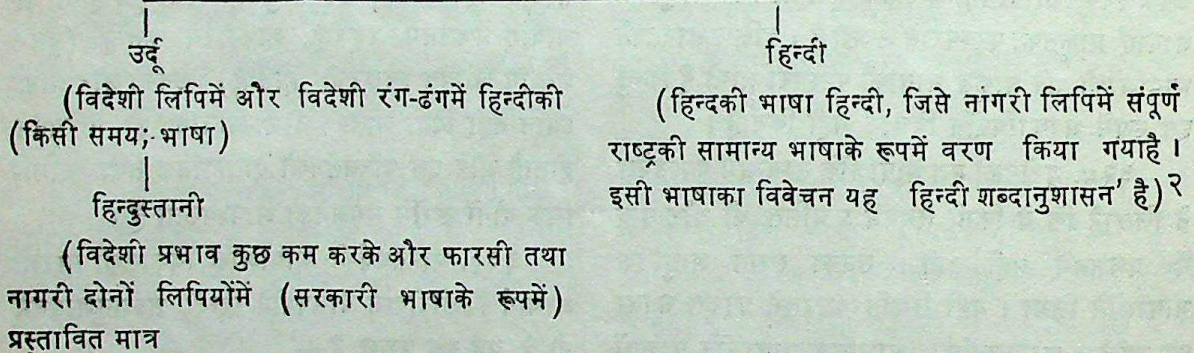


# हिन्दीके विकासकी सारणी

आद्य या मूल भारतीय आर्यभाषा



खड़ी बोली



३३१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयीकी विकास सारणीमें संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीका जो ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाया गया है, वह ठीक है। उसे भाषाविदों ने अभी स्वीकार नहीं किया है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा इस विचारधाराके नहीं हैं।

३३२. आचार्य किशोरीदास वाजपेयीने उक्त विकास सारणी हिन्दी भाषाके लिए दी है किन्तु सामान्य रूपमें उक्त विकास सारणी भारतवर्षकी सभी आधुनिक भाषाओंके लिए लागू हो सकती है। हिन्दीके स्थानपर न केवल बंगला, मराठी, पंजाबी, गुजराती

आदि भाषाएं अपितु तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाएं भी उसी ऐतिहासिक क्रममें रखी जा सकती हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयीके विचारोंको हिन्दीमें स्वीकृति मिल जाती है तो क्रमशः बंगला, मराठी आदि आर्य परिवारकी भाषाओंके ऐतिहासिक विवेचनमें स्वीकृति मिलेगी और तदनुसार द्रविड़ परिवारकी भाषाओंका स्वरूप भी उसी क्रममें स्पष्ट हो सकेगा।

२. हिन्दी शब्दानुशासन, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०२३, पृ. ७५.



३३३. आचार्य किशोरीदास वाजपेयीसे एकदम और आगे बढ़कर पं० श्री काशीरामजी शर्माने तो हिन्दीको द्रविड़ परिवारकी भाषा कहा है। उनकी पुस्तकका नाम है—‘द्रविड़ परिवारकी भाषा हिन्दी’ है। इस दिशामें चिन्तन आरम्भ हो गया है। विदेशी भाषा-विदोंकी विचारधारामें यह सब ठीक नहीं है किन्तु भारतीय भाषाविद् अब इस रूपमें विचार करने लगे हैं।

३३४. आचार्य किशोरीदास वाजपेयीने ‘हिन्दी शब्दानुशासन’ के दूसरे संस्करणके निवेदनमें लिखा है—

“ ‘सिद्धान्त’ पर तो नहीं, ‘आधार’ को लेकर एक चर्चा आदरणीय पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीने चलायी थी कि हिन्दीके व्याकरणमें प्राकृतको आधार बनाना चाहिये, संस्कृतको नहीं। आदरणीय वाजपेयी जीने ‘हिन्दी शब्दानुशासन’ का नाम तो नहीं लिखा था, पर इशारा इधर ही था; क्योंकि तुलनात्मक विवेचनके लिए इस ग्रंथमें संस्कृतको ही सामने रखा गया है और संस्कृतकी ‘इन’ आदि विभक्तियोंसे ही हिन्दीकी ‘ने’ जैसी विभक्तियोंकी निष्पत्ति बतायी गयी है। आदरणीय वाजपेयीजीकी उठायी विप्रतिपत्ति उचित थी, पर किया क्या जाये? जिस ‘प्राकृत’ से हिन्दी (राष्ट्रभाषा, मूल खड़ी बोली) का विकास है, वह आंखोंके सामने है ही नहीं। उसमें साहित्य बना नहीं, और बना तो लुप्त होगया। साहित्यमें जो प्राकृत प्राप्त है, उससे हिन्दी (राष्ट्रभाषा) का गठन मेल नहीं खाता। इसीलिए संस्कृतको सामने रखा गया है, जिससे

हिन्दीका बहुत अधिक मेल है। ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्राकृतसे हिन्दीका विकास हुआ है, यह संस्कृतसे बहुत दूर न रही होगी।”

वाजपेयी प्राकृत भाषासे हिन्दीका ऐतिहासिक सम्बन्ध मानते हैं किन्तु वह प्राकृत प्रथम प्राकृत है, जिसे उन्होंने जनभाषा कहा है। और वह जनभाषावाली प्राकृत इस समय लुप्त है।

३३५. हमारे सामने प्रथम प्राकृत या जनभाषासे से सम्बन्धित प्राकृतका व्याकरण है ही नहीं जिसको ‘आधार’ बनाकर हिन्दीका ऐतिहासिक विकास दिखाया जा सके। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा लिखा गया प्राकृत व्याकरण ‘हेमशब्दानुशासन’ या मार्कण्डेय द्वारा प्रस्तुत ‘प्राकृत सर्वस्वम्’—संस्कृत व्याकरणको आधार मानकर लिखे हुए हैं। स्वयं प्राकृत भाषामें प्राकृतका व्याकरण और वह भी जनभाषा-प्राकृतका व्याकरण लिखा हुआ उपलब्ध नहीं है।

३३६. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी द्वारा प्रस्तुत ‘हिन्दीकी विकासकी सारणी’ पीछे अनुच्छेद संख्या ३३१ में दी गयी है। उसी सारणीको आधार मानकर (उसे स्वीकार करते हुए) भारतवर्षकी समस्त आधुनिक भाषाओंके लिए एक सामान्य सारणी प्रस्तुत की जा सकती है। उसका रूप कुछ इस प्रकार होगा—

३. हिन्दी शब्दानुशासन, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी; (द्वितीय संस्करण, संवत् २०२३), पृ. ३.

TELEPH. 7113763

## AMIT PHOTO SERVICE

PHOTOGRAPHER AND VIDEO MAKER

CONTACT AT :

AMITABH

A-8/42, R. P. BAGH

DELHI—110007.



## आद्य या मूल भारतीय भाषा

प्रथम संस्कृत [वेदोंकी भाषा]

द्वितीय संस्कृत

[ब्राह्मण ग्रंथोंकी और  
उपनिषदोंकी भाषा]

तृतीय संस्कृत

[जो आजभी अपने निखरे  
रूपमें 'लौकिक संस्कृत'  
नामसे प्रसिद्ध है; पाणिनि  
द्वारा व्यवस्थित, जिसमें  
कालिदास आदिकी रचनाएं हैं]

प्रथम प्राकृत

[वैदिक युगकी साधारण जनभाषा]

द्वितीय प्राकृत

[जिसका 'पालि' रूप प्राकृत है और अन्य साहित्यिक  
रूप व्यंजन-लोप तथा णकार-प्रियतासे विकृतकर  
दिये गये हैं।]

इस द्वितीय प्राकृतको आधार मानकर ही  
प्राकृतके व्याकरण-ग्रंथ लिखे गये हैं।

तृतीय प्राकृत

[जिसे अपभ्रंश कहते हैं और जिसके विभिन्न प्रादेशिक  
भेदोंसे आजकी भारतीय भाषाओंका विकास है।  
यानी, यही प्राकृत, विकसित व्यवस्थित होकर आजकी  
भारतीय (हिन्दी आदि) भाषाओंके रूपमें स्थित हैं]

सभी आधुनिक भारतीय भाषाएं

रूप बन गयाथा और वह अपने आपमें 'निरन्तरता' के  
लक्षणोंको अपनाये हुए हैं। वैदिक संस्कृत और अन्य  
प्राकृतोंके बलपर भौगोलिक विस्तारके बलपर उसका  
निर्माण हुआ है। प्रवाहमयी भाषाओंसे—ऐतिहासिक  
परिवर्तनसे सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओंसे—लौकिक  
संस्कृतको भिन्न मानकर [स्थिर भाषा होनेके कारण]  
उनके ऐतिहासिक स्वरूपपर विचार किया जा सकता  
है। ऐतिहासिक विकासको दिखानेवाले नाम आचार्य  
किशोरीदास वाजपेयीजीकी विकास सारणीके अनुसार  
है। देखिये अनुच्छेद संख्या ३३१।

३४०. प्रवाहमयी भाषाओंमें ऐतिहासिक कालमें  
अन्तर होता रहा है। इस अन्तरके कारण प्राचीन रूप  
लुप्त होते गये और उसका स्थान नये रूपोंने लिया।  
प्रवाहमयी भाषाएं बहते नीरके लक्षणोंसे युक्त होती हैं।  
वह—वही है किन्तु बदले हुए रूपमें हैं।

३४१. डॉ. धीरेन्द्र वर्मानी 'हिन्दी भाषाका इति-  
हास' पुस्तक लिखी है। उनके बाद इसी विषयपर लिखी  
पुस्तकोंमें प्रायः उनकी विचारधाराका पल्लवन हुआ  
है। बादकी पुस्तकोंमें सामग्री अधिक मिलती है किन्तु  
चिन्तनमें कोई परिवर्तन नहीं है। आचार्य किशोरीदास

३३७. प्रथम संस्कृत और प्रथम प्राकृत दोनोंमें  
भौगोलिक भेद है। आद्य या मूल भारतीय बोलियोंमें  
वेदोंकी भाषा प्रथम संस्कृत है। प्रथम प्राकृतका रूप  
हमें ज्ञात नहीं है। प्रथम संस्कृतसे तृतीय संस्कृत तक  
की विकास यात्रा उपलब्ध वाङ्मयके आधारपर बतायी  
जा सकती है। तृतीय संस्कृत, लौकिक संस्कृत है और  
इस लौकिक संस्कृतका काल—पाणिनिका काल—ईसा  
पूर्वकी शताब्दियोंका है। लौकिक संस्कृतका स्वरूप  
पाणिनिके समयसे माषिक विकास [भाषा विज्ञानके  
अनुसार] अपने चरम रूपमें स्थिर है—निरन्तरता  
उसके स्वरूपका लक्षण है। उसे मृतभाषा नहीं कहा  
जा सकता।

३३८. प्रथम प्राकृतका स्वरूप ज्ञात नहीं है किन्तु  
उसके स्वरूपका अनुमान करना हो तो अशोककालीन  
अभिलेखोंमें प्रयुक्त प्राकृतके विभिन्न रूपोंमें [समस्त  
भारतवर्षमें अशोकके अभिलेख मिलते हैं] उसकी झलक  
देखी जा सकती है।

३३९. लौकिक संस्कृत, जिसे आचार्य किशोरीदास  
वाजपेयी तृतीय संस्कृत कहते हैं, उसे ऐतिहासिक रूपमें  
स्थिर मान लिया गया है। पाणिनिके समयमें उसका



वाजपेयीके चिन्तनके अनुरूप 'हिन्दी भाषाका इतिहास' अबतक लिखा नहीं गया है। यों डॉ. धीरेन्द्र वर्मा चिन्तन में मौलिक हैं और ऐतिहासिक क्रम बैठानेमें उन्होंने वैज्ञानिक पद्धतिका अनुसरण किया है। विदेशी विद्वानों के चिन्तनको आधार मानकर उन्होंने 'हिन्दी भाषाका इतिहास' उस समय लिखा, जब हिन्दीमें इस विषयपर कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी।

३४२. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं—

“ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तनोंको दिखानेके लिए तत्सम शब्दोंसे बिलकुल भी सहायता नहीं मिलती है। आधुनिक साहित्यिक हिन्दीमें तत्सम शब्दोंका प्रयोग बहुत बढ़ गया है। क्योंकि ध्वनियोंके इतिहासका अध्ययन केवल तद्भव शब्दोंमें ही हो सकता है, अतः इस अध्यायके उदाहरणके अंशोंमें प्रायः ऐसे शब्द दिखायी देंगे जिनका प्रयोग साहित्यिक हिन्दीकी अपेक्षा हिन्दीकी बोलियोंमें विशेष रूपसे होता है। केवल बोलियोंमें प्रयुक्त शब्दोंका निर्देश कर दिया है। इस अध्यायका समस्त विवेचन हिन्दी ध्वनिसमूहके दृष्टिकोणसे है, अतः उदाहरणोंमें आधुनिक कालसे पीछेकी ओर जानेका यत्न किया गया है—पहले हिन्दीका रूप दिया गया है और उसके सामने संस्कृतका तत्सम रूप दिया गया है। बहुत कम शब्दोंके निश्चित प्राकृत रूप मिलनेके कारण प्राकृत उदाहरण बिलकुल ही छोड़ दिये गये हैं। इस कारण ध्वनि-परिवर्तनकी मध्य अवस्था सामने नहीं आ पाती, किन्तु इस कठिनाईको दूर करनेका अभी कोई उपाय नहीं था। स्थानाभावके कारण ध्वनि-परिवर्तनोंपर विस्तारसे विचार नहीं किया जा सका है। तुलनात्मक ढंगसे केवल संस्कृत और हिन्दी रूप देकर ही संतोष करना पड़ा है...” ४

डॉ. धीरेन्द्र वर्माकी कठिनाई यह है कि चाहकर भी वे प्राकृतके रूप नहीं दे सके। दूसरी बात यह कि तत्सम शब्दोंका [तत्सम ध्वनिरूपोंका भी] क्या इतिहास लिखा जाये। वे लौकिक संस्कृतके रूप हैं और इतिहासमें परिवर्तित नहीं होते। इतिहास उन्हीं का लिखा जाना उचित हो सकता है, जो तद्भव होते हैं। ऐसे रूप बोलियोंमें अधिक मिलते हैं। डॉ. धीरेन्द्र वर्माने इसीलिए तत्सम रूपोंपर विचार नहीं किया।

४. हिन्दी भाषाका इतिहास, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, नवम संस्करण १९७३ ई.; पृ. १२८-१२९।

हिन्दीके तद्भव रूपोंका चयन किया और उनका सम्बन्ध तत्सम रूपोंसे बतलाया। उन्होंने अपनी कठिनाई ठीक-ठीक व्यक्त कर दी। उनके कार्यका दोष यह है कि लौकिक संस्कृतके साथ हिन्दीका ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाया। तदनुसार उन्हें तथ्य मिले नहीं। व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। उन कठिनाइयोंको उन्होंने प्रामाणिक रूपमें स्पष्ट कर दिया। वे एक लीकपर चले हैं और मार्गकी कठिनाइयोंको स्पष्ट करते गये हैं। उनके कार्यकी पद्धति वैज्ञानिक है किन्तु वे यह सारा काम ऐतिहासिक क्रमके छोरोंको पकड़कर करते हैं। अन्तरालोंपर विचार नहीं करते और उनका मूल छोर, जहाँसे आरम्भ करते हैं—वह छोर लौकिक संस्कृत है। अपरिवर्तित रूपोंसे परिवर्तित रूपोंका सम्बन्ध बतलाना ऐतिहासिक रूपमें ठीक नहीं हो सकता। जब रूप बदलता है या किसी तत्त्वमें [ध्वनि तत्त्व, रूप या अर्थ तत्त्व] बदलाव आता है तो उसका पूर्वरूप लुप्त होगा। एकका स्थान दूसरा लेगा। ऐतिहासिक क्रम यही होगा और ऐसी स्थिति प्रवाहमयी भाषामें ही दिखायी जा सकती है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा इस रूपमें विचार नहीं कर पाये।

३४३. डॉ. धीरेन्द्र वर्माकी कार्यपद्धति वैज्ञानिक है और तथ्योंको वे ठीक-ठीक प्रस्तुत करते हैं। अपने चिन्तनके अनुरूप जब उन्हें तथ्य नहीं मिलते तो वे वैज्ञानिक पद्धतिसे कल्पित रूपोंका विधान भी करते हैं। ऐसे रूपोंका विधानकर वे ऐतिहासिक समाधान प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करते हैं। उदाहरणके लिए तृतीय पुरुष 'वह' का इतिहास वे इस रूपमें लिखते हैं—

“सं. तद् (सः, सा, तत्) के रूपोंसे हिन्दीके इस सर्वनामका सम्बन्ध नहीं है। चाटुर्ज्याके अनुसार हि. वह सं. के कल्पित रूप अव\* > प्रा. ओ\* से सम्बन्ध रखता है। ईरानीमें 'अव' और 'ओ' रूप पाये जाते हैं। दरद भाषाओंमें भी ये वर्तमान हैं। यदि यह व्युत्पत्ति ठीक है तो हि. 'उस' का सम्बन्ध प्रा. अउस्स\* < सं. अवस्य\* से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार 'वे' और 'उन' के सम्बन्धमें कल्पनाएं की जा सकती हैं। उसे और उन्हें विकृत रूप माने जा सकते हैं। वास्तवमें इस सर्वनामकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है।” ५

५. हिन्दी भाषाका इतिहास, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, (नवम संस्करण, १९७३), पृ. २८ [शब्दोंपर लगा चिह्न '\*' कल्पित रूपोंको व्यक्त करता है।]



३४४. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कल्पित रूपोंका विधान नहीं करते। वे स्पष्टतः प्रचलित रूपों पर विचार करते हैं और दो टूक बात करते हैं। 'वह' के सम्बन्धमें उनका कथन इस प्रकार है :—

“वह” का प्रातिपदिक ‘ओस’ है—खूब खोज करने पर पता चला है कि ‘हिन्दी-संघ’ की प्रायः सभी भाषाओंमें प्रचलित ‘सो’ को उलट-पलटकर (वर्ण-व्यत्यय से) हिन्दीने ‘ओस’ प्रातिपदिक बना लिया है—‘सो’ का ‘ओस्’ रूप। स्वरान्त प्रवृत्तिसे ‘ओस’। यह नया ‘ओस’ प्रातिपदिक ‘सो’ के साथ-साथ हिन्दी संघ की सभी भाषाओंमें चलता है—‘पिता वचन मन्तेऊं नहि ओहू’। ‘ओहू’ का ‘ओहू’ छन्दानुरोधसे है। ‘हू’ यहाँ समुच्चयबोधक—अव्यय नहीं है; क्योंकि रामजी पहले किसी पितृवचनसे हटे नहीं थे कि उसका समुच्चय हो। ‘ओहू’ के साथ ‘वह’ भी चलता है।

हिन्दीमें ‘ओहू’ नहीं ‘वह’ रूप चलता है। ‘ओ’ को ‘व’ और ‘स’ को ‘ह’। सविभक्तिक पद ‘उसको’ आदि होते हैं—‘ओ’ का ‘उ’ करके। बहुवचनमें ‘स’ की जगह ‘न’ करके बनता है।”<sup>६</sup>

३४५. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कल्पित रूपों का विधान नहीं करते और समस्याका समाधान बोलियों में खोज लेते हैं। यदि संस्कृतेतर [लौकिक संस्कृतको छोड़कर] भाषाओंके साथ संगति बैठायें और बोलियों को आधार बनाकर—भौगोलिक अन्तरको सामने रखकर—रूपोंपर विचार करें तो आधुनिक भाषाओंका इतिहास लिखना सरल होगा। आचार्य किशोरीदास वाजपेयीजीने इस रूपमें विचार किया है। इसलिए राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ. रामविलास शर्मानि आचार्य किशोरीदास वाजपेयीका समर्थन किया है।

३४६. सच्चाई यह है कि हमें आधुनिक भारतीय भाषाओंका इतिहास लिखते समय भौगोलिक भेद रखने वाली प्रवाहमयी भाषाओंके रूपोंको, ध्वनियोंको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें पहचाननेका प्रयत्न करना चाहिये। मराठी भाषाका इतिहास लिखते समय मराठी के पड़ोसकी—भौगोलिक निकटता रखनेवाली भाषाओंकी अर्थात् गुजराती, उड़िया हिन्दी [मालवी, हलवी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी], तेलुगु, कन्नड़—सभी भाषाओंके रूपोंको सामने रखकर मराठी भाषाका इतिहास लिखना ठीक होगा। मराठी अपने पड़ोसकी भाषाओंके भौगोलिक संस्कारोंसे मुक्त

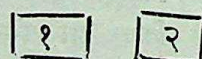
६. हिन्दी शब्दानुशासन, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, (द्वितीय संस्करण, संवत् २०२३), पृ. १६ [दूसरे संस्करणपर लेखकके निवेदनसे]

नहीं रह सकती। इस रूपमें आधुनिक भारतीय भाषाओंका इतिहास नहीं लिखा गया है। प्रायः आर्य परिवार की भाषाओंका इतिहास लिखते समय लौकिक संस्कृत को मूल मानकर आधुनिक भाषाओंका इतिहास लिखा जाता रहा है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्यानि यही किया और डॉ. धीरेन्द्र वर्मनि उन्हींका अनुसरण किया।

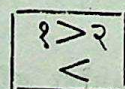
३४७. हिन्दी भाषा अपने उद्भव कालमें भारत-वर्षमें भौगोलिक विस्तार किये हुए मिलती है। इस तथ्यकी ओर प्रायः इतिहास लिखनेवालोंका ध्यान नहीं गया है। उत्तर भारतमें तो [आर्य भाषाओंके क्षेत्रमें कहना चाहिये] उसका भौगोलिक विस्तार हुआ ही था किन्तु दक्षिण भारतमें भी हिन्दीभाषाका भौगोलिक विस्तार बहुत पहले हुआ है। इतिहासमें प्रमाण खोजने पर मिल जायेंगे। संस्कृत भाषाकी भौगोलिक यात्रा से और प्राकृतकी भौगोलिक यात्रासे हिन्दीकी भौगोलिक यात्रा भिन्न है। इस भौगोलिक यात्राके कारण हिन्दी को भारतवर्षकी प्रायः सभी आधुनिक भाषाओंके संस्कार प्राप्त हुए हैं। यहाँ केवल दक्षिण भारतको केन्द्र में रखकर हिन्दीके भौगोलिक विस्तारकी चर्चा की जा रही है। दक्षिण में महाराष्ट्र और द्रविड़ परिवारसे सम्बन्धित सभी प्रदेशोंको सम्मिलित किया जा सकता है।

३४८. भाषाओंका इतिहास लिखते समय भाषाओं के भौगोलिक विस्तारपर भी विचार करना आवश्यक है। भौगोलिक स्वरूपके विश्लेषणका चित्र इस प्रकार होगा :

अ—



आ—



‘१’ और ‘२’ दोनों अलग-अलग भौगोलिक केन्द्र हैं। पहली स्थितिमें दोनों एक दूसरेको काटते नहीं। दूसरी स्थितिमें दोनों एक दूसरेको काटते हैं। किसीभी बोली का भौगोलिक केन्द्र पड़ोसकी बोलियोंके वृत्तोंको काटने वाला होगा। इस रूपमें भौगोलिक स्वरूपपर विचार करना और अपने मूल भौगोलिक केन्द्रको तजकर किसी दूसरे स्थानपर भौगोलिक यात्राकर जाना पहुंच जाना अलग बात है। बोलियोंकी भौगोलिक यात्राके कारणों का विवेचन ऐतिहासिक आधारपर किया ही जा सकता है। दक्षिण भारतमें—हिन्दीकी ब्रज बोलीकी भौगोलिक यात्रा हुई या खड़ी बोलीकी भौगोलिक यात्रा हुई।



दोनोंकी हुई तो उसके कारण क्या है ? और इस यात्रा में सम्बन्धित बोली अन्य भौगोलिक केन्द्रोंमें पहुंचकर अपने रूपको कैसे बदलती है— यह सब देखना आवश्यक है ।

३४९. “हिन्दी”—नामकरण अमीर खुसरोके समय में हो गया था । वास्तवमें हिन्दी भाषाके साहित्यिक स्वरूपकी बोलीका केन्द्र [भौगोलिक केन्द्र] दिल्ली-मेरठ है । इन्द्रप्रस्थ हस्तिनापुर है । दिल्ली राजधानी बननेके बाद इसका महत्त्व बढ़ा किन्तु इससे पूर्व भी दिल्ली-मेरठ केन्द्रकी बोली पश्चिममें कौरवी [हरियाणाकी बांगरू आदि—आजकी हरियाणवी] और और पूर्वमें कन्नौजी और दक्षिणमें ब्रजके मिले-जुले रूपवाली—बोली समस्त भारतमें फैलने लगी थी । फिर वह बोली जहाँ-जहाँ पहुंचती, वहाँके भौगोलिक संस्कार उसे प्राप्त होते—उसे अवधी, भोजपुरी, बुन्देली ढूँढाड़ी, मारवाड़ी, मालवी एवं अनेक बोलियोंके संस्कार प्राप्त हुए हैं । और फिर सुदूर प्रदेशोंमें जब ये बोली पहुंची है—महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक आदि प्रदेशोंमें पहुंची है—तो उन-उन प्रदेशोंकी बोलियोंके संस्कारभी उसे प्राप्त हुए हैं ।

३५०. हिन्दी भाषामें—साहित्यिक स्वरूपकी दृष्टिसे विचार करें तो—बोलियोंका क्रम चाहे जो हो, उसमें दो बोलियां प्रधान हैं—(१) खड़ी बोली और ब्रज बोली । दोनों ही भौगोलिक रूपमें एक दूसरेके पड़ोसमें हैं । दोनोंके भौगोलिक केन्द्र दिल्ली-मथुरा—एक दूसरेको काटते हैं । मथुराके स्थानपर राजनीतिक केन्द्र आगराभी समझा जा सकता है । दिल्ली-आगरा—दोनों भारतकी राजधानियां रही हैं । खड़ी बोलीका इतिहास दिल्लीसे जुड़ा है और ब्रज बोलीका इतिहास आगरासे जुड़ा है । साहित्यके इतिहासमें ब्रज बोली पहले ब्रजभाषा हुई और खड़ी बोली भारतेन्दु युग तक खड़ी बोली रही और बादमें भी खड़ी भाषा न होकर बोली रूपसे उसे खड़ी बोली और भाषा रूपमें उसे हिन्दी भाषा कहा जाता है । आजकी साहित्यिक हिन्दी यही है ।

३५१. अमीर खुसरोके समयमें हिन्दीका स्वरूप साहित्यिक रूपमें बन गया था । उसकी भाषामें दिल्ली आगराका मिला-जुला रूप है । न वह पूरी तरह खड़ी बोली है और न ही पूरी तरह ब्रज है । दोनोंका सम्मिलित रूप उसमें मिलता है । अमीर खुसरोके समयमें ही दिल्ली-आगराकी सामान्य भाषा [खड़ी-बोली और ब्रजके मिश्रित स्वरूपकी भाषा] महाराष्ट्र और सुदूर

दक्षिणतक, जहांतक मालिक काफूर गया था, वहांतक—तमिलनाडु तक—पहुंच गयी थी । वस्तुतः हमें अमीर खुसरोसे पहलेकी ऐतिहासिक स्थितियोंपर विचार करना है—कारण यह है कि हिन्दीका इतिहास बोली रूपमें और भी पुराना है । राजनीतिक रूपमें दिल्ली केन्द्र बन जानेसे भी पुराना है ।

३५२. प्राकृतोंकी परम्परासे आनेवाली भारतीय भाषाओंमें—प्राकृतोंका स्थान हिन्दीको मिला है । ऐसा इसलिए कि प्राकृत प्रवाहमयी भाषा है, और उसका भौगोलिक विस्तार समस्त देशमें हुआ है और प्राकृतके ही अलग-अलग भौगोलिक भेद अलग-अलग भाषाओंका स्वरूप लेते गये हैं और इन समस्त भौगोलिक भेदोंमें हिन्दीका भौगोलिक विस्तार सर्वाधिक हुआ है ।

३५३. हिन्दी भाषा दक्षिण भारतमें मुसलमानों के आगमनसे पूर्व पहुंची है । अलाउद्दीन खिलजीके आगमनसे (देवगिरिपर आक्रमणसे) पूर्व पहुंची है । अलाउद्दीन खिलजीका आक्रमण १२९६ ई. में हुआ था । उससे पूर्वही हिन्दी भाषा दक्षिणमें भौगोलिक विस्तार पा चुकी थी और उसका प्रधान कारण नाथ, सिद्ध तथा संन्यासी थे । ये लोग दक्षिण भारतमें विचरण करते थे । महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और सुदूर तमिलनाडु तक पहुंचे थे । इस रूपमें अभी पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है । इनके साथ-साथ सूफी लोग भी पहुंचे हैं । नाथ-सिद्ध-संन्यासी-सूफी आदि जनभाषाको अपनाते थे । इनकी सामान्य भाषा हिन्दीका प्राकृत रूप है । इनका ऐतिहासिक काल शंकराचार्यके बाद मान सकते हैं । यों तो प्राकृत भाषाके लोकमंचसे—बोलचालके स्वरूपसे—हटनेके बादसे ही आधुनिक भारतीय भाषाओंके कारण उद्भव का काल मानना चाहिये । दसवीं शताब्दीमें स्वरूपके स्पष्ट हो जानेके कारण उनका उद्भव उसी समय मान लेना ठीक नहीं है । उससे पूर्व कम-से-कम सात-आठ शताब्दियों तक पहुंचा ही जा सकता है । मराठी भाषाके उद्भव कालमें हिन्दी महाराष्ट्रमें भौगोलिक विस्तार पा चुकी थी । इसके ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते हैं ।

३५४. हिन्दी-तमिल-तेलुगु-कन्नड़-मलयालम-मराठी-सभी आधुनिक भाषाएं हैं । भाषाओंका भेद भौगोलिक है । दक्षिण भारतमें हिन्दी भाषा महाराष्ट्र में पहले स्थिर हुई और महाराष्ट्रसे उसकी भौगोलिक यात्रा सुदूर दक्षिणमें हुई है । भाषाओंके साहित्यिक स्वरूपसे हटकर उनके बोली रूपोंपर विचार किया जा रहा है । साहित्यके माध्यमसे इसके प्रमाण मिलते हैं । □

(लेखका खण्ड २—आगामी अंकमें)



# प्राकृत महाकाव्य

## गउडवहो?

[गौडवध]

मूल कवि : वाक्पति

हिन्दी रूपान्तर : डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र

समीक्षक : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

वाक्पति राजके इस महाकाव्यकी दो संपादित प्रतियां उपलब्ध हैं—१. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटनामें पंडित द्वारा संपादित २. प्रो. एन. जी. सुरु द्वारा संपादित एवं प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबादसे प्रकाशित। इन्हींको आधार बनाकर समीक्ष्य कृतिका अनुवाद किया गया है। इस कृतिको दो दृष्टियों से महत्त्व मिलना चाहिये—पहली दृष्टि है भूमिका स्वरूप 'गउडवहो' के सभी पक्षोंका परिचयात्मक विवरण, जिससे प्रथम साक्षात्कारमें महाकाव्यकी भाव-भूमिका परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरी दृष्टि है—हिन्दी भाषामें प्रथम बार इस प्राकृत महाकाव्यका अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

प्राक्कथन (भूमिका) में न केवल महाकाव्यकी विषय-वस्तु, कथा, उद्देश्य, भाषा आदिपर संक्षेपमें विचार किया गया है, अपितु उसकी प्रामाणिकताको सिद्ध करनेके लिए ऐतिहासिक तथ्योंको भी जुटाया गया है। वाक्पतिराज यशोवर्मके राजकवि थे और राजा ने कविराजकी उपाधिसे उनका सम्मान किया था। अतः यशोवर्मकी नायक बनाकर उनके गुणगानका वर्णन इस महाकाव्यका लक्ष्य रहा। 'गउडवहो' के रचना कालके संबंधमें लेखिकाका तर्क है—“पंडित महोदयके अनुसार 'गउडवहो' की रचना ७०० से ७२५ ई. के बीच हुई। रचनाका समय स्पष्टतः गौडवधके

बाद आता है। यशोवर्मकी पराजय (कश्मीरके राजा के हाथों) के पूर्वकी रचना इसे मान सकते हैं।” डॉ. सुरु दूसरा ही तर्क देते हैं। उनके अनुसार इसकी रचना का समय ७३० ई. के बाद है। उनके अनुमानका आधार है कि कविको अपनी रचना सजाने संवारनेका अवसर नहीं मिला। कारण, ७४० ई. के आसपास उनके आश्रयदाता यशोवर्मके ऊपर कश्मीरके राजाका आक्रमण हुआ। इससे कविका जीवन अस्तव्यस्त हो होगया।

इस ग्रंथका प्रतिपाद्य है—गौड नरेशका वध। 'वहो' (प्राकृत) का अर्थ है 'वध' (हिन्दी), परंतु इस घटनाका कहींभी आदि, मध्य एवं अवसानमें उल्लेख नहीं है। प्रसंगवश भलेही उल्लेख मिल जाता है। इस महाकाव्यका प्रधान रस वीर और शृंगार है। नायक हैं प्रख्यात पुरुष यशोवर्म। काव्यकी वस्तु ऐतिहासिक है। इसे वीरकाव्य कहा जा सकता है। कारण, इसमें सेनाके प्रयाण, एवं युद्धका ओजपूर्ण वर्णन है। शस्त्र और शास्त्र दोनोंही होते हैं वीरोंके शृंगार। क्लीव न तो तप ही कर सकता, और न उठा सकता तलवार। यशोवर्म योद्धा हैं, तो शास्त्रज्ञभी। उनके दोनों रूपोंके दर्शन मिलते हैं। वाक्पतिराजने यह वर्णन बड़े मनोयोगपूर्वक किया है।

'गउडवहो' की रचना महाराष्ट्री प्राकृतमें है। इसकी वर्णन-शैलीकी विशेषता है—ओज और माधुर्य का समन्वय। कारण, उनका विश्वास है कि राजा और कवि दोनोंके लिए यह वांछनीय है—

“विणय-गुणो दंडाडंबरो अ मंडंति जह णरिद  
सिंरि ।

तह टंकारो मधुरचणं अ वाअं पसाहेति ॥६७॥”

अर्थात् जिस प्रकार विनयका गुण और दंडका आडंबर नृपतिकी श्रीका मंडन करते हैं उसी प्रकार टंकार और मधुरत्व कविकी वाणीका प्रसाधन करते हैं।

१. प्रकाशक : वाणी वाटिका प्रकाशन, पटना-  
८०००४ । पृष्ठ : ३००; डिमा. ६०; मूल्य :  
८०.०० रु. ।



कहा गया है—‘नव नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता’—नव नवोन्मेषिणी प्रज्ञा प्रतिभा कहलाती है। ऐसी प्रतिभाके धनी हैं वाक्पति राज। एक उदाहरण ध्यातव्य है—

दे उ सुहं वो पसु-वइ-सिराहि गोरी-विसूरि—  
अत्वेहि।

सोवालंग व्व हिमाल अंक-परिधोलि री गंगा ५८॥

इसके अर्थसे ही उनकी प्रतिभाका प्रमाण मिल जाता है—वह गंगा आपको सुख दे जो गौरीके सपत्न्योचित व्यवहारसे खिन्न होकर महादेवके सिरपरसे उतरकर अपने पिता हिमवान्की गोदमें गिरती है, मानो सपत्नीकी शिकायत करने पिताके पास चली गयी हो।

सर्वोत्तम अनुवादके लिए चाहिये सर्वशुद्ध प्रामाणिक पाठ। उस भाषापर अधिकार। उस भाषाके बोलनेवालोंकी सभ्यता, संस्कृति, लोकगीत, लोक-जीवन, रूढ़ियों, संस्कारों आदिका सम्यक् ज्ञान।

लेखिकाने प्राकृत भाषाकी अनवरत साधनाकर यह अनुवाद-कार्य प्रस्तुत किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीने ‘रसज्ञ रंजन’ के एक लेखमें यह स्वीकार किया है कि एक भाषासे दूसरी भाषामें अनुवाद करते समय मूल भाषाका कुछ रस छलककर गिर ही जाता है, जिस प्रकार एक शीशीसे दूसरी शीशीमें इत्र ढालते समय छलक जाता है। परंतु यह अनुवाद इस स्थापनाका भी अपवाद लगता है। आद्यंत अनुवादके पारायणमें मूलका आनंद मिलता है। इस अनुवादकी सरलता सुगमताका एक कारण है परिशिष्टमें संपूर्ण कृतिमें आये महत्वपूर्ण व कठिन शब्दोंका शब्दार्थ (पृष्ठ २८२ — ३०० तक)। शब्दके उल्लेखके साथ गाथा संख्याका उल्लेखकर दिया गया है, जिससे पाठकोंको सुविधा हो। प्राकृतके इस प्रख्यात महाकाव्यको जन-जन तक पहुंचानेके लिए लेखिका साधुवादकी अधिकारिणी है। □

## आलोचना

### माखनलाल चतुर्वेदी?

लेखक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

समीक्षक : डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

डॉ. श्यामसुन्दर घोषने माखनलाल चतुर्वेदीके व्यक्तित्वको उनके कृतित्वसे भी बढ़कर माना है और कृतित्वके कुछ पक्षोंपर आनुषंगिक रूपमें इसलिए प्रकाश डाला है जिससे चतुर्वेदीजीके व्यक्तित्वको समग्रता के साथ निरूपित किया जा सके। पुस्तकके अध्यायोंके शीर्षकोंसे स्पष्ट झलकता है कि समालोचककी दृष्टि चतुर्वेदीजीके ओजस्वी, मुक्त, जातीय, राष्ट्रीय, संकल्प-

निष्ठ तथा उदात्त व्यक्तित्वपर ही केन्द्रित रही है। साहित्य-सर्जनसे सम्बन्धित अध्यायोंके द्वारा भी लेखकने उनके व्यक्तित्वकी विशेषताओंकी ही पुष्टि की है। व्यक्तित्वको केन्द्रमें रखकर व्यक्तित्वसे कृतित्व तथा कृतित्वसे व्यक्तित्वकी विशेषताओंको उजागर करनेकी पद्धति अपनानेके कारण यह पुस्तक अपने दृष्टिकोण तथा विवेचनमें पर्याप्त मौलिक है। इससे, प्रकारान्तर से, चतुर्वेदीजीके कृतित्वके अनेक नये पहलुओंपर प्रकाश पड़ा है तथा उसे नये ढंगसे जांचने-परखनेकी दृष्टि मिली है।

अध्यायोंके शीर्षक ढर्रेसे हटकर हैं। ‘माखनलाल चतुर्वेदी : एक निश्चर व्यक्तित्व’, ‘एक और कलमका मजदूर’, ‘एक धधकता हुआ ज्वालामुखी’ आदि अध्यायों के शीर्षकोंसे प्रतीत होता है कि लेखकने प्रभाववादी आलोचना-पद्धतिका प्रथम लेते हुए, चतुर्वेदीजीके

१. प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर भवन, ३ लीडर मार्ग, इलाहाबाद-२११००१। पृष्ठ : २४०; डिमा. ८६; मूल्य : ६०.०० रु.।



व्यक्तित्वकी महिमासे अभिभूत होकर, विभिन्न अध्यायों के रूपमें ललित निबन्धोंकी रचना कर डाली है। किन्तु पुस्तक पढ़नेपर पता चलता है कि लेखकके स्वच्छन्द समालोचकीय स्वरूपकी जड़ें वस्तुनिष्ठता, तर्क-संगति और वैचारिक अन्वितिमें गहराईसे गड़ी हैं। वस्तुनिष्ठता और उन्मुक्तता, तर्क और प्रातिभज्ञान, अध्ययन और स्वानुभूति, विश्लेषण और सर्जनके सीमान्तोंको लेखकने अपनी समन्वित, सर्वसमावेशी समालोचना-पद्धतिमें बड़े प्रभावशाली ढंगसे समाहितकर लिया है। प्रस्तुत पुस्तकमें वस्तुनिष्ठता और तर्क-पद्धतिका यान्त्रिक रूपमें अनुसरण नहीं किया गया है, जैसा कि आजकल लिखे जा रहे तथाकथित शोध-प्रबन्धोंमें अक्सर पाया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें डॉ. घोषकी पारदर्शी दृष्टिका प्रमाण पग-पगपर मिलता है। प्रवृत्तियोंकी पकड़का लक्ष्य शब्द-प्रयोगोंकी सूक्ष्म समझके सहारे प्राप्त किया गया है। सुधी समालोचकने चतुर्वेदीजीकी कविताके कुछ मूल शब्दोंको, जिन्हें 'बीज-मन्त्र' कहा गया है, गहराईसे ग्रहण किया है और उन्हींके आधारपर चतुर्वेदीजीके व्यक्तित्व और कृतित्वकी मूल प्रवृत्तियोंका प्रामाणिक पर्यालोचन और मूल्यांकन किया है। भाषिक भंगिमासे भाव-भंगिमातक पढ़नेकी यह शैली एवं वैज्ञानिक पद्धति नितान्त विश्वसनीय है। लेखकने चतुर्वेदीजीकी रचनाओं में प्रचुरतासे पाये जानेवाले हृदय, प्रेम, साधारणता, साहस, सूझ, संकल्प आदि शब्दोंके आधारपर उनके व्यक्तित्वकी मूल प्रवृत्तियोंको निरूपित किया है। उदाहरणके लिए, लेखकने चतुर्वेदीजीके व्यक्तित्वकी तीन विशेषताओंको तीन शब्दोंके सहारे निरूपित किया है तथा साथही उनकी अर्थ-व्याप्तिभी निर्धारित की है। वे लिखते हैं, "माखनलालजीके व्यक्तित्वकी तीन बातें बहुत प्रत्यक्ष हैं—हृदय, प्रेम और साधारणता। हृदय में व्याप्तता और स्पर्श-क्षमता, प्रेममें उत्सर्ग, तप-त्याग, भक्ति-समर्पण आदि और साधारणतामें दुःख, कष्ट, अभाव, गरीबीका गौरवपूर्ण स्वीकार और जन-सम्बद्धता आदि भाव आ जाते हैं।" लेखकने हृदय, प्रेम साधारणताके विविध प्रयोगोंके आधारपर अपने मन्तव्योंकी पुष्टिमें विशेष सूझ-बूझका परिचय दिया है।

डॉ. घोषके विवेचनकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता है लीकसे हटकर निर्णय देनेकी क्षमता। किन्तु इन निर्णयोंमें सतही चकपकाहट पैदा करनेकी प्रवृत्ति

निहित नहीं है; इनके मूलमें उनकी गहरी समझ सक्रिय है। लेखकने अप्रत्याशित ढंगसे कहीं कुछ नहीं लिखा है। निर्णयों तक पहुंचनेसे पूर्व उनतक पहुंचानेवाली युक्ति-शृंखला प्रस्तुत की गयी है। लेखकके कुछ निष्कर्ष उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :—

१. उनका कृतित्वभी बहुत व्यापक और प्रभावशाली है। लेकिन उनके व्यक्तित्वको देखते हुए कम प्रभावकारी है। लगता है उनका व्यक्तित्व कृतित्वमें आते-आते रह गया है।

२. माखनलालजीकी समस्त गद्य-पद्य रचनाओंको पढ़नेके बाद मेरी यह धारणा बनी है कि उनका गद्य-लेख उनके कविकी अपेक्षा ज्यादा प्रभावी है।

३. माखनलाल जी राष्ट्रीय कविकी अपेक्षा जातीय कवि अधिक हैं।

४. माखनलालजीकी राष्ट्रीयता गांधी-युगकी राष्ट्रीयता है, जिसमें धर्मको भी—निश्चयही सभी धर्मोंको—महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह जवाहर-युगकी-सी राष्ट्रीयता नहीं है, जिसमें से धर्मनिरपेक्षताके नामपर, धीरे-धीरे धर्मका, धर्म के प्रभावोंका लोप होता गया। धर्मके न रहनेसे जातीय दृष्टिभी मलिन पड़ने लगती है। यह दुर्घटना बादमें भारतमें राष्ट्रीयताके साथभी घटी।

५. उनमें युग-परायणताके साथ-साथ वैष्णव भाव और वृत्ति इतनी स्वाभाविकतासे आ जुड़ी थी कि उसने उनके कविकी अपेक्षाकृत एक अधिक दृढ़ आधार प्रदान किया था।

डॉ. घोषने चतुर्वेदीजीके जातीय चिन्तनको ध्यान में रखकर उन्हें एक विचारक कवि माना है—“वे कवि जितने बड़े हैं विचारकभी उतनेही बड़े हैं।” चतुर्वेदीजी के विचारक रूपकी प्रतिष्ठाके मूलमें निहित युक्तिका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं, “यदि कविकी कोई वैचारिक रीढ़ नहीं है, तो केवल कविता लिखकर, चाहे वह कितनीही मृदुल, कोमल, रंगीन और रसवन्ती क्यों न हो, भारतीय मानसमें कोई जड़ें नहीं जमा सकता।”

डॉ. घोषकी चिन्तन-पद्धति अन्वितिमूलक है, जो साहित्यिक चिन्तन और सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तनकी अविच्छिन्नतापर आधारित है। चतुर्वेदीजीके साहित्य के सूत्रबन्धमें डॉ. घोषके सिद्धांतों की इस टिप्पणीपर



कि "उनकी रचनाओंमें कहीं-कहीं हिन्दू राष्ट्रीयताका स्वर ज्यादा प्रबल हो उठा है," अपनी सुचिन्तित प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए डॉ. घोषने लिखा है, "मुसलमानों के प्रसंगमें अधिकतर भारतीयताकी बात की जाती है। उनका इस रूपमें भारतीय होना जातीय होनाही है। जब यही भारतीयता या जातीयता हिन्दुओंका गुण या चरित्र हो जाता है तो यह हिन्दू राष्ट्रीयता कैसे हो जाती है, यह बात समझमें नहीं आती। हर चीजको राजनीतिक चश्मेसे देखकर उसे एक गलत नाम तो दिया जा सकता है, पर वह कहांतक उचित और इतिहाससम्मत है, या हो सकेगा, इसपर विचार करनाभी जरूरी है।" स्पष्ट है कि लेखककी दृष्टि भारतीय इतिहास और संस्कृतिकी पुष्ट परम्परासे प्रेरित और अनुप्राणित होनेके कारण ऐतिहासिक कारण-कार्य-मूलक विकास-प्रक्रियाका परिणाम है। अतः सर्वथा युक्तियुक्त और प्रामाणिक है।

एक-दो स्थलोंपर लेखकके आग्रहभी दिखायी पड़ते हैं। वैसे तो चतुर्वेदीजीके सम्बन्धमें छायावाद-प्रगतिवादका पचड़ा खड़ा करनेकी आवश्यकताही नहीं थी; फिर यदि ऐसा करनाही था तो बिना किसी पूर्वाग्रहके, इस सम्बन्धमें, युक्तियुक्त विवेचन अभीष्ट था। लेखकने आग्रहपूर्वक चतुर्वेदीजीके छायावादी-रूपको अस्वीकार किया है और उन्हें प्रगतिवादी सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। वस्तुतः चतुर्वेदीजी न तो समग्रतः छायावादी कवि है और न ही प्रगतिवादी, किन्तु उनमें छायावाद और प्रगतिवादके अनुभूतिगत तत्त्व स्वाभाविक रूपमें पाये जाते हैं। मूलतः वे जितने प्रगतिवादी हैं उससे कुछ अधिकही छायावादी हैं। लेखकने स्वयं स्वीकार किया है कि "....काव्य-वस्तुकी दृष्टिसे उनमें रहस्य भावना, सूक्ष्म अभिव्यंजना, प्रकृतिका जीवन्त स्पर्श, हृदयका तारुण्य, सौन्दर्यमूलक स्वीकृति अनेक ऐसे तत्त्व हैं कि उनके काव्यको छायावादी काव्यसे उस तरह पृथक् नहीं किया जा सकता जिस तरह श्रीधर पाठक, गुप्त जी या हरिऔधजीके काव्यको कर सकते हैं।" किन्तु इसके सर्वथा विपरीत चतुर्वेदीजीको छायावादी न माननेके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं, "माखनलालजीमें छायावादका वायवीपन, उनकी पलायन वृत्ति, उसकी निरी ऐकान्तिकता, उसका अत्यधिक स्वप्नमोह नहीं है।" किन्तु ये सब तो छायावाद की सीमाएं हैं उसकी विशेषताएं नहीं। सच तो यह

है कि छायावादी कविताकी वास्तविक पहचान कराने वाली ऊर्जा कामायनी, तुलसीदास, रामकी शक्तिपूजा, जागो फिर एक बार, बादल राग, परिवर्तन आदि कालजयी रचनाओंमें व्यक्त हुई है। इनकी टक्करकी एक भी रचना समूचे प्रगतिवादी आन्दोलनसे सम्बद्ध कवियों के कृतित्वमें नहीं मिलती। डॉ. घोषने वैचारिकताको काव्यगत औदात्त्यका आधार माना है और इस कसौटी पर चतुर्वेदीजीको प्रसाद और निरालाके समान महान् बताते हुए लिखा है, "आज यदि कोई पूछे कि आधुनिक हिन्दीके तीन बड़े कवियोंमें कौन-कौन आयेंगे तो मैं बिना द्विधाके माखनलाल, प्रसाद और निरालाका नाम लेना चाहूंगा।" यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि डॉ. घोषने वैचारिकताकी दुहाई देनेवाले प्रगतिवादियोंमें से किसीको भी अपनी सूचीमें सम्मिलित नहीं किया है।

लेखकके विवेचनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टिमें छायावादकी अपेक्षा प्रगतिवादका विशेष गौरव है। इससे जाने-अनजाने छायावादके साथ अन्याय हो गया है। छायावादके सम्बन्धमें लेखककी दृष्टि कितनी सीमित और सतही है, इसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियोंमें मिलता है। वे लिखते हैं, "क्योंकि छायावाद का सम्बन्ध आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा, पश्चिमी स्वच्छन्दतावाद और रावीन्द्रिक प्रभावसे निश्चितरूपेण है, कोई कवि इन सबसे बिल्कुल कोरा हो और छायावादी हो, यह तो आजभी नहीं माना जाता, तबके प्रसंगमें तो यह अकल्पनीय है। इसलिए मेरा तो विनम्र मत है कि माखनलालजी छायावादी नहीं कहे जा सकते। छायावादी कहना उन्हें कोई गौरव और महत्त्व देना नहीं है।" सच तो यह है कि छायावादको वायवीपन और लिजलिजी अनुभूति तक सीमित मानने वालोंके लिए कामायनी, रामकी शक्तिपूजा आदि उपर्युक्त महाप्राण रचनाएं आजभी चुनौतियां बनकर खड़ी हुई हैं। वस्तुतः छायावादी कविताकी जातीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, अद्वैतवादी, उदात्त मानवीय जीवन-दृष्टिही माखनलाल चतुर्वेदीकी रचनाओंमें प्रखर वेगके साथ व्यक्त हुई है।

चतुर्वेदीजीको प्रगतिवादी सिद्ध करनेके लिए लेखकने चतुर्वेदीजीके कृतित्वके विश्लेषणका कोई प्रयत्न नहीं किया है। माखनलालजीने 'कर्मवीर' के सम्पादकोंमें जहां-तहां वर्ग-भेद, साम्राज्यवाद, अमरीकी और ब्रिटिश पूंजीवादकी निन्दा की है तथा दलित श्रमिक



वर्ग, श्रमिक-समर्थक रूसी दृष्टिकोणकी प्रशंसा की है। इन्हीं टिप्पणियोंको आधार मानकर लेखकने अपना मत स्थापित करते हुए लिखा है, "ऐसा कहने और मानने वाला प्रगतिवादी या प्रगतिशील क्यों नहीं माना जा सकता? लेकिन वे नहीं माने जाते तो कारण स्पष्ट है कि माखनलालजी न तो धर्मनिरपेक्ष थे और न ही मार्क्सवादी विचारधारामें दीक्षित।" लेखकने प्रगतिवादी और प्रगतिशील शब्दोंको पर्यायके रूपमें प्रयुक्त किया है जो युक्तिसंगत नहीं है।

उपर्युक्त मत-भेदके रहते भी यह निरापद रूपमें मानना होगा कि प्रस्तुत पुस्तक चतुर्वेदीजीके व्यक्तित्व और उसके माध्यमसे उनके कृतित्वको जानने-समझने की दिशामें एक मौलिक, महत्त्वपूर्ण एवं सफल प्रयास है। यह पुस्तक चतुर्वेदीजीके साहित्यके अध्ययताओंके लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साहित्यके अध्ययन-मननमें रुचि रखनेवाले सामान्य पाठकोंके लिए भी पठनीय और मननीय है। □

## प्रतिबद्धता और मुक्तिबोधका काव्य?

लेखक : डॉ. प्रभात त्रिपाठी

समीक्षक : डॉ. प्रेमशंकर

जहां तक रचना आलोचनाके सम्बन्धोंका प्रश्न है किसी सार्थक रचनाकारका एक वैशिष्ट्य यह कि प्रचलित प्रतिमानोंके आधारपर उसके निहितार्थ तक पहुंच पाना कठिन होता है। इस दृष्टिसे महान् रचनाएं कई सीमाओंका अतिक्रमण कर सकनेकी सामर्थ्य रखती हैं। और हमसे नये समीक्षा-निष्कर्षकी मांग करती हैं। बड़ी रचना आलोचनाको भी दिशा दे सकती है, वशर्ते कोई समझदार उससे सही साक्षात्कार करना चाहे। कभी कालिदासको टीका-योग्य कवि भी नहीं माना गया था और भवभूतिने अपने पाठकोंकी तलाशके लिए भविष्यकी ओर देखा था। हिन्दीमें निराला और मुक्तिबोध ऐसी प्रतिभाएं जहां रचनाकी एक सम्पूर्ण संघर्षयात्रा है, पर जिनकी रचनात्मक उपस्थिति केन्द्रीय रूपसे उल्लेखनीय रही है।

१. प्रका. वाग्देवी प्रकाशन, सुगन निवास, चन्दन सागर, बीकानेर-३३४००१। पृष्ठ : १६२; डिमा. ६०; मूल्य : ६५.०० रु.।

'प्रकर'—दिसम्बर'६०—१६

प्रभात त्रिपाठी कवि-समीक्षक हैं और इसलिए रचनाके स्तरपर मुक्तिबोधसे साक्षात्कार करनेके सही अधिकारी भी। मुक्तिबोधकी कठिनाई यह कि उनकी संश्लिष्ट बनावट हमें यह सुविधा देती है कि हम उन्हें अपने-अपने ढंगसे देखें, यद्यपि गहरे स्तरपर जाकर उनकी पहचानका काम काफी कठिन है। समस्या यह होती है कि दो मार्क्सवादी समीक्षक डॉ. रामधिलास शर्मा और नामवरसिंह भी मुक्तिबोधको लेकर एक-दूसरेसे स्वयंको असहमत पाते हैं जिससे आलोचना-दृष्टिके अन्तरके साथ ही कविकी अपेक्षाकृत संश्लिष्ट बनावट की भी प्रतीति होती है। कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कवोरकी सामाजिक प्रखरता और उनके आध्यात्म्य लगभग एक ही बिन्दुपर पहुंचना चाहते हैं जिसका सम्बन्ध मूल्यचिन्ता से है, पर लोग उन्हें अपने ढंगसे देखना चाहते हैं।

प्रभात त्रिपाठीने प्रतिबद्धताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है और इस विषयमें अपनी राय दी है जिसे लेकर बहस चलती रही है। साम्यवादी शिविरके बदले परिवेशमें तो यह बहस और भी तेज हो सकती है। प्रभातका कथन है कि 'एक सार्थक रचना अन्ततः एक प्रतिबद्ध रचना होती है।' यह मान्यता कुछ इस प्रकारकी है कि जैसे प्रेमचन्द सही लेखनको प्रगतिशील मानते हैं अथवा सात्र बुद्धिजीवीको वामपंथी। पर प्रभातने 'सार्थक रचना' का जो पद प्रयुक्त किया है, विवाद उसीको लेकर है। प्रतिबद्धताकी बात करते हुए कॉमरेड-लेखक गार्डहोल्डर' उसके राजनीतिक-पक्षपर भी बल देना चाहते हैं। और इसी संदर्भमें रचनाके बतौर हथियारके रूपमें इस्तेमाल की बात करते हैं। पर प्रभात इसे खारिज करनेके लिए कवि स्टिफेन स्मैंडटको उद्धृत करते हैं जो 'गॉड दैट फेल्ड' के पहले स्वयं वामपंथसे जुड़े थे। स्मैंडटका कथन है : 'मानवीय क्रियाओंमें कविता सबसे कम क्रांतिकारी है। आज जो कला रची जा रही है या रची जा सकती है, वह किसी भी अर्थमें सर्वहाराकी कला नहीं है। यह सोचना आसान नहीं है कि कोई लेखक, जो कलाकार भी है—आज सर्वहारा तक अपने कार्यको संप्रेषित कर सकता है।' पर क्या यह सार्थक लेखनके लिए एक बड़ी चुनौती नहीं है।

रचना और राजनीतिका प्रश्न बार-बार उठाया गया है और प्रतिबद्धताके संदर्भमें इसपर तीखी बहस हुई है। प्रभात त्रिपाठी राजनीति और रचनाकी प्रतिबद्धताको अलगाकर चलते हैं क्योंकि राजनीतिको वे एक



‘अंकुश’ के रूपमें देखतेहैं। पर वे प्रतिबद्धताके विरोधमें भी खड़े होना नहीं चाहते क्योंकि बतौर लेखक उनका विन्यास समसामयिकतासे विचार-संवेदन स्तरपर जुड़ा है। सार्थक रचनाको प्रतिबद्धतासे जोड़ते हुए प्रभात भारतेन्दुके नाटक ‘भारत दुर्दशा’ का उल्लेख करतेहैं। जो आजभी प्रासंगिक है और यदि ऐसीही स्थितियां बनी रहीं तो भविष्यमें भी उसकी प्रासंगिकता होगी। प्रभात यह नहीं मानते कि राजनीतिक विचार-धारा प्रतिबद्धता तय करतीहै। विपरीत इसके प्रभात त्रिपाठी एक कविकी तरह कहतेहैं ‘...इस प्रकारकी तीक्ष्ण नैतिक प्रश्नाकुलताही कविकी प्रतिबद्धताका स्वरूप तय करतीहै। इस नैतिक प्रश्नाकुलताकी असंख्य चोटोंसे लहलुहान आजका कवि इस तथ्यसे भली-भांति परिचित है कि वर्तमान समाजमें परिवर्तनके हथियार रूपमें कविताकी भूमिका दिनों-दिन नगण्य होती जा रहीहै (पृ. १७६)।’

राजनीतिके मार्गसे रचनामें प्रवेश करना और रचनासे राजनीतिमें जाना—संभवतः दोनोंको प्रभात त्रिपाठी अधूरे रचना-प्रयत्नके रूपमें देखतेहैं। एकमें वे विचारोंकी स्वतंत्रताका हनन देखतेहैं और दूसरेमें सामान्य रचनाओंको भी अहमियत देनेकी जिद की जातीहै। स्पष्ट है कि प्रतिबद्धताको प्रभात बतौर ‘लिबरल’ या उदारपंथीके रूपमें देखते-समझतेहैं और रचनाकी स्वायत्ततामें विश्वास रखतेहैं। उनका कहना है : ‘किसी व्यक्तिकी सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबद्धता का निर्णय उसके कर्मके आधारपर ही किया जाना उचित है। यदि यह कर्म साहित्य है तो उसमें ‘माध्यम’ की अपनी अपेक्षाएं हैं।’ (पृ. ७७)। प्रभात राजनेता और कवि माओत्से तुंग तथा होची मिन्हको इस बिन्दु पर अलग-अलग करके देखतेहैं—उनका राजनीतिक व्यक्तित्व महान्, पर रचनाकी ऊंचाइयां सर्वस्वीकृत नहीं कही जा सकती।

प्रतिबद्धताका प्रश्न इस पुस्तकमें बहुत विस्तारसे उठाया गयाहै—आरंभके तीन-चार अध्यायोंमें : प्रतिबद्धता एक प्रारंभिक विवेचन, कविताका स्वभाव—प्रतिबद्धतासे जुड़े अन्य प्रश्न, अतीतकी प्रासंगिकता—समकालीन बहस और मुक्तिबोधका विचारशील व्यक्तित्व। वस्तुतः प्रभात त्रिपाठी प्रतिबद्धताके प्रश्नपर एक रचनाकारकी तरह सोचते-विचारते हैं। वे पश्चिम के ‘तथाकथित उदार प्रजातंत्र’ से असंतुष्ट हैं : प्रजातंत्र

के नामपर एक नयी स्वेच्छाचारिता उदार जनतंत्रीय देशोंमें रहीहै। इससे भी ज्यादा खतरनाक दृश्य यह है कि इस स्वेच्छाचारिताको लेकर किसी प्रकार की कोई प्रतिरोधात्मक प्रतिक्रिया निरन्तर विरल होती जा रहीहैं (पृ. २८)। पर वे मार्क्स को भी पूरी तरह प्रासंगिक नहीं मानते : ‘मार्क्स न तो भाष्यकार थे और न ही भविष्यवक्ता। वे सर्जक थे, और अन्दरूनी मजबूरियोंके तहत, एक ऐसा विचार रखना चाहतेथे, जो तथ्यकी भाषामें मूल्योंको धारण करके स्थिर खड़ा रह सके और जिसमें इतनी शक्ति हो कि वह ‘मिथ’ बन सके।’ (पृ. ३४)। यह मार्क्स को देखनेका प्रभातजीका अपना ढंग है जहां द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवादकी स्वीकृति वे आवश्यक नहीं मानते। पर मार्क्सके महत्त्वको स्वीकारते हुए वे कहतेहैं : ‘सचमुच मार्क्सके सृजनात्मक विचार जगत्में ‘भाषा’ ही नहीं, भाषाएं थीं, जिसके कारण बीसवीं शताब्दीके विभिन्न क्षेत्रोंके विचारक, लेखक, कलाकार उनके प्रति आकर्षित हुए।’

प्रतिबद्धताको लेकर प्रभातका सबसे अधिक असंतोष उन भारतीय लेखकोंसे है जिन्हें वे मार्क्सके अधिकचरे व्याख्यता रूपमें देखतेहैं और कहतेहैं कि प्रतिबद्धता एक अधिक गहरे आशयका शब्द है, उसे सपाट राजनीतिक शब्दावलीमें कहना ठीक नहीं, प्रभात ‘प्रतिबद्धतासे जुड़ी जिस नैतिक पीड़ा’ की बात करतेहैं, उसमें वे ‘शब्द’ को बहुत महत्त्व देतेहैं, जिसपर कुछ लोग आश्चर्य भी कर सकतेहैं, पर उनके अपने तर्क हैं, एक सर्जकके तर्क : ‘शब्दके प्रति लेखककी निष्ठा उसकी प्रतिबद्धताका प्राथमिक साक्ष्य है। शब्दही अन्ततः इस तथ्यको उजागर करतेहैं कि लिखनेवालेकी सृजनात्मक विकलता किस स्तरकी है।’ (पृ. ७७)। आगे चलकर प्रभात मुक्तिबोधकी प्रतिबद्धतामें इन दो मुद्दोंको विशेष रूपसे रेखांकित करतेहैं—नैतिक पीड़ा अथवा सर्जनात्मक विकलता और शब्द अथवा माध्यम। वस्तुतः प्रभात प्रतिबद्धताको अपने ढंगसे देखने-समझनेका तार्किक प्रयत्न करतेहैं और इसमें मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्रके नये विचारक उनकी सहायता करतेहैं—लूकाच, गोलडमान आदि। पर प्रभात सावधान हैं कि शब्दका महत्त्व कला-वादसे पृथक् रहे।

जहांतक मुक्तिबोधकी प्रतिबद्धताका प्रश्न है उनके इस वैशिष्ट्यको सभीने स्वीकारा है कि उन्होंने विचार-



धारा और सर्जक दोनों स्तरों पर इसे प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। यदि उनके निजी जीवन-संघर्षको छोड़ भी दिया जाये, तो भी उन्होंने शब्दको आचरण के सर्जनात्मक स्तर पर स्वीकार किया। 'मार्क्सवादकी स्थूल राजनीतिक शब्दावलीको उन्होंने रचनाके लिए अपर्याप्त माना और हिन्दीमें मार्क्सवादका नया, सौन्दर्य-शास्त्र निर्मित करनेका ईमानदार प्रयत्न किया। मुक्ति-बोधके शब्दोंमें : 'प्रगतिवाद कला-मार्ग बनाना चाहता है। कला शरीरकी नसोंमें नया रक्त और नवस्फूर्तिका संचार जनताके अथाह हृदयके सम्पर्कमें आनेसे ही होगा। उससे अछूता रखनेपर वह मर जायेगा। अतएव प्रत्येक सृजन कलाकारको जनतासे चैतन्यमय सहानुभूति प्राप्तकर तेज प्राप्त करना होगा' (आखिर रचना क्यों ? पृ. १५)। मुक्तिबोधके विचारोंको उद्धृत करते हुए प्रभात त्रिपाठी उनके 'आत्मालोचन' का विशेष उल्लेख करते हैं जिससे मुक्तिबोधकी प्रतिबद्धता का चरित्र उजागर होता है (पृ. ९६), जहाँ तक मार्क्स-वादका प्रश्न है प्रभातकी टिप्पणी है कि 'मुक्तिबोधके लिए मार्क्सवाद एक ऐसी विश्व-दृष्टि थी, जो उन्हें अपनी आत्मग्रस्ततासे मुक्त करके सत्योंकी भीड़के बीच खड़ा करती थी।' मुक्तिबोधका प्रदेय रचनाके सन्दर्भमें समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्रको संयोजित करके सर्जनका नया आधार प्राप्त करनेमें है जिसे रेखांकित किया जाना चाहिये। इसलिये भी क्योंकि उनकी रचनाएं इसे प्रमाणित करनेका प्रयत्न हैं।

'प्रतिबद्धता और मुक्तिबोधका काव्य' में प्रतिबद्धताको लेकर एक ऐसे विवादमें प्रभात त्रिपाठी सम्मिलित हैं जो पश्चिममें आरम्भ हुई और शीतयुद्धके समय लगभग शिविरबद्ध होगयी। पर आज जब पूरे प्रश्न पर तेजीसे पुनर्विचार हो रहा है, प्रभात त्रिपाठी जैसे नवलेखनसे जुड़े रचनाकारोंकी उदारपंथी विचारधारा विचार योग्य है, सहमति-असहमतिका प्रश्न दूसरा है। प्रभात कहते हैं कि एक कविकी हैसियतसे मुक्तिबोध शब्द खोज रहे थे।' और इसे वे रचना-संघर्ष कहते हैं, जिसे मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष कहते हैं। 'उनका संघर्ष शब्दको चारों तरफ मौजूद पानेके बावजूद उसे इस रूप में खोजना था, ताकि वह उनकी बेचैनी, उनके उत्साह, उनकी भावुकता, उनकी बौद्धिकता, उनकी निराशा उनके आत्मविश्वासको धारण करनेवाला शब्द बन सके' (पृ. १२९)। यह अपनी जगह सही है पर प्रभात

की इस टिप्पणीसे सहमत होपाना कठिन है कि : 'पूरी कशमकश और बेहद ईमानदारीके साथ अपनी कविता को फैलाते-बढ़ाते हुए भी मुक्तिबोध जैसे कवि कविताके इस अभिजातसे पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सके। और कुछ नहीं तो आत्मलीनताका स्वर और शब्दोंकी तत्समता तथा काव्यफलकका जटिल विस्तार ये तीन ऐसी चीजें हैं जो उन्हें मुखर, प्रतिबद्धताका कवि नहीं बनने देतीं (पृ. ८८)। इस क्रममें प्रभात लोक और अभिजातके बीच रिश्तेकी बात करते हैं। पर आभिजात्यका प्रश्न जीवन-दृष्टिका पहले है, कला-शिल्पका बादमें। और अपनी सारी सीमाओंके बावजूद मुक्तिबोधका लोकपक्ष सबल है।

विचार और संवेदन गहरी जीवन-सम्पृक्तिके साथ विलयित होकर जब कवितामें आते हैं उसे अतिरिक्त ऊर्जा मिलती है। प्रभातने मुक्तिबोधकी कविताओंके विश्लेषण माध्यमसे कविकी प्रतिबद्धताको प्रमाणित करना चाहा है। मुक्तिबोध सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूतिको सारतः एक मानते हैं (पृ. ११८) यह टिप्पणी करते हुए प्रभात इसकी व्याख्या करते हैं : 'मुक्तिबोध नयी कविता युगके कवि थे। उनके सोचने के केन्द्रमें नयी कविता मौजूद रही पर यह कविता उनके लिए एक साहित्यिक संज्ञा मात्र न थी। इसे उन्होंने एक समूचे युगकी सृजनात्मकताके रूपमें देखा। अपने युगकी सृजनात्मकताके साथ मुक्तिबोधका लगाव निरा भावुक या स्थितिबद्ध लगाव नहीं था। वे कविता को जीवनकी पुनर्रचना मानते थे।' कविताओंका विवेचन करते हुए प्रभातने उस 'नैतिक प्रश्नाकुलता' की तलाश की है जिसे वे सही प्रतिबद्धताका प्रस्थान-बिन्दु मानते हैं। इस दृष्टिसे 'मुक्तिबोधका काव्य-संसार' और 'प्रतिबद्धता : मुक्तिबोधका काव्य' इस पुस्तकके सबसे उल्लेखनीय अध्याय हैं जहाँ हम कवि प्रभातकी मौलिक विश्लेषण क्षमता अपने सर्वोत्तम रूपमें देखते हैं। मुक्तिबोध हमारी चर्चके केन्द्रमें हैं, पर प्रभातने जिन कविता पंक्तियोंका प्रमाण रूप उद्धृत किया है, प्रायः उस ओर हमारा ध्यान कम जाता है।

एक लम्बी जीवन्त परम्पराके क्रममें मुक्तिबोधको देखना-परखना विचित्र लग सकता है, पर प्रभात जानते हैं कि सार्थक रचनाएं जमीनसे उखड़ी हुई नहीं होती, उनमें सही परम्परा नया आकार ग्रहण करती हैं। प्रभात की टिप्पणी है कि 'मुक्तिबोधकी कवितामें जातीय



स्मृतियोंकी भूमिका बेहद महत्त्वपूर्ण है...। मुक्तिबोध स्मृति-कथाके व्याख्याकार भर नहीं हैं, बल्कि भारतीय मानसमें विद्यमान समूची आदिकालोन और पुराण परम्पराके ही नहीं, प्रचलित जनश्रुतियों और जन-विश्वासोंके गायक हैं। वे आधुनिक संदर्भमें प्राचीन कथाका स्मरण, एक गहरे नैतिक आवेगके साथ करते हैं (पृ. १४५)। ब्रह्मराक्षस, काव्यात्मन् फणिधर, चम्बल घाटी, मालव-निर्झर आदि यहां नया अर्थ पा जाते हैं। मुक्तिबोध एक ऐसे सचेतन कवि हैं जिनकी कविता अतिरिक्त समझकी मांग करती है और इसमें संदेह नहीं कि प्रभात त्रिपाठीकी पुस्तक हमारी सहायता करती है। प्रतिबद्धताकी अवधारणाको लेकर बहम हो सकती है, पर प्रभातकी उदार दृष्टि इसके लिए थोड़ीही गुंजायश देती है, वह भी राजनीतिक पक्षको लेकर। प्रभातकी समापन टिप्पणी विचारणीय है : '...प्रश्नाकुलताके साथ हमने निर्णय लिया था कि आजके विशिष्ट समय में प्रतिबद्धताकी प्रकृतिकी परिभाषाके लिए मुक्तिबोध का काव्यही सर्वथा उपयुक्त है' (पृ. १८८)। नागार्जुनके विषयमें प्रभातकी टिप्पणी है : 'प्रतिबद्ध कवि नागार्जुनभी हैं। उन्होंने भी जनताको उद्बुद्ध करनेवाली सैकड़ों कविताएं लिखी हैं। यही नहीं, अपनी विशिष्ट व्यंग्य पद्धति द्वारा वे अपेक्षाकृत विशाल जन-समुदाय तक पहुंचनेमें सक्षम भी रहे हैं। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि उनकी स्पष्ट प्रवर राजनीतिक कविताओंकी तुलनामें उनकी उन कविताओंका प्रभाव अधिक स्थायी है जिसमें उन्होंने प्रकृतिके अनन्त सौन्दर्यका सृजन किया है, जिसमें मानव अनुभूतिके निगूढ़ प्रदेशोंकी यात्रा की है'। (पृ. १८९)।

मुक्तिबोध जैसे सार्थक कविकी प्रतिबद्धताको लेकर लिखी गयी यह पुस्तक एक दूसरे प्रयत्नकी मांग भी करती है जिसमें मुक्तिबोधकी कविताओंका विशद विवेचन हो, और प्रभात त्रिपाठी जैसे कवि-समीक्षकसे यह अपेक्षा बहुत अनुचित भी नहीं कही जायेगी। शोध-योजनाके अन्तर्गत किये गये इस कार्यका काफी हिस्सा प्रतिबद्धता सम्बन्धी बहसने ले लिया है, जिसपर बदले वातावरणमें पुनर्विचारकी गुंजायश है। प्रभातकी दूसरी पुस्तक मुक्तिबोधके कविता-संसारसे सीधा साक्षात्कार करेगी, यह आशा कीजानी चाहिये। 'प्रतिबद्धता और मुक्तिबोधका काव्य' हिन्दी शोधकी अवमूल्यित स्थिति में सर्जनात्मक प्रयत्नका एक नया प्रतिमान है और इससे

बहुत कुछ सीखा जासकता है। भाग्यसे प्रभातको अपने इस कार्यमें डॉ. गंगाधर झा (स्व.) जैसे तेजस्वी व्यक्तित्वके सान्निध्यका लाभ भी प्राप्त हो सका, जिससे पुस्तकको एक नयी चमक मिली। पुस्तकका प्रमुख आकर्षण है, उसकी मौलिक विवेचन शक्ति और विचार के स्तरपर हमें उकसानेकी सामर्थ्य। □

## समकालीन साहित्य और पाठक?

लेखक : डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्त

समीक्षक : डॉ. विश्वभावन देवलिया

आलोच्य ग्रंथ लेखकके श्रमसाध्य शोध-सर्वेक्षणका जीवन्त आलेख है जो साहित्यकी शक्ति संरचनामें पाठककी प्रस्थिति एवं भूमिकाका तथा पाठक, लेखक प्रकाशककी अंतःक्रियाओंकी जटिल बनावटको समझने व विश्लेषित करनेकी जिज्ञासाका एक गंभीर कार्य है। लेखक समाजशास्त्रके प्राध्यापक हैं जिन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्यके समाजशास्त्रीय विश्लेषणपर अत्यंत गहन शोधकार्य किया है। लेखकने नितांत उपेक्षित समाजशास्त्रकी शाखा कला एवं साहित्यके समाज-शास्त्रके वैज्ञानिक अनुसंधानके प्रति समर्पणका प्रमाण अपने इस ग्रंथमें दिया है।

लेखक जो कुछ भी सृजन करता है उसका आस्वादक पाठक है लेखक और पाठकके सम्बन्धोंका आधार वह रचनात्मक एकता है जो किसीभी कृतिको जनताकी सांस्कृतिक विरासतका गौरव प्रदान करती है। सर्जक कलाकार अपनी चेतनामें अपने पाठकको उपस्थित रखता है किन्तु प्रत्येक पढ़नेवालेमें न तो कलात्मक रुचि होती है और न ही गुण-दोष विवेचनकी क्षमता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक पढ़ा गया साहित्यभी नहीं होता। लेखकने अपने गम्भीर अध्ययन द्वारा इस ग्रंथमें कृति, कृतिकार और पाठकके भाव-तादात्म्यकी व्यापक चर्चा की है तथा सृजन और उपभोगके आधारपर पाठकों का वर्गीकरण भी किया है। यही लेखकने स्थापित किया है कि कालजयी लेखक एवं कालजयी कृतियाँ पाठक

१. प्रका. : सीता प्रकाशन, मोती बाजार, हाथरस (उ. प्र.)। पृष्ठ : १४५; डिमा. ६०; मूल्य : ६०.०० रु.।



की आधारशिलापर ही अस्तित्व ग्रहण करती रही हैं।

साहित्यके चरित्र और लेखक, प्रकाशक, पाठकके परस्पर प्रभावोंके समकालीन संदर्भमें डॉ. गुप्तने अनेक प्रश्न उठाये हैं। लेखकने पाठककी पठन रुचिके स्तरपर जितनी गहरी चिन्ता व्यक्त की है उतना ही गंभीर विश्लेषण प्रकाशन संदर्भमें अच्छे साहित्यके अभावपर भी किया है। यह सच है कि पिछले कुछ वर्षों में जो तकनीकी परिवर्तन पुस्तक प्रकाशनके क्षेत्रमें आया है उस अनुपातमें जनताको पुस्तकप्रेमी नहीं बनाया जा सका। यह एक समाजशास्त्रीकी सोच और ध्यानाकर्षणही नहीं, कि उत्पाद बढ़ रहा है, पाठक कम हो रहे हैं, उपभोग घट रहा है बल्कि, यह लेखक, प्रकाशक जनता और शासनकी भी चिन्ताका विषय होना चाहिये कि कहीं प्रौद्योगिकी हमारे सर्जनात्मक विचार-विनिमयको तो प्रभावित नहीं कर रही ?

प्रस्तुत ग्रंथ, साहित्यके उत्पाद, उपभोग एवं वितरणके समकालीन संदर्भमें लेखक-पाठककी अंतःक्रिया के स्वरूप, समकालीन साहित्यके प्रति पाठककी मानसिकता एवं अभिरुचिकी प्रकृति व स्वरूपकी जाँच पड़तालका सोद्देश्य अनुसंधान आयोजन है जिसमें लेखकने समकालीन साहित्यके प्रति पाठकोंके दृष्टिकोण, पाठकों की समस्याएं, गंभीर पठनके ह्रासके कारण, अपराध-सेक्स-जासूसी साहित्यके प्रति पाठकोंकी बढ़ती अभिरुचि, लेखकोंके प्रति पाठकोंके दृष्टिकोण व पाठकोंकी क्रयशक्तिका विस्तृत सर्वेक्षण किया है। इस प्रसंगमें लेखकने लगभग पचास प्रश्नोंवाली एक प्रश्नावली विभिन्न स्तरके पाठकोंको भेजी और तीन सौ पाठकों से प्राप्त सूचनाओंपर निष्कर्ष निकाले। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा विभिन्न स्तर, धर्म, जाति, आयुके सूचनादाताओंसे लेखकने कृति परिचयके स्रोत, कृतिके चयन, कृति प्राप्तिके स्रोत, पाठकोंकी क्रयशक्ति, पठनकी निरन्तरता, भाषाई विविधता, साहित्यकी विविध विधाओंमें पाठकोंकी अभिरुचि, प्रिय साहित्यकार, प्रिय कृतिका सारणी क्रमसे विश्लेषण और विवेचन किया है। लेखक ने प्रेम-हिंसा-अपराध साहित्यके प्रति पाठकोंकी रुचिमें वृद्धिके कारणों व आकर्षणपर गहरा विवेचन किया है तो दूसरी ओर साहित्यमें श्लील व अश्लील जैसे विवादास्पद विषयके प्रति भी पाठकोंकी बौद्धिक जागरूकता के दर्शन कराये हैं।

लेखकने पाठक-लेखककी अंतःक्रिया, लेखककी

सामाजिक स्थिति, समस्याएं तथा समाज संरचनामें उसकी भूमिकाके प्रति पाठकोंके दृष्टिकोणका विचारणीय निष्कर्ष दिया है। साथही साहित्य सृजन और प्रकाशक एवं पाठककी दृष्टिमें प्रकाशकका सारगर्भित विवरण है। इससे स्पष्ट होता है कि लेखककी समस्याओं से ध्यान हटानेके लिए प्रकाशकका तरीका अपनी समस्या प्रस्तुत कर देना है। इस अध्यायमें पाठकोंकी सारणी विश्लेषणसे यह स्पष्ट होता है कि अत्यधिक लाभ-लोलुपता तथा व्यावसायिक प्रतिस्पर्धाके कारण पाठकोंको श्रेष्ठ साहित्यकारोंकी रचनाएं नहीं मिल पाती हैं।

लगभग एक सौ पचास पृष्ठोंके इस ग्रंथमें भूमिका और उपसंहारके अतिरिक्त पांच अध्याय हैं। अन्तमें पाठकोंकी साहित्यके प्रति अभिरुचिके समाजशास्त्रीय अध्ययनकी एक सुदीर्घ प्रश्नावली भी दी गयी है। पांचवाँ अध्याय समकालीन साहित्य और पाठकसे सम्बन्धित है जिसमें लेखकने समकालीन साहित्यके सामाजिक यथार्थ, समकालीन सृजन और पाठकीय मानसिकता, साहित्य और सामाजिक परम्पराओं, श्रेष्ठ साहित्यकी पाठकीय कसौटी, संतुष्टि, प्रभाव, मापदण्ड आदिका विस्तृत विश्लेषण किया है। इस अध्यायका अध्ययन करनेसे स्पष्ट होता है कि जीवनके शाश्वत मूल्योंको चित्रित करनेवाला साहित्यही अधिकतम पाठक पसन्द करते हैं। दूसरे साहित्य वर्तमान समाज व्यवस्थाके प्रति पाठकोंमें आक्रोश उत्पन्न करता है तो सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनोंसे परिचित भी कराता है। पाठकोंकी ये मान्यताएं स्पष्ट करती हैं कि हृदयस्पर्शी रचनाएं ही पाठकोंको प्रभावित करती हैं। उपसंहारमें लेखकने अपने मूल्यवान् मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जो किसीभी सर्जकको पाठककी पठन अभिरुचि जाननेके लिए उपयोगी हैं।

हालके कुछ वर्षोंमें साहित्य क्षेत्रमें पाठक मंच, पाठक संघ और पाठक क्लब जैसे संगठन बने हैं जो केवल कृतियोंकी चर्चा तक सीमित हैं। इन संगठनोंके लिए भी यह ग्रंथ एक निर्देशकका काम कर सकता है। साहित्यके विद्यार्थीके लिए भी यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। दिन-प्रतिदिन घास-फूसकी तरह पैदा होनेवाले कवियों और कथाकारोंके लिए भी यह ग्रन्थ पथ्यकारी और लाभप्रद है। इनके साथही प्रत्येक प्रकाशक, सहृदय पाठक, सृजनशील रचनाकार, पुस्तकालय और विद्या-



लयोंके लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वका है। एक समाजशास्त्री द्वारा किया गया यह उत्कृष्ट शोधकार्य, प्रशंसनीय है और समकालीन साहित्य साधकों और शोधकोंका दिशादर्शन कराता है। साहित्यके प्रति

लेखककी समाजशास्त्रीय जिज्ञासाकी जितनीभी प्रशंसा की जाये, कम है। इस दृष्टिसे अपने कलेवर और मूल्यमें यह कृति पूर्ण है। □

## काव्य

### पीली चोंचवाली चिड़ियाके नाम?

कवि : उपेन्द्रनाथ अशक

समीक्षक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

एक बार मैंने अशकजीसे पूछा—‘आप मूलतः क्या हैं कवि कथाकार या नाटककार?’ अशकजीने बिना एक पल गंवाये कहा—‘मैं तो कवि हूँ।’ और किसी को अशकजीका यह उत्तर अटपटा लग सकता है, वे उन्हें कवि माननेसे भी इनकार कर सकते हैं, पर जिन्होंने भी अशकजीकी कविताएं शुरूसे ध्यानसे पढ़ी हैं, और उनके विकासको समझनेकी कोशिश की है, वे मानेंगे कि अशक हिन्दी कविताधारके अपने ढंगके अकेले कवि हैं। उन्होंने न केवल काव्यमें अनेक नये प्रयोग किये हैं अपितु परम्पराको भी आत्मसात्कर अपने ढंग से विकसित करनेकी कोशिश की है—केवल कोशिश ही नहीं की है, वे अपने प्रयत्नोंमें बहुत दूरतक सफल भी हुए हैं। मैंने उनके सभी संग्रहोंपर तो नहीं, पर उनके काव्यों—‘बरगदकी वेटी,’ ‘दीप जलेगा,’ और ‘चांदनी रात और अजगर’ पर विस्तारसे लिखा है और उन्हें हिन्दी काव्य परम्परामें अपने ढंगका सृजन प्रयोगकर्ता कहा और माना है।

अशकजीका ‘पीली चोंचवाली चिड़ियाके नाम’ संग्रह अपेक्षाकृत प्रौढ़ संग्रह है। संग्रह आठ खण्डों—

१. प्रका. : नीलाभ प्रकाशन, ५ खुसरो रोड, इलाहाबाद। पृष्ठ : १५१; डिमा. ६०; मूल्य : ५०.००

रु।

‘अपनी तरह जिया,’ ‘चिन्ताकी चिन्ता,’ ‘यह शहर बहुत उदास है,’ ‘दूसरी बार,’ ‘वरहक है मौत,’ ‘अरे अशक यह एक फितूरी,’ ‘पीली चोंचवाली चिड़ियाके नाम’ और ‘गजलें’ में बंटा है। यहां अंतिम खंड छोड़कर बाकी खंडोंके आधारपर उनके कवि और काव्यका मूल्यांकन करना चाहेंगे। गजलोंपर फिर कभी।

वैसे तो किसीभी कविकी कविताएं उसके जीवनका दर्पण होती हैं। इस दृष्टिसे अशककी कविताएं भी उनके जीवनका दर्पण रही हैं। पर देखना होता है कि कविका जीवन क्या और कितना है। जिन्हें सिखते हुए, या जीते हुए, जुमा जुमा आठ-दस दिनही हुए होते हैं, वे भी जब अपने जीवनको ‘जीवन’ कहने लगते हैं और उसे ही अपनी कवितामें उतारने लगते हैं, तो हंसीभी आती है और अफसोसभी होता है। जीवनको कितना सस्ता और मामूली बना रखा है यार लोगोंने ! मेरी नजरमें जीवन वह नहीं है जो आरामसे कट जाये। जैसे बोझ ढोते-ढोते बैलोंके कंधेपर गड्डे पड़ जाते हैं, खाल मोटी बद-रंग और बदशकल हो जाती है, उसमें बिवाइयां फटने लगती हैं, कतरा-कतरा खून रिसना शुरू होता है, फिर भी बोझ ढोना रुकता नहीं, जब कोई ऐसाही कठिन जीवन जीता है, जीता रहता है, तब सही मायनेमें उसी का जीवन जीवन होता है और उसीका प्रतिबिम्बन साहित्यमें कोई अर्थ रखता है। पर ऐसे जीवन जीनेवाले अपने ऐसे जीवनको साहित्यमें लाना बराबर जरूरी नहीं समझते। वे तो जीवनको गरल कण्ठ शिवकी भांति पी-पचा गये होते हैं। इसलिए उनका ऐसा जीवन उनके साहित्यमें वस्त्रमें छिपे जल बंदकी भांति उसकी आर्द्रता



की तरह व्यक्त होता है। इस मामलेमें कवि-कविमें अन्तरभी होता है। कोई इसे त्रिलोचनकी भांति व्यक्त करता है, कोई जमशेरकी तरह। कोई उसे केदारनाथ अग्रवालके सामने व्यक्त करता है, कोई नागार्जुनकी पद्धति अपनाता है। बात जोभी हो, जिया जीवन लेखकके लेखनमें व्यक्त होता अवश्य है उसके लेखनके प्रारम्भमें भी, मध्यमें भी और अन्तमें भी। अब इन तीनोंमें कौन सा अधिक पुष्ट प्रामाणिक और प्रभावशाली होता है, यदि यह जानना उचित प्रतीत होता हो, तो मैं तो यही कहूंगा कि किसीभी कविके जीवनके उत्तरार्द्धकी रचनाओंका अधिक महत्त्व होता है। हर दृष्टिसे शिल्पकी दृष्टिसे भी और जीवनको प्रतिबिम्बित करनेकी दृष्टिसे भी।

इसलिए अशकके इस संग्रहमें जब ऐसी पंक्तियां मिलती हैं—‘मुझे संतोष है / मैं जैसेभी जिया अपनी तरह जिया / और यदि मैंने जिन्दगीसे बहुत कुछ लिया / तो बदलेमें कम नहीं दिया।’ तो हम एक ऐसे जीवनके आने-सामने होते हैं जो बहुत सामान्य जीवन नहीं है, जिसके संघर्ष अपने ढंगके अपने जीवन-संघर्ष है। अशक संघर्षके तर्क और उसकी शैलीसे अच्छी तरहसे परिचित लगते हैं। उनकी दृष्टिमें ‘संघर्षका अपना सुख है। जिसे वही जानते हैं जो चेतन रूपसे संघर्ष करते हैं।’ यह चेतन संघर्ष सभी नहीं करते, अधिकांश तो बस अचेतन संघर्ष करते रहते हैं, उन्हें उसका कुछ पता भी नहीं होता। संघर्ष जब प्रतिभा से जुड़ता है, तो उसकी अपनी एक आभा होती है, अपना एक आकर्षण होता है, जो अशककी कवितामें जहां-तहां दूसरोंके माध्यमसे भी और अपने माध्यमसे भी अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। सुषीको लिखी एक पत्र-कवितामें एक जीजीकी चर्चा है—‘तुम्हारी जीजी बर्फानी चोटी है / प्रतिभाकी आभासे दमकती / इंद-गिंदकी चोटियोंमें सिर उठाये खड़ी / दिपदिपाती / अकेली / ... बर्फानी चोटियां हमेशा अकेली चमकती हैं / झण्डोंसे उनका गौरव नहीं बढ़ता।’ यहां जिस महिला का चित्र है वह भी संघर्षकी एक जीती-जागती मिसाल है। उनके कुछ पहलुओंको कविने अन्यथा ढंगसे चित्रित किया है पर उनकी संघर्षशीलता अनदेखी नहीं रही है।

प्रतिभाके अलावा प्रेमका, संघर्षशील व्यक्तित्वके

संदर्भमें क्या तालमेल है, या होता है या उसमें उसका क्या अनुपात है, इसेभी अशकने अच्छी प्रकार समझा और दिखाया है। उनकी दृष्टिमें प्यारकी एक समस्या होती है (समय शक्ति और अहंकी कुर्बानीके अलावा) आदमी खुलकर प्यार करता है तो फिर कुछ और नहीं करता। आदमी प्यार बना होता है तो किसी औरका नहीं होता। “... प्यार तो एक घाव है / खुला रहता है तो टीसता है / ... मुंद जाता है तो प्यार नहीं रहता / जीवनमें बदल जाता है।” इस रूपमें अशक प्रेमकी गहरी पहचान करते हैं। उनकी यह दृष्टि सातवें खंडकी कविताओंमें अच्छी तरह प्रकट है। प्रेमके संबंधमें वे अपनी विवशताएं भी बताते हैं—“प्रेममें बहुत कुछ देना होता है / और मेरे पास तो कुछ बचा नहीं था / साहित्यको सब कुछ देनेके बाद,” इस प्रकार उन्होंने जगह जगह अपने जीवनका भी खुलासा किया है।

अशक अपने जीवन संघर्षको, लेखकीय सन्दर्भमें, इस रूपमें भी प्रकट करते हैं कि “एक विधामें लिखते-लिखते रुका हाथ / या नहीं दिया दिमागने साथ / तो लिखना बन्द नहीं किया / पहलूकी तरह विधाको बदल दिया / ... इतनी विधाएं / इतने हाथ / मेरे साथ विधा बदलती रही / सृजन प्रक्रिया लगातार चलती रही।” अपने इस प्रकारके सक्रिय जीवनको कवि अपनी उपलब्धि मानता है और इसपर गर्व और सन्तोष करता है। लेखकीय जीवनमें भी लेखकोंको अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं, बहुत कुछ बाँये हाथसे लिखना पड़ता है। परन्तु अशक बताते हैं—“अपनी तरह जिया है मैंने / अपनी तरह लिखा है मैंने।” उन्हें इस बातको लेकर कोई मुगलता नहीं है कि वे प्रतिभाका सारा कोटा अपनेही हिस्से लेकर आये हैं। लेकिन वे प्रतिभाहीन भी नहीं हैं ऐसा वे मानते हैं। उन्हें अपनी प्रतिभा की बखूबी परख है। हां यह कामना अवश्य है कि “जरा और प्रतिभा मिल जाये तो क्या कहना ! जरा और ज्यादा पढ़ पायें तो क्या कहना !” इस रूपमें उनका अपना आकलन और अपनी अभीप्सा ध्यान खींचने वाला है।

अशकके सक्रिय जीवनको इस रूपमें भी देखा समझा जा सकता है कि “मेरे तो ७५ वर्ष एक क्षणकी तरह बीत गये।” इस प्रकार समय या जीवन बीतनेका अहसास सबको नहीं होता। कुछ तो जीवनकी बखिया उधोड़ते रहते और दुःख दर्द और कटु अनुभवोंका



मसिया गाते सुनाते रहते हैं। लेकिन अशकका अनुभव है—“नहीं जराभी थका—न बूढ़ा हुआ / न मन्द हुआ मेरा अहसास / तनसे हूं / मनसे मैं नहीं जरा बीमार /” यह जीवनके स्वास्थ्यका परिचायक हो, या न हो, सक्रियताका परिचायक तो अवश्य है। उन्हें बस एकही चिन्ता है—“निवाहा है / जिस गरिमासे जिन्दगीका साथ—चाहता हूं उसी गरिमासे थाम लूं बढ़कर मौतका हाथ।”

अशकने मौतको ध्यानमें रखकर कई-कई कविताएं लिखी हैं। इनमें मौतका भय या उसकी आशंका नहीं है, है एक उत्सुकता मिश्रित स्वागतका भाव—“उसके आनेका भय नहीं / मनमें सिर्फ जिज्ञासा है / वह कैसे आयेगी?” कवि उसके आनेके पचासों ढंगके बारेमें अच्छी तरहसे जानता है। पर “जिज्ञासा है सिर्फ / मेरे लिए वह कौन-सा (ढंग) अपनायेगी।” अशक बताते हैं कि उन्होंने ‘मृत्युका परिचय धुर बचपनमें पा लिया था। पर तब चेहरा भरही देखा था। इसे जवानीमें पहचाना और प्रौढ़ होकर जाना कि “इसकी बढ़ती छाया/सोख लेती है / सारी हरियाली शरीरकी, गोल-गुल-गोथते, गुलाबी मुख हड़िया जाते हैं।” इस रूपमें कविने मौतकी भयंकरताको नहीं, उसकी वास्तविकताको आंका है। वे मौतको सहज मानते हैं। जीवनको कठिन—“जो मौतको नहीं जानते, हुमककर नहीं जीते”, यह उनका दृढ़ विचार है। वे अपना अनुभव इस रूपमें बयान करते हैं—“इसके हर रूप, रंग, गिजाजका मजा लिया है / जिन्दगीको हुमककर जिया है।” इस प्रकार हुमककर जिन्दगी जीनेवाला भी कभी-कभी कमजोर तो पड़ता ही है। यदि वह इससे इनकार करे तो यह उसकी बेईमानी होगी। इसलिए वह ईमानदारीसे स्वीकारता है—“कितना अकेला पड़ गया हूं मैं देखते-देखते / पिछले कुछ वर्षों में।” उनके जैसे बतरसके शैदाईको काटनेको दौड़ती है यह गला घोटती तन्हाई। परन्तु इसके साथ सच्चाई यह भी है—“दरियाके सुनसान किनारेपर / आनन्दसे तैरती मुर्गावीकी तरह / मुझे इस तपोभूमिका एकान्त पसन्द है।” कहना न होगा उनकी यह तपोभूमि उनका गृहनगर इलाहाबाद है।

अशक अपनी रचनाओंमें यथार्थके व्योरे देनेके लिए प्रसिद्ध हैं—कुछ हदतक बदनाम भी। पर कविताओंमें वे यथार्थको इस रूपमें नहीं लादते कि वह बोझ लगे, भ्रष्ट सरकारी अस्पतालोंमें उदासीन डाक्टरों और चोर

कम्पाउण्डरोंकी यह पहचान करनेपर लग सकता है कि यह तो मामूली बात है हिन्दी कविताके लिए, पर जब वे लिखते हैं—“मोहवश या शोकवश / मिथ्या गौरववश या अंध श्रद्धावश / रूपकुंवर जब चितापर बैठी होगी / और तुम्हारेही जैसे निर्मम और क्रूर लोगोंने / चिता जलाई होगी / उसका जिन्दा शरीर कैसे तड़पा होगा?” इस रूपमें यह अशककी “एक बड़ी आवाज देती कविता है।”

इलाहाबादपर लिखी उनकी कविता ‘यह शहर बहुत उदास है।’ भी कई दृष्टियोंसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कविता है। यदि यह सच है कि “तीस वर्षोंसे शहर कोई नया स्कूल नहीं खुला” तो यह चिन्ताकी बात तो है ही, हमारी चरम निष्क्रियता और मूल्यहीनताका द्योतक भी है। अशक हमारी स्वार्थपरता, समय-साधकता, अनैतिकता और उत्कोचप्रियता आदिका उल्लेख करते हुए काफ़काके प्रेमियोंको तिलचट्टोंकी मानसिकतासे बचा देखना चाहते हैं। एक ओर धन-पशुओंका निर्मम तांडव, उनकी अकूत सम्पदा और दूसरी ओर संख्यातीत जनोका भाग्य--भूख, दुःख, विपदा, लाचारीपर भी कविकी दृष्टि है। इसके साथ—“कागज मंहगा/जनके हाथोंसे दूर किताबें / पत्रिकाएं सनसनी-भरी, रंगी-चुंगी-हिंसा और स्कैण्डलसे भरे हुए। विमुख समाजके दुःख दर्दसे अखबार।” ये व्योरे बहुत सहज रूपसे आये हैं, इसलिए अखरते नहीं, न आतंकित करते हैं। इसके साथ यथार्थके दूसरे पक्षभी है—“अवरूद्ध और घुटी हुई दुनियांसे अलग / एक खुला संसार भी तो है।” दुःख-दलिदरके बावजूद/फक्कड़ईसे मस्ती से गाना गुनगुनाना / इन्कलाबके सपने देखना-दिखाना” का उल्लेख भी तो है।

वर्णन चाहे स्थितियोंके हो, या पात्रोंके, यह तो अशककी अपनी चीज है। मौत कैसे आती है यह देखिये “जैसे रोशन कमरेमें रेंगती तारीकी/हवादार आंगन में गला घोटती उमस/ खुरे-खुरे मौसममें रिसती सीलन।” और उसका प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो उसका शिकार आदमी—“आटेके बोरे-सा लदकर चला गया/ कालके विशाल कंधोंपर/ सरक गया बर्फकी सिल्ली-सा।” मौतपर अशककी इतनी सारी कविताएं देखकर किसीको आश्चर्य हो सकता है। पर आश्चर्यसे अधिक ध्यान देनेकी बात है। ऐसी कविताएं कोई जिन्दा कविही लिख सकता है। वही इतने व्योरे दे सकता है—



“कोई तर्क नहीं उसकी क्रूर लीलाका/न आरं पार है उसकी अगम्य चालोका/ एक अपरम्पार स्वेच्छाचारिता है उसके स्वभावमें/वह कब बूहारी फेर दे और जिन्दगी देखती रह जाय इसका कोई ठिकाना नहीं।” किसी आधुनिक कविकी ये कविताएं अपने ढंगकी अलगही चीज हैं। इन्हें देखकर मुंह बिराना बेकार है। इसका सरोकार जिन्दगीके गहरे अहसाससे है।

पात्रोंके प्ररूपपर वर्णनकी दृष्टिसे ‘दूसरी वार’ कविताकी जीजीपर ध्यान देना जरूरी है—“नखरे तो तुम्हारी जीजीके वही पुराने हैं। स्तावरी भी, अदाएं भी /...खूब प्रसन्न लगीं तुम्हारी जीजी / डेलियाके खिले फूलसी/उत्फुल्ल खिलखिलाती बेगनबेलिया-सी।’ जहां...भंगिमाओ और गतियोंके वर्णन हैं वहां—“कटे बालोंको झटका दिया / हंसते माथे स्वागत किया / कुदकती-फुदकती किचनमें गयी।” फिर एक दूसरा बदलता हुआ रूप—“औपचारिक, सोफिस्टिकेटेड, स्नॉव सम्भ्रान्त चेहरा न जाने कहां तिरोहित हो जाता है। और फक्कड़ मनमौजी खिलन्दरा, यारबाश रूप उभर आता है।” कहीं होठोंके कोने सिमटते-फैलते हैं, आंखों की बिजलियां चमकती हैं, दांतोंके मोती चमचमाते हैं। कहीं प्यारी-प्यारी गालियां, परम विद्रोही मुद्रा, आत्म-तोषभरे ठहाके, बेपनाह फक्कड़ई।” चित्रणकी दृष्टिसे यह कविता अशकके उपन्यासकार कथाकारको सामने लाती है। वैसेही सूक्ष्म व्यौरे, सधा अन्दाज...पूरी मूर्ति आंखोंके साम खड़ी हो जाती है। केवल नारी रूप वर्णन ही नहीं, पुरुष रूप वर्णनभी कुछ कम नहीं है। “चाचा जी नमस्ते” कवितामें जो आटा मिल और बरफखानेका अकैला दिवंगत इंजीनियर है उसका स्मरण इस रूपमें है—“बार बार आंखोंमें कौंधता है उसका लम्बा पतला शरीर/ टी. वी. के पदेपर दूर खड़ी इक्कीस मंजिला इमारत-सा/और पहाड़के पहलू-सा चौड़ा उसकामाथा/ तीखी सुतवां नाक/पतले होंठ, गोरा मुंह, मीठी सलज्ज वाणी/ व्यंग्य और संकोचके बीच झिलमिलाती मुस्कान /आंखों को चाकुओंपर तरबूजके कतलों-सी चमकती हुई।” पीलियाग्रस्त इस इंजीनियरके गुजर जानेके बाद—“स्कूटर तैयार खड़ा है जामुनके नीचे /किंक स्टार्टर प्रतीक्षारत हैं कि वह पैर रखे, किंक मारे, और स्कूटर घरघराये।” एक ओर तो यह दृश्य और दूसरी ओर—“आकाशकी बुलन्दीमें एक कटी पतंग बही जा रही है। लम्बी डोर पीछे छोड़ती हुई।” ये छोटे-छोटे वर्णन ‘प्रकर’—दिसम्बर’९०—२६

पाठकोंके मनपर गहरा असर डालते हैं। कोई सिद्ध लेखकही ऐसा कर सकता है।

भरे-पूरे वर्णनोंके अतिरिक्त छोटे-छोटे वर्णन, विशेष विशेषणयुक्त पद—जैसे लंबखोखां चलते पैदल यात्री, बगटुट भागता मन, भिनसारके नीम अंधेरेमें मूं गिया लगती हरियाली, ओसके हीरोंसे सजी दूबकी कुमारियों की नाककी तीलियां, नसोंमें वेताव छोड़ती सुखद सिहरन, फड़फड़ाती-सी ताजा सुबह, महकते फूलोंका बिछा जाजम, अंगीठीके दहकते हुए लाल-लाल होंठ आंगनमें पसरी हुई सोना लुटाती शिशिरकी सुहानी सुकोमल धूप, दुःखते पैर, घायल टखने, टीसती पिंड-लिया और बेपनाह थकन, प्यारी, सुन्दर और जालिम बीबीका शौहर, इतिहासके चेहरेपर अमिट गोदना-सी कलमसे निकली पंक्ति, बिलविला उठा क्षेत्र लोकतन्त्र का संयंत्र, ब्रेक या पहिये लगी फाइलें, सत्ताधारी नेताओंके एवरेस्टी गुरू, मध्ययुगीन परम्पराओंके मकड़ जालोंसे भरे चिन्तन, हताशाके अंधेरेमें अंधुआ रहा सुबहका उजाला, उत्तरके आकाशको सिर पर उठाये चित्रलिखित दीखता बरगदका विशाल पेड़, अपनी पीली झालरोंसे गर्मीका ताप भुलाते पंक्तिबद्ध खड़े अमलतास, लाल-लाल गुंचोंसे आंखोंकी तृषा बुझाते छतना गुलमौर, तम्बियायें तमतमाये पसीनेसे तर चेहरेवाली एकवस्त्रा औरतें, धुंधभरी सर्द या चांदनी भरी गर्म रातोंमें सैरकी दावत देती साफ-शफकान सड़कें, महान् अश्वत्थके ऊपर उतरा आकाशमें चमकता हुआ ध्रुवतारा, दिलकी उदास बगियामें दमकता और प्रेरणाकी बयारसे रमकता सृजन-सुखका फूल, अमा-वसके अंधे आकाशको सदय होकर कंधेपर उठाये नगर की उदार रोशनियां, दशकोंको अपने घेरेमें समेटती फैलती लहरों-सी स्मृतियां, भयंकर रूपसे धूल उड़ाता हमारे बीचसे होकर गुजरा समयका बगुला, अंधेरेमें भी सेंध लगाती निगाहें, महबूबकी तरह संगदिल और कपटी बेवफा मौसम, पेड़ोंको जड़ोंसे उखाड़ती तेज हवाएं, जोरका तमाचा जड़ती हिम ठंडा हवा, आस-मानसे उतरकर सीनेपर जमे बादल, बगीचेमें खुलने वाली ग्लेज्ड खिड़कीके पास लगा बिस्तर, अन्तरसे निकलकर सेबकी फुनगीपर जा बैठा अपराध-बोध, अपने पारदर्शी वक्षपर बरखाके तरेड़े सह रही खिड़की, हमेशा-हमेशाके लिए दिलमें गड़ गयी तीर-ए-नीमकश



सी निगाहें, वागीचेवर फैली पारदर्शी कुन्दनी चादर, वागीचेके आकाशमें लालतारकोंसे चमक रहे स्ट्रावरीके लाल लाल फल--यहां वहां खूब बिखरे फैले हैं। ये वाचन का स्वाद तो बढ़ाते ही हैं कविकी भाषिक क्षमता, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और अभिव्यक्ति कौशलभी प्रकट करते हैं।

‘पीली चोंचवाली चिड़ियाके नाम’ न केवल अशक जीका एक महत्त्वपूर्ण कविता संग्रह है अपितु इस दशक के महत्त्वपूर्ण कविता संग्रहोंमें से एक है। समसामयिक कविता-संग्रहोंकी भीड़भाड़में यह अलग-से पहचाना जायेगा, इसकी पूरी आशा है। □

## उपालंभ पत्रिका तथा ग्रन्थ कविताएं

कवि : डॉ. देवराज

समीक्षक : डॉ. वीरेन्द्रसिंह

डॉ. देवराजकी अन्यतम कृति “संस्कृतिका दार्शनिक विवेचन” और अंग्रेजीमें लिखित “ह्यू मैनिज्म इन इंडियन थाट” से गुजरते हुए और दूसरी ओर उनकी काव्य कृतियोंसे गुजरते हुए यह स्पष्ट होता है कि चिन्तन और संवेदनका एक पारदर्शक गठबंधन उनकी सृजनात्मकताके भिन्न आयामोंको उद्घाटित करता है जो नारेब्राजी, व्यर्थकी आक्रामकता और छिछले रोमांटिक बोधसे अछूती है, और इसीसे उनकी काव्य-चेतना वैचारिकताको संवेदना-रागमें घोलकर सामने आती है। इस परिप्रेक्ष्यमें उनकी नवीन कृति “उपालंभ पत्रिका और अन्य कविताएं” प्रयोगधर्मी शिल्पकी दृष्टिसे ही महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन् विचार संवेदनकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि विचार-संवेदनकी भंगिमाही अन्ततः संरचनाको जन्म देती है। अतः इन दोनोंका सापेक्ष सम्बन्ध है और जोभी रचनाकार इन दोनोंके मध्य संतुलन बनानेमें समर्थ होगा, वह सही अर्थमें अभिव्यक्ति को ‘अर्थवत्ता’ देनेमें समर्थ होगा। डॉ. देवराजकी कविताएं इस शर्तको काफी सीमा तक पूरा करती हैं क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति छंद और लयसे युक्त है, चाहे वह भुक्तान्त मुक्त छंद हो या तुकान्त छंद। छंद चाहे वह

मुक्त छंद हो या तुकान्त, दोनोंका प्राण है लय, और इस दृष्टिसे डॉ. देवराजकी कविताएं ‘लय’ प्रधान है और इस ‘लय’ में ‘अर्थ’ के विविध आयाम इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि कविताकी संपूर्ण ‘संरचना’ एक जैविक रूप प्राप्त कर लेती है। आजके अनेक युवा कवि ‘छंद’ के इस रूपके प्रति उदासीन हैं और डॉ. देवराजकी कविताएं इस ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकती हैं। सत्य तो यह है कि मुक्त छंदमें भी एक लय होती और वही भुक्त छंदका सार्थक प्रयोग कर सकता है जो छंदके स्वरूपको समझता हो, नहीं तो वह उसका अतिक्रमण कैसे करेगा ?

डॉ. देवराजके इस संग्रहके दो खंड हैं—एक लम्बी कविता “उपालंभ पत्रिका” और दूसरे खण्डमें मुक्त छंद की वे कविताएं हैं जो विचार-संवेदनके भिन्न आयामों को व्यंजित करती हैं। ‘उपालंभ पत्रिका’ ब्रह्माके प्रति नारदका सम्बोधन है जो आजके विलोमों (शिव-अशिव पाप पुण्य आदि) के द्वन्द्वको रेखांकित करते हुए भावी उच्चतर संभावनाओंकी ओर संकेत है जिसमें आदर्श और यथार्थका द्वन्द्वभी है और उस द्वन्द्वसे आगेकी भी स्थिति है। मेरे विचारसे यह लम्बी कविता नारदको प्रत्यक्ष रूपसे ही लेती है, यदि कवि नारदके मिथकको इस प्रकार लेता कि नारदका वृत्त आजके सन्दर्भसे परोक्ष रूपसे जुड़ जाता तो वह अधिक प्रभावशाली और नाटकीय होसकता। पूर्ण कविता प्रत्यक्ष कथन अधिक है और उसमें एकरूपता आ गयी है। पर कविता में कवित्व है, रूपाकारोंका सटीक प्रयोग है और वैचारिकताका संवेदनात्मक रूपान्तरण। भूत जगत्, गणित के सूत्र और वीणाके तारोंका सापेक्ष सम्बन्ध दिखाते हुए कवि वीणाके ‘लय-कंपन’ के रूपाकारके द्वारा उस राग-संवेदनके तत्त्वकी ओर संकेत करता है जो क्रमशः विलुप्त होता जा रहा है—

भूत जगत्का जो रहस्य-उद्घाटन  
गणित सूत्र करते, उनके तारोंपर  
नया शक्ति-संगीत उभरता प्रियतर

मुनि-वीणाके व्यर्थ हुए लय-कंपन। (पृ. ५)

इसी प्रकार कविने राजनीतिको “वासुकि की भगिनि” “तथा उसकी त्वचाको भीतरसे रुक्ष-कठिन” कहकर आजकी राजनीतिके स्वरूपका नकारात्मक एवं मूल्यहीन रूप उजागर किया है। यही नहीं मानव विकासकी द्वन्द्वात्मक और जटिल यात्राका संकेत करते

१. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, नयी दिल्ली-२। प्रकाशन वर्ष ८६; मूल्य : ५०.०० रु.।



हुए 'तुहिन पिंड' का जो रूपाकार प्रस्तुत किया है, वह मानव प्रकृतिके केवल एक तिहाई स्वरूपका उद्घाटन करता है, उसका दो तिहाई भाग अब भी जलके भीतर है। इस वैज्ञानिक प्रस्थापनाको कविने रचनात्मक संदर्भ देते हुए मानवके अवचेतन-अचेतन अंशकी गूढ़ता को ही व्यक्त किया है। यहाँपर विकासवादी परम्पराका भी संकेत है—

“धरतीके मानवकी जटिल कहानी  
तुहिन-पिंडका ज्यों कुछ अंश सतहपर  
शेष अतलमें गहन-गूढ़ है दुस्तर

चकित मुरघ जोहते देव-मुनि ज्ञानी। (पृ. ३६)  
इस उपालंभ-काव्यमें इस प्रकारके अनेक रचना-  
त्मक अंश हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि कवि जहाँ एक  
ओर चिन्तनको गहराता है, वहीं संवेदनाके तंतुओंको  
भी कहीं हल्का, तो कहीं गहरा संकृत करता है।

खण्ड 'दो' की कविताएँ भी इसी शर्तको पूरा करती  
हैं और मेरी दृष्टिसे उपालंभ काव्यकी अपेक्षा ये कवि-  
ताएँ अधिक प्रभावशाली हैं क्योंकि इनमें विचार-संवे-  
दनके भिन्न आयाम प्राप्त होते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण  
बात यह है कि इन कविताओंका शीर्षक नहीं है जिससे  
पाठक अर्थ-सृष्टि करनेमें अधिक स्वतंत्र हो जाता है।  
शीर्षक होनेसे पाठक शीर्षकसे बंध जाता है और रचना  
को अपनी स्वयंकी अर्थ-सृष्टि नहीं दे पाता। तीसरी  
बात जो इन कविताओंको लेकर कही जा सकती है कि  
वह यह कवि यथार्थकी भूमिपर टिके रहकर संभावना,  
भविष्य और उच्चतर मानवीय मूल्योंकी बात करता है  
जिसका आज अभाव होता जा रहा है। इन कविताओं  
में कहीं-कहीं संघर्षकी भावभूमिके दर्शन होते हैं जो  
उस रूपमें तीखे और आक्रामक नहीं हैं जो हमें आजकी  
संघर्षशील कवितामें प्राप्त होते हैं। वस्तुतः यह भेद  
हिन्दी कविताकी मुख्य दो धाराओंका भेद है—एक वह  
जो मार्क्सवादी विचारधारासे प्रभावित है, और दूसरे  
वे जो अ-मार्क्सवादी हैं। डॉ. देवराजकी कविताएँ  
मूलतः इन दोनोंके मध्यकी कविताएँ हैं क्योंकि वे  
यथार्थ और समाजके द्वन्द्वको पहचानते हैं तो दूसरी ओर  
राग-तत्त्वकी गहरी अनुभूतिको भी। कविकी कविताओं  
में हमें संघर्षके दर्शन उस रूपमें नहीं होते जो मुक्ति-  
बोध घूमिल, या राजकमल चौधरीमें। यही कारण है  
कि दोनों वर्गोंके कवियोंकी भाषिक संरचनामें भी अंतर  
है। एककी सपाट और आक्रामक और वक्तव्यप्रधान

संरचना है तो दूसरेकी शीलयुक्त, व्यंजनासापेक्ष और  
संयमपूर्ण अधिक है।

डॉ. देवराजकी कविताओंका मुख्य स्वर इतिहास,  
यथार्थ और व्यक्तिकी अस्मिताके द्वन्द्व और रिश्तेका  
स्वर है जो भिन्न 'रूपाकारों' के द्वारा व्यक्त होता है।  
कविकी मुख्य व्यथा यह है जो जोर देकर कहे कि  
“वास्तविक और चरम यथार्थ, इतिहास है, तुम नहीं”।  
असलमें कवि इतिहास और व्यक्तिकी अस्मिता—दोनों  
को सापेक्ष महत्त्व देना चाहता है। यथार्थके संघर्षशील  
रूपके प्रति वह सजग है, पर इनके बीचमें से वह 'उमंगों  
की अंगड़ाइयों' 'सौन्दर्यकी मुस्कराहटें' और 'ममता  
की खुशबुएँ' (पृ. ६८) को नहीं भूलता। इसी विन्दु  
पर आकर कवि मानवीय चेतनाकी 'बीहड़ बस्तियोंका'  
(पृ. ८०) जो संकेत करता है, वह चेतनाकी गतिशीलता  
और जटिलताका रूप है।

कविकी वैचारिकताका एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।  
पूर्व युगोंके पारम्परिक मूल्यों और आजके वैज्ञानिक  
मूल्योंकी वह अतिवादी दृष्टि जो मानवको प्रायः विभ्र-  
मित कर देती है और ये दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने ढंग  
से स्वतंत्र चिन्तनकी प्रकृतिको कुंठित करती हैं—

दोस्तो ! स्वयं सोचनेकी आदत और आजादी/ उन्हें  
जैसे अरुचिकर थी वैसेही/ इन्हें भी नापसंद है/  
और जहाँ वे धर्म-ग्रन्थों और सर्वज्ञ देवताकी दुहाई  
देते थे वही इनका/ विज्ञानकी गरिमा और सच्चाई  
से विज्ञापित करीबी सम्बन्ध है।” (पृ. ८३)

जहाँतक वैज्ञानिक रूपाकारोंके प्रयोगका प्रश्न है,  
उन्हें कवि अपनी भावामिव्यक्ति और संवेदित मूल्य  
दृष्टिकी सापेक्षतामें प्रयुक्त करता है। आइंस्टाइन,  
क्वान्टम, सापेक्षवाद, अनिश्चितता, परमाणु आदि रूपा-  
कारोंका प्रयोग नये संदर्भोंके साथ किया गया है जो  
प्रश्नभी उपस्थित करते हैं और साथही मानवकी सृजन  
ऊर्जाका भी संकेत करते हैं—

मैंने एक प्रसिद्ध विद्युत्शास्त्रीसे प्रश्न किया  
कि वे कौनसे कुंचित क्वांटम पूंज थे जो  
प्रख्यात आइंस्टाइनके स्नायु-कुंजमें घुसे

सहसा सापेक्ष बुद्धिके समीकरण बन गये (पृ. ६५)

कविने अत्यंत सुंदरतासे बुद्धिकी कठुना और नैया-  
यिकके परमाणुको भी इसी सृजन ऊर्जाका  
रूप माना है—ये सभी रूपाकार कविकी 'संवेदना' के



अंग हैं, ऊपरसे आरोपित नहीं। इसी सृजन-ऊर्जाके कारणही इतिहास और मानव सम्बन्धोंके अर्थशून्य घटितोंमें “नये अभिप्रायों” का जमाव आरंभ होता है—

दुनियां और इतिहासके दृश्यपट जो पहले

अर्थ-शून्य घटितोंका जमघट था

वहाँ एकाएक

नये उल्लसित अभिप्रायोंका

डटता जमाव हुआ। (पृ. ५३)

समग्र रूपसे डॉ. देवराजकी कविताओंमें विचार और संवेदनके जो भिन्न अर्थ स्तर प्राप्त होतेहैं, उनके मूलमें कविका वह व्यापक अनुभव क्षेत्र है जो जीवन और इतिहासकी गतियोंको पकड़नेमें समर्थ है। यदि यह कहा जाये कि कविकी रचनाशीलताको अंतः अनुशासनीय सरोकारोंसे विवेचित किया जाये, तो उनके कृतित्वके नये आयामोंको उद्घाटित किया जा सकता है। □

## दशरथनन्दिनी?

कवि : शान्तिस्वरूप कुसुम

समीक्षक : डॉ. प्रयाग जोशी

छः पर्वोंके प्रस्तुत प्रबन्ध काव्यका वर्ण्य-विषय अयोध्या नरेश दशरथकी कन्या ‘शान्ता’ है। राजा दशरथके चार पुत्रोंका चरित जहाँ लौकिक संस्कृतके आदि काव्य ‘रामायण’ के कालसे विकसित होते-होते मध्ययुगमें परमात्माके सर्वोच्च सोपानपर पहुँचकर भक्तिका प्रकाश्य बना, वहीं उनकी एकलौती कन्या ‘शान्ता’ की विशेष तो क्या सामान्य चर्चाभी साहित्य जगत्में नहीं होपायी। शान्ता, कौशल्याकी कोखसे उत्पन्न हुई दशरथकी पहली संतान और भगवान् श्री-रामकी सगी बहिन थी।

कवि शान्तिस्वरूपने, शान्ता विषयक यह चरित-काव्य महाभारत, श्रीमद्भागवत् और भवभूतिके ‘उत्तर रामचरित’ के स्रोतोंको उपजीव्य बनाकर लिखा है। इसके कथासूत्र यों हैं कि अंगदेशके राजा रोमपाद

दशरथके घनिष्ठ मित्र थे। उनके कोई संतान नहीं थी। उनके चाहनेपर राजा दशरथने ‘शान्ता’ उन्हें गोद दी थी। श्रीमद्भागवत्के ६ वें स्कन्धके २३ वें अध्यायमें रोमपादके वंशका वर्णन आया है। उसका वंश राजा बलिका वंश है। बलिकी पत्नीके गर्भसे दीर्घतमा मुनि ने ६ पुत्र उत्पन्न किये थे। छहों पुत्रोंने भारतके पूर्वमें छः देश बसाये। वे देश उनके नामसे ही ख्यात हुए। उनके नाम थे अंग, बंग, कलिग, सुल, पुण्ड्र और अन्ध्र।

अंगका पुत्र खनपान हुआ। खनपानका दिविरथ, दिविरथ का धर्मरथ और धर्मरथका चित्ररथ। इसी चित्ररथका दूसरा नाम रोमपाद था।

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः

रोमपाद इतिख्यातस्तस्मै दशरथः सखा

—भागवत्॥

पुराणोंमें कथा आती है कि राजा रोमपादके राज्य में एकवार भीषण अवर्षण होगया। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। किसी अज्ञातपूर्व प्रदत्त शापित-वरदानकी भाँति राज्यमें केवल गणिकाओंका धंधा ही हराभरा रह गया था। बाकी धन्धे चौपट हो गये थे। तब गणिकाएँ अपने नृत्य-गीत-वाद्य हावभावादसे मोहित करके एक आश्रमसे ऋष्यशृंगको राज दरबार में बुला लायीं। ऋष्यशृंगके, अंगराजकी सीमापर पैर धरतेही—

काले-काले मेघ गगनमें उमड़ घुमड़ मंडराए

रोमपाद यह लखकर अपनापन ही भूल गए।

परिणामस्वरूप रोमपादने कृतार्थ होकर स्वीकार दिया ‘यह रिमझिम ये बूंद बहारें सब हैं कृपा आपकी’ और कृतज्ञतावश योग्य सेवा-अर्चनाके लिए ऋषिसे आदेश चाहा तो ऋषिने गणिकाओंसे सुनी-सुनायी रूप चर्चाके आधारपर मांग की :

‘सेवा करनेको कन्या एक चाहिये, वहभी केवल शांताको ही ग्रहण योग्य समझाऊँ’।

इस प्रकार दशरथ-नन्दिनी शान्ताका हाथ, राजा रोमपादके द्वारा ऋष्यशृंगके हाथमें पकड़ाया गया। एक राजकुमारी विचित्र संयोगवश अर्द्ध-मनुष्य ऋषि को ब्याही जाकर जंगलोंमें पहुँची—

शान्ता स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृंग उवाह ताम्।

देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणी सुतम्॥

नाट्य संगीत वादित्र विभ्रयालिङ्गनाहर्णैः।

स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरुप्येष्टि मरुत्वतः॥

—भागवत्॥

१. प्रका. : भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६, चाण-क्यपुरी. सवर, मेरठ-२५०००१। पृष्ठ : ६६; डिमा. ८६; मूल्य : ४०.०० रु.।



ऋष्यशृंग अर्द्ध-मनुष्य यों थे कि उनका जन्म हरिणीके गर्भसे हुआ। उनके पिता विभाण्डक ऋषि थे। विभाण्डक, स्वर्गलोकसे उतरती उर्वशी अप्सरापर मोहित होकर स्खलित हो गये थे। उनका स्खलन जल में हुआ। उस जलको एक प्यासी हरिणी पी गयी। यों ऋषिका बीज हरिणीके पेटमें जाकर विकसित हुआ और यथासमय उसने जिस मनुष्य बच्चेको जन्म दिया वह हिरनका सींग लिये हुआ। उस अद्भुत बालकमें पशु, मनुष्य और देवत्वके गुणोंका अद्भुत सम्मिलन था। यही ऋष्यशृंग नामसे प्रसिद्ध ऋषि शान्ताके पति बने।

कवि शान्तिस्वरूपने उक्त पौराणिक कथामें एक उद्भावना जोड़ी है। उद्भावना यों है कि रोमपाद राजाके द्वारा कन्या शान्ताको गोद लेनेकी घटनासे उस राज्यके द्विज (ऋषि और ब्राह्मण) रुष्ट थे। उनकी रुष्टताका कारण था नियोगके सुख-स्वार्थपर पड़ा खलल। वे 'गोद लेने' की प्रथाके विरुद्ध थे—

गोद विधान मान्य होगा तो क्या नियोगका होगा ?

नहीं निदान इस तरह जगमें किसी रोगका होगा। रोग उधर तो पास हमारे औषधि चिनगारी है हम दाता, जीवन दाता हैं अग-जग बलिहारी है ॥ ऋषि और ब्राह्मण रोमपादसे अपने प्रतिशोधका बदला लेनेके लिए इन्द्रसे सहायता लेते हैं।

जबसे अंगदेशमें शान्ता कन्या ले आया है

जाने क्या होगया अधम नृप सुधि-बुधि भरमाया है।

द्विजोंकी प्रार्थनापर ही इन्द्र, अंगदेशमें वर्षा बंद करता है। अवर्षणकी स्थिति तबतक बनाये रखनेकी योजना बनती है जबतक राजा रोमपाद, सींगवाले ऋषिको अपने दरबारमें आमंत्रित न करे। यह तय किया जाता है कि ज्योंही वे राज्यकी सीमामें पहुंचें धारासार वर्षा करायी जाये ताकि राजा ऋषिके प्रति सम्मोहित हो जाये। यों राजाको अभिभूत कराकर उसके राज्यके लिए किये गये उपकारके बदले राजा द्वारा गोद लीहुई कन्याको ऋष्यशृंगकी पत्नी बनाने के लिए माँग लिया जाये। यों राजमहलमें पली लड़की वनवासी बनाकर बदला ले लिया जाये।

रोमपाद द्वारा शान्ताको गोद लेना, उसके अंग देश में आ जानेपर वहाँ आये परिवर्तनों और अंततः द्विजों के प्रतिशोध और ऋष्यशृंगके साथ शान्ताके विवाह 'प्रकर'—दिसम्बर'९०—३०

का प्रसंग प्रस्तुत कृतिकी विषय वस्तु बनती है।

राजा दशरथके घर उत्पन्न हुई शान्ता अपने रह-स्यात्मक चरित्रमें अपने दोनों पिताओंके कुलके उद्धार की प्रेरणाभी पुराकथा है कि ऋष्यशृंगने शान्ताके पति रूपमें रोमपादके दरबारमें एक विशालयज्ञका आयोजन भी किया। उसके प्रसादस्वरूप रोमपादको चतुरंग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही नहीं राजा दशरथके दरबारमें पुत्रेष्टि यज्ञके आयोजकभी यही ऋषि हैं—

“प्रजामदाद् दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः” (भागवत्)

इस समूचे आख्यानको ले लेनेपर शान्ताही भगवान रामके अवतारकी अद्भुत मिथक कथाकी सृष्टिकर्ता सिद्ध होती है। परन्तु शान्तिस्वरूपने मिथक-कथाको उसकी सम्पूर्णतामें नहीं ग्रहण किया है। गोद लेनेसे विवाहतक की जितनी आंशिक कथा ली है उसीकी परिधिके भीतर अभिजात कुलों और तपस्वियोंके स्वेच्छा-चार और एक सीमातक स्वैराचारको रेखांकित करते हुए आजकी दृष्टिसे उसे परिभाषित करनेका प्रयत्न किया है।

चतुर्थ पर्वमें, रोमपादके दरबारमें अंगिराके आग-मन, उनके द्वारा यज्ञका सम्पादन और यज्ञके चरसे उत्पन्न पुत्रकी सौतों द्वारा हत्या आदिके इतिवृत्तको इतना सांकेतिक कर दिया है कि उसके अन्तर्गर्भमें छिपी कथा स्पष्ट नहीं होपाती। यही काव्यकृतिका वह चरम बिंदु था जिससे रुष्ट हो द्विजोंने अंग देशका त्याग कर दिया था।

कृतिमें चरित्रोंका विकास नहीं होपाया। न कथा-सूत्र ही सहज रूपसे जुड़ पाये हैं। बीच-बीचमें आत्मा-लाप आ जानेसे 'कथा कहने' की रोचकताभी बाधित हुई है। फिरभी काव्यकृति एक प्रौढ़ प्रभाव मनमें छोड़ती है। कृतिके बीच-बीच प्रभावशाली छन्द मिलते हैं। राजा दशरथके शांत विराग और हृदयकी स्थिरता को व्यक्त करता निम्न छन्द द्रष्टव्य है—

बुदबुद् सा जीवन, अक्षय निधि खोज रहा है पागल  
युग युग तक फहरे-लहराये उसका नाम अचंचल।

मृगतृष्णा उसकी, सत्तापर कोई मुहर लगादे  
क्षणिक अगतमें मिट्टीके पुतलेको अमर बनादे ॥

हर पर्वके प्रारम्भ और अंतमें शास्त्रीयताकी ठाटको लेकर आता छन्दो बदल भी प्रभावकारी है। यद्यपि वह आम पाठ्य पुस्तकोंसे भिन्न है और यही भिन्नता उसकी



कृतिके वर्णनोंमें प्रवाह है। भाषामें प्रौढ़ता है। विषय वस्तुकी खोजमें कविने सभी स्रोतोंका अध्ययन किया है। एक अर्चित परन्तु अपरिहार्य विषय वस्तु

साधुवाद दिया जाना चाहिये और 'दशरथनंदिनी' को प्रबन्ध काव्योंकी शृंखलामें समाहित किया जाना चाहिये। □

## उपन्यास

### पुरुषोत्तम<sup>१</sup>

लेखक : डॉ. भगवतीशरण मिश्र

समीक्षक : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

कृष्णके चरित्रका वर्णन पुराणों, महाकाव्यों (कृष्णायन : द्वारिकाप्रसाद मिश्र; प्रियप्रवास : अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि) एवं उपन्यासों आदिमें होता रहा है। कृष्णके साथ राधाको जोड़कर उनकी शृंगारिक चेष्टाओंका वर्णन करते हुए कवियोंने यह धारणा पाल ली है कि शृंगार-वर्णनसे काव्यमें व्यापकता आती है, जन-सामान्यका मनोरंजन होता है। इस परंपराने बीभत्स वर्णन एवं भोंडे प्रदर्शनको भी प्रोत्साहन दिया। श्रीमद्भागवत् कृष्ण-चरित्रका प्रामाणिक एवं अद्यतन ग्रंथ माना जाता है। परंतु वहां राधाका एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी राधा-कृष्णकी केलि-क्रीड़ाओंका वर्णन करते कवि नहीं अघाते। लेखकका मानना है—पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस भागवत्में राधाका एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता, ऐसी स्थितिमें राधा-कृष्णकी केलि-क्रीड़ाओं, प्रणय-प्रसंगों आदिका वर्णन कृष्ण-चरित्रके साथ अन्याय नहीं तो और क्या है ? बात यहांतक सीमित रहती तो कोई बात नहीं थी। कहनेवाले राधाको परकीया भी कह गये और प्रत्यक्षतः वह श्रीकृष्णपर परस्त्रीगमनका आरोप लगानेसे भी नहीं चूके। (यह पुस्तक)। लेखकने

कृष्णके चरित्रका उचित मूल्यांकन तो किया है, राधाको नाना विवादोंके कज्जटिकाच्छन्न वातावरणसे निकाल कर प्रकृतभूमिपर अधिष्ठित किया है। सच पूछिये तो कृष्णकी संपूर्णता राधापर ही आश्रित है। राधाके बिना कृष्ण अपने अस्तित्वकी भी कल्पना नहीं कर पाते। संपूर्ण कृतिमें स्थान-स्थानपर कृष्ण-राधाके महत्त्व एवं राधा-भावकी व्यापकतापर सम्यक् प्रकाश डालते गये हैं।

लेखकने अपनी राधाके बारेमें लिखा है—'मेरी राधा न तो परकीया है, न कृष्णकी विवाहिता, न उसकी शय्यासंगिनी, वह मात्र उनकी प्रेरणा है, उनकी आह्लादिनी शक्ति, उनकी सर्वस्व, दोनोंमें प्रेम है, किंतु वह मांसल नहीं है और न है वह पार्थिव। मेरे राधा-कृष्णमें द्वैत है ही नहीं, न है लिंग-भेद। वे एक-दूसरेको स्त्री और पुरुषके रूपमें न देखकर मात्र राधा और कृष्णके रूपमें देखते हैं। मेरी राधा ही कृष्ण है और मेरा कृष्ण ही राधा।' (यह पुस्तक)। लेखकने कई प्रमाण देकर इसे सिद्ध किया है।

लेखकने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपन्यास-कारके तथ्यों एवं कल्पनाके मध्य संतुलन स्थापितकर एक ऐसे नटकी भूमिकाका निर्वाह किया है, जिसे ऊंचे बांसोंपर तूती रस्सीपर किसी प्रकार संतुलन बनाकर इस छोरसे उस छोर तक पहुंचना पड़ता है। आचार्यों ने इसे 'खडगकी धार' कहा है—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।"

लेखकने समीक्ष्य कृतिमें कृष्णके वास्तविक रूपका

१. प्रका. राजपाल एंड संस, कश्मीरी दरवाजा, दिल्ली-११०००६। पृष्ठ : ४९६; डिमा. ६०; मूल्य : १५०.०० रु.।



सम्यक् उद्घाटन किया है और ध्यान रखा है कि उन्हें अतिरंजना एवं पूर्ण ब्रह्म परमात्माके श्रद्धा-आलोक-मंडानसे बचाया जाये। यों उनके पूर्ण-ब्रह्मत्वका विस्तार से वर्णन किया गया है, पर कहीं कारण-कार्य-शृंखला के नियमोंकी उपेक्षा नहीं की गयी है। उन्हें 'पुरुषोत्तम' सिद्ध करनेका सफल प्रयास किया गया है। पुरुषका अर्थ है जिसने समस्त पापोंको जला दिया है और कृष्ण उन पुरुषोंमें 'पुरुषोत्तम' हैं। कृतिमें उन्हीं प्रसंगोंका उल्लेख है, उसेही पर्याप्त अवकाश और विस्तार दिया गया है, जो कृष्ण-चरित्रसे सीधे संबंध रखते हैं, यथा रुक्मिणी-हरण, कंस-वध, राधा-कृष्ण प्रेम, जांबवान वध एवं जांबवतीका उद्धार, द्रौपदीकी रक्षा, स्यमंतक मणिकी चोरीके लाल्छनका प्रक्षालन, मित्र सुदामाका उद्धार, गोपियोंके प्रेमकी परीक्षा एवं उद्धवके ज्ञान-गर्वका खंडन, अर्जुनको गीता ज्ञान, 'योगक्षेम वहाम्यहम्' एवं परमात्म तत्त्वकी विशद व्याख्या, द्रौपदी स्वयंवरमें कर्ण की अवमानना एवं अर्जुनको प्रोत्साहन, भीम द्वारा जरासंधका वध कराना, कौरवके पास शांति-संदेश लेकर जाना, पांडवोंकी विजयका प्रयास, यतोधर्मस्ततो कृष्णः, यतो कृष्णः ततो जयः की सार्थकता, द्वारिकाकी स्थापना आदि।

कृतिमें पुराण, इतिहास और साहित्यका सुंदर सामंजस्य बन पड़ा है। एक-एक प्रसंग परीक्षित होकर आया है। यह लेखककी बहुश्रुतताको भी प्रमाणपुष्ट करता है। रुक्मी द्वारा रुक्मिणीके अपहरणको रोकनेकी व्यर्थ चेष्टापर कृष्णकी टिप्पणी ध्यातव्य है जिसे अपनी बल बुद्धिका सम्यक् ज्ञान नहीं हो और जो अनावश्यक अहंकारसे ग्रसित हो उसे आप मूर्खके सिवा क्या कहेंगे। (पृ. १५-८२)। सब कुछ पूर्व निर्धारित है। नियति-प्रति है। कर्मका फल पानाही पड़ता है चाहे वे पूर्व जन्मके हों या इस जन्मके। लेखककी मान्यता है—'मनुष्य जीवनका बहुत कुछ पूर्व निर्धारित है—सुख-दुख, संयोग-वियोग, प्रसन्नता-अप्रसन्नता यहांतक कि मान-अपमानभी। सब उसके पूर्व कृत्योंका फल है—वे कृत्य इस जन्मके भी हो सकते हैं पूर्व जन्मके भी। पर है यह एक शाश्वत सत्य, जिसे किन्हीं चिन्तकोंने कर्म-फल तो किन्हींने कर्म-विपाक तो किन्हींने प्रारब्ध अथवा भाग्य की संज्ञा दी है। इस प्रारब्ध, इस तथाकथित भाग्यमें विश्वास करनेवाले मूढ़मति, अंधविश्वासी और भाग्य-वादीकी अपमानजनक संज्ञासे भी विभूषित होते रहे हैं।

(पृ. ८३)। 'यथा कर्म तथा फल' के सिद्धांतके अनेक उदाहरण ध्यातव्य हैं—

(क) सुदामा द्वारा गुरु-पत्नीसे प्राप्त चनेको चुरा कर खाना और कृष्णको झूठ कह देना कि जाड़ेमें दाँत बज रहे हैं। फलतः सुदामाको घोर दरिद्रताका सामना करना पड़ा। कृष्णने उसे समृद्ध इसलिए कर दिया कि उन्होंने उसका दो मुट्ठी चूड़ा खाया।

(ख) द्रौपदीके चीरका विस्तार कृष्णने इसलिए किया कि शिशुपालके वधके समय सुदर्शनसे उनकी एक उंगलीसे खून निकल आया था और द्रौपदीने अपनी कीमती साड़ी फाड़कर उसे बाँधा था। कृष्णने उसी समय कहा था—यह तुम्हारा ऋण रहा मुझपर। कभी इसे चुकाऊंगा। द्रौपदीने जानना चाहा था, पर कृष्णने टाल दिया था।

इस ऋणके बावजूद द्रौपदीने दोनों हाथ उठाकर कृष्णको पुकारा ('निबहो बाँह गहेकी लाज'—सूरदास) अर्थात् पूर्ण समर्पण किया, तभी उनकी कृपा-वर्षा हुई।

(ग) धृतराष्ट्रको उनके गत १०६ वें जन्ममें किये कुकर्म (पत्नी-शावककी आँखें फोड़ने) का फल इस जन्ममें मिला कि वे जन्मांध हुए। बीचके जन्मोंमें उनका पुण्य-प्रताप ही उस कुकर्मको फलित होनेसे रोकता रहा।

(घ) एक गायकी हत्याके कारण रथके चक्रको धरती निगलती गयी। कर्ण पराजित हुआ। कारण गौ धरती रूपा है।

संपूर्ण कृतिकी कथामें कार्य-कारण-शृंखलाके निर्वाह एवं उसकी अवहेलनाके परिणामोंके दर्शन होते हैं। सच पूछिये, तो यह विवेचन इतना प्रामाणिक, शास्त्रीय व्यावहारिक है कि कृतिकी प्रासंगिकता निस्संदिग्ध हो उठती है।

सुदामा और कृष्णके सिद्धांतमें अन्तर है। सुदामा संन्यासपर बल देते हैं, ज्ञानपर बल देते हैं तो कृष्ण कर्म पर। हैं दोनों ऋषि सांदीपनिके शिष्य। फलके प्रति निस्संगता, निष्काम कर्मयोग कृष्ण बचपनसे ही समझने लगे हैं—'मैं यह कहाँ कहता हूँ कि कर्मसे फल मिले ही नहीं। मिलना हो तो मिल जाये। मैं उसे ग्रहण करने से कब रोकता हूँ? पर मैं उसको लेकर चिन्तित नहीं होऊँगा न हाथपर-हाथ रखकर बैठूँगा ही। निस्संग भाव से प्रयास करूँगा। सफलताका भी स्वागत करूँगा असफलताका भी। फिर बंधना होगा नहीं। व्यर्थ ही



बदनाम है कर्म। उसके बिना तो एक क्षण नहीं जा सकता। जीवनभी नहीं चल सकता। एक बार असफलता मिली तो फिर प्रयास करूंगा, पर कर्म छोड़ूंगा नहीं और न फलके लिए पागल ही बनूंगा। यही है मेरा कर्मयोग। मेरे चिन्तनका सारतत्त्व। मेरी साधना और ध्यान-धारणाका फल।” (२१-१००)

कर्मयोगके इसी सिद्धांतका प्रतिपादन मोहग्रस्त अर्जुनको कर्मपथपर प्रेरित करनेके लिए कुरुक्षेत्रके मैदानमें हुआ है। तत्त्वतः संपूर्ण भक्ति, साधना, योग, तपस्याका नवनीत है कृष्णका गीता द्वारा अर्जुनको उपदेश देना। पृ. २७० से ४२६ तक गीतोपदेशसे भरा है। यद्यपि यह शुष्क ज्ञानका ही विवेचन विश्लेषण है, तथापि अर्जुन कृष्णकी अनन्त जिज्ञासा और कृष्णका समाधान संवादके रूपमें रोचक बन पड़ा है। गीताके कई श्लोकोंका अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, फिरभी कथा-प्रवाहमें उसका पारायण उद्विग्न नहीं करता। एक बात अवश्य खटकती है कि इस कृतिको अनावश्यक विस्तारसे बचाया जा सकता था।

राधा-भावका वर्णन अनेक स्थलोंपर हुआ है। कृति में यह विषय जितना स्थान घेरता है, वह पचास पृष्ठों के लगभग होगा। यों यह निर्विवाद है कि कृष्ण राधा के बिना अधूरे हैं, अपूर्ण हैं। परंतु इसे इतना विस्तार देनेकी उपयुक्तता इसलिए प्रतीत नहीं होती कि भावावेग में एकही तथ्यकी पुनरावृत्ति होती रही है। रुक्मिणीके अपहरणके समय कृष्णके मनमें एक द्वन्द्व उभरता है कि रूपका जादू सबपर चलता है। पुरुषोत्तमभी उससे बचा रह सकता है क्या? यह रूप-जादू सारी प्रतिज्ञाओं, शपथों और आश्वस्तियोंको ताकपर रख देता है। यह तो प्रकृतिका खेल है, परंतु राधाका स्मरण होतेही कृष्ण विह्वल हो उठते हैं—“राधा तो फिर राधाही रहती; अपार्थिव और आत्मिक समर्पण-साधना, प्रेम और त्यागका प्रतीक।... वह थी तो उनकी प्रेरणा, उनके उत्थान और विकासकी निरंतर ऊर्ध्वगामी होती जाती यज्ञवेदी का एक सुगंधित पुष्प।” (पृष्ठ १५-८३।

“अगर वह (कृष्ण) पूरी तरह किसीके हैं तो है वह रा... धा? पर क्या लेना-देनाथा सत्यभामाको राधासे? उसे (राधा) किसीसे ईर्ष्या नहीं।” (पृ. ४४-१८८)।

कृष्णकी विभूतियोंके वर्णनमें लेखकका काव्यत्व देखतेही बनता है—“सभी जीवोंके हृदयमें स्थित, / आत्मा मुझेही जानो / तथा जीवोंके आदि, मध्य और

अंत / के रूपमें भी मुझे ही मानो / देवमाता अदितिके बारह-पुत्रोंमें प्रमुख / विष्णु हूं मैं, / और हूं मैं किरण-धारियोंमें सूर्य।” (पृ. ७८-३७५)। मूलतः गीता-दर्शनका इतना सुंदर अनुशीलन अन्यत्र दुर्लभ है।

लेखकने तर्क सम्मत स्थापनाओं द्वारा यह सिद्धकर दिया है कि कृष्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके पुरुषोत्तम होनेकी प्रतीति पग-पगपर होती रहती है।

शिल्प एवं भाषाकी दृष्टिसे कृति अमर पदकी अधिकारिणी है। चरित्र-प्रधान उपन्यासमें नाभि-केन्द्रमें रहता है नायक। उसकी परिक्रमा करती है सारी घटनाएं। लेखकने महारथियों (भीष्म, कर्ण, द्रोण, कृपाचार्य) के शील-सौजन्य शौर्य-पराक्रमके वर्णनमें कोई कसर नहीं छोड़ी है, पर सबको अंततः कृष्णमें समा जाना है। अनंत कथाओंमें नीरक्षीर विवेकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक कथाओंका ही चयन किया गया है। यद्यपि कृतिकी कथा सबकी पढ़ी है, पर वर्णन एवं उपस्थापनकी शैली इतनी आकर्षक है कि अत्यन्त उत्सुकता बनी रहती है। भाषाका जादूगर है लेखक। भाषा तत्सम प्रधान है, पर उसकी काव्यात्मकता मन मुग्धकर देती है। उपमा, रूपक, बिम्ब, प्रतीकके नये-नये क्षितिज उद्घाटित करती जाती है—“मानवीय आकाक्षाओंके अश्वोंके मुंहमें बल्गाएं नहीं दो तो वे महत्त्वकांक्षाएं बन आती हैं और इन बल्गाहीन अश्वोंपर सवारी करनेका लोभ करो तो वनाश्वोंकी तरह ये तुम्हें किन विजन-विपिनमें ला पटकेंगे, उनका कोई पता नहीं।” (पृ. ५२-२१०) ऐसे उदाहरणोंसे कृतिका पृष्ठ-पृष्ठ भरा हुआ है।

ऐसी कृतिसे न केवल कृष्ण चरित्रके विविध पक्षों का सम्यक् मूल्यांकन एवं अनुशीलन होगा अपितु इससे कृष्ण-चरित्रके संबंधमें फैले विवादों, भ्रमोंका निवारण भी होगा। इस दिशामें शोधरत वैश्वानरोंका मार्ग-दर्शन भी होगा। लेखकको कोटि-कोटि बधाइयाँ। □



## अन्तर्ध्वंसः

लेखक : गिरिराज किशोर

समीक्षक : डॉ. सुमति अय्यर

हिन्दीमें ही नहीं, प्रायः भारतीय भाषाओंमें वैज्ञानिक विषयपर लिखे उपन्यासका तात्पर्य वैज्ञानिक फंतासी ही रहा है। पर उस फंतासीके मायावी संसार के उस निर्मम पक्षकी आजतक उपेक्षा की गयी है जिसके अन्तर्गत वह फंतासी एक त्रासदीमें परिवर्तित हो जाती है। वह त्रासदी अकेले एक व्यक्तिकी नहीं बल्कि समूची मानव जातिकी होगी। गिरिराज किशोरका यह उपन्यास इसी दूसरे पक्ष यानी कि विज्ञानकी उस त्रासदीका सशक्त यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करती है। परामानवीय शक्तियोंको प्राप्त करनेकी लिप्सा किस प्रकार मानवको मानव तक नहीं रहने देती वह भौतिक ऐषणा, यशैषणामें फंसकर अपनी मिट्टीसे ही नहीं बल्कि अपने ही आत्मीय जनोंसे दूर होता जाता है। परामानवी शक्तियोंको प्राप्त करनेकी अदम्य लिप्सा उसे मानवसे भी दूर कर देती है अंततः वह मानव तक नहीं रह जाता। विज्ञानका बाह्य विध्वंसक रूप तो अणु बमोंके माध्यम से सामने आया है पर वह भीतरही भीतर किस प्रकार मानवको तोड़ता है—उन सम्बन्धोंका, मानवीय संबंधोंका, अंतर्ध्वंस करता है यह उपन्यास इसी त्रासदीका चित्रण है। उपन्यासके अंतमें एक विशफुल थिकिग है जो मैनमोनके माध्यमसे लेखकने प्रस्तुत किया है—“इसलिए नहीं कि तुम अपने आपको डिह्यू मनाइज कर लो। मानवीय संबंधोंको बुझा दो।...तुम्हें अब तय करना होगा कि तुम इसी रास्तेपर चलकर आगे बढ़ोगे या मानवताकी ओर लौटोगे।”

वैज्ञानिकका मतलब यह नहीं होता कि वह तर्क के सब दरवाजे बन्द करले और एक अंधे रास्तेपर चल पड़े। शायद इसीलिए हमारे विज्ञानकी दुनियांसे मानव धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है—मानवके नाम पर इस एक ऐसी दुनियां निर्मित कर रहे हैं जहां सब कुछ होगा, पर वही नहीं होगा।”

१. प्रका. : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२। पृष्ठ : १४४; का. ६०; मूल्य : ४६.०० रु.।

‘प्रकर’—दिसम्बर’६०—३४

कहानीकी नायिका डॉ. दीपक पचौरी है, जो पोस्ट डाक्टरल फेलोशिप लेकर अमरीका जाता है। जेनेटिक्स पर रिसर्च करने। वह दो वर्षके लिए वहीं रहनेको प्रतिबद्ध है, शुरूमें अपनी मिट्टी अपना परिवार, अपने बच्चेके लिए मोहासक्त रहनेवाला वह भावुक वैज्ञानिक धीरे-धीरे बदलता है। शुरूआत आर्थिक विवशता के कारण होती है—वह डॉ. सू के प्रोजेक्टमें शामिल होता है और अंततः वह उसमें इतना रम जाता है, कि उसे परिवार तो क्या धीरे-धीरे मौतकी ओर बढ़ते बेटे की भी चिंता नहीं होती। वही व्यक्ति जो दूर रहकर अपनी पत्नी और बच्चेको चिन्ता न देनेके लिए एक झूठ गढ़ता है, अंतमें अपने पास रह रहे बेटेकी दीन दशा देखकर भी तनक नहीं पसीजता। पर वह स्वर्ण देशकी याद दिलानेवाले उन सभी प्रसंगोंसे भी छुटकारा चाहता है। लौट जानेकी त्रासदी अब उसकी नहीं रह जाती। वह लौटना नहीं चाहता। जबकि पत्नी रमा, बेटा भैय्या लौटना चाहते हैं संवेदनाओंके इस रास्तेमें। कहानीके केन्द्रीय पात्र “सर,” रमा, भैय्या ही शेष रहते हैं संवेदना और मानवताकी इस दुनियांमें।

वैज्ञानिकों की एक पूरी जिंदगीकी गिरिराजजीने करीबसे देखा है इसलिए पूरे उपन्यासमें एक आत्मीय लय विद्यमान है। कहानीके केन्द्रीय पात्र “सर” के माध्यम में गिरिराजजीने रचनाकारकी अंतर्व्यथाको भी प्रस्तुत किया है। रचनात्मकतासे अलग होकर वैज्ञानिक सिर्फ प्रौद्योगिकीकी उपलब्धियोंपर गर्व कर सकता है। पर रचनात्मकताके खत्म होनेके बाद मानवताके प्रति उसकी प्रतिबद्धताभी समाप्त हो जाती है। गिरिराजजी ने “सर” के माध्यमसे रचनात्मकताकी भावनात्मकता पर तार्किक बल दिया है। संभवतः विज्ञानके इस अंतर्ध्वंसकी पूरी त्रासदी यही है—रचनात्मकतासे दूर होते जाना। संयोगसे गिरिराजजी एक प्रौद्योगिकी संस्थान में रचनात्मक जीवन केन्द्रसे जुड़े हैं—उनके तथ्यपरक अनुभवोंका एक पूरा संसार इस उपन्यासके माध्यमसे उभरकर आया है। पर यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उपन्यास कहींभी आवेश या भावुकताका प्रतिफल नहीं है। गिरिराजजी एक रचनाकारकी संवेदनशीलताके साथ उन विडम्बनाओंके निकटसे गुजरे हैं, उनके प्रति सावधान किया है।

उपन्यासमें वैज्ञानिकके जितनेभी रूप हो सकते थे सभी उभरकर आये हैं। दीपक पचौरीका बदलता रूप,



राघवनका व्यावहारिक रूप, डॉ. रायका ओछा एवं कैल्कुलेटिव रूप, जिसके लिए किसीभी कीमतपर विदेश का ग्रीन कार्ड जरूरी है—इसके लिए किसीभी हदतक जोड़तोड़के लिए तैयार रहतेहैं, डॉ. सू—जो सिर्फ वैज्ञानिक है—प्रतिभाओंका उपयोग एक माध्यमके रूप में करना जानतेहैं और अंततः मैनमोन एक बेहद प्रभावशाली एवं सशक्त चरित्र गढ़ाहै गिरिराजने। मैनमोन जो हावभावसे अमरीकी है, पारिवारिक रिश्तों से अमरीकी है—भारत आना उसके लिए संभव नहीं। क्योंकि उसकी प्रतिभाको ग्रीनकार्ड किया जा चुकाहै, वह भारतीय होकर भी यहांकी मिट्टीमें अमरीकाको 'मायकंट्री' कहकर संबोधित करनेको बाध्य है—पर वह भीतरसे भारतीय है। उसकी भारतीय आत्मा उसके संस्कार अरहरकी दालके लिए ही नहीं बल्कि दीपकके क्षत-विक्षत होते पारिवारिक संबंधोंके लिएभी दुःखी है, जो किसीभी मूल्यपर परिवारको दुखसे बचानेके लिए प्रयासशील है। क्योंकि उसकी आत्माके भीतर भारत है—यहांकी मिट्टी, यहाँकी गंध है, उसे दुःख है कि खोती हुई मानवीय संवेदनाओंका; महत्त्वकांक्षाओंकी पूर्तिके पाशविक उन्मादमें खोनेसे बचाना चाहताहै वह दीपकको, पूरे परिवारको। इस बच्चेको अपना देश चाहिये...अकेले नहीं तुम दोनोंके साथ।...मैंने अपने अंदरवाला हिन्दुस्तान मार डालाहै। कभी-कभी जब जागताहै तो तेरे घर आताहूँ, तेरे बच्चोंको कामना-अतृप्तिकी दृष्टिसे देखताहूँ और चला जाताहूँ।" प्रो. सू. का वाक्य, 'एक वैज्ञानिक पहले वैज्ञानिक होताहै, फिर कुछ और।'।

"विज्ञानका सिद्धांत है कि अगर कोई उपकरण जरूरी होताहै तो उसे या तो फेब्रीकेट किया जाताहै, या फिर किसीभी मूल्यपर उपलब्ध किया जाताहै। हम वही कर रहेहैं, जो हमें करना चाहिये। हमारी राष्ट्र-भक्ति, तुम्हारी राष्ट्रभक्तिसे अधिक मजबूत है, क्योंकि हम उसे सिद्ध करनेकी स्थितिमें हैं।।...

अंततः दीपक पचौरीका सिर्फ मशीन बन जाना एक भयंकर विध्वंसक स्थिति है। रचनाकारकी तीसरी दृष्टि जो सिर्फ फंतासियोंमें ही नहीं उलझती उसके भी पार परिणामों तक पहुंचतीहै, उसी तीसरी आंखका उपयोग गिरिराजजीने इस उपन्यासमें कियाहै। युवा प्रतिभाओंके लिए ही नहीं बल्कि निर्यात करनेवालों संस्थानों और सरकारके लिएभी यह स्थिति चिन्ता-

जनक हो सकतीहै।

पूरे उपन्यासका अधिकांश भाग पत्रकी शैलीमें है। पर कथाका प्रवाह इतनी सहजतासे आगे बढ़ाहै कि रोचकता निरन्तर बनी रहतीहै। दीपककी बदलती मानसिक स्थिति भैयाकी दिनपर दिन बिगड़ती स्थिति डॉ. रायके छल-छद्म, मैनमोनका छिपा दर्द और दीपक के परिवारके प्रति लगाव, राघवनका सीधासाधा व्यावहारिक तर्क, सरके भीतर रचनाकार और उसकी संवेदनशीलता—सभी स्थितियां पत्रोंके माध्यमसे धीरे-धीरे खुलती जातीहैं।

उपन्यासका केन्द्रीय पात्र "सर" चुंकि एक रचनाकार भी है—इसलिए उसके द्वारा लिखी जा रही एक प्रेम-कहानीकी चर्चाभी बार-बार आतीहै। यह प्रेम कहानी एक प्रतीकके रूपमें सामने आतीहै। वैज्ञानिक व एक रुग्ण देशके प्रतीकके रूपमें। शायद यह अन्तर्कथा पूरी बातको और अधिक सशक्त बना सकतीथी—पर जाने क्यों लगताहै यहां वैसा नहीं होपाया। प्रेम कहानीका जिक्र न भी होता तोभी पूरा उपन्यास स्पष्ट उभरकर आता।

कुल मिलाकर अंतर्ध्वंस विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रमें होनेवाले इस निर्यातपर लिखा गया अनूठा उपन्यास है। मैनमोन, और "सर" के माध्यमसे कहे गये कुछ अंश सचमुच बेहद तीखे आत्मीय और मस्तिष्कको हिलाकर रख देतेहैं। रुग्ण संतानकी भांति निर्यातित वैज्ञानिकोंके पास मरता हुआ देश—क्या फिर कभी स्वस्थ होपायेगा? यह एक बड़ा-सा सवाल है—एक रचनाकारका अब वैज्ञानिकोंसे—निर्यात करनेवाले संस्थानों / सरकारसे। काशकि यह उपन्यास उन नौजवान वैज्ञानिकोंतकभी पहुंचे—जो भौतिक प्रलाभों और यशोषणामें लिप्त होकर अपने आपसे, अपनी अस्मितासे दूर होते जा रहेहैं। वे कहीं के नहीं रहते न देशके, न परिवारके, न ही अपने। एक विकसित देश, विकासशील देशकी प्रतिभाओंका उपयोग माध्यमके रूपमें करने लगे और उसे जंतु बनाकर छोड़ दें—यदि भविष्य यही है, तो इस भयंकर भविष्य के प्रति आग्रह करनेवाला यह उपन्यास निश्चय ही प्रशंसनीय है—इस सशक्त सार्थक उपन्यासको एक रचनाकारके दायित्वके साथ लिखनेवाले गिरिराजजी बधाईके पात्र हैं। □



## अग्नि पर्व?

लेखिका : डॉ. ऋता शुक्ल

समीक्षक : पं. सन्देशलाल ओझा

अपनी प्रस्तावना "सबद-साखी" में लेखिका स्वीकार करती है कि वह नहीं बता सकती कि "अग्नि पर्व" जैसी रचना को जन्म देने की आकांक्षा उसके मन में क्यों और कैसे बलवती हुई? प्रस्तुत रचना में रचना का यथार्थ लेखिका का स्वयं भोग्य, या केवल देख-सुन कर अपने स्तर पर समझा हुआ परिभाषित यथार्थ है, इसका विवेचन अप्रासंगिक हो सकता है, किंतु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि जिन अनेक लेखकों का प्रयोजन केवल लिखने के लिए कुछ लिखा जाये, ऐसा है, उन्हीं में से यह एक कृति कही जा सकती है। लेखिका के पास कोई नयी अनुभूति, कोई नयी समस्या, या कोई नया समाधान कोई नया संदेश हो, इस कृति में नहीं मिलता। हां, बिहार के गाँवों की प्रकृति, भाषा और स्थूल जीवन-क्रम का लेखिका को अच्छा परिचय है और उसकी अभिव्यक्तिकी क्षमता भी।

कथानक की भूमि है आरा के पास कतिपय देहातों, दहिवर, मोहनपुर करजा, बालापुर आदिका क्षेत्र, और संवादों के साथ ही साथ प्रायः विवरण में भी, और मुख्यतः महिला पात्रों के संवाद में, रजुली और कमला को छोड़कर, वहाँ की आंचलिक भाषा का प्रयोग रचना का विशेष गुण कहा जा सकता है। चरित्रों को सीधे तौर पर, अच्छे और बुरे, दो भागों में स्पष्ट बांटा जा सकता है। अर्थात् वे बड़े सपाट हैं। महिला पात्र प्रायः ही "अच्छे" के कटघरे में हैं, जो स्वाभाविक है, और जिन में प्रमुख है रजुली या राजवती और कमला। रजुली की माँ, या 'बालापुरवाली', अन्य महिला पात्र इसी 'अच्छी' श्रेणी में हैं। पुरुष पात्रों में सुमेरसिंघ, बिरजू, सुधीर, बलिरामसिंघ और रामकुमार अच्छी श्रेणी के हैं। दूसरे खेमे में हैं जियावनसिंघ, अवधेश और उसके साथी। सिवा सुन्नर, सिद्धेश्वर, सित्तू, दुलारी सरजू आदि अन्य पात्र भी हैं, जिनका उद्देश्य केवल कथा के सूत्र जोड़ना मात्र

है।

कथानक वही चिराचरित, एक गांव-जवार के सबसे सम्पन्न काश्तकार परमार्थसिंघ के दो बेटे सुमेरसिंघ और जियावनसिंघ, एक फूल दूसरा कांटा। बड़ा बेटा मैट्रिक पास सुमेरसिंघ अपनी माता के आग्रह पर मोहनपुर करजा गांव के एक दूसरे सम्पन्न काश्तकार बलिरामसिंघ की ज्येष्ठ कन्या से विवाह की संभावना को टालने के लिए धुपचाप भागकर फौज में भरती हो जाता है, किंतु पच्चीस साल बाद फौज से रिटायर होकर वह गांव लौट आता है तथा अपने छोटे भाई जियावनसिंघ से अपने हिस्से की जमीन का मालिक बन जाता है। यही से दोनों भाइयों में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। जियावनसिंघ के दो बेटे, अवधेश और सुधीर, वह एक कांटा, दूसरा फूल! इनके यहां एक नौकर बिरजू, उसके एक लड़की रजुली या राजवती और एक लड़का रामू या रामकुमार! मालिक वही खलनायक और नौकर एकदम संत! दो संतों सुमेरसिंघ और बिरजू में मेल, जियावनसिंघ और अवधेश की खलनायकी चरमता, राजनीतिकी चालबाजियाँ, हत्या, पलायन, जेल और लड़कियों के साथ छेड़खानियों के बाद प्रेम के विशुद्ध प्रेम के परिपाक! सुमेरसिंघ और बचपन में प्रस्तावित वाग्दत्ता कमला से जो अब विधवा का जीवन बिता रही है, रोमानी प्रेम, उधर सुधीर और रजुली का परिणय, ग्रामोद्धार के लिए शिक्षा केन्द्र की स्थापना और फिर शेष में भरत वाक्य!

उपन्यास में सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक आदि समस्याओं के चिरपरिचित समाधानों के लिए प्रसंग जुटा लिये गये हैं। रजुली के विवाह का प्रसंग उपस्थित होने पर बाल-विवाह की बुराई का उल्लेख, विधवा-विवाह के लिए दुलारी और सरजू का प्रसंग, राजनीतिकी लिए चुनाव का प्रसंग, नक्सलवाद की निन्दा के लिए अवधेश का प्रसंग और ग्रामांचलों में अशिक्षा को दूर करने के लिए सुमेरसिंघ, कमला, राजवती और सुधीर के प्रयत्नों से स्कूल की स्थापना—इतना ही नहीं राजवती और सुधीर का अंतर्जातीय विवाह,—ग्राम क्या हुआ, एकदम प्रबुद्ध स्वर्ग होगया। यही नहीं प्रमुख पात्र सुमेरसिंघ का कमला से रोमानी प्रेम भी नहीं छोड़ा गया है।

नारी चरित्रों में रजुली या राजवती, और कमला का चरित्र ही विशिष्ट है, पर अन्य चरित्रों की भांति सपाट, तथा आदर्श की कोटि में। बिरजू की पत्नी तथा

१. प्रका. : भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल

एरिया, लोधी रोड, नयी दिल्ली-११०००३।

पृष्ठ : १२१; डिमा. २०; मूल्य : ५५.०० रु.।

'प्रकर'—दिसम्बर '६०—३६



जियावनसिंघकी पत्नी 'बालापुरवाली' नारीका भूक-चरित्र हैं। किन्तु बालापुरवाली अवश्य अन्तमें अपने पति जियावनसिंघसे विद्रोह कर बैठती है जब उसके जेठ सुमेरसिंघ द्वारा सुधीर और रजुलीके विवाहके प्रस्ताव पर जियावनसिंघ सुमेरसिंघको भला बुरा कहकर अपमानित करता है। जियावनसिंघ उसे मारनेके लिए छड़ी उठाता है, पर बीचमें सुमेरसिंघके आ जानेसे चोट उन्हीं पर पड़ती है, जो सुमेरसिंघका प्राण ही ले लेती है। ये सारे प्रसंग ठूँसे हुए और इसलिए नाटकीय हो गये हैं।

एक प्रश्न सहजही उठता है कि क्या आंचलिक बोलीके प्रयोगसे ही कृति आंचलिक हो जाती है? यदि रचना सामान्य पाठकके लिए हो तो किस सीमातक आंचलिक बोलीके प्रयोगसे उसके साधारणीकरणमें बाधा नहीं पहुँचेगी यह विचारणीय है। यदि वह आंचलिक पाठकके लिए हो या बोलीको भाषाका रूप मिल गया हो तो कृति आंचलिक भाषामें क्यों नहीं लिखी जाती?—विशिष्ट भाव-बोधके लिए उसका आंशिक प्रयोग न केवल पात्रोंके चरित्रकी विशिष्ट समझा देता

है, बल्कि जिस भाषाकी वह मूलतः रचना है उसकी सामर्थ्यका भी विकास करता है। इस उपन्यासको पढ़ते समय ये विचार सहज ही उठते हैं। प्रस्तुत कृतिमें आंचलिकताके अतिरेकके अलावाभी भाषामें कसाव नहीं है। शब्दोंके गलत प्रयोगभी हुए हैं, मुद्रणकी अशुद्धियाँ तो हैं ही। क्रियाओंमें भूतकालका प्रयोग घटना की तात्कालिकताको तो समाप्त करता ही है, यत्र-तत्र अधूरे वाक्योंका कोई प्रयोजन नहीं मालूम पड़ता। संवाद और फिर संवादोंकी प्रकृतिका उल्लेख आगे या पीछे, जैसे उसने "दो टूक" बात की, या "बुरा-भला" कहा, और उसके बादही वह दो टूक बात या बुरा भला कहा हुआभी उद्धृत करना लेखिकाके आत्म-विश्वासकी कमीका ही द्योतक है। पन्द्रह वर्षकी सृजन साधनाके बाद लेखिकासे कुछ अधिककी आशा थी, पर शायद उपन्यासके रूपमें प्रथम कृति होनेसे लेखिका सभी कुछ कह देनेके लोभको रोक नहीं सकी। भविष्य में उनसे एक सुगठित रचनाकी अपेक्षा की जा सकती है। □

## कहानी

### क्षितिजः

[कन्नड़से अनूदित कहानियाँ]

कहानीकार : शान्तिनाथ देसाई

अनुवादक : बी. आर. नारायण

समीक्षक : डॉ. भगीरथ बड़ोले

श्री शान्तिनाथ देसाई कन्नड़के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। वर्तमानमें कुलपति और कार्यसे अध्यापक इस कन्नड़ रचनाकारने यद्यपि सभी विधाओंमें लेखन किया

है तथापि उनकी गणना एक कथाकार एवं आलोचकके रूपमें प्रमुखतः की जाती है। कन्नड़ कहानी परंपराके विकास क्रमके अंतर्गत वे 'नव्य युगके' सशक्त रचनाकार हैं। कन्नड़ भाषामें अद्यावधि उनके छः कहानी संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत कहानी-संग्रह 'क्षितिज' स्वयं श्रीदेसाई द्वारा चयन की गयी श्रेष्ठ सत्रह कहानियोंका हिन्दी रूपांतरण है, जो 'भारतीय कहानीकार' शृंखलाके अंतर्गत प्रकाशित हुआ है।

श्री देसाईने इन कहानियोंमें वर्तमान परिस्थितियों के अंतर्गत जीवनके यथार्थको पूरी आस्था और निष्ठा के साथ प्रस्तुत किया है। अधिकांशतः मध्यवर्गके जीवनके चित्रोंको प्रस्तुत करते हुए श्री देसाईने उसकी

१. प्रका. : भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३। पृष्ठ : २३०; डिमा. ६०; पृष्ठ : ७५.०० रु.।



समस्याओंको जीवन्त रूपमें प्रस्तुत किया है। मध्य वर्ग की जीवन समस्याओंके अंतर्गत सर्वप्रमुख समस्या है— प्राचीन और नवीन मूल्य संस्कृतिकी टकराहटकी समस्या, जिसे उन्होंने वैयक्तिक परिवेशमें स्त्री-पुरुष संबंधोंको आधार बनाकर अभिव्यक्ति दी है। इस प्रकारकी कहानियोंमें हम प्रस्तुत संग्रहकी 'तृप्त', 'परिवर्तन', 'अंतर', 'प्रतिकृति', 'क्षितिज', आदि कहानियोंको परिगणित कर सकते हैं।

'तृप्त' शीर्षक कहानीमें पति-पत्नीके रूपमें जीवन जीरहे व्यक्तियोंकी तनावपूर्ण आधुनिक जीवन स्थितियों का उल्लेख कर लेखक कहता है कि यदि जीवनको सरल रूप दे दिया जाये, तो निहित समस्याओंको मिटाया जा सकता है। पत्नी पद्मिनीके सामाजिक व्यवहारपर पति विश्वनाथ शंकाओंसे ग्रस्त होकर भिनभिनाया-सा है। हर संदर्भके साथ उसका अंतर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति होता है और हर जगह किसी-न-किसी विचलनका जन्म उसे चिन्तित कर देती है। किन्तु अंतमें जब वह सोचता है कि जीवनको सरल रूप देकर समस्याओंको हल करनेमें ही सुख, शांति और तृप्ति है, तब लगता है कि उसके विचार नये आयामोंके विस्तृत धरातलसे संबद्ध हो गये हैं। ऐसे विचारोंके विकसित न होनेके कारण ही 'क्यों' शीर्षक कहानीका नायक अंततक तनावग्रस्त जिदगी जीकर कुछ उपलब्ध नहीं कर पाता। उसकी पत्नी प्रमिला पुरुषके अव्यवस्थित व्यवहारके कारण ऊबी-सी है। संबंधोंके प्रति उसका ठंडापन तथा उसकी अनास्था विपरीत परिस्थितियोंका परिणाम है तथा पुरुष की शंकालु प्रवृत्तिके कारणही अंतमें उसे विवश होकर घर छोड़ना पड़ता है।

पुरुष और स्त्रीकी प्रवृत्तियोंको उकेरनेवाली कहानियोंमें 'अंतर' को परिगणित किया जा सकता है। एक ओर शंकर कुलकर्णीके रूपमें पुरुष नारीकी भावनाओं को उभारकर उसकी कमजोरियोंका लाभ उठानेके लिए प्रयत्नशील है तो दूसरी ओर सरस्वतीके रूपमें नारीका वह चरित्र है जो विवाहके बाद पूर्व संबंधोंको भूलकर वर्तमान संबंधको सही मानीमें निबाहनेके लिए तत्पर है। शंकरकी दृष्टि विघटनशील मानवीय मूल्योंके युगमें मूल्यहानतासे आद्यंत संबद्ध होती है, जबकि सरस्वती स्वस्थ मूल्य चेतनाको आकार देते हुए शंकरके हर अवांछित प्रयत्नको कुशलतासे निष्प्रभावी बना देती है। पुरुष प्रवृत्तिकी संकीर्णताको द्योतित करनेवाली एक

अन्य कहानी है—'नीच'। इसका कथानायक स्वयं तो दुर्बल पात्र है, पर वह करीमके सहयोगसे मीनाको हस्तगत करनेमें सफल हो जाता है। वह जानता था कि करीम किस प्रकारका व्यक्ति है, फिरभी किसीका मन जीतने तथा जीवन संघर्षमें जूझनेकी शक्तके अभावके कारण मीनाको जालमें लेनेके लिए वह स्वयं करीमको प्रोत्साहित करता है और जब मीना अवश हो जाती है तथा करीम उसे छोड़ देता है, तब संरक्षण और सेवाके आदर्शवादी मूल्योंकी दुहाई देते हुए अरुण मीनाके सामने विवाहका प्रस्ताव रख देता है। स्वयं आगे बढ़ने की अपेक्षा किसी अन्य पुरुषको अपने स्वार्थोंकी पूर्तिके लिए आगे बढ़ानेके लिए प्रोत्साहित करना वस्तुतः अरुण द्वारा अपनी कमजोरियों तथा अक्षमताओंको छिपानेकी नीच प्रवृत्ति ही है।

इसी प्रकार 'मध्यस्थ' शीर्षक कहानीमें श्री देसाईने मूल्यहीन स्थितियोंका प्रत्यक्ष विरोध किया है तथा असमर्थ पुरुष द्वारा नारीके शोषणको गलत माना है। गोविन्दको स्त्री, पत्नी रूपमें नहीं चाहिये; अपितु अपनी देखभालके लिए वह 'सहेली या सिस्टर' चाहता है, ताकि उसकी विकृति दबी रह सके। वह निर्मलासे भेंटकर यह सबकुछ स्पष्ट करता है। ऐसी स्थितिमें निर्मलाका प्रतिरोध कि एक खास उम्रके बाद किसीको विवाह नहीं करना चाहिये तथा गोविन्दका अमरीका लौट जाना इस बातका परिचायक है कि स्त्री-पुरुष संबंधोंमें किसी सहज नैसर्गिक मनोवृत्तिका मध्यस्थ बने रहना अनिवार्य है। इसके बिना जीवन व्यर्थ है।

'प्रतिकृति' शीर्षक कहानीभी पुरुषकी स्वार्थी प्रवृत्ति और नारीके नये मूल्योंकी ओर अग्रसर होनेकी कथा व्यंजित करती है। रत्ना स्वतंत्र रूपसे अपने पांवोंपर खड़ी होना चाहती है तथा किसीके शोषणकी शिकार न बन किसी सुशिक्षितके साथ विवाहके लिएभी तत्पर है। किन्तु जब उसे लगता है कि प्राध्यापक देशमुख उसके स्वप्न तोड़ उसपर अपना एकाधिकार चाहता है, तब वह इस प्रवृत्तिके विरोधमें पूरी शक्ति-सामर्थ्यके साथ खड़ी हो जाती है। परिणामतः देशमुखके लिए स्वयंको बचाना बहुत भारी पड़ जाता है। अंतमें वह सुखाड़ियाके साथ चली जाती है, पर झुकती नहीं। 'राक्षस' शीर्षक कहानी भी मनोविज्ञानके पुष्ट धरातल पर स्त्री-पुरुषकी मनोवृत्ति विवेचना करती है। अपने पतिसे असंतुष्ट नलिनी आर्किटेक्ट कमलाकर सरनायकके



व्यवहारसे बड़ी प्रभावित है। कभी उसे लगता है कि यह संबंध गलत है—तब वह इस राक्षसको भगानेका संकल्प लेती है, किन्तु जब उसे यह संबंध सहज और सही लगता है—तब वह अपने आपसे कहने लगती है कि आईना टूटना चाहिये, तालाबमें डूबना चाहिये। इसलिए वह चाहे-अनचाहे इस रास्तेपर बढ़ते हुए कमल से कहती है कि उसने उसके जीवनको जीवंत कर दिया है। किन्तु शीघ्र ही उसका मोहभंग होता है। जब उसे लगता है कि कमलभी मात्र उसका उपभोग ही करना चाहता है, प्रेम करना नहीं, तो वह कमलके प्रति अपनी घृणा प्रदर्शित करते हुए इस जालको चीरकर बाहर निकल पड़ती है।

नारी-जीवनके मूल्योंको नये संदर्भोंसे जोड़नेवाली कहानियोंके अंतर्गत 'परिवर्तन' शीर्षक कहानी नये और पुराने मूल्योंकी टकराहटको भी अभिव्यक्त करती है। एक ओर चंद्र, राजशेखर आदि ऐसे पात्र हैं जो परंपरागत मूल्योंके अनुसार बेबीको चलाना चाहते हैं और उसके सहज जीवनमें बाधाएं खड़ी करते हैं, तो दूसरी ओर बेबीका ठोस चरित्र है, जो हर संकीर्णताका विरोध करते हुए अपने इष्टकी ओर गतिर्शाल है। अंतमें राजशेखरका यह कथन कि—'हम लोग बूढ़े हो गये हैं। अब हम पुरानी पीढ़ीके हैं। हमें अपने मनको बदलना होगा, तभी हम सुखी हो सकेंगे।'—नये मूल्योंकी स्वीकृतिकी ओर बढ़ता हुआ पहला चरण है। ठीक यही स्थिति 'क्षितिज' कहानीकी है। परंपरागत जीवनादर्शोंसे जुड़ी तथा निःस्वार्थ सेवाके लिए जीवन समर्पित करनेवाली मंदाकिनी जब 'डिप्लोमा इन टीचिंग' के लिए इंग्लैंड जाती है तब जहाजमें नयी जीवन स्थिति देखकर क्षोभसे भर जाती है। एक ओर स्वच्छंद-सहज जिदगी और दूसरी ओर उसे विखण्डित करने वाला उसके चुकते हुए व्यक्तित्वका नग्न सत्य—ये दोनों जब आमने-सामने होते हैं, तब उसे अनुभव होता है कि दुःख या विषादके सहारे जीवन जीना व्यर्थ है, हर स्थितिको 'इंटर्रेस्टिंग' बना लेनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। यह स्थिति आनेपर ही कुहरेमें ढंका जीवन-क्षितिज स्पष्ट हो सकता है।

स्त्री-पुरुष संबंधोंकी नये जीवन संदर्भोंमें पड़ताल करनेवाली इन कहानियोंमें मूल्योंकी टकराहट, नये सामाजिक संकल्प नारीकी नयी मूल्य-चेतना तथा पारंपरिक नैतिकताके नये आयामोंका विस्तार स्पष्टतः

प्रतिबिंबित होता है, जो लेखककी नवीनतासे संबद्ध मूल्य-दृष्टिको अभिव्यक्त करता है। इसमें लेखकने कहीं भी नैतिकता-अनैतिकताके प्रश्नोंको सीधे उठाया नहीं है। किन्तु नयी नैतिकताका मर्यादित ढंगसे पुरजोर समर्थन किया है। इन कहानियोंमें निहित समस्याएं आधुनिक समाजकी समस्याएं हैं जिन्हें हल करनेमें लेखकने अपनी उदार और नयी दृष्टिका परिचय दिया है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष संबंधोंकी अभिव्यक्तिमें श्री देसाई की पकड़ और समझ बड़ी गहरी और पैनी है इसीलिए संबंधित चरित्रोंका रोचक एवं सशक्त मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है।

मानवीय संबंधोंके अन्य धरातलोंसे संबद्ध कहानियों में यात्रा कूर्मवितार तथा यशकी लालसा आदि विशिष्ट कहानियां हैं। 'यात्रा' के अंतर्गत किशोर जैसे चरित्र के माध्यमसे लेखकने प्रदर्शित किया है कि संवेदना-शून्य मनुष्यकी प्रवृत्तियां मानवीय-संबंधोंको कोई आकार नहीं दे सकती। ये मात्र स्वार्थप्रेरित रहती हैं तथा किसी भिन्नके अस्तित्वसे मात्र लाभ उठा सकती हैं, उसके सुख-दुःखमें सहायक नहीं हो सकती। 'कूर्मवितार' का पतंगराव भी इसी प्रकारका पात्र है। परिणामतः अंतमें उसमें उत्साहहीनताके अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह पाता। 'यशकी लालसा' शीर्षक कहानी द्योतित करती है कि वर्तमानमें सभी इस प्रवृत्तिके शिकार हैं। यशके लिए कोई धन-संपत्तिको प्रमुखता देता है, तो कोई अपने ज्ञान पाण्डित्यको। सयाजीरावका विश्वास प्रभुत्व-प्रदर्शनमें आद्यंत रहता है। धन-संपत्तिका गर्व उसके जीवनमें किसीभी मूल्यको आकार नहीं पाने देता। मात्र सेक्रेटरीही नहीं, वह अपने मित्रकी पत्नीको भी अपनी अधिकार-सीमामें मानता है। दूसरी ओर कृष्ण जैसा पात्र है जो बार-बार व्यक्त करता है कि उसने ज्ञानके क्षेत्रमें दूसरोंको आगे बढ़ानेमें किसकी कितनी सहायता की है। परम्परागत संस्कारोंसे जुड़े अपने गौरवकी रक्षाको वह सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसी-लिए पत्नीके बालोंमें सयाजीराव द्वारा दिया हुआ फूल लगा देखकर आपमें नहीं रह पाता। ये दोनोंही पात्र दो भिन्न जीवन-शैलियोंको जीनेवाले प्रतीक पात्र कहे जा सकते हैं, जिनकी सुखकी परिभाषाभी शैलियोंकी भिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न है।

'नदीका पानी' शीर्षक कहानीका कथानायक जीवनको नदीकी तरह मानता था जिसका एकमात्र



लक्ष्य है बस बहते रहना और बहते रहना। किन्तु जब पुरुषोत्तम उसे बताता है कि उद्देश्यहीन जीवन, जीवन नहीं होता और उसका जीवन उद्देश्यहीन है तब कथानायक इस सच्चाईको सह नहीं पाता। अपने जीवनकी निरर्थकताका अनुभव करके वह पुरुषोत्तमसे चिढ़ उठता है तथा नदीमें डूबते समय पुरुषोत्तमको बचाता नहीं। बादमें बड़ा होकर अपनी कर्तव्यशक्ति और जीवनके प्रति उत्साहसे परिपूर्ण हो वह बहुत कुछ अर्जित कर लेता है, किन्तु उसके मनको शान्ति नहीं मिल पाती।

‘चंद्र’ शीर्षक कहानी किशोर-मनोविज्ञानपर आधारित है। ग्यारह वर्षका चंद्र अपनी दीदी सुशीलाको बहुत चाहता था, पर जब वह देखता है कि सुशीला आनन्दके अनुसार चल रही है, तब वह चिढ़ उठता है। यद्यपि वह हर समय इस बातका भी प्रयत्न करता है कि आनंदका सुशीलापर प्रभुत्व न जमने पाये और उसकी दीदी आनंदकी घृणित-मनोवृत्तियोंका शिकार न बन जाये, तथापि जब उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि उसका अपना महत्त्व आनंद और सुशीला द्वारा अपहृत हो चुका है, तब वह आपेमें नहीं रह पाता और घर लौट आता है।

नानाकी तीर्थयात्रा शीर्षक कहानी एक भिन्न मान-वीय स्थितिकी कहानी है जो अस्तित्ववादी जीवन चेतनाको रूपाकार प्रदान करती है। जीवनमें सब कुछ मनचाहा जी लेनेके उपरांत जब नानाको अपना जीवन निरर्थक लगने लगता है तब अपने अस्तित्वकी सार्थकता प्रदर्शित करनेके लिए वह स्वयं होकर नदीमें जल-समाधि ले लेता है। उसकी अपनी मान्यता यही थी कि पुरानी बातोंको लेकर क्या रोना। जीवनमें खास बात तो यह है कि हमेशा हंसना चाहिये। इसीलिए वह हंसते-हंसते मृत्युका वरण करता है। अतः सुनिश्चित है कि इस कहानीके माध्यमसे अस्तित्ववादी चिन्तनको अभिव्यक्ति मिली है।

शिवुका विद्रोह एवं भरम्या निखिल कैसे बना— शीर्षक कहानियां लेखककी प्रगतिशील चेतनाको अभिव्यक्त करती हुई मूल्यहीन संपन्न समाजके शोषणके प्रति अपने आक्रोशको प्रकट करती है। ‘शिवुका विद्रोह’ कहानीके अंतर्गत संपन्न परिवारके पुत्र शिवुका गरीब संग्या और सरसी धोवनके प्रति लगाव और अपने घरके लोगोंसे निरंतर अलगाव अनुभव करते रहना

लेखककी प्रगतिशील दृष्टिकी अभिव्यंजनाका परिणाम सिद्ध होता है। इसीलिए शिवु इन गरीबोंका अपमान होते नहीं देख सकता और इन्हें अपमानित करनेवाले घर तक को छोड़नेका निश्चय कर लेता है। वस्तुतः गरीबोंके प्रति अमीरोंकी दृष्टि कभी मानवीय नहीं रही। ‘भरम्या निखिल कैसे बन गया’ शीर्षक कहानीमें भी दादासाहब पाटिल ऐसेही संपन्न वर्गके प्रतीक हैं जो गरीबोंसे बेगार कराते हैं और ऐसा न करनेपर उनपर अत्याचार करते हैं। एक उम्र बीतनेके बाद नौकरीकी आवश्यकता अनुभवकर वे भरम्याके साथ सलीकेसे पेश आते हैं, किन्तु भरम्याके मनमें इन अमीरोंके प्रति विद्रोह का भाव बहुत प्रबल है, इसीलिए वह दादा साहबके पुत्र निखिलसे स्पष्ट कह देता है कि वह उसका अपमान न करे, अन्यथा उसेभी वही व्यवहार करना पड़ेगा। निखिलके बाहर जातेही उसके बिस्तरपर सोजाना, उससे साइकिल लेकर चलाना, गाड़ी बिगाड़ देना आदि घटनाएं उसके इसी विद्रोही स्वरूपका परिणाम है। यहां तक कि वह एक दिन निखिलकी दोस्त शालिनीको भी धोखेसे घर ले आता है और उसे बिस्तरपर पटक कर उससे सोनेकी चेन और क्लिप छीन लेता है, पर जैसे ही उसे लगता है कि वह संपन्न वर्गकी नहीं है और उसमें उसकी बहनोंकी छाया विद्यमान है—वह अपने कियेपर पश्चाताप करता हुआ शालिनीको सकुशल घर छोड़ आता है और सेनामें भर्ती होकर अपनी विद्रोही कल्पनाओंमें रमते हुए बमसे पाटिलके घरको नष्ट करनेका विचार बना लेता है। निम्न शोषित वर्गके इस प्रतीक पात्रका यह विद्रोह सामयिक और सार्थक विद्रोह है जो कथाकार श्री देसाईकी रचना प्रक्रियाके भिन्न आयामको प्रस्तुत करता है, किन्तु किसी वादसे प्रतिबद्ध होकर नहीं, बल्कि मानवीयताके धरातलसे संबद्ध होकर ही यह चेतना सार्थकताके साथ अभिव्यक्त हुई है।

इस प्रकार प्रस्तुत संकलन ‘क्षितिज’ की प्रायः प्रत्येक कहानी जीवंत जीवन-स्थितियोंका समर्थन करती हुई नयी नैतिकताके निर्माणकी दिशामें अग्रसर है। यह संदेश कहीं प्रत्यक्ष है और कहीं परोक्ष है तथा लेखक इन्हींके बीच सांकेतिक रूपमें अपनी बात अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार उसकी कथा संरचना उद्देश्यपूर्ण है। थोड़ेमें अधिक कहनेकी कलामें निष्णात श्री देसाई कहींभी कथारसपर विचारोंकी घटाटोप हावी



नहीं होने देते। प्रायः प्रत्येक कहानी रोचक है, मनो-विश्लेषणके पुष्ट धरातलसे संबद्ध है तथा शालीनतासे पारंपरिक मूल्योंके प्रति अपने असंतोषको जाहिर करती है। भाषामें यथार्थपूर्ण बिम्ब और प्रतीक विधान उसकी शक्तिमत्ताको प्रकट करते हैं। इन कहानियोंकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनमें निहित व्यंग्यका प्रबल स्वर, जो कहीं कथ्य और कहीं भाषा-शिल्पके धरातलपर मुखर होकर इन कहानियोंको अत्यधिक रोचक बना देता है। आंतरिक जीवन पक्षको महत्त्व देनेके कारण ही इस संकलनकी कहानियोंमें काव्यात्मकताका आभास भी अनायास झलकता है। कुल मिलाकर इन कहानियों में आधुनिक कहानीकी रचना प्रक्रियाके तेवर विद्यमान हैं।

यहां प्रस्तुत संकलनकी समीक्षाके अंतर्गत अनुवादक श्री बी. आर. नारायणके श्रमकौशलकी सराहना करना भी अयुक्तिसंगत नहीं होगा, जिसके फलस्वरूप अनुवाद कहींभी यांत्रिक नहीं होपाया और इसीलिए कथारस के अनुवादमें बाधक नहीं बना है। अनुवादक द्वारा प्रारंभमें कन्नड़ कहानीकी परंपरासे संबंधित लेख तथा अंतमें मूल रचनाकारकी रचना-प्रक्रियासे संबंधित साक्षात्कार प्रस्तुत संकलनमें निहित कहानियोंको सम-झनेमें ही सहयोग नहीं देता, बल्कि भारतीय भाषा कन्नड़के साहित्यको विस्तृत मनोभूमिपर जानने-समझने का मूल्यवान अवसरभी प्रदान करता है। ऐसे संकलनका प्रकाशन निश्चयही एक महत्त्वपूर्ण एवं उपदेय उपक्रम कहा जा सकता है। जो भारतीय साहित्यके संपन्न व्यापक आयामोंकी सामर्थ्यको प्रतिबिम्बित करता है। □

## देखते देखते?

लेखक : चन्द्रशेखर दुबे

समीक्षक : डॉ. तेजपाल चौधरी

‘देखते-देखते’ चन्द्रशेखर दुबेका दूसरा कहानी-संग्रह है, जिसमें उनकी पच्चीस कहानियां संगृहीत हैं। कहानियां मालवा जनपदकी ग्रामीण पृष्ठभूमिपर आधारित हैं और वहांके किसानों, चरवाहों तथा अन्य ग्रामीण

१. प्रका. : चन्द्रशेखर दुबे, २४२, तिलकनगर, इन्दौर-४५२००१। पृष्ठः १६४; डिमा. ८८; मूल्य : ४०.०० रु.।

लोगोंके सुख-दुःखों, रूढ़ियों, परम्पराओं और आशाओं-आकांक्षाओंको स्वर देती है। इन कहानियोंमें जहां जीवनकी सरलता और सादगीकी सुगन्ध है, वहां टूटते बदलते हुए मूल्योंकी तिक्तता भी। यह एक कटु सत्य है कि नयी उभरती भौतिक प्रगतिकी स्पर्धा-प्रतिस्पर्धामें जहां गांवोंको विकास चेतना प्रदान की है, वहां परम्परागत मूल्योंको बुरी तरहसे आहत भी किया है। आज स्थिति यह है कि बड़ा भाई छोटेको केवल इसलिए कुंवारा रखना चाहता है कि विवाहके बाद उसे उसकी कमाईसे वंचित न होना पड़े, (विना जड़का पौधा); एक पति अपनी निष्ठावान् एवं सुन्दर पत्नीको इसलिए त्याग देता है कि उसकी निरक्षरता उसके ‘सामाजिक स्तर’ को कलंकित न करे (खेजड़ी) और एक भतीजा उंगली पकड़कर चलाना सिखानेवाली बुआको इसलिए धोखेसे दूसरे गांव ले जाकर बेच देता है ताकि बुढ़ापे में उसका बोझ न उठाना पड़े (बोझ)।

कुछ कहानियोंमें प्रशानिक भ्रष्टाचार और राज-नैतिक तनावको भी वाणी मिली है। इस दृष्टिसे संग्रह की शीर्षक कथा ‘देखते देखते’ विशेष उल्लेखनीय है। कहानीके रमेशका तबादला उसके गांवसे डेढ़ सौ कोस दूर सड़कसे कटे एक गांवमें कर दिया जाता है। उसे रुकवानेके प्रयासमें वह उस समय और मुसीबतमें फंस जाता है, जब गांवका पटेल सहायता करनेकी बजाय उसकी पत्नीका तबादला भी अवांछित जगह करा देता है। ‘दरार’ कहानी चुनावी राजनीतिके एक क्रूर पक्ष को उद्घाटित करती है। यह कैसी विडम्बना है कि बेचारे मतदाता तो गुटों और खेमोंमें बंटे बरसों अपनी दुश्मनीके शापको ढोते रहते हैं और प्रतिपक्षी उम्मीदवार, दिखावटी तौरपर ही सही, चुनावके फौरन बाद प्यालों और कहकहोंका आदान-प्रदान करने लगते हैं।

बिवेच्य संग्रहमें ग्राम्य पशुओंसे सम्बन्धित कहानियां भी हैं जो न केवल उनके गुण दोषोंका वर्णन करती हैं; अपितु उनके प्रति ग्रामीणोंके ममत्वको भी अभिव्यक्ति देती हैं। इन कहानियोंमें कतिपय प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ‘सांड राजा’ में पूरे गांवमें सिवान तक आतंक फैलानेवाले एक सांडका वर्णन है, जो जुती हुई बैलगाड़ीपर आक्रमण करता है। कोई उपाय उसे नियन्त्रित करनेमें सफल नहीं होता। अतः गांववालोंके सामने उसे सहन करते रहनेके सिवाय कोई चारा नहीं रहता। हमारे चारों



औरभी तो कितने सांड है, जो निष्क्रिय हैं, स्वैराचारी हैं, दूसरोंकी फसल खाना और उजाड़ना जिनका शौक है। 'कुत्ते' कहानीभी अप्रत्यक्ष रूपसे आभिजात्य वर्गके गर्व पर तीक्ष्ण प्रहार करती है।

अधिकतर कहानियोंमें करुणाकी अन्तर्धारा प्रवहमान है। अविवाहित थावर दा (बिना जड़का पीछा) ईमानदारीकी सजा भोगता भंवर (पालकी), जो तोड़ परिश्रमके बदले उपेक्षा और दुरावकी पीड़ा सहता देवजी (कंकर), श्वेत कुष्ठके दागोंसे शापित धूल्या (दागी), सौतेली मां की घृणा और पिताकी परवशता की शिकार सागर (केगल) सभी पाठककी करुणा को उद्वेलित करनेका सामर्थ्य रखते हैं। किन्तु दृष्टिकोण के स्तरपर ये कहानियां निराशावादी नहीं हैं। इसके

विपरीत निराशापर आशाकी विजयका उद्घोष करती हैं। 'छींटे' 'अबूझ पहेली' और 'चटक चाँदनी रात' विशेषतः जीवनके उल्लासकी कहानियां हैं। लोकगीतों का माधुर्य इन्हें औरभी ग्राह्य बना देता है। इसी प्रकार 'जंगल' जैसी कुछ कहानियां आदर्शों और नैतिक मूल्योंके प्रति मानवकी आस्थाको दृढ़ करती हैं।

कहानियोंका बाह्य पक्ष कमजोर है। भाषामें परिपक्वताका अभाव खटकता है। शब्दों और मुहावरोंके प्रयोगोंमें भी कहीं-कहीं शिथिलता परिलक्षित होती है। यही बात विराम चिह्नोंको लेकर भी कही जा सकती है। □

## व्यंग्य-विनोद

### अजगर करे न चाकरी?

लेखिका : सूर्यवाला

समीक्षक : (१) डॉ. भानुदेव शुक्ल

(२) डॉ. तेजपाल चौधरी

सुप्रसिद्ध कथा-लेखिका सूर्यवालाने समय-समयपर हास्य और व्यंग्यपूर्ण लेखभी लिखे हैं। 'अजगर करे न चाकरी' उनका दूसरा निबंध संकलन है।

सूर्यवालाके लेखनकी दिशाएं अनेक रही हैं। स्वभावतः प्रारम्भ कवितासे किया किन्तु टिक गयीं, गद्य लेखनमें ! पी.एच. डी. का विषय लिया रीतिकालका किन्तु रचनात्मक लेखनमें वे सामाजिक यथार्थसे जुड़ी हैं।

आलोच्य पुस्तकमें सैंतालीस लेख हैं। कुछमें व्यंग्य मुख्य हैं किन्तु अधिक संख्यामें विनोद, कभी-कभी

हल्की चिकौटियां लेनेकी प्रवृत्ति प्रमुख हैं। सूर्यवाला में आक्रामकताके दर्शन कदाचित् ही होते हैं। इसलिए उनके व्यंग्य परसाई या शरद जोशीके व्यंग्यसे भिन्न हैं।

संकलनके प्रथम सात लेख व्यंग्यके स्वरोसे युक्त हैं। शेषमें 'हिन्दुस्तानके कुछ चुनिंदा फल', 'रंगवदल नीति और खरबूजा', 'सम्मेलनी समी', 'अथ कलियुग गुरुदेव रासो', 'चौरास्तेपर संवाद' तथा 'परीक्षाभवन की नयी आचार संहिता' में व्यंग्य ही प्रधान हैं। बचे हुए लेखोंमें विनोदकी मुद्राएं बहुत स्पष्ट हैं। उनमें फुलझड़ियोंकी छटपटाहट ही है, पटाखोंकी धमक नहीं। तथापि, व्यंग्योंमें भी प्रहार करनेकी प्रवृत्ति पूरी आक्रामकताके साथ कदाचित् ही उभरी है। दो निबंध इनसे भिन्न हैं। 'हमें भी कुछ कहना/ करना है' में सती प्रथा पर गंभीर अभिव्यक्ति है तथा 'शहरनामा अपने प्यारे शहरका' में दशकों बादभी वैसेही गन्दे और पिछड़े हुए शहरको देखकर एक छिपी हुई किन्तु गहरी व्यथाकी अभिव्यक्ति है।

१. प्रका. : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०६०६। पृष्ठ : २१२; का. ८६; मूल्य : ६०.०० रु.।

'प्रकर'—दिसम्बर'६०—४२

सूर्यवालाने लेखोंमें मुहावरों, फिल्मी गीतोंकी



पंक्तियों तथा कभी-कभी हिन्दी कविताके अंशोंके बहुत ही सटीक प्रयोग किये हैं। विनोदके अवसरोंपर ऐसा अधिक हुआ है जबकि व्यंग्यके अवसरोंपर अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग अधिक हुए हैं। अवश्यही एक अत्यन्त सामयिक मुहावरा 'बछियाका ताऊ' छूट गया है। बादमें कभी शायद इसका उपयोग किया जाये।

व्यंग्यके लिए लेखिकाने बुद्धिजीवी कहलानेवाले वर्ग तथा उसकी कला-भावनाके साथ क्रिकेटका खेल तथा पशुओंमें कुत्तेको प्रमुखता दी है। वैसे राजनीतिके अखाड़ेके पहलवानों, रंगबदलनेवाले गिरगिटों और बुद्धि से सर्वथा दूर भारत-भाग्य-विधाताओंपर भी लिखा जा सकता था। यह बात शिकायतके रूपमें नहीं बल्कि सुझावोंके रूपमें हम लिख रहे हैं। इस महान लोकतंत्रमें तो लिखनेके लिए इतना कुछ विद्यमान है कि सैकड़ों परसाईं जीवनभर लिखें तबभी काफी कुछ रह जाये। लेखिकाने माना है कि "जहाँ तक भूखका सवाल है, हम सब एक हैं।" राष्ट्रीय एकताका यह स्वरूप देखनेके बाद ही हमें 'सारे जहाँसे अच्छा...' का अर्थ समझमें आता है।

एक बात हमें और उल्लेखनीय लगी। लेखिका एक महानगरमें रहती है किन्तु उसका लेखन महानगरीय प्रश्नों के बजाए सारे देशके सामने खड़े प्रश्नोंसे ही जुड़ा है। किन्तु, प्रश्नोंको लेकर उसने जिहादीमुद्रा कमही अपनायी है। 'क' से कफरू, 'का' से 'काला जल' तथा 'परीक्षा भवन की नयी आचार संहिता' हमको अपेक्षाकृत सपाट लेख लगे हैं।

सूर्यबालाके लेखनमें 'पैनी छुरीके प्रयोग कम हुए हैं, चिकोटियाँ अधिक हैं। इसलिए हमें वे व्यंग्यके बजाए विनोद और खिचाई करनेवाली चुहलवाजीके 'मूड'की लेखिका अधिक लगी हैं। व्यंग्य लेखक अपने आपपर वार नहीं करता। सूर्यबालाने अपने आपको भी नहीं छोड़ा है। यह उत्तम हास्यका ही लक्षण है। एक श्रेष्ठ लेखिकाके आत्मीय लेखनसे युक्त लेखोंके संकलनका स्वागत है।

[२]

सूर्यबाला अपेक्षाकृत कम चर्चित व्यंग्यकार है। उन्होंने उपन्यास और कहानी लेखनमें अपनी विशेष पहचान बनायी है। परन्तु जो उनके व्यंग्य लेखनसे परिचित हैं, वे स्वीकार करेंगे कि व्यंग्यमें भी उनकी पैठ सतही नहीं है। उनके व्यंग्यमें हास्यके आवरणमें

लिपटा हुआ ऐसा पैनापन है, जो उन्हें व्यंग्यकारोंकी काफी आगेकी पंक्तिमें बैठा देता है। कथ्यके स्तरपर उनके लेखनमें अद्भुत विविधता है। उन्होंने शासन-प्रशासन नेता-अभिनेता, लेखक-सम्पादक, फिल्मकार-चित्रकार—सभीको अपने प्रहारका लक्ष्य बनाया है। किन्तु उनका व्यंग्यास्त्र सबसे अधिक आडम्बर और प्रदर्शन वृत्तिके खिलाफ प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः यह वृत्ति आधुनिक जीवनका अविभाज्य अंग बन गयी है और हम 'जो हैं' की अपेक्षा 'जो नहीं है' का प्रदर्शन अधिक करते हैं। इस सत्यको 'हाय... बालवर्ष बीता जाये' के माध्यमसे समझा जा सकता है।

एक ओर बालवर्षके उपलक्षमें क्रेकर शो होते हैं, स्कूलोंमें फन-फेयरका आयोजन होता है तो उधर "हर दिन हजारों बच्चे पैदा होते हैं, मरते हैं, पाकेटमारी करते हैं, जूठे पत्तल चाटते हैं, मिचमिची पनीली आँखोंसे यहां वहां गटर कीचड़में डोलते-फिरते हैं।"

जो बात इन आयोजनोंके सम्बन्धमें कही गयी है, वहीं राहत कार्योंपर लागू होती है। सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है तो सबसे अधिक ध्यान दौरोपर दिया जाता है। मन्त्री, उपमन्त्री राज्यमन्त्री दौरेपर जाते हैं, हेलीकोप्टरोंका मेला लगता है। आसमानसे खानेकी वर्षा होती है। कुछ बासी खाना खाकर मरते हैं तो कुछ भूखसे मरते हैं, परन्तु मरना जैसे उनकी नियति है। अपरिहार्य स्थिति है। 'चौरस्तेपर संवाद' में इन स्थितियोंकी उत्तम व्यंजना हुई है।

ये स्थितियाँ उन राजनेताओंकी पैदा की हुई हैं, जो 'देशसेवा' का व्रत लेकर अवतरित होते हैं। हमारे यहाँ देशसेवा सबसे उत्तम व्यवसाय है, जिसके लिए यहाँ काफी अनुकूल स्थितियाँ हैं। 'देशसेवाके 'अखाड़ेमें' व्यंग्यमें सूर्यबाला लिखती है, "ईश्वरकी दयासे गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा आदि किसी बातकी कमी नहीं। लोगभी सीधे नादान किस्मके हैं—आँखें मूंदकर माई-बापका रिश्ता जोड़ लेनेवाले।"

एक बार व्यक्ति देशसेवाका व्रत ले ले, तो सब कुछ सहज सुलभ हो जाता है—मानो राजनीति एक कल्पवृक्ष है जिसकी छायामें पहुँचकर पद-प्रतिष्ठा मान-सम्मान कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। यह वृक्ष जनसान्यकी 'कोउ नृप होय, हमहि का हानी' की उपेक्षासे जन्म लेता है। 'अथ अकर्मण्य यज्ञ उपदेशात्मृत' लेखिकाने इस मानसिकतापर करारा प्रहार किया है।



राजनीति और प्रशासनकी भारी भरकम विवृतियों के अतिरिक्त सूर्यबालाने हल्के-फुल्के विषयोंपर भी सशक्त व्यंग्य लिखा है, जैसे रेलगाड़ियोंकी भीड़भाड़ (चली रे चली अड़तालीस डाउन), गलित परीक्षा पद्धति (परीक्षा भवनकी नयी आचार संहिता), कस्बे की गाँव और शहरके बीच लटके रहनेकी त्रिशंकु स्थिति (जागा रे जागा...कस्बा अभागा) सभा सम्मेलनोंका नया शिष्टाचार (सम्मेलनी समां) भारतीय प्रजातन्त्रमें मतदाताकी उपेक्षा (तुलना कलियुगी और सतयुगी वोटरोंकी) आदि। खासकर क्रिकेट और फिल्मोंपर उनके व्यंग्य बहुत आकर्षक बन पड़े हैं। क्रिकेटका शोक हमारे यहां उन्मादकी स्थिति तक पहुँच गया है। हम बारबार हारते हैं, कभी मैच न देखनेकी कसमें खाते हैं, परन्तु हर बार नयी आशाके साथ स्टेडियमकी ओर दौड़ पड़ते हैं। रेडियो और टेलीवीजन सारी चेतनाके केन्द्र बन जाते हैं। 'मेरा क्रिकेट प्रेम' में लेखिकाने इसी मानसिकतापर प्रहार किया है।

फिल्मोंकी स्थिति भी अधिक भिन्न नहीं है। समाजका बहुत बड़ा वर्ग फिल्में देखता है। बुद्धिजीवी लोग कुछ विशिष्ट फिल्में देखते हैं, जिन्हें 'कला फिल्म'

कहते हैं, जिनमें मनोरंजन नामकी कोई चीज नहीं होती कहानीका कहीं सिर पैर नहीं होता। फोटोग्राफीकी यह हालत होती है कि कई मिनट तक पर्देपर अंधेरा ही अंधेरा रहता है या लालटेनकी लौ टिमटिमाती रहती है। 'काटना पागल कुत्तेका उर्फ देखना एक कला-फिल्मका' व्यंग्यमें सूर्यबालाने इन तथाकथित कला-फिल्मोंकी खासी खबर ली है।

कुत्ता प्रेम, मॉडर्न आर्ट, बुद्धिजीवी मानसिकता आदि विषयोंपर भी उनके व्यंग्य प्रभावशाली बन पड़े हैं। 'बड़े बेआबरू होकर कलावीथीसे हम निकले' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

—अमुकजी इस चित्रके पेड़को बनानेकी प्रेरणा आपको कहांसे मिली ?

—पेड़ ? पेड़ कहाँ है ?

—क्यों ? ये क्या रहा ? ...ये...ये वाला।

—यह पेड़ नहीं औरत है।

सूर्यबालाका व्यंग्य सहजता लिये हुए है। उसमें न तो आक्रोश है न किसी 'वाद' से जुड़े रहनेकी प्रति-बद्धता। निरीक्षणकी सूक्ष्मताने उसे स्वभाविकता प्रदान की है। शैली रोचक है... खास तौरपर संवाद। □

## लोक संस्कृति

### जैसे उनके दिन बहुरे ?

संग्रहकर्ता : डॉ. राधा दीक्षित

डॉ. दामोदर दत्त दीक्षित

समीक्षक : डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य

लोक-साहित्य शिक्षित जनोंके साहित्यकी अपेक्षा कहीं अधिक भावप्रवण, सरस और मार्मिक होता है। उसमें जनजीवनकी आत्मा प्रतिबिम्ब रहती है। लोक-साहित्यके विविध रूपोंमें लोक-कथाओंका अपना

वैशिष्ट्य है क्योंकि उनमें लोक परम्पराएं सुरक्षित रहती हैं। आलोच्य पुस्तक 'जैसे उनके दिन बहुरे' अवध की चुनो हुई इकतालीस व्रत लोक-कथाओंका संग्रह है जिन्हें सम्पादक-द्वयने अपनी (नानी) स्व. चन्द्रकली सुकुलसे सुनाया। उन्होंने इनका संग्रह लोक-परम्परा की सुरक्षाकी दृष्टिसे किया है। उनका कथन है, "लोक परम्पराएं शीघ्रतासे विलुप्त होती जा रही है। इसलिए उनका लेखा-जोखा रखना पहलेसे भी अधिक जरूरी हो गया है।"

आलोच्य संग्रहमें जगन्नाथ स्वामीकी दो नागपंचमी तथा न्यौरीनामाकी एक-एक बहुरा चौथकी दो हरछठ

१. प्रका. : साहित्य भण्डार, ५० चाहचंद, इलाहाबाद।

पृष्ठ : ११७; डिमा. ८६; मूल्य : ४५.०० रु.।

'प्रकर'—विसम्बर'६०—४४



की आठ, तुलसीकी दो, करवा-चौथकी पांच, अवही-आठें तथा आंवलेकी एक-एक, चिरैया गोरकी तीन, भइया-दूजकी सात, सकठ-चौथकी चार, सोमवारी अमावस्याकी दो और सोहागलिनकी दो कथाएं संग्रहीत हैं।

जगन्नाथ स्वामी (भगवान श्रीकृष्ण) की कथाओं में उनकी भक्तवत्सलताका गुणगान किया गया है। नागपंचमी न्यूरीनामा (नेवले) तथा बहुरा चौथकी कथाओंमें मानवेतर प्राणियोंमें मानवीय मनोभावोंका निदर्शन है। हरछठ (हलषष्ठी) की कथाओंमें पुत्र-स्नेह, पशु-प्रेम, सत्य-पालन तथा मातृभक्तिके मनोहारी चित्र हैं। तुलसीकी कथाओंमें परपीड़ाके दुष्परिणाम और भक्ति-भावनाके मनोवांछित फलका वर्णन है। करवा-चौथकी कथाओंमें पत्नीकी स्वार्थी प्रवृत्ति तथा पतिकी निराधार आशंकाओंका मनोरंजक चित्रण है। इसके अतिरिक्त इनमें भाई-बहिनके प्रेम, भगवान शिव एवं माता पार्वतीकी भक्तवत्सलता, नाग-देवताके स्नेह और बहिनके घमंडका वर्णन है। अवहीं-आठें (अहोई अष्टमी अथवा अशोकाष्टमी), आंवले तथा चिरैया गोरकी कथाओंमें भक्तिकी महिमाका गुणगान किया गया है। भइया-दूज (यमराज और यमुनाके भाई-बहिन के स्नेहके प्रतीकका त्यौहार) से संबद्ध कथाओंमें भाई-बहिनके निश्छल प्रेमका अंकन है। सकठ-चौथ, सोम-वारी अमावस्या तथा सोहागलिनकी कथाओंमें क्रमशः भगवान् गणेशजी, पीपल देवता तथा संकठा देवीके भक्तोंके प्रति स्नेहका वर्णन है।

समीक्ष्य संग्रहमें संगृहीत लोक-कथाओंका धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे महत्त्व असंदिग्ध है। यद्यपि व्रत-कथाएं पौराणिक एवं शास्त्रीय परंपरासे भी प्राप्त होती हैं तथापि अधिकांश व्रत-कथाएं लोक-परम्परासे ही आगत हैं। प्रस्तुत लोक-कथाओंमें ज्ञान, मनोविनोद और सांस्कृतिक चेतनाका मनोहारी सामंजस्य है। व्रत-कथाओंकी समाप्ति प्रायः “जैसे उनके दिन बहुरे, वैसे सबके दिन बहुरे” से होती है, इसी आधारपर पुस्तक का नामकरण किया गया है। कथाओंके अनुरूप चित्रित रेखांकनोंसे पुस्तककी सज्जामें अभिवृद्धि हुई है। □

## छत्तीसगढ़की लोकधारा?

Digitized by Ananya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक : डॉ. दुर्गा पाठक

समीक्षक : डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल

समीक्ष्य कृति आजसे १४ वर्ष पूर्वकी रचना है। फिरभी यह पूरी तरहसे वसिया नहीं पायी—यही इसकी अपनी निजता है। यद्यपि इन चौदह वर्षोंमें इस विषयपर अनेक स्वतंत्र कृतियों एवं शोधोपाधि ग्रंथोंका प्रकाशन हो चुका है। इसमें बहुत-सी सामग्री विपुल रूपमें सामने आ चुकी है। फिरभी यह लघु पुस्तिका छत्तीसगढ़की लोकधारासे एक सामान्य परिचय कराने में सक्षम है। यही ग्रन्थका अर्थभी है और इतिभी।

विवेच्य ग्रंथ सात उन्मेषों (= अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम उन्मेष—“छत्तीसगढ़की भौगोलिक परिवेश”—के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ शब्दकी उत्पत्ति, नामकी उत्पत्ति, सीमाक्षेत्र, प्राकृत परिवेश, प्रमुख उद्योग धन्धेका विवेचना किया गया है। मात्र पाँच पृष्ठोंके इस अध्यायमें इन सारी संभावनाओंको समेटनेका सत्प्रयास किया गया है। अधिक विस्तारकी अपेक्षा रखते हुए भी यह विवेचन अपेक्षित जानकारी दे जाता है। यह लेखकीय मानसिकता और सोचका संदर्भ है।

द्वितीय उन्मेष : “छत्तीसगढ़का ऐतिहासिक परिवेश”—में अधावधि प्राप्त समस्त ऐतिहासिक, पौराणिक एवं लोकपरक साक्ष्योंके आधारपर छत्तीसगढ़की ऐतिहासिकता सिद्ध करनेका सार्थक प्रयत्न किया गया है।

तृतीय उन्मेष : “छत्तीसगढ़की संस्कृति”—के अंतर्गत संस्कृतिका अर्थ, लोक संस्कृति, संस्कृतियोंका पारस्परिक सम्मिलन आदिपर प्रकाश डाला गया है। लेखिकाकी सांस्कृतिक संदर्भोंकी अपनी सोच लोकधारा से जुड़कर एक नये चिंतनका संकेत देती है।

चतुर्थ उन्मेष : “छत्तीसगढ़की सामाजिक पृष्ठभूमि”—में प्रमुख जातियोंके विकासात्मक स्वरूपके साथ उनके धंधे, सामाजिक दण्ड व्यवस्था, प्रथाएं, अंध

१. राही प्रकाशन, ४३ चौकसी, शाहजहांपुर। पृष्ठ : ६१; डिमा. दन्; मूल्य : ३०.०० रु.।

२. उत्पत्तिके स्थानपर “व्युत्पत्ति” शब्द अधिक समीचीन होगा।

‘प्रकर’—पौष २०४७—४५



विश्वास एवं लोकविश्वासपर अत्यल्प कार्य हुआ है। यद्यपि इसमें दोनोंपर अत्यल्प प्रकाश प्रकाशित हुआ है। गया है फिर भी प्रयास सराहनीय है। इस पक्षको यदि लेखिका द्वारा आगे बढ़ाया जाये तो एक अच्छा कार्य प्रकाशमें आ सकेगा। लोक-विश्वास वस्तुतः सार्वभौमिक होते हैं। बिल्लीके रास्ता काटनेका लोक-विश्वास कश्मीरमें भी व्याप्त है और कन्याकुमारीमें भी। असम में भी व्याप्त है और कलकत्तेमें भी। मगर प्रत्येक अंचलका जनमानस क्या सोचता है—इसका केन्द्रीभूत मंतव्य निश्चितही बड़ेही महत्त्वका होगा, जो अभीभी अनुसंधित्सुओंका बाट जोह रहा है।

पंचम उन्मेष : “छत्तीसगढ़के विभिन्न संस्कार एवं प्रथाएँ”—के अंतर्गत कुछ संस्कारों एवं प्रथाओंका विवेचन किया गया है। लोक-साहित्यकी दृष्टिसे यह अध्ययन बहुतही महत्त्वका है। अच्छा होता कि सभी सोलह संस्कारोंका विवेचन किया जाता।

षष्ठम उन्मेष : “छत्तीसगढ़का धार्मिक परिवेश”—के अंतर्गत छत्तीसगढ़की धार्मिक मान्यताओं एवं प्रचलित देवी-देवताओंका उल्लेख किया है कुछ स्थानीय देवताओं ठाकुर देवता, बूढ़ा देव, दूल्हा देव, होलेराय, नागदेव, सहाड़ देव आदिके विवेचनसे विवेच्य उन्मेष का महत्त्व बढ़ गया है। इन देवताओंकी आराधनाके

पीछे आदिवासी जनजीवनके पारम्परिक मूल्य एवं दृढ़ विश्वास निहित है। इसी प्रकारसे कुछ देवियों-महामाई, शीतला, तुलसीमाता, ठकुर दैया, झूलना देवी, खेलमाई, संतवाहिती, चुरेलिन, परैतिन आदिका कहीं अत्यन्त संक्षेपमें एवं कहीं नामोल्लेखके साथ विवेचन किया गया है। इसीमें छत्तीसगढ़के व्रत और त्यौहारों की भी चर्चा की गयी है। कुछ त्यौहार हैं :—जंवारा (पृ. ६१), भोअली (पृ. ६१), धनकुल (पृ. ६१), दही बौरा (थर), गौरा पूजन (पृ. ६२) गोबरधन खुदाना (पृ. ६३) आदि।

सप्तम उन्मेष : “छत्तीसगढ़की कला एवं साहित्य” में प्रचलित कुछ कलाओं एवं लोककलाओंका संक्षेपमें उल्लेख है। इसीमें छत्तीसगढ़की साहित्यिक परंपरापर प्रकाश डाला गया है। इसी उन्मेषमें छत्तीसगढ़ी बोली की उत्पत्ति एवं उसके व्याकरणिक स्वरूपका विवेचन किया गया है। अंतमें एक पृष्ठीयक उपसंहार एवं संदर्भ ग्रंथ-सूची दी गयी है।

कुल मिलाकर आज लोकतत्त्व जनमानसे दूर होते जा रहे हैं। इधर उन्हें पुनः प्रकाशमें लानेकी एक बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। प्रस्तुत कार्य इस कमी की पूर्तिमें सहायक होगा—ऐसा विश्वास है। इस रूपमें समीक्ष्य ग्रंथ पठनीय एवं संग्रहणीय है। □

## पत्र-पत्रिकाएं

### ईसुरी-६१

[बुन्देली-बुन्देलखण्ड अंक]

सम्पादक : डॉ. कान्तिकुमार जैन

समीक्षक : डॉ. श्यामसुन्दर घोष

डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागरके हिन्दी विभागके अन्तर्गत क्रियाशील बुन्देली पीठका वार्षिक आयोजन—‘हे सुरी’ अपने ढंगका अकेला प्रयास है। ऐसी शोध पत्रिका अबतक देखनेमें नहीं आयी है। कुलपति

१. प्रका. : हिन्दी विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्व-विद्यालय, सागर, सत्येन्द्र प्रकाशन, ३० पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६। मूल्य : ५०.०० रु.।

‘प्रकर—’दिसम्बर’ ६०—४९

एम. एल. जैनके अनुसार ईसुरीको अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त है और इसकी चर्चा विश्वकी पांच सौ शोध-पत्रिकाओंमें की जाती है।

ईसुरीका यह सातवां अंक कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। सन् ८६-९० से इस अंकमें बुन्देली और बुन्देलखंडसे सम्बद्ध साहित्यकारों, कला मर्मज्ञों एवं अन्वेषकोंके अस्सी वर्षसे लेकर बीस वर्ष तककी चार पीढ़ियोंकी रचनाशीलता, गुण-ग्राह्यता एवं शोध-दृष्टिका प्रामाणिकता साक्ष्य जुटाया गया है। इस अंक को पांच खंडोंमें बांटा गया है। पहले खंडको शून्य खंड की संज्ञा दी गयी है जिसका शीर्षक है—‘यह है शोक स्थान’, इसमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तकी सहधर्मिणी और चिरगांवकी बहू जिया, श्री सुमित्रानन्दन गुप्त,



सोमदत्त, प्रकृतिके अनुपम चित्रे कवि रामविलास शर्मा, तर्कवादी संन्यासी और भाषा और समाधिक जीवन-दर्शनके आचार्य रजनीश, डॉ. कृष्णकुमार श्री-वास्तव, अब्दुलगनी, डॉ. लक्ष्मीनारायण सिलाकारी, डॉ. कोमलसिंह सोलंकी, प्रमोद पाण्डेय और मुकुटधर पाण्डेय के असामयिक निधनपर शोकोद्गार या शोक टिप्पणियां दर्ज हैं। शुरूमें राष्ट्रकवि गुप्तजी और उनकी सहधर्मिणीका जो पूरे पृष्ठका चित्र है वह तो अद्भुत ही है। साहित्यप्रेमियोंके लिए यह चित्र फ्रेम कराने लायक है।

बादके खंड हैं 'जड़ें नीड़, पत्र और फल' इसमें १८२७ की अमर शहीद वीरांगना झलकारी बाई, १८-५७के क्रांति-दूत अमरशहीद मर्दनसिंह और उनकी तीसरी पीढ़ी, रामबहादुर डॉ. हीरालाल और बुन्देली मिट्टीके रंगोंके चित्रकार गुणसागर सत्यार्थीपर बड़े ही रोचक और मौलिक लेख है। 'नीड़' के अंतर्गत मिर्जा गालिब और वीदा, बाबू गुलाबराय : हिन्दी गद्यमें कविताके स्वर, बुन्देलखंडकी धरतीपर भ्रमणशील विधाका महावट दिगंबर मुनि आचार्य श्री विद्यासागर विषयका लेख है। गणेशशंकर विद्यार्थीके पत्रोंका संकलनभी इस अंकका विशेष आकर्षण है। 'फल'के अन्तर्गत मेघदूतका छत्तीसगढ़ी अनुवाद तो अद्भुत ही है। धरतीके कवि त्रिलोचनपर एक पुनर्व्याख्या है। इसके अतिरिक्त भी कई उपयोगी लेख हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण वह खंड है जिसमें सुभद्राकुमारी चौहानके पति ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहानका सन् १९-१६में प्रकाशित, और अब अनुपलब्ध नाटक 'कुली प्रथा' अर्थात् बीसवीं शताब्दीकी गुलामी प्रकाशित है। भूमिका में लेखकने लिखा है—“पाठक, इसे आप काव्य न समझिये, यह घरमें चोरोंको लूट मचाते देखकर एक सेवक का चिल्लाना है। इस नाटकका दस्तावेजी महत्त्व है। सम्पादकने इसे पुनः प्रकाशितकर बहुत अच्छा किया है। विश्वास है वे आगेभी ऐसी अलभ्य-कृतियां प्रस्तुत करते रहेंगे। एक पूरा खंड 'आयोजन' नामसे पं. माखनलाल चतुर्वेदीसे संबंधित है। २८, २९ एवं ३० मार्चको 'माखनलाल चतुर्वेदीकी शताब्दीको देन' नामक राष्ट्रीय संगोष्ठी में जो महत्त्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किये गये थे वे यहाँ संकलित हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण है पत्रिकाका अंतिम खंड अर्थात् 'बुन्देली शब्दकोश खंड' जिसमें डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदीने 'च' से 'ढ' तक बुन्देलीके शब्द और

उनके अर्थ बताये हैं। इसके पहलेके अक्षरोंसे बने शब्दों की आकलन इसमें ५ और ६ में हुआ है। अन्तमें बुन्देली पीठके प्रकाशनोंकी सूची है जिससे स्पष्ट होता है कि पीठने बहुत रचनात्मक और अनुसंधानात्मक कार्य किये हैं। पत्रिकाके सम्पादक डॉ. हरिसिंह और विश्वविद्यालयके विभागाध्यक्ष डॉ. कान्ति कुमार जैन और बुन्देली पीठके सचिव और सह सम्पादक डॉ. बलभद्र तिवारी अत्यन्त निष्ठापूर्वक यह पुनीत और मौलिक कार्य कर रहे हैं। 'ईसुरी' भारतीय विश्वविद्यालयोंके लिए एक मानक और आदर्श प्रारूप है। यदि भारतके विभिन्न क्षेत्रोंसे जुड़े विश्वविद्यालय ऐसेही अपने-अपने क्षेत्रोंपर एकाग्र दृष्टि डालकर शोध, संग्रह और मूल्यांकनका कार्य करें, तो वह भावी पीढ़ियोंके लिए बहुत उपयोगी और मार्गदर्शक होगा। □

## ज्ञानतरंगिणी?

[राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक]

सम्पादक : डॉ. अनिलकुमार आंजनेय

समीक्षक : डॉ. सुरेशचन्द्र त्यागी

प्राथमिक विद्यालयोंसे लेकर विश्वविद्यालयोंतक एक प्रमुख गतिविधि होती है वार्षिक पत्रिकाका प्रकाशन। इन पत्रिकाओंके लिए विद्यार्थियोंसे कितना शुल्क एकत्र होता है और कितना व्यय किया जाता है, इसका लेखा-जोखा करें तो करोड़ोंका हिसाब बनेगा। ऐसे अनेक लेखकोंकी प्रारंभिक रचनाएं पुरानी कालेज पत्रिकाओंमें छपी मिलेंगी जो बादमें बहुत प्रसिद्ध हुए। विद्यार्थियों की रचनात्मक प्रतिभाको प्रोत्साहन देनेके लिए कालेज पत्रिकाएं एक उपयुक्त मंचका कार्य करती रही हैं।

शिवप्रसाद विद्यामंदिर इन्टर कालेज, बक्सरकी पत्रिका 'ज्ञानतरंगिणी' की उच्चस्तरीय साहित्यिक आलोचनाकी पत्रिकाके रूपमें प्रस्तुति सचमुच उल्लेखनीय है। इसका लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ठोंका राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक चमत्कारी लगा। अपने विद्यार्थियोंका सहयोग लेते हुए सम्पादक डॉ. अनिल कुमार 'आंजनेय' ने 'ज्ञानतरंगिणी' को साहित्यिक

१. : प्रका. : शिवप्रसाद विद्यामंदिर इन्टर कालेज, बक्सर (बिहार) । संयुक्तांक १९८८-८९-९०; पृष्ठ : ३४८; मूल्य : ६०.०० रु. ।

'प्रकर'—पौष २०४७—४७



पत्रिकाओंमें भी विशिष्ट बना दिया है।

इस अंकमें मै. श. गुप्तके व्यक्तित्व-कृतित्वके लग-भग सभी पक्षोंपर विचारणीय लेख संकलित हैं। कुवेर-नाथराय, विवेकीराय, कुलदीप नारायण 'झडप', कुमार विमल, राममूर्ति त्रिपाठी, अम्बाप्रसाद सुमन, राम-नारायण उपाध्याय, श्रीरंजन सूरिदेव, सुमित्र, लक्ष्मी-नारायण हुवे आदि विद्वान् लेखकोंके साथ अल्पज्ञात लेखकोंके लेखोंका पठनीय-संग्रहणीय संग्रह है यह अंक।

संकलित लेखोंको हम तीन भागोंमें बांट सकते हैं—व्यक्तिपरक, प्रवृत्तिपरक और कृतिपरक। गुप्तजीके संस्मरण कई लेखकोंने लिखे हैं जो व्यक्तिपरक भाग में आते हैं। इनमें उर्मिलाचरण गुप्तका लेख 'मेरे माता-पिता' मुझे सबसे मार्मिक लगा। गुप्तजीके काव्यकी प्रवृत्तियोंपर लेख दूसरे भागमें आते हैं। इनमें सबसे प्रमुख राष्ट्रीयताकी प्रवृत्ति है। कुवेरनाथ रायका लेख 'देशबोध और मै. श. गुप्त' अपने मौलिक चिन्तनमें बेजोड़ है। गुप्तजीकी मौलिक और अनुवादित काव्य-कृतियोंकी संख्या साठसे अधिकही है। प्रत्येकपर लेख हो तो पत्रिकाका इससे दुगना आकारभी कम पड़ जाये, अतः प्रमुख कृतियोंपर—साकेत, यशोधरा, भारत-भारती, पंचवटीपर—कई लेख हैं। ये कृतिपरक भाग में आयेंगे। जयशंकर प्रसाद तथा आचार्य नरेन्द्रदेवपर लिखे गुप्तजीके संस्मरणों तथा मुंशी अजमेरीपर तीन विद्वानोंके लेखोंको भी संकलित करके सम्पादकने पत्रिका का महत्त्व बढ़ा दिया है।

उपर्युक्त तीन भागोंसे सम्बन्धित लेख एकही क्रम में होते तो उपयुक्त होता। वे किसी क्रममें नहीं हैं। छापेकी अशुद्धियां खटकनेवाली हैं—विशेषतः गुप्तजीके काव्योंसे लिये गये उद्धरणोंमें। विवेकीरायके लेखका शीर्षक गुप्तजीकी एक पंक्तिपर है—“अवधि-शिलाका उरपर था गुरु भार” लेकिन वह 'गुरुतर भार' छपा है। युगेश्वरके लेखमें 'उत्तरमें और अधिक तू रोयी' पंक्ति इस तरह छपी है—'उत्तरमें तू और अधिक थी रोयी।' जगदीशप्रसाद चतुर्वेदीके लेखमें गुप्तजीकी एक पुस्तकका नाम 'हिन्दुत्व' छपा है जबकि वह 'हिन्दू' है। कुवेरनाथ रायके लेखमें दिनकरजीकी पंक्तियोंका उद्धरण भी अशुद्ध है।

संख्या कहीं अंगरेजीकी है तो कहीं हिन्दीकी। 'विष्णुप्रिया' का प्रकाशन-वर्ष पृष्ठ ५४ पर १९४२ 'प्रकर'—दिसम्बर'९०—४८

छपा है, जबकि गुप्तजीकी कृतियोंकी सूचीमें वह १९-५७ है।

लेकिन इन भूलोंसे इस विशेषांकका महत्त्व कम नहीं होजाता। सम्पादकके परिश्रमकी झलक प्रत्येक पृष्ठपर मिलती है। □



## मत-ग्रामित...

[पृष्ठ ३ का शेष]

अंग्रेजीके लेखोंको आधार बनाना अपर्याप्त एवं अपूर्ण है। वैसे डॉ. बोरा धन्यवादके पात्र हैं इस दिशामें प्रयत्नके लिए।

—एम. शेषन्, प्लेट नं. ७९०, ११ डॉ. रामा-स्वामी मुदलियार रोड, के.के. नगर, मद्रास ७८.

## □ भारत राष्ट्रका भौगोलिक इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल

अगस्त (९०) अंकमें पण्डित काशीरामजीके उप-र्युक्त लेखके लिए बधाई। अब, 'प्रकर' केवल समीक्षा पत्रिका न रहकर गम्भीर विचार और शोध पत्रिकाके रूपमें उभर रही है। स्वरः विसंवादीका तो इसमें श्रेय है ही, गम्भीर लेखोंका भी है।

—डॉ. रामदेव शुक्ल, ६ हीरापुरी, गोरखपुर - २७३००६

पाणिनि और कालिदास तथा महाभारतकालीन भारतके संदर्भका उपर्युक्त लेख बहुत अच्छा लगा। बधाई। संस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनवाली लेखमाला 'आर्य-द्रविड़ भाषा परिवार' भी। सम्पादकीय तो अत्यन्त विचारणीय होते ही हैं।

—क्षितीश वेदालंकार, सुपर्णा, डी-८१ गुलमोहर पार्क, नयी दिल्ली-११००४६.

## □ धर्म समभाव

'प्रकर' जुलाई (९०)में साम्प्रदायिकताका विरोध विषयक सम्पादकीय रुचिकर और विचारोत्तेजक है। उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिकी खोज एवं 'हिन्दू' शब्द की परिभाषा बहुत सटीक तथा प्रासंगिक है। परन्तु समस्याका समाधान अवश्य उतना समीचीन नहीं, जितनी अपेक्षा थी।

—पद्मेन्द्रप्रताप सिंह एडवोकेट, श्रीमिर भवन, निकट पुराना थाना, रुड़की (हरिद्वार).



# गुरुकुल

कांगड़ी फार्मसी की  
आयुर्वेदिक औषधियां सेवन कर स्वास्थ्य लाभ करें

गुरुकुल

## च्यवनप्राश

पूरे परिवार के लिए शक्तिवर्धक  
एवं स्फूर्तिदायक रसायन।  
छांसी, ठंड व शारीरिक एवं  
कंधों की दुर्बलता में  
उपयोगी आयुर्वेदिक  
औषधीय द्रव्य



## गुरुकुल पायोकेल

दांतों व मसूड़ों के समस्त रोगों  
में विशेषतः पायोरिया  
के लिए उपयोगी  
आयुर्वेदिक औषधि



## गुरुकुल चाय

जकाम व इन्फ्लूएन्जा, थकान  
आदि में जड़ी बूटियों  
से बनी लाभकारी  
आयुर्वेदिक औषधि



गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी हरिद्वार (उ० प्र०)

शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ

चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

'प्रकर'—पौष'२०४७



## 'प्रकर' के पूर्व प्रकाशित विशेषांक

पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८२	प्रकाशन : नवम्बर '८३	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८३	प्रकाशन : नवम्बर '८४	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८४	प्रकाशन : अगस्त '८५	२०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८५	प्रकाशन : नवम्बर '८६	२५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८६	प्रकाशन : नवम्बर '८७	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८७	प्रकाशन : नवम्बर '८८	३०.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८८	प्रकाशन : नवम्बर '८९	३५.०० रु.
पुरस्कृत भारतीय साहित्य : १९८९	प्रकाशन : नवम्बर '९०	३५.०० रु.

### अन्य विशेषांक

भारतीय साहित्य २५ वर्ष ३०.०० रु.

(सभी भारतीय भाषाओं के स्वाधीनोत्तर काल के २५ वर्षों का सिंहावलोकन तथा हिन्दी की विभिन्न विधाओं पर आलेख) प्रकाशन : १९७३

अहिन्दी भाषियों का हिन्दी साहित्य : प्रकाशन : १९७१ ३०.०० रु.

१. विशेषांकों का पूरा सेट एक साथ मंगाने पर मूल्य : २२५.०० रु.
२. कोई एक अंक मंगाने पर डाक-व्यय पृथक्
३. तीन अंक या अधिक मंगाने पर डाक-व्यय की छूट

**'प्रकर', ए-८/४२, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७.**

सम्पादक : वि. सा. विद्यालंकार : मुद्रक : संगीता कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा कान्ता प्रिंटर्स,  
X/४५२५, पुराना सीलमपुर, गाँधीनगर, दिल्ली-३१. दूरभाष  
प्रकाशन स्थान : ए-८/४२ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७.







Compiled  
1999-2000

111822







